समर्पण

स्व० श्री पं० उमाशंकरजी द्विवेदी आयुर्वेदाचार्य

लेखक के गुरु तथा इस ग्रन्थ के प्रेरणा-स्रोत

श्रीमद्‌गुरोश्चरण भक्ति सरोवरेषु;
विश्रान्तिमत्सु भुवि कीर्तिसमुज्ज्वलेषु।
लोकद्वयोचित विचार विवेक वत्सु;
विश्रान्तिमेतु मम मानस राजहंसः॥

श्रद्धार्चन

श्रेष्ठिवंश अवतंस थे श्रीयुत मनसाराम।
रामकृष्ण उन के हुए सुत गुन गण अभिराम ॥ 1 ॥

जिनकी पावन प्रेरणा पग-पग आठों याम।
वन्दौ जननी के चरण सुखद सुमित्रा नाम ॥ 2 ॥

उनके सुत मतिमन्द हम रत्नाकर है नाम।
सुकवि सन्त पावन परम नगर इटावा धाम ॥ 3 ॥

जहाँ देव कवि औतरे जहाँ महा कवि गंग।
उस नगरी में ये लिखे मैंने सुखद-प्रसंग ॥ 4 ॥

वृन्दावन की गैल में यह जाता हूँ भूल।
गुरुचरणों की धूल या हरिचरणों की धूल ॥ 5 ॥

वह गुरुकुल प्रवचन वहै, वहै बाल गोपाल।
या बानक मो मन बसौ, हे गुरुवर ! प्रतिकाल ॥ 6 ॥

गुण गुरुओं के ग्रन्थ में, दूषण मेरे लेख।
मृगनैनी के नैन में काजर की सी रेख ॥ 7 ॥

गुरुचरणों की चेतना श्रद्धा के अनुकूल।
सुरभित हों चाहे न हों, ये पूजा के फूल ॥ 8 ॥

जीवित उन के भाव हैं, जीवित उन के नाम।
गुरुओं के संसार में मरने का क्या काम ॥ 9 ॥

—रत्नाकर

स्वास्थ्य एवं परिवार नियोजन मंत्री
भारत
नई दिल्ली-110011

दो शब्द

इतिहास लेखन में जितनी दक्षता और सतर्कता अपेक्षित है संभवतया उतनी अन्य विधाओं में नहीं। अतीत और वर्तमान का किंचित त्रुटिपूर्ण मूल्यांकन भविष्य को भ्रान्तियों और पश्चातापों के हाथों सौंप देगा और प्रगति के पांव तमसावृत वीथिकाओं में भटकने के लिये वाध्य हो जाएंगे। चिकित्सा शास्त्र जैसे विषयों में, जिनमें अनुभवों की प्रयोगशाला में प्राणरक्षक नये-नये आविष्कार जन्म लेते हैं, यह बात और भी सटीक वैठती है।

आयुर्वेद का इतिहास संभवत: उतना ही प्राचीन है जितना स्वयं मानवता का इतिहास। आयुर्वेद अथर्ववेद का एक उपांग है और इसे एक लाख श्लोकों और एक सहस्र अध्यायों में क्रमवद्ध किया गया है।

सभ्यता और संस्कृति के शत्रु विदेशी वर्वर आक्रामकों के हाथों बचे अपने विकीर्ण ज्ञान-विज्ञान को अभी ठीक से सहेजा-समेटा नहीं जा सका है। आयुर्वेद का अधिकांश आज विस्मृति के उदरस्थ हो चुका है। फिर भी उपलब्ध अवशेष को अत्यन्त कुशलता के साथ वैज्ञानिक ढंग से प्रस्तुत करने की आवश्यकता है।

अश्विनीकुमारों का दक्ष प्रजापति के कटे सिर को जोड़ने या इन्द्र के निष्प्राण हुए हाथों को ठीक करने को मात्र कपोल कल्पना मानकर मौन साध लेना अपने प्राचीन विज्ञान के प्रति उपेक्षा तो होगी ही, साथ ही यह सत्यान्वेषण के लिए अपनी बौद्धिक अक्षमता का भी प्रमाण होगा। सत्य ऐसी ही संकल्पनाओं के गर्भ में जन्म लेता है जिन्हें आज हम भय, अज्ञान या मिथ्या आधुनिकतावश मात्र शून्य गुहाएं मानकर उनमें प्रवेश करने से कन्नी काटते जा रहे हैं।

आज तक आयुर्वेद के क्षेत्र में दो आत्यन्तिक विचारधारायें कार्यरत रहीं। एक इस प्राचीन विज्ञान के उन अनन्य भक्तों की जिन्होंने हर प्राचीन को भावुकतावश निर्विवाद ग्रहण कर लिया और किसी भी रूप में इसे विज्ञान या तर्क की कसौटी पर

परखने नहीं दिया। दूसरे वे लोग थे जिन्होंने इसके प्रत्ययों और प्रक्रियाओं को विलक्षण बतलाकर आज के समय और परिस्थितियों में इसकी प्रामाणिकता को पूर्णत: अस्वीकार कर दिया।

आयुर्वेद की प्रामाणिकता और आधुनिक समाज के लिए उसकी उपादेयता सिद्ध करने के लिए उसे आधुनिक चिकित्सा के प्रश्नान्तकों का उत्तर देना होगा और एतदर्थ प्रयोगों और परीक्षणों के माध्यम से अपनी सार्थकता की पुष्टि करनी होगी। यह तभी हो सकता है जब उसके प्रामाणिक इतिहास के रूप में ऐसे परीक्षणों या अन्वेषणों के लिए उपजीव्य उपलब्ध हो। वेदों से लेकर दर्शनशास्त्र और काव्य ग्रन्थों तक यतस्तत: विकीर्ण सूत्रों को कालानुक्रम में संग्रह करने के लिए उद्यम और धैर्य की आवश्यकता होती है। इस पर उस विशुद्ध वैज्ञानिक विषय वस्तु को कथा शैली में प्रस्तुत करना ताकि वह वैज्ञानिकों और विद्वानों की ही वस्तु न होकर सर्वसाधारण की रुचि की वस्तु बन जाय, स्वयं में एक विलक्षण कला है और इसके लिए मैं समझता हूं 'भारत के प्राणाचार्य' के लेखक श्री रत्नाकर शास्त्री जी के प्रयास का स्वागत होना चाहिए। आयुर्वेद जगत तो शास्त्री जी के इस प्रयास से लाभान्वित होगा ही किन्तु मैं चाहूंगा कि भारत के गौरव-शाली अतीत के इतिहास लेखक भी इससे प्रेरणा लें।

नई दिल्ली :
25 अगस्त, 1976

वाङ्मुख

आयुर्वेदिक चिकित्सा प्रणाली सृष्टि रचना के उन सिद्धांतों पर आधारित है जो सृष्टि निर्माण (Cosmic Theory) के साथ वैज्ञानिक एकता रखते हैं। जल, तेज, वायु से ही सृष्टि बनी है, शरीर भी उन्हीं से। उनकी समता (समन्वय) आरोग्य, और विषमता रोग है। इसीलिये आयुर्वेद के चिकित्सा सिद्धान्त सदा से अपरिवर्तित हैं और आगे भी रहेंगे। यूनानी चिकित्सा आयुर्वेद की ही नकल है। धन्वन्तरि और आत्रेय जैसे प्राणाचार्यो के सिद्धांत ही स्थानान्तरित (migrate) हो गये हैं। ऐलोपैथी में प्रत्येक रोग एक स्वतन्त्र व्याधि है। अधिकांश रोग कृमि-संक्रमण से होते हैं। इसीलिए उनका चिकित्सा विज्ञान नैसर्गिक सिद्धांतों पर आधारित नहीं है। प्रायः बदलता रहता है।

आयुर्वेद विज्ञान के आठ अंग हैं। शल्य भी उनमें एक है। अश्विनीकुमार तथा जीवक के चरित्र देखें, तो पता चलेगा कि आयुर्वेद शैली के प्राणाचार्य अंग बदलने में कुशल थे। सुश्रुत-संहिता, निमि, विदेह-संहिता, गार्ग्य और गालव की लिखी संहितायें शल्यशास्त्र पर ही थीं। जिनमें अब कुछ प्राप्त हैं तथा कुछ नष्ट हो गई। यद्यपि उनके उद्धरण मिलते हैं।

पशु, पक्षी और समुद्री जीव भी चिकित्सोपयोगी हो गये थे। मगर की कस्तूरी तथा अण्डे भी अनेक प्रयोगों में लिखे हैं। पक्षियों के मांस, अण्डों का प्रचुर प्रयोग है। कहीं-कहीं उनकी हड्डी तथा विष्ठा का भी। खनिज तथा जड़ीबूटियों के लाखों प्रयोग प्रचलित हैं ही।

प्राचीन भारतीय चिकित्साविज्ञान वैदिक युग में प्रतिष्ठित विज्ञान बन गया था। सैंकड़ों वेदमन्त्र उसके साक्षी हैं। किंतु भारतीय विज्ञान मानव जीवन को अध्ययन करने का एक साधन था। अब मनुष्य साधन और विज्ञान साध्य बन गया है। यह मार्ग विभ्रम है। हम भारतीय दृष्टिकोण से जब विज्ञान या चिकित्साशास्त्र का अध्ययन करेंगे तब मनुष्य-जीवन उसका केन्द्र होगा और विज्ञान उसकी परिधि। यही कारण है कि भारतीय चिकित्साशास्त्र में आचारशास्त्र भी समाविष्ट है। शरीर, इन्द्रिय, मन और आत्मा का समन्वय ही जीवन है। और स्वस्थ जीवन रखने के लिये आचार संहिता से विज्ञान अलग नहीं रह सकता। रहेगा तो जीवन का विध्वंस कर देगा।

इस कारण आप देखेंगे कि आयुर्वेदशास्त्र केवल दवा-दारु का शास्त्र नहीं है, वह आचार संहिता भी है। उसमें पंचमहाभूतों से लेकर रस, आहार, एवं मनोभावों के साथ कर्म और अकर्म तक का विश्लेषण है ताकि उनमें निहित जीवनीय तत्व प्राप्त किये जा सकें। स्वस्थ और अस्वस्थ आचार ही आरोग्य और रोग के जनक हैं। इस-

लिये हम आयुर्वेद को जीवन तत्व की खोज भी कह सकते हैं। प्राणाचार्य शब्द उसी भाव का द्योतक है। जीवनीय तत्वों का अन्वेषक और वितरक ही प्राणाचार्य है।

प्राण, अपान, व्यान, धातु, दोष अनुलोमन, प्रतिलोमन, रसायन, वाजीकरण आदि भारतीय विज्ञान के ऐसे शब्द हैं, जिनका वैज्ञानिक अर्थ बहुत कम लोग समझते हैं, उनके स्पष्टीकरण का भी एक कोष लिखा जाना आवश्यक है। उन्हें बिना समझे एक वैज्ञानिक शास्त्र को अवैज्ञानिक कहना भूल है। ग्रन्थ में यथास्थान आप इन पारिभाषिक शब्दों का अर्थ भी पायेंगे, तो भी एक स्वतन्त्र कोष होना आवश्यक है।

भारत या आर्यावर्त से ही यह विज्ञान ईरान, बैबीलोनिया, मैसोपोटामिया, काकेशिया, ताजिकिस्तान, मिश्र और यूनान तक पश्चिम में तथा चीन, बर्मा, स्याम, कम्बोडिया, जावा, सुमात्रा और मलाया आदि पूर्वीय देशों में पहुंचा। लंका तो भारत से ही प्रकाशित है। इसीलिए उन देशों में भी चिकित्सा के सिद्धान्त वही हैं जो भारतीय आयुर्वेद के।

इस ग्रंथ को मैंने भारतीय परिप्रेक्ष्य में लिखा है ताकि हम उन प्राणाचार्यो एवं महर्षियों तक पहुंच सकें जिनकी करुणा से अतीत में मानव की पीढ़ियां पालित और पोषित होती रही हैं। इतिहास के खंडहरों में जो सजीव तत्व मुझे मिल गये, वे आपकी भेंट कर रहा हूं। उनको अवैज्ञानिक कह देने से हमारा अज्ञान प्रकट होता है। उन्हें समझिये। मानव के पूर्वजों की यह विरासत है। वे कह गये थे—

नार्थार्थं नापि कामार्थमर्थ भूत दयांप्रति।
वर्ततेयश्चिकित्सायां स सर्वमतिवर्तते ॥

"धन कमाने के लिये और भोग विलास के लिये नहीं, प्राणिमात्र के प्रति करुणा के भाव से जो चिकित्सा करता है, वह सबसे महान है।"

अश्विनीकुमार, धन्वन्तरि, सुश्रुत, आत्रेय पुनर्वसु, कश्यप, जीवक, चरक, नागार्जुन और वाग्भट, इन नौ प्राणाचार्यों के चरित्र चित्रण इस ग्रंथ में हैं। इसके सामग्री संकलन से प्रकाशित होने तक पचास वर्ष लगे। इन महान वैज्ञानिकों से आप का परिचय हो जाय, तो मेरी यह साधना सफल है। यह सफलता भी कम नहीं है कि इस ग्रंथ को भारत सरकार का आशीर्वाद मिला। विद्वान पाठक यदि इस ग्रंथ में कोई प्रामाणिक संशोधन या परिवर्धन सुझायेंगे तो अग्रिम संस्करण में उसे सम्मानित किया जा सकता है।

वैशाखी पूर्णिमा बुद्ध जयन्ती
मई, 1976

रत्नाकर शास्त्री

प्राक्कथन

(वैद्यरत्न पं० श्री शिवशर्मा, भूतपूर्व संसद सदस्य, अवैतनिक भिषक राष्ट्रपति-भारत;
श्रीलंका तथा महाराष्ट्र सरकार के अवैतनिक परामर्शदाता;
भूतपूर्व प्रधान अखिल भारतीय आयुर्वेद कांग्रेस)

लखनऊ महासम्मेलन पर मैंने श्री रत्नाकर शास्त्री जी का ग्रन्थ 'भारत के प्राणाचार्य' जो अभी अपूर्ण था, पहली बार देखा। वहीं श्री रत्नाकर जी ने इस ग्रन्थ के निर्माण और भविष्य के बारे में मुझसे परामर्श किया। उस समय तक श्री रत्नाकर जी प्राय: उन सब आधुनिक रचनाओं से परिचित हो चुके थे जिनका आयुर्वेद के इतिहास से कुछ सम्बन्ध है। शायद ही कोई काम की सूचना मैं इन्हें दे पाया। तो भी अच्छी-खासी बातचीत हुई और मैंने तभी आशा की कि लेखक की योग्यता और लगन ऐसी है कि यह ग्रन्थ अच्छी चाल से बढ़ेगा।

तब से अब तक श्री रत्नाकर जी ने इस ग्रन्थ की और अच्छी वृद्धि की है। यह भूमिका लिखते हुए भी मैं यही समझ रहा हूं कि इस ग्रन्थ की इतनी वृद्धि होकर भी किनारा दूर है। और इसके प्रकाशित होने पर भी लेखक का कार्य समाप्त न होगा। आयुर्वेद के इतिहास का भवन खड़ा करना इतना कठिन कार्य है कि एक विद्वान की एक कृति उस भवन की नींव या पहली मंजिल का स्थान ले ले तो भी विज्ञान का बहुत बड़ा और अभूतपूर्व उपकार समझना चाहिये। मैं नहीं कह सकता श्री रत्नाकर जी अभी इस पुस्तक को प्रकाशित करने से पहले और कहां तक ले जाना चाहते हैं। परन्तु मुझे यह पूर्ण आशा है कि जब भी यह ग्रन्थ विद्वत्समाज के सामने आयेगा तो अपनी प्रकार की एक अभूतपूर्व कृति होगी।

हिन्दी में आयुर्वेद का इतिहास लिखने वाले को अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा। जहां तक मुझे मालूम है हिन्दी में अभी तक कोई प्रामाणिक ग्रन्थ आयुर्वेद के इतिहास पर नहीं मिलता। अन्य भाषाओं में जो ग्रन्थ इस विषय में मिलते हैं उनमें श्री गिरीन्द्रनाथ चट्टोपाध्याय की कृति को छोड़कर शेष डाक्टरवाइज, श्री ठाकुर साहेब गोण्डल आदि के ग्रन्थ बहुत पुराने हो चुके हैं और आज उनके इतिहास की तिथियां नई खोज के कारण उखड़ गई हैं। श्री पी० सी० राय के 'हिन्दू रसायनशास्त्र का इतिहास' (History of Hindu Chemistry) में कुछ बहुमूल्य कार्य किया गया है, परन्तु वह भी आज की सूचना के आगे बहुत सीमित है। कुछ उपयुक्त सूचना डाक्टर रुडाल्फ हर्नले के 'Studies in Hindu Chemistry' में भी दी गई है। परन्तु वह बहुत कम है। इनको छोड़कर बाकी जो पाश्चात्य साहित्य आयुर्वेद की ओर कुछ करना चाहता है उसका

प्रायः आक्षेप ही लक्ष्य रहता है। जैसाकि श्री रत्नाकर जी के ग्रन्थ से स्थान-स्थान पर स्पष्ट होगा। अंग्रेज़ी के अतिरिक्त कुछ ग्रन्थ जर्मन, फ्रेंच, लेटिन में भी आयुर्वेद के इतिहास पर कुछ दृष्टि डालते हैं। परन्तु बहुत कम भारतीय चिकित्सक, विशेषतया विरले ही भारतीय वैद्य उनसे लाभ उठा सकते हैं। ऐसी अवस्था में जो कार्य श्री रत्नाकर जी ने आरम्भ किया, पाठक उसकी कठिनता को अच्छी प्रकार समझ सकते हैं।

आयुर्वेद के प्राचीन आचार्यों के काल निर्णय में एक यह भी बड़ी कठिनाई पड़ती है कि कई भिन्न कालीन व्यक्तियों का एक ही नाम से निर्देश किया जाता है। आत्रेय के काल का निर्णय करते समय भिक्षु आत्रेय, पुनर्वसु आत्रेय, कृष्णात्रेय, दत्तात्रेय आदि कइयों का ध्यान रहता है। और एक की गुत्थी सुलझाते समय चारों की ही गुत्थी सुलझानी पड़ती है। इसी प्रकार विश्वामित्र, भारद्वाज, कश्यप, सुश्रत आदि के सम्बन्ध में भी कठिनाइयां उत्पन्न होती हैं।

यही नहीं, ऐलोपैथी और होमियोपैथी आदि का इतिहास लिखना हो तो हनेमैन या हिप्पोक्रेटीज से लेकर आज तक के सब नाम लिखने और उनका काल निर्देश कर देने से ही बहुत अच्छा काम चल जाता है और सम्पूर्ण इतिहास प्रामाणिक और आदरणीय बन जाता है। परन्तु आयुर्वेद के विषय में यह सुविधा नहीं। आयुर्वेद का इतिहास लिखना मानो मनुष्य के जीवन का इतिहास लिखना है। इसका आरंभ इतना ही अज्ञात है जितना कि मनुष्य की प्रथम व्याधि का आरंभ। अति प्राचीन यह चिकित्साशास्त्र उतना ही अनादि है जितना कि वैदिक साहित्य। इसके मूल सिद्धान्तों का उल्लेख ऋग्वेद की प्राचीन ऋचाओं में विद्यमान है। "त्रिधातु शर्म वहतं शुभस्पति" आदि त्रिदोष सम्बन्धी स्पष्ट वाक्य इतने पुराने हैं कि उनका काल निर्णय कभी भी सर्वथा भ्रमरहित होना असम्भव ही प्रतीत होता है। कल्पना और तर्क कहां तक इस प्रश्न को सुलझायेंगे, यह भविष्य पर ही निर्भर है। परन्तु ऐसा उत्तर जो सबको सन्तोष कर सके किसी भी लेखक के लिये ढूंढ़ना कठिन होगा।

जब इन कठिनाइयों को वास्तविक रूप से समझने का प्रयत्न किया जायेगा तभी लेखक के आगे जो महान् कार्य है, उसकी गहनता का कुछ अन्दाजा पाठक लगा सकेंगे। इन अपार कठिनाइयों को पार करके श्री रत्नाकर जी जो कार्य कर रहे हैं, वह निर्माण के मध्य में ही मुझे देखने का अवसर प्राप्त हो रहा है। मैं समझता हूं जो कार्य वह कर रहे हैं, वह हिन्दी भाषा में अभूतपूर्व है, और भारी कमी को पूरा कर रहा है। इस में प्रायः वह सम्पूर्ण सूचना एकत्रित कर दी गई है जो पाश्चात्य ग्रन्थों से प्राप्त हो सकती थी। इसके अतिरिक्त बहुत-सी सूचना स्वयं श्री रत्नाकर जी ने मौलिक खोज द्वारा एकत्रित की है और अपनी आलोचना से उसकी छानबीन करके नए ऐतिहासिक तथ्यों का निर्माण किया है। लेखक ने गूढ़ अध्ययन का परिचय दिया है। मुझे इस समय एक स्थल का स्मरण हुआ है जहां इन्होंने सुश्रुत संहिता, चरक संहिता और काश्यप संहिता के बहुत से ग्रन्थांशों की तुलना की है। यह स्थल बहुत मनोरंजक है, और साथ ही इतिहास प्रश्न पर अच्छा प्रकाश डालता है। इसी प्रकार धन्वन्तरि, कश्यप, वाग्भट, चरक, नागार्जुन

आदि सब के ही काल-निर्णय में प्रखरबुद्धि, विशद अध्ययन और विमल आलोचनात्मक दृष्टि का परिचय मिलता है।

इस ग्रन्थ का प्रकाशन आयुर्वेदिक ऐतिहासिक साहित्य की एक सर्वथा नवीन और अत्युपयोगी सेवा होगी। यह सफल होगी, इसमें मुझे सन्देह नहीं। मैं इस कृति का स्वागत करता हूं और विद्वान लेखक को आयुर्वेद की इस सेवा के लिये धन्यवाद देता हूं। साथ ही यह भी आशा रखता हूं कि वैद्यसमाज ग्रन्थ और ग्रन्थकर्त्ता का उचित रूप से आभार प्रदर्शित करने में पीछे नहीं रहकर अपने कर्तव्य का पालन करेगा। (नोट—यह पंक्तियां 1942 की पांडुलिपि के आधार पर लिखी गयी थीं जब पुस्तक अधूरी थी।)

"दी एथिकल बेसिस आफ मैडिकल प्रैक्टिस।"[1] (चिकित्सा व्यवसाय में शिष्टता का आधार) नामक पुस्तक में लेखक विलर्ड स्पेरी ने कहा है कि एक समय युरोप में एक विद्वान पादरी ने अपने समय के सम्पूर्ण साहित्य का अध्ययन कर लिया था। उस समय कोई ऐसा ग्रन्थ अथवा साहित्य उपलब्ध नहीं था, जो उसने पढ़ नहीं लिया था।[2]

जैसे-जैसे साहित्य बढ़ा, निश्शेष साहित्याध्ययन पहले एक व्यक्ति के लिये, फिर दो व्यक्तियों के लिये, और फिर दसों, बीसियों, सैकड़ों, सहस्रों और लाखों के लिए भी असंभव होता चला गया। साहित्य सृष्टि की इस निरन्तर बढ़ती हुई बाढ़ में, जिसमें सम्पूर्ण साहित्य की प्रत्येक तरंग से सम्पर्क रखना मनुष्य के लिये सर्वथा असंभव हो गया, सुज्ञात व्यक्तियों द्वारा नवीन लेखकों की कृतियों का मूल्यांकन कराने की आवश्यकता अनुभव होने लगी। जिससे कि अच्छे ग्रंथरत्न जिज्ञासुओं की दृष्टि में आ सकें, तथा अवर और उपेक्षणीय साहित्य की बाढ़ में ही बहकर न रह जायें। यहीं से प्राक्कथन की प्रथा की नींव पड़ी।

स्वर्गीय बाबू राजेन्द्रप्रसाद, भूतपूर्व राष्ट्रपति डाक्टर सर्वपल्ली राधाकृष्णन, स्वर्गीय प्रधानमंत्री श्री जवाहरलाल नेहरू जैसी विभूतियों ने दर्शनशास्त्र, समाज-सेवा, राजनीति आदि विषयों पर लिखे गये अनेक ग्रन्थों के लिये प्राक्कथन लिखे। इस प्रकार उन्होंने उन ग्रन्थों का महत्व ही नहीं बढ़ाया अपितु ग्रन्थकारों को भी सम्मानित किया।

---

1. 'The Ethical Basis of Medical Practice' : Willard L. Sperry, Cassel & Company Ltd., London, 1951, Page 19.
2. यह तो स्पष्ट है कि श्री विलर्ड स्पेरी केवल युरोपियन साहित्य की चर्चा कर रहे हैं, क्योंकि उस समय अमरीका के अस्तित्व का ही किसी यूरोपियन को पता नहीं था। और प्राचीन भारतीय संस्कृत साहित्य, व्याकरण, दर्शनशास्त्र, आदि का पार एक पादरी तो क्या, बीसियों व्यक्ति भी आजीवन पा नहीं सकते थे। 'व्यधिकरण धर्मावच्छिन्नाभाव' जैसे जटिल तथा 'न्यायचिन्तामणि' जैसे विस्तृत ग्रंथ आजीवन अध्ययन के अनन्तर भी पादरी साहेब को केवल न्यायशास्त्र पर प्रभुता पाना ही असंभव कर देते, षड्दर्शन का ज्ञान तो दूर की बात होती। व्याकरण, ज्योतिष, तन्त्र-शास्त्र, साहित्य, वेदोपनिषद्, आयुर्वेद आदि अनेक भारतीय शास्त्रों का तो सम्पर्क भी न हो सकता।

यहां मैं यह स्पष्ट कर देना चाहता हूं कि प्रस्तुत ग्रन्थ के विद्वान लेखक श्री रत्नाकर शास्त्री और मुझ में इतना बड़ा अन्तर नहीं जितना ग्रन्थ लेखकों और प्राक्कथन लेखकों में प्रायः रहता है। आयुर्वेद के इतिहास का जो विशाल परिचय श्री रत्नाकर शास्त्री को है, वह मुझको प्राप्त नहीं। इस तथ्य का अनुभव तो मुझे इस ग्रन्थ के प्रत्येक पृष्ठ पर होता रहा है। इसलिये इस प्राक्कथन द्वारा ग्रन्थकार को सम्मानित करने का विचार ही मेरे मन में आना धृष्टता होगी। मैं तो ऐसा मानता हूं कि इस उत्कृष्ट ग्रन्थ का प्राक्कथन लिखवाकर वास्तव में शास्त्री जी ने मुझे कहीं अधिक सम्मानित किया है। मेरे लिये यह गर्व की बात है कि मेरा नाम भी एक ऐसे ग्रन्थ से सम्बद्ध हो गया है जो चिकित्सा इतिहास के क्षेत्र में प्रकाशित होते ही एक ऊंचा स्थान प्राप्त करने वाला है।

यह ठीक है कि अनेक कारणों से वैद्य समाज तथा वैद्येतर समाज के लोग मेरे सम्पर्क में अधिक रहे हैं। श्री रत्नाकर शास्त्री का जन-सम्पर्क मेरी अपेक्षा कम रहा है। इस ग्रन्थ के प्रकाशित होने पर वह अन्तर भी कम हो जायगा।

दो शब्द इस ग्रन्थ के सम्बन्ध में कहना प्रासंगिक भी होगा और आवश्यक भी।

पच्चीस वर्ष हुए मैंने इसी ग्रन्थ के लिये भूमिका लिखी थी। 25 वर्ष पश्चात श्री रत्नाकर शास्त्री ने वह भूमिका मुझे लौटा दी है। इस अवधि में शास्त्री जी ने प्राचीन भारत के इतिहास और भूगोल का और भी गंभीर अध्ययन किया है। नयी सामग्री एकत्र की है। नए अध्याय लिखे हैं। लाहौर में लिखी गई वह भूमिका इस परिवर्धित ग्रन्थ के लिये शायद कुछ पुरानी पड़ गई है। इतिहास की क्रूरता ने लाहौर को भी भारत वर्ष से विच्छिन्न कर विदेश बना दिया। आज लन्दन, पेरिस, न्यूयार्क, जाना मेरे लिये सरल है, परन्तु लाहौर जाना असंभव। वही लाहौर जो 'घर' था, जिसमें अपनी आयु के 20 वर्ष व्यतीत किये, जिन्हें जीवन का सर्वोत्कृष्ट समय माना जाता है। उसी लाहौर में एक मित्र, जो मेरे साथ खड़े बात कर रहे थे, की पीठ में छुरा घोंप दिया गया। उनका शरीर भारी था, मेरा हलका। मैं भाग सका और आज जीवित हूं। सौभाग्यवश एक एङ्गलो-इण्डियन पुलिस अधिकारी, जो मेरे परिचित थे, अपनी पुलिस की टुकड़ी के साथ मुझे मिल गये। उनकी सहायता से वापिस लौटकर मैं अपने मित्र को उठवाकर आतुरालय तक ले जा सका, जहां वह होश में आये, और समय पाकर अच्छे हो गये। 22 अगस्त (सन् 1947) को ही, केवल दो ही दिन पश्चात, मैं अपने मित्र को लेकर, लाहौर से सदा के लिये विदा होकर, एक सैनिक दल के साथ, नवीन, खण्डित 'स्वतन्त्र' भारतवर्ष में प्रविष्ट हुआ। अब तो लाहौर एक स्मृति बनकर रह गया है। धीरे-धीरे वह स्मृति भी नष्ट हो रही है।'

इस प्राक्कथन में लाहौर की चर्चा मैंने केवल इसलिये नहीं की कि इस ग्रन्थ की प्रथम भूमिका 25 वर्ष पूर्व वहीं लिखी गई थी, जो अब मेरे सामने पड़ी है। यह तो एक साधारण-सी बात है। विशेष प्रसंग तो यह है कि लाहौर काण्ड का जीवन्त उदाहरण उस सम्पूर्ण इतिहास का प्रतीक है जिसके अध्ययन, अन्वेषण और रहस्योद्घाटन में श्री रत्नाकर शास्त्री ने इतना विराट् प्रयत्न किया है।

जब प्रथम भूमिका लिखी गई थी, उस समय लवपुर (लाहौर) ही नहीं, सिन्धु, तक्षशिला तथा मद्र (स्यालकोट परिसर प्रदेश) आदि अनेक प्राचीन ऐतिहासिक महत्व के स्थान भारत के ही अंश थे। प्राचीन आर्यावर्त के यह सभ्यता, साहित्य और विज्ञान के केन्द्र, जिनसे सम्पूर्ण संसार एक समय शिक्षा ग्रहण कर रहा था, हमारे देखते-देखते विदेश में परिणत हो गये। और विदेश भी भयंकर विदेश, जहां भारत और भारतीय संस्कृति को नष्ट करने का प्रयत्न ही अब मुख्य व्यवसाय बना हुआ है। वह तक्षशिला, जिसे इंगलैंड के विख्यात विद्वान डाक्टर रुडाल्फ हर्नल[1] ने बौद्ध जातकों की कथाओं तथा अन्य प्रमाण स्रोतों के आधार पर 'दिशा प्रमुखाचार्यों' द्वारा संचालित एक प्रख्यात तथा अद्वितीय विश्वविद्यालय का स्थान सिद्ध किया, जहां 1942 ई० में द्वितीय विश्वमहायुद्ध की कठिनाइयों और यातनाओं के मध्य में भी लाहौर से वैद्यों के एक दल को आयुर्वेद सम्बन्धी ऐतिहासिक 'अवशेषों' के दर्शन और अध्ययन के लिये यात्रा-सुविधाएं देने का उस समय अंग्रेज सरकार ने प्रबन्ध कर दिया था, वही तक्षशिला आज विदेश है। जहां एक भारतवासी का पहुंचना भी एक असंभव सी बात हो गई है।

जो पुरानी भूमिका श्री रत्नाकर शास्त्री ने मुझे लौटाई है, उस पर मेरे हस्ताक्षरों के नीचे 28 जून, 1942 तिथि है, और 'प्रसाद भवन' स्थान निर्देश। भूमिका लेखक का वह निवास 'प्रसाद भवन' तथा लाहौर की सम्पूर्ण सम्पति आज पाकिस्तानी यवनों के हाथ में है। यह तो एक साधारण सी बात है। परन्तु बड़ी-बड़ी संस्थायें श्रीमद्दयानन्द आयुर्वेद महाविद्यालय और आतुरालय, श्री सनातनधर्म आयुर्वेद महाविद्यालय, राय-बहादुर लछमनदास आयुर्वेदीय आतुरालय, मूलचन्द खैरातीराम ट्रस्ट आयुर्वेदिक आतु-रालय (जिसका एक ही दान बीस लाख रुपये का था), में कर्मचारियों और रोगियों तक पर आक्रमण कर भवनों सहित उनकी सम्पूर्ण सम्पति छीन ली गई तथा उनके साथ अमानवीय हिंसात्मक व्यवहार कर (जिसमें अनेक व्यक्तियों की हत्या कर दी गई) उन्हें सर्वथा रिक्त हस्त कर अपने प्राण लेकर देश छोड़ने पर बाध्य कर दिया गया।

कुछ वर्ष और निकल जायेंगे तो कोई श्री रत्नाकर शास्त्री जैसा खोजकार ही यह कह सकेगा कि लाहौर नामक नगर में कभी आयुर्वेद का बोलबाला था और आयु-र्वेदिक संस्थाओं के वैभव और संख्या बाहुल्य में यह अविभाजित भारतवर्ष का शिरोमणि नगर था। यहां पर एक 'प्रसाद भवन' नाम का घर भी एक ब्राह्मण वैद्य ने बनवाया था। जहां आज यवन अभक्ष्य पका रहे हैं, वहां पर वेद मन्त्रोच्चार के मध्य में नींवें रखी गई थीं, और नवग्रह शान्ति के अनन्तर वेद मन्त्रों के मधुरगान के साथ गृहप्रवेश हुआ था। वह पुत्री जिसका पालन-पोषण उसी भवन में हुआ था, आज उसे भूल गई है उसका पुत्र आज यह नहीं जानता कि 'प्रसाद भवन' किस चिड़िया का नाम था। अपने ही जीवन काल में अपने ही हाथ से बनाये हुए घर की स्मृति अपने लिये ही धुंधली पड़ गई है, दूसरी पौध के मस्तिष्क में तो उस सत्ता का ही अभाव है। यह है वर्तमान इतिहास का धुंधला-

---

1. Studies in the Medicine of Ancient India, Part I, by Dr. Rudolf Hoernle, Clarendon Press, Oxford, 1907, Page 7.

पन, यह तो कल की बातें हैं। हजारों वर्ष तो दूर रहे, सौ वर्ष, पचास वर्ष की भी नहीं, किन्तु हमारे जीवनकाल की, हमारे जीवन्त अनुभव की। और वे हमारे सामने ही काल धूली धूसरित हो गई। इतिहास की साक्षी तो किसे प्राप्त होगी, अदूर भविष्य में किंवदन्तियां रह जाएंगी। उनके चित्र भी धीमे पड़ते-पड़ते कालान्तर में लुप्त हो जायेंगे।

यह हाल वर्तमान का है। तो अतीत के इतिहास की कौन गति ? और अतीत भी कैसा अतीत ? जिसके सामने सैकड़ों वर्षो की घटनाएं कल की घटनाएं प्रतीत होती हैं। सहस्रों वर्ष के उथल-पुथल में लुप्त और युगों युगों के अन्धकार द्वारा आच्छन्न तत्वों का अनावरण सरल कार्य नहीं। आज से दो सहस्र वर्ष पश्चात् कोई यह कहने का साहस करेगा कि रेडियों और लिफ्ट जैसी सुविधाओं से सुसज्जित पहिला आयुर्वेदिक आतुरालय यवन देश पाकिस्तान के लाहौर नगर में था, तो लोग उसके कथन को कपोल कल्पित गाथा ही समझेंगे। पुरातत्वों के गम्भीर अध्ययन, असाधारण सतर्कता तथा प्रखर बुद्धि की सहायता से अन्वेषण दीप के प्रकाश में एक श्रृंखलाबद्ध इतिहास-ग्रन्थ के रूप में उपस्थित करना एक घोर तपश्चर्या है।

श्री रत्नाकर शास्त्री ने यह तपस्या की है। यह आवश्यक नहीं कि हर पग पर हम उनके प्रत्येक बोधन और प्रतिपादन को निश्शेष रूप से स्वीकार करें। परन्तु इसमें सन्देह नहीं इस ग्रन्थ में लेखक ने प्रभूत, आकर्षक, और बहुमूल्य सामग्री अपने पाठकों को प्रदान की है। मैंने इस ग्रन्थ को उपन्यास की भांति पढ़ा है। और मेरा मत यही बना है कि आयुर्वेद इतिहास क्षेत्र में उच्चस्तरीय ज्ञानोपार्जन और मनोरंजन का यह अपूर्व संयोग प्रत्येक पाठक के लिये, वह आयुर्वेद प्रेमी हो, या न हो ज्ञान और आनन्द का महास्रोत सिद्ध होगा।

—शिवशर्मा

प्रकाशकीय

प्रत्येक भारतीय को इस पुस्तक को अवश्य पढ़ना चाहिए। यह पुस्तक लेखक के पचास साल के अनथक निष्ठावान परिश्रम, लगन और तर्क की कसौटी पर ठीक उतरे हुए खोजों का परिणाम है। यह खोजें नई भी हैं और अमूल्य भी। आयुर्वेद की दुनिया में ऐसा ग्रंथ अभी तक नहीं छपा। हिन्दी साहित्य में भी यह ग्रंथ बिलकुल नई रचना है। यद्यपि इसका नाम 'भारत के प्राणाचार्य' है, परन्तु यदि इसे भारतीय संस्कृति और सभ्यता का गवेषणापूर्ण इतिहास भी कहें तो अत्युक्ति नहीं होगी। जिन महापुरुषों के चरित्रों का ऐतिहासिक चित्र लेखक ने इस ग्रंथ में प्रस्तुत किया है, वह सर्वथा नवीन खोज है। जिन महामहिम व्यक्तियों के सम्बन्ध में अब तक कुछ सुनी-सुनाई बातों के अतिरिक्त हम कुछ जानते ही नहीं थे, उन्हें प्रामाणिक रूप से सजीव जान सकें, इसके लिए लेखक ने जो ऐतिहासिक सामग्री जुटाई है वह अत्यन्त दुर्लभ है। ग्रन्थ के सम्बन्ध में दी गई विभिन्न विद्वानों की सम्मतियां इस बात को और स्पष्ट करेंगी।

अश्विनीकुमार, धन्वन्तरि, सुश्रुत, आत्रेय पुनर्वसु, कश्यप, चरक, जीवक, नागार्जुन तथा वाग्भट इन नौ महापुरुषों के जीवन-चरित ग्रन्थ में हैं। परन्तु इन नौ महापुरुषों से सम्पर्क रखने वाले अन्य कितने ही स्वनामधन्य यशस्वियों का ऐतिहासिक उल्लेख भी स्थान-स्थान पर समाविष्ट है। ऐतिहासिक, साहित्यिक और पुरातत्व के विचार से ग्रन्थ प्रामाणिक और अत्यन्त रोचक भी है। भारतीय संस्कृति और सभ्यता का विशाल क्षेत्र आज भी हमारे अतीत गौरव का परिचायक है। मानवीय सेवा के पुरस्कार में भारतीय संस्कृति ने जो सम्मान प्राप्त किया था वह हमारे ही नहीं, विश्व के लिए भी आदर्श है। प्रस्तुत ग्रंथ में भारत की सांस्कृतिक और वैज्ञानिक विजय का जो ऐतिहासिक उल्लेख आपको मिलेगा वह अन्यत्र नहीं है। भारत के इन अमूल्य रत्नों को खोज कर फिर से प्रकाश में लाने का श्रेय निश्चय ही इस ग्रन्थ के लेखक को है। पुस्तक का प्रत्येक अध्याय खोजपूर्ण, भावपूर्ण, रोचक एवं शिक्षा-प्रद है और भारत की गौरव गाथा है।

भारतीय विज्ञान का उदय, विकास और विस्तार किस प्रकार तथा किन-किन परिस्थितियों में हुआ यह इस ग्रंथ में ऐतिहासिक ढंग से विद्वत्तापूर्वक चित्रित किया गया है।

तीन साल इस ग्रंथ के छपने में लगे हैं। यह कुछ कागज की वजह से और दूसरे केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय के सुझावों से इसका कलेवर निरंतर वढ़ता ही गया और पुस्तक 500 पृष्ठों से वढ़कर 900 पृष्ठ से भी ऊपर की वन गई। इस दौरान में अनेक विद्वानों ने इसे पढ़ा वहुत सराहा और एकमत से इसे आयुर्वेद के इतिहास में अनोखा ग्रंथ माना है जो इससे पहले नहीं छपा। यह एक ऐसा ग्रंथ वन गया है जो जहां जाएगा भारत की प्रतिष्ठा और गौरव को वढ़ाएगा।

भारतीयों के लिये स्वर्ग और नरक का सुझाव जो विद्वान लेखक ने दिया है वह अपने आप में वहुत ही अनूठा है और वहुत-सी गलत भावनाओं को दूर करने वाला है। इसमें जो विचार दिए हुए हैं वे तर्क की कसौटी पर अच्छी तरह कसकर दिए हैं। इस वारे में एक नक्शा भी दिया है।

जो लोग एलोपैथिक और यूनानी में विश्वास रखते हैं उनके लिए भी यह ग्रंथ ज्ञानवर्द्धक होगा। ऐसा हमारा निश्चित मत है।

इन 50 सालों में इस विषय पर जितना भी साहित्य संस्कृत में, हिन्दी में और अंग्रेजी में उपलव्ध हो सका है लेखक ने वड़ी वारीकी से उसका अध्ययन किया है और उनमें काफी त्रुटियां पाई हैं। लेखक पूर्णरूप से इस विषय का अधिकारी है। वह कविराज आयुर्वेद शिरोमणि, आयुर्वेदाचार्य, शास्त्री, और एम० ए० है और उनमें लग्न और निष्ठा है। जिसके बिना ऐसा कार्य पूर्ण करना संभव नहीं हो सकता। लेखक ने अपनी सारी आयु इसी में ही विता दी है।

इस पुस्तक के पढ़ने से आपको भारत के गौरव का और इसमें लगे हमारे पूर्वज जिनमें ऋषि, मुनि, योगी और विद्वानों का जिनकी तपस्या और परिश्रम से यह काम हुआ है पता लगेगा।

अगर देश में और विदेशों में इन महा पुरुषों की जयन्तियां तथा शताब्दियां मनाई जायें तो उससे भारत की प्रतिष्ठा वढ़ेगी जैसा कि आर्यभट्ट के वारे में हम करने जा रहे हैं।

देशहित-समर्पित व्यस्त जीवन के ममूल्य क्षणों में से कुछ समय निकाल कर माननीय डा० कर्ण सिंह जी, स्वास्थ्य एवं परिवार नियोजन मंत्री, भारत, ने पुस्तक के लिए दो शव्द लिखकर इस ग्रन्थ को तथा इसके लेखक और प्रकाशक को जो प्रोत्साहन और गोंरव दिया है। उसके लिए हम उनके हृदय से आभारी हैं।

अन्त में हमारी सवसे यही प्रार्थना है कि लेखक को उसके 50 वर्ष के घोर परिश्रम का भरपूर पुरस्कार मिले। यह दूसरों को भी इस पक्ष पर प्रोत्साहन देगा।

—रामलाल पुरी

विषय-सूची

चित्र-सूची

प्रस्तावना

किसी ग्रन्थ के प्रतिपाद्य विषय की गम्भीरता देखकर पाठक उसके गौरव का परिज्ञान करते हैं। किन्तु लेखक विषय की गम्भीरता के साथ उसकी सामग्री जुटाने में आये हुए संकटों द्वारा उसके गौरव की कल्पना करता है। बने हुए घाट पर गंगा स्नान करना एक बात है, किन्तु गंगा स्नान करने के लिये घाट बनाना एक दूसरी बात है। मेरे प्रस्तुत ग्रन्थ का मूल्यांकन तो विद्वान् पाठक ही करेंगे। किन्तु मेरी यह निश्चित धारणा है कि आयुर्वेद एवं भारतीय विज्ञान के महान कर्णधारों की चरित्र चर्चा एक अत्यन्त गौरवपूर्ण प्रयास है। इसमें हमारे राष्ट्रीय जीवन की वह झांकी है जिसमें हमारा इतिहास है, कला है, पारिवारिक जीवन, धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र, कामशास्त्र और परमार्थ, सभी कुछ निहित है।[1] 'यह दवा-दारू का साहित्य है' यह मानकर आयुर्वेद साहित्य की उपेक्षा करना बड़ी भूल है। आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक सभी विषयों का जो विशद विवेचन आपको आयुर्वेद शास्त्र में मिलेगा, वह उपनिषद् और गीता में सुलभ नहीं है, क्योंकि वे दार्शनिक जटिलता से दुरूह हैं। किन्तु आयुर्वेद व्यवहार सिद्ध है।

सन् 1927 के प्रारम्भ में मेरी परम पूजनीया माताजी ने मुझे आदेश दिया कि मैं आयुर्वेद पढ़ूं। आदेश देने के कुछ ही महीनों बाद वे परलोक सिधार गईं। उन्हीं के आदेश परिपालन के लिए मैं आज तक भी आयुर्वेद का विद्यार्थी हूं। वेद, उपनिषद्, साहित्य, दर्शन, हिन्दी और अंग्रेजी पढ़ी अवश्य, किन्तु आयुर्वेद नहीं छूटा। मेरे गुरुवर पूज्य पंडित उमाशंकरजी द्विवेदी आयुर्वेदाचार्य ने मुझे जिस वात्सल्य से आयुर्वेद पढ़ाया, उसका प्रतिमान इस विश्व में नहीं है। मेरी वन्दनीया माता और पूज्यपाद गुरुदेव का ही आशीर्वाद है कि इस विषय पर मैं भारत के महान् प्राणाचार्यों के चरित्र चित्रण कर सका। परन्तु ऊंचे लगे फल पाने को 'बौने' से अधिक मैं और कुछ नहीं हूं।

पूजनीया माताजी के परलोक सिधारने के बाद सन् 1927 ईसवी के नवम्बर मास में इस निबन्ध लेखन का सूत्रपात गुरुकुल वृन्दावन में हुआ। महर्षि चरक और आचार्य वाग्भट के जीवन पर कुछ ऐतिहासिक सूत्र लिखे। दो वर्ष बाद उनमें कई ऐतिहासिक त्रुटियां दृष्टिगोचर हुईं। प्रायः दो-तीन दस्ते का लिखा निबन्ध फाड़कर फेंकना पड़ा। एक वाग्भट के स्थान पर छः वाग्भटों का चरित्र लिखना आवश्यक हो गया। चरक के सम्बन्ध में प्रचलित निराधार बातों से कोई ऐतिहासिक सत्य निकालना ही अशक्य था।

---

1. धर्मस्यार्थस्य कामस्य नृलोकस्योभयस्य च।
   दाता सम्पद्यते वैद्यो दानाद्देह सुखायुषाम्॥ —चरक, सूत्र० 17/38

श्री भगवद्दत्त रिसर्च स्कालर ने लिखा कि चरक का ही दूसरा नाम वैशम्पायन था। नागेश भट्ट ने लिखा कि चरक और पतंजलि एक थे। इसलिये प्रामाणिक तथ्य ढूंढ़े विना चरक का परिचय भी दुरूह हो गया। श्री वासुदेवशरण अग्रवाल लिखित पाणिनि-कालीन भारतवर्ष, तथा नैपाल में पुरातत्व द्वारा प्राप्त काश्यप संहिता से अनेक ऐतिहासिक परिचय मिले। काश्यप संहिता पर प्रस्तावना लिखने वाले विद्वान् श्री हेमचन्द्र शर्मा ने अनेक महत्वपूर्ण विषय इतिहास के प्रकाश में विशद किये। काश्यप संहिता से न केवल काश्यप किन्तु आत्रेय पुनर्वसु के जीवन पर भी प्रकाश पड़ा।

सन् 1927 में बौद्ध साहित्य उतना प्रकाश में न था जितना वह अनागरिक धर्मपाल की सेवाओं के तीन-चार वर्ष वाद त्रिपिटकाचार्य राहुल सांकृत्यायन तथा भदन्त आनन्द कोसल्यायन आदि बौद्ध विद्वानों के प्रयास से सुलभ हो गया। अनेक अंग्रेज विद्वानों के लेख भी इस दिशा में देखे, किन्तु उनमें संकीर्ण मनोभाव तथा अटकलों की भरमार ही मिली। तो भी यह मानना होगा कि यूरोपियन लेखकों ने हमें जागृति दी। उससे हमारी 'किंकर्त्तव्य विमूढ़ता' हटने में सहयोग मिला। भारत सरकार के पुरातत्व प्रकाशन ने चिरकाल के धूमिल अनेक तत्वों का ऐसा सम्मार्जन किया कि वे चमक उठे। उनकी चमक में वहुत दूर तक के संस्मरण एक शृंखला में आवद्ध हो गये। अनेक संग्रहालयों में जो चित्र, मूर्त्तियां, पात्र एवं आभूषणों सहित सिक्के मिले वे भी अपने-अपने युगों की कहानियां कहने लगे। किन्तु इन समस्त साधनों को देखने और संकलित करने में समय और पैसे का वड़ा व्यय करना पड़ा। फिर भी वहुत कुछ शेष है।

इस ग्रन्थ में जहां ऐतिहासिक प्रमाण नहीं मिले वहां मैं चुप रह गया हूं। प्रयास होता रहा तो प्रमाण मिलेंगे। भारतीय जीवन में संस्कृति और कला का ऊंचा स्थान रहा है। हमारे पूर्वजों ने कला के माध्यम से संस्कृति को इतना व्यापक वना दिया कि जड़ और चेतन का भेद समाप्त हो गया। कला की उपासना करते-करते भारतीय कलाकार पत्थर की शिलाओं, धातु की पटलियों तथा मिट्टी के वर्तनों और टीकरों में छैनी और तूलिका के माध्यम से घुस गया। वौद्धकाल, शुंगकाल, भागवतकाल और गुप्तकाल की मूर्त्तियां, प्रतिमायें और पात्र अपने-अपने युग की कथायें इतनी स्पष्ट कहते हैं कि शायद मनुष्य स्वयं न कह पाता। सिक्के उनके वक्तव्य की सम्पुष्टि में साक्षी हैं। देखने और सुनने के लिये दृष्टि और कान खुले होने चाहिये।

मुझे इस पुस्तक को लिखने में प्रेरणा देने वाली वह श्रद्धा है जो विश्व का निस्स्वार्थ उपकार करने वाले महर्षियों एवं आचार्यों के प्रति मेरे हृदय में वाल्यकाल से रही है। परन्तु दृढ़तापूर्वक मैं यह कहूंगा कि श्रद्धा के कारण मैंने इतिहास की अवहेलना नहीं की। स्थान-स्थान पर स्वतन्त्र आलोचनायें ही मेरी श्रद्धा के प्रतीक हैं। उनमें सर्वत्र 'ठकुर सुहाती' ही नहीं, उपालम्भ भी है। मैं उसे श्रद्धा नहीं मानता जिसमें 'ठकुर सुहाती' ही हो, उपालम्भ न हो। वे ऐतिहासिक प्रमाण जो मुझे सत्य जंच गये किसी व्यक्ति अथवा समाज की प्रसन्नता अथवा अप्रसन्नता का विचार त्याग कर मैंने लिखे हैं।

वहुत लोगों का, विशेषतः यूरोपियनों, का यह कहना है कि "प्राचीन भारतीय इतिहास और भूगोल का महत्व नहीं जानते थे। इसी कारण भारतीयों का ऐतिहासिक

साहित्य नहीं है।" यह कहना मिथ्या है। ऐतिहासिक दृष्टिकोण से भारत के प्राचीन साहित्य को मैं जितना ही देखता हूं, वह इतिहास के गौरव से ओतप्रोत है। भारतीयों की भाषा में इतिहास है, धर्म में इतिहास है, त्यौहारों में इतिहास है, कला में इतिहास है, यहां तक कि भूगोल और खगोल में इतिहास है। घरों में बच्चों की कथा और कहानियां भी इतिहासमय। इतिहास ही भारत का धर्म है। कैसे मान लिया जाय कि भारतीयों ने इतिहास की उपेक्षा की ?

आज के अस्तव्यस्त ग्रन्थों, भग्नावशिष्ट प्रस्तरों और जीर्णशीर्ण मन्दिरों से यह स्पष्ट है कि भारतीयों का ऐतिहासिक विवेक कितना उच्च था। उसे आक्रान्ताओं ने नष्ट किया, भस्म किया, और काटछांटकर कुरूप कर डाला, ग्रन्थ में दिये गये चित्र यह स्पष्ट करेंगे। हमारी ऐतिहासिक प्रवृत्ति को इतना कुचल दिया गया कि हम अपने इतिहास के प्रति जागरूक ही न रह सके। आक्रान्ताओं ने राजनैतिक अनैक्य इतना फैलाया कि एक प्रान्त दूसरे प्रान्त के इतिहास से ईर्ष्या कर उठा। सच तो यह है कि गुलामों के इतिहास का गौरव नहीं रहता। हम उसे रखना चाहें तो हमें अपने को पूर्वजों की भांति स्वाधीन और पराक्रमी बनाना होगा। हम ऋग्वेद का यह आदेश ही तो भूल गये---

प्रेता जयता नरा उग्रा वः सन्तु बाहवः।
अनाधृष्यायथासथ।[1]

कौटिल्य ने ठीक कहा था "शस्त्रेण रक्षिते राष्ट्रे शास्त्र-चिन्ता प्रवर्त्तते।"[2] ईसा की 7वीं शताब्दि के बाद तुर्कों, शकों, अरबों और ईरानियों के आक्रमणों ने भारत की ऐतिहासिक और सांस्कृतिक वस्तुओं का विनाश ही नहीं किया, प्रत्युत अनेक गन्दी परम्परायें भी प्रचलित कीं, जिससे मनुष्य की दिव्य शक्तियों का ह्रास और पाशविक प्रवृत्तियों का विकास हुआ।

बौद्ध आन्दोलन भी लोक संग्रह का शत्रु था। सबको भिक्षु बनाकर साहित्य, संगीत, और कला के विकास से पराङ्मुख करने वाले आन्दोलन का जो परिणाम हो सकता था वही हुआ। स्त्री और पुरुष, समाज निर्माण के दो पक्ष हैं। हम सृष्टि नियम के विरुद्ध उन्हें अलग-अलग नहीं रख सकते। उनके बीच में भिक्षु संघ की दीवार खड़ी करके वैरागियों की दुनियां बसाना अवैज्ञानिक नहीं तो और क्या है ? इस भिक्षु समाज के नियम यही थे---जो कविता लिखे उसे दुष्कृत का दोष लगे। जो गाये-बजाये उसे दुष्कृत। जो चित्र बनाये उसे दुष्कृत। जो लाठी-डंडा चलाये उसे दुष्कृत। जो युद्ध की बात करे उसे दुष्कृत। जो स्त्री के प्रति आस्था रखे उसे दुष्कृत।[3] आचार्य अश्वघोष ने भगवान बुद्ध का चरित काव्य लिखा, तो उन्हें कविता लिखने के लिये क्षमा मांगनी पड़ी। ताशकन्द से लेकर बलोचिस्तान तक सैकड़ों भिक्षुणी संघों की लाखों भिक्षुणी युवतियां तुर्क, शक, अरब और यूनान पहुंच गईं, क्योंकि उनके स्त्रीत्व का आदर भिक्षु संघ ने नष्ट कर दिया। यह राष्ट्र का विघटन ही था। भारत में शेष रहे भिक्षु और भिक्षुणियों का जो पतन

---

1. आगे बढ़ो, विजय करो, अपनी भुजाओं को ऊंचा रखो। ताकि शत्रु तुम्हें पराभूत न कर सकें।
2. शस्त्र से रक्षित राष्ट्र में ही शास्त्र चर्चा संभव है।
3. विनय पिटक देखिये।

वज्रयान, लिङ्गयान, और सिद्धयानों में हुआ उसे आप इतिहास में देखेंगे। साहित्य, संगीत और कला का विध्वंस करके हम समाज को सन्मार्ग पर नहीं रख सकते। मनुष्यता का सांचा इन्हीं में ढलता है।

इस प्रकार हम सर्वथा विदेशी आक्रान्ताओं को ही दोषी नहीं कह सकते। हमारे पतन के लिये हमारे ही अन्तर्दोष कम उत्तरदायी नहीं हैं। कोई भी धार्मिक संस्था राजनीति के अखाड़े में आकर शुद्ध आदर्शों पर नहीं रह पाती। राजनैतिक दलों के दलदल में उसके आदर्श डूब जाते हैं। फिर संस्था का नाम ही रह जाता है, काम नहीं। भारतीय आदर्श यह है कि धर्म-संस्था को राजनैतिक-संस्था का पथ प्रदर्शक होना चाहिये, न कि उसके अधीन।

मैंने स्वर्ग और नरक का भौगोलिक और ऐतिहासिक वर्णन इस ग्रन्थ में किया है। वह संक्षिप्त है। उस पर और लिखना शेष है। सब से प्रथम बार जब मैंने यह वर्णन अपने कुछ मित्रों को सुनाया तो उन्हें यह कल्पना मात्र प्रतीत हुआ। स्वयं मैंने जब इस तथ्य का प्रथम बार परिज्ञान प्राप्त किया, तो शुद्ध प्रमाणों के रहते हुए भी मन में संकोच हुआ। आखिर स्वर्ग के बारे में जो कुछ सुनते हैं क्या वह इसी हिमालय पर मान लिया जाय? देव, नाग, यक्ष, गन्धर्व और किन्नरों के बारे में जो अद्भुत कथायें लोग सुनाते रहे हैं, क्या वे इसी भूमि पर पनपे होंगे? ऐसा न हो कि लोग मेरे लेख पढ़ कर इन्हें भी गपोड़े समझ लें, और यह उपहास की सामग्री बन जाय।

परन्तु सुदृढ़ प्रमाणों ने अन्तःकरण को दृढ़ता प्रदान की। अब यह कहने में मुझे तनिक भी झिझक नहीं है कि स्वर्ग और नरक के सम्बन्ध में मैंने जो कुछ लिखा है, वह पूर्ण रूप से ऐतिहासिक सत्य है। मन में शताब्दियों से जमे हुए अन्धविश्वास जल्दी नहीं हटते। अभी जो कोई सुनता है कि स्वर्ग हिमालय पर ही था, हँस देता है। किन्तु आप ज्यों-ज्यों भारत के, और पार्श्ववर्ती देशों के साहित्य को ऐतिहासिक दृष्टि से देखेंगे, इस हँसी पर हँसी आयेगी। हम कितने अन्धकार में रहते रहे कि स्वयं को भी भूल गये। स्वर्ग और नरक के बारे में कल्पना के आधार पर मैंने एक बात भी नहीं लिखी। सब कुछ प्राचीन ग्रन्थों और पुरातत्व के पुष्ट प्रमाणों के आधार पर लिखा गया है। प्राचीन काल से हमारी परम्पराओं में वे संस्कार अभी विद्यमान हैं जो स्वर्ग और नरक के भौगोलिक और ऐतिहासिक तथ्य का समर्थन करते हैं।[1]

ईसा की आठवीं शताब्दी से लेकर बीसवीं शताब्दी के प्रथम चरण तक भारत में विदेशी शासन का यह अभिशाप है कि हमें अपने राष्ट्र के प्राचीन सांस्कृतिक और भौगोलिक वृतान्त भुलाये गये। विद्यालय, पुस्तकालय, मन्दिर, और स्मारक चुन-चुन कर भूमिसात किये गये, ताकि हम भारतीय गौरव को भूल जायें। अभी थोड़े ही दिन की बात है कि पूर्वी बंगाल में पाकिस्तानी आक्रान्ताओं ने शिक्षकों, बुद्धिजीवियों, और विचारकों की चुन-चुनकर हत्या की तथा सांस्कृतिक स्थानों को नष्टभ्रष्ट करना ही प्रथम उद्देश्य बनाया। किन्तु मठों और मन्दिरों के भग्नावशेष, तथा मूर्तियों के टूटे-फूटे

1. अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा हिमालयो नाम नगाधिराजः।
पूर्वापरौ तोयनिधीऽवगाह्य स्थितः पृथिव्या इव मानदण्डः॥ —कालिदास, कुमार संभव 1/1

खंड आज भी उस युग की कथा कहते हैं। भूगर्भ की खुदाई में तक्षशिला के छः आवास अलग-अलग निकले। उज्जैन के महाकालेश्वर, सोमनाथ के शिवालय, और नालन्द, काशी, पाटलिपुत्र, मथुरा और अजन्ता के शिक्षा प्रतिष्ठानों के खंडहरों में जाइये, इतिहास के पृष्ठ बिखरे पड़े हैं, उन्हें फिर से संकलित करने वाले चाहिये।

अर्वाचीन युग में आर्यों के निवास के बारे में बड़ी खोज हुई है। कोई उसे सप्तसिन्धु प्रदेश (पंजाब, पश्चिमोत्तर प्रदेश, और अफगानिस्तान) कहता है। कोई ईरान (आर्यान्) अथवा एशिया माइनर। किन्तु मेरा विचार है कि इन प्रदेशों में ही आर्यों के आदि-निवास की धारणा उचित नहीं है। हां, इन प्रदेशों को हम आर्यों का स्वर्गोत्तर-निवास कहें तो वहुत उचित है। आदि-निवास तो स्वर्ग ही है। स्वर्ग के शत्रुओं को खदेड़ते-खदेड़ते वे उन प्रदेशों में पहुंच गये, और वहां बस गये। उन प्रदेशों में कुछ स्वर्ग की सीमा में थे, कुछ बाहर भी। पीछे वे आर्यावर्त्त की सीमा में आ गये।

अर्वाचीन युग में सम्पूर्ण विचारकों में ऐतिहासिक दृष्टि से ऋषि दयानन्द सरस्वती के विचार मुझे सबसे अधिक प्रामाणिक लगे। स्वर्ग और नरक के बारे में, तथा देव, नाग, आदि आर्य जाति के 'पंचजन' के बारे में जब मैंने अपने अनुसन्धान लिखे तो मुझे सब से अधिक चिन्ता यह हुई कि संस्कृत साहित्य के सैकड़ों धुरन्धर विद्वानों में से किसी का ध्यान इस ओर क्यों नहीं गया? एक दिन अपने पूज्य पिताजी के पुस्तकालय में मुझे 'उपदेश मञ्जरी' नाम की एक पुस्तक मिली। सन् 1875 में पूना में दिये गये ऋषि दयानन्द के पन्द्रह भाषणों का यह एक संग्रह है। इन में आठवें से लेकर तेरहवें तक छः भाषण इतिहास विषय पर ही हैं। मैंने इन भाषणों को पढ़ा। मेरी प्रसन्नता का ठिकाना न रहा, जब मैंने देखा कि स्वामीजी ने उन्हीं ऐतिहासिक तथ्यों की ओर निर्देश किया है जो मैं इस पुस्तक में लिख चुका था। इतने बड़े विद्वान् ने मेरी वकालत कर दी। मुकद्दमा मेरे पक्ष में फैसल हो गया।

प्राचीन भारत के इतिहास में पुरातत्व की सामग्री के लिए महाभारत, रामायण और पुराण बड़े काम की चीजें हैं। ब्राह्मण और उपनिषदों में भी काम की सूचनायें मिलती हैं। परन्तु इन ग्रन्थों से आवश्यक सामग्री निकालने में कुछ सावधानी की आवश्यकता है। विशेषतः पुराणों से। संभव और बुद्धिग्राह्य बातों को चुन लीजिये, शेष अर्थवाद को छोड़ दीजिये। कहीं वाच्य, कहीं लक्ष्य, कहीं व्यङ्ग्यभाव प्रमुख होते हैं। जहां जो प्रमुख है वही उपादेय है, शेष अर्थवाद लेखन शैली की साजसज्जा मात्र होती है। वह तात्पर्यार्थ नहीं है। स्तुति, निन्दा, परकृति और पुराकल्प सभी का अर्थवाद में समावेश है। प्रतिपाद्य को परखना चाहिये। महापुरुषों के जीवन के उपरान्त भक्त लोग अन्धश्रद्धा के कारण उन के नाम के साथ अनेक अतिरंजित बातें जोड़ देते हैं। प्रेम में विभोर मानव की यह स्वाभाविक दुर्बलता है। रामायण से महाभारत और महाभारत से पुराणों में अर्थवाद अधिक है। आप बुद्धिग्राह्य ले लीजिये। मैंने इस ग्रन्थ में यही मार्ग अपनाया है। और आवश्यक होने पर उक्त ग्रन्थों से भी सहायता ली है।

इन ग्रन्थों के अतिरिक्त चरक, सुश्रुत, एवं काश्यप संहिताओं का भी बड़ा ऐतिहासिक महत्व है। इन संहिताओं की लेखन शैली ऐसी है कि उनमें बड़े काम का इतिहास

मिल जाता है। चरक तो लेखन शैली का आदर्श है। स्वर्ग, नन्दनवन, कैलाश, चैत्ररथवन, हिमवान्, काम्पिल्य, काशी, वाल्हीक, एवं पंचगंग प्रदेश, आदि स्मरणीय ऐतिहासिक स्थानों की ओर मेरा ध्यान शायद ही जाता यदि चरक संहिता में महर्षि आत्रेय पुनर्वसु के प्रामाणिक निर्देश न होते। सुश्रुत संहिता ने भी काशी तथा पुष्कलावती (चारसद्दा) जैसे वैज्ञानिक केन्द्रों का परिचय दिया। काश्यप संहिता में कनखल, काशी और वाल्हीक का उल्लेख किया गया है। विशेषता यह है कि उस युग में स्त्रियों की आयुर्वेदिक शिक्षा का उल्लेख काश्यप संहिता में ही है। आदि कालीन साहित्य प्रायः संहिता युग के साथ समाप्त हो जाता है। नैपाल के पुरातत्व में प्राप्त काश्यप संहिता का बड़ा भाग नष्ट हो गया है। तो भी वह बड़े काम की है। उस पर श्री हेमचन्द्र शर्मा का उपोद्घात भी महत्व का है।

प्राचीन भारत के आधुनिक इतिहास लेखकों में अधिकांश ऐसे हैं जिनके पास कोई मौलिक और प्रामाणिक सामग्री नहीं है। यूरोपीय लेखकों के विचार ही उनके अवलम्ब होते हैं। फलतः भारत के बारे में यूरोपीय मनोवृत्ति का इतिहास तो लिखा जाता है, किन्तु भारत का इतिहास नहीं। संस्कृत साहित्य का अल्प ज्ञान या अज्ञान ही इसका कारण प्रतीत होता है।

'Fire age' तथा 'stone age' जैसी भद्दी कल्पनायें यहां के निषाद, शबर, पुलिन्द तथा वानर आदि असंस्कृत जातियों के बारे में भले ही उपयुक्त हों, आर्य जाति के बारे में कभी लागू नहीं होतीं। वैज्ञानिक दृष्टि से आर्यों का आदि काल, जो महाभारत से पूर्व था अत्यन्त विकसित और महान् था। आग्नेयास्त्र, वारुणास्त्र, ब्रह्मास्त्र जैसे आविष्कार वह विकास सूचित करते हैं। अग्नि अथवा पत्थरों तक वे स्वर्ग में भी सीमित न थे। प्रत्युत विश्व के पांचभौतिक विज्ञान पर उन्हें पूर्ण अधिकार प्राप्त था। चैत्ररथवन में हिमालय के ऊपर होने वाली वैज्ञानिकों की सभा का जो उल्लेख आत्रेय पुनर्वसु ने किया है, वह प्रकट करता है कि उनका विज्ञान कितना विकसित और व्यापक था। रसाहार पर इतना सुन्दर और वैज्ञानिक विवेचन अभी तक कोई दूसरा चिकित्सा विज्ञान बहुत कम प्रस्तुत कर पाया।[1] कश्यप के गंगातीर पर दिये गए कनखल के प्रवचन कौमार भृत्य के जिन तत्वों का उल्लेख करते हैं, वे आज के वैज्ञानिकों के लिये भी एक चुनौती हैं। फिर 'अग्नि युग' और 'प्रस्तर युग' कहां के युग हैं? ऋग्वेद के अग्नि सूक्त, उषा सूक्त, मरुत्, वाक्, मेघ, पर्जन्य, और इन्द्र सूक्त आदि के उल्लेख जितने गम्भीर विज्ञान के द्योतक हैं, वह अग्नि युग और प्रस्तर युग के लोगों में कहां संभव था? ऋग्वेद का संगमन-सूक्त (Sociology), नासदीय सूक्त (Cosmic development), यम, यमी सूक्त (Sex relations) जैसे विषय सभ्यता के ऊंचे आदर्श हैं।

फिर भूगर्भ से मिले हुए पाषाण-शस्त्रास्त्र, और अग्नि कुंड किनके हैं? उस युग में भी सभ्य आर्यों के अतिरिक्त अनेक असभ्य जातियां नरक में आबाद थीं, जिनका कोई शासन तक नहीं था। समाज संस्था नहीं थी। और शिक्षादीक्षा भी न थी। यह पाषाण अस्त्र और अग्नि कुंड भी, तो उनके हो सकते हैं। भूगर्भ में जो कुछ मिले वह सब आर्यों

---

1. चरक, सूत्र० 26

के साथ जोड़ दिया जाय, यह कोई बुद्धिमान् कैसे स्वीकार कर लेगा ? जब कि शबर, पुलिन्द और निषाद भी आर्यों के साथ-साथ अपने संस्मरण इस भूगर्भ में छोड़ गये हैं।[1]

अनेक ऐतिहासिकों का विचार है कि हिमालय के नीचे बंगाल, विहार और उड़ीसा एवं अधिकांश दक्षिण भारत किसी समय समुद्र में विलीन थे। आज जहां राजस्थान है वहां भी समुद्र था। किसी विशाल प्राकृतिक उथलपुथल के पश्चात वह भूभाग बन कर उभर आया। धीरे-धीरे लोग उस पर आबाद हो गये। परन्तु मनु के जल प्रलय के बाद यह भूप्रदेश ऐसा ही रहा है जैसा वह आज है। हां, राजस्थान किसी समय सरस्वती नदी से अभिषिंचित था। सरस्वती के अन्त (विनशन) होने के बाद वह रेगिस्तान बन गया। किन्तु रामायण काल के सैकड़ों वर्ष पूर्व तक वहां समुद्र न था। सेतुबन्ध रामेश्वर का उल्लेख यह स्पष्ट कहता है कि दक्षिण भारत भी तब समुद्र में निमज्जित न था। वह कब था, यह निमंजन लिखने वाले भी नहीं लिख सके।

स्वर्ग, नरक एवं दक्षिणापथ आदि के भौगोलिक परिज्ञान के लिए मैं एक नक्शा इस पुस्तक में दे रहा हूं। इससे तत्कालीन परिस्थिति समझने में सुविधा होगी। जनसंख्या कम होने से आदिकाल में स्वर्ग के नीचे यह सारे प्रदेश आर्यों के उपयोग में न थे। जंगली जातियां और वन्य पशु ही जहां-तहां उनमें रहते थे। वृक्षों पर घोंसले बना कर रहने वाले वे लोग ही प्रस्तर-युग के प्रवर्त्तक थे। उन का कोई शासन-तन्त्र भी नहीं था। किन्तु आर्यों की जन-वृद्धि के साथ-साथ जनपद बढ़े। नरक के प्रदेश भी इतिहास का विषय बन गये। इन के अभिषिंचन के लिए जन्हु और भगीरथ ने गंगा जैसी विशाल जलधारा का निर्माण किया। गंगा स्वर्ग की देवी थी, जिसके सम्मान में इस नदी का नाम भी गंगा रख दिया गया।

ऋग्वेद में गंगा का अधिक वर्णन नहीं है। क्योंकि तब तक गंगा इतनी विशाल नदी नहीं थी। वे पांच धारायें थीं। स्वर्ग का वह प्रदेश जहां वे पांचों बहती थीं पंच-गंग प्रदेश कहा जाता था।[2] पांचों का जल नरक में इधर-उधर बिखरता था। भगीरथ ने उसे नियन्त्रित करके एक नदी के रूप में परिवर्तित करके यह रूप दिया और नरक के प्रदेश को हरा-भरा सस्यश्यामल बना दिया। भगीरथ का यह इतिहास गंगा के साथ अमर हो गया, और गंगा भागीरथी भी बन गई। उसमें सरस्वती का समावेश तो पीछे की बात है। नरक के इस निम्न भूभाग को पावन करने के कारण ही गंगा पतित पावनी हो गई। स्वर्ग से नरक में गंगावतरण की यही कहानी है। अन्य कथायें तो इसी का अंग हैं।

आयुर्वेद की संहिताओं में जो भौगोलिक और ऐतिहासिक उल्लेख हैं, वे पूर्ण रूप से व्यवहार सिद्ध हैं।[3] उनमें अतिरंजित भाषा या अलंकारों का समावेश नहीं है। इस-लिये उनमें सन्देह को स्थान नहीं है। वे इतिहास लेखक को बड़े काम की सूचना देते हैं। चिकित्सा सम्बन्धी द्रव्यों के आदानप्रदान में अन्य देशों के सम्पर्क की सूचना भी आयुर्वेद

---

1. उपर्युक्त पुष्कलावती का परिचय 'भारतीय इतिहास की रूपरेखा' पृ० 68 (1—17) देखें।
2. उशीनर एवं शिवि देशों का ऊल्लेख भा० इ० की रू० रे० में भाग 1 पृ० 1, 4 पर देखें।
3. चरक सं०, चिकि०, अ० 4।

संहितायें देती हैं। लोक व्यवहार, राज्य शासन, आहार-विहार, पारिवारिक जीवन, धर्म और अर्थव्यवस्था, शिक्षा तथा दीक्षा के विवेचन द्वारा राष्ट्रीय जीवन का विशद परिचय जो आयुर्वेद संहितायें देती हैं, वह अन्यत्र नहीं।

मध्यकालीन इतिहास संकलित करने के लिये जैन और बौद्ध साहित्य अवलोकन करने की आवश्यकता है। वह अधिकांश प्राकृत या पाली भाषाओं में है। जैन साहित्य के अध्ययन में एक बड़ी कठिनाई यह होती है कि जैन लोग अपने प्राचीन ग्रन्थ जैनेतर लोगों को दिखाने में आनाकानी करते हैं। मुझे कई जैन पुस्तकालयों से निराश होकर लौटना पड़ा। यद्यपि अब अनेक जैन विद्वान् इस मनोवृत्ति का विरोध भी करने लगे हैं। मैं इस प्रसंग में इटावा के प्रतिष्ठित जैन विद्वान् चौधरी बसन्तलालजी जैन का अत्यन्त कृतज्ञ हूं। दुःख है कि वह अब परलोकवासी हो गये। किन्तु उन्होंने मुझे जैन साहित्य की अनेक वे पुस्तकें दीं, जिन्हें देने से अनेक जैनियों ने मना कर दिया था। श्री चौधरी साहब की कृपा से ही आरा (बिहार) के श्रीयुत के० भुजबली शास्त्री का परिचय मिला। उन्होंने मुझे काम की सामग्री भेजी, जिससे अनेक नई सूचनायें मिलीं। मैं शास्त्री-जी का आभारी हूं।

बौद्ध साहित्य का परिचय पाने के लिये श्री राहुल सांकृत्यायन का मैं अत्यन्त कृतज्ञ हूं। श्री राहुलजी से काशी में अनेक बार मिलने से उनके द्वारा अनेक बौद्ध ग्रन्थ ज्ञान में आये। उनके निवास के कारण ही काशी विद्यापीठ मेरे लिये आकर्षण का स्थान रहा। सन् 1931 से 1933 तक काशीवास के दिनों में प्रायः प्रति सप्ताह काशी विद्यापीठ जाने का लोभ संवरण न कर सका। सारनाथ में भदन्त आनन्द कोसल्यायन से परिचय हुआ। एक-दो बार इटावा में वह मेरे घर के अतिथि भी हुए। दोनों विद्वानों ने बौद्ध साहित्य का महत्वपूर्ण परिचय देकर मुझे अत्यन्त उपकृत किया। उसके लिये मैं दोनों का चिर कृतज्ञ हूं।

महाभाग जीवक और आचार्य नागार्जुन का परिचय मुझे इन्हीं दोनों विद्वानों से मिला। यद्यपि सामग्री संकलन में फिर अनेक ग्रन्थ देखे, किन्तु इन दो प्राणाचार्यों के चरित्र-चित्रण की दिशा में प्रेरणा इन्हीं दो बौद्ध भिक्षुओं ने दी। बौद्ध साहित्य भी एक मौलिक शैली है। वह एक नई दृष्टि का उन्मेष करता है। जातकों, तिब्बतीय कथाओं एवं त्रिपिटकों के अधिक प्रकाश में आने के बाद बहुत कुछ मध्यकालीन इतिहास प्रकाश में आया। विश्वास है कि बौद्ध और जैन पुरातत्व के अध्ययन से वह स्पष्ट होगा।

कौटिल्य का अर्थ शास्त्र उस युग का प्रकाश स्तम्भ है। 'चाणक्य-सूत्र' भी आचार संहिता है। किन्तु उनसे जो आनुषंगिक सूचनायें मिलती हैं वे बड़े काम की हैं। स्वर्ग और नरक उस युग में साहित्यिक शब्द बन गये थे, उनकी ऐतिहासिक और भौगोलिक गरिमा गौण रह गई थी।[1] जबकि संहिता युग में वह मुख्य थी। किन्तु कौटिल्य के ग्रन्थों की भांति ही बौद्ध और जैन साहित्य भी उस युग की साक्षी हैं। इतिहास की अदालत में उनके भी बयान होने चाहिये। दर्शन, स्मृति, गृह्य सूत्र, एवं ब्राह्मण ग्रन्थों से हमें मध्य-

1. स्वर्गं स्थानं न शाश्वतम्। —चाणक्य सूत्र 482
नाकृतिज्ञस्य नरकान्निवर्त्तनम्। —चाणक्य सूत्र 439

कालीन युग का परिचय मिलता ही है। आचार्य पाणिनि की अष्टाध्यायी भी ऐतिहासिकों के लिये महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। पुरातत्व में जो संस्मरण भूगर्भ से निकले और जो भग्नावशेष ऐतिहासिक महत्व के मिले उनसे भी मध्यकालीन ऐतिहासिक कथायें सुननी चाहिए। यास्काचार्य का निरुक्त भी वहुत बार प्राग्बौद्ध युग की बातें कहता है। उन्हें सुनिये।

मध्यकालीन (महाभारत से बौद्ध युग के प्रारम्भ तक) ऐतिहासिक उपकरण संकलित करना जितना महत्वपूर्ण है, उतना ही कठिन भी। विश्व की मानवीय प्रतिस्पर्धा का ज्वालामुखी इसी युग में भड़का। क्रान्ति की प्रज्वलित ज्वालाओं ने अपने अस्तित्व के पोषक प्रमाण भी भस्म कर डाले। स्वयं वैदिक सम्प्रदाय में सैकड़ों-सहस्रों शाखा-प्रशाखायें सामाजिक नहीं, व्यक्तिगत प्रौढ़वाद की परिचायक हैं। हम इतने से ही अनुमान कर सकते हैं कि वह युग राष्ट्र-प्रधान नहीं, व्यक्ति-प्रधान हो गया था। विद्वत्समाज का छिन्न-भिन्न रूप कहां तक टुकड़े-टुकड़े हो गया था, यह आप पाणिनि से पूछ सकते हैं। तो भी हम में सांस्कृतिक एकता थी, जो हमारे राष्ट्र को जीवित बनाये रही।

भारत का पूर्व भाग सामाजिक दृष्टि से इतना विसंगठित नहीं हुआ जितना पश्चिम और उत्तर भाग। पाणिनि की अष्टाध्यायी देखिये—काश्मीर, गन्धार, वाल्हीक, पंजाब और सिन्ध के हजारों टुकड़े हो गये। कोई शाखा भेद, कोई गोत्र भेद, कोई चरण भेद। सिन्धु, वर्णु, मवुमत, कम्बोज, साल्व, काश्मीर, गन्धार, तक्षशिला, मद्र, वृजि,[1] आदि इस छोटे से हिस्से के न जाने कितने भेद-प्रभेद आपको मिलेंगे। गोत्र, शाखा, चरण, प्रवर, जातिभेद राष्ट्र को छिन्न-भिन्न कर रहे थे। बौद्धिक सहानुभूति नष्ट हो गई थी। केवल मानसिक अथवा सांस्कृतिक अभिन्नता ही राष्ट्र को जीवित रखे थी। इसमें भी वैदिक वर्णव्यवस्था के विरुद्ध विद्रोह की चिनगारियां चमकने लगी थीं। जैन सम्प्रदाय उसकी ही प्रतिक्रिया थी।

आदिकाल मे जो ग्रन्थ लिखे गये वे संहिता थे। किन्तु मध्यकाल में काठक, कालापक, वाजसनेयी, ताण्ड्य, ऐतरेय, तैत्तिरीय, कौथुम, शाकल, शौनक आदि व्यक्ति-प्रधान साहित्य विसंगठित समाज का ही प्रत्यापक है। चरक संहिता, सुश्रुत संहिता में ग्रन्थ का नाम तो केवल 'संहिता' ही है। चरक या सुश्रुत उसके सम्पादक का नाम है, जो यह बोध कराने के लिये है कि संहिता में यदि कहीं भूल रह गई है तो उसका उत्तरदायी सम्पादक है, न कि 'संहति'। समाज के प्रति यह सम्मान मध्यकाल में नष्ट हो गया। यह राष्ट्रीय दुर्बलता का परिचायक तो है ही। 'त्रयोवेदस्य कर्त्तारः भाण्ड, धूर्त्त, निशाचराः' तथा 'हस्तिना ताड्यमानोपि न गच्छेज्जैन मन्दिरम्'[2] जैसी कहावतें उसी विघटन की प्रतीक हैं।

व्यक्तिवाद में व्यक्ति अपना विकास पहले देखता है, समाज का पीछे। फलतः समाज दुर्बल होने लगता है। व्यक्ति व्यक्ति को भूल जाय, किन्तु धरती माता अपनी

---

1. अष्टाध्यायी, अ० 4 पाद 3 देखें।
2. 'वेद के लेखक तीन थे—भडुवे, ठग, और निशाचर।' तथा 'हाथी मारे तो मर जाओ, किन्तु शरण पाने के लिये जैन मन्दिर में न जाओ।'

सन्तान की यशोगाथा जल्दी नहीं भूलती। वह समय-समय पर अपनी सन्तान की कहानी कहने से नहीं चूकती। सीता नदी (यारकन्द) के कछार में, जिसे अब चीनी तुर्किस्तान अथवा 'सिंकियांग' कहने लगे हैं, भूगर्भ से इतने भारतीय अवशेष मिले हैं जिनसे बौद्ध-काल से पूर्व से लेकर ईस्वी पूर्व दूसरी शताब्दि तक के भारतीय इतिहास पर प्रकाश पड़ता है।[1] इसके उत्तर थियान् शान् पर्वत है। चीनी भाषा के 'थियान् शान्' का अर्थ देवताओं का पर्वत होता है।[2]

एशिया माइनर के प्राचीन 'किश' नगर में अनेक संस्मरण मिले, जिनसे सिन्धु देश की सभ्यता का विस्तार वहां तक सिद्ध होता है।[3] हड़प्पा (मांटगुमरी) और मोहंजोदड़ो (लरकाना, सिन्ध) की खुदाई से प्राप्त सामग्री द्वारा ईसा से चार-पांच हजार वर्ष पुरानी भारतीय आर्यों की स्थिति पर प्रकाश पड़ता है। वर्त्तमान मध्य प्रदेश में नर्मदा नदी के तट पर प्राचीन माहिष्मती नगरी के संस्मरण भूगर्भ से प्राप्त हुए, जो ईसा से प्राय: दस हजार वर्ष पूर्व तक हमारे इतिहास के उन्नत काल की गवाही देते हैं। इस प्रकार हम महाभारत ही नहीं, रामायण काल के आगे तक पहुंच जाते हैं। हमें इस सम्पूर्ण क्षेत्र में फैले हुए भारतीय प्राणाचार्यों का लेखाजोखा तैयार करना है। मिस्र, यूनान, अरब, पर्शिया, बेबीलोनियां, मैसोपोटामियां, सिंकियांग, चीन, जावा, सुमात्रा तथा लंका आदि देशों में भारत के द्वारा दी गई आयुर्वेद की धरोहर अभी तक जनहित में काम आ रही है, उसका परिचय पाने का हमने कभी प्रयास नहीं किया।

भारत में आक्रान्ता पश्चिम से आये, और आते रहे। असभ्य, अशिक्षित और बर्बर। उन्होंने हमारे विज्ञान, इतिहास, अर्थतन्त्र आदि दो-चार ही नहीं, सभी प्रकार के साहित्य को नष्ट कर दिया। विद्वानों को चुन-चुनकर मार डाला या बन्दी बनाकर ले गये। पारिवारिक जीवन नष्ट-भ्रष्ट कर डाला। इसीलिये भारतीय विद्वानों के लिखे मूल ग्रन्थ नष्ट हो गये। कुछ हमने अपने अज्ञान से भी नष्ट कर दिये। किन्तु उन ग्रन्थों के अनुवाद भिन्न-भिन्न देशों में अभी तक विद्यमान हैं। चीन से ऐसे कितने ही ग्रन्थों का उद्धार हुआ है। और प्रयास किया जाय तो हो सकता है। रामायण काल से लेकर अभी तक लंका में हमीं शिक्षक रहे हैं। अरब में 'सरक' आर 'ससरद्' चरक और सुश्रुत के ही अरबी अनुवाद हैं। तिब्बत में भी ऐसे ग्रन्थ हैं। 'योग शतक' अष्टांग-हृदय, तथा अश्वायुर्वेद ग्रन्थ तिब्बत के तंजूर में विद्यमान थे, जो तिब्बती भाषा में अनूदित थे। नागार्जुन का परिचय 'योग शतक' से ही मिला। यूनान में 'सेण्ड्रा कोहस' और 'पालि-पोथ्र' नाम के प्रचलित ग्रन्थों से ही चन्द्रगुप्त मौर्य और पाटलिपुत्र के इतिहास का पुन-रुद्धार हुआ है। अरब में चरक और सुश्रुत के अनुवाद काश्मीरी ब्राह्मणों ने किये थे। बाल्हीक के महास्थविर काश्मीरी ब्राह्मण थे। अरबों ने आक्रमण करके उनके पुत्र को

---

1. भारतीय इतिहास की रूपरेखा, भाग 1, पृ० 72
2. फाहियान, (काशी ना० प्र० सभा)। (खण्ड 1/1/7)
   तथा भारतीय इतिहास की रूपरेखा, भाग 1, पृ० 72
3. रायकृष्णदास, 'भारतीय मूर्त्तिकला', पृ० 58।

बन्दी बनाया। वे अरब गये। और बरामका-खलीद बनाये गये, जो उन ग्रन्थों के अनुवादक थे।[1]

भारतीय इतिहास की बड़ी शोध हो रही है। परन्तु यह शोध अधूरी है। शोध को पूरा करने के लिये हमें सम्पूर्ण पड़ोसी देशों को, अफ्रीका (मिस्र), यूनान सहित एशिया के समस्त देशों को विद्वान् भेजने पड़ेंगे, जो उन देशों की भाषायें पढ़ें और उनके साहित्य से भारत का इतिहास खोज कर ले आयें। नवनिर्माण करने वाले 'डी० लिट्' चाहिये। कथा सरित्सागर, दीपवंश, महावंश तथा जातक ग्रन्थों में भारतीयों की समुद्र यात्रा का बहुत वर्णन है। जहां-जहां वे गये, वहां-वहां यदि हम अभी तक नहीं गये तो हमारे इतिहास की शोध अधूरी है। पश्चिम में यूनान तक, पूर्व में जावा, सुमात्रा, कम्बोदिया और हांगकांग जाइये। पश्चिम में फरगना, ताजिकिस्तान,[2] सिकियांग के जनजीवन में घुसकर देखिये उनके यहां क्या लिखा है और आपके यहां क्या? भूमध्य एशिया से चीन तक हमारे पूर्वज रेशम और इत्र (Perfumes) का व्यापार करते रहे थे। क्या हम कभी उनके ग्राहकों से उन पूर्वजों की कथायें पूछने गये? उनके और अपने बहीखाते की विद मिलाने की जरूरत है। यदि हम पूछने नहीं गये, तो यह शोध जो हम कर रहे हैं अपूर्ण है। कुमार जीव के प्रतिनिधि बनकर चीन जाने वालों की कमी नहीं है, यदि हमारी राष्ट्रीय सरकार इस ओर सचेष्ट हो।

हमें भारत के प्राणाचार्यों के कार्य क्षेत्र का अध्ययन करते समय मनु की लिखी हुई आर्यावर्त्त की सीमा को ध्यान में रखना होगा। यह पश्चिम में भूमध्य सागर से लेकर पूर्व में प्रशान्त महासागर तक है।[3] हम पूर्व में सीमान्त सागर टांग किंग की खाड़ी को मानते हैं। आर्यों ने स्वर्ग से उतर कर इसी प्रदेश में एक राष्ट्र की स्थापना की थी, यह आर्यावर्त्त था। आर्यावर्त्त को सांस्कृतिक प्रेरणा स्वर्ग के शासन से ही मिलती रही थी।

स्वर्ग में देवता अथवा सुर लोग सम्पूजित थे। आर्यावर्त्त के शासन में जब वर्ण-व्यवस्था स्थापित हुई, ब्राह्मणों ने अपने को देवताओं के समकक्ष सम्मानित करने के लिये ब्राह्मण का पर्याय 'भू-सुर' या 'मही-सुर' घोषित किया। भू, पृथ्वी, मही, वसुधा, धरा, जैसे शब्द स्वर्ग की प्रतियोगिता में ही बने थे। स्वर्ग के देवों ने अपने प्रदेश को स्वर्ग, त्रिदिव, त्रिविष्टप, कैलास, नन्दन, सुरलोक, नाक, अव्यय आदि सब कुछ कहा, किन्तु धरा, पृथ्वी, मही, आदि संज्ञाओं से कभी नहीं कहा। यही कारण है कि स्वर्ग में दी गई शासकीय संज्ञायें रूढ़ हैं—इन्द्र, ब्रह्मा, विष्णु, शिव, गौरी, लक्ष्मी, शची, आदि। किन्तु स्वर्ग से नीचे उन्हीं भावों में भूपति, पृथ्वीपति, महीपति, वसुधाधिप, आदि यौगिक शब्द निर्मित हुए। महीतल, धरातल, भूतल आदि शब्दों में 'तल' शब्द हिमालय से नीचे, अथवा नरक की भूमि का ही बोध कराता है। 'धरा धरेन्द्र' हिमालय का नाम है। किन्तु

---

1. Indian Contribution to World Thought & Culture. Page 58.
2. ताजिकिस्तान, उजवेकिस्तान, तुर्कमेनिया तथा कजाकिस्तान भारत के पश्चिमोत्तर पड़ोसी रूस के गणतन्त्र में हैं।
3. आसमुद्रात्तु वै पूर्वादासमुद्रात्तु पश्चिमाम्।
   तयोरेवान्तरं गिर्योरार्यावर्तं विदुर्बुधाः॥ —मनु० 2/22

उसके यौगिक रूप की व्यंजना तो देखिये। यों तो हिमालय भी 'भू' और 'धरा' है। किन्तु उसके साथ जुड़ा हुआ 'तल' शब्द स्वर्ग और नरक का भेद बोधक ही है। क्योंकि वह स्वर्ग के तले है। तल शब्द नीचे प्रदेश का बोधक आज भी है।

कालिदास ने लिखा था 'महीतल स्पर्शन मात्र भिन्नं ऋद्धं हि राज्यं पदमैन्द्र माहुः''[1]—जो महीतल पर नहीं आता, किन्तु जिस पराक्रमी का राज्य महान है, वह इन्द्र है। इन्द्र की यही शान थी, वह नरक में उतर कर कभी नहीं आया, उसके सहस्रों प्रतिनिधि ही शासन चलाते रहे। इसीलिये वह 'सहस्राक्ष' था।

आर्यावर्त्त के वैदिक कर्मकांड में तीन प्रकार के कर्म हैं—1. लौकिक 2. वैदिक 3. संन्यास। तीनों के तीन प्रकार के फल नियत हैं—

1. लौकिक—कृषि, व्यापार आदि में समृद्धि।
2. वैदिक—स्वर्ग जाने का अधिकार पाना।
3. संन्यास—मृत्यु के वाद मुक्ति या अपवर्ग पाकर। (पारलौकिक) जन्ममरण से छुटकारा पा लेना।

चरक ने तीनों का अलग-अलग स्पष्ट रूप से विवेचन किया है।[2] कृषि, व्यापार आदि की वृद्धि के लिये किये जाने वाले लौकिक कर्म, स्वर्ग जाने का अधिकार पाने के लिये किये जाने वाले वैदिक कर्म तथा मृत्यु के वाद जन्ममरण से मुक्ति पाने के लिये किये जाने वाले संन्यास कर्म, सभी में अन्न की उपयोगिता है। इसलिये आहार-शुद्धि की ओर वैद्य को वहुत सावधान रहना चाहिये। आर्यावर्त्त में रहने वाले जो लोग स्वर्ग जाना चाहें वे वैदिक यज्ञ-याग किया करें। यह परिपाटी शताब्दियों तक रही।[3] अपना पद छीन लेने के भय से इन्द्र ने रघु को पूरे सौ यज्ञ नहीं करने दिये थे। कालिदास ने इस इतिहास को भी रघुवंश में लिखा है। किन्तु इन्द्र की इस कुटिलता के परिणामस्वरूप नग्नजित् गन्धर्व, एवं असुर शासक वलि ने विना यज्ञ किये ही स्वर्ग पर आक्रमण कर दिये ताकि इन्द्र वन जायें। इनके प्रतिकार के लिये इन्द्र को पहले काशी, और तदुपरान्त कोसल के सूर्यवंशी सम्राटों की सहायता लेनी पड़ी। अज, रघु और दशरथ तीनों के इतिहास में कालिदास ने उस सहायता का उल्लेख किया है।[4]

आर्यावर्त्त के अधीन शासकों ने कभी-कभी केन्द्र से विद्रोह भी किया था। आर्यावर्त्त का शासन केन्द्र काशी था। और वही टूटकर कोसल का सूर्यवंश वना। पारस्य (पर्शिया) ने दिलीप के समय विद्रोह किया। दिलीप के पुत्र रघु ने पारस्य विजय करके उसे समाप्त किया। महाभारत से कुछ पूर्व उत्तर कुरु (सिंकियांग) ने विद्रोह किया। उसे अर्जुन ने परास्त कर दिया।[5] उत्तरकुरु में वाल्हीक (वलख), काम्वोज

---

1. रघुवंश, 2/50
2. लौकिकं कर्म यद् वृत्तौ, स्वर्गतौ यच्च वैदिकम्।
   कमपिवर्गे यच्चोक्तं तच्चाप्यन्ने प्रतिष्ठितम्॥ —चरक, सू० 27/348
3. अग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्ग कामः।
4. रघुवंश, 6/72 तथा 81 व 9/19-22।
5. विजित्य यः प्राज्ञमयच्छ दुत्तरान् कुरूनकुप्यं वसु वासवोपमः।—भारविः, किरातार्जुनीय 1/25

(काबुल), और तुर्किस्तान शामिल था। मल्लिनाथ ने लिखा है कि यह प्रदेश सुमेरू (थियान् शान्) के उत्तर तक चला गया था।

पूर्व में प्रशान्त महासागर और बंगाल की खाड़ी के द्वीपों तक आर्यावर्त्त का निकट सम्पर्क था। आर्यो का वाणिज्य व्यवसाय पूर्वीय द्वीपों के साथ आदिकाल से रहा है। इन्दुमती के स्वयंवर के व्याज से कलिंग देश के सामुद्रिक व्यवसाय का वर्णन कालिदास ने किया है।[1] चीन के साथ भारत के व्यवसाय का उल्लेख अभिज्ञान शाकुन्तल और चरक संहिता में है।

स्वर्ग में नमक की वहुत कमी थी। उसके लिये समुद्रीय तट पर देवों का अधिकार होना आवश्यक था। पहाड़ में नमक की खान का उस समय तक पता न था। देवताओं के प्रतिद्वन्द्वी असुरों का वंहां एकाधिकार था। असीरिया (असुर लोक) असुरों का शासन केन्द्र था, और मध्य एशिया में वे एक प्रबल शक्ति के रूप में संगठित हो गये थे। वलि असुर था, और इन्द्र के पद का लोलुप। उसने और उस के वंशजों ने स्वर्ग में देवताओं को विवश करने के लिये वहां नमक का जाना रोक दिया। वहुत समय तक स्वर्ग में विना नमक ही भोजन किया जाता रहा। इसीलिये ऐतिहासिक आधार पर हिन्दुओं में यह परिपाटी है कि देव पूजा के लिये जो भोजन तैयार किया जाय वह बिना नमक होना चाहिये। परन्तु नमक जैसा आवश्यक पदार्थ कव तक त्यागा जाय ?

असुरों के इस अत्याचार के विरुद्ध स्वर्ग के पांचों अभिजनों (देव, नाग, यक्ष, गन्धर्व, किन्नर) ने युद्ध की घोषणा कर दी। वाल्हीक और पश्चिमी मद्र के मैदानों में इस युग के डांडी और धरसाना के नमक आन्दोलन से भी अधिक भीषण देवासुर संग्राम हुआ। देव पक्ष विजयी हुआ। विजय के अमर संस्मरण में एक समुद्र का नाम 'काश्यपीय सर' (कास्पियन सी Caspian sea) रखा गया। जो भी हो, ईरान की खाड़ी से लेकर भूमध्य सागर तक पूरे समुद्र तट पर देवों का अधिकार हो गया। स्वर्ग में नमक का संकट तव समाप्त हुआ। अब चार सद्दा (अफगानिस्तान) में पुरातत्व विभाग की खुदाइयों में प्राय: 350 फीट की गहराई पर भूमि का जो स्तर प्राप्त हुआ है, वह मानव की हड्डियों से पटा पड़ा है। ऐतिहासिकों का विचार है कि यह देवासुर संग्राम का वह युद्धक्षेत्र है जिस में इन्द्र ने चुन-चुनकर असुरों का संहार किया,[2] यह उन्हीं असुरों की हड्डियां होनी चाहिये।

देव और असुर एक ही अभिजन के लोग थे।[3] किन्तु देव आस्तिक और असुर नास्तिक थे। उनके पारस्परिक विरोध का यही मूल कारण था। असुर इन्द्र को उसी प्रकार हीन समझते हैं, जिस प्रकार देव असुर को। आध्यात्मिक ज्ञान में देवों ने जैसा विकास किया, भौतिक ज्ञान में असुर वैसे ही ऊंचे उठे। विमान, वास्तु, शिल्प और ललित कलाओं में असुर आदर्श वन गये थे। कुवेर के पुष्पक विमान का निर्माता विश्वकर्मा असुर था। महाभारत काल में इन्द्रप्रस्थ का आश्चर्यजनक सभा भवन बनाने वाला

1. रघुवंश, 6/57
2. यस्यशुष्माद्रोदसी अभ्यसेतां न्हम्णस्य मन्हासजनास इन्द्रः। —ऋग्वेद।
3. देवासुराहवै यत्नसंयेतिरे उभये प्राजापत्याः। —छान्दोग्य, 2/1

मय भी असुर, तथा वारणावत (वरनावा, मेरठ) में लाक्षागृह का निर्माता विरोचन भी असुर। असुरों के प्रमुख शंवर, नमुचि, वलि, प्रह्लाद तथा हिरण्यकश्यप का उल्लेख महाभारत में है।[1]

दजला और फरात के मध्य (वेवीलोनियां और मैसोपोटामियां) निवास करने वाले सुमेरियन देव जाति के ही लोग थे, जिन्होंने यूरोप को पहलेपहल सभ्यता का प्रकाश दिया। यह कहना कठिन है कि वे पंचजन में से किस वर्ग के लोग थे। वे सेमेटिक लोग जिन्होंने सुमेरियनों को फलने-फूलने नहीं दिया, निश्चय ही असुर होने चाहिये। सेमेटिक उन से लड़े। और उस से परेशान होकर सुमेरियों के कुछ जत्थे ईरान की खाड़ी को जलयानों द्वारा पार कर मद्र (मीडिया) और गन्धार लौट आये। कुछ पैदल चलकर मिस्र में आवाद हो गये। तव स्वेज की नहर नहीं थी। मिस्र में सुमेरियन आदर्श सभ्य माने गये। भारत का उन दिनों मिस्र के साथ घनिष्ठ व्यापार चल रहा था। भारत से मिस्र तक भूमि के मार्ग से भारत के सार्थवाह अप्रतिहत आ-जा रहे थे। यह कथा ईसा से 400 वर्ष पूर्व की है। वहां से हमारे इतिहास का मध्यकाल समाप्त होता है।

दजला और फरात के दोआव में केङ्गि (शुमेर) और उरि (अक्काद) नामक सुमेरियन नगरों का विध्वंस होने के वाद जिस आसुरी सभ्यता का उदय हुआ उसे अव वैवीलोनियन सभ्यता कहा जाता है। वहां जो अध्यात्मवाद था, वेवीलोनियन सभ्यता में वह भौतिकवाद के रूप में विकसित हुआ। वेवीलोनियन भी नरमसीह (नरसिंह) अश्वि, इन्द्र और विष्णु के उपासक थे। किन्तु सैमेटिकों ने उन्हें छिन्न-भिन्न कर डाला। यही कारण था कि महात्मा मूसा और उसके वाद महात्मा ईसा ने प्राचीन सुमेरियनों की देव-गाथायें संकलित करके प्रभु के राज्य की आध्यात्मिक नींव फिर से रखी।

सुमेरियनों की जाति के वारे में अभी तक मतभेद है। कुछ लोग उन्हें द्रविड़ कहते हैं। किन्तु द्रविड़ भारत के दक्षिणा पथ के ही निवासी लोग थे। काले और कुरूप। इसके प्रतिकूल सुमेरियन लोग कनक वर्ण और सुन्दर थे। सेमेटिक भी वैसे ही। मनुस्मृति में आदिकालीन कुछ जातियों का उल्लेख है। वहां राक्षस नाम दक्षिणापथ के द्रविड़ों का वोधक है। और पिशाच उनसे भी नीच एवं गन्दे रहन-सहन वाले असभ्य अरव के रेगिस्तानी लोगों के लिए प्रयुक्त हुआ है। लंका में भी द्रविड़ ही थे। उनके ही वीच रहने के कारण रावण को भी इतिहासकारों ने राक्षस-राज या राक्षस लिखा, यद्यपि वह आर्य था। असुर अथवा दानव आर्य वंश के थे और सुन्दर तथा शिक्षित भी। रामायण में आप दक्षिणापथ की दूसरी अर्द्धसभ्य जाति और पाते हैं, वह थी—'वानर'। हम उन्हें द्रविड़ों में ही समाविष्ट मानते हैं। रंगरूप की दृष्टि से भी आर्यों के साथ उन्हें नहीं जोड़ा जा सकता।

मध्य एशिया की ओर राक्षसों के निवास का उल्लेख भारत के प्राचीन साहित्य में नहीं है फिर सुमेरों को द्रविड़ कैसे कहा ? मध्य एशिया में असुर या दानव (दनु की सन्तान) ही थे। देवासुर संग्राम के उपरान्त, विशेषकर राम के लंका विजय के पश्चात

---

1. महाभारत, वनपर्व, 168।

आर्यों ने द्रविड़ों से घनिष्ठ सम्पर्क स्थापित कर लिया था। महर्षि अगस्त्य इस आयोजन के प्रथम सूत्रधार थे। राष्ट्रीय और सांस्कृतिक आधार पर आर्य और द्रविड़ एक हो गये। और आज तक हैं। राष्ट्रीय एवं सांस्कृतिक आधार पर दोनों के साहित्य की अभिन्नता ही इसका प्रमाण है। राजनैतिक स्वार्थों से प्रेरित कुछ लोग उस पटी हुई खाई को फिर खोदने का प्रयास करें तो खेद की बात है।

भागवत पुराण में इसी अभिन्नता को प्रस्तुत करने के लिए गजेन्द्र-मोक्ष का उपाख्यान लिखा है—पांड्य देश (मद्रास से कन्या कुमारी तक) का द्रविड़ राजा इन्द्रद्युम्न कर्म फल के वशीभूत होकर हाथी योनि में जन्मा। स्वर्ग के क्षीर सागर (मान सरोवर) में वह अपनी प्रेयसी हथिनियों के साथ स्नान करने को घुसा। ग्राह ने उसे पकड़ लिया। पुकारने पर संकट से भगवान् विष्णु ने उसका उद्धार किया। और दिव्य रूप देकर स्वर्ग का अधिवासी बना दिया।[1]

पश्चिम में असुरों ने चिकित्सा विज्ञान में बहुत विकास किया। यह शल्य प्रधान चिकित्सा (Surgery) है। इधर स्वर्ग के देवों ने द्रव्य गुण प्रधान चिकित्सा में आश्चर्यजनक विकास किया। जिन रासायनिक (Chemical) प्रयोगों के इन्होंने आविष्कार किये, अद्भुत थे। सुधा और अमृत जैसे प्रयोग उसी प्रतिस्पर्धा में आविष्कृत हुए थे। देवों ने द्रव्य गुण चिकित्सा में इतना विकास किया कि असुर जिन रोगों को चीरफाड़ कर अच्छा करते थे, देव भिषक् उसे औषधि खिलाकर, लगाकर या सुंघा कर ही अच्छा करने में सफल हुए।[2]

वस्तुतः 'मनुष्य' शब्द उस युग की रचना है जब आर्यों का असभ्य और अर्द्धसभ्य जातियों से सम्पर्क हुआ। मनुष्य शब्द सभ्य जाति के ही व्यक्ति का बोधक है। अन्य शब्द—'नैर्कष्त (अफ्रीकी) राक्षस, पिशाच, वानर आदि सभ्यता से गिरे हुए स्तर के परिचायक हैं। आचार्य पाणिनि ने इस स्थिति पर अच्छा प्रकाश डाला है। प्राचीन भारत में सभ्य जाति की सभा को 'राजसभा', 'देवसभा' आदि स्त्रीलिंग प्रयोग होता था और असभ्य लोगों की सभा के लिए नपुंसक लिंग—'राजसभम्', 'पिशाच सभम्', 'रक्षः सभम्', आदि। पाणिनि ने असभ्य लोगों के लिए 'अमनुष्य' शब्द प्रयोग किया है। वस्तुतः 'मनुष्य' और 'अमनुष्य' जिसका पर्याय ही 'वानर' है शब्दों की रचना मध्यकाल में ही हुई प्रतीत होती है, ताकि जातियों का सांस्कृतिक अन्तर ज्ञात हो सके।[3] आदि काल में देवों ने 'आर्य' और 'दस्यु' दो ही शब्द रखे थे। निषाद आदि शब्दों की व्युत्पत्ति भी यास्काचार्य ने वैसी ही की है जिससे प्रतीत होता है कि वे लोग असभ्य थे। यास्क ने निषाद की व्युत्पत्ति करते हुए लिखा कि उसके हृदय में पाप की जिन्दगी जीने की भावना रहती है, इसलिये निषाद कहा जाता है।[4]

मैंने पंचजन में देव, नाग, यक्ष, गन्धर्व और किन्नरों का उल्लेख किया है।

---

1. श्रीमद्भागवत पुराण, स्क० 8 अ० 3-4।
2. असुरों और देवों के चिकित्सा विज्ञान का प्रतिबिम्ब बौद्ध साहित्य में है। 'वोल्गा से गंगा' पुस्तक में राहुलजी ने नागदत्त के वर्णन में सुन्दर चित्रित किया है।
3. सभाराजामनुष्यपूर्वा। —अष्टाध्यायी 2/4/23
4. निषण्णमस्मिन् पापकम् इति निषादः। —निरुक्त, पूर्व० अ० 3/2/2

संहितायुग में वे ही थे किन्तु मध्ययुग में सामाजिक सम्पर्क में परिवर्तन आया। पुराने दायरे टूट गये। नये निर्माण होने में लोक संग्रह की भावना बढ़ गई। निरुक्त के समय तक पंचजन के घटकों में अनेक मत बन गये। गन्धर्व, पितर, देव, असुर और राक्षस (द्रविड़) लोग पंचजन हैं, ऐसा कुछ लोग कहने लगे। किन्तु उनके प्रतिकूल कुछ लोगों का आग्रह था कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और पांचवें निषाद (जो संभवतः अब कहार हैं) पंचजन माने जायें।[1] जो भी हो, अब पंचजन मिलकर इन्द्र देवता की स्तुति में यज्ञ करने लगे थे। देवताओं के साथ प्रारंभ में पितरों का कोई उल्लेख नहीं है। किन्तु सन्तान उत्पन्न करके नरक से साधिकार स्वर्ग में गये हुये लोगों की एक बड़ी संख्या हो गई। और उन पितरों का भी सामाजिक गठन में एक महत्वपूर्ण स्थान बन गया। स्मार्त साहित्य में आप उन्हें श्राद्ध, तर्पण और विशिष्ट यज्ञों में सम्मानित पायेंगे।

पितरों का स्थान पंचयज्ञों में भी है। उनके लिए 'अन्वाहार्य' श्राद्ध की परिपाटी भी रखी गई। पंचयज्ञों में जो आहुति देवताओं के लिए दी जाती वह हव्य कही जाती, और पितरों के लिए दी गई आहुति 'कव्य'। प्रतिमास पितरों के लिए किया गया श्राद्ध अन्वाहार्य कहा जाता है।[2] वर्ण व्यवस्था एवं पितरों के लिए श्राद्ध-यज्ञ मध्ययुग के या आदिकाल के अन्तिम विकास हैं। आर्यावर्त्त के शासन में उन का पल्लवन हुआ। वर्णव्यवस्था के भेद रहते हुए भी हमारी राष्ट्रीय एकता ही ऊंची रही है। मनु ने लिखा है कि किसी चरित्र दोष के बिना ही यदि शूद्र, वैश्य, क्षत्रिय, और ब्राह्मण की हत्या होती हो तो झूठ बोलकर भी उसे बचाओ। वह मिथ्या भाषण सत्य से बढ़कर है।[5] राष्ट्र के सारे तीर्थ, सारे त्यौहारों में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, एवं निषाद की भी समान स्तर पर अभिन्नता रखकर आर्यो ने एक ऐसी सांस्कृतिक अभिन्नता बनाये रखी जिसे हम राष्ट्रधर्म कहते हैं।

आदिकालीन धर्म संस्था क्या थी, इसका परिज्ञान वेदों से मिलता है। और मध्यकालीन धर्म संस्था ब्राह्मण ग्रंथों से ज्ञात होगी। किन्तु उत्तरकालीन व्यवस्था हम स्मृति ग्रंथों में देखते हैं वर्णव्यवस्था के निर्माण के उपरांत समाज में विद्रोही भावनायें भी साथ-साथ पनपती रहीं। उपनिषदों से ज्ञात होता है कि ब्राह्मण और क्षत्रियों तक में वह प्रतिक्रिया चलती रही। फिर जैन और बौद्धों के विद्रोह तो बड़े पैमाने पर सामने आये। ब्राह्मण श्राद्ध भोजन और दानदक्षिणा से पुष्ट होकर वेद-शास्त्र और लोक सेवा से विमुख होता गया। महात्मा बुद्ध ने फिर से ब्राह्मण की परिभाषायें लिखीं।[4] और जैनों ने उस वर्णव्यवस्था का अंत ही कर दिया। सब कुछ हुआ, किन्तु वैदिक वर्णव्यवस्था से बढ़ी-चढ़ी व्यवस्था सामने न आई। यदि वह आये तो यह निश्चय है कि राष्ट्र उसे आज भी स्वीकार कर लेगा।

---

1. निरुक्त, पू० अ० 3/2/2
2. पितृणां मासिकं श्राद्ध मन्वाहार्यं विदुर्बुधाः। —मनु० 3/123
3. शूद्र विट् क्षत्र विप्राणां यत्रर्तोक्तौ भवेद्वधः।
   तत्रवक्तव्यमनृतं तद्धि सत्याद्विशिष्यते ॥ —मनु० 8/104
4. न जटा हि न गोत्ते हि जच्चा होति ब्राह्मणो।
   यम्हि सच्चंच धम्मो च सो सुची सोच ब्राह्मणो ॥ —धम्मपद 26/11

1. शिक्षा (ब्राह्मण), 2. सुरक्षा (क्षत्रिय) 3. अर्थ व्यवस्था (वैश्य) 4. जन सेवा (शूद्र) यही चार बातें राष्ट्र के जीवन-सूत्र हैं। इनमें शिथिलता आई और राष्ट्र भंग हुआ। वस्तुत: इतिहास इस व्यवस्था की प्रयोगशाला है। उससे हम पता लगायें, हम कहां भूले, कहां भटके? और वास्तविकता जानकर उस गलती का सुधार करें। जैन और बौद्ध जैसी विद्रोही प्रतिक्रियायें एक ओर हुईं। दूसरी ओर शैव, भागवत, वैष्णव और अन्यान्य संशोधन भी हुए। किन्तु राष्ट्र की उपेक्षा करके न जैन और बौद्ध टिके और न ही शैव और भागवत। राष्ट्रधर्म ही मुख्य है। ऋग्वेद का संगमन सूक्त यही कहता है।[1] मूल को सींचना चाहिए। डालियों और पत्तों पर पानी डालने से क्या लाभ? विषमता प्रस्तुत करने वाला धर्म और राष्ट्रद्रोह दोनों पर्यायवाची हैं।

भारत का भी एक अपना समाजवाद था, जिसमें 'अधिकारवाद' नहीं 'कर्त्तव्य-वाद' था। उस पर भी व्यक्ति नहीं, संघ ही महान् था। हम अभी तक प्लेटो, मार्क्स, और स्टालिन के फन्दे में ही फंसे हैं। अपनी वस्तु तक पहुंचे ही नहीं। उस पर भी लिखा जाना आवश्यक है। विश्व को उससे राहत मिलेगी। हमें यह पाठ फिर से दोहराना ही होगा —'केवलाघो भवति केवलादी।'[2]

उत्तरकाल का साहित्य अथवा इसिहास तो अब बहुत कुछ प्रकाश में है। मध्य-काल और आदिकाल की सामग्री ही जुटानी है। उसके लिए आत्मविश्वास और तल्लीनता की आवश्यकता है। सामग्री नष्ट अवश्य हुई है, किन्तु उसका अभाव नहीं है। शताब्दियों तक पराधीन रहने के कारण हमें अपनी बात कहने में भी डर लगता है। अपने ही संस्मरण पराये प्रतीत होते हैं। यह भावना हटनी चाहिए। आप देखेंगे कि संस्कृत साहित्य, और पड़ोसी देशों के साहित्य में हमारी ऐतिहासिक और सांस्कृतिक सामग्री बहुत है। अंग्रेज बहुत बेसिरपैर की कह गये, हमें उनपर विश्वास है। हम उसे ही इति-हास कह रहे हैं। यूनानियों, मुगलों और शकों के लतीफे हमारे कंठ में उतरते हैं। किन्तु अपने ही पूर्वजों, ऋषियों और मुनियों की बातों को हम माइथालाजी (गप्प) कहने लगे। उसकी साहित्यिक गहराई में जाइये। स्तुति, निन्दा, परकृति और पुराकल्प की शैली में साहित्य की लेखन कला ही भारतीयों की विशेषता है। उसे मनोगम्य करने का प्रयास होना चाहिए। यद्यपि भारत की नकल में हमारे प्रत्येक पड़ोसी देश में वैसा ही साहित्य अपने-अपने बारे में लिखा गया तो भी शैली में हम ही श्रेष्ठ हैं। यह अर्थवाद है जिसे समझने की आवश्यकता है। प्रतिपाद्य विषय और अर्थवाद का अन्तर न समझा जा सका तो भारतीय साहित्य कैसे समझा जायगा?

मीमांसकों से पूछिये, वे विधि, मन्त्र, नामधेय, निषेध और अर्थवाद की लेखन शैली और उसकी साहित्यिक सुषमा का परिचय आपको देंगे। क्या आपने पाणिनि से कभी पूछा—'सभा' और 'सभम्' में क्या अन्तर है? 'मनुष्य' और 'अमनुष्य' किसे कहते हैं? हिन्दी निदेशालय के सुझाव पर मैंने ऐतिहासिक शैली (Historical technology)

---

1. समानीव आकूतिः समाना हृदयानि वः।
   समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति॥ —ऋग्वेद, मं० 10
2. अकेले अकेले खाने वाला पाप खाता है। —वेद

की भारतीय विशेषता पर एक पूरा अध्याय लिखा है। पाठकों के लिये वह रोचक और लाभदायक होगा।

मैंने स्थान-स्थान पर पारिभाषिक विषयों का स्पष्टीकरण देने में साहित्य और इतिहास दोनों का ध्यान रखा है। ऐतिहासिकों का विचार है मिस्र में प्राप्त होने वाली ममी (मृत देह) पर लपेटे गये वस्त्र भारत के बने हुए होते थे। वे ममियों पर लिपटे हुए सैकड़ों वर्ष बाद आज भी प्राप्त होते हैं। मिस्र में एलक्जेंड्रिया के बाजार में भारत के व्यापारी भारतीय उत्पादन की वस्तुएं बेचने के लिये सदियों तक गये हैं। वस्त्र, इत्र, और औषधियों के साथ-साथ उच्च कोटि के शिक्षक भारत ही उन्हें देता रहा। अशोक ने अपने तेरहवें शिला लेख में मिस्र के सम्राट् टाल्मी फिलेदिफस (Ptolemy Philedephos) का स्पष्ट उल्लेख किया है।

'अरामाइक'[1] (चेल्डिया, फरात नदी के तट पर) में अशोक का शिला लेख प्राप्त होने से वहां के निवासी, एवं भारतीय प्राणाचार्यों में प्रतिष्ठित काङ्कायन[2] भिषक् को हम नहीं भुला सकते। आत्रेय और कश्यप ने उसे अत्यन्त सम्मान के साथ अपने सम्मेलनों में निमन्त्रित करके उसके वैज्ञानिक विचार सुने और अपने ग्रन्थों में भी लिखे। भारत और चीन के व्यापार मार्ग पर अनेक ऐसे नगर हैं जहां भारतीय विज्ञान एवं संस्कृति के चिह्न आज तक विद्यमान हैं। हम कुछ का परिचयात्मक उल्लेख यहां कर रहे हैं—

1. वामियां—यहां बौद्ध मूर्त्तियां प्राप्त हुई तथा भारतीय शिल्प एवं देव मन्दिर विद्यमान हैं।
2. बैक्ट्रियाना—अपने 'नव संघाराम' के लिये प्रसिद्ध है। अब ईरान का एक सूबा है।
3. सोगडियाना—(समरकन्द तथा बुखारा) जहां संघभद्र ने प्रचुर बौद्ध साहित्य चीनी भाषा में अनूदित किया।
4. काशगर, यारकन्द एवं खुतन—जहां धम्मपद, सूर्य गर्भसूत्र, प्रज्ञापारमिता आदि भारतीयों के लिखे ग्रन्थ मिले। और अनेक स्तूपों और विहारों तथा मन्दिरों के भग्नावशेष प्राप्त हुए।
5. दन्दान यूलिक—अजन्ता के सरूप भित्ति चित्र, खड़े हुए तथागत की प्रतिमा प्राप्त हुई।
6. खरोष्ट्री भाषा के अभिलेखों से सुसज्जित समाधियां, जिनमें भारत की प्राचीन गाथायें उद्ंकित हैं। उपर्युक्त स्थानों को यह गरिमा प्रदान करने वाले विद्वानों का केन्द्र निश्चय रूप से तक्षशिला ही था।

लंका में आचार्य तिष्य तथा अशोक के राजकुमार महेन्द्र और राजकुमारी संघ-

---

1. अरामाइक भाषा असीरिया की भाषा भी थी। कुछ परिवर्तन के साथ चेल्डियन भी यही भाषा बोलते थे। ओल्ड टैस्टामेंट में कहीं-कहीं इसी भाषा के सन्दर्भ हैं।

—डिक्शनरी, चार्ल्स अनांडेल, एम. ए., लन्दन

2. 'अपरिसंख्येया रसा' इति—काङ्कायनो नाम वाल्हीक भिषक्। —चरक, सू० 26/8

मित्रा का विवरण हमें ज्ञात है। दक्षिण-पूर्व में जो प्रदेश 'द्वीपान्तर' कहे जाते थे, भारत के धर्म, संस्कृति, व्यापार, और विज्ञान से प्रकाशित थे। इनमें मलाया, इंडोनेशिया, इंडोचाइना, स्याम, कम्बोदिया, जावा (यवद्वीप), बोर्नियो मुख्य हैं। इनमें नगरों, नदियों और पर्वतों के अनेक नाम वे ही हैं, जो भारत में हैं।

कम्बोदिया में कार्य करने वाले अधिकांश दक्षिण भारत के लोग थे। वहां वैदिक संस्कृति ले जाने वालों में प्रमुख श्रेय उन्हें ही है। माई-सन् से प्राप्त एक शिला लेख में वहां के सम्राट् भद्रवर्मन् की प्रशस्ति में उसके लिये 'चातुर्वैद्य' विशेषण लिखा है। यह सम्राट् प्रायः गुप्त काल में हुआ, जो 350 ई० का ठहरता है। फिर कैसे मान लिया जाय कि दक्षिण भारत का धर्म उत्तर भारत से भिन्न था? हम त्रिविष्टप से लंका तक एक थे। और भूमध्य एशिया से पूर्वान्त एवं द्वीपान्तर तक भी एक ही। वहां के मन्दिर इस एकता की आज तक साक्षी देते हैं। दक्षिण के प्रसिद्ध विद्वान् अलवन्दार उत्तर आर्यावर्त्त से गये हुए मिश्नरी थे। और उत्तर भारत में सम्पूजित मीमांसा दर्शन के भाष्यकार शवर स्वामी दक्षिण भारत के द्रविड़। दोनों की पृष्ठभूमि में एक ही धर्म, एक ही संस्कृति और एक ही राष्ट्रीयता है।

ईसा की पांचवीं शताब्दि में स्थापित एक शिला लेख फूनान में विद्यमान है। इससे प्रकट होता है कि वहां शिव तथा बुद्ध की पूजा होती थी। तथा लाओस के 'फूलोखोन' के शिला लेख द्वारा शिवपूजा का उल्लेख मिलता है। यह भी प्रकट करता है भारत के दक्षिण तथा दक्षिण-पूर्व में नागवंशियों ने भारतीय राष्ट्र निर्माण में उल्लेखनीय कार्य किया था। वा-प्रे-वियर के संस्कृत शिलालेख में दो भिक्षुओं के नाम रत्नबाहु और रत्नसिंह लिखे हुए हैं। ईसा से दो सौ वर्ष पूर्व धर्मरक्ष और काश्यपमतंग ने चीन को बौद्ध साहित्य और भारतीय संस्कृति के सन्देश दिये थे। उसके उपरान्त कुमारजीव, पुण्यत्राता, धर्मयशस् तथा काश्मीर के बौद्ध सम्राट् गुणवर्मन् को कौन नहीं जानता। धर्म-क्षेम मध्यप्रदेश से, परमार्थ उज्जैन से, यशोगुप्त बंगाल और असम से, विमोक्ष सेन स्वात से, जीवगुप्त गंधार से, धर्मगुप्त लाट (गुजरात) से चीन तथा अन्य द्वीपांतरों में जाकर बौद्ध एवं भारतीय संस्कृति का प्रचार करते रहे। उन्होंने भारतीय साहित्य को उन-उन देशों की भाषाओं में अनूदित किया।[1]

उत्तर काल में बौद्ध, वैदिक, भागवत, शैव, वैष्णव, सिद्ध तथा अन्य छोटी-बड़ी धार्मिक क्रान्तियां हुई, किन्तु उनकी सांस्कृतिक पृष्ठभूमि एक ही थी। शैली और साधनों की भिन्नता ही उनका भेद था। किन्तु आचार, नियम, राष्ट्रीयता और चिकित्सा की अभिन्नता ही उनकी एकता थी। किसी क्रान्ति में जब अराष्ट्रीय तत्व बढ़े, जनता ने उनका नाश कर दिया। बौद्ध और सिद्ध क्रान्तियों के नाश का कारण राष्ट्रद्रोह ही था।

उत्तरकाल का प्रारम्भ हम 557 ई० पूर्व से करते हैं। इस काल के संस्मरणों का अभाव नहीं है। मध्यकाल के लिये पुरातत्व, सिक्के, रामायण, महाभारत और आयुर्वेदिक संहितायें आधार हैं तथा आदिकाल के लिये मध्यकाल का साहित्य, वेद और

---

1. Indian Contribution To World Thought And Culture—Pages 17-21

ब्राह्मण ग्रन्थों से सामग्री मिलती है। पुराण, कल्प, गाथायें, नाराशंसी भी वहां तक पहुंचने में बहुत योग देते हैं। हमारी अनेक मान्यतायें और परम्परायें भी मार्ग प्रदर्शित करती हैं। देवपूजा में नमक का निषेध जैसी परम्परा और गंगा के प्रति स्वर्ग सोपान की भावना ऐसे ही निदर्शन हैं, जो हमारे आदिकाल पर प्रकाश डालते हैं। हम इन्हें समझने का प्रयास करें तो छोटी-छोटी बातों में बड़ी-बड़ी बातें छिपी हुई मिलेंगी। उनको पूर्वापर समझने की आवश्यकता है। आदिकाल के बारे में पूर्वजों की मान्यतायें सारी गप्प नहीं हैं। हां, श्रद्धातिरेक में वे कभी-कभी अतिरंजित होती हैं। उन्हें प्रामाणिक विवेक से परिष्कृत करने की आवश्यकता है। अर्थवाद को छोड़ दीजिये।

संहिताओं, उपनिषदों, ब्राह्मणों, स्मृतियों, रामायण, महाभारत तथा पुराणों में इतिहास बहुत है। उद्बुद्ध विचारक चाहिए।[1] नाग (नन्द) मौर्य, शुंग, तथा गुप्त युगों के बारे में बहुत अन्धकार था। परन्तु श्री काशीप्रसाद जायसवाल, श्री सत्यकेतु विद्यालंकार, श्री जयचन्द्र विद्यालंकार, श्री वासुदेवशरण अग्रवाल, श्री वासुदेव उपाध्याय, श्री राहुल सांकृत्यायन, तथा श्री आनन्द कोसल्यायन ने उनके ऐतिहासिक स्पष्टीकरण में उल्लेखनीय प्रयास किया है। मुझे इन सभी के लेखों से बहुत सहयोग मिला है, तदर्थ मैं उनका हृदय से कृतज्ञ हूं।

संस्कृत में श्री मधुसूदन ओझा ने भारत के आदिकालीन इतिहास पर कई महत्वपूर्ण पुस्तकें लिखीं, उनमें एक ऐतिहासिक दृष्टि है, जो इस दिशा में चलने वाले को सम्बल प्रदान करती है। ठीक वैसे ही श्री हेमचन्द्र शर्मा का उपोद्घात है। उसमें अनेक प्रश्न समाहित हुए हैं। ऋषि दयानन्द की ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका में भी एक ऐतिहासिक दृढ़ता है। इन्हें पढ़ने के उपरान्त यह लगता है कि हम भटक नहीं रहे हैं। आगे एक प्रशस्त मार्ग है।

केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय की ओर से भी मुझे अनेक उपयोगी निर्देश मिले जिनसे इस ग्रन्थ के सम्पादन में सहयोग मिला तथा इस की उपयोगिता बढ़ी है। भारत सरकार के शिक्षा मन्त्रालय द्वारा ग्रन्थ प्रकाशन की इस योजना ने मेरे ग्रन्थ को आदर दिया उसके लिये मेरे हृदय में अत्यन्त कृतज्ञता है। उच्च कोटि के ग्रन्थ प्रकाशक श्री आत्माराम एण्ड संस के अध्यक्ष श्री रामलालजी पुरी ने जो सहानुभूति इस ग्रन्थ के प्रकाशन में प्रदान की उसी के परिणाम स्वरूप यह ग्रन्थ जनता के समक्ष आ सका।

यह ग्रन्थ तब तक अधूरा ही समझिये जब तक मैं साहित्य के सुयोग्य विद्वान् और अपने परम शुभचिन्तक इटावा निवासी बाबू सूर्यनारायणजी अग्रवाल के प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रस्तुत नहीं करता। उन्होंने अपने सत्परामर्श के अतिरिक्त मुझे वह बहुमूल्य ऐतिहासिक सामग्री भी दी जिसके द्वारा इस ग्रन्थ के उपोद्घात लिखने में पर्याप्त सहायता मिली। उनके आशीर्वाद से मुझे जो प्रेरणा और ज्ञान मिला उसके लिये मेरी श्रद्धा स्वीकार हो।

इस पुस्तक में संकलित ऐतिहासिक सामग्री मैं भिन्न-भिन्न विद्वानों को भी

---

1. ब्राह्मणानीतिहास पुराणानि कल्पान् गाथा नाराशंसीः। —तैत्तिरीय, ब्रा० 2/9

दिखाता रहा हूं। उनके परामर्शों द्वारा मुझे इस ग्रन्थ को अलंकृत करने में बहुत सहयोग मिला। पं० शिव शर्माजी आयुर्वेदाचार्य, लाहौर; कविराज प्रतापसिंहजी, प्रोफेसर आयुर्वेद, हिन्दू विश्वविद्यालय, काशी; डॉ० मंगलदेवजी शास्त्री, प्रिंसिपल राजकीय संस्कृत कालेज, काशी; महात्मा नारायण स्वामीजी, अध्यक्ष सार्वदेशिक आर्य प्र० नि० सभा, दिल्ली; भिक्षुप्रवर राहुल सांकृत्यायन, काशी; भदन्त आनन्द कोसल्यायन, मूलगन्ध कुटी विहार, सारनाथ; प्रोफेसर गुलाबराय, एम० ए०, आगरा; डॉ० रामप्रसादजी, अध्यक्ष हिन्दी परिषद, लखनऊ; एवं पं० जगन्नाथ प्रसाद शुक्ल, प्रयाग का मैं चिर कृतज्ञ हूं जिन्होंने इस ग्रन्थ को सुनने तथा पढ़ने में समय लगाया, और अपने अमूल्य परामर्श मुझे प्रदान किये।

ग्रन्थ के प्रथम दो अध्याय केन्द्रीय हिन्दी समिति के निर्देश पर ही मैंने लिखे, जो बड़े काम के हैं। और आवश्यक भी थे। पीछे जुड़े हुए परिशिष्ट में पारिभाषिक शब्दों का अर्थ एवं प्राणाचार्यों की सूची हिन्दी निदेशालय के सुझाव से ही दी है, जो पाठकों को बहुत सहयोग देंगी। भूलीबिसरी चीजों का फिर से परिचय न हो तो वे अन्धकार में ही तिरोहित हो जाती हैं। यदि यह परिष्कार न होता तो ग्रन्थ के उपक्रम और उपसंहार सूने-सूने प्रतीत होते। हिन्दी समिति के परामर्शदाताओं के प्रति शत-शत आभार।

मैंने प्राणाचार्यों की जो सूची परिशिष्ट में दी है, अत्यन्त प्रयासपूर्वक तैयार की है। तो भी उसमें और परिवर्धन हो सकता है। इतिहास और पुरातत्व से न जाने कितने प्राणाचार्य प्रकाश में आयें। इसी प्रकार पारिभाषिक शब्दों के जो स्पष्टीकरण अन्त में जुड़े हैं, उनके बारे में नई सूचनायें भी भविष्य में मिल सकती हैं। मेरा प्रयास तो इतिहास के एक अत्यन्त महत्वपूर्ण भाग का अनावरण मात्र है। विद्वान् उसमें प्रवेश करेंगे, तो उन्हें सहस्रों वर्ष इतिहास के पटल पर सजीव दिखाई देंगे—और वे भी लिखेंगे।

स्वर्ग के बारे में मैंने जो कुछ लिखा, ऐतिहासिक है। तो भी इस पर और लिखा जाना शेष है। 'प्रागैतिहासिक' शब्द मेरे जीवन काल में ही ईसा से 250 वर्ष पूर्व माना जाता था। फिर बौद्ध क्रान्ति अर्थात् ईसा से 526 वर्ष पूर्व चला गया। कुछ दिनों बाद सिन्धु घाटी सभ्यता के पूर्व अर्थात् ईसा से 5000 वर्ष पूर्व कहा जाने लगा। फिर महाभारत के पूर्व के अर्थ में वह प्रयुक्त हुआ, और अब उसे 'आर्यावर्त्त के पूर्व' के अर्थ में प्रयोग करना होगा। स्वर्ग के कई तत्वों पर अभी प्रकाश पड़ना आवश्यक है। जिस प्रकार सुधा और अमृत पर्यायवाची नहीं थे, किन्तु अब पर्यायवाची बन गये। क्यों? यह एक इतिहास है। वैसे ही देव, ऋषि, महर्षि, पितर, साध्य, चारण, वखानस, वालखिल्य, मनु, प्रजापति, अप्सरस्, राक्षस, पिशाच, स्वर्ग, मोक्ष आदि शब्द भी बड़े पारिभाषिक हैं। उन पर बहुत कुछ लिखना शेष है, और बहुत कुछ अनुसन्धान भी अपेक्षित है। किन्तु कोई संस्कृत का विद्वान् ही यह कर सकेगा। इस ग्रन्थ में लिखे गये ऐतिहासिक तत्वों को खोजने और निबद्ध करने में मुझे 45 वर्ष लग गये। जीवन की व्यस्तता भी चली और यह खोज भी।

स्वर्ग के पंचजन के लिये सामान्य संज्ञा देवता ही थी। देवताओं में ही देव,

नाग, यक्ष, गन्धर्व, और किन्नर भेद थे। उन्हीं में से ऋषि और महर्षियों की श्रेणियां वनीं। पीछे से पितर और साध्य भी विकसित हुए। किन्तु वे सब स्वर्ग के निकट सम्बन्धी थे। चरक ने लिखा है कि प्राचीन विज्ञान, ज्ञान, और इतिहास ऋषि लोग देवताओं से ही प्राप्त करते रहे थे।[1] ऋषियों का प्रशिक्षण देवताओं द्वारा ही होता रहा। इसी प्रकार पितरों और साध्यों का विकास भी क्रमिक है। मैंने यथास्थान उनका स्पष्टीकरण कर तो दिया है, किन्तु उसे अभी और विशद होना चाहिए। देवताओं का ही समाज योग्यता अथवा कार्य भेद से अनेक नामों में विभक्त हो गया। पितरों की स्थिति कुछ भिन्न थी। वे नरक की जनता से भी सम्बन्धित थे और स्वर्ग की जनता से भी। स्थान और आकृति भेद से पंचजन हुए। कार्य भेद से ऋषि, ब्रह्मर्षि, साध्य और चारण। इसी प्रकार का भेद स्त्रियों में भी मिलेगा। वेदों में स्त्री ऋषि भी हैं। किन्नर, वानर, अ-मनुष्य, और मनुष्य शब्द भी पारिभाषिक ही हैं। तत्कालीन समाज व्यवस्था में उनके रूढ़ अथवा योग रूढ़ अर्थो का परिज्ञान हुए विना उस युग का इतिहास नहीं समझा जा सकेगा। आप पाणिनि और पतंजलि से पूछिये वे वहुत कुछ वतायेंगे। यास्क से सहयोग लें, वे सहयोग देंगे।

निरीक्षण एवं मुद्रण के लिये इस ग्रन्थ की मूल प्रति की तीन या चार प्रतियां तैयार करनी आवश्यक हुई। मेरी पत्नी, पुत्रों और पुत्रियों ने मिलकर यह कठिन काम अनायास पूरा कर दिया। शत-शत आशीर्वाद से वढ़कर मेरे पास कोई वहुमूल्य वस्तु नहीं है, जो इन्हें दे दूं। यह ग्रन्थ ही विरासत में उन्हें दे जाऊंगा।

सन् 1927 ई० में इस ग्रन्थ का श्रीगणेश मैंने गुरुकुल वृन्दावन के विद्यार्थी की हैसियत से किया था। आज वहीं के प्रधानाचार्य की हैसियत से इसकी प्रस्तावना लिख-कर इस कार्य की पूर्ति कर रहा हूं। पैंतालीस वर्ष वाहर रहकर गुरुओं की श्रद्धा फिर यहीं ले आई। भवन और भूमि वही हैं, किन्तु उसके देवता चले गये। जहां वैठकर पूज्य-पाद गुरुवर श्री उमाशंकरजी द्विवेदी, आयुर्वेदाचार्य, ने इस ग्रन्थ की प्रेरणा मुझे दी थी, दिन में एक वार श्रद्धार्पण कर लेता हूं। गुरुजी विहारी का यह दोहा भावविभोर होकर कहा करते थे--

इहि आसा अटक्यो रह्यो अलि गुलाव के मूल।
ऐहैं बहुरि वसन्त ऋतु इन डारन वे फूल॥

आदरणीय पं० शिव शर्माजी, आयुर्वेदाचार्य, से इस ग्रन्थ के वारे में जव-जव भी परामर्श लिया उन्होंने प्रेम से मेरा सहयोग किया। सबसे प्रथम सन् 1936 ई० में मैं लाहौर जाकर उनके घर पर मिला। उस समय यद्यपि इतनी ग्रन्थ सामग्री नहीं जुटी थी तो भी जो सामग्री मैंने उन्हें दिखाई उसे उन्होंने सराहा और मनोयोग से पढ़ा। मेरी प्रार्थना पर उन्होंने इसकी भूमिका भी लिखने की कृपा की। लाहौर के एक बड़े प्रकाशक इसके

1, दिवौकसांकथयतां ऋषिभिर्वैश्रुता कथा।
काम व्यसन संयुक्ता पौराणी शशिनं प्रति॥ —च० चि० 8/1
सशक्र भवनं गत्वा सुरर्षिगण सेवितम्।...
...तस्मै प्रोवाच भगवानायुर्वेदं शतक्रतुः॥ —च० सू० 1/22

प्रकाशन के लिए तैयार भी हो गये। किन्तु बाजार में कागज का इतना अभाव हुआ कि ग्रंथ छप न सका। पाण्डुलिपि और शर्माजी की भूमिका रखी रही। किन्तु लेखन सामग्री बढ़ती गई। भारत स्वतन्त्रता के बाद अब भारत सरकार के तत्वावधान में इस के प्रकाशित होते समय श्रद्धेय शर्मा जी की ही लिखी नई भूमिका आशीर्वाद के रूप में फिर प्राप्त हुई।

गुरुकुल-वृन्दावन
रामनवमी
1974 ई०

—रत्नाकर शास्त्री

भारतीय जीवन में इतिहास का स्थान

राष्ट्र को अनुप्राणित करने वाले तत्वों में इतिहास सबसे महान् है। भारतीय जन जीवन में इतिहास को जिस दृष्टि से देखा गया वह संभवत: विश्व के किसी राष्ट्र ने नहीं देखा। मनुष्य जीवन का ध्येय धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति है। भारतीय विद्वानों का विचार यह रहा है कि इस ध्येय चतुष्टय को प्राप्त करने का सर्वोत्तम साधन इतिहास ही है। उन्होंने इतिहास की व्याख्या इन शब्दों में की—

धर्मार्थकाममोक्षाणामुपदेशसमन्वितम्,
पूर्ववृत्तं कथायुक्तमितिहासं प्रचक्षते ॥[1]

यों तो सभी युगों में कथा-कहानियों के रचयिता होते ही रहते हैं परन्तु वे इतिहास के सम्पादक नहीं होते। काल्पनिक आधार पर खड़ी की गई कहानियां मन को कुछ काल के लिए ही प्रभावित करती हैं, क्योंकि उनकी पृष्ठभूमि कल्पना पर ही निर्भर है। सम्पूर्ण मानव जीवन को प्रभावित करने के लिए मानवों के अतीत चरित्र ही अचल पृष्ठभूमि बनते हैं। इसलिए इतिहास जीवन का सत्य है, जबकि कहानियां काल्पनिक सत्य। इतिहास वह सत्य है जो राष्ट्र के जीवन पर छा जाता है। वह मूर्त जीवन का अमूर्त रूप है जो राष्ट्र के एक-एक व्यक्ति के रस रक्त में जीवन की स्फूर्ति बनकर प्रवाहित होता है। मानव के चरित्रों का आदर्श उसमें प्रकाशमान रहता है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष पाने के लिए मानवों के अतीत संघर्ष इतिहास बनते हैं। एक व्यक्ति इस मंजिल तक पहुंच चुका है तुम इससे आगे चलो। यही वह उद्बोधन है जो इतिहास के एक-एक पृष्ठ से मिलता है।

इसलिए भारतीय दृष्टिकोण से किसी का चरित्र मात्र लिखना इतिहास नहीं है। उस चरित्र में कर्तव्य के लिये (धर्म), उद्धेश्य प्राप्ति के लिये (अर्थ), व्यक्तिगत कामनाओं के लिए (काम) और बंधनों से मुक्ति पाने के लिये (मोक्ष) किन-किन साधनों का प्रयोग हुआ, उनमें कितनी सफलता मिली, कहां उत्थान हुआ और कहां पतन? वे अन्त में क्या उपसंहार छोड़ गये? इन सम्पूर्ण प्रश्नों पर विचार होना चाहिये। इतिहास आचार शास्त्र की प्रयोगशाला है। उसमें मनोविज्ञान है, अध्यात्म है, समाजशास्त्र है, राजनीति, धर्मनीति, अर्थशास्त्र और कामशास्त्र सभी कुछ समाया हुआ है। जीवन के रंगमंच पर मनुष्य के कार्यों का अभिनय ही तो इतिहास हैं। भरत मुनि ने अपने नाट्यशास्त्र में ठीक कहा था—

---

1. विष्णु धर्मोत्तर पुराण, 3/15/1
प्राचीन घटनाओं की कथाओं से युक्त धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का उपदेश देने वाले शास्त्र का नाम इतिहास है।

न तच्छास्त्रं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला।
न स योगो न तत्कर्म यन्नाट्येऽस्मिन्न विद्यते ॥[1]

कोई शास्त्र, कोई शिल्प, कोई विद्या, कोई कला, कोई योग और कोई कर्मकांड ऐसा नहीं है जो इतिहास में नहीं।

वेद की प्रतिष्ठा भारतीय साहित्य में ऊंची रही है। परन्तु इतिहास की गरिमा भी उससे कम नहीं रही। नारद गुरुवर सनत्कुमार के पास विद्या पढ़ने गये। गुरु ने पूछा अब तक क्या पढ़े हो ? नारद ने कहा—ऋक्, यजुः, साम, अथर्व वेदों के अतिरिक्त इतिहास पुराण भी पढ़ा है जो वेदों की चार संख्या के बाद पांचवां वेद मानकर ही सम्पूजित है।[2] सच बात तो यह है कि वेद को आत्मपरिचय देने के लिये इतिहास का ही सहारा लेना पड़ता है। यदि इतिहास के चरित्र व्याख्या न करें तो वेद के गंभीर सूक्तों का रहस्य पहेली बनकर रह जाय।[3]

यह इतिहास का दार्शनिक महत्व है, किन्तु इससे भी बढ़कर उसका सामाजिक और राजनैतिक दृष्टि से मूल्य है।[4] किसी भूभाग के जितने व्यक्ति एक इतिहास को अपना मानकर उस पर आस्था रखते हैं, वह एक राष्ट्र बन जाता है। राष्ट्र की आधारशिला शासन या जातियां नहीं हैं। इतिहास और भूगोल में श्रद्धा एवं आत्मीयता का भाव ही उसके निर्माण का अन्तः सूत्र है। देव और असुर एक ही परिवार के थे। दोनों की आत्मीयता और श्रद्धा एक ही इतिहास और भूमि में नहीं रह सकी, इसलिए वे एक राष्ट्र का निर्माण नहीं कर सके। हिन्दू और मुसलमान एक ही देश में रहते हैं, लेकिन जब तक उनकी श्रद्धा और आत्मीयता एक ही इतिहास और एक ही भूमि से नहीं होती, वे एक राष्ट्र को संगठित नहीं कर सकते।

भारत एक विशाल देश है। वह विशालतम भी रहा है। विभिन्न प्रदेशों में भिन्न-भिन्न राजाओं का शासन रहते भी इस देश में आश्चर्यजनक अखंडता का आधार इसका इतिहास ही है। मथुरा शूरसेन देश की राजधानी रही है, और द्वारिका सौराष्ट्र की। परन्तु मथुरा निवासी द्वारिकाधीश का मन्दिर अपने नगर में बनाकर ही संतुष्ट नहीं होता, उसमें द्वारिकाधीश की प्रतिमा स्थापित करके उसकी तन, मन, धन से पूजा-अर्चना में ही अपने जीवन की कृतार्थता मानता है। विदर्भ, महाराष्ट्र, सौराष्ट्र, आंध्र, केरल, पाण्ड्य, कलिंग, वंग, मणिपुर, कुरु, पांचाल और गन्धार जैसे विभिन्न राज्यों में कोसल के राम और उनकी रानी सीता की भक्ति-भाव से पूजा में प्रत्येक नागरिक श्रद्धा से मस्तक झुका देता है। इससे किसी भी राजसत्ता को कोई हानि नहीं हुई। इतिहास का एक ही अनुशासन है—"व्यक्ति प्रतीक है, कृति की पूजा करो।[5]" इस प्रकार कृति का ध्येय ही सारे राष्ट्र का ध्येय बन जाता है। इतिहास का यह प्रभाव शताब्दियों ही नहीं, सहस्र

1. भरत मुनि नाट्य शास्त्र, 1/116
2. छान्दोग्य उपनिषद् 7/2
3. इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्। —निरुक्त व्याख्या
4. कथा छलेन बालानां नीतिस्तदिह कथ्यते। —पंचतंत्र
5. कृतं मे दक्षिणे हस्ते जयो मे सव्य आहितः। —वेद

और लक्षाब्दियों तक उस राष्ट्र की संतान विरासत मानकर अपने हृदय मन्दिर में पूजती रहती है ।

इतिहास कागज के पृष्ठों पर कब तक टिक सकता है, जब तक वह हृदय के पृष्ठों पर मुद्रित न हो ? इसी प्रेरणा का ही तो फल है कि आपको वृन्दावन में जगन्नाथ प्रसाद मिलेंगे । काशी में बद्रीनाथ । कलकत्ता में चंडी प्रसाद और अमृतसर में रामेश्वर दयाल । हिमालय के नैनीताल और अल्मोड़ा में विन्ध्वेश्वरी प्रसाद और विन्ध्याचल तथा महेन्द्र-गिरि पर हिमंचल सिंह कभी भी पाये जा सकते हैं । प्रयाग में गंगा के तट पर गोदावरी बाई और गोदावरी के तट पर गंगा देवी को आविर्भूत करने वाला कौन है ? वह इतिहास की अभिन्नता और आत्मीयता का अन्तः सूत्र ही है ।

हमने संपूर्ण विश्व को अपने इतिहास में रंग दिया है । काश्यपीय सर (कास्पियन सागर) के साथ कश्यप के संस्मरण, त्रिपुर (ट्रिपोली) के साथ त्रिपुरारी के संस्मरण, धन्व (गोबी के मरुस्थल) के साथ धन्वन्तरि के संस्मरण, पुष्कलावती (चार सद्दा) के साथ भरत पुत्र पुष्कल तथा तक्षशिला के साथ भरत के दूसरे पुत्र तक्ष के संस्मरण विश्व के मानचित्र पर अमिट छाप छोड़ गये हैं । न केवल पृथ्वी पर प्रत्युत खगोल में भी भारतीयों ने अपना इतिहास लिखा । सूर्य, चन्द्र, मंगल, बुध, बृहस्पति, शुक्र, शनि, वसिष्ठ, अरुन्धति के इतिहास तब तक अमर हैं जब तक तक वे ग्रह और उपग्रह चमकते रहेंगे ।

कलाओं में भारतीय इतिहास के संस्मरण हमारी सांस्कृतिक विजयों के प्रतीक नहीं तो और क्या हैं ? गंधार स्वर सप्तक का अभिन्न अंग है । संगीत और स्वर लहरियों पर भारतीयों का ही शासन है । हमारी राष्ट्रीय एकता को अनुप्राणित करने वाले इस इतिहास को हमारे पूर्वज ही हमें विरासत में देते आये हैं । वृन्दावन भले ही जिला मथुरा में हो, किन्तु वृन्दावनी सारंग की स्वर संपत्ति सारे राष्ट्र की संपत्ति है । मालव कौशिक (मालकोस), कम्बोज (खम्माच), पहाड़ी, दरबारी, कन्नड़, जौनपुरी, भीमपलासी, वंगीय काफी, मुल्तानी, गौड़सारंग, मणिपुरी, कनौरी (किन्नरी), हम्मीर जैसे राग सारे राष्ट्र की साझेदारी में सुरक्षित संपत्ति बने हुए हैं । वृन्दावन को दरबारी, कन्नड़ (कानरा) पर उतना ही ममत्व है जितना वृन्दावनी सारंग पर । और कन्नड़ को गौड़ सारंग तथा जौनपुरी पर किसी से कम प्यार नहीं । इस प्रकार कम्बोज से लेकर मणिपुर तक, हिमालय से लेकर कन्नड़ (दक्षिण भारत) पर्यन्त हम ऐसी एकता में बंधे हैं जिसका अन्तः सूत्र इतिहास नहीं तो और क्या है ?

यही स्थिति चित्रकला की भी है । एक प्रान्त दूसरे प्रान्त के साथ चित्रकला का रूप लेकर ऐसे मिल गया है मानो प्रान्त की भेदक रेखा मिथ्या है । भूगोल और इतिहास में यह प्रतिस्पर्धा अज्ञात काल से चली आ रही है । न केवल भूगोल, खगोल भी प्यार की इस अभिन्नता पर कम गर्व नहीं रखता । भूगोल ने कहा 'भारतीय विजय और एकता का प्रतीक मैं हूं ।' इतिहास बोला 'तुम से कई गुना मैं ।' खगोल ने कहा 'तुम दोनों से बढ़चढ़ कर मेरा स्थान है । पृथ्वी पर भूगोल और इतिहास को आक्रांताओं ने बिगाड़ा है, किन्तु तुम्हारे गौरव के संस्मरण मैंने इतने सुरक्षित रखे हैं जो निशीथ के अंधकार में

भी पढ़े जायें।' लोग मिथ्या कहते हैं हमारे प्राचीन यज्ञ-यागों का अर्थ महत्वपूर्ण नहीं था। वह था। विश्व के चप्पे-चप्पे पर लिखा गया हमारा यह इतिहास ही 'विश्वजित्' याग बना था।

अजन्ता और एलोरा की गुफाओं में देखो, पारस्य (ईरान) से लेकर मणिपुर तक, हिमालय से लेकर सेतुबंध तक संपूर्ण प्रदेश कला का रूप लेकर एक राष्ट्र की पूजा और अर्चा की तल्लीनता में एकाकार हो गया है। उसमें वैदिक युग की उत्प्रेक्षाएं हैं। महाभारत काल की कला है। शैव काल की नागर शैली है। और बौद्ध युग की संवेदनाएं हैं। यदि संपूर्ण भारत एक कलाकार मान लिया जाय तो अजन्ता की कला में उसके दिल की धड़कन सुनाई देगी। एलोरा, बाघ, खजुराहो, सारनाथ तथा मथुरा भी ऐसे ही केन्द्र हैं। गन्धार, पाटलिपुत्र और शाकल भारत के किसी भी प्रान्त में रहे हों, वे सब एक परिवार की भांति तीर्थों और मन्दिरों में समुदित हुए हैं। मंदिरों में हम पत्थर नहीं पूजते, भारतीय राष्ट्र की इस एकता को पूजते हैं, जिसमें पूर्व, पश्चिम, दक्षिण और उत्तर मिलकर एक हो गये हैं। मथुरा, अयोध्या, पाटलिपुत्र, अहिच्छत्रा (बरेली) आदि स्थानों में प्राप्त देव कुलों की प्रतिमायें भी इतिहास की इस भावना का समर्थन करती हैं।

भूगोल ही हमारा धर्मशास्त्र है। अपने राष्ट्र के प्रति प्रत्येक भारतीय श्रद्धा का स्तोत्र पढ़ता रहा है—

समुद्ररशने देवि! पर्वत स्तनमण्डले।
विष्णुपत्नि! नमस्तुभ्यं पादाघातं क्षमस्व मे।

भौगोलिक आधार पर इस देवि का मूर्तरूप एशिया के मानचित्र में देखिये। टार्गकिंग की खाड़ी से ईरान की खाड़ी होता हुआ भूमध्य सागर जिसकी रशना (तगड़ी) हो, और हिमालय उन्नत उरोज उसके स्कंध कामरूप (इंडोचीन) और पारस्य ही हो सकते हैं। फिर त्रिविष्टप उत्तर कुरु (सिंकियांग) और सुमेरु के प्रदेश उसका वह मस्तक रहा है जिस पर भारत के वीरों ने सौभाग्य के सिंदूर का तिलक किया था। मैं जो कुछ कह रहा हूं, आप चाहें तो उसकी सत्यता गंधार, सिंकियांग और कंबोदिया में प्राप्त होने वाली प्रतिमाओं से पूछ देखिये।

विवाह के अवसर पर वर को कन्यादान करते समय भारत का प्रत्येक पिता राष्ट्र की जो विरासत सौंपता है उसमें इस देश की भौगोलिक एकता देखने योग्य है। दान के समय का वह मांगलिक संकल्प यह है—

गंगा सिन्धु सरस्वती च यमुना गोदावरी नर्मदा।
कावेरी सरयू महेन्द्रतनया चर्मण्वती वेदिका॥
शिप्रा वेत्रवती महासुर नदी ख्याता जया गंडकी,
पूर्णा पूर्णजलैः समुद्रसहिताः कुर्वन्तु ते मंगलम्॥

भारत की सम्पूर्ण नदियां और उनसे अभिषिंचित होने वाले प्रदेश इस दायभाग में संकलित हुए हैं। यह विरासत जिस युग में लिखी गयी होगी, यह भूगोल उस युग की साक्षी दे रहा है। तो हां, मैं यह कह रहा था—हमारे धर्म की मौलिक भूमिका हमारा भूगोल

और इतिहास ही है। भूगोल और इतिहास की उपेक्षा करके जिस धर्म की सृष्टि होती है वह निष्प्राण है। उसी का नाम रूढ़िवाद है। रूढ़िवाद को त्यागने का अर्थ यही है कि अपने भूगोल और इतिहास की गहराई में उतरो। उस गहराई में पहुंचने पर तुम्हें धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के अमूल्य रत्न मिलेंगे।

घटनाओं का लेखा मात्र इतिहास है, ऐसा आधुनिक ऐतिहासिकों का दृष्टिकोण है। किन्तु यह भारतीय दृष्टिकोण नहीं है। घटनाओं से परिचित होने मात्र से इतिहास का अध्ययन पूरा नहीं होता। उसके अध्ययन से हमें प्रवृत्ति और निवृत्ति की दिशा में स्फूर्ति मिलनी चाहिये।

रामादिवत्प्रवर्तितव्यं न रावणादिवत्

यह अनुभूति नहीं हुई तो रामायण पढ़ना व्यर्थ है। उसके पढ़ने में जो समय लगा, व्यर्थ गया।

प्राचीन भारतीय विद्वानों ने विद्या को चार भागों में बांटा--( ) आन्वीक्षिकी (ख) त्रयी (ग) वार्त्ता (घ) दंडनीति। आन्वीक्षिकी में विज्ञान (Science) है। त्रयी में धर्माधर्म (Ethics)। वार्त्ता में अर्थानर्थ (Exchange) और दंडनीति में नय और अनय (Politics) का समावेश होता है।[1] किन्तु इतिहास ऐसा विषय है जिसमें चारों विद्याओं का एकत्र समावेश होता है। मनुष्य जीवन की कसौटी पर चारों विद्याओं को अध्ययन करने का साधन इतिहास से बढ़कर दूसरा नहीं।

हमारे इतिहास को इतिहास वेत्ताओं ने दो श्रेणियों में विभाजित किया है।[2]

(1) परकृति। (2) पुराकल्प।

परकृति इतिहास का वह भाग है जिसका नायक एक ही होता है जैसे रामायण। और पुराकल्प इतिहास का वह भाग है जिसमें अनेक नायकों का चरित्र-चित्रण समाविष्ट रहता है जैसे महाभारत। भारतीय साहित्य के इन दोनों ग्रंथों में हम देखते हैं कि विद्या के चारों विभाग सुन्दरता से चित्रित हुए हैं। विज्ञान, धर्म, राजनीति और अर्थशास्त्र चारों की समष्टि ही मनुष्य जीवन की व्याख्या कर पाती है, कोई एक या दो नहीं। इसीलिये प्राचीन संस्कृत साहित्य में इतिहास को पांचवां वेद कहा है। और दर्शनशास्त्र में इतिहास (ऐतिह्य) को भी तत्व निर्णय के लिये एक प्रमाण स्वीकार किया गया है।[3]

महात्मा भर्तृहरि ने इतिहास की उपादेयता को प्रस्तुत करते हुए कहा था[4]--

---

1. आन्वीक्षिक्यां तु विज्ञानं धर्माधर्मौ त्रयीस्थितौ।
   अर्थानर्थौ तु वार्त्तायां दण्डनीत्यां नयानयौ॥ —मनु० (मल्लिनाथ, किरातार्जुनीय 2/6)
2. परकृतिः पुराकल्प इतिहासगतिर्द्विधा।
   स्यादेकनायका पूर्वा द्वितीया बहुनायका॥ —काव्यमीमांसा, अध्या० 1
3. न्यायदर्शन —2/2/1
4. तर्कोऽप्रतिष्ठः, श्रुतयो विभिन्ना।
   नैको ऋषिर्यस्य वचः प्रमाणम्।
   धर्मस्य तत्वं निहितं गुहायां।
   महाजनो येन गतः स पन्था॥ —भर्तृहरि

'तर्क (Philosophy) का कहीं अन्त नहीं है। श्रुतियों (Scriptures) में परस्पर भेद है। और ऋषियों के अनुशासन (Law) एकान्त प्रमाण नहीं हो सके, ऐसी दशा में महान् पुरुषों के चरित्र (History) ही हमारे जीवन के पथ को प्रशस्त करते हैं।'

वेदों की व्याख्या के लिये ब्राह्मण ग्रंथ लिखे गये। ऐतरेय, शतपथ, साम और गोपथ ब्राह्मणों को देखिये उनका अधिकांश भाग इतिहास से वेष्ठित है। ब्राह्मण ग्रंथों से यदि इतिहास को पृथक कर दिया जाय तो फिर उनमें रह भी क्या जाता है? तात्पर्य यह कि वेदों को समझने के लिये इतिहास की आवश्यकता आज क्या, आदिकाल से ही चली आ रही है। निरुक्त भाष्य में देवराज ने यही प्राचीन विचार उद्धृत किया है—

इतिहास पुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्।[1]

प्राचीन इतिहास वेत्ताओं ने इतना ही विश्लेषण करके वात पूरी नहीं कर दी। उन्होंने उसके और भी भेद प्रभेदों पर गहराई तक विचार किया है। हमने पीछे इतिहास के दो स्थूल भेद लिखे हैं—परकृति और पुराकल्प। परन्तु इस एक ही विषय को ब्राह्मण ग्रंथों में पांच श्रेणियों में विभाजित किया गया था—

(क) इतिहास (ख) पुराण (ग) कल्प
(घ) गाथा (ङ) नाराशंसी।

इतिहास का लक्षण हमने पीछे दिया है। अव प्रश्न यह है कि पुराण क्या है?

विद्वानों ने पुराण का विवेचन करते हुए लिखा है कि सृष्टि की रचना, प्रलय, वंशानुवंश वर्णन, मन्वन्तरों का लेखा तथा वंशानुवंशों के महापुरुषों के चरित्र जिस साहित्य में लिखे जाते हैं वह पुराण है।[2] जो भी हो, इन पांच वातों के उल्लेख में इतिहास की वह मौलिक शर्त रहनी आवश्यक है—

धर्मार्थकाममोक्षाणामुपदेशसमन्वितम्।

कृत्याकृत्य परिज्ञान जिस साहित्य से न हो सका, वह व्यर्थ है।

पुराण कुछ नवीन खोज के रूप में हमारे सामने नहीं आया है। छन्दोग्य उपनिषद् में वर्णन है—एक वार नारद गुरु सनत्कुमार के पास गये और विद्या पढ़ने की प्रार्थना की। गुरु ने कहा—नारद! पहले यह वताओ तुमने कौन-कौन विद्या पढ़ ली है? उससे आगे पढ़ाऊंगा।

नारद ने कहा—गुरुवर! मैंने चौदह विद्याएं पढ़ी हैं, पांचवें वेद के तुल्य प्रतिष्ठित इतिहास और पुराण भी उनमें पढ़ा है। किन्तु कथायें मात्र जानने से कल्याण नहीं होता है। श्रेय कैसे प्राप्त हो यह वताइये।[3] इस अध्ययन से नारद का आशय यही था कि इतिहास और पुराण की कथाओं में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का सुझाव देने वाला उपदेश चाहिये। इस प्रकार इतिहास पुराण का अध्ययन भारतीय शिक्षा प्रणाली में उपनिषद् काल के पूर्व से ही विद्यमान है।

---

1. महाभारत आदि० 1।
2. सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च।
   वंशानुचरितं चैव पुराणं पंचधा मतम्॥
3. छान्दोग्य, अ० 7/1।

विश्व की सम्पूर्ण भाषाओं का साहित्य अधिकांश इतिहास और पुराणों के आधार पर ही निर्मित होता है। भारतीय साहित्य में भूगोल का समावेश इतिहास और पुराण में ही किया जाता है। हमने ऊपर सर्ग और प्रतिसर्ग का उल्लेख किया है। भूगोल का विषय सर्ग और प्रतिसर्ग से बाहर नहीं है। हम इतिहास और भूगोल को एक-दूसरे का पूरक मानकर चले हैं।

राजशेखर ने काव्यार्थ के हेतु पर विचार करते हुए बारह हेतु गिनाये हैं। इनमें इतिहास और पुराण को प्रधान रूप से निर्देश किया है। विद्वानों की प्राचीन मान्यता को उद्धृत करते हुए उन्होंने लिखा है--

"इतिहास और पुराण मानो साहित्य के दो नेत्र हैं। यदि विवेक का अञ्जन लगाकर कवि इन नेत्रों से देखे तो कोई सूक्ष्म तत्व छिपा नहीं रहता। वेद और स्मृतियों के निवन्धन से लेखक को जो गौरव प्राप्त होता है, इतिहास और पुराणों के निवन्धन द्वारा भी वही महानता उसके लेखों को प्राप्त होती है।"[1]

भारतीय साहित्य में पुराण शैली का सबसे बड़ा विद्वान् महर्षि वेदव्यास को कहा जाता है। मान्यता यह है कि वेदव्यास ही अट्ठारह पुराणों के लेखक थे। किन्तु पुराण साहित्य वेदव्यास के पूर्व ही क्या, उपनिषदों से पूर्व भी विद्यमान था।[2] वे किन के लिखे हुए थे यह बताने के लिए हमारे पास कोई साधन नहीं है। पुराणों की रचना में अंतिम विद्वान् जिसे हम जानते हैं, वेदव्यास ही माने जाते हैं। सम्पूर्ण पुराण साहित्य यों ही समय काटने के लिए नहीं, एक निश्चित उद्देश्य से लिखा गया था और यह था कर्तव्य और अकर्तव्य का विवेचन। विद्वानों ने पौराणिक साहित्य का सार इन शब्दों में संकलित किया था--

अष्टादशपुराणेषु व्यासस्य वचनद्वयम्।
परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम्॥[3]

आधुनिक यथार्थवादी साहित्य के सृष्टा कुछ भी कहा करें, किन्तु भारतीय विद्वानों की प्राचीन काल से एक ही धारणा है, इतिहास के हरेक अंग को 'धर्मार्थ काम मोक्षाणम् उपदेश समन्वितम्' होना चाहिये। व्यास ने इस आदर्श को भुलाया नहीं।

महाभारत की रचना करने का श्रेय भी वेदव्यास को प्राप्त है। महाभारत में भी महर्षि ने अपने लेखों के उपसंहार में यही लिखा है--

धर्मे अर्थे च कामे च मोक्षे च भर्तर्षभ।
यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत्क्वचित्॥[4]

---

1. इतिहासपुराणाभ्यां चक्षुर्भ्यामिव सत्कविः।
विवेकाञ्जनशुद्धाभ्यां सूक्ष्ममप्यर्थमीक्षते॥
वेदार्थस्य निबंधेन श्लाघ्यन्ते कवयो यथा।
स्मृतीनामितिहासस्य पुराणस्य तथा तथा॥ —काव्य मीमांसा, अध्या० 8
2. अथर्व० 11/7/24
3. अट्ठारह पुराणों में व्यास ने दो ही बातें लिखी हैं। परोपकार का फल पुण्य है और परापकार का फल पाप।
4. हे सम्राट्! धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के तत्वदर्शन के लिए जो कुछ मैंने कहा वही अन्यत्र मिलेगा। जो यहां नहीं, उससे बढ़कर अन्यत्र मिलना संभव ही नहीं।—महाभारत।

इसी धारणा के साथ सम्पूर्ण पुराणों का चित्रण भी मिलेगा। श्री मद्भागवत के प्रारम्भ में ही लिखा है—

निगमकल्पतरोर्गलितं फलं,
शुकमुखादमृतद्रव संयुतम्।
पिवत भागवतं रसमालयं,
मुहुरहो रसिकाः भुवि भावुकाः ॥[1]

अभिप्राय यह है कि मनोवैज्ञानिक दृष्टि से इतिहास और पुराण साहित्य की रचना में भारतीय विद्वान् जो कुछ कर गये, विश्व में आज के साहित्यकार उस स्थिति पर पहुंचने की प्रतीक्षा में ही हैं।

कल्प क्या है ? प्रतीत होता है, ऐतिहासिक साहित्य का प्रारूप कल्प है। कल्प साहित्य मूल रूप से सूत्रों में लिखा गया था। इसलिए उसे कल्पसूत्र कहते हैं। कल्पसूत्र दो शाखाओं में विभक्त हैं—श्रौत सूत्र तथा स्मार्त सूत्र। स्मार्त सूत्र भी दो प्रकार के हैं—गृह्य सूत्र तथा धर्म सूत्र। श्रौत सूत्रों में श्रुति के यज्ञ यागों का उल्लेख। स्मार्त सूत्र गृह्य-सूत्रों के अन्तर्गत सदाचार तथा पोडश संस्कारों का उल्लेख है। भारतीय आर्य का पारिवारिक जीवन कैसा हो, यही इनमें चित्रित किया गया है। इनके साथ दूसरी शाखा धर्म सूत्रों की है। इनमें राजा, प्रजा, गुरु, शिष्य तथा समाज की मर्यादा स्थिर रखने वाले नियम लिखे गये हैं। वर्ण तथा आश्रमों की मर्यादायें हमें इनमें देखने को मिलेंगी। स्मृति ग्रंथों का विकास इन्हीं से हुआ है।

श्रौत सूत्रों का विकास शुल्व सूत्रों में हुआ है। इनमें यज्ञशाला, यज्ञकुंड तथा ऐसे ही अन्य धार्मिक एवं सामाजिक कर्मकांड के उपयुक्त निर्माण करने के लिए वास्तुकला का उल्लेख है। शुल्व का अर्थ है नापने का फीता। शायद सहावल इसी शुल्व का विकृत रूप है। सहावल वास्तुकला का सवसे आवश्यक साधन है।

तात्पर्य यह कि कल्प सूत्र लोक संग्रह के प्रश्न का समाधान है। समाज और उसके अंग किस प्रकार मर्यादा में स्वथ्य और संगठित रहें, यही कल्पशास्त्र का विषय है और इस प्रकार इतिहास की पृष्ठभूमि का निर्माण कल्पशास्त्र ने ही किया है।
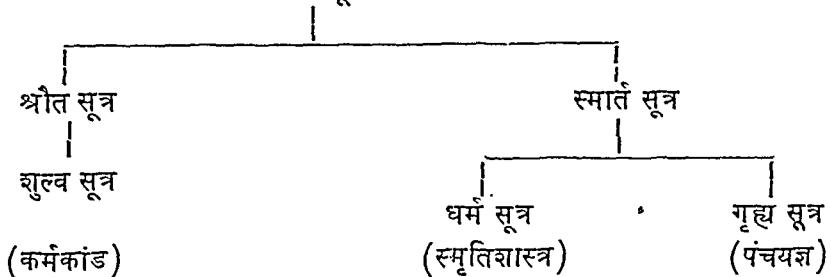
वेदज्ञान के छः अंग स्वीकार किये गये हैं। कल्प साहित्य उन छः में से एक है।

---

1. वेद रूप वृक्ष पर लगा हुआ फल शुक (शुकदेव और तोता) के मुख लगने से गिर पड़ा। परिपक्व होने से अमृत जैसा मधुर उसका रस ही मैंने इस पात्र में भर दिया है। भावुक लोगो ! उसे जीवन पर्यन्त पियो।

(क) शिक्षा (ख) कल्प (ग) व्याकरण (घ) निरुक्त (ङ) छन्द (च) ज्योतिष। इन छः में कल्प जिस तत्व का विवेचन करता है वह इतिहास की पृष्ठभूमि है, इसलिए वैदिक ज्ञान के लिए इतिहास की उपेक्षा नहीं की जा सकती। यद्यपि अनेक विद्वान् इतिहास को वेद से अलग रखना चाहते हैं किन्तु शुल्व, गृह्य और धर्मसूत्रों को लोक संग्रह की कसौटी पर व्यावहारिक जीवन में देखा जायगा तब हम वेद की व्याख्याओं से इतिहास को अलग कैसे रख सकेंगे ?

इतिहास की चौथी शाखा गाथा है। गाथा का प्रतिपाद्य विषय कथानक से भिन्न होता है। किसी के चरित्र की चर्चा इसलिये की जाय कि उसके दृष्टांत से किसी उद्दिष्ट विषय का समर्थन किया जाय, तो वह चरित्र वर्णन गाथा कहा जाता है। जैसे संत तुलसीदास ने आचार शास्त्र के भारतीय आदर्शों को सम्पुष्ट करने के लिये श्री रामचन्द्रजी के चरित्र का सहारा लिया। रामचरित मानस का प्रतिपाद्य विषय रामचरित नहीं है, किन्तु भारतीय आचार शास्त्र है। इसीलिये तुलसीदासजी ने रामचरित मानस के प्रारंभ में लिखा—

स्वान्तःसुखाय तुलसी रघुनाथगाथा
भाषानिबंधमतिमंजुलमातनोति ।

गोस्वामीजी ने यह नहीं कहा कि मैं रामचन्द्रजी का इतिहास लिख रहा हूं, प्रत्युत 'गाथा' कह कर अपनी कृति का स्पष्टीकरण किया। किन्तु महर्षि वाल्मीकि ने राम का इतिहास लिखा। इतिहास का उद्देश्य होता है चरित्र-चित्रण और गाथा का उद्देश्य प्रतिपाद्य विषय का समर्थन और स्पष्टीकरण। तथापि गाथा की ऐतिहासिकता अक्षुण्ण रहती है। वह चरित्र का चित्रण तो होता ही है साथ ही प्रतिपाद्य को सम्पुष्ट भी करता है।

धीरे-धीरे गाथा का विषय इतना विस्तृत हुआ कि साहित्य में व्यापक रूप से उसका प्रयोग पशु-पक्षियों की कथाओं तक पहुंच गया। पंचतंत्र ऐसा ही ग्रन्थ है। जीवन के अनेक रहस्यों को स्पष्ट करने के लिये चूहा, शेर और खरगोश जैसे चरित्र नायकों की कहानियां भी उच्च कोटि के साहित्य में स्थान पाने लगीं। हंस, कबूतर, तोता और मैना के आख्यान भी हमें मिलते हैं, जिनके सहारे गहरे विचारों का स्पष्टीकरण हुआ है। यह शैली सबसे पहले भारतीय साहित्य में ही विकसित हुई। यद्यपि दूसरे देशों में भी उसकी अनुकृति हुई, किन्तु वह सौष्ठव और प्रवीणता जो भारतीय साहित्यचार्यों ने प्रस्तुत की औरों से न बन सकी।

महाभारत में इतिहास, पुराण, कल्प, गाथा और नाराशंसी सभी का समावेश मिलता है। यही उसकी महनीयता है। गोस्वामी तुलसीदास ने भी आचार शास्त्र की मर्यादाओं के प्रतिपादन के लिये रामचरित का आश्रय लिया, यह स्पष्ट करता है कि दार्शनिक विचारों के स्पष्टीकरण के लिये इतिहास की उपादेयता आवश्यक है। गोस्वामी जी के शब्द देखिये—

प्रभु सुजस संगति भनिति भलि होइहि सुजन मन भावनी।
भवअंग-भूति मसान की सुमिरत सुहावनि पावनी।।

स्पष्ट है कि तुलसी के रामचरित मानस में इतिहास साधन है।[1] किन्तु वाल्मीकि रामायण में वह साध्य है। महर्षि वाल्मीकि ने लिखा—

इदं पवित्रं पापघ्नं पुण्यं वेदैश्च सम्मितम्।
यः पठेद्रामचरितं सर्वपापैर्विमुच्यते ॥

ज्यों-ज्यों समय बढ़ता गया सैकड़ों काव्य और नाटक रामायण और महाभारत के आधार पर लिखे गये, ताकि सार्वजनिक चरित्र का निर्माण हो सके। वेदों का ज्ञान सर्वोच्च अवश्य है, किन्तु उसकी प्रयोगशाला इतिहास है। विशुद्ध इतिहास में चरित्र प्रधान है, किन्तु गाथा में लेखक का प्रतिपाद्य विषय। तभी तो गोस्वामीजी ने लिखा—

राम एक तापसतिय तारी,
नाम कोटि खल कुमति सुधारी।

स्पष्ट है कि राम के इतिहास में एक ही अहल्या का उद्धार हुआ था किन्तु गाथा साहित्य में आकर राम का नाम करोड़ों के लिये पतित पावन हो गया।

इतिहास की पांचवीं शाखा नाराशंसी है। यह इतिहास का वह अंग है, जो लोक व्यवहार में सबसे अधिक व्याप्त हुआ है। देश, काल और पात्र की मर्यादाओं में बंधा हुआ चरित्र इतिहास की विशुद्ध शैली है। किन्तु कोई चरित्र जो देश और काल की सीमाओं से बाहर वर्णन किया गया, नाराशंसी होता है। इसमें कल्पित मनुष्यों के चरित्र भी समाविष्ट होते हैं। जैसे—

"एक आदमी ने मुर्गी पाली। वह रोज सोने का अंडा दिया करती थी। मूर्खतावश उस आदमी ने सोचा, अच्छा हो, इस मुर्गी का पेट फाड़ कर एक ही बार सारे अंडे निकाल लूं। उसने लोभवश मुर्गी का पेट फाड़ दिया। एक भी अंडा न निकला। मुर्गी मर गई। रोज का एक अंडा भी गया। सच है, लालच से अपनी ही हानि होती है।" जीवन के आचार और नैतिक सिद्धान्तों के स्पष्टीकरण के लिये नाराशंसी शैली बहुत उपयुक्त और रोचक है। जो व्यावहारिक सिद्धान्त साधारणतः गले नहीं उतरते, नाराशंसी उन्हें बोधगम्य और रोचक बना देती है। उपन्यासों का अन्तर्भाव इसी शैली में होता है। प्रेमचन्द, चतुरसेन शास्त्री, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, द्विजेन्द्रलाल राय जैसे उपन्यास लेखक नाराशंसी के ही सिद्धहस्त विद्वान् थे। मानव के चरित्र निर्माण में उन्होंने कलम तोड़ दी। उन्होंने जिन सिद्धान्तों को लिया, जनता के दिल में उतार दिया। भावात्मक जगत् में वे आज भी समाज पर शासन कर रहे हैं। वाल्मीकि, व्यास, कालिदास, तुलसी, सूर, जयशंकर प्रसाद और मैथलीशरण के संस्मरणों के साथ यदि प्रेमचन्द और रवि बाबू को न लिखा जाय तो ऐतिहासिकों की परम्परा अधूरी ही रहेगी। यह बात दूसरी है कि उस भवन के निर्माण में किसी ने चिनाई की, किसी ने पुताई, पर योग सब का है। ऐतिहासिक स्थापत्य में किसी का योग कम मूल्य नहीं रखता।

---

1. अरथ धरम कामादिक चारी, कहब ग्यान विज्ञान विचारी। —रा० च० मा० बालकाण्ड।
"नानापुराणनिगमागमसम्मतं यद् रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोपि।"
—रा० च० मा० आदि।

संस्कृत साहित्य में इतिहास की उपर्युक्त सभी प्रकार की रचनाएं मिलेंगी। ब्राह्मण ग्रंथों से लेकर पुराण, रामायण, महाभारत और उपनिषदों में प्रत्येक शैली के चित्रण विद्यमान हैं।

विश्व में जो कुछ ज्ञातव्य है उसे मोटे रूप में दो श्रेणियों में विभक्त किया जाता है—भौतिक और आध्यात्मिक। या यों कहिये—साइंस और मनोविज्ञान (Psychology)। पहले को विज्ञान कहेंगे और दूसरे को दर्शन। पहला जड़ जगत का विश्लेषण है, दूसरा चेतन का। किन्तु इतिहास में दोनों प्रकार के विश्लेषण एकत्र मिलेंगे। जड़ और चेतन का किस प्रकार समन्वय होता है, यह देखना हो तो इतिहास देखो। न केवल यही, मनुष्य जीवन के उत्थान और पतन, उनके साधन और उनके परिणाम देखना चाहो तो इतिहास को ही देखना चाहिये। दर्शन और विज्ञान का व्यावहारिक समन्वय इतिहास ही है। इसीलिये महाभारत में कहा है—

अर्थशास्त्रमिदं प्रोक्तं धर्मशास्त्रमिदं महत्।
कामशास्त्रमिदं प्रोक्तं व्यासेनामितबुद्धिना॥

(महाभारत आदि० 9/20।)

अर्थात् धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का एक ही शास्त्र में अध्ययन करना हो तो इतिहास पढ़ना चाहिये। महाभारत महर्षि वेदव्यास ने लिखा था। व्यास ने वेद नहीं लिखे। वेदों में व्यास का कहीं नाम भी नहीं। किन्तु महाभारत की रचना करके महर्षि ने वेदों के वृत्त पर व्यास की भांति इस पार से उस पार तक रेखा खींच दी। अन्यथा वेदों के रहस्यपूर्ण गंभीर चक्रव्यूह में घुसना ही कठिन था। उसमें प्रवेश का द्वार ढूंढना ही अशक्य था। व्यास ने महाभारत मानो वही द्वार बना दिया जिसके द्वारा वेद विद्या का स्पष्टीकरण हो सके।[1] कोई विज्ञान तब तक स्पष्ट नहीं होता जब तक वह प्रयोगशाला में व्यावहारिक रूप से देखा न जाय। व्यास ने वेदार्थ ज्ञान की प्रयोगशाला के परीक्षण ही महाभारत में संकलित किये। यही उनकी वेदव्यासता है। तभी उन्होंने लिखा—

इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्।

ऐसी स्थिति में व्यास का यह लिखना तनिक भी अतिश्योक्ति नहीं है—"जो यहां लिखा गया, वही अन्यत्र भी है। किन्तु जो यहां नहीं वह कहीं नहीं मिलेगा।"[2]

आधुनिक विद्वान् दर्शन-शास्त्र को पांच भागों में विभक्त करते हैं।

(1)	प्रमाण शास्त्र	Epistomology	न्याय वैशेषिक
(2)	तत्व दर्शन	Ontology	सांख्य
(3)	व्यवहार शास्त्र	Ethics	रामायण, महाभारत
(4)	मनोविज्ञान	Psychology	योग, उपनिषद्
(5)	सौन्दर्य शास्त्र	Esthetics	वेदान्त

---

1. विव्यास वेदान् यस्मात्स तस्माद् व्यास इति स्मृतः। महा० आदि० अ० 6
2. त्रिभिर्वर्षैः सदोत्थायी कृष्ण द्वैपायनो मुनिः।
   महाभारत माख्यानं कृतवानिदमद्भुतम्।
   यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत्क्वचित्॥ महा० आदि० अ० 6

भारत के प्राचीन विद्वानों ने उसे चार भागों में विभक्त किया—

(1) धर्म
(2) अर्थ
(3) काम
(4) मोक्ष

किन्तु सभी का ध्येय एक है---सत्य को जानो। वही मुक्ति है, वही अत्यंत सुख।

परन्तु सत्य कोई नियत वस्तु नहीं है। वह आवस्थिक है। आज का सत्य कल मिथ्या हो सकता है। और कल का मिथ्या आज सत्य। और यही सत्य धर्म है। यूरोप में एक पति को त्यागकर दूसरे पुरुष को पति बना लेना पाप नहीं है। भारत में है। हिन्दुओं में चाचा की पुत्री से विवाह करना धर्म नहीं। मुसलमानों में चचेरे भाई के लिये वह धर्म है। धर्मशास्त्र में पिता की आज्ञा मानना धर्म है। किन्तु प्रह्लाद पिता की अवज्ञा करके ही महान् बना। श्रीकृष्ण अपने गुरु संदीपनी के परमभक्त होने से प्रतिष्ठित हुए। किन्तु अर्जुन अपने गुरु द्रोणाचार्य का वध करके यशस्वी हो गये। श्रवणकुमार माता की सेवा करके सुपुत्र बने और परशुराम माता की हत्या करके। दान देना धर्म है किन्तु ब्राह्मणों के लिये दान लेना भी धर्म। प्रेम करना धर्म है। किन्तु गीता में अर्जुन को धर्म का उपदेश देते हुए भगवान ने कहा 'युद्धाय युज्यस्व'। लड़ने के लिये कटिबद्ध रहो।

सत्य यौगिक शब्द है। सति+अयम्, ऐसा होने पर ऐसा 'सत्य' है। इसलिये सत्य के साथ धर्म भी आवस्थिक होता है। मनु ने धर्मशास्त्र में लिखा है--

अन्ये कृतयुगे धर्मा त्रेतायां द्वापरे परे।

धर्म की स्थिति किसी युग में एक-सी नहीं रहती। देश और काल में परिवर्तन हुआ कि सत्य बदल गया। सतयुग के धर्म और थे। त्रेता में और तथा द्वापर में कुछ और। सनातन कोई धर्म नहीं है। इसी लिये धर्माधर्म का निर्णय करने समय बड़े-बड़े विद्वान् किंकर्तव्यविमूढ़ हुए हैं—"किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः।"

इस मूढ़ता का निवारण इतिहास ही करता है। इतिहास वह साइनबोर्ड है जो चौराहे पर पथभ्रम होने पर यह बताता है कि कौन मार्ग किधर जाता है। जीवन के पथ में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के चौराहे पर यदि इतिहास समाज का पथ-प्रदर्शन न करे तो मनुष्य को जीवन की मंजिल मिलना ही दुष्कर हो जाये। यदि इन्द्र और उसके वज्र का इतिहास न हो तो "मन्युरसि मन्युं मयिधेहि" को कौन समझेगा? पौरस्त्य हों या पाश्चात्य, दर्शनशास्त्र की सारी शाखायें इतिहास रूप विशाल वृक्ष की शाखायें ही हैं।

राष्ट्रीय पर्व भी इतिहास के महत्वपूर्ण अंग हैं। चाहे वे रूढ़ियों के रूप में चल रहे हों, तो भी जन-जीवन को उनसे बहुत प्रेरणा मिलती है। दीपावली, कार्त्तिकी स्नान, देवोत्थानी, नवरात्र, विजयदशमी, मकरसंक्रांति, शिवरात्रि, होली, रामनवमी, नव-संवत्सर की अमावस्या, गंगादशहरा, रक्षाबंधन, जन्माष्टमी, अक्षय तृतीया, धन्वन्तरि त्रयोदशी, नरक चतुर्दशी, पितृपक्ष, बुद्ध जयन्ती और महावीर जयन्ती जैसे पर्व युग-युग के इतिहास के विभिन्न अध्याय हैं। मानव-जीवन के अनन्ती पथ पर प्रत्येक पर्व प्रकाश डालता है ताकि हमें अपना उद्देश्य स्पष्ट दिखाई दे। पर्व मनाने का अर्थ ही यह है कि

उस इतिहास को नये सिरे से प्रति वर्ष स्मरण करो और जीवन में प्रगति लाओ।

पर्व का अर्थ है, क्रमिक उत्थान। पर्वत की भांति एक के बाद दूसरे ऊंचे शिखर पर आरूढ़ होना। राष्ट्रीय पर्व की उपयोगिता ही यह है कि वह राष्ट्र को उन्नति के शिखर की ओर ऊंचा ले जाये। और यह उत्थान इतिहास के वे उन्नत-चरित्र ही सम्पादन करते हैं, जिनके ऊपर राष्ट्र को गर्व है। दीपावली के दीवे और पकवान एक दिन की मौज के लिये नहीं हैं। राम की विजय, महावीर और दयानन्द के महाप्रस्थान राष्ट्र के लिये आत्मबलिदान के उदात्त और उज्ज्वल आलोक प्रदीप हमारे हृदय को जगमगा देते हैं। महापुरुषों की स्मृति का माधुर्य उन पकवानों में झलकता है। इस प्रकाश और माधुर्य में मनुष्य अपने जीवन के सौन्दर्य का मूल्यांकन करता है। महाकवि मैथिलीशरण के इन प्रश्नों का उत्तर हमारा अन्तःकरण स्वयं देने लगता है--

हम कौन थे, क्या हो गये हैं, और क्या होंगे अभी ? ऋग्वेद के वे आदर्श मूर्त्त हो जाते हैं जिनमें कहा है--तू उस आर्यवंश की संतान है जिसके जीवन-पथ में प्रकाश ही प्रकाश है।'[1] इस प्रेरणा का स्रोत इतिहास ही है।

इतिहास को पृष्ठभूमि बनाकर जब हम कोई पर्व मनाते हैं, तब पर्व में सजीवता आ जाती है। अन्यथा वह रूढ़ि परम्परा है। एक निर्जीव चित्र है, जो एक अनिर्वचनीय उत्सुकता को उत्पन्न करके चला जाता है। उत्सुकता समुद्र के ज्वार-भाटे की भांति उछाल मार कर जहां की तहां रह जाती है। जीवन को अग्रसर होने की प्रगति नहीं मिलती। कुछ यथार्थवादी कहते हैं कि इतिहास में आदर्शवाद को स्थान नहीं होना चाहिये। किन्तु यह विचार क्षुद्र है। कोई ओषधि इसलिये नहीं दी जा सकती कि वह ओषधि है। प्रश्न यह भी होगा कि वह किस रोग की ओषधि है? तभी उससे लाभ उठाया जा सकता है। कोई भी ओषधि किसी रोग में देने से कोई उद्देश्य सिद्ध नहीं होता। उसी प्रकार उद्देश्यहीन कथायें मानव का कोई कल्याण नहीं करतीं। मानो ऐसे ही उद्देश्य-हीन प्रयोगों के उपालम्भ में चरक ने कहा था--

यस्तु रोगमविज्ञाय कर्माण्यारभते भिषक्।
अप्यौषधविधानज्ञस्तस्य सिद्धिर्यदृच्छया ॥[2]

बिना रोग जाने उत्तम से उत्तम ओषधि देने पर भी अभीष्ट लाभ की आशा नहीं रहती। ऐसे यथार्थवादी और प्रगतिवादी लोग उस औदरिक के उपमान हैं, जो उदर में उल्टे-सीधे पदार्थ भरता चला जाता है, फिर यह ध्यान नहीं रखता कि परिणाम में अतिसार होगा या विशूचिका? पर्व मनाने का लाभ तभी हो सकता है, जब पर्व के दिन उसके इतिहास को आबाल-वृद्ध सुनें और सुनायें। न केवल इतना ही, उस इतिहास को मनन करके देखो, वह तुम्हारे धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के हित में कहां तक उपयुक्त होता है।

संसार में सभी कुछ उपयोगी है। उसके द्वारा लाभ पाने के लिये देश और काल

---

1. "उरुज्योतिः पप्रथुः आर्याय"—ऋग्वेद।
2. ओषधि बनाने में सिद्धहस्त व्यक्ति से भी, जब तक वह रोग से परिचित न हो, चिकित्सा में आरोग्य की आशा नहीं।

का परिज्ञान होना आवश्यक है। राम के इतिहास से प्रवृत्ति और रावण के इतिहास से निवृत्ति की प्रेरणा मिलनी चाहिये। कृष्ण और कंस का इतिहास भी एक आदर्श लेकर आता है। प्रताप और पद्मिनी भी जीवन को अनुप्राणित करते हैं। बुद्ध जैसे संत और अम्बपाली जैसी वेश्या भी इतिहास में एक आदर्श प्रस्तुत करते हैं। तुम अपने भवरोग की शान्ति के लिये बुद्धि और अम्बपाली के प्यार को जीवन में प्रेरित करो। वेश्या के प्यार की क्षुद्रता और महानता को चरित्र की कसौटी पर कसो। इतिहास से हमें यही सीखना है। विद्वानों ने ठीक कहा था--

नामन्त्रमक्षरं किञ्चिन्नच द्रव्यमनौषधम्।
नायोग्यः पुरुषः कश्चित् प्रयोक्ता एव दुर्लभः॥

विश्व में प्रत्येक अक्षर एक मंत्र है, प्रत्येक द्रव्य ओषधि है। प्रत्येक व्यक्ति योग्य है। उनका समुचित प्रयोग करने वाले ही नहीं मिलते। वर्ष भर में आने वाले पर्व हमें इतिहास की प्रयोजनीयता का पाठ पढ़ाने के लिये ही आते हैं। इस पार्वण परम्परा का हमें राष्ट्रीय जीवन में सदुपयोग करना सीखना चाहिये।

हमारी पूजायें, हमारे स्तोत्र और हमारे रस्म-रिवाज भी हमारे इतिहास के ही प्रकारान्तर हैं--एक स्तोत्र देखिये--

ब्रह्मा से ज्ञानी ना ध्यानी शिवशंकर सो,
नारद सो गुनी ना मुनी सुखदेव सो।
सीता सी सती ना, लक्षमन सो जती ना,
भरत सो विवेकी कवि कोविद नहिं व्यास सो॥
विष्णु सो दाता नहिं वेद सामवेद ऐसो,
ज्योतिष सो आगम न तीर्थ प्रागराज सो।
भागवत सो पुराण ना ज्ञान और गीता सो,
कृष्ण ऐसो लाल ना दयाल रघुनाथ सो॥

× × ×

वृन्दाबन सो बन नहीं, नन्दगांव सो गांव।
बंशीवट सो वट नहीं, कृष्ण नाउँ सो नाउँ॥

हिन्दी में यह परिपाटी संस्कृत से ही आई है। हम प्रागैतिहासिक काल से अपने जीवन की परम्पराओं में इतिहास के अमिट संस्मरण लिखते चले आ रहे हैं। पुष्पदन्त के शिवमहिम्न स्तोत्र के कुछ उदाहरण देखिये--

त्रयी सांख्यं योगः पशुपतिमतं वैष्णवमिति।
प्रभिन्ने प्रस्थाने परमिद मदः पथ्यमिति च॥
रुचीनां वैचित्र्यादृजु कुटिल नानापथजुषां।
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव॥
यदृद्धि सुत्राम्णो वरद परमोच्चैरपि सती-
मधश्चक्रे वाणः परिजन विधेय त्रिभुवनः।

न तच्चित्रं तस्मिन्वरिवसितरि त्वच्चरणयो-
र्न कस्या उन्नत्यै भवति शिरसस्त्वय्यवनतिः ॥[1]

हम प्राचीन काल में वेदों तक चले जायें तो देखेंगे कि वेदार्थ शैली में एक प्रकरण अर्थवाद भी है। किसी की प्रशंसा अथवा निन्दा द्वारा तत्व का प्रतिपादन अर्थवाद है। जिस वस्तु या कार्य की प्रशंसा लिखी गयी वह उपादेय है। जिसकी निन्दा लिखी गयी वह हेय। इस प्रकरण में अधिकांश इतिहास ही आता है। गुणवाद, अनुवाद और भूतार्थवाद का प्रतिपादन ही ब्राह्मण ग्रन्थों का मुख्य विषय है। यही तीन अर्थवाद के भेद हैं।

किसी का विरोध किया जाय वह गुणवाद होगा। जैसे—उत्तमोत्तम भोजन अकेले ही खाने वाला पाप खाता है। तात्पर्य यह है कि सम्पत्ति को बाँटकर भोग करो। वृत्र अकेले ही अकेले सम्पत्ति का भोग करने लगा, इसलिये उसका नाश हो गया।

किसी निश्चित बात को फिर से कह दिया जाय वह अनुवाद है। 'सत्य ही विजय पाता है' यह अनुवाद है। अर्थात् सत्य पर निष्ठा रखो तुम्हारी विजय अवश्य होगी। देखो देवासुर युद्ध में आखिर देव ही जीते, क्योंकि वे सत्य पर आरूढ़ रहे।

किसी निश्चित घटना का उल्लेख भूतार्थवाद है। जैसे 'इन्द्र को वृत्र के विरुद्ध वज्र उठाना ही पड़ा' तात्पर्य यह कि दुष्ट को दंड देना ही धर्म है। प्रत्येक सिद्धांत का समर्थन किसी ऐतिहासिक घटना द्वारा ही होता है। ऐसी घटनायें हमारे धर्मशास्त्रों में भरी पड़ी हैं।

मनु ने लिखा—'नम्र बनो। वेन, नहुष, सुदास, सुमुख तथा निमि सम्राट् होकर भी अविनीत होने के कारण नष्ट हो गये। तथा पृथु, मनु और कुबेर को विनीत होने के कारण ही साम्राज्य प्राप्त हुआ। न केवल इतना, किन्तु विश्वामित्र विनय के कारण ही ब्रह्मर्षि बने।[2] इतने इतिहास का तात्पर्य यही है—'तुम भी विनीत बनो।' स्पष्ट ही यह अर्थवाद है। अर्थवाद इतिहास द्वारा ही सम्पुष्ट होता है।

महर्षि वाल्मीकि आदि कवि थे, ऐसी लोक परम्परा आजकल चली आ रही है। किन्तु वाल्मीकि से पूर्व भी वेदों की संहितायें कविता में ही लिखी हुई विद्यमान थीं। तब अग्नि, वायु, आदित्य और अंगिरा ही प्रथम कवि क्यों नहीं? ऐतिहासिक परम्परा यह बताती है कि वाल्मीकि का गौरव स्वर्ग का नहीं है, वह नरक प्रदेश के आदि कवि अवश्य थे। महाभारत और पुराण उसके बाद की रचनायें हैं। स्वर्ग का शासन संहिता युग था। विद्वानों की सम्मिलित अनुभूतियां ग्रथित होती थीं। नरक में आकर संहिता युग शिथिल होने लगा। व्यक्तिगत ज्ञान की प्रतिष्ठा बढ़ी। संहति में व्यक्ति उभर आये। धन्वंतरि संहिता, चरक संहिता, सुश्रुत संहिता और काश्यप संहिता बनने लगीं। समय बीता संहति

---

1. हे अमर! त्रयी विद्या, सांख्य, योग, पाशुपतदर्शन, वैष्णवदर्शन आदि अनेक सरल और विषम विचारधाराएं 'हम ही सर्वहितकारी हैं' ऐसा आग्रह लेकर प्रवाहित हुई हैं। किन्तु उनका भेद लोगों की रुचि और शैली का भेद है। सभी धाराएं समुद्र में नदियों की भांति तुम्हीं में एक हो जाती हैं।

   हे वरद! बलि के पुत्र बाणासुर ने त्रैलोक्य विजय करके इन्द्र की सर्वोच्च महिमा भी मिट्टी में मिला दी। यह तुम्हारे ही चरणों का प्रताप था। तुम्हारे समक्ष जिसने मस्तक झुका दिया वह महान् हो गया।

2. मनु० अ० 7/41-42

का भाव ही समाप्त हो गया। ग्रन्थों के रचयिता व्यक्ति ही रह गये। रामायण और महाभारत संहिता नहीं रहे। वे व्यक्तिगत ग्रंथों के रूप में समाप्त हुए।

वैदिक संहिताओं में कोई मंत्र व्यक्ति के लिये नहीं है। वे समाज के लिये लिखे गये हैं। कहीं एक वचन नहीं, सर्वत्र वहुवचन का प्रयोग ही वेद मंत्रों में मिलेगा—त्वंहि नः पिता वसो। स्याम पतयो रयीणाम्। यद्भद्रं तन्नआसुव। संगच्छध्वं संवदध्वं।[1] इत्यादि निदर्शन एक-दो नहीं, सम्पूर्ण वेद संहितायें समाजवादी विचारधारा से ओतप्रोत हैं। इसीलिये ऋग्वेद अथवा यजुर्वेद अग्निसंहिता और वायुसंहिता नहीं वने। किन्तु समाजवाद का मूल दोष है व्यक्तिगत उत्तरदायित्व का पतन। व्यक्तित्व के अभिमान में जव अयोग्य व्यक्ति योग्य व्यक्तियों का तिरस्कार करने लगते हैं, समाज की रूपरेखा भंग हो जाती है। 'समता' और 'यथायोग्य' का विचार जाता रहता है। समाज की जगह व्यक्ति उभरते हैं। 'वयम्' की जगह 'अहम्' लेने लगता है।

श्रीमद्भागवत में ग्रन्थारंभ के साथ ही यह तत्व स्पष्ट किया गया है—

"ब्राह्मण, परहित की भावना से नहीं, भोजन की लिप्सा से प्रेरित होकर शास्त्र कथायें कहने लगे, इसलिये कथाओं का सार नष्ट हो गया।"

"भयानक चरित्र वाले नास्तिक और हत्यारे लोग भी तीर्थों में घुस गये। इसलिये तीर्थों की उपयोगिता नष्ट हो गयी।"[2]

सब में अपने को और अपने में सबको देखे विना समाजवाद नहीं चलता।[3] इस एकात्मता को प्रेरणा देने वाला भाव है—'कर्तव्य के प्रति जीने मरने की भावना।' इस कर्तव्यनिष्ठा को जव अधिकारों की लालसा अभिभूत कर लेती है, समाज उसी क्षण समाप्त हो जाता है। भारतीय समाजवाद कर्तव्य की साधना में है और यूरोपीय समाजवाद अधिकारों के संघर्ष में। भारतीय समाजवाद सुख और शान्ति की ओर अग्रसर होता है तथा यूरोपीय समाजवाद संघर्ष एवं रक्तपात की ओर। मकर संक्रांति का पर्व प्रतिवर्ष आता है। वह इसलिये आता है कि हम भारतीय समाजवाद की झांकी उसमें देख लें।

वाल्मीकीय रामायण में देखिये, एक-एक भारतीय नदी के नाम के साथ युग-युग का इतिहास जुड़ा है। भारतीय राष्ट्र की सारी नदियां स्मरणीय देवियों के नामों के साथ पूरे राष्ट्र में प्रवाहित होती हैं। गंगा, यमुना, सरस्वती, नर्मदा उन प्रातः स्मरणीय देवियों के नाम हैं जिन्होंने इस राष्ट्र के निर्माण में आत्मसमपर्ण किया है। वह इतिहास हमारे तत्कालीन राष्ट्रीय मानचित्र को प्रस्तुत करता है।

मानसरोवर क्यों वना ? स्वर्ग में एक युग था जव ब्रह्मा गणनायक थे। लोगों की सुख-सुविधा के लिये उन्हीं के मन में यह विचार आया कि स्वर्ग में एक विशाल सरोवर

---

1. नः, स्याम, नः, गच्छध्वं, वदध्वं प्रयोग वहुवचन हैं।
2. विप्रैर्भवती वार्ता गेहे गेहे जने जने।
   कारिता कणलोभेन कथासारस्ततो गतः॥
   अत्युग्रभूरिकर्माणो नास्तिकारौरवाः जनाः।
   तेऽपि तिष्ठन्ति तीर्थेषु तीर्थं सारस्ततो गतः॥ श्रीमद्भागवत 1/71-72 माहात्म्य
3. सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानिचात्मनि। मनु० 12/91.

होना चाहिये। बस, जनता ने पूरे अध्यवसाय के साथ, हिमालय की जलधारायें अवरुद्ध करके वह सरोवर निर्माण कर दिया। राष्ट्रपति की मनोकामना मात्र होने की देर थी, सरोवर बन गया। इसी लिये वह मानस-सरोवर कहा जाने लगा। उस सरोवर से एक नदी निकाली गयी। वह सर से निकाली गयी इसी लिये "सरयू" बनी। मानसर से प्रवाहित होने के कारण ही तो सरयू को भौगोलिक महत्व प्राप्त हुआ।

कौशिकी (कोसी) नदी का इतिहास देखिये। कान्य कुब्ज के सम्राट् कुश थे। उनका पुत्र कुशनाभ हुआ। कुशनाभ का गाधि। गाधि की सबसे बड़ी सन्तान सत्यवती नाम की पुत्री थी। दूसरी संतान विश्वामित्र हुए। सत्यवती विद्वान् ऋचीक को ब्याही गयी। स्वर्ग के विद्वत्समाज में सम्मानित होकर ऋचीक स्वर्ग में रहने लगा। सत्यवती का वहीं देहान्त हो गया। जिस नदी के किनारे उसका अंत्येष्ठि संस्कार हुआ, उसको सत्यवती के संस्मरण और सम्मान में कौशिकी नदी नाम दिया गया, क्योंकि सत्यवती कुश के वंश की थी।

कौशिकी (कोसी) नदी नैनीताल के उत्तर बैजनाथ की पर्वतमाला से निकलती है, और रामपुर के निकट रामगंगा में मिल गयी है। वाल्मीकि रामायण में लिखा है कि विश्वामित्र ने बहिन के प्रेम से अपना आश्रम इसी नदी के तट पर कहीं बनाया था।[1]

इतिहास का एक महत्वपूर्ण प्रसंग और सुन लीजिए—स्वर्ग हिमालय के सम्पूर्ण क्षेत्र में फैला था। फिर भी उसके प्रदेश गिरि शिखरों के नाम से बोले जाते थे। भौगोलिक विचार से वे प्रचलित नाम हिमवान्, कैलास, सुमेरु, त्रिकूट आदि थे। हिमवान्—तिब्बत से असम पर्यन्त। कैलास—मानसरोवर तथा कश्मीर का प्रदेश। सुमेरु—उत्तर कुरु या सिंकियांग। त्रिकूट—पामीर और हिन्दूकुश का प्रदेश समझा जा सकता है, जिसका विस्तार अल्ताई तक चला गया था, यह उत्तर मद्र कहा जाता था।

उस युग के शासन का नियंत्रण और देखरेख करने वाले ऋषि थे। जनतंत्रवाद के उस युग में जनता जिन्हें शासक चुनती थी, ऋषि उनका अनुशासन करते थे। शासन और नियंत्रण भिन्न-भिन्न समितियां करती रहीं। विद्वत्सभा नियंत्रण करती और राज्य-सभा शासन। पहली सभा के सदस्य प्रजापति और दूसरी के मनु कहे जाते थे।[2] ऋषि के शब्दार्थ में देखरेख का भाव है।

हिमवान् प्रदेश के शासक दक्ष को सुमेरु के शासक की इकलौती बेटी ब्याही गयी। वह मेना परम सुन्दरी और योग्य देवी थी। उसके अट्ठाईस बेटियां ही बेटियां जन्मी। इन सब में सबसे बड़ी बेटी का नाम गंगा था और उससे छोटी को नाम गौरी। गंगा ज्यों-ज्यों बड़ी हुई, राष्ट्र निर्माण और जन सेवा में संलग्न होती गयी। उसकी सेवा और बुद्धिमत्ता के कारण जनता में उसका स्थान पूजनीय बन गया। वह युवती हुई। पिता दक्ष को उसके विवाह की चिंता हुई। वर की खोज होने लगी।

गंगा के स्वयंवर की चर्चा स्वर्ग के कोने-कोने में फैल गई। कौन वह सुकृती होगा गंगा जिसे वरण करेगी? परन्तु यह चर्चा जब गंगा के कानों में पहुंची, उसने विवाह

1. वाल्मीकि॰ बालकांड, 34 सर्ग.
2. मनुस्मृति 1/34-35

करने से इन्कार कर दिया। आजन्म जनता एवं राष्ट्र की सेवा में जीवन उत्सर्ग करने का व्रत लिया। विलास और वैभव पर लात मारकर जनता जनार्दन की सेवा में सर्वस्व लुटा देने वाली वह देवी इतिहास की प्रथम देवता बनी। गंगा ने व्यक्ति को नहीं, राष्ट्र को वरण किया। महर्षियों ने दक्ष के पास जाकर गंगा को राष्ट्र सेवा के लिए अर्पण करने की याचना की। पिता ने इस महान व्रत में जीवन उत्सर्ग करने के लिए गंगा की प्रतिज्ञा सुनकर 'एवमस्तु' कह दिया।

किन्तु गौरी का विवाह शंकर से हो गया। गौरी, दुर्गा, काली, भवानी, अन्नपूर्णा, सिंहवाहिनी और अरिमर्दनी सब कुछ बनी। किन्तु शंकर की अर्धांगिनी होकर राष्ट्र सेवा का वह आधा पुण्य ही पा सकी। जबकि गंगा उसी पुण्य की सर्वांग स्वामिनी बन गई। राष्ट्र जीवन में गंगा जब-जब शंकर के सामने आई उन्होंने उसके सम्मान में मस्तक झुकाया। गौरी पत्नी होकर शंकर की गोद में बैठी, किन्तु राष्ट्र सेविका होकर गंगा शंकर के सिर पर सम्मानित हुई। पत्नी बनकर नारी अर्धांगिनी होती है। पति के पराक्रम का आधा ही उसके जीवन की सीमा है। किन्तु राष्ट्र की सेवा में सर्वस्व होमने वाली देवी असीम है। राष्ट्र हित में जीवन उत्सर्ग करने वाली गंगा हमारे इतिहास में मातृत्व का असीम गौरव लिए हुए आज भी सजीव है। गौरी कार्तिकेय की ही माता हुई और गंगा सारे राष्ट्र की।

उस देवी के संस्मरण में वह जलधारा गंगा नाम से सम्पूजित हुई जो सम्पूर्ण राष्ट्र को अभिषिंचित और पोषित करती रही और आज तक कर रही है। नदी मातृत्व का निकटतम प्रतीक है। क्योंकि उसका पयपान करके राष्ट्र सम्पुष्ट होता है। गंगा के संस्मरण में राष्ट्र हित का वही भाव सन्निहित है।

पहले मानसरोवर से निकलने वाली जलधारा मात्र का नाम गंगा हो गया। वे सात धाराएं थीं। पीछे भौगोलिक व्यवहार के लिए उनके नाम बदले गये। पश्चिम की ओर बहने वाली तीन धाराएं सुचक्षु, सीता और सिन्धु बन गई। और पूर्व की ओर बहने वाली ह्लादिनी, पावनी और नलिनी के नाम से विख्यात हुई। सातवीं सबसे बड़ी धारा को भगीरथ ने व्यवस्थित करके पूर्व की ओर प्रवाहित किया और अन्त में वही मुख्य धारा गंगा के संस्मरण में लोक पूजित हुई। राष्ट्र सेवियों की परम्परा में भगीरथ का नाम भी चिरस्मरणीय बन गया। गंगा के प्रवाह में भगीरथ का यश भी प्रवाहित हो रहा है। इसलिए वह 'भागीरथी' भी है।

इस भागीरथी गंगा के प्रवाहित होने से पूर्व नरक प्रदेश की क्या अवस्था रही होगी, यह भगीरथ के इतिहास से पूछो। नरक को स्वर्ग बनाने का श्रेय भगीरथ को ही मिलना चाहिये, जिसके प्रयत्न से गंगा स्वर्ग का सोपान बनी। नरक के लोग गंगा के किनारे-किनारे जाने वाले मार्ग से ही स्वर्ग पहुंचते थे। किन्तु गंगा ने इस नरक प्रदेश को इतना सस्यश्यामल बना दिया कि इस भूमि के वैभव और सौन्दर्य पर मुग्ध होकर गंगा के सोपान के सहारे स्वर्ग ही नरक की इस निम्न भूमि पर उतर आया।

भारत के भूगोल शास्त्रियों की कुछ पारिभाषिक संज्ञाओं ने जनता को विवश किया कि वे भागीरथी को ही गंगा कहें, सिन्धु को नहीं। भारत में प्रवाहित सरिताओं की धाराएं जो पूर्व समुद्र में गिरती हैं 'नदी' शब्द से सम्बोधित होती हैं, जो स्त्रीलिंग है।

किन्तु पश्चिम समुद्र में गिरने वाली धाराएं 'नद' शब्द से व्यवहृत होती हैं, जो पुल्लिंग है। गंगा जैसी स्त्री के संस्मरण में नदी ही उचित थी क्योंकि वह स्त्रीलिंग है। 'नद' शब्द पुल्लिंग होने के कारण स्त्री का संस्मरण कैसे होता।[1] इसलिए बंगाल की खाड़ी में गिरने वाली भागीरथी ही गंगा अर्थ में रूढ़ हो गई। पश्चिम की ओर कच्छ की खाड़ी में गिरने वाली धारा 'सिन्धु' नाम से विख्यात हुई, क्योंकि वह सिन्धु देश में ही अधिक प्रवाहित होती है। सादृश्य मूलक गौणीलक्षणा का यह ऐसा सिद्धांत है, जिसे साहित्य शास्त्र का प्रत्येक विद्वान् जानता है——गंगा न केवल नदी हैं, वह एक इतिहास भी है।[2]

ज्योतिष के आचार्यों ने आकाश की नीहारिकावली को भी गंगा घोषित किया। वह आकाश गंगा बनी। हिमालय पर बहती हुई गंगा हुई। और अन्त में हरद्वार से लेकर गंगासागर तक प्रवाहित गंगा नरक पावनी गंगा हो गई। समुद्र में घुसी हुई गंगा पाताल गंगा कही जाय तो क्या आपत्ति है? तात्पर्य तो यह है कि गंगा देवी का यश त्रैलोक्य में व्याप्त हो गया। अपांसुल चरित्र वाली इस पावन देवी का सम्मान त्रैलोक्य में होना ही चाहिये था, जिसने जन सेवा में ही अपना जीवन उत्सर्ग कर दिया।

गाधि के पुत्र विश्वामित्र कान्यकुब्ज के सम्राट् थे। बड़े विद्वान्, बड़े पराक्रमी। वह एक बार अपनी सेना सहित यात्रा पर निकले। चलते-चलते वशिष्ठ मुनि के आश्रम में जा पहुंचे। आश्रम में बड़े-बड़े विद्वान् और तेजस्वी महात्मा निवास करते थे। विश्वामित्र ने आश्रम में पहुंचकर महर्षि वशिष्ठ को सादर प्रणाम किया। महर्षि ने भी विश्वामित्र का यथोचित सम्मान किया और कुशल वार्ता पूछी।

कुशल वार्ता के उपरान्त विश्वामित्र आगे जाने के लिये तैयार हुए और महर्षि से विदा मांगने लगे। महर्षि बोले, राजन्! तुम्हारे आने से मुझे परम प्रसन्नता हुई है। इतनी जल्दी आप जाना चाहते हैं, यही मेरे मन को अच्छा नहीं लगा। ठहरिये, और एक दिन सेना सहित मेरा आतिथ्य स्वीकार कीजिये।

विश्वामित्र बोले, महर्षि! आपके प्रेमपूर्ण स्वागत-सत्कार से ही मेरा पर्याप्त आतिथ्य हो गया। आश्रम के फल, मूल और अर्घ्यपाद्य पाकर मैं परम संतुष्ट हुआ हूं। सबसे बढ़कर आपके दर्शन से मैं पूर्ण कृतार्थ हो गया हूं। इसलिये, महर्षि! मेरा नमस्कार स्वीकार कीजिये, और मुझे जाने की अनुमति प्रदान करें।

परन्तु वशिष्ठ ने आग्रह करते हुए फिर कहा, राजन्! इतने से मेरा संतोष नहीं हुआ। मेरा पूर्ण आतिथ्य स्वीकार कीजिये, और तभी यहां से प्रस्थान करें।

विश्वामित्र चुप हो गये और बोले, तो, महर्षि! मैं आपकी इच्छा के विरुद्ध नहीं जाऊंगा। मुझे आपका निमंत्रण स्वीकार है। जैसी आपकी रुचि हो वैसा कीजिये।

विश्वामित्र की यह बात सुनकर महर्षि वशिष्ठ ने अपने आश्रम की कामधेनु को बुलाकर कहा-—नन्दिनि! मैंने सम्राट् विश्वामित्र को सेना सहित निमंत्रित किया है। तुम्हीं मेरे इस मनोरथ को पूर्ण कर सकती हो। जिसको जो भोजन पसन्द हो वह प्रस्तुत

1. पूर्वोदधिगाः नद्यः पश्चिमोदधिगाः नदाः।
2. वाल्मीकि रामायण, बालकाण्ड, 35-43 सर्ग।

करो। आतिथ्य में अभीष्ट वस्तुएं प्रदान करो, मेरी यही इच्छा है।

उस दिव्य कामधेनु ने वैसा ही किया। सम्पूर्ण सेना, मंत्रिमंडल और अंत:पुर की रानियों सहित वह आतिथ्य पाकर विश्वामित्र को परम सन्तोष हुआ। सेना और मंत्रिमंडल के सब लोग महर्षि की प्रशंसा करने लगे।

अब विदा होने का समय आया। विश्व मित्र बोले, महर्षि ! मैं आपके आश्रम के लिये एक लाख गौएं दूंगा। किन्तु बदले में यह कामधेनु मुझे दे दीजिये। सम्राट् होने के कारण मैं इसे धर्मानुसार लेना चाहता हूं।

सम्राट्! एक लाख क्या, एक करोड़ गौओं के बदले भी मैं इसे नहीं दे सकता। करोड़ों दीनार भी इसका मूल्य नहीं चुका सकते। यह मेरे ही पास रहेगी। मेरे आश्रम की सम्पूर्ण व्यवस्था इसी पर निर्भर है। मेरा हव्य और कव्य इसके द्वारा ही सम्पन्न होता है। इस वन में यह गौ ही मेरा सर्वस्व है। मेरे अग्निहोत्र से लेकर सम्पूर्ण पंचयज्ञ का यही साधन है। इसलिये, हे सम्राट्! मैं इसे नहीं दे सकूंगा।

विश्वामित्र फिर बोले—महर्षि ! मैं तुम्हें स्वर्ण मंडित चौदह सहस्र हाथी देने को तैयार हूं। आठ सौ सुवर्ण निर्मित रथ, श्वेत घोड़ों से जुते हुए देता हूं। ग्यारह हज़ार अन्य घोड़े और एक करोड़ गौएं लेकर यह कामधेनु मुझे दे दो।

वशिष्ठ ने कहा—राजन्! आप आग्रह न करें, यह किसी तरह न होगा। कामधेनु मेरी है और मेरे पास ही रहेगी।

जब विश्वामित्र के इतने अनुनय-विनय पर भी वशिष्ठ कामधेनु देने को तैयार न हुए तो विश्वामित्र ने सेना को आज्ञा दी—कामधेनु को बलपूर्वक ले चलो।

सेना बलपूर्वक गौ को खींच कर ले चली। यह देखकर वशिष्ठ को रोष आ गया। संघर्ष बढ़ा। म्लेच्छ, पल्हव, शक और यवन जैसे जंगली लोग अनगिनत संख्या में वशिष्ठ की ओर से लड़े। विश्वामित्र की सेना हार गई। उनके सारे परिजन इस संघर्ष में मारे गये। इस प्रकार परास्त होकर विश्वामित्र ने हिमालय के पार्श्व में जाकर शंकर से सहायता की याचना की।[1]

शंकर महापराक्रमी थे। उन्होंने बड़े-बड़े अस्त्र-शस्त्र विश्वामित्र को दिये। विश्वामित्र ने इन अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित होकर फिर से वसिष्ठ पर आक्रमण कर दिया। किन्तु वसिष्ठ के ब्रह्मदण्ड के आगे विश्वामित्र की एक न चली। चारों ओर आग ही आग धधक उठी। विश्वामित्र हार गये।

निराश हो अपनी रानी को साथ लेकर विश्वामित्र ने राजमहल छोड़ दिया और तपस्वियों का जीवन व्यतीत करने लगे। उनका एक ही ध्येय था कि तप: सिद्धि द्वारा मुझे भी ब्रह्मर्षियों का अधिकार प्राप्त हो जाय। ब्रह्मर्षि स्वर्ग में सम्मानित थे। किन्तु ब्रह्मा ने विश्वामित्र को ब्रह्मर्षियों का अधिकार न दिया।

इसी समय अविनीत सम्राट त्रिशंकु को स्वर्ग में निवास करने की इच्छा हुई। उसने अपना अभीष्ट वसिष्ठ से कहा। किन्तु वसिष्ठ ने कहा—'तुम्हारे लिये यह असंभव

---

1. स गत्वा हिमवत्पार्श्वे किन्नरोरगसेवितम्।
महादेवप्रसादार्थं तपस्तेपे महातया:॥ वाल्मी० बाल०, सर्ग 55, श्लोक 12।

है। अविनीत राजा स्वर्ग जाने योग्य नहीं।' वसिष्ठ से निराश होकर त्रिशंकु वसिष्ठ के पुत्रों के पास गये। सब कुछ याचना करने पर भी वसिष्ठ पुत्रों ने त्रिशंकु को किसी प्रकार की सहायता न दी। उल्टा भला-बुरा कहकर डांटा-फटकारा।

शर्त यह थी कि जो राजा नरक से स्वर्ग निवास के लिये जाना चाहे वह किसी ब्रह्मर्षि के पौरोहित्य में एक यज्ञ करे। किन्तु वसिष्ठ और उनके पुत्रों ने त्रिशंकु का वह यज्ञ न होने दिया जिसके द्वारा वह स्वर्ग निवास कर सकते। न केवल इतना ही, वसिष्ठ के पुत्रों ने क्रुद्ध होकर राजा के लिये कठोर अनुशासन की व्यवस्था दे दी––'आज से तुम क्षत्रिय नहीं, चांडाल माने जाओगे और चांडाल के वंश में नीले वस्त्र पहनकर तुम्हें रहना होगा।'

त्रिशंकु इस तिरस्कार और अपमान से दिन-रात व्याकुल थे। कोई उपाय न देखकर अंततोगत्वा वे विश्वामित्र की शरण में गये। बड़े अनुनय-विनय के साथ अपना अभिप्राय कह सुनाया।

महर्षि का अर्थ था स्वर्ग शासन का प्रतिनिधि। इन्हीं महर्षियों की बदौलत इन्द्र 'सहस्राक्ष' बना हुआ था। विश्वामित्र वही अधिकार पाने के लिये जी तोड़ तपस्या करते रहे, परन्तु उन्हें वह अधिकार नहीं मिल सका था। जनतंत्रवाद में विरोधी दल के नेता शासन के लिये भय संचार करते हैं। त्रिशंकु ने अपनी स्वर्ग जाने की आशा को विश्वामित्र की शरण में जाकर और धूमिल कर लिया। विश्वामित्र की पार्टी में यद्यपि बड़े-बड़े वेद वक्ता विद्वान् थे, तो भी इन्द्र का मंत्रिमंडल बहुमत में चल रहा था। और विश्वामित्र का दल अल्पमत में।

जो भी हो। विश्वामित्र ने त्रिशंकु को यज्ञ कराने और स्वर्ग प्रवेश का आश्वासन दे दिया। यज्ञ हुआ। दिग्दिगन्त के विद्वान् आये, किन्तु वसिष्ठ और उनके पुत्र विरोध में ही रहे। वे यज्ञ में आये भी नहीं।[1]

यज्ञ राजा का था। वह भी उत्तर कोसल के। धूमधाम से संपन्न हो गया। विश्वामित्र ने बड़े-बड़े विद्वानों के समर्थन के साथ स्वर्ग जाने की आज्ञा दे दीं। त्रिशंकु गये। परन्तु इन्द्र की सरकार ने उन्हे वहां न टिकने दिया।[2] पाकशासन की पुलिस ने धक्का देकर उन्हें स्वर्ग की सीमा से बाहर धकेल दिया। 'महर्षि विश्वामित्र, बचाओ! महर्षि विश्वामित्र, बचाओ!' चिल्लाते हुए वह बाहर जा गिरे। विरोधी दल का नेता होने के कारण विश्वामित्र का यह बड़ा अपमान हुआ। आवेश में आकर महर्षि विश्वामित्र बोले 'मेरा आज्ञापत्र व्यर्थ नहीं होगा'। मैं दूसरे स्वर्ग की रचना करूंगा। त्रिशंकु उसी में रहेगा।' दूसरे स्वर्ग की रचना की जाने लगी। विश्वामित्र की पार्टी ने ही उसका

---

1. क्षत्रियों याजको यस्य चाण्डालस्य विशेषत:।
   कथं सदसि भोक्तारो हविस्तस्य सुरर्षय:॥ —वाल्मी० वाल० अध्या० 59/13-14

2. त्रिशंको गच्छ भूयस्त्वं नास्ति स्वर्गकृतालय:।
   गुरुशापहतो मूढ़ पत भूमिमवाक्‌शिरा:॥
   एवमुक्तो महेन्द्रेण त्रिशंकुरपतत् पुन:।
   विक्रोशमानस्त्राहीति विश्वामित्रं तपोधनम्॥ —वाल्मी० वाल० 60/17-19

समर्थन किया। परन्तु अल्पमत की सरकार कब चली ? त्रिशंकु को किसी भांति संतोष हुआ हो। वह स्वर्ग में रहे या नरक में ? यह इतिहास ही बता रहा है। किन्तु स्वर्गीय शासन के विरोधी दलों का यह उपद्रव इतना तो प्रकट करता ही है कि स्वर्ग की लोकप्रियता में विद्रोही तत्व कितने अधिक उभर आये थे। यह लोकतंत्र था या दलबंदी ?

जनता के हृदय का शासन लोकतंत्र है, न कि बहुमत की शक्ति का प्रदर्शन। बहुमत और अल्पमत कार्यशैली के अन्तर का नाम है। ध्येय अभिन्न होना चाहिये। लोकतंत्र के प्रत्येक नागरिक में कर्तव्य के लिये जीने और मरने का भाव चाहिये। अधिकारों और स्वार्थ के लिये संघर्ष जनतंत्र का नाश कर देता है। विरोधी दलों के यज्ञ और इन्द्र की उनके विरुद्ध कूटनीतिक प्रतिक्रिया स्वर्ग और नरक के अन्तर्द्वन्द्व की परिचायिका नहीं तो और क्या है ? त्रिशंकु ने इसी द्वन्द्व का लाभ उठाकर स्वर्ग की सैर करनी चाही थी।

ऋग्वेद के तृतीय मंडल में जिसकी ज्ञान गरिमा आज तक श्रद्धा से पढ़ी जाती है, वही मंत्र दृष्टा विश्वामित्र तात्कालिक राजनीति में सम्मानित न हो सका। 'संगच्छंध्वं संवदध्वं' जैसी श्रुतियां वह लिखता तो रहा, किन्तु चरितार्थ न कर सका। त्रिशंकु हो या और कोई, समाज के न्याय के आगे कौन टिक सका ? यही उस युग का जनतंत्र था। वसिष्ठ उस युग के दस प्रजापतियों में एक थे। न केवल प्रजापति, किन्तु वे सप्त मनुओं के नाम से विख्यात सप्तर्षियों में भी अन्यतम मनु थे।[1] प्रजापति समाज के नियंता और मनु न्याय के धर्माध्यक्ष थे। ऐसे महापुरुष के अनुशासन के विरुद्ध त्रिशंकु का प्रयास धृष्टता ही नहीं, राजनैतिक मूर्खता भी थी। विश्वामित्र अपने किये का फल भोग ही रहे थे, तो भी त्रिशंकु न समझे।

त्रिशंकु के सम्बंध में महाभारत[2] में भी कुछ महत्वपूर्ण परिचय दिये गये हैं। उनसे ज्ञात होता है एक बार विश्वामित्र तपस्या में तल्लीन थे। दुर्भिक्ष पड़ गया। अब विश्वामित्र की पत्नी पर घोर संकट आ गया। भोजन और वस्त्र तक न मिले। ऐसे कठिन समय में त्रिशंकु ने उसकी प्रशंसनीय सहायता की थी। विश्वामित्र पर त्रिशंकु का बड़ा एहसान था।

गृहकार्यों से अवकाश प्राप्त कर त्रिशंकु वानप्रस्थ हुए। अब उनका नाम था 'राजर्षि मतंग'। कुछ काल तक तपोनिष्ठ रहने के बाद मतंग (त्रिशंकु) ने वसिष्ठ से स्वर्गनिवास की अनुमति चाही। वसिष्ठ ने अनुमति न दी। उल्टा उन्हें चांडाल घोषित कर दिया। क्योंकि वह विश्वामित्र से सहानुभूति रखते थे। विश्वामित्र से वसिष्ठ का वैर था। क्योंकि उन्होंने वसिष्ठ के पुत्रों की हत्या कर दी थी।

वसिष्ठ से निराश होकर जब राजर्षि मतंग विश्वामित्र की शरण आये उन्होंने कौशिकी (कोसी) नदी के तट पर मतंग को स्वर्गाधिकार दिलाने के लिये यज्ञ सम्पादन

---

1 पतीन्प्रजानामसृजं महर्षीनादितो दश।
मरीचिमत्र्यङ्गिरसौ पुलस्त्यं पुलहं क्रतुम्॥
प्राचेतसं वसिष्ठं च भृगुं नारदमेव च॥ मनु० 1/34—36

2. महाभारत, आदि० अ० 91।

किया। इस संस्मरण में कौशिकी नदी का नाम 'पारा' रख दिया, क्योंकि उसके तट पर ही मतंग पारंगत हुए थे। यज्ञ के अनंतर मतंग स्वर्ग पहुंचे तो इन्द्र ने उन्हें धक्का देकर स्वर्ग की सीमा से बाहर कर दिया।

स्वर्ग की सीमा से लगे हुए इसी प्रदेश में, जो वर्तमान रामपुर-नैनीताल और पीलीभीत के बीच में है, विश्वामित्र ने नया स्वर्ग बना दिया। मतंग उसी में रहे। विश्वामित्र की पैज रह गई। किन्तु नया स्वर्ग और पुराना स्वर्ग मिल न सके। त्रिशंकु न स्वर्ग में रहे न नरक में।

अब दोनों स्वर्ग नहीं रहे। और न वह नरक। किन्तु इतिहास उसकी कहानी कहे जाता है, ताकि हम अतीत को वर्तमान से जोड़ लें और आज के जनतंत्रवादी राष्ट्र उसमें अपने धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को ढूंढने में समर्थ हों।

रामायण में एक ओर राम का चरित्र दूसरी ओर त्रिशंकु का। एक ओर विश्वामित्र का चरित्र दूसरी ओर वसिष्ठ का। कितने निकट संबंध ? उन्हीं संबंधों के निर्वाह में त्रिशंकु अनुत्तीर्ण हो गये और राम 'मर्यादा पुरुषोत्तम' बने। विश्वामित्र राम के भी गुरु थे और त्रिशंकु के भी किन्तु विश्वामित्र को राम के लिये स्वर्ग की नई सृष्टि नहीं करनी पड़ी। त्रिशंकु के लिये नया स्वर्ग रचा गया तो भी वह इन्द्र न बन सके। राम अपनी अयोध्या छोड़कर बन-बन भटके और भगवान बन गये। स्वर्ग और नरक के जनमन में व्याप्त होकर चमकने लगे। तनिक दोनों का संतुलन तो करो।

राम की अयोध्या सूनी पड़ी रही तो भी वह राष्ट्र का तीर्थ बन गई। किन्तु विश्वामित्र का स्वर्ग मतंग के शासन में तीर्थ न बन सका। इस सम्पूर्ण संतुलन में देखो चरित्र की चारुता, स्वार्थों का त्याग, और परहित में बलिदान होने की भावना ही भारत के आदर्श हैं। राम नरक में जन्मे किन्तु अयोध्या को अमरावती से अधिक गौरवशाली बना गये। स्वर्ग के लालच में वे यज्ञ नहीं कराते फिरे।[1] और न ही गुरु वसिष्ठ से उसके लिये उन्होंने प्रार्थना की। वे सुख ढूंढने के लिये नहीं भटके। सुख ही उन्हें ढूंढता फिरा। राम प्रातःस्मरणीय बन गये और त्रिशंकु उपहास के पात्र। इसी भूमि पर राम हुए, इसी पर त्रिशंकु। उन्हें इतिहास की तुला पर तौल कर देखो—कौन हल्का है कौन भारी ? और क्यों ? चौदह वर्ष तक चिर वियोगिनी अयोध्या के मस्तक पर सौभाग्य सिन्दूर चढ़ाने के लिये राम राजा हुए। कोटि-कोटि प्रजाओं द्वारा अभिनंदन के बाद एक घटना ने राम को अमर कर दिया—

व्याकुल मानव ने कहा, दुख मेटो सुख धाम।
मैं ही कब सुख से रहा, हंसकर बोले राम।

हमारे पूर्वजों के जो इतिहास गंगा, यमुना, ब्रह्मपुत्रा, आमू (सीता), वंक्षु और सिन्धु की धारायें आज तक सुनाया करती हैं, ह्वांग हो और यांग टी सीक्यांग से पूछो क्या उन्हें भी उनकी याद है ? नहीं है। क्योंकि स्वर्ग के साथ उनकी कोई साझेदारी नहीं थी। एक पड़ोसी दूसरे पड़ोसी के बारे में जितना जान सकता है, उन्हें भी ज्ञात

1. स्वर्गकामो यजेत। —मीमांसा दर्शन।

हो सकता है। किन्तु उनमें मातृत्व की ममता कब हो सकती है? काशी और प्रयाग यहां के नाम नहीं हैं वे स्वर्ग के थे। गंगा और यमुना उन्हें यहां उतार लाई हैं। उत्तर काशी और देव प्रयाग गढ़वाल में आज भी स्वर्ग की कथायें कहा करते हैं। उत्तर से उतर कर काशी दक्षिण में आ गई, और उस देव लोक से चलकर प्रयाग भी मनुष्य लोक में आबाद हो गया। किन्तु दोनों ने अपना मूल गौरव नहीं खोया। नरक में आकर भी काशी राजनीति और विद्या का तथा प्रयाग धार्मिक अनुष्ठानों का अद्वितीय केन्द्र बन गये। हरिश्चन्द्र, शैव्या, धन्वन्तरि, दिवोदास, प्रतर्दन और ब्रह्मदत्त जैसे महान् व्यक्तियों ने काशी में ही जन्म लेकर दिशायें जागृत कर दीं। तथा भारद्वाज, विश्वामित्र, अत्रि, भगीरथ, जन्हु जैसे महापुरुषों ने प्रयाग में यज्ञ और यागों की वह परम्परा स्थापित की जिसने जन जीवन को पावन बनाकर इस नरक को भी स्वर्ग की सम्पत्ति प्रदान की।

कर्ण-प्रयाग, देव-प्रयाग, विष्णु-प्रयाग, रुद्र-प्रयाग और नन्द-प्रयाग—पांच प्रयाग स्वर्ग में थे। न केवल प्रयाग, उत्तर-काशी, गुप्त-काशी आदि अनेक काशी भी वहां थीं। किन्तु यहां एक काशी और एक ही प्रयाग बने। और ऐसे बने जिन्होंने विद्या, चरित्र, अर्थनीति और राजनीति से सम्पूर्ण एशिया को प्रकाशित कर दिया। न केवल एशिया, किन्तु अफ़्रीका और योरोप तक उसकी किरणें पहुंचीं। यूनान, बेबीलोन, मिस्र, जर्मनी और रोम में उनके संस्मरण आज भी प्राप्त होते हैं।

पुराण माइथोलोजी (कपोल कल्पना) हो तो हो जाय। आयुर्वेद शास्त्र तो माइथोलोजी नहीं है। धन्वन्तरि ने स्वर्ग के जिन भौगोलिक तत्वों का उल्लेख ओषधियों के संग्रहार्थ किया है, वे आज भी भौगोलिक तथ्य हैं। आत्रेय पुनर्वसु के आदेशों में जिन भौगोलिक स्थानों की चर्चा है, वे माइथोलोजी नहीं हो सकते। उनकी भौगोलिक सत्ता आज भी है। उनके जलवायु के वैज्ञानिक गुण दोष वही हैं, जो उन्होंने कहे थे। वे ओषधियां और उनकी उपयोगिता, सभी कुछ सत्य है। फिर उनके निवास और उनके कार्य कपोल कल्पित क्यों? ग्रंथलेखन में शैली और तत्व दोनों समाविष्ट रहते हैं। शैली सजावट है और तत्व वास्तविकता। संस्कृत साहित्य में शैली और तत्व का विश्लेषण यदि हम न कर सके तो वस्तु तत्व तक नहीं पहुंच सकते। साहित्य में तत्व को नंगा नहीं खड़ा किया जा सकता। इस नग्नता को परिधान पहनाने का काम ही तो शैली है। यह विद्वानों का काम है कि वस्त्र और व्यक्ति का समन्वय ज्ञात करें। यह भूलना नहीं होगा—नवेली से परिधान शोभित होते हैं, और परिधान से नवेली।

आत्रेय पुनर्वसु ने रसायन प्रयोग लिखे। और प्रयोग के अंत में लिखा 'इस रसायन के प्रयोग से एक हजार वर्ष की आयु हो जाती है।'[1]

इस एक हजार का अर्थ संख्या नहीं है, किन्तु 'अधिकता' है। यह वस्तु तत्व को प्रस्तुत नहीं करता किन्तु वस्तु तत्व प्रतिपादन की शैली का परिचायक है। साहित्य में अंकगणित का प्रयोग साहित्यिक अर्थ भी देता है, न कि गणित का ही।

---

1. जीवेद्वर्ष सहस्राणि तावन्त्यगतयौवनः। च० चि० 1/3/6
जग्मुर्वर्षसहस्राणि रसायनपराः पुरा। च० चि० 1/79

चार पहर की यामिनी, कैसी झूठी बात।
आली साजन के गये सौ सौ जुग की रात॥

जरा बताइये ये सौ-सौ जुग की रात साहित्य है या गणित ? क्या आप इसे माइथोलोजी कहेंगे ?

सुश्रुत संहिता में धन्वन्तरि की उक्ति देखिये—'बुद्धिमान व्यक्ति विधिपूर्वक सोम ओषधि का प्रयोग करने पर दस हजार वर्ष जी सकता है।[1] यह दस हजार गणित नहीं है, साहित्य की शैली है। महाभारत में इस शैली का विश्लेषण कई जगह किया गया है।

गणित अभिधा से आगे नहीं चलता। किन्तु साहित्य अभिधा से आगे लक्षणा, व्यंजना और ध्वनि जैसी शक्तियों से अनंत अर्थ देता है। अभिधा एक अर्थ प्रकट कर देती है। उसका बोध होने पर माइथोलोजी का क्षेत्र प्रारंभ हो जाय तो सारा साहित्य ही माइथोलोजी बन जायगा। अभिधा का क्षेत्र, बहुत सीमित है, वह एक अर्थ बताकर शांत हो जाती है।[2] किन्तु फिर भी जो अनेक अर्थ प्रतीत होते हैं वे लक्षणा, व्यंजना और ध्वनि की शक्तियों से ही। लेखक का तात्पर्य देखना चाहिये। वह तात्पर्य ही शब्द का वास्तविक अर्थ होता है।[3] विकसित साहित्य की लेखन कला अभिधा से कम किन्तु लक्षणा, व्यंजना और ध्वनि से ही अधिक अलंकृत होती है। जिसे भाषा सौष्ठव की इस कला का ज्ञान नहीं है, वे संस्कृत साहित्य को क्या समझेंगे ?

शब्द के व्युत्पत्ति-निमित्त और प्रवृत्ति निमित्त का अंतर समझना आवश्यक है। भाषा के हजारों शब्द ऐसे हैं जिनका व्युत्पत्ति निमित्त कुछ और है, प्रवृत्ति निमित्त कुछ और। उदाहरण के लिये देखिये—

(1) **मण्डप शब्द की व्युत्पत्ति—**

मण्ड+प=मण्डप है।

किसी यज्ञ या उत्सव के समय आये हुए मेहमान जिस छाया तले बैठकर चावलों के मांड से बना हुआ एक पेय आतिथ्य के रूप में पीते थे, वह मांड पीने का स्थान 'मंडप' कहा जाता था। यह उसका व्युत्पत्ति अर्थ निमित्त है। किन्तु आज उसका प्रवृत्ति निमित्त प्रत्येक छाया गृह बन गया है। कविसम्मेलन का स्थान भी मण्डप और विवाह का स्थान भी मण्डप।

(2) पुरोहित—व्युत्पत्ति निमित्त=

पुरः+आहित=पुरोहित

किसी भी सामाजिक काम में जो विद्वान् कार्य का पथ-प्रदर्शन करने के लिये सबसे अग्रणी होता था, पुरोहित कहा जाता था।

---

1. दशवर्ष सहस्राणि नवां धारयते तनुम्। सुश्रु० चि० 29/14
2. शब्दबुद्धिकर्मणां विरम्य व्यापाराभावः।—काव्यप्रकाश
   शब्द, ज्ञान, और कर्म एक क्रिया के बाद दूसरा व्यापार नहीं करते। दूसरे अर्थ के लिये दूसरी शक्ति चाहिये।
3. 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः'—तात्पर्य ही शब्द का अर्थ होता है।—साहित्य दर्पण

प्रवृत्ति निमित्त—दूसरों की दान-दक्षिणा पर जीवन-यापन करने वाले अविद्वान् लोग भी पुरोहित कहे जाते हैं।

(3) **प्रवीण—**

प्र+वीणा=प्रवीण

व्यु० नि०—स्वरों का मंद्र, मध्यम, तीव्रभाव, कोमल तथा शुद्ध भेद, वादी और सम्वादी का परिज्ञान जिसको होता है, वह वीणा बजाने में प्रवुद्ध व्यक्ति प्रवीण कहा जाता था।

प्र० नि०—प्रत्येक चतुर व्यक्ति प्रवीण कहा जाने लगा। चतुरता ही उसका अर्थ रह गया।

(4) **कुशल—**

कुश+ला=कुशल

व्यु० नि०—प्राचीन काल में याज्ञिक लोग यज्ञ से पूर्व जंगल में जाकर आसन तथा छप्पर आदि वनाने के लिये कुशायें काटकर लाया करते थे। कुशायें लाने के वाद यह देखा जाता था कि लाने वाले के शरीर पर कुशा की पैनी पत्तियों से कोई घाव तो नहीं लगा? जिसके घाव लगा होता, वह यज्ञ की वेदी से वंचित किया जाता था। अनुष्ठान के लिये वह व्यक्ति अयोग्य है जिसके किसी अंग में क्षत है।

इसलिये कुशायें लाने में चतुर (कुशल) वही है जो कुशायें ले आए और क्षत से वचा रहे।

प्र० नि०—प्रवृत्ति में चतुरता मात्र शेप रह गई, शेष भाव लुप्त हो गया। आज हम कुशल का अर्थ चतुर ही समझने लगे हैं।

(5) **पंच—**

व्यु० नि०—स्वर्ग में पंचजन रहते थे। देव, नाग, यज्ञ, गंधर्व और किन्नर। प्रत्येक जन का एक-एक गणनायक होता था। पांचों गणनायक जिसे न्यायाधीश चुन लेते थे, वह पंच कहा जाता था। पंचजन उसके अनुशासन में चलते थे। वह इंद्र था।

प्र० नि०—गांव के आदमी जिसे चुन लें वही पंच हो जाता है।

(6) **इन्द्रजाल—**

व्यु० नि०—राजनैतिक दृष्टि,से इन्द्र का शासन बहुत कूटनीतिपूर्ण था। किसी महर्षि ने जो निर्णय दिया वह अनिवार्य रूप से क्रियान्वित होता था। इन्द्र के राजतंत्र के निर्णय क्रियान्वित होने पर ही जाने गये। वह शासन जाल की भांति व्याप्त था। मछली जाल से फंस गयी यह तब जान पाती है जब वह जल के बाहर खींचली जाती है।

प्र० नि०—आज कूटनीति के अर्थ में इन्द्रजाल शब्द का प्रयोग होने लगा।

(7) **गवेषणा—**

व्यु० नि०—(गो+एषणा) ऋषियों के आश्रमों में गौवें पली रहती थीं। चरने के लिये वन में छोड़ दी जातीं। किन्तु जब कभी आश्रम में यज्ञानुष्ठान होते, आश्रमवासी अतिथि सत्कार तथा हवन के निमित्त दूध, घी प्राप्त करने के लिये बन-वन में गौओं की खोज करते रहते थे। यही गवेषणा थी।

प्र० नि०—अब प्रत्येक अनुसंधान ही गवेषणा का पर्याय बन गया है।

(8) पुत्र—(पुं+त्राण)

व्यु० नि०—पुं का अर्थ है नरक। त्राण का अर्थ रक्षा। एक युग ऐसा था जब स्वर्ग से नरक में निर्वासित व्यक्ति, यदि नरक में एक बालक उत्पन्न कर दे तो फिर स्वर्ग को लौट सकता था। उस संतान को पुत्र कहते थे, क्योंकि वह नरक से त्राण करने वाला होता था।[1]

प्र० नि०—किन्तु अब सारे ही औरस बालक पुत्र कहे जाते हैं, चाहे वे नरक से त्राण करें या न करें।

(9) देवदारु—

प्र० नि०—देवभूमि स्वर्ग में उत्पन्न होने वाला एक ऊंचा वृक्ष देवदारु कहा जाता था। यह यज्ञ समिधाओं के काम में आता था। अन्य काम में भी। इसकी गीली लकड़ी भी जल उठती है। स्वर्ग में इसकी बड़ी उपयोगिता थी; और वह आज तक है।

प्र० नि०—वह वृक्ष अब कहीं भी हो देवदारु ही कहा जाता है।

(10) मन्दिर—

मन्दिर उस युग का शब्द है जब महर्षि लोग नरक में शासन-व्यवस्था चलाने के लिये आकर रहे। वह शिखराकार भवन स्वर्ग के गिरि शिखरों की अनुकृति में स्वर्ग का प्रतीक बनाया जाता था, वह आज तक वैसा ही बनता चला आ रहा है। इसमें सदैव आनंद मंगल ही रहता था। संस्कृत का 'मदि हर्षे' धातु, मंदिर का मूल अर्थ देता है।

किन्तु अब प्रत्येक देव-पूजा का भवन मन्दिर कहा जाने लगा है।

(11) ध्रुव सत्य—

सम्राट उत्तानपाद का पुत्र ध्रुव था। वह बाल्यकाल से ही तपोनिष्ठ हो गया। अन्ततोगत्वा वह जिस ज्ञान की खोज में तपोनिष्ठ हुआ उसे प्राप्त करके ही माना, अटल रह कर उसने टेक पूरी कर दी।

आज प्रत्येक अटल भावना को ध्रुव कहा जाता है।

इस प्रकार साहित्य का विशाल शब्दकोष इतिहास की घटनाओं से ही निर्मित होता है। युग बदलते जाते हैं और शब्दों का व्युत्पत्ति निमित्त पिछड़ जाता है। वह इतिहास के गहरे अतीत में पुरातत्व का विषय बनकर साहित्य को एक अदृष्ट स्फूर्ति दिया करता है। उसे सब बोलने वाले नहीं देख पाते, किन्तु उसकी प्रेरणा से अनुप्राणित तो होते ही हैं। हमारी भाषा का एक-एक शब्द हमारे इतिहास का प्रतिनिधि है।

हम 'मंडप के स्थान पर 'पंडाल' शब्द प्रयोग करें तो Pandemonium का भाव आता है। मिल्टन ने यह शब्द बहुत प्रयोग किया है, जो उस भवन को प्रकट करता है, जहां भूत-प्रेत बन्द हों। आज भी 'पैंडेमोनियम' गुलगपाड़े को कहते हैं। तब क्या 'मंडप' और 'पंडाल' में कोई सामंजस्य है? शाब्दिक और सांस्कृतिक दोनों दृष्टियों से उनमें बड़ा अंतर है।

उसी प्रकार पुत्र शब्द के लिये जब हम Son शब्द प्रयोग करते हैं, तो वह भाव

---

1. मानवाः स्वर्गं मिच्छन्ति मोक्षमिच्छन्ति देवताः। —चाणक्यनीति 5/16

और वह राष्ट्रीयता नहीं रहती जो पुत्र शब्द प्रस्तुत करता है। Son शब्द बड़े व्यक्ति द्वारा छोटे व्यक्ति के लिये सहानुभूति में प्रयोग होने वाला सम्बोधन है। उसमें सहानुभूति या वात्सल्य की अभिव्यंजना है। बाइबिल में वह ईसा के लिये प्रयोग हुआ है। किन्तु पुत्र में जीवन की मुक्ति का जो राष्ट्रीय इतिवृत्त छिपा है, Son में वह लुप्त हो जाता है। इस प्रकार मातृभाषा के शब्दों के लिये विदेशी भाषा के शब्दों का व्यवहार हमें अपने राष्ट्रीय इतिहास से दूर भटका देता है। क्या वह राष्ट्रद्रोह नहीं है? भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की वह सूक्ति हमें भूलनी नहीं चाहिये—

बिनु निज भाषा ज्ञान के मिटत न हिय को शूल।

इतिहास को वैज्ञानिक आधार पर यदि हम देखें तो कह सकते हैं कि इतिहास वस्तु का मूल्यांकन करता है। किसी व्यक्ति के जीवन का सत्तर वर्ष का इतिहास सुनिये, आप जान लेंगे वह बूढ़ा है। अनुभवी है। संसार के गहरे उथले को जानता है। जिसके जीवन का इतिहास—अभी पच्चीस वर्ष से अधिक नहीं, वह यौवन के उद्यान की सैर के सिवा और क्या जानता है? हम कहें, यह चूर्ण नया है? विज्ञ वैद्य कहेगा, यह अच्छा है। लौहभस्म नई है। विज्ञ कहेगा, यह घटिया है। यह नया और पुरानापन क्या है? इतिहास का रूपान्तर ही तो है। नया वह है जिसने थोड़ा जीवन देखा है। पुराने का अर्थ है लम्बे जीवन की अनुभूतियाँ। व्यवहार में कहीं नये मूल्यवान हैं, कहीं पुराने। यह उपयोगिता का प्रश्न है। यह वैज्ञानिक उपयोगिता ऐतिहासिक आधार पर खड़ी होती है। उसी प्रकार राष्ट्र का मूल्यांकन उसके इतिहास से होता है।

भारत के इतिहास में हमें एक ऐसी परम्परा मिलेगी जो मानवीय इतिहास के मूलस्रोत पर पहुंच जाती है। समान विचार, समान कार्य और समान मनोवृत्ति के पुरुषों को भारत के इतिहास में एकसूत्र में पिरोया गया है। शिशुपाल वध के प्रथम सर्ग में माघ ने लिखा है—

"हे द्वारिकानाथ! हिरण्यकश्यप को आपने नृसिंह बनकर मारा था। वही हिरण्यकश्यप अगले जन्म में रावण बनकर अवतीर्ण हुआ। तब आपने राम बनकर उसका संहार किया था। और, हे दीनानाथ! वही दुष्ट अब शिशुपाल बनकर अवतीर्ण हो गया है। क्या इसका संहार न करोगे? भगवान ने नारद को स्वीकृति दे दी।"[1]

आयुर्वेद की परिपाटी में एक और प्रवाद देखिये—

अत्रिः कृतयुगे चैव त्रेतायां सुश्रुतो मतः।
द्वापरे चरकः प्रोक्तः कलौ वाग्भट संज्ञितः॥

जो महान् व्यक्ति सतयुग में अत्रि हुए, वही त्रेता में सुश्रुत। और द्वापर में चरक तथा कलियुग में वाग्भट। राजशेखर में उसी भाव को देखिये—

बभूव वल्मीकभवः पुरा कवि
स्ततः प्रपेदे भुवि भर्तृमेण्ठताम्।
पुनः स रेजे भवभूति रेखया,
स वर्त्तते सम्प्रति राजशेखरः॥

1. शिशुपालवध, (माघ) सर्ग 1/42—69

उत्तर प्रदेश में वाल्मीकि, काश्मीर में भर्तृमेण्ठ, और विदर्भ में भवभूति के कितने ही युगों बाद अवन्ति के राजशेखर का कोई अनुवंशिक संबंध नहीं है, तो भी कृति-साम्य का एकत्व ही इतिहास की गरिमा है। और इस अवतारवाद का वही आधार है। अनेकों में एकत्व लाने वाली इस अनुभूति के लिये भारतीय दर्शन में एक शब्द है 'भूमा'। यह भूमा ही इतिहास में अमर तत्त्व है, और सब नश्वर।[1]

इस प्रकार भारतीय इतिहास में कृति ही प्रधान है, व्यक्ति गौण। अवतारवाद का रहस्य यही है। कृति में व्यक्तियों का समन्वय होना चाहिये। इस प्रकार भारतीय इतिहास का ध्येय व्यक्ति पूजा नहीं, कृति की पूजा ही है। पौराणिक साहित्य के विशाल भंडार में लाखों व्यक्ति उभरे हैं, किन्तु उनका उपसंहार विद्वानों ने बड़े संक्षेप में किया—

अष्टादश पुराणेषु व्यासस्य वचन द्वयम्।
परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम्॥

अठारह पुराणों में लाखों व्यक्तियों के नाम और चरित्र हैं, किन्तु व्यास का तात्पर्य उन व्यक्तियों से नहीं है। प्रत्युत तात्पर्य यह बताने का है कि परोपकार पुण्य है, परापकार पाप। इस प्रकार व्यक्तिवाद को कृति में उपसंहृत करके भारतीय इतिहास का आदर्श प्रस्तुत होता है।

भारतीय इतिहास की पारिभाषिक संज्ञाएं

भारतीय इतिहास में कुछ अपनी पारिभाषिक संज्ञाएं हैं, जो दूसरे इतिहासों में नहीं हैं। इसलिये अभारतीय ऐतिहासिक आधार भारतीय इतिहास का स्पष्टीकरण नहीं कर पाते। इन इतिहासों के लिये सर्वथा भारतीय स्पष्टीकरण होना चाहिये।

भारत के पड़ोसी राष्ट्रों में ऐसी कुछ संज्ञाएं यहां से ली गई हैं। परन्तु उन देशों में उनके तात्विक अर्थ बहुत कम समझे गये हैं। इसलिये उनके अर्थ भी हमें भारतीय दृष्टि से समझने की आवश्यकता है। ईरान, बेबीलोनियां, मिस्र, ग्रीस, जावा, सुमात्रा, लंका तथा चीन आदि देशों में बहुत प्राचीन इतिहास है, जिसमें भारतीय संस्मरण भी बहुत हैं, किन्तु उन देशों में रहने वाले लोग भी इतिहास की उस वास्तविकता को नहीं समझते। क्योंकि वे भारत की ऐतिहासिक परिभाषाएं नहीं जानते। यह हमारा कर्तव्य है, हम उन्हें अपनी जानकारी करायें।

भारत के इतिहास में सबसे महत्वपूर्ण शब्द 'आर्य' है। ऋग्वेद से लेकर पीछे के सारे साहित्य में आर्य शब्द मिलता है। आर्य का एक ऐतिहासिक अर्थ है, और वह है 'आस्तिकवादी'। विश्व को आर्य की सबसे बड़ी देन 'आस्तिकवाद' है। वह सदैव से अपने को अमर मानकर चला है। उसने अपने नियंता को भी अमर माना है। और इस प्रकार उसने अनादि से अनंत को मिलाकर एक कर दिया है। आर्य कभी मरता नहीं। आर्य का अंत कभी नहीं होता—उसमें अविच्छिन्न चेतना का प्रकाश है।[2] इसलिये उसका जीवन

1. यो वै भूमा तदमृतम् अथ यदल्पं तन्मर्त्यम्॥ —छन्दोग्य, उ० 7/7/24
2. उरुज्योतिः पप्रथुः आर्याय। ऋग्वेद.
शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्राः। श्वेताश्वतर उपनि० अध्याय 2/5

पथ सदैव प्रकाशमान है। गीता का यह वाक्य आर्य के जीवन का विश्लेषण है—

नायं हन्ति न हन्यते।

न वह किसी की हत्या करता है और न कोई उसकी हत्या कर सकता है। कृति एक प्रवाह है, मनुष्य देह पानी के बुद्-बुद् की भांति उसी में बनता है और उसी में विलीन हो जाता है। किन्तु प्रवाह अविच्छिन्न चलता ही रहता है। इसीलिये कितने ही इन्द्र, कितने ही ब्रह्मा और विष्णु युगों-युगों तक होते ही चले गये, क्योंकि उनमें कृति की धारा अविच्छिन्न थी। शरीर सैकड़ों हुए और विलय हो गये। उनके लिये विषाद होना ही अनार्यता है।

ऋग्वेद में आर्य और दस्यु दो प्रकार के राष्ट्र लिखे गये।[1] आर्य यह ध्येय लेकर बढ़ा कि वह एक दिन दस्युओं को भी आर्य विचारों का बनाकर छोड़ेगा।[2] आर्य वंश के होकर भी जो नास्तिक थे, उन्हें अव्रत कहा जाता था। ऋग्वेद के मंत्र में भी 'अव्रतान' को अनुशासन में रखने का आदेश है। धार्मिक निर्णयों में अव्रतों को बहिष्कृत करने का आदेश मनु ने भी लिखा है।[3] किन्तु अव्रतों को भी आर्य बनने का द्वार खुला रहा है। इस ध्येय के लिये आर्य ने बड़े-बड़े बलिदान किये। आर्य की विजय के इतिहास की पृष्ठभूमि में अस्तिकवाद का विस्तार करना ही एक प्रेरणा रही है। इस भाव की गौरव रक्षा के लिये उसने अपने शरीर को तिनके की भांति उत्सर्ग करने में कभी आगा-पीछा नहीं किया। वह जन्म और मरण को अपरिहार्य मानकर बढ़ा। और जो पग उसने एक बार बढ़ा दिया, पीछे नहीं हटा।

किरात, हूण, आन्ध्र, पुलिन्द, पुल्कस, आभीर, कङ्क, यवन और खस आदि कितनी ही दस्यु (नास्तिक) जातियों से उसने सम्पर्क स्थापित किया और उनमें से अधिकांश को उसने अस्तिकवाद की छत्रछाया में संगठित कर दिया।[4]

संगठन ही उसका सामाजिक आदर्श था। देव, नाग, यक्ष, गंधर्व और किन्नरों के पंचजन में विभक्त होकर भी वह एक था। इसीलिये वह कहा करता था "एको देवः सर्वभूतेषु गूढ़ः।" हम संख्या में कितने भी हों, किन्तु प्रत्येक में एक ही देवता है। इस मार्ग से विचलित होना ही उसकी पराजय हुई। नाग और गंधर्व इस दिशा में जय और पराजय दो किनारों के बीच इतिहास की जिस धारा का निर्माण करते रहे, वही स्वर्ग को बहाकर ले गई। नागों ने देवों के विरुद्ध गृह कलह को इतना बढ़ावा दिया कि दस्युओं की बड़ी-बड़ी सेनायें संगठित कर डालीं। शंकर की सेना में टेढ़ीमेढ़ी शकल-सूरतों के जिन सेनापतियों का उल्लेख हम पढ़ते हैं, वे दस्युओं के दल ही हैं जो देवों का दलन करने के लिये नागों ने संगठित किये थे। इसमें भी संदेह नहीं कि दक्षिण भारत विजय करके सम्पूर्ण आर्यावर्त्त एकाकार करने का श्रेय भी नागों को ही है। अय्यर (आर्य), नय्यर (अनार्य) का नाममात्र अंतर भले ही रहा हो, राष्ट्रीयता सबकी एक हो गई।

---

1. विजानीह्यार्यान्ये च दस्यवो बर्हिष्मते, रन्धयाशासदव्रतान्। —ऋग्वेद, 1/51/8
2. कृण्वन्तो विश्वमार्यम्॥ ऋग्वेद
3. अव्रतानाममन्त्राणां, जातिमात्रोपजीविनाम्।
   सहस्रशः समेतानां, परिषत्वं न विद्यते॥ मनु०
4. श्रीमद्भागवत पुराण, स्कन्ध, 2/4/18

इस विजय में आस्तिकता ही पृष्ठभूमि बनी। वह शस्त्र विजय नहीं धर्म विजय थी।

दूसरा महत्वपूर्ण नाम 'देवता' है। देवता शब्द बहुत सारगर्भित है। भारतीय इतिहास के देवता शब्द के जितने भाव हैं, उतने भाव वाला कोई शब्द शायद ही हो। देवता शब्द असामान्य जीवन क्षमताओं का व्यंजक है। दिवुधातु से देवता शब्द निष्पन्न हुआ है। जिसका अर्थ—क्रीड़ा, विजय की कामना, व्यवहार पाटव, तेजस्विता, स्तुति योग्य, मोदमय, आत्माभिमान, निद्रा, सौन्दर्य और प्रगतिशीलता—इन भावों को अभिव्यक्त करता है। इन गुणों का अतिरेक जहां भी हो, हमारे पूर्वज वहीं देवत्व की भावना करते रहे हैं। देव पुल्लिग और देवता स्त्री लिंग है।

साधारणतः अवयवों में अवयवी का आभास देवता की सत्ता है। परिधि से केन्द्र की ओर बढ़ना देवता की उपासना का अनुष्ठान है। अनेकों में एकत्व ढूंढना ही देव पूजा हैं।[1] भेद में अभेद और वैर में प्रेम लाओ, बस, देव दर्शन हो गये। देवताओं की कल्पना तीन प्रकार की है—

1—आधिदैविक (Celestial)

2—आधिभौतिक (Material)

3—आध्यात्मिक (Spiritual)

वस्तुतः सम्पूर्ण जगत् इन्हीं तीन कक्षाओं में विभक्त है। तीनों में देवत्व का साक्षात्कार कैसे हो यही जान लेना सबसे बड़ा तत्व ज्ञान है।[2]

आधिदैविक देवता जगत् की नियामक शक्तियों में निहित हैं। यह विश्व सूर्य से प्रकाशित होता है। किन्तु सूर्य किससे प्रकाशित होता है? वह प्रकाश का देवता ही परमेश्वर है।

आधिभौतिक—जिन पंचभूतों से जगत् का निर्माण हुआ है, उनमें रहने वाला दिव्य भाव आधिभौतिक देवता है। अग्नि और वायु में जीवन की जो शक्तियां हैं, वे देवता ही हैं। यह पंचभूत उन्हीं शक्तियों का प्रतिनिधित्व करते हैं, इसलिये यजुर्वेद में पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश को देवता कहा है।

तीसरे **आध्यात्मिक** देवता हैं, जो हमारे अंदर की शक्तियां ही हैं। महान् शक्तियों का केन्द्र होने के कारण यह मनुष्य भी देवता बन गया है, यदि वह अपनी शक्तियों से परिचित होकर उन्हें कृति में प्रस्तुत करे। ब्रह्मा, विष्णु और शिव ऐसे ही देवता थे। राम, आत्रेय पुनर्वसु, धन्वन्तरि और कृष्ण भी ऐसे ही। उपनिषदों में सम्पूर्ण ब्राह्माण्ड को तेतीस देवताओं में विभाजित किया गया है—

8 वसु
11 रुद्र
12 आदित्य
1 जीवात्मा
1 परमात्मा
33 देवता

1. वृहदारण्यक उप० अ० 3
2. द्यावाभूमीजनयन्देव एकः। ऋग्वेद

सम्पूर्ण विज्ञान (Science) और अध्यात्म (Metaphysics) इन्हीं तेंतीस में अन्तर्भूत हैं।[1]

मनुष्य के सबसे निकट देवता माता-पिता और आचार्य होते हैं। क्योंकि जीवन का पथ वे ही प्रदर्शित करते हैं। इसलिये दीक्षांत की यह शिक्षा स्मरणीय है—मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्यदेवो भव'। और देवता दूर हैं, सबसे निकट के इन देवताओं को पहचानो। अन्यथा जीवन-यात्रा ही संभव नहीं। छान्दोग्य और वृहदारण्यक उपनिषदों में इसी देवता तत्व का विस्तृत विवेचन किया गया है। भूमा ही देवता है क्योंकि वह अमर है।

हमारे ऐतिहासिक साहित्य में एक शब्द और आता है, वह है—भगवान्। भगवान् क्या है ? यह जिज्ञासा सभी को है। भारतीय इतिहास में यह भी एक पारिभाषिकसंज्ञा है। सम्पूर्ण ऐश्वर्य, शौर्य, यश, लक्ष्मी, ज्ञान तथा वैराग्य, इन छः गुणों को 'भग' कहते हैं।[2] यह भग जिसे प्राप्त हो वही भगवान् है। भगवान् इन्द्र, भगवान् विष्णु अथवा भगवान् धन्वन्तरि में भगवान् का अर्थ उस युग की प्रतिष्ठा है जो इन्हें उपर्युक्त गुणों के कारण प्राप्त हुई थी। वहुधा भगवान् का असंतुलित अर्थ लोक व्यवहार में चल गया है। उसे संतुलित कर लेने की आवश्यकता है।

ऊपर के छहों गुण एक-दूसरे के पूरक हैं। अकेले ऐश्वर्यशाली व्यक्ति को भारतीय इतिहास में कभी भगवान् की पदवी नहीं मिली। ऐश्वर्य पाकर विलासी, सेठ साहूकार बनकर घर में पड़ा रहने वाला कभी भगवान् नहीं होता। ऐश्वर्य पाकर शौर्य होना चाहिये। शौर्य नहीं, तो पुलिस के भरोसे ऐश्वर्य नहीं टिकता। वह लुट ही जाता है। ऐश्वर्य और शौर्य पाकर दूसरों पर अत्याचार करने वाला भी भगवान् नहीं हो सकता। उसे यशस्वी होना चाहिये। वदनाम व्यक्ति भगवान का सम्मान नहीं पा सकता। तीन गुण हों लेकिन कंजूस होकर भगवान पदवी का अधिकारी नहीं होता। आतिथ्य होना चाहिये। दान, दक्षिणा और परमार्थ द्वारा योग्य व्यक्तियों को आश्रय देना चाहिये। आश्रय में आने वाले को सन्मार्ग दिखाने का ज्ञान भी होना चाहिये। उपर्युक्त पांचों गुण होने पर भी लिप्सा रही तो भी जीवन मानो अंधकूप में पड़ा रहा। इसलिये सवसे मिलकर भी वैराग्य की भावना रखो। निष्काम कर्म करो, ताकि लिप्सा से होने वाला क्लेश न हो। इन गुणों का समुच्चय जिनके चरित्र में है, वे भगवान् बन गये। भारतीय इतिहास में अनेकों भगवान् हैं, वे इन्हीं गुणों की गरिमा से गौरवान्वित होकर भगवान् पदवी के अधिकारी बने थे।

क्योंकि कृति के आधार पर एक महापुरुष को भगवान् होने का यश मिला, इसलिये समान कृतित्व वाले व्यक्ति उत्तरोत्तर प्रथम व्यक्ति के ही अवतार माने जाते रहे हैं। भारत का प्राचीन इतिहास अवतारों से भरा है। यूरोप के इतिहास लेखकों को भारतीय इतिहास के अवतारों की पहेली अभी तक समझ में नहीं आई। उसका आधार आचार

---

1. बृहदारण्यक, अ० 3/9/3
2. ऐश्वर्यस्य समग्रस्य शौर्यस्य यशसः श्रियः।
   ज्ञानवैराग्ययोश्चैवषण्णां भग इतीरणा॥

शास्त्र की वे मर्यादायें हैं, जिनका शिलान्यास भारतीयों ने ही किया था। इस भावना से कि भारतीय इतिहास व्यक्ति को नहीं, प्रत्युत कृति को ही वंदनीय मानता है। महाभारत का यह सिद्धान्त भारतीय इतिहास का ही सिद्धान्त है—

गुणाः सर्वत्र पूज्यन्ते, पितृवंशो निरर्थकः।
वासुदेवं नमस्यन्ति वसुदेवं न मानवाः॥[1]

महान् व्यक्तियों के जीवन से संबंधित स्थान तीर्थ बन गये। इतिहास ने भूगोल को भी गरिमा प्रदान की है। राम और कृष्ण चले गये, किन्तु अयोध्या और वृन्दावन आज भी तीर्थ हैं। तीर्थ का अर्थ है घाट, जो जलाशय पर बनाये जाते हैं, जिसका उपयोग स्नान करने तथा मलिनता धोने के लिये किया जाता है। मलिनता बाह्य और आंतरिक दोनों होती हैं। बाह्य और आंतरिक मलिनताएं जहां धुल सकें वह तीर्थ है। बाह्य मल पानी से धुलते हैं, आंतरिक मल धोने के लिये पावन चरित्र और पावन विचार चाहिये। वे जहां मिलें वहीं तीर्थ है। इस दृष्टि से भगवान् पदवी के महापुरुष जिन स्थानों में हुए वे तीर्थस्थान बन गये, क्योंकि वहां पावन आचार-विचारों की निरन्तर चर्चा से आंतरिक मल धुलते हैं। इस कल्याण के लिये हमें अपने इतिहास और भूगोल को सदैव स्मरण रखने की आवश्यकता है।

हम अपने इतिहास में नृसिंह अवतार की एक कथा पढ़ते हैं। असुर सम्राट हिरण्यकश्यप उन दिनों दुर्दान्त आक्रांता बना हुआ था। बड़े-बड़े राष्ट्र उसने हिला दिये। स्वर्ग पर भी उसने आक्रमण किये। इन्द्र के दुर्ग, तीक्ष्ण अस्त्र-शस्त्र, सुदृढ़ सेना और अभेद्य कवच उसने बेकार कर दिये। जिस दिशा में वह अपना शिविर डाल देता उस दिशा को प्रतिदिन तीन बार देवता लोग नमस्कार करते। कहीं आक्रमण न कर दे। किन्तु नृसिंह भगवान् ने उस हिरण्यकश्यप का अन्त कर दिया।[2] जहाँ यह अन्त किया गया था, वह स्थान उत्तर कुरु ही था, जिसे आज हम सिंकियांग कहने लगे हैं। नृसिंह के इस पराक्रम की पावन स्मृति में उत्तर कुरु का दूसरा नाम हमारे इतिहास में हरिवर्ष रखा गया।[3] वृन्दावन, अयोध्या, काशी, बद्रीनाथ जैसा ही पावन तीर्थ हरिवर्ष भी है। जब तक हरिवर्ष का उल्लेख न किया जाय, भारतीय इतिहास के पराक्रम की कथा अधूरी रहती है। विष्णु जैसे महान लोक नायक का आविर्भाव हरिवर्ष की पुण्य स्मृतियों में ही आता है। इसीलिये उनकी पावन कृति के अनुचर नृसिंह विष्णु के अवतार हुए। उसके बाद अवतारों की परम्परा स्वर्ग से नीचे उतर आयी। धन्वन्तरि और श्रीकृष्ण भी विष्णु के ही अवतार बने, क्योंकि उनकी कृतियां विष्णु के चरित्र की ही अनुगामिनी थीं।

नृसिंह भारत का प्रधान सेनापति था। आर्यावर्त्त के निर्माण में उसका पराक्रम उल्लेखनीय है। हिरण्यकश्यप को परास्त करने के उपरांत नृसिंह ने कुछ समय के लिये

---

1. गुण ही सर्वत्र पूजनीय है। पिता के वंश का उल्लेख निरर्थक है। जनता भगवान कृष्ण को पूजती है, उनके पिता वसुदेव को नहीं।
2. शिशुपालवध (माघ) 1/42-47
3 श्रीमद्भागवत पुराण, स्क० 5/18/8

सम्पूर्ण असुर राष्ट्र पर भारत का शासन बैठा दिया। बेबीलोनियां और मैसोपोटामियां में अभी तक अत्यन्त श्रद्धा से जिस देवता की पूजा की जाती है, वह नरमसीन है, जिसकी आकृति सिंह और अश्व का मिश्रित रूप है। यह नर मसीन नृ+सिंह का ही अपभ्रंश है।

हरिवर्ष आज भी हमारा तीर्थ है, क्योंकि उसकी स्मृतियां हमारे जीवन में आत्माभिमान और पराक्रम का संचार करती हैं। इतिहास के संस्मरण यह स्पष्ट करते हैं, एक युग था जब देशदेशांतरों के लोग हरिवर्ष की तीर्थयात्रा करने जाया करते थे। सुश्रुत ने लिखा है—ब्रह्मा और इन्द्र आदि वैज्ञानिकों ने सोम से जो अमृत नाम का प्रयोग आविष्कार किया था, उसका नियम पूर्वक प्रयोग करने पर कान्ति, मेधा और पराक्रम प्राप्त होते हैं। यहां तक कि वह व्यक्ति क्षीर सागर, नन्दन वन और उत्तर कुरु में जाने योग्य हो जाता है।[1] सुश्रुत का यह लेख दो बातें स्पष्ट करता है—प्रथम यह कि इन स्थानों पर पहुंचने के लिये व्यक्ति को अधिक शारीरिक और बौद्धिक योग्यता अपेक्षित थी, दूसरे यह कि इन स्थानों में पहुंचने के लिये जनसाधारण में वही उत्सुकता थी जो तीर्थों में पहुंचने के लिये जनता में आज तक है।

मानसरोवर स्वर्ग का सबसे अधिक रमणीय और प्रसिद्ध तीर्थ था। न केवल जलाशय होने के कारण किन्तु उसके चारों ओर बड़े-बड़े ऋषि, महर्षि, तत्ववेत्ता और वैज्ञानिक आवास करते थे। उनका सत्संग जिज्ञासुओं के मानस को सरोवर में विहार करने वाले राजहंसों के समान अमल एवं धवल कर देता था। वह इन्द्रलोक और नागलोक की सीमा थी। काश्मीर में भी वैसा ही एक सरोवर शोभित रहा है। धन्वन्तरि के युग में पहले मानसरोवर को 'बृहन्मानस' और दूसरे काश्मीर के सरोवर को 'लघु-मानस' कहा जाता था।[2] युग बदले, शासक बदले और नाम बदल गये। ब्रह्मलोक थियानशान हो गया। हरिवर्ष उत्तर कुरु होकर अब सिकियांग हैं। इन्द्रलोक त्रिविष्टप और उसके बाद तिब्बत बना है। लघुमानस डल झील कहा जाने लगा। भूगोल के ये सब सन्निवेश तो काल्पनिक नहीं हैं। वे हमारे इतिहास की सत्यता की साक्षी देते हैं।

हमारे घरों में प्रतिदिन इन तीर्थों की कथायें और चर्चायें कुछ यों ही नहीं आ गयी हैं, उनमें इतिहास की सत्यता है जिस पर विश्व का इतिहास खड़ा है। लोग भारतीयों को रूढ़ि के घेरे में बंद कहते हैं, किन्तु सत्य यह है कि हमारे इतिहास को विदेशियों ने भ्रांति के एक घेरे में परिवेष्ठित कर दिया है। इस घेरे की रूढ़ियों को तोड़ो, और तब देखो, इतिहास के क्षितिज पर कौन प्रकाशमान है?

कालिदास ने कहा था, एक युग था, सारे पर्वतों ने हिमालय को बछड़ा बनाया और सुमेरु शैल को दोग्धा। बस इस माध्यम से धरित्री का धन धान्य दोहन होता रहा है।[3] हमें मैकडानल, कीथ और एच० जी० वैल्स की साक्षी पर विश्वास होता है और

---

1. क्षीरोदं शक्रसदनमुत्तारांश्च कुरूनपि।
 यत्रेच्छति स वा गन्तुं तत्राप्रतिहता गतिः। —सु० चि०, 29/17
2. कश्मीरेषु सरो दिव्यं नाम्ना क्षुद्रक मानसम्॥ सु० चि० 29/30
3. यं सर्वशैलाः परिकल्प्य वत्सं मेरौ स्थिते दोग्धरि दोहदक्षे।
 भास्वन्ति रत्नानि महौषधीश्च पृथूपदिष्टां दुदुहुर्धरित्रीम्॥ —कुमारसंभव—1।

कालिदास की इस साक्षी पर क्यों नहीं ? क्या इसलिये कि वह भारतीय थे ? तो खेद है कि हम बाहर से स्वतंत्र होकर भी मन से गुलामी न हटा सके। सत्य यही है कि सुमेरु (थियानशान्), कैलास और हिमवान् की समष्टि में ही स्वर्ग का साम्राज्य समृद्ध हुआ था। और हम ही उसके नियंता थे।

लोग जिसे आज इतिहास और भूगोल कहते हैं हम उसे धर्मशास्त्र कहते आये हैं। अपने इतिहास और भूगोल की सुरक्षा के लिये विष्णु सहस्र नाम, शत रुद्री, दत्तात्रेय सहस्र नाम, गंगा स्तोत्र, यमुनाष्टक आदि न जाने कितने स्तोत्र रचे गये, जो बदलते हुए युगों में हमारे प्राचीन इतिहास और भूगोल का ही परिचय देते हैं। शतपथ और गोपथ, कठ, छान्दोग्य और बृहदारण्यक, रामायण एवं महाभारत, गीता और पुराण इतिहास और भूगोल के अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं। हम कृति के पुजारी थे इसलिये हमने उनकी कृति को याद रखा। कृति ही मनुष्य जीवन का सार है। उनके चित्र और जन्मपत्र गौण समझकर छोड़ दिये गये। कृति के आधार पर उनके जीवन का जो अंश महत्वपूर्ण है, वह हमें याद है।

रामनवमी और जन्माष्टमी हमें भूली नहीं हैं। होली, दिवाली और अक्षय तृतीया हम सदैव मनाते हैं। वृन्दावन, अयोध्या, काशी और द्वारिका हमारी पूजा की वेदिकाएं हैं। तनिक देखिये—

आली, मोहे लागत वृन्दावन नीके।
घर-घर श्याम सुन्दर की सेवा,
भोजन दूध दही के॥

आज हम जिसे भूगोल और इतिहास कहने लगे हैं, उसमें क्या इससे अधिक कुछ और है ?

आज से तीन हजार वर्ष पूर्व भारत के विद्वानों को यह अनुभव होने लगा था कि एक दिन आयेगा जब लोग वेद और वैदिक साहित्य की मौलिक भाषा को नहीं समझ सकेंगे। इसलिये उन्होंने निघण्टु और निरुक्त जैसा साहित्य तैयार किया। सत्य यह है कि यदि निरुक्त शास्त्र न होता तो आज वेद के समझने वाले व्यक्ति दुर्लभ थे। निरुक्त शास्त्र के रहते भी वेदार्थ तक पहुंचना कठिन है। उसके अभाव में यह असंभव था। ठीक वैसे ही भारतीय इतिहास के लिये एक दूसरे निरुक्त शास्त्र की आवश्यकता है। इतिहास और उसके अंत:पाती अनेक विभागों को इस अध्याय में मैंने इसीलिये लिखा है। तो भी धर्म-अधर्म, पाप-पुण्य, वरदान-अभिशाप, अवतार, अन्तर्धान, जन्म, मृत्यु, परिग्रह, नियोग, विनियोग, राजा, प्रजा, देश, राष्ट्र, लोक, परलोक, श्रद्धाभक्ति, यज्ञ-याग आदि और भी कितने ही शब्द हैं जो भारतीय इतिहास के सूत्र हैं। इनका अर्थ भारतीय दृष्टिकोण से होना चाहिये। वह दृष्टिकोण प्रस्तुत करने के लिये ही निरुक्त जैसे व्याख्या ग्रन्थ की आवश्यकता है।

धर्म शब्द हमारे इस युग में एक ऐसी पहेली है जिसका सर्वसम्मत उत्तर निकला ही नहीं। धर्म का बहिष्कार हो रहा है। लोग उसके परिणामों की ऐसी कल्पनाएँ लिये फिरते हैं, जिनसे भय लगता है। परन्तु यह भय उन भ्रांत धारणाओं का परिणाम है

जो भारतीय इतिहास के अज्ञान से उत्पन्न हुई हैं। भारतीय इतिहास में धर्म शब्द देश, काल और पात्र को देखकर अपने कर्तव्य को प्रस्तुत करता है। संभवतः अंग्रेजी के 'Duty' शब्द से वह स्पष्ट हो सके। भारतीय इतिहास की दृष्टि में जब हम धर्म के बहिष्कार की बात कहते हैं। तब अपने कर्तव्य का परित्याग करने की योजना बनाते हैं। किन्तु कर्तव्य से पराङमुख होकर समाज का कल्याण कब हुआ है?

साहित्यिक दृष्टि से धर्म की व्याख्या जितनी कठिन है, व्यावहारिक दृष्टि से वह हजार गुनी कठिन है। किन्तु जितनी कठिन है उतनी ही आवश्यक भी। पदे पदे कर्तव्य निर्णय के बिना जीवन में हम एक पग नहीं चल सकते। प्रत्येक पग पर धर्म की आवश्यकता है। बहुत से धर्म मनु, याज्ञवल्क्य और आपस्तम्ब जैसे विद्वानों ने लिखकर धर्म शास्त्र बना दिये। परन्तु मनुष्य जीवन उतने से निश्चित नहीं होता। स्वयं भी लाखों-करोड़ों निर्णय करने ही पड़ते हैं। इसलिये धर्म से पीछा नहीं छूटता।

राम को प्रतिष्ठा इसलिये मिली कि उन्होंने राज्य छोड़कर पिता की आज्ञा मानी। किन्तु प्रह्लाद को प्रतिष्ठा इसलिये मिली कि उसने सदैव पिता की अवज्ञा की। श्रवणकुमार का सम्मान माता-पिता की सेवा करने के कारण हुआ। किन्तु परशुराम का सम्मान माता की हत्या के कारण हुआ। सम्राट् दिलीप को यश मिलने के आधार गुरु का आज्ञाकारी होना था। किन्तु अर्जुन का यश गुरु का वध करने के कारण हुआ। गौरी अपने कुरूप गणेश को छाती से लगाये रही किन्तु गंगा ने[1] अपने सुन्दर-सुन्दर बेटे मार डाले। दशरथ ने अपने बेटे के लिये प्राण त्याग दिये, किन्तु मोरध्वज ने अपने बेटे को आरा लेकर स्वयं चीर डाला। तब धर्म क्या है? गीता में भगवान कृष्ण ने इसीलिये कहा था—'किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः[2]।' तो भी उसका निर्णय हमें ही करना है। धर्म का बहिष्कार करके हम जीवन के पथ पर एक पग भी नहीं चल सकते। रूढ़ियों और अंधविश्वासों में धर्म को घसीटना भारतीय इतिहास की अवहेलना है।

श्रद्धा और भक्ति जैसे महत्वपूर्ण पथ में भी इतिहास का ही अवलम्बन रहता है। श्रद्धा मानसिक पूजा है, और भक्ति कायिकी पूजा। विचारकों ने भक्ति को नौ प्रकारों में विभक्त किया है[3]—

1. श्रवण
2. कीर्तन
3. स्मरण
4. पादसेवन
5. अर्चना
6. वन्दना
7. दास्य
8. सख्य
9. आत्मसमर्पण

इन सबका विश्लेषण कीजिये, इनकी पृष्ठभूमि में आपको इतिहास की झांकी

1. शान्तनु की पत्नी।
2. धर्माधर्म के निर्णय में चोटी के विद्वान् भी उलझ गये। —गीता
8. श्रवणं कीर्त्तनं विष्णोस्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वंदनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥ श्रीमद्भागवत 7/5/23

दिखाई देगी। भागवत धर्म के अनुयायी सूर, मीरा और तुलसी ने अपने 'सूरसागर', 'भक्ति पदावली' और 'रामचरित मानस' में जो कुछ लिखा, उसकी पृष्ठभूमि इतिहास ही हैं। कहीं राम, कहीं श्याम—

1. श्रवण—'हरि हौं पतित पावन सुने'।
2. कीर्तन—'राम भज, राम भज, राम भज बावरे'।
3. स्मरण—'हरि को सुमिर सुमिर मन मेरे'।
4. पादसेवन—'मन रे परसि हरि के चरन'।
5. अर्चना—'जागिये वलि गई मोहन'।
6. वन्दना—'वन्दौ चरण कमल रघुराई'।
7. दास्य—'प्रभु मोरे औगुन चित न धरो'।
8. सख्य—'रघुवर ! तुमको मेरी लाज'।
9. आत्मसमर्पण—'मेरे तो गिरिधर गोपाल दूसरो न कोई'।

मानसिक पूजा की दृष्टि रखें, या कायिकी पूजा की, क्या इतिहास की अवहेलना करके एक पग भी रखा जा सकता है? तारीखें और सन् संवत् की सूची बनाने से इतिहास पूर्ण नहीं होता। उसका गौरव कृति में है। देशकाल और पात्रों के समन्वय में कृति को समन्वय करना ही इतिहास है। अपने जीवन के उपक्रम और उपसंहार का समन्वय करो तथा अपनी कृति को कवि की इस कसौटी पर कसो—

जब तुम आये जगत में, जग हांसा तुम रोय।
ऐसी करनी कर चलो तुम हांसो जग रोय॥

जब हमारा जन्म हुआ परिवार में अनेक अनेक माताओं ने मिलकर इतिहास गाया—

कौसल्या के जन्मे राम
अवध की शोभा भई।

जब हमने इस नश्वर संसार से महाप्रस्थान किया, शत-शत परिजनों ने कंधे पर अरथी उठाते हुए इतिहास ही कहा—

रामनाम सत्य है !

वह सत्य ही इतिहास में ढूंढना है।

प्रागैतिहासिक संस्मरण

भारत के ही नहीं, विश्व के सम्पूर्ण धार्मिक एवं ऐतिहासिक वाङ्मय में एक महान् जल-प्रलय का उल्लेख है[1]। एक विशाल जलप्लावन हुआ। समुद्र का जल मर्यादा तोड़कर भूमि पर आया। प्रचंड मेघमाला आकाश में उमड़ पड़ी और भीषण वर्षा से गिरते हुए जल में चराचर डूब गये। सप्तर्षियों के साथ कुछ प्राणी बच गये। एक दिव्य नौका में बैठकर किसी मछली के सहारे उन्होंने उस जलप्लावन को पार करके नाव हिमालय पर सुमेरु के किनारे लगा ली। मनु उनमें प्रमुख थे। बचे हुए उन लोगों ने अपनी सन्तति का विस्तार करते हुए एक समाज संस्था बना ली। उसका इतिहास लिखने का न तब समय ही था, न साधन ही, तो भी मनुष्य ने जिस रूप में उसे याद रखा उसका ही उल्लेख वह अपने प्राचीन संस्मरणों में करता आया है। इस जलप्लावन से पूर्व क्या था? इसका न किसी को स्मरण है और न उसकी रूपरेखा ही शेष रह सकी। यह निश्चित है कि मनुष्य जहां कहीं रह गया, वह इतनी ऊंची जगह होनी चाहिये जो पानी की लहरों से सुरक्षित रह सकी हो।

वे हिमालय के शिखर ही थे। इन अधित्यकाओं में जो लोग शेष बचे थे, वे नितान्त साहसी और प्रकृति के वैज्ञानिक तत्वों के गम्भीर अध्येता थे। उन शिखरों के निवासी देवता थे और उनका राष्ट्र स्वर्ग।

---

1. (अ) ततः समुद्र उद्वेलः सर्वतः प्लावयन्महीम्।
वर्धमानो महामेघैर्वर्षद्भिः समदृश्यत॥ भागवत, स्क० 8/24/41

(ब) तम आसीत्तमसा गूढ़मग्रे प्रकेतं सलिलम्
सर्वमा इदम्॥ ऋग्वेद, 10/129/3

"ततः समुद्रोअर्णवः समुद्रादर्णवादधि सम्वत्सरो अजायत॥" ऋग्वेद, 10/190/1-2

(स) (क) In the begining God created the heaven and the earth.

(ख) And the earth was without form, and void, and darkness was upon the face of the deep. And spirit of God moved upon the face of the waters......And God said let there be a firmament in the midst of the waters, and let it divide the waters from the waters.—Holy Bible, 1st. Book of Moses. Chap. II—VI

(ग) नोहकी कथा जिन्दावेस्ता

(घ) They knew not until the flood came, and took them all away. —*St. Mathew Ch. 24/39*

हम यहां पर जो लिखने चले हैं, वह इसी समाज के इतिहास से प्रारंभ होता है। ऋग्वेद ने यह लिखा है कि इस जलप्लावन से पूर्व भी ऐसी ही उन्नत समाज संस्था थी। ऐसे ही सूर्य और चन्द्र। ऐसे ही अन्तरिक्ष और पृथ्वी।[1] उन तत्वदर्शी ऋषियों की इस घोषणा से पुराकल्प का जो भी अनुमान हम लगा सकते हैं, लगा लें।

ऋग्वेद में एक सुदृढ़ और सुरक्षित नौका की अभिलाषा हमें उस नौका की ओर इंगित करती है जिस पर बैठकर मनु ने उस महान् जलप्लावन को पार कर हिमालय के उत्तुंग श्रृंगों की शरण पाई थी[2]। जलप्लावन का भय न होता तो 'स्वरित्रा' 'सुप्रणीता', और 'अस्रवन्ती', नौका की अभिलाषा ही क्यों होती?

ज्योतिष शास्त्र के अनुसार प्रत्येक मन्वन्तर के अन्त में इस प्रकार के खंड प्रलय अवश्यम्भावी हैं। वे चाहे प्रलय के रूप में हों या हिम प्रलय के रूप में। वेद में "शतं हिमाः" आदि प्रार्थनायें उन्हीं प्रलयों की ओर इंगित करती हैं। ऐसी भीषण प्रलयों में समाज संस्था भंग होना स्वाभाविक है। धीरे-धीरे फिर नये निर्माण होते हैं, नई समाज संस्थायें बनती हैं, और विश्व का नवीकरण हो जाता है। उससे पूर्व की कथायें कौन कह सकता है? मनु ने उसी ओर इंगित किया है—

आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम्।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिवसर्वतः॥[3]

मानव धर्मशास्त्र से पूर्व श्रुतियों एवं उपनिषदों में भी वही विचार मिलते हैं—

तम आसीत्तमसा गूढ़मग्रे।
तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत।
सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकेमेवाद्वितीयम्। —छान्दोग्य[4]

इन जल प्रलयों या हिम प्रलयों का उल्लेख करते हुए सूर्य सिद्धान्त में लिखा है—

युगानां सप्ततिः सैका मन्वन्तरमिहोच्यते।[5]
कृताब्द संख्या तस्यान्ते सन्धिः प्रोक्तो जलप्लवः॥

इकहत्तर चतुर्युगी का एक मन्वन्तर होता है। सतयुग के वर्षों के तुल्य सत्रह लाख अट्ठाईस हजार (17,28,000) वर्ष सन्धिकाल में जलप्लावन होता है, जिसमें सृष्टि का अधिकांश भाग नष्ट हो जाता है। किन्तु यह महाप्रलय 'कल्पान्त' नहीं है,

---

1. सूर्याचन्द्रमसौधाता यथा पूर्वमकल्पयत् दिवञ्च पृथिवीञ्चान्तरिक्षमथो स्वः।—ऋग्वेद 10/190/3
2. सुत्रामाणं पृथिवी द्यामनेहसं सुशर्माणमदितिं सुप्रणीतिं दैवीं नावं स्वरित्रामनागसमस्रवन्तीमारुहेम स्वस्तये। —ऋग्वेद 10/63/10
3. यह सब अन्धकार से आच्छादित था। ज्ञाता और ज्ञेय का भेद न था। कोई वस्तु अपने स्वरूप में न थी, मानो सब कुछ सोया हुआ था। —मनुस्मृति, 1/5
4. प्रथम अन्धकार ही अन्धकार था। —ऋग्वेद, 10/129/3
   यह दीखने वाला संसार न था।
   प्रारम्भ में जगत का स्रष्टा ही शेष था।
5. 71 चतुर्युगी का एक मन्वन्तर और चौदह मन्वन्तर का एक कल्प होता है। वर्तमान में 7वां वैवस्वत मन्वन्तर चल रहा है। और अठ्ठाईसवीं चतुर्युगी का कलियुग।

क्योंकि इस में कहीं-कहीं प्राणी बच रहते हैं। कुछेक वृक्ष-वनस्पति भी। ऐसा ही जल प्रलय वैवस्वत मन्वन्तर के प्रारंभ में हुआ था। उत्तर ध्रुव की ओर जलप्लावन और दक्षिण की ओर हिमपात, जिसका वर्णन वैदिक साहित्य में मिलता है। ऐसी स्थिति में साक्षी और लेखक कहां मिल सकते हैं ? ऋग्वेद में उसी विवशता की अभिव्यंजना इन शब्दों में मिलती है——

को अद्धा वेद क इह प्रवोचत्।
कुत आजाता कुत इयंविसृष्टिः॥[1]

विश्व प्रति क्षण परिवर्तन और प्रगति के पथ पर चल रहा है। गया हुआ क्षण फिर लौटेगा नहीं। अनन्त क्षणों की साक्षियां संकलित करना कितना असम्भव है ? पृथ्वी के अक्ष परिभ्रमण, क्रान्ति परिभ्रमण, अयन परिवृत्ति, और याम्योत्तर परिवृत्ति के रूप में जो कुछ परिवर्तन हो रहे हैं, उनका लेखा कौन रख सकता है ? तो भी पृथ्वी के 360 अंशों को परिभ्रमण के आधार पर सत्ययुग, त्रेता, द्वापर और कलियुग के काल विभाग में प्रस्तुत करके भारतीय तत्ववेत्ताओं ने जो लेखा संजोया है, विश्व साहित्य में वह अन्यत्र कहां है ?

हमारी कृतियों के प्रत्येक संकल्प के साथ वह काल गणना इस प्रकार जोड़ी हुई है जिससे हम अपने इतिहास को भूल न जायें। उसका सिंहावलोकन ही संकल्प की भाषा है।[2] यह इतिहास की वह सूझबूझ है जो विश्व को केवल हम ही बता सकते हैं।

मनुस्मृति में कल्प, मन्वन्तर, चतुर्युगी, संवत्सर, मास, पक्ष, दिन आदि के परिगणन पर पर्याप्त विचार किया गया है।[3] भास्कराचार्य, वराहमिहिर, और लीलावती के लिखे हुये ज्योतिष एवं गणित शास्त्रों में सौर मण्डल के परिभ्रमण द्वारा प्रस्तुत होने वाली काल गणना का गम्भीर विचार है। किन्तु गणित की उन वैज्ञानिक गम्भीरताओं को भूलकर हम विक्रम और ईसा की वर्षगांठें मनाने में लग गये हैं। इस संकीर्ण दृष्टिकोण ने महान् इतिहास को हमारे लिये अपरिचित बना दिया है। इसका फल यह हुआ कि ज्यों-ज्यों हम अपनी मौलिक काल गणना से दूर हटते गये हैं, अपने इतिहास की वास्तविकता से भी दूर हट गये हैं। हम स्वयं अपने ऐतिहासिक काल की व्याख्या नहीं कर पायेंगे, तो दूसरे लोग हमारे इतिहास को काल्पनिक और मिथ्या ही कहेंगे।

ऋषि दयानन्द सरस्वती ने इस प्रसंग पर अपने ग्रन्थ 'ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका' में दूसरे अध्याय के अन्तर्गत विस्तृत विचार किया है। वह देखने योग्य है। तेंतालीस लाख बीस हजार वर्ष की एक चतुर्युगी होती है। इस प्रकार इकहत्तर चतुर्युगी का एक मन्वन्तर और चौदह मन्वन्तर का एक कल्प होता है ? प्रत्येक मन्वन्तर का अन्त होते-

---

1. उस स्थिति का साक्षी और उसका वर्णन करने वाला व्यक्ति कहां मिल सकेगा, जो यह बता सके कि यह सृष्टि कहां से आई और किसने बनाई ? —ऋग्वेद, 10/129/6
2. ओ३म् तत्सत्। श्री ब्रह्मणो द्वितीयप्रहरार्धे वैवस्वते मन्वन्तरे अष्टाविंशति तमे कलियुगे कलि प्रथमचरणे जम्बूद्वीपे भरतखण्डे आर्यावर्त्तैकदेशे अमुक सम्वतत्सरे········अयने········मासे।, इत्यादि
3. मनुस्मृति, अध्याय 1/60-80

होते एक जलप्लावन या हिम प्लावन होना स्वभाविक हो जाता है, क्योंकि पृथ्वी की 'याम्योत्तर परिवृत्ति' (दक्षिण से उत्तर को परिवर्तन) के कारण क्रान्ति वृत्त पर पृथ्वी की जो स्थिति होती है, वह जल और हिम प्लावन का कारण वन जाती है। भास्कराचार्य ने इसका जो विवेचन किया है हम उसे लिख आये हैं। मन्वन्तर के अन्त में आने वाला प्लावन खण्डप्रलय है। और कल्प के अन्त में आने वाला प्रलय 'महाप्रलय'।

इन प्रलयों के उपरान्त होने वाली रचना का उल्लेख करते हुए ही ऋग्वेद में कहा है कि सृष्टि की रचना में प्रति बार भिन्न-भिन्न तत्व नहीं आते किन्त यह यथापूर्व ही रहती है।[1] हम इतिहास की उस परिधि से चल रहे हैं जिससे पूर्व जलप्लावन या खण्डप्रलय आता है। चौदह मन्वन्तर होने पर एक कल्प पूरा होता है। हम सातवें मन्वन्तर में चल रहे हैं जिसका नाम वैवस्वत मन्वन्तर है। और अट्ठारहवां कलियुग।

महाकवि जयशंकर प्रसाद ने उस खण्डप्रलय का ही सजीव चित्र अपने शब्दों में दिया है—

ऊपर हिम था नीचे जल था,
एक तरल था एक सघन।
एक तत्व की थी प्रधानता,
कहो इसे जड़ या चेतन।।[2]

इस प्रलय में मानव जहाँ शरण पा सका वह हिमालय है। और उस पर जो समाज संस्था उसने बनाई वह स्वर्ग था।

---

1. सूर्या चन्द्रानसौधाता यथापूर्वमकल्पयत्। —ऋग्वेद 10/190/3
2. कामायनी।

स्वर्ग का भूगोल-इतिहास

मेरे पितामह श्रेष्ठि मनसारामजी वैष्णव धर्म के अनुयायी थे। वह बड़े ज़मींदार और प्रतिष्ठित व्यवसायी थे। तो भी इतने धर्मानुरागी कि सपरिवार मंदिर में भगवद्दर्शन तथा चरणामृत लिये बिना कभी भोजन न करते थे। वह क्या, परिवार में कोई नहीं। प्रातःकाल उठते ही मंगलाचरण, पुरुष सूक्त और नाना स्तोत्रों से घर का प्रांगण गूंज उठता था। मंदिर के अजिर में पुजारी, पंडित या पुरोहित कुछ-न-कुछ कथा कहते। अबाल-वृद्ध पारिवारिक व्यक्ति उसके सदस्य होते। श्रद्धा की यह धारणा जीवन की नवस्फूर्ति का स्रोत थी।

संवत् 1965 वि० (1908 ई०) की श्रावण वदी 6 को भगवान ने मुझे इस परिवार का एक सदस्य बनाकर भेजा। जिस वर्ष मैं आया, दुर्भाग्य यह कि मेरे पितामह उसी वर्ष अपना आसन सूना कर गये। मैं उनके सूने आसन की परिक्रमा ही आज तक लगाता रहा हूं। नये भाव, नई स्फूर्ति और आस्तिक्य भरा जीवन ही उसके प्रसाद हैं। उस शून्य को भी पितामह की प्राण प्रतिष्ठा ही अशून्य बनाये हुए है। किसी के रिक्त स्थान को आज तक विश्व में कोई भर नहीं सका। कालिदास ने ठीक कहा था—

शशिनः सह याति कौमुदी, सह मेघेन तडित्प्रलीयते

मेरे पिताजी और मेरी माताजी जब कभी पुरानी कथायें कहते, पितामह की स्मृति अवश्य आती। किन्तु वे कथायें मनुष्यों से प्रारम्भ होकर देवताओं तक पहुंच जातीं। मनसाराम से उठी हुई कथा ब्रह्मा, विष्णु, महेश, सरस्वती, लक्ष्मी और दुर्गा पर जाकर समाप्त होतीं। पिताजी आर्यसमाजी विचारों से प्रभावित होने के कारण कहते—'यह भगवान की शक्तियां हैं।' मां कहतीं, 'तुम्हारे बाबा कहते थे वे स्वर्ग में हैं।' मैं पूछता 'स्वर्ग कहां?' वे कहतीं 'ऊपर है।' आसमान की ओर देखकर मैं स्वर्ग की पहेली में उलझ जाता। बहुधा पूछ उठता, 'मां! तुमने स्वर्ग देखा है?' 'नहीं। सुना है बद्री-नाथ के आगे स्वर्ग है। वहां कोई आदमी नहीं पहुंच पाता।'

उत्सुकता, बांध में रुके हुए पानी की तरह उछाल मारकर रह जाती। ऊपर क्या है? बद्रीनाथ से आगे कोई क्यों नहीं जाता? सब जगह लोग जाते हैं, स्वर्ग ही क्यों नहीं जा सकते? सरस्वती, लक्ष्मी और दुर्गाजी का घर कैसा होगा? यह सारे प्रश्न मन को आंदोलित करते ही रहे।

स्वर्ग, जहां विष्णु और लक्ष्मी का वास है। जहां इन्द्र का नन्दन उपवन, जहां कल्प वृक्ष, जहां कामधेनु मनोकामनायें पूर्ण करती है। जहां जरा से कोई जीर्ण नहीं होता। जहां की देवियां सौन्दर्य की पराकाष्ठा हैं, वहां वेदना और विषाद का क्या
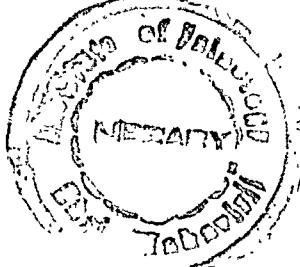
स्वर्ग और नरक
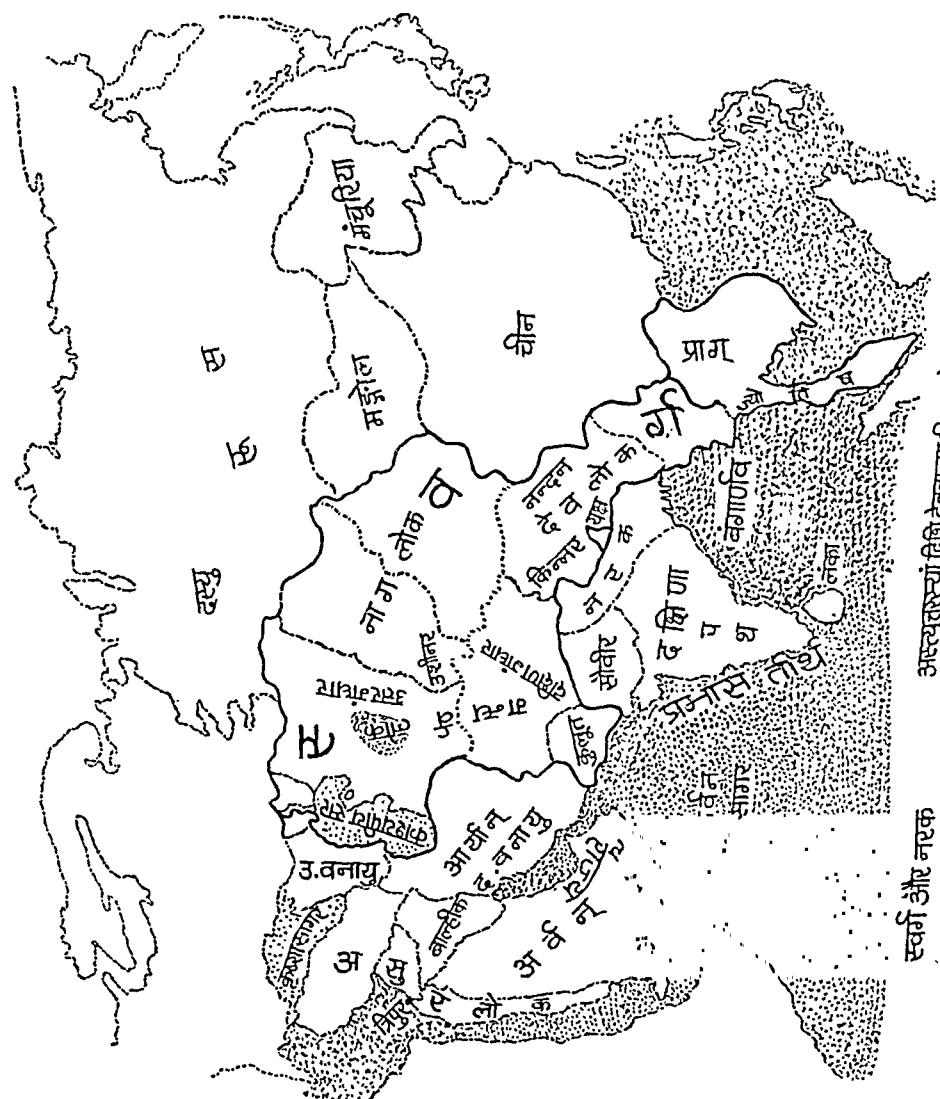
अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा हिमालयो नाम नगाधिराजः।
पूर्वापरौ तोयानिधीव गाह्यस्थितः पृथिव्या इव मानदण्डः॥ कालिदास

काम ? किन्तु दूसरी ओर हम यह भी सुनते कि 'हमारे पितामह स्वर्गवासी हो गये।' परिवार के अनेक प्रियजन स्वर्ग सिधार जाते हैं ! किन्तु जब स्वर्ग में मनुष्य जाते ही नहीं तो पितामह, एवं परिवार के प्रियजन स्वर्गवासी कैसे हो गये ? वे मनुष्य थे। पितामह तो बूढ़े थे। स्वर्ग में बुढ़ापा होता ही नहीं। फिर बूढ़े पितामह स्वर्ग में कैसे पहुंच पाये होंगे ? या तो वह स्वर्ग नहीं पहुंचे, अथवा स्वर्ग में मनुष्य और उसके जीवन की सारी समस्याएँ भी अवश्य रही होंगी। सारे प्रियजन अंत को स्वर्ग ही जा रहे हैं, तो स्वर्ग में बहुमत मनुष्यों का होगा या देवों का ? बहुमत जाने दो, मनुष्य यदि स्वर्ग गया तो रोग, विषाद, जन्म और मरण भी उसके साथ अवश्य गये होंगे।

शंकर पार्वती के परिणय की कथा, दक्ष के यज्ञ का अनुष्ठान। पार्वती का यज्ञ में गिरकर सती होना, नंदन पर शंकर का अभियान। देवों का बध और सहस्रों देवों की मृत्यु ने स्वर्ग में अमरत्व कहां रहने दिया ? अश्विनी कुमारों की कृपा न होती तो त्वष्टा, इन्द्र, चंद्र और सैकड़ों अन्य देवता स्वस्थ न हो पाते। स्वर्ग में आयुर्वेद किन पर चल पाता ?

देव, नाग, यक्ष, गन्धर्व और किन्नरों का पंचजन स्वर्ग को आबाद किये हुए था। वहां इन्द्र की राजनीति भी चल रही थी। सिंहासन का मोह। प्रतिस्पर्धियों से द्वेष। वह सहस्राक्ष इसीलिये था कि उसके एक सहस्र राजदूत देशदेशांतरों को व्याप्त किये हुए थे, जिन पर उसकी प्रभुता स्थिर थी। इन्द्र की माया[1] और इन्द्रजाल जैसे राजनीतिक शब्द हमें राजनीति की उस गहराई में ले जाते हैं जो एक सुसंचालित साम्राज्य के इतिहास की ओर इंगित करते हैं।

मैं सन् 1921 में गुरुकुल विश्वविद्यालय, वृन्दावन, में अध्ययन कर रहा था। गुरुजी ने कुमार संभव पढ़ाना प्रारम्भ किया। पहला ही श्लोक पढ़ा—

अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा हिमालयो नाम नगाधिराजः।
पूर्वापरौ तोयनिधी वगाह्य स्थितः पृथिव्या इव मानदण्डः॥

पूर्वान्त और पश्चिमान्त समुद्रों तक फैला हुआ, वसुधा के मानदण्ड (पैमाना) की भाँति प्रतीत होने वाला उत्तर दिशा में देवताओं से अधिष्ठित हिमालय नाम का पर्वतराज है। वह तब जैसा पूर्व से पश्चिम समुद्र तक अवगाहन करने वाला गिरिराज था, वैसा ही अभी तक विद्यमान है। नगाधिराज था। कहीं जाने वाला नहीं। इसलिये कहीं गया भी नहीं। वह अचल था इसलिये रह गया। किन्तु चलायमान स्वर्ग का शासन और देवता चले गये। तो भी हिमालय कभी देवभूमि ही था। मल्लिनाथ ने लिखा— 'अनेनास्य देवभूमित्वं सूच्यते'। हिमालय देवभूमि था। यह हिमालय उस इतिहास की साक्षी देने लगा जो कहानियों में मैंने मां से सुना, पुरोहितों से सुना तथा जनप्रवाद में कहा गया था।

राम चौदह वर्ष बाद लंका विजय करके अयोध्या को लौट रहे थे। सीता और लक्ष्मण साथ थे। चौदह वर्ष के बीच में घटने वाली घटनाओं के प्रदेश कितने ही बदल

---

1. इन्द्रोमायाभिः पुरुरूप ईयते।

गये थे। उन्हें स्मरण करके वह बोले--

पुरा यत्र स्रोतः पुलिनमधुना तत्र सरितां।
विपर्यासं यातो घनविरलभावः क्षितिरुहाम्।।
बहोर्दृष्टं कालादपर मिव मन्ये वनमिदं,
निवेशः शैलानां तदिदमिति बुद्धिं दृढ़यति।।[1]

जहां स्रोत थे वहां अब रेत है। जहां जंगल के हरेभरे पेड़ लहलहाते थे वहां अब बंजर हो गया। इतने वर्षों बाद यह वन पहचाने न जाते। किन्तु यह पहाड़ अविचल रूप से खड़े हुए गवाही दे रहे हैं। यह उसी घटना का प्रदेश है। आज यह हिमालय भी हमारे अतीत के इतिहास की गवाही में खड़ा है।

हिमालय के नाम को लोग काल्पनिक न कहने लगें, कालिदास ने फिर कहा--

भागीरथीनिर्झरसीकराणां वोढ़ा
मुहुः कम्पितदेवदारुः। यद्वायु...[2]

वही हिमालय जहां भागीरथी के निर्झर निष्यन्दशीकरों से शीतल समीर देवदारु के वनों को आंदोलित करता रहता है। क्या यह भौगोलिक स्थिति आज भी उस इतिहास के समर्थन के लिये बलवत् प्रमाण नहीं है? इतिहास ही भूगोल का समर्थक नहीं है, भूगोल भी इतिहास का साक्षी है। आज अजन्ता और ऐलोरा, खजुराहो और नागार्जुन सागर, मोहनजोदड़ो और हड़प्पा जिस प्रकार अपनी भौगोलिक सत्ता से भारत के महान् अतीत का इतिहास उद्घृङ्क्त कर रहे हैं, ठीक वैसे ही हिमालय, भागीरथी, कैलास, मानसरोवर, अलकनन्दा और त्रिविष्टप भी हमें अपने अतीत की गहराई में ले जाते हैं, इसलिये कि हम अपने इतिहास के गौरवपूर्ण तत्व संकलित करें।

कुमार संभव के सुरापगा, स्वर्गापगा, नाक नदी और सुरसरिता जैसे स्पष्ट शब्द यह बोधित करते हैं कि नदी का निकास जिस प्रदेश से हुआ है उसका नाम स्वर्ग है। 'नाक' उसी का पर्याय। देव अथवा सुर वहां के अधिवासी। भारतीय इतिहास के धुंधले अतीत में वैदिक साहित्य को देखो, ब्राह्मण और उपनिषदों को देखो, महाभारत और रामायण को देखो, पुराणों और काव्यों को देखो सारे के सारे जिन भौगोलिक और ऐतिहासिक तत्वों की ओर निर्देश कर रहे हैं, उन्हें हम उपेक्षित नहीं रख सकते। युग-युग के विद्वान् कोरी गप्पें लिखने में नहीं लगे रहे। यह वे तथ्य हैं जिनकी प्रतिध्वनि भारत के पार्श्ववर्त्ती ईरान, अरब, यूनान, चीन और लंका के साहित्यों में अभी तक प्रतिध्वनित हो रही है। सहस्रों वर्षों तक मननशील मानव-समाज केवल कपोल-कल्पनायें लिखता रहा हो, यह संभव नहीं। मनुष्य उठता भी है और गिरता भी। हम भी उठे और गिरे हैं। परन्तु गिरे हैं, इसलिये उत्थान की बात कहना क्यों छोड़ दें? गिरना जितना सत्य है उत्थान भी उतना ही। बल्कि हमारा पतन भी उत्थान से महान् है। हमारे पतन में ही दधीचि का इतिहास है। हरिश्चन्द्र और शैब्या के संस्मरण हैं। भगीरथ और जन्हु के साहस हैं। अश्विनी कुमार और धन्वन्तरि के आदर्श हैं। सीता, सावित्री, दमयन्ती

1. उत्तर रामचरित (भवभूति)
2. कुमारसंभव 1/15 तथा सर्ग 11

रू स
(भूमध्य / (मधु)
प्रान्त सागर
काला सागर
आ
वा
पा र स्य
वाल्हीक
वनायु
अर्वन
उ त्त र गंधार
आरल भील
पश्चिम
उशीनर
निषध
हरिवर्ष
मंगोल
मंचूरिया
चीन
गंधार
कश्मीर
र्या
त्रिविष्टप
कुलुत्त
काशी
असम
व
र्त
दक्षिणा प थ
लंका
अर्वन सागर
नैर्ऋत्य (अफ्रीका)
आर्यावर्त
गंगासागर
हिन्दमहासागर
पूर्वान्त प्राग्ज्योतिष
प्रशान्त महासागर
बोर्नियो
सुमात्रा
आसमुद्रात्तु वै पूर्वादा समुद्रात्तु पश्चिमाम्॥
तयोरेवान्तरं गिर्योरार्यावर्तं विदुर्बुधाः॥ मनु०
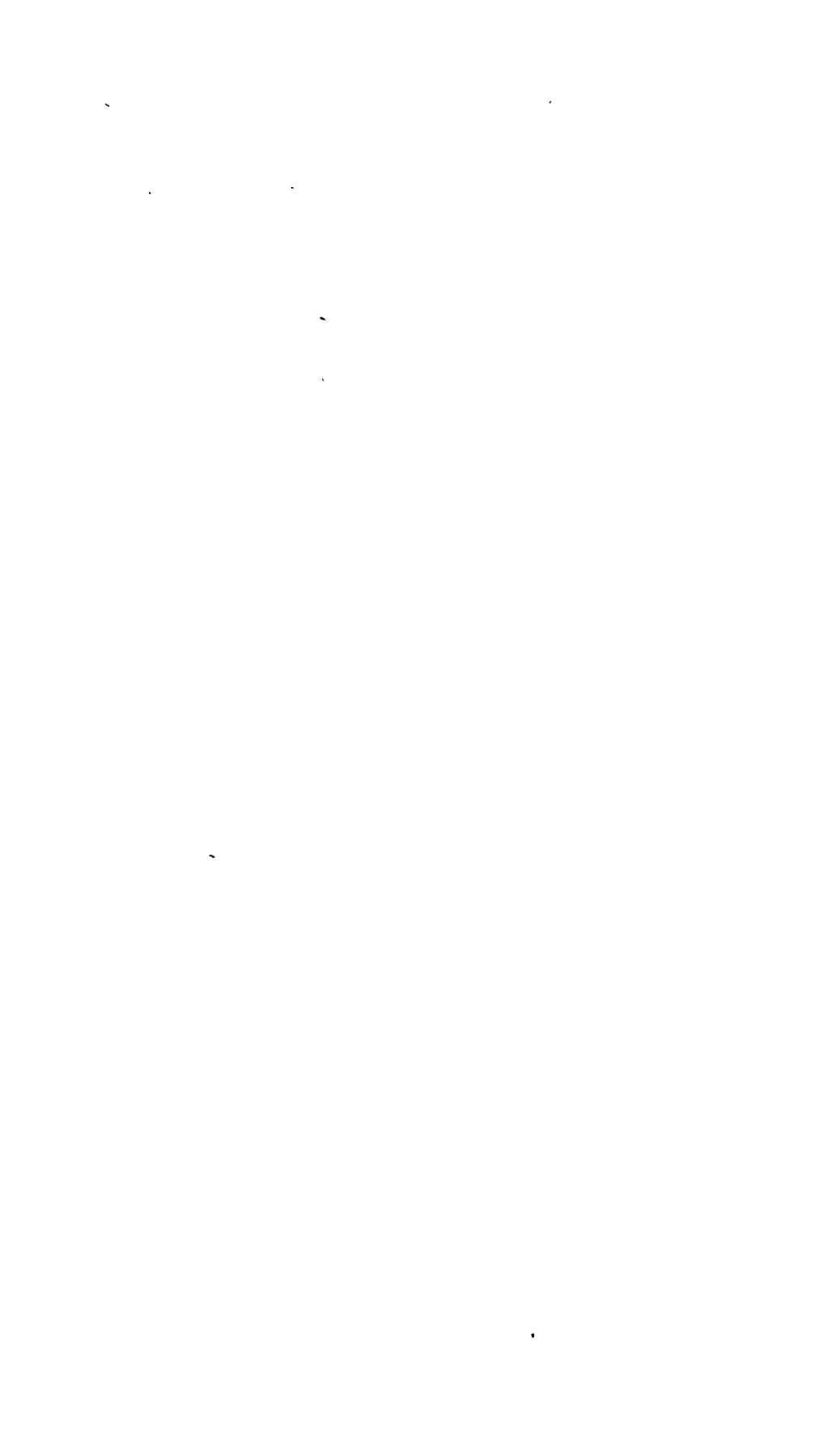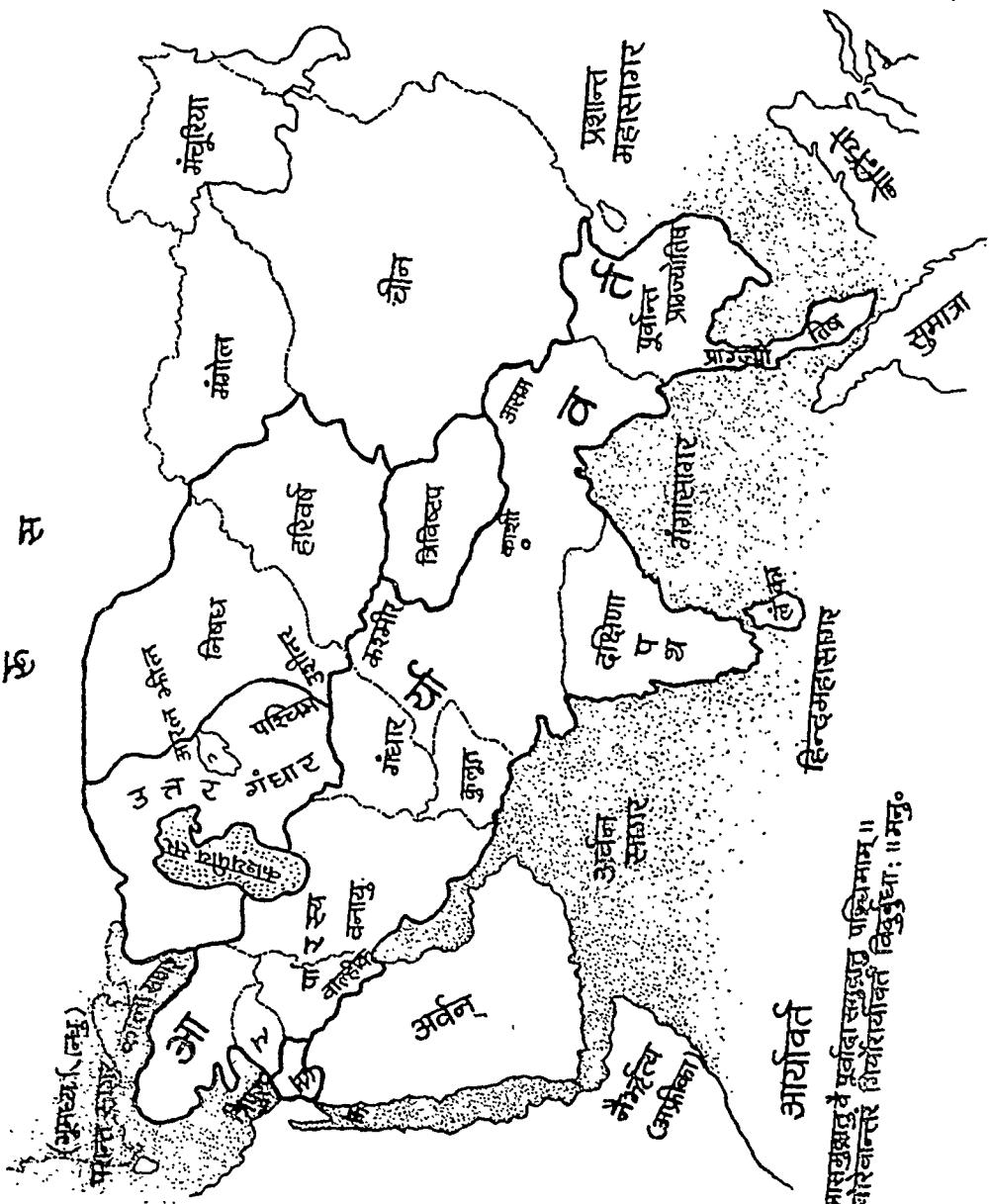
और द्रौपदी के चरित्र हैं। प्रताप, पद्मिनी और पन्ना के बलिदान हैं। विश्व में कौन है जो अपने पतन पर गौरव कर सके ? वे केवल हम ही हैं। हम ही ने सजल नेत्रों से गौरव पूर्ण हृदय का इतिहास भी लिखा है। वही इतिहास जो राष्ट्र का गौरव है।

विश्व के किस इतिहास में दधीचि हैं ? कहां हरिश्चन्द्र और शैव्या ? कहां प्रताप और पद्मिनी ? क्या पराये हित में हालाहल पीने वाले शंकर कहीं और भी हुए ? वह नहीं हुए। इसीलिये उन्हें हमारे इतिहास पर विश्वास नहीं होता। न हो, हमें तो होना चाहिये। विश्व के मंच पर जो प्रस्तावनायें हमने रखीं उनका गौरव हमारे रक्त के कण-कण में व्याप्त है। जीवन का युद्ध हमने गीता के उन आदर्शों को चरितार्थ करने के लिये लड़ा, जिन्हें आज भी विश्व के अन्य राष्ट्र नहीं समझ सके--

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्नुहि॥

स्वर्ग का इतिहास ऐसे ही आदर्शों का इतिहास था। वह एक ऐसा तथ्य है जिसको प्रकाश में लाये बिना विश्व का क्रमिक इतिहास कभी बन ही नहीं सकेगा। क्योंकि विश्व की राजनीति, धर्मशास्त्र और समाजशास्त्र की भूमिका वही है। उस इतिहास को सुमेरु से पूछो, कैलास से पूछो, मानसरोवर से पूछो, तिब्बत से पूछो, सिन्धु, सरस्वती, गंगा, यमुना और ब्रह्मपुत्र से पूछो। मनु ने लिखा था--

आसमुद्रस्तु वै पूर्वादासमुद्रस्तु पश्चिमाम्।

और कालिदास ने लिखा--

पूर्वापरौ तोयनिधी वगाह्य।

जो रामायण काल में, ईसा से दस हजार वर्ष पूर्व भृगु के सूत्रों में सत्य था, जो ईसा से दो सौ वर्ष पूर्व संकलित मनुस्मृति में सत्य था और जो ईसा के दो सौ वर्ष बाद कालिदास के लेखों में सत्य था, वह आज मिथ्या कैसे होगा ?

स्वर्ग के शासन पर बैठकर नन्दनवन से अपने सहस्रों प्रतिनिधियों द्वारा सहस्राक्ष इन्द्र के शासन की ओर इंगित करते हुए ही कालिदास ने लिखा था--

यं सर्वशैलाः परिकल्प्य वत्सं मेरौ स्थिते दोग्धरि दोहदक्षे।
भास्वन्ति रत्नानि महौषधीश्च पृथूपदिष्टांदुदुहुर्धरित्रीम्॥[1]

सारे देश, सारे शैल, इस हिमाचल के माध्यम से ही इस वसुधा की संपत्ति का दोहन करते रहे हैं। वह वसुधा का मानदण्ड था। विश्व का न्याय हिमालय पर तुलता रहा है। 'स्थितः पृथिव्या इव मानदण्डः' का यही तो अर्थ है। मनु के धर्मशास्त्र में इसी इतिहास की प्रतिध्वनि है--

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन्पृथिव्यां सर्व मानवाः॥

मैंने ऊपर लिखा है स्वर्ग शब्द का प्रयोग भौगोलिक है और आध्यात्मिक भी।

---

1. (क) सारे शैल हिमालय (इन्द्रशासन) को बछड़ा तथा सुमेरु (ब्रह्मपुरी) को ग्वाला बनाकर इस पृथ्वी के रत्नों तथा भोग्य सामग्री को दोहन करते रहे हैं।—कुमारसंभव 1/2।
(ख) इस प्रसंग का विस्तृत भौगोलिक वर्णन महभारत वनपर्व में देखें।

'हिमालय पर स्वर्ग का शासन था।' यह स्वर्ग भौगोलिक है। किन्तु 'सारे प्रियजन अन्त को स्वर्गवासी होते हैं।' यहां स्वर्ग आध्यात्मिक, वह मृत्यु का बोधक है। शब्द प्रयोग के तात्पर्य को तौलिये। शब्दशास्त्र का यह सिद्धान्त है--

यत्परः शब्दः स शब्दार्थः।

वैदिक युग में स्वर्ग शब्द मृत्यु के लिये प्रयुक्त नहीं होता था। वेदों में स्वर या स्वः शब्द सुख या ज्योति के अर्थ में प्रयुक्त हैं।[1] उपनिषदों में स्वर्ग शब्द उस प्रदेश के लिये प्रयुक्त है, जहां सुख और प्रकाश है।[2] उपनिषदों में अध्यात्म भी है और इतिहास भी। इसीलिये शब्द को तात्पर्य के साथ समझना चाहिये। प्राचीन विद्वानों ने तात्पर्य निर्णय के लिये कुछ आवश्यक साधन चुने थे---

विषयो विशयश्चैव पूर्वपक्षस्तथोत्तरम्।
अर्थवादोपपत्ती च लिङ्ग तात्पर्यनिर्णये।।[3]

स्वर्ग की राजनैतिक स्थिति पर पीछे लिखेंगे, अभी उसका भूगोल देखिये। हमने ऊपर लिखा है कि पूर्वांत सागर से लेकर अपरांत सागर तक हिमालय पर स्वर्ग का साम्राज्य था। वह देव, नाग, यक्ष, गन्धर्व और किन्नर लोकों में प्रांत वार विभाजित अवश्य था। यही पंचजन उसके निवासी थे। रामायण और महाभारत में स्वर्ग का जो भौगोलिक विवरण है उसमें इन सभी प्रदेशों का उल्लेख है। वन पर्व के १८वें अध्याय में युधिष्ठिर और लोमश की यात्रा का वर्णन है। युधिष्ठिर से लोमश ने कहा---हे तेजस्वी ! मैं सम्पूर्ण प्रदेशों को देखने की इच्छा से यात्रा करने को तत्पर हुआ। मैं नन्दन वन गया वहां इन्द्र से मिला और वहीं तुम्हारे वीर भाई अर्जुन को भी देखा। तुमने जिस अस्त्र विद्या को सीखने के लिए भेजा था उन्होंने रुद्र (शिव) से वह सीख ली। वह यमराज, कुबेर, वरुण तथा इन्द्र से भी वहुत सी अस्त्र विद्या का परिज्ञान कर चुके हैं।

यहां गंगा और यमुना का निकास है। यहां नन्दा और अपर नन्दा नदियां हैं। यहां हेमकूट है जिससे सरस्वती और गंगा निकली। यहां विष्णु पद तीर्थ है। यहां विपाशा (व्यास) नदी हैं। यहां काश्मीर है। यहां से मानसरोवर को मार्ग जाता है जहां कभी भगवान राम ने जाकर निवास किया था। यह वितस्ता (झेलम) का उद्‌गम है। यहां समीप ही कनखल के प्रदेश हैं। यहां गंगा की सात धाराओं के स्रोत हैं। यहां बारह मास लोग अग्नि जलाये रहते हैं। यहां श्वेत गिरि (धौला गिरि) हैं। यहां मन्दराचल है जहां मणिभद्र यक्ष का आवास है। यहां विस्तृत कैलाश है। यहां कभी विष्णु ने नरकासुर को मारा था। यहां तनिक में वर्षा तनिक में आतप होते हैं।

यहां उत्तर कुरु (सिंकियांग) है। कैलास, नर-नारायण का आश्रम वदरीवन है। यहां वे आश्रम हैं जहां सूर्य की किरणें तक सन्ताप नहीं पहुंचा पातीं। यह किम्पुरुष

---

1. निरुक्त, पू० 5/3/7
2. स्वर्गे लोके न भयं किञ्चनास्ति न तत्र त्वं न जरयाविभेति' कठ०, उप०
3. विषय, सन्देह निराकरण, पूर्व पक्ष, उत्तर पक्ष, प्रशंसा, 'इसलिये ऐसा ही है', इस प्रकार उपपादन, यह छह चिह्न तात्पर्य निर्णय के लिये हैं।

खण्ड (किन्नर देश कनौर) है। गन्धमादन है। यहां बारह मास फलों से भरे पेड़ रहते हैं। सुन्दर-सुन्दर सरोवर, जलचारी पक्षी, कमल तथा भौरों से गंधमादन सदा व्याप्त रहता है। यहां केसर होती है। गिरि शिखरों से गिरने वाले झरने अत्यन्त कमनीय हैं। सोने और चांदी जैसे पत्थर चमक रहे हैं। कहीं कसौटी की श्याम शिलायें हैं। कहीं हरताल और कहीं सिन्दूर के पर्त चमकते हैं। यहां अपनी प्रेयसियों के साथ गन्धर्व विहार करते हैं। किन्नर किन्नरियों का आलिंगन। गन्धर्व और किन्नर साम के मधुर संगीतों से यहां के प्राणियों को मोहित कर लेते हैं। यहां ब्रह्मपुत्र को देखो जिसके तट पर देवता, किन्नर और ऋषि लोग विश्राम करते हैं। यहां फलफूल से भरापूरा आर्ष्टिषेण ऋषि का आश्रम भी है। इतने में इन्द्र के विमान पर से अर्जुन आकाश मार्ग से उतरे। युधिष्ठिर उन्हें देखकर प्रसन्न हुए।

फिर वह अमरावती में इन्द्र के भवन पर पहुंचे। वह कल्पवृक्ष से शोभित रत्नों से जटित था। वहां सूर्य का संताप नहीं। सरदी व्यापती नहीं। धूल उड़ती नहीं। बुढ़ापा, शोक, दीनता, दुर्बलता तथा क्रोध दिखाई नहीं देता। देवताओं में इनका क्या काम? वे हाथ जोड़कर इन्द्र के सामने पहुंचे। इन्द्र ने प्रसन्न हो अपने अर्धासन पर बैठाया। वहां देव, गन्धर्व आदि धनुर्विद्या सीखते थे, अर्जुन भी सीखने लगे। वहां का यातायात विमानों से होता था।[1]

महाभारत के ये उद्धरण मैंने संक्षेप में उद्धृत किये हैं। यदि अनुपद लिखा जाय तो उसकी महनीयता से दूसरा ग्रंथ बन जाय। परन्तु क्या इतने उद्धरण भौगोलिक दृष्टि से यह सिद्ध करने के लिये पर्याप्त नहीं हैं कि स्वर्ग कहां था? महाभारत में स्पष्ट लिखा है कि यह स्वर्ग का प्रदेश था।[2]

महाभारत के महाप्रास्थानिक और स्वर्गारोहण पर्व मनन करने योग्य प्रसंग हैं। महाप्रास्थानिक पर्व में राज्य त्याग का उल्लेख है। युधिष्ठिर ने कहा—अर्जुन! अब कर्तव्य-कर्म समाप्त हो गया है। हमने शत्रु मार दिये। किन्तु काल सभी का शत्रु है। वह हमें, तुम्हें सभी को मार देगा। इसलिये चलो इस क्लेशपूर्ण परिस्थिति को त्यागकर स्वर्ग प्रस्थान करें। और वहां निरीह भाव से जीवन का उपसंहार करें। युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, नकुल, सहदेव और द्रौपदी चल दिये—

ततस्ते नियतात्मान उदीचीं दिशमास्थिताः।
ददृशुर्योगयुक्ताश्च हिमवन्तं महागिरिम्॥[3]

---

1. महाभारत, वनपर्व, अ० 17/21
   अग्नेः प्रजा मनुष्या भारतवर्षे नियंत्रिता मनुना।
   ऐन्द्री प्रजा तु देवा उत्तरकुरुषु नियंत्रिता अभवन्॥
   —इन्द्रविजय (श्री मधुसूदन विद्यावाचस्पति) 1/16
2. मघवानपिदेवेशो रथामारुह्य सुप्रभम्।
   उवाच भगवान् स्वर्गं गंतव्यं फाल्गुन त्वया॥
   तपश्चेदं महत्तप्तं स्वर्गं गन्तासि पाण्डव।
3. महाभारत, महा० प्रा० 1.

उदासीन भाव लेकर वे सब उत्तर की ओर चले। और दृढ़ता से चलते हुए महान् शैल हिमालय पर पहुंच गये। इस प्रकार उपक्रम देते हुए लिखा है कि पांचों पांडव और द्रौपदी के अतिरिक्त युधिष्ठिर के साथ उनका पला हुआ एक कुत्ता भी था। द्रौपदी, सहदेव, नकुल, भीम, अर्जुन सहित युधिष्ठिर का कुत्ता, ये सातों स्वर्ग की यात्रा पर चले। मार्ग की दुरूहता से द्रौपदी से लेकर अर्जुन तक बीच में ही जीवन लीला संवरण करके गिर गये। युधिष्ठिर ने उनकी ओर घूमकर भी न देखा।

युधिष्ठिर और उनका कुत्ता ही बच गये। तब सूचना पाकर इन्द्र का रथ उन्हें लेने के लिये आ गया। युधिष्ठिर कुत्ते को रथ पर चढ़ाने लगे। इन्द्र बोले--"धर्मराज! इस कुत्ते को रथ पर क्यों चढ़ा रहे हो?"

युधिष्ठिर ने उत्तर दिया--"हे देवेश! यह कुत्ता मेरा परम भक्त है। यह सदैव मेरा अनुगामी रहा है। मेरी इच्छा है कि मैं इसे भी अपने साथ स्वर्ग ले चलूंगा। जिसने मेरा सदा ही साथ दिया, उसे अपनी ओर से त्यागना धर्म नहीं।"

इन्द्र बोले--"युधिष्ठिर, सुनो, स्वर्ग में कुत्ता वर्जित है। तुम इसे छोड़कर ही स्वर्ग लोक में जा सकते हो अन्यथा नहीं। इसलिये, धर्मराज! इस कुत्ते को यहीं छोड़ दो। मैं तुम्हें स्वर्ग ले चलूंगा।"

स्वर्गे लोके श्ववतां नास्तिधिष्ण्यं,
इष्टापूर्तं क्रोधवशा हरन्ति।
ततो विचार्य क्रियतां धर्मराज,
त्यज श्वानं नात्र नृशंस्यमस्ति॥[1]

स्वर्ग में कानून कुत्ता ले जाने की अनुमति नहीं देता। 'यह मेरा' ऐसी भावना छोड़कर स्वर्ग चलो। यहाँ तक के प्रदेश की जो वस्तुएं तुम्हारे साथ थीं, उनसे उत्तम स्वर्ग में मिलेंगी। फिर कुत्ता जंगली पशु है, जंगल में छोड़ दो, इसमें कोई बुराई नहीं है।

युधिष्ठिर ने दृढ़ता से उत्तर दिया--"देवेश! भक्ति पूर्वक जिसने अपना साथ दिया, स्वर्ग सुख के लिये उसे त्यागना बड़ा पाप है। मेरे देश में यह ब्रह्महत्या से कम नहीं था। इसलिये हे देवेन्द्र! यदि मेरा कुत्ता स्वर्ग नहीं जायेगा तो मैं भी स्वर्ग नहीं जाऊंगा।"

इन्द्र युधिष्ठिर की इस कर्तव्यनिष्ठा और धर्मप्रीति से बहुत प्रभावित हुए। बोले--"युधिष्ठिर! मैं तुम्हारी इस महानता से अत्यंत प्रभावित हुआ हूं। चलो, तुम्हारा कुत्ता भी तुम्हारे साथ स्वर्ग चलेगा।"

इस प्रकार कुत्ते को साथ लेकर धर्मराज युधिष्ठिर इन्द्र के रथ पर आरूढ़ हुए। रथ वेग से ऊपर को चला गया।

चलकर स्वर्ग पहुंचा--

---

1. महाभारत, महा प्रा०, अ० 1

एकः श्वानुययावेनं यांतं स्वर्गपथं प्रति।
स्वर्गदूतेनाभिदधे त्यक्त्वा श्वानं स्वरैरिति॥
अथावोचदमुं राजा त्यक्त्वैनं नार्थये सुखम्॥

स्वर्गं त्रिविष्टपं प्राप्य धर्मराजो युधिष्ठिरः ।[1]

इस वर्णन से स्पष्ट होता है कि स्वर्ग हिमालय का राज्य था। तिब्बत या स्वर्ग में इन्द्र का प्रदेश था। नन्दन वन वहीं था। कालिदास ने रघुवंश में लिखा है--

त्रिविष्टपस्येव पतिं जयन्तः ।।[2]

ऐतिहासिक लेखों के विचार से यह तथ्य इसलिये और दृढ़ होना चाहिये कि अमरकोष ने स्वर्ग-वर्ग के पर्याय लिखते हुए स्वः, स्वर्ग, नाक, त्रिदिव, त्रिदशालय, सुरलोक, द्यौः, तथा त्रिविष्टप सारे शब्द पर्यायवाची लिखे हैं।[3]

यह स्वर्ग 'पितामह स्वर्गवासी हुए' जैसे प्रयोगों की भांति मृत्यु का बोधक नहीं है। महाभारत में यह भी लिखा है--

अनेन त्वं शरीरेण स्वर्गं गन्ता न संशयः ।[4]

यह शरीरधारियों का स्वर्ग है, तुम वहीं चलोगे।

मृत्यु के लिये स्वर्ग का प्रयोग उस सद्भावना में है जिसे हम मृत्यु के उपरान्त अपने प्रियजन के लिये चाहते हैं। और यह इसलिये प्रयोग हुआ कि बड़े-बड़े लोग जीवन के अन्तिम दिनों में पारिवारिक चिन्ताओं से मुक्त होकर स्वर्ग जाकर निश्चिन्त (Retired) जीवन व्यतीत करने चले जाते थे। और वहीं जीवनयात्रा समाप्त कर देते थे। किन्तु पारिवारिक उलझनों में ही जो मर गये, उनके लिये इस भावना से बढ़कर उदात्त भाव क्या होगा कि "वे भी स्वर्ग ही चले गये।" और अब उन्हें भी लौटकर हमारे बीच नहीं आना। इस प्रकार स्वर्गवासी का अर्थ केवल यही है कि 'वह व्यक्ति हमारे बीच से गया, अब लौटकर न आयेगा।' सदेह गया वह भी नहीं लौटता, और देह त्यागकर गया वह भी नहीं। सदेह और विदेह मुक्ति का भाव यहीं से प्रारंभ हुआ है।

भगवान् आत्रेय पुनर्वसु ने जिस इतिहास की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया वह और भी अधिक स्पष्ट है। उसमें स्वर्ग एवं इन्द्र के राज्य की भौगोलिक तथा ऐतिहासिक स्थिति का बहुत विशद उल्लेख है।

एक बार ऋषि पारिवारिक जीवन में रहते-रहते विलासी और सम्पत्ति वाले होकर निकम्मे हो गये। उनका स्वास्थ्य अच्छा नहीं रहा। वे अपने नित्यकर्म पूर्ण करने में भी असमर्थ हुए। उन्होंने अपनी स्थिति पर विचार कर यह निश्चय किया कि यह स्थिति हमारे इस ग्राम्यवास का ही परिणाम है।

इस धारणा से अपने पूर्व निवास, निर्दोष, प्रत्येक दृष्टि से कल्याणकारी, पावन, धूर्तों से रहित, गंगा के निकास, देव-गंधर्व तथा किन्नरों से सेवित तथा रत्नों से सम्पन्न, प्रभावशाली, ब्रह्मर्षि, सिद्ध वर्ग के चरणों से पावन, दिव्य ओषधियों और जलाशयों से निवास योग्य, इन्द्र से सुशासित, हिमालय पर्वत पर भृगु, अंगिरा, अत्रि, वसिष्ठ, काश्यप,

---

1. महा भा० स्वर्गारोहण, अ० 1
2. रघुवंश, महाभारत देखिये--'त्रिविष्टपंशक्रइवामितौजाः'। म० भा० वन, 7/294 C. V. Vaidya.
3. अमरकोष 1/6
4. महा० भा०, महा प्रास्थानिक पर्व, अ० 1

अगस्त, पुलस्त्य, वामदेव, असित और गौतम आदि महर्षि गये। उन्हें देखकर इन्द्र बोले।[1]

'महर्षि स्वर्ग गये' इसका अर्थ हम यह नहीं कर सकते कि वे मर गये थे। वे आयुर्वेद पढ़कर आये। और उन्होंने संहितायें लिखीं। बड़ी-बड़ी वैज्ञानिक सभायें कीं। विश्वविद्यालय चलाये और शिष्य-प्रशिष्यों की परम्परा खड़ी कर दी। इन्द्र का विश्वविद्यालय शिक्षा-जगत् में अमर कार्य कर गया। वह न होता तो भृगु, अंगिरा, अत्रि, वसिष्ठ, वामदेव, गौतम असित आदि न होते। ये सब उसी विश्वविद्यालय के स्वनामधन्य स्नातक थे। इन्हीं का वरदान पाकर अग्निवेश, भेड, जतूकर्ण, पाराशर जैसे स्वतंत्र लेखक जन्मे। धन्वन्तरि और दिवोदास उसी विश्वविद्यालय के स्नातक थे। भरद्वाज भी उसी के। इस सम्पूर्ण इतिवृत्त पर पटाक्षेप कैसे किया जा सकता है?

मैं अभी ऊपर इन्द्र के नन्दन की बात कह रहा था। वह त्रिविष्टप (तिब्बत) में था। त्रिविष्टप का विस्तार ही 'आसमुद्रात्तु वै पूर्वात्' था। यह देवों का प्रदेश था। इन्द्र भी स्वयं देववंश का प्रमुख था। विद्या, पराक्रम, वैभव और व्यवहार नीति में देवों ने जो मर्यादाएं बना दीं वे इतिहास में अमर हो गयीं।

दूसरा वंश नाग-वंश था। कैलास उसका शासन केन्द्र और शिव उसके गणनायक। मानसरोवर और धौलागिरि के उत्तर पश्चिम कैलास है। काश्मीर, सिंकियांग (हरिवर्ष), हाटक (लद्दाख), कार्त्तस्वर (करा कोरम), सिन्धु कोप (हिंदू कुश), गन्धार, कम्बोज (काबुल घाटी) और सुमेरु (थियानशान् पर्वत) यह सब नागलोक ही था। अभी तक भूगोल में उस विस्तृत प्रदेश का नाम नागा पर्वत ही प्रसिद्ध है। उधर के अनेक स्थानों के नामों में 'नाग' शब्द अभी तक जुड़ा चला आता है। वैरी नाग, अनंत नाग, शेष नाग वहां की प्रसिद्ध झीलें हैं। शिव नाग थे, वे ही यहां के गणनायक। नागलोक का सीमांत सुमेरु पर्वत था। कालिदास ने कुमार संभव में संध्या का वर्णन करते हुए लिखा है कि सूर्य सुमेरु पर्वत के पीछे छिप गया इसलिये इधर अंधेरा होने लगा। फलतः सुमेरु नाग लोक के पश्चिम की सीमा हुई।[2]

तीसरा यक्ष लोक का प्रदेश अलकापुरी से शासित होता रहा है। कुवेर इसके गणपति थे। अलकापुरी ही इसकी स्मृति है। हिमालय पर अभी तक अलकापुरी-बांक नाम का प्रदेश है। बद्रीनाथ के पंडा लोगों की प्राचीन परम्परा का अभिमत है कि अलकापुरी-बांक प्राचीन अलकापुरी का ही खेटक है। अलकनंदा की धारा इसी के तीन ओर बहती है। अलकापुरी का आनंद साधन होने के कारण ही वह अलकनन्दा नाम से विख्यात हुई है। धौलागिरि के निकट यह प्रदेश सुशोभित था। महाभारत ने इसका उल्लेख किया है। कुवेर के अतिरिक्त मणिभद्र यक्ष यहां का प्रसिद्ध वैज्ञानिक और योद्धा था।[3] काश्यप संहिता में अनायास यक्ष द्वारा रचित कौमार भृत्य शास्त्र का उल्लेख है।

---

1. चरक सं०, चि० 1/4/3
2. कुमारसंभव 8/55
3. श्वेतं गिरिं प्रवक्ष्यामो मन्दरं चैव पर्वतम्।
   यत्र मणिवरो यक्षः कुवेरश्चैव यक्षराट्॥महा० भा० वन 18
   महाभारत वनपर्व के अ० 158 से 162 तक कुवेर और अलका वर्णन द्रष्टव्य है।

कश्यप के कौमार भृत्य शास्त्र को अनुप्राणित करने के लिये ही अनायास यक्ष ने स्मरणीय कार्य किया था।[1] महाभारत का प्रसिद्ध शिखंडी पहले द्रुपद की वेटी था। उसकी प्रार्थना पर स्थूण नामक यक्ष ने उसे पुरुष बना दिया था।[2]

यक्षों की विद्वत्ता और योग्यता का उल्लेख प्राचीन साहित्य में बहुत है। महाभारत में स्थान-स्थान पर यक्षों के बुद्धि-वैभव का वर्णन है। मणिभद्र यक्षों के गण का सेनापति था। वह युद्ध विद्या में प्रवीण योद्धा था। अर्जुन स्वर्ग में इन्द्र से शस्त्र विद्या सीख रहा था। युधिष्ठिर उससे मिलने के भाव से तीर्थ यात्रा के लिये निकले। उत्तर में वदर्याश्रम में रहकर जब वह आगे चले एक सुन्दर सौगन्धिक सरोवर के तट पर पहुंचे। निकट ही तृण बिन्दु महर्षि का आश्रम था। प्यास लगी। आश्रम के समीप उसी सरोवर में जल पीने पहुंचे। सहदेव, नकुल, अर्जुन, भीम सभी क्रम से गये। सरोवर के तट पर रहने वाले एक यक्ष ने प्रत्येक से कुछ प्रश्न पूछे। अत्यंत दार्शनिक और नीतिपूर्ण। किसी से उत्तर न आया। यक्ष ने उन्हें मूर्छित करके गिरा दिया। अंत को युधिष्ठिर गये। प्रश्न पूछे। यक्ष के उत्तर दे देने पर उस यक्ष ने सबको पुनर्जीवित कर दिया।[3] और जल पीने दिया।

अलकापुरी या अलकनन्दा से लेकर कुमाऊं और गढ़वाल का प्रदेश कुबेर का गणराज्य था। कुवेर की सम्पत्ति स्वर्ग का गौरव बन गयी थी। न केवल स्वर्ग, उत्तर दिशा का नाम ही 'कौवेरी दिशा' हो गया। वह धनधान्य जो कुवेर के पास था, स्वर्ग में अन्यत्र न था। आर्थिक संकट में सारे देवता कुबेर की शरण ही जाते थे। इसका मुख्य कारण एक ही प्रतीत होता है, कुबेर के प्रदेश में गंगा और यमुना जैसी विशाल नदियां थीं, जिनके द्वारा अन्न की उत्पत्ति तो होती ही थी, यातायात भी उनके तट से ही होता था। गंगा तो स्वर्ग-सोपान प्रसिद्ध हो गई। हरिद्वार में स्वर्ग के प्रवेश पर लगने वाले करों से कुबेर का कोप दिन-दिन भरता ही रहा। दूसरे सिन्धु कोप (हिंदू कुश) से अमरावती जाने वाले माल का मार्ग अलकापुरी होकर ही जाता था। उस व्यवसाय की भारी आय भी कुबेर के वैभव का साधन बनी थी।

आधुनिक पुरातत्व की खुदाइयों में भूगर्भ से प्राप्त यक्षों के प्रचुर संस्मरण देवों और नागों से कम नहीं हैं। देवों तथा नागों की प्रतिमायें बनाकर पूजने की परिपाटी में यक्षों की प्रतिमायें उतना ही महत्व रखती हैं। कालिदास का मेघदूत एक यक्ष की ही कहानी है। स्वर्ग का सबसे बड़ा न्यायाधीश 'यमराज' यक्ष ही था। वह कुबेर का भाई था।

चौथा किन्नर-गण का प्रदेश किन्नर लोक था। इसमें कुल्लू, चम्बा, कांगड़ा,

---

1. अनायासेन यक्षेण धारितं लोकभूतये।—काश्यप सं० कल्प।
2. महा० भा०, आदिपर्व अ० 63।
3. "यक्षस्त्वाह मम प्रश्नानुक्त्वापः पातुमर्हसि" म० भा० वन० 313
—विश्वकर्मा का बनाया पुष्पक रथ (विमान) कुवेर का ही था। स्वर्ग में रथ शब्द भूमि और आकाश दोनों में चलने वाले यान का बोधक है। वे रथ आकाशगामी भी थे और भूमिगामी भी।

सप्तसिन्धु तथा जम्मू के प्रदेश शामिल हैं। संस्मरणों से यह भी ज्ञात होता है कि व्यास (विपाशा) के आगे रावी (इरावदी) तथा चंद्र-भागा (चिनाव) नदियों के निकास भी किन्नर लोक में ही थे। हर हालत में किन्नर लोक यक्ष लोकतंत्र के पश्चिमोत्तर का प्रदेश था, जो लगभग सिन्धु से मिल गया था। इस प्रदेश में शालि की उपज तथा फल फूलों की प्रचुरता ने इसको उल्लेखनीय गौरव प्रदान किया था। अमरकोप से ज्ञात होता है, किन्नर लोक के गणनायक कुबेर ही थे।[1]

किन्नर गण के लोग संगीत में सर्वातिशायी हुए। वे साम के गेय निविदों पर अपना प्रतिद्वन्द्वी नहीं रखते थे। वाग्भट ने रसरत्न समुच्चय में स्वर्ग की माधुरी का उल्लेख करते हुए लिखा है—हिमालय पर स्वर्ग सूना हो जाता यदि किन्नरियां गौरी के परिणय के उत्सव गान गा-गा कर न सुनातीं। इन्द्र का नन्दन कानन और अमरावती अपने महत्व खो देते यदि किन्नर और किन्नरियों के हास, लास और विलास वहां के समीरण में सप्त स्वरों की मधुर लहरी आन्दोलित न करते। गन्धर्वराज चित्रसेन इन्द्र के राज भवन में आते अवश्य थे, पर किन्नरों की लोक चातुरी और पारिवारिक माधुरी ही कुछ और थी, जो देवताओं के मन को मुग्ध किये रहती थी। स्वरों की माधुरी के लिये 'किन्नर कंठ' इतिहास में आदर्श वनकर रह गया।

मैंने स्वर्ग के गणतंत्र की यह रूपरेखा सन् 1933 ई० में बना ली थी। उसके लिये प्रमाण की खोज रहती ही थी। सन् 1948 ई० में श्री राहुल संकृत्यायन ने 'किन्नर देश में' नाम से एक यात्रा वर्णन प्रकशित किया। मुझे यह देखकर वड़ी प्रसन्नता हुई कि यह प्रयास मेरी धारणा का समर्थन ही था।

उन्होंने लिखा किन्नर देश प्रायः सत्तर मील लम्बा और उतना ही चौड़ा था। 5000 फीट से 11000 फीट तक समुद्र तट से ऊंचे पहाड़ों पर इसकी आवादियां हैं। इसकी प्राकृतिक सुन्दरता अवर्णनीय है। श्री राहुल की यात्रा अधिकांश में बौद्ध संस्मरण ढूंढने को हुई थी, किन्तु तो भी इस प्रदेश के वारे में उनके लेख से काम की सूचनायें मिली हैं। श्री राहुल ने लिखा है कि पूर्व में किन्नर देश की सीमा देहरादून के कालसी स्थान से जुड़ती है, जहां अशोक का शिलालेख मिला है। श्री राहुल ने किन्नर लोक की लम्वाई जो प्रायः 70 मील लिखी है, मेरे विचार से वह और अधिक होनी चाहिये।

किन्नर लोक की राजधानी लाहुल (कुल्लू) रही होगी। आठवीं शताब्दी में लिखे गये मुद्राराक्षस में 'कौलूतश्चित्रवर्मा' कहकर कुलूत के अधिपति का परिचय दिया गया है। कुलूत का ही दूसरा केन्द्र लाहुल था। शकदेश (ताशकन्द) की ओर से पिशाचों और राक्षसों के आक्रमण लाहौल विजय के लिये युगों-युगों तक होते रहे, किन्तु स्वर्ग के योद्धाओं ने, जिनमें किन्नरों का स्थान भी कम महत्व का न था, आक्रांताओं के दांत खट्टे कर दिये। और इसीलिये उन वर्वर जातियों में यह कहावत सदा के लिये वन गई—"लाहौल विला कुवत!" जिनमें कुवत (शक्ति) नहीं वे लाहौल क्या जीतेंगे?

---

1. अमरकोप, काण्ड 1, स्वर्ग वर्ग, 72-74

लाहौल का नाम लेते ही उनके दिल धड़क उठते थे। हिमालय की सरदी में भी एड़ी से चोटी तक पसीना छूट जाता। कुल्लू, लाहुल और लद्दाख की घाटियों में आज भी इन्द्र के वज्र की गर्जना शांत नहीं हुई है। वह काश्मीर के लिये हो या लाहौल के लिये, बात एक ही है। कालिदास ने रघु द्वारा उत्सव संकेतों के सात गणों की विजय तथा किन्नर लोक में रघु के विजय गीतों का उल्लेख किया है।[1]

किन्नरगणतंत्र ने धुरंधर दार्शनिक तथा त्यागी भी उत्पन्न किये हैं। निरुक्त में यास्काचार्य ने एक ऐतिहासिक घटना का उल्लेख किया है--

किन्नरों के रक्त से संबंधित कुरु वंश है। इसी कुरु वंश में ऋष्टिषेण नाम का एक सम्राट् हुआ। उसके देवापि और शान्तनु दो पुत्र थे। ऋष्टिषेण ने पक्षपात से बड़े देवापि को तिरस्कृत करके छोटे शांतनु का राज्याभिषेक कर दिया। देवापि कुछ न बोला, और तप करने के लिये वन में चला गया। अब शांतनु राज्य करने लगा। किन्तु उसके सिंहासनारूढ़ होने से लगातार बारह वर्ष तक उसके राज्य में वर्षा न हुई। अकाल पड़ गया। प्रजा में त्राहि-त्राहि मच गयी। शांतनु ने विद्वान् ब्रह्मवेत्ताओं को एकत्र किया और कहा ऐसा अनुष्ठान करो--वर्षा हो।

ब्राह्मण बोले--सम्राट् तुमने बड़े भ्राता का तिरस्कार कर राज्य छीन लिया। इस अधर्म का ही फल है कि तुम्हारे राज्य में वर्षा नहीं होती।

शांतनु घबड़ाकर देवापि की शरण गया। भाई! मुझसे अपराध हुआ। इस अधर्माचरण से राज्य में बारह वर्ष से वर्षा नहीं होती। इसलिये राज्य तुम्हीं स्वीकार करो ताकि प्रजा नाश से बच सके।

देवापि ने कहा--राज्य की मुझे लालसा नहीं रही। हां, एक युक्ति बताता हूं। तुम यज्ञ करो। मैं पुरोहित रहूंगा। इस अनुष्ठान से अवर्षण न रहेगा।

बात निश्चय हो गई, शांतनु ने यज्ञ किया। देवापि ने वर्षासूक्त तैयार किया। यज्ञ होते-होते ऐसी वर्षा हुई कि राज्य सस्य श्यामल हो गया।[2]

किम्पुरुष खण्ड की प्राकृतिक विशेषतायें ही उसका आकर्षण थीं। युद्ध विद्या सीखने के लिये अर्जुन स्वर्ग गया हुआ था। युधिष्ठिर उससे मिलने की इच्छा से चले। महाभारत में इस यात्रा का रोचक वर्णन है। प्रायः स्वर्ग के सभी गणतंत्रों का उल्लेख है। स्वर्ग में पहुंचने के लिये कोई कहीं से भी घुस पड़े ऐसा संभव न था। यदि घुसने की स्वतंत्रता होती तो हरद्वार इतिहास में अमर न हो जाता।

युधिष्ठिर द्वार से ही गये। किन्तु वहां जाकर सैर करने की इच्छा न रोक सके। इस सैरसापटे में उन्होंने क्या-क्या देखा, इसका वर्णन महाभारत में सुन्दर है। वहां लिखा है[3]—

---

1. रघुवंश 4/78
2. निरुक्त, पू० 2/3
3. महाभारत, वन पर्व, अ० 109—ततः किम्पुरुषावासंसिद्धचारणसेवितम्।
   ददृशुर्हृष्ट रोमाणः पर्वतं गन्धमादनम्॥
   विविशुःक्रमशो वीराः…………

तब वह सिद्ध-चारणों से सेवित किम्पुरुष खण्ड देखने लगे। इसे गन्धमादन पर्वत कहते हैं। यहां श्रोत्र रम्या वाणी का विलास व्यापक था। यहां से अधिक मधुर बोलने वाले पक्षी अन्यत्र नहीं। प्रत्येक ऋतु में फूलों से लतायें लदी रहती हैं। फलों से वृक्ष लदे रहते हैं। नीले और लाल पुंडरीकों के विकास से सरोवर हंसते हुए प्रतीत होते हैं। सरोज के पराग से अनुरंजित मधुकर अनुराग भरे स्वर गुन-गुना रहे हैं।

सरोवरों के परिसरों में उठती हुई मेघमाला के सुखद समीर से मदनाकुलित मयूर लता मंडपों में मधुर केका करते और कभी कलाप विस्तृत करके नाच उठते हैं। बीच-बीच में सहिजन के फूल मानों कामदेव के शस्त्रों का समुच्चय बने थे। गिरि शृंगों पर केसर के फूल सुनहरी जरी के उत्तरीय से प्रतीत होते थे। कनेर के गुच्छे मानो कानों के कुंडल और कचनार की कलियां मानो गंधमादन के मस्तक का तिलक बनी हुई थीं।

मन्द-मन्द समीरण और सौंदर्य का यह सागर देखकर धर्मराज युधिष्ठिर भीमसेन से बोले—गंधमादन के आश्चर्यजनक वैभव को देखो। शोभा यहां टिक कर रह गयी है। इन सरोवरों में हाथी करेणुकाओं पर जल के शीकर उत्सेचन कर रहे हैं। इन लता कुंजों में देवों की केलिक्रीड़ाएं देखने वाले पक्षी और भौंरे अनुराग-रंजित संगीत गाते हैं। नाना प्रस्रवणों की धाराएं उन पर ताल दे रही हैं। हिंगुल, हरिताल, और मनः-शिला से गुम्फित कन्दराओं में मानो संध्या छिपी बैठी है। यहां किन्नर किन्नरियों से ही केलिक्रीड़ा नहीं कर रहे, किन्तु गंधर्व भी सौन्दर्य-मुग्ध होकर गान्धरियों का आलिंगन करते हैं। वृषपर्वा ने हमसे यही तो कहा था। वह कहने से अधिक यहां दिखाई देता है। प्यार से विभोर तरुण साम के स्वर गुनगुना उठता है और प्रणय से परवश प्रेयसी अपनी अरुण हथेलियों पर शनैः-शनैः ताल दे उठती हैं।

और वह देखो—फल-फूलों से मनोहर आर्ष्टिषेण राजर्षि का वह आश्रम आ गया। वे राक्षसों के कंधों पर उठी हुई शिविका (डांडी) से आश्रम में आकर उतर पड़े। यह लम्बा मार्ग उन्हे छोटा सा प्रतीत हुआ। वे छः दिन वहीं रहे। एक दिन इन्द्र का रथ वहां आ गया, और उन्हें तीव्र गति से अमरावती ले गया।

पांचवां गणतंत्र गन्धर्वों का था। गन्धार विस्तृत प्रदेश था। गन्धार की राजधानी पुष्कलावती थी। पुष्कलावती आज चारसद्दा बन गई है। यहीं देवासुर संग्राम एक बार नहीं कई बार हुए। इसलिये राजधानी का गौरव पुरुषपुर (पेशावर) को ही प्राप्त होता रहा। किम्पुरुष खण्ड और गन्धार के बीच काश्मीर का जो भाग है वह नाग गणतंत्र का ही भाग रहा है। तक्षशिला होकर सिन्ध तक काश्मीर का विस्तृत साम्राज्य नागवंशियों के संरक्षण में समृद्ध हुआ। वह शंकर के त्रिशूल के नीचे मानो अभय पाकर पला। गन्धार में सुवास्तु (स्वत नदी का कछार), सिन्धु कोप (हिंदू कुश), तुरुष्क (तुर्किस्तान), निषध तथा कम्बोज शामिल थे। वह सिंध नदी के दोनों ओर था। रामायण में उसका उल्लेख है।[1]

---

1. सिन्धोरुभयतः पार्श्वे देशः परम शोभनः
तं च रक्षन्ति गन्धर्वा सयुधा युद्धकोविदाः ॥ वाल्मीकि रामायण, उत्तर, 100/11

महाभारत में इनका विस्तृत उल्लेख है। सन् 1904 ई० में फ्रांस के प्रोफेसर सिलवेन लेवि (Sylavin Levi) ने महामहोपाध्याय श्री गणपति शास्त्री से 'भारतानुवर्णनम्' नामक भारत के भूगोल की एक पुस्तक प्रकाशित कराई थी। इसकी भूमिका (Introduction) स्वयं श्री सिलवेन लेवि ने लिखी है। सिलवेन लेवि भारत में संस्कृत साहित्य तथा भारतीय कला के विद्यार्थी रहे। इस पुस्तक में ई० पूर्व० 3102 वर्ष प्राचीन भारत का एक मानचित्र दिया है। पुस्तक में कुल 99 पृष्ठ हैं। 100वां पृष्ठ वही मानचित्र। पुस्तक काम की है। स्कूलों में भारत के भूगोल के लिये इसे विद्यार्थियों को पढ़ाया जाय तो वहुत अच्छा।

सन् 1931 ई० में जब मैं काशी में पूज्यपाद गुरुवर पं० काशीनाथजी शास्त्री से विद्याध्ययन कर रहा था, यही पुस्तक एक पुस्तक-विक्रेता के पास देखी। इसका मूल्य १) था। मैं लेने लगा तो विक्रेता ने पांच रुपये मांगे। मैंने दिये। यहां मैं पंचजन के गणतंत्र का विवरण कुछ तो इसी पुस्तक के मानचित्र के आधार पर दे रहा हूं, कुछ अन्य प्रमाणों के आधार पर भी।

जो हो, गन्धार का स्थान भी भारत के इतिहास में वहुत ऊंचा है। कला, विज्ञान, संगीत, अध्यात्म, व्याकरण जैसे विषयों में ही नहीं, वह युद्ध विद्या में भी प्रवल थे। खोटांग (खोतन) जो कभी भारत का ही प्रदेश था तथा उपर्युक्त मानचित्र में नहीं दिया गया और न ही उत्तर कुरु (सिंकियांग)। इस प्रदेश पर मंगोल और चीनी आक्रमण इतिहास के पुराने अध्याय हैं।[1] बौद्ध काल तक ये भारत के अंग थे। खोतन अव सिंकियांग में शामिल है। किसी युग में इस प्रदेश की राजधानी खोतन (खोटांग) नामक नगर था। यहां से भूगर्भ द्वारा भारतीय राजाओं के आठ सिक्के मिले हैं। इनमें से छः काश्मीर के राजाओं के हैं। शेष दो सिक्के कावुल के हिंदू राजा सामन्तदेव के हैं। यहां से एक मिट्टी का वना वर्तन मिला जिस पर सितार वजाते हुए एक वंदर का चित्र है। एक अन्य वर्तन पर दो गान्धारियों की मूर्तियां हैं। एक मोहर मिली जिस पर गौ का चित्र है। पीतल की ढली हुई एक वुद्ध मूर्ति भी मिली। एक दीवार पर बुद्ध के मार विजय का चित्रण है। एक आले में वोधित्व की प्रतिमा प्राप्त हुई जिसमें बौद्ध चीवर पहना हुआ है। एक प्रतिमा नाग कन्या की भी है। खोटांग में ही नागार्जुन का लिखा 'उपाय हृदय' ग्रन्थ भी मिला।

ह्वेन-सांग के यात्रा वृत्तांत के अनुसार खोतन नगर से 20 ली (मील) दक्षिण-

---

1. विजित्य यः प्राज्यमयच्छदुत्तरान्
कुरूनकुप्यं वसु वासवोपमः।
स वल्कवासांसि तवाधुना हरन्
करोति मन्युं न कथं धनञ्जयः॥ किरातार्जुनीय 1/35
हे युधिष्ठिर !
जिस अर्जुन ने कभी उत्तर-कुरु शत्रुओं से छीनकर राष्ट्र को अतुल धन-संपत्ति दी थी, क्या वनवासी वेश में वह तुम्हें व्याकुल नहीं करता ? तुम्हें भी शत्रुओं के विरुद्ध अभियान कर अर्जुन का सम्मान करना चाहिये।

पश्चिम में गोश्रृंग पर्वत था। इस पर्वत की घाटी में एक बौद्ध विहार था, जिसका नाम ही गोश्रृंग विहार था। विहार में बुद्ध की एक मूर्ति थी जिसके मुखमंडल के चतुर्दिक ओप था। यहां एक गुफा 39 फीट लम्वी, 10 फीट ऊंची और 14 फीट चौड़ी है। गुफा के बीच खरोष्ट्री लिपि में, 'धम्मपद' ग्रंथ मिला।[1] खेद है कि बौद्ध अहिंसा ने राष्ट्र के प्रति अपने उत्तरदायित्व का निर्वाह नहीं किया। अहिंसा की आड़ में शकों और चीनियों ने गन्धार का यह प्रदेश हम से छीन लिया। असंग और वसुबन्धु का घर पदाक्रांत होने से हम न वचा सके। मनु ने कहा था, राष्ट्र अहिंसा से नहीं, दंड से चलते हैं।[2] राष्ट्र के नेता को मनु का यह वाक्य याद कर लेना चाहिए—

स्वराष्ट्रे न्यायवृत्तः स्याद्भृशदण्डश्च शत्रुषु[3]

गन्धार के गणनायक चित्रसेन का अमरावती में वड़ा सम्मान था। आर्यवर्त्त का प्रत्यंत प्रांत होने के कारण गन्धार का वड़ा महत्त्व था। दरद, वाल्हीक और कम्वोज, त्रिगर्त, दारू (दार्वाभिसार) और कोकनन्द आदि छोटे-छोटे प्रदेशों से मिलकर गन्धार का गणतंत्र विशाल था। युद्ध कौशल में गन्धर्व इतने पटु थे कि उन जैसी व्यूह रचना दूसरों से न वन सकी। 'गन्धर्वपुर' या गन्धर्व नगर उन व्यूहों का ही नाम है जिनमें फंसकर फिर किसी का छुटकारा संभव न था।

महाभारत में लिखा है कि उत्तर-पश्चिम सीमान्त के इर्द-गिर्द 'उत्सव-संकेत' नाम की म्लेच्छ जातियां रहती थीं। गन्धर्व आये-दिन इनसे टक्कर लेते थे। कौरवों की माता और धृतराष्ट्र की रानी 'गान्धारी' यहीं की थीं। महाभारत के समय गन्धार का राजा 'सुवल' था, जो युधिष्ठर के राजसूय यज्ञ में आया था।[4] किन्तु उससे पूर्व विश्वावसु और उसका पुत्र चित्रसेन गन्धार के शासन पर अधिष्ठित थे।

तुम्बुरु, नारद, हाहा, हूहू, नाम के वे गन्धर्व थे जो इन्द्र की सभा को संगीत से सरस वनाये रहे। संगीत विद्या पर इनका एकाधिकार रहा है। तम्बुरु का 'तुम्बूरा' और नारद की वीणा ही आज तक संगीत का संग दे रही हैं। वाद्य वहुत वने, किन्तु स्वरों पर शासन करने के लिये तुम्बूरा और वीणा से आगे कोई न जा सका। विश्वावसु स्वयं संगीत का आचार्य था। वैजयन्ती कोप ने लिखा है कि विश्वावसु की वीणा का नाम 'वृहती' था। तुम्वुरु की 'कलावती' तथा नारद की 'महती' और सरस्वती की 'कच्छपी'। प्रतीत होता है कि सरस्वती भी गन्धार की ही थी।[5] षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पंचम, धैवत, निषाद इन सातों स्वरों के अनुस्वर, श्रुति और अनुश्रुतियों तक पहुंचने वाले गान्धार लोग ही थे। किन्नर गायक थे, किन्तु स्वरकार गन्धर्व ही। संगीत के दस थाटों

1. वृहत्तर भारत, श्री चंदगुप्त वेदालंकार, पृ० 97-98
2. दण्डः शास्ति प्रजाः सर्वा दण्ड एवाभिरक्षति।
   दण्डः सुप्तेषु जागर्ति दण्डः धर्मं विदुर्बुधाः॥ मनु० 7/18
3. मनु० 7/32
4. महाभारत, सभापर्व, अध्याय 34
5. विश्वावसोस्तु वृहती, तुम्वृरोस्ति कलावती।
   महती नारदस्य स्यात्सरस्वत्यास्तु कच्छपी॥ वैजयन्ती कोप

में कम्बोज थाट (खम्माज) अभी तक गन्धार के स्मरण को प्रस्तुत कर रहा है। कम्बोज गन्धार का ही प्रसिद्ध नगर है। सात स्वरों में गन्धार स्वर उस देश के नाम पर ही अमर हो गया। गन्धार बोला तब उसी स्वर पर। कभी तीव्र, कभी कोमल। वह गन्धार और उसके वादी स्वर निषाद में ही बोला और जब बोला उसके उदात्त वचनों के आगे उसके प्रतिद्वन्द्वी झुक गये। वे वैर भूलकर प्यार कर उठे। स्वर्ग में रहकर अर्जुन ने इन्द्र से धनुर्विद्या के अतिरिक्त पांच वर्ष तक चित्रसेन से संगीत विद्या भी सीखी थी।[1]

देव, नाग, यक्ष और किन्नरों ने भले ही धनुपबाण-गदा-वज्र और अन्यान्य अस्त्र शस्त्र उठाये हों, गन्धार ने अपनी वीणा और तुम्बुरु से बड़े-बड़े दुर्दान्तों को झुका दिया। घृताची, मेनका, रम्भा, स्वयं प्रभा, उर्वशी, गोपाली और चित्रसेना जैसी अप्सराओं की थिरकन पर जब तुम्बुरु और वीणा ने झंकार दी, बलि जैसे असुरों के पाश और इन्द्र जैसे देवताओं के वज्र हाथ से गिर पड़े। युद्ध के अस्त्र-शस्त्र—तीर, तलवार और वज्र ही नहीं हैं—वीणा और तुम्बुरु भी हैं, यह गन्धर्वों ने ही सिद्ध किया। इतिहास कहता है—सिन्कदर जो किसी से नहीं हारा, उसे बेबीलोन के किले में वीणा के प्रहार से गान्धारियों ने सदा के लिये समाप्त कर दिया।

वेद पर देवताओं ने किसी को हाथ नहीं लगाने दिया। परन्तु गन्धर्वों ने सारे ऋग्वेद को स्वरों की सात तंत्रियों पर कसकर साम की सृष्टि कर दी। सामवेद एक नया वेद ही बन गया।[2]

गन्धार अपनी इस विशेषता के कारण पंचजन में व्यापक हो गया। अमरावती में इन्द्र के उत्सव अधूरे रह जाते यदि विश्वावसु, चित्रसेन और नारद उसे समलंकृत न करते। छान्दोग्य और बृहदारण्यक उपनिषदों में गन्धार और उसके गन्धर्व बहुत प्रतिष्ठित हुए हैं। छान्दोग्य ने लिखा—'पुरुष का सार वाणी है और वाणी का सार संगीत।' वह माधुरी समाप्त हो गई जब बौद्ध संघ ने कविता और संगीत को अपराध घोषित कर दिया। बुद्ध भगवान के समय से लेकर अश्वघोष तक पूरे छः सौ वर्ष भारत से संगीत और कविता बहिष्कृत रही थी।

छान्दोग्य में आरुणि ने अपने पुत्र श्वेतकेतु से कहा—'वत्स! जानते हो तुम क्या हो?'

'नहीं, भगवन्।'

'तो इस वटवृक्ष के फल को तोड़ो।'

'तोड़ दिया।'

क्या देखते हो?'

---

1. महाभा० —वन० 12 (C.V. Vaidya)
2. ऋच्यध्यूढं साम गीयते। गीतिषु सामाख्या। —जैमिनीय सूत्र

   षड्जमध्यमनामानौ ग्रामौ गायन्ति मानवाः।
   न तु गन्धार नामानं स लभ्यो देव योनिभिः॥ —रस रत्नाकर
   उदात्ते निषादगान्धारौ अनुदात्ते ऋषभधैवतौ।
   स्वरितेन तु विज्ञेयाः षड्ज मध्यम पञ्चमाः॥

'अणु मात्र बीज।'

'अणु मात्र को तोड़ो।'

'तोड़ा।'

'क्या देखते हो ?'

'कुछ नहीं।'

'तुम कुछ नहीं देखते, किन्तु इस अणु में इतना बड़ा वटवृक्ष समाया हुआ है। इसी प्रकार तुम विश्व के कण-कण में कुछ नहीं देखते, किन्तु उनमें ही यह आत्मा समाई हुई है, जो सबसे महान् है।'

'वत्स ! क्या जानते हो तुम कहाँ से आये हो ?'

'नहीं, भगवन्।'

'किसी की आंखों पर पट्टी बाँधकर ऊँची-नीची भूमि से भिन्न-भिन्न नगरों से घुमाते हुए कहीं ले आओ और पट्टी खोल दो। कह दो तुम्हारा घर गन्धार में है। इस दिशा में चले जाओ।'

वह बुद्धि से काम लेगा तो एक-दूसरे गाँव से पूछता हुआ गन्धार पहुँच कर ही रहेगा। क्योंकि वहीं उसका घर है। तुम अपनी आँखों पर बँधी अविवेक की पट्टी खोलो, तो तुम भी अपने घर पहुँचोगे, वही मुक्ति है।[1]

गन्धार के गणतंत्र में स्त्री पुरुषों की वर्गीय स्वतंत्रता उनकी इच्छा पर रहती रही।[2] इसी कारण इतिहास में गन्धर्वों का यौन सम्बन्ध 'गन्धर्व विवाह' बन गया। गन्धर्व विवाह भी उस युग का कानून सम्मत सम्बन्ध बन गया था। कुमारियाँ ही नहीं, विवाहितायें भी इच्छित पुरुष के साथ सम्बन्ध करने में स्वतंत्र थीं। गन्धार की यह प्रवृत्ति सारे आर्यावर्त्त का कानून मान ली गई थी। मनु ने गन्धर्व विवाह भी धर्म सम्मत लिखा है।[3]

(1) यह उल्लेख उपनिषदों में भी आया है। बृहदारण्यक में देखिये—भुज्यु ने जिज्ञासा पूर्वक याज्ञवल्क्य से पूछा—

"मैं मद्र देश (सिन्ध-बिलोचिस्तान) में भ्रमण कर रहा था। हम कई लोग पातञ्जल काप्य के घर गये। उसकी बेटी एक गन्धर्व की प्रेमिका थी। हमने उस गन्धर्व से पूछा 'आपका परिचय'। वह बोला—'मैं अंगिरा के वंश में उत्पन्न सुधन्वा हूँ।'

हमने पूछा—'क्या इन लोक-लोकान्तरों का अंत बता सकते हो ? और क्या यह भी बताओगे कि यह अश्वमेध आदि यज्ञ करने वाले किस लोक को जाते हैं ?'

उसने उत्तर दिया, 'हम नहीं समझे।' याज्ञवल्क्य, तुम बताओ यह क्या रहस्य है ? ..."[4]

---

1. छान्दोग्य उप० 6/12–14
2. सुवास्तु सिन्ध्वादि नदीषु प्रवहमानानां सोमखण्डानामग्रहार्थं तत्राप्सु नियुक्ता गन्धर्वाः सन्ति, स्वभावतश्च तेऽतितरां स्त्रैणाः सन्ति" अत्रि ख्याति, पृ० 71
3. ब्राह्मोदैवस्तथैवार्षः प्राजापत्यस्तथा सुरः।
   गान्धर्वो राक्षसश्चैव पैशाचश्चाष्टमोऽधमः॥ —मनु० 3/21
4. बृहदा० 3।8

(2) दूसरा कथा प्रसंग देखिये--

"आरुणि ने याज्ञवल्क्य से पूछा--मैं मद्र में चारिका कर रहा था और पातञ्जल काप्य के घर पर यज्ञ का विज्ञान पढ़ रहा था। उसकी पत्नी से एक गन्धर्व का प्रणय था। हमने उससे पूछा तुम क्या अपना परिचय दोगे ?

हाँ, मैं अर्थवा के वंश का कवन्ध हूँ। तुम्हारे यज्ञ के विज्ञान के बारे में मैं काप्य और सारे याज्ञिकों से पूछना चाहता हूँ।

क्या तुम बता सकते हो कि वह कौन-सा सूत्र है जिससे यह लोक, परलोक और उनमें रहने वाले सारे प्राणी बँधे हैं ?

काप्य पातञ्जल बोला--मैं नहीं जानता।

उसने काप्य और याज्ञिकों से पूछा--क्या तुम उस अन्तर्यामी को जानते हो जो इस लोक, परलोक और उनके प्राणियों के अन्दर विराजमान होकर उन्हें व्यवस्थित करता है ?

काप्य ने कहा--मैं नहीं जानता।

उसने काप्य और याज्ञिकों को सम्बोधित करके फिर कहा--देखो, उस अंतर्यामी सूत्र को जो जान लेगा वही ब्रह्मवेत्ता है, वही लोकवेत्ता है, वही वेदवेत्ता है, वही प्राणिवेत्ता है, वही आत्मवेत्ता है और सर्ववेत्ता है।

याज्ञवल्क्य मैंने उससे जो रहस्य जाना था वह क्या तुम जानते हो? यदि नहीं जानते तो विद्वानों में तुम्हारी गर्दन नीची हो जायगी।"[1]

इन उद्धरणों से हम देखते हैं कि गन्धर्वों का वैदिक विज्ञान में उत्कृष्ट योग था। युद्ध में, कला में, संगीत में और अध्यात्म में गन्धर्व पंचजन में किसी से पीछे नहीं थे। गन्धर्व विवाह सामाजिक संरक्षण का एक प्रकार था। दूसरी ओर गान्धारी जैसी पति-व्रतायें भी तो थीं जिन्होंने अन्धे पति धृतराष्ट्र के साथ आजीवन आँखों पर पट्टी बाँध ली।

कला की दृष्टि से गन्धार-कला का भी एक स्वतंत्र अस्तित्व है। रायकृष्णदास ने लिखा है कि 50 ई० पूर्व गन्धार-कला ने बौद्ध प्रतिमाओं को जो निखार प्रदान किया वह अपूर्व था। वह गुप्त काल के प्रारम्भ (300 ई०) तक अपनी शैली में अद्वितीय थी।[2] यही नहीं, उसने अपनी विशेषताएँ आज तक खोई नहीं हैं। पुरातत्व में उसकी हजारों मूर्तियाँ मिली हैं। सौन्दर्य के साथ-साथ भावाभिव्यक्ति में गन्धार-कला उत्कृष्ट है। अफगानिस्तान में हाथी दाँत की मूर्तियाँ प्रचुर मात्रा में मिली हैं, जिन पर शुंग-कालीन सांची की शैली में मूर्तियाँ उद्‌ंकित हैं। जातक घटनाओं के मूर्ति-चित्रण उनकी विशेषता है। बुद्ध की धर्म-प्रवर्त्तन मुद्रा गान्धार-कला में है। कुषाण और शक काल में गन्धार कला व्यापक थी।

एक बार इन्द्र के नन्दन में उत्सव था। गन्धर्वराज चित्रसेन उसके निमंत्रण पर

---

1. वृहदा० 3/7--यहाँ परिणाता और परिगृहीता का अन्तर समझना चाहिये। मनु ने लिखा है कि यज्ञ में संस्कार द्वारा प्राप्त पत्नी परिणीता और प्रणय प्राप्त प्रेयसी परिगृहीता होती है। उपनिषद् में लिखा है "तस्यासीद् भार्या गन्धर्वपरिगृहीता"। उसी प्रकार 'तस्यासीद्दुहिता गन्धर्वपरिगृहीता।"
2. भारतीय मूर्तिकला (गन्धार शैली), पृ० 72

अमरावती जा रहे थे। आकाश मार्ग से विमान त्रिविष्टप की ओर उड़ा जा रहा था। महाभारत ने लिखा है कि विमान में वैठी गन्धर्वराज की पत्नी चित्रसेना ने उन्हें पान दे दिया। गन्धर्वराज ने पान खा लिया। मुँह में पीक आयी। चित्रसेन ने विमान से वाहर पीक थूक दी।

विमान हरद्वार के ऊपर था। नीचे गंगा में दुर्वासा ऋषि स्नान कर सूर्य को अर्घ्य दे रहे थे। पीक आकर उनकी अंजलि में गिरी। दुर्वासा क्रोध से आग-ववूला हो गये। वे स्वभाव से क्रोधी प्रसिद्ध थे ही। आज्ञा दी––जिसने मेरी अर्घ्यांजलि में पीक थूकी है तीन दिन में उसकी जीवन लीला समाप्त कर दी जाय। सूचना इन्द्र के पास पहुँची। इन्द्र ने खोज की कौन था? ज्ञात हुआ गन्धर्वराज चित्रसेन।

ऋषि की आज्ञा अभिशाप (Sentence) थी। श्रीकृष्ण को आज्ञा दी गई चित्रसेन का वध कर दो। चित्रसेना अपने वैधव्य की कल्पना कर व्याकुल हो अर्जुन के पास पहुँची और सुभद्रा (अर्जुन की पत्नी) के चरणों में गिर पड़ी। देवि! मेरे सौभाग्य की रक्षा तुम्हारे हाथ है। सुभद्रा ने पूछा। सारी कथा कह दी।

सुभद्रा ने अर्जुन से कहा––शरणागत की रक्षा करना क्षत्रिय का धर्म है। अर्जुन ने स्वीकार किया। तीसरे दिन श्रीकृष्ण ने चित्रसेन का वध करने के लिये सुदर्शन चक्र उठाया। अर्जुन ने कहा, भगवन् चित्रसेना मेरी शरण आई है, उसके सौभाग्य की रक्षा हमारा धर्म है। श्रीकृष्ण ने कहा––इन्द्र की आज्ञा और ऋषि का अभिशाप अटल है।

श्रीकृष्ण ने चक्र उठाया और अर्जुन ने गांडीव। देखूँगा, चित्रसेन का वध कैसे करोगे। मेरे जीतेजी गन्धर्वराज का जीवन सुरक्षित है और चित्रसेना का सुहाग भी। वात वढ़ गई। श्रीकृष्ण और अर्जुन में युद्ध छिड़ गया। दोनों अद्वितीय। शस्त्रों के प्रहार से दोनों अचेत होकर गिर पड़े।

दुर्वासा ने देखा, दो युग पुरुष सदा के लिये समाप्त होना चाहते हैं। इसलिये अभिशाप का जल कमंडलु में भर लिया। दंड की यह पराकाष्ठा थी।

सुभद्रा ने देखा अभिशाप जल गंधर्वराज को भस्म कर देगा। ज्योंही अभिशाप जल दुर्वासा ने भूमि पर छोड़ा, सुभद्रा ने अपनी अंजलि में लेकर स्वयं पी लिया।

दुर्वासा यह देखकर चकित रह गये––सुभद्रा अभिशाप जल पीकर भी निश्चिंत थी। वह धर्म पर आरूढ़ थी। दुर्वासा का क्रोध शांत हो गया। कृष्ण और अर्जुन सचेत हुए। चित्रसेना का सुहाग जीवित रह गया।

राजनीति और धर्मनीति का यह संघर्ष आर्य जाति की नारी का उत्कृष्टतम आदर्श है। वह हमारे इतिहास का अनन्य गौरव है। क्या विश्व की कोई जाति इसका प्रतिरूप प्रस्तुत कर सकी?

स्वर्ग के पञ्चजन में विद्रोह की आग सवसे प्रथम गन्धार में लगी। धन्वन्तरि के समय जो गन्धार धन्व के पार त्रिपुर (ट्रपोली) विजय में उनके साथ था। जो चित्रसेन इन्द्र के अंतरंग सलाहकारों में थे, वह 'आसमुद्रात्तुवै पूर्वादासमुद्रात्तु पश्चिमात्' भूमि के अधीश्वर वने थे, उनके उत्तराधिकारी अव स्वार्थों की संकीर्ण भावनायें लेकर स्वर्ग पर

ही आक्रमण करने लगे थे। भेड ने अपनी भेड संहिता में आत्रेय की गन्धार यात्रा का उल्लेख किया है। उस समय नग्नजित वहाँ का सम्राट् था। वह अत्यन्त विद्वान् और पराक्रमी था। शतपथ और ऐतरेय ब्राह्मणों में नग्नजित् का उल्लेख है। उसने अनेक यज्ञ कर डाले, इसलिये भारी सामाजिक प्रतिष्ठा उसे प्राप्त हुई। उसकी इच्छा के विरुद्ध कोई सम्राट् खड़ा नहीं रह सका। उसका पूरा नाम 'दारुवाह-नग्नजित्' था। नग्नजित् के लिये वहाँ 'स्वर्गमार्गद:' विशेषण लिखा गया। वह स्वर्ग में चाहे जिसे जाने दे जिसे न चाहे न जाने दे। इन्द्र, कुवेर, शंकर और शन्तनु अव नग्नजित् की कृपाकोर के कांक्षी थे। स्मरण रहे, नग्नजित् प्रह्लाद का शिष्य था। वह प्रह्लाद, जिसके पूर्वज वलि और हिरण्यकश्यप जैसे असुर थे। स्वर्ग के चिर शत्रु। वे न जीत सके। किन्तु प्रह्लाद ने नरक की शक्तियों से मिलकर स्वर्ग के विरुद्ध अभियान चालू रखे।[1]

नग्नजित् का पुत्र वड़ा दुर्दान्त हुआ। उसने पंचजन की सांस्कृतिक और राष्ट्रीय अखंडता को चुनौती दी। आखिर वैदिक घोषणा यही तो थी—'त्वां विशो-वृणुतां राज्याय'।[2] इन्द्र के सिर पर ही स्वर्ग का सेहरा क्यों वँधा है, मेरे भी वाँधा जाय। इस द्रोह को लेकर उसने स्वर्ग पर आक्रमण कर दिया। केकय, सौवीर और किम्पुरुष खंड ही नहीं, सम्पूर्ण स्वर्ग की शक्तियाँ उसके विरुद्ध संगठित हुई, किन्तु वह फिर भी लड़ा। और जीत भी गया।

अव वह सचमुच 'स्वर्गमार्गद:' वना हुआ था। स्वर्ग का सारा व्यापार कम्वोज, वाल्हीक और पुष्कलावती होकर ही चल रहा था। हरद्वार तो दूसरा अन्तर्द्वार था। इन्द्र को कभी असुरों और राक्षसों से लड़ने की चिन्ता रहा करती थी, आज अपने वन्धुओं के विरुद्ध ही शस्त्र सन्नद्ध करने पड़े। रामायण का वह महत्वपूर्ण उल्लेख है जव इन्हीं गंधर्वों के विरुद्ध अभियान को दमन करने के निमित्त इन्द्र की सहायतार्थ सम्राट् दशरथ स्वर्ग गये थे। वे कालिदास के शब्दों में तभी तो 'आनाक रथ वर्त्मा' हुए। रानी कैकेयी ने इसी संग्राम में अपने पति की युद्ध में सहायता करके उनका एक वरदान अमानत रख लिया था, जो पीछे कोसल के गृहकलह का कारण वना।

कालिदास का उल्लेख ध्यान से देखिये। वह केवल चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के दिग्विजय-मिष से नहीं लिखा गया। वह प्राचीन तथ्यों का लेखा ही है। रघु ने दिग्विजय किया था, उस समय गन्धार के गणनायक लोग रघु के सामने फलों से लदे अखरोटों के पेड़ों की भाँति झुक गये। और घोड़ों पर सोना, चाँदी तथा अन्यान्य वहुमूल्य भेंट लाद-लाद कर रघु के चरणों में अर्पित करने लगे।[3] रघु के दो पीढ़ी वाद जव राम ने राज्य

---

1. महाभा० आदि० 63,
2. त्वां विशो वृणुतां राज्याय त्वमिमाः प्रदिशः पंचदेवीः।
वर्ष्मन् राष्ट्रस्य ककुदिश्रयस्व अधोन उग्राविभजावमूनि॥ —ऋग्वेद
'हे वीर! प्रजा तुझे राज्य सिंहासन के लिये चुने, सारी दिशायें जिनमें पंचजनों का वास है तेरा समर्थन करें। तू राष्ट्र के मंच पर वैठ कर इन प्रजाओं को धनधान्य और सुरक्षा प्रदान कर।'
3. रघुवंश 4/69-70

सँभाला और भरत को उनके मामा अश्वपति युधाजित् की इच्छा से गन्धार का शासन सूत्र सौंपा तो किसी ने भेंट नहीं दी, प्रत्युत शस्त्र उठाये। भरत को अयोध्या से बड़ी सेना लेकर युद्ध करना पड़ा। तव कहीं तक्षशिला में अपने पुत्र तक्ष और पुष्कलावती में पुष्कल को शासन करने के लिये बैठा पाये।[1]

जो भी हो। नग्नजित् 'स्वर्गमार्गदः' तो हो ही गया था। उसने शत्रुओं को स्वर्ग पर आक्रमण करने के लिये मार्ग दिया। वे हूण जिन्हें रघु ने पीटा था, नित्य इधर-उधर के झरोखों से स्वर्ग की ओर ललचायी दृष्टि से देख रहे थे।[2] जव उन्होंने देखा स्वर्ग के रास्ते पर अव नग्नजित् का देशद्रोही पुत्र बैठा है, उन्होंने वर्वर आक्रमणों से स्वर्ग की श्री और समृद्धि पर वलात्कार करना प्रारम्भ कर दिया। दुर्योधन ने राजदरबार में दुनिया के प्रतिनिधियों के सामने द्रौपदी को नंगा करके अपने साम्राज्य के सर्वनाश का वीजारोपण किया था ठीक वैसे ही नग्नजित् के पुत्रों ने स्वर्ग की श्री-समृद्धि को नग्न करके गन्धार के सर्वनाश का सूत्रपात किया।

इन्द्र के विरुद्ध नग्नजित् ने तुरुष्क (तुर्की) के हूण और शकस्थान (ताजिकिस्तान) के शकों को संगठित करके स्वर्ग पर वर्वर अभियान किये। उत्तर में निषध और काश्मीर की ओर, दक्षिण-पश्चिम में केकय, सौवीर और मद्र को शकों और हूणों ने गन्धर्वों की आड़ में जिन अनैतिक अनाचारों के साथ लूटा, वर्वरता का दिल दहल गया। इतिहास ने एक वात अमिट सत्य कही—'जिस विद्रोही ने आततायियों को साथ लेकर कहीं आक्रमण किया, वह विद्रोही विश्व के मानचित्र से सदा के लिये मिट गया।' गन्धर्व ही कैसे वचते ? स्वर्ग के पंचजन में से गन्धार ही सबसे पहले समाप्त हुआ।

सौवीर (सिन्ध) और केकय (पंजाव) की राजनैतिक और शासन व्यवस्था का एक ही उल्लेख से अनुमान कीजिये—'पाँच-छः क्षत्रिय एक होकर विचारने लगे आत्मा क्या है, ब्रह्म क्या ? वे निर्णय न कर सके। निर्णय किया—उद्दालक आरुणि इस तत्व को कह सकेगा, वहीं चलें। वहीं गये।

उद्दालक आरुणि ने कहा—"मैं सम्पूर्ण रहस्य नहीं कह सकूंगा। हे क्षत्रियो ! आजकल अश्वपति सम्राट् केकय देश का शासक है। वही इस तत्व को स्पष्ट कर सकेगा। वहाँ जाओ।" वहाँ गये। अश्वपति ने यथोचित सत्कार करके, प्रातः उठते ही कहा, "हे महानुभाव ! आप क्या शिकायत लेकर आये हैं ? मेरे राज्य में तो कोई चोर नहीं है, न वेईमान, न शराबी, न यज्ञहीन, न अनपढ़, न व्यभिचारी पुरुष, फिर व्यभिचारिणी कहाँ ? हाँ, यदि अन्य कुछ चाहते हों तो यज्ञ के अन्त में जब सबको दक्षिणा दूंगा, तुम्हारा भी सत्कार करूँगा।"[3]

---

1. भरतस्तत्र गन्धर्वान्युधिनिर्जित्य केवलम्।
   आतोद्यं ग्राहयामास समत्याजयदायुधम्॥ —रघु० 15/88
   सतक्षपुष्कलौ पुत्रौ राजधान्योस्तदाख्ययोः।
   अभिषिच्याभिषेकार्हौ रामान्तिकमगात्पुनः॥ —रघु० 15/89
2. तत्रहूणावरोधानां भर्तृषुव्यक्तविक्रमम्।
   कपोलपाटलादेशि वभूव रघुविक्रमम्॥ —रघु० 4/68
3. छान्दोग्य उप० 5/11

हम नहीं कह सकते कि इन देशों में विप्लव और विद्रोह की आग सुलगी। वे गन्धर्व ही थे जिन्होंने माया युद्ध का आतंक फैलाया। महाभारत में गन्धर्वों द्वारा सौवीर में विप्लव खड़ा करने का उल्लेख है।[1] एकचक्रा (इटावा) से अहिच्छत्रा (बरेली) जाते हुए पांडवों ने गंगा पार करना चाहा। रात हो गई थी। अंगार पर्ण गन्धर्व अपनी प्रेयसियों के साथ गंगा में जल विहार कर रहा था। विहार में विघ्न होने के कारण वह पांडवों से लड़ने लगा। अर्जुन ने उसे बुरी तरह परास्त किया। तब वह झुका और अर्जुन से मित्र भाव रखने की याचना करने लगा।[2] गन्धर्व गणतन्त्र अपने चारित्रिक दोष के कारण गिरता ही गया। जिस प्रकार पेड़ की विकृत शाखा स्वयं ही सूख जाती है, उसी प्रकार गन्धार का गणतंत्र मानो स्वयं ही अपने दोषों से समाप्त हुआ। किन्तु अंग-भंग होने के कारण स्वर्ग का सौन्दर्य जाता रहा। संगीत की स्वर माधुरी को वासना ने निगल लिया। वीरता को विषाक्त विषयवासना ने विपयण कर डाला। शक और तुरुष्क वहाँ घुस गये। पाश्चात्य इतिहास लेखक एच० जी० वेलस का कहना है कि इनमें मंगोल भी शामिल थे।

स्वर्ग की एक उत्तर-पश्चिमी दीवार टूट गई। किन्तु यह स्वर्ग के इतिहास का दूसरा अध्याय था। स्वर्ग के इतिहास का प्रथम अध्याय असुरों (असीरियन) के आक्रमणों का अध्याय है। दूसरा उन पिशाच और राक्षसों का आक्रमण है जो किसी समय नागों, गन्धर्वों और देवों के सेवा कार्य में आते थे।[3] वे तुरुष्कहूण (तुर्क) थे और दूसरे शकस्थान (सीस्तान) के शक। घर का सेवक जब मालिक की दुर्बलताओं से परिचित हो जाता है, वह उन्हीं कमज़ोर स्थानों पर चोट करने लगता है। असुर सभ्य योद्धा थे। तुरुष्क और शक बर्बर। गन्धर्वों ने प्रणय और यौन संबंधों पर नियंत्रण नहीं रखा। तुरुष्क और शक इसी दुर्बलता के रास्ते उनके समाज में घुस गये और धीरे-धीरे सारे स्वर्ग पर छा गये। न केवल स्वर्ग, आर्यावर्त भी विचलित हो गया।

स्वर्ग के पहले अध्याय के भी दो परिच्छेद हैं। प्रथम—असुरविजय और दक्षिणापथ विजय। किन्तु दूसरे हूण-पिशाच अध्याय का प्रारम्भ पराजय का इतिहास ही कहना पड़ेगा। यद्यपि इन्द्र, शिव और कुबेर के पदाधिकार अभी उसी रूप में चल रहे थे। महाभारत के बाद धीरे-धीरे वे समाप्त हो गये। क्योंकि स्वर्ग की शक्तियाँ अब लोहा लेने में असमर्थ थीं।

रामायण काल से पूर्व ही स्वर्ग से निर्वासित तथा अन्य वंशजों ने, जिनमें पुरु, सूर्य तथा मनु के वंश थे, नरक के प्रदेश को आबाद कर लिया था। कितनी ही देवियाँ, कितने ही देव किसी-किसी अपराध में दण्डित होकर स्वर्ग से नरक को निर्वासित किये

---

1. महाभा० आदि० 142
2. महाभारत आदि० 173
3. 'तत्र पिशाचादयः शिवानुचराः' —राजशेखर काव्य मी० अ० 7
   पिशाचों का परिचय मनु के निम्न उल्लेख में देखिये—
   'न भक्षयति यो मांसं विधिं हत्वा पिशाचवत्।
   स लोके प्रियतां याति व्याधिभिश्च न पीड्यते॥ —मनु० 5/50

जाते रहे थे। प्रियदर्शन गन्धर्व ऐसा ही था, इन्दुमती ऐसी ही थी, भीष्म की माता गंगा ऐसी ही थी। हिमाचल और विन्ध्याचल का प्रदेश ऐसा ही समझिये जैसा आजकल भारतीयों के लिये अंडमान और निकोबार।

स्वर्ग में देवताओं के कठोर शासन के आगे किसी को कुछ कहने-सुनने का अधिकार न था। फिर ऋषियों का मूल स्थान भी स्वर्ग के प्रदेश ही थे, विशेपतः देवलोक त्रिविष्टप। उनका अनुशासन भी कठोरता में कम न था। दुर्वासा ने चित्रसेन गन्धर्वराज को मृत्युदंड सुना दिया तो इन्द्र ने चित्रसेन के वध की व्यवस्था की। यह दूसरी बात है कि घटनाक्रम ने उसे बचा दिया। देवों के इस कठोर शासन का संचालन एक समय तक स्वयं देव ही करते थे, किन्तु देव जब उस आदर्श से च्युत हुए जो उनसे आशा की जाती थी, नरक में क्रान्ति के अंकुर फूटे। उधर दस्युओं के आक्रमण स्वर्ग में भय उत्पन्न करने लगे।

सौ अश्वमेध करने वाला व्यक्ति इन्द्र पदवी पाने का अधिकारी था। रघुवंशी सम्राट् दिलीप ने जब 99वाँ यज्ञ ठाना, इन्द्र ने उसका अश्व चुरा लिया। राजकुमार रघु ने देख लिया—इन्द्र स्वयं ही चोर था।[1] सम्मान तो गया ही। राजनीति के दाँव-पेच पर बात आ गई। इन्द्र ने कहा—99 यज्ञ से अगला यज्ञ न करो, यही मेरी तुम्हारी सुलह का आधार होगा। रघु ने कहा—पिताजी से अनुमति ले लो, तो ठीक। दिलीप को राजी होना पड़ा।

इन्द्रासन तक चढ़ने के लिए सौ यज्ञों का सोपान चाहिए था। एक सीढ़ी से इन्द्रासन रह गया। श्रद्धा जितनी ही नम्र है उतनी ही हठीली। झुके तो सेवा की पराकाष्ठा तक। मुंह फेर ले तो मनाने वाला नहीं मिलता। जिस इन्द्रासन के आगे विश्व झुकता था, रघु न झुका। इतना ही नहीं, रघु के प्रताप से प्रियंवद को फिर स्वर्ग लौटने की सुविधा मिल गई।[2] और एक पीढ़ी बाद उसी इन्द्र को अपनी सहायता के लिये समरांगण में दशरथ को बुलाना पड़ा था।[3]

स्वर्ग की प्रतिष्ठा के वे दिन थे जब केवल इन्द्र के ही वज्र से विश्व कांप उठता था। इन्द्र ने अपने हिमालय को छोड़कर नरक की निम्न भूमि पर कभी पैर नहीं रखा। कालिदास ने इस इतिहास को बड़े स्पष्ट शब्दों में लिखा है—

महीतलस्पर्शनमात्रभिन्नं ऋद्धं हि राज्यं पदमैन्द्रमाहुः।[4]

निम्न नारकीय भूमि पर कभी न आने वाले समृद्ध राज्य का पद ही इन्द्र का पद है। 'मही' शब्द स्वयं अपने अर्थ में पूर्ण है फिर 'तल' क्यों? इसीलिए कि मही तो हिमालय भी है, किन्तु वह 'तल' नहीं है। महीतल जैसा ही भूतल भी स्वर्ग का प्रतिलोमार्थक ही है। इसी प्रकार राजा को बोधित करने के लिये 'पार्थिव' विशेषण स्वर्ग से

1. रघुवंश, सर्ग 3
2. एको ययौ चैत्ररथ प्रदेशान्सौराज्यरम्यानपरो विदर्भान्। —कालिदास, रघु० 5/60
3. स किल संयुगमूर्ध्निसहायतां मघवतः प्रतिपद्य महारथः।
   स्वभुजवीर्यमगापयदुच्छ्रितं सुरवधूरवधूतभयाः शरैः॥ —रघु० 9/19
4. रघु० 2/50

वाहर आर्यावर्त्त के सम्राट् 'पार्थिव' थे। 'पृथ्वी' (Flat) स्वर्ग से नीचे नरक में ही है, इसी लिये उसका सम्राट् पार्थिव है। स्वर्ग के शासक के लिये पार्थिव का व्यवहार प्राचीन संस्कृत साहित्य में नहीं है। नराधिप, मनुष्येश्वर, भूपति, भूपाल, महीपति, नृपति शब्द स्वर्ग के नहीं हैं। वे नरक में, और नरक के लिये ही वने थे।

इन्द्र, वज्रिन्, पुरुहूत, पुरन्दर, सहस्राक्ष, मघवन, देवेन्द्र, सुरेन्द्र, सुरपति, हरि, शतक्रतु, पाकशासन जैसे नाम जो स्वर्ग के राज्य में निर्मित हुए थे एक भिन्न शैली के नाम हैं जो स्वयं में एक-एक इतिहास लिये हुए हैं। प्रत्येक शब्द इतिहास का एक शीर्षक है जिसके अन्तर्गत स्वर्ग के इतिहास का एक-एक अध्याय निर्मित हुआ, क्योंकि वे महा-पुरुष इतिहास का निर्माण कर रहे थे।

वह प्रतापी सम्राट् दिलीप, जिन्हें इन्द्र ने 99 से अधिक एक यज्ञ नहीं करने दिया, सुरेश्वर के सिंहासन से एक सीढ़ी नीचे ही रह गये। किन्तु उसी का प्रपौत्र दशरथ स्वर्ग के ही प्रान्त का शासक वना। क्योंकि अव इन्द्र युद्ध में अपने वज्र के भरोसे स्वर्ग को रक्षित नहीं रख पा रहे थे। कालिदास ने लिखा है—

पितुरनन्तर मुत्तरकोसलान्समधिगम्य समाधि जितेन्द्रियः।
दशरथः प्रशशास महारथो यमवतामवताञ्च धुरिस्थितः ॥[1]

यह ठीक है, व्यक्ति वदले। सिंहासन वही था, नाम भी वही। पर काम नाम से नहीं होता, व्यक्ति चाहिये : वे व्यक्ति जिनके लिये भवभूति ने कहा था—ऋषीणां पुनराद्यानां वाचमर्थोनुधावति'। वे जो कुछ कह देते, वही सत्य वन गया। जो सिंहासन से चिपका है वह नाम का पुरन्दर है, काम का नहीं। भूतल के सम्राट् जिसे जीवन दान देने के लिये जायें, वह क्या देवेन्द्र रह सकेगा? उत्तरकोसल (नेपाल) त्रिविष्टप का प्रदेश था, जिसका ही दूसरा नाम देवलोक था, दशरथ उसी प्रदेश के शासक हो गये।

तो भी सारा आर्यावर्त्त स्वर्ग को सम्पूजित करता रहा है। वह प्रतिष्ठा थी। स्वर्ग में जो कुछ किया गया वह हमारे जीवन का आदर्श वन गया। और आज तक है। शिव शंकर के सेनापतित्व में देवेन्द्र ने असुरों के विरुद्ध अभियान किया। शिव शंकर रथी थे, और स्वर्ग के सवसे प्रमुख विद्वान् ब्रह्मदेव उनके सारथि वने।[2] उनका विचार था, रथी से सारथी अधिक विद्वान् हो। हम देखते हैं महाभारत में अर्जुन का सारथी वनने में श्रीकृष्ण ने गौरव समझा। वह ब्रह्म का पद था। और अभी तक हमारी यह मान्यता है। दुर्योधन ने यही इतिहास शल्य से तव कहा था जव उसने चाहा कि गन्धार के सम्राट् और दुर्योधन के मामा शल्य कर्ण के सारथी वनें।

---

1. यम और नियम पर आरूढ़ रहकर राजाओं के अग्रणी सम्राट् दशरथ ने उत्तर-कोसल विजय कर उस पर शासन किया।' —रघु० सर्ग० 10/1
2. एवं स भगवान् ब्रह्मा सर्वलोक पितामहः।
सारथ्यमकरोत्तत्रब्रह्मारुद्रोऽभवद्रथी ॥
रथिनोऽभ्यधिकोवीर कर्त्तव्यो रथसारथी ॥
—महा० कर्ण पर्व C. V. Vaidya 2/101-102

हमारी सम्पूर्ण राष्ट्र परम्परा उसी शैली और उन्हीं आदर्शों पर चली है। स्वर्ग का सम्राट् देव था। आर्यावर्त्त का प्रत्येक सम्राट् भी देवता का अवतार है। वह देवता मानकर पूजा गया।[1] हमारे पूजनीय देवता वही हैं जो स्वर्ग शासन के यशस्वी महापुरुष थे। हमारी कला, हमारी पूजा, हमारे भोजन और हमारे आचार-व्यवहार में स्वर्ग की घटनायें, और स्वर्ग का इतिहास ही ओत-प्रोत है।

स्वर्ग के गणों के पृथक्-पृथक् प्रतीक अभी तक पूजे जाते हैं। देवलोक (त्रिविष्टप) का सूर्य, नाग लोक का सर्प, गन्धर्वों की वीणा, यक्षों का कमल और किन्नरों का हंस अथवा सिंह हमारे प्रागैतिहासिक काल से पूजनीय बने हुए हैं। प्राचीन चित्रकला तथा मूर्ति कला में वे पूजनीय स्थानों पर चित्रित प्राप्त होते हैं।

हमारे मन्दिरों की वस्तुकला एक निश्चित शैली में है। वे हिमालय के गिरि शृंगों के संस्मरण में शिखरदार ही वनाये जाते हैं, जहां हमारे पूर्वजों का स्वर्ग था।[2] इस प्रकार मंदिरों की वास्तुकला हमारी उस राष्ट्र भक्ति का प्रतीक है जो स्वर्ग के इतिहास को हमारे जन जीवन में स्थापित किये हुए है। इन प्रतीकों में कभी-कभी परिवर्तन भी हुए हैं, किन्तु परिर्वातित प्रतीक भी हमारा उतना ही पूज्य है। जव नागों ने त्रिपुर विजय किया, उधर के खजूर और ताड़ वृक्षों को संस्मरण के रूप में विजय का प्रतीक वनाया गया। नाग और वाकाटक कला के संस्मरणों में यह प्रतीक विद्यमान है।

आज के कुछ इतिहासकारों का विचार है कि ईसा से लगभग 150 वर्प पूर्व से ही ये तुरुष्क और शक भारत की ओर आये, किन्तु वे रामायण काल में स्वर्ग के निवासियों की भृति (सेवा) भी करते थे और मौका मिलता तो डाका भी डालते थे। आये दिन देव, नाग और गन्धर्वों को इनसे टक्कर लेनी पड़ती थी। ये चीनी भापा में 'युचि' कहे जाते थे और भारतीयों ने इन्हें 'ऋपिक' लिखा। इन्हीं का एक वंश तुखार भी था। जो भी हो असुरों के उपरांत स्वर्ग के निकटतम शत्रु यही थे। यास्काचार्य ने लिखा है कि यह वर्वर देवों और नागों की सुन्दरियों को भी उठा ले जाते थे। खासकर प्रसवकाल में जव अशक्त स्त्री भाग नहीं सकती, लड़ नहीं सकती। स्वर्ग में एक सेनापति केवल इसी लिये रखा गया था, जो प्रसवकाल में स्त्रियों की रक्षा करे—उसी का नाम 'सविता' था।[3] राक्षस और पैशाच यौन संवंधों का उल्लेख मनुस्मृति में उसी इतिहास का संकेत है।[4]

यह वलात्कार की धृष्टता पशुओं से भी अधिक निकृष्ट थी। कुछ लेखकों की सम्मति में शक, हूण आदि तुखार भी आर्य शाखा में थे और सभ्य भी। किन्तु यदि उनकी यही सभ्यता थी, तो फिर असभ्य कौन थे?

मोहंजोदड़ो और हड़प्पा के भूगर्भ संस्मरणों को कुछ लोग ईसा से दस हज़ार वर्ष पूर्व, कुछ वीस हज़ार और कुछ चालीस हज़ार वर्ष पुराने संस्मरण आँकते हैं। वे

---

1. महती देवता ह्येपा नररूपेण तिष्ठति। —मनु०
2. भारतीय मूर्तिकला (रायकृष्ण दास) —अध्याय 3
3. 'सविता प्रसविता भवति।' —प्रसवकाले स्त्रीणां रक्षकः।
4. मनु० 3/33-34 —देवराज

हर संख्या पर ठीक आँकते है। मैंने रामायण काल को ईसा के कम-से-कम दस हज़ार वर्ष पूर्व का लिखा है। कितना पूर्व? यही तो अभी नहीं कहा जा सकेगा। वह तब कहा जायगा जब हम सिंकियांग, कैलास, अलकापुरी और तिब्बत के पुरातत्वों तक पहुँच जायेंगे। जहाँ पहुँच गये हैं, उसे भूमध्य एशिया के उर और किश नगर कहते हैं किन्तु बात बहुत पुरानी है। वहाँ ब्रह्मदेव जैसा सारथी त्रिपुरारि का रथ हाँककर ले गया था। वहाँ अश्वियों का ओषधालय था। वहाँ इन्द्र का वज्र गरजा था और वहाँ धन्व को विजय करके धन्वन्तरि ने अपनी विजय पताका गाड़ी थी।

स्वर्ग के पश्चिमोत्तर द्वार पर गन्धार या गन्धर्व लोक था। और आर्यो के मंदिर के द्वार पर गन्धर्वों की मूर्तियाँ उत्कीर्ण की जाती हैं। हमारी चित्रकला का आदर्श देवभावना का चित्रण है। कनक वर्ण, उन्नत नासिका, कर्णान्त नेत्र, दाढ़ी मूंछों की विरलता, पतली कमर, आरक्त कपोल और उन्नत उरोज। यही तो वे बातें हैं जो प्रकृति ने स्वाभाविक रूप से काश्मीर, तिब्बत, गढ़वाल-कुमाऊँ, कनौर-कुल्लू तथा गन्धार को प्रदान की हैं, और यही स्वर्ग की सत्ता का सौन्दर्य था।[1]

सन् 1925 ई० में काशी नागरी प्रचारिणी सभा ने 'फाहियान' नामक एक पुस्तक प्रकाशित की थी। वहां 'थियानशान्' पर्वत का विवरण देते हुए लिखा है—चीनी भाषा में 'थियन्' स्वर्ग को ही कहते हैं।[2] थियान शान् को ही पुराणों में सुमेरु पर्वत लिखा गया।

कालिदास के मेघदूत में पंचजन के यक्षों की व्यवस्था का सुन्दर एवं प्रणयपूर्ण उल्लेख है। उससे स्पष्ट हो जाता है कि स्वर्ग कहाँ था और नरक कहाँ? अपने कर्त्तव्य पालन में चूकने वाला कोई यक्ष एक वर्ष के लिये निर्वासित होकर चित्रकूट के रामगिरि आश्रम में आकर दिन काटने लगा।[3] यक्ष ने मेघ को दूत मानकर अपने सादेश्य का परिचय दिया—

जानामि त्वां प्रकृतिपुरुषं कामरूपं मघोनः।

भाई, मेघ! मेरा तुम्हारा तो पुराना रिश्ता है, जिस राजा के देश के तुम हो उसी का मैं। तुम मघवा के प्रधान अफसर हो, और मैं उसी का नागरिक। तुम्हें उसके राज्य के गाँव-गाँव पता है, इसलिये हे मेघ—

गन्तव्या ते वसतिरलकानाम यक्षेश्वराणाम्।

---

1. तन्वी श्यामा शिखरिदशना पक्वविम्बाधरोष्ठी,
   मध्ये क्षामा चकितहरिणीप्रेक्षणा निम्ननाभिः॥
   श्रोणीभारादलसगमना स्तोकनम्रा स्तनाभ्यां।
   या तत्र स्याद्युवतिविषये सृष्टिराद्येव धातुः॥ —मेघदूत, उत्त० 19
2. फाहियान, भूमिका थियान्=स्वर्ग, शान्=पहाड़।
3. कश्चित्कान्ता विरह गुरुणा स्वाधिकारात्प्रमत्तः,
   शापेनास्तं गमित महिमा वर्ष भोग्येन भर्तुः।
   यक्षश्चक्रे जनक तनया स्नान पुण्योदकेषु,
   स्निग्धच्छाया तरुषुवसतिं राम गिर्या श्रमेषु॥ —मे० दू० 1/1

यक्षराज कुबेर की नगरी अलकापुरी जाना। परन्तु अलका है कहाँ ? कालिदास ने भौगोलिक चित्रण में तो कमाल ही कर दिया—

वक्रः पन्था यदपि भवतः प्रस्थितस्योत्तराशां

उत्तर दिशा में जाना होगा। मार्ग जरा टेढ़ामेढ़ा है। पर चिन्ता न करो, मेरे देश को जाते हुए जानकर पवन तुम्हारा वाहन बनकर तुम्हें देवों के शैल पर पहुँचायेगा।[1] मार्ग में सरस्वती का पावन जल पीकर स्वास्थ्य लाभ करना। वहाँ से कनखल में जान्हवी के प्रवाह का एक घूँट भी मार लेना। बस फिर तो मेरा देश आ जायेगा। जरा ऊपर चले तो कैलास की अधित्यका में पहुँचोगे। वह कैलास, एक बार रावण ने जिस पर आक्रमण करने की धृष्ठता की थी। वहाँ देवताओं की सुन्दरियाँ तुम्हारा स्वागत करेंगी। क्योंकि वहाँ अतिथि यज्ञ की परिपाटी है।

इतना ही क्यों, थकान हो तो मानसरोवर के उज्ज्वल जल में आनन्द लेना। वे सुनहरे कमल जो मानसरोवर में खिलते हैं, अन्यत्र नहीं। जल में उन्हीं की सुवास होगी। उसी हिमशैल की गोद में कैलास के प्यार में मुग्धा नायिका की भाँति प्रणय-भीनी अलका नाम की नगरी मिलेगी। उसके उपान्त में गंगा की धारा ऐसी जान पड़ती है, मानों अलका ही कैलास के प्रणय में अपना उत्तरीय संवरण करना भूल बैठी हो।

प्यारे मेघ ! वही अलका मेरी वासभूमि है जिसमें यक्षों के गणतंत्र नागरिक संगमरमर के बने भवनों में निवास करते हैं।[2] और मन्दाकिनी का शीतल मन्द और सुगन्ध भरा समीर उनकी सेवा करता है। वहाँ यक्ष राज कुबेर के सखा होने के कारण बारह मास वसंत रहता है। किन्तु कैलास पर अधिष्ठित शंकर के भय से मानो अपने धनुष पर चंचरीकों की चाप नहीं चढ़ाता।

हे मेघ ! मेरी प्रियतमा से कह देना—चार मास बाद देवोत्थानी एकादशी को मेरे देश निर्वासन की अवधि समाप्त हो जायगी। आंखें मूंद कर यह चार महीने और व्यतीत करो। हम और तुम प्यार भरे आलिगन में फिर एक होंगे।[3]

स्वर्ग का यह भौगोलिक मानचित्र हमें कालिदास ने दिया, जो हमें उद्बोध देता है कि अपनी भौगोलिक और ऐतिहासिक सामग्री का संकलन अभी बहुत शेष है।

प्रस्तर युग, विकसित प्रस्तर युग, ताम्रयुग, कांस्ययुग, और लौह युग तो उस मार्ग में मिलते हैं जिसे हमारे प्रतिद्वन्द्वियों ने लिखा है। कालिदास के लिखे हुए मार्ग से भी तो एक बार चलकर देखो। तब देखना कौन-कौन से युग मिलते हैं। मैं कहता हूं, उधर पत्थर युग नहीं—स्वर्ण युग मिलेंगे।

आज रेलें चल रही हैं। वायुयान भी फिर से उड़ने लगे हैं। तो भी बैलगाड़ियाँ और भैंसागाड़ियाँ चल रही हैं। स्टेनलैस स्टील के बर्तन भी हैं, और मिट्टी के शकोरे भी। आज के हजार वर्ष बाद भूगर्भ में रेलगाड़ी के पुर्जे भी मिल सकते हैं, भैंसागाड़ी के

---

1. नीचैर्वास्यत्युपजिगमिषोर्देवपूर्वं गिरिं ते।
   शीतो वायुः परिणमयिता काननोदुम्बराणाम् ॥ मेघ दू० I/42
2. "यस्यां यक्षाः सितमणि मयान्येत्य हर्म्यस्थलानि।" मेघ० 2/3
3. "शापान्तों मे भुजगशयनादुत्थिते शार्ङ्गपाणौ।" मेघ 2/47

धुरे भी। स्टेनलैस स्टील के पात्र भी मिल सकते हैं और मिट्टी के शकोरे भी। भूमि में वह रह जायगा जो सड़ने-गलने से बच रहा। वैज्ञानिक कैमिकल्स कहाँ मिलेंगे? वरुणास्त्र, ब्रह्मास्त्र और आग्नेयास्त्रों के तत्व, उनका संचालन प्रकार कहाँ मिलेगा ? रेल के इंजन का लोहालंगड़ तो युग निर्णायक नहीं है। उन पुर्जों का विन्यास और उनसे वाष्प का नियमित संचालन 'युग' कला है। वह सहस्रों वर्षों बाद भूगर्भ में कहां मिलती हैं ?

प्रश्न यह है कि मैं स्वर्ग का भौगोलिक वर्णन लिख रहा हूं। उसका इतिहास भी। वेदों और उपनिषदों में जहां-जहां स्वर्ग, इन्द्र और विष्णु जैसे शब्द आये हैं क्या वे सभी इसी इतिहास और भूगोल के साथ जुड़ेंगे ? नहीं। उन्हें आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक में समन्वित करना पड़ेगा। मैं पीछे लिख आया हूं—उपक्रम, उपसंहार देख कर बात समझने की आवश्यकता है। आदि कालीन समाज ने वेद के साहित्य से ही नाम लिए हैं। मनु ने लिखा है—मानव संस्था उसके संचालकों ने वेद से लिए हुए शब्दों के सहारे ही चलाई थी।[1]

मनु ने स्वर्ग शासन के युग के प्राणियों का लेखा दिया है। देव तथा अवांतर देव जातियां, जिनमें ऋषि भी थे, यक्ष, गन्धर्व, नाग, किन्नर, राक्षस, पिशाच, अप्सरायें, असुर, पक्षी, सर्प, पितर, वानर, मत्स्य, अन्य पक्षी, पशु, शिकारी जानवर और फिर मनुष्य, कृमि, कीट, पतंग, मक्खियां, जूं, खटमल, डांस-मच्छर तथा स्थावर पेड़-पौधे।[2] प्रायः सारा प्राणि जगत (Animal Kingdom) इसके अन्तर्गत समाविष्ट होता है।

मैं यहां प्राणि जगत् का इतिहास नहीं लिख रहा हूं। किन्तु प्रश्न यह है कि मनु ने यह उल्लेख जिस रचना का किया है, वह स्पष्ट करता है कि देव, नाग, यक्ष, गन्धर्व और किन्नरों की बात कोई कल्पना और कपोल-कल्पित मात्र नहीं है। उसके मूल में स्वर्ग के साम्राज्य का इतिहास है, और नरक का स्वर्ग तक विकास।

वैदिक परिपाटी में किसी व्यष्टि को समष्टि में एकाकार देकर विचारते समय व्यष्टियों को एकरूपता देने वाले सामान्य धर्म को दिव्य रूप दिया जाता है। एक पुष्प सुन्दर है। पीला, नीला, लाल, गुलाबी सभी पुष्प सुन्दर हैं। इनका सामान्य धर्म 'सौंदर्य' देवता है। ऋग्वेद के ऊषा सूक्त में सुन्दरता का देवी के रूप में स्तवन बहुत है। उसका अनेक रूपों में विश्लेषण किया गया।[3] इसका अर्थ यह नहीं है कि ऊषा नाम की कोई स्त्री पहले से थी, उसकी प्रशंसा में वेद मन्त्र लिखे गये। हां, वेद का ऊषा शब्द इतना भावपूर्ण है कि लोगों ने अपनी बेटियों का नाम 'ऊषा' रखना प्रारंभ कर दिया।

स्वर्ग का प्रथम चरण, जैसा हमने पीछे कहा है, देव-असुर काल था। देव स्वर्ग

---

1. सर्वेषां स तु नामानि कर्माणिच पृथक्-पृथक्।
   वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक्संस्थाश्चनिर्ममे ॥ —मनु 1/21
2. मनु १/३५—४०
3. उपस्तच्चित्रमाभर अस्मभ्यं वाजिनी वती।
   येन तोकं च तनयं च धामहे ॥ ऋग्वेद

में थे, असुर असुरलोक (असीरिया)[1] में। पर दोनों थे एक ही अभिजन के बन्धुबान्धव। दोनों एक ही प्रजापति की सपत्नियों की संतान। उनमें असुर ज्येष्ठ और देव कनिष्ठ थे।[2] उन्होंने संगठित परिषदें कीं। यज्ञ किये। और लड़े भी। सिद्धांतों का मतभेद था। स्वार्थों में अन्तर था। परन्तु राक्षसों और पिशाचों से ऐसा कोई उनका सम्बन्ध न था। ये सिद्धांतों का वैर नहीं, वासनापूर्ति के लिए वैर किया गया था। वे स्वर्ग का सुख लूटने के लिए आये। किन्तु स्वर्ग देवताओं के ही साथ रहता है, राक्षसों और पिशाचों के साथ नहीं। राक्षस और पिशाच जहां-जहां आते गये वहां-वहां से स्वर्ग चला गया।

वे बहुत दिनों तक स्वर्ग में देवों के जनजीवन में सेवा कार्य करते रहे थे। शिविकायें (डांडी) ढोते थे। घोड़े लादते थे। सड़कें बनाते थे। और भी भृत्य कार्य करते रहे होंगे। नरक की जनता उन्हें भी देव समाज में गिनने लगी थी। गेहूं के बोरे में घुसे हुए घुन भी गेहुंओं में ही तुलते हैं। और गेहूं के भाव ही बिक जाते हैं। गवर्नर के साथ उसके चपरासी का रौब भी जनता पर रहता है, क्योंकि चपरासी भी उसी बंगले में रहता है। दरवाज़े पर पहला साक्षात्कार उसी से करना पड़ता है। ठीक वही स्थिति राक्षसों और पिशाचों की भी समझिये। इसी कारण उत्तरवर्त्ती संस्कृत साहित्य में देव-योनि व्यक्तियों की गणना में पिशाच और राक्षस भी घुसे हैं।

नरक में समाज व्यवस्था स्थापित होने से पूर्व यहां वन ही वन था। ऊबड़-खावड़ भूमि में समाज की स्थापना सरल काम न था। दक्षिणापथ का शासन लंका से चल रहा था। वह विन्ध्याचल तक समाप्त था। दक्षिणापथ की उत्तरी सीमा विन्ध्याचल ही बनी हुई थी। 'दंडकारण्य' उसकी अन्तिम छावनी थी। हिमालय और विन्ध्याचल के बीच का प्रदेश आदि काल से निर्जन था। स्वर्ग के देवों ने इसे पहले-पहल आबाद किया। इसके लिए पहला कदम यही था कि स्वर्ग से जिन्हें निर्वासन का दंड मिला वे यहीं भेजे गये। न जाने कितने निर्वासितों को वन्य पशु और वन मानुस खा गये। तो भी बुद्धिमान् आर्य वीरों ने यहां आना नहीं छोड़ा। स्वर्ग के निर्वासित व्यक्ति बहुत ही कम स्वर्ग पहुंच पाये। वे वेदना लेकर आये, और स्वर्ग के प्रति ममता रहते हुए भी निर्वेद का भाव लेकर यहीं मर गये। उनकी सन्तानें भी हुईं। और जैसे भी स्त्री पुरुष मिल सके मिले। उन्हें जो साधन प्राप्त हो सके उन्हीं से जीवन का संघर्ष लड़ा। और परिवार बन गये।

वह स्वर्ग में समृद्ध अस्त्र-शस्त्र छोड़कर यहां आया और असहाय दशा में जीवन रक्षा के लिए पत्थर के शस्त्र बनाकर उन्हीं से आत्मरक्षा करने लगा। इसका अर्थ यह नहीं कि वह असभ्य और जंगली था। किन्तु विवशता के कारण उसके पास साधन न थे। जब लैम्प छिन जाय तो लकड़ी जालकर प्रकाश कर लेना ही चतुरता है। रेशम के वस्त्र छिन जाने पर टाट ओढ़कर ही शिशिर व्यतीत करना बुद्धिमानी होती है। स्वर्ग

---

1. कालकदोर्ह्द मौर्याद्यसुरविभागास्तु यत्र देशऽस्यु:।
सोऽसीरिया प्रदेश: कैलडिया कालकेयानाम्॥
इन्द्रविजय, श्री मधुसूदन विद्यावाचस्पति, सीमा प्रसंग—54

2. बृहदारण्यक 1/3
"द्वयाह प्राजापात्या देवाश्चासुराश्च। तत: कनीयसा एव देवा ज्यायसा असुरा:।"

में वर्ण व्यवस्था नहीं थी। केवल पंचजन का विभाग था। तो भी पांचों देवयोनि में सम्मानित थे। देव अकेले तिब्वत के तो थे ही। किन्तु पांचोंजनों के लिए देव शब्द सामान्य बन गया था। नरक में आकर स्त्री पुरुषों ने यह विभाजन समाप्त कर दिया। और हो भी क्या सकता था? वे सब देव थे। परन्तु नरक में उत्पन्न होने वाली सन्तान के लिए स्वर्ग में एक नया शब्द निर्मित हुआ—'मनुष्य'। क्योंकि उसे जीवन का प्रत्येक साधन किसी सहयोग के बिना अपने ही मन से संकलित करना पड़ा। यास्काचार्य ने यह भाव निरुक्त में व्यक्त किया है—"मनुष्यः कस्मात्? मत्वा कर्माणि सीव्यन्ति।" वही कालिदास ने लिखा है।[1]

नरक का ही दूसरा नाम 'मर्त्यलोक' भी रखा गया। और इस आधार पर मनुष्य ही 'मर्त्य' भी कहा जाने लगा। कठोपनिषद् में यम ने नचिकेता से यही कहा था कि जो कामनायें मर्त्यलोक में दुर्लभ हैं—सुन्दरियां, रथ, गाजे-वाजे, जो वहां के मनुष्यों को उपलब्ध नहीं हो सकते—तुम मांग सकते हो। वहां विशेष रूप से 'मनुष्य' शब्द का प्रयोग है।[2] यहां यह स्पष्ट है, मर्त्यलोक मनुष्यों का था और स्वर्गदेवों का।

महाभारत और रामायण, कालिदास और भवभूति के काव्यों के अतिरिक्त संस्कृत साहित्य का कोई ग्रन्थ कठिनाई से ही ऐसा मिलेगा जिसमें स्वर्ग के भूगोल और इतिहास का उल्लेख न आता हो। पाणिनि के युग में गन्धार जनपद विद्यमान था। देश की भक्ति को प्रकट करने के लिये उन्होंने एक सूत्र[3] लिखा। वहां 'गान्धारि सप्त समः'—सात वर्ष गन्धार में रहने वाला, इस अर्थ में उस प्रदेश के आवास का उल्लेख किया है। महाभारत का प्रसिद्ध जुआरी शकुनि गन्धार का ही था।[4] और गन्धार के अन्तिम सबसे अधिक प्रतिष्ठित महापुरुष स्वयं पाणिनि ही हुए। वे सिन्धु के पश्चिमोत्तर कोण में शालातुर नगर के निवासी थे।

स्वर्ग की तथा पंचजन की एकता पाणिनि के समय तक भंग हो चुकी थी। वे नाम भी अब छिन्न-भिन्न थे। नये-नये जनपद बन गये थे। किन्तु हिमालय की कथायें भूली नहीं थीं। पाणिनि ने हिमालय और उसके संस्मरणों पर जितना गहन लिखा, अन्य किसी पर नहीं। पाणिनि के समय यक्ष पूजा का प्रचुर प्रचार था। शेवल, सुपरि, विशाल, वरुण और अर्यमा नाम के पांच यक्षों को पूजनीय माना जाता था। पाणिनि ने इन्हें एक सूत्र में लिखा दिया है। एक प्रियदर्शन यक्ष भी पूजनीय थे। पाणिनि (900 ई० पू०) के इन लेखों और लोक विश्वासों की प्रतिध्वनि बौद्ध ग्रन्थों में भी है।[5] स्वर्ग के भूगोल और इतिहास के भग्नावशेष पाणिनि के सूत्रों में पर्याप्त हैं।[6] किन्तु उनमें उस युग की मौलिकता नहीं रही जो रामायण और महाभारत पर्यन्त थी। मैं जिस युग की

1. दिवौकसो देवगृहं विहायमनुष्यसाधारणतामवाप्ताः।
   यूयं कुतः कारणतश्चरध्वं महीतले मानभृतो महान्तः॥ —कुमार सम्भव 12/37
2. ये ये कामा दुर्लभा मर्त्यलोके सर्वान्कामांश्छन्दतः प्रार्थयस्व।
   इमा रामाः सरथाः सतूर्या न हीदृशा लम्भनीया मनुष्यैः।" कठोपनिषद्
3. अष्टाध्यायी 4/3/100 —'जनपदिनां'
4. 'गन्धारराजः शकुनिः पार्वतीयः'। —महाभारत उद्योग इ० 27
5. दिघ्घनिकाय।
6. श्री वासुदेवशरण अग्रवाल लिखित 'पाणिनि कालीन भारतवर्ष' देखें।

बात कर रहा हूं तब वेद संकलित हो रहे थे। अत्रि, भृगु, वसिष्ठ, वामदेव, असित, गौतम आदि इन्द्र और ब्रह्मा के विद्यालयों में पढ़ते थे। अध्ययन के उपरांत उन्हीं ने वेदों का संकलन किया था। ऋग्वेद के ऋषि वे ही हैं।

इतिहास और पुराणों के सहारे वेद के तात्विक अर्थ तक पहुँचने का आदेश प्राचीन आचार्यों ने इसी लिये किया।[1] गंगा को पूजनीय मान लेना एक बात है। किंतु भगीरथ और जन्हु को जानकर गंगा को पूजनीय कहने में जो बल और आह्लाद है वह कोरी मान्यता में नहीं। इतिहास श्रद्धा को जीवन देता है और उससे श्रद्धालु को बल मिलता है। यास्काचार्य ने स्वयं लिखा वेद के कतिपय सूक्त वेद की ही ऋचाओं से पुष्ट होते हैं, कुछ इतिहास और कुछ गाथाओं से।[2] मूलतत्व को प्रयोग योग्य बनाने के लिए कुछ आस्वादनीय तत्व मिलाने ही पड़ते हैं। हम मूंग की दाल खाने की बात कहते हैं, तब नमक और मसाला भी उसके अन्तर्गत न हों तो वह खाने योग्य ही न हो सके। तत्व को स्वदनीय करने का नाम ही व्याख्या है।

जो हो, यहां वैदिक व्याख्या और उसकी ऋचाओं पर हमें कुछ नहीं कहना है। वह भिन्न विषय है। मैं इस बात पर बल दे रहा हूं कि वेद में जिन ऋषियों का उल्लेख है, वे स्वर्ग के विश्वविद्यालयों के स्नातक थे। आर्यावर्त्त का निर्माण उन्हीं ने किया। वेदों का संकलन उन्होंने किया। और आर्यावर्त्त जैसे एक महान् राष्ट्र को संगठित कर उसे पुष्पित और पल्लवित उन्हीं ने किया। वेद स्वर्ग की विरासत थे। वेद ऋषियों ने संकलित किये और उनकी व्याख्या और विस्तार में मुनियों ने हमारे साहित्य का विशाल भंडार भर दिया।

ऋषि समय-समय पर अपनी शंकायें समाहित करने के लिये स्वर्ग जाते-आते रहते थे। इन्द्र से आयुर्वेद का ज्ञान प्राप्त करने के लिये जब भृगु, अङ्गिरा, अत्रि, वसिष्ठ आदि महर्षि चले तो आत्रेय संहिता ने लिखा—"स्वीयं पूर्वं निवासमभिजग्मुः"। यह 'पूर्व निवासम्' यह बताने के लिये क्या पर्याप्त नहीं है कि हमारी पुरानी 'सकूनत' का नाम ही स्वर्ग था। इस नरक के बियाबान को हमारे ही पूर्वजों ने अपने प्राणों की आहुति देकर आबाद किया। वह आक्रमण और विजय नहीं थी। वह नवनिर्माण था। जहां शेरों और भेड़ियों की मांदें थीं वहां हरद्वार, काशी और प्रयाग आबाद किये गये। और गंगा के किनारे-किनारे यह पूर्वान्त समुद्र तक चला गया। यहां जिस समाज का निर्माण उसने कर पाया उसके बीच में बैठकर उसने कहा—

सहनाववतु सह नौ भुनक्तु सह वीर्यं करवावहै।
तेजस्विनावधीतमस्तु मा विद्विषावहै॥[3]

एक-दूसरे की रक्षा करो, साथ-साथ रहकर यहां की वस्तुओं का भोग करो, आने वाली आपत्तियों के विरुद्ध मिलकर लड़ो, ओजपूर्ण अध्ययन करो और एक-दूसरे के बीच बैर को स्थान न दो।

---

1. इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्। निरुक्त भाष्य —देवराज
2. तत्र ब्रह्मेतिहासमिश्रमृङ्मिश्रं गाथामिश्रं च भवति।' —निरुक्त, पूर्व 4/1/16
3. ऋग्वेद

देवों और नागों के झगड़े, गन्धर्वों की उद्दण्डता, सौ अश्वमेधों के विरुद्ध इन्द्र का डाह, स्वर्ग में भले ही रहा हो, किन्तु नरक में प्यार का ही एक संसार था। यहां परित्यक्त और निर्वासितों की आबादियां थीं। एक से संकट और एक सी समस्याएं सौहार्द को ही जन्म देती हैं। कालिदास ने ठीक कहा था—

समान सौख्यव्यसनेषु सख्यम्

पुरुष को पत्नी चाहिये, स्त्री को पति। एक दूसरे की अभिलाषा में प्यार का संसार नरक में बनने लगा। स्वर्ग में असुरों, राक्षसों और पिशाचों से आये-दिन टक्कर लेनी पड़ती थी। किन्तु नरक में यह संकट न था। हां, यहां वन्य पशु और वनमानुषों से सुरक्षा का प्रश्न कम महत्व का न था। परन्तु आर्य इतना सुसंस्कृत और सभ्य था कि उसने अपनी परिस्थिति के अनुसार सुरक्षा के लिये पत्थर के शस्त्र बना लिये, और थोड़े ही काल में लोहा और तांबा खोज निकाला। वह अग्नि के भरोसे पर सबसे अधिक सुरक्षा पा सका, इसलिये आहवनीय और गार्हपत्य अग्नि उसके घर में कभी बुझने नहीं पाई। महाभारत से लेकर रामायण तक आहिताग्नि का बड़ा गौरव है। अश्वपति ने कहा था—'नानाहिताग्नि'।

नरक की स्थति के बारे में अभी तक इतिहास लेखकों में कोई प्रगति नहीं हुई। कोई कहते हैं कि आर्य यहां भूमध्य एशिया से विजय करते चले आये। कोई कहते हैं, यहां समुद्र था, हिमालय और विन्ध्याचल के बीच का भूभाग पीछे से पानी सूखने पर निकल आया। कुछ कहते हैं कि वे यूरोप से इधर को बढ़े। गंगा जमुना के उत्तर प्रदेश में बस गये। पारसी धर्म ग्रंथ आवेस्ता से लोगों ने यह अर्थ निकाला कि अहुर-महत् (ईश्वर-महान्=परमेश्वर) ने पहले-पहल वाल्हीक (बलख) या Bactria में सृष्टि की थी। वहां से लोग इधर-उधर फैले। परन्तु आर्यावर्त्त के प्राचीन महर्षियों ने जो लेखा छोड़ा है उससे स्पष्ट है कि वह सृष्टि स्वर्ग के प्रारंभ से हुई थी, जिसका विवरण अभी हम देते आ रहे हैं। वाल्हीक भी उसका प्रदेश था। वह स्वर्ग से नरक में उतरा। और इसलिये अभी तक वह यह धारणा लिये फिरता है कि स्वर्ग ऊपर है। जेन्दावस्ता में उसी की प्रतिध्वनि है।[1]

भारतीय साहित्य और संस्कृति के गम्भीर विद्वान् उन्नीसवीं शताब्दी के स्वामी दयानंद सरस्वती थे। किसी समय उन्होंने पूना में पंद्रह भाषणों की एक व्याख्यान माला प्रस्तुत की थी। उसमें आठवें से लेकर 13वें तक भाषण इतिहास विषय पर ही थे। उन्होंने सृष्टि की उत्पत्ति में मानव का इतिहास प्रस्तुत किया। उनके कुछ अनुसंधान नीचे देखिये—

"सबों के पश्चात् मनुष्य प्राणी उत्पन्न किया गया। वे बहुत से मनुष्य थे। अन्याय मतों में तो दो ही मनुष्य थे, ऐसा मानते हैं, सो ठीक नहीं है।"

"प्रथम पुरुष जाति हिमालय के किसी प्रान्त में निर्माण हुई, ऐसा मानने से प्राचीन आर्य ग्रंथों की परदेशस्थ लोगों के ग्रंथों के मतों के साथ एक-वाक्यता होती है।"

1. 'अकनू बिरहमने व्यास नाम, अजहिन्द आमद, बसदान के अकिल चुनानेस्त'—'व्यास नामक एक ब्राह्मण सिंधु स्थान से आया था, जिसके समान विद्वान् कोई न हुआ। 65वीं आयात

मनुष्य सृष्टि उत्पन्न होने पर एक मनुष्य जाति ही थी, पश्चात् आर्य और दस्यु ये भेद हुए—

विजानीह्यार्यान्ये च दस्यवो—ऋग्वेद संहिता।

ब्रह्मदेव का पुत्र विराट्, उसके पुत्र विष्णुसोमसद थे। और अग्निष्वात्त का पुत्र महादेव था। ये ही विष्णु और महादेव आगे जाकर ब्रह्म के साथ त्रिमूर्ति में मुख्य देवता करके प्रसिद्ध हुए। मंद, सुगंध और शीतल वायु जहां चल रही है और रमणीय वनस्पतियां जहां उगी हैं, और जहां स्फटिक के सदृश निर्मल निर्भरोदक वह रहा है, ऐसे हिमालय की ऊंची चोटी पर विष्णु वास करने लगा। उसी को वैकुंठ भी कहते थे। फिर दूसरे हिमाच्छादित भयंकर ऊंचे प्रदेश में महादेव वास करने लगा, उसे कैलास कहते थे। इसके आगे विष्णु और महादेव ये कुलों के नाम पड़ गये।

महादेव कैलास के रहने वाले थे। कुवेर अलकापुरी के रहने वाले थे। यह सव इतिहास केदार खण्ड में वर्णन किया गया है। हम स्वयं भी इन सव ओर घूमे हुए हैं। जिस पहाड़ पर पुरानी अलकापुरी थी उस पर भी मैं इस विचार से गया था कि एक बार ही अपना शरीर वर्फ में गलाकर संसार के धंधों से निवृत्त हो जाऊं। परन्तु वहां पहुंचकर विचार आया कि इस जगह पर मर जाना तो कोई पुरुषार्थ नहीं है। अलवत्ता ज्ञान प्राप्त करके परोपकार करना पुरुषार्थ है। इस विश्वास के वदलने पर लौट आया। अब तो विदित होता है कि जीवात्मा की मृत्यु ही नहीं है।

काश्मीर से लेकर नैपाल तक हिमाल की जो ऊंची चोटियां हैं वहाँ देवता अर्थात् विद्वान पुरुष रहते हैं। गत समय की तरह प्रायः इस समय वर्फ नहीं पड़ता था। ऐसा विचारांश होता है कि यदि इस समय भी वहां वर्फ पड़ती होती तो देव अर्थात् विद्वानों का इस स्थान पर निवास कैसे होता? इस देव लोक में भद्र पुरुष प्रत्येक स्थान पर राज्य करते थे।

इन विद्वानों अर्थात् आर्यो के वैरी अनार्य भील आदि लोग थे। इनके साथ वरावर आर्यों को युद्ध करना पड़ता था। गुब्बारों में भी वैठकर युद्ध करते थे। केवल यही नहीं, किन्तु जहां कहीं स्वयंवर रचा गया और वुलावा गया कि उन्हीं गुब्बारों पर चढ़कर शीघ्र ही उस स्थान पर पहुंच जाते थे। इन देवताओं में वड़े देवता लोग अत्यन्त वीर थे। इनकी स्त्रियां मर्दाना जोश से अपने पतियों के साथ युद्ध में जाया करतीं थीं। इन पहाड़ के रहने वाले देवताओं के राज्य व्यवहार आज तक के राजपूत लोगों से अव तक मिलते हैं।

प्राचीन काल में जिसको त्रिष्टुप् देश कहते थे, उसको वर्तमान में मुल्क तिव्वत कहते हैं। कोई-कोई हमसे प्रश्न करते हैं कि विष्णु, महादेव, इन्द्र आदि देवता आजकल हमें दिखाई नहीं देते, उनके लिये हमारा उत्तर यह है कि नेक और पराक्रमी विद्वान् जो थे वे सब-के-सब मर गये। कोई-कोई कहते हैं कि देव अमर हैं, परन्तु हम पापी लोगों को दिखाई नहीं देते। भला देवता तो अमर होने के कारण न देख पड़ें, उनके नौकर-चाकर भंगी आदि क्यों नहीं दिखाई देते? ठीक बात तो यह है कि जो उत्पन्न हुआ है वह दिखाई देता है। और वह एक दिन अवश्य मरने वाला है। इस तर्कणा से देव भी मर गये। "यद्दृष्टं तन्नष्टम्।"

देव मर गये। इससे अभिप्राय यह है कि इस पृथ्वी पर से उनका शरीर जाता रहा, परन्तु देवता और मनुष्य की आत्म अमर है।[1]

वैदिक साहित्य में सृष्टि को अवयवों में विचार करने की एक शैली है। जैसे—'भूमि पर्जन्या जिन्वन्ति दिवं जिन्वन्त्यग्नय:।"[2] अर्थात् "मेघ पृथ्वी को तृप्त करते हैं और अग्नि आकाश को।" दूसरी शैली में अवयवी पर विचार किया जाता है—'इन्द्रो विश्वस्य राजति शन्नो अस्तु द्विपदे शं चतुष्पदे।[3] इस सम्पूर्ण विश्व का शास्ता ही इन्द्र है। वह मनुष्यों और पशुओं का कल्याण करे, यही कामना करो।" यहाँ अवयवी रूप से जिस तत्व का विचार है वह देवता है, उसे इन्द्र नाम दिया गया। स्वर्ग शासन में इसी शैली पर जो सम्पूर्ण गणतंत्र का शासक हुआ उसे 'इन्द्र' नाम दिया गया। वस्तुत: इन्द्र पद है, नाम नहीं। कालिदास ने लिखा ही है, "पदमैन्द्रमाहु:।" सौ अश्वमेध या राजसूय यज्ञ करने वाले व्यक्ति को उस पद का प्रत्याशी माना ही जाता था। स्वर्ग के अन्य पद-नाम जो आधिदैविक रूप से वेदों में कहे गये हैं, स्वर्ग में व्यावहारिक रूप में चलते थे। इसीलिये 'त्वष्टा' का अर्थ सूर्य भी है और अश्वनी कुमारों के पिता भी। उसी प्रकार 'विष्णु' सृष्टि में व्यापक, रचनात्मक, शक्तिमान् परमेश्वर को भी कहते हैं, और स्वर्ग के गृह मंत्री को भी। उसी प्रकार स्वर्ग का प्रत्येक नागरिक एक देवता कहा जाता था, क्योंकि वेद में जगत् के प्रत्येक पदार्थ का अवयवी एक देवता है।

नरक के लोगों को स्वर्ग तक पहुंचने के लिये कठिन प्रतिबंध थे। जो इतने यज्ञ करे। जो इतना दान करे। जो इतना चरित्रवान हो। जो इतना तप करे—वही स्वर्ग जाने का अधिकारी होता था और इस सम्पूर्ण कर्म-काण्ड को देखने के लिये ऋषि और महर्षि नियुक्त थे। वे जिसे अनुमति दे दें वही स्वर्ग का अधिकारी। मनु ने आर्यावर्त्त के प्रारंभिक दस महर्षियों के नाम दिये हैं।[4]

वे दस महर्षि ये हैं :—

(1) मरीचि (2) अत्रि (3) अङ्गिरा (4) पुलस्त्य (5) पुलह (6) क्रतु (7) प्रचेता (8) वसिष्ठ (9) भृगु (10) नारद।

कुल्लूक भट्ट ने मनुस्मृति की व्याख्या में स्वर्ग के पंचजनों का संक्षिप्त परिचय लिखा है। देवों का निवासस्थान स्वर्ग है। यक्ष, वैश्रवण तथा उसके अनुगामी लोग थे। नाग वासुकि आदि। गन्धर्व चित्ररथ आदि। किन्नर घोड़े जैसे लम्बे मुंह वाले देवयोनि के लोग (नरविग्रहा:)। राक्षस रावण आदि तथा पिशाच राक्षसों से भी अधिक असभ्य जाति के लोग।[5] ये मरु प्रदेश के निवासी हैं। अरब और तुर्की के मरु प्रदेश सदा से प्रसिद्ध हैं।

---

1. उपदेश मंजरी 8–10 भाषण
2. ऋग्वेद मं० 1
3. ऋग्वेद मं० 1
4. मरीचिमत्र्यङ्गिरसौ पुलस्त्यं पुलहं क्रतुम्।
   प्रचेतसं वसिष्ठ च भृगुं नारदमेव च ॥
   पतीन्प्रजानामसृजं महर्षीनादितो दश ॥
5. मनु० कुल्लूक भट्ट व्याख्या—1/36-39

नचिकेता यम के आवास पर पहुंचा। तीन दिन भूखा-प्यासा द्वार पर पड़ा रहा। चौथे दिन यम आये। बोले--

अतिथि ! तुम तीन दिन से भूखे-प्यासे मेरे द्वार पर पड़े रहे हो। तुम्हारा उचित आतिथ्य नहीं हुआ। सारी आशायें, सत्संग, सत्य, परमार्थ, पुत्र और पशु सबका नाश हो जाता है, यदि एक विद्वान् अतिथि गृहस्थ के द्वार पर सत्कारहीन पड़ा रहे। इसलिए, हे ब्राह्मण ! मेरा अभिवादन स्वीकार करो। और तीन वर जो चाहो मांग लो।

नचिकेता ने पहला वर मांगा--हे यमराज ! तुम से विदा लेकर घर पहुंचूं तो मेरे पिता अरुणि मुझे प्रसन्न मिलें।

यम ने कहा--एवमस्तु।

दूसरा वर मांगो।

दूसरे वर में स्वर्ग के सुख और अमरत्व का ही चित्रण है। नचिकेता ने कहना शुरू किया--

स्वर्ग में कोई भय नहीं है। सुरक्षित है। वहां वृद्धावस्था में जीर्ण और अपाहिज होकर कोई नहीं मरता, भूख और प्यास की वेदना नहीं है, खाद्य और जल सुलभ है, बन्धु-बान्धवों के लिए शोक नहीं आता, क्योंकि वे सब सुरक्षित हैं। वहां प्रत्येक व्यक्ति आमोद और प्रमोद से जीवनयापन करता है।[1]

वह स्वर्ग यज्ञ से प्राप्त होता है। उसी स्वर्ग देने वाली यज्ञ की अग्नि का रहस्य मुझे बताओ, ताकि मैं भी स्वर्ग का अधिकारी हो जाऊं।

यम ने कहा--नचिकेता ! यह प्रश्न देवों ने भी मुझसे पूछा था। उस रहस्य को जान लेना सहज नहीं है। यह सूक्ष्म तत्व सुविज्ञेय नहीं। इसलिए जिद न करो। कुछ और मांग लो। लम्बी-चौड़ी भूमि चाहो तो दे दूं। सौ वर्ष का जीवन, पुत्र और पौत्र, पशु और हाथी-घोड़े, सोना और चांदी, सब कुछ मांग सकते हो, किन्तु यह प्रश्न छोड़ो।

उपर्युक्त प्रसंग से स्वर्ग का सुख और अमरत्व क्या है--यह बहुत कुछ स्पष्ट हो गया है। आजीवन स्वास्थ्य, निर्भयता, सम्पन्नता, अशोक एवं प्रमोद यही स्वर्ग की स्वर्गीयता थी। यह उपनिषद् के उपर्युक्त उल्लेख से प्रायः स्पष्ट है। यह भी स्पष्ट है कि स्वर्ग एक साम्राज्य था जहां ये सारी सुविधाएं प्राप्त थीं। राजनैतिक, सामाजिक, पारिवारिक और आर्थिक सम्पूर्णता ही स्वर्ग था।

वेदों में प्रत्येक अवयवी को देवता रूप दिया गया है। उसका एक ही अर्थ नहीं है। देवता शब्द विभिन्न पारिभाषिक अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। 'दिवु' धातु से देवता शब्द निष्पन्न किया गया। जिसके अर्थ—कौतुक, विजय की अभिलाषा, व्यवहार, द्युति, स्तुति, मोद, मद, निद्रा, सौन्दर्य और गति यह सभी होते हैं। यह वक्ता की इच्छा पर है कि वह शब्द को जिस अर्थ में चाहे प्रयोग करे। पाणिनि के समय तक देवता शब्द के उपर्युक्त अर्थ प्रचलित थे। क्योंकि अपने धातु पाठ में उन्होंने ये अर्थ लिखे हैं।[2] उस समय स्वर्ग

---

1. स्वर्गलोके न भयं किञ्चनास्ति न तत्र त्वं जरया बिभेषि।
उभे तीर्त्वाशनाया पिपासे शोकातिगो मोदते स्वर्ग लोके॥ —क० उप० १/१२

2. "दिवुक्रीडाविजिगीषाव्यवहारद्युतिस्तुतिमोदमदस्वप्नकान्तिगतिषु।" —धातुपाठ

में निवास करने वाले आर्य इतने सभ्य और विद्वान् थे कि उनके राष्ट्र में दिवु धातु के सभी अर्थ संगठित होते थे।

अवयवी सभी तत्वों में व्यापक तत्व होता है। अवयवों में जो भी गति और सौन्दर्य है उसका स्रोत अवयवी ही है। पुरुष में यह अवयवी जीवात्मा ही है। इसलिए अध्यात्मशास्त्र में वह देवता है। किन्तु देवता का प्रतीक शरीर ही होता है। इसलिए स्वर्ग का प्रत्येक व्यक्ति देवता ही था। जीवन को इस गहराई तक देखने के लिये जो योग्यता अभीष्ट है, यह दूसरे लोगों में भी कहां? स्वर्ग की सभ्यता और विद्वत्ता का अनुमान इसी से लगाना पर्याप्त है कि वहां के महर्षि वेद जैसे उच्च विचारों का संकलन कर सके। विद्या के बल पर कितने ही कौतुकपूर्ण कार्य स्वर्ग के नागरिक करते रहे थे। वे विजय के लिए तत्पर रहे। 'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्' ही उनका राष्ट्रीय नारा था। व्यवहार में उन्होंने पंचयज्ञ का विधान बनाकर प्राणिमात्र से संबंध स्थापित किया।[1] सौन्दर्य और ओज उनके स्वाभाविक गुण थे। वह सदैव प्रगतिशील रहा। जीवन के प्रत्येक पग पर उसने कर्मठ रहने पर बल दिया—'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेत्' ही उसके जीवन का आदर्श था।

स्वर्ग और देवता यह शब्द-युगल इतिहास में सदा के लिए अमर हो गया। स्वर्ग की सीमा के बाहर निकल कर वह व्यवस्था, वह संयम, वह सौख्य और वह सौन्दर्य कहीं नहीं मिला। इसलिए स्वर्ग का आदर्श जीवन मनुष्य के हृदय पर ऐसा अंकित रहा कि वह उसी के लिए लालायित रहा और उस लालसा में वह स्वर्ग के गीत गाते-गाते न थका। नरक से निर्वासित व्यक्ति जो कुछ करता स्वर्ग के लिए। जो कुछ कहता स्वर्ग के लिए। उसने पुण्य के भंडार भरे, ताकि स्वर्ग लौट सके। क्योंकि नैतिक जीवन का आदर्श स्वर्ग के राष्ट्रीय जीवन की सामान्य परम्परा थी। स्वर्ग का शासन कठोर था।

इसका अर्थ यह नहीं कि स्वर्ग में पाप न था। अथवा स्वर्ग अत्याचारियों का एक जत्था था। अनय और अमर्यादित वहां भी दंडित होते थे। मनु ने लिखा है, 'देव, दानव, गन्धर्व, यक्ष, नाग, किन्नर तथा राक्षस मर्यादा भंग करने पर सभी दंड से शासित होते हैं।[2] उस युग की न्याय मर्यादा महाभारत में उद्धृत एक घटना से स्पष्ट हो जायगी—

"शंख और लिखित दो मुनि सगे भाई थे। शंख बड़े और लिखित छोटे। समय की बात, शंख विरक्त होकर वन में तप करने चले गये। वर्षो बीत गये। लिखित को

---

1. शुनाञ्च पतितानाञ्च श्वपचां पापरोगिणाम्।
वायसानां कृमीणाञ्च शनकैर्निर्वपेद्भुवि॥ —मनु०

2. देवदानवगन्धर्वा रक्षांसिपतगोरगाः।
तेऽपि भोगाय कल्पन्ते दण्डेनैवनिपीडिताः॥ —मनु० 7/23

3. गुरोरप्यवलिप्तस्य कार्याकार्यमजानतः।
उत्पथं प्रतिपन्नस्य न्याय्यं भवति शासनम्॥
उत्पथं प्रतिपन्ने तु ब्राह्मणेऽपि त्वयीदृशे।
दण्डेनशासनं कर्त्तुमधिकारोऽस्ति भूपतेः॥ —ब्रह्मपुराण अ० 32

वड़े भाई के दर्शन की उत्कंठा हो उठी। प्रेम ने हृदय को व्याकुल किया। लिखित तपोवन में भाई के दर्शन के लिए पहुंचे।

जव लिखित आश्रम में पहुंचे, शंख शौच-स्नान के लिये थोड़ी दूर नदी पर गये थे। आश्रम की हरी-भरी रमणीयता में सुमन संकलित पेड़ फलों से लदे खड़े थे। सेव, अखरोट, अनार, आड़ू और नाशपातियों के पके फल मन को मोहित करते थे।

लिखित ने आश्रम की रमणीयता का आनंद लिया और वृक्षों पर लगे फल तोड़-तोड़कर खाने लगे। लिखित जव फल खा ही रहे थे, शंख आ गये। लिखित दौड़कर चरण वंदना के लिये आगे वढ़ा। किन्तु सहसा रुक गया।

'ठहरो, धर्मशास्त्र की दृष्टि से तुम चोर हो। आश्रम के स्वामी से प्रथम आज्ञा लिये विना तुम आश्रम के फल खा रहे थे।'

'साधु ! मैं तुम्हारा ही अनुज हूं।'

'अनुज का प्रश्न नहीं है। न्याय का प्रश्न है। मर्यादा वनाने वाले उसका उल्लंघन करेंगे, तो समाज कहां रह सकेगा ?'

'भाई, मैं तुम्हारी ही शरण आया हूं।'

'चोर के लिये यहां शरण नहीं है।'

'तो आदेश करो।'

'न्यायालय में जाकर अपना अपराध कहो।'

लिखित न्यायालय में गया। अपना अपराध कहा। न्यायालय ने आज्ञा दी--लिखित के दोनों हाथ कटवा दिये जायं, और दोनों हाथ कटवा दिये गये।

दोनों हाथ कटवाकर लिखित वड़े भाई के पास लौटकर आया। शंख ने देखा अनुज के दोनों हाथ कटे थे। प्यार से गद्‌गद होकर लिखित को गले से लगा लिया। एक की आंखों में गंगा थी, दूसरे के यमुना। परन्तु न्याय हिमालय की भांति अचल खड़ा रहा।

अश्वपति ने ठीक कहा था—"नमस्ते नो जनपदे"

स्वर्ग से नरक में आया हुआ व्यक्ति अपनी मातृभूमि को प्रतिदिन वंदना करता रहा है। उनमें हज़ारों ऐसे थे जो फिर स्वर्ग नहीं लौट सके, स्वर्ग में अपने वंशजों को स्मरण करके ही अपनी भक्ति प्रस्तुत करते रहे। पितृपक्ष, नवरात्र, देवोत्थानी एकादशी जैसे पर्व इसी भक्ति के प्रतीक हैं। आषाढ़ शुक्ल 11 को हरिशयनी एकादशी, श्रावण शुक्ल 5 को नाग पंचमी, भाद्रपद कृष्ण 4 को गणेश चतुर्थी, फाल्गुन कृष्ण 13 को शिवरात्रि, आश्विन शुक्ल 8 को दुर्गाष्टमी, आश्विन शुक्ल 2 को यमद्वितीया, दीपावली को लक्ष्मी पूजन ये सव उन्हीं पूर्वजों के संस्मरण हैं जो स्वर्ग के स्वनाम धन्य महापुरुष थे। ईसा, जरथुश्त, कनफ्यूशियस और मूसा के संस्मरण यहाँ नहीं चले। क्योंकि वे इस राष्ट्र और उसकी संस्कृति के निर्माता नहीं थे।

उसने पूजा के मन्दिर वनाये, उनमें ब्रह्मा थे, विष्णु थे और महेश थे जिन्हें उसने अपने हृदय के सिंहासन पर ही नहीं, मंदिर के पूजा-पीठ पर भी आसीन किया। वे देवियां जिन्होंने राष्ट्र की वुनियाद में योग दिया था, उन्हें मंदिरों में स्थापित कर उन पर श्रद्धा

के फूल चढ़ाने लगा। स्वर्ग के त्रिकूट पर्वत के संस्मरण में तीन शिखरों के मंदिर, कैलास के अनेक शिखरों के संस्मरण, अनेक शिखरों के मंदिर, और सुमेरु के एक शिखर के संस्मरण में एक शिखर के मंदिर बनाकर वह स्वर्ग की स्मृति को अपने हृदय से चिपटाये रहा है। मंदिरों के शिखर ये सूचित करते हैं कि इस नरक के निर्जन में आने वाला नागरिक स्वर्ग से उतरा था।[1] यहाँ के वेदना भरे निर्जन आवास में यह स्मृतियाँ ही उसके हृदय को अह्लादित करती और साहस से भर देती रही हैं। घोर संकटों में भी जब वह उन मंदिरों में पहुँचता, अपने पराक्रमी पूर्वजों की प्रतिमा देखकर जय-जयकार कर उठता था। ऋग्वेद का वह गान जिसे उसके पूर्वज स्वर्ग में गाते थे, उसे पुनः स्मरण हो आता—

कृतं मे दक्षिणे हस्ते जयो में सव्य आहितः[2]

नरक में धीरे-धीरे राज्य व्यवस्था चलकर आर्यावर्त्त की सामाजिक व्यवस्था चली तब तक स्वर्ग के बारे में यहाँ के निवासियों की लोकोत्तर कल्पनायें बनने लगी थीं। मनु के धर्म शास्त्र में ब्रह्म यज्ञ के बाद देव यज्ञ, पितृ यज्ञ, भूत यज्ञ और अतिथि यज्ञों की पाँच व्यवस्थाओं में लौकिक आचार के साथ कुछ अलौकिक भावनायें भी जुड़ी हैं।[3] देवताओं के अवांतर श्रेणी विभाग और उनकी वंश परम्परायें, पितर, सोमसद, अग्निष्वात्त आदि शाखाप्रशाखायें बनती चली गईं। मनुस्मृति के तीसरे अध्याय में इन्हीं का विवरण है। तो भी अपने संपूर्ण कार्यकांड में वह देवों की श्रद्धा को साथ लिये रहा है।

मनु के समय तक नरक में भी अच्छे, बुरे और महाबुरे केन्द्र बन गये थे। ऐसे इक्कीस नरक केन्द्र मनु ने लिखे हैं, जिनके नाम—तामिस्त्र, अन्ध तामिस्त्र, रौरव महारौरव आदि लिखे गये हैं।[4] उसमें लिखा है जो राजा शास्त्र मर्यादा को उल्लंघन करके चलता है वह प्रजाजनों से लेन-देन करता है। किन्तु राजा से लेन-देन करने वाला व्यक्ति कभी न कभी इन इक्कीस नरकों में कहीं न कहीं पहुँचे बिना नहीं रहता।[5] और यह स्वाभाविक है। जिस किसी दिन ब्याज-बट्टे के लेन-देन पर राजा रुष्ट हुए तो नरक पहुँचने में क्या संदेह?

मानव का आरंभिक जीवन मातृ वंश प्रधान भले ही रहा हो किन्तु वैदिक काल में पतिव्रत और पत्नीव्रत के आदर्श आर्यों में पूजनीय थे। विशेषतः प्रतिद्वन्द्वी राष्ट्रों की स्त्री के लिये स्वर्ग में कोई सम्मान न था। निरुक्त में एक कथा लिखी है—नारद ने एक बार कुछ असुर स्त्रियों से कहा असुरों की प्रतिष्ठा जाती रही है। चलो स्वर्ग में देवों के परिवारों में सुख और सम्मान से रहना।

---

१. रायकृष्ण दास, भारतीय मूर्तिकला, पृ० ११ तथा पृ० ११४
२. 'तू दाहिने हाथ से कर्म करता जा, विजय तेरे बायें हाथ में स्वयं आ जायेगी।
३. अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तुतर्पणम्।
होमो दैवो, बलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम्॥ मनु० ३/६०
४. मनुस्मृति ४/८८—९०
५. यो राज्ञः प्रतिगृह्णाति लुब्धस्योच्छास्त्र वर्तिनः।
स पर्यायेण यातीमान्नरकानेकविंशतिम्॥ मनु० ४/८७

उन स्त्रियों ने उत्तर दिया, पति को त्यागने वाली और अराष्ट्रीय स्त्री के लिये स्वर्ग में स्थान ही कहां है ? हमें वहां से दोनों अपराधों के कारण नरक के लिये ढकेला जायेगा। कुछ लोग यज्ञों से स्वर्ग की योग्यता सम्पादन करते हैं, कुछ लोग सोमयाग के सामाजिक अभ्युदय द्वारा, तथा कुछ वाणी के गौरव से एवं कुछ दान दक्षिणा देकर स्वर्ग में लोकप्रियता संपादन करते हैं। हम इस कुटिल आचरण के कारण स्वर्ग के योग्य नहीं, नरक के योग्य ही होंगी।[1] इसलिये जहां हैं वहीं रहने दो।

मनु के धर्म शास्त्र में हम यही प्रतिध्वनि देखते हैं—स्त्री का पति से पृथक कोई यज्ञ नहीं है, कोई व्रत नहीं है, कोई उपवास नहीं है, कोई पूजा नहीं है, यही उसकी स्वर्ग के लिये योग्यता है।[2]

हम देखते हैं यह इतिहास ईसा की दसवीं शताब्दी तक हमारे साहित्य में जीवित था, माधवाचार्य ने शंकर दिग्विजय में इस तथ्य का उल्लेख किया।[3]

डाक्टर अविनाशचंद्र दास ने अपनी पुस्तक 'ऋग्वेदिक इण्डिया' में यह प्रतिपादन किया है कि यह नरक का प्रदेश किसी समय समुद्र ही था। ऊपर हिमालय, नीचे विन्ध्याचल और बीच में समुद्र। डा० सम्पूर्णानंद ने भी इसी विचार का समर्थन किया।[4] उनका कहना यह है कि हिमालय सबसे नया पहाड़ है। बस इसी आधार पर सारे अटकलों की पच्चीकारी हुई है। इसी आनुमानिक कथा को सिद्ध करने के लिये अनेक वेद मंत्र भी उद्धृत किये गये। किन्तु वेद में 'समुद्र' शब्द का अर्थ सर्वत्र सागर नहीं होता। उसका अर्थ आकाश भी है। केन्द्र स्थान भी है और सागर भी।[5] इसी प्रकार विष्णु और इन्द्र शब्द अनेकार्थक हैं। निरुक्त में यास्काचार्य उनके अर्थ विस्तार पर लिखते-लिखते थक गये और अंत को यह कहकर चुप हो गये कि विद्वान लोग वैदिक अर्थ शैली के अनुसार इन शब्दों के अर्थ यथा स्थान स्वयं कर सकेंगे। वह शैली ही बड़ी खरी है—श्रुति, लिंग, वाक्य, प्रकरण, स्थान और समाख्या जैसी कसौटियों पर जब अर्थ खरा उतर जाय तब जानो सही हुआ। अन्यथा अनर्थ।

और हम यह मान लें कि विन्ध्याचल और हिमालय के मध्य कभी समुद्र था, तो भी वह यास्काचार्य तथा आत्रेय संहिता की उस सूचना के साथ समन्वित होता है कि स्वर्ग से नीचे की भूमि (जब भी उभरी हो) नरक थी। मनु और मत्स्य की जलप्लावन

---

1. हविर्भिरेकः स्वरिते सचन्ते सुन्वन्त एके सवनेषु सोमान् ।
शचीमदन्त उत दक्षिणाभिर्नेज्जिह्मायन्तो नरकम्पताम ॥
निरुक्त, पृ० 1/3

2. नास्ति स्त्रीणां पृथग्यज्ञो न व्रतं नाप्युपोषणम् ।
पतिं शुश्रूषते येन तेन स्वर्गे महीयते ॥ मनु० 5/155

3. अत्र कृष्ण मुनिना कथितं मे पुत्र तच्छृणु पुरा तुहिनाद्रौ ।
वृत्र शत्रुमुखदैवतजुष्टं सत्रमत्रि मुनि कर्तृकमास ।
शंकरदिग्विजय सर्ग 5/153

4. 'आर्यों का आदि देश' पृ० 41-41 । डा० सम्पूर्णानन्द ।

5. I समभिद्रवन्ति अपः अस्मिन् इति समुद्रः । II. समभिद्रवन्त्यप अस्मादिति । III समभिद्रवन्त्यत्र सर्वतो जनाः इति समुद्रः ।

कालीन कथा से यह आभास तो मिलता है कि जब समुद्र में उफान आया होगा तो हिमालय और विन्ध्याचल के बीच होकर ही पानी की हिलोर गई होगी। क्योंकि मनु की नौका हिमालय पर ही किसी देवदारु के पेड़ से बंधी थी। महाकवि जयशंकर प्रसाद की दृष्टि में वह दृश्य इन शब्दों में उतरा था—

नीचे जल था ऊपर हिम था,
एक तरल था एक सघन।
एक तत्व की थी प्रधानता,
कहो इसे जड़ या चेतन ॥[1]

ऐसे जलप्लावन तो प्राकृतिक उत्पात हैं। गत वर्ष दक्षिण भारत के धनुषकोटि में और पूर्वी बंगाल (बंगलादेश) में ऐसे ही जलप्लावन हुए थे जिनमें हजारों मनुष्य और लाखों अन्य प्राणी समाप्त हो गये। किन्तु भूमि फिर जहां की तहां निकल आयी। अब उस पर जो आबादी बनेगी वह युगों-युगों तक इस प्लावन के इतिहास को अपनी संतान को सुनाती रहेगी। मनु कालीन जल प्रलय भी ऐसा ही है।

भारत के प्राचीन इतिहास की जो सामग्री हमारे पूर्वज छोड़ गये हैं वह स्वामी दयानन्द सरस्वती की इस खोज से मेल खाती है—

प्रश्न—मनुष्यों की आदि सृष्टि किस स्थल में हुई ?

उत्तर—त्रिविष्टप अर्थात् जिसको तिब्बत कहते हैं।

प्रश्न—आदि सृष्टि में एक जाति थी व अनेक ?

उत्तर—एक मनुष्य जाति थी, पश्चात् 'विजानीह्यार्यान्ये च दस्यवो' यह ऋग्वेद का वचन है।···आर्य और दस्यु दो नाम हुए।[2]

स्वामी दयानन्द सरस्वती की इस सम्मति का समर्थन ही संस्कृत साहित्य में पदे-पदे मिलता है। स्वः, अव्यय, स्वर्ग, नाक, त्रिविष्टप और त्रिदिव एक ही अर्थ को कहते हैं। कालिदास ने यही कहा था—'त्रिविष्टपस्येव पतिं जयन्तः।' रामायण में वही स्वर्ग था। महाभारत में स्वर्गारोहण पर्व उसी भौगोलिक चित्र को इतिहास के साथ जोड़ता है।

स्वर्ग शब्द वेद में आध्यात्मिक अर्थ में है। "दिवं च पृथ्वीञ्चान्तरिक्षमथो स्वः" आदि मंत्रों में स्वः का अर्थ सुख सम्पत्ति से भरे जीवन को बोध कराता है। इसी साम्य से हिमालय का राज्य स्वर्ग बना। स्वर्ग में चरित्र नायकों को 'देव' शब्द से संबोधित किया गया। क्योंकि वेद में आध्यात्मिक दृष्टि से जीवन को चरित्र पथ पर अग्रसर करने वाली शक्ति को देव कहा गया। ऋग्वेद में कहा है—देवों के भी मनुष्यों जैसे नेत्र हैं। किन्तु मनुष्य पलक झपकते हैं, देवता नहीं झपकते ताकि वे तुम्हारे भले-बुरे काम निर्निमेष देख सकें। तुम्हारे योगक्षेम को प्रतिक्षण पूर्ण कर सकें। मनुष्य सर्व समर्थ नहीं है किन्तु देव सर्व समर्थ हैं। मनुष्य अमर नहीं है, देव अमर हैं। वे ज्योतिर्मय रथ पर चढ़कर इस विश्व के योगक्षेम को देख रहे हैं। तुम अंधकार में रहते हो, वे प्रकाश में। तुम पाप को

1. कामायनी।
2. सत्यार्थप्रकाश, समुल्लास 8

ओर बढ़ सकते हो, किन्तु वे पुण्य पथ से विचलित नहीं होते। वे उच्च प्रकाश में इसलिये रहते हैं, ताकि तुम पर कल्याण की वर्षा कर सकें।[1] वे सूर्य, चन्द्रमा ही हैं।

वेद के इन वर्णनों को नाम साम्य के कारण लोग हिमालय को स्वर्ग में भी समन्वित करना चाहते हैं। परन्तु शब्द का व्युत्पत्ति निमित्त ही सदैव प्रवृत्ति निमित्त नहीं होता। दिनभर चरने के लिये चलने-फिरने वाले एक पशु को लोग 'गौ' कहने लगे। परन्तु दिनभर चलते-फिरते हिरण को हम 'गौ' अब नहीं कह सकते। तिब्बत के देवताओं में कुछ चिह्न हो सकते हैं जो वेद में कहे गये। परन्तु सारे विशेषण उनमें घटाना दुस्साहस मात्र है।

यक्षराज कुबेर देव गणों में थे। परन्तु तो भी उन्हें 'मनुष्यधर्मा' कहा जाता है। क्योंकि नरक में रहने वाले मनुष्यों जैसी दाढ़ी मूंछ उनके थी। नाम साम्य से हर बात का साम्य अपेक्षित नहीं है। इसी लिये मैंने लिखा है शब्दों का व्युत्पत्ति निमित्त ही प्रवृत्ति निमित्त नहीं होता। किन्नरों को 'अश्वमुख' शब्द से भी बोधित किया गया है। परन्तु मुख का अर्थ यह नहीं कह सकते कि उनकी शक्ल घोड़े जैसी ही थी। या उनके लगाम लगायी जाती थी। मुख की लम्बाई या मस्तक की संकीर्णता का सादृश्य देखकर उन्हें 'अश्वमुख' कहा गया होगा। अन्यथा उन्हीं किन्नरों का संगीत स्वर्ग को रस माधुरी से कैसे भर देता! उनमें देवापि और शन्तनु जैसे महापुरुष कहाँ से आते? बौद्ध युग के महास्थविर अश्वघोष के नाम के साथ अश्व जुड़ने के कारण हम घोड़ा नहीं कह सकते।

वही बात नरक के सम्बन्ध में भी ध्यान रखनी होगी। नारक, नरक, निरय, दुर्गति, यह नरक के ही पर्याय हैं। तपन, अवीचि, महारौरव, रौरव, संघात, कालसूत्र, तपन और उवीचि, यह सब नरक के ही भेद हैं। अब इन नामों पर विचार कीजिये। यह नाम अमर कोष में दिये हुए हैं।

'नरक' उसे इसलिये कहते है कि वह नीची भूमि पर है। 'नारक' इसलिये क्योंकि जल की धारायें उसी ओर ढलकती हैं। 'तपन' इसलिये कहते है क्योंकि वहाँ पर भीषण गर्मी, लू-लपट चलती है। 'अवीचि' इसलिये कहते हैं कि वहाँ (वीचि) सुख नहीं है। अथवा वहाँ की हवा में तरंगें दिखाई तो देती हैं पर वे तरंगें नहीं किन्तु (अवीचि) मरुमारीचिकायें हैं। 'रौरव' इसलिये कि वहां रुरु नाम के मांस भक्षी क्रव्याद (गिद्ध) अथवा उकाब (Eagle) आदमी को खा जाते हैं। अथवा रुरु नाम के अजगर आदमी को निगल जाते हैं। 'संघात' इसलिये कि जंगली वनमानुस अन्य लोगों को लाठी-पत्थरों से मार डालते हैं। 'काल सूत्र' इसलिये कि वहां मृत्यु का जाल बिछा है।

नरक के निवासी 'प्रेत' कहे जाते थे। क्योंकि वे स्वर्ग से (प्र) खासतौर पर ('इताः') निकाले हुए लोग थे। अर्थात् निर्वासित लोग। नरक की हरेक नदी 'वैतरणी' कही गई थी। क्योंकि वहां किसी नदी पर (तरणी) नौका नहीं मिलती थी। हिमालय के काश्मीर, तिब्बत, कैलास, अलकनन्दा और मानसरोवर के जलवायु को विन्ध्याचल की

1. नृचक्षसोऽनिमिषन्तो अर्हणावृहद्देवासोऽमृतत्वमानपुः। ज्योतीरथा अहिमाया अनागसो दिवो वर्ष्माणं वसते स्वस्तये॥ —ऋग्वेद

उपत्यकाओं से सन्तुलित कीजिये और वताइये इसमें क्या अभौगोलिक है ? क्या मिथ्या ? नदियों से पार उतरने के लिये उस समय नाव मिलने की सुविधा न होने से उस युग का आर्य गाय की पूंछ पकड़ कर ही नदी पार करता रहता था। क्योंकि वह उसी के पारिवारिक जीवन में पलती थी। हम आज भी अन्तिम श्वास तक अपने प्रियजनों के लिये गोदान की परिपाटी को अपनाये हुए हैं। क्योंकि प्रत्येक वैतरणी पर वह हमें तारती रही है। और पार जाकर दूध से पोषण करना भी उसकी ही देन थी। इसी लिये भारतीय संस्कृति में वह माता से कम नहीं। वेदना के कठिनतम समय में जिसने हमारा साथ दिया है, जो इतिहास के एक-एक पग पर हमारे संकटों में काम आयी है, और नरक की वैतरणी नदियों से पार उतारती रही है, उसे आज हम कैसे छोड़ दें ? विश्वासघात सवसे वढ़कर पाप है, यही हमारी संस्कृति की देन है। युधिष्ठिर ने अपने द्वार की चौकसी करने वाले कुत्ते के लिये स्वर्ग छोड़ दिया था, गाय के उपकारों का ऋण तो हम पर हज़ारों गुना अधिक है।

स्वर्ग से नरक में निर्वासित व्यक्ति स्वर्ग फिर नहीं लौट सका। वह स्वर्ग की लालसा के लिये वहाँ की नदियों, पर्वतों, ओषधियों, देवियों और देवताओं के गीत गाता रहा। नन्दी, ऐरावत, त्रिशूल, कमल, सिंह और मानस के हंस उसकी रग-रग में रम गये। किन्तु इसमें समाज का सम्पोषण समाविष्ट करने के लिये कुछ ऐसे नियम वनाये गये जो स्वर्ग और नरक का संवंध अक्षुण्ण रख सकें। हम पीछे लिख गये हैं स्त्री और पुरुष की प्रथम आवश्यकता एक-दूसरे का सम्मिलन है। स्त्री पुरुष के विना निरर्थक और पुरुष स्त्री के विना। इसलिये नरक में इस दिशा में यहाँ तक स्वतंत्रता रही कि एक स्त्री एक-एक संतान के लिये अनेक-अनेक पुरुषों की होकर रही। अपने जीवन में कितने ही पिताओं को उसने पुत्र दिये। महाभारत काल तक यह परिपाटी चल रही थी।

प्रारम्भिक समय में नरक को आवाद करना ही मुख्य दृष्टिकोण था। इसलिये पितृयज्ञ का कानूनी रूप वन गया। स्वर्ग से निर्वासित व्यक्ति नरक में पुत्र उत्पन्न करके स्वर्ग लौट सकता था। इस पद्धति से नरक की आवादी वढ़ने लगी। वे सभी पुत्र कुलीन थे। सभी को सामाजिक दृष्टि से पूर्ण सम्मान प्राप्त था। मनु के धर्म शास्त्र में हम इस विधान का उल्लेख अभी तक पाते हैं। संतान का नाम पुत्र रखा ही इसलिये गया था कि वह (पुम्) नरक से (त्र) त्राण देता था। उसके जन्म से पिता को स्वर्ग लौटने का अधिकार मिलता था।[1] उर्वशी, मेनका, घृताची और माधवी जैसी सुन्दरियां वे ही मातायें हैं जिन्होंने अनेक वंश परम्पराओं के संस्थापक पुत्रों को जन्म देकर नरक के निर्जन को

---

1. (क) पुत्रेण लोकाञ्जयति पौत्रेणानन्त्यमश्नुते।
अथ पुत्रस्य पौत्रेण ब्रध्नस्याप्नोति विष्टपम्॥
पुन्नाम्नो नरकाद्यस्मात्त्रायते पितरं सुतः।
तस्मात्पुत्र इति प्रोक्तः स्वयमेव स्वयंभुवा॥ मनुस्मृति 9/137-138
(ख) त्रयोवाव लोका मनुष्यलोकः पितृलोको देवलोक इति।
सोऽयं मनुष्यलोकः पुत्रेणैव जय्यो नान्येन कर्मणा। कर्मणा पितृलोको। विद्यया देवलोकः। देवलोको वै लोकानां श्रेष्ठः॥ वृहदा० अ० १।५

मानव का आवास बनाकर आर्यावर्त्त के राष्ट्र की आधारशिला रखी थी।

इस प्रकार नरक में संतान को छोड़कर स्वर्ग में लौटे हुए लोग 'पितर' कहे गये। उनकी प्रतिष्ठा स्वर्ग में देवताओं से उतरकर मानी गयी थी। प्रतीत होता है मानसरोवर के दक्षिण नैपाल, भूटान, सिक्किम और असम के प्रदेशों में अधिकांश पितर ही आबाद हो गये थे। आर्यावर्त्त में उन्हीं की संतानें फैल रही थीं। जो वर्षा के चातुर्मास तक हिमालय न पहुँच सकने के कारण वर्षा की समाप्ति पर आश्विन के महीने में पूरे एक पक्ष तक अनेक सौगातें भेजकर अपने पितरों के चरणों में भक्ति का प्रदर्शन करते थे। और आज तक करते हैं। यह पितृपक्ष पितरों का तर्पण ही नहीं है, स्वर्ग के प्रदेश से हमारे गहरे राष्ट्रीय एवं आनुवंशिक सम्बन्धों को सूचित करता है। पंचयज्ञ में देवताओं को हव्य और पितरों को कव्य (तर्पण) देने की यह परम्परा कुछ निराधार नहीं है। भले ही वह आज एक परम्परा है, किन्तु कभी वह हमारे जीवन का तथ्य था। एक बार मुझे बद्रीनाथ के एक वयोवृद्ध पंडा मिले। उनसे बात हुई। उन्होंने बताया बद्रीनाथ के उत्तर मानसरोवर के किनारे से तिब्बत को एक प्राचीन मार्ग चलता रहा है जिसे देवयान कहते थे और इसके दक्षिण में नैपाल होकर दूसरा मार्ग चला गया है जिसे हमारी पहाड़ी परम्परा में पितृयान कहते रहे हैं। दोनों सड़कें तिब्बत में जाकर मिल जाती हैं। मैं अब तक देवयान और पितृयान की आध्यात्मिक व्याख्याएँ ही जानता था, किन्तु यह भौगोलिक वास्तविकता सुनकर इतिहास का एक बड़ा अध्याय दिखाई देने लगा। मनु की वह उक्ति ठीक है जिसमें कहा है—वैदिक शब्दों से ही लौकिक संस्थायें (भौगोलिक ऐतिहासिक संज्ञाएँ) बनाई गईं।

मैंने पीछे कहा है, स्वर्ग का प्रथम चरण देवकाल था। हम इसे ब्रह्मकाल भी कह सकते हैं। इससे पूर्व इतिहास पर वैदिक साहित्य मौन है। मुण्डक उपनिषद् ने स्पष्ट रूप से यह लिखा है—"ब्रह्मा देवानां प्रथमः सम्बभूव"। तब उसी का शासन था। असुरों की एक परम्परा अलग नहीं हुई थी। किन्तु उसी के वंश में दिति जैसी एक कुटिल स्त्री आ गयी। उसने अपने बेटों को अपनी सपत्नी से लड़ा दिया। दिति के वंश में उत्पन्न होने वाले ही दैत्य या असुर थे। अदिति के आदित्य अथवा देवता। हमने पीछे छान्दोग्य तथा बृहदारण्यक उपनिषदों के आधार पर लिखा है।[1] देव और असुर दोनों में असुर ज्येष्ठ थे। देव कनिष्ठ। दोनों में झगड़ा हुआ। असुरों को देवों ने ढकेल कर पश्चिमी समुद्र तक पहुँचा दिया। वही असुर लोक (असीरिया) बना और स्वर्ग का राज्य देवों के हाथ रह गया।

वह देव थे जो धीरे-धीरे नरक की दुर्गम घाटी को आबाद करते रहे। यह नरक ही मनुष्य लोक था। बृहदारण्यक उपनिषद् की यह उपक्रमणिका देखिये—

एक बार देव, मनुष्य और असुर तीनों प्रजापति की सेवा में ब्रह्मचर्य व्रत लेकर रहे, ताकि झगड़ा न हो, क्योंकि तीनों उन्हीं प्रजापति के वंशज थे और प्रजापति ही उनके पिता।

पर्याप्त समय ब्रह्मचर्य वास के उपरांत एक दिन देवों ने प्रजापति से प्रार्थना की—

---

1. बृहदारण्यक 1/5

'भगवन, उपदेश दीजिये।'

प्रजापति ने कहा--'प।'

फिर असुरों ने कहा—'भगवन, उपदेश दीजिये।'

प्रजापति ने कहा--'द।'

फिर असुरों ने कहा--'भगवन, उपदेश दीजिये।'

प्रजापति ने फिर कहा—'द।'

उपदेश समाप्त हो गया। मौन छा गया। प्रजापति ने पूछा—'क्या समझे ?'

(क) असुरों ने कहा—'दया करो।' हमारे लिये ये आपका उपदेश है।

(ख) मनुष्यों ने कहा—'दमन (संयम) करो' यही आपका हमारे लिये उपदेश है।

(ग) देवों ने कहा--'दान करो' यही आपका हमारे लिए उपदेश है।

उपनिषद् ने लिखा—तीनों में जो कमी थी, प्रजापति ने वह एक ही अक्षर से कह दी। बुजुर्ग का काम ही यह था कि उन्हें सुलह का मार्ग बताये। प्रजापति ने वही किया। यदि ये तीनों गुण एकत्र हो जायें तो वही स्वर्ग बन जाय। और वहीं बना था।[1] प्रजापति के मार्ग पर जो नहीं चल सके उन्हें अलग-अलग देश बनाने पड़े। लड़ना पड़ा और एक-दूसरे का संहार करना पड़ा। मनुष्य देवों के अनुगामी रहे किन्तु असुर न हुए। देवों की आस्तिकता असुरों को भौतिक परिग्रह और लिप्सा से हटा न सकी। ऐतरेय ने ठीक लिखा था 'परोक्ष प्रिया हि देवा, प्रत्यक्ष द्विषः।[2] देवों ने परोक्ष को प्यार किया। इस जन्म के कर्म अगले जन्म तक फल देंगे। इतना सन्तोष। दूसरी ओर आज की कृति का आज ही फल चाहने वाले असुर। इस भौतिकवाद का समन्वय स्वर्ग में न हो सका।

असुरों ने प्रजापति के 'द' कहने से यही समझा था--'दूसरों पर दया करो', तुम भी रहो, औरों को भी रहने दो। यही उनकी चारित्रिक दुर्बलता थी। और उससे भी बड़ी दुर्बलता यह थी कि वे अपनी इस दुर्बलता को जानते हुए भी त्यागने को तैयार न हुए। उपनिषद् ने ठीक उपमा दी थी कि वे ऐसे ही श्रमिक थे जो चट्टान के नीचे बैठकर भूमि खोद रहे थे। अन्त को उसी चट्टान के नीचे दबकर सदा-सदा के लिए समाप्त हो गये।

मनुष्यों ने अपनी कमजोरी समझी। उन्होंने 'द' का अर्थ इन्द्रिय दमन समझा। क्योंकि वे इसी दुर्बलता के शिकार थे। नरक की यही दुर्बलता उसके नव-निर्माण में सबसे बड़ी बाधक थी। मनुष्यों ने विवाह संस्थायें बनाईं। पतिव्रत और पत्नीव्रत, यम और नियम, जैसे विधान बनाकर नरक आर्यावर्त्त बना दिया। वहां धीरे-धीरे स्वर्ग उतरने लगा।

दूसरी ओर देवों ने 'द' का अर्थ दान समझा। किन्तु समझ कर वे जिस हद तक देते रहे उस हद तक उनकी प्रतिष्ठा ऊंची होती गई। किन्तु यह दान की प्रवृत्ति उनमें ज्यों-ज्यों घटती गई, उनकी प्रतिष्ठा घटती गई। वेद की यह घोषणा 'सौ हाथों से कमाओ

---

1. एति स्वर्गलोकं य एवं वेद।–बृ० रण्य 5/2
2. ऐतरेयोपनिषद, अ० 1

और हजारों हाथों से दे डालो।[1] देवों का प्रमुख आदर्श रहती तो स्वर्ग की अमरता समाप्त न होती।

स्वर्ग में सम्पत्ति का संचय होने लगा। कुबेर के कोष में दौलत की थाह न रही। वे 'धनद' बन गये। व्याज-वट्टा चलने लगा। तभी तो रावण ने दक्षिण से स्वर्ग पर आक्रमण कर दिया। न केवल राक्षस रावण किन्तु पिशाचों और म्लेच्छों के दस्युदल उस पर नित्य प्रति अभियान करने लगे। स्वर्ग के परिग्रह का एक उदाहरण कालिदास ने सुन्दर लिखा है—

सम्राट् रघु ने राज्यारोहण के उपरान्त 'विश्वजित' यज्ञ किया। दिग्दिगन्त के सम्राटों को विजय कर अथाह सम्पत्ति जमा की। किन्तु विश्वजित् यज्ञ में वह सारी सम्पत्ति योग्य पात्रों को वांट दी। खत्तियों में गड़े हुए धन गरीबों को वंट गये। सारा कोष समाप्त हो गया। कौत्स की पूजा मिट्टी के शकोरों में हुई।

जब वरतन्तु महर्षि के शिष्य कौत्स उनके राज दरबार में आये, सम्राट् रघु ने प्रश्न किया, विद्वान्, किस निमित्त पधारे?

कौत्स ने कहा—सम्राट् मैंने गुरु के चरणों में बैठकर विद्या समाप्त कर ली और उन महनीय चरणों की भक्ति भाव से वंदना की। गुरु ने मेरी भक्ति और नम्रता के लिये आशीर्वाद दिया—वत्स! जाओ जीवन क्षेत्र में यश और सफलता प्राप्त करो। मैंने कहा, गुरुवर! गुरु दक्षिणा मांगो, वह देकर तुमसे विदा लूंगा।

गुरु बोले, वत्स, तुम्हारे पास सबसे बड़ा धन भक्ति ही थी। वह तुम दे चुके। बस, बहुत है। और कुछ नहीं चाहिए। जाओ जीवन संग्राम में विजयी हो।

मैंने आग्रह किया। कुछ तो मांग ही लो। उऋण तो हो सकूं। गुरु को आवेश आ गया। बोले—तुम्हें चौदह विद्याएं मैंने पढ़ा दीं। इसलिए चौदह करोड़ स्वर्ण मुद्रायें दे सको तो गुरु दक्षिणा पूर्ण हो।

सम्राट्! यह चौदह कोटि स्वर्ण मुद्रा तुम्हारे सिवा कौन दे सकता है? इसी उद्देश्य से तुम्हारे राजदरबार में आया हूं। तुमने मिट्टी के वर्तनों में मेरा स्वागत किया है। यज्ञ के अवसान पर तुमसे जो आशा लेकर आया था क्या वह पूर्ण न करोगे?

नहीं, विद्वान्! तुम मेरे दरबार में आशा लेकर आये और पूर्ण न हो सकी, यह नया अपयश सूर्य वंश में न आने दूंगा। विद्वान को दिया गया दान किसी यज्ञ से कम नहीं है। इसलिए यद्यपि मेरे कोष में अब कुछ नहीं रहा है, तो भी तुम्हें चौदह कोटि स्वर्ण मुद्रायें लाकर दूंगा।

रघु ने मंत्रियों को बुलाकर आज्ञा दी—सेना तैयार करो, कुबेर पर आक्रमण होगा। और चौदह कोटि स्वर्ण मुद्रायें लाकर कौत्स को अर्पण की जायें। रघु का रथ पृथ्वी पर कहीं नहीं रुका, वह स्वर्ग में भी न रुकेगा। गुरु वसिष्ठ! मंगल पढ़ो, और इस अभियान की आज्ञा दो।

वसिष्ठ ने मंगलाचरण पढ़ा। रघु ने धनुषवाण सज्जित किये। चतुरंगिणी चमू ने

---

1. "शतहस्त समाहर सहस्र हस्त संकिर।"—ऋग्वेद

अस्त्र-शस्त्र उठा लिये[1] अब संध्या हो गई थी। प्रातः प्रस्थान होना था। रघु को उत्सुक मनोवेग के कारण निद्रा न आयी। रात को पलंग पर नहीं, युद्ध के रथ पर धनुषबाण लेकर सो गया।

प्रभात होते-होते रणभेरी बज उठी। दिशाएं दहल गई। रघु स्वर्ग पर आक्रमण कर रहे थे।

सहसा कोषाध्यक्ष ने आकर सूचना दी—सम्राट्! आज रात्रि में कोषागार के अन्दर देवताओं के विमान स्वर्ण मुद्रायें बरसाते रहे हैं। कोष स्वर्ण से भर गया है।

सम्राट् ने धनुष रख दिया। कोष में जाकर देखा वह जातरूप की हिरण्मयी किरणों से प्रकाशित हो रहा था। कौन जाने कितनी मुद्रायें थीं। मानो कोषागार में दूसरा सुमेरु खड़ा हो। अतोल, असंख्य और अप्रत्याशित।

रघु ने आज्ञा दी—कौत्स को दे दो।

मंत्री ने पूछा—कितना?

कितने का प्रश्न नहीं है। याचना से अधिक देना ही मेरे वंश की आन है। यह सम्पूर्ण धन वरतन्तु की दक्षिणा होना चाहिये। कौत्स से कहो। यह सब ले जाय।

कौत्स ले गये और वरतन्तु के चरणों में वह सम्पूर्ण धनराशि रख दी। साकेत का सम्मान अलका से ऊंचा हो गया।

कुबेर के इस परिग्रह पर कितने ही दस्युओं की ललचायी दृष्टियां अनर्थ के बीज बो रही थीं, जिन्होंने स्वर्ग के सुख में वैर का विष घोल दिया था। देवता चैन की नींद नहीं सो सके। इन्द्र वज्र सम्हाल रहे थे, वरुण पाश, शंकर त्रिशूल। न केवल इतना ही, दुर्गा भी अपना खांडा और खप्पर लेकर दुर्दान्तों के अंत पर कमर कसकर खड़ी हुई थी। परन्तु एक स्वर्ग पर अनेक दिशाओं से होने वाले आक्रमणों ने स्वर्ग को भी हिमालय की उत्तुंग सौख्य सृष्टि से नरक की ओर निर्वासित किया। देवों और नागों का गृह कलह स्वर्ग के समापन को सहयोग देने लगा। कैलास से अमरावती के नन्दन तक एक बार जो शंकर बरात लेकर आये थे, दूसरी बार वे ही सेना लेकर आये।

स्वर्ग की संस्कृति को विस्तृत करने वाले प्रमुख राष्ट्र निर्माता दस महर्षि नियुक्त हुए थे—(1) मरीचि (2) अत्रि (3) अङ्गिरा (4) पुलस्त्य (5) पुलह (6) क्रतु (7) अचेता (8) वसिष्ठ (9) भृगु (10) नारद।

रामायण काल तक इनमें से कुछ समाप्त हो चुके थे, कुछ अपने जीवन के उपसंहार में चल रहे थे। नये महर्षि आविर्भूत हो रहे थे। आत्रेय पुनर्वसु ने नई पीढ़ी के उन महर्षियों का उल्लेख भी किया है।[2] इसमें संदेह नहीं, स्वर्ग की संस्कृति को नरक में अवतीर्ण करने वाले उपर्युक्त महर्षियों ने वन्दनीय राष्ट्र सेवा की है। वे वेदों के दृष्टा थे। और समाज के भी। आर्यावर्त्त, स्वर्ग, और दक्षिणापथ को एक समुदित राष्ट्र के रूप में स्थापित करने का श्रेय उन्हीं को है। पीछे ऋषियों में श्रेणी भेद होने लगा था। चक्रपाणि ने लिखा है ऋषियों की चार श्रेणियां हो गई थीं, ऋषिक, ऋषि पुत्र, देवर्षि और महर्षि।

1. मनु० 1/35
2. चरक सं०, सू० 1/6-14

वंश और विद्या का अंतर ही उनके श्रेणी भेद का आधार था।

(१) मरीचि (२) अङ्गिरा (३) अत्रि (४) पुलस्त्य (५) पुलह (६) क्रतु (७) वसिष्ठ। यह सप्त ऋषियों की टोली नरक में वैदिक कर्मकांड और सदाचार की स्थापना के लिये इतनी आदर्श बन गई कि ज्योतिष शास्त्र में उत्तर दिशा में स्थित सात नक्षत्रों के नाम इन्हीं के संस्मरण में रख दिये गये। इतिहास को अमरता प्रदान करने वाली यह भारतीय शैली अपूर्व थी। बहुधा लोग भवन बनाकर किसी महापुरुष की स्मृति को स्थिरता प्रदान करते हैं। कोई सड़क या उद्यान को उनके नाम से स्मरण करते हैं। किन्तु प्राचीन भारतीयों ने उन नक्षत्रों को सप्त ऋषियों का संस्मरण बनाया जो सृष्टि के अंत तक अमर रहेंगे।

दश प्रजापति राजनैतिक व्यवस्था के लिये उत्तरदायी थे और सात महर्षि आचार मर्यादा के लिये। यही इनका अंतर है। अन्यथा दश प्रजापतियों में निर्विष्ट व्यक्ति ही सप्तर्षियों की टोली में भी हैं। प्रचेता, भृगु और नारद सप्तर्षियों में नहीं हैं। वैदिक चार संहिताओं में प्रायः इन्हीं महर्षियों को मंत्रदृष्टा लिखा गया। इनके साथ इनके शिष्य और कुछ अन्य मित्र भी अवश्य हैं किन्तु प्रमुख ये ही। सत्य यह है कि वे मंत्रद्रष्टा तो थे ही, आचारद्रष्टा, राष्ट्रद्रष्टा भी थे। ऋग्वेद, सामवेद, और अथर्ववेद के अति-रिक्त इन महर्षियों के नाम से निर्मित अन्य संहितायें भी थीं जिनमें कुछ तो नष्ट हो गई और कुछ आज तक किसी न किसी रूप में उपलब्ध हैं।

मनु ने लिखा है, वैदिक मंत्रों की संज्ञाएं ही ऋषियों ने लोकाचार में ले ली हैं। तब स्वर्ग में वेदों का रूप कुछ भिन्न प्रकार से चलता रहा होगा। कंठाग्र करके गुरु शिष्य परम्परा चलती ही रही थी। नरक में और फिर आर्यावर्त्त में वेदों को महर्षि जिस रूप में लाये वह इन चार संहिताओं में प्रस्तुत हैं। परन्तु स्वयं वेद में लिखा है कि वे ज्यों-का-त्यों लाये।[1] ज्यों-का-त्यों होने से अभिन्नता ज्ञान में है, न कि शब्दों में। शुक्ल यजुर्वेद की वाजसनेय तथा कृष्ण यजुर्वेद की तैत्तिरीय संहिताओं में शब्द भेद तो स्पष्ट है। भर्तृ हरि ने कहा तो था—'तर्कोऽप्रतिष्ठः श्रुतयोविभिन्नाः।' यह शाब्दिक भेद की ओर इंगित है।

एक पुत्र उत्पन्न करके स्वर्ग लौटने की शर्त से काम नहीं चला। नरक की आबादी जिस रफ्तार से चाहिये थी नहीं बढ़ रही थी। इसलिये तीन शर्तें लगा दी गई—(1) वेद पढ़ा हो (2) एक से अधिक पुत्र हों (3) और पंचयज्ञ का अनुष्ठान किया हो तभी यहां से छुट्टी मिल सकती थी अन्यथा इसी गर्त में पतित रहना था।[2] राजाओं के लिये

1. शुचिर्देवेष्वर्पिता होत्रा मरुत्सु भारती।
इडा सरस्वती मही बर्हिः सीदन्तु यज्ञियाः॥ ऋग्वेद 1/142-9
यह विचार गलत है कि वैदिक काल में भाषा नहीं थी। वेद में भाषा विज्ञान पर अनेक मंत्र हैं—"अहं राष्ट्री संगमनी वसूनां चिकितुषी प्रथमा यज्ञियानाम्।" इस ऋक मंत्र में भाषा को राष्ट्र संगठन का आधार कहा है। ऋग्वेद मं० 1

2. अनधीत्य द्विजो वेदाननुत्पाद्य तथा सुतान्।
अनिष्टवा चैव यज्ञैश्च मोक्षमिच्छन्व्रजत्यधः॥ मनु० 6/37

भी स्वर्ग पहुंचने की कुछ शर्तें थीं। जिसके राज्य में चोरी न हो। व्यभिचार न हो। कटु भाषी न हो। दूसरों का अपकारी न हो वह इन्द्र के राज्य में जाने का अधिकारी है।[1] ऋषि और महर्षि ही वे सर्वोच्च अधिकारी थे जो किसी को स्वर्ग पहुंचने की योग्यता प्रमाणित करते थे, यही उनका प्रजापतित्व था।

दस प्रजापतियों में पुलस्त्य और पुलह भी थे। वे नरक के सामाजिक एवं राष्ट्रीय संगठन के लिए यहां आये थे। किन्तु दक्षिणापथ में पहुंचकर उन्हें स्वार्थो ने घेर लिया। वे लंका में राजधानी बनाकर दक्षिणापथ पर शासन करके एक नया राष्ट्र खड़ा करने की योजना में लग गये। न केवल इतना ही, उनके पौत्र रावण ने तो एक बार स्वर्ग पर आक्रमण तो कर ही दिया। महाकवि माघ ने उसी इतिहास का उल्लेख शिशुपाल वध के प्रारंभ में किया है। रावण ने नन्दन वन और अमरावती को घेर कर नन्दन वन काट डाला। इन्द्र के धन-धान्य को लूटा। देवताओं की सुन्दरियां अपहरण कीं, और स्वर्ग की सम्पूर्ण शांति तथा सम्पत्ति को छिन्न-भिन्न कर दिया।[2]

पिता दक्ष के यज्ञ में सती के भस्म हो जाने के प्रश्न पर देवों और नागों के संघर्ष का फल यह हुआ कि नाग-प्रमुख शंकर ने रावण को अभय कर दिया। 'तुम लूटो और हम हँसें' इसी प्रवृत्ति ने स्वर्ग की सीमायें हिला दीं। रावण चाहता था कि वह लंका से लेकर स्वर्ग तक एकछत्र सम्राट हो जाय, किन्तु अनाचार और अत्याचार की आधार-शिला पर उसका यह काल्पनिक साम्राज्य न बन सका। तो भी आर्यों की संगठित राष्ट्र शक्ति तो छिन्न-भिन्न होने लगी। लोग राम-रावण के युद्ध के समय विभीषण को राम का सहयोग करने के कारण 'घर का भेदी लंका ढावै' कहकर व्यर्थ बदनाम करते हैं। विभीषण ने वही किया जो उसके पूर्वज कर गये थे। राम और रावण युद्ध भी स्वदेश और विदेश की लड़ाई नहीं थी, गृहकलह का ही लज्जास्पद निदर्शन था। अनाचारी रावण को यह अभिमान हो गया था कि मैंने स्वर्ग के इन्द्र को पीट लिया, कोसल की गणना ही क्या है? परन्तु वीर राम ने उसका यह स्वप्न भंग कर दिया। इसका यह अर्थ तो स्पष्ट है ही कि स्वर्ग से नरक की शक्तियां समृद्ध हो गई थीं। हम पीछे लिख आये हैं कि एक बार असुरों और पिशाचों से युद्ध में इन्द्र वाल्हीक (बलख) तथा उत्तर कुरु(सिंकियांग) की रक्षा न कर सके। उन्हें दशरथ को कोसल से सहायता को बुलाना पड़ा। दशरथ की शक्तिशाली सेना ने आक्रांताओं को परास्त कर दिया और इसी पुरस्कार में उस प्रदेश पर दशरथ को शासनाधिकार दिया गया। कैकेयी तभी दशरथ की पत्नी बनी। क्योंकि कैकेयी का भाई युधाजित् उसका पड़ोसी शासक था। वाल्हीक गंधार था, और केकय उसका पूर्व-दक्षिण पड़ोसी सिंध और पंजाब। सप्तसिन्धु प्रदेश का पूर्वी भाग केकय था और पश्चिमी गन्धार। दशरथ के इस शासन का उल्लेख महाभारत में है।[3]

---

1. यस्य स्तेनः पुरे नास्ति नान्यस्त्रीगो न दुष्टवाक्।
   नच साहसिकदण्डघ्नौ स राजा शक्रलोक भाक्॥ —मनु० 8/386
2. पुरी मवस्कन्द लुनीहि नन्दनं, मुषाण रत्नानि हरामरांगनाः।
   विगृह्य चक्रे नमुचिद्विषा बली, य इत्थमस्वास्थ्यमहर्निशं दिवः॥ —माघ, शिशुपालवध 1/51
3. महाभारत वन पर्व, अ० 17

परन्तु असीरिया की ओर से होने वाले असुर अभियान काल में नरक का सबसे शक्तिशाली राज्य काशी था, जिसका शासनसूत्र धन्वन्तरि के हाथ में था। उसने न केवल राहु, केतु और वलि जैसे असुरों को परास्त करने में इन्द्र की सहायता की प्रत्युत आर्यावर्त्त का साम्राज्य भूमध्य सागर तक धन्व के पार पहुंचा दिया।

दूसरे नम्बर पर राक्षसों का अभियान काल था। यह लंका की ओर से पुलस्त्य के वंशजों से प्रेरणा लेकर स्वर्ग की ओर बढ़ने का प्रयास कर रहे थे। इस युग में कोसल का पराक्रम बढ़ाचढ़ा था। इन सूर्यवंशी सम्राटों ने दक्षिणापथ तथा लंका के राक्षसों का विध्वंस करने में ही इन्द्र की सहायता नहीं की प्रत्युत पश्चिमोत्तर की ओर से उठने वाले असुर-पिशाच आक्रमण भी परास्त किये। रघु का अश्वमेध ऐसा ही दिग्विजय था। पारस्य विजय से पूर्व रघु ने जो दिग्विजय किया वह समुद्र मार्ग से अदन होकर लाल सागर पार करके भूमध्य सागर (अपरान्त सागर) पर्यन्त था। इसमें कर देने वाले मिस्र (ईजिप्ट), असुरलोक (असीरिया) तथा यवन (यूनान) प्रमुख थे। पारस्य विद्रोही था, इसको स्थल मार्ग से परास्त किया।[1] रघु की दिग्विजय ने ही काश्यपीय सागर (कास्पियन सी) पर काश्यप के संस्मरण में विजय स्तंभ गाड़े थे।

तीसरे पिशाच आक्रांता थे। यह तुर्क और मंगोलों के गिरोह थे। अब पश्चिमोत्तर में केकय (पंजाब) का अश्वपति युधाजित् भी एक शक्तिशाली सम्राट् उदय हुआ। अज और दशरथ के सहयोग से अश्वपति युधाजित एक प्रबल शक्ति बन गया था। उसकी बहन कैकेयी दशरथ को ब्याही गई। इन पराक्रमी राजाओं ने पिशाचों का निरंतर संहार किया। किन्तु उत्तर से रोज-रोज होने वाले पिशाच (तुर्क) और उत्सव संकेतों ने स्वर्ग की शांति भंग कर दी। चीनी भी छिपे-छिपे देवलोक (तिब्वत) में विप्लव करने लगे थे। महाभारत में तो चीन खुलकर कौरवों की ओर से लड़ा। एक अक्षौहिणी सेना जो दस हज़ार सैनिकों से सुसज्जित थी उसने दुर्योधन को दी। उस युग में चीन का सम्राट् भगदत्त था।[2] अब स्वर्ग की राजनीति में वह पराक्रम, त्याग और बलिदान की विशेषता नहीं रह गई थी जो ब्रह्मदेव, शंकर और सविता के समय थी। जब ब्रह्मा सारथी थे और रुद्र रथी। जब इन्द्र रथी थे और मातलि सारथी।

वह युग बीत चुका था जब नरक का एक-एक व्यक्ति इन्द्र, कुबेर और शंकर की ओर अपलक देखा करता था। अब इन्द्र आदि देवता संकट आने पर नरक की ओर निहारने लगे थे। काशी, कोसल और केकय के सहारे स्वर्ग सधा था। कुछ महर्षि अश्वपति (युधाजित्) के यज्ञ में आये। अब तक यह नियम था—वह राजा स्वर्ग में प्रवास कर सकता है जिसके राज्य में चोरी न हो।[3] महर्षियों को देखकर अश्वपति ने कहा, "तुम हमें क्या देने आये हो?

---

1 अवकाशं किलोदन्वान् रामायाभ्यर्थितो ददौ।
अपरान्त महीपाल व्याजेन रघवे करम्॥ —रघुवंश 4/58
पारसीकांस्ततो जेतुं प्रतस्थे स्थल वर्त्मना। —रघु० 4/60

2. महाभारत द्रोणपर्व, अध्याय ३

3 यस्य स्तेनः पुरे नास्ति नान्यस्त्रीगो न दुष्टवाक्।
न च साहसिकदण्डघ्नौ स राजा शक्रलोकभाक्॥ —मनु० 8/386

मेरे राज्य में चोर नहीं हैं, सूदखोर नहीं हैं, शराबी नहीं हैं, अयाज्ञिक नहीं हैं। और व्यभिचारी भी नहीं हैं, फिर व्यभिचारिणी तो होगी ही कैसे?" अश्वपति की यह गर्वोक्ति सीधा स्वर्गादेश का उपालम्भ ही तो था। मेरे राज्य में चोर नहीं हैं, किन्तु तुम्हारे स्वर्ग का साम्राट् इन्द्र ही स्वयं चोर है जिसने रघु के अश्वमेध का अश्व चुरा लिया।[1] मेरे राज्य में सूदखोर नहीं हैं, किन्तु तुम्हारे स्वर्ग में कुबेर जैसा कदर्य (सूदखोर) विद्यमान है। मेरे राज्य में शराबी नहीं हैं, किन्तु तुम्हारे स्वर्ग में सोम के नाम पर सुरा पीने वालों की कमी नहीं। मेरे राज्य में अयाज्ञिक नहीं हैं, किन्तु तुम्हारे स्वर्ग में हव्य और कव्य खाने वालों के सिवा दानी लोग ढूंढे नहीं मिलते। मेरे राज्य में व्यभिचारी नहीं हैं, किन्तु तुम्हारे स्वर्ग में मेनका, रम्भा और उर्वशी जैसी गणिकायें पुज रही हैं। मैं तुम्हारे स्वर्ग को जाकर क्या करूंगा?

देव शब्द दान, प्रताप, विद्या और पराक्रम का भाव लेकर बना था। गृहकलह, सुरा, सुन्दरी, हास, लास और बिलास के पराक्रम पीछे चलते हैं, पराक्रम उनके पीछे नहीं चला। देव और नागों का वैमनस्य, देवों और नागों से गन्धर्वों का मनमुटाव यहां तक बढ़ा कि स्वर्ग हिमालय से चुपचाप उतरकर नरक में आ गया।

वस्तुत: गणतंत्रवादी स्वर्ग में देवताओं ने इन्द्र का साम्राज्यवाद स्थापित करना प्रारम्भ कर दिया। स्वर्ग के गणतंत्र के चार आधार थे—विद्या, पराक्रम, प्रजापालन और प्रजारंजन। इन्द्र में इन गुणों की उत्तरोत्तर कमी हो रही थी। रामायण में इसी स्थिति का प्रतिबिम्ब है। वाल्मीकि ने नारद से पूछा, "मैं कविता में एक महापुरुष का चरित्र-चित्रण करना चाहता हूं, बताइये पृथ्वी पर ऐसा गुणवान, चरित्रवान, धर्मात्मा, विद्वान्, संयमी, सुरूप, प्रजावत्सल, पराक्रमी कौन है जिससे युद्ध में देवता भी डरते हों?" नारद ने उत्तर दिया "हे मुनिश्रेष्ठ! वह केवल राम है।[2]" नारद जैसे बहुज्ञ व्यक्ति का यह निर्णय तत्कालीन स्वर्ग के शासन की ढलती हुई जवानी का परिचय नहीं तो क्या है?

निरुक्त शास्त्र की दृष्टि से भी 'नारा' जल को कहते हैं। नरा, नारा, नार आदि पर्यायवाची हैं। इसलिये 'नरक' का अर्थ है जिधर को पानी ढले वह प्रदेश 'नरक' है। निरुक्त के 'न्यरक' का अर्थ भी नीची भूमि ही है। इसी भाव को लेकर नरक में रहने वाले 'नर' और 'नारी' बने। अरबी भाषा में इसी भौगोलिक अर्थ का प्रतिबिम्ब देखिये— 'अदन' अरब का सबसे निम्न भाग है। इसलिये अरबी में 'अदना' शब्द भी निकृष्ट व्यक्ति का बोधक है। यह दूसरी बात है कि वहां प्रतिकूल परिस्थितियों के कारण कष्ट बहुत थे। किन्तु वह इतिहास की बात है। भूगोल की बात इतनी है कि वह निम्न भूमि

---

1. स पूर्वतः पर्वतपक्षशातनं ददर्शदेवं नरदेव संभवः।
पुनः पुनः सूत निषिद्धचापलं हरन्तमश्वं रथरश्मिसंयताम्॥ —रघु० 3/42

2 कोन्वस्मिन् साम्प्रतं लोके गुणवान्कश्च वीर्यवान्।
धर्मज्ञश्च कृतज्ञश्च सत्यवाक्यो दृढ़व्रतः॥
चरित्रेण च को युक्तः सर्वभूतेषु को हितः।
कस्य बिभ्यति देवाश्चजातरोपस्य संयुगे?॥ —वाल्मीकि रामायण, बालकाण्ड

थी। इसलिये उसे तत्कालीन भाषा में नरक नाम दिया गया था। किन्तु यह इतिहास का काम है कि वह बताये कि नरक भी स्वर्ग प्रतिस्पर्धी कैसे बना और स्वर्ग की गरिमा धीरे-धीरे नरक में कैसे उतर आयी ?

श्री मधुसूदन शर्मा विद्यावाचस्पति ने तत्कालीन भौगोलिक और सामाजिक स्थिति पर पर्याप्त विचार किया है। उनके लेखों से महत्वपूर्ण एवं प्रामाणिक सूचनायें मिलती हैं। तत्कालीन भौगोलिक स्थिति पर विचार करते हुए उन्होंने लिखा है दैविक, आध्यात्मिक और भौतिक अर्थों में शब्द प्रयोग के अंतर को ध्यान में रखकर शब्द के अर्थ समझना चाहिये। अग्निलोक, वायुलोक और इन्द्रलोक ज्योतिष शास्त्र में क्रमशः पृथ्वी, आकाश और सूर्य के बोधक हैं। अध्यात्मशास्त्र अथवा आयुर्वेदशास्त्र में उदर अग्निलोक है क्योंकि वहां पाचन होता है। वक्ष वायुलोक है क्योंकि वहां श्वास, प्रश्वास द्वारा प्राणवायु संचरित होती है। और सिर इन्द्रलोक है क्योंकि वहां ज्ञान और अनुभूति रहती है। किन्तु भूगोल शास्त्र में दक्षिण समुद्र से हिमालय की तराई तक अग्निलोक है। हिमालय से अल्ताई पर्वत पर्यन्त वायुलोक, तथा अल्ताई से उत्तर ध्रुव तक इन्द्रलोक माना जाता है।[1] इस प्रकार स्वर्ग वायुलोक में स्थित था। मरुताः, मरुत्वान् आदि शब्द देवताओं के लिये इसीलिये प्रयुक्त होते हैं।

स्वर्ग के प्रथम तीन संचालक थे। विद्वान्, वीर और प्रतिष्ठित। ब्रह्मा, विष्णु और इन्द्र। इन तीनों ने स्वर्ग का तीन विभागों में शासन किया। ब्रह्मा ब्रह्मलोक (थियान्-शान्=सुमेरु) पर, इन्द्र त्रिविष्टप (तिब्बत) पर तथा विष्णु क्षीर सागर (कास्पियन सागर) के प्रदेश पर शासन करते थे।[2] यह स्वर्ग का पहला अध्याय था। दूसरे अध्याय में नागवंशी प्रबल हो गये थे। नागों के उत्थान से शिव का प्रताप ऊंचा हो गया। दूसरी ओर पचासों अन्य सम्राट् इन्द्र पदवी के प्रत्याशी हो गये। इन्द्रलोक के अधिकारी देव थे। नागों के पराक्रम का उदय होने पर उनका गणनायक शिव अपने को 'महादेव' कहने लगा।

दक्ष के यज्ञ में नागों से इन्द्र का मनोमालिन्य, अपने ही राष्ट्र में इन्द्रासन के लिये प्रतिस्पर्धियों की प्रचुरता तथा बढ़ते हुए असुर और पिशाचों के आक्रमणों ने इन्द्र का आसन डांवाडोल कर दिया। अब इन्द्र के स्तोत्र पीछे, पहले शिवशंकर स्तोत्र गाये जाने लगे। इन्द्र का वज्र कुंठित क्यों न होता जब स्वर्ग के पंचजन का पारस्परिक समन्वय भंग हो गया। ब्रह्मदेव इन्द्र की उपेक्षा करके तारकासुर को अभय का वरदान देने लगे थे।[3]

---

1. दक्षिणसमुद्रतोऽग्नेर्लोकोस्ति हिमालयं यावत्।
अलताथि गिरेरैन्द्रो लोकाश्चोत्तर समुद्रान्तः॥
यस्तु हिमाचलशैलादलताथ्यचलान्त आन्तरोदेशः।
वायोर्लोकः स इदं त्रैलोक्यं भूतले विद्यात्॥ —इन्द्र विजय 1/11-12

2. ब्रह्मण एकं विष्टपमपरं विष्णोस्तृतीयमिन्द्रस्य।
एभिस्त्रिभिरधिपतिभिः स्वर्गोलोकस्त्रिविष्टपं भवति॥ —इन्द्रविजय 2/10

3. भवल्लब्धवरोदीर्णस्तारकाख्यो महासुरः।
उपप्लवाय लोकानां धूमकेतुरिवोत्थितः॥ —कुमारसंभव 2/32
भुवनालोकनप्रीतिः स्वर्गिभिर्नानुभूयते।
खिलीभूते विमानानां तदायातभयात्पथि॥ —कुमारसंभव 2/45

और शिव ने महिम्न स्तोत्र की स्तुति से प्रसन्न होकर रावण को अभयदान दे दिया। फलतः तारक ने नन्दन का उद्यान उजाड़ दिया। गंगा का जल रोककर अपने बिहार की वापियां बना लीं। और देवियों को अंतःपुर में बंदी बनाकर अपने भोग की सामग्री सम्पन्न की। रावण ने भी स्वर्ग पर आक्रमण करके स्वर्ग को बर्बरता से लूटा। भारवि ने ठीक कहा था—जब तक परस्पर में विश्वास और सहयोगपूर्ण संगठन न हो संघ शासन नहीं चलते—

महोद्‌यानामपि संघवृत्तितां सहायसाध्याः प्रदिशन्ति सिद्धयः[1]

इस प्रकार यद्यपि स्वर्ग का साम्राज्य चलता तो रहा किन्तु उसमें प्रथम जहां देव लोग प्रमुख थे और इन्द्र की तूती बोलती थी, वहां दूसरे चरण में नाग लोगों का उदय हुआ, और शिव का त्रिशूल चमका। इन्द्र के सेनापतित्व में यद्यपि असुरों की शक्तियां बहुत कुछ छिन्न-भिन्न हो चुकी थीं, किन्तु नागों के उदय के साथ शिव ने उनका सर्वथा संहार कर दिया। त्रिपुर की विजय उन विजयों में उल्लेखनीय है जिसमें ब्रह्मा सारथि थे और शिव रथी। तीसरे चरण में गन्धर्वों का उदय आता है। इस गन्धर्वकाल में यद्यपि कला-कौशल का विकास बहुत हुआ परन्तु राजनैतिक दृष्टि से गन्धर्वों की जागृति में विद्रोह के बीज थे। इस प्रकार स्वर्ग के राजनैतिक शासन को क्रम से हम निम्न प्रकार विभाजित कर सकते हैं—

1. देव युग—(इन्द्र शासन)
2. नाग युग—(शिव शासन)
3. गन्धर्व युग—(नग्नजित् शासन)

गंधर्व युग ही स्वर्ग के पतन की प्रस्तावना है। इस युग में भी स्वर्ग की सत्ता को बल देने वाले सम्राट् काशी के धन्वन्तरि तथा कोसल के दिलीप और रघु दूसरे नम्बर पर आते हैं।

भारत के उत्तर-पूर्व कोण की ईशान दिशा का नाम भारतीय साहित्य में अपराजिता दिशा लिखा जाता रहा है। मनु ने लिखा है—वानप्रस्थ आश्रम स्वीकार करने के उपरांत मनुष्य यदि घर के झंझटों से सदैव के लिए मुक्त होना चाहे तो अपराजिता दिशा को चला जाये। फिर वहां से लौटे नहीं। यहां तक कि वहीं उसका शरीरांत हो जाय। इसका 'महाप्रस्थान' कहकर स्मृति व्याख्याकारों ने उल्लेख किया है। यह महाप्रस्थान ही स्वर्गारोहण था। कुल्लूक भट्ट ने मनु की व्याख्या करते हुए लिखा है कि स्वर्गारोहण अथवा महाप्रस्थान वैध मरण है।[2] भिक्षा मांगकर आठ ग्रास खाये और जल पीकर रहे। यह बद्रीनाथ, काश्मीर, उत्तर कुरु (सिंकियांग) और तिब्बत तथा कामरूप का प्रदेश ही होना चाहिए। महाभारत के बाद भी यह महाप्रस्थान अथवा स्वर्गारोहण की प्रथा भारत में थी। पांडवों ने महाप्रस्थान ही किया था। न केवल उस समय

---

1. किरातार्जुनीय, 14/44
2. अपराजितां वास्थाय व्रजेद्दिश मजिह्मगः।
   आनिपाताच्छरीरस्य युक्तो वार्यनिलाशनः॥ —मनु० 3/31
   'अपराजितामैशानींदिशम्' —कुल्लूक भट्ट

ही, वह प्रथा आज तक यहां चल रही है। बद्रीनाथ, कैलास और मानसरोवर की तीर्थ-यात्रा आज भी महाप्रस्थान अथवा स्वर्गारोहण नहीं तो और क्या है? लेकिन परिस्थितियां ऐसी बनती चली गई कि हम ऊपर चढ़ते रहे और स्वर्ग नीचे उतरता रहा। ऐसा लगता है कि वह अपराजिता दिशा जिसका गौरव इन्द्र, ब्रह्मा और शिव के पराक्रम की छत्र-छाया में मुखरित हुआ था, विधवा हो गई। गृहकलह ने 'ईशान' और अपराजिता जैसे विरुद्ध इतिहास की कथायें बना दीं। अपराजिता ही पराजित हो गई।

देवों के ह्रास के बाद नागों का उत्थान हुआ। शंकर और दुर्गा रंगमंच पर आये। चक्र का स्थान त्रिशूल ने लिया। कमल के स्थान पर नाग (सर्प) फुंकारने लगा। भूगर्भ से अनेक प्रतिमायें ऐसी मिली हैं जिनके पृष्ठभाग में सर्प उट्टंकित रहता है। वे नाग शासन के महापुरुष थे। नागों ने दक्षिणापथ उत्तर भारत के आर्यावर्त्त में मिला कर एक कर दिया।

वाल्मीकीय रामायण में किष्किन्धा के बयालीस से लेकर पैंतालीसवें सर्ग तक तत्कालीन भारतवर्ष का भौगोलिक विवरण दिया गया है। वहां देव, नाग, यक्ष, गंधर्वों और किन्नरों के देशों का विस्तृत वर्णन मिलेगा। उनकी बहुत-सी विशेषतायें भी वहां बतायी गई हैं। यहां वह सब लिखना सम्भव नहीं है, अन्यथा यह प्रसंग भारत के प्राणाचार्यों की कथा न रहकर स्वर्ग और नरक का इतिहास ही बन जायेगा।

आइये, स्वर्ग के राज्य में आर्यों ने किन-किन कलाओं और विद्याओं तथा विचारों का विकास कर लिया था, इस प्रश्न पर थोड़ा सा विचार कर लें।

हमें इस दिशा में विचार करने के लिये वैदिक साहित्य की गहराई में जाना होगा। स्वर्ग के युग का थोड़ा-बहुत जो साहित्य मनुष्य को उपलब्ध है वह वेदों की संहितायें हैं। वेद जिस भाषा में लिखे गये हैं वह भाषा ही 'देव गिरा' है। देवगिरा से ही संस्कृत भाषा का विकास हुआ है। इसलिये यह कहने में कोई हिचकिचाहट नहीं होनी चाहिये कि स्वर्ग की भाषा देव गिरा थी। वह देवगिरा जो ऋग्वेद में लिखी है।

देवगिरा के अनुशीलन से यह स्पष्ट है कि स्वर्ग के साम्राज्य में भाषा का एक सुन्दर निर्माण हो चुका था। भाषा विज्ञान के उच्च विचार ऋग्वेद में मिलते हैं। अक्षरों का निर्माण, अक्षरों से भाषा का संबंध, भाषा द्वारा भावों की अभिव्यक्ति, भाषा का व्यावहारिक मूल्य तथा भाषा और समाज का संबंध आदि प्रश्नों पर ऋग्वेद के सरस्वती, इला, भारती, वाक्, वागाम्भृणी आदि देवता वाणी और भाषा विज्ञान के विवेचन में ही लिखे गये हैं।[1]

समाज विज्ञान, राष्ट्रनिर्माण तथा राजनीति पर जो कुछ ऋग्वेद में लिखा है वह अभी तक अन्यत्र है ही नहीं। नासदीय सूक्त (ऋ० 10/11/129) इस प्रसंग की गंभीर प्रस्तावना है। और दूसरी ओर दम्पति को देवता मानकर (ऋ० 1/24/179) गृहस्थ जीवन पर विचार किया गया है। किन्तु गंभीर मुद्रा में लिखते-लिखते वेद ने लिखा—हरेक माता एक पिता का अपने गर्भ में निर्माण करती है, हरेक पिता अपने शुक्र

1. चत्वारि वाक्परिमिता पदानि, तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः।
गुहात्रीणि निहितानेंगयन्ति, तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति॥ —ऋग्वेद. म० 1/23/45

से एक माता का निर्माण करता है। बताओ कौन किसका निर्माण करता है? यह एक महान् प्रश्न है।[1] व्यक्ति का व्यक्ति से संबंध मात्र सामाजिक एकीकरण का पर्याप्त आधार नहीं है। इससे और महान् रिश्ता यह है कि हम सब एक ही पिता की संतान हैं।[2] वह पिता भी है और माता भी। समाज की इस राष्ट्रीयता में भेदभाव कहाँ रहेगा? तत्कालीन व्यक्ति का राष्ट्रीयकरण देखिये—'वह जो अकेला खाता है, पाप खाता है'।[3] इसलिये अपने ऐश के लिये समाज को मत भूलो। सौ हाथों से कमाओ और हज़ार हाथों से बाँटो।[4]

विज्ञान उस युग का प्रमुख विचारणीय विषय था। ऋग्वेद और यजुर्वेद में सैकड़ों सूत्र अग्नि, सोम, सूर्य, विश्वेदेव, अश्वि, मित्र, वरुण, मरुत, वायु, भूगोल, खगोल आदि वर्णनों से भरे पड़े हैं। ऋग्वेद का 'अस्य वामीय सूक्त' (ऋ० 1/22/164) वैज्ञानिक विचारों के लिये उल्लेखनीय है। इन्द्र वेद का ऐसा देवता है जो आधिदैविक, भौतिक और आध्यात्मिक सभी दृष्टियों से विचारणीय है। और अग्नि उससे भी बढ़कर। एक मंत्र में प्रश्न है—जीवन का प्रति वर्ष मृत्यु की ओर जा रहा है। मृत्यु विलय है। इस विलय से विकास को जन्म देने वाला कौन है? दूसरे मंत्र में उत्तर दिया गया—वह अमर देवता अग्नि है।[5] इन अनंत देवताओं के पीछे उन्होंने एक ऐसी महान् शक्ति को ढूँढा जिसकी शक्ति से सभी संचालित होते हैं।[6]

स्वर्ग का राष्ट्र वैरागियों का अड्डा नहीं था, वह विद्वानों और वीरों का राष्ट्र था। उस राष्ट्र का एक-एक व्यक्ति राष्ट्रीय स्वतंत्रता के लिये उत्तरदायी रहा। ऋग्वेद में एक जगह लिखा है।—ओ राष्ट्र पुरुष! आगे बढ़, विजय कर। भगवान ने तेरी भुजाओं में बल दिया है, और तेरे हृदय में साहस। तुझे कौन जीत सकता है? उस महाशक्ति पर भरोसा रख।[7] दूसरे मंत्र में एक और भाव देखिये—"वह क्या राष्ट्र है जिसमें विधवा स्त्रियां भरी हों?" कोई विधवा न हो। प्रत्येक नारी अपने पति की प्रियतमा होनी चाहिये। वे प्रसन्न और स्वस्थ रहकर घर की लक्ष्मी बनें। और इस प्रकार पति के साथ पत्नी का जीवन सुख का आधार बने।[8]

यह कहना मिथ्या है कि "उस युग का आर्य गाय, घोड़ों की हेड़ी के लिये फिरता

---

1. यो नः पिता जनिता यो विधाता तं सम्प्रश्नं भुवना यन्त्यन्या। —ऋग्वेद 10/6/82
2. "स नो बन्धुर्जनिता स विधाता"
   त्वं हि नः पिता वसो। त्वं माता शतक्रतो! बभूविथ।"
3. 'केवलाघो भवति केवलादी।'
4. 'शतहस्तं समाहर सहस्रहस्तं संकिर।'
5. ऋग्वेद १/६/२४
6. विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतो मुखो विश्वतो बाहुरुत विश्वतः स्पात।
   संबाहुभ्यां धमति सम्पतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन्देव एकः॥ —ऋ० 10/6/82
7. प्रेताजयता नर इन्द्रो वः शर्म यच्छतु। उग्रावः सन्तु बाहवोऽनाधृष्या यथासथ।
   —ऋ० 10/9/103
8. इमानारीरविधवाः सुपत्नीराञ्जनेन सर्पिषा संविशन्तु।
   अनश्रवोऽनमीवाः सुरत्ना आरोहन्तु जनयो योनिमग्रे॥ —ऋ० 10/2/18

था और यही उसका परिवार था।" उसका घर आनन्द, मोद और प्रमोद से भरा होता था, उसमें पारिवारिक कामनाओं के साधन थे, और वह सम्मान से रहना जानता था उन सुन्दर-सुन्दर भवनों में जिनमें कला और कौशल का सौन्दर्य झलकता था।[1] परन्तु याद रहे इस सम्पूर्ण निर्माण के बाद वह अपनी संतान से कहता था—वैर करने वाले के लिये क्षमा नहीं है, अपने शस्त्रों से उसका दलन करने के लिये सदैव दृढ़ और सन्नद्ध रहो।[2]

इस सुख और समृद्धि का उपभोग करने के लिये स्वास्थ्य अपेक्षित है। वेद में जगह-जगह 'अनमीवा' और 'अयक्ष्मा' जैसे शब्दों का उल्लेख हैं। इनका अर्थ है 'आरोग्य'। वह राष्ट्र जो रोगों से आक्रांत है, नष्ट हो जाता है। इसलिये रोगों के निदान और चिकित्सा विज्ञान पर उस युग में ही बड़ी गवेषणा हो चुकी थी।

ऋग्वेद, यजुर्वेद और अथर्ववेद में निदान और चिकित्सा विज्ञान पर सैकड़ों सूक्त लिखे गये हैं। उन्होंने शरीर विज्ञान तथा औषधि विज्ञान पर गहरे अनुसंधान कर डाले थे।

तीन दोष—वात, पित्त, कफ तथा सात धातु—रस, रक्त, मांस, मेद, मज्जा, अस्थि एवं शुक्र का उल्लेख ऋग्वेद में है।[3] अथर्ववेद में सैकड़ों रोगों का उल्लेख भी है। यद्यपि रोगों का उल्लेख ऋग्वेद में भी है, किन्तु अथर्ववेद की सम्पूर्ण संहिता ही आयुर्वेद प्रधान है।

ओषधि तथा भिषक् के अनेक उल्लेख भी वेदों में हैं। उस युग में उच्च कोटि की वज्ञानिक प्रयोगशालाएँ विद्यमान थीं, जिनमें विभिन्न रासायनिक प्रयोग होते रहे होंगे। एक जगह लिखा है—सम्पूर्ण ओषधियाँ जल के ही रासायनिक भेद हैं और यह अग्नि है जो उसमें रासायनिक परिवर्त्तन उत्पन्न करती है।[4] दूसरे स्थल पर लिखा है—हे सम्राट्! तेरे राज्य में सैकड़ों-हज़ारों भिषज्ञ होने चाहिये।[5]

शरीर-विज्ञान के संबंध में सूक्त के सूक्त मिलते हैं। 10वें मंडल के 12वें अध्याय, १८३वें सूक्त से 191वें सूक्त तक ऋग्वेद समाप्त हो जाता है। शरीर-विज्ञान, ओषधि-विज्ञान और समाज शास्त्र के संबंध में इससे बढ़कर फिर लिखा ही न जा सका। शरीर[6]-वर्ती त्रिदोष में प्रधान दोष वात है। आयुर्वेद के आचार्यों ने लिखा है—

1, यत्रानन्दाश्च मोदाश्च मुदः प्रमुद आसते।
कामस्य यात्राप्ताः कामास्तत्र माममृतं कृधि इन्द्रायेन्दोपरिस्रव॥ —ऋ० 9/7/113

2. "स्थिरावः सन्त्वायुधा पराणुदे—" —ऋग्वेद 1/8/39

3. "ये त्रिषता परियन्ति विश्वारूपाणि विभ्रतः।
वाचस्पतिर्वलातेषां तन्वोऽद्य दधातु मे॥" —ऋग्वेद

4. "अग्निश्च विश्वशम्भुवम् आपश्च विश्वभेषजीः" —ऋग्वेद 1/6/23

5. 'शतं ते राजन् भिषजः सहस्रं…' —ऋग्वेद, 1/24/9

6. गर्भं धहि सिनीवालि गर्भं धेहि सरस्वति।
गर्भं ते अश्विनौ देवावाधत्तां पुष्करस्रजौ॥ —ऋग्वेद

"पित्त और कफ पंगु हैं। वात उन्हें जहां ले जाता है वहीं मेघ की भांति खिंचे फिरते हैं।"[1]

ऋग्वेद का मंत्र देखिये—

"इस शरीर में वात ही मानो सारे अवयवों का पिता है। न केवल पिता, वह भ्राता भी है और मित्र भी। जीवन शक्ति को समृद्ध बनाने के लिये उसे निर्मल रखो।"[2]

आदर्श राष्ट्र निर्माण की उदात्त भावनाओं के लिये ऋग्वेद का अन्तिम मंत्र न केवल आर्यावर्त का, विश्व-भर का आदर्श बन गया है—

समानीव आकूतिः समाना हृदयानि वः।
समान मस्तु वो मनो यथावः सुसहासति[3] ॥—ऋग्वेद

उस युग के अन्य आविष्कार यथा प्रसंग इस ग्रंथ में लिखे गये हैं। उन्हें यहां लिखना व्यर्थ है। उन्होंने अपने दृष्टिकोण से विश्व के सूर्य और प्रलय तक के सम्पूर्ण विज्ञान का गहराई तक मनन किया और उसके द्वारा राष्ट्रीय जीवन को समृद्ध बनाया। ऋग्वेद ऐसे ही विज्ञान का कोष है। स्वर्ग का योद्धा युद्ध में हारकर कभी नहीं लौटा, किन्तु उसकी एक आन सदैव रही है—जिसने उसके चरणों में मस्तक झुका दिया, उसे सब कुछ दे डाला। इसीलिये उसके गणनायक इन्द्र भी थे और वृत्रघ्न भी। रुद्र भी थे और आशुतोष भी। काली भी थी और गौरी भी। एक ही व्यक्तित्व के परस्पर भिन्न रूपों का एक ही अर्थ है—वह वज्र से भी कठोर था और कुसुम से भी मृदुल। प्रतिद्वन्द्वी के लिए वज्र और शरणागत के लिये प्रसून। वह संधि में तो पराजित हुआ किन्तु युद्ध में कभी नहीं।

मैंने यहाँ देवों और नागों के परिचय में उतना विस्तृत नहीं लिखा जितना यक्षों, गन्धर्वों और किन्नरों के बारे में। इसका करण यही है कि इतिहास के सूत्रधार देव और नाग ही थे। उन्हींके नेतृत्व में यक्ष, गन्धर्व और किन्नर गण रहे हैं। ग्रंथ में अन्यत्र देव और नागों का ही विस्तृत उल्लेख आपको मिलेगा।

---

1. पित्तं पङ्गुः कफः पङ्गुः पङ्गवो मलधातवः।
   वायुना यत्र नीयन्ते तत्र गच्छन्ति मेघवत् ॥ —सुश्रुत संहिता
2. उतवात पितासि नः उत भ्रातोतनः सखा।
   स नो जीवातवे कृधि। —ऋ०, 12/12/986
3. हमारी भावनायें समान हों, हमारी अनुभूतियां समान हों, हमारे संकल्प-विकल्प समान हों, इस समानता में ही सुख और समृद्धि है।"

उपोद्घात

आयुर्वेद के ऐतिहासिक दृष्टि से अध्ययन करने की परिपाटी भारतीय समाज में प्रायः नहीं सी है। संस्कृत के प्राचीन साहित्य में इस दृष्टिकोण से आयुर्वेद में अध्ययन करने योग्य सामग्री का बड़ा अभाव है। यद्यपि धन्वन्तरि, कश्यप तथा चरक संहिताओं में इंद्र, भरद्वाज, आत्रेय, पुनर्वसु, धन्वन्तरि, दिवोदास, वार्योविद, एवं काङ्कायन आदि प्रमुख वैज्ञानिकों के संस्मरण मिलते हैं। परन्तु वे विशुद्ध ऐतिहासिक नहीं कहे जा सकते। वे तत्कालीन लेखन शैली के अंग मात्र हैं। केवल संस्मरण मात्र पढ़ लेने से हम आयुर्वेद के ऐतिहासिक स्वरूप को नहीं समझ सकते। प्राचीन भारतीय विद्वानों ने ऐतिहासिक विचारधारा को कितना महत्व दिया? इस प्रश्न पर अभी विचार हो चुका है। भारतीय राष्ट्र जीवन में इतिहास और भूगोल भी धर्म का रूप पा गये हैं। यह एक स्वतंत्र विषय हो जायगा। भारतीयों ने सूर्य चंद्र, पुनर्वसु, वसिष्ठ और अरुन्धती के ऐतिहासिक संस्मरण आकाश में स्थापित कर दिये हैं। बद्रीनाथ, जगन्नाथप्रसाद, द्वारिकाधीश, मथुरादास और काशीप्रसाद हमारे घर-घर में होते चले आये हैं। यह सब इतिहास नहीं तो और क्या है? केवल देश और काल की सीमायें तोड़कर उन्हें सार्वभौम राष्ट्रधर्म का रूप दे दिया गया है। यदि देश और काल की सीमाओं के भीतर इन्हीं तत्वों का हम मनन करें तो विशुद्ध इतिहास का रूप आ जायगा। यहाँ तो केवल यह देखना है कि आज आयुर्वेद का ऐतिहासिक दृष्टि से अध्ययन करने पर हमें जो स्फूर्ति प्राप्त होती है उसे और अधिक बल देने के लिये हमारे पास कौन-कौन से साधन विद्यमान हैं। उन्हीं साधनों को यदि हम देश और काल क्रम से एक स्थान पर सन्निविष्ट कर लें तो आयुर्वेद के ऐतिहासिक रूप का स्वतः ही निर्माण हो जाय। उसके अध्ययन से प्राचीन महापुरुषों की भाँति हमें भी आगे बढ़ने के लिये मार्ग दिखलाई देने लगे।

पदार्थों के तात्विक विश्लेषण की भारतीय पद्धति क्या है? शरीर के अवयव संस्थान पर औषधि रूप से प्रयोग किये गये पदार्थों के विभिन्न प्रभावों को किस प्रकार जाना जा सकता है? किन पदार्थों के संबंध में पूर्व के विद्वान क्या-क्या खोज कर चुके हैं? हम कहाँ हैं, और कहाँ से आगे बढ़ना चाहिये? यह सब तभी संभव है, जब हम यह जानें कि धन्वन्तरि ने उनके संबंध में क्या-क्या किया? कश्यप और आत्रेय, पुनर्वसु ने उनमें कौन-कौन से परिष्कार किये। चरक और वाग्भट ने उसमें किस नई विचारधारा का समावेश किया था? यह सब जानने के लिये यह आवश्यक है कि जहाँ हम एक ओर आयुर्वेद

को वैज्ञानिक दृष्टिकोण से देखें वहाँ दूसरी ओर ऐतिहासिक दृष्टिकोण से भी अध्ययन करें।

किसी वस्तु का ऐतिहासिक ज्ञान हुए विना उसका सौन्दर्य अँधेरे में रहता है। प्रतीत होता है, पिछले लगभग डेढ़ हजार वर्ष से भारत में आयुर्वेद का अध्ययन प्राय: नाम की पूजा के लिये ही किया जाता रहा है। 'तुम्हारी समझ में आये या न आये, चूँकि यह भगवान धन्वन्तरि ने लिखा है इसलिये इसको इसी रूप में स्वीकार करो।' 'महर्षि त्रिकाल-दर्शी थे इसलिये भूत, भविष्यत् और वर्तमान में जो कुछ संभव है उन्होंने लिख दिया है।' इन भावों से अपने विवेक को वद्ध करके नाम की उपासना करने से न केवल हमारी उन्नति का मार्ग रुक जाता है, प्रत्युत अंध परम्परा की गहरी खाई हमारे पतन के लिये तैयार हो जाती है। यह अवश्य है कि हमें उन पूज्य महर्षियों का श्रद्धापूर्वक स्मरण करना चाहिये, परन्तु यह भी आवश्यक है कि श्रद्धा ऐसी अंधी न हो कि हमारे विवेक के आगे पूर्ण विराम वन जाय। सच्ची श्रद्धा वह है जो हमारे विवेक को आगे वढ़ने के लिये मार्ग प्रशस्त करती है। महर्षियों के महान् वैज्ञानिक आविष्कारों के प्रति श्रद्धा से किसका मस्तक नहीं झुक जाता? हम उनके लिखे ग्रंथों को पढ़ते ही इसलिये हैं कि उनमें हमारी श्रद्धा है। तर्क-वितर्क द्वारा वे आविष्कार और विशद् होते हैं, तथा समालोचनाओं की कसौटी पर कसे जाकर निर्मल सोने की भाँति उनके सिद्धांत दूने चमक उठते हैं। इतना ही नहीं, ऐसे अध्ययन द्वारा आगे वढ़ने के लिये मार्ग दिखाई देने लगता है। मूल आवि-ष्कर्ता का मिशन उत्तरोत्तर विस्तृत होता चला जाता है।

तात्पर्य यह कि ऐतिहासिक दृष्टिकोण से आलोचनात्मक अध्ययन की परिपाटी, जो पिछले डेढ़ हजार वर्ष से भारतीय समाज में प्राय: नहीं सी रही थी, अव अध्ययन का एक आवश्यक अंग वन गयी है। किसी विषय का अध्ययन तर्क और आलोचना के विना अधूरा सा प्रतीत होता है। पिछले एक सहस्र वर्ष का भारतीय विद्यार्थी ऐसा ही था कि महर्षि धन्वन्तरि अथवा चरक के नाम के साथ कहे गये श्लोक को सुनकर अंधश्रद्धा से सिर झुका देता था। कौन? कैसे? और क्यों? की तर्कना मानो एक धार्मिक विद्रोह समझता था। परन्तु आज के विद्यार्थी के लिए इस प्रकार आंख मींच कर चलना सर्वथा असम्भव है। धन्वन्तरि का नाम लेकर आप जो सिद्धांत सुनायेंगे, उसे सुन कर आज का विद्यार्थी पूछेगा—धन्वन्तरि कौन थे? उनके सिद्धांत की सत्यता का क्या प्रमाण है? यदि हम इन दोनों प्रश्नों का उत्तर नहीं दे सकते, तो आज का विद्यार्थी श्लोक सुनकर संतुष्ट नहीं हो सकता। उसे कौन? और कैसे? का उत्तर देना ही होगा, अन्यथा महर्षियों के सिद्धांत नितांत सत्य होने पर भी सर्वसाधारण की रुचि के विषय नहीं वन सकते। पिछले एक सहस्र वर्षों में आयुर्वेद पर मौलिक ग्रन्थ नहीं लिखे गये, इसका कारण अंधश्रद्धा ही थी।

आयुर्वेद एक सम्पन्न और समृद्ध विज्ञान है। परन्तु हम देखते हैं कि पिछले डेढ़ हजार वर्षों में उसका प्रसार वढ़ा नहीं, प्रत्युत जितना था, धीरे-धीरे उससे कम हो गया है। चरक और नागार्जुन ने जो रेखा ईसा की पहली शताब्दी तक खींच दी थी, उससे आगे जाने का साहस कोई कर ही न सका। इस सुदीर्घ काल में शायद उल्लेखनीय आविष्कार आयुर्वेदिक जगत् में नहीं हो सका। इसके प्रतिकूल आज जितने भी अन्य विज्ञान दृष्टि-

गोचर होते हैं, वे सब इसी काल की उपज हैं। परन्तु आयुर्वेद का प्राचीन गौरव इसी काल में अस्तप्राय हो गया है। हमारी ही कलम से न सही, परन्तु औरों ने हमारी रेखा से बड़ी रेखा तो खींच दी। हम छोटे लगने लगे। इसका मुख्य कारण यह है कि हमने अपनी विगत पीढ़ियों के इतिहास को भुला दिया! और श्रद्धा के नाम पर विवेक और विकास के द्वार पर ताला डाल दिया।

जो हुआ, सो हुआ। आज भी हममें उन्हीं महर्षियों का रक्त है, जिन्होंने किसी समय सभ्यता के शिखर पर अपनी वैज्ञानिक सफलता की पताका गाड़ दी थी। हम फिर अध्यवसाय करें, तो हमारे रस और रक्त में प्रवाहित होने वाले वे महान् संस्कार फिर से उद्बुद्ध क्यों नहीं हो सकते? आवश्यकता केवल दृष्टिकोण बदलने की है। प्रकृति के रहस्य-पूर्ण वैज्ञानिक कोष पर भगवान ने जितना अधिकार धन्वन्तरि और आत्रेय को प्रदान किया था, उतना ही हमें भी प्राप्त है। उतना ही नहीं, हमारे पथ-प्रदर्शन के लिए पूर्वजों द्वारा संपादित बहुत बड़ा कार्य भी विद्यमान है। उसी उज्ज्वल इतिहास को केन्द्र बनाकर अपने स्वतंत्र विवेक से हम काम लेने लगें तो संसार देखेगा कि भारत माता की गोद आज भी धन्वन्तरि, आत्रेय और पुनर्वसु जैसे महर्षियों से खाली नहीं है।

प्रस्तुत ग्रंथ में उनका इतिहास और आलोचना दोनों ही मिलेंगे। सन् 1927 ई० में, जब मैं आयुर्वेद का अध्ययन कर रहा था, मेरे मन में यह तर्कना उठी—जिन महर्षियों के लिखे हुए आश्चर्यकारी निदान और चिकित्सा हम नित्य पढ़ते हैं, उनके जीवन के संबंध में हमें कुछ भी ज्ञान नहीं। आखिर उनके पास ऐसे कौन से साधन थे जिनके द्वारा उन्होंने आध्यात्मिक और बाह्यजगत् के छिपे हुए रहस्यों को देख लिया था। हमारे लिये निदान और चिकित्सा करते समय चरक और सुश्रुत के श्लोक अवलम्ब हो जाते हैं। परन्तु चरक और सुश्रुत के समक्ष कौन से साधन थे जो उन्हें निदान और चिकित्सा के लिये अवलंब बने होंगे? हम उन्हीं साधनों को क्यों न ढूंढें? इसी ऊहापोह में उन महर्षियों के देश, काल और जीवन संबंधी पहलुओं पर दृष्टि डालना आवश्यक प्रतीत होने लगा। परन्तु ऐसा कोई एक ग्रंथ तो था ही नहीं जिसके अध्ययन से इस जिज्ञासा को तृप्त किया जा सकता। अनेक वृद्ध वैद्यों के समक्ष भी अपनी समस्या रखी। बहुधा यही उत्तर मिला 'आपको आम खाने से काम है या गुठलियां गिनने से?' पर मुझे आमों का बीज उन्हीं गुठलियों में दिखाई देने लगा था।

स्वाध्याय काल में उन महापुरुषों के जो भी संस्मरण मिलते गये उन्हें एकत्र संकलित करने में एक अपूर्व संतोष का अनुभव होता गया। उनके अद्भुत चरित्र और आविष्कारों को देखकर बिना दो शब्द लिखे, लेखनी भी चुप होकर न बैठ सकी। इसी प्रकार धीरे-धीरे ऐतिहासिक शृंखला में उन प्राणाचार्यों के आलोचना-युक्त इतने संस्मरण संकलित हो गये कि वह एक ग्रंथ ही बन गया। अतएव पाठकों को इतिहास और आलोचना का सम्मिश्रण इस ग्रंथ में मिलेगा।

भारत के प्राणाचार्यों के इतिहास के साथ-साथ आयुर्वेद के इतिहास का निर्माण भी होता है। परन्तु ऐतिहासिक साधनों के अभाव से कहीं प्राणाचार्यों के इतिहास की शृंखला टूट जाती है, कहीं आयुर्वेद के इतिहास की। परन्तु यदि हम दोनों को एक साथ

मिलाकर पढ़ें तो संभव है कि वहुत अंश तक वे एक-दूसरे के पूरक वन सकें। इसलिये यह आवश्यक प्रतीत होता है कि प्राणाचार्यों के इतिहास के साथ-साथ आयुर्वेद के इतिहास का भी संक्षिप्त परिचय पाठकों को मिलना चाहिये। यह स्वाभाविक है कि कर्त्ता से कृति का और कृति से कर्त्ता का वहुत कुछ परिचय मिल जाता है। फलतः प्रारंभिक काल से लेकर अर्वाचीन काल तक आयुर्वेद का संक्षिप्त इतिहास, ग्रंथ के आरंभ में समाविष्ट कर देना अत्यंत आवश्यक हो गया है। इसके उपरांत प्रणाचार्यों का परिचय कालक्रम से दिया गया है। इस प्रकार कहीं-कहीं एक के वाद दूसरे प्राणाचार्य के जीवनकाल के बीच जो लंवा अंतर है, वह वहुत कुछ भर जायगा, और ग्रंथ में सामंजस्य अनुभव होने लगेगा।

आयुर्वेद का संक्षिप्त इतिहास : आदिकाल

आयुर्वेद के संपूर्ण इतिहास को संक्षेप में तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है—

(1) आदि काल—प्रारंभ से लेकर महाभारत पर्यन्त।
(2) मध्य काल—महाभारत से लेकर बौद्ध काल प्रारंभ होने तक।
(3) उत्तर काल—बौद्ध काल से लेकर अब तक।

आदिकाल (वैदिक काल के आदि से महाभारत पर्यन्त)

इतिहास के असंदिग्ध प्रमाणों के आधार पर यह स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं है कि संसार की समस्त जातियों में सभ्यता की दृष्टि से प्रथम स्थान आर्य जाति का रहा है। अपनी उन्नत सभ्यता और ज्ञान के कारण वे सदैव संसार पर शासन करते रहे। अपने पराक्रम द्वारा जिस प्रकार उन्होंने चेतन जगत पर विजय प्राप्त की थी, उसी प्रकार विज्ञान बल से अचेतन सृष्टि पर भी अधिकार प्राप्त कर लिया था। मनुष्य मात्र के सुख और शान्ति के लिए उन्होंने प्रकृति के गूढ़ रहस्यों का भेदन कर डाला था। आयुर्वेद भी उनके समुन्नत वैज्ञानिक आविष्कारों का एक अंग था। आर्यों ने अपने मूल धार्मिक और वैज्ञानिक सिद्धांत वेदों की संहिताओं में संकलित किये थे। संकलनकर्त्ता ऋषियों के विचार मौलिक थे, इसलिये उन्होंने ईश्वरीय देन मान कर अपने संकलन हमारे सामने रखे। आयुर्वेद भी सिद्धांत रूप से वेदों में प्रतिपादित है।[1] ज्ञान और विज्ञान के विस्तृत विवेचन गुरु शिष्य परम्पराओं द्वारा चारों ओर विस्तृत किये गये। यह वेदों के उपांग कहलाये। आयुर्वेद भी अथर्ववेद का उपांग है।[2] यों तो ऋग्वेद में भी आयुर्वेद सम्बन्धी विचार पाये जाते हैं। परन्तु अथर्ववेद में आयुर्वेदिक विचार ही मुख्य हैं।[3] समाज संस्था का योगक्षेम ही उसका प्रतिपाद्य है।

उस युग की काल गणना के निश्चित साधन हमारे पास नहीं हैं। ईसा की

---

1. (i) 'युवं हस्यो भिपजाभेषजेभिः' —ऋग्वेद, मं० 1-157-6
   (ii) 'यत्रौपधीः समग्मत राजानः समिताविव। विप्रः स उच्यते भिपग्र क्षोहामीवचातनः" —यजुर्वेद १२/८० तथा ऋग्वेद 10-1-3
   (iii) शतं ह्यस्य भिपजः सहस्रभुत वीरुधः' —अथर्व० २-९-३
   (iv) सुमित्रियान आप ओपधयः सन्तु" —ऋक्,
2. चरक संहिता, सू० अ० 30/20
3. वेदो ह्याथर्वणः स्वस्त्ययन वलि मङ्गल होमनियमप्रायश्चित्तोपवास मंत्रादिपरिग्रहाच्चिकित्सां मप्राह —चरक सं० सू० 30/20

उन्नीसवीं शताब्दी के प्रमुख समाजवादी सुधारक स्वामी दयानन्द सरस्वती ने इस प्रश्न पर ऐतिहासिक दृष्टि से विचार किया था और उन्होंने लिखा कि वेदों के इन प्रारंभिक अनुसंधानों को हुए आज से एक अरब छियानवें करोड़ आठ लाख वर्ष से कुछ अधिक समय हो चुका है। भारतीय इतिहास की काल गणना के लिए उनका अपना एक दृष्टिकोण है, जो पाश्चात्य ऐतिहासिकों के दृष्टिकोण से बहुत कम मेल खाता है।[1]

आर्यों ने ये सारे आविष्कार अपने मूल निवास स्थान हिमालय पर्वत तथा उसके आसपास के प्रदेशों में ही किये थे। उपलब्ध प्रमाणों द्वारा यह निःसंदेह कहा जा सकता है कि आर्यों का वह देश त्रिविष्टप (तिब्बत) से वाल्हीक (रूसी तुर्किस्तान) तक पूर्व और पश्चिम में तथा लोकालोक (अल्ताई) पर्वत से लेकर विन्ध्याचल तक उत्तर और दक्षिण में विस्तृत था। गंगा और विन्ध्याचल पर्वत के बीच की भूमि को आर्यों ने अपनी संतति के विस्तार होने पर कुछ पीछे से आबाद किया था।[2] आर्यों ने अपने इस मूल निवास स्थान का नाम स्वर्ग रखा था। त्रिविष्टप का नन्दन वन वह स्थान था जहां आर्यों के सम्राट् इन्द्र निवास करते थे। वह स्वर्ग की राजधानी थी। स्वर्ग के बड़े-बड़े नगर इस प्रकार वन अथवा उपवन नाम से विख्यात थे। नन्दन वन की भांति ही चैत्ररथ वन में, जो गढ़वाल की ओर धवल गिरि के समीप था, कुबेर की राजधानी अलकापुरी थी। दो ही नहीं, कुछेक और भी ऐसे उपवन प्रसिद्ध थे, जिनमें वैश्रम्भक, सुरसन, पुष्पभद्र तथा मानस आदि थे। आत्रेय संहिता में ही नहीं किन्तु श्रीमद्‌भागवत पुराण में भी इनका उल्लेख है। यह आर्यों के उद्यान प्रिय जीवन के प्रतीक हैं। इन उपवनों के प्रसंग में ही यह लिखा है कि स्वर्ग में कुबेर की विहार भूमि कैलास पर्वत की कन्दरायें देवनदी (गंगा) की धाराओं की कलकल ध्वनि से गूंजा करती हैं। कैलास अथवा धवलगिरि पर्वत की ओर से ही मन्दाकिनी, अलकनन्दा आदि गंगा की धाराएं बहती हैं। यह भौगोलिक परिस्थिति तो आज भी ज्यों की त्यों हैं।[3]

स्वर्गीय जीवन में आर्यों ने विज्ञान को इतना महत्व दिया था कि जो व्यक्ति विज्ञान (Sciencc) की दृष्टि से योग्यतम होता था उसे ही इन्द्र का सिंहासन प्राप्त होता था। समाज की देखभाल, तथा नये-नये आविष्कार करने वाले व्यक्ति ऋषि (दृष्टा) कहलाते थे। समाज के अनुशासक होने से उन्हें धार्मिक ही नहीं, राजनैतिक अधिकार भी प्राप्त थे। ऋषियों में सबसे अग्रणी इन्द्र होने का अधिकारी था। श्रीयुत रमेशचन्द्र मजूमदार ने लिखा है—कौटिल्य के अनुसार इन्द्र के मंत्रिमंडल में एक सहस्र ऋषि होते थे। वे ही इन्द्र के द्रष्टा थे, क्योंकि वह राज्य की व्यवस्था उन्हीं के द्वारा देखा करता था। इसी

---

1. ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका
2. ऋषयः खलु कदाचित्...ग्राम्यवासकृतमात्मदोषं मत्वा पूर्वनिवासं...गंगा प्रभवं...हिमवन्तममराधिपाभिगुप्तं जग्मुः। तानिन्द्रः सहस्र दृग्भरः गुरुवरोऽब्रवीत्। —चरक, चि० I/4/3
3. 'तेनाष्टलोकविहार कुलाचलेन्द्र द्रोणी स्वतङ्ग सख्यमारुतसौभगानु।
सिद्धैर्नुतोद्युधुनिपात शिवस्वानानु रेमे चिरंधनद वल्लनावरूथी॥
वैश्रम्भके, सुरसने, नन्दने, पुष्पभद्रके मानसे, चैत्ररथ्ये च।
स रेमे रमया रतः॥ —श्रीमद्भागवत, स्क० 3, अ० 23/39-40

लिए इन्द्र का दूसरा नाम संस्कृत साहित्य में 'सहस्राक्ष' था।[1] प्रतिष्ठा की इतनी ऊंची पदवी पर बैठकर इन्द्र भोग-विलास में ही व्यस्त नहीं रहता था, किन्तु वह सदैव अपने ज्ञान का विस्तार करने और बाहर के शत्रुओं से स्वर्ग के राज्य की रक्षा करने में दत्तचित्त रहा करता था।[2] ऋषि उसके सहयोगी थे।

---

1. Corporate life in ancient India, II Ed. P. 126-27
2. (i) महाभारत में स्वर्ग जाना और वहां शस्त्र विद्या सीखकर वापस आने का वर्णन है।—महाभारत वन० अ० 164-165
   (ii) रामायण में भी उल्लेख है कि दशरथ एकबार राक्षसों के साथ युद्ध में इन्द्र को सहायता देने गये थे।
   (iii) महाभारत आदि० अ० 30-34 में गरुड का हिमालय जाकर इन्द्र से मिलने का वर्णन है।
   (iv) ययाति का स्वर्ग जाने और आने का वर्णन महाभारत आदि० अध्याय 6 में 79-86 में विद्यमान है।
   (v) महाभारत का 'स्वर्गारोहण पर्व' इस बात का प्रमाण है कि पांडव अपने अन्तिम जीवन में स्वर्ग को गये थे, और जहां गये थे वह हिमालय ही था। गढ़वाल से मानसरोवर तक पांडवों के संस्मरण में अभी तक अनेक स्थान मौजूद हैं। गढ़वाल के एक विशाल पर्वतखंड का नाम ही स्वर्गारोहण पर्वत है। आजकल लोग उसे 'सतो पंथ' नाम से पुकारते हैं, क्योंकि लोग उस मार्ग से स्वर्ग जाया करते थे।
   (vi) मानसरोवर, कैलास, अलका, गंगा और अलकनन्दा आदि स्वर्ग के भौगोलिक चिह्न आज भी हिमालय पर विद्यमान हैं।
   (vii) आर्य जाति का यह विश्वास कि स्वर्ग ऊपर है, यही सिद्ध करता है कि स्वर्ग हिमालय के उच्च प्रदेश पर ही था।
   (viii) रघुवंश में कालिदास ने अज की उपमा त्रिविष्टप के राजकुमार जयन्त से दी है।—'त्रिविष्टप स्येव पति जयन्त:" जयन्त इन्द्र के पुत्र थे। इससे यह स्पष्ट है कि इन्द्र का राज्य जो स्वर्ग कहा जाता था हिमालय पर ही था।—(रघुवंश ६-७८ देखें)।
   मल्लिनाथ ने इसकी व्याख्या यों लिखी है—'विशिष्टस्यस्वर्गस्य पतिभिद्रं जयन्त इव'। त्रिविष्टप आज भी तिब्बत है। उसके स्वर्ग नाम का संज्ञा संज्ञिसम्बन्ध भौगोलिक दृष्टि से हम भूल गये थे।
   (ix) अमरकोष में (चौथी ई० शती) में त्रिविष्टप स्वर्ग का पर्यायवाची लिखा है।
   (x) अपने मूल निवास स्थान के प्रेम तथा पुरखों की भक्ति के कारण पुराने आर्य जीवन के अन्त समय में मरने के लिये हिमालय (उत्तरा खंड) में निवास करने जाया करते थे, ताकि अपने पूर्वजों की भूमि में प्राण त्याग करें। यह स्वर्गारोहण कहा जाता था। आत्रेय पुनर्वसु आदि ऋषियों के जीवन में भी हम यह पाते हैं कि वे पंचाल की राजधानी कम्पिल्य (फर्रुखाबाद) में विश्वविद्यालय के आचार्य पद से मुक्त होने के उपरान्त अन्तिम जीवन में गंगा के किनारे-किनारे कैलास पर्वत पर चले गये थे। यहाँ तक कि चरक संहिता के अन्तिम अध्ययनों का उपदेश उन्होंने कैलास पर बैठकर ही दिया। स्वर्ग को जाने का मार्ग गंगा के किनारे ही किनारे था। गंगा के सहारे स्वर्ग पहुंचने की भावना का यही आधार है। गंगा इसी लिये 'स्वर्गसोपान' हुई। कहना न होगा 'हरद्वार' भी स्वर्ग का ही द्वार था।
   (xi) महाभारत में नहुष की कथा देखिये। वह स्वर्ग जाकर वापस आये थे। एवं श्रीमद्-भागवत स्क० ५ में स्वर्ग की सीमायें देखिये।

स्वर्ग के राज्य में परिजन (आवादी) वढ़ जाने के पश्चात् आर्यों ने गंगा और विंध्याचल के वीच की जिस भूमि को आवाद किया उसका नाम नरक रखा। नरक का अर्थ और कुछ नहीं—नीचे की भूमि होता है। यास्काचार्य ने लिखा है कि नरक नाम इसी लिए रखा गया कि वहां पहुंचने के लिये नीचे की ओर जाना पड़ता था। वहाँ का स्थान रमणीय न था।[1] और रहने-सहने की सुविधाएँ भी थोड़ी ही थीं। स्वर्ग में उपद्रव करने वाले या ऋषियों की दृष्टि में सदोष व्यक्ति शासन व्यवस्था द्वारा स्वर्ग से नरक को निर्वासित कर दिये जाते थे। जिस प्रकार आज भी अपराधी लोग निर्वासित करके अंडमान तथा निकोवार आदि प्रदेशों में भेज दिये जाते हैं। इस प्रकार के निर्वासित व्यक्तियों तथा उनमें आर्य संस्कृति का विस्तार करने के लिये भेजे गये ऋषि-मुनियों से धीरे-धीरे नरक भी आवाद हो गया। पर निर्वासित व्यक्ति 'देव' से नर तथा देवी से 'नारी' वना दिये गये। नर और नारी शब्द नरक निवास के भाव को ही अभिव्यक्त करते हैं।

स्वर्ग सुख की जगह थी। वहाँ ठंड थी। फल-फूल वहुत थे। रम्य और सुन्दर वर्ण के स्त्री-पुरुष वहाँ रहते थे। परन्तु नरक गर्म प्रदेश था। आवादी से शून्य होने के कारण रहने-सहने का सुख न था। प्रकृति वैसे भोज्य पदार्थ यहाँ नहीं देती थी, अतएव खेती करने के लिये धूप में कठिन परिश्रम करना पड़ता था। स्वर्ग के प्रधान भोज्य शालि और गोधूम के अतिरिक्त ज्वार, वाजरा जैसे नवीन खाद्यान्न नरक में ही मिले। इसी कारण प्राचीन वैदिक भोज्यान्नों में ज्वार, वाजरे का उल्लेख नहीं है। नरक के आदिम निवासी जो असंस्कृत और जंगली होने के कारण नरमांस-भक्षी थे, आर्यों के सात्विक रस, रक्त और मांस के भूखे रहते थे। रामायण काल तक भी इन वनमानुषों का अस्तित्व विद्यमान था। विश्वामित्र राजकुमार राम को दशरथ से माँगकर अपने आश्रम में इसी लिये लिवा लाये थे कि वह इन राक्षसों से आश्रम की रक्षा करें। इस क्लेशमय प्रदेश में भी साहसी आर्यों की शासन व्यवस्था धीरे-धीरे जम गई। अनेक शासक और जनपद यहाँ भी कायम हो गये। स्वर्ग नीचे उतर आया।

अव स्वर्ग और नरक का भेद खटकने लगा था। यह आवश्यक प्रतीत होने लगा कि सभ्यता और संस्कृति की दृष्टि से आर्यों की समस्त आवादी को स्वर्ग और नरक भेद से व्यवहार न किया जाय। फलतः स्वर्ग और नरक के सम्मिलित प्रदेश का नाम आर्यावर्त्त रखा गया।

यह तो भौगोलिक वृतांत हुआ। अव तत्कालीन वैज्ञानिक आविष्कारों की ओर आइये। आयुर्वेदिक ग्रंथों के वर्णन से प्रतीत होता है कि स्वर्ग में सवसे प्रथम वैज्ञानिक ब्रह्मदेव नाम के महर्षि थे। उन्होंने अपनी ही प्रतिभा से सृष्टि के कितने ही तत्वों की वैज्ञानिक विशेषताओं का रहस्य उद्घाटन किया। जगत का ज्ञानमय रचयिता ही उनका गुरु था। ब्रह्मदेव के वाद गुरु-शिष्य परम्परा का विस्तार होता गया। अपने वैज्ञानिक

---

1. "नरकं न्यरकं नीचैर्गमनम्, नास्मिन् रमणं स्थानमल्पमप्यस्तीति वा" —निरुक्त अ० 1/3/6

(अ) यास्काचार्य की यह निरुक्ति नरक तथा स्वर्ग के भौगोलिक स्वरूप को बहुत स्पष्ट करती है। तथा यह स्पष्ट करने के लिये पर्याप्त है कि नरक हिमालय से नीचे की भूमि का नाम था।

(ब) महाभारत में नहुष की कथा देखें। एवं श्रीमद्भागवत स्कन्ध 5 में स्वर्ग की सीमायें देखें।

आविष्कारों का ब्रह्मदेव ने अपने सुयोग्य शिष्य प्रजापति को उपदेश दिया। प्रजापति ने वह विज्ञान अश्विनी कुमार नाम के दो भाइयों को बताया और अश्विनी कुमारों से उस तत्व को इन्द्रदेव ने प्राप्त किया। इन्द्रदेव तक आयुर्वेद का यह वैज्ञानिक आविष्कार स्वर्ग में ही रहा।[1] तब तक आर्यों की आबादी स्वर्ग के बाहर व्यवस्थित नहीं थी। किन्तु इन्द्र के समय तक आर्यों की जनसंख्या बढ़कर इतनी हो गई थी कि नरक का निर्जन प्रदेश भी स्वर्ग के शासन में सन्निविष्ट हो गया था। इस नवीन भूभाग के आबाद हो जाने के बाद यहाँ के निवासी भी इन्द्र के पास उन वैज्ञानिक तत्वों के अध्ययन के लिये जाने लगे। चरक संहिता के रसायन पाद में भृगु-अंगिरा, अत्रि, वसिष्ठ, कश्यप, अगस्त्य, पुलस्त्य, वामदेव, असित और गौतम आदि ऋषियों का स्वर्ग जाकर इन्द्र से रसायन-विज्ञान सीखने का वर्णन है। ये सब ऋषि स्वर्ग के ही रहने वाले थे, केवल आर्य सभ्यता के विस्तार के लिये ही इन्हें नरक में रहना पड़ा। चरक संहिता में यह स्पष्ट लिखा है कि ये ऋषि गंगा के उद्गम हिमालय पर्वत पर इन्द्र के निवास पर गये, जो इनकी पूर्व निवास भूमि थी।[2]

ये महर्षि तो कुछ पीछे इन्द्र के पास रसायन विज्ञान सीखने गये। इससे पूर्व भी जब नरक प्रदेश में रोगों का विस्तार हुआ, महर्षियों ने स्वर्ग के साम्राज्य हिमालय की उत्पत्यका में एक स्थान पर विशाल सभा का आयोजन किया। विचारणीय प्रश्न यह था कि नरक में निवास करने वाली जनता जिन भीषण रोगों से पीड़ित है, उसका निवारण कैसे किया जाय ? इस सभा में प्रायः पचपन धुरन्धर वैज्ञानिक तथा अन्य सैकड़ों विद्वानों ने भाग लिया, जिनकी सूची चरक संहिता में दी हुई है। महर्षि भारद्वाज की इच्छानुसार सम्पूर्ण सदस्यों ने आयुर्वेद विज्ञान सीखने के लिये उन्हें ही इन्द्र के पास भेजा।[3] उन्होंने इन्द्र से आयुर्वेद सीखकर स्वर्ग के साम्राज्य से बाहर उसका विस्तार करके मनुष्य समाज की बड़ी सेवा की।

ब्रह्मदेव से लेकर इन्द्रदेव तक जो विज्ञान गुरु-शिष्य परम्परा से आया वह उतना ही रहा हो यह बात नहीं। उसमें प्रत्येक ने अपने विवेक और अनुसंधानों के अनुसार कुछ न कुछ वृद्धि की थी। रसायन पाद में कुछ एक रसायन प्रयोग 'ब्राह्मरसायन' नाम से दिये गये हैं। और कुछ 'ऐन्द्ररसायन' नाम से।[4] यहाँ तक कि जिन जड़ीबूटियों को विशेषतः ब्रह्मदेव ने खोजा था उनमें महत्वपूर्ण बूटी का नाम ब्रह्मदेव के सम्मानार्थ 'ब्राह्मी' रखा गया, और जिस बूटी का इन्द्रदेव ने वैज्ञानिक आधार पर परिचय किया उसका नाम 'ऐन्द्री' रखा गया। ब्राह्मी को नाम रूप से हम लोग आज भी पहचानते हैं। ऐन्द्री किस

---

1. ब्रह्मणा हि यथा प्रोक्तमायुर्वेदं प्रजापतिः।
   जग्राह निखिलेनादावश्विनौ तु पुनस्ततः॥
   अश्विभ्यां भगवान शक्रः प्रतिपेद ह केवलम्॥ —चरक सं० सूत्र० अ० I/4-5
2. पूर्वनिवासं............हिमवन्तममराधिपाभिगुप्तं जग्मुः। —चरक सं०, रसायनपाद 4/3
3. कः सहस्राक्षभवनं गच्छेत्प्रष्टुं शचीपतिम् ?
   अहमर्थे नियुज्येयमत्रेति प्रथमं वचः।
   भरद्वाजोऽब्रवीत्तस्मादृषिभिः नियोजतः॥ —चरक सू० 1/18
4. चरक, चि० अध्या० 1 पाद 1 तथा अ० 1 पा० 4

बूटी का नाम है—यह आज तक विवादास्पद प्रश्न है। चक्रपाणि ने लिखा है ऐन्द्री मत्स्याक्षक नामक बूटी का सजातीय पौधा होता है।[1] इसी प्रकार ब्रह्म सुवर्चला और इन्द्रवारुणी आदि अन्य बूटियों के नाम भी उनके आविष्कर्ताओं के अमर संस्मरण में रखे गये थे।

चरक के रसायन पाद में लिखा है कि आयुर्वेद और रसायन विज्ञान के अनेक तत्व विशेष रूप से इन्द्र को अश्विनी कुमारों से और अश्विनियों को प्रजापति से प्राप्त हुए थे। इन्द्रदेव ने उनमें से अनेक का उपदेश भृगु आदि महर्षियों को दिया था। उन्हीं महत्वपूर्ण आविष्कारों में अश्विनी कुमारों द्वारा किया गया प्रसिद्ध आविष्कार 'च्यवनप्राश' नामक प्रयोग है।

इस चमत्कारी प्रयोग द्वारा उन्होंने बूढ़े च्यवन ऋषि को फिर से युवा जैसा शक्ति-संपन्न बना दिया था।[2] काय चिकित्सा में ही नहीं, अश्विनियों ने शल्य और शालाक्य के अद्‌भुत चमत्कार भी प्रस्तुत किये। एक बार किसी युद्ध में दक्ष प्रजापति का कटा हुआ सिर उन्होंने जोड़ दिया था। पूपा नाम के महर्षि के हिलते हुए दांतों को सुदृढ़ बना दिया। तपस्वी भग के अंधे नेत्र फिर से ज्योतिर्मय कर दिये। इन्द्र की टूटी बांह जोड़ दी, और चन्द्र देव के राजयक्ष्मा द्वारा जीर्णशीर्ण शरीर को नीरोग कर दिया।[3]

स्वर्ग में आयुर्वेद संबंधी आविष्कारों के जन्मदाता महर्षियों के और भी अनेक संस्मरण आयुर्वेद ग्रंथों में पाये जा सकते हैं। यथाप्रसंग हम उनका उल्लेख करेंगे। स्वर्ग साम्राज्य के इन महावैज्ञानिकों के संस्मरण इसी रूप में सुश्रुत संहिता में भी लिखे हैं।[4]

अश्विनी कुमारों के विद्यालय में आयुर्वेद आठ विभागों में अध्ययन किया जाता था। इसलिए आयुर्वेद शास्त्र 'अष्टांग' कहा जाता है।[5] इन्द्र और भारद्वाज ने आयुर्वेद का अष्टांग अध्ययन ही प्रसारित किया था। संक्षेप में आयुर्वेद के अष्ट अंग ये हैं—

(1) काय चिकित्सा
(2) शालाक्य तंत्र
(3) शल्य तंत्र
(4) अगद तंत्र या विष तंत्र
(5) भूत विद्या
(6) कौमारभृत्य
(7) रसायन तंत्र
(8) वाजीकरण तंत्र

---

1. 'अन्ये तु ऐन्द्रीभेदं मत्स्याक्षकमाहुः' —चक्रपाणि टीका, चरक चि० अध्या० 1 पाद 3/8
2. भार्गवश्च्यवनः कामी वृद्धः सन् विकृतिं गतः।
   वीतवर्णस्वरोपेतः कृतस्ताभ्यां पुनर्युवा। च० चि० अ० 1 पा० 4/43
3. चरक, चि० अ० 1 पाद 4 श्लोक 40–43
4. "ब्रह्मा प्रोवाच, ततः प्रजापतिरधिजगे, तस्मादश्विनौ, अश्विभ्यामिन्द्रः तस्मादहम्" सुश्रुत, सू० 1/20
5. चरक सं० सूत्र० अ० 30/25–26

ब्रह्मदेव का उद्भावन किया हुआ आयुर्वेद 'त्रिसूत्र' था (1) हेतु (2) लिंग (3) ओषधि ।[1] यह त्रिस्कंध ही विस्तृत होकर अष्टांग हो गया। स्वर्ग में आयुर्वेद का उपयोग जनहित और आत्मरक्षा ही था। वर्ण व्यवस्था होने पर वैश्यों को वृत्ति के लिए भी आयुर्वेद का उपयोग करने का अधिकार प्रदान कर दिया गया।[2]

स्वर्ग का पंचजन :

देव, नाग, यक्ष, गंधर्व और किन्नर ये पंचजन ही स्वर्ग के निवासी थे। राजनैतिक अथवा समाज संगठन की दृष्टि से यज्ञों में 'पंचजन' के अन्तर्गत कुछ विजातीय तत्व भी जोड़े जाने लगे।[3] परन्तु निरुक्त में यास्काचार्य ने लिखा कि उपमन्यु और ऐतरेय आदि विद्वानों के मत इस संबंध में एक से नहीं हैं, इसलिए यह प्रश्न विवादास्पद है। परन्तु आयुर्वेदिक ग्रन्थों में जिन नामों में सौमनस्य पाया जाता है वे उपर्युक्त पांच ही 'पंचजन' हैं। स्थान-स्थान पर इनकी एक-राष्ट्रीयता का उल्लेख हम करेंगे। देव, नाग तथा यक्षों के रचे हुए आयुर्वेदिक साहित्य का उल्लेख संस्कृत ग्रन्थों में अव भी प्राप्त है। आगे के प्रसंगों से आपको यह स्पष्ट हो जायगा।

प्राचीन ग्रंथों के संस्मरणों से प्रतीत होता है कि स्वर्ग के साम्राज्य में दो जातियां विशेष प्रतिष्ठित हुई—प्रथम देव और दूसरे नाग। वैज्ञानिक विकास की दिशा में होड़ थी। देवों के मौलिक विकास ने दूसरों में प्रतिस्पर्धा उत्पन्न कर दी। पंचजन के पांचों गण धीरे-धीरे विकास की दिशा में अग्रसर हुए। देव ज्ञान में ऊंचे हुए तो नाग शौर्य और पराक्रम में, यक्ष वाणिज्य-व्यवसाय में, गंधर्व तथा किन्नरों ने शिल्प और ललित कलाओं में कमाल कर दिखाया। किन्तु एक राष्ट्रीयता की दृष्टि से वे सव एक थे। स्वर्ग के राज्य में रहने वाले सभी लोग देवता या देव शब्द से संबोधित किये जाते हैं, इस कारण स्वर्ग के लिए 'देव-भूमि' शब्द प्राचीन ग्रन्थों में मिलता है। पड़ोसी देश चीन और रूस में भी इस प्रदेश को देवताओं का प्रदेश कहा गया है। रूस और चीन की परम्परायें ही इसका प्रमाण हैं। वहां अभी तक इस प्रदेश को देवताओं का प्रदेश माना जाता है।[4] इस प्रकार देवों के ही अवान्तर भेद को 'पंचजन' के रूप में मानना उचित है। परराष्ट्र नीति में स्वर्ग के वासी सारे 'देव' थे, और गृह नीति में 'पंचजन'। अभिजन और प्रदेश भेद के आधार पर उनका यह अवान्तर विभाग रहा है। इन्हीं भेदों के आधार पर उनकी आकृति, रूप, रंग और कमनीयता में भी अन्तर हुआ।

ज्ञान और विज्ञान में उच्चकोटि के व्यक्ति ऋषि अथवा महर्षि होते थे। इन

---

1. हेतुलिंगौषधज्ञानं स्वस्थातुरपरायणम्।
   त्रिसूत्रं शाश्वतं पुण्यं बुबुधे यं पितामहः। चरक सूत्र 1/23
2. चरक सूत्र० 30/26
3. 'पंचजना मम होत्रं जुषध्वम्' इस पद की व्याख्या में निरुक्त, पूर्व० ३।२।२ देखिये। तथा ऐतरेय ब्राह्मण 3/37 में भी इस विषय का उल्लेख है।
4. (I) श्री राहुल सांकृत्यायन की रूस यात्रा का विवरण देखिये।
   (II) कुमारसंभव में कालिदास ने लिखा है—
   "अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा हिमालयो नाम नगाधिराजः"

लोगों का अधिकांश कार्य यही था कि वे स्वर्ग की सभ्यता और ज्ञान को स्वर्ग और स्वर्ग से बाहर प्रचार किया करते थे। मौलिक अनुसन्धान करने वाले व्यक्ति को ऋषि कहते हैं।[1] वह अनुसन्धान, दार्शनिक, वैज्ञानिक, आध्यात्मिक, राजनैतिक या सामाजिक किसी भी प्रकार का हो सकता है। नरक के प्रदेश में निवास करने वाले अनुशासक विद्वान् ऋषि अथवा महर्षि ही थे। आवश्यकता पड़ने पर वे लोग स्वर्ग तक आया-जाया करते थे। वह आने-जाने का मार्ग गंगा के सहारे ही सहारे था।[2] ऋषि और महर्षि पंचजन के प्रत्येक वर्ग के व्यक्तियों में हुए हैं।

भारतीय पुरातत्व के इतिहास वेत्ताओं की यह मान्यता है कि मन्दिर शैली का भवन-निर्माण इन्हीं प्राचीन महर्षियों के भवन का प्रतिरूप है। भवन की छत को शिखराकार बनाकर हिमालय के शिखर ही प्रस्तुत किये जाते रहे हैं। क्योंकि महर्षियों की पितृ भूमि वहीं थी। मन्दिर शैली के भवन स्वर्ग के राष्ट्र के प्रतीक हैं।[3] मन्दिर शब्द में भी आनन्द और उल्लास की ध्वनि है। क्योंकि उसका मूल धातु 'मदिहर्षे' है। आर्यों का निवास राष्ट्र में आनन्द और उल्लास का केन्द्र रहा है।

स्वर्ग में देवता अग्रणी थे। ज्ञान, विज्ञान और पराक्रम के प्रभाव से उन्होंने आर्यों की धाक जमा दी। उन्होंने प्रत्येक दिशा में बड़े-बड़े आविष्कार किये। किन्तु नाग लोगों के आविष्कार भी कम न थे। आयुर्वेदिक ग्रंथों से पता चलता है कि देवों ने 'अमृत' नाम के एक प्रयोग का आविष्कार किया था। और नागों ने उसी टक्कर का 'सुधा' नामक दूसरा अपूर्व प्रयोग निकाला। वर्णनों से प्रतीत होता है कि दोनों नुस्खे भिन्न-भिन्न थे। किन्तु उनका उद्देश्य एक ही था। आयुष्य की वृद्धि के लिए श्रेयस्कर यह दोनों प्रयोग जिस प्रकार स्वर्ग में आविष्कृत हुए उसी प्रकार महर्षियों ने नरक के साम्राज्य में 'रसायन' प्रयोग ढूंढ निकाले।[4] समय-समय पर इन प्रयोगों में देवताओं से परामर्श लेने के लिए वे स्वर्ग आते-जाते रहते थे। सुश्रुत संहिता के वर्णन से प्रतीत होता है कि देवताओं ने अमृत का योग जिन पदार्थों से तैयार किया था उनमें सोम प्रधान लता थी। इस लता के मूल में कंद होता था। इस सोमलता के चौबीस भेद प्रचलित थे।[5] परन्तु नाग लोगों ने अपनी 'सुधा' किन-किन

---

1. ऋषिर्दर्शनात्—निरुक्त
2. (I) भृगु, अत्रि आदि महर्षियों का चरक संहिता के रसायन पाद में, तथा धन्वन्तरि का सुश्रुत संहिता में एवं अर्जुन का महाभारत में इन्द्र के पास स्वर्ग जाने एवं ज्ञानार्जन करने का वर्णन देखिये।
   (II) महाभारत का 'इन्द्रलोकाभिगमन पर्व' देखिये।
   (III) नल और दमयंती के स्वयंवर में देवों का स्वर्ग से आने-जाने का वर्णन देखिये।
3. भारतीय मूर्तिकला—रायकृष्णदास, संवत 2001, पृ० 45
4. (अ) यथा मरणममृतं यथा भोगवतांसुधा।
   तथाऽभवन्महर्षीणां रसायनविधिः पुरा॥ —चर० चि० 9/1/79
   (ब) रसायन निवर्षीणां देवतानाममृतं यथा।
   सुधेवोत्तमनागानां भैषजमिदमस्तुते॥ —सुश्रुत, सूत्र ४३।२ तथा चरक, सूत्र 1/16
   (स) यथा सुराणाममृतं नागेन्द्राणां यथा सुधा।
   तथान्न प्राणिनां प्राणा अन्नमाहुः प्रजापतिम्॥ —काश्यप सं० खिल 12/16
   'अमराणां अमृतं जरादिहरं नागानाञ्च सुधा जरामरणहरीत्युभयोरादान दृष्टान्ते'
   —चक्रपाणि, चरक व्याख्या
5. 'ब्रह्मादयोऽसृजन्पूर्वममृतं सोम संज्ञितम्।
   जरामृत्युविनाशाय विधानं तस्य वक्ष्यते॥

पदार्थों से तैयार की थी इसका उल्लेख नहीं मिलता। उसका संस्मरण जिस रूप में मिलता है उससे प्रतीत होता है कि आर्य लोग विज्ञान में नाग लोगों की धाक मानते थे।

नागों की इस प्रतिस्पर्धा ने देवताओं के चित्त में ईर्ष्या उत्पन्न कर दी। नाग पराक्रम में भी देवों के प्रतिस्पर्धी हो गये थे। देवासुर संग्राम के वाद शायद इन्द्र का वज्र कुंठित हो चला था, और 'नाग पाश' जैसे अस्त्र ही शक्ति के प्रतीक वन गये थे। देवता अपनी शक्ति का ह्रास अनुभव करने लगे। सुश्रुत में एक जगह रोगी के रक्षाकर्म का उल्लेख करते हुए लिखा है कि "यदि नाग आदि आविष्ट होकर तुझे परेशान करें तो ब्रह्मा आदि शक्तिशाली देवता उन्हें परास्त करें।" इस प्रकार यह प्रतीत होता है कि देवता और नाग लोगों में परस्पर प्रतिद्वन्द्विता चलती रही थी। नागों के गणपति शंकर और पार्वती के विवाह का गृहकलह इतिहास की एक प्रसिद्ध घटना है।[1] जो भी हो, नाग धीरे-धीरे इतने समृद्ध हुए कि विज्ञान और पराक्रम में देवताओं से एक पग आगे बढ़ गये। शंकर की सहधर्मिणी वनकर देवताओं की ही वेटी पार्वती, दुर्गा, कराली, सिंहवाहिनी और महिषासुरमर्दिनी होकर सामने आयी। जवकि इन्द्र की शची अपने राजमहल से वाहर न आ सकी। परन्तु इसमें तनिक भी संदेह नहीं कि नाग लोग आर्य सभ्यता और वैदिक संस्कृति के पक्के अनुयायी थे। वे जिस ओर वढ़े आर्य सभ्यता और वैदिक संस्कृति को साथ लेकर गये।

यक्षों का उल्लेख भी आयुर्वेद ग्रंथों में है। कश्यप महर्षि के प्रसंग में आप देखेंगे कि कश्यप के लिखे हुए कौमार भृत्य शास्त्र पर अनायास यक्ष ने वहुत वड़ा कार्य किया था। अनायास के लिखे ग्रंथ दुर्भाग्य से आज प्राप्त नहीं हैं। भारतीय इतिहास के प्रागैतिहासिक युग के जो संस्मरण भूगर्भ से मिले हैं उनमें यक्षों की प्रस्तर प्रतिमायें प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हुई हैं। साँची, मथुरा और भरहुत में प्राप्त पुरातत्व इस वात की साक्षी देते हैं कि पंचजनों में यक्षों का अपना स्थान है जो कला और वैभव के लिये अपना प्रतिस्पर्धी नहीं रखता। यक्ष, यक्षिणियों की प्रतिमायें देवताओं के सम्पर्क में चित्रित की हुई प्राप्त होती हैं, जिनमें चामर, सम्पत्ति और अनुराग का चित्रण है। मन्दिरों की यह शैली भारतीय इतिहास में सवसे प्राचीन है।

गन्धर्व और किन्नर भी पंचजन में ललित कलाओं के लिये प्रतिष्ठित हैं। किन्नरों और गन्धर्वों की प्रतिमायें भी हमें पुरातत्व में प्राप्त हैं, और उनका स्थान भी देवों के समान प्रतिष्ठित है। गन्धर्वों के कलात्मक विकास के परिणाम स्वरूप ही भारतीय इतिहास में कला की गन्धार शैली प्रतिष्ठित हुई है। किन्नरों की प्रतिष्ठा में वाग्भट ने लिखा है कि

'एक एवखलु भगवान्सोमः स्थाननामाकृतिवीर्यविशेपैश्चतुर्विशतिधाभिद्यते.........सोमकन्दं सुवर्णसूच्या विदार्य..........। सुश्रुत, चि० अ० 29

सर्वं एव तु विज्ञेयाः सोमा पञ्चदशच्छदाः।
क्षीरकंदलतावन्तः पत्रैर्नानाविधैः स्मृताः।। सुश्रुत० चि० 30/26

1. नागा पिशाचाः गन्धर्वा पितरो यक्षराक्षसाः।
अभिद्रवन्ति ये ये त्वां ब्रह्माद्याघ्नन्तु तान् सदा ।। सुश्रुत सू० 5/21

संगीत से किन्नरों ने स्वर्ग को रसमय बना दिया था।[1] देवों के गणपति इन्द्र, नागों के शिवशंकर, यक्षों के कुबेर, गन्धर्वों के चित्रसेन तथा किन्नरों के शान्तनु वैदिक साहित्य में प्रसिद्ध हैं। सबका प्रमुख गणपतित्व चिरकाल तक इन्द्र के हाथ में था, किन्तु नागों की समृद्धि ने वह स्थान इन्द्र से छीनकर शिवशंकर को दे दिया था।

स्वर्ग की विभूति पर ललचाकर इर्द-गिर्द की असभ्य जातियां वहां जब-तब लूट-मार करने का दुस्साहस किया करती थीं। उनमें पिशाच और राक्षस लोग समाविष्ट हैं। ये दस्यु थे। वनों, पर्वतों और दुर्गम प्रदेशों में ये लोग अपने झुंड बनाकर रहा करते थे। अभी तक भारत के पश्चिमोत्तर में 'राक्षस ताल' विद्यमान है। राक्षस पका हुआ मांस खाने वाले और पिशाच कच्चा मांस खाने वाले थे। आर्य लोग इन दस्युओं का दलन करने के लिये सदैव सन्नद्ध रहते थे। और यह तत्परता पंचजन की संगठित शक्ति थी। देवों से नागों का प्रताप धीरे-धीरे बढ़ चला था। परिस्थिति यहां तक पहुंची कि इन्द्र की प्रतिष्ठा धीरे-धीरे घट चली और वह सम्मान शिवशंकर को प्राप्त हो गया। इन्द्र को देव कहा जाता था, शिवशंकर ने महादेव की पदवी धारण कर ली। राष्ट्र जीवन में अध्यात्म, ज्ञान-विज्ञान, सब पीछे हैं। पराक्रम ही अग्रणी है। ऋग्वेद का यह मंत्र देवताओं को कुछ भूल गया, नागों ने उसे याद रखा—'स्थिराव: सन्त्वायुधा: पराणुदे'।[2] फल यह हुआ कि आर्यावर्त्त बनने के बाद राष्ट्र के विस्तृत सीमांत की रक्षा में नाग लोग ही प्रमुख थे। न केवल आर्यावर्त्त किन्तु उससे बाहर भी विस्तृत भाग पर नाग जाति ने शासन किया है। महाभारत में नागों के पराक्रम का वर्णन विस्तार से मिलता है।[3] उन्होंने बड़ी-बड़ी विजय कीं और विकास की होड़ में अनेक बार देवों को पछाड़ दिया। कला-कौशल में इतने बढ़े कि 'नागर' नाम से कला की एक विशेष पद्धति ही इतिहास में कायम हो गई। 'नगर' शब्द जिसका अर्थ हम सामान्य रूप से शहर समझते हैं, नाग जाति की आबादी का ही बोधक है।[3]

भारतीय इतिहास की नई खोज से यह पता चलता है कि ईसा की दूसरी और तीसरी शताब्दियों तक भी भारत में नाग जाति के शासक विद्यमान थे। कुषाण शासन के अनन्तर (176 ई०) नाग अथवा भारशिव वंश के राजाओं ने प्राय: चार सौ वर्ष तक पश्चिमीय, पूर्वीय तथा मध्यभारत पर शासन किया है।[1] नागों का ही दूसरा नाम 'भारशिव' भी इतिहास में मिलता है। शिव की अनन्य भक्ति ही भारशिव संज्ञा का आधार है। वे शिव का चिह्न अपने मुकुट पर लगाते थे। यहां तक कि नाग लोगों ने जो-जो प्रदेश जीते उनकी सीमा पर शिव मन्दिर बनवा कर उनमें राष्ट्र का सर्वोच्च रक्षक मानकर प्रतिमा रूप में भगवान शिव की ही स्थापना की थी। शिव के साथ नागों का यह संबंध उनके सजातीय नाग जाति का ही बोधक है। सांपों का नहीं। ऐतिहासिक तत्व न जानने

---

1. गायन्ति यत्र किन्नर्यो गौरीपरिणयोत्सवम्।' —स्कन्द नं० 1
2. ओ राष्ट्र के निर्माण करने वालो! शत्रु को परास्त करने के लिये अपने शस्त्र दृढ़ता से पकड़े रहो। —ऋग्वेद
3. महाभारत आदि पर्व, अ० ३—उत्तङ्क ऋषि की कथा, अ० 48 नाग कन्या के पुत्र एवं च्यवन के शिष्य अस्तीक की कथा देखिये।
4. गुप्त साम्राज्य का इतिहास, पृ० 13

के कारण हम शिव के नागों का अर्थ सांप समझने लगे। और शिव का (लिंग) चिह्न त्रिशूल न समझ कर शिश्न करने लगे हैं। नागों का राज्य चिह्न शिव का त्रिशूल था। वही शिव का चिह्न (लिंग) है। पुराणों में नाग राजाओं के पराक्रम तथा धर्मपरायणता का वर्णन बहुत मिलता है। पुरातत्व में मिलने वाले महापुरुषों की वे मूर्तियां जिन पर पीछे की ओर नाग (सर्प) के चिह्न बने हैं, ये बोध कराती हैं कि वे नाग थे। संभवतः मूर्त्तिकला का यह प्रतीक ही शिव के साथ सर्पो का संबंध जोड़ने का कारण हुआ।[1]

हमें यहां नाग जाति का इतिहास नहीं लिखना है। अनेक व्यक्ति आयुर्वेद का संबंध स्वीकार करने की बात तो दूर, नाग जाति के संबंध में ही कुछ नहीं जानते। गृह-कलह तो दीर्घ काल तक चला। महाभारत के बाद लोगों ने नागों के प्रभाव को समाप्त करने के लिये नाग यज्ञ तक कर डाले। परन्तु वह राजनैतिक प्रतिहिंसा थी। यदि यही न होती तो हिमालय से उतरा हुआ स्वर्ग सारे भारत को स्वर्ग ही बना देता। वह न हो सका तो भी विज्ञान के उपासकों ने नाग लोगों को और उनके सुधा जैसे रासायनिक आविष्कार को अत्यंत श्रद्धा से स्मरण किया है।

ईसा के २०० वर्ष पूर्व से २०० वर्ष बाद तक हम इतिहास में नागों के शासन का उल्लेख पाते हैं। गंगा के तट पर इन शासकों ने एक नहीं, दस बार अश्वमेध यज्ञ किये थे। इस युग में कान्तिपुरी (जि० मिर्जापुर) इनका शासन केन्द्र था। और खजूर वृक्ष उनका शासन चिह्न। खजूर वृक्षों से उत्कीर्ण प्राचीन मन्दिर नागों के बनवाये हैं। मथुरा भी बहुत काल तक नागशक्ति का केन्द्र रहा है। महाभारत काल में भगवान् कृष्ण ने कालीय नाग का विध्वंस कर दिया था।

स्वर्ग में एक वर्ग और था जो पितर कहे जाते हैं। यह नरक प्रदेश के अवकाश-प्राप्त व्यक्ति थे, जो शान्ति और सुख से रहने के लिये जीवन के अन्तिम दिनों में स्वर्ग चले जाते थे। उनकी सन्तानें उनके लिये सुख-सुविधा के साधन भेजती रहती थीं। यही उनका श्राद्ध था। आयुर्वेद ग्रंथों में इन पितरों का आशीर्वाद मांगा गया है। और यह स्वाभाविक है।

यक्षों के संबंध में महाभारत में बहुत विस्तृत वर्णन मिलता है। उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि यक्षों की सत्ता भी प्राचीन युग में बहुत बढ़ी-चढ़ी थी। वे भी विज्ञान, व्यवसाय और कला में किसी से कम नहीं थे। यक्ष सैन्य-शक्ति में भी दृढ़ थे। इसी कारण यक्षों के गणपति कुबेर धन-संपत्ति में विख्यात हो गये। यहां तक कि धन-संपत्ति के लिये इन्द्र को भी कुबेर से याचना करनी पड़ती थी। इतिहास में कुबेर धन-संपत्ति के लिये आदर्श हो गये। कई बार असुरों और राक्षसों से यक्षों को ही युद्ध करने पड़े। पश्चिमोत्तर प्रदेश की ओर से तुर्किस्तान और कपिश की ओर से होने वाले राक्षसों के बर्बर आक्रमणों से यक्षों ने ही सफल मोर्चा लिया था।[2]

तिब्बत (त्रिविष्टप), भूटान, नैपाल, सिक्किम से लेकर मणिपुर तक देवलोक

---

1. बालाघाट तथा चमक प्रशस्ति के लेख एवं श्री काशीप्रसाद जायसवाल लिखित नागवंश का इतिहास देखें।

2. महाभारत वनपर्व, 150-160 अध्याय।

विस्तृत था। इसका केन्द्र नन्दन वन था। धवलगिरि एवं मान सरोवर के पश्चिम से लेकर काश्मीर, लद्दाख, सिक्रियांग होकर वाल्हीक और कपिश (काफिरिस्तान) का प्रदेश नाग लोक था। इसका केन्द्र कैलास था। गढ़वाल, कुमाऊं, नैपाल, भूटान, सिक्किम का प्रदेश यक्ष लोक में समाविष्ट था। इसका केन्द्र अलकापुरी था। कनौर और पंजाब किन्नर लोक तथा गंधार, बलोचिस्तान एवं सिन्ध यह सब गंधर्व लोक का प्रदेश रहा है। इसके नीचे विन्ध्याचल पर्यन्त सम्पूर्ण प्रदेश नरक था, जो पीछे आर्यावर्त्त में समाविष्ट हो गया।[1]

धवलगिरि और कैलासपर्वत के बीच में चैत्ररथ नाम का एक सुन्दर और संपन्न उपवन था।[2] इसी उपवन में अद्वितीय वैभव से परिपूर्ण यक्षराज कुबेर की राजधानी अलकापुरी थी। आज तक गढ़वाल के उत्तर में अलकनन्दा के उद्गम का नाम अलकापुरी ही है। बहुधा लोग इसे अलकापुरी वांक भी कहते हैं। पहाड़ी बोली में 'वांक' उद्गम को ही कहते हैं। चरक संहिता के पढ़ने वाले जानते हैं कि आयुर्वेद के इतिहास में चैत्ररथ का स्थान अत्यंत महत्वपूर्ण है।

महर्षि आत्रेय पुनर्वसु की अध्यक्षता में वैज्ञानिकों की एक-एक विशाल सभा वहां हुई थी, जिनमें रस और आहार के विषय में गंभीर विवेचन किया गया।[3] इस परिषद् में विभिन्न दिशाओं से आये हुए प्रायः तेरह वैज्ञानिकों ने रस और आहार के रासायनिक विश्लेषण (Metabolical Analysis) पर अपने-अपने मत प्रस्तुत किये, और परिषद् में उपस्थित अन्य हजारों वैज्ञानिकों ने भी उन पर गंभीर विचार-विमर्श किया।

1. भद्रकाप्य ने कहा कि रस जल का प्रतिरूप होने से एक ही है।
2. शाकुन्तेय ने घोषित किया कि रस दो हैं—उत्तेजक और अवसादक।
3. पूर्णाक्ष ने बताया कि उनकी सम्मति में रस तीन प्रकार के हैं—उत्तेजक, अवसादक तथा सामान्य।
4. हिरण्याक्ष कौशिक का मत था कि वे चार प्रकार के हैं—स्वादुहितकर, स्वादु-अहितकर, अस्वादुहितकर, अस्वादुअहितकर।
5. कुमार शिरा भारद्वाज की सम्मति थी कि रस पांच हैं—पार्थिव, तैजस, जलीय, वायवीय तथा आन्तरिक्ष।
6. काशिपति वार्योविद राजर्षि का आग्रह था कि रस छः हैं—गुरु, लघु, शीत, उष्ण, स्निग्ध, रूक्ष।
7. वैदेहनिमि ने कहा कि वे सात हैं—मधुर, अम्ल, लवण, कटु, तिक्त, कषाय, क्षार।

---

1. महाभारत सभापर्व, अ० 28 तथा उद्योगपर्व, अ० 111/10
2. धवलगिरि 26795 फीट समुद्रतल से ऊंचा, कैलास 22028 फीट से ऊंचा।
3. 'एते श्रुतवयोवृद्धा जितात्मानो महर्षयः।
वने चैत्ररथे रम्ये समीयुर्विजिहीर्षवः॥
तेषां तत्रोपविष्टानामियमर्थवती कथा।
बभूवार्थविदां सम्यग्रसाहारविनिश्चये॥ —चरक सू० 26/6-7

८. वडिश धामार्गव का आग्रह था कि रस आठ हैं--मधुर, अम्ल, लवण, कटु, तिक्त, कषाय, क्षार तथा अव्यक्त।

६. वाल्हीक (Bactrian) वैज्ञानिक कांकायन के अनुसार असंख्य रस होने चाहिये।

विद्वानों के गंभीर तर्क और विचार-विमर्श के उपरांत आत्रेय पुनर्वसु का षड्-रसवाद ही सर्वसम्मति से स्वीकार किया गया। उन्होंने कहा--मधुर, अम्ल, लवण, कटु, तिक्त और कषाय भेद से छः रस ही हो सकते हैं। तब से आज तक आत्रेय पुनर्वसु का यह षड्रसवाद ही चल रहा है।

इतना ही नहीं, आत्रेय ने रसों के मौलिक विश्लेषण द्वारा यह भी सिद्ध किया कि प्रकृति के पांच तत्वों से छः रस किस प्रकार उत्पन्न हो सकते हैं। एक ही रस वाले भिन्न-भिन्न पदार्थों में भिन्न-भिन्न गुण क्यों हैं? शरीर पर पदार्थ की प्रतिक्रिया रस, विपाक, वीर्य और प्रभाव द्वारा किस प्रकार होती है। यह सारे गम्भीर तत्व चैत्ररथ वन की इस वैज्ञानिकों की सभा में ही निर्णीत हुए थे।[1]

आत्रेय का सिद्धान्त यह है कि रस विपाक में सदैव एक सा नहीं रहता। अम्ल रस का विपाक साधारणत: अम्ल ही होता है, किन्तु किसी-किसी अम्ल पदार्थ का विपाक भी मधुर होता है, जैसे आँवले का रस अम्ल किन्तु विपाक मधुर है। ऐसे स्थानों पर रस से विपाक बलवान है। द्रव्य के शरीर में रहने तक जो प्रतिक्रिया होती है वह वीर्य है। जैसे मिर्च की चरपराहट। इस, विपाक से वीर्य बलवत् है। और प्रभाव उस अचिन्त्य शक्ति का नाम है जिसके लिये विज्ञान और तर्क दोनों मौन हैं। जैसे जंगम विष स्थावर विष को नष्ट करता है। ब्राह्मी बुद्धिवर्धक है। ऐसा क्यों? यह बता सकना विज्ञान और तर्क से परे है। सृष्टि की अचिन्त्य रचना ही इसका कारण है।[2] प्रभाव सर्वोपरि है।

चैत्ररथ वन में इस विशाल आयोजन को निमंत्रित करने के कारण हम यह तो स्पष्ट ही कह सकते हैं कि यक्षों का विज्ञान प्रेम और तत्संबंधी परिज्ञान ऊंचे दर्जे का था। न केवल विज्ञान किन्तु शिल्प कला की दृष्टि से भी यक्षों का स्थान महान् था। 'पुष्पक' नाम का विमान जो भूमि और आकाश दोनों में समान गति से चल सकता था, यक्षपति कुबेर के ही पास था। और इसका निर्माण विश्वकर्मा नाम के एक यक्ष ने ही किया था।[3] इस विमान को कुछ समय के लिये रावण ने जीत लिया था। और रावण को परास्त करने के उपरांत वही महाराजा रामचन्द्र की संपत्ति बना।

जातीय गौरव की दृष्टि से प्रत्येक जाति का अलग-अलग इतिहास लिखने का यह अवसर नहीं। आर्यो ने ज्ञान, विज्ञान की प्रगति में जाति भेद को कभी स्थान नहीं दिया। जहाँ-तहाँ के प्रसंगों में आये संस्मरण हमने यहाँ एकत्रित किये हैं ताकि इतिहास का स्वरूप संकलित हो सके। तत्कालीन सामाजिक एकता के चित्रण के लिये पंचजन की यह

---

1. चरक, सू० अ० 26।
2. रसं विपाकस्तौवीर्यं प्रभावस्तान् व्यपोहति
बलसाम्ये रसादीनामिति नैसर्गिकं बलम्।--चरक सूत्र. 26/74-75
3. महाभारत, वन पर्व, अ० 161/30-40

कृतियां लिखनी आवश्यक थीं। इससे हम यह जान सकेंगे कि आयुर्वेद किन-किन परिस्थितियों में जन्मा, और किस प्रकार उसका संवर्धन हुआ। साथ ही जिस व्यक्ति अथवा जाति ने आयुर्वेद की बहुमूल्य सेवा की है उसका कृतज्ञतापूर्ण संस्मरण होना ही चाहिये।

अपने मूल निवास स्वर्ग में रहते हुए आर्य जाति ने वैज्ञानिक दृष्टि से आयुर्वेद की आश्चर्यजनक उन्नति की थी। वेदों में लिखी हुई वैज्ञानिक विचारधाराएं किस प्रकार साक्षात् हुईं, और किस प्रकार उनका संवर्धन होकर उन्हें साहित्यिक रूप मिला, इसका इतिहास तो अभी जानना शेष है। हमने तो यह बातें उस युग की लिखी हैं जब वैदिक सभ्यता और विज्ञान अपना शैशव समाप्त कर चुके थे। वेदों के विज्ञान का आविर्भाव देखने के लिये तो हमें और आगे जाना होगा। स्वर्ग के सौख्य में वैदिक विज्ञान पनपा, यह कहना इतना ठीक नहीं है, जितना यह कि पनपे हुए वैदिक विज्ञान ने हिमालय को स्वर्ग बना दिया था। वह कब और कैसे पनपा, यह देखने के लिये स्वर्ग से आगे जाना पड़ेगा। यह सब तो वह है जो वैदिक सभ्यता के नाम से हिमालय की अधित्यकाओं में हो रहा था। काल गणना के अंक उसे नहीं बाँध सके। मान्यता के क्षितिज पर जो चित्र धूमिल सी आभा में अंकित रह गये हैं, यह उन्हीं का संकलन है। देश और काल के साथ पात्र का उल्लेख इतिहास है। मैं देश और पात्र प्रस्तुत कर रहा हूं। काल के अंक इतने धुंधले हैं, जो आज पढ़े नहीं गये। कल शायद उन्हें पढ़ने वाले भी आयें।

क्रमिक विकास की दृष्टि से देखें तो स्वर्ग के नन्दन वन, कपिश और गान्धार के वाल्हीक, पंचाल की काम्पिल्यनगरी, तथा काशी के वाराणसी नगरी के विश्वविद्यालय, आदि काल के वे केन्द्र थे जिन्हें आयुर्वेद की आदिकालीन समृद्धि का श्रेय देना अनिवार्य है। नन्दन के इन्द्र, वाल्हीक के कांकायन, काम्पिल्य के आत्रेय पुनर्वसु, और काशी के धन्वन्तरि वे स्वनामधन्य प्राणाचार्य जिन्होंने आयुर्वेद की शिक्षा और दीक्षा में स्मरणीय योग प्रदान किया है।

इस युग में निदान और चिकित्सा के तत्वों पर बड़े-बड़े वैज्ञानिकों की अनेक बड़ी-बड़ी सभायें हुई जिनमें तर्क और परीक्षणों के अंतिम सिद्धांत निर्णय किये गये। चरक संहिता का प्रारंभ ही एक ऐसी ही सभा से हुआ है जो रोग और चिकित्सा तत्वों के निर्णयार्थ हुई थी।[1] जो आयुर्वेद 'त्रिसूत्र' था वह अष्टांग बन गया। चिकित्सा द्रव्यों के भी तीन विभाग किये गये—(1) दोष प्रशमन (2) धातु प्रदूषण और (3) स्वास्थ्य वृत्तोपयोगी। जंगम, उद्भिज और पार्थिव उपादानों से इन संपूर्ण ओषधि द्रव्यों को संकलित किया गया। वैज्ञानिक सूझ-बूझ यहां तक बढ़ी कि उस युग में ही प्राणाचार्यों ने यह घोषित किया कि विश्व के संपूर्ण पदार्थों में ऐसा कुछ नहीं है जो ओषधि न हो सके।[2] रोगों का निदान मन और शरीर के दोषों की विषमता पर निर्भर है। शरीर के दोष वात, पित्त और कफ हैं। तथा मन के दोष रज और तम।[3] इन वैज्ञानिक समितियों में

---

1. तदा भूतेष्वनुक्रोशं पुरस्कृत्य महर्षयः ।
   समेताः पुण्यकर्माणः पार्श्वे हिमवतः शुभे ॥—च० सू० 1/7
2. 'नास्ति किंचिद नौषधम्'—चरक
3. वायुः पित्तं कफश्चोक्तः शारीरो दोषसंग्रहः ।
   मानसः पुनरुद्दिष्टो रजश्च तम एव च ॥—चरक० सू० 1/56

निदान और चिकित्सा के कोई ऐसे प्रसंग नहीं बचे जिन पर धुरंधर विद्वानों के तर्क सिद्ध वैज्ञानिक निर्णय नहीं। सुश्रुत संहिता, चरक-संहिता, और काश्यप संहिता—ये तीन संहितायें ही आदिकालीन युग के संस्मरण हैं, और तीनों के विवेचन वैज्ञानिकों की बड़ी-बड़ी समितियों के ही निर्णय हैं। इसलिये वे 'संहितायें' हैं। संहिता का अर्थ है विचारों के अन्तिम निर्णय का संघात या संकलन।

आयुर्वेद शास्त्र की दृष्टि में शरीर के दोष ही केवल रोग के हेतु नहीं हैं, मन के दोष भी रोग हेतु होते हैं। हर्ष, शोक और भय, क्रोध आदि राजस और तामस दोष भी जो व्याधि उत्पन्न करते हैं वे मानस रोग होकर भी शरीर में ही प्रकट होते हैं। भय, क्रोध और दुख से होने वाले रोगों की चिकित्सा केवल शारीरिक चिकित्सा से पूर्ण नहीं होती, मानसिक चिकित्सा भी होनी चाहिये। भय से ज्वर, दुःख से उन्माद आदि रोग होते हैं, और उनकी चिकित्सा मानसिक न हो तो स्वास्थ्य लाभ असंभव है। इसलिये मानसिक स्वास्थ्य के लिये सदाचार, धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का चिन्तन आवश्यक है।[1] इस प्रकार आयुर्वेद का क्षेत्र केवल वाह्य शरीर और ओषधियों तक ही समाप्त नहीं हो जाता, वह जीवन के वाह्याभ्यन्तर को व्याप्त करता है। वह इस लोक और परलोक तक विस्तृत होता है। और जीवन के प्रत्येक पहलू का परिमार्जन करना चाहता है। जीवन का क्षेत्र जहां तक है आयुर्वेद का वहां तक विस्तार है। इसीलिये आत्रेय ने तीन प्रकार की चिकित्सा लिखी है। दैव व्यापाश्रय, युक्ति व्यापाश्रय, और सत्वावजयात्मक। दैव व्यापाश्रय पूजापाठ है। युक्ति व्यापाश्रय ओषधियों का प्रयोग। सत्वावजय मानसिक शुद्धि। आयुर्वेद शास्त्र में आदिकालीन अनुसंधान न केवल शारीरिक दोष और उनके लिये हितकर ओषधियों पर ही लिखे गये, प्रत्युत दैव व्यापाश्रय, और सत्वावजय पर भी लिखे गये।

मनुष्य की शारीरिक बनावट के गंभीर अध्ययन के बाद वाह्य जगत् से उसका सामंजस्य स्थापित करने के लिये प्राचीन प्राणाचार्यों ने सबसे महत्व की खोज यह की है कि जो प्राणी जिस जलवायु में जन्मा, बढ़ा और पला है उसके लिये उसी जलवायु में उत्पन्न होने वाली औषधियाँ विशेष हितकर होती हैं। या उसके समाज-प्रदेश की ओषधियाँ भी उपयोगी हैं।[2] विषम जलवायु में उत्पन्न ओषधियाँ समुचित लाभ नहीं करतीं। फलतः आयुर्वेद में हिमालय की ओषधियों को जो महत्व प्रदान किया गया वह दूसरों को नहीं, क्योंकि आर्यों की पितृ भूमि वही है।[3] हिमालय, विन्ध्याचल तथा मैदानी

---

1. मानसं प्रति भैषज्यं त्रिवर्गस्यान्ववेक्षणम्।
   तद्विद्य सेवा विज्ञानमात्मादीनां च सर्वशः॥ —चरक सू० 11/47
   त्यागः प्रज्ञापराधानामिन्द्रियोपशमः स्मृतिः।
   देश कालात्म विज्ञानं सद् वृत्तस्यानु वर्त्तनम्॥ —चरक सू० 7/53
2. यस्य देशस्य यो जन्तुस्तज्जं तस्यौषधं हितम्॥ —चरक
   उचितो यस्य यो देशस्तज्जं तस्यौषधं हितम्।
   देशेऽन्यत्रापि वसतस्तत्तुल्य गुण जन्म च॥—वाग्भट, अष्टाङ्ग०-सूत्र अ० 23 चरम श्लोक
3. ओषधीनां पराभूमिः हिमवान् शैल सत्तमः। —चरक, चि० 1/1/38

ओषधियों के तुलनात्मक अनुसंधान भी प्राचीन संहिताओं में दिये गये हैं।[1] इन तुलनात्मक अनुसंधानों में यह स्पष्ट किया गया है कि हिमालय की ओषधियाँ ही उत्कृष्ट हैं।

जड़ीबूटियों पर ही नहीं, खनिज द्रव्यों पर भी आदि काल में गंभीर अनुसंधान हुए। ओषधि वर्ग को तीन श्रेणियों में विभाजित किया गया। जंगम, उद्भिद और पार्थिव।

(1) जंगम द्रव्य—जीवित प्राणियों से प्राप्त होने वाले द्रव्य दूध, मल, मूत्र, चर्बी, मांस, रक्त, अस्थि, पित्त, नख, रोम, मुक्ता, शंख, शुक्ति आदि।

(2) औद्भिद—जड़ीबूटियाँ एवं उनके फल-फूल, कन्द-मूल आदि।

(3) पार्थिव—धातु, उपधातु-सोना, चाँदी, लोहा, तांबा, सीसा, रांगा, तथा इनके यौगिक उपधातु। कासीस, मैनशिल, हरताल आदि। खनिज विष तथा हीरा, पन्ना आदि मणियाँ भी इसी वर्ग के अंतर्गत हैं।[2]

यद्यपि सिद्धान्त रूप से आर्य लोग मांसाहार के समर्थक न थे। किन्तु चिकित्सोपयोग के लिये मांस भक्षण का प्रतिपादन आयुर्वेद ग्रंथों में मिलता है। अनेक रोगों की चिकित्सा में जंगम द्रव्यों का प्रयोग लिखते हुए मांस के प्रयोग भी लिखे गये हैं। क्षय, शोष, वातव्याधि, तथा वाजीकरण योगों में मांस प्रयोग कई बार आता है। तो भी उन्होंने लिखा कि प्राणिमात्र पर दयालु होना ही परम धर्म है। किन्तु जीवन की रक्षा करना उससे भी बड़ा धर्म है।[3] सुश्रुत संहिता में धन्वन्तरि ने सुश्रुत को यही उपदेश दिया है कि पुरुष का जीवन ही साध्य है और सब कुछ उसी के साधन हैं।[4]

जंगम प्राणियों में दूध देने वाले प्राणियों का गंभीर अध्ययन आयुर्वेद शास्त्र में मिलता है। आठ प्राणियों के दूध का उल्लेख धन्वन्तरि ने किया है—(1) गाय, (2) बकरी, (3) ऊँटनी, (4) भेड़, (5) भैंस, (6) घोड़ी, (7) स्त्री, (8) हथिनी। इनके दूध का अलग-अलग विश्लेषण भी दिया गया है। यहाँ तक कि भिन्न प्राणी के दूध की भिन्न-भिन्न प्रतिक्रिया मनुष्य शरीर पर क्या होती है यह भी उल्लेख है। द्विशफ और एकशफ प्राणियों के दूध का तुलनात्मक विचार करते हुए लिखा है कि द्विशफ प्राणियों का दूध हमारे शरीर पर शीतल तथा परिपाचन में मधुर प्रतिक्रिया करता है। यह सिर से कमर तक (धड़) पुष्टि और बल प्रदान करता है। तथा एकशफ प्राणियों का दूध उष्ण गुणकारी एवं पाचन में लावणीय प्रतिक्रिया उत्पन्न करता है। उससे हाथों और पैरों का पोषण एवं बल प्राप्त होता है। प्रातःकाल दुहे गये और शाम को दुहे

---

1. सुश्रुत, सू० अ० 45
2, चरक, सूत्र० अ० 1
3. (I) परोभूतदया धर्मः इति मत्वा चिकित्सया।
   वर्त्तते यः स सिद्धार्थः सुखमत्यंतमश्नुते॥ —चि० चि० रसायन पाद 8/145-163
   (II) सर्वमन्यत् परित्यज्य शरीर मनुपालयेत्।
   तदभावेहिभावानां सर्वाभावः शरीरिणाम्॥ —च० निदा 6/9
4. (I) तत्र पुरुषः प्रधानं तस्योपकरणमन्यत्। —सु० सू० 1
   प्रीणनः सर्व भूतानां हृद्योमांस रसः परम्। —च० सूत्र 27/309

गये दूध में वैज्ञानिक दृष्टि से क्या अंतर होता है इसका विवेचन भी किया गया है।[1] दूध, दही, मट्ठा, घी, मक्खन तथा दूध के परिमाणजन्य पदार्थों पर तात्कालीन वैज्ञानिक विश्लेषणों का अध्ययन कीजिये तो ज्ञात होता है कि खाद्य सामग्री पर वैज्ञानिक अनुसंधानों की दृष्टि से तब से अब तक मनुष्य ने जो प्रगति की है वह उसकी तुलना में अकिंचन है।

रोगी के लिये मांसाहार का विधान लिखकर भी उन्होंने सर्वसाधारण के लिये उसका निषेध लिखा है।[2] यों तो चरक संहिता के सूत्र स्थान में २७ वें अध्याय का बड़ा भाग मांसों के गुण दोष वर्णन में ही लिखा गया। इसी प्रकार राजयक्ष्म चिकित्सा[3] में भी अनेक प्राणियों के मांस प्रयोग दिये गये हैं। तो भी चरक ने लिखा कि अहिंसा ही महान् है।[4] दूध देने वाले पशुओं में गाय को अघ्न्या अर्थात् न मारने योग्य कहा गया है।[5] आत्रेय एक बार नित्यकर्म से निवृत्त होकर हिमालय की उत्तरी पर्वत भूमि पर आश्रम में बैठे थे। उनके शिष्य अग्निवेष ने अवसर देखकर आचार्य से पूछा, "भगवन् अतीसार रोग कैसे उत्पन्न हुआ, उसकी चिकित्सा क्या है?" आचार्य ने अतीसार का विवेचन प्रारंभ किया, "सुनो, अग्निवेष, पूर्वजों का यह नियम था कि यज्ञादि पुण्य अवसरों पर दूध देने वाले एवं पालित पशुओं को भी यज्ञ में सम्मिलित करने के लिये मंत्र द्वारा अभिमंत्रित करके छोड़ दिया करते थे। यह नियम दक्ष प्रजापति के यज्ञ तक अटूट चलता रहा, दक्ष के उपरांत मरीच, नाभाग, इक्ष्वाकु, कुविश्चर्य आदि मनु के पुत्रों ने यज्ञ के विधान में हिंस्र पशुओं का मांस-हव्य रूप से डालने की आज्ञा दे दी। क्योंकि वे हिंस्र पशु प्रजा को कष्ट देते थे। यह परिपाटी बन गयी। फल यह हुआ कि यज्ञ में मांस-हव्य के लिये अन्य याज्ञिक मंत्र द्वारा पशुओं का वध करने लगे। कुछ और समय बीतने पर 'पृषधु' नाम के एक मघयाज्ञिक ने दीर्घकालीन विस्तृत यज्ञ किये। अवसर पर जब अन्य प्राणी न मिले तब उसने गाय का वध प्रारंभ कर दिया। और उसे ही विधिविहित घोषित किया।

पृषधु के इस कुकृत्य से लोग दुखी तो हुए। परन्तु वह शासक था। कौन बोल सकता? इधर हविशेष के रूप में गाय के मांस से बना पदार्थ यजमानों ने खाया। वह इतना गरिष्ठ और मनुष्य के लिये अनुपयोगी सिद्ध हुआ कि यजमानों की जठराग्नि नष्ट हो गई। मन विकृत हुए और अपच के कारण पृषधु के यज्ञ में ही यजमानों को पहली बार अतीसार रोग हुआ।[6]

---

1. सुश्रुत, सूत्र० ४५ (क्षीर वर्ग)
   अवीक्षीरमजाक्षीरं गोक्षीरं माहिषं च यत्।
   उष्ट्रीणामथ नागीनां वडवायास्त्रियस्तथा॥ —च० सू० 1/104-5
2. 'सत्यं भूतो दया दानं' चरक
3. चरक, चिकि० ८।१४५–१७४
4. सत्येनाचारयोगेन मंगलै रविहिंसया।
   वैद्यविप्रार्चनाच्चैव रोग राजोनिवर्तते॥ —च० चि० 8/183
5. वत्संजातमिवाघ्न्या—अथर्व०
6. चरक सं० चि० स्था० 11/3

अपने शिष्य के प्रश्न का वैज्ञानिक निदान मात्र न कह कर इतिहास सुनाने लगना भगवान् आत्रेय पुनर्वसु का अप्रासंगिक उपक्रम न था। वह एक वैज्ञानिक सिद्धांत के निर्देश का हृदयग्राही मार्ग था। मनुष्य के लिये मांस भोजन प्राकृतिक आहार नहीं है। वह रसाहार के समीकरण को ही नहीं, मन को भी दूषित करता है। जब चिकित्सा का मौलिक सिद्धांत यह है कि रोग निवृत्ति के लिये निदान का परित्याग किया जाय,[1] तब यह स्वाभाविक है कि पाचन संस्थान के रोगों से, विशेषतः अतीसार से बचने के लिये मांसाहार त्याज्य है। इस एक उद्धरण से उस युग के आर्य और दस्युओं के मानसिक और शारीरिक स्वास्थ्य का अन्तर समझाया जा सकता है।

आदिकालीन युग में स्थल भाग पर चिकित्सा की खोज का उल्लेख हमने किया है। किन्तु यह भी ऐतिहासिक सत्य है कि उस युग में जलीय द्रव्यों का संकलन भी चिकित्सा के लिये प्राणाचार्यो ने किया था। जलीय प्राणियों से मुक्ता, शंख, शुक्ति, वराट्, एवं मूंगा का उपयोग आदिकालीन युग में ही आविष्कृत हो चुका था। पूर्वीय तथा पश्चिमीय समुद्रों के सुदूर भाग तक भारतीय अपने जहाजों द्वारा इन द्रव्यों का संग्रह भी किया करते थे। पूर्वान्त (तमिल) और अपरांत (काठियावाड़-बम्बई) समुद्र तटों, लंका पारस्य (पर्शिया) और अरब की खाड़ी में भारतीय जलपोत इन द्रव्यों का प्रचुर परिमाण से संग्रह करते थे। भारतीय बाजारों में इन द्रव्यों का क्रय-विक्रय प्रचुर मात्रा में होता रहा है।[2] सुश्रुत और चरक में इन द्रव्यों के अनेक उपयोग मिलते हैं।[3]

जंगम तत्वों के पश्चात् उद्भिद श्रेणी के ओषधि द्रव्यों का उल्लेख है। उद्भिद द्रव्यों में जड़ी-बूटियों का ही समावेश है। आयुर्वेदिक औषधि द्रव्यों का मुख्य उपादान

---

1. संक्षेपतः क्रिया योगो निदानपरिवर्जनम् —चरक
2. Lastly we may notice in this connection the frequent mention in ancient Sanskrit literature of pearls and references to pearl fishery as one of the important national industries of India and specially in the land of Tamil, towards the South. It is hardly necessary to point out that they could breast the ocean waves and brave the perils of the deep. According to Varah Mihera, Garud Purna and Bhoja, pearl fishing was carried on in the whole of the Indian Ocean as far as the Persian Gulf and its chief centres were off the coasts of Ceylone, Poralankika, Saurashtra, Tamraparni, Parsana, Kauvra, Pandya Vataka and Haimadesha. According to Agastya, the chief centres of Indian pearl fishing were in the neighbourhood of Ceylon, Arabia and Persia.

—Indian Shipping by Radha Kumud Mukerjee, Chap. III, P. 68

3. सुश्रुत, सू॰ 1
चरक सू॰ 1

यही है। वेद के मंत्रों में भी जड़ी-बूटियों के उपयोग का प्रचुर वर्णन है।[1] क्योंकि आयुर्वेद हिमालय की अधित्यकाओं में पला है, इसलिये हिमालय पर उत्पन्न होने वाली जड़ी-बूटियों का गहन और विस्तृत वर्णन आयुर्वेद के प्राचीन ग्रन्थों में भरा पड़ा है। सैकड़ों बूटियां तो ऐसी हैं जो हिमालय को छोड़कर दूसरी जगह मिल ही न सकें। इसी कारण चरक ने लिखा है कि हिमालय ओषधियों के उत्पादन के लिये सर्वोत्तम है।[2] हिमालय के पूर्वान्त से अपरांत तक उत्पन्न होने वाली संपूर्ण जड़ी-बूटियों का विस्तृत वर्णन और उपयोग हमें आयुर्वेद में मिलेगा। दुर्भाग्य से सैंकड़ों या हजारों बूटियां ऐसी हैं, जिनके चमत्कारी गुणों को तव जान लिया गया था, किन्तु अव हम भूल गये हैं। न केवल इतना ही, हम उन नामों की बूटियों को पहचानने में असमर्थ हैं।

रसायनोपयोगी बूटियों में कुछ का ही परिचय हमें है, शेष अज्ञान के अंधकार में विलुप्त हो गई हैं। सोम, ब्रह्मसुवर्चला, सर्पा, श्रावणी, महाश्रावणी, आदित्यपर्णी आदि कितनों के नाम शास्त्र में ही रह गये हैं, व्यवहार में नहीं। परन्तु इन और इन जैसी सहस्त्रों बूटियों का वैज्ञानिक वर्णन आयुर्वेद शास्त्रों में भरा पड़ा है।

आदिकालीन प्राणाचार्यों ने इन बूटियों के परिचय पाने के लिये अपनी प्रयोग-शालाओं में वैज्ञानिक प्रयोग तो किये ही, साथ ही उन वनचर तथा पशुपालकों का उपयोग भी किया जो प्रतिदिन जड़ी-बूटियों के प्रयोग मानव तथा पशुओं पर किया करते हैं।[3] आजकल कुछ लोगों को यह भ्रम है कि आयुर्वेद शास्त्रों में वनस्पति विज्ञान केवल आनु-मानिक है। वह आनुमानिक नहीं है। प्रत्युत आयुर्वेद के प्रत्यक्ष परीक्षणों पर आधारित है। ओषधि में रस, वीर्य, विपाक और प्रभाव चार की शक्तियाँ उन्होंने खोली थीं। केवल एक शक्ति ज्ञान से ओषधि का ज्ञान पूरा नहीं होता।[4] एक ही रस वाली ओषधियाँ विपाक, वीर्य और प्रभाव से भिन्न होती हैं। इसलिये आयुर्वेद के द्रव्य गुण का सिद्धांत यह है कि ओषधियां 'प्रतिनियति शक्ति' वाली होती हैं। अनेक पदार्थों की देह धातुओं से विरोधिता द्रव्यों का गम्भीर वैज्ञानिक विश्लेषण है। (1) संस्कार विरुद्ध (2) भूमि विरुद्ध (3) देश विरुद्ध (4) शरीर विरुद्ध (5) काल विरुद्ध (6) मात्रा विरुद्ध (7) स्वभाव विरुद्ध (8) दोष विरुद्ध। पृथक् द्रव्य का प्रभाव और संयुक्त द्रव्यों का प्रभाव भिन्न-भिन्न होता है। इसलिये संक्षेप में आयुर्वेद चिकित्सा के भौतिक आधार रस, द्रव्य, दोष, विकार, प्रभाव, देशकाल तथा शरीर का पूर्ण परिज्ञान हुए विना वैद्य होने का

---

1. (I) सुमित्रिया न आप ओषधयः सन्तु —यजुर्वेद।
   (II) यत्रौषधीः समग्मत:……ऋग्वेद।
2. ओषधीनां पराभूमिर्हिमवान शैल सत्तमः" —चरक, चि० 1
3. ओषधीर्नामरूपाभ्यां जानतेह्यजपा वने।
   अविपाश्चैव गोपाश्च ये चान्ये वनचारिणः॥ —च० सू०, 1/118
   सुश्रुत, सू० 36/8 तथा काश्यप सं० खिल० 3/103–104 में भी यही भाव है।
4. तस्माद्रसोपदेशेन न सर्वद्रव्यमादिशेत्।
   दृष्टं तुल्यरसेऽप्येवं द्रव्ये-द्रव्ये गुणान्तरम्॥ —च० सू० 26/54
   न नामज्ञानमात्रेण रूप मात्रेण वा पुनः।
   ओषधीनां परां प्राप्ति कश्चिद्वेदितुमर्हति॥ —च० सू० 1/199

अविकार प्राप्त नहीं होता।[1] चिकित्सा विज्ञान प्रत्यक्ष है। इसलिये तर्क और युक्तियों के आश्रय से किसी पदार्थ के गुणों का निर्णय करना गलत है। आयुर्वेद का विषय अनंत है, इन ग्रंथों में जो कुछ लिखा गया है वह इतना संक्षेप है जैसे सागर में एक बूंद।[2]

जगत के समस्त पदार्थ पंच भूतों से बने हैं। इन पंचभूतों के सामंजस्य पर ही प्रत्येक पदार्थ का स्वास्थ्य निर्भर है। इनके प्राकृतिक अनुपात में वैषम्य का नाम ही रोग है। इस वैषम्य को हटाकर फिर से सामंजस्य स्थापित करने का नाम ही चिकित्सा है। औषधि द्वारा न्यून की वृद्धि और अधिक का ह्रास करके चिकित्सक स्वास्थ्य संपादन करता है। और इस सामंजस्य को स्थिर रखने के लिये जो उपाय किये जाते हैं वे रसायन योग कहे जाते हैं। शरीर में दोष और धातुओं के न्यूनाधिक्य का परिज्ञान निदान है। न्यून की पूर्ति और अधिक को न्यूनकर सामंजस्य लाने का नाम चिकित्सा है। निदान और चिकित्सा के आधार पर ही आयुर्वेद स्थिर है।[3] यह चिकित्सक का काम है कि वह प्रकृति के अक्षय कोष में से उपयोगी द्रव्यों का ज्ञान प्राप्त करे। विश्व का प्रत्येक पदार्थ ओषधि बन सकता है। फलतः यह संपूर्ण विश्व ही प्राणाचार्य की प्रयोगशाला है।[4]

उस युग में वनस्पति विज्ञान का विकास भी उच्चकोटि का हो चुका था। जड़ी-बूटियों के वैज्ञानिक उत्पादन की व्यवस्था भी उन लोगों ने की थी। भूमि के गुण दोष के अनुसार ओषधि के गुण दोषों का विवेचन आयुर्वेद संहिताओं में विद्यमान है। किसी भी प्रकार की भूमि में उत्पन्न होने वाली जड़ी-बूटियों का व्यवहार चिकित्सा के लिये नहीं किया जाता था। भूमि और जल वायु की उत्तमता जड़ी-बूटियों की उत्तमता का आधार है। यह प्रतिपादन करने के लिये धन्वन्तरि ने एक पूरे अध्याय का उपदेश दिया है।[5] एक ही जाति की ओषधि भूमि भेद से भिन्न-भिन्न गुण वाली हो जाती है। किस रोग के लिये कैसी भूमि में उत्पन्न औषधि ली जाय, उसका विस्तृत उल्लेख है। तर भूमि से विरेचनार्थ द्रव्य लेने चाहिये। रूक्ष भूमि से वमनोपयोगी।[6] उन्होंने इस विधान का हेतु भी दिया है। तर भूमि में उत्पन्न बूटियां शरीर के अधोमार्ग को उत्तेजित करती हैं। आंतों पर उनकी प्रतिक्रिया मृदु होती है। तथा मधुर गुण की प्रचुरता के कारण आंतों के वात दोष को शमन होने में उनसे सहायता मिलती है।

---

1. रसान् द्रव्याणि दोषांश्च विकारांश्च प्रभावतः।
   वेदयो देश कालौच शरीरं च सनो भिषक्॥ च० चि० 1/47
2. प्रत्यक्षलक्षणफला प्रसिद्धाश्च स्वभावतः।
   नौषधीर्हेतुभिर्विद्वान् परीक्षेत कथंचन॥ सु० सू० 40/20
   "नहि विस्तरस्य प्रमाण मस्ति, एवावन्तोह्यल्पबुद्धिनां व्यवहाराय। च० सू० 4/16
3. (क) विकारो धातु वैषम्यं साम्यं प्रकृतिरुच्यते।—चरक सू०।
   (ख) गुण य उक्ता द्रव्येषु शरीरेष्वपि ते तथा।
   स्थान वृद्धिक्षयास्तस्मात् देहिनां द्रव्य हेतुकाः। सु० सू० 42/12
4. सर्वं द्रव्यं पाञ्च भौतिकम्...। अनेनोपदेशेन नानौषधिभूतं जगति किञ्चिद्द्रव्यमुपलभ्यते।"
   च० सू० 26/11-12
5. सुश्रुत, सू० 36 (भूमि प्रविभागीयाध्याय)
6. सु० सू० 36/6

वमन द्रव्य रूक्ष भूमि में उत्पन्न होने से कषाय और कटु रस प्रधान होते हैं। वे शरीर में वायु की ऊर्ध्वगति को उत्तेजित करते हैं। कषाय और कटु रस श्लेष्म नाशक हैं। इसीलिए वमन श्लेष्म रोधक है। आमाशय से कण्ठ तक की श्लेष्म कला आंतों जैसी सुकोमल नहीं होती। अतएव वमन द्रव्यों की उग्र प्रतिक्रिया शरीर को हानि नहीं पहुंचाती।[1] इस प्रकार आवश्यकतानुसार उपयुक्त भूमि निर्माण कर औषधियां उत्पन्न करने की परिपाटी उस युग में प्रचलित हो गई थी। किन ओषधियों को अधिक सींचा जाये, किन्हें कम? किस जाति के पौधों को कैसी मिट्टी आवश्यक है? उन्हें कैसी खाद दी जाय? आदि वनस्पति विज्ञान में तत्कालीन विज्ञान वेत्ता बहुत उन्नत थे। ओषधियों के रस और वीर्य में अभीष्ट परिवर्तन किस प्रकार किया जा सकता है, यह उन्हें भली प्रकार ज्ञात था।

वनस्पति का कौन-सा भाग किस ऋतु में ओषध्युपयोगी होता है। इसका अनुसंधान भी किया गया था। चरक-संहिता में इसका सामान्य वर्णन यों है:—

1. शाखा और पत्ते—वर्षा और वसंत में।
2. जड़—गर्मी और शिशिर में।
3. छाल, कंद, दूध—शरद में।
4. काष्ठ, फूल, फल—हेमंत में।[2]

इतना ही नहीं, ओषधि द्रव्य को रोगी पर प्रयोग करने से पूर्व निम्नलिखित बातें जान लेना आवश्यक है:—

1. वात, पित्त या कफ प्रकृति में ओषधि किस प्रकृति की है?
2. गुण क्या है, शीतल उष्ण अथवा रूक्ष?
3. प्रभाव क्या है?
4. कैसे स्थान पर उत्पन्न हुई?
5. किस ऋतु में तोड़ी गई?
6. किस प्रकार लायी गई?
7. किस प्रकार रखी रही?
8. किस प्रकार खाने योग्य बनी?
9. मात्रा कितनी होनी चाहिए?
10. इस रोग के लिए उपयोगी है या नहीं?
11. इस पुरुष के इस रोग और दोष में उपयोगी है या नहीं?
12. दोष का शोधन करती है या शमन?
13. शोधन करती है तो कितना, शमन करती हैं तो कितना?
14. इस देश और इस काल में प्रयोज्य है या नहीं?

जब तक चिकित्सक रोग और औषधि के संबंध में इतना नहीं जानता, तब तक वह

---

1. तत्राग्निमारुतात्मका रसाः प्रायेणोर्ध्व भाजो लाघवात्, प्लवनत्वाच्च वायोरूर्ध्वज्वलनत्वाच्च वन्हेः। सलिल पृथिव्यात्मकास्तु प्रायेणाधोभाजः पृथिव्या गुरुत्वान्निम्नगत्वाच्चौदकस्य'। —चरक, सू॰ 26/39
2. चरक, कल्प॰ 1/12

चिकित्सा का अधिकारी ही नहीं।[1] चरक ने स्पष्ट लिखा है—रस, द्रव्य, दोष, विकार, प्रभाव, देश, काल, एवं शरीर को जो सांगोपांग जानता है वही वैद्य है।[2] इसके विरुद्ध जो अभिमानी इन तत्वों को बिना जाने बूझे औषधियों के प्रयोग से दुःखी और श्रद्धालु रोगी का अहित करता रहता है, उस पापी से बात करना भी पाप है। धन्वतरि ने तो यहां तक लिखा है कि ऐसे आततायी को फांसी दी जानी चाहिए।[3]

संसार में अनन्त जड़ी बूटियां हैं। उनके नाम भी अनन्त। मनुष्य जितना भी जान ले, थोड़ा है। फिर एक द्रव्य का गुण दोष अन्य द्रव्यों के संयोग में वही नहीं रहता। जहां कहीं रहता है, वहां का प्रकृति-सम समवाय जाने दीजिए, परन्तु जहां समुदाय का गुण समुदित द्रव्यों के गुण से भिन्न होता है, उस विकृति-विषम योग का गुणअवगुण स्वतंत्ररूप से जानना आवश्यक है। कुटकी अकेली पाण्डु और कामला रोगों को नष्ट नहीं करती। मिश्री भी अकेली वैसा लाभ नहीं कर पाती। परन्तु तुल्य मात्रा में दोनों का चूर्ण मिलाकर शीतल जल से देने पर पाण्डु और कामला को नष्ट करता है। मधु अकेला विष नहीं। घृत भी अकेला विष नहीं। किन्तु समभाग में मिल जाने पर विष होता है। मूली खाने से कुष्ट नहीं होता। दूध पीने से भी कुष्ट नहीं होता। किन्तु मूली और दूध साथ-साथ निरंतर प्रयोग करने से कुष्ठ होता है। पदार्थों के इस विकृति विषम स्वरूप का तत्कालीन प्राणाचार्यों ने विस्तार से विवेचन किया है।[4]

ओष जल का नाम है, उसमें प्रकृति ने विशेष गुणों का आधान (Preservation) किया हुआ है। इसलिए उसे 'ओषधि' कहते हैं। वस्तुतः ओषधि का मूल आधार जल ही है। वेद के मंत्रों में यह रहस्य वर्णित है।[5] किसी भी ओ०धि का घन सत्व जब तक द्रवरूप में नहीं आता, वह शरीर पर कोई प्रभाव नहीं उत्पन्न करता। घन रूप में हम जो गोली या चूर्ण खाते हैं, आमाशय में पहुंचकर वह भी द्रव रूप धारण कर लेता है। इस दृष्टि से द्रव रूप में प्रयोग की गई ओषधियां विशेष और सत्वर लाभकारी होती हैं। स्वरस, कल्क, फाण्ट, क्वाथ, आदि ओषधि के अल्प काल व अस्थायी प्रयोग हैं। अधिक काल व स्थायी बनाने के लिये आसव तथा अरिष्टों का अनुसंधान उस युग में हो चुका था। चरक संहिता

---

1. तस्यायं परीक्षा इदमेवं प्रकृत्या, एवं गुणमेवं प्रभावमस्मिन् काले देशे जातमस्मिन्नृतावेवं गृहीतमेवं निहितमेवमुपस्कृत मनया मात्रया युक्तं अस्मिन् व्याधावेवं विधस्य पुरुषस्यैतान्तं दोषमपकर्षत्युपशमय-तिवा ?—चरक, विमा० 8/14/2
2. रसान् द्रव्याणि दोषांश्च विकारांश्च प्रभावतः।
   वेद यो देश कालौ च शरीरं च सनोभिषक्॥ चर० विमा० 2/47
3. दुःखिताय शयानाय श्रद्दधानाय रोगिणे।
   यो भेषजमविज्ञाय प्राज्ञमानी प्रयच्छति॥
   त्यक्त धर्मस्य पापस्य मृत्यु भूतस्य दुर्मतेः।
   नरो नरक पातीस्यात्तस्य संभाषणादपि॥ चर० सू० 1/127-28—"वधं चार्हति राजतः" सुश्रुत
4. नहि विकृति विषम समवेतानां.....अवयव प्रभावानुमानेन समुदाय प्रभाव तत्वमध्यवसातुं शक्यम्।
   चर० विमा० 1/10
5. आपः शिवाः शिवतमाः.....तास्ते कृण्वन्तु भेषजम्"
   "सुमित्रिया न आप ओषधयः सन्तु"—ऋग्वेद

(सूत्र० 25/48) में स्वतंत्र रूप से एक प्रकरण आसवारिष्टों के स्पष्टीकरण में ही लिखा गया है। कोई भी वनस्पति साधारण रूप से एक वर्ष के उपरांत निर्वीर्य हो जाती है। इसलिए चूर्णादि प्रयोग संग्रह करके अधिक समय नहीं रखे जा सकते। फलतः आसव अरिष्ट ही सबसे अधिक काल तक संग्रहणीय होते हैं। क्योंकि उनमें ओषधि के गुण सुरक्षित रहते हैं। इतना ही नहीं, सामान्य ओषधि के गुण उदर में परिपाक के अनन्तर देर से प्रतिक्रिया करते हैं। वही गुण आसव में संनिहित होने पर सूक्ष्म और प्रसरण शील होने के कारण उग्र और शीघ्र प्रभाव लाते हैं।[1]

महर्षि आत्रेय पुनर्वसु ने प्रधान रूप से आसवारिष्टों के नौ उपादान गिनाये हैं:--

(1) धान्य, (2) फल (3) फूल, (4) सार, (5) पुष्प, (6) काण्ड, (7) पत्र, (8) छाल तथा (9) शर्करा।[2]

शर्करा के अतिरिक्त आठ द्रव्यों की व्याख्या महर्षि ने की है। उसमें एक-एक उपादान के भेद गिनाये हैं। जैसे:---धान्यासव, जौ, चावल, पिट्ठी आदि से तैयार हो सकते हैं। इसी प्रकार फलासव मुनक्का, खजूर, छुआरा, गंभारी फल, तथा खिन्नी आदि से बन सकते हैं। इस प्रकार आठ उपादान द्रव्यों से चौरासी प्रकार के आसव बनाये जा सकते हैं। परन्तु सभी के साथ शर्करा योग आवश्यक है। इन्हें आसव नाम देने का कारण यह है कि वे 'आसुत' (भापसे चुवाये हुए) होते हैं। आजकल वैद्यों के ओषधालयों में जो आसव बोतलों में भरे रहते हैं वे आत्रेय पुनर्वसु के आसव नहीं हैं। आत्रेय के ८४ आसव तो ऐसे मौलिक द्रव हैं जिनमें किसी रोग के निवारणके लिए अभीष्ट ओषधि संधान करके आवश्यक पेय तैयार किया जा सकता है। आत्रेय के आसव को हम (Preservative) कह सकते हैं। आजकल जो काम (Rectified Spirit) से लिया जाता है आत्रेय के आसव उसी के प्रतिरूप है। ऐलोपैथी के टिंचर और स्पिरिट तैयार करने की प्रक्रिया भी यही है। आत्रेय ने स्पष्ट कहा है कि इन्हीं मूल आसवों में अभीष्ट ओषधि द्रव्यों के संयोग से असंख्य आसवीय ओषधियां तैयार हो सकती हैं।[3] धान्य, फल, फूल, आदि आठ प्रकार के द्रव शर्करा के साथ उत्सेचन (Fermentation) होने पर जो मद्य तैयार करते हैं वह सुदीर्घ काल तक ओषधि गुणों को अपने अन्दर सुरक्षित बनाये रखता है।

भिन्न-भिन्न सुदूर देशों से आयी हुई औषधियां भी चिकित्सा में प्रयोग होती थीं। मुनक्का, छुआरा, हींग आदि द्रव्य अफगानिस्तान, ईरान और ईराक की ओर से आते थे। किसी समय ये भारत के ही उपनिवेश बन गये थे। रघुवंश के प्रतापी सम्राट्

---

1. मद्यं तैक्ष्ण्यौष्ण्य वैशद्य सूक्ष्मत्वात्स्त्रोतसां मुखम्।
प्रमथ्य विवृणोत्याशु तन्मोक्षात्सप्त धातवः॥
पुष्यन्ति······ ।—चरक चि० 8/162–163

2. तमुवाच भगवानात्रेयः—धान्य फल मूल सार पुष्प काण्ड पत्र त्वचो भवन्त्यासव योनयः अग्निवेश! संग्रहेणाष्टौ, शर्करा नवमी।—चरक, सू० 25/48

3. तास्वेव द्रव्य संयोग करणतोऽपरि संख्येयासु यथा पथ्यतमासव चतुरशीतिं निबोध। एव मेषामासवानां चतुरशीतिः परस्परेण संसृष्टानामासव द्रव्याणामुपनिर्दिष्टा। इत्येषामासुतत्वादासव संज्ञा। द्रव्य संयोग विभागस्त्वेषां बहुविध कल्पः संस्कारश्च'। —चरक, सू० 25/48

रघु ने उनका दिग्विजय किया था। कालिदास ने रघुवंश में इस दिग्विजय का विस्तृत उल्लेख किया है।[1] वैबीलोनियां के वैद्य कांकायन भारत के ही प्राणाचार्यों में लिखे गये हैं। जिस प्रकार पञ्चाल और काशी के प्राणाचार्यों का उल्लेख है, वैसे ही वाल्हीक भिषक् (कांकायन) का भी स्थान-स्थान पर उल्लेख मिलता है। प्रत्येक संहिता में कांकायन का उल्लेख अवश्य है। उन्हें विदेशी वैद्य नहीं लिखा गया। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि ओषधि द्रव्यों का इन पश्चिमी प्रदेशों से जो आयात होता रहा, उसके बदले में भारतीय ओषधियों का उन प्रदेशों को प्रचुर मात्रा में निर्यात भी होता रहा है। यह एक ऐतिहासिक तथ्य है कि ईरान और अरब से आगे मिश्र और यूनान तक भारतीय ओषधियों का प्रचुर विस्तार था। तक्षशिला से आगे मिश्र में भी एक विशाल विश्वविद्यालय था। ईस्वी पूर्व शताब्दियों में वहाँ भारतीय प्राणाचार्य ही शिक्षा संचालन कर रहे थे। अभी तक यूनानी चिकित्सा पद्धति का कलेवर भारतीय आयुर्वेद के मौलिक तत्वों से ही बना है।[2]

पश्चिमी प्रदेश तथा समुद्र तटों की उत्पन्न ओषधियों का उल्लेख संहिता ग्रंथों में बहुत है। मुनक्का, छोहारा, नाग केसर, तथा तुवरक (चावल मोगरा) पश्चिमी प्रदेशों और समुद्र तटों की ही उपज हैं।[3] वहाँ के व्यापारी उन्हें आर्यावर्त्त या स्वर्ग तक बेचने लाते थे और बदले में यहाँ की ओषधियाँ ले जाते रहे हैं। तक्षशिला या वाल्हीक (वैबीलोनिया) में बैठकर यदि हम भौगोलिक स्थिति देखें तो पश्चिम में ईरान, जोर्डन, इजराइल, टर्की, असीरिया, फोनीशिया और भूमध्य सागर के प्रदेश ही सामने आते हैं।

अनेक लोगों का विचार यह है कि भारत में आलू का बीज कुछ शताब्दियों पूर्व अमेरिका से आया है। यह भ्रम है। धन्वन्तरि के युग में भी आलू भारतीय भोजन में प्रचलित था। हिमालय पर्वत आलू की पैदावार का प्रधान क्षेत्र अब तक है। सुश्रुतसंहिता में आलू के गुण-दोष शाक वर्ग में लिखे हुए हैं। चरक में भी उसके पथ्यापथ्य का विचार है।[4]

यह पश्चिमी देशों से चलने वाला व्यवसाय था। पूर्वीय देशों से भी इस प्रकार का व्यवसाय भारत का रहा है। जावा, सुमात्रा, सिंगापुर तथा अन्य पूर्वीय द्वीपों से— लौंग, जायफल, जावित्री आदि ओषधि द्रव्यों का व्यापार प्रमुख रहा है। अफ्रीका की ओर इन वस्तुओं की उपज तब तक इतनी अधिक नहीं थी। यह व्यवसाय कालिदास के समय तक चलता रहा था।[5] रघुवंश में इन्दुमती और अज के स्वयंवर का उल्लेख करते हुए कालिदास ने कलिंग (उड़ीसा तथा उत्तरी मद्रास) के राजकुमार का वर्णन किया है। इस वर्णन में लिखा है कि इनके देश में समुद्र तट पर द्वीपान्तरों से लौंग का आयात होता

---

1. पारसीकांस्ततो जेतुं प्रतस्थे स्थल वर्त्मना ।
   विनयन्ते स्मतद्योधा मधुभिर्विजय श्रमम् ॥ —रघुवंश 4/60-65
2. मिश्र देश (Egypt), यूनान (Greece), वाल्हीक (Babylone)
3. दृक्षास्तुवरका येस्युः पश्चिमार्णव भूमिषु ।
   महार्घोषस्तुवरकः कुष्ठ मेहापहः परः ॥ —सुश्रुत चि० 13/20-34
4. पिण्डालुकं कफकरं गुरुवात प्रकोपणम् । —सुश्रुत, सू० 46/304
5. ३०० ईस्वी

है।[1] इस प्रकार भारत में लौंग लाने वाले व्यापारी भी भारतीय ओषधियां अपने प्रदेशों में ले जाते रहे हैं।

जंगम और उद्भिद द्रव्यों के बाद तीसरे स्थान पर पार्थिव द्रव्यों का वर्ग आता है। इस वर्ग में खनिज या अचेतन द्रव्य समाविष्ट होते हैं। आयुर्वेद के पारिभाषिक शब्दों में जंगम और उद्भिद श्रेणियों में आने वाले द्रव्य चेतना युक्त होने के कारण सेन्द्रिय द्रव्य (Organic) कहलाते हैं। इस पार्थिव श्रेणी में गिने जाने वाले द्रव्य चूंकि चेतना युक्त नहीं होते, इसलिए इन्हें निरिन्द्रिय-द्रव्य (Inorganic) कहते हैं।[2] सेन्द्रिय द्रव्यों की सेन्द्रियता यह है कि चेतन प्राणियों के शरीर-धातुओं में उनका अधिक से अधिक समीकरण होता है। वे हमारे शरीर में घुल मिलकर एक रूप हो जाते हैं और सरलता से अवयव संस्थान पर अपना प्रभाव उत्पन्न करते हैं। निरिन्द्रिय द्रव्यों में यह क्षमता नहीं होती। निरिन्द्रिय द्रव्यों को मनुष्य देह में समीकृत करने के लिए उन्हें सेन्द्रिय द्रव्यों से अनुभावित करने की वैज्ञानिक पद्धति इस युग में प्रचलित हो गई थी।

सेन्द्रिय द्रव्यों के स्वरस, अथवा क्वाथ में निरिन्द्रिय द्रव्यों को भावित करने अथवा परिपाक करने से निरिन्द्रिय द्रव्यों में भी सेन्द्रियता का समावेश हो जाता है। वे सेन्द्रिय द्रव्यों की भांति शरीर में अपना कार्य करने लगते हैं। सोना, चांदी, सीसा, लोहा, तांबा और रांगा इन धातुओं के साथ इनके उपधातुओं का प्रयोग भी ओषधि रूप से होने लगा था। इन निरिन्द्रिय तत्वों का सेन्द्रियकरण और उनके विभिन्न प्रयोग संहिता ग्रंथों में विद्यमान हैं। शिशु के ओजहीन होने पर सुवर्ण प्राशन की विधि का उल्लेख काश्यप संहिता में विशेष रूप से किया है। चूना, मनःशिला, मणियां, नमक, गेरू और अंजन आदि उपधातुओं का समावेश भी इसी वर्ग में है। भगवान धन्वतरि और आत्रेय पुनर्वसु के युग में इन पदार्थों का प्रचुर प्रचार था।[3]

रोगों की चिकित्सा के अतिरिक्त रसायन प्रयोग के लिए इन पार्थिव द्रव्यों का प्रयोग अधिक किया गया है। स्वस्थ व्यक्ति को उत्कृष्ट जीवन शक्ति प्रदान करने वाले योग रसायन-प्रयोग कहे जाते हैं।[4] प्राचीन संहिताकारों ने प्रायः प्रत्येक संहिता में रसायन प्रयोग लिखे हैं। उनमें इन खनिजों का विशेष उल्लेख है। चिकित्सा की दृष्टि से भी कितने ही प्रयोग अन्यत्र भी लिखे गए हैं।

रक्त पित्त चिकित्सा में चरक ने वैडूर्यमणि, मोती, गेरू, चूना, शंख, सोना आदि

---

1. अनेन सार्धं विहराम्बुराशेस्तीरेषु तालीवन मर्मरेषु।
   द्वीपांतरानीत लवङ्ग पुष्पैरपाकृतस्वेद लवा मरुद्भिः॥ —रघुवंश, 6/57
2. सेन्द्रियं चेतनं द्रव्यं निरिन्द्रियमचेतनम्। चरक, सू० 1/47
3. पार्थिवाः—सुवर्ण, रजत, मणि, मनःशिला, मृत्कापालादयः॥ सुश्रुत सूत्र० 1/32
   सुवर्णं सकलाः पंचलोहा ससिकताः सुधा।
   मनः शिलाले मणयो लवणं गैरिकाञ्जने॥
   भौममौषधमुद्दिष्टं······। चरक, सूत्र० 1/69-70
   'त्रप्वादीनांतुलोहानां पण्णामन्यतमान्वयम्' —सुश्रुत, चि० 13/5
4. स्वस्थस्योर्जस्करं यत्तु तद् वृष्यं तद्रसायनम्। चरक, चि० 1/1/6

द्रव्यों का सिद्ध किया हुआ जल हितकर लिखा है।[1] पाण्डु एवं शोथ पर लौह, मण्डूर तथा सुवर्ण माक्षिक के प्रयोग भी लिखे गये हैं।[2] सोने का प्रयोग बच्चों के लिए बहुत हितकारी बताया है।[3] इस प्रकार जंगम और उद्भिज के साथ ही साथ पार्थिव धातुओं का विज्ञान भी चलता रहा है। धातुओं के उपधातुओं की खोज भी उन्होंने की। उनके प्रयोग भी औषधियों में बहुत हैं। विशेषत: प्रत्येक धातु के शिलाजतु का रसायन प्रयोग चरक ने लिखा है। सुश्रुत ने प्रत्येक धातु से उत्पन्न छः प्रकार के शिलाजतुओं का उल्लेख किया है। किन्तु चरक ने रसायनोपयोग के लिए मुख्य चार ही का। प्राचीन साहित्य में सुवर्ण को छोड़ कर शेष धातु लौह शब्द से कहे जाते हैं। चांदी, तांबा, लोहा, रांगा, और सीसा सब 'लौह' हैं। जिसे आजकल हम लोग लोहा कहते हैं, आयुर्वेद में उसका नाम 'अयस' है। लौह शब्द धीरे-धीरे एक ही धातु में रूढ़ हो गया है। धातुओं के अन्ययौगिक तुत्थ, कासीस वन्दन आदि इन्हीं के अन्तर्गत गिने गये हैं। गुणों में कुछ हीन होने से इन्हें उपधातु कहा जाता है।

धातु और उपधातु में ही पार्थिव द्रव्य पूरे नहीं होते। चूना (calcium) भी एक मौलिक तत्व है। मन: शिला, हरताल, मणियाँ, नमक, गेरू, और अंजन भी मौलिक तत्व हैं, यद्यपि वे लोह नहीं है। मौलिक तत्व ही धातु हैं। गुणों के तारतम्य के कारण धातु और उपधातु संज्ञाएं दी गई। लौह, सिकता, सुधा, लवण आदि संज्ञाएं उन द्रव्यों के रासायनिक अन्तर को प्रस्तुत करती हैं। यद्यपि वे सब खनिज या पार्थिव द्रव्य ही हैं।

सुश्रुत संहिता में धातु उपधातुओं के गुण कुछ अधिक विस्तार से दिये गये हैं। संक्षेप में देखिये:—

(1) सोना:—मधुर रस, हृदय उत्तेजक, स्नायु शक्ति वर्धक, वात पित्त, कफ को मर्यादित करने वाला, शीतल, नेत्र शक्ति वर्धक, विषविकार को नष्ट करने वाला।
(2) चांदी:— अम्ल रस, रेचक, शीतल, स्निग्ध, पित्त और वात का आवसादक।
(3) तांबा:— कषाय तथा मधुर रस, लेखन, शीतल, रेचक।
(4) कांसा:— तिक्त, लेखन, नेत्र शक्ति वर्धक, कफवात नाशक।
(5) लोहा:— तिक्त, वायु वर्धक, शीतल, प्यास कम करने वाला, पित्त तथा कफ रोधक।
(6) रांगा, सीसा:— कटु तथा लवण रस, कृमिनाशक, उग्र प्रतिक्रिया वाले।[4]

उपधातुओं का वर्णन इतने विस्तार में नहीं किया गया। क्योंकि वे अपने मूल

---

1. वैडूर्यमुक्तमणि गैरिकाणां मृच्छंख हेमामलकोदकानाम्।
मधूदकस्येक्षु रसस्य चैव पानाच्छमं गच्छति रक्त पित्तम् ॥—चरक चि० 4/3
2. मण्डूर लोहाग्निविडंग पथ्या व्योषांशक: स्वर्ण समान ताप्य:।
कृमघ्नतो ऽयं मधुनवनावलेह: पाण्ड्वामयं हन्त्यचिरेणघोरम् ॥—सुश्रुत, उत्तर० 44/23
3. विधूप्यधौते दृषदि प्राङ्मुखं लघुनाम्बुना।
आमृज्य मधुसर्पिभ्यां लेहयेत् कनकं शिशुम् ॥
सुवर्णं प्राशनं ह्येतन्मेधाग्नि बल वर्धनम्।—काश्यप सं, सू० लेहाध्याय।
4. सुश्रुत संहिता, सू० 46/326–329

धातु के अनुरूप गुण कारी होते हैं। चरक संहिता में धातु-उपधातुओं का उल्लेख सुश्रुत से कम है। काश्यप संहिता पूरी उपलब्ध नहीं, परन्तु जो अंश उपलब्ध है, उसमें सुवर्ण, लौह के प्रयोग मिलते हैं। उपलब्ध काश्यप संहिता और चरक संहिता के अधिक प्रयोग मिलते-जुलते हैं। शोथ चिकित्सा देखिये तो काश्यप संहिता और चरक संहिता के वर्णन में केवल छंद ही भिन्न है, प्रयोग एक से ही मिलते-जुलते हैं। काश्यप संहिता के निम्न योग को चरक से संतुलित कीजिये:—

अयो रजस्त्रिकटुकं त्रिवृता कटुरोहिणी।
त्रिफलाया रसेनैतत्पीत्वा चूर्णं सुखी भवेत्॥ —काश्यप० खिल 17/40
व्योषं त्रिवृत्तिक्तक रोहिणी च सायो रजस्कात्रिफला रसेन।
पीतं कफोत्थं शमयेत्तु शोफं···। —चरक चि० 12/19

उक्त निदर्शन ग्रंथों की तुलना के लिए नहीं है, प्रत्युत वह स्पष्ट करना है कि काश्यप और आत्रेय के समकालीन धातु विज्ञान ने कहां तक प्रगति की थी। आगे चरित्र चित्रण में यह स्पष्ट किया जायगा कि काश्यप और आत्रेय चचेरे भाई थे। सुश्रुत ने कांसे को मूल धातु लिखा है। संभव है सुश्रुत के गुरु धन्वतरि के युग तक कांसे का रासायनिक विश्लेषण नहीं हो सका था। किन्तु उनके उपरांत आत्रेय और काश्यप के युग में यह जान लिया गया था कि यह मिश्रित धातु है। आत्रेय और काश्यप संहिताओं में कांसा मूल धातु नहीं।

पार्थिव द्रव्यों में लवण का स्थान भी कम महत्व का नहीं। विशेषतः इसलिए कि षड्रसों में लवण स्वयं एक स्वतंत्र रस का प्रतीक है। वह पाचन संस्थान के लिए अत्यन्त सहायक है। मनुष्य के आहार द्रव्यों में लवण का जो स्थान है वह अन्य किसी रस का नहीं। छः रसों में पांच रस युक्त द्रव्यों का क्वाथ होता है। लवण का क्वाथ नहीं होता। जल में उबालने से अन्य द्रव्यों में जैसा रासायनिक परिवर्तन होता है, लवण में नहीं होता।[2] पाचन के लिए थूक बनाने वाली ग्रंथियों को लवण सक्रिय बनाता है। एवं शरीर में जलीयतत्व को प्रबल करता है। इतना होने पर उसकी प्रतिक्रिया उष्ण होती है। अधिक मात्रा में लवण का सेवन शरीर को पोला करता है, पुरुषत्व को क्षीण करता है, दांतों को गिरा देता है, मस्तिष्क शक्ति को दुर्बल करता है, इन्द्रियों की कार्य क्षमता का क्षय करता है, और पित्त को उद्रिक्त कर अम्लपित्त, वातरक्त, रक्तपित्त, वीसर्प, शक्तिक्षय, चर्मरोम और खालित्य (गंजापन) उत्पन्न करता है। विष के ऊपर नमक खाने से विष का प्रभाव शीघ्र होता है। फलतः लवण का अतिशय प्रयोग शरीर के लिए हितकारी नहीं। क्षारों की भी यही स्थिति है।

लवण के गुणावगुणों पर चरक संहिता में आत्रेय पुर्नवसु ने गंभीर विचार किया है। वहाँ यह भी लिखा है वाल्हीक, सौराष्ट्र, सिन्ध और सौवीर देशों के लोग लवण अधिक मात्रा में खाते हैं। वे दूध में भी नमक डालकर पीते हैं। इस कारण इन देशों के

1. 'सुवर्ण प्राशनं ह्येतन्मेधाग्निबलवर्धनम्' —काश्यप सं० सूत्र० लोहाध्याय
अयोरजस्त्रिकटुकं त्रिवृता कटुरोहिणी।
त्रिफलाया रसेनैतत्पीत्वा चूर्णं सुखी भवेत्॥ —काश्य० खिल 17/40
2. चरक, सू० 4/3

लोग उन्नत शरीर होने पर भी ढीले-ढाले, शिथिल, और असहिष्णु होते हैं। तथा चीन और पूर्वांत के लोग अंधे, नपुंसक, गंजे और कमजोर दिल के होते हैं।[1]

धन्वन्तरि के समय तक नमक की प्रायः छः किस्में प्रचलित हो चुकी थीं।[2] स्वर्ग में नमक सुलभ न था, फलतः मिट्टी में से नमक बनाने का आविष्कार आर्यों ने किया था। धीरे-धीरे साम्राज्य के साथ-साथ व्यवसाय बढ़ता गया। तब अन्य देशों से प्राकृतिक नमक भी आने लगा। ऐसे रूप में आने वाले नमक के भेदों का नाम उन देशों के नाम पर रखा गया जहाँ से नमक प्राप्त होता था। सैन्धव लवण, रोमक लवण, सामुद्र लवण, ऐसे ही लवण थे। उल्हण ने सुश्रुत की व्याख्या में उन-उन देशों का उल्लेख किया है।[3] सैन्धव ही सबसे प्रसिद्ध नमक है, जो सिन्धु देश से प्राप्त होता था। शाकम्भरी (एशिया माइनर) तथा काश्यपीयसर (कास्पियनसागर) से प्राप्त लवण रोमक लवण था। सामुद्र लवण दक्षिण समुद्र तथा ईरान की खाड़ी से प्राप्त होने वाला नमक है। कराची से लेकर बिलोचिस्तान होकर ईरान की खाड़ी तक का प्रदेश नमक के लिये प्रसिद्ध था। देवताओं के स्वर्ग में नमक प्राप्त न था। इसलिये आज तक यह प्रथा चली जाती है कि देवताओं की पूजा में जो व्यंजन तैयार किये जाते हैं, उनमें नमक नहीं होता। नमक के प्रदेश पर असुरों का अधिकार था। देवताओं को उनका यह एकाधिपत्य स्वीकार न था। तक्षशिला के पश्चिम पुष्कलावती (चारसद्दा) में होने वाले देवासुर संग्राम के अनेक हेतुओं में नमक भी था।

---

1. चरक, वि० 1/20-21
2. सुश्रुत, सू० 46/313
3. रोमकं शाकम्भरी देशोत्थं, रूमा सर संभव मित्यन्ये। —सुश्रुत, सू० 46/323

'रूमा सर' या रोम सागर भूमध्य सागर का नाम है। एशिया माइनर का यह प्रदेश रूम देश कहलाता था। क्योंकि चिरकाल तक वह रोमन (इटली) लोगों के अधिकार में था। यह स्थान नमक की उत्पत्ति के लिये प्रसिद्ध था। आज तक कास्पियन सागर (काश्यपीय सर) के दक्षिण पश्चिम में नमक के कछार हैं। यह प्रदेश आर्यों के व्यापार का केन्द्र था।

देशों के नाम पर लवणों का नाम राजनैतिक विस्तार को प्रकट करता है। रोमन लोगों द्वारा एशिया माइनर, असीरिया, काकेशिया और तुर्किस्तान (शाकम्भरी देश, शकों का देश) पर विजय पाने के उपरांत ही उस प्रदेश के नमक को रोमक लवण नाम प्राप्त हुआ होगा। ईसा से ७५३ वर्ष पूर्व रोम साम्राज्य का उदय हुआ। और ई० पूर्व 200 से 55 ई० पूर्व तक इस प्रदेश को जूलियस सीजर के समकालीन रोम सेना-पति ल्यूकुलस और पाम्पियाई ने यूनानियों से जीतकर रोम साम्राज्य में मिला लिया था। इसके बाद ही यहां से प्राप्त होने वाले नमक को रोमक लवण नाम दिया गया होगा। इस प्रकार यह प्रतीत होता है कि रोमक-लवण नाम सुश्रुत संहिता में ईसा के सौ वर्ष पीछे से मिलाया गया है। देशों के आधार पर सैन्धव-लवण के अतिरिक्त अन्य नाम आत्रेय और काश्यप संहिताओं में नहीं मिलते। सुश्रुत संहिता में यह मिश्रण संभवतः ईसा की प्रथम शताब्दि में नागार्जुन के प्रतिसंस्कार के समय हुआ होगा। रोम साम्राज्य उस समय अपने विकास की चरम सीमा पर था। शाकम्भरी-लवण ही प्राचीन है, जो कास्पियन तथा भूमध्य सागर से प्राप्त होता था। कास्पियन सागर काश्यपीयसर का विकृत रूप है। काश्यपीय-सर आर्यों की विजय का संस्मरण है। इस प्रदेश के लवण पर आर्यों का अधिकार सहज रूप से होना ही चाहिये।

पुरातत्व के द्वारा भूगर्भ से मिलने वाले प्रमाण यह आज भी सिद्ध करते हैं।[1] चरक संहिता (सू० 27/301) की व्याख्या में चक्रपाणि ने लिखा है कि पांशुज लवण पूर्वीय समुद्र से भी आता था·

उपर्युक्त पार्थिव द्रव्य दो प्रकार के हैं—पहिले वे जो पेट में पच सकते हैं। जैसे :—नमक, गेरू, मनः शिला, क्षार आदि। दूसरे वो जो पच नहीं सकते। जैसे :—सोना, चाँदी, लोहा आदि। दोनों ही प्रकार के अचेतन द्रव्य निरिन्द्रिय हैं। सेन्द्रिय में निरिन्द्रिय तत्व आत्मसात् नहीं होते। वे मलमूत्र द्वारा या स्वेद से वाहर निकल जाते हैं। फलतः शरीर पर विजातीय द्रव्यों का अनुकूल प्रभाव नहीं होता। यदि वे शरीर में रुक ही जायँ तो विजातीय होने के कारण घातक प्रभाव उत्पन्न करते हैं। शरीर के धातु वाही स्रोत अवरुद्ध हो जाते हैं। इसलिये निरिन्द्रिय द्रव्य को सेन्द्रिय बनाकर प्रयोग करने की विधि उस युग के वैज्ञानिकों ने ढूंढ़ ली थी। परन्तु यह सेन्द्रियकरण की कला उस युग तक पूर्णता को न पहुँच सकी थी। प्रत्येक निरिन्द्रिय द्रव्य एक ही प्रयोग से सेन्द्रिय नहीं होता। कुछ धातुओं का सेन्द्रिय-करना उस युग में अवश्य हो चुका था। किन्तु वह आविष्कार का प्रारंभ था।

सुश्रुत, आत्रेय पुनर्वसु, और कश्यप तीन हो ऐसे वैज्ञानिक हैं जो आदि कालीन आयुर्वेद का परिचय देते हैं। तीनों के देखने से हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि उस युग में धातुओं का भस्मीकरण अपनी पूर्णता पर न था। पक्व, अपक्व अथवा अर्धपक्व धातुओं का प्रयोग औषधि रूप में होने लगा था।[2] धातुओं को भस्म करने की जो

---

1. On the North-Western frontier of India and thence Southwards to the Arabian Sea the picture is a very different one. Here the approaches in to India, though not always easy, are abundant and loomlarge in Indian history and prehistory. An earlier route followed the more northerly line of the Kabul River with Charsadda, the ancient Pushkalavati (20 miles North-East of Peshawar) as its immidiate goal.

   Massacred men-women and children are found in the top most levels of Mohenjodaro—where else, save in the Indus cities, were there non Aryans citadels *worthy of prowess of Indra and* his Aryan followings.

   —Iran and India in pre-Islamic times
   by R. E. M. Wheeler
   (Ancient India no 4—Archelogical survey of India, Jan. 1948)

2. सौवर्णं सुकृतं चूर्णं कुष्टं मधुघृतं वचा।
   अर्क पुष्पी मधुघृतं चूर्णितं कनकं वचा। —सुश्रु० शारी० 80/68-70
   विघृष्य धौते दृषदि प्राङमुखी लघुनाम्बुना
   आमथ्य मधुसर्पिभ्यां लेहयेत् कनकं शिशुम्॥ —कश्यप० सू० लोह्य० लेहा०

विधि मध्यकाल में प्राणाचार्यों ने ढूँढ़ ली थी वह आदिकालीन वैज्ञानिकों ने नहीं जान पाई थी। इसलिये चरक, सुश्रुत और काश्यप संहिताओं में धातुओं के खाने के प्रयोग अपक्व या अर्धपक्व रूप में ही दिये गये है।

प्राणाचार्यो को यह सिद्धांत ज्ञात था कि शरीर के धातु पार्थिवधातुओं के तत्वों से ही बने हैं। उद्भिद वनस्पतियों से मिलने वाले सेन्द्रिय धातु, जंगम प्राणियों से मिलने वाले सेन्द्रिय धातु और पार्थिव द्रव्यों के रूप में मिलने वाले निरिन्द्रिय धातुओं में तात्विक समता है : उनके प्रयोग की ही विधि खोजनी चाहिये।[1] शरीरमें वात, पित्त और कफ तीन दोष और रस, रक्त, मांस, मेद अस्थि, मज्जा और शुक्र यह सात धातु, इसका संचालन करते हैं यह वैदिक ऋचाओं का सिद्धांत ही ज्यों का त्यों आयुर्वेद शास्त्र का सिद्धांत है।[2] आदि काल में जंगम और उद्भिद द्रव्यों की भांति पार्थिव तत्वों पर उतने गंभीर वैज्ञानिक प्रयोग नहीं मिलते, जितने मध्यकाल और उसके उपरांत मिलते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि आदि काल के प्राणाचार्यो ने जंगम और उद्भिद पदार्थो पर जैसे चमत्कारी आविष्कार कर डाले वैसे फिर नहीं हो सके।

अग्निवेश, भेड, जतूकर्ण, पराशर, हारीत, क्षीरपाणि आदि आत्रेय विद्यालय के स्नातकों तथा उपधेनु, उरभ्र, सुश्रुत, पुष्कलावत, वैतरण, करवीर्य, गोपुर रक्षित, आदि दिवोदास धन्वतरि विद्यालय के स्नातकों के लिखे हुए संपूर्ण ग्रंथ मिलते नहीं। इसलिए अप्राप्त ग्रंथों के सम्बन्ध में निश्चय पूर्वक क्या कहा जाय ? किन्तु यह स्पष्ट है कि प्रत्येक ग्रंथ में पार्थिव द्रव्यों का उल्लेख चिकित्सोपयोग के लिये किया गया है। फलतः आदिकाल में खनिज धातुओं पर चिकित्सोपयोगी अनुसन्धान निरन्तर प्रगति कर रहे थे। तो भी जंगम और उद्भिद तत्वों का ज्ञान बहुत विकसित था, इसमें सन्देह नहीं।

पिछली पंक्तियों में आदिकालीन प्राणाचार्यो के चिकित्सा विज्ञान के विस्तृत क्षत्र पर प्रकाश डालने का प्रयास किया गया है। परन्तु चिकित्सक का उत्तरदायित्व केवल चिकित्सा ज्ञान ही नहीं है, उसे निदान-विज्ञान भी आवश्यक है। केवल चिकित्सा ज्ञान वैसा ही है जैसे गाड़ी में एक पहिया लगा हो। बिना दूसरे पहिये के गाड़ी मंजिल तक नहीं पहुंचती। धन्वन्तरि ने कहा था कि निदान ज्ञान के बिना ही चिकित्सा में हाथ

सप्तरात्रं गवां मूत्रे भावितं वाप्ययो रजः।
पाण्डु रोग प्रशान्त्यर्थं पयसापाययेत भिषक् ॥ —चरक० चि० 16,67
त्रिफलायाः रसे मूत्रे गवां क्षीरेऽम्ल लावणे।.........
तीक्ष्णायसस्य पत्राणि वह्नि वर्णानि कारयेत्।
ज्ञात्वा तान्यञ्जनाभानि सूक्ष्म चूर्णानि कारयेत्।.........
संवत्सरात्यये तस्य प्रयोगो मधु सर्पिषा।
अनेनैव विधानेन हेम्नश्च रजतस्य च।
आयुः प्रकर्षकृत्सिद्धः प्रयोगः सर्वरोग नुत् ॥ —चरक चि० 1;3;7

1 सर्वेषामेव भावानां सामान्यं वृद्धिकारणम्।—चरक सू० 1
"धातवः पुनः शारीराः समान गुणैः समान गुण भूयिष्ठैर्वाप्याहार विहारैः रभ्यस्यमानैर्वृद्धि प्राप्नुवन्ति, ह्रासन्तु विपरीत गुणैर्विपरीत गुण भूयिष्ठैर्वाप्यभ्यस्यमानैः।" च० शा० 6,9

2. त्रिसप्ताः परियन्ति विश्वारूपाणि—अथर्ववेद, 1/1/1/1

डालने वाले धृष्ट के लिये राज शासन की ओर से वध किये जाने का दण्ड मिलना चाहिये।[1] तात्पर्य यह कि निदान और चिकित्सा दोनों मिलकर प्राणाचार्य का निर्माण करते हैं। आइये अब हम आयुर्वेद के निदान-विज्ञान पर विचार करें।

हमने पीछे आयुर्वेद शास्त्र के आठ अंगों का उल्लेख किया है। प्रत्येक के विषय में निदान और चिकित्सा का एक विस्तृत क्षेत्र है।

1--शल्य शास्त्र--धन्वन्तरि, सुश्रुत, औपधेनव, उरभ्र, पुष्कलावत आदि आचार्यों के ग्रन्थ।

2--शालाक्य शास्त्र--विदेह जनक का लिखा हुआ शालाक्य तन्त्र।

3--काय चिकित्सा शास्त्र--आत्रेय, अग्निवेश, भेड, जतूकर्ण, पराशर, हारीत, क्षीरपाणि, तथा विश्वामित्र के ग्रन्थ।

4--भूतविद्या शास्त्र--अथर्वा की परम्परा में लिखे गये ग्रन्थ। परन्तु इस विषय पर अधिकारपूर्ण और स्वतन्त्र साहित्य नहीं मिलता। यही कारण है कि उन्माद, अमानुषोपसर्ग, ग्रहावेश, आदि प्रकरणों की व्याख्यायें लिखते हुए, एतद् विषयक उद्धरण चक्रपाणि और डल्हण आदि व्याख्याकारों को नहीं मिल सके। तन्त्र ग्रन्थों में यह विषय मिलता है।

5--कौमार भृत्य शास्त्र--काश्यप, कौत्स, पाराशर्य, वैदेहजनक, वृद्ध काश्यप, काङ्कायन, वार्योविद, एवं भास्कर आदि के ग्रन्थ।[2]

6--अगद तन्त्र--महाभारत कालीन कश्यप के वर्णन से प्रतीत होता है कि उस समय एतद्विषयक प्रचुर साहित्य विद्यमान था।

7--रसायन तन्त्र--अत्रि, भृगु अंगिरा, वशिष्ट, कश्यप, अगस्त्य, वामदेव, पुलस्त्य, असित, गौतम तथा इनके आचार्य इन्द्र के उपदेश-संकलन।[3]

8--वाजीकरण तन्त्र--वात्स्यायन काम शास्त्र तथा अन्य चिकित्सा ग्रन्थों में समाविष्ट साहित्य।

धन्वन्तरि ने लिखा है कि सम्पूर्ण आयुर्वेद को समष्टि रूप से अध्ययन कर सकना संभव नहीं है, इसलिये स्वर्ग में ही स्वयम् ब्रह्मा ने उसको आठ अंगों में विभाजित कर दिया था। उनके शिष्यों ने उसका विस्तार किया। आठों अंगों पर गम्भीर साहित्य लिखा गया। अनुसन्धान हुए और वैज्ञानिक निदान और चिकित्सा के निर्णयार्थ बड़े-बड़े सम्मेलन किये गये। सुश्रुत चरक और काश्यप संहिताओं में निदान और चिकित्सा पर आचार्यों के जो प्रवचन हैं वे एकान्त में नहीं, किन्तु बड़े-बड़े वैज्ञानिकों की गोष्ठी में दिये गये हैं। पूर्वपक्ष, उत्तरपक्ष, एकीय पक्ष, और विपक्षों के गहन प्रश्नोत्तर के उपरान्त कोई निर्णय दिया गया है। जो तत्व तर्कगम्य नहीं हैं उन पर अनुभवों का निदर्शन प्रस्तुत

---

1. यस्तु कर्मसु निष्णातो धार्ष्ट्याच्छास्त्र बहिष्कृतः।
   स सत्सुपूजां नाप्नोति वधं चार्हतिराजतः॥--सुश्रुत सू० 4/49
   यस्तूभयज्ञो मतिमान् स समर्थोऽर्थ साधने।
   आहवे कर्म निर्वोढुं द्विचक्रः स्यन्दनो यथा॥--सू० सू० 4/53
2. काश्यप संहिता, राजपुत्रीयाध्याय तथा वमन विरेचन प्रकरण में इनके उल्लेख हैं।
3. चरक, रसायन पाद।

किया गया। और कोई ग्रन्थि ऐसी नहीं जो वैज्ञानिक पद्धति से खोली न गई हो। चिकित्सा और निदान के निर्णय के साथ-साथ समाज के नैतिक जीवन का परिमार्जन भी किया गया था। राजयक्ष्मा रोग का निदान अत्यन्त उलझा हुआ और विवादास्पद था। रोग की भिन्न-भिन्न सम्प्राप्तियां (Pathology) एक निर्णय पर न आने देती थीं। इसलिये आत्रेय ने चन्द्रदेव के वहुपत्नी प्रसंग का अनुभव प्रस्तुत करते हुए रोग का निदान वतलाया। स्वर्ग में अश्वियों ने यक्ष्मा की सफल चिकित्सा अब ढूंढ ली। देवताओं को तो इस रोग से छुटकारा मिल गया परन्तु स्वर्ग से वाहर के मानव समाज में इस रोग का विस्तार होता ही गया। तो भी चार हेतु इस रोग के हो सकते हैं—

(1) वल से अधिक कार्य।

(2) मल, मूत्र आदि के वेग को रोकना।

(3) धातुक्षय।

(4) विषम भोजन।

आत्रेय ने रोग के निदान की जो सुन्दर प्रस्तावना रखी उससे नैतिक जीवन के लिये वहुत प्रकाश मिला।

(अ) वहुपत्नी होना वुरा है।

(व) वहुपत्नी धातुक्षय का कारण है।

(स) वहुत-सी पत्नियों को एक पति सन्तुष्ट नहीं कर सकता इसलिये एक पत्नी व्रत आर्यो ने स्वीकार किया। ताकि जीवन में नीरोग रहा जा सके। मानव की भौतिक दुर्वलता का निराकरण करते हुए उन्होंने चार हेतु और वताये—

कैलाश पर अपनी शंकायें प्रस्तुत करते हुए अनेक किन्नर वैठे हुए थे। ऋषिगण भी प्रतिपक्ष उठा रहे थे और महर्षिगण जिज्ञासा से आप्लावित थे, जब अग्निवेश ने आचार्य आत्रेय से विसर्प की चिकित्सा का प्रश्न पूछा। आचार्य ने प्रत्येक को अपनी शंकायें प्रस्तुत करने का अवसर दिया और वादानुवाद के वाद वे वैज्ञानिक सिद्धान्त वतलाये जिन पर शंका को अवकाश न रहा।[1]

इस प्रकार विषय प्रतिपादन की जो शैली आयुर्वेदिक संहिताओं में स्वीकार की गई है, वह इतनी सम्पुष्ट है जिससे विज्ञान और तर्क दोनों सहमत हैं। सुश्रुत, चरक, और काश्यप संहिताओं से ज्ञात होता है कि आयुर्वेद के आठों अंगों पर अलग-अलग प्रचुर साहित्य का निर्माण हो गया था। आजकल व्याख्याकारों द्वारा उद्धृत सैकड़ों ग्रंथों के उदाहरण मिलते हैं। परन्तु वे ग्रंथ नहीं मिलते। ईसा की छठी शताब्दि तक भी प्रचुर साहित्य विद्यमान था। उसके वाद भारत में आने वाले आक्रान्ताओं ने वह साहित्य प्रयत्न पूर्वक नष्ट कर दिया।

आयुर्वेद के आठों अंगों के विभिन्न विद्यालय भी स्थापित हुए थे। काश्यप संहिता में उल्लेख है कि कनखल में कौमार भृत्य विद्यालय था, जिसके आचार्य कश्यप थे। उसी

---

1. चरक, नि० 21/1-3
विद्या वितर्को, विज्ञानं, स्मृतिस्तत्परता क्रिया।
यस्यैतेषड्गुणास्तस्य न साध्यमतिवर्तते ॥—च० सू० 9/19

प्रकार काम्पिल्य में काय चिकित्सा विद्यालय के आचार्य आत्रेय पुनर्वसु तथा काशी में शल्य शास्त्रीय विद्यालय के आचार्य धन्वन्तरि थे।

उस युग के प्राणाचार्यो ने निदान शास्त्र (Etiology) पर जो अनुसंधान किये उसे पांच विभागों में वांट दिया था।

(1) निदान
(2) पूर्वरूप
(3) रूप
(4) उपशय
(5) सम्प्राप्ति

चिकित्सा करते समय रोग ज्ञान ही प्रथम है। रोग ज्ञान हुये विना चिकित्सा नहीं चलती। रोग ज्ञान निदान से ही होता है। इसलिए पहिले रोग जानो।[1]

रोग क्या है? आयुर्वेद का सिद्धांत है कि शरीर का संचालन करने वाले तीन तत्व हैं। वायु, अग्नि, और जल। शरीर पार्थिव है।

और यह सारी क्रिया आकाश में हो रही है। इस प्रकार पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश इन पंच भूतों से ही शरीर का यंत्र चल रहा है। वैदिक दर्शन 'यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे' इस विचार पर स्थिर है। शरीर का चक्र जिस शैली से चल रहा है, सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का चक्र भी ठीक वैसे ही चलता है। एक को समझ लो, दूसरा समझ में आ जायेगा। ठीक इसी भाव को धन्वन्तरि ने प्रस्तुत किया था। चन्द्रमा, सूर्य तथा वायु—अभिषिचन, शोपण और गति द्वारा जिस प्रकार इस जगत् का संचालन कर रहे हैं वैसे ही कफ, पित्त और वात इस शरीर का संचालन करते हैं।[2] यही त्रिदोप का सिद्धान्त है। आयुर्वेद शास्त्र में त्रिदोप को 'धातु' कहा जाता है, क्योंकि वे शरीर को धारण करने वाले हैं।

इन धातुओं का सामंजस्य ही स्वास्थ्य है और विषमता का नाम ही रोग। विषमता दूर कर सामंजस्य स्थापित करना ही आयुर्वेद शास्त्र का प्रयोजन है।[3] शरीर के विकार से मुक्ति पाकर भी दुःख का निवारण नहीं होता। प्रिय के वियोग में विना कुपथ्य भी ज्वर आता है। भय से हृदय रोग होते हैं। यह मन के विकार हैं। मानसिक विकारों द्वारा भी शरीर ही रोगी होता है। इसलिये शरीर के धातु वैषम्य और सूक्ष्म मन के दोषों पर भी आयुर्वेद ने अनुसंधान किये हैं। मन के भी रज, तम और सत्व तीन धातु हैं। इनमें विषमता पर मानसिक रोग होते हैं। किन्तु वे भी शरीर पर ही प्रतिक्रिया करते हैं और हमारी आयु पर आघात करते हैं, इसलिये आयुर्वेद उनकी ओर से मौन नहीं है। मानसिक रोगों के निदान और चिकित्सा भी प्राणाचार्यो ने खोज निकाले।

---

1. रोगमादौपरीक्षेत ततोनन्तर मौषधम्।
   ततः कर्म भिषक् पश्चाज्ज्ञान पूर्वं समाचरेत्। —च० सू० 20।
2. विसर्गादान विक्षेपैः सोम सूर्यानिला यथा।
   धारयन्ति जगद्देहं कफ पित्ता निलास्तथा॥ —सुश्रुत, सू० 2/18
3. 'धातु साम्य क्रिया चोक्ता तन्त्रस्यास्य प्रयोजनम्' —च० सू० 1/25

इस प्रकार आयुर्वेद की विचार धारा में छः धातुओं पर विचार किया जाता है। तीन शरीर के—

(1) वात, पित्त, और कफ।

तीन मन के—

(2) रजस्, तमस् और सत्व।

दोनों क्षेत्रों में वैषम्य दुःख उत्पन्न करता है और दुःख का नाम ही रोग है तथा सुख स्वास्थ अथवा समता का पर्याय है। चिकित्सा का काम यह है कि वह इन में समन्वय स्थापित करें।[1] समन्वय अथवा स्वास्थ्य स्थापित करने के लिये जो प्रयत्न चिकित्सक करता है उसे चिकित्सा कहते हैं। किंतु चिकित्सा वही है जो एक विषमता को हटाकर, दूसरी विषमता का कारण न हो। ज्वर हटाने के लिये वैद्य ने जो प्रयास किया, उससे ज्वर हट गया किंतु अतिसार पैदा हो गया, वह चिकित्सा नहीं हुई।[2] ज्वर हटकर स्वास्थ्य आना चाहिये।

व्याधि के निश्चयात्मक ज्ञान का साधन निदान है। वह पांच प्रकार का है निदान, पूर्वरूप, रूप, उपशय और सम्प्राप्ति। इस प्रसंग में निदान शब्द जाति वाची है क्योंकि भिन्न-भिन्न पांच विभागों में व्यापक धर्म है। किंतु सामता और मन्दाग्नि ज्वर का निदान है। यहाँ विशेषार्थ वाची है, क्योंकि एक विशेष रोग के कारण को बोध करता है। ऐसे स्थल पर निदान का अर्थ 'रोग का कारण' होता है।

(1) असात्म्य इन्द्रियार्थ संयोग (2) प्रज्ञा पराध (3) तथा काल, सम्पूर्ण रोगों की उत्पत्ति का सामान्य निदान है।

(1) असात्म्येन्द्रियार्थ संयोग-इन्द्रियों का अपने विषयों से अयोग, अतियोग अथवा मिथ्या योग ही असात्म्य संयोग है। नेत्र से कभी रूप देखा ही न जाये तो नेत्र विकृत हो जायेंगे। यह अयोग है। नेत्रों के आगे सूर्य की प्रखर ज्योति या और भयानक रूप ही सदा रहे तो भी नेत्र विकृत हो जायेंगे, यह अतियोग है। अधिक सरदी में अति शीतल द्रव्य नेत्रों में लगाये जायें, अधिक गरमी में नेत्रों को और अधिक सेका जाये तो नेत्र विकृत हो जाते हैं। यह मिथ्या योग है।

(2) प्रज्ञापराध बुद्धि विभ्रम या बुद्धि विकार का नाम है। अहित पदार्थ को हित मानकर खा लेने पर रोग हो जाता है। सदाचार मानकर कदाचार में प्रवृत्ति रोग जनक है।

(3) परिणाम का अर्थ काल है। काल का असात्म्य इन्द्रियार्थ संयोग भी रोग का हेतु है। जाड़े की फसल में गर्मी और गर्मी की फसल में जाड़ा हो जाय तो रोग का हेतु है। या जाड़े की फसल में ही इतना जाड़ा पड़े कि वह अतियोग हो जाय तो भी रोग

---

1. विकारोधातु वैषम्यं साम्यं प्रकृतिरुच्यते।
सुख संज्ञकमारोग्यं विकारो दुःख मेव च॥ —च० सू० 9/4
प्रवृत्तिर्धातु साम्यार्था चिकित्सेत्यभिधीयते। —च० सू० 9/5

2. प्रयोगः शमयेद्व्याधिं योऽन्यमन्य मुदीरयेत्,
नासौ विशुद्धः शुद्धस्तु शमयेद्योन कोपयेत्॥ —च० निदान० 8/23

का हेतु है। वर्षा ऋतु में लू चलने लगे यह मिथ्या योग भी रोग का हेतु है।

इस प्रकार सम्पूर्ण रोगों का सामान्य कारण यही त्रिविध हेतु है। सारे रोगों के पृथक-पृथक हेतु भी इन्हीं तीन विभागों के अन्तर्गत समाविष्ट हैं। कोई रोग असात्म्येन्द्रियार्थ संयोग से होता है, कोई प्रज्ञापराध से और कोई परिणाम के असात्म्य से। कोई-कोई दो या तीनों हेतुओं से भी हो सकते हैं।[1]

वात, पित्त, और कफ इन तीन दोषों की प्रतिक्रिया जिन सात चीजों पर होती है वे दूष्य कहे जाते हैं। रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा, तथा शुक्र इन सात दूष्यों पर ही दोषों की प्रतिक्रिया से जो विकार होते हैं उन्हें रोग कहते हैं।

मिथ्या आहार विहार दोषों को उत्तेजित करने वाले होते है। उत्तेजित दोष अपने स्वाभाविक मार्ग से उन्मार्ग में प्रगति करता है, तभी रोग होता है : मिथ्या आहार विहार का नाम ही कुपथ्य है।[2] कुपथ्य ही रोग का निदान होता है। जो आहार विहार एक-दो अथवा तीनों दोषों को उत्तेजित करके शरीर से बाहर नहीं निकालते वे ही कुपथ्य अथवा रोग जनक जानकर त्यागने चाहिये। एक दोष के विकार से उत्पन्न रोग सामान्य, दो से संसर्गज, तीनों से सन्निपातज कहे जाते हैं।

(1) निदान—निदान का अर्थ ऊपर कहा गया है। रोग के निदान में निदान का परिज्ञान इसलिए आवश्यक है ताकि निदान का त्याग किया जा सके। संक्षेप में निदान का त्याग ही चिकित्सा है। अन्यथा स्वाथ्य संभव नहीं।[3]

(2) पूर्वरूप—अव्यक्त रूप में रोगोत्पत्ति का आभास पूर्वरूप है। पूर्वरूप के ज्ञान से भावी व्याधि के निरोधक उपाय कर सकते है। चिकित्सा में कहा है—'ज्वर के पूर्वरूप होते ही लंघन करें।' दूसरी यह बात है कि पूर्वरूप भावी व्याधि के साध्यासाध्य का ज्ञान कराते हैं। किसी रोग के पूर्वरूप अत्यन्त उग्ररूप से प्रकट हों तो समझो कि आने वाला रोग असाध्य है। पूर्वरूप व्याधि की जाति का परिचायक है।[4]

(3) रूप—पूर्व रूप के ही व्यक्त होकर व्याधि के स्वरूप को अभिव्यक्त करने वाले लक्षण 'रूप' कहे जाते हैं। इससे रोग का निश्चयात्मक ज्ञान होता है। सामान्य, संसर्गज अथवा सन्निपातज ? साध्यासाध्य का ज्ञान भी होता है। चरक ने लिखा (च० सू० अ० १०) कि जिस रोग के स्वरूप लक्षण उग्र न हों वह रोग सुखसाध्य है। तथा जिस सन्निपातज व्याधि के स्वरूप लक्षण अत्यन्त उग्र हों वह असाध्य है।

रोग के रूप का स्पष्ट ज्ञान न हो तो व्याधि और उपद्रव का भेद प्रतीत नहीं हो सकता। यह भेद जाने विना चिकित्सा नहीं हो सकती। जिस दोष विकार से ज्वर होता है उसी दोष विकार से सिर दर्द, प्रदाह, वमन और अरुचि आदि उपद्रव भी। उपद्रवों की

---

1. एकोहेतुरनेकस्य तथैकस्यैक एवहि।
   व्याधेरेकस्यचानेको बहूनां बहवोऽपिच। —चर० निदान 6/26
2. यत्किञ्चिद्दोप मुत्क्लेश्यन निर्हरतिकायतः।
   आहार जातं तत्सर्वमहितायोपपद्यते॥ —चर० सू० 26/87
3. संक्षेपतः क्रिया योगो निदान परिवर्जनम्। —सुश्रुत, उत्त० 1
4. व्याधेर्जातिवुभूषाच पूर्वं रूपेण लक्ष्यते। —माधवनिदानव्याख्या

चिकित्सा से रोग नहीं हटता प्रत्युत रोग की चिकित्सा से उपद्रव हट जाते हैं।[1] रोग क्या है और उपद्रव क्या ? वैद्य को इसका विवेक भली प्रकार होना चाहिये। रोग के साम और निराम का परिचय न हो तो चिकित्सा का मार्ग ही नहीं सूझता। इसलिए सामता और निरामता का ज्ञान भी निदान का आवश्यक अंग है।

(4) उपशय--निदान का चिकित्सा के साथ सुखद समन्वय करने की प्रक्रिया को उपशय कहते हैं।

चिकित्सा के तीन प्रकार हैं—(1) हेतुविपरीत (2) व्याधि विपरीत (3) विपर्यस्तार्थकारी। ओषधि, अन्न आहार विहार आदि सभी का चिकित्सा में अन्तर्भाव होता है। देश, काल, लङ्घन, आचार, विचार आदि अद्रव्य भूत प्रयोग भी चरक ने ओषधि के अन्तर्गत ही स्वीकार किये हैं।

1. हेतु विपरीत—कफ ज्वर में पञ्चकोल आदि उष्णवीर्य द्रव्यों का प्रयोग लाभकारी है। इसे दोष विपरीत भी कहते हैं।

2. व्याधि विपरीत--अतीसार में मुस्तक, पाठा आदि स्तम्भन द्रव्यों का प्रयोग। अथवा संग्रहणी में तक्र प्रयोग। विष निवारणार्थ शिरीष का प्रयोग आदि। इन प्रयोगों में दोष का विचार किये बिना व्याधि के विपरीत व्यवस्था होती है। उनमें प्रभाव ही काम करता है।

3. विपर्यस्तार्थकारी—पित्त प्रधान शोथ पर गरम पुल्टिस का प्रयोग। वमन रोगों में वमन कारी मेन फल का प्रयोग। आँच से जल जाने पर आँच से सेंकना। विष खा लेने पर अन्य विष का प्रयोग। इन प्रयोगों में चिकित्सा रोग के प्रतिकूल न होकर भी प्रतिकूल फल देती है। निदान परिज्ञान में चिकित्सक को ध्यान रखना चाहिये कहाँ क्या चिकित्सा की जाये।

(5) सम्प्राप्ति--दोष की इति कर्त्तव्यता का नाम सम्प्राप्ति है। कुपथ्य से उद्रिक्त कफ जिस समय किसी अवयव में अस्वाभाविक प्रगति करता है। उसी प्रगति का नाम सम्प्राप्ति है।

सम्प्राप्ति रोग के तारतम्य की हेतु बनती है। साध्य, कष्टसाध्य या असाध्य। रोग के प्रकार भेद का कारण भी है—आठ ज्वर, बीस प्रमेह, छः अजीर्ण आदि। एकज, संसर्गज अथवा सन्निपातज का भेद भी सम्प्राप्ति से ही होता है। स्थान और स्थानी का अन्तर समझने के लिये भी सम्प्राप्ति को समझना आवश्यक है।

शारीरिक रोगों की ही भांति मानसिक रोग भी होते हैं। उनके लक्षण भी यद्यपि शरीर में ही प्रकट होते हैं। क्योंकि इन्द्रियों का संचालक मन है। आयुर्वेद में प्राणाचार्यों ने मनोवैज्ञानिक निदान और चिकित्सा पर भी आदि काल में ही अनुसंधान किये।[2]

---

1. व्याधेरुपरियो व्याधिर्भवत्युत्तर कालजः।
उपक्रमा विरोधी च स उपद्रव उच्यते॥ —माधव निदान, पं० व्याख्या

2. ऋग्वेद का शिवसंकल्प सूक्त देखिये,
अधिष्ठान द्वयं तेषां शरीरं मन एव च।
मानसोनांच रोगाणां कुर्याच्छारीर वत् क्रियाम्॥ —चरक सं० सू 27।

मन का स्थूल शरीर के साथ समवाय सम्बन्ध है। शरीर के आहाराचार जिस प्रकार शरीर का निर्माण करते हैं। उसी प्रकार वे मन काभी निर्माण करते हैं : छांदोग्य उपनिषद[1] में आहार का विश्लेपण करते हुए कहा गया है जो अन्न हम खाते हैं उसके तीन परिणाम होते हैं, सबसे स्थूल अंश मल (पुरीष) बन जाता है। मध्यम अंश मांस बनता है। और जो सबसे सूक्ष्म अंश है वह मन। इसलिये अशुद्ध और अस्वस्थ आहार-विहार अशुद्ध और अस्वस्थ मन का निर्माण करता है। मन के स्वास्थ्य के लिये आहारा चार की शुद्धि ही मूल उपाय है।

पहिले कहा जा चुका है रज, तम और सत्व मानस दोप हैं। स्वास्थ्य रखने के लिये रजस् और तमस् के आवरण से मन को बचाना चाहिये। और जीवन के बन्धन से छुटने के लिये सत्व से भी। परन्तु आयुर्वेद आयुष्य के ज्ञान पर विचार करता है इसलिये सत्व का त्याग आयुर्वेद शास्त्र ने प्रतिपादन नहीं किया। अन्यथा आयुष्य का आधार-ही समाप्त हो जाये।

निदान-शास्त्र में आगन्तुज व्याधियों का स्थान और अंग भूत विद्या भी है। भूतावेश में विश्वास रखने वाले प्राणाचार्य थे अवश्य, किन्तु आत्रेय ने इस मान्यता का कड़े शब्दों में विरोध किया है। उन्होंने कहा "देवता, गन्धर्व, पिशाच, राक्षस अथवा अन्य भूत योनियां आविष्ट होकर किसी को क्लेश नहीं देते। हमारे बुद्धि विपरीत कर्म ही हमें दु:ख देते हैं। अपने कर्मो पर ध्यान न देकर दूसरों पर आरोप लगाना भी तो प्रज्ञापराध ही है। इसलिये अपने कर्म का संशोधन करो।"[2] हमीं अपने सुख और दुःख के विधाता हैं।[3]

इसके विरुद्ध धन्वन्तरि का विचार यह था कि प्रेत, भूत, पिशाच आदि नीच शक्तियां रोगी पर अधिकार कर लेती है, और उत्तम से उत्तम औषधि के गुणों का नाश कर देती हैं। रोगी औषधि पीता है, परन्तु उसमें गुण नहीं रहता।

मृत्यु का एक यही कारण नहीं किन्तु तीन कारण हैं--(1) चिकित्सा के अनौचित्य से (2) अपने कर्मों के दोष से, तथा (3) जीवन के अनित्य और नश्वर होने से। ग्रहावेश मरणासन्न रोगी को ही होता है।[4] ऐसी दशा में ग्रहावेश निश्चित मृत्यु का

---

1. छान्दोग्य उप० 9।5
"अन्नमशितं त्रेधा विधीयते तस्य यः स्थविष्ठो धातु स्तत्पुरीषं भवति।
यो मध्यमस्तन्मांस योऽणिष्ठस्तन्मनः"।
2. ये भूत विषप्वग्नि संप्रहारादि संभवाः।
नृणामागन्तवोरोगा प्रज्ञा तेष्वपराध्यति॥ --च० सू० 7/21
ईर्ष्याशोक भय क्रोध मान द्वेपादयश्चये।
मनो विकारा स्तेप्युक्ताः सर्वे प्रज्ञा परा धजाः॥ --च० सू० 7/52
3. नैव देवान गन्धर्वान पिशाचाः न राक्षसाः।
न चान्ये स्वयमक्लिष्टमुपक्लिश्यन्ति मानवम्॥
आत्मानमेव मन्येत कर्तारं सुख दुःखयोः॥ ---च० निदान० 7/2024
4. सुश्रुत, सू० 3/130-32

सूचक हुआ। परन्तु मृत्यु के कारण उक्त तीन ही हैं। अत: ग्रहावेश चिकित्सा की विवशता का ही नाम है।

सुश्रुत का विषय शल्य शास्त्र है। इसलिये वात, पित्त और कफ के अतिरिक्त 'रक्त' को भी दोष स्वीकार किया गया है।[1]

जीवन को शक्ति देने वाले तत्वों में वात, पित्त, कफ और रक्त के अतिरिक्त एक तत्व 'ओज' भी स्वीकार किया गया। वह भी सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त है। प्राणशक्ति का मुख्य आधार ओज है।[2] इन तत्वों में जहाँ अवरोध होता है वहीं रोग उत्पन्न होता है।

निदान शास्त्र का एक महत्वपूर्ण विषय और है, वह है—'नाड़ी-विज्ञान'। धन्वन्तरि के स्नायु और धमनी का विस्तृत विवेचन सुश्रुत संहिता के शारीर स्थान में किया गया है।[3] परन्तु निदान का एक आवश्यक अंग मानकर उन्होंने कुछ नहीं कहा। चरक में भी नाड़ी-विज्ञान पर कोई स्वतन्त्र आलोचना नहीं। सुश्रुत ने इतना तो लिखा कि हृदयाश्रित धमनियां प्राण-शक्ति का वहन करती हैं। परन्तु रोग विज्ञान का साधन नाड़ी विज्ञान भी है, यह स्पष्टीकरण करने का प्रयास धन्वन्तरि, चरक या काश्यप संहिताओं में नहीं है। चिकित्सा और निदान की सम्पद् में नाड़ी का उल्लेख भी नहीं। चिकित्सा के चार पाद हैं—1. भिषक् 2. भेषज 3. रोगी, 4. परिचारक। रोगी की नाड़ी शुद्ध और स्वस्थ हो इस प्रकार नाड़ी-विज्ञान पर कोई आग्रह संहिता ग्रन्थों में नहीं है। यदि उस समय नाड़ी-विज्ञान का आविष्कार हो गया होता तो ऐसी वैज्ञानिक खोज को ग्रन्थकार अवश्य लिखते।[4]

रावण का लिखा हुआ 'नाड़ी परीक्षा' ग्रंथ ही इस का छोटा सा किंतु महत्वपूर्ण विवरण है। यह रावण कौन था, जिसने नाड़ी विज्ञान के रहस्य को संसार के सामने रखा यह भी इतिहास के लिये एक प्रश्न है। अधिकांश लोगों का विचार है कि अयोध्या के राम का शत्रु रावण ही इस विज्ञान का लेखक था। रावण, आत्रेय और कश्यप का समकालीन था। रावण वस्तुत: आर्य जाति के एक प्रतिष्ठित वंश का व्यक्ति था जिसमें पुलस्त्य और पुलह जैसे तत्ववेत्ता उत्पन्न हुए थे। जब स्वर्ग में इन्द्र के पास रसायन विज्ञान सीखने अत्रि आदि महर्षि गये थे, पुलस्त्य भी उनके साथ थे। रावण भी अपने पूर्वजों के अनुरूप ही विद्वान था। अपने दुश्चरित्र के कारण वह महर्षि न सही एक वैज्ञानिक तो था ही। रामायण में उसके चरित्र की निन्दा के साथ महर्षि वाल्मीकि ने उसके पांडित्य की प्रशंसा ही की है। ऐसी दशा में यह संभव तो है ही कि नाड़ी विज्ञान का आविष्कार रावण कर सका होगा।

रावण की राजधानी लंका थी, और उसके राज्य की सीमा विन्ध्याचल को छूती थी। वह अपनी राज्य सीमा को हिमालय तक पहुंचाना चाहता था। परन्तु स्वर्ग के इन्द्र

---

1. नर्ते देहः कफादस्ति न पित्तान्न च मारुतात्।
   शोणितादपि वा नित्यं देह एतैस्तु धार्यते॥ —सु० सू० 21/4
2. ओजः सोमात्मकं, स्निग्धं शुक्लं शीतं स्थिरं सरम्।
   विविक्तं मृदु मृत्स्नं च प्राणायतनमुत्तमम्॥ —सु० सू० 15/23
3. सु० शारी० अ० 8-9
4. हृदयाश्रयाः धमन्यः प्राणावहः।—सुश्रुत, शारीर अ० 4/31

उस प्रदेश पर अपना स्वत्व समझते थे। रावण के राज्य और स्वर्ग के वीच की यह भूमि ही नरक का प्रदेश थी जिस पर उत्तराखंड और दक्षिणा-पथ का संग्राम हुआ। स्वर्ग के ऋषि इस प्रदेश में अपनी संस्कृति और सत्ता जमा रहे थे। और रावण के राक्षस उन्हें उखाड़ कर स्वयं जमना चाहते थे। ऋषियों के यज्ञों का विध्वंस, और नरभक्षी सेनायें भेजकर रावण ने स्वर्ग के आर्यों को बहुत सताया, किन्तु ऋषियों की दृढ़ता और सच्चरित्रता के आगे रावण की राजनीति असफल हो गई। उसकी दुश्चरित्रता उसे ले डूबी। यह राजनैतिक दुनियां की वातें हैं। यदि रावण ने नाड़ी-विज्ञान जैसे महत्वपूर्ण तत्व का आविष्कार किया था तो वैज्ञानिकों की कक्षा में उसे स्थान मिलना ही चाहिये।

दक्षिणापथ के पुलस्त्य, पुलह और रावण आदिकालीन वैज्ञानिकों में उल्लेखनीय हैं। परन्तु उत्तराखंड में जिन वैज्ञानिकों ने आयुर्वेद विज्ञान के विकास में अपने जीवन अर्पित कर दिये उनकी सूची वड़ी है।

काश्यप संहिता में उल्लेख है कि एक वार कनखल के विश्वविद्यालय में आचार्य कश्यप के तत्वावधान में वैज्ञानिकों की एक पहली सभा हुई। प्रश्न यह था कि रोग कितने प्रकार के हैं? विवाद प्रारम्भ हुआ।

1. भार्गव प्रमति ने कहा—रोग एक ही प्रकार का है। प्रत्येक दुःख देता है।

2. वार्योविद राजर्षि बोले—रोग दो प्रकार के हैं एक निज और दूसरे आगन्तुक।

3. कंकायन ने आग्रह किया—रोगों को तीन श्रेणियों में रखना चाहिये। साध्य याप्य और असाध्य।

4. कृष्ण भारद्वाज ने प्रस्तावना रक्खी, रोग चार हैं—वातज, पित्तज, कफज और आगन्तुज।

5. दारुवाह राजर्षि का पक्ष था कि रोग पांच हैं—आगन्तुज, वातज, पित्तज, कफज और सान्निपातज।

6. ऋषियों की पत्नियों का भी प्रतिनिधित्व था—उन्होंने समर्थन किया कि रोग छः हैं। क्योंकि रस छः हैं। इसलिये प्रत्येक रस विकार से उत्पन्न छः ही रोग हैं।

7. हिरण्याक्ष ने सप्त रोगों की भूमिका प्रस्तुत की। वात, पित्त, कफ, से तीन। द्वन्द्वज तीन। सन्निपातज एक। इस प्रकार सात रोग होने चाहिये।

8. वैदेह निमि को आठ रोग स्वीकार थे। वात, पित्त, कफ जन्य, द्वन्द जन्य। सान्निपातज और आठवां आगन्तुक।

9. वृद्ध जीवक का दृष्टिकोण था कि रोग असंख्य हैं। सम, हीन, न्यून, अधिक दोषों के असंख्य भेद प्रभेद होते हैं।

विवाद का समाधान होते न देखकर आचार्य कश्यप ने सिद्धांत पक्ष प्रस्तुत किया—रोग दो ही प्रकार के हैं। एक निज रोग जो कुपथ्य से दोष प्रकोप के कारण हैं। दूसरे आगन्तुज जो वाह्य आघात, अभिचार अथवा अभिशाप से उत्पन्न होते हैं।

काश्यप संहिता की ही भांति आत्रेय की शैली भी वैज्ञानिक तत्वों को विद्वानों के वाद विवाद प्रसंग में प्रस्तुत करने की रही थी। वात, पित्त और कफ धातुओं में वात

प्रमुख है। पित्त और कफ मानो पंगु हैं। वायु गतिमान है। इसलिए वायु के द्वारा ही पित्त और कफ गतिमान होते हैं।[1] किन्तु वात की इस महिमा को जब तक प्रमाण और परीक्षणों की कसौटी पर न परख लिया जाय, वह अंतिम सिद्धांत नहीं बन सकता। इसलिये वात के तात्विक ज्ञान के लिये आचार्य आत्रेय ने प्राणाचार्यों की गोष्ठी निमंत्रित की। गोष्ठी का स्थान हिमालय का पार्श्व ही था।

इस वैज्ञानिक गोष्ठी में (1) संकृत्यायन कुश (2) कुमारशिरा भारद्वाज (3) वाल्हीक भिषक् कांकायन (4) वाडिश धामार्गव (5) वार्योविद राजर्षि (6) मारीचि (7) और काप्य। इन प्राणाचार्यों के भाषणों के अनन्तर अंतिम सैद्धांतिक भाषण आचार्य आत्रेय पुनर्वसु का हुआ। काश्यप और आत्रेय दोनों ही विद्वान सुन्दर वाक्पटु, वैज्ञानिक और सुलझे हुए विचारक थे।

काश्यप ने अपने नौ पूर्वपक्षियों का तथा आत्रेय ने उक्त सात प्रतिवादियों का ऐसा सुन्दर समन्वय किया जिसके विरुद्ध एक आवाज़ न उठ सकी। उन जैसी विषय प्रतिपादन की शैली, वाक्पटुता और तत्वदृष्टि बाद के ग्रंथों में फिर न मिली। सुश्रुत में भी सूझ-बूझ कम नहीं। उसमें भी अनुभव, अनुसंधान और तत्व दृष्टि है। पर काश्यप और आत्रेय की शैली ही कुछ और है। लोगों ने कहा अवश्य—'शारीरे सुश्रुतः प्रोक्तश्चरकस्तु चिकित्सते' किन्तु कहने को बहुत रह गया। सच तो यह है कि इन तीनों के अतोल पाण्डित्य और प्रतिभा को तोलने वाले बाट ही नहीं मिलते।

आदिकालीन साहित्य में मनुस्मृति एक ऐसा ग्रंथ है जिसके द्वारा आयुर्वेद की सामाजिक स्थिति पर भी बहुत प्रकाश पड़ता है। अपने उपदेश में आत्रेय ने मनु का उल्लेख किया है।[2] और मनुस्मृति में भी अत्रि, वशिष्ठ, विश्वामित्र, भारद्वाज तथा वामदेव की जीवन घटनाएं लिखी हुई हैं।[3] कुछेक स्थलों पर मनुस्मृति के श्लोक थोड़े ही हेर-फेर के साथ चरक संहिता में मिलते हैं।[4] मनुस्मृति किसी एक मनु की लिखी हुई नहीं है। वह मनुओं की स्मृति में उनके सिद्धान्तों का संकलन करने के लिये पीछे से महर्षि भृगु ने लिखी थी। यह मनुस्मृति में ही लिखा है।[5] महर्षि भृगु और आत्रेय पुनर्वसु

---

1. पित्तं पंगुः कफः पंगुः पंगवो मलधातवः।
   वायुना यत्र नीयन्ते तत्र गच्छन्ति मेघवत्॥
2. चरक० चिकि० 19
3. मनु० 1/34 तथा 10/105-108
4. चतुष्पात्सकलो धर्मः सत्यं चैव कृते युगे।
   नाधर्मेणागमः कश्चिन्मनुष्यान्प्रतिवर्तते॥
   इतरेष्वागमाद्धर्मः पादशस्त्ववरोपितः। —मनु 1/81-82
   ......युगे-युगे धर्मपादः क्रमेणानेन हीयते।
   गुणपादश्च भूतानामेवं लोकः प्रलीयते॥
   संवत्सर शते पूर्णे याति संवत्सरः क्षयम्।
   देहिनामायुषः काले यत्र यन्मानमिष्यते॥ —चर० विमा० 3/28
5. इत्येतन्मानवं शास्त्रं भृगुप्रोक्तं पठन्द्विजः।
   भवत्याचारवान्नित्यं यथेष्टां प्राप्नुयाद्गतिम्॥ —मनु 12/126

के पिता अत्रि समकालीन थे। मनुस्मृति के रचना काल में आविर्भूत कुछ महर्षियों का उल्लेख भी मनुस्मृति में है। उससे यह स्पष्ट है कि उस युगके प्रारंभ काल में सामाजिक और धार्मिक व्यवस्था में भाग लेने वाले सारे ही महर्षि मनु कहे जाते थे। मनुस्मृति के अनुसार मनु एक नहीं, सात थे।[1] दस प्रजापति और सात मनु मिलकर ही राष्ट्र की सामाजिक व्यवस्था का निर्माण करते थे।

सात मनुओं की एक समिति ही सप्तर्षि मंडल के रूप में हमारे इतिहास में प्रसिद्ध है। पूर्वजों ने उनके सम्मान में आकाश के सात नक्षत्रों को उनका प्रतीक बनाकर अमर कर दिया। इन सात मनुओं ने जो धर्म मर्यादा स्थापित कर दी, उनके सिद्धांत मनुस्मृति के रूप में संकलित हुए। संकलन करने वाले दस प्रजापति थे, जिनके नाम मनुस्मृति में दिये गये हैं। ये दसों महर्षि एक ही युग की विभूति हैं। रामायण के पढ़ने वालों से यह छिपा नहीं। महर्षि भृगु भी एक प्रजापति थे जिन्होंने मनुस्मृति का संकलन किया। अनुमान है यह घटना राम से १०० या १५० वर्ष पहले हुई होगी। आयुर्वेद की समुन्नत स्थिति के संबंध में बहुत कुछ परिचय मनुस्मृति से मिलता है।

उस समय चिकित्सा विज्ञान को सुलभ और समुन्नत बनाना राजा का दायित्व था। चिकित्सकों की शिक्षा, तथा चिकित्सा कार्य में नियुक्ति का संपूर्ण भार राजा के ऊपर होता था। प्राणाचार्य की आर्थिक व्यवस्था वही करता था। चिकित्सा के बदले में रोगी से धन या कोई पुरस्कार लेना सर्वथा निषिद्ध था। मनु ने लिखा है कि चिकित्सा के बदले पुरस्कार लेने वाले चिकित्सक के घर भोजन करना पीव चाटना है।[2] चिकित्सा की यह निस्वार्थ व्यवस्था आर्यों के तत्कालीन राष्ट्र जीवन के कितने समुन्नत रूप को प्रस्तुत करती है : तभी तो उस युग की प्रजा राजा को पिता और वैद्य को भगवान के रूप में पूजती रही। उस काल में सबसे महान सम्मान यह था कि दैनिक यज्ञ में उस व्यक्ति के नाम से एक आहुति दी जाय, जिसे सम्मानित करना है।

आत्रेय पुनर्वसु ने शिष्य के उपनयन की विधि लिखते हुए यज्ञ का विधान लिखा है, उसमें धन्वंतरि, प्रजापति, अश्वि, इन्द्र तथा उन ऋषियों के नाम की आहुतियां देने का विधान किया है जिन्होंने इस दिशा में महान कार्य किये हैं।[3] स्वयं मनुस्मृति में बलिवैश्व देव यज्ञ में प्रत्येक गृहस्थ को धन्वंतरि के नाम से एक आहुति अवश्य देने का विधान है।[4] यह उच्चराष्ट्र धर्म अपने इतिहास के प्रति हमारी हार्दिक श्रद्धा का प्रतीक है। इन परम्पराओं में वे महान तत्व हैं जिनके द्वारा आदिकालीन राष्ट्रजीवन की झांकी देखी जा सकती है।

---

1. मनु० 1/34-36
   पतीन्प्रजानामसृजं महर्षीनादितो दश।
   मरीचिमत्र्यंगिरसौ पुलस्त्यं पुलहं क्रतुम्।
   प्राचेतसंवसिष्ठं च भृगुं नारदमेव च।
   एते मनूंस्तु सप्तानसृजं भूरितेजसः॥ —मनु० 1/34-36
2. 'पूयं चिकित्सकस्यान्नम्' —मनु० 4/220
3. चरक, विमान 8/6-5
4. 'विश्वेभ्यश्चैव देवेभ्यो धन्वन्तरय एव च' —मनु० 3/85

यही कारण था कि उस युग में प्रजा के लिए अच्छी से अच्छी चिकित्सा सुलभ थी। पैसा पैदा करने के लिए वैद्य का हृदय रोगी के आर्थिक शोषण की क्षुद्रवासनाओं से कलुषित न था। व्यापार करने वालों के लिए मनुस्मृति का विधान यह है कि वे लोग ओषधि के काम आने वाले द्रव्य—वनस्पतियां, विष, सोम, सुगंधित कर्पूर आदि, दूध, दही, घी, तेल, गुड़ और शहद आदि मुफ्त बांट सकते थे, परन्तु पैसा लेकर बेचना अपराध है।[1] इस व्यवस्था को तोड़ने वाले व्यक्ति के लिए दण्ड का विधान है। व्यापारी इन पदार्थों को बेचें या न बेचें, राजकीय ओषधालयों से यह द्रव्य रोगियों को मुफ्त मिल सकते थे, पैसे से नहीं किसी पदार्थ के विनिमय द्वारा किसी व्यापारी से लिए जा सकते थे। गेहूं देकर दूध ले लीजिए। दाल देकर शहद प्राप्त कर सकते हैं। परन्तु पैसा देकर नहीं।[2]

ओषधि द्रव्यों का उत्पादन भी राजा के हाथ में था। वे बोई जाती थीं, और व्यवस्थित रूप से उनका उत्पादन होता था। जिन वृक्षों के पत्र, पुष्प, अथवा फल ओषधि के काम आते थे, उनकी रक्षा की व्यवस्था भी राजा करता था। ऐसे वृक्षों, लताओं, अथवा बोई हुई ओषधियों को नष्ट करने वाले व्यक्ति दण्डनीय होते थे।[3] मद्य अथवा मद्यसाधित आसवारिष्टों को निर्माण करने और रोगियों को बिना मूल्य वितीर्ण करने की भी पूरी व्यवस्था थी। इतना ही नहीं आयुर्वेद को पूर्ण व्यावहारिक बनाने के विचार से स्वस्थ्य वृत्त के नियमों को मनुस्मृति में धर्म का रूप दिया गया है। किस प्रकार सोना चाहिए? किस प्रकार जागना चाहिए? भोजन कैसा हो? क्या खावे, क्या न खावे? इत्यादि विवेचन मनुस्मृति में विस्तार से लिखे गये हैं।

एक बार महर्षि भृगु से जिज्ञासुओं ने पूछा—'भगवन! वेद शास्त्र के मर्मज्ञ एवं धर्म परायण द्विजों को भी मृत्यु नहीं छोड़ती। इसका क्या कारण है?

भृगु ने उत्तर दिया—वे लोग वेद शास्त्र पढ़ते ही हैं, आलस्य वश उसपर आचरण नहीं करते। आहार-विहार की शुद्धता का उन्हें ध्यान नहीं रहता। इसलिए उन्हें मृत्यु मार डालती है।[1] उन्होंने पृथक चार कारण बताये—

1. वेदों का अनभ्यास
2. सदाचार से न रहना
3. आलसी जीवन
4. दूषित अन्न का भोजन

इतना ही नहीं, एक लम्बा उपदेश भोजन छादन विषय पर ही लिखा गया। और उसमें यह सिद्ध किया गया है कि स्वस्थ्य वृत्त, मूल धर्म है। अस्वस्थता अधर्म मूलक है। चरक ने ग्रंथ का प्रारंभ ही यह कहकर किया "धर्मार्थ काम मोक्षाणामारोग्यं मूल-मुत्तमम्।"

---

1. मनु॰ 10/87-90
2. मनु॰ 10/94
3. मनु॰ 11/142-144
4. अनभ्यासेन वेदानामाचारस्य च वर्जनात्।
   आलस्यादन्नदोषाच्च मृत्युर्विप्राञ्जिघांसति॥ —मनु॰ 5/4

दूध, दही, अन्न, फल, मांस, सिद्धान्न, असिद्धान्न आदि का अच्छा विवेचन आपको मनुस्मृति में मिलेगा।[1] प्राणाचार्यों की संस्कृति में आहार-विहार के विचार में वैदिक विचारों का ही पल्लवन है। ऋग्वेद में कहा गया है "केवलाघो भवति केवलादी"।[2] चूंकि वह व्यवस्था कानून की दृष्टि से लिखी गई है इसलिये उसके उल्लंघन करने वाले व्यक्ति के लिये दण्ड व्यवस्था भी दी गई है।[3]

उस युग में रोगियों के प्रति समाज को नित्य जागरूक रहने की व्यवस्था थी। भोजन से पूर्व प्रत्येक गृहस्थ का कर्त्तव्य होता था कि वह राष्ट्र के असहाय और रोगियों के लिये अन्न का कुछ भाग निकाल कर रक्खे और प्रभु से उनके लिये मंगल कामना करे। प्रत्येक आयुर्वेद संहिता में आहाराचार पर विस्तृत विवेचन है। आत्रेय ने आहार विधि पर आठ वैज्ञानिक नियम बताये हैं--(1) प्रकृति (2) करण (3) संयोग (4) राशि (5) देश (6) काल (7) उपयोग संस्था (8) उपयोक्ता। पाचन संस्थान (Metabolism) पर इससे अच्छा विवेचन मिलना कठिन है।[4]

गृहस्थ के घर में यदि कोई रोगी है तो रोगी के पथ्य भोजन की व्यवस्था पहिले करनी चाहिये और पीछे स्वयं भोजन करना चाहिये।

इसकी अवेहलना करके जो स्वयं भोजन करता है वह भोजन नहीं करता, पाप करता है। पञ्चयज्ञ वस्तुतः सामाजिक अनुष्ठान हैं। वे सामाजिक स्वास्थ्य और संगठन को समृद्ध करने के लिये बनाये गये थे। इनकी अवहेलना करने वाले व्यक्ति अपराधी माने गये हैं, उनके लिये दण्ड व्यवस्था भी है। किंतु रोगी की सेवा करने वाले वैद्य और परिचारक को उससे मुक्ति मिल सकती है। यज्ञों की तुलना में रोगी की सेवा ही अधिक मूल्यवान है।[5] किंतु यदि कोई वैद्य धन के लोभ से यज्ञों की उपेक्षा करता है, तो ऐसे वैद्य का श्राद्ध और तर्पण आदि सारे ही सामाजिक कार्यो से बहिष्कार होना चाहिये। ऐसे दुष्ट चिकित्सक को भोजन कराने वाले व्यक्ति को कल्याण की आशा नहीं करनी चाहिये, प्रत्युत जन्मान्तर में उसे पूय और शोणित भक्षी कीट बनना पड़ेगा।[6]

मनुस्मृति के इन विचारों से हम आदिकालीन प्राणाचार्यों के निःस्वार्थ समाज सेवा का प्रत्यक्ष दर्शन कर सकते हैं। कितना सुखद होगा वह समय जब आयुर्वेद मानव मात्र की इस निस्वार्थ सेवा के अनुष्ठान में तत्पर था? उनके राष्ट्र में सुख अवश्य केन्द्रित हो गया होगा। सुख के केन्द्र का नाम ही तो 'स्वर्ग' है।

धन्वन्तरि ने राजा के लिये एक योग्य वैद्य की नियुक्ति पर बल दिया है। इस

---

1. मनु० 2/52-57 तथा 5/5-25
2. अकेले-अकेले खाने वाला पाप खाता है।
3. अमत्यैतानिषड् जग्ध्वा कृच्छ्रं सान्तपनं चरेत्।
   यति चान्द्रायणं वापि शेषे सूपवसेदहः॥--मनु० 5/20
4. चरक, विमान० 1
5. मनु०, 3/152
6. मनु०, 3/180

प्रसंग पर एक पूरा अध्याय ही लिखा गया है।[1] लङ्का के युद्ध में राम के साथ सुषेण वैद्य का नाम रामायण पढ़ने वालों को अवश्य याद होगा। मूर्छित लक्ष्मण को संजीवनी बूटी उन्होंने ही पिलाई थी। दुःख है अयोध्या के इस राजवैद्य का अधिक विस्तृत परिचय प्राप्त नहीं है। महाभारत, हरिवंश तथा विष्णु पुराणों के आधार पर ज्ञात होता है कि सुषेण परशुराम के सगे बड़े भाई थे। उनके पिता का नाम जमदग्नि और माता का नाम रेणुका लिखा गया है। रेणुका सम्राट् प्रसेनजित की राजकुमारी थी।[2] हम यहाँ इने-गिने कुछ प्राणाचार्यों के नाम लिख रहे है उन अनगिनत प्राणाचार्यों की कथा कौन कह सकता है, जिनके नाम भी इतिहास के अतीत में लुप्त हो गये हैं ?

रामायण काल के बाद महाभारत तक क्या हुआ, यह अन्धकार में है। राम के राज्याभिषेक के उपरान्त ही पश्चिमोत्तर भारत में विद्रोह और अशांति की घटनायें उठने लगी थीं। कालिदास ने गंधार के विद्रोह तथा उस पर भरत के अभियान का उल्लेख रघुवंश में किया है। भरत ने उन्हें परास्त कर पारस्य फिर विजय किया, किंतु प्रतिहिंसा की घटनाओं ने भविष्य को धूमिल कर दिया। राम के जीवन का अंत स्वयं एक अशान्त और करुण कथा है। सरयू की तरंगों की भाषा यदि कोई पढ़ सकता हो तो पढ़े।[3]

आदि काल के बाद आयुर्वेद के वे विशाल सम्मेलन फिर नहीं सुनाई देते। हिमालय की उपत्यकायें सूनी हो गई। कैलास की अधित्यकाओं में आयुर्वेद पर प्रवचन देने वाले आत्रेय और प्रश्नकर्त्ता अग्निवेश फिर न हुए। जंगम और उद्भिद द्रव्यों के विज्ञान का अप्रतर्क्य विकास जहाँ का तहाँ रह गया। धन्वन्तरि, कश्यप, काङ्कायन और वार्योविद की ध्वनि अनन्त में गूँज कर शान्त हो गई। आत्रेय और कश्यप ने धन्वन्तरि के लिये नित्य कर्म में एक आहुति का अनुशासन तो कर दिया, किन्तु आत्रेय और कश्यप के लिये आहुति देने वाले फिर न हुए।

अगदतन्त्र के आचार्य मातंग और आस्तीक के नाम शेष ही रह गये। उनके ग्रंथ और प्रयोग ढूंढ़ने वाले ही न हो सके। कनखल में कौमारभृत्य पर व्यवस्था देने वाली ऋषिपत्नियां किसी युग ने फिर पैदा नहीं कीं। क्या भारत की इस भूमि से वे ऐतिहासिक तत्व फिर से बटोरे नहीं जा सकते ?

---

1. युक्त सेनस्य नृपते परानभिजिगीषतः।
   भिषजा रक्षणं कार्यं यथा तदुपदेक्ष्यते ॥
   स्कन्धावारे च महति राजगेहादनन्तरम्।
   भवेत्सन्निहितो नित्यं सर्वोपकरणान्वितः ॥ —सुश्रुत० सू०, युक्त सेनीयाध्याय 3-12
2. हिन्दी विश्वकोष, भाग 8, पृ० 22।
3. रघुवंश सर्ग 15-16,
   'उपस्थित विमानेन तेन भक्तानुकम्पिना।
   चक्रे त्रिदिव निश्रेणी सरयू रनुयायिनाम् ॥—रघु० 16/100

मध्य-काल

(महाभारत से लेकर बौद्ध-काल प्रारम्भ होने तक)

ऐतिहासिक अनुसन्धानों के आधार पर महाभारत से लेकर भगवान् बुद्ध के आविर्भाव तक ढाई हजार वर्ष का समय निकलता है। यह कहने में शायद कोई अतिशयोक्ति नहीं है कि यह काल भारतीय सामाजिक जीवन का सबसे अशान्त युग है। पारस्परिक वैर और विद्वेष की लपटें महाभारत का भीषण नरसंहार होकर कुरुक्षेत्र में शान्त नहीं हुई, प्रत्युत विश्वव्यापिनी हो गई। और इसी कारण प्रायः समस्त संसार प्रज्वलित हो उठा। पारस्परिक कलह और विदेशीय आक्रमणों ने भारत के सुसंगठित समाज के कलेवर को आहत कर दिया। यही कारण है कि इस युग में अहिंसा तत्व का प्रचार करने वाले अधिकांश जैनधर्म के अनुशासक चौबीस तीर्थंकरों की आवश्यकता पड़ी। ऐसे महापुरुषों के अहिंसात्मक उपदेशों की अमृत वर्षा से भी जब प्रतिहिंसा की आग न बुझी तब विवश होकर, विधाता को भगवान बुद्ध के आविर्भाव की व्यवस्था करनी पड़ी। जैन और बौद्ध धर्म के सदुपदेशों द्वारा भारत की ही क्या, संसार की प्रतिहिंसा परक दावाग्नि शान्त तो हो गई, परन्तु तब तक उसकी प्रचण्ड ज्वालाओं से प्राचीन महर्षियों के संचित किये हुए सैकड़ों वैज्ञानिक तत्व जलकर भस्म हो चुके थे। यही कारण है कि जो चमत्कारिणी वैज्ञानिक सम्पत्ति महाभारत काल तक भारत वर्ष के पास थी वह बौद्ध युग के प्रारम्भ में नहीं रही थी। महाभारत से पूर्व तक आत्मिक शान्ति के लिए वैदिक सिद्धान्तों के आधार पर ब्राह्मण, उपनिषद् और आरण्यक ग्रंथों की रचना हो चुकी थी। और सांसारिक शान्ति के लिए आयुर्वेदिक विज्ञान को महर्षियों ने उन्नति के शिखर तक पहुंचा दिया था। उसके आठों अंगों का पूर्ण विकास हो चुका था। वह एक सर्वाङ्ग पूर्ण विज्ञान था। इसमें सन्देह नहीं कि यदि उसी प्रगति से हम वैज्ञानिक संसार में आगे बढ़े चले जाते तो आज तक प्रकृति के वैज्ञानिक रहस्य का भण्डा फूट जाता और विधाता की सारी रचना चातुरी संसार को पता लग जाती। परन्तु मनुष्य की यही अल्पज्ञता है कि वह अपने सीमित जीवन में प्रकृति की असीम सामग्री भरने की धृष्टता करने लगता है। विद्या और विज्ञान से प्राप्त शान्ति और सुख हमें पर्याप्त न जंचे। हमने दूसरे की चीज पर हाथ बढ़ाया, दूसरे ने हमारी पर। बस, विचारों में संघर्ष हो उठा। हम उनकी छाती पर सवार हुए, वे हमारी गर्दन पर—हमने उन्हें मेटा और उन्होंने हम को। इस प्रकार महाभारत का संग्राम समाप्त हो गया। जिस सौख्य की सामग्री के लिए संघर्ष था, वह तो ज्यों की त्यों पड़ी रही, पर उसके उपयोग करने के लिए हम ही न रहे। बौद्ध युग के महर्षि, महात्मा भर्तृ-

रूस
मंगोल
चीन
वाहीक
(उजबेक)
उशीनर
सुमेरु
उत्तर कुरु
सिमक्यांग
पारस्य
अरब
मद्र
काश्मीर
तिब्बत
त्रिविष्टप
गंधार
तक्षशिला
केकय
सिंधु
इन्द्रप्रस्थ
ब्रह्मावर्त
सौराष्ट्र
अवन्ती
कलिङ्ग
अङ्ग
वङ्ग
मलय
द्रविड
बंग सागर
अरब सागर
लंका
स्याम
हिन्द चीन
प्रशान्त महासागर
नैर्ऋत्य
भारतवर्ष
(महाभारत के बाद)
मेरोपार्श्वेतथोत्तरे । - - - -
लोकोऽयं भारतवर्षं शरावत्यास्तु यो वधेः।
देशः प्राग् दक्षिणः प्राच्यः उदीच्यः पश्चिमोत्तरः।
उत्तराकुरवोराजन्! पुण्याः सिद्धनिषेविता। अमरकोष।
महाभा० भीष्म० ७।२
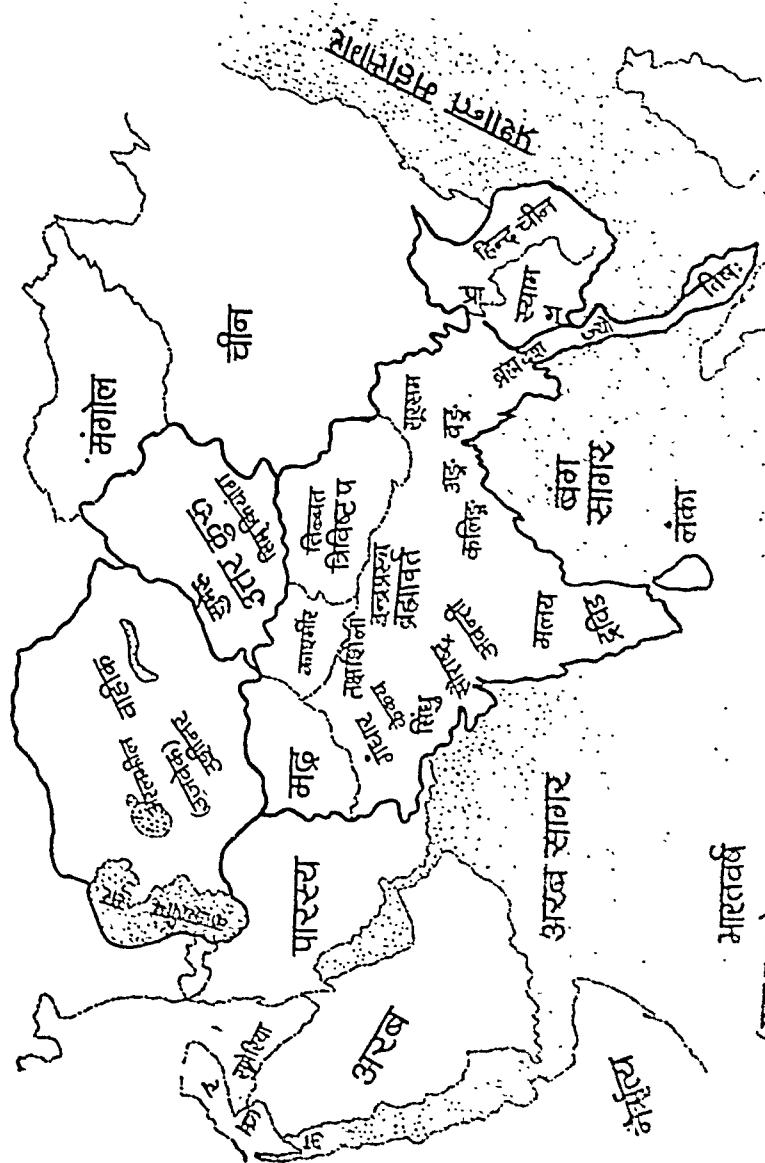
हरि ने कितना सुन्दर कहा है 'भोग और तृष्णा समाप्त न हो पाई, किन्तु हम ही समाप्त हो गये'।[1] सच तो यह है कि महात्मा भर्तृहरि का स्वर्ण वाक्य मध्य युग के वास्तविक स्वरूप का प्रतिविम्ब ही है। उपर्युक्त कारणों से ही इस युग में वैज्ञानिक विचार धारायें बिल्कुल बन्द हो गईं, और दार्शनिक विचारों को परिपोषण प्रदान किया गया। वैदिक एवं जैन दर्शन शास्त्रों का आविष्कार इसी युग में हुआ था। अब शरीर जन्य व्याधियों की ओषधि ढूंढ़ने की चिन्ता नहीं थी, किन्तु मानसिक व्याधि की ओषधियां प्रस्तुत करने की आवश्यकता हो गई थी।

इस प्रकार इस युग में आयुर्वेदिक विषयों पर नवीन तथा मौलिक ग्रंथों का साहित्य निर्माण न हो सका। परन्तु फिर भी यह कहने में अतिशयोक्ति नहीं है कि उस युग के जो बिखरे हुए संस्मरण आज के इतिहासकारों को मिले उनके द्वारा ही संसार आश्चर्यान्वित हो गया है। डाक्टर हर्नल का यह वाक्य उसी भावना का द्योतक है, प्राचीन भारतीय लेखकों के आयुर्वेदिक साहित्य को देखकर मेरी भांति, और लोगों को भी यह बात आश्चर्य में डाल देगी कि ईसा से 600 सौ वर्ष से भी पूर्व अत्यन्त प्राचीन भारतीय विद्वानों ने चीर-फाड़ सम्बन्धी (anatomical) इतना परिपूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लिया था कि वह आज भी आश्चर्यकारी प्रतीत होता है।[2] परन्तु सत्य यह है कि ईसा से 600 वर्ष पूर्व के युग में भारतीय आयुर्वेद के भग्नावशेष ही प्राप्त हो सके होंगे। आज हम जहां से इतिहास का प्रारम्भ काल समझते हैं वहाँ पर समृद्ध भारत का इतिहास समाप्त होता है। सम्राट अशोक और भगवान् बुद्ध ने भारत के इतिहास का नवीन निर्माण नहीं किया, किन्तु प्राचीन भारत के भग्नावशिष्ट इतिहास के प्रासाद को सम्हालने और सुधारने में ही अपने जीवन को कृत-कृत्य किया था। जैन तीर्थंकर, महात्मा बुद्ध तथा सम्राट चन्द्रगुप्त एवं अशोक ने टूटे-फूटे भारतीय गौरव के प्रासाद की दीवारों को सम्हाल-सुधार कर फिर से इस योग्य बनाने का प्रयास किया जिससे प्राचीन शिखरों की उच्चता का अनुमान लगाया जा सके। परन्तु 7वीं ई० शताब्दी तक यहाँ आने वाली मुसलमान तथा अन्य बर्बर जातियों ने उन खण्डित दीवारों को भी भूमिसात् कर दिया। गगन चुम्बी गौरव का प्रासाद गिरकर मानो एक खेटक (खेडा) बन गया। आज उस खेटक के टुकड़े बटोर कर हम शिखर की उच्चता का अनुमान लगाने बैठे हैं। पर सचमुच यदि आप उस

---

1. 'भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्ता-
स्तपो न तप्तं वयमेव तप्ताः।
कालो न यातो वयमेव याताः-
तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णाः॥ —भर्तृहरिः।

2. Probably it will come as a surprise to many, as it did to myself, to discover the amount of anatomical knowledge which is disclosed in the works of the earliest medical writers of India. Its extent and accuracy are surprising, when we allow for their early age probably the sixth centuary before Christ-and their peculior mathod of definition. —*The studies in the medicine of ancient India* by Hoernle

उच्चता को जानना ही चाहते हैं तो हिमालय के उत्तुंग शिखरों से सुशोभित कैलास और धवलगिरि से क्यों नहीं पूछ लेते ?

महाभारत युद्ध के समाप्त हो जाने के बाद भी आयुर्वेद विज्ञान के धुरन्धर विद्वानों की कमी नहीं थी। भीष्म पितामह के बाणों की शैया पर पड़े हुए जर्जर शरीर को भी अच्छा कर देने की क्षमता रखने वाले वैद्य दुर्योधन ने उस समय बुलाये थे। अनेकों ही वैद्य और शल्य शास्त्री अपने-अपने उपकरणों को लेकर एकत्रित हुए। परन्तु भीष्म ने यह कहकर अपनी चिकित्सा कराना स्वीकार न किया कि 'हे राजन! बाणों की शैया प्राप्त कर लेने के बाद योद्धा को चिकित्सा कराना धर्मयुक्त नहीं, उसे तो वहीं मरना और वहीं भस्म हो जाना चाहिये।' यह उत्तर पाकर आये हुए वैद्यों का यथोचित सम्मान करके दुर्योधन ने उन्हें विदा कर दिया।[1] आये हुए उन वैद्यों के नाम लिख सकना तो सम्भव नहीं, परन्तु यह कहने में कोई सन्देह नहीं कि महाभारत समाप्त हो जाने के बाद भी शल्य तथा काय चिकित्सा के पर्याप्त उद्भट विद्वान विद्यमान थे। उसी प्रकार अगदतन्त्र का विज्ञान भी महाभारत के बाद तक पूर्ण रूप से उन्नत अवस्था में विद्यमान था। महाभारत के बाद युधिष्ठिर राजसिंहासन पर बैठे। कुछ काल राज्य करने के अनन्तर वानप्रस्थी होकर अवशिष्ट जीवन स्वर्ग में रहने की इच्छा से हिमालय पर चले गये। राजसिंहासन महाराज परीक्षित को मिला। परीक्षित ने एक बार शिकार के लिये वन में पहुंच कर एक हिरण का पीछा किया। हिरण तेजी से भागा और ओझल हो गया। परीक्षित उसके पीछे-पीछे ढूंढते हुए आये। एक स्थान पर शमीक ऋषि ध्यान मग्न बैठे दिखाई दिये। परीक्षित ने उनसे हिरण का मार्ग पूछा। शमीक ने ध्यान मग्न होने के कारण कुछ उत्तर न दिया। राजा ने अपना तिरस्कार समझा, और क्रोध से भर गये। क्रोध में उन्होंने और तो कुछ न किया, पास में ही पड़ा हुआ एक मरा हुआ सांप धनुष की नोंक से उठाकर तपस्वी शमीक के गले में डाल दिया। सांप डाल कर राजा चले गये। थोड़ी ही देर बाद शमीक के पुत्र शृंगी ऋषि ने आकर अपने पिता के गले में मरा हुआ सांप लिपटा देखा, वे अत्यन्त क्रुद्ध होकर बोले—'जिस धृष्ठ ने मेरे पिता के गले में यह सांप डाला है, उस पापी को आज से सातवें दिन महाविषधर तक्षक नाग डस लेगा।' क्रुद्ध शृंगी ऋषि इस प्रकार अभिशाप दे ही रहे थे कि उनके पिता महर्षि शमीक की समाधि खुल गई। उन्होंने पुत्र को अभिशाप देते हुए देखा तो बड़े दुःखी हुए। परन्तु अब क्या था, शृंगी को जो कहना था, कह चुके। शमीक ने यह हाल अपने

---

1. उपातिष्ठन्नथो वैद्याः शल्योद्धरण कोविदाः।
सर्वोपकरणैर्युक्ता कुशलाः साधु शिक्षिताः।
तान् दृष्ट्वा जान्हवी पुत्रः प्रोवाच तनयं तव।
धनं दत्वा विसृज्यन्तां पूजयित्वा चिकित्सकाः॥
नैष धर्मो महीपालाः शरतल्प गतस्य मे।
एभिरेव शरैश्चाहं दग्धव्योऽस्मि नराधिपाः॥
तच्छ्रुत्वा वचनं तस्य पुत्रो दुर्योधन स्तव।
वैद्यान् विसर्जयामास पूजयित्वा यथार्हतः॥ —महा० भीष्म पर्व, अ० 121

एक शिष्य द्वारा राजा के पास भेज दिया। राजा ने सुना तो सन्ताप और भय से व्याकुल हो उठे। पर आखिर राजा ही ठहरे। तक्षक से बचने के उपाय ढूंढे गये। जल के बीच एक स्तम्भ के ऊपर राजा का निवास स्थान बनाया गया। चारों ओर कड़ा पहरा बैठाकर राजा के पास तक पहुंचने के सारे मार्ग रोक दिये गये। इस प्रकार छः दिन बीतगये।

राजा की इस विपत्ति का समाचार चारों ओर फैल गया। एक निर्धन ब्राह्मण जिनका नाम कश्यप था, अपने घर से यह निश्चय करके चले कि आज जब तक्षक राजा को डसेगा तब मैं अपने मंत्र और ओषधि बल से उन्हें जीवित करूंगा। और इस उपकार के बदले बहुत-सा अभीष्ट धन लेकर घर लौटूंगा। इधर कश्यप राजा को जिलाने के लिये चले, और उधर तक्षक नाग राजा को डसने के लिये चला। मार्ग में आते हुए दोनों एक जगह मिल गये। नर देहधारी तक्षक ने ब्राह्मण कश्यप से पूछा—'तुम कौन हो, और किस काम के लिये इतनी शीघ्रता से जा रहे हो?' कश्यप ने कहा—'मेरा नाम कश्यप है। सुना है आज राजा परीक्षित को तक्षक नाग डसेगा—मैं राजा को अपने ओषधि और मन्त्र बल से जीवित करूंगा।' तक्षक बोला—'तो कश्यप, वह तक्षक नाग तो मैं ही हूं। मेरे डसे हुए को तुम अच्छा नहीं कर सकते। इसलिये उचित हो, कि तुम यहीं से अपने घर लौट जाओ।' कश्यप ने कहा—'मुझे विश्वास है कि चाहे कैसा भी विष क्यों न हो, मैं उसे अवश्य दूर कर सकता हूं, और निश्चय ही राजा को जिला देने में सफल होऊंगा।'

तक्षक—'अच्छा यदि मेरे डसे हुए को तुम जिला सकते हो तो देखो मैं एक वृक्ष को अपने विष से भस्म करता हूं, तुम इसे जिला दो,—तब देखें कि तुम्हारा मन्त्र बल कितना है।

कश्यप—'तक्षक, अगर इतनी ही बात है, तो तुम इस बरगद के वृक्ष को जलाओ और मैं उसे हरा-भरा करता हूं।'

तक्षक ने यह सुनते ही बरगद के वृक्ष को डस लिया। डसते ही विष के प्रचण्ड उत्ताप से बरगद का वह विशाल वृक्ष जल उठा, और क्षण भर में राख का ढेर हो गया। वृक्ष को इस प्रकार भस्म करके तक्षक ने कश्यप से कहा—'कश्यप, अब आप अपना ओषधि और मन्त्र बल दिखाइये, और इस बरगद को हरा कर दीजिये।' कश्यप ने यह सुनकर राख को एक जगह इकट्ठा किया और अपनी विद्या के बल से देखते ही देखते वृक्ष को हरा-भरा कर दिया,—बरगद का वृक्ष फिर ज्यों का त्यों लहलहाने लगा। कश्यप का विद्या बल देखकर तक्षक के आश्चर्य की सीमा न रही। तक्षक समझ गया कि कश्यप के सामने मेरे विष का प्रभाव कुछ न कर सकेगा। यह सोचकर तक्षक ने कहा 'कश्यप! यह तो सत्य है कि तुम्हारी विद्या में बड़ा बल है। मैं तुम से हार गया। परन्तु यह तो बताओ कि तुम किस वस्तु की इच्छा से राजा को जीवित करने जा रहे हो? यदि आपकी यह इच्छा यहीं पूरी हो जाय तो आपको वहां तक जाने के कष्ट से मुक्ति मिल सकती है। महर्षि के अभिशाप से राजा का जीवन तो असम्भव है।' कश्यप ने अपना अभिप्राय कह दिया—और तक्षक ने यथेच्छ धन उन्हें दे दिया। कश्यप राजा को [illegible] जान लौट गये, और सायंकाल राजा के पास अनेक सिद्ध वैद्यों के रहते हुए भी तक्षक ने

विष से ही महाराजा परीक्षित की जीवन-लीला समाप्त हो गई।[1] इस एक ही उपाख्यान से हम यह स्पष्ट जान सकते हैं कि महाभारत के बहुत पीछे तक भी आयुर्वेद का 'अगद तन्त्र' एक उन्नत और समृद्ध विज्ञान था।

आयुर्वेद के अन्य विभाग भी इस युग में विज्ञान की दृष्टि से जीवित थे, चाहे साहित्य की दृष्टि से न रहे हों, इसमें सन्देह नहीं। कालिदास ने कौमार भृत्य शास्त्रज्ञ वैद्यों का स्पष्ट उल्लेख किया है। प्रसूतिका गृह की व्यवस्था का भी उल्लेख है।[2] कालिदास के वर्णन से प्रतीत होता है उनके पहिले तक अष्टांग आयुर्वेद के प्रत्येक विभाग के पारंगामी वैद्य अलग-अलग होते थे और समाज में उनकी पूर्ण व्यावहारिक उपयोगिता थी। यह भी निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि आयुर्वेद को उन्नत बनाने के लिए एक-एक अंग में विशेषज्ञ होने की परिपाटी ही समाज को अभीष्ट थी। कहना नहीं होगा कि कालिदास के इस वर्णन में मध्यकालीन आयुर्वेदिक अवस्था का सुन्दर प्रतिविम्व देखा जा सकता है। स्वयं भगवान बुद्ध के चिकित्सक कुमार भर्तृ जीवक एक आदर्श और विद्वान चिकित्सक थे। उनके वर्णन को पढ़ने से पता लगेगा कि वे कितने उच्च-कोटि के चिकित्सक (Physician) और शल्य शास्त्री (Surgeon) थे। उज्जैन के सम्राट प्रद्योत का दुस्साध्य पाण्डु रोग नासिका द्वारा घृत प्रयोग से नष्ट करना तथा मगध के सम्राट विम्वसार के भीषण भगन्दर को एक ही लेप से खो देना उनके सफल चिकित्सक होने का जितना असन्दिग्ध प्रतिपादक है, उससे भी अधिक राजगृह के प्रधान श्रेष्ठी के सात वर्ष पुराने भीषण शिरःशूल को नष्ट करने के लिये कपाल भेदन करके कीड़े निकाल देना और फिर उसे जोड़कर चंगा कर देना उनकी शल्य शक्ति का प्रत्यायक है।

तक्षशिला रामायण काल में केकय देश का एक समृद्ध नगर था। केकय देश के सम्राट् अश्वपति, भरत के मामा और दशरथ के साले थे, कैकेयी के भाई युधाजित् यही थे। अश्व सेना में प्रवल होने से उन्हें अश्वपति युधाजित् कहा जाता था।[3] युधाजित ने अयोध्यापति राम और भरत की अनुमति से, जिसका सम्राट् भरत के पुत्र तक्ष को बनाया था, वही तक्षशिला हजारों वर्षों के बाद इस मध्य युग में भी जगत् प्रसिद्ध हो रही थी। इतना ही नहीं उस काल में वह राजनैतिक दृष्टि से महत्व पूर्ण थी, परन्तु इस युग में तो उसका यश सांस्कृतिक और साहित्यिक दृष्टि से ही विश्वविख्यात हुआ था। रामायण काल में जो स्थान काशी को प्राप्त था इस काल में वही गौरव तक्षशिला की सम्पत्ति बना हुआ था। सुश्रुत, आत्रेय और कश्यप के उल्लेखों से यह प्रकट होता है कि आदि काल में गान्धार, वाल्हीक तथा तिव्वत तक के लोग काशी में आयुर्वेद अध्ययन के लिये आया करते थे। परन्तु इस काल में संस्कृति और विद्या का कोष काशी से उठकर तक्षशिला में आ गया था। बुद्ध भगवान् के समकालीन काशी के युवराज ब्रह्मदत्त काशी

---

1. महाभारत, आदिपर्व, अध्याय 40-43।
2. 'कुमार भृत्या कुशलै रनुष्ठिते, भिषग्भिराप्तैरथ गर्भ कर्मणि'।
'अरिष्ट शैय्या परितोविसारिणः''—कालिदास, रघुवंश सर्ग 3/12-15
3. रामा० अयो० कां० सर्ग 1/2

छोड़कर तक्षशिला में ही अध्ययनार्थ आये थे।[1] मगध देशवासी कुमार भर्तृजीवक ने भी अपनी निकट वर्तिनी काशी को छोड़कर तक्षशिला में ही आकर विद्याध्ययन किया था।[2] इतिहास के असन्दिग्ध प्रमाणों से यह स्पष्ट है कि उस युग में एक जग प्रसिद्ध विश्व-विद्यालय तक्षशिला में था, जिसमें आयुर्वेद के आठों विभागों की शिक्षा के लिये बहुत विशाल आयोजन विद्यमान था। भारत के ही नहीं किन्तु विश्वभर के लिये विद्या और विज्ञान का केन्द्र उस युग में तक्षशिला का वह विख्यात विश्वविद्यालय ही बना हुआ था। भिक्षु आत्रेय उसके प्रधान आचार्य थे।

पुरातत्व विभाग की खुदाई में भू गर्भ से तक्षशिला के प्रान्त में तीन विशाल आवासों के चिन्ह निकले हैं। ऐतिहासिकों का निश्चित विश्वास यह है कि उनमें से दक्षिण भाग के आवास का नाम अभी तक 'विर्माडिण्ड' जाना जा सका है, वह ईसा से 1000 से लेकर 1200 वर्ष पूर्व एक प्रसिद्ध और सम्पन्न स्थान था। बुद्ध भगवान से पूर्व वाले आचार्य पाणिनि ने भी तक्षशिला का उल्लेख किया है।[3] रामायण काल में भी तक्षशिला की समृद्धि का उल्लेख है।[4] इन सब सम्बद्ध प्रमाणों द्वारा यह स्पष्ट ही स्वीकार करना पड़ेगा कि मध्य कालीन युग में तक्षशिला ने आयुर्वेद की बड़ी सेवा की है। वैज्ञानिक पद्धति के अनुसार आयुर्वेदिक शिक्षा की जो सुन्दर व्यवस्था वहां थी, वह एक ही घटना से भली प्रकार समझी जा सकती है। 'तक्षशिला के विश्वविद्यालय में सात वर्ष आयुर्वेद की शिक्षा प्राप्त करने के पश्चात् गुरुवर भिक्षु आत्रेय ने जीवक की परीक्षा ली। एक खुरपी (खनित्र) देकर आचार्य ने जीवक से कहा—वत्स, जाओ-तक्षशिला के चारों ओर की भूमि और जंगल में जो चीज ओषधि न हो, वह खोद लाओ'। जीवक चला, सारे दिन घूमकर सायंकाल खाली हाथ ही लौट आया, और गुरु से बोला—'गुरुवर, मुझे कोई भी वस्तु ऐसी न मिली जो ओषधि नहीं है—क्या आप इसमें आयुर्वेद की तत्कालीन वैज्ञानिक शिक्षा का गाम्भीर्य नहीं देखते ?

325 ई० पूर्व यूनान के बादशाह सिकन्दर ने भारत पर सिन्ध नदी की ओर से हमला किया। उस समय तक्षशिला के सम्राट् आम्भी ने अपने पड़ोसी मध्य पंजाब के राजा,पोरस को परास्त करने के लिये सिकन्दर का धूमधाम से स्वागत और सहयोग करके तक्षशिला के उस प्राचीन निर्मल यश को सदैव के लिये कलंकित कर दिया। इसके पश्चात् तक्षशिला विद्या और विज्ञान के स्थान पर चन्द्रगुप्त और चाणक्य की नीति का केन्द्र बन गई।[5]

इस प्रकार महा भारत के पश्चात् से लेकर बौद्ध काल के आदि तक उपक्रम और उपसंहार में हम देखते हैं कि आयुर्वेद अपने गौरव के उच्च आसन पर ही सुशोभित था। फलतः बीच के समय में भी आयुर्वेद की उन्नत अवस्था का अनुमान लगाया जाना सरल

---

1. महावग्ग,
2. Tibetan Tales P 75-109
3. सिन्धु तक्षशिलादिभ्योऽणञौ ॥ —अष्टाध्यायी 4/3/93
4. रामायण, उत्तरकाण्ड स० 114,201
5. बौद्ध कालीन भारत का इतिहास अध्याय 5 पृ० 112-118

है। परन्तु इतना अवश्य मानना पड़ेगा कि आयुर्वेदिक ग्रन्थ निर्माण की दृष्टि से यह युग आदि कालीन युग से पिछड़ गया था। इस युग में राजनैतिक दृष्टि से बड़े-बड़े महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए। फलतः धार्मिक और सामाजिक अवस्थाओं पर भी उनका बड़ा प्रभाव पड़ा। शक, हूण, यवन तथा पारसीक आदि पश्चिम की विद्रोही जातियों ने बड़े-बड़े भीषण हमले करके देश की जमी जमाई सामाजिक व्यवस्था को छिन्न-भिन्न कर डाला। पश्चिम से आने वाली जातियां आर्यों जैसी सभ्य और संस्कृत थीं नहीं, इसलिये उन्होंने अपने आक्रमणों में साहित्य और शिक्षा की सुरक्षा का कुछ भी ध्यान नहीं रक्खा। वस्तुतः उन जातियों को भारत पर आक्रमण करने के लिये साहित्य और विज्ञान के प्रेम ने प्रेरित नहीं किया था, किन्तु भारतीयों के विज्ञान और पौरुष से संचित की हुई सम्पत्ति के लालच ने उन्हें वैसा करने के लिये प्रोत्साहित किया था। इसीलिये आक्रमण कारियों ने भारत की सम्पत्ति को ही लूटा। विज्ञान एवं साहित्य को नष्ट कर दिया। यह प्राकृतिक नियम तो आर्यों जैसी शिक्षित और सभ्य जाति ही समझ सकती थी कि सम्पत्ति विज्ञान की ही संगिनी है। विज्ञान शून्य संसार में सम्पत्ति रह नहीं सकती। फल यह हुआ कि सम्पत्ति भारत से लुट कर विज्ञान शून्य उन असभ्य जातियों में भी न टिक सकी प्रत्युत विज्ञान की खोज में विभिन्न देशों की ओर निकल भागी। वह जहां कहीं गई हो, सम्पत्ति चली जाने का अर्थ तो यही है कि भारत विज्ञान की अपेक्षा विलासिता अथवा युद्ध का उपासक होता जा रहा था। यद्यपि अभी तक आर्यों के स्वर्ग का साम्राज्य विद्यमान था और उसका कला-कौशल भी। अर्जुन शस्त्र विद्या सीखने स्वर्ग में इन्द्र के पास गया ही था। 'महाभारत का युद्ध समाप्त करके तथा राज सिंहासन के सम्राट् बनने के 36 वर्ष उपरान्त पाण्डवों ने स्वर्ग की ही शरण लेनी चाही थी। परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि स्वर्ग में भी देव, नाग और यक्षों में गृह कलह इतना बढ़ गया था कि इन्द्र की संगठित शक्ति छिन्न-भिन्न हो गई। अपने तिरस्कारों का बदला लेने के लिये नाग लोग देवों पर हावी हो गये। देवों के पूज्य ब्रह्मदेव और विष्णु भगवान का गौरव पीछे पड़ गया और नाग वंशी भगवान शिव शंकर देवों से भी बढ़कर 'महादेव' बना दिये गये। यही कारण है कि महाभारत से प्राचीन ग्रन्थों में शिव की वैसी पूजा नहीं मिलती जैसी मध्य युग और उसके बाद रचे गये साहित्य में मिलती है। स्वर्ग के इस गृह कलह का फल यह हुआ कि स्वर्ग के सीमान्त पर बसी हुई शक, हूण, और तुषार आदि जातियां मौका पाकर स्वर्ग पर हमले करने लगीं।

नाग लोगों ने अपनी सत्ता चारों ओर फैलाई। अब तो हिमालय और विन्ध्याचल के मध्य की नरक भूमि भी स्वर्ग से टक्कर लेने को तैयार हो गई थी। जिस नरक में दण्डित के रूप में लोग स्वर्ग से पतित किये जाते थे, उसी नरक के वैभव को स्वर्ग की लक्ष्मी ललचाई हुई दृष्टि से देखने लगी थी। नागों ने नरक में भी अपना स्वत्व जमा लिया। कैलाश, नन्दनवन, और अलकापुरी का वैभव वहां से ढो-ढो कर नरक में भर दिया गया। और इस प्रकार नरक एक प्रकार से स्वर्ग ही बन चुका था। शायद नागों ने ही इस निम्न प्रदेश का तिरस्कार पूर्ण नरक नाम हटाकर 'आर्यावर्त्त' नाम घोषित किया था। अब स्वर्ग और नरक का कोई भेद न रहा। विदेशियों ने भी हिमालय को

नाग शासकों ने नन्दी वृषभ को पराक्रम
का प्रतीक बना दिया था (300 ई. पूर्व)

खाली देखकर आक्रमणों की प्रगति हिमाद्रि और विन्ध्याचल के मध्य के प्रान्तों पर ही अधिक बढ़ा दी। वे यद्यपि आर्यावर्त्त की शान्ति और व्यवस्था में विघ्न तो करते ही रहे, पर नागों की वीरता और कला प्रेम के आगे उन की एक न चली। वायु पुराण में नाग जाति के गौरव का पर्याप्त वर्णन उपलब्ध होता है। श्री काशी प्रसाद जायसवाल महोदय ने नाग जाति के सम्बन्ध में जो महत्वपूर्ण ऐतिहासिक खोज की है, वह देखने योग्य है।[1] नाग जाति के उन्नत शासन को बीच-बीच में यदि कुषाणों, शकों और हूणों ने व्याघात न पहुंचाया होता तो इसमें सन्देह नहीं कि मध्य काल के बड़े भाग से लेकर ईसा की 6 ठी शताब्दि तक नाग लोगों का गौरव पूर्ण इतिहास बन सकता था, इतना होने पर भी नागों के गौरव पूर्ण संस्मरण बहुत मिलते है।[2] आदि काल में भारत वर्ष के समस्त वैभव और राजनीति का केन्द्र भारत के पश्चिमोत्तर में गांधार से लेकर इन्द्रप्रस्थ तक था। परन्तु पश्चिमोत्तर दिशाओं से लगातार होने वाले आक्रमणों का फल यह हुआ कि मध्यकाल समाप्त होने तक भारत की विभूतियां पश्चिमोत्तर से हटकर भारत के पूर्व मध्य में आ गई थीं। महाभारत के पश्चात् मध्यकाल में प्राय: 2272 वर्ष तक इन्द्रप्रस्थ के शासकों की प्रभुता किसी न किसी रूप में बनी रही। परन्तु मध्यकाल के उपसंहार में मगध के शासक ही इन्द्रप्रस्थ पर शासन कर रहे थे।[3]

नीति शास्त्र विशारदों का 'शस्त्रेण रक्षिते राज्ये शास्त्रचिन्ता प्रवर्त्तते' का सिद्धान्त एक अटल सत्य है। जब गर्दन पर तलवार तुली हो तब विज्ञान नहीं सूझता। उस समय नश्वर शरीर हेय हो जाता है, और आत्मा तथा परमात्मा के अविनाशी प्रेम का ही अवलम्बन करना पड़ता है। क्योंकि वह तलवार की चोट से बाहर की वस्तु है। विदेशियों तथा स्वदेशियों के पारस्परिक कलह के इस काल में दो ही बातों की आवश्यकता हुई। पहली आत्म निष्ठा और दूसरी समाज व्यवस्था। इसी कारण इस युग में जो साहित्य बना उसके दो ही भाग हैं—

(1) दर्शन सूत्र। (2) स्मृति तथा गृह्य सूत्र।

भारतीय भाषा और संस्कृति की दृष्टि से केवल यही साहित्य इस युग की उपज है। विदेशीय हूण और शक आदि जातियों ने भारतीय देववाणी का बहिष्कार कर दिया। पाली तथा प्राकृत आदि विभिन्न भाषाओं का प्रचार किया जाने लगा। समाज को देववाणी से पराङ्मुख कर देने के कारण उस भाषा में लिखे हुए प्राचीन ग्रंथों को सर्वसाधारण लोग समझने में असमर्थ हो गये। वैदिक संस्कृति के इने-गिने भक्त ही अब देवगिरा में लिख और बोल सकने योग्य रह गये। इसका भी यह परिणाम हुआ कि प्राचीन साहित्य की शृंखला टूट गई। विद्वानों को इतनी भी निश्चिन्तता नहीं थी कि वे किसी विषय पर विस्तार से लिख सकें। यही कारण प्रतीत होता है जो इस युग में किसी बात को कहने के लिए संक्षिप्त से संक्षिप्त सूत्र शैली का अनुसरण करना पड़ा। धार्मिक जगत में सार्वभौ

---

1. History of India, p. 150-350.
2. 'गुप्त साम्राज्य का इतिहास' श्री वासुदेव उपाध्याय लिखित. पृ० 14
3. आर्य समाज के प्रवर्त्तक आचार्य दयानन्द सरस्वती जी की दी हुई विस्तृत व्याख्या सत्यार्थ प्रकाश से देखिये। —सत्यार्थ० समु० 11, आर्यावर्त्तदेशीय राजवंशावली

और जैन आदि नास्तिक तथा राजनैतिक जगत् में हूण एवं शकादि जातियों ने आर्यो की प्रशान्त समाधि भंग कर दी। एक ओर शास्त्रार्थ और दूसरी ओर शस्त्रार्थ की चिन्ताओं ने साहित्य प्रणयन का काम बन्द कर दिया। फिर भी आयुर्वेद की चर्चा तो बनी ही रही न्याय दर्शन में आयुर्वेद की प्रत्यक्ष प्रामाणिकता का उल्लेख है। योग दर्शन तो अधिकांश शरीर के सूक्ष्म विज्ञान पर ही निर्भर हैं।[1] वेदान्त और मीमांसा में ब्रह्मज्ञान एवं यज्ञ-याग का विषय, विज्ञान का ही विषय है। यज्ञ में ओषधियों का हव्य प्रतिपादन करने का प्रधान तात्पर्य ही यह है कि अधिक से अधिक जनता को स्वास्थ्य सम्पादन करने का अवसर दिया जाय। गृह्यसूत्रों में घरेलू स्वास्थ्य और सुख के उपाय प्रतिपादन करने के अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं। इस युग के उपसंहार में कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में संग्राम सम्बन्धी विवरण लिखते हुए सेना के पीछे यन्त्र, शस्त्र, ओषधि तथा तैल आदि चिकित्सोपयोगी साधनों सहित वैद्यों का रहना आवश्यक लिखा है।[2] इन सम्पूर्ण संस्मरणों के आधार पर यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि चाहे आदिकाल की भांति इस समय में मौलिक अनुसंधानों की ओर विद्वानों का ध्यान भले ही न रहा हो, परन्तु प्राचीन अनुसन्धानों के क्रियात्मक चमत्कारों द्वारा आयुर्वेदशास्त्र तब भी संसार की सेवा गौरव के साथ कर रहा था।

रामायण कालीन आदिकाल में छान्दोग्य और बृहदारण्यक उपनिषदों की रचना हुई थी। क्योंकि उनमें जनक वैदेह और याज्ञवल्क्य आदि के सम्वाद लिखे गये हैं।[3] जिस समय विदेह में याज्ञवल्क्य के सहयोग से अनेक आध्यात्मिक विचार संग्रह किये जा रहे थे, उसी समय पाञ्चाल (आज कल फर्रुखाबाद, इटावा मैनपुरी, एटा, बरेली और कानपुर आदि का प्रदेश) देश में काम्पिल्य राजधानी के अन्तर्गत महाराज 'प्रावाहण जैवलि' के तत्वाधान में श्वेत केतु आरुणि तथा आत्रेय पुनर्वसु ने उन्हीं विचारों को परिपुष्ट किया था।[4] इसी समय उत्तर कोसल की राजधानी अयोध्या में महर्षि वशिष्ठ दशरथ और रामचन्द्र के उपदेष्टा बनकर उन्हीं विचारों को संकलित कर रहे थे जिन विचारों को कन्नौज और नैमिषारण्य में महर्षि विश्वामित्र ने पल्लवित किया था। ये महापुरुष केवल जीव ब्रह्म की ही बातें नहीं करते थे किन्तु धुरन्धर विज्ञान वेत्ता भी थे। आयुर्वेद के लिये उन सब ने चिरस्मरणीय कार्य किया है, यह बिखरे हुए उद्धरणों से हम सहज जी जान सकते हैं।

---

1. 'आयुर्वेद प्रामाण्य वच्च तत्प्रामाण्यं आप्त प्रामाण्यात्'—न्यायदर्शन
   'कण्ठ संयमात् क्षुत्पिपास निरोधः'—योग दर्शन
2. चिकित्सका शस्त्र यन्त्रागदस्नेहवस्त्र हस्ताः स्त्रियश्चान्नपान रक्षिण्यः पृष्ठतोनुगच्छेयुः'—कौटिल्य शास्त्र अधिकरण 10
3. बृहदा० उप० ल० 4 (Sanskrit-Engilsh Dictionary by V. S. Apte M. A. 1912)
4. 'श्वेत केतुर्हवा आरुणेयः पाञ्चालानां परिषदमाजगाम। स आजगाम जैवलिं प्रावाहणं परिचारयमाणम्—बृहदा० उप० अ० 6/2
   'जनपद मण्डले पाञ्चाल क्षेत्रे द्विजातिवराध्युषिते काम्पिल्य राजधान्यां भगवान पुनर्वसु रात्रेयोऽन्तेवासिगण परिवृतः पश्चिमे धर्ममासे गंगातीरे वनविचार मनुविचरन् शिष्यमग्निवेशमब्रवीत्"
   —चरक० सं०, विमान० 3/3

अधिकांश इन्हीं महापुरुषों के विचार मध्यकाल में गृह्य सूत्रों की रचना द्वारा गृहोपयोगी परिचर्या में संग्रहीत किये गये थे।[1] आयुर्वेद के शारीर स्थान में वर्णित गर्भाधान, गर्भ, प्रसव आदि के सम्बन्ध में उल्लिखित विचार गृह्यसूत्रों में ज्यों के त्यों मिलते हैं। कभी-कभी उनमें आध्यात्मिक विचारों की पुट दे दी गई है। धन्वन्तरि और आत्रेय के सिद्धांत ज्यों के त्यों उद्धृत किये गये हैं। पारस्कर गृह्यसूत्र (1/13) में आर्तव, ऋतुकाल तथा गर्भाधान सम्बन्धी विचार, आश्वलायन गृह्यसूत्र में प्रसव के अनन्तर शिशु को मधु, घृत और सुवर्ण प्राशन का विधान वही है जो धन्वन्तरि, आत्रेय और कश्यप के लेखों में आपको मिलेगा।[2] प्रसव के बाद प्रसूता को उष्ण जल से स्नान कराना सुश्रुत ने लिखा है, पारस्कर, आश्वलायन तथा गोभिल गृह्यसूत्रों में भी वही विधान है।[3] सुश्रुत और आत्रेय का मत है कि दस दिन में प्रसूति गृह सम्बन्धी कार्य, जो प्रसूता तथा शिशु की शुद्धि एवं स्वास्थ्य के लिए आवश्यक हैं, समाप्त करके नाम करण करना चाहिये। पारस्कर गृह्य सूत्र में उसी का अनुकरण है।[4] सुश्रुत तथा कश्यप ने लिखा है कि प्रथम महीने से लेकर चार या पांच मास तक शिशु को उग्रप्रकाश में नहीं लाना चाहिये, क्योंकि उस से शिशु की कोमल नेत्रज्योति को हानि पहुंचती है। पारस्कर गृह्यसूत्र में भी उसी का प्रतिबिम्ब है।[5] सुश्रुत तथा कश्यप का मत है कि शिशु को छठवें महीने से मां के दूध के अतिरिक्त अन्य हितकारी अन्न तथा फल आदि खिलाये जाने चाहिये। क्योंकि उस समय तक उस की पाचनस्थली इतनी सशक्त हो जाती है कि वह उन्हें पचा सके। ठीक वही विधान आश्वलायन गृह्यसूत्र में आप देख सकते हैं।[6]

---

1. 'उपनिषदि गर्भलम्भनम्'—आश्वलायन गृह्यसूत्र 1/13/9
   'ओम् द्यनोषधी त्रायमाणा सहमाना सरस्वती'—पारस्कर० कां० 1/13
   —गर्भाधान से पूर्व स्त्री के लिये त्रायमाण (वनपशा), सहदेवी तथा शंख पुष्पी के प्रयोग का विधान इस सूत्र ग्रंथ में किया गया है।
2. 'कुमारं जातं पुरान्यैरालम्भात् सर्पिर्मधुनी हिरण्य निकाषं हिरण्येन प्राशयेत्'
   'ओं प्रते ददामि मधुनो घृतस्य'—आश्वला० 1/15/1
   'आमथ्य मधु सर्पिभ्यां लेहयेत् कनकं शिशुम्'—काश्यप संहिता, लेहाध्याय,
   'मधुसर्पिः सकाञ्चनम्'—सुश्रुत, शारी० 10/68
3. 'सोष्यन्तीमद्भिरभ्युक्षति'—पारस्कर गृ०, कां; 1/16
   'प्राप्तगर्भिणीं प्रसूतेनोष्णोदकेन परिषिञ्चेत्'—सुश्रुत, शा० 10/18
4. 'ततः दशमेऽहनि माता पितरौ...नाम कुर्यातां, यदभिप्रेतं नक्षत्र नामवा।'
   —सुश्रुत, शा० 10/24
   'दशम्यां उत्थाप्य...पिता नाम करोति'—पार० 1/17
   दशमेऽहनि...पिता नक्षत्र देवता युक्तं नाम कारयेत्'—चरक, शारी० 8/49
5. ततश्चतुर्थे—मासात् [illegible]...[illegible] कुर्यात्'—सुश्रुत, शारी० 10/38/46
   चतुर्थे मासि निष्क्रमणिका सूर्यमुदीक्षयति तच्चक्षुः'—पारस्कर० 1/17/5-6
   चतुर्थे मासि ... निष्क्रमणम्'—काश्य० सं० खिल 12/4
6. 'षण्मासं चैनमन्नं प्राशयेल्लघु हितं च'—सु० शा० 10/49
   'षण्मासेषु (षष्ठे) मासि विविध फलानां प्राशनं'—काश्यप सं० खिल० 12/15
   'षष्ठेऽन्नप्राशनम्'—आश्वलायन गृ० 1/16/1-3

कर्णवेध का उल्लेख सुश्रुत संहिता में एक पूरे अध्याय में किया गया है।[1] वहां कर्णवेध के उद्देश्य दो लिखे हैं—भूत रक्षा; तथा आभूषण।[2] सुश्रुत संहिता में कर्णवेध को स्थान मिलने का कारण यही प्रतीत होता है कि उस युग में भूत बाधा का डर समाज में फैल रहा होगा उसके लिये लोग कान छेद कर बच्चों की रक्षा का उपाय करते थे। इस कर्णवेध में होने वाली आपत्तियों का इलाज वैद्यों का ही काम था। सुश्रुत के वर्णन में पिशाच, राक्षस, यक्ष, गन्धर्व, नाग तथा पितर आदियों की भूतों में गिनती है।[3] भूत, शब्द का भाव प्राय: उन व्यक्तियों से है जो अज्ञात रूप से छिपकर बच्चों को दु:खी किया करते थे। प्रतीत होता है कि देवों के बच्चों को अन्य नाग आदि जाति के लोग द्वेष बुद्धि से उठा ले जाते होंगे। ऐसे चुराये हुए बच्चों की पहिचान के लिये देव लोग उनके कान में छेद कर देते थे। रक्षा का यही उपाय उस समय सबसे अच्छा समझा गया था। परन्तु रक्षा के लिये किये गये इस उपाय के रूप में कानों में पहिनाये गये 'स्वर्ण वलय' सौन्दर्य वृद्धि में भी सहायक हुए, इसलिये कर्णवेध का दूसरा उद्देश्य भूषण भी सुश्रुत ने लिख दिया। यद्यपि कुछ काल बाद रक्षा का उद्देश्य तो इससे बहुत पूर्ण न हो सका। क्योंकि अन्य जातियों के लोग भी अपने बच्चों के कान छेदने लगे। केवल भूषण की भावना ही इस प्रथा को सुरक्षित बनाये रही। तो भी कात्यायन गृह्यसूत्र में सुश्रुत का अनुकरण किया गया है। केवल इतना ही अन्तर है कि सुश्रुत ने वर्ष के छठवें या सातवें मास में कर्णवेध लिखा है और गृह्यसूत्र ने तीसरे या पांचवें वर्ष[4]। आज-कल बहुत से लोगों का विश्वास है कि कर्णवेध 'अन्त्र वृद्धि' (Harnea) रोग को दूर करता है, इसीलिये उसका उल्लेख सुश्रुत ने किया है। सम्भव है ऐसा कोई लाभ उन लोगों के ध्यान में आया हो, परन्तु उसे सुश्रुत ने नहीं लिखा।

बहुत प्राचीन युग से लोगों में यह अभिलाषा समृद्ध हो गई थी कि उनके पुत्रियां नहीं, किन्तु पुत्र हों।[5] वैज्ञानिकों ने समाज की इस अभिलाषा को पूर्ण करने के उपाय भी किये। आत्रेय पुनर्वसु ने भी इस सम्बन्ध में कुछ अपने प्रयोग लिखे हैं। उन्होंने लिखा है कि गर्भ के अङ्ग प्रत्यङ्ग बनने से पूर्व दूसरे या तीसरे महीने में बट वृक्ष के दो अंकुर दो रत्ती की मात्रा में सफेद सरसों तथा दही मिलाकर गर्भिणी को पिलावे, एवं जीवक ऋषभक अथवा अपामार्ग ओषधियों में से सब का अथवा एक का ही स्वरस निकाल कर

---

1. सुश्रुत संहिता, सूत्र० अ० 16
2. 'रक्षा भूषण निमित्तं बालस्य कर्णौ विध्येते। तौ षष्ठे मासि सप्तमे वा। शुक्लपक्षे'—सुश्रुत सू० 16/3
3. 'नागा पिशाचा गन्धर्वा पितरोयक्षराक्षसा:।
   अभिद्रवन्ति ये ये त्वां ब्रह्माद्याघ्नन्तु तान्सदा ॥—सु० सू० 5/21
4. "कर्णवेधो वर्षे तृतीये पञ्चमेवा"। —कात्यायन गृ० सू० 1-2
   "तौ षष्ठे मासि सप्तमे वा शुक्लपक्षे ··विध्येत्" —सुश्रुत सू० 16/3
5. "शमीमश्वत्थ आरूढ़स्तत्र पुंसवनं कृतम्। तद्वै पुत्रस्य वेदनं तत्स्त्रीष्वाभरामसि"
   —अथर्व० कां० 6, सू० 11

उसकी दाहिनी ओर की नासिका में डाले ।[1] आश्वलायन तथा पारस्कर गृह्य सूत्रों में इस का प्रतिबिम्ब ज्यों का त्यों विद्यमान है ।[2]

कुछ लोगों का आज कल विश्वास बन गया है कि जल में रोग निवारण करने की शक्ति का आविष्कार कुछ वर्ष ही हुए जब पाश्चात्य जर्मन डाक्टर लुई कोहनी ने किया है। परन्तु यह धारणा सर्वथा मिथ्या है। आयुर्वेद की चिकित्सा पद्धति ही जल के रोग नाशक होने के सिद्धान्त पर निर्भर है। यह वैज्ञानिक रहस्य वैदिक काल में भी आर्य लोग जानते थे। ऋग्वेद में जल के रोग निवारक होने की विशेषता का विशद उल्लेख है ।[3] विश्व की समस्त ओषधियों का प्रतीक मान कर यज्ञादि में यजमान के आरोग्य के लिये जल का ही मार्जन करने की प्राचीन याज्ञिकों की परिपाटी रही है। हम अपनी व्यावहारिक भाषा में जिसे 'रस' कहते हैं, आयुर्वेद की वैज्ञानिक भाषा में उसी का पारिभाषिक नाम 'ओष' है। 'ओष' से ही औषधि शब्द बना है। इस प्रकार औषधि का अर्थ ही 'रस को धारण करने वाली' होता है ।[4] औषधियों के जिन छः रसों का प्रतिपादन प्राणाचार्यों ने किया है वे सब जल के ही परिवर्तित स्वरूप हैं। प्रकृति ने नाना लता वृक्षों में जल को इस उत्तमता के साथ सुरक्षित कर दिया है कि उसे आप जब चाहें स्वास्थ्यवर्धन के लिये प्रयोग कर सकते हैं। प्रकृति के इस सुगुप्त कोष को भारत के प्राणाचार्य आदिकाल में ही ढूंढ चुके थे। लुई कोहनी और उनके अनुयायियों से आप कह दें कि जल के जिस स्थूल रूप को आप कुछ-कुछ देख सके हैं, उसके सूक्ष्म तत्वों को आप भारत के प्राणाचार्यों से क्यों नहीं पूछ लेते ? आदिकाल में जल के सम्बन्ध में की गई इन गहन वैज्ञानिक खोजों का स्वरूप मध्यकाल में ज्यों का त्यों आपको मिलेगा। पारस्कर गृह्यसूत्र में जल के इस औषधि स्वरूप का वर्णन है ।[5] इस समस्त तुलना से हमारा तात्पर्य यह है कि आदिकाल में आयुर्वेदिक जगत में जो वैज्ञानिक अनुसन्धान किये गये थे, मध्य-काल में वे ही प्रचलित और पल्लवित तो होते रहे, परन्तु मौलिक रूप से अनुसन्धान करने की दिशा में यह युग आदि काल से आगे न बढ़ सका।

इस युग में जैन धर्म का प्रचार एक महत्वपूर्ण घटना थी। परन्तु केवल दार्शनिक आन्दोलन ही जैन धर्म का सार है। सामाजिक प्रथाओं अथवा रीति रिवाजों में जैन सम्प्रदाय प्राचीन वैदिक सम्प्रदाय से मिलता-जुलता ही है। यज्ञ, याग, यम, नियम,

---

1. प्रागभिव्यक्तगर्भभावात् गर्भस्य पुंसवन मस्मै दद्यात्,—न्यग्रोधस्य "शुंगे दधि प्रक्षिप्य पिष्ट्वा"क्षीर-गर्भसवापामार्ग सहचर कल्कांश्च"दक्षिणे नासा पुटे स्वयमासिञ्चेत् ।—चरक सं० शारीर 8/20
2. "......दक्षिणस्यां नासिकायामजीतामोषधीं नस्तः करोति' ।—आश्व० 1/13/5-6
'अथ पुंसवनं पुरा स्पन्दत इतिमासे द्वितीये तृतीये वा'—पारस्कर, 1/13
3. आपोहिष्ठा मयोभुवस्तान ऊर्जेदधातन । महेरणाय चक्षसे ।1। योवः शिव तमोरसस्तस्य भाजयतेह नः । उशतीरिव मातरः । 2 । तस्मा अरं गमामवो यस्यक्षयाय जिन्वथ । आपोजनयथा च नः । 3 ।
—ऋग्वेद, मण्ड० 10/9 मं० 1-3
4. ओषो नाम रसः सोऽस्यां धीयते सत्त्वौषधिः ।
ओषधारणात्तस्मादोषधिरोषधः ॥—शारद सं० निघ० अ० 3/27
5. ओं आप. शिवा. शिवतमाः शान्ताः शान्ततमास्तास्ते कृण्वन्तु भेषजम्" ।
—पारस्कर गृ० सू० 1/8/5/76

आश्रमधर्म, वर्णधर्म, आदि प्राय: जैन धर्म के सारे ही सामाजिक व्यवहार प्राचीन वैदिक पद्धति के ही प्रतिरूप हैं। केवल कुछेक दार्शनिक विचारों में ही जैन धर्म का वैदिक धर्म से मतैक्य नहीं है।[1] ऐसी दशा में भी वैज्ञानिक क्षेत्र में विकास की ओर जैन धर्म ने कोई उल्लेख योग्य कार्य नहीं किया। प्रत्युत चिकित्सा शास्त्र को हेय समझ कर उसकी उपेक्षा करने का उपदेश ही समाज को दिया है। जैन सिद्धान्त के अनुसार तप दो प्रकार के हैं --पहला अंतरंग और दूसरा वहिरंग। अन्तरंग तप के अन्तर्गत क्षुधा, पिपासा आदि बाईस 'परीषह' होते हैं, उनमें एक परीषह का भेद 'रोग' भी है। इस 'रोग-परीषह' का भाव यह है कि यदि जैन साधक को कोई रोग हो जाय तो उसे पूर्व कर्म का फल समझ कर, रोग निवारण के लिये चिकित्सा आदि उपाय न तो स्वयं ही करे, और यदि कोई दूसरा व्यक्ति भी करना चाहे तो उसे भी न करने दे।[2] जिस सम्प्रदाय के धार्मिक सिद्धान्तों में आयुर्वेद के साथ इतना भारी असहयोग विद्यमान हो, उससे वैज्ञानिक अनुसन्धानों की दिशा में कोई आशा करना ही प्राय: असंगत-सा प्रतीत होता है। जैन धर्मावलम्बियों ने व्यक्तिगत रूप से आयुर्वेद को अपनाया हो, यह दूसरी बात है, पर सामूहिक प्रचार के रूप में उनसे आयुर्वेद का कोई बड़ा हित साधन नहीं हुआ। जैन धर्म के आदि पुराण के उल्लेखों से यह पता लगता है कि आदिनाथ भगवान ऋषभदेव ने अपने 4 पुत्रों में से 'बाहुबली' नामक पुत्र को आयुर्वेद, शारीर विद्या तथा चिकित्सा शास्त्र पढ़ाया था। परन्तु इतना होने पर भी वह शास्त्र उनका मिशन नहीं बन सका। इसीलिये जैन धर्म में हमें महान दार्शनिक तो मिलेंगे परन्तु प्राणाचार्य नहीं। आयुर्वेद के सेवकों के नाम पर जैन लोग एक 'वाग्भट' का नाम ही बहुधा लिया करते हैं जो ईसा के भी बहुत बाद हुए हैं और इतना ही नहीं, 'वाग्भट' के वर्णन में आप देखेंगे कि आयुर्वेदाचार्य वाग्भट जैन नहीं थे, और जैन वाग्भट आयुर्वेदज्ञ न थे।

अनेक जैन विद्वानों का अभिप्राय यह है कि रोग-परीषह का सिद्धान्त केवल मुनियों के लिये है। श्रावकाचारी गृहस्थों के लिये तो चिकित्सा शास्त्र का अवलम्बन करना सर्वथा न्याय संगत ही है। अतएव उपर्युक्त प्रतिबन्ध गृहस्थों के लिये नहीं है। व्यावहारिक जीवन व्यतीत करने वाले पुरुषों के लिये जैन विद्वानों ने बहुत कुछ आयुर्वेदिक साहित्य की रचना की थी, परन्तु वह प्राय: प्राचीन आयुर्वेदिक साहित्य का पारायण मात्र था कोई मौलिक आविष्कार नहीं। सन् 1937 ई० में 'जैन सिद्धान्त-भवन' आरा (बिहार) से प्रकाशित जैन सिद्धान्त भास्कर तथा (Jain antiquary) नामक त्रैमासिक पत्र में एक लेख प्रकाशित हुआ था जिसमें जैन विद्वानों द्वारा लिखे गये वैद्यक ग्रन्थों की एक विस्तृत सूची दी गई है। इस सूची से प्रतीत होता है कि जैन विद्वानों द्वारा लिखित आयुर्वेद विषयक कोई 72 पुस्तकें अभी तक उपलब्ध होती हैं। परन्तु उनमें से अब तक एक भी छपकर प्रकाशित नहीं हुई। जिन ग्रन्थों का सूची में नाम दिया गया है उनके काल निर्णय के प्रश्न को हल कर सकना बहुत ही कठिन काम है। परन्तु उन पुस्तकों में प्रतिपादित विषय तथा ग्रन्थ लेखकों के नाम देखकर यह सरलता

1. हिन्दी विश्व कोष, भाग 8 जैन धर्म देखिये। पृ० 429–549
2. हिन्दी विश्व कोष, भाग 8, पृ० 528।

से अनुमान किया जा सकता है कि वे अधिकांश उत्तर कालीन युग की रचनायें हैं। बहुतेरी पुस्तकें तो हिन्दी के दोहे चौपाई में लिखी हुई ही हैं। शायद थोड़ी पुस्तकें ऐसी हों जिन्हें हम ईसा की 6 वीं शताब्दि से अधिक प्राचीन कह सकें। इसी सूची में कुछ ऐसे जैनेतर वैद्यक ग्रन्थों की नामावली भी दी है जिन पर जैन विद्वानों ने व्याख्यायें लिखी हैं। इन जैनेतर ग्रन्थों में वाग्भट का अष्टाङ्ग हृदय भी है। अष्टाङ्ग हृदय पर किन्हीं दिगम्बर जैन विद्वान पं० आशाधर ने व्याख्या लिखी थी। जैन आयुर्वेदाचार्यों में आचार्य समन्तभद्र तथा पूज्य पाद के लिखे हुए ग्रन्थ अधिक योग्यता पूर्ण तथा माननीय हैं। परन्तु उक्त आचार्य मध्य युग में नहीं, उत्तर काल में हुए थे। क्योंकि उन्होंने पारद के प्रयोगों पर रस ग्रन्थ लिखे हैं। मध्य काल में पारद को खाने के प्रयोगों का आविष्कार नहीं हुआ था। इस प्रकार हमारा विश्वास यह है कि इस मध्यकाल में जैन विद्वानों ने दार्शनिक विचारों के अतिरिक्त आयुर्वेद में किन्ही नवीन एवं मौलिक विचारों का समावेश नहीं किया।

जैन आन्दोलन वैज्ञानिक आन्दोलन नहीं था। वह विशुद्ध दार्शनिक था। इसीलिये आयुर्वेद की ओर जैनों ने दार्शनिक दृष्टि से ही देखा है। वे आत्रेय की भांति आयुर्वेद को धर्मार्थकाम और मोक्ष के साधन के रूप में नहीं देखते थे, किन्तु विशुद्ध जीव के आवरण रूप 'पुद्गल' के रूप में देखा करते थे। आदि काल और मध्य काल के दृष्टिकोण में यही अन्तर है। यद्यपि जैन द्वादशांग शास्त्र के अन्तर्गत प्राणवाद शास्त्र आयुर्वेद शास्त्र का ही प्रतिपादक है। इसके लाखों श्लोकों में अष्टाङ्ग आयुर्वेद का ही प्रतिपादन है। परन्तु जैन फिलासफी के इस युग में यह पुद्गल तत्व हेय है, जबकि आदि कालीन विचारों में आयुर्वेद का प्रत्येक तत्व उपादेय कोटि में रक्खा गया। वैदिक महर्षि आयुर्वेद विज्ञान को उसी तुला पर तोलते थे जिस पर वेद का समस्त ज्ञान तोला जाता था।[1] धन्वन्तरि का सिद्धान्त यह था कि जगत् में हम ही प्रधान हैं, शेष सारे ही जगत के पदार्थ हमारे लिये बने हैं।[2] परन्तु जैन दृष्टिकोण इसके सर्वथा विपरीत था। वे कहते थे कि जगत् ही प्रधान है, हम उनके लिये बने हैं।[3] विचारों के इस मौलिक भेद ने आयुर्वेद की स्थिति को बिल्कुल बदल दिया। आदि कालीन वैज्ञानिक संसार को अपने लिये देखता था, और उसे अपनी चीज समझ कर उसके एक-एक तत्व के वैज्ञानिक परिचय में व्यस्त था। परन्तु इस युग में तो बात ही उल्टी थी। अब तो संसार के लिये हम अपनी ही सत्ता को भूले जा रहे थे। सच्चा जैन वह है जो पांच अणुव्रतों का पालन करे।[4] उनमें अहिंसा अणुव्रत ही पहिला है। इस व्रत का अर्थ यह है औषधि, अतिथि-सत्कार एवं मन्त्र

---

1. आयुर्वेद प्रामाण्यवच्च तत्प्रामाण्यं आप्त प्रामाण्यात्" —न्याय दर्शन,
2. "तत्र पुरुषः प्रधानं तस्योपकरणमन्यत्" —सु० सं० सू० अ० 1;22
3. भेषजादिभि कल्पाद्य निमित्तेनापि नाङ्गिनः । प्रथमानु प्रमाणानि हिंसनीयाः कदाचन ॥ —शुभाशिल चन्द्र कर्तीय श्लोक 767 —(हिन्दी विश्वकोष जैनधर्म पृ० 493)
4. हिन्दी विश्वकोष भाग 8 'जैनधर्म' पृ० 493 'अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह' —5 अणुव्रत

पूजा के लिये भी दूसरे की हिंसा न करे। एकेन्द्रिय (स्थावर) प्राणियों से लेकर द्वीन्द्रिय अथवा अनेकेन्द्रिय प्राणियों तक किसी को क्लेश पहुंचाना भी हिंसा ही है। यदि इस सूक्ष्म अहिंसा के पालन में जीवन यात्रा ही दुष्कर हो जाय तो केवल एकेन्द्रिय अर्थात् स्थावर (वृक्ष आदि) प्राणियों की हिंसा की जा सकती है, इससे अधिक द्वीन्द्रिय प्राणियों की हिंसा अक्षम्य है।" ऐसी अवस्था में धन्वन्तरि और आत्रेय के विज्ञान को स्थान ही कहां मिल सकता था। उनके औषधि द्रव्य तीन श्रेणियों में विभक्त थे प्रथम स्थावर, दूसरे जङ्गम और तीसरे पार्थिव कोटि के। स्थावर कोटि के द्रव्य जड़ी बूटियों से सम्पन्न होते हैं। और जंगम कोटि के जरायुज, अण्डज और स्वेदज प्राणियों से तीसरे पार्थिव द्रव्य सोना, चांदी आदि खनिज पदार्थो से प्राप्त होते हैं।[1] जैन आन्दोलन ने चिकित्सा विज्ञान का प्राय: सारा ही क्षेत्र अवैध घोषित कर दिया, केवल पार्थिव द्रव्य ही शेष रह गये। जब स्थावर वृक्षों तथा बूटियों के पत्र, पुष्प, फल एवं मूल आदि का उपादान भी हिंसा की सीमा के अन्तर्गत है, तब जंगम प्राणियों के चर्म, नख, रोम, रुधिर और मांस का ग्रहण जैन युग में हो ही कैसे सकता था। फलतः आदि कालीन शल्य शास्त्र, जिसमें अनेक जंगम प्राणियों के उपादान विद्यमान थे, एक दम समाप्त ही हो गया। वाजीकरण तन्त्र के अद्भुत् आविष्कार जो जंगम उपादानों पर निर्भर थे, वहिष्कृत किये गये। आसव और अरिष्टों की प्रणाली द्वीन्द्रिय कीटाणुओं से युक्त होने के कारण अधार्मिक घोषित की गई। और साक्षात् अनेकेन्द्रिय जीव हत्या द्वारा प्राप्त मुक्ता, शंख, रोचना और शृङ्ग आदि के उपचार तो एकदम ही बन्द हो गये। आयुर्वेदिक जगत् में यह वह महान् युगान्तर था जो जैन सिद्धान्तों के प्रचार द्वारा उपस्थित हुआ था। अब चिकित्सा विज्ञान केवल पार्थिव अंशों में ही शेप रह गया। धार्मिक विचारों में थोड़ी-सी शिथिलता को क्षम्य समझने वाले श्रावक लोगों ने जड़ी बूटियों के थोड़े बहुत उपयोग को भी पकड़े रक्खा, अन्यथा चिकित्सा विज्ञान समाप्त ही हुआ जाता था। इस प्रकार थोड़े बहुत स्थावर द्रव्यों के सहारे पार्थिव द्रव्यों का परिष्कार करके रोग निवारण का उपाय किया जाने लगा। चिकित्सा का यह नया स्वरूप 'लोह-चिकित्सा' या 'पार्थिव-चिकित्सा' कहा जा सकता है। आदि काल में धातु और उपधातुओं को चूर्ण या अर्धभस्म करके ही खाने की परिपाटी थी। स्थावर और जंगम पदार्थो से ही काम चल जाने के कारण पार्थिव द्रव्य विज्ञान के समुन्नयन की उतनी चिन्ता न थी। परन्तु अब तो उसके अतिरिक्त दूसरा मार्ग था नहीं। इसलिये धातुओं और उपधातुओं के सम्बन्ध में नाना प्रकार की गवेषणायें प्रारम्भ हुई। उनको शरीर के लिये अधिक से अधिक सात्म्य बनाने के प्रयोग निकाले गये, तथा उनकी अनेक प्रकार की भस्में एवं अन्यान्य रासायनिक प्रयोगों के आविष्कार होने लगे। इस इस प्रकार लौह चिकित्सा का विकास ही इस मध्य काल की विशेषता है।

आयुर्वेद के स्वास्थ्य सम्बन्धी मौलिक सिद्धान्त भारतीय जन साधारण के जीवन में कितना महत्व पा सके थे, यह जानने के लिये आज कुछ प्रत्यक्ष प्रमाण हमें उपलब्ध हैं।

---

1. सुश्रुत संहिता, सू० 1/28-32

इन प्रमाणों में सबसे अधिक महत्वपूर्ण मोहन्जोदारो[1] की खुदाई में प्राप्त होने वाले संस्मरण हैं। पाश्चात्य ऐतिहासिकों का विचार था कि भारतीय सभ्यता का इतिहास ईसा से 1500 वर्ष पूर्व से अधिक प्राचीन नहीं हो सकता। परन्तु वे मोहन्जोदारो में प्राप्त होने वाले संस्मरण ही हैं, जिन्होंने संसार को यह स्वीकार करने के लिये बाध्य किया है कि भारतीय सभ्यता का अत्यन्त समुन्नत काल ईसा से चार-हजार वर्ष पूर्व भी था। मोहन्जोदारो में प्राप्त प्राचीन वास्तुकला और मूर्तिकला आदि के उन्नत आदर्श के सम्बन्ध में हमें यहां कुछ नहीं कहना है, यहां तो केवल तत्कालीन स्वास्थ्य सम्बन्धी व्यावहारिक संस्मरणों पर ही विचार करना है। और मोहन्जोदारो की प्रथम विशेषता वही है। आयुर्वेद के प्रत्येक प्रतिष्ठित ग्रन्थ में 'स्वस्थवृत्त' एक आवश्यक और उपयोगी प्रसंग हमें मिलता है। सुश्रुत संहिता के उत्तर तन्त्र का 'स्वस्थ वृत्तोपक्रम', चरक संहिता के सूत्र स्थान के मात्राशितीय और तस्यशितीयाध्याय, एवं अष्टाङ्ग हृदय के सूत्र स्थान का दिनचर्या तथा ऋतुचर्याध्याय इस विषय के आदर्श हैं। मोहन्जोदारो में दिनचर्या और ऋतु चर्या के उन्हीं सिद्धान्तों को हम क्रियात्मक रूप में देखते हैं। मोहन्जोदारो की खुदाई में जो कुछ प्राप्त हुआ है वह छोटी मोटी चीज नहीं, किन्तु एक नगर का नगर है। इस नगर का जो स्वरूप भूगर्भ से निकला है उसे देखने से पता लगता है कि उस युग में स्वास्थ्य सम्बन्धी सिद्धान्तों की क्रियात्मकता पर समाज का कितना अधिक ध्यान था। यूरोपियन महिला मिस-मेयो ने अपनी पुस्तक (Mother India) में भारतीय नगरों की खुली नालियों और उनके ऊपर बनी हुई मिष्टान्न की दूकानों की अस्वास्थ्य-कारी दशा का बड़ा व्यङ्गपूर्ण उपहास किया है, परन्तु वहिन मेयो यह न सोच सकीं कि आज का भारत तो उसके शासक अंग्रेज जाति के कुत्सित मनोभावों का ही प्रतिबिम्ब है। भारत का अपना स्वरूप तो मोहन्जोदारो में देखना चाहिये था। इस प्राचीन शहर की नालियां इतने सुन्दर ढंग से पटी हुई (Under ground) है कि उनकी अस्वास्थ्य कर दुर्गन्ध ऊपर आकर नगर निवासियों को हानि नहीं पहुंचा सकती। घरों और गलियों की छोटी-छोटी नालियां एक बड़ी नाली में मिली है और बड़ी नाली एक बड़े नाले में। किन्तु यह सब अच्छी प्रकार पटे हुए ही हैं। जगह-जगह पर इनकी सफाई के लिये नाले खुले रखे गये हैं, जिनमें नीचे की ओर सीढ़ियां बनी हुई हैं। ताकि नाली में गन्दगी न रुके और उन्हें भली-भांति साफ किया जा सके।

मोहन्जोदारो के नगर में निकले हुए मकान साफ हवा के लिये उपयुक्त हैं। प्रत्येक घर में एक प्राङ्गण है। स्नान गृह प्रत्येक घर की एक विशेषता है। स्नान गृह के साथ ही ताजा पानी प्राप्त करने के लिये एक-एक कुआं भी बना हुआ है। कुएं ऊपर से नीचे तक पक्के

---

1. मोहन्जोदारो सिन्ध प्रान्त में, सिन्धु नदी के तट पर अवस्थित है। नार्थ वेस्टर्न रेलवे (N. W. R.) के डोकरी स्टेशन से 8 मील दूर है। सिन्ध प्रान्त की बोली में 'मोहन्जोदारो' का शुद्ध उच्चारण 'मोअन्जो दड़ो' है, जिसका अर्थ है 'मुर्दा की ढेरी'।
मोहन्जोदारो की सभ्यता की विशेष जानकारी के लिये जनवरी सन् 1933 ई० में प्रकाशित 'माधुरी' मासिक पत्रिका में पुरातत्वज्ञ श्री [illegible], एम० ए०, [illegible] तथा डा० [illegible] एम० ए०, पी० एच० डी० के लेख देखिये।

बने हैं। मकान में जितनी मंजिलें हैं प्रत्येक मंजिल में स्नान गृह अवश्य है। स्नान गृहों का फर्श पक्का है। जल निकालने के लिये ढलावदार फर्श में एक ओर ढकी हुई नालियां बनी हुई हैं। नगर में एक पक्का और सुन्दर सार्वजनिक स्नान गृह बना हुआ है। इसके दो तरफ पक्की सीढियां बनी हुई हैं। बीच में एक तालाब है। तालाब की दीवारें तथा नीचे का फर्श पक्का है। इस तालाब के पानी को निकाल कर साफ करने के लिये एक ढकी हुई नाली बनी हुई है। यह तालाब भी ऊपर से ढका हुआ था और इसके चारों ओर छोटे-छोटे वेश भूषा और सुसज्जा के कमरे बने हुए हैं। सुश्रुत और चरक के स्वस्थ वृत्त से आप तुलना करें तो देखेंगे कि यह तत्कालीन स्वास्थ्य सम्बन्धी सिद्धान्तों का क्रियात्मक रूप ही है।[1] प्रत्येक आयुर्वेदाचार्य ने शरद् कालीन अगस्त्य नक्षत्र के उदय से निर्मल और सुपथ्य हंसोदक के स्नान की बड़ी तारीफ की है।[2] ऐसा हंसोदक मोहञ्जो-दारो के समान सरोवरों में ही भारतीय एकत्रित किया करते थे। वहां चांदी का एक शृङ्गारदान भी उपलब्ध हुआ है जिसमें कुछेक मूल्यवान् आभूषण पाये गये हैं। एक सुसज्जित नर्तकी की प्रतिमा भी पाई गई है। नाना प्रकार के आभूषण, वस्त्र और वर्त्तनों की तो कथा ही क्या, जो मोहञ्जो दारो के स्वास्थ्य प्रिय भारतीय नागरिकों के समृद्ध और स्वस्थ जीवन की कहानी प्रतिक्षण कहा करते हैं। मोहञ्जोदारो में जो कुछ मिला है वह ईसा से कम से कम चार हजार वर्ष पूर्व के भारत का समृद्ध जीवन है। इसे हम महाभारत से भी बहुत प्राचीन इसलिये कह सकते हैं कि वह समृद्धि कम से कम दो तीन हजार वर्ष प्रथम समुन्नत होकर ही इस अवस्था को पहुंच सकी होगी। इसी लिये हमने आधुनिक इतिहास के साधनों के आधार पर रामायण काल को ईसा से कम से कम 10000 वर्ष पूर्व का लिखा है। हमें इससे पूर्व जाना होगा, पीछे तो हट ही नहीं सकते। मोहञ्जोदारो के इतने प्राचीन संस्मरण को आदि काल में न लिखकर मध्य काल में देने का तात्पर्य ही यह है कि वह महाभारत के बाद भी भारत के समुन्नत सामाजिक जीवन का आदर्श बनाये हुए था। और उसकी राम कहानी तो आज भी कह रहा है।

मध्यकालीन युग के अन्त में चिकित्सा विज्ञान में एक विशेष प्रकार की विद्या का और प्रारम्भ हुआ। वह थी मन्त्र विद्या। यद्यपि यह मन्त्र विद्या का अविर्भाव काल

---

1. 'सरांसिसरितो वापीर्वनानि रुचिराणि च ॥
चन्दनानि परार्ध्यानि स्रजः सकमलोत्पलाः । —सुश्रुत सं० उत्तर० अ० 64/38-42
घर्म काले निषेवेत ॥
माहेन्द्र तप्तशीतं वा कौपं सारस मेव वा ।
प्रधर्षोद्वर्त्तने स्नाने गन्धमाल्य परोभवेत् ॥ —चरक सं० सू० 6/38-39

2. दिवा सूर्यांशुसंतप्तं निशिचन्द्रांश शीतलम् ।
कालेन पक्वं निर्दोषमगस्त्येना विषीकृतम् ॥
हंसोदक मिति ख्यातं शारदं विमलं शुचि ।
स्नान पानावगाहेषु हितमम्बु यथामृतम् ॥ —चरक सू० 6/45-46
'सरःस्वाप्लावनं चैव कमलोत्पलशालिषु' —सुश्रुत० उ० 64/15

तो नहीं कहा जा सकता, क्योंकि मन्त्र द्वारा शक्ति प्राप्त करने के विश्वास को हम धन्वन्तरि और आत्रेय के युग में भी पाते हैं। सुश्रुत तथा चरक संहिता में मन्त्रों की अदृष्ट शक्ति पर विश्वास होने के प्रमाण हमें पर्याप्त मिल सकते हैं।[1] परन्तु उस समय तक मन्त्र प्रयोग विजेता एवं विद्वान् पूर्वजों के संस्मरण, मात्र थे। इस युग में मन्त्र प्रयोग का स्वरूप बदला, और उसमें एक स्वतन्त्र शक्ति की कल्पना की गई। आदि काल में मन्त्रों की भाषा कुछ ऐतिहासिक और कुछ अध्यात्मिक विचारों की अभिव्यञ्जना पूर्ण होती थी। परन्तु इस युग में मन्त्र स्वरूप से ही एक अदृष्ट कार्य करने वाली चीज बन गई। इस नवीन कला का इस युग में अधिक परिष्कार एवं उपयोग करने में सभी धर्मों ने बड़ी सहायता दी। मारण, मोहन, और उच्चाटन के अनेक आभिचारिक कृत्यों का सूत्र पात इस युग में हो चुका था। इसके अतिरिक्त मन्त्र चिकित्सकों की एक श्रेणी वह थी जो शब्द के वैज्ञानिक स्वरूप को प्रयोग में लाने का समर्थन किया करती थी। इस प्रकार मन्त्र प्रयोग की तीन प्रणालियां काम में लाई गई—

(1) प्राचीन विद्वानों और वीर महापुरुषों के संस्मरण युक्त मन्त्रों के श्रवण से मानसिक सामर्थ्य को उद्‌बुद्ध करके स्वास्थ्य सम्पादन करना।

(2) अपने प्रति जनता की श्रद्धा के कारण अनन्वित अक्षरों के बीज मन्त्रों को बोलकर किसी अभीष्ट भावना को उनके श्रद्धालु हृदय में संचरित करना।

(3) शब्दोत्पत्ति की वैज्ञानिक प्रतिक्रिया द्वारा शक्ति उत्पन्न करना।

शब्द या अक्षर तो प्रतीक (symbol) है। वह एक निश्चितध्वनि का प्रतिनिधित्व करता है। इसलिये तात्विक महत्व तो उस ध्वनि का है जो किसी नियत अक्षर से अभिव्यक्त होती है। प्रत्येक ध्वनि का अर्थ गांभीर्य उसके स्वरों पर निर्भर करता है। ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत; उदात्त, अनुदात्त, स्वरित; अनुनासिक तथा निरनुनासिक। इन की अवान्तर श्रुतियों का सम्मिश्रण न जाने कितने राग और रागनियों का जनक हो सकता है। स्थान और प्रयत्न भेद से एक 'अ' वर्ण ही 18 प्रकार का होता है श्रुति और अनुश्रुतियों के भेद से वह कितने असंख्य रूप धारण कर सकता है, इस की गणना ही असम्भव है।

सारे शब्द और अक्षर जो ध्वनि मात्र प्रतीत होते हैं, वे एक 'नाद' के मूर्त रूप हैं। वह नाद जिसे योगी के अतिरिक्त कोई सुन नहीं सकता। स्थान और प्रयत्न के बिना भी वह प्रत्यक्ष है। स्थान और प्रयत्न से उच्चरित ध्वनि आहत नाद है। किन्तु आहतनाद का स्रोत तो वह अनाहतनाद ही है। हम उसे शून्य-ध्वनि (voice of the silence) या 'अन्तर्नाद' (spritual sound) कह सकते हैं। योग शास्त्र में इस अन्तर्नाद को ही धारणा, ध्यान और समाधि का साधन कहा है वह अनहतनाद है। जिस से इन्द्रियों के सारे रोग-शोग दूर हो जाते हैं। ध्वनि अथवा नाद के आधार पर सुश्रुत में चिकित्सा का एक आश्चर्यजनक प्रयोग लिखा है—

---

1. '[illegible] मंत्रैः [illegible] व्याधि विनाशनैः'—सुश्रुत, सू० 5,20-33,
"[illegible] प्रयुञ्जीत, [illegible] अनुर्वात [illegible]...'—चरक शारी० 8,7

प्रयोग में दी हुई अनेक ओपधियों का कल्क बनाकर एक दुन्दुभि (नगाड़ा) पर लेप करे। सुखाले। जिस व्यक्ति को सर्प ने काटा हो उस को जागृत रखने के लिये वही दुन्दुभि वजाई जाय तो वह ध्वनि सर्प के विप को दूर कर देगी।[1]

जब ध्वनि भी चिकित्सा का आधार हो सकती है तब शब्द तो ध्वनि और वक्ता के मनोभावों के सम्मिश्रण से उत्पन्न होते हैं। चिकित्सक की मानसिक शक्ति ही ध्वनि पर आरूढ़ होकर मन्त्र बन जाती है। मन्त्र विद्या का यह प्रचार बुद्ध भगवान के आविर्भाव से पूर्व से ही प्रचलित था। यद्यपि उन्होंने इस प्रकार की जादूगरी को 'मिथ्या जीव' (झूठा व्यवसाय) कह कर त्याज्य वतलाया था। परन्तु फिर भी संसार ने वह झूठा व्यवसाय पकड़े ही रखा। हम उत्तर कालीन वर्णन में देखेंगे कि स्वयं बौद्धों ने ही इस मिथ्या व्यवसाय के प्रचार का बीड़ा उठा लिया था।[2]

उपर्युक्त तीनों प्रकारों के मन्त्र हमें प्राचीन ग्रन्थों में मिलते हैं। सुश्रुत के रक्षा मन्त्र[3] प्रथम श्रेणी के हैं, जिनमें प्राचीन महापुरुषों के संस्मरण हैं—"इन्द्र बलवान है, वह तुझे वल दे। मनु बुद्धिमान हैं वे तुझे बुद्धि दे। गन्धर्व पूर्ण काम हैं, वे तेरी कामनायें पूरी करें।" दूसरी श्रेणी के मंत्र आदि कालीन संहिताओं में प्रायः नहीं हैं। वे मध्यकाल की ही विशेष उपज हैं। वाग्भट के ग्रन्थों में इस प्रकार के मन्त्रों का समावेश हमें मिलता है— 'नि मि नि मि, मे नु मेनु, तु रु तुरु, स्वाहा'।[4] जैन धर्म की गुह्य विधियों में तो इसी प्रकार के मन्त्रों की भरमार है। उदाहरणार्थ आचमन करने का एक मन्त्र देखिये— 'ओं ह्लीं क्ष्वीं क्ष्वीं वं मं हं सं तं पं द्रां द्रां हं सः स्वाहा"।[5] परन्तु तीसरे प्रकार के वैज्ञानिक आधार पर रचे गये मन्त्र एकाक्षर से लेकर जितने अधिक आवश्यक हों उतने ही अक्षरों के रचे जा सकते हैं। वह अक्षरों के पारस्परिक अन्वय और अर्थ से सम्बन्ध नहीं रखते किन्तु उनके उच्चारण एवं प्रयत्नों पर आश्रित हैं। संस्कृत व्याकरण जिन्होंने पढ़ा है, वे जानते हैं कि प्रत्येक वर्ण शरीर के भिन्न-भिन्न अवयव संस्थानों से उच्चरित होता है। 'अ' वर्ण का उच्चारण कण्ठ के स्नायु और श्लेष्म कलाओं के विशेष प्रयत्न से सम्पन्न होता है। उसी प्रकार 'क' वर्ग तथा 'ह' कार का भी उच्चारण कण्ठ के ही विशेष प्रयत्न का फल है।[6] वर्णमाला का प्रत्येक वर्ण इसी प्रकार संस्थान विशेष के भिन्न-भिन्न प्रयत्नों द्वारा उच्चरित होता है। परन्तु यह तो वर्ण के स्थूल उच्चारण की प्रक्रिया है। एक वर्ण के उच्चारण की सूक्ष्म प्रक्रिया तो वहुत गम्भीर है। एक अक्षर वोलने के लिये शरीर

---

1. सुश्रुत संहिता, कल्पस्थान, अध्या० 6
2. 'मन्त्र कोई नई चीज नहीं है...। पाली के 'ब्रह्म जाल सुत' से मालूम होता है कि, बुद्ध के समय में ऐसे शान्ति-सौभाग्य लाने वाले पूजा-प्रकार या कल्प प्रचलित थे।...बुद्ध ने इन सब को 'मिथ्या जीव' (झूठा व्यवसाय) कहकर मना किया; तो भी इस से उन के शिष्य इन विद्याओं में पड़ने से न रुक सके।'—श्री राहुल् सांकृत्यायन, गंगा-पुरातत्वांक, पृ० 214-15
3. सुश्रुत, सू० 5/20-32। स्नान काल में बालकों के ग्रहावेश दूर करने का मन्त्र।
4. अष्टाङ्ग संग्रह, उत्तर० अ० 5.
5. विश्वकोप, भाग 8 पृ० 512.
6. अकुह विसर्जनीयानां कण्ठः'—सिद्धान्त कौमुदी।

के एक-एक परमाणु को प्रगति में आना पड़ता है। वात और पित्त की संगठित और मर्यादित प्रगति न हो तो शब्द का उच्चारण ही असंभव हो जाय। कफ यदि श्लेष्म कलाओं में मर्यादित होकर कार्य न करे तो स्वर ही भंग हो जाय;—वक्षस्थल में वायु का संचार रुक जाय, और ध्वनि का आविर्भाव ही न हो।[1] फिर एक वर्ण एक ही रूप से नहीं किन्तु अनेक रूप से अभिव्यक्त हो सकता है। उदात्त, अनुदात्त, स्वरित। ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत। एक मात्र, द्विमात्र और त्रिमात्रिक आदि न जाने कितने सूक्ष्म और सूक्ष्मतर स्वरूपों में अभिव्यक्त होकर एक ही वर्ण शरीर के नाना अवयवों में जीवन शक्ति का संचार किया करता है। वह कभी पित्त संस्थान को जागृत करता है, तो कभी वात संस्थान को निर्दोष बनाता है, तो कभी शेष दो संस्थानों को। इस प्रकार शरीर के प्रत्येक अवयव में जीवन शक्ति का नवीन-नवीन संचार होता ही रहता है। यह संचार वर्णों के नियमित उच्चारण पर ही तो निर्भर है। इस प्रकार प्रत्येक वर्ण शरीर के भिन्न-भिन्न अवयव संस्थान का अधिष्ठातृ देवता बना हुआ है क्योंकि वह उनसे ही उच्चारित हो सकता है। मन्त्र वैद्य को यह विज्ञान भली-भांति आना चाहिये, कि शरीर के अमुक-अमुक अवयव अमुक-अमुक वर्ण का उच्चारण करने में व्यापृत होते हैं। यदि उन-उन अवयवों में किसी प्रकार का दोष संचित होकर रोग उत्पन्न कर रहा है तो उन अवयवों द्वारा उच्चारण किये जाने वाले वर्णों के पुनः-पुनः प्रयोग द्वारा हम दोष युक्त अवयवों में अविरल जीवन शक्ति के संचार द्वारा संचित दोष को निर्मूल कर उन अवयवों को निर्दोष और निरोग अवश्य बना सकते हैं। ऐसी दशा में प्रत्येक वर्ण एक स्वतन्त्र मन्त्र बन जाता है। क्योंकि वह अकेला ही जीवन-शक्ति को उद्बोधन देने में समर्थ है। ओंकार ऐसा ही मन्त्र है। दोष के न्यूनाधिक्य के अनुसार वर्णोच्चारण के स्वर, काल, स्थान, प्रयत्न आदि में भी अपेक्षित न्यूनाधिक्य किया जा सकता है।[2] जितने अवयव संस्थान दोष युक्त हैं उतने ही वर्ण चुने जा सकते हैं। प्रत्येक वर्ण एक मन्त्र है। उन एकाक्षर मन्त्रों को जोड़कर एक महामन्त्र की रचना की जा सकती है। एक वैद्य रोग और दोष के अनुसार नुस्खे में औषधि द्रव्य घटाता और बढ़ाता है उसी प्रकार मन्त्र वैद्य भी दोष के तारतम्य के अनुसार मन्त्र में वर्णों को घटा-बढ़ा सकता है। जिस प्रकार नुस्खे में गलत प्रयोग किया हुआ द्रव्य रोगी को हानि पहुंचा सकता है, उसी प्रकार मन्त्र में भी गलत प्रयोग किया हुआ वर्ण रोगी को हानिकारक हो सकता है। वर्ण के इसी सूक्ष्म गौरव को देखकर आचार्य पाणिनि ने भी मन्त्र में अर्थ की नहीं किन्तु स्वर और वर्ण की हीनता को

---

1. 'आत्मा बुद्ध्या समेत्यार्थान् मनो युङ्क्ते विवक्षया। मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम्॥
मारुतस्तूरसि चरन्मन्द्रं जनयति स्वरम्।'
सोदीर्णो मूर्ध्न्यभिहतो वक्त्रमापद्य मारुतः। वर्णाञ्जनयते तेषां विभागः पञ्चधा स्मृतः।
—पाणिनीय शिक्षा, 6-9

2. वर्णाञ्जनयते तेषां विभागः पञ्चधा स्मृतः। स्वरतः, कालतः स्थानात् प्रयत्नानुप्रदानतः। इति वर्णविदः प्राहुः।—पाणिनीय शिक्षा 9-10

भी वज्र के समान घातक कहा है।[1] तत्कालीन अक्षर विज्ञान वेत्ताओं ने भली प्रकार विज्ञात और उच्चारित शब्द अथवा वर्णों को स्वर्ग एवं अभीष्ट कामनाओं का साधक बतलाया है।[2]

मत्स्य पुराण में इस रहस्य को बहुत स्पष्ट किया गया है। वहां लिखा है कि वर्णमाला का प्रत्येक अक्षर ही मन्त्र है। जिसका मनन भी भयानक आपत्तियों से त्राण (मं+त्र) प्रदान करता है। उसे जानने वालों की ही कमी है। और प्रयोग करने वाले ही नहीं मिलते :

नामंत्रमक्षरं किञ्चिन्नच द्रव्य मनौषधम्।
नायोग्यः पुरुषः कश्चित प्रयोक्ता एव दुर्लभः ॥

—कोई अक्षर ऐसा नहीं है जिसमें मन्त्र शक्ति नहीं है। कोई द्रव्य ऐसा नहीं जो औषधि शक्ति से रहित हो। कोई पुरुष ऐसा नहीं जो सर्वथा अयोग्य हो। उनके गुणों को जानकर प्रयोग करने वाले ही दुर्लभ हैं।

ऊपर हमने देखा कि मन्त्र चिकित्सा के तीन प्रकार थे। प्रथम और तृतीय पद्धति तो ऐसी हैं कि जिनकी मनोवैज्ञानिक और वैज्ञानिक उपयोगिता सुस्पष्ट है। परन्तु दूसरी पद्धति की उपयोगिता बड़ी संदिग्ध है। सन्दिग्ध ही नहीं, समाज के लिये घातक भी है। इसी प्रणाली ने वुद्धिवाद का नाश किया, गुरुडम की स्थापना की, और समाज में अन्ध-परम्परा फैलाई है। भगवान बुद्ध ने उसे इसी कारण 'मिथ्या जीव' कहा है। मन्त्र प्रयोक्ता गुरु में अन्धविश्वास और श्रद्धा के कारण श्रद्धालु में आन्तरिक प्रेरणायें उत्पन्न अवश्य हो सकती हैं, परन्तु मन्त्र प्रयोक्ता की थोड़ी-सी त्रुटि भी श्रद्धालु के जीवन को विनाश के अन्धकूप में गिरा देने के लिये पथ भ्रष्ट कर सकती है। विवेक का विनाश करने वाली श्रद्धा सदैव घातक है। उत्तरकालीन वज्र-यान और मन्त्र-यान के इतिहास में हम इस सत्य को स्पष्ट देखेंगे। 'ह्रीं क्लीं, हुं फट्' आदि मन्त्रों की रचना भले ही वैज्ञानिक आधार पर की गई हो, परन्तु पीछे जिस शैली से अधिकांश गुरु और चेले उसका प्रयोग करते रहे वह भारतीय समाज के लिये घातक ही सिद्ध हुई है। वह शैली अन्धपरम्परा ही तो थी।

तक्षशिला के प्रसिद्ध विश्वविद्यालय में, जहां अनेक विद्याओं की शिक्षा का प्रवन्ध था, मन्त्रविद्या भी सिखाई जाती थी। 'अनभिरति जातक' के लेखानुसार काशी में रहने वाले एक ब्राह्मण कुमार ने तक्षशिला में सम्पूर्ण मन्त्रविद्या (magic charms) का अध्ययन किया था।[3] 'चाम्पेय जातक' में लिखा है कि एक विद्यार्थी ने तक्षशिला के विश्वविद्यालय में ऐसा मन्त्र सीखा था कि वह सब प्राणियों को अपने वश में कर सकता

1. 'मन्त्रो हीनः स्वरतो वर्णतोवा मिथ्या प्रयुक्तो न तमर्थ माह।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति, यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोपराधात् ॥—पा० शि० 52
अवक्षरं ह्यनायुष्यं विस्वरं व्याधि पीड़ितं। अक्षता शस्त्ररूपेण वज्रं पतति मस्तके।—पा० शि० 53
2. 'एकः शब्दः सुप्रयुक्तः सम्यग्ज्ञातः स्वर्गे लोके कामधुग्भवति'—महाभाष्य
'एवं वर्णाः प्रयोक्तव्या नाव्यक्ता न च पीड़िताः। सम्यग्वर्ण प्रयोगेण ब्रह्मलोके महीयते ॥
—पा० शि० 31
3. The Jataka (cowell) Vol. II, P. 68.

था उस विद्यार्थी द्वारा सांप को वश में करने का वृत्तान्त भी जातक में मिलता है।[1] परन्तु यह समस्त कला प्राचीन प्राणाचार्यों का ही आविष्कार था, जो अब तक तक्षशिला में एक जीवित विज्ञान के रूप में विद्यमान था। सुश्रुत संहिता में इस विद्या का बहुत कुछ उल्लेख हैं।[2] विषैले प्राणियों के, विशेषत: सांप के, विष निवारण के नाना प्रकार के मन्त्रों का तत्कालीन व्यवहार सुश्रुत संहिता से प्राप्त होता है। (प्रथम) मन्त्र का स्वतन्त्र प्रयोग और (दूसरा) मन्त्र का तान्त्रिक प्रयोग सुश्रुत के युग में भी विद्यमान था। किसी रोगी को एक मन्त्र जाप का अनुष्ठान बता देना, अथवा स्वयं वीर भावनाओं के संचारक प्राचीन विजेताओं के संस्मरणात्मक मन्त्र का प्रयोग करना प्रथम प्रकार था। दूसरा तान्त्रिक विधान यह था कि मन्त्र से एक रस्सी या डोरे को अभिमन्त्रित करके अभीष्ट भावनाओं का प्रतीक बना दिया जाता था और वह रस्सी या डोरा 'तन्त्र' कहा जाता था। ऐसे तन्त्र, रोगी के शरीर के किसी अंग में बांध दिये जाते थे। कभी-कभी कुछ मंत्राक्षर लिखकर बांधे जाते थे वे 'मन्त्र' कहे जाते। सुश्रुत ने इसी 'तन्त्र' को 'अरिष्टा' नाम दिया है। सर्प विष के प्रतीकार के लिए ऐसी अरिष्टा' अथवा तन्त्र एवं मन्त्र का विधान सुश्रुत ने किया है। उसने यह भी लिखा है कि देवों और ब्रह्मर्षियों ने ही इस विज्ञान को जन्म दिया था। उनके सत्य और तप के द्वारा आविष्कृत इन वैज्ञानिक मन्त्रों में इतनी तेजस्विता का समावेश है कि विष पर ओषधियां वह काम नहीं कर पातीं जो कि मन्त्र करता है। परन्तु उन मन्त्रों को विष निवारण के लिए जो मन्त्र वैद्य प्रयोग करे उसे स्त्री, मांस और मदिरा का त्याग करना आवश्यक है। उसको मिताहारी भी होना चाहिए। वह गन्दगी से दूर रहे, और भूमि पर कुशाओं के आसन पर शयन करे। नाना प्रकार के पूजा-पाठ और अग्नि होत्र द्वारा देवताओं को प्रसन्न करके मन्त्र सिद्धि-प्राप्त होती है, अन्यथा नहीं। मन्त्र सिद्ध हो जाने पर भी यदि उसे विधिपूर्वक न बोला जाय अथवा वह स्वर या वर्ण से हीन हो तो उसका प्रयोग निष्फल ही रहता है। इसलिए मन्त्र के साथ ओषधियों का प्रयोग भी करना चाहिए।[3] इस वर्णन से प्रतीत होता है कि

---

1. The Jataka (cowell) Vol. IV, P. 283.
2. सुश्रुत सं०, कल्पस्थान अ० 5/3-13
3. 'अरिष्टामपि मन्त्रैश्चवध्नीयान्मन्त्रकोविदः।
   सातु रज्वादिभिर्वद्धा विषप्रतिकरी मता॥
   देव ब्रह्मर्षिभिः प्रोक्ताः मन्त्राःसत्यतपोमयाः।
   भवन्ति नान्यथाक्षिप्रं विषं हन्युः सुदुस्तरम्॥
   विषं तेजोमयैर्मन्त्रैः सत्यब्रह्मतपोमयैः।
   यथानिवार्यते क्षिप्रं प्रयुक्तैर्नतथौषधैः॥
   मन्त्राणां ग्रहणं कार्यं स्त्रीमांस मधुवर्जिना।
   मिताहारेण शुचिना कुशास्तरणशायिना॥
   गन्धमाल्योपहारैश्च वलिभिश्चापि देवताः।
   पूजयेन्मन्त्रसिध्यर्थं जपहोमैश्च यत्नतः॥
   मन्त्रास्त्वविधिनाप्रोक्ता हीनावास्वरवर्णतः।
   यस्मान्न सिद्धिमायान्ति तेनयोज्योऽगदक्रमः॥ —सुश्रुत सं० कल्प० 5/8-13

देवताओं और ब्रह्मर्षियों ने मन्त्रविद्या के प्रयोक्ता के लिए जो-जो शर्तें अथवा व्रताचार आवश्यक बताये थे उन्हें पूरा करने वाले आचार्य मिलना दुष्कर होने के कारण इस विद्या के विद्वान् समाज में सदैव से इने-गिने ही रहे हैं। इसी कारण मन्त्र प्रयोग करने के बाद भी सर्वसाधारण के लिए सुश्रुत ने सन्देहात्मक अवस्था बनी ही रहने का उल्लेख किया है। प्रयोक्ता के आचार अथवा स्वरादि से यदि अनजान में मन्त्र दूषित ही हो गया हो तो मन्त्र के धोखे में सर्पदष्ट व्यक्ति जीवन से ही हाथ धो बैठे। अतएव सुश्रुत की सम्मति में मन्त्र प्रयोग करे तो पीछे से ओषधि प्रयोग करना भी न भूलें। इस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि आदिकाल की भांति मध्यकाल में भी मन्त्र-विद्या के चिकित्सक यद्यपि सर्वत्र सुलभ तो न थे, परन्तु वह विज्ञान अभी तक भलीभांति जीवित अवश्य था। ऐसे चिकित्सक सुलभ न होने का कारण यही था कि आचार-व्यवहार सम्बन्धी जो प्रतिबन्ध मन्त्रवित् के लिए आवश्यक हैं, उन्हें पालन कर सकना आसान काम नहीं था। सफल मन्त्रज्ञ बनने के लिए एक प्रकार से आदित्य ब्रह्मचारी ही होना चाहिए। ऐसे निष्ठावान् ब्रह्मचारी में ही वह शक्ति विकसित हो सकती है जो संकल्प और दर्शन मात्र से विष का प्रभाव नष्ट कर दे। सुश्रुत ने कुछ ऐसे विषधरों का उल्लेख किया है जो दृष्टि मात्र से विष का संचार कर सकते हैं।[1] ठीक वैसे ही पुरुष में भी ब्रह्मचर्य से वह शक्ति उत्पन्न हो सकती है जो दृष्टिमात्र से विष का संहार कर दे। चाहे वे महापुरुष आदिकाल में कहीं स्वर्ग लोक में ही मिल सकते थे, और इस मध्यकाल में तक्षशिला के विश्व-विद्यालय में ही। परन्तु इससे क्या वे चाहे संख्या में थोड़े ही रहे हों, उन्होंने मानवीय आध्यात्मिक शक्तियों के उच्चतम विकास द्वारा एक वैज्ञानिक चमत्कार संसार के समक्ष रक्खा। मध्यकाल की विशेषताओं में यह विज्ञान भी विद्यमान था। व्यावहारिक सत्य के रूप में विद्यमान था।

मध्यकाल के अन्त तक भारत का ओषधि व्यापार संसार भर में सबसे अधिक समुन्नत और राजनैतिक महत्व की चीज थी। रोम, ग्रीस, मिश्र आदि सुदूर देशों में गये हुए भारतीय प्राणाचार्य न केवल एक सांस्कृतिक प्रभाव ही उत्पन्न करते थे किन्तु भारतीय ओषधियों के रासायनिक चमत्कारों द्वारा उन-उन देशों को भारत की ओषधियों को ही व्यवहार में लाने के लिए बड़ा प्रोत्साहन देते थे। मौर्य-युग (325 ई० प्रथम) से भी बहुत पूर्व भारत का यह व्यापार समस्त भूमण्डल पर व्याप्त था। उपलब्ध ऐतिहासिक प्रमाणों के आधार पर यह असन्दिग्ध रूप से कहा जा सकता है कि मौर्यों से पूर्व लगभग तीस शताब्दियों तक भारत ही ओषधियों तथा अन्य व्यावहारिक वस्तुओं के उत्पादन और व्यवसाय का मध्य केन्द्र रहा है। फोनीशियन, इजराइली, असीरियन, यूनानी, मिश्रवासी तथा रोमन लोग बहुत बड़े परिमाण में इन वस्तुओं को भारत से खरीदा करते थे।

---

1. दृष्टिनिश्वास विषा: दिव्या सर्पा:।

—सुश्रु० कल्प० 3/5

रेशम, तैल, पीतल के वर्तन, आसव अरिष्ट, नमक, जड़ी-बूटियां, रंग, सुगन्ध द्रव्य, काली मिर्च, दालचीनी तथा अन्य मसाले समस्त पश्चिमीय प्रदेशों को भारत ही प्रदान करता था।[1] आदिकाल में स्वर्ग की सीमाओं में सीमित भारतवर्ष इस युग में विशाल भारत के रूप में अवश्य परिवर्तित हुआ।

1. Indeed, all the evidences available will clearly show that for full thirty centuaries India stood out as the very heart of the commercial world, cultivating trade relations successively with the phoenicians, jews, Assyrians, Greeks, Egyptians and Romans in ancient times, and Turks, Venetians, Portuguese, Dutch, and English in modern times. Next to silk in value were cotton cloths....India also supplied foreign contries with oils, brassware, a liquid preparation of the sugarcane, salt, drugs and aromatics while she had also a monopoly in the matter of the supply of pepper, cinnamon, and other edible spices which were in great request throughout Europe.

—Indian Shipping by R. K. Mukerjee, pp. 82-83

उत्तर-काल

(भगवान् बुद्ध से लेकर अब तक)

"जो रोगी की सेवा करता है, वह मेरी सेवा करता है।" इन उदार शब्दों के साथ भगवान् बुद्ध ने उत्तर-कालीन युग की आधार शिला रक्खी थी।[1] यही कारण है कि हम आयुर्वेदिक विकास की दृष्टि से उत्तर-काल को मध्य-काल से अधिक सौभाग्य-शाली पाते हैं। यह ठीक है कि हम भगवान् बुद्ध को प्राणाचार्य नहीं कह सकते, परन्तु उन जैसे युग प्रवर्त्तक महापुरुषों का जीवन तत्कालीन सामाजिक, धार्मिक, और साहित्यिक प्रत्येक शाखा में ओत-प्रोत रहता है। उनका व्यापक व्यक्तित्व तत्कालीन राष्ट्र की प्रत्येक वस्तु में चेतना की भांति प्रतीत होता है। राष्ट्र का एक-एक तत्व उनकी आलोचनाओं से परिमार्जित तथा उनके विचारों से नवीन स्फूर्ति प्राप्त करता है। इसलिए भारत वर्ष के उत्तर-कालीन युग के किसी विषय पर विचार करते हुए हम भगवान् बुद्ध देव को अलग नहीं रख सकते। आयुर्वेद का भी वही हाल है। मध्य-काल के महापुरुषों की भांति भगवान् बुद्ध देव ने भी आयुर्वेद को उपेक्षा की दृष्टि से नहीं देखा, किन्तु मनुष्य जीवन के लिए उसे एक आवश्यक विज्ञान समझ कर गौरव प्रदान किया। कुमार भर्तृ जीवक जैसे आयुर्वेदज्ञों की प्रतिष्ठा की। और रोगियों की सेवा को अपने मिशन का मूल मन्त्र घोषित करके आयुर्वेद के पुनर्विकास का मार्ग प्रशस्त कर दिया। इसका ही यह परिणाम हुआ कि भगवान् बुद्ध के अनुचरों ने धार्मिक भावनाओं से अनुप्राणित होकर जहां अन्य अनेक संस्मरणीय कार्य किये, वहां आयुर्वेद के अभ्युदय के लिए भी अपने जीवन का अमूल्य समय अर्पित किया। इसीलिए हम देखते हैं कि महाभारत के बाद प्रायः ढ़ाई हजार वर्ष तक आयुर्वेद में नवीन आविष्कारों का जो क्रम प्रायः बन्द हो चुका था, वह इस युग में फिर से क्रियात्मक रूप में आ गया। और आदि-काल के हजारों वर्षों बाद आयुर्वेद का वैभव एक नवीन रूप लेकर फिर से प्रकट हुआ।

अमर बोधिवृक्ष के नीचे बुद्धत्व प्राप्त कर भगवान् गौतमबुद्ध ऋषिपत्तन (सारनाथ) आये। और भूले हुए संसार को सबसे प्रथम उपदेश दिया—

'भिक्षुओ! संन्यासी को चाहिए कि वह इन दो अन्तों का सेवन न करें। कौन से दो अन्त? एक तो यह जो काम और विषय वासनाओं का जीवन है, जो अत्यन्त हीन, ग्राम्य, अनार्य और अनर्थकर है। और दूसरा यह जो शरीर को व्यर्थ ही पीड़ा पहुंचाना,

---

1. 'बुद्ध और उनके अनुचर', पृ० 12

क्योंकि यह भी अत्यन्त हीन, ग्राम्य, अनार्य और अनर्थकर हैं'।[1]

जीवन का मूल्य कुछ न समझने वाले मध्य-कालीन दार्शनिक विचारों का कितना सुन्दर संशोधन तथागत के इन शब्द में है ? यह उपदेश ही प्रकट करता है कि भगवान् बुद्ध से पूर्व के प्रचारक भिक्षु, विलासी संसार को विषय भोग से निकालकर इस शरीर को शीत और आतप में विनष्ट कर देने से अधिक और कुछ न बता सके। परन्तु तथागत की यह 'मध्यमावृत्ति' संसार का व्यावहारिक मार्ग था। 'संसार में कुछ करने के लिए जीवित रहो' यही उसका आशय है। प्राचीन औपनिषद् विचारों की मानों यह पुनरावृत्ति थी, जिनमें बताया गया था कि 'तुम सौ वर्ष जियो, और कर्मवीर बन कर रहो'।[2] मरने से जीना कहीं अच्छा है, क्योंकि वह कुछ करने के लिए है।[3] परन्तु कुछ करने के लिए स्वस्थ शरीर की ही आवश्यकता है, इसीलिए तथागत ने कहा—'शरीर को व्यर्थ पीड़ा पहुंचाना, ग्राम्य, अनार्य, और अनर्थ कर है।' शारीरिक जीवन की सुरक्षा के लिए शरीर का विज्ञान आवश्यक हो जाता है। शारीरिक विज्ञान और आयुर्वेद दो वस्तुएँ नहीं, एक ही है। जिसने शरीर को तत्वतः जान लिया, समझ लो, वह आयुर्वेदज्ञ हो गया। महर्षि आत्रेय का यह वाक्य तथागत के उपदेशों में कितना अधिक प्रतिबिम्बित होता है 'जिसने शरीर को सर्वथा जान लिया, समझो उसने आयुर्वेद को सम्पूर्ण जान लिया'।[4] इसीलिए हम देखते हैं कि भगवान् बुद्ध ने दुखितों के आत्मिक कषाय ही नहीं, शरीर के मल और मूत्र जैसे कषाय भी धोये हैं।[5] क्योंकि वे जानते थे कि स्वस्थ शरीर से ही धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष सिद्ध हो सकते हैं।[6]

विनय पिटक में भगवान् बुद्ध ने विस्तार पूर्वक ओषधियों के निर्माण, सेवन, तथा वितरण की व्यवस्था की है। उसमें न केवल जड़ी बूटियां ही, किन्तु घृत, मधु, चर्बी, कषाय, फल-पत्र, गोंद, लवण, चूर्ण, मांस-रक्त, धूम्रपान, नस्य, और मद्य आदि सभी पदार्थों की ओषध्युपयोगी व्यवस्था है। स्वेद, चीर-फाड़, विष चिकित्सा, भूत विद्या, आदि कितने ही महत्वपूर्ण आयुर्वेदांगों का अनुशासन विद्यमान है। यह कहना कि भगवान् बुद्ध के प्रचार ने आयुर्वेद को क्षति पहुंचाई, किसी भांति उचित नहीं है।[7]

आयुर्वेदिक विज्ञान की उपयोगिता अनुभव करने के कारण ही भगवान् बुद्ध ने अपने समकालीन प्राणाचार्य कुमारभर्तृ जीवक को एक वैद्य होने के नाते ही अत्यन्त प्रतिष्ठा प्रदान की थी। उस समय भी आयुर्वेद एक चमत्कारी विज्ञान के रूप में जीवित था। जीवक के अध्याय पढ़ने पर आप देखेंगे कि एक बार भगवान् बुद्ध के रोगी शरीर

---

1. भदन्त आनन्द कौसल्यायन 'बुद्ध और उनके अनुचर' पृ० 6
2. कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः'—ईशोपनिषद्
3. जीवितं मरणाच्छ्रेयो जीवन्धर्ममवाप्नुयात्।—म० भा०
4. शरीरं सर्वथा सर्वं सर्वदा वेद यो भिषक्।
   आयुर्वेदं स कार्त्स्न्येन वेद लोक सुखप्रदम्॥—चरक सं० शारीर० 6/19
5. बुद्ध और उनके अनुचर, पृ० 11
6. 'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः'—कठोपनिषद्
7. विनय पिटक 'भैषज्य स्कन्धक' 6—महावग्ग, 6-215

को शुद्ध करने के निमित्त जीवक ने रेचन तैयार किया। वह रेचनौषधि तीन चम्मचों में अलग-अलग प्रस्तुत की गई थी। प्रत्येक चम्मच की ओषधि को केवल सूंघने मात्र से ही दस दस्त होने का जीवक ने दावा किया, और सूंघने पर दस ही दस्त हुए। दूसरी बार भी दस। और तीसरी बार भी दस। यह तत्कालीन आयुर्वेद के समुन्नत और चमत्कारी स्वरूप का चित्र ही है। जीवक की विद्वत्तापूर्ण एक नहीं, अनेकों घटनायें ऐसी हैं जिन्हें आप उस अध्याय में पढ़ेंगे। न केवल शरीर चिकित्सा किन्तु शल्य-चिकित्सा भी उस युग में अत्यन्त समुन्नत दशा में थी। जीवक की कपाल भेदन प्रक्रिया का उल्लेख हमें यह बतलाता है कि उस समय तक भी शल्य शास्त्र का ऊंचा ज्ञान जो भारतीयों को था, वह संसार की किसी दूसरी जाति को न था। प्रत्युत अन्य देश वासी भारत से ही यह विज्ञान सीखा करते थे। ईसा से चार सौ वर्ष पूर्व पर्शियन (ईरान) सम्राट के राज वैद्य क्टेसियस ने भारत वर्ष के सम्बन्ध में एक पुस्तक लिखी थी। इस पुस्तक के जो भाग अब तक उपलब्ध होते हैं, उनसे भारतीय चिकित्सा पद्धति पर बहुत प्रकाश पड़ता है। क्टेसियस के वर्णन से इस परिणाम पर सरलता से पहुंचा जा सकता है कि उस समय तक भी ईरान यूनान और मिश्र आदि पाश्चात्य देश चिकित्सा शास्त्र भारतीयों से ही सीखा करते थे।[1] कालिदास के वर्णन से हम जानते हैं कि इतिहास के आदि काल में ही सम्राट् रघु ने पश्चिमोत्तर प्रान्त से आगे भूमध्य सागर तक के प्रायः समस्त अफगानी, ईरानी और टर्किश, प्रदेश (म्लेच्छ देश) का दिग्विजय करके अपने कोसल राज्य में मिला लिया था।[2] अतएव जो देश हजारों वर्षों तक भारतीय सम्राटों की छत्र-छाया में रह चुके हैं, उन्होंने भारतीय सभ्यता से क्या नहीं सीखा? उन्होंने आदि काल में सीखा, मध्य काल में सीखा, और उत्तर काल में भी सीखा है। आदि काल में जिस प्रकार शिक्षा का सर्वोच्च स्थान काशी था उसी प्रकार इस समय वह कार्य तक्षशिला कर रही थी। तक्षशिला से उतर कर काशी, उज्जयिनी और विदर्भ आदि देशों के विश्वविद्यालय भी शिक्षा प्रसार का गौरव पूर्ण कार्य कर रहे थे। उन सब में आयुर्वेद भी एक महत्वपूर्ण शिक्षा का विषय था।[3] जातक ग्रन्थों से विदित होता है कि तक्षशिला में वेद तथा अठारह विद्यायें पढ़ाई जाती थीं। जिसमें शिल्प, धनुर्विद्या आदि के अतिरिक्त आयुर्वेद एक प्रधान विषय था। भिक्षु आत्रेय इस विषय के आचार्य थे। कुमार भर्तृ जीवक ने यहीं शिक्षा प्राप्त की थी। कोसल के प्रसिद्ध राजा पसेनदी (प्रसेनजित्) यहीं पढ़े थे। काशी के राजकुमार ब्रह्मदत्त

1. Considering that we have no direct evidence of the practice of human dissection in the Heppocratic school, but know of the visit, about 400 B. C., of Ktesias to India, the alternative conclusion of a dependence of Greek anatomy on that of India can not be simply put aside.

—Medicine of ancient India by Hoernle, P. III. Vol 1.

2. पारसी कांस्ततो जेतुं प्रतस्थे स्थल वर्त्मना।
......अपनीत शिरस्त्राणाः शेपास्तं शरणं ययुः।
कम्बोजाः समरे सोढुं तस्यवीर्यमनीश्वराः। ——रघुवंश सर्ग 4/60-70

3. काश्यप सं० उपोद्घात पृ० 186 (सन् 1938)

इसी विश्वविद्यालय के विद्यार्थी थे। किम्बहुना, प्रख्यातनामा आचार्य चाणक्य तथा उनके सहपाठी विष्णु शर्मा को शिक्षित बनाने का श्रेय इसी विश्वविद्यालय को था। बड़े-बड़े राजकुमार तक्षशिला में विद्याध्ययन के लिये जाया करते थे। इस युग के प्रारम्भ काल में अन्य विद्यार्थियों के अतिरिक्त प्रायः 101 राजकुमार इस विद्यालय में विद्याध्ययन कर रहे थे। इतना ही नहीं तीनों वेद और अठारह विद्याओं के अध्यापन के लिये विश्व-विख्यात कितने ही आचार्य वहां मौजूद थे। प्रत्येक आचार्य के पास 500 विद्यार्थी पढ़ा करते थे। यदि हम उक्त 21 विषयों के इक्कीस ही आचार्य मान लें तो भी तक्षशिला के विश्वविद्यालय में पढ़ने वाले विद्यार्थियों की संख्या प्रायः 10601 निकलती है।[1] चाणक्य ने अपने कौटिल्य अर्थ शास्त्र में तत्कालीन शिक्षा व्यवस्था का उल्लेख किया जिससे प्रतीत होता है कि उस युग में ऋत्विक, पुरोहित, आचार्य और वेद पढ़ने वालों को राज्य की ओर से वेतन और मुफ्त भूमि दी जाती थी जिसकी आयसे निश्चिन्त होकर वे जीवन निर्वाह करते हुए विद्या का विस्तार कर सकें।[2] ऐसे विद्वानों के सत्कार के निमित्त जो सम्पत्ति राष्ट्र देता था वह 'पूजा वेतन' कहा जाता था। निर्धन विद्यार्थी भी सरलता से शिक्षा पा सकते थे। परन्तु उन्हें दिन में कुछ समय विद्यालय का काम करना पड़ता था और उस कार्य के बदले में मिला हुआ पुरस्कार उनकी शिक्षा में व्यय किया जाता था। 'दूत जातक' में एक घटना यों भी लिखी है---'एक ब्राह्मण कुमार बहुत गरीब घर में जन्मा था। उसे शिक्षा की बहुत लगन थी। वह तक्षशिला विश्वविद्यालय में पढ़ने का बहुत इच्छुक था। पर 'आचार्य भाग' या विश्वविद्यालय की नियत फीस कहां से लाता? अतः उसने प्रतिज्ञा की कि शिक्षा समाप्त होने पर मैं सारी फीस दे दूंगा। यह बात मान ली गई। वह 'आचार्य भाग दायक' अन्य विद्यार्थियों की भांति आराम से पढ़ता रहा और शिक्षा समाप्त कर चुकने पर उसने अपनी योग्यता और प्रयत्न से आवश्यक 'आचार्य भाग' अदा कर दिया।[3] तत्कालीन शिक्षा प्रणाली को हम इतने से ही भली-भांति हृदयङ्गम कर सकते हैं।

तक्षशिला की यह पद्धति उत्तर काल और मध्यकाल की शिक्षा व्यवस्थाओं पर एक-सा प्रकाश डालती है। क्योंकि उत्तर काल के प्रारम्भ में ही तक्षशिला का विश्व विद्यालय स्थापित नहीं हुआ था। वह बहुत पूर्व से ही स्थापित था। वस्तुतः वह मध्य काल की देन कहा जा सकता है। विद्वानों की राय है कि विश्व विख्यात व्याकरणाचार्य पाणिनि, जो ईसा से कम से कम 700 वर्ष पूर्व हुए थे, तक्षशिला के जगद्विख्यात विश्व-विद्यालय के ही पढ़े हुए आचार्य थे।[4] फलतः ईसा से 600 वर्ष पूर्व, एवं हमारे इस उत्तर

---

1. मौर्य साम्राज्य का इतिहास, अध्याय 28
   राजकुमार 101 }
   21 आचार्यों के विद्यार्थी 10500 } =10601 योग
2. ऋत्विगाचार्य पुरोहित श्रोत्रियादिभ्यो ब्रह्मदेयान्यदण्डकराण्यभिरूप दायकानि प्रयच्छेत्।
   —कौ० अ० 2/1
3. आचार्या विद्यावन्तश्च पूजा वेतनानिलभेरन्" —कौ० अर्थ० 5/3
4. The Jataka (Cowell), Vol. IV, P 140

काल के प्रारम्भ तक तक्षशिला न जाने कितने प्रकाण्ड विद्वान् उत्पन्न कर चुकी थी। विद्वान् लेखक राइस-डेविड महोदय ने भारती मासिक पत्रिका में लिखा था कि न केवल भारत के ही किन्तु वैवीलोनियन, मिश्र, फिनीशियन्, सीरियन्, अरब तथा चीन आदि देशों के भी विद्यार्थी एवं स्वाध्याय शील विद्वान्, आयुर्वेद अध्ययन के लिये तक्षशिला के विश्वविद्यालय में आया करते थे।[1] ऐसी दशा में वे लोग कितने भ्रम में हैं जो यह समझते हैं कि भारतीय आयुर्वेद पर ग्रीक (यूनान) विद्वानों का कोई ऋण है। ग्रीस में चिकित्सा पद्धति का प्रथम संस्थापक हिपोक्रेटिस था, जो ईसा से केवल 460 वर्ष पूर्व कास नगर (Cos) में उत्पन्न हुआ था।[2] इतिहास इस बात का साक्षी है कि ग्रीक लोग ही भारतीयों से आयुर्वेद विज्ञान प्राप्त करते रहे हैं। यही कारण है कि ग्रीक वैद्यक (यूनानी चिकित्सा) के विचार भारत के आयुर्वेदिक विचारों से मिलते हुए ही हैं। जो त्रिदोषवाद आपको आयुर्वेद में मिलेगा वही आप हिपोक्रेटिस के विचारों में पाइयेगा। निदान की आत्रेय और सुश्रुतीय परिपाटी ही हिपोक्रेटिस को मान्य है। मुख की दुर्गन्धि नष्ट करने वाली जो औषधि हिपोक्रेटिस ने लिखी (De morbis mulicrum lib. II. P. 666) है उसे स्पष्ट ही उसने 'भारतीय औषध' (Indian medicament) नाम से लिखा है।[3] यूनानी चिकित्सा साहित्य में आयुर्वेद के ही रोग तथा औषधियों के नाम कुछ हेर-फेर के साथ आप पायेंगे। उदाहरण के लिये कुछ शब्दों को देखिये—

आयुर्वेद	यूनानी
जटा मांसी	जतमनसी
शृङ्गवेर	जिञ्जिवेर
पिप्पली	पेपेरी
त्रिफला	इत्रिफल
कुष्ठ	कोस्तस्
शर्करा	सकरून

यह तो कुछेक शब्दों का निदर्शन है, यदि अधिक तुलना की जाय तो आप समस्त ग्रीक (यूनानी) चिकित्सा विज्ञान को आयुर्वेद के प्रभाव से अनुरञ्जित ही पाइयेगा।

हिपोक्रिटस् से पूर्ववर्ती अनेक ग्रीक विद्वान् भी भारत आते रहते थे, यह इतिहासज्ञों से छिपा नहीं है। एम्पीडोक्लीस, (Empedocles 495-435 B. C.) जो हिपोक्रिटस् (400B.C.) से भी कुछ पूर्व ग्रीक में एक प्रतिष्ठित विद्वान था, भारत के पश्चिमीय

---

1. Indian Antiquary Part. I Dr. Bhandarkar तथा 'पाणिनी का भौगोलिक ज्ञान' शीर्षक तथा साहित्याचार्य पं० बलदेव उपाध्याय का 'श्री शारदा' 1923 का लेख देखें।
2. 'भारती', वर्ष 48, पृ० 704
3. From ancient biographies of Hippocrates by Suidas, by Tzetzes and by Soranus, we gather that Hippocrates was born in Cos in 460 B. C.—Hippocrates, Vol. 1., P. XLII.
4. History of Dentistry by Dr. Gerini P. 50 and Fourth Oriental Conference Proceedings, Vol. II., P. 427

प्रान्तों में रहकर भारतीय दार्शनिक एवं आयुर्वेदिक विचारों को अपने साथ ग्रीस में ले गया था।[1] पाथागोरस (582-470 B. C.) नामक ग्रीक विद्वान भी भारत आया, और भारतीय विचारों का उसने भी ग्रीस में प्रचार किया था।[2] ईसा से 326 वर्ष पूर्व यूनान के सम्राट् सिकन्दर ने भारत पर आक्रमण किया था। यह चन्द्रगुप्त मौर्य का प्रारंभिक युग था। यद्यपि सिकन्दर पंजाब से आगे न बढ़ सका, क्योंकि वीर भारतीयों ने रणस्थली में उसके दांत खट्टे कर दिये। परन्तु इतनी ही दूर तक की अपनी विजय यात्रा सिकन्दर के प्रायः तेरह लेखक-साथियों ने अलग-अलग लिखी है। वे सारे ही लेख जो आज उपलब्ध होते हैं, भारत वर्ष के सर्वाङ्गीण गौरव से भरे हुए हैं।[3] सिकन्दर की विशाल सेना में कतिपय, यूनानी वैद्य भी थे, परन्तु अनेक ऐसे रोग थे, जिनकी चिकित्सा वे न कर सके। परन्तु सिकन्दर ने भारत में आकर देखा कि भारतीय वैद्य उनकी चिकित्सा सफलता पूर्वक करते थे, अतएव उसने अपने विजित प्रदेश में से भारतीय चिकित्सकों को ही सेना के चिकित्सार्थ ऊँचे-ऊँचे पदों पर प्रतिष्ठित किया। यूनानी वैद्य सर्प विष की चिकित्सा से सर्वथा अनभिज्ञ थे। इस कारण उसने भारतीय विष वैद्यों को अपनी सेना में तो नियुक्त किया ही, साथ ही लौटते समय अनेक विद्वान चिकित्सकों को अपने साथ यूनान भी ले गया। उन दिनों तक यूनान में लोग सर्प विष की चिकित्सा न जानते थे। वह यहां से गये हुए वैद्यों ने उन्हें सिखाई थी।[4]

---

1. History of Hindu Chemistry—P. C. Ray, Vol. 1, P. 22
2. (a) Certain it is, that he (Pythagoras) visited India which I trust I shall make self-evident.
   —India in Greece, Pococke, P. 353
   (b) Schlegel says : The doctrine of the transmigration of souls was indigenous to India and was brought into Greece by Pythagoras. —History of Literature, P. 109
3. मौर्य साम्राज्य का इतिहास, पृ० 18
4. The science continued to flourish down to the advent of the Greeks in India (327 B. C.). Arvian, the Greek historian in describing the condition of India at the time of the invasion of Alexander the Great. refers to a curious act, which reflects no small credit on the Hindu physicians of the day. Alexander had in his train several proficient Greek physicians, but these had to confess their inability to deal with cases of snake bite, very common in the Punjab. Alexander was therefore obliged to consult Indian Vaidyas, who successfully treated these cases.

   The macedonian king was so struck with their skill that, according to Nearchus, he employed some good vaidyas in his camp, and desired his followers to consult these Indian physicians in cases of snake-bite and other dangerous ailments. In face of the facts that the European texicologists are still in search of a

323 ई० में सिकन्दर की मृत्यु हो जाने के पश्चात् सैल्यूकस यूनानी साम्राज्य का प्रभावशाली सम्राट् बन गया था। सैल्यूकस यद्यपि था तो सीरिया का राजा, परन्तु उसने 15-20 वर्ष में समस्त ग्रीक साम्राज्य पर अपनी प्रभुता स्थापित कर ली थी। ग्रीक और भारतीय साम्राज्य के मध्य में अब कोई दूसरा स्वतन्त्र साम्राज्य शेष न था। सैल्यूकस के साम्राज्य की पूर्वीय सीमा भारत वर्ष से आ लगी थी।[1] हिन्दू कुश पर्वत से लेकर काबुल, हिरात, और कन्धार आदि स्थान भारतवर्ष के ही अन्तर्गत थे।[2] चन्द्रगुप्त मौर्य से परास्त होकर सैल्यूकस ने अपनी पुत्री का विवाह चन्द्रगुप्त के साथ कर दिया, और अपना एक दूत भी चन्द्रगुप्त के राज दरबार में नियुक्त किया। इसका नाम मैगास्थनीज था। मैगास्थनीज बहुत समय तक पटना में रहा। अपने इस दीर्घकालीन भारत निवास में उसने भारत का अत्यन्त विस्तृत वर्णन लिखा था। उसने लिखा है कि 'भारतवर्ष में उस समय उपवनों में रहने वाले श्रमणों की बहुत प्रतिष्ठा थी। इनके बाद दूसरे नम्बर पर चिकित्सकों को प्रतिष्ठा प्राप्त थी। वे श्रमण संन्यासी होते हुए चिकित्सक भी थे।' हमने पिछली पंक्तियों में क्टेसियस नामक पर्शियन (ईरानी) राजवैद्य का उल्लेख किया है। यह ईसा से 400 वर्ष पूर्व था। अपनी पुस्तक 'इण्डिया' में उसने भारतीय पौदों, कीड़ों, रंग, बन्दर, हाथी और तोते आदि पक्षियों का उल्लेख किया है। वह लिखता है कि भारतीयों को सिरदर्द, दन्तशूल, अक्षिशोथ, मुखपाक और व्रण आदि रोग होते ही नहीं थे। इस प्रकार हम यह निस्संकोच कह सकते हैं कि उत्तरकाल के प्रारम्भ युग में भारतवर्ष ही चिकित्सा-विज्ञान में समस्त विश्व का गुरु बना हुआ था। और भारतीय स्वयं भी आयुर्वेद से पूरा-पूरा लाभ उठा रहे थे। भारतीय ही नहीं, 'डीट्स' नामक लेखक नें सिद्ध किया है कि यूनानी चिकित्सकों को भी भारतीयों के वैद्यक ग्रन्थों से अच्छा परिचय था, और वे अपने उस भारतीय चिकित्सा विज्ञान के कारण, जो उन्हें प्राप्त था, अपने आप को धन्य तथा सफल समझते थे।[3] जब हम ग्रीस की बात करते हैं तब बैबीलोनियां, सीरिया, और समस्त पश्चिमीय पर्शिया के छोटे-छोटे राष्ट्र भी उसी में अन्तर्भूत समझने चाहिये, ठीक उसी प्रकार भारतवर्ष का नाम लेने के साथ भी अफगानिस्तान, बिलोचिस्तान, तथा पर्शिया की भिन्न-भिन्न सत्ताओं को भूल जाना

---

specific for snake poison, the Indian physicians who lived some 2200 year ago might well be proud of their skill. It is very likely that on his homeward march Alexander or Sikander as he is called in India, took with him a few professors of Hindu medicine. This supposition receives some support from the early History of Greek-medicine.

—Short History of Aryan Medical Science, P. 189-190.
by H. H. Bhagwat Singhjee

1. मौर्य० सा० का इति०, पृ० 139
2. वही, पृ० 149
3. वही, पृ० 286-289

आवश्यक है।[1] क्योंकि वे भारतवर्ष के ही प्रान्त थे।

पाश्चात्य ऐतिहासिकों के अनुसार सभ्यता के आदिम विकास स्थान सुमेरिया (दजला और फरात का दो आब) और मिश्र में (ई० पू० 6000 से 3000 के वीच) सुमेरियन और सेमेटिक जातियों ने जिस सभ्यता को जन्म दिया था उसमें यद्यपि कांसा, तांबा, सोना, चांदी के साथ-साथ उल्कोद्भव लौह का ज्ञान तो था[2] परन्तु वे उसके साधारण स्थूल उपयोग के अतिरिक्त और कुछ न जानते थे। 2500 ई० पू० तक, जवकि सेमेटिक जाति सुमेरिया, वैवीलोन, मिश्र, फिनीशिया तथा क्रीट तक व्याप्त हो गई थी, इन्हें उल्कोद्भव लौह के अतिरिक्त भूमि से लोहा प्राप्त करने की विधि का ज्ञान नहीं था।[3] ई० पू० 1600 से लेकर 600 तक, प्रायः एक हजार वर्ष के वीच वैवीलोन, मिश्र और मैसोपोटामिया (ईराक) की सभ्यता का विकास हुआ था, इस समय यहाँ पर यद्यपि वैद्यक विद्या तथा चिकित्सा का आविर्भाव हो चुका था परन्तु धातुओं का प्रयोग वर्तनों, हथियारों तथा आभूषणों के लिये ही होता था।[4] यह हमारे देश में यास्क, पाणिनि और वुद्ध के समय तक सूत्र काल का युग था, जव तक्षशिला के विश्वविद्यालय द्वारा जनसाधारण तक धातुओं का रासायनिक विश्लेषण पराकाष्ठा तक पहुंचा हुआ था। इस काल से कितने ही पूर्व सुमेरिया, वलख (Bactria) और पुष्कलावती (चारसद्दा) के कांकायन तथा पौष्कलावत जैसे विद्वान काम्पिल्य और काशी में इन पदार्थों का उत्कृष्ट रासायनिक ज्ञान भारत से प्राप्त कर चुके थे। ईसा से सत्रहवीं शताब्दी से लेकर छठी शती पूर्व तक, एक हजार वर्ष के वीच ईजियनों को पराजित कर ई० पू० 8वीं शती में यूनानियों का उदय हुआ था, तव वे लोहे का प्रयोग जानते थे।[5] इससे वहुत पूर्व आर्यों के वैज्ञानिक आविष्कार मैसोपोटामिया, मिश्र, सीरिया, वैवीलोनिया, क्रीट और स्वयं यूनान तक पहुंच चुके थे।

जिस प्रकार पश्चिमोत्तर प्रदेश में उक्त सम्पूर्ण भूभाग के आयुर्वेद का विस्तार तक्षशिला के विश्वविद्यालय द्वारा हो रहा था, उसी प्रकार पूर्वीय भारत के समस्त क्षेत्र में काशी, नालन्दा और विक्रमशिला के विश्वविद्यालय ईसा की आठवीं शताब्दी तक अपूर्व कार्य कर रहे थे। ह्यून सांग ने लिखा है कि अकेले नालन्दा विश्वविद्यालय में दस सहस्र उपाध्याय, भिक्षु-आचार्य शीलभद्र के आचार्यत्व में विभिन्न विषयों की शिक्षा देते

---

1. मौर्यसाम्राज्य का इतिहास, पृ० 141
2. संसार का संक्षिप्त इतिहास—एच० जी० वैल्स कृत तथा पं० श्री नारायण चतुर्वेदी व श्री मदन गोपाल द्वारा अनूदित, पृ० 93-95 तक
3. 'ई० पू० 2500 के क्रीट निवासी भद्र पुरुष के लिये लोहा एक अलभ्य धातु थी, जो कभी-कभी किसी उल्का के साथ पृथ्वी पर आ जाती थी, क्योंकि उस समय तक लोगों को उल्का के लोहे का ही ज्ञान था। कच्चे लोहे को साफ कर लोहा निकालना नहीं सीखा था। क्रीट-निवासी लोहे को एक अद्भुत पदार्थ समझते थे, वे उसके उपयोगों से अपरिचित थे।'
—संसार का सं० इति०, H. G. Wells अनु० पृ० 108
4. संसार का इति०—वैल्स, अनुवाद, पृ० 116
5. वही, पृ० 119

थे।[1] इनमें आयुर्वेद भी एक प्रधान विषय था। इन विद्यालयों का कार्यक्षेत्र भी केवल भारतवर्ष के अन्दर ही सीमित न था, किन्तु पूर्वीय द्वीपसमूह, स्याम, इण्डोचीन, ब्रह्मदेश तथा चीन आदि के सुदूरवर्ती प्रदेश भी इनसे लाभ उठा रहे थे। स्याम और कम्बोडिया (इण्डोचाइना) में मिलने वाले शिलालेखों से इस ओर के कार्यों पर बहुत प्रकाश पड़ता है। इस सम्बन्ध में भारतीय पोतकला के इतिहास लेखक श्री राधाकुमुद मुकर्जी ने अपनी पुस्तक Indian Shipping में बड़े महत्व की बातें लिखी हैं। जिन लोगों का विचार यह है कि भारतीय समुद्रयात्रा करते ही न थे, वे भ्रम में हैं। समुद्रयात्रा को अधर्म कहने वाले विचार भारत की वास्तविक संस्कृति में कभी भी समाविष्ट न थे। विजेता सिकन्दर जब भारत से यूनान को वापस गया उस समय उसने अपनी आधी से अधिक सेना को 'नियार्कस' के सेनापतित्व में लाल सागर पहुंचने की व्यवस्था की थी। इस सेना को ले जाने के लिए भारत ने ही अपने जहाज दिये थे।[2] ये जहाज मामूली नौकायें न थे किन्तु उनका साधारण आयाम-प्रयाम इतना होता था जिसमें 800 से लेकर 1000 यात्री तक सुविधा-पूर्वक यात्रा कर सकते थे।[3] शल्य चिकित्सा को 'आसुरी चिकित्सा' कहकर तिरस्कार करने वालों की भांति ही समुद्रयात्रा को पाप कहने वाले कायर विचार बहुत पीछे से पल्लवित हुए हैं। वे क्यों पल्लवित हो सके, यह तो हम यहां नहीं सोचना चाहते, परन्तु इसमें अणुमात्र भी सन्देह नहीं है कि यह घृणित विचार भारतीयों की मौलिक संस्कृति के साथ कोई सम्बन्ध नहीं रखते। महाकवि कालिदास ने भारत का औषधि व्यापार पूर्वीय द्वीप समूहों से होने का उल्लेख किया है।[4] कालिदास के उल्लेख में यह स्पष्ट है कि कलिंग देश के बन्दरगाहों पर पूर्वीय द्वीपों से लौंग आती थीं। कलिंगदेश आज के मद्रास का उत्तरार्ध तथा उड़ीसा का सम्पूर्ण भाग मिलकर बना था। बालासोर, कटक, जगन्नाथपुरी, धौली और तुपाली आदि स्थान कलिंगदेश के ही अन्तर्गत थे। जिन पूर्वीय द्वीपसमूहों से भारत का इतना घनिष्ठ व्यवहार रहा है, वे भारतीय सभ्यता से व्याप्त थे, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं। जावा में ईसा की नवीं शती के सम्राट् दक्ष तथा 13वीं शती के रजससंग अमुर्वभूमि के मूर्तिकला सम्बन्धी शिव तथा बौद्ध प्रज्ञापारमिता के संस्मरण देखिये।[5] पूर्वीय द्वीपों में पैदा होने वाले लवंग आदि औषधि द्रव्य भारतीय वैद्यों की ही प्रयोगशालाओं और ओषधालयों में खर्च होते थे।

ईसा के बाद 525-650 वर्षों में गुप्त साम्राज्य के पतन के साथ-साथ अन्य देशों के साथ भारत का व्यवसाय गिरने लगा। हमारे जहाजी बेड़े नष्ट होने लगे और देशान्तरों से पोतमार्ग से स्थापित होने वाले हमारे सम्बन्ध शिथिल होते चले गये।

---

1. ला० लाजपतराय, भारत का इतिहास, पृ० 237
2. मौर्य सा० का इति०, पृ० 309-310
3. इस सम्बन्ध में विस्तृत वर्णन डा० राधाकुमुद मुकर्जी लिखित Indian Shipping, पृ० 19-31 पर देखिये।
4. अनेन सार्धं विहराम्बुराशेस्तीरेषु तालीवनमर्मरेषु।
   द्वीपान्तरानीतलवंग पुष्पैरपाकृत स्वेदलवा मरुद्भिः॥ —रघुवंश 6/57
5. भारतीय मूर्तिकला, रामकृष्णदास, पृ० 126-127

समय-समय पर आने वाले यवन बादशाहों ने भारत की सीमाओं को बद्ध करना प्रारम्भ किया। जावा, सुमात्रा आदि पूर्वीय भारत के उपनिवेशों पर भी उन्होंने अधिकार जमा लिया। भारतीयों की सुविधायें वहां नष्ट हो गईं। इसलिए समुद्रयात्रा धीरे-धीरे पाप बनती चली गई। अन्यथा गुप्त साम्राज्य में बुद्धघोष, कुमारजीव, दीपंकर श्री ज्ञान, आदि न जाने कितने ही बौद्धभिक्षुओं ने चीन, तिब्बत और जापान आदि पूर्वीय देशों में भारत के दार्शनिक और वैज्ञानिक तत्वों का प्रचार किया था।[1] इन वैज्ञानिक तत्वों में आयुर्वेद ही मुख्य था। भट्टार हरिश्चन्द्र, वाग्भट, इन्दु, जेज्जट, जैसे धुरन्धर आयुर्वेदाचार्य इसी युग में हुए थे। गुप्तयुग की सभ्यता के चिह्न जावा, सुमात्रा, स्याम, कम्बोडिया, जापान एवं चीन आदि में आज भी देखे जाते हैं। यह सारा प्रसार स्थल-मार्ग से ही नहीं, किन्तु पोतों द्वारा जलमार्ग से भी हुआ था।[2]

विशाल भारत का यह वह स्वरूप है जो उत्तरकाल के प्रारम्भ में विद्यमान था। आयुर्वेद का विज्ञान इतने महान् एवं विस्तीर्ण मानवीय जगत् पर एकछत्र शासन कर रहा था। हमने पिछले ऐतिहासिक प्रमाणों के आधार पर देखा कि इस समय तक भी समस्त मानव जगत् का शिक्षक भारतवर्ष ही था। यूरोप, एशिया और अफ्रीका के समस्त राष्ट्र प्रायः यहां के प्राणाचार्यों से ही अनुशासित होते थे। कहते हैं कि यूरोप का सबसे पुराना औषधालय पेरिस में था। यह ईसा की 7वीं शताब्दी में बना था। कुछ लोगों की राय यह है कि वह चौथी शताब्दी में कांस्टन्टाइन के समय में स्थापित हुआ था। इससे पूर्व यूरोप में रोगियों की वैज्ञानिक चिकित्सा का कोई प्रबन्ध न था।[3] ऐसी दशा में स्वयं भारत वर्ष के अन्दर आयुर्वेद की अवस्था अत्यन्त सुन्दर और आदर्श होना आवश्यक था। भगवान् बुद्ध के समय तक के आयुर्वेद का प्रतिबिम्ब हमने तक्षशिला के विश्वविद्यालय

---

1. भदन्त आनन्द कोसल्यायन लिखित 'बुद्ध और उनके अनुचर' देखें।
2. (अ) The representation of ships and boats furnished by Ajanta paintings are mostly in cave no 2, of which the date is, as we have seen, placed between 525-650 A.D. These were the closing years of the age which witnessed—The expansion of India and the spread of Indian thought and çulture over the greater part of the Asiatic continent. The vitality and individuality of Indian civilization were already fully developed during the spacious times of Gupta imperialism, which about the end of the 7th century even transplanted itself to the further East, aiding in the civilization of Java, Siam China, and even Japan.

   —Indian Shipping by Radha Kumud Mukerjee, M.A. P. 39-40

   (ब) मौर्य साम्राज्य का इतिहास—श्री सत्यकेतु विद्यालंकार लिखित, पृष्ठ 302 से 310 तक देखिये।
3. ला० लाजपत राय, भा० व० का इति०, पृ० 214

तथा कुमार भर्तृ जीवक के वर्णन में देखा है। इसके अनन्तर प्राय: 300 वर्ष बाद हमें मौर्य युग के संस्मरणों में आयुर्वेद का जो इतिहास मिलता है वह भी उसके एक जीवित विज्ञान होने का परिचायक है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र से हमें इस सम्बन्ध में बहुत कुछ जानकारी प्राप्त होती है। हम धन्वन्तरि के समय की शासन-व्यवस्था में यह देखते हैं कि उस समय प्रजा के हित और स्वास्थ्य की चिन्ता राजा का कर्त्तव्य था। इसीलिये धन्वन्तरि ने लिखा है कि मूर्ख वैद्य लोगों को, जो प्रजा के स्वास्थ्य को हानि पहुंचाते हैं, फांसी दे देनी चाहिये। चाणक्य के समय तक भी भारत की वह राज-व्यवस्था बहुत अंशों में विद्यमान थी। राजा प्रजा के हित साधन को अपना कर्त्तव्य मानता था। उसने लिखा है कि राजा को विलासिता छोड़कर प्रजा के हित में ही अपना हित समझना चाहिये।[1] चाणक्य ने राज्यतन्त्र के बीस विभाग, और उनके संचालकों का उल्लेख किया है।[2] इनमें कई विभाग केवल प्रजा के स्वास्थ्य के संरक्षण के लिये ही हैं; तथा कुछ विभाग चिकित्सा द्रव्यों को संचित कर उचित मूल्य पर वैद्यों को पहुंचाने का ही कार्य करते थे। उन विभागों के अध्यक्षों के कर्त्तव्य का विस्तृत उल्लेख भी हमें कौटिल्य के लेखों में मिलता है। समाहार एक प्रधान राजकीय विभाग था। इसका अध्यक्ष 'समाहर्त्ता' कहलाता था। समस्त राजकीय आय इसी समाहर्त्ता (The Minister of Revenue) के आधीन होती थी।[3]

इस विभाग के अन्तर्गत सात उपविभाग और थे, वे (1) दुर्ग, (2) राष्ट्र, (3) खनि, (4) सेतु, (5) वन, (6) व्रज और (7) वणिक् नाम से कहे जाते थे।[4] इन सातों विभागों में प्रथम और द्वितीय को छोड़कर शेष पांच विभाग आयुर्वेद अथवा स्वास्थ्य सम्बन्धी प्रश्नों से सीधा सम्बन्ध रखते थे। खनि विभाग द्वारा सोना, चांदी, हीरा, मणि, मुक्ता, प्रवाल, लोहा, नमक, पत्थर, तथा रस (पारद) आदि खनिज द्रव्यों का ग्रहण होना था। 'सेतु' विभाग में पुष्प, फल, वाट्, षण्ड (लतावल्लरी) कन्द-मूल आदि पदार्थ आते थे, 'व्रज' विभाग द्वारा गाय, भैंस, बकरी, ऊंट, गधा, घोड़ा, खच्चर आदि पशुओं की व्यवस्था होती थी। 'वन' विभाग पशु-द्रव्य, मृग-द्रव्य, हाथी आदि अन्यान्य जांगल द्रव्यों का मालिक था और 'वणिक्' विभाग स्थल पथ और वारिपथ द्वारा होने वाले व्यवसाय की व्यवस्था किया करता था। अत्यन्त व्यावहारिक वस्तुओं का आदान-प्रदान करने के लिये 'कुप्याध्यक्ष'[5] एक प्रधान अधिकारी तथा द्रव्यपाल' और 'वनपाल' उसके सहायक अधिकारी नियुक्त थे। इन अधिकारियों का मुख्य कर्त्तव्य ही यह था कि औषधि तथा तत्सम्बन्धी चावल आदि भोज्यान्नों की व्यवस्था किया करें। शाक, साठी का चावल, अर्जुन, महुआ, तिल, लोध, साग्वान, शीशम, खैर, खिरनी, शिरस, विट्खदिर, देवदार, ताल, राल, अश्वकर्ण, कत्था, मांसरोहिणी, रोहिणी, आम्रप्रियक, धाव के पुष्प, आदि औषधिद्रव्य तथा अनेक

1. प्रजा सुखे सुखं राज्ञ:, प्रजानांच हिते हितम्।
नात्मप्रियं हितंराज्ञ:, प्रजानांतु प्रियं हितम्॥ —कौ० अर्थ०
2. मौर्यसाम्राज्य का इतिहास, पृ० 178
3. कौटिल्य अर्थ० 2/6
4. वही, 2/6
5. वही,, 2/17

पत्र, पुष्प, लता, वेल, फल आदि जंगलों में उत्पन्न होने वाले पदार्थों का संग्रह इन अधिकारियों की देख-रेख में ही हुआ करता था। देशी और विदेशी खरीदारों को 'पण्याध्यक्ष'[1] द्वारा वेचने की व्यवस्था की जाती थी। उपर्युक्त अधिकारी ही इन द्रव्यों से तैयार होने वाली ओषधियों को कारखानों में तैयार कराते और देश-विदेशों में विक्रयार्थ भेजते थे। थल और जलमार्ग से होने वाले व्यवसाय का उल्लेख तो पिछली पंक्तियों में किया ही जा चुका है। तैयार की गई ओषधियों के वड़े-वड़े भण्डार (Stocks) वने रहते थे, जिनमें प्रत्येक ओषधि सुरक्षित रूप से वड़े परिमाण में रक्खी जाती थी। ये कोषगृह भी वड़े वैज्ञानिक ढंग के वने हुए रहते थे।[2] मनु के समय के तुल्य ही हम देखते हैं कि ओषधियों की व्यवस्था करना इस युग में भी राजा के कर्त्तव्यों में ही समाविष्ट था। इस प्रकार आयुर्वेद की शिक्षा और चिकित्सा की व्यवस्था का भार वैद्य पर नहीं, किन्तु राजा के आधीन रहने की ही भारतीय परिपाटी हमें इतिहास में मिलती है। क्योंकि विना राजकीय सहयोग के चिकित्सा-विज्ञान सफलतापूर्वक हर कोई नहीं पढ़ सकता, और वहु-व्यय-साध्य ओषधियों तथा यन्त्रों का संग्रह विना राजकीय सहायता के जन-साधारण की शक्ति से वाहर है।

चिकित्सा का यह सुन्दर प्रवन्ध भारतीयों के लिए तो था ही, किन्तु विदेशियों के लिए भी किया जाता था। मैगस्थनीज ने पाटलिपुत्र के स्वशासन का जो उल्लेख किया है उससे यह स्पष्ट है कि प्रत्येक नगर में स्वागत गृह वने हुए थे। इनमें विदेशियों के ठहरने का पूरा प्रवन्ध था। यदि कोई विदेशी अतिथि वीमार हो जाता था, तो उसकी चिकित्सा के लिए एक वैद्य नियुक्त रहता था। उसके पथ्य भोजन और अन्य आहार-विहार का भी प्रवन्ध था। मृत विदेशी के शव को भूमि में गाड़ दिया जाता था। इस विभाग से भी वहुत कुछ आय होती थी। यह आय देश के दीन और अनाथ व्यक्तियों को विभाजित की जाती थी। परन्तु यह धन यों ही न लुटाया जाता था किन्तु उन्हें हल्के-हल्के काम दिये जाते थे। चर्खों द्वारा सूत कात कर देना मुख्य था। इस सारी व्यवस्था के लिए एक राजकीय उप समिति स्थापित होती थी।[3] एक व्यवस्था समिति इस कार्य के लिए भी थी कि वह देश की जन्म और मृत्यु संख्या का लेखा रक्खे। चन्द्रगुप्त मौर्य के राज्य में जन संख्या का इतना सुन्दर प्रवन्ध था कि वह आज तक किसी राजकीय शासन में नहीं हो सका।[4] चन्द्रगुप्त ने 'धर्मस्थीय' और 'कण्टक शोधन' नाम के दो प्रकार के न्यायालयों की स्थापना की थी। प्रथम प्रकार के न्यायालय जनता के नागरिक और व्यक्तिगत स्वत्व एवं अधिकारों की रक्षा के लिए थे, तथा दूसरे 'कण्टक शोधन' न्यायालय राजकीय एवं सामाजिक नियमों के अतिक्रमण करने वालों के दण्ड विधानार्थ कार्य करते थे। कण्टक शोधन न्यायालय में एक वैद्य नियुक्त रहता था जो सन्दिग्ध दशा में कन्याओं पर वलात्कार होने या न होने का निर्णय करता था। मृत व्यक्ति के शव की परीक्षा (Postmortem) द्वारा वह यह

---

1. कौ० अर्थ०, 2/16
2. कौ० अर्थ०, 2/5
3. मौर्य सा० का इति०, पृ० 218 तथा 275 (1985)
4. V. A. Smith—'The Early History of India' 4th Edition, P. 138

भी निश्चय करता था कि मृत्यु का कारण क्या है ? इन्हीं निर्णयों के आधार पर न्यायालय फैसला किया किया करते थे ।[1]

उस समय बच्चों, बूढ़ों, कठिन रोगियों, धन हीन व्यक्तियों तथा अनाथों के लिए ऐसी राजकीय संस्थायें थीं जहाँ उनके हर प्रकार के कष्ट निवारण के लिए राजा प्रवन्ध करता था। उन्हें ओपधियां, पथ्य भोजन, वस्त्रादि मुफ्त दिये जाते थे। इस प्रकार उन्हें स्वस्थ बनाकर इस योग्य करदिया जाता था कि वे काम करने योग्य हो जावें। काम करने वालों को राज्य की ओर से यथा योग्य काम दिया जाता था। तत्कालीन भारत में आयुर्वेद के अष्टांग विभाग को दृष्टि में रख कर कई प्रकार के चिकित्सालय स्थापित किये गये थे।[2] उन समस्त चिकित्सालयों के साथ एक भैपज्यागार (medical store) होता था। इसमें प्रचुर परिमाण में ओपधियों का संग्रह रहा करता था। कौटिल्य के अनुसार नगर के उत्तर पश्चिम में यह ओषधि शाला होनी चाहिए।[3] इन शालाओं में ओषधियां तथा अन्य उपकरण इतने अधिक होते थे कि निरन्तर व्यय होते रहने पर भी वे एक वर्ष तक समाप्त न हो सकें। उनमें जो-जो वस्तुयें पुरानी हों उन्हें हटाकर वर्ष के भीतर ही नई वस्तु उनके स्थान पर रक्खी जावे, इसका विशेष ध्यान रक्खा जाता था। कौटिल्य ने इन भैपज्यागारों का विस्तृत और विशद उल्लेख किया है।[4]

आयुर्वेद के अष्टांग विभाग के अनुसार उस युग में निम्न विभागों में चिकित्सालय वंटे हुए थे—

(1) भिपक् चिकित्सालय[5]—भिषक् साधारणतः काय चिकित्सक होते थे।

(2) जांगलीविद चिकित्सालय[6]—जांगलीविद विष चिकित्सा में प्रवीण वैद्य को कहते थे। इन चिकित्सालयों में विपों की ही चिकित्सा होती थी।

(3) 'गर्भ व्याधि संस्था'[7]—गर्भ सम्वन्धी रोगों की चिकित्सा का प्रवन्ध इन औषधालयों में होता था।

(4) सूतिका चिकित्सालय[8]—प्रसव से लेकर तत्सम्वन्धी पूर्ण चिकित्सा के लिए।

---

1. वाल वृद्ध व्याधित व्यसन्यनाथांश्च राजा विभृयात।—कौ० अर्थ० 2/23
2. "उत्तर पश्चिमे भागे पण्य भैषज्य गृहम्"—कौ० अर्थ० 2/3
3. मौर्य साम्राज्य का इति०, पृ० 222-224-(1985)
   It is noteworthy that there was arrangement in those days for Post-mortem examination.—'Studies in ancient Hindupolity' by Mr. Narendra Nath Law, A. B. I., P. 95
4. 'सर्वस्नेहधान्य क्षार लवण भैपज्य शुष्कशाक यवस वल्लूर तृण काष्ठ लोह चर्मागार स्नायुविष विपाण वेणु वल्कलसार दारु प्रहरणावरणाश्म निचयानेक वर्पोपभोग सहान् कारयेत्'।...नवेनानवं शोधयेत्"—कौ० अर्थ० 2/4
5. कौ० अर्थ० 1/21
6. कौ० अर्थ० 1/21
7. कौ० अर्थ० 1/20
8. कौ० अर्थ० 2/36

उपर्युक्त विभागों में प्रथम कहे गये भिषक् चिकित्सालयों में शल्य, शालाक्य रसायन तथा काय चिकित्सा इन तीनों ही अंगों का समावेश प्रतीत होता है। विष चिकित्सा के अनेक महत्वपूर्ण उल्लेख देखने से यह प्रगट होता है कि यह विज्ञान इस युग में विशेषत: उन्नत और उपयोगी था। सिकन्दर ने भी भारत में आकर जो चिकित्सा का आश्चर्य विष वैद्यों के पास देखा वह अन्यत्र न था। यही कारण था कि इस युग के नवीन कौशल के रूप में विष चिकित्सा को देखकर सिकन्दर विशेषत: विष वैद्यों को अपने साथ यूनान तक ले गया था। शेष भूत विद्या, वाजीकरण एवं कौमार भृत्य का सम्बन्ध तीसरे और चौथे विभाग के अन्तर्गत होता है। इन चिकित्सालयों के अतिरिक्त घोड़ा, हाथी, तथा बैल आदि विविध पशुओं के लिए पशु चिकित्सालय भी उस युग में स्थापित थे। इनमें पशुओं के स्वास्थ्य तथा नस्ल की उन्नति के लिए उत्तमोत्तम उपाय किये जाते थे।[1] इन सम्पूर्ण विषयों की शिक्षा का प्रबन्ध पूर्व में काशी और पश्चिम में तक्षशिला के विश्व विद्यालयों में था।[2]

मौर्य युग तक चिकित्सा कार्य में पुरुषों का ही नहीं, स्त्रियों का भी हाथ था। ओषधालयों, तथा शिवरों (military camps) में रोगियों की ओषधि तथा पथ्य आदि की व्यवस्था करने के लिए स्त्रियां ही रहा करतीं थीं। वे धात्री (Nurses) और परिचारक (compounder) दोनों ही काम सम्हालती थीं। चिकित्सा का प्राय: सारा सामान उन्हीं के अधिकार में रहता था। सेना जब कहीं युद्धादि के लिए भी जाती तो ये स्त्रियां भी अपनी ड्यूटी पर उसके साथ जाया करती थीं। कौटिल्य ने लिखा है कि यन्त्र शस्त्र (Instruments), ओषधियां, घृत तैल एवं वस्त्र आदि उनके अधिकार में पर्याप्त रहते थे।[3]

यह तो राजकीय विभाग में कार्य करने वाले वैद्यों का वर्णन हुआ। स्वतन्त्र रूप से चिकित्सा करने वाले वैद्यों का अनुशासन भी राज्य की ओर से होता था। इन आवश्यक नियमों में स्वतन्त्र अथवा राजकीय, सभी वैद्य परतन्त्र थे। चाणक्य ने लिखा है कि यदि सरकार को सूचना दिये बिना चिकित्सक लोग ऐसे रोगी की चिकित्सा करने लगें जिस की मृत्यु की संभावना हो तो उन्हें पूर्ण साहस दण्ड दिया जाय, जिसमें जुर्माना और कैद दोनों सम्मिलित हैं। यदि किसी विपत्ति के कारण वैद्य रोगी का ठीक-ठीक इलाज नहीं कर रहा है तो उसे मध्यम दण्ड (कैद या जुर्माना) का भागी होना पड़े। और यदि जान-बूझ कर लोभादि के कारण चिकित्सा में उपेक्षा की जा रही हो तो चिकित्सक को 'दण्डपारुष्य' या कठोर कारावास (Regourous imprisionment) का अपराधी समझा जाय।[4] इस प्रकार चिकित्सापद्धति को अधिक से अधिक निर्दोष, और रोगी के

---

1. "अश्वानां चिकित्सका शरीरह्रास वृद्धि प्रतीकारमृतु विभक्तं चाहारम्"—कौ० अर्थ० 2/37 तथा गोऽध्यक्ष अश्वाध्यक्ष, हस्त्यध्यक्ष, प्रसंग कौ० अर्थ में द्वितीयाधिकरण में देखिये।
2. 'Studies in the medicine of ancient India' by Hoernle.
3. चिकित्सका: शस्त्र यन्त्रागद स्नेह वस्त्र हस्ता: स्त्रियश्चान्नपान रक्षिण्य पुरुषाणामुद्धर्षणीया पृष्ठतस्तिष्ठेयु:" ।—कौ० अर्थ० अधि० 10/अ० 2
4. "भिषज: प्राणाबाधिक मनाख्यायोपक्रममाणस्य विपत्तौ पूर्व साहस दण्ड: ।
   (a) कर्मापराधेन विपत्तौ मध्यम:, कर्मवध वैगुण्य करणे दण्डपारुष्यं स्यात्" ।
   (b) See 'Studies in Hindu polity by Shri Narendra Nath Law, p. 93-98

प्रति सहानुभूति पूर्ण वनाने के लिए ही इन सब नियमों का निर्माण किया गया था।

वैद्यों को अच्छी से अच्छी ओषधियां मिल सकें इसके लिये राज्य की ओर से ओषधियों के उत्पादन का प्रवन्ध था। कौटिल्य ने ओषधियों के उत्पादन के लिये राज्य की ओर से कुछ भूमि अलग छोड़ देने का उल्लेख किया है। और जो अधिक जल चाहने वाली जड़ी बूटियां हों उन्हें खास प्रकार के गमलों में लगाये जाने का निर्देश किया है।[1] इस भांति राजकीय विभाग द्वारा जंगलों से संग्रहीत तथा नगरों से उत्पन्न की गई ओषधियों की प्रचुरता के कारण नई और निर्दोष औषधि के प्रयोग पर ही अधिक जोर दिया जाता था। यह विशेष ध्यान रखा जाता था कि दूकानदार पुरानी और दूषित वस्तुएं न वेचने पावें। अर्थशास्त्र में लिखा है कि 'मिलावटी माल को अच्छा कहकर अथवा खराव को अच्छा या बदले में लिये हुए पदार्थ को अपना होने का विश्वास दिलाकर वेचने वालों पर कम से कम 54 पण दण्ड होना चाहिये।[2] धान्य, स्नेह (घी तेल आदि) क्षार लवण, गन्ध (इत्र आदि), और दवाई के द्रव्यों को जो लोग नकली तौर पर वेचें, अर्थात् राज कर्मचारियों द्वारा प्रमाणित शुद्ध चीजों के स्थान में वनावटी वस्तुओं का विक्रय करें तो 12 पण दण्ड और होना चाहिये।[3] इस सुन्दर अनुशासन का ही यह फल था कि भारतीय जनता का स्वास्थ्य वहुत उन्नत था। आज अधिकांश रोग घरों में सड़ी गली और नकली वस्तुओं के रूप में वाजार से मोल आते हैं और हमारी जीवन शक्ति को नष्ट करते जाते हैं। भारतीय संस्कृति और शासन की दृष्टि से यह राजा का ही अपराध हैं। उत्तर काल के इस प्रारंभिक युग में भी भारतीयों की व्यावहारिक वस्तुएं इतनी शुद्ध और निर्दोष थीं कि विदेशी लोग भी उन्हें खरीदने के लिये लालायित रहते थे। यहां तक कि भारतीय इत्र और औषधियों के समान शुद्ध द्रव्य संसार के दूसरे किसी देश में न होने के कारण ही मिश्र और ग्रीस (यूनान) आदि देश इन्हें प्रचुर परिमाण में भारत से ही लेते थे और वदले में अपने यहां का सुवर्ण दिया करते थे। ऐतिहासिकों का यह निश्चित विश्वास है कि उपर्युक्त वस्तुएं जो हजारों वर्षों तक पश्चिमीय देशों को भारत ने दी हैं विश्व में दूसरी जगह अलभ्य थीं।[4]

---

1. 'गन्धभैषज्योशीर हीरवेर पिण्डालुकादीनां यथास्वं भूमिपुच स्थाल्यांच अनूप्यांश्चौपधीश्च स्थापयेत्' ।—कौ० अर्थ० 4/1
2. राधायुक्त मुपधि युक्तं समुत्परिवर्त्तितं वा विक्रयाधानं कुर्वतो हीन मूल्यं चतुष्पञ्चाशत पणो दण्डः ।—कौ० ग्रर्थ० 4/2
3. धान्य स्नेह क्षार लवण गन्ध भैषज्य द्रव्याणां समवर्णोपधाने द्वादश पणो दण्डः ।—कौ० अर्थ० 4/2
4. Her (of India) supply of Gold she obtained not as did Europe from America in the 16th century by conquest or rapine, but by the more natural and peaceful method of commerce 'by the exchange of such of her productions as among the Indians were superfluities but were at the same time not only highly prized by the nations of western Asia, Egypt, and Europe, but were obtainable from no other quarter except India or from the farther East by means of the Indian trade. It was this flow or

उपर्युक्त सारी बातें केवल सिद्धान्त की ही नहीं, किन्तु व्यवहार सिद्ध थीं। मैगस्थनीज ने इस बात का समर्थन किया है। पाटलिपुत्र की नागरिक व्यवस्था (म्युनिसिपल शासन) का वर्णन करता हुआ वह लिखता है—"पांचवीं उपसमिति कारखानों और उनमें बनी हुई चीजों की देख-भाल करती थी। पुरानी और नई वस्तुओं को अलग-अलग रखने की आज्ञा राज्य की ओर से थी। राजाज्ञा के बिना पुरानी वस्तुओं का बेचना नियम के विरुद्ध और दण्डनीय समझा जाता था।[1]

बाजार में गन्दी और विकृत वस्तुएं न विकें यह स्वास्थ्य का प्रथम भाग था। दूसरे भाग में आवास की शुद्धि आवश्यक होती थी। चाणक्य ने इस बारे में भी बहुत विस्तार से उस युग की स्थिति को स्पष्ट किया है। गली में कूड़ा फेंकने पर $\frac{1}{8}$ पण, और सड़क पर कीचड़ व पानी रोक रखने पर या इधर-उधर फेंकने पर $\frac{1}{4}$ पण जुर्माना किया जाय। यदि यही अपराध राजमार्ग (Main Road) पर किये जावें तो इससे दुगुना जुर्माना किया जावे। पुण्य स्थान, जल रखने के स्थान, मन्दिर, राज मार्ग तथा राज प्रासाद के पास पाखाना करने पर एक पण से ऊपर तथा पेशाब करने पर इससे आधा दण्ड मिलना चाहिये, परन्तु यदि यह कृत्य दवाई, बीमारी अथवा भय के कारण हो गये हों, तो कुछ भी दण्ड न दिया जाय। मरे हुए बिलाव, कुत्ते, नेवले तथा सांप को नगर के बीच में ही फेंक देने पर तीन पण जुर्माना किया जाय। मरे हुए गधे, ऊंट, खच्चर, घोड़े तथा अन्य पशु को शहर के बीच में फेंक देने पर छः पण, और मरे हुए मनुष्य की लाश को नगर में फेंक देने पर 50 पण जुर्माना किया जाय। इतना ही नहीं, मृत शरीर को यदि निश्चित मार्ग के सिवा किसी अन्य मार्ग से ले जाया जावे तो पूर्ण साहस दण्ड दिया जावे। मुर्दे को यदि श्मशान के सिवाय किसी अन्य स्थान पर रख दिया जावे या जला दिया जावे तो 12 पण जुर्माना किया जाय।[2]

सामुदायिक व्याधियों के सम्बन्ध में भी इस युग में अनेक उपाय किये जाते थे। परन्तु आत्रेय पुनर्वसु के एतत्सम्बन्धी आदि कालीन विचारों में[3] और इस युग के विचारों में हमें एक विशेष अन्तर मिलता है। आत्रेय पुनर्वसु के युग तक जनपदोध्वंसनीय प्लेग, हैजा आदि सामुदायिक रोगों का मूल कारण सामूहिक पाप समझा जाता था। वही इस युग में भी। परन्तु उनके प्रतीकार के उपायों में अब एक अन्तर हो गया था। आत्रेय ने

"drain" of gold into India that so far back as the 1st century A. D. was the cause of alarm and regret to Pliny, who calculated that fully a hundred million—sesterces equivalent, according to Delmer, to £ 70000 of modern English money, were withdrawn annually from the Roman Empire to purchase useless oriental products such as perfumes, unquents, and personal ornaments.

Indian Shipping by Radha Kumud Mukerjee
Book. I Part II, P. 84.

1. मौर्य साम्राज्य का इति० पृ० 291
2. कौटिल्य अर्थशास्त्र 'नागरिक प्रणिधिः, 2/36
3. 'जनपदोध्वंसनीय विमान'—चरक सं० विमान० अध्या० 3

लिखा कि राष्ट्र का सम्मिलित अधर्म मनुष्य जीवन के सामान्य तत्व वायु, जल, देश और काल को दूषित कर डालता है। जीवन निर्वाह के लिये इन चारों तत्वों को प्रयोग में लाना प्राणि मात्र के लिये अनिवार्य है। उन्हें छोड़कर जीवन यात्रा असम्भव है। इसलिये उनके दूषित होने पर उस प्रदेश के वायु, जल, देश और काल का उपयोग करने वाले सारे ही प्राणी रोगी होते हैं।[1] इस विकृत परिस्थिति से प्राणी ही रोगी नहीं हो जाते, किन्तु औषधियां भी रोगी हो जाती हैं। अतएव आत्रेय का प्रधान आग्रह यह है कि दूपित परिस्थिति उत्पन्न होने से पूर्व ही औपधियों का संग्रह करके रखा जावे, ताकि वे दूषित तत्वों से अभिव्याप्त न हों। विशेपतः उन्हीं औपधियों का प्रयोग सामूहिक रोगों में किया जाना चाहिये।[2] इसके साथ ही सात्विक आचार-व्यवहार का पालन भी किया जाय, ताकि हमारी मानसिक शुद्धि भी हो! आत्रेय का अधिक आग्रह औषधियों के विशुद्ध प्रयोग पर ही है। परन्तु इस काल में औषधि प्रयोग पर आग्रह न होकर मन्त्र-तन्त्रों और जादू-टोटकों पर अधिक जोर दिया गया है। आत्रेय के युग में मानसिक शुद्धि के लिये किन्हीं भी महर्पियों और ब्रह्मचारियों का सत्संग पर्याप्त था। परन्तु इस काल में ऐसे अवसरों के लिये तीन प्रकार के लोगों की श्रेणियां बन गई थीं। उनके नाम यों हैं––

(1) औपनिषदिक वर्ग।
(2) चिकित्सक वर्ग।
(3) सिद्ध तापस वर्ग।

औषनिषदिक वर्ग जाप, पुरश्चरण तथा व्रतादि करते थे। चिकित्सक दवाइयां खिलाते थे, सिद्ध-तापस वर्ग जादू-टोना का प्रयोग किया करते थे। इस प्रकार सामूहिक रोगों के प्रतीकार के लिये तीनों ही वर्ग अपना व्यवसाय चलाने लगे थे, कौटिल्य के लेख से यह स्पष्ट होता है।[3] इतना ही नहीं कुछ और भी तांत्रिक उपायों का कौटिल्य ने विशेप उल्लेख किया है––

(1) तीर्थों में स्नान किया जाय।
(2) महाकच्छवर्धन किया जाय। (सम्भवतः लम्बी-लम्बी जटायें और दाढ़ी मूंछ बढ़ाने का अभिप्राय है)।
(3) श्मशान में गौवों का दोहन किया जाय।
(4) धड़ को जलाया जाय पुतला बनाकर।
(5) रात्रि भर जाग कर देवताओं की उपासना की जाय। इन उपायों की

---

1. सर्वेषामप्यग्निवेश! वाय्वादीनां यद्वैगुण्यमुत्पद्यते तस्य मूलमधर्मः, तन्मूलं वासत्कर्म पूर्वकृतम्, तयोर्योनिः प्रज्ञापराध एव"—चरक० सं० विभा० 3/21
2. 'चतुर्ष्वपितु दुष्टेपु कालान्तेपु यदानराः।
भेपजेनोपपाद्यन्ते न भवन्त्यातुरास्तदा॥—चरक० विभा० 3/16
3. 'व्याधिभयमौपनिपदिकैः प्रतीकारैः प्रतिकुर्युः। औपधैश्चिकित्सकाः।
शान्ति प्रायश्चित्तैर्वा सिद्ध तापसाः" । तेन मरको व्याख्यातः।
तीर्थाभिपेचनं, महाकच्छवर्धनं, गवां श्मशान दोहनं, कवन्ध दहनं, देवरात्रि च कारयेत्"।
कौ० अर्थ० 4/3

कोई वैज्ञानिक व्याख्या कर सकना दुःसाहस ही है। रूढ़ि और अन्ध-विश्वासों के सिवा इनका कोई अर्थ और भी है, यह तो वे सिद्ध और तापस ही जानें। खैर, जो हो, हम यह तो कह ही सकते हैं कि इस युग के प्रारम्भ तक विशुद्ध वैज्ञानिक विचारों में रूढ़ि और अन्धविश्वासों को भी पर्याप्त स्थान मिल गया था। लोग मन्त्र-तन्त्रों पर यहां तक विश्वास करने लगे थे कि वह भी एक स्वतन्त्र कला का रूप धारण करने लगा था। हमने पीछे लिखा है कि मन्त्र-तन्त्रों की शिक्षा देनें के लिए तक्षशिला के विश्वविद्यालय तक में एक स्वतन्त्र विभाग था। मन्त्र-तन्त्र से अभिलषित अर्थ की सिद्धि हो सकती है, यह उस युग के जनसाधारण का विश्वास वन चुका था। कौटिल्य ने अनेक प्रकार के मन्त्र तथा तन्त्र युक्तियों का विस्तार से उल्लेख किया है।[1]

हम मध्य काल में लिख चुके हैं कि उस काल को हम 'लौह चिकित्सा' का आविष्कारक कह सकते हैं। उत्तर काल को वही चिकित्सा विधि मध्य काल ने विशेष रूप से अपने उत्तराधिकार में दी थी। इसी कारण आदिकालीन आविष्कारों पर कोई नवीन और महत्वपूर्ण अनुसन्धान न होकर लौह चिकित्सा पर ही नये-नये अनुसन्धान इस युग में भी जारी रहे। लोहा, सोना, चांदी, मुक्ता, मणियां, तथा अनेक प्रकार के विषोप-विषों पर इस युग में वड़े-वड़े अनुसन्धान हुए। दवाइयों की मात्रा अल्प से अल्प हो, इसी वात में वैद्य की चतुरता का अनुमान लगाया जाने लगा। कुमार भर्तृ जीवक के वर्णन को पढ़ने पर हम इस वात को प्रत्यक्ष देखेंगे। फलतः इस काल के विशेष अनुसन्धान की सामग्री, खनिज, प्राणिज और विषों के सम्वन्ध में कुछ अधिक विचार कर लेना विशेष संगत ही होगा।

इस युग के विशेष चिकित्सा द्रव्य—

यद्यपि पिछले सन्दर्भ में विप्रकीर्ण (विखरा हुआ) रूप से हमने चिकित्सा द्रव्यों के सम्वन्ध में भी विचार किया है। परन्तु चिकित्सा के प्रधान उपादानों को विप्रकीर्ण रूप से पढ़ लेना मात्र पर्याप्त नहीं कहा जा सकता। हमें उनके सम्वन्ध में कुछ गहराई से सोचना चाहिये। आदिकाल में ओषधि द्रव्य तीन प्रकार के थे। उनका क्रम यों था—

(1) स्थावर द्रव्य—जड़ी वूटी आदि,
(2) जंगम द्रव्य—चर्म, रुधिर आदि,
(3) पार्थिव द्रव्य,—सोना चांदी आदि,

परन्तु अव वह क्रमिक महत्व विल्कुल उल्टा हो गया था। इस युग में उसका क्रम यों था—

(1) पार्थिव द्रव्य—सोना चांदी आदि[2]
(2) जङ्गम द्रव्य—चर्म रुधिर आदि

---

1. कौ० अर्थ० 14/3
2. "आचार्य चाणक्य ने खानों के व्यवसाय का विस्तार के साथ वर्णन किया है। इसको पढ़कर प्रतीत होता है कि मौर्य कालीन भारत में खनिज पदार्थों का व्यवसाय वहुत उन्नति कर चुका था।" —मौर्य सा० का इति०, पृ० 330

(3) स्थावर द्रव्य—जड़ी बूटी आदि

इस क्रमिक महत्व को ध्यान में रखकर ही हमें यहां विचार करना होगा। आज की भौगोलिक स्थिति से प्राचीन इतिहास को अध्ययन करना भूल है। इसलिये जिस युग के सम्बन्ध में हमें विचार करना है, उसी युग की भौगोलिक स्थिति भी हमारे ध्यान में होनी चाहिये। आदि काल में भारत (आर्यावर्त्त) का विस्तार पूर्व और पश्चिम दिशाओं की ओर अधिक था। पूर्व में प्रशान्त महासागर, पश्चिम में भू मध्य सागर, उत्तर में हिमालय और दक्षिण में विन्ध्याचल। यही आर्यावर्त्त की सीमा थी।[1] विन्ध्याचल के दक्षिण का समस्त भारत आर्यों का तो था,[2] परन्तु व्यवसाय और वैज्ञानिक दृष्टि से वह आर्यावर्त्त के लिये बिल्कुल उपयोगी न था। राजनैतिक विद्वेप के कारण आर्यावर्त्त के निवासी दक्षिणापथ का कोई उपयोग न कर सकते थे। इसी कारण आदि कालीन आयुर्वेद में हिमालय और विन्ध्याचल के बीच प्रशान्त से भूमध्य सागर तक उत्पन्न होने वाले द्रव्यों में ही विशेप रूप से आयुर्वेद के विज्ञान का भरण-पोपण हुआ था। यह अवश्य है कि मिश्र और ग्रीस की थोड़ी वहुत वस्तुयें भारत को मिलती थीं। परन्तु वे प्रधान-आयुर्वेदिक-उपादान नहीं कहे जा सकते : इसीलिये आत्रेय और धन्वन्तरि के उपदेशों में हम देखते हैं कि औषधियों की पराभूमि हिमालय शैल ही वना हुआ था।[3] इस प्रकार यह स्पष्ट है कि आदि काल में भारत का उत्तरा खंड ही हमारे आयुर्वेद की वैज्ञानिक प्रयोग शाला था। हाथी, घोड़े, चमड़ा, हाथी दांत, ऊन आदि व्यावहारिक वस्तुओं के अतिरिक्त गन्ध द्रव्य औषधियां तथा सोना चांदी आदि आवश्यक द्रव्य प्रचुर मात्रा में इस भू भाग में उत्पन्न होते थे। परन्तु इस उत्तर कालीन युग में भारतवर्प की भौगोलिक स्थिति वहुत कुछ वदल गई थी। पश्चिम की ओर का वहुत-सा भाग आर्यो के हाथ से निकल गया था। एशिया माइनर से लेकर पर्शिया के मध्य भाग तक का प्रदेश यवनों (यूनानियों) ने अपने अधिकार में कर लिया था, स्वर्ग और अलकापुरी के प्रदेश कथा शेष ही रह गये थे, परन्तु दक्षिण में अब विन्ध्याचल तक ही नहीं किन्तु माइसोर तक पाटलिपुत्र का ही अखण्ड राज्य था। भारत की समुद्री शक्ति भी वहुत समृद्ध हो गई थी। इसलिये दक्षिण भारत तथा उससे सम्वद्ध समस्त द्वीपों की पैदावार भी हमारे आयुर्वेदिक द्रव्य कोष में सम्मिलित हो चुकी थी। कौटिल्य ने आर्थिक और राजनैतिक उपयोगिता की दृष्टि से प्राचीन उत्तरा खंड की तुलना उत्तर कालीन दक्षिणापथ से की है। उसने लिखा है पुराने आचार्यों के विचार से स्थल पथ में हैमवत-पथ (हिमालय की ओर उत्तरी व्यापार मार्ग) दक्षिण-पथ (दक्षिण भारत के व्यापार मार्ग) से अच्छा है; क्योंकि उसके द्वारा ही हाथी, घोड़े, गंध द्रव्य, हाथी दांत, चमड़ा, चांदी, सोना आदि वहुमूल्य, एवं कम्वल, ऊन, वन्य पशुओं की खालें तथा दैनिक व्यवहार की वस्तुयें प्राप्त

---

1. आसमुद्रात्तु वै पूर्वादासमुद्रात्तु पश्चिमाम्।
   तयोरेवान्तरं गिर्योरार्यावर्त्तं विदुर्बुधाः॥ —मनु०
   इस सम्वन्ध में कालिदास का लिखा हुआ सम्राट् रघु का दिग्विजय वर्णन रघुवंश में देखिये।
2. पुलस्त्य और रावण आदि लंका के सम्राट् आर्यो के ही वंशज थे।
3. 'ओपधीनां परा भूमिर्हिमवान् शैल सत्तमः' —चरक० चि०

होती हैं। परन्तु कौटिल्य के विचार से इस युग की दृष्टि में हैमवत-पथ से दक्षिण-पथ ही अधिक श्रेष्ठ है, क्योंकि वहां ऊन घोड़े, वन्य पशुचर्म, आदि कुछेक चीजों को छोड़कर शङ्ख, हीरा मणियां, मोती, सोना आदि बहुमूल्य तथा अन्य व्यापारिक वस्तुयें भी उपलब्ध होती हैं। दक्षिणापथ में भी वह मार्ग सबसे श्रेष्ठ है जो खानों में से गुजरता है, जिस पर आना जाना बहुत होता है। और अभीष्ट द्रव्य प्राप्त करने में परिश्रम भी कम पड़ता है।[1] इसके अतिरिक्त भारत के जलमार्ग भी बड़े महत्व के थे। पूर्व में पूर्वान्त तट, ब्रह्म देश, सुवर्ण भूमि (मलाया, थाई लैण्ड, इण्डोचाइना), पूर्वीय द्वीप समूह, तथा चीन के साथ भारत का व्यापार जहाजों द्वारा चला करता था। इसी प्रकार पश्चिम में अपरान्त तट, पर्शिया, अरब, अफ्रीका (मिश्र) एशियामाइनर, मिश्र तथा सीरिया का समस्त प्रदेश एवं ग्रीस भारत के ही समुद्री व्यापार का क्षेत्र था। यह सब पीछे लिखा जा चुका है। इतने विशाल क्षेत्र से प्राप्त होने वाले द्रव्यों का किस-किस भांति आयुर्वेदिक चिकित्सा में समावेश हुआ, यह हम इन्हीं व्यापार मार्गो के अध्ययन द्वारा भली प्रकार जान सकते हैं। कौटिल्य के लेखानुसार हम स्पष्ट ही जानते हैं कि इस युग में प्रधान व्यापार खनिज द्रव्यों का ही था। उसने दक्षिण भारत को इसी आधार पर महत्व दिया है कि वहां खानें अधिक थीं, और धातवीय द्रव्य प्रचुर मात्रा में मिलते थे। जिस प्रकार उत्तराखंड के हिमालय में जड़ी बूटियां प्रचुरता से प्राप्त होती थीं उसी प्रकार दक्षिण भारत के पर्वतों से धातु और उपधातु विशेष मिलते थे। खनिज द्रव्यों के व्यवसाय के लिये उस युग में एक स्वतन्त्र राजकीय विभाग काम करता था। इसके अधिकारी को 'आकराध्यक्ष' कहा जाता था। मैगास्थनीज ने इस भारतीय विभाग के कार्य का विस्तृत उल्लेख किया है।[2] चाणक्य ने जो वर्णन लिखा है उससे स्पष्ट है कि सोना, चांदी, ताँबा, सीसा, लोहा टीन, वैक्रान्त, पीतल, वृत्त (भर्त) कांसा, हरताल, हिंगुल, पारद और हीरे-जवाहिरात आदि सारे ही द्रव्य भारत वर्ष की खानों से ही निकलते थे। कौटिल्य ने खनिज विभाग के अधिकारी 'आकराध्यक्ष' की योग्यता में तीन बातें अत्यन्त आवश्यक लिखी हैं[3]—

(1) तांबा आदि धातुओं का पूरा परिज्ञान होना चाहिये।
(2) कच्ची धातु को पकाकर उससे पारा निकालना आना चाहिये।
(3) मणियों के रंग रूप की पहिचान होनी चाहिये।

यदि वह यह बातें स्वयं न जानता हो तो वैसे विशेपज्ञ को अपने साथ रक्खे। भूगर्भ में अन्तर्निहित खानों को कच्ची धातु के भार, रङ्ग, उग्र गन्ध तथा स्वाद के द्वारा पहिचानना तो उस विभाग के लिये साधारण ज्ञान की बात थी।[4]

---

1. "स्थल पथेऽपि-'हैमवतो दक्षिणपथाच्छ्रेयान, हस्त्यश्व गंध दन्ताजिन रूप्य सुवर्ण पण्या स्सार वत्तराः" इत्याचार्याः। नेतिकौटिल्यः, कम्बेलाजिनाश्व पण्य वर्जाः शंख वज्रमणि मुक्तास्सुवर्ण पण्याश्च प्रभूततराः दक्षिणापथे। दक्षिणा पथेऽपि बहुखनिस्सार पण्यः प्रसिद्ध गतिरल्प व्यायामो वा वणिक्पथः श्रेयान्।" —कौटिल्य अर्थ० अधि० 7 अध्या० 12
2. मैगास्थनीज का भारतवर्षीय विवरण, पृ० 2
3. 'आकराध्यक्षः, शुल्व धातु शास्त्र-रसपाक-मणिरागज्ञः। तज्ज्ञः सखो वा।"—कौ० अर्थ शा० 2/12
4. कौ० अर्थ० 2/12

पहाड़ों की शिलाओं से धातुओं को प्राप्त करने के सम्बन्ध में भी कौटिल्य ने मार्के की बातें लिखी हैं। उसने लिखा है कि पर्वतों के गड्ढों, गुफाओं, तराइयों तथा दरारों में नाना प्रकार के द्रव बहा करते हैं। यदि इस द्रव का रंग जामुन, आम, ताडफल, पकी हुई हल्दी, हडताल, शहद, सिंगरफ कमल, तोता, या मोर पंख के समान हो, या काई के समान चिकनाहट हो, पारदर्शक और भारी हो, तो समझना चाहिए कि यह द्रव सोने की कच्ची धातु से मिश्रित है। यदि द्रव पानी में डालते ही सम्पूर्ण सतह को व्याप्त कर ले, सब गर्द और मैल को इकट्ठा कर ले तो उसे सौ फीसदी ताम्र और चांदी से मिश्रित समझना चाहिए। जो द्रव देखने में इसी प्रकार का हो, परन्तु गन्ध स्वाद में उग्र हो तो उसे शिलाजतु से मिश्रित समझना चाहिए। इसी प्रकार अन्य भी धातु और उपधातुओं की पहिचान कौटिल्य ने विस्तार से लिखी है। इस प्रकार हम देखते हैं कि मध्यकाल से विशेष विकास की ओर चलते-चलते धातवीय विज्ञान इस युग तक अत्यन्त उन्नत अवस्था को पहुंच गया था। धातु, उपधातु, धातुमिश्रण, धातुओं के रासायनिक परिवर्त्तन, धातुकिट्ट तथा उनके गुरुत्व, लघुत्व और अवान्तर भेदों के सम्बन्ध में यह युग संसार का आदर्श बन गया था।[1] केवल इतना ही नहीं, खान से निकली हुई कच्ची धातु को शुद्ध धातु के रूप में परिवर्तित करने के लिए अनेक सरल और सस्ते उपाय उस युग में साधारण-सी बातें थीं। चाणक्य ने लिखा है कि कच्ची धातु को मूत्र और क्षार में भावना देकर राजवृक्ष (अमलतास) वट, पीलु तथा गोपित्त आदि के साथ तपाना चाहिए, साथ ही भैंस, गधा और हाथी के पेशाब तथा लीद की भी भावना दी जाय। इस प्रकार भावना देकर उत्ताप देने से शुद्ध धातु कच्ची धातु से पृथक् हो जाती है। यही धातु का सत्वपातन है।[2] यह सत्वरूप शुद्ध धातु बहुत कठोर निकलती है, इसे मृदु बनाने के लिए क्षार और स्नेह (तैल, घृत, वसा आदि) द्रव्यों में बुझाया जाय। सारे ही धातु एक सिद्धान्त से द्रुत और मृदु नहीं होते, उसके इस विभेद को ध्यान में रखकर विभिन्न धातुओं के लिए भिन्न-भिन्न कारखाने राज प्रबन्ध से चला करते थे।[3]

धातुओं के अतिरिक्त मुक्ता और मणियों के उपयोग का भी इस युग में बहुत प्राचुर्य रहा। साधारण मुक्ताओं के दस भेद प्रचलित थे।[4]

---

1. पर्वतनामभिज्ञातोद्देशानां बिलगुहोपत्यकाऽऽलयनिगूढ़ खातेष्वन्त: प्रस्यन्दिनो जम्बू चूत तालफल पक्व हरिद्राभेद हरितालक्षौद्रहिंगुलुक पुण्डरीक शुकमयूरपत्रवर्णास्सवर्णोदकौपधीपर्यन्ताश्चिक्कणा विशदा: भारिकाश्च रसा: काञ्चनिका'···आदि। —कौ० अर्थ 2/12
2. (अ) "यवमापतिलपलाश पीलुक्षारैर्गोक्षीराजक्षीरैर्वा कदलीवज्रकन्द प्रतीवापो मार्दव कर:" —कौ० अर्थ० 2/12

   "तेपामशुद्धा···तीक्ष्ण मूत्रक्षारभाविता···विशुद्धास्रवन्ति" —कौ० अर्थ० 2/12

   (ब) वाग्भट के 'रसरत्न समुच्चय' में सत्वपातन के क्षार सम्बन्ध में अम्ल और स्नेह के प्रयोग देखें। —र० र० स०, अ० 2

   क्षाराम्ल द्रावकैर्युक्तं ध्मातमाकरकोष्ठके।
   यस्ततो निर्गत: सार: तत्वमित्यभिधीयते ॥ —र० र० स० 8/36
3. "धातु समुत्थितं तज्जात कर्मान्तेपु प्रयोजयेत्" —कौ० अर्थ० 2/12
4. मौर्यसाम्राज्य का इतिहास, पृ० 334

1. ताम्रपर्णिक—ताम्रपर्णी या लंका देश में प्राप्त होने वाले मोती।
2. पाण्डयकवाटक—पाण्डयदेश (दक्षिण भारत के निचले तट प्रदेश) में समुद्र से प्राप्त मोती।
3. पाशिक्य—पाश नामक नदी में प्राप्य मोती।
4. कौलेय—सिंहल द्वीप में मयूर नामक ग्राम के समीप 'कुल' नाम की नदी बहती थी, वहां से प्राप्य मोती।
5. चौर्णेय—केरल देश में मुरचि नामी गांव के पास बहने वाली 'चूर्णी' नदी में प्राप्त होनेवाले मोती।
6. माहेन्द्र—महेन्द्र पर्वत के (मद्रास) तट से प्राप्य मोती।
7. कर्दमिक—पारसीक या पर्शिया देश में कर्दम नामी नदी में प्राप्य मोती।
8. स्रौतसीय—बर्बर नामक समुद्र में गिरने वाली स्रोतसी नदी में प्राप्य मोती।
9. ह्रादीय—बर्बर नामक समुद्र के एक गहरे 'ह्रद' नामक पार्श्व में प्राप्य मोती।
10. हैमवत—हिमालय पर्वत की मानसरोवर आदि झीलों से प्राप्य मोती।

मोतियों के यह सारे ही प्रकार ओषध्युपयोगी थे, और व्यवहार में आते थे। सम्भवतः 8वें और 9वें प्रभेद को एक मानकर वाग्भट ने भी मोतियों को नौ जातियों में बांटा है।[1]

मोतियों के अतिरिक्त मणियों का संक्षिप्त परिचय और देख लीजिये। मुख्यतः मणियों के प्राप्त होने के तीन स्थान थे—

(1) कौट मणियां—जो कूट पर्वत (विन्ध्याद्रि) से प्राप्य थीं।
(2) मालेयक मणियां—मालेय (मलयगिरि=माइसूर) से प्राप्य थीं।
(3) पार समुद्रक—समुद्र के पार या भीतर से प्राप्य थीं।

'मणि' सामान्य शब्द है। वैक्रान्त, हीरक आदि उसके अनेक भेद और प्रभेद हैं। वाग्भट ने मुख्य 14 भेद लिखे हैं।[2] परन्तु कौटिल्य ने 34 भेद तक लिखे हैं।[3] 'हीरक' नामक मणि भेद भारत के निम्न प्रदेशों से प्राप्त होते थे—

(1) सभाराष्ट्रक हीरक—विदर्भ (बरार) देश के अन्तर्गत सभाराष्ट्र देश से प्राप्य।
(2) काश्मीर राष्ट्रक—काश्मीर देश से प्राप्य।
(3) मध्यम राष्ट्रक—कोशल देश के अन्तर्गत 'मध्यम राष्ट्र' या मध्य देश से प्राप्य।
(4) श्री कटनक—वेदोत्कट पर्वत से प्राप्य।
(5) मणिमन्तक—मणिमन्त पर्वत से प्राप्य।
(6) इन्द्रवानक—कलिंग (उड़ीसा) देश से प्राप्य।

---

1. ह्रादिरूपेतं लघुस्निग्धं रश्मिवन्निर्मलं महत्।
ख्यातं तोय प्रभं वृत्तं मौक्तिकं नवधाशुभम्॥ —र० र० समु० 4/14
2. वाग्भट, रसरत्न समुच्चय, 4/2-4
3. कौ० अर्थ० 2/11

इस प्रकार पार्थिव द्रव्यों के सम्बन्ध में यह युग बहुत बढ़ा-चढ़ा था। भारतीयों ने इस सम्बन्ध में जो वैज्ञानिक आविष्कार किये, उनमें विशेषता यह है कि उनके साधन सस्ते और सुलभ थे। पालतू पशुओं के मल और मूत्र भी वे व्यर्थ नष्ट न होने देते थे। इस प्रकार पशुओं की उपयोगिता भी दूनी हो गई थी। हम इसी एक बात से यह अनुमान लगा सकते हैं कि पशुओं के मूत्र का भी मूल्य होने कारण, लोग पशुपालन में अधिक दत्तचित्त अवश्य रहते होंगे, फलत: घी और दूध के आधिक्य से जनसाधारण के स्वास्थ्य की अवस्था अधिक अच्छी होना स्वाभाविक ही था। अस्तु, कौटिल्य ने विपों के उपयोग के सम्बन्ध में भी बहुत कुछ प्रकाश डाला है। जंगम, स्थावर और पार्थिव विपों के सम्बन्ध में[1] भी पर्याप्त विवरण यहां दिया जा सकता है, परन्तु विस्तार भय से हम उसे छोड़ देना ही उचित समझते हैं।

साधारणत: बुद्ध भगवान् से ईसा तक के 625 वर्ष के भारत को यदि हम भौतिक विज्ञान का एक कारखाना कहें, तो कोई अतिशयोक्ति नहीं है। राजनैतिक और धार्मिक क्रान्तियों के कारण बड़ी-बड़ी उथल-पुथल होने के बावजूद भी वैज्ञानिक और व्यापारिक दृष्टि से भारत का दृष्टिकोण एक-सा ही रहा। आयुर्वेद तो इस युग में एक दैनिक व्यवहार की चीज बना हुआ प्रतीत होता है। प्रतीत होता है कि लोग हरेक भौतिक पदार्थ को वैज्ञानिक दृष्टि से देखना ही पसन्द करते थे। व्यावहारिक जीवन में छोटी से छोटी चीज का हम किस प्रकार लाभ उठा सकते हैं, यह भावना इस समय तक भी हमारे अन्दर मौजूद थी। हमारा राजनैतिक और व्यापारिक क्षेत्र प्राय: समस्त भूमण्डल ही बन गया था। इस कारण सारे ही देश भारत के आयुर्वेदिक विज्ञान से प्रभावित थे।

उत्तर कालीन युग के निर्माताओं में जिस प्रकार बुद्ध का नाम अवश्य लिया जाना चाहिये, उसी प्रकार कौटिल्य (चाणक्य) का नाम भी नहीं भुलाया जा सकता। यों कहना चाहिये कि एक ने भारत के अध्यात्मिक स्वरूप का परिष्कार किया और दूसरे ने आधिभौतिक स्वरूप का। एक चेतना है तो दूसरा शरीर। ऐसी दशा में भारत के व्यावहारिक जीवन को समझने के लिये हमें कौटिल्य को समझना होगा। भगवान् बुद्ध ने जहां संसार की हरेक घटना को आध्यात्मिक दृष्टि से देखा, वहां कौटिल्य ने विश्व के प्रत्येक प्रसंग को राजनैतिक दृष्टि से देखना पसन्द किया। कौटिल्य को यह डर लगा कि कहीं उसके बनाये सम्राट् चन्द्रगुप्त को कोई विप न खिला दे। इसलिये वह चन्द्रगुप्त को स्वयं ही थोड़ा-थोड़ा विष खिलाकर, विप खाने का अभ्यासी बनाने लगा। एक बार राजमहिषी भी प्रेम के कारण सम्राट् के साथ भोजन करने बैठ गई। चन्द्रगुप्त क्या जानता था कि मैं नित्य भोजन के साथ कितना विप खाया करता हूं। साम्राज्ञी ने जैसे ही कुछ ग्रास खाये कि उसे विष का प्रभाव हो गया—वह क्षण-भर में मर गई। साम्राज्ञी उस समय पूरे दिन की गर्भिणी थी। चाणक्य को जैसे ही, इस घटना का पता लगा, उसने सुयोग्य वैद्यों को बुला कर रानी का पेट फड़वा कर बच्चा निकलवा लिया। बच्चा जीवित निकल आया, परन्तु विष की एक बून्द उसके सिर पर पहुंच गई थी। अत: चाणक्य ने शिशु का नाम बिन्दुसार रक्खा।[2]

1. कौ० अर्थ० 2/16 देखें।
2. मौर्यसाम्राज्य का इति०, पृ० 426

राजनीति में पगा हुआ जीवन इससे अधिक और क्या होगा ? इसीलिये तो 'विष्णुगुप्त' नाम को अलंकृत करने के लिये जनता को 'चाणक्य' और 'कौटिल्य' जैसी उपाधियां ही सर्वोत्तम प्रतीत हुईं।

कौटिल्य की दृष्टि में 'उद्देश्य की सफलता' ही सांसारिक जीवन का आदर्श है। उस सफलता के लिये प्रयोग किये जानेवाले साधनों में 'आदर्श' और 'अनादर्श' की भावना कौटिल्य को अनावश्यक प्रतीत होती थी। धन्वन्तरि के युग में 'विषकन्या' की कल्पना हम सुश्रुत संहिता में पढ़ते ही थे,[1] परन्तु कौटिल्य ने उसे चरितार्थ करके दिखा दिया।[2] कौटिल्य ने राक्षस को चन्द्रगुप्त का अमात्य बनाने के लिये राक्षस के परम मित्र शकटार का लेख राक्षस के ही व्याघात के लिये प्रयोग कर डाला। ठीक इसी प्रकार चाणक्य ने भिक्षुओं और वैद्यों को भी अपनी राजनीति का अस्त्र बनाया।[3] चाणक्य ने देखा कि समाज भिक्षुओं और वैद्यों का सन्देह-रहित होकर आदर करता है। यह दोनों स्वतन्त्रतापूर्वक वहां भी पहुंच सकते हैं, जहां दूसरे की पहुंच असम्भव है। इसलिये चाणक्य ने बहुत से भिक्षुओं और वैद्यों को अपने गुप्तचरों (C.I.D.) के रूप में भारतवर्ष में नियुक्त किया और साथ ही विदेशों तक भी पहुंचा दिया। यमराज का चित्रपट पसारने वाला निपुणक तथा मित्र-भेदकारी जीवसिद्धि ऐसे ही क्षपणक थे। मुद्राराक्षस के कथानक से यह सभी जान सकते हैं कि चाणक्य ने विरोधियों को विष देने के लिये 'तीक्ष्ण रसदायी' वैद्यों का भी उपयोग कितनी ही बार किया है। गुप्तचरों का साधारणतः कार्य यही था कि वे आधीन राज्यतन्त्र की प्रगतियों का पता लगाते थे। देश के धनी-मानी लोगों के विचारों को केन्द्रीय सरकार के कानों में पहुंचाते थे। राज्य-व्यवस्था के विरोधियों की रिपोर्ट देते थे। शत्रुओं में फूट डालते तथा हर प्रकार से केन्द्रीय राजशासन की सहायता करते थे। इस व्यापार से भिक्षुओं और वैद्यों के प्रति जनता के विश्वास और श्रद्धाभाव को गहरी ठेस पहुंची। चाणक्य ने उन लोगों के श्रद्धेय व्यक्तित्व का दुरुपयोग करके अपनी राजनीति की सफलता तो संसार को दिखा दी, परन्तु भिक्षुओं और वैद्यों के अन्धकारमय भविष्य की आधार-शिला यहां से स्थापित हो गई। पहिले एक भिक्षु अथवा वैद्य को आते देख कर लोग दौड़कर स्वागत करते और उनकी चरणधूलि से अपने घर को पवित्र हुआ समझते थे। परन्तु चाणक्य की नीति का प्रभाव यह हुआ कि भिक्षु और वैद्य को देखते ही लोग घर का द्वार बन्द करने लगे।

धीरे-धीरे भिक्षुओं एवं वैद्यों की प्राचीन प्रतिष्ठा समाज से जाती रही। जिस वैद्य की दी हुई ओषधि जनता अमृत समझकर खा जाती थी, उसका दिया हुआ अमृत भी विष का सन्देह उत्पन्न करने लगा। अधिकांश भिक्षु भी उस युग में वैद्य ही थे, इसलिये जनता की अनास्था वैद्य समाज पर तो पूरी तरह व्याप्त हो गई। वैद्यों और उनकी ओषधियों पर जनता का विश्वास घट जाने से, वैद्यों के औषधि व्यवसाय को बड़ी हानि पहुंची। परन्तु

---

1. विषकन्योपयोगाद्वा क्षणाज्जह्यादसून्नरः।
 तस्माद्वैद्येन सततं विषाद्रक्ष्यो नराधिपः॥ —सुश्रुत सं० कल्प० 1/6
2. 'मुद्राराक्षस' का कथानक देखिये।
3. कौ० अर्थ० 1/11

आखिर जनता का काम भी तो विना चिकित्सा के नहीं चल सकता। इसलिये वैद्यों को यह चिन्ता हुई कि कोई ऐसी चिकित्सा-प्रणाली निकाली जाय जिसके द्वारा विना औषधि खाये ही लोगों की चिकित्सा की जाय। फलत: मन्त्र-तन्त्रों की ओर दृष्टि जाना ही स्वाभाविक था, वही हुआ। लोग औषधियों को खाते हुए विष के सन्देह के कारण डरते थे, इसलिये खतरे से रहित मन्त्र-तन्त्र का इलाज सभी को पसन्द आ गया। जनता के विश्वास को मन्त्रतन्त्रों पर वद्धमूल करने के लिए इस युग में वहुत-सा साहित्य निर्माण भी हुआ। स्वय चाणक्य ने भी इस सम्वन्ध में वहुत कुछ लिखा है।[1] धीरे-धीरे चन्द्रगुप्त के 25 वर्ष के शासन काल मे ही भारतवर्ष में औषधियों का व्यवसाय उतना न वढ़ा. जितना मन्त्र और तन्त्रों का जादू जोर पकड़ गया। भिक्षु वैद्यों में बौद्ध भिक्षु ही अधिक थे, इस कारण मन्त्र तन्त्रों ने अधिकांश बौद्ध भिक्षुओं के संघों और बिहारों में ही पोपण प्राप्त किया।[2] परन्तु तत्कालीन कोई भी धर्म या सम्प्रदाय इसके प्रभाव से वचकर नहीं रह सका। क्योंकि मन्त्र-तन्त्र का आडम्बर पेट भरने का ऐसा सरल व्यवसाय था जिसमें प्राचीन वैद्यों की भांति औषधियों के घोंटने-पीसने और पूंजी खर्च करने का झंझट ही न था। जनता में जो लोग जिन प्राचीन महापुरुषों के प्रति श्रद्धा रखते थे, उन महापुरुषों में उन्हें अनेक अलौकिक शक्तियां सुझाई गई, और उन्हीं के नाम से 'ओं स्वाहा' जोड़कर मन्त्रों के नुस्खे तैयार किये जाने लगे।

साधारण जनता में राजनैतिक भय के कारण जव मन्त्र और तन्त्र का जादू फैलता जा रहा था, उस समय भी उच्च तथा शिक्षित वर्ग में प्राचीन चिकित्सा प्रणाली का ही आदर था। चन्द्रगुप्त के पुत्र बिन्दुसार के राज्य काल समाप्त हो जाने के पश्चात 272 ई० पू० से 232 ई० पूर्व तक अशोक का शासन काल आता है। इतिहासज्ञों को विदित है कि अशोक को जनता के मनोभावों को संगठित करने के लिये वड़ा उद्योग करना पड़ा था। कोई शिव का मन्त्र सिद्ध करता था तो कोई बुद्ध का। किसी को 'दुर्गा' का इष्ट था तो किसी को 'मंजुश्री' का। अशोक को राजनैतिक पवित्रता के लिये यह सव पसन्द न था। वह वैद्य को वैद्य ही देखना चाहता था और भिक्षु को भिक्षु। वैद्य की शक्ल में विषदायी और भिक्षु की शकल में मित्र भेदी को देखना उसे इष्ट न था। इसीलिये उसने समाज के विश्वासों को सुमार्ग पर लाने के लिये 'धर्म महामात्र' नामक एक अधिकारी अपने राज्य में नियुक्त किया, जिसका कार्य यही था कि वह जनता में फैलते हुए उपर्युक्त मिथ्या मन्त्र जाल को नष्ट करने का उद्योग करता रहे। अशोक ने अपने

---

1. को० अर्थ० 14/3
2. 'तव वुद्ध की अलौकिक शक्तियों का वर्त्तमान में भी उपयोग होने के लिये उनके वचनों के पारायण मात्र से, पुण्य माना जाने लगा। उनके उच्चारण मात्र से रोग, भय आदि का नाश समझा जाने लगा।......अव 'ओं स्वाहा' लगाकर चाहे जो भी मन्त्र बनाया जा सकता था, वशर्ते कि उसके कुछ अनुयायी हों।...इस मन्त्रयान काल को यदि हम निम्न क्रम से मान लें तो वास्तविकता से वहुत दूर न रहेंगे—सूत्र रूप में मन्त्र ई० पू० 400–100, धारणी मन्त्र ई० पू० 100 A,G. '400 ईस्वी, मन्त्र-तन्त्र 400–1200 ई०।—त्रिपिटकाचार्य राहुल सांकृत्यायन 'गंगापुरातत्वांक' 1933, पृ० 214-216

शिला लेखों में लिखवाया था कि 'धर्म महामात्र पहिले कभी नियुक्त नहीं किये गये, पर मैंने राज्याभिषेक के 13 वर्ष वाद इन धर्म महामात्रों को नियुक्त किया।[1] डा० भंडारकर द्वारा उल्लिखित ईसा से पूर्व चतुर्थ शताव्दी तक की दशा पर वौद्धग्रन्थ 'निद्देश' का यह संदर्भ अच्छा प्रकाश डालता है—'आजीवकों का देवता आजीवक है, निगन्थों का देवता निगन्थ है, जटिलों का जटिल है, परिव्वाजकों का परिव्वाजक है, अवरुद्धों का अवरुद्धक है, जो लोग हस्ति, अश्व, गौ, कुत्ता, कौआ, वासुदेव, वलदेव, पुराणभट्ट, मणिभट्ट, अग्गि, नाग, सुपणा, यक्ख, असुर, गन्धव्व, महाराज, पण्ड, सूर्य, इन्द्र, ब्रह्मा, देव और दिशा की उपासना में लगे हैं उनके देवता क्रमशः हस्ति, अश्व, गौ, कुत्ता, कौआ वासुदेव आदि हैं।[2] अशोक इसी पाखण्ड को हटाना चाहता था। इसीलिये उसने घोषित किया—'देवताओं के प्रिय दान या पूजा की इतनी परवाह नहीं करते, जितनी इस वात की कि सव सम्प्रदायों के सार (तत्व) की वृद्धि हो।'[3] 'धर्म की उन्नति और धर्म का आचरण इसी में है कि दया, दान, सत्य, शौच, मृदुता और साधुता लोगों में वढ़े।[4] कुछेक सुधारवादियों ने अशोक से पूर्व इन्हीं पाखण्ड पूर्ण मतभेदों के निवारण के लिये वौद्ध भिक्षुओं की दो महासभायें की थीं। तीसरी अशोक ने संगठित की।[5] परन्तु वास्तविकता के पोषक भी समाज में जीवित रह सके, इससे अधिक उनका कोई फल शायद नहीं हुआ। तथापि अशोक ने अपने जीवन में काश्मीर, अफगानिस्तान तथा कलिङ्ग का ही शस्त्र विजय करने के वाद अपनी सम्पूर्ण शक्ति धर्म-विजय में लगाई। इस धर्म विजय का स्वरूप क्या था? यह कि 'अशोक ने सर्वत्र मनुष्यों और पशुओं की चिकित्सा के लिये प्रवन्ध किया। जहां औषधियां नहीं थीं वहां औषधियां लगवाईं। मार्गों पर मनुष्यों और पशुओं के आराम के लिये वृक्ष लगवाये और कुंए खुदवाये।[6]

दिव्यावदान की एक कथा से प्रतीत होता है कि अशोक की एक पत्नी महारानी 'तिष्यरक्षिता' सुयोग्य चिकित्सक थी।[7] 'एक वार सम्राट् अशोक वहुत वीमार पड़े। अनेक वैद्यों से इलाज कराये परन्तु सफलता न मिली। राजा को अपने जीवन की आशा न रही। अव राजा अपने उत्तराधिकारी की व्यवस्था करने लगे। जव रानी को यह ज्ञात हुआ तो उसे वड़ी चिन्ता हुई। उसने राजा से कहा—आप चिन्तित न हों, मैं आप की चिकित्सा करूंगी। राजा सहमत हो गये। तिष्यरक्षिता ने चिकित्सा की, और सम्राट् नीरोग हो गये। सम्राट् ने इससे प्रसन्न होकर तिष्यरक्षिता को सात दिन के लिये सारे राज्य की पूर्ण अधिकारिणी वना दिया।' इस सात दिन के शासन काल में तिष्यरक्षिता-

---

1. चतुर्दश शिलालेख, लेख सं० 5
2. R. G. Bhandarkar—Vaishnavism, Saivism and minor religious systems, P. 3.
3. चतुर्दश शिलालेख, लेख सं० 12
4. सप्त स्तम्भलेख, लेख सं० 7
5. मौर्य साम्राज्य का इति०, पृ० 514-519
6. गिरनार शिलालेख।
7. मौर्य साम्राज्य का इतिहास, पृ० 564

ने अपने सौतेले बेटे कुणाल के साथ कैसा दुर्व्यवहार किया, इससे हमें कोई प्रयोजन नहीं, हमें तो यह देखना है कि अशोक की सद्भावना का यहां तक सुफल हुआ कि उस समय स्त्रियां भी श्रेष्ठ चिकित्सिकायें होने लगीं थी।

चालीस वर्ष तक ठाठवाट के साथ अपने यशस्वी शासन को समाप्त करके अशोक ने अपनी जीवन लीला समाप्त कर दी। अशोक ने जीवन भर उद्योग किया कि लोग वास्तविकता को समझें। मिथ्या आडम्बरों के पाखण्ड से वचकर सुखी रहें। परन्तु सरिता में डाली हुई स्वर्ण शिला की भांति वे गौरवपूर्ण उपदेश एक वार प्रवल प्रतिध्वनि के साथ गूंजकर नीचे बैठ गये। समाज का प्रवाह फिर उसी तरह वह चला, जैसा वह रहा था। अशोक के पश्चात् 232 ई० पू० से लेकर 184 ई० पूर्व तक अशोक के उत्तराधिकारी शासन करते तो रहे, परन्तु उसमें न कोई जीवन था और न ज्योति। परिणाम यह हुआ कि मौर्य वंश के अन्तिम सम्राट् वृहद्रथ (184 ई० पू०) को उसके सेनापति पुष्यमित्र ने मार कर मौर्य साम्राज्य का अन्त कर दिया।

पुष्यमित्र वौद्धधर्म का द्वेषी था, और ब्राह्मण धर्म का पक्का अनुयायी। इस कारण उसने वौद्ध भिक्षुओं के साथ सहानुभूति दिखाने के स्थान पर उनका वहिष्कार शुरू कर दिया। इसी समय महाभाष्यकार महर्षि पतञ्जलि का जन्म हुआ। महर्षि पतञ्जलि को अपना पुरोहित वनाकर पुष्पमित्र ने पिछले छः सौ वर्षों से उपेक्षित यज्ञ और याग फिर से शुरू किये। यद्यपि महर्षि पतञ्जलि ने भी सामाजिक मिथ्या आडम्वरों का निवारण किया, परन्तु महायान वौद्धधर्म की कठोर शिक्षाओं से वच कर जो लोग 'सहज यान'[1] पर चलने के अभ्यासी वन गये थे, वे महा कठिन वैदिक धर्म मार्ग पर क्यों कर चल सकते थे? सिद्ध चिकित्सक वने रहकर मन्त्र के वल से पैसा पैदा करने वाले लोग भला औषधालय और संग्रहालय स्थापित करने का कष्ट क्यों उठाते? हम पूर्व में लिख चुके हैं कि लोग भिक्षुओं और वैद्यों से भयभीत हो गये थे, इस कारण घूम फिर कर भिक्षुक का जीवन निर्वाह होना कठिन था। नये स्थान पर उसे कौन पहिचाने? क्या मालूम वह सन्त है या सी० आई० डी०? इसलिये भिक्षु लोग प्रायः एक ही स्थान पर आश्रम वनाकर रहने लगे। एक स्थान पर रहने से भिक्षु में जो दोष आने चाहियें, वे आये। किसी को उनका मन्त्र फला और किसी को न फला। बस, राग द्वेष वढ़ा। जो दशा भिक्षुओं की थी वही भिक्षुणियों की भी। वे सदैव इसी उद्योग में रहे कि स्थानीय जनता उन पर अन्धश्रद्धा वनाये रहे और उनका स्वार्थ सिद्ध हो। लोग बेटा बेटी, धन सम्पत्ति, और इसकी प्राप्ति के लिये नाना प्रकार की भेंट उन्हें देते थे। एक-एक सिद्ध के पास अमित धनराशि एकत्रित हो गई। ये कहने मात्र को भिक्षु थे पर उनकी अवस्था विषय वासनाओं में फंसे हुए गृहस्थों से भी कहीं गिरी हुई थी। जनता द्वारा दी गई भेंट में द्रव्य, मदिरा और स्त्री तक शामिल थी। इस कारण विषय भोग और व्यभिचार भी सहज यान का सुलभ प्रसाद था। इसी युग में मिश्र, असीरिया, और यूनान के यवन और म्लेच्छों ने भारतीयों के घनिष्ट सम्पर्क में रहकर इस प्रवृत्ति को पूरा प्रोत्साहन और

---

1. बौद्ध लोग 'मंत्रयान' और 'लिंगयान' को 'सहजयान' अर्थात् धर्म का सरल मार्ग कहते हैं।

सहयोग दिया, क्योंकि इस विद्या के आदि गुरु वे ही थे। इस काल से प्रायः हजारों वर्षों पूर्व भी हम उक्त पश्चिमीय देशों में इस प्रवृत्ति का प्रचुर-प्रचार देखते हैं।[1] अन्तर इतना ही था कि भारत में वह बीज भारतीय देवी देवताओं के नाम के साथ पल्लवित हुआ।

चिकित्सा का मन्त्रयान में पदार्पण और उसके अनुसंधान

मन्त्रयान में कुछ लोग ऐसे भी थे जो प्राचीन चिकित्सा द्रव्यों का भी उपयोग करते थे और अन्धभक्तों के लिए मन्त्र-तन्त्रों का भी। उनके वैज्ञानिक परीक्षण इन द्रव्यों पर किसी न किसी रूप में चलते ही रहते थे। उत्तर भारत में मन्त्रयान के आडम्बर के विरुद्ध अशोक के बाद पुष्यमित्र और महर्षि पतञ्जलि के आन्दोलनों ने यद्यपि इसके अप्रतिहत विस्तार में बहुत कुछ बाधायें डालीं अवश्य, परन्तु फिर भी वह छोटी श्रेणी के लोगों व स्त्रियों में छिपे-छिपे पोषण पाता ही रहा। प्रकट रूप में भारत के उत्तरीय प्रदेश में न रहकर दक्षिण की ओर फलने फूलने लगा। अब यह स्थिति अवश्य थी कि जनता वैद्य की गोली से मन्त्र के जादू पर ज्यादह मुग्ध थी। और यदि गोली ही खानी पड़े तो वह भी मन्त्र से अभिमन्त्रित ही होनी चाहिए थी। इसीलिये हम देखते हैं कि इस युग में लोहा शुद्ध करने के मन्त्र, भस्म करने के मन्त्र, रोगी को खिलाने आदि के न जाने कितने प्रकार के मन्त्रों का आविष्कार हुआ। प्राचीन धातु चिकित्सा के ग्रन्थों में आप को इसी प्रकार के सैकड़ों मन्त्र मिलेंगे। सुश्रुत संहिता का प्रतिसंस्कार ईसा की प्रथम शताब्दी में नागार्जुन ने किया। इस प्रतिसंस्कार को बहुत विवेक पूर्वक तैयार करने पर भी मन्त्र-तन्त्रों की संख्या कुछ बढ़ ही गई है।[2] आदिकाल में भी मन्त्रोच्चारण के साथ कार्य करने की परिपाटी थी, परन्तु उस युग में वेद मन्त्रों का प्रयोग किया जाता था। मध्य युग में वह ऐतिहासिक संस्मरणों की शकल में परिवर्तित हुआ।[3] और इस काल में उसका रूप गुरु, और

---

1. 'दूसरे वे चालाक लोग थे, जो अच्छी तरह जानते थे कि, इन मन्त्र-तन्त्र-क्रियाओं की सफलता का अधिक दारोमदार उनकी अपनी अद्भुत शक्तियों पर उतना नहीं है, जितना कि श्रद्धालु की उत्कट श्रद्धापर। इसलिये श्रद्धालु की श्रद्धा को पराकाष्ठा तक पहुंचने के लिये या उसे पूर्णरूपेण 'हिप्नोटाइज' करने के लिये वे नित्य नये आविष्कार करते थे। वस्तुतः फर्स्टक्लास के आविष्कारक इसी दूसरी श्रेणी के लोग थे। इस युग में चढ़ावे से अपार धनराशि मठों में जमा हो गई थी। जब इन्होंने देखा कि, आखिर बुद्ध की शिक्षा से भी हम बहुत दूर हो चुके हैं—लोग श्रद्धा से अन्धे हैं ही, और सभी भोग हमारे लिये सुलभ हैं, तब उन्होंने विषय भोगों के संग्रह की ठानी, और इस प्रकार मद्य और स्त्री संयोग का श्री गणेश हुआ। यहां यह न समझना चाहिये कि भैरवी चक्र के ये ही आविष्कारक थे, क्योंकि इनसे सहस्रों वर्ष पूर्व मिश्र, असुर, यवन (यूनान) आदि देशों में भी ऐसे चक्रों का हम प्रचार देखते हैं। इनका काम इतना ही था कि, इन्होंने बुद्ध के नाम पर और नये साधनों के साथ इन्हें पेश किया। इस प्रकार मन्त्र, हठयोग, और मैथुन ये तीनों तत्व क्रमशः बौद्ध धर्म में प्रविष्ट हो गये थे। इसी बौद्ध धर्म को 'मन्त्र यान' कहते हैं"।—त्रिपिटकाचार्य राहुल सांकृत्यायन, गंगा पुरातत्वांक 1933 ई०, पृ० 216
2. 'महेन्द्र राम कृष्णानां ब्राह्मणानां गवामपि' आदि
3. 'पवनोदीरितो मन्त्रो योगेष्वेतेषु साधने। मन्दिता तत्र सर्वत्र गायत्री त्रिपदा भवेत्।

—सुश्रुत चि० 30/25

चेलों के मन्त्र, सांप-विच्छू के मन्त्र, भूत-प्रेतों के मन्त्र, कहां तक कहें लिंग और योनि के मन्त्र तक परिवर्तित हो गया।[1] इस महान् परिवर्त्तन का प्रधान श्रेय बौद्धों के मन्त्र यान को ही है।

हमने पिछले प्रकरण में विस्तार से इस युग के धातु चिकित्सा द्रव्यों का उल्लेख किया है। उससे यह स्पष्ट है कि आदि और मध्यकाल में जो धातु द्रव्य आयुर्वेदिक चिकित्सा में प्रयुक्त होते थे उनमें हिंगुल और पारद का औषधि के लिये समावेश न था। यह दोनों द्रव्य उत्तरकाल के प्रारम्भ के साथ ही औषधि के रूप से प्रकाश में आते हैं। कुछ लोगों का विश्वास है कि चरक और सुश्रुत में भी औषधि रूप से पारद का उल्लेख है, इसलिये आदिकाल से ही भारतीय इन दोनों द्रव्यों का चिकित्सा में प्रयोग करते थे। शायद यह सत्य हो। परन्तु अभी तो ईसा से पूर्व प्रायः सात सौ वर्षों के भीतर भारतीयों को इन द्रव्यों का परिचय मिला है। और तभी से वे इन्हें प्रयोग में लाये। चन्द्र गुप्त मौय के युग में पारद उत्पादन का भी एक समुन्नत विभाग काम कर रहा था। लोहाध्यक्ष की विशेष योग्यताओं में पारद निकालने की कुशलता भी एक विशेष महत्व रखती थी। इस विस्तृत और समुन्नत कला का उस युग में मान था ही इसलिये कि, पारद इस युग की नवीन वस्तु थी। उस पर औषधि सम्बन्धी बड़ी-बड़ी गवेपणायें चल रहीं थीं। परन्तु आत्रेय, पुनर्वसु और सुश्रुत के युग में भी पारद का औषधि रूप में प्रयोग था, यह स्वीकार करने के लिये कोई और पुष्ट प्रमाण नहीं है।

श्रीभोज देवकृत समरांगण सूत्रधार नामक प्राचीन ग्रन्थ से यह तो पता चलता है कि प्राचीन भारतीय वैज्ञानिक पारद से वायुयान चलाया करते थे। परन्तु यह प्राचीन युग कौन सा है, यह कहना कठिन है।[2]

सुश्रुत का प्रतिसंस्कार नागार्जुन ने ईसा की प्रथम शताब्दि में किया। उस समय पारद के औषधि सम्बन्धी प्रयोगों की वैज्ञानिक व्याख्या सबसे पूर्व नागार्जुन ने ही, विद्वानों के समक्ष रखी थी।[3] इसीलिये नागार्जुन ने प्रतिसंस्कार करते हुए सुश्रुत संहिता में पारद के प्रयोग भी एकाध स्थल पर लिख दिये हैं।[4] धन्वन्तरि और सुश्रुत के युग में औषधि रूप से पारद के ज्ञान न होने का सबसे बड़ा और प्रबल प्रमाण यह है कि सुश्रुत संहिता के प्रारम्भ में जहां औषधि के लिये प्रयोग किये जाने वाले द्रव्यों का उल्लेख किया है उस संग्रह में पारद का नाम नहीं है। साथ ही जहां-जहां पारद का नाम आया है, उन-उन पाठों के सम्बन्ध में प्राचीन व्याख्याकारों का विश्वास है कि वे पाठ 'असौश्रुत' अर्थात् सुश्रुत के लिखे हुए नहीं हैं, किन्तु पीछे से प्रति संस्कर्त्ताओं के जोड़े हुए हैं। उपर्युक्त स्थल पर ही, जहां पारद का उल्लेख है, प्राचीन व्याख्याकारों की राय है कि यह पाठ असौश्रुत है।[5] इसी प्रकार चरक संहिता के पाठों का भी हाल है। चरक ने ईसा पूर्व द्वितीय शताब्दि

---

1. 'पूजान्ते हवनं कुर्यात् योनि कुण्डे सुलक्षणे" —वाग्भट, र० र० समुच्चय अ० 6/30
2. Gaekwad Oriental Series, Baroda से प्रकाशित 'समरांगण' सूत्रधार भाग 2
3. 'नागार्जुनेन संदृष्टौ रसश्च रसका बुभौ'। वाग्भट, र० र० समु०
4. रक्तं श्वेतंचन्दनं पारदञ्च काकोल्यादि क्षीरपिष्टश्चवर्गः। सु० चि० 25/39
5. 'अयं पाठोऽसौश्रुतोपि जेज्जटेनोक्तत्वादस्मद्वृद्धैः पठितत्वा न्मयाऽपि पठितः।'
—उल्हण, सुश्रुतटीका, चि०, अ० 25/39

में नागार्जुन के कुछ ही पूर्व अग्निवेश तन्त्र का प्रति संस्कार करके चरक संहिता का स्वरूप तैयार किया। उसमें पारद का नाम आ सकना सरल बात थी। चरक संहिता में 'रस' शब्द कई एक स्थलों पर आया है। परन्तु आज से एक हजार वर्ष पूर्व चक्रपाणि को यह कहते डर लगता था कि अग्निवेश के युग में पारद चिकित्सा द्रव्यों में आ चुका था। चिकित्सित स्थान के 26 वें अध्याय में श्वित्र पर एक योग लिखा है।[1] उसमें 'रसोत्तमः' शब्द आया है। चक्रपाणिने उसका अर्थ पहिले तो 'पारद' लिख दिया, फिर इतिहास का डर लगा, तो 'घृतं' लिखा। और यदि एकाध प्रयोगों में पारद ही मान लिया जाय तो वह चरक के प्रतिसंस्कार में शामिल किया गया ही मानना पड़ेगा, मूल अग्निवेश तन्त्र का नहीं। कुष्ठचिकित्सिताध्याय का 'रसंचनिगृहीतम्'[2] वाक्य यदि पारद का ही बोधक है, तो चरक का ही है, अग्निवेश का नहीं। क्योंकि प्रतिसंस्कार कर्त्ताओं का दावा है कि उन्हें पुराने काल के शास्त्रों को नवीन युग का जामा पहिनाने का भी अधिकार है।[3]

कौटिल्य के अर्थशास्त्र के आधार पर यह मानने के लिये हम विवश हैं कि पारद और हिंगुल की उत्पत्ति भारत वर्ष में भी होती थी। उस युग के भारतवर्ष की सीमायें मध्य ईरान (पर्शिया) से लेकर बंगाल तक तथा हिमालय से माइसोर तक विस्तृत थीं। इस विस्तृत भूप्रदेश में अनेक स्थानों पर पारद प्राप्त होता था। चाणक्य के लेख से प्रतीत होता है कि कुछ खानें दक्षिणापथ में थीं।[4] उसने लिखा है कि उसकी राय में उत्तरापथ से दक्षिणापथ इस लिये अच्छा है कि वहां उपयोगी और मूल्यवान् द्रव्यों की खाने हैं। कुछ स्थान पहाड़ी प्रदेशों में थे, जहां से पारदीय खनिज मिलते थे। ये स्थान हिमालय विन्ध्याचल तथा अन्य दक्षिण भारतीय पर्वतों में थे। इन स्थानों में जो पारदीय धातु मिलता था उसका नाम 'गिरिसिन्दूर' था।[5] यह हिंगुल से कुछ घटिया होता था। पारद की मात्रा इसमें कुछ कम बैठती थी। सबसे उत्तम पारदीय धातु हिंगुल ही था। यह आज कल के कलात (बलोचिस्तान) से लेकर तिब्बत के पश्चिम 'खोटान' तक के प्रदेश में पाया जाता था। प्राचीन काल में इस प्रदेश को 'दरद' प्रदेश कहा जाता था।[6] किसी समय सम्राट रघु ने इसे जीत कर अपने राज्य में मिलाया था। तब से लेकर इस काल तक यह प्रदेश कई बार भारत में शामिल और उससे पृथक स्वतन्त्र भी रहा है। रामचन्द्र के समय 'दरद' प्रदेश राम राज्य का ही भाग था। मनुस्मृति में लिखा है कि 'दरद' देश में भी क्षत्रिय ही रहते थे, परन्तु वे वैदिक कर्म काण्ड को छोड़ देने से 'वृपल' हो गये थे।[7] वृपल

1. चरक, चि० 25/114
2. चरक, चि० 7/70—'सर्वव्याधिनिवर्हणमद्यात्कुष्ठी रसं च निगृहीतम्।'
3. "संस्कर्ता कुरुते तन्त्रं पुराणं च पुनर्नवम्।" —चरक सं०, सिद्धि०, 12/76
4. कौ० अर्थ०, अधि० 7, अ० 12
5. 'महागिरिषु चाल्पीयः पाषाणान्तः स्थितोरसः।
   शुष्कः शोणः सविशेषो गिरि सिन्दूर संज्ञया।'—वाग्भट, र० र० स० 3/145
6. 'काम्बोज और दरद' अफगानिस्तान में, और पश्चिम तिब्बत में रहने वाले लोग हैं'—श्री चिन्तामणि विनायक वैद्य, 'महाभारत मीमांसा' सन् 1920, पृ० 399
7. मनुस्मृति, अ० 10/44

ही सम्भवतः मौर्य जाति के लोग थे। अर्जुन ने महाभारत के बाद एक बार फिर इस प्रदेश का दिग्विजय किया था।

इसी प्रदेश की खानों से प्राप्त होने के कारण पारे के मूल धातु को 'दरद' कहते थे। वाग्भट ने लिखा है कि दरद प्रदेश में पारदीय धातु अथवा हिंगुल प्राप्त होता है। इसी कारण संस्कृत में हिंगुल[1] का नाम 'दरद' है।

दरद देश से पश्चिम पर्शिया (ईरान) का प्रदेश 'पारद' कहा जाता था।[2] यह स्थान भी पारे की उत्पत्ति के लिए प्रसिद्ध था। पारे के अधिकांश नाम देशों के ही नाम पर रक्खे गये हैं। हिंगुल का अर्थ है 'शकल सूरत में हींग जैसा।' हिंगुलाज (ईराक) के ही प्रदेश की वस्तु होने के कारण, पीछे से मिले इस पारदीय द्रव्य को लोग 'हिंगुल' ही कहने लगे थे। हम यह अवश्य मानेंगे कि पारा मिश्र देश (अफ्रीका) से भी आता होगा और इसीलिये उसका नाम 'मिश्रक' भी है। इस प्रकार ऐतिहासिक संस्मरणों के अनुसार पारद, हिंगुल, दरद, मिश्रक, आदि पारे के नाम उस उत्पादक भूप्रदेश के नाम के आधार पर ही रक्खे गये थे। पीछे से इन्हीं नामों की अन्यान्य भावुक व्याख्यायें रसायनाचार्यों ने लिखी हैं, जिनका उल्लेख रसग्रन्थों में मिलता है।[3] पारे का एक नाम 'रस' भी है। 'रस' वैज्ञानिक नाम है।[4] पारद के अन्वेषण से पूर्व 'लौह-चिकित्सकों ने धातुओं का नाम 'रस' रक्खा था, क्योंकि काष्ठौषधियां अथवा जंगम द्रव्यों का धातुओं में विलय हो जाता है। थोड़े में भावनाओं द्वारा वहुत से स्थावर और जंगम द्रव्यों के गुण केन्द्रित (Concentrated) हो सकते हैं। परन्तु जब पारद पर वैज्ञानिक अनुसन्धान हुए तो पता लगा कि पारद में सारे ही धातुओं का क्रमिक-विलय हो सकता है, इसलिये प्रधानतः पारद ही 'रस' है, शेष धातु उप-रस की कोटि में रक्खे गये।[5] परन्तु यदि शेष धातुओं को 'रस' ही कहा जाय तो पारद को 'रसेन्द्र' कहना चाहिये।

विदेशों से भारत में आकर पारद का जो स्वागत हुआ, वह विदेशों में उसे कभी प्राप्त न हुआ। पारद के ऊपर भारतीयों ने गहरे अनुसन्धान प्रारम्भ से ही शुरू कर दिये थे। उनमें वे वहुत सफलता पाते गये। पाश्चात्य देशों में जहां से पारद आता था, इसके सम्बन्ध में इतनी क्रान्ति नहीं हुई, जितनी भारतवर्ष में। अभी कुछ समय हुआ है, अमृतसर

---

1. र० र० समु० 1/88।
2. मनु० 10/44।
3. रसनात् सर्वधातूनां रस इत्यभिधीयते।
   जरारुङ् मृत्युनाशाय रस्यते वा रसोमतः॥
   रसोयं रसराजत्वाद्रसेन्द्र इति कीर्तितः।
   देहलोहमयीं 'सिद्धि' सूते सूतस्ततः स्मृतः॥
   रोग पंकाब्धिमग्नानां पारदानाञ्च पारदः।
   सर्व धातुगतं तेजो मिश्रितं यत्र तिष्ठति।
   तस्मात् स मिश्रकः प्रोक्तो नाना रूप फलप्रदः॥—वाग्भट, र० र० समुच्चय 1/76-78
4. 'रस्यत इति रसः'।
5. काष्ठौषध्योनागे, नागोवंगेऽथ वंगमपि शुल्वे।
   शुल्वं तारे तारं कनके कन्च लीयते सूते॥—वाग्भट, र० र० समु० 1/40

के स्वामी हरि शरणानन्द महोदय ने 'कूपी पक्व रस-निर्माण-विज्ञान' नामक एक पुस्तक लिखकर प्रकाशित की है। पारद के सम्बन्ध में एक छोटा-सा निबन्ध उसके उपोद्घात में दिया गया है। निबन्ध की अन्य बातों को छोड़कर केवल पारद के सम्बन्ध में कुछ काम की बातें उसमें संग्रहीत की गई हैं। वे लिखते हैं कि 'ईसा से 369 वर्ष पूर्व पाश्चात्य देशों में थियोफ्रेटिस नाम का एक विद्वान हुआ। उसने सबसे पहले अपनी पुस्तक में कुछ खनिजों के सम्बन्ध की जानकारी दी है। उसने लिखा है कि मिश्र में पारे के खनिज को ताम्रचूर्ण और सिरका मिलाकर बन्द बर्तन में गरम करते हैं, तो उस खनिज से पारा पृथक् हो जाता है। उसने यह भी बताया है कि इसकी स्वच्छ आभा प्रभा को देखकर बहुत से लोग इसे द्रव चांदी कहते हैं। इसीलिये उसने इसका नाम क्विक् सिलवर (Quick Silver) दिया। इसके पश्चात् ईसा की पहली और दूसरी शताब्दी में तो पारद के अनेक ऐतिहासिक प्रमाण मिलते हैं।

पारद से लोह सिद्धि

ईसा के पूर्व तक मिश्र, ग्रीस और रोम आदि देशों का रासायनिक विज्ञान (Chemistry) बहुत निर्बल था। इस कारण वहां पारद सुलभ होने पर भी वे इस सम्बन्ध में कोई महत्वपूर्ण वैज्ञानिक अनुसन्धान न कर सके। पीछे आप देख चुके हैं कि औषधि तथा श्रृंगार सम्बन्धी सारे ही साधन (chemicals) वे लोग भारत से ही लेते थे। तथापि प्रकृति सुलभ उत्सुकता को सन्तुष्ट करने के लिये पारद के सम्बन्धमें अनेक अन्वेषण वे लोग भी करते गये—शायद यह पिघली हुई ठंडी धातु जमाकर ठोस चांदी बनाई जा सके, इस जिज्ञासा में अनेकों प्रयोग पाश्चात्य देशों में भी हुए, परन्तु उनमें कितनी सफलता हुई, यह आज भी दुनिया के लिये प्रश्न ही बना हुआ है। ईसा से सवा तीन सौ वर्ष पूर्व ग्रीस के बादशाह सिकन्दर ने मिश्र को विजय किया, और वहां सिकन्दरिया नगर आबाद किया था। इस नगर का महत्व यह था कि पश्चिमीय और पूर्वीय देशों की वस्तुओं के क्रय-विक्रय की यह विश्व विख्यात मण्डी थी। पारद और हिंगुल का व्यापार भी यहां से बड़े पैमाने पर होता था। ईसा से 300 वर्ष पूर्व इसी नगर में रसायन विद्या प्रेमियों की एक विशाल सभा हुई थी। इसमें पारद को सोना चांदी बना देने की कला पर कई दिनों तक चर्चा होती रही। लोगों ने पारद के तिर्यक् पातन आदि के कई प्रयोग तो दिखाये, परन्तु उससे सोना चांदी बना कर कोई न दिखा सका। यह वह समय था जब भारतीय वैज्ञानिकों के किये हुए पारदीय परीक्षणों के परिणाम लेकर बौद्ध भिक्षु मिश्र, यूनान आदि समस्त पश्चिमीय देशों में जाते आते थे। इसी युग में ईसा से 325 वर्ष पूर्व यूनान में प्रसिद्ध दार्शनिक तत्ववेत्ता सुकरात हुआ जिनका शिष्य प्लेटो (अफलातून) था। इसी युग में एक और यूनानी तत्ववेत्ता हुआ जिसका नाम अरस्तू (Aristotal) था। इसके रसायन शास्त्र पर भी गम्भीर अनुसन्धान किये थे। पारद, तथा धातवीय विज्ञान इस समय यूनान में भी पहुंच गया था। उपर्युक्त तत्वज्ञों के लेखों में यह विधान मिलता है कि उनके विचार से एक धातु दूसरी धातु में परिवर्तित हो सकती है और

अल्प मूल्य की पारद आदि धातुओं से सोना चांदी वन सकता है।[1]

यह तो विदेशों की अवस्था थी। लौह चिकित्सा विज्ञान के सम्बन्ध में पारद ने यही क्रान्ति भारत वर्ष में भी उत्पन्न कर दी। भारत के वैज्ञानिक तो कमर बांध कर पारद के पीछे पड़ गये। यहां तक कि पारद सम्वन्धी अनुसन्धानों में ही अपना जीवन समाप्त कर देने वाले व्यक्ति भी भारतवर्ष में हुए हैं। पारद के ऊपर सोना चांदी वनाने के निमित्त या अन्य प्रकार से किये परीक्षणों में लौह चिकित्सा विज्ञान को वड़ी उन्नति प्राप्त हुई। लौह आदि कुछेक धातुओं की भस्में जो अव तक तैयार होती थीं, पारद के योग से तैयार की गई, तो पता चला कि पूर्व प्रयोगों की अपेक्षा पारद से तैयार की गई भस्में अधिक प्रभावकारी सिद्ध हुई। वनस्पति से भस्म किया हुआ लौह सर्वांश में भस्म नहीं होता। वह उत्ताप देने से फिर मूल धातु के रूप नें परिवर्त्तित हो जाता है। परन्तु पारद से भस्म किया हुआ फिर मूल रूप में परिवर्तित नहीं होता।[2] अनेक पारदीय योगों का परीक्षण करने के लिये भक्ति भाव से लोग स्वयं उन्हें खा गये या उन्हें खाने वाले मिल गये। खाने से हुए उनके कुपरिणाम और सुपरिणामों का उल्लेख आपको इन ग्रन्थों में मिलेगा। पारद ही क्या, सारे ही धातुओं के सम्बन्व में ऐसे साहस पूर्ण परीक्षणों में प्राणाचार्यों और जनता के लोगों ने अपने शरीर अर्पण किये हैं, तभी तो उन प्रयोगों के गुण दोषों के सिद्ध परीक्षण हम इन चिकित्सा ग्रन्थों में आज देखते हैं।

इतना ही नहीं धातुओं के स्वरूप परिवर्त्तन सम्वन्धी कुछेक प्रयोग भी लौह-शास्त्रियों ने निकाले। उनका विचार था कि पारद स्वर्ण के रूप में परिवर्त्तित हो जाता है। वड़े-वड़े रस ग्रन्थों में जहां स्वर्ण के भेद लिखे हैं, वहाँ एक भेद रसेन्द्र वेध-सम्भूत-स्वर्ण भी लिखा है। यह पारे से ही तैयार होता था। वहाँ यह भी लिखा है कि यह स्वर्ण यदि भस्म करके खाया जाय तो अद्वितीय गुण दिखलाता है।[3] सोना, चाँदी, और लोहा आदि धातु, अभ्रक ग्रास किये हुए पारद में यदि मिश्रित कर दिये जायें तो वे अपरिवर्त्तनीय स्वरूप को प्राप्त कर लेते हैं।[4]

धातुओं का स्वरूप पारद योग से अपरिवर्त्तनीय देखकर लोगों ने यह विश्वास कर लिया कि पारद के योग से मनुष्य का शरीर भी अपरिवर्त्तनीय अवस्था को प्राप्त कर सकता है। इसलिए पारद योग से धातुओं को अजर-अमर वनाने के साथ ही शरीर को अजर-अमर वनाने की धुन भी सवार हो गई। शरीर को अजर-अमर वनाने की रसायन का आविष्कार सुनकर भारत के आध्यात्म शास्त्री इसकी ओर वड़े ललचाये जो कार्य योग के यम, नियम आदि, अष्टाङ्ग साधन द्वारा वड़ी कठिनाई से हो सकता था, वह अव पारद की रसायन द्वारा सरलता से हो जाय, इससे वढ़कर दूसरी क्या वात है ? पारद खाओ

---

1. कूपी पक्व रस निर्माण विज्ञान, उपोद्घात।
2. 'लौहानां मारणं श्रेष्ठं सर्वेषां रस भस्मना' —वाग्मट, र० स० 5/13
3. रसेन्द्रवेध संजातं स्वर्ण पञ्चविधं स्मृतम्।
   रसायनं महाश्रेष्ठं पवित्रं वेधजंहितत्॥ —वाग्भट, रस्स० 5/9
4. अमृतत्वं हि भजन्ते हर मूर्तौ योगिनो यथालीनाः।
   तद्वत् कवलित गगने रस राजे हेम लोहाद्याः॥ —र० र० स० 1/41

और शरीर को अजर-अमर बनाकर इसी जीवन में ब्रह्म साक्षात्कार कर लो, बस, बेड़ा पार है।[1] परन्तु इस युग में ऐसे आध्यात्मवादी कितने थे? अधिकतर वे लोग थे जिनके मन में यह अभिलाषा थी कि पारद की रसायन खाकर अजर-अमर शरीर द्वारा डटकर भोग और विलास का मजा लूटा जाय। अनीश्वर वाद और नास्तिक वाद के युग में परलोक, धर्म, और उपासना करता ही कौन? तब तो आवश्यकता यही थी कि जब तक जियो, खाओ, पीयो, और मौज उड़ाओ।[2]

मौर्य युग में यद्यपि सैन्य और सम्पत्ति बल भारत वर्ष के पास पर्याप्त था, परन्तु चारित्र्य बल बहुत कुछ घट गया था। अपने प्राचीन आदर्श के अनुसार आध्यात्म वादी होने की अपेक्षा उस युग का भारत भौतिक वादी ही अधिक था। मौर्य काल में भारत में बहुविवाह की प्रथा अच्छी तरह प्रचलित थी। मैगास्थनीज ने भारतीयों की बहु-विवाह सम्बन्धी प्रवृत्ति को अपने वर्णन में लिखा है। उस युग के भारतीय, एक विवाहित स्त्री तक ही मर्यादित न थे। वे विवाहित स्त्री के अतिरिक्त अनेक स्त्रियां केवल भोग-विलास और आमोद-प्रमोद के लिये ही रखते थे। मैगास्थनीज ने इस प्रवृत्ति का भी उल्लेख किया है। स्त्री के साथ भारतीयों का व्यावहारिक आदर्श आमोद-प्रमोद, भोग-विलास और बच्चों से घर को भर देना मात्र था।[3] कौटिल्य के अर्थशास्त्र में भी वही बात हमें मिलती हैं। कौटिल्य ने लिखा है—'पुरुष कितनी भी स्त्रियों से विवाह कर सकता है, स्त्रियां लड़के उत्पन्न करने के लिये ही बनाई गई हैं।[4]

मौर्य काल में शराब भी सामाजिक आनन्द की वस्तु बन गई थी। लोग उत्सवों में शराब खूब पीते थे। राज्य की ओर से शराब की दूकानें खुली हुई थीं। यह बड़ी-बड़ी दूकानें, आज के होटलों से किसी तरह कम न थीं। उनमें अनेक अलग-अलग कमरे बने होते थे। प्रत्येक कमरे में अलग-अलग बिस्तर बिछे रहते थे। वहाँ इत्र, फूल-मालायें तथा जल का प्रबन्ध रहता था। इसके अतिरिक्त भी आराम के अन्य साधन होते थे। यहीं बैठकर लोग शराब पीते थे। शराब के विक्रेता शराब ही न देते थे वे भोग-विलास के लिये वेश्यायें भी देते थे।[5] यद्यपि राज्य की ओर से इसके लिये कुछेक आवश्यक प्रतिबन्ध अवश्य थे, परन्तु जन साधारण में बौद्ध भिक्षु और भिक्षुणियों का ही नैतिक साम्राज्य था। अधिकांश भिक्षु और भिक्षुणियां राज्य नियन्त्रण के बावजूद भी जन साधारण में मन्त्र, मद्य और मैथुन का ही प्रचार कर रहे थे।[6] फल यह था कि स्वतन्त्र व्यवसाय करने वाली वेश्यायें तो थीं ही, हजारों भिक्षुणियां और देवदासियां

---

1. परमात्मनीव सततं भवतिलयो यत्र सर्व सत्वानाम्।
   एकोऽसौ रस राजः शरीरमजरामरं कुरुते॥ —र० र० स० 1/42
2. यावज्जीवेत्सुखं जीवे दृणं कृत्वा घृतं पिबेत्।
   भस्मी भूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः॥ —चार्वाक दर्शन
3. मैगास्थनीज, भारतवर्षीय विवरण, पृ० 34
4. 'बह्वीरपि विन्देत, पुत्रार्थाहि स्त्रियः। —कौ० अर्थ० 3/2
5. कौ० अर्थ० 2/25
6. श्री राहुल सांकृत्यायन, 'गंगा' पुरातत्वांक, पृ० 216

भी वही कर रहीं थीं जो वेश्यायें करतीं थीं। सैकड़ों स्त्री पुरुष भिक्षु और भिक्षुणियों का वेश बनाये हुए इसीलिये पड़े थे कि उसकी ओट में भोग और विलास के लिये जितनी निश्चन्तता थी, वह दूसरी दशा में मिलनी असंभव थी। अशोक ने अपने जीवन में इनके सुधार का बीड़ा उठाया था, हजारों रंगीले-बहुरूपिये उसने निकलवा कर भिक्षु संघ से बाहर कर दिये, पर अशोक का सम्पूर्ण जीवन भी उनकी शुद्धि के लिये पर्याप्त न हो सका। आखिर धर्म का शासन तो अशोक के साथ ही चला गया, और कामदेव का ही प्रचण्ड साम्राज्य चारों ओर स्थापित हो गया। यह ईसा की प्रथम शताब्दी थी।

मौर्य साम्राज्य के अस्त होने के साथ ही साथ नाग वंशीय राजाओं का शासन उदयाचल पर आ रहा था। शुंग वंश के एक शताब्दि के शासन में वह चमक उठा। यह कहने में कोई अतिशयोक्ति नहीं है कि पारद के वैज्ञानिक अनुसन्धानों के सम्बन्ध में नाग जाति के लोगों ने ही सबसे बड़ा कार्य किया है। आर्यों के आदिकालीन जाति भेद मौर्य युग में भी अवशेष थे। आदि कालीन वर्णन में हमने लिखा है कि नाग लोग मानसरोवर के पश्चिम ओर से लेकर पामीर तक राज्य करते थे। तिब्बतीय ग्रन्थों में भी इस नाग राज्य का बहुत वर्णन है। काश्मीर, गढ़वाल, टेहरी और कुमाऊं के उत्तरीय भाग नागों के ही थे। यह भी लिखा जा चुका है कि नागों के आदि सम्राट् भगवान् शिव शंकर थे। मौर्य युग में भी काश्मीर के शासक नाग वंशी लोग ही थे। सम्राट् अशोक ने बड़े-बड़े विद्वान बौद्ध प्रचारकों को बुद्ध भगवान् के उपदेशों के प्रचारार्थ दूर-दूर देशों में भेजा। अशोक ने गांधार और काश्मीर में भी बौद्ध धर्म के प्रचार के लिये विद्वान भिक्षु भेजे। सबसे प्रथम बौद्ध धर्म का सन्देश लेकर भिक्षुवर 'थेर मज्झन्तिक उस ओर गये। जब वे उन देशों में पहुंचे तो काश्मीर और गांधार पर 'आरवाल' नामक नाग वंशीय राजा ही राज्य कर रहा था।[1] कहना नहीं होगा कि गांधार और काश्मीर के मध्य का प्रदेश 'दरद' प्रदेश था जहां से पारद और हिंगुल प्राप्त होता था। इसी समय हिमालय पर बहुत से गन्धर्व और यक्ष जाति के लोग भी रहते थे। थेर महोदय के उपदेशों से प्रभावित होकर इन लोगों ने बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया।[2] सम्राट अशोक के दरबार में कुछ यक्ष जाति के लोग कार्य करते थे। एक बार राज्य के सम्पूर्ण भिक्षुओं को एकत्रित करने का कार्य अशोक ने दो यक्षों को ही सौंपा था।[3] इतिहास की घटनाओं से प्रतीत होता है कि चिरकाल तक देवताओं के अहंकार पूर्ण व्यवहार से तंग आकर अन्त को नाग, यक्ष और गन्धर्व आदि स्वर्ग की जातियों ने बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया था। परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि बौद्ध धर्म स्वीकार करने से पूर्व ही नाग लोगों ने पारद को खोज लिया था, और उसके सम्बन्ध में अनेक वैज्ञानिक प्रयोग ढूंढ़ निकाले थे। नाग लोगों में भी देवताओं की भांति जातीय पक्षपात बहुत बढ़ गया था। वे यद्यपि देवों की ही भांति ऊंचे दर्जे के वैज्ञानिक थे, परन्तु अपने आविष्कारों से अपनी ही जाति को

---

1. मौर्य साम्राज्य का इतिहास, पृ० 542
2. वही, पृ० 543
3. महावंश 52/72

लाभान्वित करने में अधिक प्रयत्नशील रहते थे। हम जानते हैं कि देवताओं के 'अमृत' के मुकाबिले में 'सुधा' जैसे अपूर्व प्रयोग का आविष्कार नागों ने किया था।

रस ग्रन्थों के पर्यालोचन से पता चलता है कि पारद का सबसे पूर्व वैज्ञानिक अनुसन्धान देवों और नागों ने किया था। उल्लेखों से यह पता चलता है कि देवों और नागों में जातीय संघर्ष के कारण कई बड़े-बड़े विप्लव हुए हैं। प्रतीत होता है कि अफगानिस्तान और चीन की ओर (दरद देश) पारदीय खानों से तिब्बत के रहने वाले देव, और काश्मीर से पामीर तक रहने वाले नाग जाति के लोग मिलकर लाभ उठाते थे। बहुत समय तक इन खानों से दोनों लाभ उठाते रहे। किसी समय अन्य विदेशी लोगों ने उन खानों पर अपना अधिकार करना चाहा अतएव देवों और नागों ने मिलकर मिट्टी और पत्थरों से उन्हें बन्द कर दिया ताकि शत्रु उससे लाभ न उठा सकें। वाग्भट के वर्णन से यह पता चलता है कि पारद की एक खान जो देवों के अधिकार में थी, कुछ गुलाबी आभायुक्त पारद उत्पन्न करती थी, और दूसरी, जिसपर नागों का प्रभुत्व था भूरे रंग का पारद उत्पन्न करती थी। झगड़े के कारण बन्द की हुई खानें बहुत समय तक बन्द रहीं। लोगों को पारद मिलना दुर्लभ हो गया।[1] परन्तु इसमें शक नहीं कि कालान्तर तक कश्मीर और गान्धार पर विदेशियों का आधिपत्य रहने के बाद जब फिर नाग वंशीय राजाओं ने अपने उस प्रदेश को स्वायत्त कर लिया तो, पारद फिर से ढूंढ़ लिया गया, और यह खोज उत्तर काल के प्रारम्भ में ही हो चुकी थी। देवों और नागों से अन्य लोगों का यह विग्रह कब हुआ, इसका समय ठीक-ठीक बता सकना तो अशक्य है, परन्तु हम अनुमान करते हैं कि वह मध्ययुग के किसी काल की घटना होगी। क्योंकि आदिकालीन युग में पारद के चिकित्सा में प्रयुक्त होने के निश्चत प्रमाण नहीं मिलते।

उस युग को जाने दीजिये। अब तो यहां, हम ईसा की प्रथम शताब्दी की बात कर रहे हैं। इस युग में नाग जाति की राजनैतिक प्रभुता बढ़ी हुई थी। नाग जाति के जो लोग बौद्ध धर्म में दीक्षित हुए थे, उन्हें छोड़कर शेष नाग जाति के लोग वैदिक धर्मावलम्बी ही थे। वे शिव के अनन्य भक्त थे। यह पीछे हम लिख चुके हैं। नाग जातीय विद्वानों ने एक ओर राजनैतिक विजयें कीं, और दूसरी ओर साहित्यिक और धार्मिक विचारों को भी परिपुष्ट किया। नागार्जुन, दिङ्नाग, आदि विद्वान् इसी युग में हुए। दोनों ही धुरन्धर बौद्ध दार्शनिक थे। इसके साथ ही वे अद्वितीय वैज्ञानिक भी थे। नागार्जुन ने वैज्ञानिक संसार को यह बताया कि पारद खाया भी जा सकता है, और वह एक अपरिमित शक्तिवर्धक गुण रखता है। दिङ्नाग भी कोरे बौद्ध नैय्यायिक ही न थे, वह भी योग्य विज्ञान वेत्ता थे। कहते हैं कि वे मन्त्र विद्या के भी आचार्य थे। तिब्बतीय ऐतिहासिक लामा तारानाथ

---

1. रसो रसतो विनिर्मुक्तः सर्वदोषैः रसायनः।
तज्जातास्त्रिदशास्तेन नीरुजा निर्जरामराः॥
रसेन्द्रो दोष निर्मुक्तः श्यावोऽल्पोऽतिनिर्मलः।
रसायनोऽभवंस्तेन नागा मृत्युजरोज्झिताः॥
देवैर्नागैस्ततो कूपौ पूरितौ मृद्भिरश्मभिः।
तदा प्रभृतिलोकानां तौ जातावति दुर्लभौ॥ —र० र० समु० 1/69-70

ने लिखा है कि एक बार उड़ीसा के राजा के अर्थसचिव भद्रपालित के उद्यान में हरीतकी के वृक्ष की शाखायें सूख गई। दिङ्नाग के सामने समस्या के रूप में यह बात पेश हुई। इस पर उन्होंने अपने विज्ञान बल से सात दिन के भीतर ही उन सूखी हुई शाखाओं को हरा-भरा कर दिया। दिङ्नाग के इस चमत्कार को देखकर भद्रपालित बौद्ध धर्म में प्रव्रजित हो गया।[1]

देव और देवों के भक्त पारद और पारदीप आविष्कारों की ओर उतने आकृष्ट न थे जितने नाग लोग। इसीलिये पारद के सम्बन्ध में हमें जो कल्पनायें मिलती हैं, उनका सम्बन्ध नागों के अधीश्वर भगवान् शिव से ही अधिक है। पारद के सम्बन्ध में जब नागार्जुन के आविष्कार समाज के सामने आये तो वैज्ञानिक जगत् में एक बड़ी क्रान्ति हो गई। और सबसे बड़ी क्रान्ति तो उन लोगों में हुई जो सिद्ध और सन्त बन कर संसार के भोग और विलास का आनन्द लूटने में मस्त थे। उनके मन्त्र-तन्त्रों में आत्मिक बल का सामर्थ्य तो था ही नहीं, इसलिए पारद के सहारे उन्होंने मन्त्र-तन्त्रों को बलवान् बनाने का सुगम मार्ग पा लिया। वे लोग भी पारद के सम्बन्ध में और अधिक अन्वेषण करने में व्यस्त रहने लगे, और बहुत से बाजीकरण, स्तम्भन, तथा रासायनिक प्रयोग उन्होंने ढूंढ़ निकाले। इस प्रकार लौह विज्ञान में पारद ने एक युगान्तर उपस्थित कर दिया। संसार के भोग और विलास के लिए ही शरीर की उपयोगिता समझने वाले मन्त्रयानीय, और लिंगयानीय लोगों को सोना, चांदी और लोहा, तांबा आदि सब भूल गया और चारों ओर पारद ही पारद दिखाई देने लगा। इसके चमत्कारिक गुणों पर मुग्ध होकर लोगों ने उसकी बड़ी स्तुति प्रारम्भ कर दी और उसे मोक्ष का साधन ही करार दे दिया—

उदरे संस्थिते सूते यस्योत्क्रामति जीवितम्।
स मुक्तो दुष्कृताद्घोरात् प्रयाति परमं पदम्॥[2]

पेट में पारद पहुंच जाय, ऐसी दशा में जिसकी जीवन लीला समाप्त हो, उसको निस्सन्देह मोक्ष और ब्रह्म साक्षात्कार होता है। लोगों ने उसे खनिज धातु कहने के स्थान पर भगवान् शिव का 'वीर्य' कहना प्रारम्भ कर दिया। अनेक काल्पनिक किस्से और कहानियां गढ़ कर पारद का माहात्म्य जनता को समझाना शुरू किया।

यह दार्शनिकों का युग था। इसलिये जिस तत्व को प्रतिष्ठा देनी हो उस पर दार्शनिक दृष्टि से भी विचार होना चाहिये था। इसीलिये इस पर दार्शनिक विचार प्रस्तुत किये जाने लगे। 'सर्व दर्शन-संग्रह' के रचयिता ने जहां अन्यान्य दर्शन शास्त्रों का उल्लेख किया है, वहां एक 'रसेश्वर दर्शन' भी है। इससे स्पष्ट है कि सर्वदर्शन संग्रह के निर्माण से बहुत पूर्व ही रसेश्वर दर्शन भी भारत की पण्डित मण्डली में स्थान पा चुका था तथा पारद के पक्ष में दार्शनिक दलीलें देने वाला भी एक बड़ा समुदाय था। इस प्रकार पारद वैज्ञानिकों की वस्तु तो था ही, वह दार्शनिकों का आदर्श बन गया। यहां तक कि इस पर स्वतन्त्र दर्शन शास्त्र की ही रचना हो गई।

---

1. गुप्त साम्राज्य का इतिहास, भाग 2, पृ० 146
2. रस हृदय तन्त्र, अ० 1

रस का दार्शनिक विवेचन

किसी पदार्थ के अद्‌भुत गुणों को देखकर उसे दार्शनिक महत्व देने की मनोवृत्ति भारतीयों में पुराने समय से रही है। इसके बारे में भी वही बात हुई। इसके चमत्कारी गुणों को देखकर लोगों ने उसे दिव्य रूप देना प्रारम्भ कर दिया। वह सामान्य खनिज द्रव्य न रहकर महादेव का सारभूत वीर्य बन गया। उसके बारे में अनेक आख्यायिकायें रची गई। कहते हैं कि देवताओं को तारकासुर का वध करने के लिये महेश्वर के पुत्र सेनानी की आवश्यकता पड़ी। अकस्मात् इसी बीच सम्भोगेच्छा से शिव और पार्वती ने समागम किया। परन्तु वह सम्भोग इतना सुदीर्घ कालिक हो गया कि उसको समाप्त करने के लिये देवताओं को प्रयत्न करना पड़ा। नितान्त उस सम्भोग निवारण के लिये देवों ने अग्नि को भेज दिया। अग्नि कबूतर का रूप बना कर वहां पहुंचा। शम्भू ने उसे वस्तुतः जान लिया, और लज्ज़ावश संभोग बन्द कर दिया। उससे शंभू का जो वीर्य प्रच्युत हुआ, वह उन्होंने गंगा में डाल दिया क्योंकि वही समीप की जटाओं में विद्यमान थी। गंगा उस शुक्र की उग्रता के कारण उसे अपने में धारण न कर सकी और उसने भी उसे दूर फेंका। वह भूमि पर गिरा। वेग से गिरने के कारण वह भूमि में गहरा धंसा चला गया। गिरते समय वह पांच स्थलों में गिरा, इसलिये स्थान भेद के कारण वह पांच रूपों में विभक्त हो गया। वे ही पांच भेद (1) रस (2) रसेन्द्र (3) सूत (4) पारद (5) मिश्रक नाम से विख्यात हैं। पहले प्रकार का शुक्र देवों, और दूसरे प्रकार का नागों ने खाया, वे अजर-अमर हो गये। गैर न ले जायें इस ईर्ष्या से देवों और नागों ने प्रथम दो पारदीय कूपों (खानों) को मिट्टी और पत्थरों से बन्द कर दिया। शुक्र के वेग से भूमि पर गिरने के कारण उसका कुछ मैल इधर-उधर बिखर गया। वही अन्यान्य खनिज धातुओं के रूप में मिलता है। इस अवस्था में भी और लोगों ने रस खाया, वे भी देवों और नागों के ही समान बल और आयु वाले हो गये। देवों को डाह हुआ। उन्होंने इन्द्र द्वारा शेष सारे रस में भी सात दोष (कंचुक) उत्पन्न करा दिये।[1] इसी कारण रस खाने से पूर्व उसके अठारह संस्कार करने आवश्यक हो गये। ताकि वह शुद्ध हो जाये।

शम्भू का सार भूत होने के कारण, रस शम्भू के स्वरूप से कुछ कम न रह गया। योग समाधि के लम्बे रास्ते से जिस ब्रह्म का अमृत पद जीव को प्राप्त होता था, वह एक रस की कृपा से प्राप्त होने लगा।[2] सौ-सौ अश्वमेध करके, करोड़ गौवें तथा स्वर्ण मुद्रायें दान करके एवं सारे तीर्थों में भी स्नान करके जो पुण्य नहीं होता वह महान् पुण्य पारद के दर्शन मात्र से होता है। विधिपूर्वक शुद्ध कर औषधि रूप में जो वैद्य रोगी को एक बार भी रस खिलाता है, समझ लो उसे जीवन में तुला दान और अश्वमेध करने

---

1. पर्पटी पाटनी भेदी द्रावी मल करी तथा। अन्धकारी तथा ध्वांक्षी विज्ञेया सप्त कंचुकाः॥
—र० र० समु० 11/24 मखना

नागो वङ्गोऽग्नि चांचल्यावसह्यत्वं विषं गिरिः। आदि.

2. परमात्मनीव सततं लयो भवतिलयोयत्र सर्वं सत्वानाम्।
एकोऽसौ रस राजः शरीर मजरामरं कुरुते।

की आवश्यकता नहीं रही ।[1] इसी कारण 'रसेश्वर दर्शन' लिखकर रस शास्त्रियों ने सिद्ध किया कि 'रसो वै सः': "रसंह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति" आदि औपनिषद् श्रुतियों में 'रस' शब्द का अर्थ और कुछ नहीं, एक मात्र पारद ही है। इस प्रकार नास्तिकों के लिये, गुरु वाक्य अथवा प्रत्यक्ष शक्ति प्रद होने के कारण, तथा वैदिक धर्मानुयायी आस्तिकों के लिये, साक्षात् श्रुति प्रमाण से सिद्ध होने के कारण पारद के दर्शन स्पर्शन और भक्षण मात्र से धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की सिद्धि में कोई सन्देह न रहा। प्राचीन आचार्यो और उपनिषदों ने ब्रह्म को अनुमानगम्य या अतीन्द्रिय बताया था। जगद्रचना और व्यवस्था के क्रम को साधन मान कर ब्रह्म रूप साध्य की सिद्धि होती है।[2] औपनिषद् श्रुतियों ने स्थूल इन्द्रियों से ब्रह्म का साक्षात्कार असंभव बताकर ध्यान योग से उसकी प्राप्ति पर जोर दिया था।[3] परन्तु पारद ने यह सारे दुरूह मार्ग बेकार कर दिये। रस शास्त्रियों ने दावा किया कि जो प्रत्यक्ष प्रमाण गम्य पारद का साक्षात्कार नहीं कर सका, उसके लिये अशरीर एवं ध्यान गम्य चिद्रूप ब्रह्म का साक्षात्कार होना दुराशामात्र है। फलतः ब्रह्म साक्षात्कार के अभिलाषी के लिये यह आवश्यक है कि वह पारद के साक्षात्कार के लिये पहिले प्रयास करे।[4] क्योंकि अशरीर ब्रह्म को जानने के लिये सशरीर ब्रह्म को प्रथम जानना आवश्यक है।

पारद के साक्षात्कार के लिये उसकी पूजा करनी चाहिये। यह पूजा पाँच प्रकार की होती है—(1) भक्षण, (2) स्पर्शन (3) दान (4) ध्यान और (5) पूजन। जो साधक इन पांचों पूजाओं को पूर्ण कर लेता है उसके सारे पातक नष्ट होते देर नहीं लगती। यह पाचों पूजायें कर लेने का अर्थ यह है कि उस साधक ने सारे यज्ञ कर लिये।[5] मन्दिरों में पत्थर के शिवलिङ्ग पूजने से कोई लाभ नहीं, भगवत्प्रसाद प्राप्त करने के लिये इसका ही लिङ्ग बनाकर पूजना फलदायक हो सकता है।[6] पारद में विद्यमान शक्तियों के अतिरिक्त भगवान् में कोई स्वतन्त्र शक्तियां रह नहीं जाती। पारद को मूर्छित कर दिया जाय तो सारे रोग नाश हो जाते हैं, उसे बद्ध कर लो, मुक्ति प्राप्त समझो। और यदि पारद को भस्म ही कर लिया तो इसी संसार में सशरीर अमरत्व तुम्हारे हाथ में है। फिर इससे अधिक देने के लिये ब्रह्म के पास रक्खा ही क्या है, जिसके

---

1. रस हृदय तन्त्र अ० 1 तथा र० र० समुचाय अ० 1
   "शताश्वमेधेन कृतेन पुण्यं गोकोटिभिः स्वर्ण सहस्रदानात्।
   नृणां भवेत्सूतक दर्शनेन यत्सर्वतीर्थेषु कृताभिषेकात्॥ —र० र० स० 1/22
2. "जन्माद्यस्य यतः"—ब्रह्म सूत्र
3. "न चक्षुषा गृह्यते नापिवाचा नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणावा। ज्ञान प्रसादेन विशुद्ध सत्वस्ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः।" —मुण्डक 3/1।8
4. प्रत्यक्षेण प्रमाणेन यो न जानाति सूतकम्।
   अदृष्ट विग्रहं देवं कथं ज्ञास्यति तन्मयम्॥ —रस हृदय तन्त्र, अ० 1
5. भक्षणं स्पर्शनं दानं ध्यानं च परिपूजनम्।
   पञ्चधा रस पूजोक्ता महा पातक नाशिनी।
   रसस्येत्यर्चनं कृत्वा प्राप्नुयात्क्रतुजं फलम्। —र० र० समु० 1/24—31

लिये जपतप और समाधि के असीम क्लेश को स्वीकार किया जाय ?[1] इस प्रकार रस का दार्शनिक विवेचन यद्यपि बहुत विस्तृत है, परन्तु संक्षेप से इतना लिखना ही पर्याप्त है।

ईसा की द्वितीय शताब्दि से लेकर पांचवीं शताब्दि तक गुप्त साम्राज्य का अभ्युदय काल आता है। इस युग में बौद्ध धर्म के अन्तर्गत एक ओर बुद्ध घोष, रेवत स्थविर, कुमार जीव, दीपंकर श्री ज्ञान और स्थविर रत्नाकर जैसे धुरन्धर विद्वान और आदर्श तपस्वी-आचार्य, भारत से लेकर नैपाल, तिब्बत, चीन, जापान, सुमात्रा, स्याम और सिहल देशों में भगवान् बुद्ध के उज्ज्वल सिद्धान्तों का प्रचार कर रहे थे।[2] परन्तु दूसरी ओर भारतवर्ष के विहारों और मठों में मौज उड़ाने वाले सहस्रों भिक्षु मन्त्र, लिंग और वज्र विषयक विचारों के नये-नये आविष्कार कर रहे थे। प्रारम्भिक विद्वानों ने मन्त्र, लिंग और वज्र इस त्रयी का अर्थ यों किया था—

1. मन्त्र = उच्च विचारों के प्रतीक (बुद्धं, धर्म, संघं शरणं गच्छामि)
2. लिंग = सादा वेश (त्रिचीवर आदि)
3. वज्र = ज्ञान समाधि (बुद्धत्व प्राप्त करने की एकाग्रता) परन्तु इस युग के सहजयानीय भिक्षुओं ने इनकी व्याख्या दूसरे ही प्रकार से करनी प्रारम्भ की—

1. मन्त्र = जादू टोना (ह्रीं क्लीं आदि)
2. लिंग = पुरुष लिंग
3. वज्र = स्त्री योनि

इस प्रकार बौद्ध धर्म का जो अंश मन्त्र यान के मार्ग पर चला था वही चलकर लिंग यान, और पीछे से वज्र यान में दीक्षित हो गया। अपनी माया का प्रचार करने के लिये उन्होंने अनेक ग्रन्थ भी लिखे। इन ग्रन्थों की रचना श्री धान्य कटक और श्री पर्वत में हुई थी। यह स्थान दक्षिण भारत में मद्रास के समीप थे। अपने ग्रन्थों में उन लोगों ने लिखा कि मन्त्र सिद्धि के लिये उक्त दोनों स्थान ही सर्वोत्तम हैं।[3] दक्षिण भारत की ओर ही इस आडम्बर के पनपने का मुख्य कारण यही प्रतीत होता है कि उत्तर की ओर गुप्त सम्राटों के सुधारवादी शासन की दृष्टि इन पर एकाएक न पड़ सके। गुप्त नरेशों ने प्राचीन महापर्यों के साहित्य को फिर से प्रतिष्ठित करना प्रारम्भ किया। धन्वन्तरि, आत्रेय, और सुश्रुत की चिकित्सा की ओर ही उनका विशेष ध्यान था। उन्होंने प्राचीन चिकित्सा पद्धति के आधार पर विद्वान वैद्यों का ही आदर किया। भिक्षुओं का नहीं। अनेक औषधालय भी स्थापित किये, जहां औषधियां मुफ्त बांटी जाती थीं। पहिला चीनी यात्री फाहियान चन्द्रगुप्त द्वितीय के युग में (405 ई० से 411 तक) भारत भ्रमण के लिये आया था। वह पश्चिमी चीन की ओर से खोटान के रास्ते पामीर, स्वात और पेशावर होता हुआ तक्षशिला आया। वहां से पाटलिपुत्र। उसने लिखा है कि

---

1. मूर्च्छित्वा हरति रुज बन्धन मनुभूय मुक्तिदो भवति।
अमरी करोति हि मृत: कोऽन्य: करुणा कर: सूतात् ॥ —रस हृदय तन्त्र, अ० 1
2. 'बुद्ध और उनके अनुचर' देखिये
3. श्री पर्वते महाशैले दक्षिणापथ संज्ञके। श्री धान्य कटके चैत्ये जिनधातुधरे भुवि। सिध्यन्ते तत्र मन्त्रा वै क्षिप्र सर्वार्थकर्मसु।—मञ्जु श्री मूलकल्प, पृ० 88

पाटलिपुत्र में एक अत्यन्त विशाल औषधालय था, जहां चिकित्सा और औषधियां मुफ्त मिलती थीं। औषधियां ही नहीं, पथ्य भोजन तथा अन्य आवश्यक वस्तुएं भी बिना मूल्य दी जाती थीं। दूसरा यात्री ह्यू नसांग 630 ई० में पश्चिमीय चीन के रास्ते गान्धार होता हुआ नालन्दा पहुंचा था। उसने भी लिखा है कि सड़कों पर धर्मशालायें थीं, जिनमें यात्रियों को भोजन और औषधियां मुफ्त दी जाती थीं।[1] इन सब राजकीय विभागों में भिक्षुओं और सिद्धों को ठौर न था। अब बौद्ध धर्म को राजाश्रय भी प्राप्त न था, क्योंकि गुप्त सम्राट् वैष्णव धर्मानुयायी थे।[2] इस कारण अशोक की भांति बौद्ध धर्म में बढ़ती हुई गन्दगी को साफ करने की व्यवस्था करने वाला कोई न था। इसका फल यह हुआ कि बौद्ध धर्मावलम्बी मौर्य सम्राटों ने बौद्ध समाज का बहिष्कार करके जो महायान सम्प्रदाय स्थापित किया था, वह तो बुद्ध भगवान् के बताये मार्ग पर चलने का उद्योग करता भी रहा, परन्तु अवशिष्ट लोग, जिन्हें हीन यानीय कहा जाता था, धीरे-धीरे मन्त्र यान, लिंग यान, और वज्रयान जैसे सम्प्रदायों में विभक्त हो गये।[3] इन सारे ही यानों का सामान्य नाम 'सहजयान' था, क्योंकि उनके बताये हुए मुक्ति मार्ग से अधिक सहज मार्ग होना असम्भव था। मन्त्र यान के द्वारा चिकित्सा पद्धति पर जो प्रभाव पड़ा उसका उल्लेख हम पीछे कर ही चुके हैं। लिंग और वज्रयानों ने भी रस-चिकित्सा पर बहुत प्रभाव डाला, अतएव इनके सम्बन्ध में भी कुछ विचार कर लेना आवश्यक है—

लिंगयान और वज्रयान

प्राचीन काल में लिंग 'वेश' को कहते थे। पीले वस्त्र और दण्ड, ब्रह्मचारी के लिये, तथा गेरुवे वस्त्र एवं दण्ड-कमण्डल सन्यासी के लिये निश्चित थे। उस युग में यह निश्चित वेश आश्रम धर्म का 'लिंग' था। मनु ने इसी भाव से लिखा है—न लिंगं धर्म कारणम्।[4] कोई खास प्रकार के कपड़े या दण्ड कमण्डलु ले लेने मात्र से धर्मात्मा नहीं हो सकता। भारवि ने अपने किरातार्जुनीय ग्रन्थ के प्रथम श्लोक में ही 'वर्णि-लिंगी' शब्द लिखा है, उसका अर्थ भी ब्रह्मचारी जैसा वेश धारण करने वाला ही है। इसी प्रकार प्रतीत होता है कि 'शिवलिंग' शब्द का अर्थ भी शिव का वेश धारण करना मात्र था। वीर पूजा की दृष्टि से शिव का 'त्रिशूल जटा' आदि निश्चित वेश लोग अपनाते रहे होंगे। समय-समय पर इसी वेश (लिंग) को महत्व देने का तात्पर्य ही 'शिवलिंग की पूजा' है। इसका एक मात्र आधार कल्पना नहीं है किन्तु हम आदि कालीन युग में तथा महाभारत के समय तक भी इतिहास में पुरुष के शिश्न और स्त्री की योनि की पूजा का उल्लेख नहीं देखते। मोहन्जोदारो की खुदाई में कोई संस्मरण ऐसे नहीं मिले जो गुप्तांगों की पूजा को प्रमाणित करते हों। वहां शिव की मूर्तियां मिली हैं, जो त्रिशूल लिए हुए या ताण्डव करती हुई चित्रण की गई हैं। योनि और शिश्न के प्रतीक नहीं।

---

1. ला० लाजपतराय, भा० व० का इति०, पृ० 212-238 तक।
2. गुप्त साम्राज्य का इतिहास (1939), पृ० 216।
3. श्री राहुल सांकृत्यायन, 'बुद्धचर्या' भूमिका।
4. मनु० 6/66

मौर्य साम्राज्य पुष्यमित्र द्वारा समाप्त कर दिये जाने पर वैदिक धर्म का प्रभाव फिर बढ़ा। वैदिक काल के साहित्य की ओर लोगों का ध्यान फिर आकृष्ट हुआ। अतएव प्राय: पिछले 500 वर्षों से उपेक्षित देववाणी और वैदिक साहित्य का पुनरुद्धार पतञ्जलि जैसे महर्षियों के तत्वावधान में फिर से होने लगा था। यह ईसा से पूर्व द्वितीय शताब्दि का युग था। आदि कालीन युग के समस्त उपेक्षित साहित्य का प्रतिसंस्कार किया गया। इस प्रति संस्कार में एक विषय ही नहीं, किन्तु साहित्य की प्रत्येक शाखा में युगान्तर उपस्थित हो गया। व्याकरण, स्मृति, इतिहास, आयुर्वेद, तथा साहित्य ग्रन्थों को फिर संस्कृत में प्रचलित किया गया था। इस नवीन प्रतिसंस्कार में मनुस्मृति और महाभारत का भी प्रतिसंस्कार हुआ था।[1] दृढ़बल के लेख से स्पष्ट है कि यह प्रतिसंस्कार केवल टूटे, कटे पाठों का जोड़ देना मात्र न था, किन्तु एक प्रकार से नवीन परिष्कार (Overhauling) था। उसमें प्राचीन गहन विषयों को विशद किया गया, संक्षिप्त भागों को विस्तृत किया गया, और अस्पष्ट अंशों को सुस्पष्ट करके प्राचीन स्वरूप को नये सांचे में ढाल दिया गया। इस कारण प्राय: साहित्य की हर शाखा के मूलभूत ग्रन्थों में प्रति-संस्कर्त्ताओं के अपने काल के विचार भी कुछ न कुछ शामिल हो गये हैं। महाभारत में मूर्ति कला है, परन्तु उसकी पूजा का वर्णन नहीं है।[2] फिर भी सौप्तिक पर्व[3] में लिंग पूजा का उपाख्यान मिलता है। यह प्रतिसंस्कर्तृ अंश है। जो ईसा से 100 वर्ष पूर्व तक की सामाजिक परिस्थितियों और विचारों का प्रतिबिम्ब है। वहां लिखा है कि 'एक बार ब्रह्मदेव ने शंकर का दर्शन कर उनसे कहा कि आप सृष्टि उत्पन्न करें। परन्तु भूत मात्र को दोषपूर्ण देख शंकर जल में समाविस्थ हो गये। ब्रह्मदेव ने अपनी इच्छानुसार सृष्टि रचना शुरू कर दी। शंकर ने समाधि से उठकर जब यह सृष्टि देखी तो क्रोध से अपना लिंग काट डाला। वह धरती में जम गया। पृथ्वी में पड़े इस लिंग को लोग पूजने लगे।' परन्तु स्पष्ट ही यह आदि कालीन विचारों के विरुद्ध है।

मध्य काल में जैन धर्म का उदय हुआ। उन्होंने शिव के दिगम्बर (नग्न) स्वरूप की कल्पना की। और दिगम्बर स्त्री या पुरुष के भेद प्रत्यायक चिन्ह तो वास्तव में शिश्न और योनि ही हो सकते हैं। जैनों के मुनि और महापुरुष दिगम्बर (नंगे) ही रहते थे। नग्न वेश वाले स्त्री या पुरुष का परिचायक चिह्न (लिंग) शिश्न और भग के सिवा अन्य हो भी क्या सकता है? इधर जैन धर्म में भी मन्त्रयानीय प्रभाव पहुंचा। कुछ सुधार वादी श्वेताम्बर बने, और पूरे पहुंचे हुए लोग तो दिगम्बर रहने में ही गुम थे। इस दिगम्बर पूजा का ही प्रतीक पुरुष और स्त्री के गुप्ताङ्ग बने। मन्त्र यानियों ने उसे खूब महत्ता दी। अब आदर्श धर्म के नाम पर दिगम्बरों के आदि पुरुष, दिगम्बर-शिव का लिङ्ग, और पार्वती की योनि, प्रतीक मान ली गई। एक पुरुषत्व का प्रतीक है, दूसरा स्त्रीत्व का। दिगम्बर रूप से मन्दिरों में भगवान् शिव के प्रतीक को पूजने वालों की

---

1. विस्तारयति लेशोक्तं संक्षिपत्यति विस्तरम्।
   संस्कर्ता कुरुते तन्त्रं पुराणं च पुनर्नवम्॥—चरक सं०
2. देखो 'महाभारत मीमांसा, सं० 1920 (सी० वी० वैद्य महोदय लिखित) पृ० 448
3. सौप्तिक पर्व, अ० 17

प्रतिमा का यही स्वरूप है—वह शिश्न और योनि का चित्रण है। चाहे यह चित्रण पूरी निरीह भावना का आदर्श मान कर भले ही हुआ हो, परन्तु उसका जो कुप्रभाव साधारण लोगों पर हुआ, वह हमने मन्त्र यानीय वर्णन में पीछे देखा ही है। लिङ्गयान और वज्रयान का भी मूल यही है।

काल विभाजन की दृष्टि से उपर्युक्त तीनों सम्प्रदायों को हम इस प्रकार विभक्त कर सकते हैं—ई० पू० 400 से ई० पू० 100 तक साधारण मन्त्रयान, ई० पू० 100 से 400 ई० तक लिङ्गयान, तथा 400 ई० से 1200 ई० तक वज्रयान। और यदि पिछले दो ही यानों को मन्त्रयान का पूर्वोत्तर पक्ष समझा जाय तो ईसा की 7 वीं शताब्दी तक लिंग यान और 7 वीं से 12 वीं शताब्दी तक वज्रयान का समय समझा जा सकता है।[1] इस प्रकार के कुमार्गी सम्प्रदायों का इतिहास हमें इसलिये देखना है कि रस चिकित्सा ही नहीं, हमारी समस्त चिकित्सा प्रणाली पर इन लोगों ने प्रभाव डाला है। यद्यपि इसी काल में चरक, दृढ़बल, तथा वाग्भट जैसे महान् आचार्य भी आयुर्वेद में एक नवीन युग प्रस्तुत करने वाले हुए हैं, परन्तु मौलिकता की दृष्टि से वह युगान्तर नहीं कहा जा सकता। इन आचार्यों का कार्य आयुर्वेद में संग्रह ग्रन्थों का निर्माण था और संग्रह-ग्रन्थ प्राचीन आयुर्वेद का विशदीकरण (revision) मात्र थे, नवीन आविष्कार नहीं।

मन्त्र यान वालों ने रस का जो अलौकिक और दार्शनिक विवेचन किया उसे हमने पीछे की पंक्तियों में पढ़ा है। अब हमें यह देखना है कि ये लोग पारद को किस दृष्टि से अपनाये रहे? जहाँ तक पूजा का सम्बन्ध है, लोग पत्थर के लिंग और भग का प्रतीक बनाकर पूजते थे। परन्तु अब प्रतीक बनाकर पूजने की बात पर ही सन्तोष न रहा, साक्षात् लिंग और 'भग' की पूजा में ही माहात्म्य बताया जाने लगा। और यदि प्रतीक ही पूजना हो, तो वह पारद से निर्मित होना चाहिये था। इसीलिये रस-ग्रन्थों में हम देखते हैं कि रस लिंग की पूजा का विधान है—

विधाय रस लिंगं यो भक्ति युक्तः समर्पयेत्।
जगत्त्रितय लिंगानां पूजा फल मवाप्नुयात्॥[2]

प्रतीत होता है कि इन लोगों की दृष्टि में विश्व का सम्पूर्ण पुण्य लिंग पूजा में ही केन्द्रित हो गया था। इसलिये एक शिव का ही क्या, लिंग मात्र की पूजा भव सागर से पार लगाने वाली समझी जाने लगी। रस की पूजा की जाय तो लिंग बनाकर और रस सिद्धि के लिये हवन किया जाय तो 'योनि कुण्ड' में[3]। रसायनाचार्यों के कर्म काण्ड की यही मर्यादा बन गई थी। परन्तु इस नैतिक पतन के साथ पारद और उसकी सिद्धि के उपकरणों को भी तो साथ रखना था, आखिर उनके साथ इस फिलासफी का कुछ सम्बन्ध होना चाहिये था। इसीलिये यह कल्पना की गई कि पारद शिव का वीर्य, और पारद को बद्ध करने वाला गन्धक पार्वती का रज। अब पारद और उसके साधनोपयोगी द्रव्यों की स्थिति खनिज पदार्थों के समान नहीं थी, वे विचित्र अलौकिक तत्व बन गये थे।

1. 'गङ्गा' पुरातत्वाङ्क में श्री राहुल सांकृत्यायन का लेख देखें, पृ० 216
2. वाग्भट, र० र० समुच्चय 1/23
3. 'पूजान्ते हवनं कुर्यात् योनि कुण्डे सुलक्षणे' —वाग्भट, र० र० समु० 6/30

उदाहरण के लिये हरिताल विष्णु का वीर्य बना, मनः शिला लक्ष्मी का रज मान ली गई। अभ्रक पार्वती का शुक्र तथा अन्य समस्त धातु शम्भु के वीर्य का मैल बना दिये गये।[2] इस नैतिकता से गिरे हुए विज्ञान का फल यह हुआ कि रस शास्त्री विषय भोग के संसार की सृष्टि में ही निरत रहने लगे। त्रिपिटकाचार्य श्री राहुल सांकृत्यायन की यह पंक्तियां इस परिस्थिति पर अच्छा प्रकाश डालेंगी—"इस प्रकार मन्त्र, हठ योग और मैथुन, ये तीनों तत्व क्रमशः बौद्ध धर्म में प्रविष्ट हो गये। इसी बौद्ध धर्म को 'मन्त्र यान' कहते हैं। इसको हम निम्न भागों में विभक्त कर सकते हैं—(1) मन्त्रयान (नरम) ई० 400-700, वज्रयान (गरम) ई० 800-1200।"[3]

गुप्त काल में भारत वर्ष मानों धन धान्य का भण्डार बना हुआ था। शासन की सुव्यवस्था के कारण गुप्त साम्राज्य के प्रायः पांच सौ वर्षों में (ईस्वी 2 शताब्दी से 6 वीं शताब्दी तक) बाहरी हमलों से निश्चित होकर समाज भोग और विलास का पुजारी बन गया। महर्षि वात्स्यायन ने अपना 'काम शास्त्र' इसी युग में लिखा था।[3] भारतीय साहित्य में काम विज्ञान पर इससे बढ़कर दूसरा ग्रन्थ नहीं है। काम कला को सुन्दरतम बनाने के सारे ही स्वास्थ्य सम्बन्धी विचार इस ग्रन्थ में विद्यमान हैं। इस ग्रन्थ के प्रारम्भ में ही काम शास्त्र की उत्पत्ति और विकास का वर्णन है। जिससे प्रतीत होता है कि काम शास्त्र प्राचीन आदिकाल से आयुर्वेद का अंग था। रसायन और वाजी करण सम्बन्धी विचार हमें वैदिक काल से ही मिलेंगे। परन्तु उस काल के विचारों से इस काल के विचारों में बड़ा अन्तर हो गया था। आदिकाल में काम शास्त्र का आधार विशुद्ध विज्ञान था। वह हमारे सर्वांगीण स्वास्थ्य का एक अंग मात्र था। परन्तु इस काल में वह स्वस्थ जीवन का एक अंग नहीं, प्रधान लक्ष्य बन गया था। इतना ही नहीं इस युग में वह विशुद्ध वैज्ञानिक न होकर फिलासफी की ओट में नैतिक जीवन का हनन कर रहा था। आदिकाल में काम शास्त्र पर गम्भीर विचार करने के बावजूद भी पूज्य महापुरुषों और देवियों के चरणों की पूजा हमारा आदर्श था, परन्तु इस युग में चरणों की पूजा के स्थान पर 'लिंग' और 'भग' को अर्चना या बोलबाला हो रहा था। इस प्रकार हमने ईसा की 7वीं शताब्दि में पदार्पण किया।

भगवान् कामदेव के इस प्रचण्ड शासन काल में एक प्रकार से भारत का सारा वैज्ञानिक समुदाय विषय और भोग के लिये उन प्रयोगों को ढूंढने में मस्त था, जो इन भौतिक शरीर को अधिक से अधिक चिरस्थायी बना दें। इसी दृष्टिकोण ने योग और समाधि का बहिष्कार करके शरीर को दिव्य बनाने के लिये पारद को शम्भु का वीर्य

---

1. 'पारदः शिव वीर्यं स्याद् गन्धकं पार्वती रजः।
   हरितालं हरेर्वीर्यं लक्ष्मी वीर्यं मनः शिला।
   देव्या रजो भवेद्गन्धो धातुः शुक्रं तथाऽभ्रकम्।' —र० र० स० 2/2
   'अच्युताग्नभ्यो धातुर्हीनः शूल पाणिना।
   सञ्जाता स्वस्वलाञ्छना मानवः निधि दैवतः।' —र० र० स० 1/63-65
2. 'गङ्गा पुरातत्त्वाङ्क', पृ० 216
3. गुप्त साम्राज्य का इतिहास, भाग २, पृ० 129

और गन्धक को पार्वती का रज बना डाला। गन्धक और पारद के योग से तैयार होने वाला 'हर गौरी सृष्टि संयोग' केवल शरीर को दिव्य बनाने के लिये ही किया गया था—

तस्माज्जीवन मुक्तिं समीहमानेन योगिना प्रथमम्।
दिव्या तनुर्विधेया हरगौरी सृष्टि संयोगात्॥[1]

'जीवन मुक्ति' किसी काल में निरीह अवस्था की पराकाष्ठा थी, परन्तु अब तो जीवन मुक्ति का अर्थ हृष्ट पुष्ट शरीर द्वारा विषय भोग के लिये पूर्ण रूप से मुक्ति मिल जाना मात्र था। इस लोक में मौज उड़ाने के अतिरिक्त किसी पारलौकिक मुक्ति की कल्पना के लिये जीवन में अवकाश ही कहां रह गया था ? संक्षेप में जीवन का विश्लेषण इस युग के रस शास्त्रियों ने इस प्रकार किया था—

बालः षोडश वर्षो विषय रसास्वाद लम्पटः परतः।
यात विवेको वृद्धो मर्त्यः कथमाप्नुयान्मुक्तिम् ?[2]

सोलह वर्ष तक तो मनुष्य बच्चा हो रहता है, तब उसे बन्ध और मुक्ति का ज्ञान ही कहां ? सोलह वर्ष बाद यौवन आया तो कामिनियों के विषयानन्द में लीन हो गये। यदि कहो बुढ़ापे में मुक्ति को समझेंगे, तो उस अवस्था में विवेक शक्ति ही नष्ट हो जाती है, इस लिये मनुष्य इस लोक से अलग कहीं मुक्ति प्राप्त करेगा, यह आशा ही व्यर्थ है। फलतः बहुत दिन जियो और स्वस्थ शरीर द्वारा मौज उड़ाओ, इससे बढ़कर मुक्ति और हो नहीं सकती।—श्रेयः परं किमन्यच्छरीरमजरामरं विहायैकम्॥'[3]

ईसा की सातवीं शताब्दि में तो भिक्षु और भिक्षुणियों में प्रबल दुराचार फैला। आचार और मर्यादा, केवल साहित्य में ही रह गये। साधारण समाज पर तो मानों वज्रयान और लिंगयान का ही साम्राज्य था। अनेक ऐसे ग्रन्थ लिखे गये जिनमें इन्हीं यानों के विचार संग्रहीत किये गये। 'गुह्य समाज तन्त्र' और 'प्रज्ञोपाय विनिश्चय सिद्धि' जैसे अनेक सुप्राप्य एवं दुष्प्राप्य ग्रन्थों को यदि देखा जाय तो संक्षेप में इन यानों की आचार मर्यादा यह थी—

नीलोत्पल दला कारं रजकस्य महात्मनः।
कन्यांनु साधयेन्नित्यं वज्र सत्व प्रयोगतः॥
जनयित्रीं स्वसारंच स्व पुत्रीं भागिनेयिकाम्।
कामयन् तत्व योगेन लघु सिद्ध्येद्धि साधकः॥[1]
वेश्यारत्नं सुरा रत्नं रत्नं देवो मनोभवः।
एत द्रत्नत्रयं वन्दे अन्यत् काच मणित्रयम्॥[2]

बौद्धधर्म के प्रसिद्ध 84 सिद्धों ने अधिकांश उक्त प्रकार की ही सिद्धियों का प्रचार किया है। इन लोगों ने ईसा की दसवीं शताब्दि तक वैज्ञानिक भारतीय समाज को जो

---

1. रस हृदय तन्त्र, अ० 1
2. वही, 1
3. वही, 1
4. गायकवाड़ ओरिएण्टल सीरीज बड़ोदा से प्रकाशित 'गुह्य समाज तन्त्र'।
5. 'नील पट दर्शन'।

अवस्था कर दी थी वह त्रिपिटकाचार्य श्री राहुल सांकृत्यायन के शब्दों में देखिये—"बड़े-बड़े पण्डित और प्रतिभा शाली कवि आधे पागल हो ··· स्त्रियों को ही मुक्ति दात्री प्रज्ञा, पुरुषों को ही मुक्ति का उपाय, और शराब को ही अमृत सिद्ध करने में अपनी पण्डिताई और सिद्धार्थ खर्च कर रहे थे।"[3] कामदेव के इस प्रचण्ड शासन काल में क्या आश्चर्य था कि लोग महान् व्यक्तियों के चरणों की पूजा छोड़कर उनके लिंग और भग को पूजना अधिक पसन्द करने लगे थे। इस अवस्था में आवश्यक ही था कि मनुष्य अपनी विनश्वर मानव देह को सुदृढ़, स्वस्थ और कामदेव का किला बनाये रखते। सुतरां आवश्यक हुआ कि कोई ऐसे रासायनिक तत्व ढूंढे जावें जिनसे उक्त आवश्यकता की पूर्ति हो सके, क्योंकि शरीर की स्थिरता के विना उक्त सिद्धियां और निष्ठायें कैसे निभ सकतीं थीं ?। नितान्त देह को धातुओं की भांति कठोर और चिरस्थायी बनाने की युक्तियां पारद के सहारे ही ढूंढी गई। किसी धातु में पारद का योग करने से उसकी शक्तियां कई गुना अधिक बढ़ जाती हैं, उसी प्रकार पारद के योग से शारीरिक शक्तियों को कई गुना अधिक बढ़ाने की चिन्ता रसायनाचार्यो को रहने लगी। उन्होंने नश्वर शरीर को भी लोहे की भांति सुदृढ़ बनाने पर कमर कसली।[1]

नितान्त कामुकता के पिपासुओं ने पारद के सम्बन्ध में अनेक प्रकार की खोजें कर के थोड़े ही समय में उसके ऐसे-ऐसे रासायनिक प्रयोग तैयार कर डाले जिनका ध्येय चिकित्सा नहीं, किन्तु स्तम्भन वाजीकरण, और योनिविद्रावण ही था। रस ग्रन्थों में आज भी हमें ऐसे ही प्रयोग अधिकांश दिखाई देते हैं। इसी भावना ने पारद और गन्धक को खनिज द्रव्य नहीं रखा किन्तु पारद को शम्भू का वीर्य और गन्धक को पार्वती का रज बना दिया। जब रज और वीर्य ही इस रसायनी विद्या का आधार है तब लिंग और भग की पूजा तो स्वयं ही उपस्थित हो जाती है। पारद के इस प्रकार के आविष्कारों की ओर सबसे पहले बौद्धों का ही ध्यान गया। धीरे-धीरे बौद्धों की हवा दूसरों को भी लगी, फिर क्या था, भैरवीतन्त्र, वाम मार्ग, चोली मार्ग जैसे न जाने कितने मार्ग पैदा हुए। मन्त्र तन्त्रों ने समाज की बुद्धि को मन्त्र बद्ध कर डाला। लोगों की पाशविक शक्ति सिद्धाई के रूप में पुजने लगी।

शिष्यों को रसायनी-विद्या की शिक्षा का श्रीगणेश जिन उपदेशों और विधानों से किया जाता था, वे विज्ञान से कितने समीप या दूर थे, यह आप उन्हें पढ़कर ही अनुभव कर सकेंगे।[1]

"सुवर्ण कवलित पारद का 'रस लिंग' बनाकर पूजो, क्योंकि करोड़ों सहस्र लिंगों की पूजा द्वारा जो पुण्य होता है, उसका करोड़ गुना अधिक पुण्य रसलिंग की पूजा द्वारा

---

1. बुद्धचर्या, भूमिका, पृ० 6
2. 'यथा लोहे तथा देहे कर्त्तव्यः सूतकः सदा।
   समानं कुरुते देवि प्रत्ययं देह लोहयोः॥
   पूर्वं लोहे परीक्षेत पश्चाद्देहे प्रयोजयेत्॥ —रसेश्वर दर्शन
3. ब्रह्महत्या सहस्राणि त्वी गोहत्यायुतानि च, तत्क्षणाद्विलयं यान्ति रस लिंगस्य दर्शनात्।
   स्पर्शनात्प्राप्यते मुक्तिरिति सत्यं शिवोदितम्॥ —वाग्भट, र० र० समुच्चय, पृ० 6

प्राप्त होता है। हजारों ब्राह्मणों की हत्यायें और करोड़ों स्त्रियों और गौवों की हत्याओं के पाप रस लिंग के दर्शन मात्र से क्षणभर में नष्ट हो जाते हैं। और उसका स्पर्श कर लेने से तो मुक्ति ही प्राप्त होती है, यह तथ्य भगवान् शिव ने प्रकट किया है। इस प्रकार रस लिंग की पूजा के उपरान्त 'योनि कुण्ड' में हवन करना चाहिये।' कामराज की शक्ति का बीज रसंकुशा विद्या में है। हवन इसी विद्या के मन्त्र द्वारा सम्पन्न होने के अनन्तर शिष्य को फिर आह्वान किया जाय। जब शिष्य गुरु के पास आवे तो 'कालिनी शक्ति'[2] विशिष्ट एक सुन्दरी तरुणी को साथ लावे—क्योंकि रस बन्ध और रसायन के लिये वही उत्तम है।" इस सिद्धि के लिए शिष्य को जिस गुप्त अघोर मन्त्र का उपदेश दिया जाता था वह यों है—

> ओम् ह्लां ह्लीं ह्लूम् अघोर तर प्रस्फुट$_2$ प्रकट$_2$ कह$_2$ शमय$_2$ जात$_2$ दह$_2$
> पातय$_2$। ओम् ह्लीं ह्रैं ह्लौं ह्लम् अघोराय फट्" ।

शिष्य को निर्देश किया जाता था कि वह रस सिद्धि के लिये इस मन्त्र को सुगुप्त रखें। रस विद्या को जितना ही गुप्त रखा जायगा, वह उतनी ही वीर्यवती होती है।[3]

इस प्रकार रस और मन्त्र की कला जिन्हें प्राप्त हो गई वे सिद्ध बनने लगे। यद्यपि आचार्य नागार्जुन के समय रस विद्या का यह भद्दा रूप नहीं था, फिर भी पिछले अनुयायियों ने उन्हें अपने पक्ष में रखने के लिये सिद्ध नागार्जुन की पदवी दे दी है। इन सिद्ध लोगों का विचार था कि जो व्यक्ति गुरु से अघोर मन्त्र नहीं लेता, और गुरु की सेवा द्वारा उसे सन्तुष्ट नहीं कर लेता उसे रस सिद्धि नहीं होती।[1] इस में सन्देह नहीं कि उस समय लोगों को मन्त्र सिद्धि और रस सिद्धि में कुछ ऐसी युक्तियां मालूम हो गई थीं कि जनता को वे अलौकिक ही प्रतीत होती थीं। वे उनका उपयोग कर के जनता को चकित कर देते थे। और उनकी श्रद्धा को अपनी ओर आकृष्ट करने में सफल हो जाते थे। बिना गुरु से दीक्षा लिये यदि कोई व्यक्ति मन्त्र और रस के बारे में कुछ जानना चाहे, तो वह उससे गुप्त ही रखा जाता था। सिद्धों ने जनता की श्रद्धा का दुरुपयोग किया—अन्ध-श्रद्धा की प्रतिमा होने के कारण स्त्रियों के प्रति उनके भाव दूषित और कर्म दुराचार मय होते गये। अपनी करतूत को लोगों में ऊंचा दिखाने के लिए सिद्धों ने उसे दार्शनिक रूप देकर धर्म में शामिल कर दिया। और पारद तो अन्त में 'भैरवीचक्र' को स्थायी रखने का प्रधान साधन ही बन गया। स्त्री का वशीकार कैसे हो? योनि विद्रावण के क्या उपाय हैं? सौ स्त्रियों से किस प्रकार रमण किया जा सकता है? वाजीकरण और स्तम्भन के क्या साधन हैं? इन सारे ही प्रश्नों का उत्तर रस सिद्धि द्वारा ही होता रहा। बहुत दिन की सेवा के बाद सिद्ध लोग शिष्य को एकाध गुटिका, वाजीकरण अथवा ऐसा ही कोई योग बता देते थे, और शिष्य उसे गुरु का प्रसाद मानकर अपने को कृत कार्य समझते थे। इन सिद्धों में मामूली दर्जे के ही आदमी ही नहीं, किन्तु राजा और राजकु-

---

1. वाग्भट र० र० समुच्च अ० 6/32-84
2. रस विद्या दृढ़ं गोप्या मातुर्गुह्यमिवध्रुवम्।"
   भवेद्वीर्यवती गुप्तानिर्वीर्या च प्रकाशनात्॥ —र० र० सं०6/63
3. गुरौतुष्टे शिवस्तुष्येच्छिवे तुष्टे रसस्तथा" —र० र० सं० 6/62

मारियां तक शामिल हो गये थे। इनमें मुख्य-मुख्य चौरासी सिद्ध आज तक इतिहास में प्रसिद्ध हैं।[1]

अनेक विद्वानों का मत है कि वज्रयान या उस जैसे अन्य सम्प्रदायों के ग्रन्थों में जो शब्द आज अश्लील और नैतिकता से गिरे हुए समझे जाते हैं, उनका अर्थ वह नहीं है, जो साधारण लोग समझते हैं। उदाहरण के लिये 'बाल रण्डा' जिसका अर्थ 'बाल विधवा' समझा जाता है एक योगसिद्धि का नाम है। खेचरी मुद्रा में जिह्वा को ऊर्ध्व तालु में स्थापित करने का नाम गोमांसभक्षण रखा गया है। अघोरमार्ग का भाव हम गन्दा समझते हैं परन्तु उसका अर्थ है ऐसा मार्ग जो घोर अर्थात् 'निविड' न हो। वाम मार्ग का अर्थ भी 'उल्टा' नहीं, किन्तु श्रेष्ठतर मार्ग है। अथवा 'सम्भोग' का अर्थ कुण्डलिनी की जागृति है। इस प्रकार अन्यान्य शब्दों का अर्थ भी बहुत महत्त्वपूर्ण है। इस आधार पर मंत्रशास्त्र का रूपान्तर तैयार किया गया। इसका नाम तन्त्र शास्त्र था। तन्त्र का अर्थ होता है अनेकार्थ बोधन के लिये एक शब्द का एक ही बार उच्चारण[2]। सम्भवतः ऐसा ही होगा। परन्तु प्रकट सत्य तो यह है कि अधिकांश लोगों ने उस गुह्य अर्थ को नहीं, किन्तु प्रचलित अर्थ को ही चरितार्थ किया है। इस प्रकार देखा जाय तो शास्त्र का यह शाब्दिक संगोपन भी समाज के लिये भुलावे से बढ़कर और कुछ नहीं है।

लिङ्ग और भग पूजन की प्रवृत्ति, तथा रसोपरसों की उत्पत्ति सम्बन्धी कल्पनायें, जिनमें पारद को शम्भु का वीर्य, गन्धक को पार्वती का रज, हरताल को विष्णु का शुक्र, और मनःशिला को लक्ष्मी का वीर्य बताया गया है, तत्कालीन रसशास्त्रियों के वैषयिक मनोभावों के सिवाय और क्या प्रकट कर सकती हैं? आदिकाल में शिष्य गुरु के पास समिधायें लेकर जाता था, वह थी निरीह भावना। परन्तु अब तो गुरु से दीक्षा पाने के लिये उन्नतस्तनी तरुणी तलाश करनी पड़ती थी। रसके रसायन योग और गुरुओं के अघोर मन्त्र तरुणी के बिना सर्वथा बेकार थे। आदि कालीन विज्ञान ने जङ्गम प्राणियों के चर्म, रोम, रोचना आदि द्रव्यों तक ही अनुसन्धान सीमित रखा था। परन्तु इस काल के रसशास्त्रों में अनेक योग ऐसे भी मिलेंगे, जिनमें स्त्री का मासिक-स्रावजन्य रज, एवं पुरुष का वीर्य तक खाने के लिये निर्धारित किये गये हैं।[3] आखिर यह सब योग है या भोग? सत्यता यह है कि भारत के वैज्ञानिक जीवन के नैतिक पतन की पराकाष्ठा थी। यह वह दलदल था जिसमें भारतीय आयुर्वेद ऐसा धंसा कि आजतक नहीं उभर सका।

सिद्धों के हाथ में औषधि विज्ञान कैसे पहुँचा?

हम लिख चुके हैं कि मध्यकाल में दार्शनिक साहित्य का निर्माण हुआ था। वह दो विभागों में बांटा गया। एक परा विद्या और दूसरा अपराविद्या। परा में 'ब्रह्मविद्या' का समावेश है। अपरा में योगविद्या (उपासना) तथा विज्ञान (कर्म) का समावेश है।

---

1. चौरासी सिद्धों का विस्तृत उल्लेख, श्री राहुल सांकृत्यायन के गंगा पुरातत्वांक में प्रकाशित तत्सम्बन्धी लेख में देखें।
2. 'तन्त्र' का नाम अनेकार्थ बोधनेच्छया पदस्यैकस्य सकृदुच्चारणम्।"—पाणिनि के ह्रस्वतन्त्रम् सूत्र में तन्त्रन्याय है।
3. स्त्रियः पुंसां पुष्पं बीजं तु योजयेत्"—र० र० समुच्चय, 10/75

साधारणतः इन तीनों के प्रतीक इस प्रकार समझिये—

1. परा—

ब्रह्म विद्या=वेदान्त दर्शन, (पूर्वोत्तर मीमांसा)

2. अपरा—

(अ) योगविद्या=योगदर्शन, सांख्यदर्शन।

(ब) विज्ञान=वैशेषिक दर्शन, न्यायदर्शन।

यदि ब्रह्म तक पहुँचने के लिये उद्योग करें तो हमें नीचे से चलना होगा। प्रथम सीढ़ी विज्ञान है। श्रवण और मनन उसमें समाप्त होते हैं। दूसरी सीढ़ी योग विद्या है। उसे निदिध्यासन कहना चाहिए। तब कहीं साक्षात्कार की अवस्था में ब्रह्म प्राप्ति होती है। वैज्ञानिकों का समाज पहिली सोपान से ऊपर चढ़कर योग विद्या के क्षेत्र में पहुँचा। योग साधना में कुछ आगे बढ़ने पर कतिपय सिद्धियां साधक को प्राप्त हो जाती हैं। यद्यपि आदर्श-योगी को परम सिद्धि तक पहुँचने के लिए वे हेय वस्तुएं हैं।[1] वे एक प्रकार से योगी की परीक्षा लेने ही के लिये मानो आती हैं। परन्तु जो लोग सिद्धियों को प्राप्त करना चाहते हैं उनके लिये योग शास्त्र ने निम्न साधन निर्धारित किये[2]—

(1) जन्म (2) औषधि (3) मन्त्र (4) तप और (5) समाधि। इन पांचों साधनों में 'जन्म' तो साधक के हाथ से बाहर की वस्तु है। आदर्श माता और पिता के द्वारा जन्म पा लेना अगले जन्म के लिये चाहे संभव हो जाय, परन्तु इस जन्म में सिद्धि चाहने वाले के लिये तो यह उपाय व्यर्थ ही है। अतएव इसी जन्म में औषधियों और मन्त्रों द्वारा सिद्धि पा लेने का रस-शास्त्रियों ने हठ किया है। शेष उपायों में 'तप' और 'समाधि' महा कठिन उपाय हैं। अब सरल उपाय दो ही रह जाते हैं, उनमें पहला 'औषधि' और दूसरा 'मन्त्र' है। तभी तो वह 'सहजयान' है। सहज रास्ते से सिद्ध बनने के इच्छुकों की भीड़ हो गई है। और 'औषधि' एवं मंत्रों की कला सिद्धों के हाथ में चली गई।[3] सिद्धियां संक्षेप में आठ हैं। सांसारिक भोग विलास का सारा क्षेत्र इन आठों सिद्धियों के अन्दर ही समाया हुआ है। अधकचरे योगियों की दृष्टि से, ब्रह्म का परमानन्द तो ओझल हो गया, वे सिद्धियों के विषयानन्द को ही ध्येय बनाकर बैठ गये। वह भी सहज-यान से। संसार के अन्धे कूप से तो निकल आये परन्तु सिद्धियों के दलदल में ऐसे धंसे कि फिर न निकल सके। वे स्वयं तो डूबे ही, साथ ही औषधि और मन्त्र विज्ञान को भी ले डूबे। भर्तृहरि ने कितना सुन्दर कहा है—'विवेक भ्रष्टानां भवति विनिपातः शतमुखः'।

लोगों के विचार में पारद वह महौषधि थी जो सिद्धियां प्रदान कर सकती थी। फिर भी औषधियों के साधन द्वारा शारीरिक दुर्बलताओं पर विजय पाकर सिद्ध बन जाना तो नागार्जुन जैसे महान् विज्ञान वेत्ता का ही काम था। उसके लिये भी बड़े अध्यवसाय की आवश्यकता थी। इसलिए सहज से भी सहज उपाय 'मन्त्र' बन गया। मन्त्र योग हा

---

1. ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः—योग० विभूति०, सू० 37
2. जन्मौषधिमन्त्र तपः समाधिजाः सिद्धयः—योगदर्शन, कैवल्य० सू० I
3. अस्मिन्नेवशरीरे येषां परमात्मनो न संवेदः।
   देहत्यागादूर्ध्वं तेषां तद् ब्रह्म दूरतरम्॥ —रसहृदयतन्त्र, अ० 1

एकाग्रता के लिये एक लक्ष्य होना चाहिये। वह लक्ष्य प्रत्येक साधक के लिये सच्चिदानन्द स्वरूप ब्रह्म ही हो, यह कठिन है। प्रत्येक साधक ब्रह्म के उस निर्विकल्प स्वरूप की कल्पना एक-सी नहीं कर सकता। इसलिये योगाचार्यों ने बताया कि अपने समझे हुए किसी प्रियरूप की ही भावना करो,[1] और मन्त्र द्वारा उसी में तन्मय हो जाओ। अतः कुत्ते और बिल्ली तक को लक्ष्य बनाकर मनमाने मन्त्रों की साधना द्वारा चित्त के वशीकार का दावा किया जाने लगा। इस प्रकार ध्यान योग और चित्त के वशीकार के नाम पर कहीं का ईंट और कहीं का रोड़ा जुटाकर मन्त्रयान का कुनबा जुड़ गया। इधर भारत का राजनैतिक केन्द्र पूर्व में पाटलिपुत्र बना हुआ था, और उधर पश्चिम की ओर से यवन, शक तथा हूण लोग अपना अधिकार भारत के प्रदेशों पर करते चले जा रहे थे। चाहे शासन सूत्र उन्हें अभी मिला था, किन्तु उनके आचार-विचारों का कुशासन तो हमारे देश पर जम ही गया था। अबतक गुप्त साम्राज्य ने उन्हें पनपने नहीं दिया, परन्तु फिर भी, राजनैतिक अशान्तियों के कारण पश्चिम की ओर काम करने वाली शिक्षा संस्थायें छिन्नभिन्न हो गई। सन् 609 ईसवी में हजरत मुहम्मद ने अपने इस्लाम धर्म की नींव रखी। और मूर्तिपूजा तथा अन्य धर्मों के विरुद्ध विचारों को राजनैतिक रूप देकर उन्होंने अरब में सङ्गठन प्रारम्भ कर दिया। सन् 636 में इन इस्लामी जत्थों की निगाह भारत पर भी गई। अब अरब और भारत के पुराने प्रेम पूर्ण व्यापारिक और राजनैतिक सम्बधों की अवहेलना शुरू हो गई थी। आखिर सन् 712 ई० में मोहम्मद बिन कासिम के सेनापतित्व में मुसलमानों ने फौजें इकट्ठी करके भारत पर बाकायदा हमला किया। इस समय गुप्त वंश का शासन अस्त हो चुका था। गुप्त वंशजों में एकता न रही। भारत अनेक छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त हो गया था। बौद्ध धर्म पर वौद्धिक धर्मानुयायी वैष्णव, शैव, तथा तान्त्रिकों ने बुरी तरह हमला किया हुआ था। लोगों में सामाजिक एकता न रही। विलासिता और वज्रयान का प्राबल्य हो गया। पारस्परिक झगड़ों से मगध, पाटलिपुत्र, गया आदि केन्द्र विध्वस्त किये जा रहे थे, तथा बौद्ध धर्म के प्रधान तीर्थ वैशाली, कुशीनगर, राजगृह, कपिलवस्तु और श्रावस्ती आदि तो बरबाद हुए पड़े थे। चीनी यात्री ह्वेनसांग सातवीं शताब्दि में भारत आया था। उसने लिखा है कि लोग मूर्त्तियों की पूजा में मनुष्य तक की बलि चढ़ाते थे।[2] नर मुण्डों की माला पहिन कर फिरने वाले कापालिकों से भी ह्वेनसांग की भेंट हुई थी। बौद्धों के मठों में अनाचार और मन्दिरों में बुद्ध भगवान् की प्रतिमाओं के स्थान पर लिंग और भग की स्थापना हो रही थी। मुहम्मद साहब के क्रान्तिकारी विचारों से जागृत हुए म्लेच्छों ने भारत में अपना पैर जमाने का अच्छा अवसर पा लिया। उन्होंने आते ही तक्ष-शिला का विश्वविद्यालय और उसके साथ का विश्वविख्यात पुस्तकालय इसीलिए भस्म कर डाला कि वहां मुहम्मद साहब के सिद्धान्तों के विरुद्ध मूर्तिपूजा-परक शिक्षा और साहित्य का आयोजन था। इस अन्धकारमय युग में भारतीय जनता सिद्धों की ही अन्ध भक्ति में लवलीन थी, क्योंकि संकट काल में वे दवा भी देते थे और दुआ भी।

---

1. 'यथाभिमतध्यानाद्वा'—योग० समाधि०, सू० 39
2. भारत में अंग्रेजी राज्य, प्रस्तावना, पृ० 60-70

रस की वैज्ञानिक शक्तियां

रस के अनेक प्रकार के परीक्षणों में वहुत से आश्चर्यकारी वैज्ञानिक प्रयोगों का भी आविष्कार होता गया। सिद्धों और उनके चेले-चाटों के अतिरिक्त पारद के मर्म को दूसरे लोग न जानने पावें, यद्यपि इस वात का सिद्धों ने वहुत प्रयत्न किया, क्योंकि जन-साधारण उनके इस वशीकार का सार जान जाते तो सिद्धों के पाखण्ड और पाप का भण्डा फूट जाता। परन्तु फिर भी वह रहस्य विवेकशील लोगों की दृष्टि में आ ही गया। ईसा की आठवीं शताव्दी तक तक्षशिला यवनों के तथा नालन्दा वंगाल के राजाओं के आक्रमणों द्वारा नष्ट-भ्रष्ट हो चुका था। इसलिए केन्द्रित वैज्ञानिक शिक्षा के लिए कोई महान् विश्वविद्यालय भी न रह गये थे। छोटे-छोटे विद्यालयों में, तथा व्यक्तिगत रूप से जो अनुसन्धान होते रहे उन्हें ही उदार हृदय विद्वानों ने एकत्र संग्रह करने का उद्योग किया। श्री मद्गोविन्दपादाचार्य, जो ईसा की आठवीं शताव्दा में हुए, ऐसे ही उदार ग्रंथकार थे। ईसा की प्रथम शताव्दी के आचार्य नागार्जुन से लेकर वारहवीं शताव्दी में होने वाले रसाचार्य वाग्भट तक, प्राय: 45 रसाचार्यों का उल्लेख वाग्भट ने अपने ग्रंथ 'रस रत्न समुच्चय' में किया है।[1] परन्तु उन सव आचार्यों के ग्रंथों में से आज दो-चार ही प्राप्त होते हैं। इस कारण पारद सम्वन्धी आविष्कारों पर सीमित क्षेत्र में ही प्रकाश डाला जा सकता है। और रस की उन खोजों के सम्वन्ध में तो कहा ही क्या जा सकता है जिन्हें रस विद्या को गोपनीय कहने वाले सिद्ध अपने साथ ही लिए चले गये।

कोरी सिद्धाई के लिए ही रस को छिपा कर रखने वालों के अधिकार से निकल कर, जव वह उदार वैज्ञानिकों और चिकित्सकों के हाथ में आया तो उन्होंने उसकी गहरी वैज्ञानिक खोज प्रारम्भ की। सिद्धों के परीक्षणों द्वारा जो कुछ जाना गया था, वह भी जहां तक मिल सका, संकलित किया ही गया होगा। इन उदार हृदयों ने भी अपने परीक्षण लेख वद्ध कर जनता के समक्ष रखे। यह आयुर्वेद में आदि काल की अपेक्षा एक नया अध्याय जुड़ा। इसमें सन्देह नहीं कि यह एक महत्वपूर्ण अध्याय है। लौह और काष्ठ चिकित्सा में जो चमत्कार अवतक न जाने जा सके थे, वे पारद के द्वारा वैज्ञानिकों ने प्रस्तुत कर दिये। काष्ठौषधियां चिरकालावस्थायिनी न थीं, परन्तु रस निर्मित प्रयोग पुराने ही सर्वोत्तम सिद्ध हुए। अतएव उनके जीर्ण होने का प्रश्न ही न रहा। काष्ठौषधियां वड़ी-वड़ी मात्रा में लेनी पड़ती थीं, किन्तु रस अल्पमात्रा में ही अनल्प गुण कारी सिद्ध हुए। इस प्रकार रस द्वारा सम्पन्न होने वाली 'रसायनी विद्या' ने आयुर्वेद को एक वहुत वड़ी शक्ति प्रदान कर दी।

रस की वैज्ञानिक खोजों द्वारा विद्वानों ने वड़ी-वड़ी चमत्कारी शक्तियां 'संसार के सामने रखीं। संक्षेप में रस के अन्दर अठारह शक्तियां जानी गईं, वे इस प्रकार प्रकट की गई हैं—

(1) स्वेदन (2) मर्दन (3) मूर्छन (4) उत्थापन (5) पातन (6) रोधन (7) नियामन (8) सन्दीपन (9) अभ्रग्रास (10) संचारण (11) गर्भद्रुति (12)

---

1. रस रत्न समुच्चय, अ० 1/2-8

बाह्यद्रुति (13) जारणा (14) ग्रास (15) सारण (16) संक्रामण (17) वेधविधि (18) तथा-योग ।[1]

इनमें प्रथम आठ संस्कार तो ऐसे हैं, जो रस के नैसर्गिक एवं औपाधिक उन बारह दोषों को दूर करते हैं जो रस की स्वाभाविक शक्तियों के विकास को रोके रहते हैं। बिना इन आठ संस्कारों के रस का विशुद्ध स्वरूप प्रकट ही नहीं होता। इसलिए देह सिद्धि के लिए इन आठों संस्कारों की आवश्यकता है। शेष संस्कारों की आवश्यकता लोह सिद्धि के लिए है। परन्तु प्रथम आठ संस्कार सिद्ध हुए बिना लोह सिद्धि भी नहीं होती।[2] साधारण आठ संस्कारों के बिना रस औषध्युपयोगी नहीं होता। बिना स्वेदन और मर्दन किये पारद के गुण प्रकट नहीं होते। बिना मूर्छन किये पारद के मारक दोष नहीं जाते और उत्थापन एवं पातन के बिना वह नाग, वंग आदि धातुओं से मुक्त नहीं होता। रोधन द्वारा वह स्वर्ण का ग्रास कर लेता है, और नियामन से उसकी चपलता निवृत्त हो जाती है। दीपन विधि से उसके रासायनिक गुण प्रवृद्ध हो जाते हैं। इतना ही नहीं, यदि रस की चंचलता आदि दूर करके उसे बद्ध गुटिका के रूप में ले आया जावे तो वह अलौकिक सिद्धियां प्रदान करता है। यदि कहीं उसको विधिपूर्वक भस्म कर लिया जाय तो उसके सेवन करने वाले के सुपुष्ट शरीर के पास रोग आ ही नहीं सकते। रस-बन्ध में 'जलूका' नामक बन्ध सिद्ध होने पर पुरुष को अपार मैथुन की शक्ति प्राप्त होती है। 'मातृका भेद तन्त्र' तथा 'रस हृदय तन्त्र' नाम के ग्रंथों में लिखा है कि 'रसवेध' सिद्ध होने पर पारद का सोना तैयार होता है। रस ग्रन्थों में जहां स्वर्ण के भेद गिनाये गये हैं, वहां पांच प्रकार के स्वर्णो में 'रसेन्द्रवेध सञ्जात' स्वर्ण का भी उल्लेख है।[3] यह सोना पारद से ही तैयार होता था। कुछेक आचार्यों ने पारद से सोना तैयार करने की प्रक्रिया का संक्षिप्त-सा वर्णन भी किया है, परन्तु वह सब यहां के प्रसंग से बाहर की बात है। उसके लिए तो रस शास्त्रों का स्वाध्याय ही आवश्यक होगा।

पारद के द्वारा किये जाने वाले आविष्कारों के प्रेरक दो आकर्षण थे। प्रथम पारद द्वारा स्वर्ण सिद्ध करना, जिसे लोह सिद्धि कहा जाता है। और दूसरा पारद से अजर-अमर शरीर प्राप्त कर लेना, जिसको देहसिद्धि कहते हैं। इसके लिए आवश्यकता यह हुई कि पारद को अत्यन्त सूक्ष्म रूप तक देखा जाय, और उसके गठन की तुलना अन्य धातुओं व शरीर के परमाणुओं की प्राकृतिक गठन से की जाय। क्योंकि जबतक किसी पदार्थ के परमाणुओं को दूसरे पदार्थ के परमाणुओं के समान धर्म वाला नहीं बना दिया जाता, तबतक वे दोनों मिल नहीं सकते। या यों कहिए कि पारद से स्वर्ण तैयार करने के लिए पारदीय अणुओं को स्वर्ण के अणुओं में परिवर्तित करना आवश्यक है, अथवा अपार शुक्र वृद्धि के लिए पारद के अणु को शुक्र के अणु में परिवर्तित होना चाहिए।[4] तभी पारद

---

1. 'रस हृदय तन्त्र' तथा 'रस-रत्न समुच्चय' देखिए।
2. इत्यष्टौ मूलसंस्काराः समा द्रव्ये रसायने ।
   मार्यास्ते प्रथमं, नेमा नोत्तमा द्रव्योपयोगिनः ॥ —र० र० समु० 11/59
3. र० र० समु०, अ० 5/2
4. सर्वेषामेव भावानां सामान्यं वृद्धि कारणम् ।—चरक०, सू० ।

द्वारा लोह अथवा देह सिद्धि संभव थी। एक तत्व को दूसरे तत्व में परिवर्तित करने के इस सार्वभौम वैज्ञानिक तथ्य को भारत के वैज्ञानिक आदि काल से ही जानते थे। इतना ही नहीं उन्होंने जगत् के तत्वों की सूक्ष्मता को वैज्ञानिक आधार पर संतुलित भी कर डाला था।[1] उनका दावा था कि जो व्यक्ति जगत् के वैज्ञानिक विश्लेषण और उसकी क्रमिक सूक्ष्मता को नहीं समझ सका, वह आत्मा या परमात्मा को भी नहीं समझ सकता।[2] उपनिषदों का बड़ा भाग सृष्टि के इसी वैज्ञानिक विश्लेषण से भरा पड़ा है। इसीलिए रस शास्त्रियों ने कहा—

प्रत्यक्षेण प्रमाणेन यो न जानाति सूतकम्।
अदृष्टविग्रहं देवं कथंज्ञास्यतिचिन्मयम्॥ —र० र० स०

जो पारद को वैज्ञानिक दृष्टि से नहीं जान सका वह चिद्रूप परम सूक्ष्म ब्रह्म को कैसे जानेगा?

इस वैज्ञानिक सूक्ष्म दृष्टि के द्वारा भारतीय विद्वानों ने जगत् के तत्वों को अणु और परमाणु तक देख डाला। परमाणु रूप अत्यन्त सूक्ष्म अवस्था में पहुंच कर उन्हें दिखाई दिया कि हरेक अणु में दो शक्तियां विद्यमान हैं। पहिली को उन्होंने 'रयि शक्ति' नाम दिया और दूसरी को प्राणशक्ति। पहिली धनशक्ति है जो स्त्रीत्व का आचरण करती है और दूसरी ऋण शक्ति जो पुरुषत्व का आचरण करती है। परमाणु से लेकर स्थूल जगत् पर्यन्त स्त्री और पुरुष शक्ति का प्रीत्याकर्षण ही इस रचना के वैचित्र्य का कारण है।[3] रयि और प्राण शक्ति युक्त परमाणु आकाश में भरे रहते हैं। वे सदा गतिशील रहते हैं, मानों ऋण परमाणु धन परमाणुओं से मिलने के लिये सदैव दौड़ा करते हैं। चूंकि कोई परमाणु स्थिर नहीं रहता इस कारण वे विना किसी अवरोधक के रुक नहीं सकते हैं। किसी अवरोधक के आते ही जैसे ही धन (स्त्री) परमाणु रुकते हैं वैसे ही अनेक ऋण (पुरुष) परमाणु उसे अपना केन्द्र बनाकर उसके चारों ओर चक्कर लगाने लगते हैं। इस प्रकार धीरे-धीरे परमाणु एक दूसरे से मिलकर अणु और त्रसरेणु की रचना करते चले जाते हैं और स्थूल जगत् की सृष्टि होने लगती है। परमाणुओं के इस मिलन में उनकी संख्या एक सी नहीं रहती इस कारण उनके संगठित स्वरूप में अन्तर होने लगता है। यही मौलिक अन्तर सृष्टि के रचना वैचित्र्य का मूल कारण है।[4] यदि

---

1. इन्द्रियेभ्यः पराह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः। मनसस्तु पराबुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः। महतः परमव्यक्तं अव्यक्तात् पुरुषः परः। पुरुषान्न परं किञ्चित्सा काष्ठा सा परा गतिः॥
—कठोपनिषद् 1/3/10-11
2. 'यस्त्वविज्ञानवान् भवत्यमनस्कः सदाऽशुचिः। न सतत्पदमाप्नोति संसारं चाधिगच्छति'। कठ० 1/3/7। विज्ञानाद्धयेव खल्विमानि भूतानि जायन्ते विज्ञानं प्रयन्त्यभि संविशन्ति—" तैत्तरीयोप०
3. प्रजाकामो वै प्रजापतिः, सतपोऽतप्यत, स तपस्तप्त्वा मिथुन मुत्पादयते रयिञ्च प्राणञ्चेत्येतौ मे बहुधाः प्रजाः करिष्यत इति।" —प्रश्नोपनिषद 1/4
4. वैशेषिक दर्शन में परमाणुओं के अवरोधक, प्राणियों के धर्माधर्म हैं, जिनके कारण उन्हें उस परमाणु द्वारा भोग प्राप्त होता है। एक घड़े के मूल परमाणुओं से लेकर उसके पूर्ण बन चुकने तक उसके भोक्ताका धर्माधर्म घट के संगठन को प्रेरणा देता रहता है—प्रशस्तपाद भाष्य का जगद्रचना प्रकरण देखो।

सारे ही ऋण और धन परमाणु एक ही संख्या में मिलें तो संसार में एक ही पदार्थ के अतिरिक्त दूसरी चीज नहीं बन सकती, परन्तु मिलने वाले परमाणुओं की संख्या और सन्निवेश का अन्तर पदार्थों के वैचित्र्य की सृष्टि करते हैं। इसलिये जब हम एक स्थूल द्रव्य को दूसरे द्रव्य में परिवर्त्तित करना चाहते हैं, तो हमें दोनों द्रव्यों के मूल में जाकर यह देखना होगा कि उनकी गठन में धन परमाणुओं की संख्या में क्या अन्तर है। यदि उस अन्तर को हम दूर कर सकें तो वे दोनों द्रव्य भिन्न न रहेंगे किन्तु एक ही द्रव्य बन जायेंगे। पारद से सोना बनाने के लिये इस अन्तर को दूर करने की प्रक्रिया भारतीय वैज्ञानिकों ने ढूंढ ली थी।

आज का विज्ञान बहुत दिनों की खोज के पश्चात् इस तथ्य को देख सका है। जब से यह तथ्य उसने जाना है तब से जगत् के पदार्थों को मूल रूप में उसने देखना प्रारंभ कर दिया है। पारद और स्वर्ण के मूल घटक धन परमाणुओं की संख्या को भी देखा गया है, उनमें तीन का ही अन्तर है। पारद में 200 धन (स्त्री) परमाणुओं के चारों ओर सम्भवतः 80 ऋण (पुरुष) परमाणु संसक्त रहते हैं, किन्तु स्वर्ण में 197 धन परमाणु पाये जाते हैं। यदि पारद के घटक अणु में हम तीन धन परमाणु कम कर दें तो वह पारदीय परमाणु स्वर्ण के परमाणु में परिवर्तित हो जायेगा। इसी प्रकार ताम्र में 63 धन परमाणु होते हैं। यदि इस संख्या को बढ़ाकर किसी प्रकार हम 197 तक पहुंचा दें तो ताम्र भी स्वर्ण में परिवर्तित हो सकता है। इसी प्रकार अन्य धातुओं के अन्तर को भी देखा जा सकता है। स्मरण रहे कि धन (स्त्री) परमाणुओं की घटा बढ़ी से द्रव्य का स्वरूप बदलता है, और ऋण परमाणुओं की घटा-बढ़ी से उस द्रव्य के गुणा-गुण में परिवर्त्तन आता है।

रस ग्रन्थों के पर्यालोचन से यह ज्ञात होता है कि भारत के प्राचीन रस-शास्त्रियों ने यह तो जान लिया था कि एक धातु दूसरे धातु के रूप में परिवर्त्तित हो सकता है, परन्तु वह एक सामान्य सिद्धान्त था। प्रत्येक धातु के ऋण अथवा धन परमाणुओं की संख्या स्थिर नहीं की जा सकी थी। क्योंकि वैसे लेख ग्रन्थों में नहीं मिलते। यही कारण है कि धातुओं के शोधन, मारण अथवा वेधीकरण में क्या-क्या और कितने-कितने मौलिक परिवर्त्तन होते हैं यह क्रमबद्ध हम नहीं बता सकते। तैल, तक्र, और गो मूत्र में बुझाने से लोह शुद्ध होता है, यह तो हमें ज्ञात है। परन्तु उस शुद्धि का स्वरूप क्या है, यह अभी जानना बाकी ही है। लोह को तेल में बुझाने से उसमें क्या घटा, और क्या बढ़ा ? अथवा उससे लोह के मूल परमाणुओं में क्या अन्तर आया ? यह जाने बिना शुद्धि का स्वरूप हमारे लिये अस्पष्ट ही रहता है। यही कार्य सम्भवतः पूर्वज प्राणाचार्य हमारे लिये छोड़ गये थे, परन्तु हमने उस उत्तरदायित्व को नहीं समझा जिसकी आशा उन्हें हमसे थी। हां, पाश्चात्य यूरोपीय देशों को भारतीय वैज्ञानिकों ने पिछले हजारों वर्षों तक जो वैज्ञानिक तत्व प्रदान किये थे, मानों उसी आभार का ऋण चुकाने के लिये पाश्चात्य वैज्ञानिकों ने इस दिशा में अनेक सफल अनुसन्धान किये हैं और महर्षियों के अधूरे काम को पूरा करने का अध्यवसाय किया है। हमारा वह कदम ध्येय की ओर अग्रसर होने के लिये ही होगा, जो उन नवीन अनुसन्धानों को आत्मसात् करने के लिये

हम बढ़ायेंगे। हमारा पिछला साहित्य बहुत अंशों में नष्ट किया गया है, यह ठीक है, न जाने उसमें वर्णित कितने-कितने अमूल्य अनुसन्धान नष्ट हो चुके। परन्तु प्रश्न यह भी तो है कि आखिर उन्हें नष्ट होने देने का अपराधी कौन है ? आचार्य वाग्भट ने जिन प्राचीन रसाचार्यों का उल्लेख किया है, उनके ग्रन्थ भी प्रायः नष्ट हो चुके हैं, और हमारे पिछले प्रमाद के प्रायश्चित्त के लिये हमें बार-बार उद्बोध देते हैं। आयुर्वेद के प्राचीन आचार्यों ने अपने महान अध्यवसाय और अथाह ज्ञान से अर्जित जो सम्पत्ति छोड़ी, वह हमारे लिये आज भी गर्व की चीज है, ऐसा मान लेना तब तक झूठा गर्व है, जब तक हम स्वयं भी अजस्र अध्यवसाय नहीं करते।

वज्रयान का अन्त

पूरे एक हजार वर्ष तक गिरते-गिरते वैज्ञानिकों के नैतिक जीवन के पतन की पराकाष्ठा हो गई थी। एक ओर सिद्धों और सन्तों का पाखण्ड समाज में राज्य कर रहा था, परन्तु दूसरी ओर कुछ ऐसी भी आत्मायें थीं जो इन पाखण्डियों के विरुद्ध प्रबल क्रान्ति खड़ी करने के लिये सदाचार और सद्विचारों के शस्त्रों को सुसज्जित कर रही थीं। ऐसे क्रान्तिकारियों के प्रथम सेनापति गोरखनाथ थे। सम्भवतः ईसा की 11वीं शताब्दी में उनका आविर्भाव हुआ था। इस समय बंगाल के पालवंशीय राजा पूर्वीय भारत पर राज्य करने लगे थे। ये गौडेश्वर कहे जाते थे, और आसाम से लेकर बिहार तक इन्हीं का शासन स्थापित हो गया था। भागलपुर के पास उदन्तपुरी इनकी राजधानी थी। इसके आस-पास विक्रम-शिला, नालन्दा आदि में ही सिद्धों का केन्द्र स्थान था। गोरख नाथ भी वहीं हुए। वे सिद्ध मीनपाद के पुत्र सिद्ध मत्स्येन्द्रनाथ के शिष्य थे। मत्स्येन्द्रनाथ प्रचलित वज्रयान की माया में फंसे हुए ही सिद्ध थे। गोरखनाथ ने जब उन से दीक्षा ली तो थोड़े ही समय में सिद्धों के पाखण्ड की पोल उन्हें पता लग गई। गोरखनाथ अपने गुरु मत्स्येन्द्रनाथ से तो कुछ न बोले, परन्तु उन्होंने घूम-घूमकर सिद्धों के चरित्र हीन आडम्बर की पोल खोलनी शुरू कर दी, और उसके स्थान पर फिर से सदाचार और आस्तिक भावों की आधार शिला पर भक्ति और कर्मयोग की प्रतिष्ठा की। गोरखनाथ के ये सात्विकविचार सिद्धों के आचार हीन पाखण्ड के अन्धकार में प्रभात कालीन सूर्य की भांति प्रकाशित हो उठे। गोरखनाथ के ये विचार ही 'नाथ सम्प्रदाय' के मूलभूत सिद्धान्त हैं। सिद्धों के अनाचार पूर्ण जाल के फन्दे से मुक्त होकर आस्तिक वादी लोग नाथ साम्प्रदाय के अनुयायी बनने लगे। सिद्धों की भस्में और गुटिकायें बेकार हो गई। गुरु मत्स्येन्द्र नाथ को अपने शिष्य की इस क्रान्ति का पता लगा। वे प्रथम तो खिन्न हुए ही, परन्तु अन्त को गोरखनाथ के विचारों ने उनके जीवन को भी परिवर्तित कर दिया। वे कामिनियों और गुटिकाओं से आखिर छुट्टी पा ही गये थे। पाखण्ड और अनाचार की इस माया से मत्स्येन्द्र नाथ को किस प्रकार गोरखनाथ के विचारों द्वारा मुक्ति मिली, इन्हीं घटनाओं को आज भी हम सिनेमा के चित्र पटों पर 'माया मत्स्येन्द्र' नाम से देखते हैं।

कहते हैं कि गोरखनाथ ने गुरु मत्स्येन्द्रनाथ से दीक्षा लेने के बाद जब सिद्धों के

जीवन को बाहर से उदात्त और अन्दर से पाप पूर्ण पाया तो वे उनके अखाड़ों में न रहकर घूमते हुए सच्चे धर्म का प्रचार और सिद्धों के पाखण्ड का खण्डन करने लगे। थोड़े ही समय बाद यह सूचना गुरु मत्स्येन्द्रनाथ को मिली। मत्स्येन्द्रनाथ अपनी पोल अपने शिष्य द्वारा ही खोले जाने पर बहुत क्षुब्ध हुए। परन्तु जीवन के अन्तिम दिनों में गुरु मत्स्येन्द्र, गोरखनाथ के विचारों से इतने प्रभावित हुए कि वे उन्हीं विचारों के सच्चे अनुयायी बन गये थे। अब गुरु मत्स्येन्द्र अत्यन्त रुग्ण हुए। वे जीवन का उपसंहार कर रहे थे। गोरखनाथ को जब यह सूचना मिली तो अन्तिम समय में गुरु के दर्शनार्थ उनके आश्रम में पहुंचते ही गुरु के चरणों में मस्तक झुका कर विनम्रभाव से बोले 'गुरुवर! मैंने आपका शिष्य होकर भी आपके जीवन की अनेक बातों का खण्डन किया है, इसलिए मैं अपनी इस धृष्ठता के लिए आपसे क्षमा चाहता हूं।' गुरु मत्स्येन्द्रनाथ की आंखें छलक उठीं। उनकी जीवन तन्त्री के तार मानों अन्तिम समय में एक पवित्र अभिव्यञ्जना के लिए ही मौन थे। वे सहसा बोले 'गोरखनाथ जी आप मेरे शिष्य नहीं, गुरु हैं। क्योंकि आपके विचारों ने ही अन्तिम समय में मुझे सन्मार्ग दिखाया है।' गुरु मत्स्येन्द्रनाथ ने इन शब्दों के साथ अपने जीवन का संगीत समाप्त कर दिया। संसार ने उस दिन से गोरखनाथ को 'गुरु' गोरखनाथ कह कर ही याद रक्खा। आज यह बतला सकना असम्भव है कि इन दो महापुरुषों में कौन गुरु कहा जाय और कौन शिष्य, परन्तु यह तो स्पष्ट ही कहा जायगा कि वे दोनों आत्मायें भारतीय रसायनी-विद्या को विज्ञान के असीम क्षेत्र में विचरने के लिए वज्रयान की विकट कारा से सदैव के लिए मुक्त कर गईं।

पुनर्निर्माण की ओर

प्रायः ईसा की दसवीं शताब्दि तक वज्रयान की दलदल में धंसे हुए भारतीय विज्ञान और नैतिक जीवन के पतन की पराकाष्ठा हो गई थी। इसीलिए इस दिशा में अब क्रान्ति का सूत्रपात हो चला था। जैसी क्रान्ति ईसा की प्रथम शताब्दि से लेकर चतुर्थ शताब्दि तक हुई थी, वैसी ही यह भी कही जा सकती है। अन्तर केवल यह था कि उस समय चरक, नागार्जुन, तथा वाग्भट जैसे विद्वानों ने प्राचीन संहिताओं और ग्रन्थों के अस्तव्यस्त स्वरूप का प्रति संस्कार करके उन्हें फिर से हमारे समक्ष रक्खा, और इस युग में उसी आदिकालीन वैज्ञानिक शैली को फिर से जीवित करने के लिये उन प्रति संस्कृत ग्रन्थों पर सुन्दर-सुन्दर भाष्य और व्याख्यायें लिखने का सूत्रपात हुआ। पहिले युग को हम प्रतिसंस्कार युग और इस युग को व्याख्या युग कह सकते हैं। इस क्रान्ति के लब्ध प्रतिष्ठ नायक चक्रपाणि डल्हण और भोज थे। परन्तु दुःख है कि इन व्याख्याकारों की आवाज देश व्यापिनी क्रान्ति में परिणत न हो सकी। समाज की साहित्यिक और वैज्ञानिक भावनायें इतनी मूर्छित हो चुकी थीं कि लोगों ने इनके गौरवपूर्ण कार्य का कुछ महत्व ही न समझा। फलतः व्याख्याकारों की परम्परा बहुत विस्तृत न हो सकी, और पथरीली भूमि में पड़ी हुई अग्निकणिकाओं की भांति कुछ ही समय पश्चात् इस क्रान्ति की चिनगारी भी बुझ गई।

चक्रपाणि गौड़ देश के राज वैद्य थे। उनके पिता का नाम नारायण वैद्य था। वे

गौडेश्वर के राजमहल में भोजनशाला के निरीक्षक अधिकारी थे।[1] गौड़ देश आसाम से लेकर विहार तक विस्तृत था। पीछे हमने लिखा है कि भागलपुर के पास उदन्तपुरी कुछ समय तक उनकी राजधानी थी। ईसा की ग्यारहवीं शताब्दि में इन गौडेश्वरों में 'पालवंशीय नयपाल नामक सम्राट 1040-1060 ई० तक राज्य करते थे। विक्रमशिला-विहार के बौद्ध पं० दीपङ्कर श्रीज्ञान ने तिब्बत जाते समय नेपाल से 1041 ई० में राजा नयपाल को एक पत्र लिखा जो आज भी तिब्बतीय भाषा में विद्यमान है।[2] चक्रपाणि इन्हीं के वैद्य थे। यह राजवंश वंगाल का निवासी था। चक्रपाणि भी वंगदेशीय विद्वान थे। वे किस नगर अथवा ग्राम के निवासी थे यह जानने के लिये पर्याप्त प्रमाण हमारे पास नहीं हैं। उनके गुरु का नाम श्री नरदत्त था। चरक संहिता की व्याख्या प्रारम्भ करते हुए उन्होंने अपने गुरु को अत्यन्त भक्ति पूर्वक स्मरण किया है। चक्रपाणि ने चरक तथा सुश्रुत संहिताओं पर व्याख्यायें लिखीं; एवं 'चक्रदत्त' नामक एक स्वतन्त्र संग्रह ग्रंथ भी लिखा। चक्रपाणि के इन लेखों को जिन्होंने पढ़ा है, वे जानते हैं कि चक्रपाणि का पाण्डित्य वहुत व्यापक था।

गुप्तकालीन युग की समाप्ति पर मथुरा के पूर्व से लेकर आगरा इटावा और भिंड जिलों के क्षेत्र में एक स्वतन्त्र राज्य स्थापित हो गया था। इस राज्य का नाम 'भादानक-देश' था। यह आज भदावर नाम से प्रसिद्ध है। इस प्रदेश में अनेक धुरन्धर विद्वान प्राचीन काल से उत्पन्न होते रहे हैं। इसी राज्य में मथुरा से कुछ दूर अंकोला (जो आज कल सम्भवत: 'कोला' नाम से प्रसिद्ध है) नामक ग्राम था। सुश्रुत संहिता के प्रसिद्ध भाष्यकार आचार्य उल्हण इसी स्थान पर अवतीर्ण हुए। सुश्रुत संहिता के प्रारम्भ में स्वयं अपना परिचय इस प्रकार दिया है—भादानक देश में अंकोला नामक ग्राम मथुरा नगरी से थोड़ी दूर पर स्थित है। यहां वड़े-वड़े विद्वान वैद्य होते रहे हैं। यहीं पर सूर्य-वंशी ब्राह्मण कुल में, अश्विनीकुमारों के समान सुयोग्य वैद्य हुए। जो राजाओं के यहां प्रतिष्ठित थे, तथा दूर-दूर तक जिनका यश विख्यात था। इसी वंश में चिकित्सक शिरो-मणि 'गोविन्द' नामक वैद्य हुए। गोविन्द के पुत्र वैद्यवर जयपाल हुए, और जयपाल के पुत्र शास्त्रवेत्ता भरतपाल नाम से प्रसिद्ध थे। इन्हीं भरतपाल के पुत्र स्वनामधन्य आचार्य उल्हण हुए। आचार्य उल्हण राजा सहपाल देव के राज वैद्य थे। उल्हण के सुश्रुत संहिता पर व्याख्या लिखने से पूर्व आचार्य वाग्भट के योग्य शिष्य श्री जेज्जटाचार्य की सुश्रुत पर लिखी हुई व्याख्या प्रचलित थी। विद्वद्वर श्री गयदास और भास्कराचार्य की लिखी हुई पञ्जिका नामक व्याख्यायें भी मिलती थीं। इतना ही नहीं आचार्य माधव और ब्रह्मदेव आदि विद्वानों की टिप्पणियां भी सुश्रुत पर विद्यमान थीं। सुश्रुत का यह विस्तृत साहित्य

---

1. चक्रपाणि ने स्वयं अपना परिचय इस प्रकार लिखा है—

'गौडाधिनाथ रसवत्यधिकारिपात्र
नारायणस्य तनयः सुनयोत्तरंगात्।
भानोरनुप्रथित लोध्रवली कुलीन;
श्री चक्रपाणिरिह कर्तृ पदाधिकारी ॥ —चक्रदत्त, अन्तिम श्लोक

2. गंगा पुरातत्वांक 8,146, श्री राहुल सांकृत्यायन का नोट.

हमारी प्रमाद निद्रा में काल ने कलेवा कर लिया। धन्य हैं वे डल्हण जो ईसा की 11वीं शताब्दि के प्रथम चरण में अवतीर्ण होकर भी ईसा की 5वीं शताब्दि तक का सन्देश देने के लिये निबन्ध संग्रह[1] के रूप में हमें मिल गये।

इस युग के एक महापुरुष को हम और नहीं भुला सकते—वे थे महाराजा भोज। आयुर्वेदिक ग्रन्थों का टीकाओं में 'भोजेप्युक्तं' कहकर अनेक उद्धरण मिलते हैं। ये उद्धरण राजा भोज के लिखे हुए ग्रन्थों से लिये गये हैं। 'आयुर्वेद सर्वस्व' तथा विश्रान्त विद्या विनोद, नामक दो आयुर्वेदिक ग्रन्थ भोज के नाम से प्रख्यात हैं। भोज ने किसी प्राचीन ग्रन्थ विशेषकर चक्रपाणि और डल्हण की भांति व्याख्या नहीं लिखी। फिर भी भोज के ग्रन्थ प्राचीन ग्रन्थों की सुन्दर व्याख्या ही हैं। अनेक व्याख्याकारों के उद्धरणों से प्रतीत होता है कि भोज के प्रणीत ग्रन्थ बड़े प्रतिष्ठित थे। इतिहास से विदित होता है कि यह सम्राट् भोज मालव देश (मालवा) के अधीश्वर थे। उनकी राजधानी धारा नगरी थी। भोज ने प्रायः 1010 ईस्वी से लेकर 1041 ईस्वी तक राज्य किया था।[2] भोज को भगवान ने ऐसी प्रतिभा दी थी कि वे केवल आयुर्वेद ही नहीं, किन्तु ज्योतिष, धर्मशास्त्र, दर्शनशास्त्र, काव्यालंकार एवं युद्ध कला आदि विषयों के भी विद्वान थे। भोज के दरबार में इन सभी विषयों पर पर्याप्त आलोचना होती थी। आजकल भोज के नाम से निम्न ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं—1. कामधेनु, (दर्शन) 2. सरस्वती कण्ठाभरण, 3. राजमार्तण्ड (योग दर्शन पर व्याख्या) 4. राज मृगाङ्ककरण, 5. विद्वज्जन वल्लभ (ज्योतिष) 6. समराङ्गण (वास्तु शास्त्र) 7. शृंगार मंजरी (काव्य) 8. आदित्य प्रताप सिद्धान्त (ज्योतिष) 9. चम्पू रामायण 10. चारुचर्या (धर्मशास्त्र) 11. तत्व प्रकाश 12. सिद्धान्त संग्रह (शैव सम्प्रदाय) 13. व्यवहार समुच्चय (धर्म) 14. शब्दानुशासन, 15. शालिहोत्र 16. शिवदत्त रत्न कलिका 17. समराङ्गण सूत्रधार 18. सुभाषित प्रबन्ध 19. विद्वज्जन वल्लभ प्रश्न चिन्तामणि; तथा आयुर्वेद विषय पर (1) आयुर्वेद सर्वस्व एवं (2) विश्रान्त विद्या विनोद। अनेक लोगों का कहना है कि ये ग्रन्थ महाराजा भोज की विद्वत्सभा के पण्डितों ने भोज की प्रेरणा से लिखे थे। कुछ भी हो, परन्तु यदि स्वयं भोज की अभिरुचि इन विषयों में न होती तो ये अमूल्य ग्रन्थ न लिखे जाते, फिर उनकी रचना के लिये भोज को श्रेय क्यों न दिया जाय? भोज की राज सभा में अपने समय के माने हुए चोटी के विद्वान थे।[3] शिक्षा के लिए भोज का सारा ही जीवन समाप्त हो गया, और इसीलिये उनका आदेश था कि किसी भी उच्च कुल में क्यों न जन्मा हो, यदि मूर्ख व्यक्ति है तो उसे मेरे राज्य से निर्वासित कर दिया जाय, परन्तु निम्न कुल में जन्म पाने वाला विद्वान सुख से रहने दिया जावे।"

---

1. श्री वेंकटेश्वर प्रेस बम्बई से प्रकाशित 'भोज प्रबन्ध की भूमिका', पृ० 13
2. वररुचि, बाण, मयूर, रेफना, हरिशंकर, कलिंग, कर्पूर, विनायक, मदन, विद्याविनोद, कोकिल, तारेन्द्र, एवं कालिदास। —भोज प्रबन्ध, पृ० 50
3. कालिदास, भवभूति, दण्डि, बाण, मयूर वररुचि प्रभृति कवि तिलक कुमारांकुराणां समाना कवि-नाम: सोमनाथकारमितव्द:—भोज प्रबन्ध, पृ० 216-217

विप्रोऽपि यो भवेन्मूर्खः स पुराद्बहिरस्तु मे।
कुंभकारोऽपि योऽविद्वान सतिष्ठतु पुरे मम॥

—भोज प्रबंध श्लोक 74

अतः कोऽपिन मूर्खोऽभूद्धारानगरे ।

सम्राट् भोज का जीवन बचपन से ही अत्यन्त प्रतिभापूर्ण रहा। अपने चाचा मुंज जैसे अन्यायी शासक के षड्यन्त्र से बचपन में अपनी प्राण रक्षा कर लेना भोज की प्रतिभा का ही परिणाम था। इसीलिये भोज ने जिस विषय में भी हाथ डाला उसको अधिक से अधिक प्राञ्जल बना दिया। सम्राट होकर भी आयुर्वेद जैसे विषय पर धन्वन्तरि की भांति भोज ने भी प्रतिष्ठा पाई, इसका भी एक मनोरंजक इतिहास है—एक बार भोज एक तालाब में स्नान करने गये। कुल्ला करते समय उन्होंने तालाब का पानी अंजली में लेकर नाक में सुड़क लिया। दैवयोग से मछली का एक छोटा-सा बच्चा पानी के साथ नाक में चला गया। पानी तो निकल गया परन्तु मछली का बच्चा अपनी चंचल प्रगति के कारण कपाल में घुसा चला गया। भोज स्नान करके महलों में पहुंचे तो भीषण शिरोवेदना होने लगी। भोज को स्वयं उसका कारण ज्ञात न हो सका। राजा ने अपनी वेदना का प्रतिकार राज वैद्य से करवाना चाहा, परन्तु वह रोग न जान सका, चिकित्सा क्या करता? धीरे-धीरे राज्य के समस्त वैद्यों की चिकित्सा हो चुकी, परन्तु किसी को रोग समझ में न आया, इसीलिये राजा को आराम न हुआ। राजा दुर्बल होते गये, शरीर सूख कर कंकाल मात्र हो गया परन्तु शिरोवेदना न घटी। इस प्रकार एक वर्ष बीत गया।

भोज को वैद्यों की इस असफलता पर बड़ा खेद हुआ। उन्होंने यह धारणा बना ली कि आयुर्वेद चिकित्सकों की ठग विद्या है। इस क्षोभ के कारण एक दिन अपने महामात्य बुद्धिसागर को बुला कर सम्राट ने आज्ञा दी कि मेरे राज्य से सारे वैद्य निकाल दिये जावें। वाग्भटादियों के लिखे हुए भारी-भारी पोथे नदी में प्रवाहित कर दिये जावें। मुझे विश्वास है कि मैं अब मर जाऊंगा, परन्तु मेरी इस आज्ञा का पालन अवश्य हो ताकि जनता वैद्यों के पाखण्ड से बच जाय। राजा की यह कठोर आज्ञा शीघ्र ही राज्यमें घोषित कर दी गई। आंखों में आंसू भरे हुए अपने उपकारी चिकित्सकों और प्रिय जनों को राज्य से निर्वासित होते देखकर लोग दुखी हो रहे थे।

भोज की यह कठोर आज्ञा होने की खबर चारों ओर फैल गई। कहते हैं कि नारद मुनि स्वर्ग पहुंचे तो इन्द्र ने उनसे इस लोक का वृत्तान्त पूछा। उन्होंने भोज की अवस्था और वह कठोर आज्ञा कह सुनाई। इन्द्र को आयुर्वेद के ऊपर होने वाले इस अत्याचार से बहुत दुःख हुआ। तुरन्त अश्विनी कुमारों से कहा 'जाओ भोज की चिकित्सा करके नीरोग करो, अन्यथा आयुर्वेद की प्रतिष्ठा नष्ट हो जायगी।' इन्द्र को चिन्ता होनी ही चाहिये थी, क्योंकि वे आयुर्वेद के प्रवर्त्तकों में से थे। अश्विनी कुमारों ने इन्द्र की आज्ञा से धारा नगरी की ओर प्रस्थान कर दिया। साधारण से ब्राह्मण के वेश में वे धारा नगरी पहुंचे। भोज के राज महल के द्वार पर पहुंच कर उन्होंने द्वारपाल से कहा।

'जाओ सम्राट को सूचना दे दो कि दो वैद्य काशी से आये हैं, और तुम्हारी चिकित्सा करना चाहते हैं।'

'वैद्यों का राजा ने वहिष्कार किया है, मैं तुम्हारी सूचना न दूंगा।'

'तुम एक वार कह तो दो।'

'नहीं, महाराज रोग से पीड़ित हैं, वैद्य उनकी चिकित्सा में असमर्थ सिद्ध हुए हैं, इसलिये तुम्हारी सूचना से मुझे और तुम्हें एक साथ निर्वासित होना पड़ेगा, अच्छा हो, तुम लौट जाओ।'

इस वाद-विवाद के वीच में ही महामात्य वुद्धिसागर उधर से आ निकले। उन्होंने दोनों वैद्यों को देखा तो अपने साथ राजा के पास लिवा गये। अश्विनियों ने राजा को देखते ही समुचित निदान समझ लिया और वोले—

'राजन, घवड़ाओ नहीं, तुम्हारा रोग अवश्य अच्छा होगा।'

'वैद्यो, मैं तुम्हारा वहुत कृतज्ञ हूंगा यदि तुम मुझे नीरोग कर दोगे।'

'तो राजन, एकान्त में चलो।'

राजा ने वैसा ही किया। अश्विनियों ने संमोहन चूर्ण से राजा को मूर्छित कर दिया और शस्त्र से कपाल को खोल कर अन्दर फंसी हुई मछली निकाल ली और एक पात्र में रख दी। पुनः संधान कारिणी से कपाल को जोड़ कर संजीवनी नामक औषधि सुंघा कर सावधान कर दिया। राजा का सिर दर्द दूर हो गया।

तव अश्विनियों ने राजा को कपाल से निकाली हुई वह मछली दिखाई। राजा आश्चर्य से चकित हो गये। अव भोज को आयुर्वेद का चमत्कार प्रत्यक्ष हो गया। अश्विनियों ने कहा राजन, आयुर्वेद शास्त्र मिथ्या नहीं है, यह तुम अव समझ गये होगे। इतना कहकर उचित पथ्य आदि निर्देश कर अश्विनी वहां से चले गये।'[1]

इस घटना का ही यह परिणाम प्रतीत होता है कि राजा भोज को आयुर्वेद के प्रति इतनी श्रद्धा उत्पन्न हुई कि उन्होंने वैद्यों के वहिष्कार की वह अपनी कठोर आज्ञा तो रद्द कर ही दी, पीछे से स्वयं अध्ययन करके आयुर्वेद विषय पर अत्यन्त महत्वपूर्ण एवं प्रामाणिक ग्रन्थों की रचना भी की। सम्राट भोज के लिखे इन ग्रन्थों के उद्धरण आचार्य उल्हण ने सुश्रुत, तथा विजय रक्षित ने माधव निदान की व्याख्याओं में उद्धृत किये हैं।[2] उल्हण द्वारा भोज के उद्धरण देने से प्रतीत होता है कि भोज का समय ईसा की 10 वीं शताब्दि का अन्तिम चरण रहा होगा। क्योंकि उल्हण का समय 11वीं शताब्दि का प्रथम भाग ही है। भोज के जीवन की उक्त घटना में अन्तिम भाग जिसमें स्वर्ग, इन्द्र, नारद और अश्विनियों का उल्लेख है, ऐतिहासिक सत्य नहीं है, क्योंकि ईसा की 10 वीं शताब्दि तक स्वर्ग का साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो चुका था। संभव है कि इन्द्रप्रस्थ में अव तक स्वर्ग की शासन परम्परा के वही नाम चलते रहे हों, जो हिमालय पर किसी समय वास्तव में थे। जो हो, भोज के रोग को किसी महा वैद्य ने अच्छा किया और उससे आयुर्वेद के प्रति भोज की इतनी आस्था वढ़ी कि उन्होंने इस विषय पर अनेक उत्तमोत्तम

---

1. भोज प्रवन्ध, पृ० 210-216
2. सुश्रुत सू० 11-12, माधव निदान श्लो० 3,21

ग्रन्थ लिखकर आयुर्वेद की स्मरणीय सेवा की। भोज के राजकवि कालिदास[1] की उक्ति सर्वथा सत्य है—

अद्यधारा निराधारा निरालम्बा सरस्वती।
पंडिता खण्डिताः सर्वे भोज राजे दिवंगते॥

1. विक्रम के राज कवि कालिदास से भिन्न यह द्वितीय कालिदास थे। राजा भोज के परलोक सिधारते ही—धारा नगरी का सहारा जाता रहा। सरस्वती असहाय हो गई। और पंडित छिन्नभिन्न हो गये।

1

देवभिषक् : अश्विनी कुमार

अमर है जननी वह अश्विनी, अमर हैं जिनसे अमरावती।
अमरता जिनकी महनीयता, सुखमयी सुरमण्डल की हुई ॥ 1 ॥
प्रसविता सविता जिनके हुए, त्रिदिव के अविता इतिहास में।
मधुप से जन के मन के लिये, चरण वे युग मंजुल कंज हों ॥ 2 ॥

अश्विनी कुमार

मान सरोवर के तट पर उस दिन प्रसन्नता का पारावार न रहा जिस रोज त्वष्टा की बेटी अश्विनी ने युगल कुमारों को जन्म दिया। नागों और यक्षों ने दीनार लुटाये, देवियों ने भवन सजाये, किन्नरियों ने नृत्य और वाद्य से दिशायें जागृत कीं, और देवताओं ने जातकर्म का साज सम्भार लेकर सविता के घर को सम्मानित किया। सविता की प्रसन्नता का ठिकाना न रहा जब दो पुत्रों ने एक साथ अवतीर्ण होकर उन्हें पिता होने का वरदान दिया। षष्ठिका के दिन जब अश्विनी दोनों कमनीय पुत्रों को अपने उन्नत उरोजों से स्तन्य पान कराने घर के प्रांगण में बैठी, घर का सम्पूर्ण अजिर और उसकी एक-एक कक्षा उनके अनुपम रूप लावण्य से जगमगा उठी। ऋचाओं के गान गूंज गये।

अब वह युग न था जब पिता पुत्रों का लेखा न रखते थे। तब पुत्र माता का रहा होगा। अब पिता को भी अपने अभिजन का लेखा रखने की ममता उत्पन्न हो चली थी। वह अनुभव करने लगा था—पुत्र मेरा ही प्रतिनिधि है। "अंगादंगात्सम्भवसिहृदयादधि जायसे" का स्तोत्र गाकर वह उसका जात कर्म करने लगा था। इसी कारण जहां से इतिहास बन सका वह ब्रह्मदेव का वंश कहलाया। सविता ब्रह्मदेव के वंश में उत्पन्न हुए थे।

बीते युग तक मनुष्य अपनी रक्षा का उत्तरदायी स्वयं ही था। फिर भी उसके योगक्षेम की सुरक्षा का कुछ न कुछ भार समाज ने अपने ऊपर ले लिया था। कुल सम्पत्ति को एक जगह टिकाये रखने की भावना ने ही तो स्वर्ग के साम्राज्य की सृष्टि की थी। दस्युओं द्वारा देवताओं के अभिजनों पर होने वाले बर्बर आक्रमणों में सविता (सूर्यदेव) के प्रबल पराक्रम ने उन्हें गणनायक होने का सौभाग्य प्रदान किया था। एक अश्विनी ही क्या, उस जैसी अनेक प्रेयसी देवियों के सौभाग्य और लज्जा की रक्षा करके सूर्यदेव ने समाज की दृष्टि में ब्रह्म देव से बढ़कर जन-प्रियता पा ली थी। इसीलिए ब्रह्मदेव का वंश अब 'सूर्य वंश' कहा जाने लगा था। माला के प्रथम सुमेरु का मान दो गुरियों के बराबर होता है, मानो यही मानकर अश्विनी ने सूर्यवंश की माला में प्रथम बार दो मुक्ता पिरोये।

सूर्य देव की इस जन-प्रियता का ही परिणाम था कि जिस दिन उन्होंने अपने युगल पुत्रों का नामकरण करने का समारोह किया स्वयं ब्रह्मदेव यज्ञ के ब्रह्मा हुए। नागों ने अश्विनी के लिये सुधा भेजी। देवताओं ने सोम। गन्धर्वों ने गान के मोहक राग और वाद्य सुनाये। किन्नर और किन्नरियों ने अश्विनी का अजिर अपने नृत्य और अभिनय से भूषित किया, और यक्षों ने उपहार भेजने में कुबेर का कोष खाली कर दिया। सविता ने अग्नि

की उद्भावित ऋचाओं को उद्गीथ के स्वरों में साम बनाकर गाया।[1] वसु, रुद्र, और मरुतों के साथ ब्रह्मा ने दोनों कुमारों की अभिन्नता अक्षुण्ण रखने के लिये उनका नाम 'अश्विनी कुमार' रक्खा। ऐसी सौभाग्यशाली सन्तान पाकर माता अश्विनी मानों ब्रह्मा के वंश की अमर कहानी का प्रतीक बन गई।[2]

अश्विनी कुमार बचपन से ही बड़े होनहार और प्रतिभा सम्पन्न थे। सौन्दर्य में उनकी उपमा तत्व द्रष्टा महर्षियों को भी मिल सकी तो थोड़ी बहुत सूर्य और चन्द्र में ही। अत्याचारी असुरों के कारण देवियां स्वर्ग में भी प्रसव के दिन से भयभीत रहती थीं। उस विवशता की दशा में असुरों का आक्रमण हो जाय तो क्या हो? सविता ने अपनी भुजाओं के बल पर उन्हें अभयदान दिया था, तभी तो स्वर्ग के देवों ने मिलकर उन्हें सविता (प्रसविता) की उपाधि दी थी। अश्विनी कुमारों को अपने पिता की जन-सेवा का यह आदर्श भूला नहीं था, उन्होंने आयुर्वेद की वह कला जिसका सूत्रपात ब्रह्मदेव ने किया था, अपनी जन सेवा का साधन बनाई।

देव लोक (तिब्बत) के नन्दन वन में ब्रह्म देव के शिष्य प्रजापति दक्ष का विशाल विद्यालय उस युग का सबसे प्रमुख शिक्षा केन्द्र था। सविता ने अश्विनी कुमारों को उन्हीं की सेवा में विद्याध्ययन के लिए भेज दिया। दक्षप्रजापति ने अत्यन्त तन्मय होकर दोनों कुमारों को आयुर्वेद शास्त्र की शिक्षा दी। दक्ष की शिक्षायें सूर्यकान्त मणि में प्रकाश की किरणों की भांति कई गुनी अधिक होकर प्रतिफलित हुई। प्रकृति की विज्ञानशाला के प्रथम वैज्ञानिक ब्रह्मा ने आयुर्वेद के जो मौलिक तत्व प्रजापति को बताये वे बड़े अद्भुत थे। परन्तु आश्विनी कुमारों की प्रतिभा ने समाज सेवा के लिये उन्हें जिस प्रकार समन्वित किया, वह और भी आश्चर्यकारी था। दक्षप्रजापति को अपने इन युगल शिष्यों पर अभिमान था। अपने दौहित्र अश्विनी कुमारों की गुरुभक्ति और गुण ग्राहिता की सूचना जिस दिन त्वष्टा को मिली, वे फूले न समाये। त्वष्टा स्वर्ग का सबसे बड़ा शिल्पी था। उसने दीक्षान्त के दिन अपने दौहित्र दोनों कुमारों को ऐसा अद्भुत रथ पुरस्कार में दिया जो पृथ्वी और आकाश में समान रूप से चल सकता था। ऐसा रथ पाकर अश्वियों की समाज-सेवा में प्रगति दूनी हो गई।

प्राचीन मान्यता है कि सामान्य लोगों की वाणी पदार्थ को अनुगामिनी होती है। किन्तु असामान्य व्यक्तियों की वाणी के पीछे पदार्थ अनुगमन करते हैं। अश्वियों ने उस असामान्य व्यक्तित्व को प: लिया। इसीलिए उनका दूसरा नाम 'न:सत्य' भी प्रचलित हुआ। सत्य मानों उनके उच्च ज्ञान का अनुगामी हुआ फिरता था।[3] विद्वत्समाज में उन्हें

---

1. "ऋच्यध्यूढ़ं साम गीयते" (आदित्य ही साम वेद के प्रकाशक हैं)
2. महाभारत अनुशासन पर्व 150/17 में लिखा है कि सूर्य की पत्नी अश्विनी का अन्यनाम संज्ञा था। उसके दो पुत्र थे पहिला नासत्य दूसरा दस्र। पाणिनि ने 6/3/75 में लिखा कि वे सत्यपरायण थे इसलिये दोनो 'नासत्य'। अश्विनी सत्यावेव नासत्यावित्यौर्णवाभः। सत्यस्यप्रणेतारावित्याग्रायणः
—निरुक्त० पृ० 6/3/4
3. "अस्मादृशांहिलोकानामर्थं वागनुवर्तते।
ऋषीणां पुनराद्यानां वाचमर्थोनुधावति॥"

ज्ञान का अधिष्ठाता स्वीकार कर लिया गया। प्राचीन साहित्य में जहाँ 'दर्पन' कर्म का प्रतीक है, वहां 'अश्व' ज्ञान का प्रतीक माना जाने लगा। उपनिषदों में कहा गया है 'सत्य का मार्ग देवयान मार्ग है।[1] और देवयान का अधिष्ठातृत्व अश्वियों को ही मिला था।

o o o

महर्षि याज्ञवल्क्य के मैत्रेयी और कात्यायनी दो पत्नियां थीं। याज्ञवल्क्य विरक्त होकर तपोवन को जाने लगे। कात्यायनी को धन-दौलत का बड़ा मोह था। वह घर छोड़ कर जाते हुए अपने पति याज्ञवल्क्य से बोली—देव! मैत्रेयी से मेरी सम्पत्ति का बटवारा करा दो!

याज्ञवल्क्य बटवारा कराने के लिये बैठ गये। दोनों पत्नियों को पास बुला लिया। —देवियो! आज मैं घर त्याग कर तपोवन जा रहा हूं। मैत्रेयी! आओ, इस कात्यायनी का तुम से बटवारा करवा दूं।

मैत्रेयी अभिमान पूर्वक बोली—'यह सारी सम्पत्ति कात्यायनी को दे दो, मैं जिस दौलत से अमर नहीं हो सकती उसे लेकर क्या करूंगी? विरक्त होकर जिस वैभव को पाने के लिए तुम घर छोड़कर जा रहे हो प्रियतम! मुझे वही सम्पत्ति प्रदान करो!'

मैत्रेयी ने सारी सम्पत्ति सपत्नी को सौंप दी, और याज्ञवल्क्य से उस सम्पत्ति की याचना करने लगी, विरक्त होकर जिसे पाने के लिये वे घर छोड़ रहे थे। याज्ञवल्क्य बोले—मैत्रेयी! जिससे मुझे प्यार है उससे ही तुमको। प्यार की इस एकात्मता के कारण ही तुम मेरी सच्ची 'प्रियतमा' हो। प्यार से व्यक्ति प्राप्त होते हैं, व्यक्ति से प्यार नहीं। इसलिये चलो! जिस सम्पत्ति की साधना के लिये मैं घर छोड़ रहा हूं वह तत्व तुम्हें देता हूं। याज्ञवल्क्य ने यह कहकर मैत्रेयी को जो तत्व प्रदान किया वह अध्यात्म और विज्ञान का समुदित रहस्य था 'मधुविद्या'। इस मधुविद्या का आविष्कार करने वाले अश्विनी कुमार ही थे।[2]

विज्ञान, अध्यात्म और आयुर्वेद की जो सामान्य पृष्ठभूमि इस रहस्य में बताई गई, पर्वत की भांति अचल होकर रह गई। उन्होंने कहा—'वीणा के स्वर मधुर होते हैं। उस मधुरता को पाने के लिये स्वर नहीं पकड़े जा सकते, इसलिये वीणा को पकड़ो।' बजते हुए शंख की ध्वनि नहीं पकड़ी जा सकती, ध्वनि पकड़ना है तो शंख को पकड़ो। इसी प्रकार विश्व में बिखरे हुए स्वास्थ्य को तुम नहीं बटोर सकते, स्वस्थ रहना है तो रोगों की पहुंच से परे सदैव स्वस्थ और सुखी रहने वाले आत्म तत्व को प्राप्त करो, क्योंकि स्वास्थ्य सुख का स्रोत वही है।

---

1. कठोपनिषद्—"सत्येन पन्था विततो देवयानः"
'देवयान' का विवरण निरुक्त पू० 6/3/4 में दुर्गाचार्य ने किया है। वहां औपमन्यव तथा और्ण-वाभ आचार्यों के विचार प्रस्तुत हैं।
[illegible] अश्विनौ हो [illegible]।—बृहदारण्यकोपनिषद्, 4/20
2. (क) बृहदारण्यकोपनिषद्, अध्याय 2, ब्रा० 4-5
(ख) "इदं वै तन्मधु दध्यङ्ङाथर्वणोऽश्विभ्यामुवाच"—बृ० उ० 2/5/16
(ग) Cultural Heritage of India, Vedic Culture, Ch. II, P. 32

विश्व के प्रजनन और विकास का रहस्य उद्घाटन करने वाले प्रथम वैज्ञानिक अश्वि ही हुए। चेतन और अचेतन के मध्य चिकित्सा की प्रयोजनीयता का रहस्य हमें पहले पहल अश्वियों ने ही दिया।[1] मेघों से वरसने वाले जल में क्या वरसता है? औप-धियों से हम क्या प्राप्त करते हैं? यह तत्व पहिली वार अश्वियों ने ही अपनी वैज्ञानिक प्रयोगशाला से प्रकाशित किये। अग्नि (पित्त) जल (कफ) और वायु (वात) के सामञ्जस्य द्वारा जगत का निर्माण और संवर्धन जिस प्रक्रिया द्वारा होता है, उसका रहस्य खोजने वाले प्रथम वैज्ञानिक अश्वि ही हुए। इन्द्र, कक्षीवान्, तथा ऋचीक[2] जैसे तत्व-दर्शी विद्वान पीछे से अश्वियों के इन आविष्कारों पर ही विस्तृत व्याख्यायें प्रस्तुत करने वाले आचार्य थे। आयुर्वेद के विकास के इतिहास में जिनका नाम भी भुलाया नहीं जा सका। परन्तु सत्य यह है कि आयुर्वेद विज्ञान के अथाह सागर पर अश्वियों ने यदि सेतु न वांध दिया होता, तो उसके पार पहुंचना संभव न होता।

अश्वि सविता के पुत्र थे। उसके पास कोई वड़ी सम्पत्ति न थी। कोई शासन न था। फिर भी अश्वियों के ज्ञान की प्रतिष्ठा दिन-दिन वढ़ती ही जा रही थी। इसके प्रतिकूल इन्द्र स्वर्ग का शासक और वड़ी सम्पत्ति का अधीश्वर था। अश्वियों की वढ़ी हुई प्रतिष्ठा इन्द्र को अच्छी नहीं लगी। वड़े-वड़े सामाजिक समारम्भों में. जो यज्ञ के नाम से किये जाते थे, इन्द्र ने अश्वियों का तिरस्कार करने का प्रयास भी किया। इन्द्र के हाथ में एक वड़ा सत्कार यह था कि वह यज्ञ में आये विद्वानों का सोम-पान द्वारा सम्मान करे। इन्द्र ने अभिनिवेश पूर्वक अश्वियों को इस सम्मान गोष्ठी से वहिष्कृत किया। इन्द्र सोम के अधिष्ठाता भले ही थे, किन्तु अश्वि भी ज्ञान के अधिष्ठाता तो थे ही। सम्राट अपने शासन में ही सम्मान पाता है किन्तु विद्वान सर्वत्र सम्मानित होता है। फल यह हुआ कि देवताओं ने इन्द्र की जितनी स्तुति की अश्वियों की उससे अधिक। अन्ततो-गत्वा सर्व सम्मति से देवों ने अश्वियों को प्रत्येक यज्ञ का अध्यक्ष स्वीकार कर लिया और 'हव्य वाह' या 'यज्ञ-वाह' की पदवी देकर सम्मानित किया।

वड़े-वड़े देवताओं के भयानक रोगों को जव अश्वियों ने निर्मूल कर दिया, यहां तक कि स्वयं इन्द्र को चिकित्सा के लिए उनकी शरण जाना पड़ा, तव इन्द्र के लिये अभिमान का अवसर न रहा। स्वयं इन्द्र ही अश्वियों के शिष्य हो गये। इन्द्र को आयुर्वेद की शिक्षा देने का गौरव अश्वियों को ही प्राप्त है। वैदिक साहित्य में इन्द्र, अग्नि और अश्वियों की स्तुति में जितना लिखा गया, उतना अन्य के लिये नहीं। सौन्दर्य, सुषमा और स्वास्थ्य के अधिष्ठातृ देव के नाते अश्वियों का स्थान ही प्रथम है। चरक संहिता में अश्वियों के इस इतिहास को अत्यन्त आदर के साथ लिखा गया।

स्वर्ग में ब्रह्मा, दक्ष, अथवा इन्द्र आयुर्वेद विज्ञान के पारंगामी अवश्य हुए, किन्तु वे वड़े-वड़े लोगों के ही काम आये। अश्विनी कुमार ही वे व्यक्ति थे जो जनता के चिकित्सक थे। भारतीय संस्कृति के कार्य-कालाप में जहां महापुरुषों का स्मरण किया

---

1. यद्वृष्टे ओषधयउद्यन्ति प्राणिनश्च पृथिव्यां तदश्विनो रूपम्। तेनेतौस्तौति—निरुक्त 6/6/8
2 ऋचीक अपने गुणों के कारण स्वर्ग में सम्मानित हुए, और वहीं रहे। गाधि की वेटी और विश्वा-मित्र की वड़ी वहिन ऋचीक की पत्नी थी।—वाल्मी० रामा०, वाल० 34/7

जाता है, उनमें अश्वि ही प्रथम हैं। प्रातःसवन तथा सौत्रामणि जैसे यागों में सम्मान का जो आसन इन्द्र को प्राप्त है वही अश्वियों को भी।[1] विशेषता यह है कि इन्द्र अधिपति होने के कारण सम्मानित हुए किन्तु अश्वि 'देव-भिषक्' होने के नाते ही। सुपात्र में रक्खे हुए रत्न की भांति अश्वियों को दिये हुए अपने ज्ञान की प्रतिष्ठा पर दक्ष प्रजापति के अभिमान की सीमा न रही।

हम ऊपर लिख आये हैं, सोम का सत्कार इन्द्र के अधीन था। इसलिये इन्द्र ही सोम के अधिष्ठाता बन गये। बड़े-बड़े उत्सवों और यज्ञों में वे गिने-चुने अपने प्रेमियों को ही यह ऊंचा सत्कार प्रदान करते। सोम के चषक पाने के लिए कितने ही देव, ऋषि, और नाग तथा यक्ष सोम-सदन का चक्कर लगाते ही रह जाते, और कोरे हाथ लौटते। परन्तु इन्द्र ने उन्हें सोम के लिये न पूछा। सुरवर्ग में एक उग्र प्रतिक्रिया हुई। उन्होंने अपना अपमान अनुभव किया। यहां तक कि इन्द्र ने अश्विनी कुमारों के लिये भी सोम-सदन के द्वार बन्द रक्खे। अश्वियों ने स्वयं तो कुछ न कहा, परन्तु च्यवन आदि महर्षियों में उग्र प्रतिक्रिया हुई। सुरों ने सोम का बहिष्कार कर दिया। उन्होंने एक दूसरा प्रयोग निकाला। सुरों द्वारा आविष्कृत होने के कारण इसका नाम 'सुरा' था।

सुरा की गौरव गरिमा बढ़ाने के लिए ही 'सौत्रामणि' नाम का एक महा याग रचा गया। सुरा ही इसका प्रधान द्रव्य था। अब सोम इन्द्र जैसे अधीश्वरों की चीज थी और सुरा सर्व साधारण की। सुरा ने सोम को पछाड़ दिया। सुरा-मण्डप में सब जाते थे, परन्तु सोम के सदन में इने-गिने नेता ही। समाज ने जिसे नेतृत्व दिया वही नेता रह सका अन्यथा अपने मन से नेता बनने वाले 'अभिनेता' से अधिक और कुछ नहीं। जो हो, सोम की गरिमा को सुरा ने गिरा दिया।

सुरा की गरिमा अवश्य बढ़ी, किन्तु वैज्ञानिक दृष्टि से वह इतनी नियन्त्रित नहीं थी जितनी स्वास्थ्य के लिए होनी चाहिए। सर्वसाधारण ने इस सुरा के प्रयोग का बहुत दुरुपयोग किया। लोग अनाप-शनाप सुरा पीने लगे। स्फूर्ति और क्षमता के लिए नहीं, किन्तु मद के लिए। फल यह हुआ कि सर्वसाधारण में 'मदात्यय' रोग फैल गया। जोड़ों में दर्द, अरुचि, तृषा, जैसे भयंकर कष्टों से स्वर्ग में ही नारकीय दृश्य उपस्थित होने लगे।

अश्विनी कुमारों ने मदात्यय की सुन्दर चिकित्सा का ही आविष्कार नहीं किया किन्तु एक नये वैज्ञानिक प्रयोग का आविष्कार भी किया जिसमें सोम और सुरा के दोष न थे। इस अमूल्य प्रयोग का नाम 'अमृत' रक्खा गया। अमृत का प्रयोग नेता और जनता सभी के लिए खुला था। अमृत देव मात्र की वस्तु बन गई।[2] अश्वियों का यह प्रयोग इतना प्रसिद्ध हुआ कि आज तक हम सब चाहते हैं अमृत की एक बूंद मिल जाय तो हम भी पी लें। दुर्भाग्य, समय के फेर में अमृत का वह प्रयोग काल-कवलित हो गया।

सुश्रुत संहिता में लिखा है[3] कि सोम नाम का एक लता क्षुप चौबीस प्रकार का

1. इन्द्राग्नी चाश्विनौ चैव स्तूयन्ते प्रायशो द्विजैः।
   स्तूयन्ते वेदवाक्येषु न तथान्या हि देवताः॥ —चरक, चि० 1/4/47
2. चरक संहिता, चिकि० अ० 24। 'यथानुरूपानन्दं [illegible] यथा सुरा',—[illegible] सं० चि० 12
3. सुश्रुत संहिता, चिकि० अ० 29

होता है। इसमें प्रायः पन्द्रह पत्ते होते हैं। वे शुक्लपक्ष में प्रतिदिन एक-एक बढ़कर पन्द्रह हो जाते हैं। कृष्णपक्ष में प्रति दिन एक-एक झड़ जाता है। हिमालय, अर्बुद, सह्याद्रि, महेन्द्र पर्वत, मलयाचल, श्री पर्वत, देवगिरि, देवसह, पारियात्र, विन्ध्याचल, देवसुन्दझील, वितस्ता (झेलम) नदी के उत्तरवर्त्ती पहाड़, सिन्ध, मुञ्जवान, अंशुमान् तथा काश्मीर की झील जिसका नाम क्षुद्रमानस है, इन स्थानों में सोम लता मिलती है। इसकी जड़ में कन्द होता है, तथा तोड़ने पर दूध निकलता है। सोम के सब भेदों में पत्ते एक से नहीं होते।

सोम का पेय बनाने के लिए उसका कन्द काम में लाया जाता था। और उसे सोने की छुरी से काटना आवश्यक था। कन्द से प्राप्त होने वाला दूध सोम रस बनाने के काम आता था। सोम के चौवीसों भेदों के नाम वैदिक संज्ञाओं के आधार पर रक्खे गये थे। गायत्र, त्रैष्टुभ, पांक्त, जागत, शाक्वर, अग्निष्टोम, रैवत आदि सोमलताओं के भिन्न-भिन्न नाम प्रचलित थे। एक बार में सोमरस पीने की मात्रा साढ़े-तीन छटांक थी। द्विजों को छोड़कर अन्य को सोम पीने का अधिकार न था। सोम पीने वालों के स्वास्थ्य में विशेषता यह थी कि वे क्षीर सागर (मीठे पानी का सागर),[1] तिब्बत तथा उत्तर कुरु (सिंकियांग) में रहकर भी किसी प्रकार की बाधा अनुभव नहीं करते थे। वैदिक कर्मकाण्ड और सामाजिक मर्यादाओं का अतिक्रमण करने वाले ही शूद्र थे। वे सोम पान के अधिकारी न थे।

अश्विनी कुमारों के अमृत योग में भी सोम ही मुख्य था। परन्तु उसमें और क्या था? वह कैसे बनाया गया? यही वे प्रश्न हैं जिनका उत्तर उपलब्ध साहित्य में अभी नहीं मिल सका।[2] अमृत का योग और निर्माण विधि तो पीछे की बात है, सोम का परिचय ही मौलिक प्रश्न है। जो भी हो, सोम से निर्माण किये गये पेय के उत्कृष्ट गुणों के बारे में चरक, सुश्रुत और वाग्भट ने एक स्वर से कहा—'उस पेय का उत्कर्ष अश्विनी कुमारों की ही बुद्धि का चमत्कार है।'

अश्विनी कुमारों के नाम से कितने ही प्रयोग चिकित्सा ग्रंथों में प्राप्त होते हैं। भैषज्य-रत्नावली में वातरक्त पर 'अमृताघृत' वाजीकरण पर गुडकूष्माण्ड, बृहदश्वगन्धाघृत, गोक्षुरादि घृत, श्री गोपाल तैल; यकृत्प्लीह पर गुडपिप्पली तथा राजयक्ष्मा पर बृहद्वासावलेह आदि योग अश्विनी कुमारों के आविष्कार ही लिखे गये हैं। अन्य ग्रंथों में भी जहां तहां कुछेक प्रयोग अश्वियों के नाम से मिलते हैं। संभवतः अश्वियों की कोई संहिता रही होगी जहां से ये प्रयोग उपलब्ध किये गये।

यद्यपि 'अश्विनौदेवभिषजौ' कह कर चरक में यह स्पष्ट किया गया है कि अश्वियों तक आयुर्वेद स्वर्ग की सीमा में ही था। अश्वि के शिष्य इन्द्र ने आत्रेय, भारद्वाज आदि ऋषियों को आयुर्वेद की शिक्षा देकर इस विज्ञान को सार्वभौम कर दिया। स्वर्ग के साम्राज्य की अब कोई संहितायें उपलब्ध हैं। तो वे वेद की ही चारों संहितायें। अश्वियों का उल्लेख उन्हीं संहिताओं से सम्बद्ध साहित्य में अभी तक सुरक्षित है। ब्राह्मण ग्रंथों में ऐसे आध्यात्मिक और वैज्ञानिक उल्लेख अनेक हैं जिनमें अश्वियों के संस्मरण

1. दूधिया पानी का समुद्र कौन है? यह विचारणीय है।
2. ब्रह्मादयोऽसृजन्पूर्वममृतं सोम संज्ञितम्।
जरा मृत्यु विनाशाय विधानं तस्यवक्ष्यते ॥—सुश्रुत, चि० 29/3

उपलब्ध हैं। परन्तु यह प्रयोग कहां से लिये गये, इसका आधार गुरु शिष्य परम्परा ही हो सकता है, अथवा वे वैदिक ग्रंथ जिनमें अश्वियों का उल्लेख है।

हमने पीछे चरक का उद्धरण दिया है जिसमें कहा गया है कि वैदिक काल में तीन ही देवों ने सर्वाधिक प्रतिष्ठा प्राप्त की—अग्नि, इन्द्र और अश्विनी कुमार। उस काल में समाज में सबसे बड़ा सम्मान यही था कि प्रत्येक परिवार में किसी व्यक्ति के नाम से नित्यकर्म में आहुति दी जाय। वेदारम्भ संस्कार के प्रारम्भ में ब्रह्मा, अग्नि, धन्वन्तरि, प्रजापति, अश्विनी कुमार और इन्द्र के नाम आहुति देने के लिए आत्रेय ने सम्मानपूर्वक निर्धारित किये हैं।[1]

न केवल भारत अथवा आर्यावर्त्त की जातियों में, किन्तु पश्चिम एशिया के कैपोडोसिया (Cappodocia) (फरात के इलाके में) प्रदेशों में 1360 ई० पू० रहने वाली मितानी (Micttani) और हित्ती (Hittites) जातियों के सम्राटों में सन्धि हुई। यह सन्धि एक शिला पर उत्कीर्ण की गई। दोनों सम्राटों में वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित हुए। इस सन्धि शिला लेख में लिखा गया कि हम लोग मित्र, वरुण, इन्द्र और अश्विनी कुमारों को साक्षी मानकर यह सम्बन्ध स्थापित कर रहे हैं।[2] लोक सेवा और विद्वत्ता के आधार पर ही अश्वियों ने यह सम्मान अर्जित किया था। यह शस्त्र विद्या की नहीं, शास्त्र विद्या की ही विजय थी। और यह वह समाजवाद था जिसने विश्व में एक वह संस्कृति निर्माण की जो फिर न बन सकी।

पञ्चजन में देव और नागों की प्रतिस्पर्धा पुरानी थी। एक ओर अहंकार हो तो दूसरी ओर उनकी प्रतिध्वनि हुए बिना नहीं रहती, इन्द्र के सोम-सत्कार के पक्षपात पूर्ण रवैये पर नागों की कौन कहे, स्वयं देवों में ही प्रतिक्रिया हो गई। सोम की प्रतिस्पर्धा में ही देवों ने अमृत का आविष्कार किया और नागों ने सुधा का।

देवताओं का जन्म जात उत्कर्ष नागों ने स्वीकार नहीं किया। वे आस्तिक थे, किन्तु देवों की अनेक व्यावहारिक मर्यादायें उन्हें मान्य न थीं। सच पूछो तो ज्यादती देवताओं की ही थी। उन्होंने नागों की कितनी सुन्दरियां ले लीं थीं, परन्तु अपनी देव कन्यायें नागों को देने में उन्हें आपत्ति थी। नाग अभिजनों के प्रमुख गणनायकों की एक सभा हुई। बहुत से नागों को शिकायत थी। देवों ने उनकी कन्यायें ले लीं, किन्तु नागों को वे अपनी कन्याये नहीं देना चाहते। अभियोग में गम्भीरता थी। कन्याओं का आदान-प्रदान बन्धुत्व के समानस्तर पर ही चल सकता है।

गणपति शंकर ने निर्णय देते हुए कहा—'तुम देव कन्याओं को ले सकते हो। यदि देव उस पर आपत्ति उठायें तभी उनका प्रतिकार करना न्यायोचित होगा। गण का आग्रह था—नाग कन्याओं के बदले हमें उतनी ही देव कन्यायें मिलनी चाहिए। समान बन्धुत्व का आधार यही हो सकता है।

गणपति का निर्णय यह था कि "अनुराग न हो तो मान के लिये कन्याओं का

---

1. चरक सं०, विमान० 8,6
2. श्री हेमराज शर्मा, काश्यप सं०, उपोद्घात, पृ० 142

आदान-प्रदान व्यर्थ है। अनुराग हो तो सारी शक्ति लगाकर भी प्रेम मर्यादा कायम रक्खी जायगी। प्रेम के लिए देवों का अहंकार बाधक न हो सकेगा।"

लोग अवसर ढूंढ़ रहे थे। कैलास से लेकर नन्दन तक उन दिनों नागों के अधिपति शंकर के पराक्रम की कथायें चारों ओर सुन पड़ती थीं। स्वर्ग पर असुरों तथा दस्युओं के कई आक्रमण शंकर ने अपने पिनाक और त्रिशूल से व्यर्थ किये थे। हिमवान् के प्रजापति दक्ष की पुत्री सती अब पतिम्वरा होने जा रही थी। सती ने वे पराक्रम और प्रभाव की कथायें सुनीं तो ऐसे तेजस्वी महापुरुष को ही अपना पति बनाना मन ही मन स्वीकार कर लिया। अवसर आने पर सती का वह अनुराग माता और पिता के समक्ष प्रकट हो गया। परिजनों और बन्धुबान्धवों ने सुना। विवाह के लिए आपत्ति किसी को न थी। परन्तु देव कन्या नाग को कैसे दी जाय? यही उलझन नहीं सुलझ रही थी। तो भी सती शंकर का प्रेम पाने के लिए दृढ़ थी।

पिता ने समझाया। मां ने उ—मा[1] कहकर प्यार से रोका परन्तु सती देवों और नागों के संकीर्ण अन्तर से रहित प्रेम का विशाल साम्राज्य निर्माण कर रही थी। वह अपने प्रण से न हटी।

एक दिन वीर भद्र ने आकर गण के अध्यक्ष शंकर को सूचना दी—'महादेव! प्रजापति दक्ष की कन्या सती ने प्रण किया है, वह आपको अपना पति बनाएगी।' शंकर सुनकर गम्भीर हो गये। गण के सभासदों में उत्सुकता फैल गई। वे देखना चाहते थे शंकर इस प्रेम-याचना पर क्या प्रतिदान देंगे?

बेटी का आग्रह टाला न जा सका। माता-पिता को झुकना पड़ा। दक्ष ने शंकर के पास विवाह का प्रस्ताव भेज दिया। शंकर ने सहर्ष स्वीकार किया। कैलाश से नन्दन तक आनन्द ही आनन्द छा गया। शंकर और सती के मंगल में गाये गये किन्नरियों, नागियों और देवियों के गीत-स्वर मानसरोवर की तरंगों पर आन्दोलित हो उठे।

शंकर की बारात आई। नन्दन में कल्प तरु के लता मण्डप में बैठकर विवाह-वेदिका पर ऋचाओं द्वारा ब्रह्मदेव ने यज्ञ सम्पन्न किया। दक्ष और मेना ने अपनी कन्या का दान शंकर की अञ्जलि में दे दिया। देवताओं को ऐसा लगा मानो सती के साथ उन का सम्मान चला गया।

सती शङ्कर की पत्नी हो गई। परन्तु देवों ने उसका बहिष्कार किया। फिर भूल कर भी पिता ने बेटी अपने घर न बुलाई। पति को देकर माता-पिता पुत्री को भले ही भूल जायें किन्तु पुत्री माता-पिता को नहीं भूलती। दक्ष ने पारिवारिक भार से मुक्त होकर राजसूय यज्ञ किया। प्रमुख-प्रमुख गणपति और देव आये, किन्तु सती और शंकर को निमन्त्रण तक न पहुंचा। फिर भी सती शंकर से अनुरोध पूर्वक आज्ञा लेकर पितृ प्रेम का आदर लिए दक्ष के घर आ ही गई। किन्तु सती को प्रेमका प्रति फल तिरस्कार मिला। माता और पिता में वात्सल्य के स्थान पर उसने घृणा पाई। किसी ने उसे दुश्चरित्र कहा, किसी

1. *उमेति मात्रा तपसोनिषिद्धा पश्चादुमाख्यां सुमुखी जगाम'—कालिदास*
"(उ) बेटी! (मा) शंकर से विवाह न कर"—कुमार संभव

ने कुल कलंक, और किसी ने पतिता। किसी ने शंकर को अधम कहा, किसी ने कामी। पति का अपमान पत्नी को सह्य न हुआ। पति और उसके वंश की सम्मान रक्षा के लिये सती ने देवत्व को दांव पर रख दिया। क्षण भर में लोगों ने देखा कि यज्ञ कुण्ड की प्रज्वलित ज्वाला में कूदकर वह हव्य की भांति भस्म हो गई।[1]

तीव्र गामी गणों ने इस अनर्थ की सूचना शीघ्र ही शंकर को दे दी। शंकर के क्रोध का ठिकाना न रहा। उन्होंने गण सैनिकों को तुरन्त एकत्रित करके कहा—'सेनानियों! प्रेम परिपाटी को जातीय अहंकर के लिए नष्ट करने वाले देवों को दण्ड देने के लिए अपने धनुष सज्य करो। देवों ने स्वयं अपनी ही कन्या के सतीत्व का निरादर किया है, वे नाग कन्याओं के सतीत्व की रक्षा क्या कर सकेंगे? ब्रह्मा, दक्ष, इन्द्र और उपेन्द्र ने जातीय अहंकार के लिए अपनी ही पुत्री का बलिदान करके जिस अनर्थ का पोषण किया है, उसके लिए उन्हें पूरा प्रायश्चित्त करना पड़ेगा। नन्दन और देवलोक के ऐश्वर्य के लिए नहीं, नैतिक आदर्श के लिए रौद्र भावना का उद्भावन करो।' सबने ओंकार की उच्च ध्वनि के साथ गणपति के प्रस्ताव का स्वागत किया।

पराक्रमी शंकर के सेनापतित्व में नाग सेना देव लोग में प्रलयंकर रूप लेकर प्रविष्ट हो गई। इन्द्र के जो योद्धा समक्ष आये, नागों के पराक्रम से चकनाचूर हो गये। पिनाकी की बाण वर्षा ने नन्दन का सारा आनन्द छिन्न-भिन्न कर डाला। राजसूय यज्ञ की वेदिका पर पहुंच कर शंकर ने होता, अध्वर्यु, उद्गाता, यजमान और ब्रह्मा आदि सारे ऋत्विजों के सिर धड़ से अलग कर दिये। नाग सेनानियों ने यज्ञ कुण्ड को मल मूत्र से भर दिया। देव और देवियां डरके मारे भाग-भाग कर पर्वत की गुहाओं, लताओं और कन्दराओं में छिप गये।

इन्द्र ने देखा, देववंश का समूल नाश हुआ चाहता है। शंकरको शान्त किये बिना देवों की कुशल नहीं। उन्होंने दौड़कर आशुतोष के चरणों में मस्तक टेक दिया। ब्रह्मा ने क्षमायाचना करते हुए दया की भिक्षा मांगी। गिड़गिड़ाते हुए देव राज इन्द्र और ब्रह्मा को देखकर शंकर ने नाग सेनानियों को युद्ध रोकने का आदेश दे दिया। क्षण भर में प्रत्येक योद्धा ने धनुष की प्रत्यञ्चा उतार दी। तीर तरकस में रख लिये। सेना को लौटने का आदेश देकर भगवान शंभु कैलाश पर समाधि में तल्लीन हो गये। क्रोध की ज्वाला असम्प्रज्ञात समाधि में शांत हो गई।

नन्दन के पुनर्निर्माण का कोई मार्ग इन्द्र को न सूझता था। श्मशान जैसा वीभत्स स्वर्ग इन्द्र के हृदय को व्याकुल कर रहा था। अमर देवों को भी शंभु ने मार दिया। इन्हें कौन जिला सकेगा? स्वर्ग की संस्था का पुनरुद्धार उन्हीं मरे हुए देवों के पुनर्जीवन के साथ सम्बद्ध था। इन्द्र समेत बचे-खुचे देवों ने अश्विनी कुमारों की शरण ली। वे दोनों हैं देव-भिषक्! नन्दन निवासियों के ही क्या, यज्ञ पुरुषों तक के सिर शंकर ने काट डाले हैं। इनके बिना देव संस्था सूनी और व्यर्थ है। यह देव लोक श्मशान बन गया है।

---

1. अथावमानेन पितुः प्रयुक्ता दक्षस्य कन्या भव पूर्व पत्नी।
   सती सती योग विसृष्ट देहा तां जन्मने शैलवधूं प्रपेदे॥

—कुमार सम्भव 1,21

हमारे हृदय में आपके लिए सर्वोच्च प्रतिष्ठा होगी, यदि आप यह कटे हुए सिर फिर से जोड़ दें। हमें विश्वास है इन रुण्ड-मुण्डों में आप फिर से जीवन संचार करने में समर्थ हैं।

सेवा व्रत परायण अश्विनी कुमारों ने 'तथास्तु' कह कर देवों की प्रार्थना स्वीकार करली, और अपनी अद्भुत योग्यता से कटे हुए सिर फिर से जोड़ दिये।[1] नन्दन में जीवन की चेतना का नया प्रभात हुआ। याज्ञिक सजीव होकर फिर से शांति पाठ पढ़ने लगे। फिर से सजीव होकर यजमान दक्ष ने प्रायश्चित्त की आहुति डाली। यज्ञ अभीष्ट के लिये नहीं, प्रायश्चित्त के लिये समाप्त हुआ। देवों के अमरत्व की कहानी समाप्त हो गई होती यदि अश्विनी कुमारों की करुणा मूर्त न होती। देवों की मृत्यु ही आयुर्वेद के अमरत्व का इतिहास बन गई।

उस युग में यज्ञ का हविशेष तथा आहुति भाग पाना सर्वोच्च सम्मान था। यज्ञ की अन्तिम आहुति अश्विनी कुमारों के सम्मान में छोड़ी गई। और इन्द्र ने हविशेष में उन्हें भी भागीदार बनाया।[2]

० ० ०

नाग लोक में मैनाक पर्वत पर विन्दुसर के किनारे वीरभद्र की अदालत लगी हुई थी। गणाग्रणी (सरकारी वकील) ने पूषा और भग को न्यायाधीश के समक्ष पाशबद्ध लाकर पेश किया। डरके मारे दोनों के शरीर थरथर कांप रहे थे। उन्होंने नन्दन में अपने वंशजों के सिर कटते हुए देखे थे यज्ञपुरुषों के ऊपर पिनाकी और स्वयं वीरभद्र के निर्मम प्रहारों की याद से ही उनका हृदय संज्ञा शून्य हो रहा था। गणाग्रणी ने पहिले पूषा के अपराध का उल्लेख अदालत के सामने किया।

"आदिति के पुत्र इस पूषा ने भगवान् शंकर के रूप का उपहास किया था। जब-जब महादेवी सती ने अपने पति देव के प्रति तिरस्कार पूर्ण आलोचनाओं को रोकने का उद्योग किया, इसने दाँत दिखा कर अट्टहास किया था।"

वीरभद्र ने न्याय घोषित किया—"पूषा का अपराध सिद्ध है। मैं आज्ञा देता हूं इसके सारे दांत तोड़ दिये जायें।" पूषा के सारे दांत तोड़ दिये गये।

अब दूसरे नम्बर पर गणाग्रणी ने भग को अदालत के सामने खड़ा किया। "इस भग ने महादेवी सती को आंखें दिखाकर धमकाया था। महादेवशंकर के विरुद्ध आंखें मटका कर उपहास करने वालों में यह अग्रणी है।"

न्यायाधीश ने घोषणा की—"इस दुष्ट की दोनों आंखें फोड़ दी जायें।" भग की दोनों आंखें फोड़ दी गईं।

दांत तोड़कर और आंखें फोड़कर पूषा और भग छोड़ दिये गये। नन्दन में पहुंचने पर उन्हें देखते ही देवों के दिल दहल गये। अब देव लोक पर नागों का आतंक मध्याह्न के सूर्य की भांति तप रहा था। किसी की क्या शक्ति थी जो इसका प्रतीकार कर सके।

---

1. दक्षस्य हि शिरश्छिन्नं पुनस्ताभ्यां समाहितम्' —चरक सं०, चिकित्सा० 1/4/40
2. सुश्रुत संहिता, सूत्र० 1/17

इन्द्र ने पूषा और भग को अश्वियों की ही शरण जाने का आदेश दिया। वे गये। अश्वियों के हृदय में उनके लिए करुणा का समुद्र उमड़ पड़ा। दोनों को आश्वासन देकर अश्वियों ने एक-एक सिद्ध औषधि पिलाई। थोड़े ही समय में पूषा के सुन्दर दांत फिर से चमकने लगे और भग की आंखों में ज्योति का उदय हो गया। अश्वियों के आगे श्रद्धा से उनके सिर झुक गये।

कृतज्ञता से प्रेरित पूषा और भग ने अपने सहयोगी महर्षियों को एकत्रित करके व्यवस्था दी कि प्रातःकाल सबसे प्रथम अश्वियों की वन्दना की जाया करे। स्तुति के लिये एक विशेष सूक्त उन्होंने प्रचलित किया, जिस के द्वारा केवल नन्दन में ही नहीं, सम्पूर्ण त्रिविष्टप में प्रातः काल देव और पितर अश्वियों की स्तुति करने लगे।[1]

o o o

महर्षि अत्रि[2] उन दिनों ब्रह्मपुरी छोड़कर पत्नी चन्द्रभागा (अनसूया) तथा पुन-र्वसु और चन्द्रदेव दोनों पुत्रों के साथ ब्रह्मावर्त की राजधानी शतरूपा में आये हुए थे, जब अन्य देवताओं ने उनके प्रतिभाशाली पुत्रों का परिचय प्राप्त किया। दक्ष प्रजापति के भाग्य में कन्यायें ही लिखी थीं। अपनी कन्याओं के लिए योग्य वर की खोज में वे दिन-रात बेचैन थे। शंकर के साथ एक बेटी व्याही अवश्य गई, परन्तु उस कथा में जो व्यथा थी, वे उसे फिर दोहराना नहीं चाहते थे। चन्द्रदेव जैसा सुन्दर युवक सारी ब्रह्मपुरी (थियान-शान) में न था। इसीलिए ऐसे गुणी और रूप यौवन सम्पन्न वर के लिए दक्ष ने अत्रि से प्रार्थना की। पिता ने पुत्र का अभिमत जान कर विवाह की स्वीकृति दे दी।

अब दक्ष की बड़ी बेटी का नाम भी अश्विनी ही था। बिना किसी संकल्प विकल्प के उन्होंने अश्विनी चन्द्रदेव को व्याह दी। अश्विनी चन्द्र जैसा पति पाकर बहुत आह्ला-दित हुई। दूसरी बहिनों के सामने अश्विनी ने अपने सौख्य और सौभाग्य का जो चित्र उपस्थित किया उस पर उन्हें भी ईर्ष्या थी। चन्द्रदेव जैसा सुरूप, स्वस्थ और प्रतिष्ठित दूसरा वर था भी कहां? अश्विनी से छोटी बहिन भरणी के यौवन की कलिका अब मुस्कराती जा रही थी, दक्ष ने चन्द्र से उसी जैसा दूसरा वर पूछा। चन्द्र ने कहा अपने जैसा दूसरा वर मैं नहीं जानता। परन्तु भरणी का आग्रह तो वैसा ही वर पाने के लिए था। वैसा ही प्रतिमान, वैसा ही सौन्दर्य, वैसा ही वैभव।

चन्द्रदेव ने भरणी का सौन्दर्य अश्विनी से दो अंगुल अधिक देखा। आखिर हास, लास और विलास भरे उनके स्वर, आनन की माधुरी पर चन्द्रदेव का मन मधुप मडराने लगा। एक दिन प्रसंग वश चन्द्रदेव ने अपने श्वसुर दक्ष से कह ही दिया—'यदि भरणी चाहे तो उसके जीवन का उत्तरदायित्व लेने को भी मैं तैयार हूं।' भरणी ने भी मन्दस्मित मुस्कान से स्वीकृति दे दी। दक्ष ने कन्यादान का पुण्य पा लिया।

दक्ष की दो बेटियों ने चन्द्रदेव को जो सुख और सन्तोष दिया उससे उसकी लालसा लज्जा की दीवार तोड़कर स्वच्छन्द विहार के लिए उत्सुक हो उठी। दक्ष

---

1. 'प्रातरग्निं प्रातरिन्द्रं हवामहे प्रातर्मित्रावरुणा प्रातरश्विना' —ऋग्वेद 7/41/1
2. श्रीमद्भागवत, स्कन्द 9-15/1/3

की तीसरी बेटी कृत्तिका का सम्बन्ध भी आखिर चन्द्रदेव ने स्वीकार कर लिया। वह भी चन्द्र की पत्नी हो गई। दक्ष की अब चौथी बेटी रोहिणी थी। रूप लावण्य में अनन्य। विधाता ने सारी रूप राशि उसके निर्माण में समाप्त कर दी। प्रकृति ने अप्रतिम सौन्दर्य के साथ उसे ऐसा हाव-भाव प्रदान किया था जो किसी अन्य युवती में सुलभ न था। चन्द्र देव जब कभी अपने श्वसुर के घर आते मान सरोवर के मुक्ता हार, ब्रह्मपुरी के रत्नाभरण, और देव गिरि के दुशाले रोहिणी को उपहार देना न भूलते। आखिर रोहिणी के पतिवरा होने का दिन आ गया। रोहिणी के मन में चन्द्रदेव के सिवा और कोई न था। स्वयंवर हुआ। रोहिणी के अभिलाषियों में चन्द्रदेव भी जा बैठे। रोहिणी ने चन्द्रदेव के गले में ही वर माला डाल दी। चन्द्र ने प्रेम-स्मित से रोहिणी को अपनी पत्नी स्वीकार कर लिया। दूसरे देवताओं को चन्द्रदेव का यह निर्लज्ज प्रणय अच्छा न लगा। सबने उसका निरादर करते हुए कहा—'यह निर्लज्ज है।' 'यह—कामी है।'

कामुकता ने लज्जा और मर्यादा को मेट दिया। चार की कौन कहे, दक्ष की अट्ठाईस बेटियों को चन्द्रदेव ने अपनी भार्या बना लिया। वासना पूर्ति के लिए सारी पत्नियां भले ही रहीं, किन्तु चन्द्रदेव का प्रेम रोहिणी को ही मिला। रोहिणी में अत्यन्त आसक्ति के कारण चन्द्रदेव को विश्व का सब कुछ भूल गया। यह क्रम कुछ ही काल में सपत्नियों को असह्य हो उठा। परन्तु चन्द्रदेव को यह ध्यान कहां था कि रोहिणी के अतिरिक्त अन्य सत्ताईस पत्नियां भी उससे कुछ आशायें लेकर ही आई थीं। परिवार में विद्रोह हो गया। सारी बहिनों ने चन्द्र और रोहिणी के इस अन्याय की शिकायत अपनी माता और पिता से कर दी। दक्ष ने चन्द्र को बहुत समझाया। परिवार के अन्य परिजनों ने चेतावनी दी। किन्तु वासना के प्रवाह में प्रेम और कर्त्तव्य पहुंच के बाहर हो चुके थे।[1]

ब्रह्मदेव ने ब्राह्मणों (शिक्षा), ओषधियों (चिकित्सा), तथा नक्षत्रों (खगोल), की व्यवस्था चंद्रदेव को इस विचार से सौंप दी कि संभव है उत्तरदायित्व की भावना चन्द्रदेव को सुमार्ग पर ला दे। परन्तु अधिकार पाकर वह और उद्दण्ड हो गया। प्रभुता अविवेक की सहचरी होकर ही कृतार्थ होती है। इस प्रभुता के अहंकार में उसने असुर गुरु शुक्राचार्य के बहकाने से देव गुरु बृहस्पति की पत्नी तारा से बलात्कार किया। चन्द्रदेव के इस निन्दनीय आचरण से पतन की सीमा न रही। बृहस्पति ने उसे इतना अमर्यादित देखकर सन्तप्त हृदय से कहा—'दुष्ट, तू जिस शारीरिक सौन्दर्य के अभिमान से यह सारे कुकर्म करता है वह शीघ्र ही जीर्ण-शीर्ण और निकम्मा हो जायेगा।' दक्ष ने जामाता के इस अन्याय से क्षुब्ध होकर कहा, 'चन्द्रदेव को ऐसा फल मिले जिससे वह स्त्रियों की घृणा का पात्र हो जाय।'

थोड़े ही दिनों में चन्द्रदेव को भीषण राजयक्ष्मा रोग हो गया। वह दिन-रात ज्वर से सन्तप्त रहने लगा। खांसी के कारण बोलना भी शक्य न था। देह का स्नेह शुष्क हो गया। कान्ति जाती रही। सोने सी काया हड्डियों का कंकाल रह गयी। सास, ससुर

---

1. रोहिण्यामति सक्तस्य शरीरं नानुरक्षतः।
आजगामल्पतामिन्दोर्देहः स्नेह परिक्षयात्॥ —चरक सं०, चि० 8/2-7

और पत्नियों का सन्ताप चन्द्रदेव का सन्ताप हो गया। बहुत सी पत्नियां बटोरने का सुख भीषण दुःख का कारण बना। उमड़ी हुई काम वासना निदाघ में सरिता की भांति सूख गई। आज बेचारी रोहिणी ही क्या, अट्ठाईस पत्नियां चन्द्रदेव के दुर्दिनों पर आंसू गिरा रही थीं। उनके कोई सन्तान न थी। असहाय चन्द्रदेव अपनी वासना का प्रायश्चित करने में दिन-रात व्यतीत कर रहा था।

चन्द्रदेव ने देखा, अब जीवन की शृंखला टूटना चाहती है। उसे अपनी करतूत पर पश्चात्ताप हुआ। आखिर सास और ससुर के चरणों में क्षमा याचना करते हुए सहयोगी की याचना की। जामाता और बेटियों के वात्सल्य ने हृदय द्रवित कर दिया। दक्ष ने अश्विनी कुमारों को सादर स्मरण किया। वे आये। चन्द्रदेव ने टूटते हुये स्वर में जीवन की भिक्षा मांगी। अश्वियों ने इस भीषण स्थिति में भी जीवन का आश्वासन दिया। सोम और सुरा का अत्यन्त पान एवं विषयव्यासक्ति से चन्द्रदेव का ओज-क्षय होने पर भी अश्वियों ने अट्ठाईस देवियों के सौभाग्य की सुरक्षा का उत्तरदायित्व अपने ऊपर ले लिया।[1]

चिकित्सा सरल न थी। प्राणियों में इससे पूर्व राजयक्ष्मा रोग सुना भी नहीं गया था। परन्तु अश्वियों ने रोग का निदान ढूंढ़ लिया और चिकित्सा के उपादान जुटा दिये। धीरे-धीरे चन्द्रदेव नीरोग होने लगे। अट्ठाईसों पत्नियों ने प्रतिदिन अश्वियों की श्रद्धा पूर्वक नीराजना की। इस महान उपकार का और प्रतिदान हो ही क्या सकता था?

चन्द्रदेव के जीवन की रक्षा हो गई। अब गये हुए रूप और यौवन की नहीं, दिन-रात अपने कर्त्तव्य की चिन्ता ही उसका प्रधान लक्ष्य बन गई थी। अपने बड़े भाई आत्रेय पुनर्वसु की भांति चन्द्रदेव भी अन्धकार में भटकने वालों को जीवन के प्रकाशमय पथ पर लाने के लिए तत्पर रहे। दक्ष की अट्ठाईस बेटियों के सौभाग्य की रक्षा के फलस्वरूप यह अमर कहानी अश्विनी कुमारों को पुरस्कार में मिली।

भारतीय इतिहास में साध्यगण, ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य और आठ वसुओं के अतिरिक्त दोनों अश्विनी कुमारों को भी प्रजा का पालक स्वीकार किया गया।[2]

o o o

उस युग में सौवीर (गुजरात) और आनर्त (कच्छ-काठियावाड़) दोनों सम्मिलित देश थे। वैडूर्य पर्वत (सतपुड़ा पहाड़) के दक्षिण में पयोष्णी (ताप्ती नदी) उसकी अन्तिम सीमा थी। दक्षिण में उत्तरा-खण्ड के आर्यों का विजय स्तम्भ नहीं गड़ा था। इसी स्मृति को अक्षुण्ण रखने के लिए उन दिनों वैडूर्य पर्वत का निवास और ताप्ती अथवा नर्मदा का स्नान महापुण्य का दाता समझा जाता था, यह राष्ट्र धर्म था। देश के सीमान्त तक यात्रा करने से पुण्य लाभ की भावना में, बाह्य आक्रमणों में अपने देश की सुरक्षा होने की राजनैतिक भावना ही प्रधान है। राष्ट्र के प्रत्येक व्यक्ति को उस सीमा से प्रेम रहता है। इस राष्ट्र धर्म को राजा से लेकर प्रजा तक

1. [illegible] ताभ्यां [illegible] राज यक्ष्मणा।
   [illegible] पुनः सुखी॥ —चरक, चि० 1,4,42
2. महाभारत, वन पर्व 2,80

सभी निभाते थे। इसी भावना से देश के पराक्रमी सम्राट शर्याति अपनी रानियों तथा सेना को साथ लेकर उस ओर गये। इस तीर्थ यात्रा में निवास के लिये नर्मदा नदी के किनारे एक सुन्दर सरोवर के चारों ओर हरी-भरी रमणीय भूमि देखकर राजा ने अपना पड़ाव वहीं डाला। राजा के सुकन्या नाम की परम सुन्दरी एक बेटी थी। उसने यौवन की सुरा का एक घूंट ही पिया था कि उसकी कान्ति अन्धकार में दीप शिखा की भांति चमक उठी।

प्रभात होते ही राजा शिकार खेलने गये। इधर सुकन्या नव यौवन का सौरभ संचार करती हुई सहेलियों के साथ वन विहार को निकली। वह सरोवर के चारों ओर लता वल्लरियों के फूल चुनकर और डालियों पर झूम-झूमकर सहेलियों के साथ क्रीडा करने लगी। भृगु पुत्र महर्षि च्यवन उसी तालाब के एक किनारे चिरन्तन समाधि में तल्लीन हो तपस्या कर रहे थे। कालान्तर से बैठे-बैठे महर्षि के चारों ओर मिट्टी का इतना बड़ा ढेर इकट्ठा हो गया कि वे उसी में ढक गये। घास और पौधे उस पर उग रहे थे। देखने में मिट्टी के टीले के समान प्रतीत होने वाले उस ढेर में च्यवन की दोनों आंखें तारे के समान चमक रही थीं। सुकन्या सहेलियों के साथ इठलाती हुई उसी स्थान पर अकेली पहुंच गई। उसने मिट्टी के ढेर में चमकती हुई दो तारिकायें देखकर प्रकृति सुलभ चंचलता और कौतूहल के कारण एक बड़ा सा कांटा लेकर उन्हें कुरेदने को हाथ बढ़ाया। च्यवन ने उस अबोध रूप राशि को हाथ बढ़ाते देख तो लिया, किन्तु वे रोकने में असमर्थ थे। कांटे ने चुभकर च्यवन की दोनों आंखें फोड़ दीं। सुकन्या ने देखा, दोनों तारिकायें अस्त हो गई हैं, और उन छिद्रों से रक्त की धारा बहकर बाहर आने लगी। अबोध तरुणी का हृदय शंका से आन्दोलित होकर 'धक्' से हो गया। वह किसी अलक्षित भय का अनुभव अवश्य करती थी, परन्तु यह क्या हुआ, उसकी समझ में न आया। अन्यमनस्क होकर किसी से बिना कहे सुने, सखियों को साथ लेकर वह शिविर को वापिस चली आयी।

कहते हैं च्यवन ऋषि ने तपोबल से महाराज शर्याति और उनके साथियों पर ऐसा प्रभाव किया कि उनका मलमूत्र अवरुद्ध हो गया। भीषण व्यथा से लोग बेचैन थे। शर्याति इस आगन्तुक आपत्ति को देखकर तुरन्त समझ गये, हममें से किसी ने इस तपोबन में किसी तपस्वी को कष्ट दिया है। यह उसी का दण्ड है। पूछ ताछ हुई। सुकन्या ने सारी घटना कह सुनाई। शर्याति अपनी बेटी के अपराध से घबड़ाकर वहां गये, जहां च्यवन बैठे थे। मिट्टी हटाकर महर्षि च्यवन को निकाला गया। राजा ने अपना अपराध मानकर क्षमा याचना की। च्यवन बोले—'तो सम्राट ! यदि वह सुन्दरी मेरी पत्नी बनकर मुझ अन्धे की सेवा करे तो तुम्हारे सारे क्लेश मिट सकते हैं। राजा के सामने स्वीकृति के सिवा कोई मार्ग न था। सुकन्या भी कुछ अबोध न थी। वह समझ चुकी थी। महर्षि का विद्रोह करने पर जीवन का भविष्य कितना भीषण हो सकता है। राजा ने स्वीकृति दे दी। और सुकन्या ने बिना किसी आपत्ति के बूढ़े और अन्धे च्यवन को अपना पति स्वीकार कर लिया। शर्याति और उनके साथी सुकन्या को च्यवन की सेवा में छोड़कर घर लौट आये। उन्हें संकट से छुटकारा मिल गया।

पतिव्रता सुकन्या बूढ़े और अन्धे च्यवन को पति स्वीकार करने के क्षण ही अपने अपराध का प्रायश्चित कर चुकी थी। अब तो पति परायणा होकर वह पति सेवा का पुण्य ही संचय कर रही थी। सच पूछो तो च्यवन से सुकन्या का तप कहीं ऊंचा हो गया। च्यवन का कामी मन पत्नी का गृहस्थ सुख पाने के लिये जितना ही लोलुप था, उतना ही उनका शरीर वृद्धावस्था के कारण सर्वथा जर्जरित और शिथिल हो चुका था। तीव्रगामी घोड़ों से जुते, किन्तु टूटे पहियों वाले रथ की भांति च्यवन का जीवन शकट कठिनाई से खिंच रहा था। किन्तु वासनाओं पर विजय का प्रतीक बनकर प्रतिव्रता सुकन्या पति सेवा में दिन-रात दत्त-चित्त थी। च्यवन सुकन्या से अत्यन्त सन्तुष्ट और प्रसन्न थे।

एक दिन भ्रमण करते हुए अश्विनी कुमार नर्मदा तट पर जा रहे थे। मार्ग में च्यवन का आश्रम मिला। अश्वियों ने देखा एक तरुणी बूढ़े और अन्धे पुरुष की सेवा में रूप और यौवन की भेंट चढ़ा रही है। उन्होंने समीप जाकर पूछा—'देवि! तुम कौन हो? यह वृद्ध कौन हैं? इस निर्जन वन में तुम किस कारण इनकी सेवा कर रही हो?' सुकन्या ने उत्तर दिया—'मैं सम्राट शर्याति की राजकुमारी सुकन्या हूं और यह महर्षि मेरे पति हैं। मेरे ही अपराध से इनके नेत्र जाते रहे। छलकते नेत्रों से सुकन्या ने कहा—'यदि आप हम पर दयालु हों तो इस संकट में सहारा दीजिये।' इतना कह कर सुकन्या और महर्षि च्यवन ने आदर पूर्वक उन्हें आसन दिया।

महर्षि च्यवन ने अपनी स्थिति का वर्णन करते हुए कहा—'हे अश्वियो! तुम सब प्रकार से योग्य और समर्थ हो। इसलिये मुझे युवावस्था दो। इसके प्रत्युपकार स्वरूप यज्ञ के अवसर पर इन्द्र आदि प्रमुख देवों के साथ मैं तुम्हें भी सोम-रस पिलाकर सम्मानित करूंगा।' अश्वियों ने च्यवन के अनुनय को स्वीकार करते हुए कहा—'महर्षि! इस सरोवर में हमारे साथ गोता लगाओ, किन्तु पहिले हमारी सिद्ध की हुई यह ओषधि खा लो। तुम्हारा अभीष्ट सिद्ध हो जायेगा।' च्यवन तैयार हो गये। अश्विनी कुमारों के साथ च्यवन ने गोता लगाया। कुछ ही समय के उपरान्त जल के बाहर एक सी कमनीयता और सुन्दरता लिये तीन युवक निकले। सुकन्या देखकर चकित हो गई।[1] कुछ क्षण वह यही न पहचान सकी कि अश्विनी कुमार कौन हैं, और उसके पति च्यवन कौन? आखिर तल्लीन होकर अपनी प्रतिभा पूर्ण सत्य निष्ठा के कारण उसने च्यवन को पहचान लिया। सुकन्या और च्यवन मिलकर अत्यन्त प्रसन्न हुए। सम्राट शर्याति ने जब यह सन्देश सुना तो प्रसन्नता और सन्तोष पूर्वक दोनों से मिलने आये। शर्याति के हृदय में अश्विनी कुमारों के लिए असीम श्रद्धा थी।

यौवन प्राप्त कर च्यवन ने राजा से कहा, 'राजन्! आप एक यज्ञ कीजिये। मैं उसका आयोजन करूंगा। राजा ने वैसा ही किया। यज्ञ के समय आये हुए देवेन्द्र प्रमुख

1. यह जल के अन्दर 'कुटी प्रावेशिक-रसायन' का एक प्रकार है। चरक संहिता चिकित्सास्थान 1/1/74 में इस कुटी प्रवेश की विधि यौवन प्राप्ति के लिए लिखी गई है। [illegible] यह विधि [illegible] 'च्यवनप्राश' नाम से विख्यात है।

[illegible] चरक सं., चि., 1/1/72—[illegible] चिकित्सा स्थान, अध्याय 1 में इस प्रयोग का विस्तृत विवरण देखना चाहिये।

देव जब सोम पीयियों की श्रेणी में बैठे, च्यवन ने अश्विनी कुमारों को प्रथम सम्मान देने के लिये जैसे ही सोम-पात्र उठाया, इन्द्र ने आवेश में कहा—'यह अश्विनी कुमार स्वर्ग में वैद्य व्यवसाय के कारण घर-घर फिरते हैं। रोगियों के मल-मूत्र की परीक्षा आदि के कारण उन्हें सदैव अशौच रहता है। इन्हें सोम पान में स्थान नहीं मिलना चाहिए।'

च्यवन ने कहा—'इन्द्र ! ये अश्विनी कुमार बड़े उपकारी हैं। इन्होंने मेरा ही नहीं चन्द्रदेव जैसों का कल्याण किया है। यह भी देव वंश में ही उत्पन्न हुए है। इस कारण इन्हें भी सोमपान का पूरा अधिकार है।' परन्तु इन्द्र अपने साथ बैठा कर अश्वियों को सोम पीने का विरोध करते ही रहे। च्यवन ने इन्द्र की बात पर ध्यान न देकर अश्वियों को भी सोम वितरित कर दिया। इन्द्र ने इसे अपना अपमान समझ कर च्यवन को मार देने के लिये अपना वज्र उठा लिया। किन्तु इन्द्र ने जैसे ही वज्र उठाया, च्यवन ने एक गम्भीर दृष्टि से इन्द्र की ओर देखा—देखते-देखते इन्द्र की दोनों भुजाएं निकम्मी हो गई। वज्र छूटकर भूमि पर गिर पड़ा।[1]

अपने दोनों हाथ निकम्मे देखकर इन्द्र बहुत घबड़ाये। आवेश जाता रहा। अत्यन्त नम्र होकर उन्होंने च्यवन से कहा 'महर्षि ! अश्विनी कुमार यज्ञों में सोम पान किया करें, मैं भविष्य में इनका कभी विरोध न करूंगा। मेरे यह दोनों निकम्मे हाथ अच्छे करो।' च्यवन ने उत्तर दिया—'यह कठिन कार्य अश्विनी कुमार ही कर सकते हैं।'' इन्द्र ने अश्वियों से विनय की—'हे अश्वियो ! मेरे दोनों हाथ स्वस्थ करो। मैं यज्ञ में तुम्हें सोम पान का अधिकारी मानता हूं। भविष्य में तुम्हारा विरोध न करूंगा।' अश्विनी कुमारों ने इन्द्र के पिछले कामों को भुला कर करुणा पूर्ण हो उनकी दोनों भुजाओं को स्वस्थ कर दिया। 'सौत्रामणि' तथा 'प्रातःसवन' जैसे महायागों में इन्द्र अपने समान आसन देकर अश्विनी कुमारों को सोम-पान का सम्मान देना फिर कभी नहीं भूले।[2] न केवल इतना ही, उसके बाद अश्वियों को अपना गुरु मान कर वे उनकी पूजा करने लगे।

o o o

अश्वियों का सबसे विरोधी ही उनका एक मात्र शिष्य हो गया। वैदिक संहिताओं में आयुर्वेद के मौलिक विचार भले ही थे, परन्तु देवता उनके अध्ययन की उपेक्षा कर रहे थे। जीवन का यह विज्ञान सम्हालने वाले अश्वियों की यह योग्यता ही थी कि इन्द्र जैसे अहंकारी व्यक्ति को उन्होंने न केवल आयुर्वेद का भक्त ही बना दिया, प्रत्युत अपना शिष्य भी बना लिया।[3] स्वर्ग में आयुर्वेद की ऐतिहासिक परम्परा में चार कड़ियां ही जुड़ी थीं ब्रह्मा, प्रजापति, अश्विनी कुमार और इन्द्र। किन्तु अश्विनी कुमारों ने आयुर्वेद को केवल विद्यालय में ही सीमित नहीं रक्खा, केवल प्रयोग शाला के कक्ष में ही

---

1. महाभारत, वनपर्व 123-124 अध्याय, तथा निरुक्त दुर्गाचार्य भाष्य, पूर्व षडक, 4/3/3
2. वज्रिणश्च भुजस्तम्भस्ताभ्यामेव चिकित्सितः।
भार्गवश्च्यवनः कामी वृद्धःसन् विकृतिं गतः।
वीतवर्ण स्वरोपेतः कृतस्ताभ्यां पुनः सुखी ॥ —चरक० चिकि० 1/4/41-48
3. अश्विभ्यां भगवान शक्रः प्रतिपेदेह केवलम्—चरक सू० 1/5

उसके आंकड़े नहीं लिखते रहे, किन्तु जन साधारण की सेवा में उपयोग किया, और लोकप्रिय बना दिया। आर्य जाति में वैद्य का सम्मान स्थापित करने वाले प्रथम अश्विनी कुमार ही थे।

० ० ०

महर्षि अत्रि से असुर लोग किसी कारण नाराज थे। एक बार असुरों ने अत्रि को बन्दी बना लिया। आखिर असुरों ने निश्चय किया कि इस अत्रि को थोड़ा-थोड़ा जलाकर मार डाला जाय। इस योजना के अनुसार एक वध्य स्थान में भूसे के ढेर में अत्रि को गले तक गाड़कर चारों ओर से आग लगा दी। इस वध्य स्थान में चारों ओर से हवा आकर अग्नि प्रज्वलित होने के लिये सौ द्वार थे। बेचारे अत्रि इस प्राण संकट में अत्यन्त दुःखी होकर अश्वियों की याद कर रहे थे। इधर उनके अंग-प्रत्यंग भूसी की आंच में धीरे-धीरे सुलग रहे थे। किसी सूत्र से अश्वियों को अत्रि ऋषि पर आये हुए इस संकट की सूचना मिल गई। करुणा से आप्लावित अश्वि अत्रि की रक्षा के लिये चल दिये। वध्य स्थान पर पहुंचकर अश्वियों ने अत्रि को प्यास से व्याकुल, भूसे की अग्नि में जलते देखा। किसी ओषधि से सिद्ध किया हुआ जल उन्होंने अत्रि को पिला दिया। इस जल का ऐसा प्रभाव हुआ कि अत्रि को अग्नि जला न सकी। अग्नि का दाहक प्रभाव तो रुका ही, जले हुए अंग फिर से स्वस्थ हो गये। असुर आग लगा कर यह समझते रहे कि अत्रि जल कर मर गया होगा। किन्तु अश्विनी कुमार सुरक्षित अत्रि को वध्य स्थान से छुड़ा लाये।

अत्रि ने अश्वियों के इस उपकार को सदैव स्मरण रक्खा। न केवल स्मरण, किन्तु उनकी स्तुति में अनेक सुन्दर सूक्त लिखकर उनके यश को अमर कर दिया। न केवल अत्रि, किन्तु कक्षीवान आदि अन्य महर्षियों ने भी अश्वियों की यह अमर कहानी अपने सूक्तों में लिखी।[1] विश्व मरता और जीता रहता है, किन्तु उपकारी लोग अपनी अमर कथाओं में सदैव जीवित ही रहते हैं।

० ० ०

सेवा धर्म सबसे ऊंचा है। इन्द्र और अश्विनी कुमार दोनों सविता के पुत्र थे। किन्तु अश्विनी कुमारों की निस्वार्थ सेवाओं का फल यह था कि स्वर्ग में अश्विनी कुमारों की प्रतिष्ठा इन्द्र से ऊंची हो गई। इन्द्र का शासन वज्र का शासन था, किन्तु अश्वियों ने सेवा धर्म का शासन स्थापित किया। ब्रह्म का वेद कौन जान पाता यदि आयु का वेद न जाना गया होता। उपनिषदों में लिखा है 'इस जीवन में ही ब्रह्म न जाना गया तो मृत्यु में विनाश के सिवा और कुछ हाथ नहीं लग सकेगा'।[2] अश्विनी कुमारों ने इन्द्र से कहा—तो इस जीवन को ही जानो, अन्यथा ब्रह्म को कौन जान पायेगा ? जीवन की उपासना ही ब्रह्म की उपासना है। जीवन सम्भूति है, और मृत्यु विनाश। यदि ब्रह्म को जानना है, जो अजर और अमर है, तो सम्भूति को जानो। सम्भूति का विज्ञान ही आयुर्वेद का विज्ञान है।

---

1. निरुक्त व्याख्या, देवराज, पूर्व० अ० 6/6
2. 'इहचेदवेदीदथ सत्यमस्ति, न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः'—केन उपनिषद्, 2/13

अश्वियों ने इन्द्र को आयुर्वेद का ज्ञान दिया, और इन्द्र ने अन्य ऋषियों और महर्षियों को। सविता के इन दोनों सपूतों ने आयुर्वेद को अमर कर दिया। आयुर्वेद की इस अमरता ने ही अश्विनी कुमारों को अमरता प्रदान की। देवों ने सम्मान की भावना से ही अश्वियों का नाम एक पदवी बना दिया। उनके भौतिक अवसान के उपरान्त भी जनता के सर्वोच्च सेवाव्रती वैद्य को अश्विनी कुमार की पदवी पर निर्वाचित किया जाने लगा। अश्वियों के नाम से लिखे गये 'चिकित्सा सार तन्त्र' का उल्लेख ब्रह्मवैवर्त्तपुराण में मिलता है। दुर्भाग्य से वह अब उपलब्ध नहीं है। उसके बारे में अधिक क्या कहा जाय?

महाभारत काल तक अश्विनी कुमारों का पद स्वर्ग में चल रहा था। वही सेवाव्रत और परोपकारिता का आदर्श अभी तक सजीव था। महाभारत में एक संस्मरण लिखा है[1]—पाञ्चालदेश में (काम्पिल्य के समीप) धौम्य नाम के एक महर्षि रहते थे। उनके अरुणि, उपमन्यु और वेद नाम के तीन शिष्य थे। उपमन्यु को गुरु ने अवकाश के समय आश्रम की गौवें चराने का काम सौंपा। उपमन्यु गौवें चराने लगा। एक दिन उपमन्यु की सत्यनिष्ठा की परीक्षा लेने के लिए गुरु धौम्य ने उपमन्यु से कहा—

'बेटा, तुम्हारा स्वास्थ्य इतना अच्छा है, यद्यपि तुम कठिन परिश्रम करते हो। और लोग पर्याप्त सुविधा से रहते हैं फिर भी वे इतने स्वस्थ और प्रसन्न नहीं हैं। तुम ऐसा क्या खाते-पीते हो, जो इतना उत्तम स्वास्थ्य बना सके?'

'गुरुवर! मैं भिक्षा मांगकर जो पाता हूं, वही खा लेता हूं।'

—'उपमन्यु! यह तो पाप है। भिक्षा लाकर, गुरु को अर्पण किये बिना स्वयं खा लेना धर्म के विरुद्ध है। इसलिए भिक्षा लाकर मुझे अर्पण करो।'

उपमन्यु भिक्षा मांग कर लाया। गुरु ने सारी भिक्षा अपने पास रख ली। उपमन्यु चला गया। किन्तु फिर भी वैसा ही स्वस्थ, वैसा ही प्रसन्न।

अगली बार वह गुरु को प्रणाम करने आया। गुरु ने फिर पूछा—बेटा उपमन्यु! तुम्हारी भिक्षा तो मैं रख लेता हूं। अब तुम इतने हट्टे-कट्टे कैसे हो?

'गुरुवर! दुबारा भिक्षा मांगकर खाता हूं।'

'दुबारा भिक्षा चरण करना तो और भी बड़ा पाप है।'

उपमन्यु फिर भी अपने कर्त्तव्य में दत्तचित्त था और वैसा ही हृष्ट-पुष्ट। गुरु ने एक दिन फिर पूछा, 'उपमन्यु! अब तुम दुबारा भिक्षा नहीं मांगते। फिर भी वैसे ही हृष्ट-पुष्ट कैसे रहते हो?'

'गुरुजी, जो गौवे चराता हूं अब उनमें कितनी ही बिया गई हैं। भूख लगती है तो उन्हीं का दूध निकाल कर पी लेता हूं।'

—'उपमन्यु! इससे बढ़कर पाप नहीं हो सकता। आश्रम की गौवों का दूध पीने का तुम्हें अधिकार नहीं है। आगे से दूध न पीना।'

उपमन्यु ने दूध नहीं पिया। कुछ दिन बाद उपमन्यु फिर गुरु को प्रणाम करने गया। वैसा ही सुडौल, वैसा ही प्रसन्न। गुरु ने फिर पूछा—वत्स! मैं देखता हूं कि तुम

---

1. महाभारत, आदि० अध्याय 3

अब भी वैसे ही सुडौल हो। भिक्षा नहीं खाते, दूध नहीं पीते। अब क्या खाते हो?

'गुरुवर! अब मैं गौवों का दूध पीने वाले बछड़ों के मुख से गिरे हुए दुग्ध-फेन को चाट-चाट कर अपनी क्षुधा पूर्ति कर लेता हूं।'

--'उपमन्यु! यह भी अधर्म है। बछड़े तुम्हारी सहानुभूति में स्वयं भूखे रहकर अधिक फेंन डालते हैं। तुम फेन चाटना बन्द कर दो तो वे तृप्त होकर दूध पियें।'

उपमन्यु ने फेन चाटना बन्द कर दिया। अब भूख से व्याकुल होकर उपमन्यु मन्दार (अकौवा) के पत्ते खाने लगा। दिनभर धूप में गौवें चराता और क्षुधार्त हो मन्दार के पत्ते खाता। उसके सिर में गरमी चढ़ गई। दिन-दिन कृश होकर अन्धा हो गया। दिखाई न देने के कारण गौवें चराते-चराते वह एक दिन कुएं में गिर पड़ा। सूर्य अस्त हो गया, उपमन्यु लौटकर आश्रम को नहीं आये।

गुरु को चिन्ता हुई। उपमन्यु कहां गया? सबसे पूछताछ हुई। कुछ पता न चला। गुरु बोले--'कुछ भी भोजन न मिलने के कारण क्रोध के मारे जान पड़ता है उपमन्यु आश्रम छोड़कर भाग गया है। चलो उसे ढूंढें।'

सारे शिष्यों को साथ लेकर धौम्य उपमन्यु को ढूंढ़ने चले।--'आज आश्रमवासी भोजन तब करेंगे जब उपमन्यु की कुशल क्षेम जान लेंगे।' वन में पहुंचकर धौम्य ऊंचे स्वर से पुकारने लगे--'बेटा उपमन्यु! तुम कहां हो, आ जाओ।'

उपमन्यु ने कुएं के भीतर गुरु की पुकार सुनी। वहीं से चिल्लाकर उपमन्यु ने उत्तर दिया--'गुरुवर! आक के पत्ते खाने के कारण मैं अन्धा हो गया हूं। गौवों के पीछे फिरते-फिरते अचानक मैं इस कुएं में गिर पड़ा हूं।'

गुरु ने उपमन्यु को इस दयनीय दशा में देखा। आंखों से प्यार के झरने वह उठे। गद्गद् कंठ से धौम्य ने कहा--वत्स! अश्विनी कुमारों का स्मरण करो। वे ही तुम्हें इस संकट से उबार सकेंगे।

उपमन्यु अश्वियों की स्तुति करने लगा। सौभाग्य से अश्वि वहां आ गये। उन्होंने उपमन्यु से सारा वृत्तान्त पूछा और एक मीठा अपूप (पूआ) देते हुए कहा--'उपमन्यु! इसे खा लो, तुम अच्छे हो जाओगे।' उपमन्यु ने उत्तर दिया--'गुरु को अर्पण किए बिना खाना अधर्म है।'

अश्वि बोले--'एक बार तुम्हारे गुरु धौम्य पर भी ऐसी ही आपत्ति आई थी। हमने उन्हें भी यह ओषधि-पूप दिया था। उन्होंने अपने गुरु को बिना अर्पण किये ही खा लिया था। फिर तुम्हें खाने में क्या आपत्ति है?'

'अश्वियो! मैं कदापि नहीं खा सकूंगा। मैं अपने धर्म का उत्तरदायी हूं। शिष्य का जो कुछ धर्म है, मुझे अपने गुरु के प्रति निभाना आवश्यक है। मेरा कर्त्तव्य यही है कि मुझे मिली हुई वस्तु मैं अपने गुरु के चरणों में अर्पण कर दूं। फिर गुरु की जो इच्छा!'

अश्विनी कुमार उपमन्यु की इस गुरुभक्ति से अत्यन्त प्रसन्न हुए। वे बोले--'वत्स उपमन्यु! इस कुएं के जल से ही तुम्हारी दृष्टि ठीक हो जायगी। तुम्हारी गुरु-भक्ति से हमको अत्यन्त प्रसन्नता और सन्तोष हुआ। विद्या प्राप्त कर उत्तरदायित्व की जो

भावना होनी चाहिए वह तुमने पा ली। तुम्हारी अन्तर्दृष्टि जागृत हो गई। हमारा आशीर्वाद है कि तुम्हारे बाहर के नेत्र भी प्रकाशपूर्ण हों। न केवल यही, हमारे आशीर्वाद से तुम्हारे दांत भी सोने की भांति कमनीय और सुन्दर होंगे।'

उपमन्यु के नेत्रों में उज्ज्वल दृष्टि आ गई, और उसके दांत वैसे ही कमनीय हो गये। इस प्रकार नीरोग होकर उपमन्यु अश्वियों की सहायता से कुएं से निकल कर बाहर आये, और गुरु के चरणों में भक्तिपूर्वक प्रणाम करने के लिये नतमस्तक हो गये। गुरु के हृदय में उमड़ा हुआ प्रेम आंखों से छलक पड़ा। वे आशीर्वाद देते हुए बोले—'वत्स उपमन्यु! जाओ, तुम परीक्षा में उत्तीर्ण हो गये। वेद और शास्त्र तुम्हें स्वयं प्रकाशित होंगे, क्योंकि वेद और शास्त्र जिस योग्यता के लिये पढ़े जाते हैं, वह तुमने प्राप्त कर ली।'

उपमन्यु की साधना आज पूरी हुई। वह वेद-वेत्ताओं में आदर्श तत्वज्ञानी कहलाये।[1] वेद की गहन गुत्थियों को खोलने के लिये आज तक उपमन्यु के सिद्धान्त उद्धृत किये जाते हैं। क्रोध पर विजय पाकर उपमन्यु ने अपना नाम अन्वर्थ सिद्ध कर दिया। यह सब न होता, यदि अश्विनी कुमारों ने उन्हें आयुर्वेद का वरदान न दिया होता।

बड़े-बड़े देवताओं ने अश्विनी कुमारों की कुशाग्र बुद्धि का लोहा मान लिया। वे दो भाई थे, किन्तु आजीवन बिम्ब-प्रतिबिम्ब की भांति अभिन्न रहे। सारे देवताओं के विभिन्न अवस्थाओं में विभिन्न नाम हुए, किन्तु भिन्न-भिन्न होते हुए भी अश्विनीकुमारों का नाम अभिन्न ही रहा।[2] आयुर्वेद के विद्वान् अनेकों ही देवता हुए, किन्तु निदान और चिकित्सा में जो सूझ-बूझ अश्वियों ने प्रस्तुत की वह अन्य से हो ही न सकी। उन दिनों राष्ट्रीय सम्मान का प्रतीक कमल की माला हुआ करती थी। देवताओं ने अश्वियों की बुद्धिमत्ता से प्रभावित होकर सविता और सरस्वती के बाद उन्हें ही बुद्धि का अधीश्वर स्वीकार किया। और कमलों की माला पहिनाकर ऊंचा राष्ट्रीय सम्मान प्रदान किया।[3]

वैदिक साहित्य में अश्विनी कुमारों का वर्णन बहुत है।[4] उनके सैकड़ों ही जन-

---

1. निरुक्तशास्त्र में उपमन्यु के सिद्धान्त देखिये।—निरु० पूर्व० 5/2/3
2. उत्तरकालीन साहित्य में 'दस्र' और 'नासत्य' यह दो नाम भी अश्विनी कुमारों के लिये प्रयुक्त हुए हैं, किन्तु वे ग्रंथों तक ही सीमित रहे। लोकप्रियता न पा सके।

   महाभारत आदिपर्व (अ० 95) में लिखा है कि सूर्य (सविता) की कन्या तपती अश्विनी कुमारों की बहिन थी। वह ऋक्ष के पुत्र संवरण नामक सम्राट को ब्याही गई। वह हस्तिनापुर में राज्य करता था। उसके राज्यकाल में दुर्भिक्ष, मृत्यु, अनावृष्टि तथा व्याधि आदि आपत्तियों ने उसके राज्य का नाश कर दिया। उस क्षण में पांचालों ने उस पर आक्रमण कर दिया। वह राज्य छोड़कर अपनी पत्नी, पुत्र और मन्त्रियों सहित सिन्धु नदी के पहाड़ी प्रदेशों में भाग गया। संवरण के कुरु नाम का एक प्रतापी पुत्र हुआ। उसने अपने पिता के राज्य को फिर से प्रतिष्ठित किया तभी से वह कुरुदेश प्रसिद्ध हो गया।
3. मेधां मे देवः सविता आदधातु। मेधां मे देवी सरस्वती आदधातु। मेधां मे देवावश्विनावाधत्तां पुष्करस्रजौ॥—श्रुति०
4. इन्द्राग्नी चाश्विनौचैव स्तूयन्ते प्रायशोद्विजैः।
   स्तूयन्ते वेदवाक्येषु न तथान्या हि देवताः॥ —चरक, चिकि० 1/4/47

सेवा के संस्मरण वहां देखे जा सकते हैं। परन्तु अश्वियों की पत्नी, पुत्र और पौत्रों का इतिहास नहीं है। उनका वंश सेवाव्रती लोगों का वंश है। ऊंचे सेवक स्वर्ग में अश्विनी कुमार ही कहलाये। इस प्रकार वे परमार्थ में मरे ही नहीं। इससे बढ़कर उनके वंश का इतिहास और क्या होता ? सैकड़ों देवियां, यक्षिणियां, नागबालायें और किन्नरियां ही उस सौन्दर्य की मधुर आकांक्षायें लिये चली गई, परन्तु देवभिषजों का वह सौन्दर्य अपने ऊंचे सिंहासन से नीचे न उतरा। उनके गुणों की कमनीयता से मुग्ध होकर रूप और यौवन ने उन्हें अपना अक्षय आवास बना लिया। वह सौन्दर्य किसी सुन्दरी पर मुग्ध न हुआ।

महाभारत काल में सम्राट् पाण्डु की दूसरी पत्नी माद्री के गर्भ से तत्कालीन अश्वियों ने नियोग धर्म से दो पुत्र उत्पन्न किये थे। पहिले का नाम नकुल और दूसरे का नाम सहदेव था। परन्तु वह पांडव वंश था, अश्विनी अथवा सविता का वंश नहीं। महाभारत काल में अश्विनीकुमारों का यह उल्लेख प्रकट करता है कि अश्वियों की गोत्र परम्परा स्वर्ग में चलती रही थी।

2
भगवान् धन्वन्तरि

दैवीशक्ति रही सदा अनुचरी श्रद्धेय सम्मान में।
वीणावादिनि वन्दना रत रही ध्याती जिन्हें ध्यान में॥
काशी में करती विकास जिनके विद्या सदा प्यार से।
श्री धन्वन्तरि के पदाम्बुजयुगों में भक्ति मेरी बसे॥

भगवान् धन्वन्तरि

दूसरों के लिये सेवा व्रत लेकर अपने जीवन को बलिदान करने वाले महापुरुषों को भारतीयों ने 'भगवान्' की उपाधि देकर सम्मानित किया है। सेवक होना सबसे ऊंची भावना है। यह योग और समाधि से प्राप्त होने वाली वस्तु नहीं है। किन्तु सत्य यह है कि योग सिद्धि का द्वार भक्ति है, और भक्ति निस्वार्थ सेवा के बिना संभव नहीं। योगी भगवद्-दर्शन की लालसा में दिन-रात घुला करता है। परन्तु सेवक लालसाओं को लात मार कर जिस ऊंचे अनुष्ठान का आचरण करता है, उसे इन शब्दों में ही कहा जा सकता था—

सेवाधर्मः परमगहनो योगिनामप्यगम्यः।

सचमुच सेवाधर्म के अगम्य और गहनगिरि पर चढ़ने वाले सेवकों का स्थान भगवान् से कम नहीं। यद्यपि सेवक को हमारे पूजोचित सामान और सम्मान की आकांक्षा सर्वथा नहीं होती, तो भी उसके चरणों में अपनी श्रद्धा की भावना का नैवेद्य चढ़ाकर हम आत्म-सन्तोष सम्पादन करते हैं। संसार-सेवियों की उन्हीं महान् आत्माओं में भगवान् धन्वन्तरि का नाम भी है। उन्हीं की पावन कथा हम यहां पर कहने चले हैं।

आबालवृद्ध भारतीय काशी को आज भी पूज्य दृष्टि से देखते हैं। वह ऐसा पुण्य-तीर्थ है जहां जीवन की लीला संवरण-मात्र से व्यक्ति मोक्ष पा लेता है, फिर चाहे वह कितना भी अधम जीवन-यापन करता रहा हो। आज भी पुरोहित और पंडित काशी का गौरव गान करते समय 'काश्यां मरणान्मुक्तिः' कहना नहीं भूलते। काशी का गुणगान करने के लिये ही पुराणों में विस्तृत 'काशीखण्ड' की रचना हुई थी। काशी पर विश्वनाथ भगवान् शिवशंकर की जो कृपादृष्टि है वह दूसरों को दुर्लभ है। धार्मिक, सांस्कृतिक, सामाजिक, अथवा राजनैतिक किसी भी दृष्टि से देखिये, जब तक काशी का उल्लेख नहीं, भारत का इतिहास अपूर्ण है। भगवान् धन्वन्तरि ने काशी की गोद में जन्म लेकर यह महान् गौरव उसे प्रदान किया था।

यह घटना अब से कितने वर्ष पूर्व हुई थी, यह ठीक-ठीक तो नहीं कहा जा सकता। अनुमान है कि ईसा से लगभग दस हजार वर्ष पूर्व भगवान् धन्वन्तरि ने काशी को अपनी चरण-रज से पवित्र किया था। धन्वन्तरि काशी के सम्राट् महाराज 'धन्व' के पुत्र थे। काशी उन दिनों मामूली नहीं, किन्तु आर्यों के महान् राज्यों में एक समझा जाता था। कोसल और मगध के मध्य में काशी राज्य था। यह तीनों जनपद मिलकर प्राचीन भारत

के मध्यदेश कहे जाते थे। और उनके निवासी माध्यमिक। पतञ्जलि ने महाभाष्य में मध्यदेश वासियों पर किसी (संभवत: 'मीनेन्द्र') यवन राजा के आक्रमण का उल्लेख भी किया है। परन्तु यहां हम पतञ्जलि से बहुत पहले की बात कह रहे हैं। तब काशी एक स्वतन्त्र राष्ट्र था। काशी राज्य और उसकी राजधानी वाराणसी भारतीय इतिहास के प्रात:स्मरणीय नाम हैं। उनका शासक न केवल प्रजा पर किन्तु विद्या और विज्ञान पर भी शासन करता रहा है।

धन्वन्तरि ने भी भौतिक धन-सम्पत्ति के आधार पर ही नहीं, किन्तु अपने वंश की परम्परा के अनुसार विद्या और विज्ञान के आधार पर सम्राट् का गौरव स्थापित किया। अपने ज्ञान और शक्ति द्वारा संसार की सेवा करना ही उनके वंश का अखण्ड व्रत रहा। इस व्रत को पूर्ण करने में महाराज धन्वन्तरि ने सिद्धि को पराकाष्ठा तक पहुंचा दिया। इसीलिये भारतीयों ने अपनी भावना का सबसे उच्च सम्मान उनके चरणों में अर्पित किया। तब से लेकर आज तक हम धन्वन्तरि को केवल सम्राट के रूप में नहीं किंतु 'भगवान' के रूप से पूजते आते हैं।[1]

प्राचीन काल में समाज के महान् सेवकों को सम्मानित करने का एक प्रकार यह था कि उस व्यक्ति को 'यज्ञ-भाग' प्रदान किया जाय। 'यज्ञ-भाग' प्रदान करने की विधि यह थी कि उस महापुरुष के नाम से यज्ञ में आहुति डाली जाती थी।[2] भगवान् धन्वन्तरि को भी वह महान गौरव प्राप्त हुआ था। वैदिक देव पूजा में जहां अन्य देवताओं का नाम लिया जाता है, वहां धन्वन्तरि के नाम से भी एक आहुति अवश्य दी जाती है। कश्यप और आत्रेय ने अपनी-अपनी संहिताओं में धन्वन्तरि के लिए आहुति देने का विधान लिखा है।[3] अग्नि, सोम, प्रजापति, कश्यप, अश्वि, इन्द्र, और सरस्वती के साथ धन्वन्तरि के नाम से भी एक आहुति छोड़े विना यज्ञ-विधि पूर्ण नहीं होती। नित्य कर्म के पञ्चमहायज्ञों में 'बलिवैश्व देव-यज्ञ' भी आवश्यक है। यह यज्ञ तब तक पूर्ण नहीं होता जब तक धन्वन्तरि के नाम से भी आहुति न दी जाय। मानव धर्मशास्त्र में प्रत्येक गृहस्थ के लिये प्रतिदिन यह यज्ञ अवश्यक है।[4] इस प्रकार हम देखते हैं कि हजारों वर्षो से प्रत्येक भारतीय के लिये भगवान धन्वन्तरि का नाम आदर्श जीवन का एक प्रतीक बना हुआ है। अब वह एक व्यक्ति का नाम ही नहीं रहा, किन्तु ऐसा सूत्र बन गया है जिसमें भारतीय व्यक्ति और

---

1. 'यथोवाच भगवान धन्वन्तरि:'
—सुश्रुत के प्रत्येक अध्याय का प्ररंभ वाक्य।
2. रुद्रेण यज्ञस्य शिरश्छिन्नमिति, ततो देवा अश्विनावभिगम्योचु: 'भगवन्तौ न: श्रेष्ठतमौ युवां भविष्यथ भवद्भ्यां यज्ञस्य शिर: सन्धातव्य मिति। तावूचतुरेवमस्त्विति। अथ तयोरर्थेदेवा इन्द्रं यज्ञभागेन प्रासाध्यन। ताभ्यां यज्ञस्य शिर: संहितम्।—सुश्रुत सं०, सू० 1/17
3. चरक सं०, विमान० 8/6-5 तथा काश्यप संहिता, विमान० 3/3
4. वैश्वदेवस्य सिद्धस्य गृह्येग्नौविधि पूर्वकम्।
आभ्य:कुर्याद्देवताभ्यो ब्राह्मणो होम मन्वहम्॥
अग्ने सोमस्य चैवादौतयोश्चैव समस्तयो:।
विश्वेभ्यश्चैवदेवेभ्यो धन्वन्तरय एव च॥—मनु०, 3/84-86

समाज के आदर्श जीवन की व्याख्या समाई हुई है। यह एक जीवित सत्य है कि हजारों वर्षों से यज्ञ-आहुति के रूप में हम भगवान धन्वन्तरि का ऋण चुकाते चले जा रहे हैं, और अनन्त काल तक आगे भी चुकाते ही रहेंगे, तो भी हम उनसे उऋण नहीं हो सकते।

धन्वन्तरि नाम में 'धन्व' शब्द का अर्थ रेगिस्तान है।[1] इसलिये धन्वन्तरि का अर्थ है वह व्यक्ति जिसका यश रेगिस्तान के पार पहुंचा हो। यह रेगिस्तान मध्य-एशिया वर्त्ती करबला (ईराक) का मरुस्थल ही हो सकता है। यह वाल्हीक, (बैबीलोनियां), तथा पुष्कलावती (चारसद्दा) तो भारत के ही थे। वाल्हीक के कांकायन तथा पुष्कला वती के पौष्कलावत जैसे छात्र धन्वन्तरि के शिष्य ही थे। इनके अतिरिक्त मध्य एशिया के रेगिस्तान पार के अन्य शिष्य भी उनके विद्यालय में अवश्य अध्ययन करते रहे होंगे; तभी तो उन्हें धन्वन्तरि पदवी प्राप्त हुई। औपधेनव, वैतरण, औरभ्र, पौष्कलावत, करवीर्य, गोपुररक्षित, और सुश्रुत इन शिष्यों के नाम तो सुश्रुत ने ही लिखे हैं। व्याख्याकार उल्हण ने निमि, कांकायन, गार्ग्य, और गालव के नाम भी किसी प्रमाणित आधार पर और अधिक लिखे। यह सब व्यक्तिवाची नाम ही नहीं हैं, प्रत्युत देश वाची सर्वनाम भी हैं। पौष्कलावत, गोपुर रिक्षत, औरभ्र, आदि उन-उन देश वासियों के विशेषण ही हैं। पुष्कलावती तथा वाल्हीक के आगे का 'धन्व' मध्य एशिया का असीरियास्याम तथा नमक के रेगिस्तान ही होना चाहिये। इसीलिए सुश्रुत के व्याख्याकार आचार्य उल्हण ने लिखा है कि 'धन्वन्तरि' शब्द संज्ञा नहीं, विशेषण है।[2] उनका नाम तो दिवोदास था।[3] और मूल धन्वन्तरि तो उसके संस्थापक ही थे।

व्याख्याकार उल्हण ने 'धन्व' शब्द को भिन्न प्रकार से विश्लेपित किया। धनु + अन्त + इर्यति = धन्वन्तरि। इस प्रकार पदच्छेद करके लिखा कि धनु का अर्थ शल्य-शास्त्र होता है। उस शास्त्र के पारंगामी होने से उन्हें धन्वन्तरि पदवी मिली। जो भी हो, धन्वन्तरि एक विरुद है संज्ञा नहीं।

धन्वन्तरि के जन्म काल में आर्यावर्त्त के वैज्ञानिकों में दो सम्प्रदाय थे—प्रथम ब्रह्मर्षि सम्प्रदाय। आयुर्वेद के प्राचीन ग्रन्थों में जहां महर्षियों की बड़ी-बड़ी परिषदों का उल्लेख है, उनमें 'ब्रह्मर्षि' और 'राजर्षि' इस प्रकार विशिष्ट नामों का उल्लेख है। प्रतीत होता है बहुमत ब्रह्मर्षियों का था। बहुमत की प्रतिष्ठा ही सामाजिक प्रतिष्ठा होती है। वह ब्रह्मर्षियों को प्राप्त थी। इसीलिये राजवंश में जन्म लेने वाले विश्वामित्र को राजर्षि से ब्रह्मर्षि होने की अभिलाषा में अनेक तप करने पड़े। ब्रह्मर्षियों का बहुमत कितना भी अधिक रहा हो, काशी, पांचाल, मिथिला और कान्यकुब्ज के राजर्षियों का भी

---

1. (क) काशिका, धन्वयोपधाद्वुञ् सूत्र की व्याख्या देखिये (4-2-120) अष्टाध्यायी।
   (ख) चरक संहिता चि० 1/2/11 में आमलकावलेह नामक प्रयोग लिखते हुए 'धन्व' शब्द का प्रयोग जांगल देश के अर्थ में किया गया है।
2. 'सर्व प्रयोजन सिद्धं विशेषणमाह—धन्वन्तरिमिति' —उल्हण व्याख्या सु० सू० 1/3
3. "अथ खलु भगवन्तममरवरं ऋषिगण परिवृतमाश्रमस्थं काशिराजं दिवोदासं धन्वन्तरिम्"—सु० सू० 1/3

विद्वानों में एक ऊंचा स्थान है। विज्ञान, अध्यात्म, राजनीति और समाजशास्त्र में वे जो कुछ कर गये, उसका उज्ज्वल प्रकाश भारतीय इतिहास में आज भी आलोकित है। उनके दरवारों में भी भगवती सरस्वती की वीणा से रस माधुरी प्रवाहित हुई है। प्रतीत होता है एक-एक राजर्षि को ध्यान में रखकर ही महाकवि श्रीहर्ष ने लिखा कि उनके दो नेत्र तो सर्वसाधारण की भांति थे ही, ज्ञान का तृतीय नेत्र धारण करने के कारण ही वे 'त्रिलोचन' का अवतार बन गये थे।[1]

धन्वन्तरि, दिवोदास, प्रतर्दन, वार्योविद, वामक, ब्रह्मदत्त आदि काशी के राजवंश के ही स्वनाम धन्य राजर्षि थे। दूसरी ओर अत्रि, भृगु, वशिष्ठ, गौतम, वामदेव, शौनक पाराशर्य, मार्कण्डेय, और सुभूति गौतम, आदि कितने ही धुरन्धर ब्रह्मर्षि भी हुए,[2] परन्तु उन ब्रह्मर्षियों से इन राजर्षियों का ज्ञान और सेवायें इतनी उत्कृष्ट सिद्ध हुईं कि उन्होंने न केवल वसुधापर ही, किन्तु जनता के हृदय पर भी शासन पा लिया। तभी तो राष्ट्र ने उन्हें भगवद्रूप में सम्पूजित किया। प्रत्येक परिवार उनके नाम से नित्य प्रति एक आहुति देने लगा। ब्रह्मर्षि विद्वत्सभाओं में पूजित हुए और धन्वन्तरि घर-घर में।

वैदिक सिद्धान्तों की गूढ़ व्याख्यायें जव ब्राह्मण ग्रन्थों में संकलित हो रहीं थीं काशी के राजर्षि ब्रह्मवेत्ताओं में प्रमुख शास्ता थे। वृहदारण्यक उपनिषद में लिखा है[3]—गर्ग गोत्रीय बालाकि ब्रह्मविद्या के मर्मज्ञ होने का घमंड लेकर काशी के सम्राट अजात शत्रु के दरवार में जा पहुंचा। सम्राट ने दर्प से भरे बालाकि से आदरपूर्वक पूछा—

'ब्राह्मण! मेरी राज सभा में आने का कारण वताइये।'

'राजन। तुम्हें ब्रह्म का रहस्य वताऊंगा।'

'गौवें पाने के लिये ब्रह्मवेत्ता जनक की ओर दौड़ते हैं,। मैं भी तुम्हें एक सहस्र गौवें दूंगा यदि ब्रह्म का रहस्य वताओगे।'

बालाकि ब्रह्माण्ड की व्याख्या करने लगा। अजात शत्रु ने व्याख्या ध्यान से सुनी। सहसा राजसिंहासन से उठ खड़े हुए। बालाकि का हाथ पकड़कर एक सोते हुए आदमी के पास जा खड़े हुए। सम्राट ने कहा—

'व्यापक ब्रह्म ज्ञानमय है। ठीक है। यह पुरुष सो रहा है। क्यों नहीं देखता? क्यों नहीं सुनता? क्यों नहीं बोलता? क्या इस में ब्रह्म ओत-प्रोत नहीं है?'

बालाकि से उत्तर न आया। घबराहट के कारण उसका गर्व चूर हो गया। बोला—'सम्राट मैं यह रहस्य नहीं जानता। तुम्हारा शिष्य होता हूं। यह रहस्य तुम्हीं खोलो।

'ब्राह्मण,! यह उलटी वात होगी एक ब्रह्मर्षि राजर्षि का शिष्य वने। किन्तु ज्ञान का अहंकार छोड़ो। यह रहस्य मैं तुम्हें यों ही वताये देता हूं।'

---

1. दिगीशवृन्दांशविभूतिरीशिता दिशां स काम प्रसरावरोधिनीम्।
बभार शास्त्राणि दृशं द्वयाधिकां निज त्रिनेत्रावतरत्वबोधिकाम्॥ —नैषध॰ 1/6
2. सुश्रुत सं॰, शरीर॰ 3/32
3. बृहदारण्यक, 2/1-3 ब्राह्मण

सम्राट ने वालाकि को वह रहस्य वता दिया। इस रहस्य के विवेचन में जीवविज्ञान का जो सुन्दर विवेचन किया गया उसमें आयुर्वेद के मौलिक तत्व विद्यमान हैं।

उपनिषदों में राजर्पियों का यह ज्ञान कोष भी 'ब्राह्मण' कहकर ही सम्मानित किया गया है। और यह प्रतिष्ठा राजर्पियों को ब्रह्मर्षियों ने ही प्रदान की है। धन्वन्तरि इस प्रतिष्ठा को एक कदम और आगे ले गये––घर-घर में उनके नाम की एक आहुति धर्मशास्त्र का विधान वन गई।

धन्वन्तरि दिवोदास, जिनका चरित्र हम यहां लिख रहे हैं, का पुत्र प्रतर्दन भी एक उच्च कोटि का ब्रह्मवेत्ता था। कौपीतकि ब्राह्मण उपनिपद में[1] प्रतर्दन तथा इन्द्र के एक संवाद का उल्लेख है। प्राणविद्या का यह सुन्दर वैज्ञानिक विवेचन यह स्पष्ट करता है कि दिवोदास-धन्वन्तरि ने अपने पूर्वजों से ज्ञान और विज्ञान की जो विरासत प्राप्त की थी उसे और समृद्ध करके अपनी सन्तान को भी प्रदान की। इस प्रकार धन्वन्तरि भारत के इतिहास के उन महापुरुषों में हैं जिन्हें भारत की सन्तान कभी भूल नहीं सकती। न केवल धन्वन्तरि, किन्तु काशी के राजवंश ने भारत के इतिहास को युग-युग तक आलोकित किया है।

सुश्रुत संहिता ने धन्वन्तरि के आयुर्वेद अध्ययन की एक परम्परा दी है। ब्रह्मा ने आयुर्विज्ञान का मौलिक आविष्कार किया। इसी आविष्कार को ब्रह्मा से प्रजापति दक्ष ने अध्ययन किया। प्रजापति दक्ष से अश्विनी कुमारों ने। अश्विनी कुमारों से इन्द्र ने और इन्द्र से धन्वन्तरि ने। धन्वन्तरि ने इस धरोहर को औपधेनव, औरभ्र, वैतरण, पौष्कलावत, करवीर्य, गोपुर रक्षित तथा सुश्रुत आदि सात शिष्यों को सौंप दिया।[2] कुछ लोगों का विचार है कि गोपुर और रक्षित यह दो व्यक्ति हैं। तव शिष्यों की संख्या आठ हो जायगी। किन्तु सुश्रुत के व्याख्या लेखक उल्हण का कहना है कि शिष्य आठ ही नहीं वारह थे। संहिता का मूल पाठ 'सुश्रुत-प्रभृतय:' इस प्रकार है। प्रभृति शब्द अन्य जिन शिष्यों का निर्देश करता है वे चार और थे––निमि, कांकायन, गार्ग्य तथा गालव। इस प्रकार धन्वन्तरि के वारह शिष्य हो गये। उल्हण ने व्याख्या प्रसंग में इन शिष्यों में भोज का नाम लिखा है। इन भोज का परिचय तो ज्ञात नहीं, किन्तु संभव है उल्हण के समय तक कुछ ऐसे प्रमाण मिलते होंगे जिनसे धन्वन्तरि के शिष्यों में भोज का भी समावेश हो सका।[3] किन्तु यह भोज निश्चय ही भोज-प्रवन्ध के लेखक राजा भोज से वहुत प्राचीन रहे होंगे। पाली भापा में लिखित अयोघर नामक वौद्ध जातक में धन्वन्तरि के साथ वैतरण तथा भोज का उल्लेख है। वहां उन्हें उत्कृष्ट चिकित्सक के रूप में ही स्मरण किया गया है।

---

1. कौषी० ब्रा० उप०, अध्याय 3
2. सुश्रुत, सू० 1/20
3. सुश्रुत, सू० 1/3

'भोज' शब्द 'कम्वोज' का वोधक भी रहा है। यास्काचार्य ने लिखा है––"कम्वोजा: कस्मात् ? कमनीय भोजा:, कम्वल भोजा:" वे खूव खाते थे और कम्वल की गरमाई का आनन्द लूटते थे, यही उनकी जीवनचर्या थी। धन्वन्तरि के शिष्य भोज यहीं के हो सकते हैं।

नैपाल के श्री हेमराज शर्मा, जिन्होंने भूगर्भ से प्राप्त काश्यप संहिता का संपादन किया है, ने लिखा है कि उनके पास ताड़पत्र पर लिखित सुश्रुत संहिता की एक प्राचीन पुस्तक है। जिसमें धन्वन्तरि के शिष्यों में सुश्रुत आदि के साथ भोज का नाम भी लिखा है तथा वैतरण का भी। इस प्रकार उल्हण ने 'प्रभृति' शब्द के अन्तर्गत जिन अन्य पांच शिष्यों के नाम समाविष्ट कर दिये हैं वे निराधार नहीं हैं।

पौराणिक पुरातत्व के अनुसार काश के पौत्र धन्व ने समुद्र मन्थन के समय उत्पन्न (अब्ज) देवता की उपासना की। फल यह हुआ कि वह समुद्र का देवता ही धन्वन्तरि के रूप में धन्व का पुत्र बनकर उत्पन्न हो गया।[1] महाभारत तथा अग्निपुराण में भी यही उल्लेख प्राप्त होता है।[2] कल्पना यह है कि धन्वन्तरि विष्णु के अवतार थे। अर्थात् अब्ज देवता भी विष्णु ही था, जिसके अवतार धन्वन्तरि हुए। पौराणिक उपाख्यानों में तथा महाभारत में, यह भी लिखा है कि धन्वन्तरि अमृत से भरे हुए कलश को हाथ में उठाये हुए समुद्र से अवतीर्ण हो गये।

उपर्युक्त आख्यायिकाओं से निम्न अभिप्राय स्पष्ट होता है—

(1) देवासुर संग्राम धन्वन्तरि के समय हुआ था। और धन्वन्तरि उस संघर्ष के प्रमुख राजनीतिज्ञों में एक थे।

(2) देवताओं और असुरों ने समझौते से बंटवारा किया जिसमें चन्द्र, लक्ष्मी, सुरा, उच्चैःश्रवा, कौस्तुभमणि आदि देवताओं को मिले। असुर आग्रहशील थे कि अमृत उन्हें दिया जाय। अथवा अमृत बनाने और उसका व्यवसाय करने का अधिकार एकमात्र उन्हें मिले। निर्णय हो गया। पंचायत से भले ही अमृत का अधिकार असुरों को मिला। किन्तु विष्णु और धन्वन्तरि ने मिलकर अमृत का व्यवसाय देवताओं के पक्ष में फिर चालू कर दिया। क्योंकि धन्वन्तरि अमृत का प्रयोग और निर्माण स्वयं जानते थे। सुश्रुत ने इस प्रयोग को अपने गुरु दिवोदास से पाकर सुश्रुत संहिता में उसका उल्लेख भी किया है।[3] यह धन्वन्तरि की विरासत ही थी।

(3) देवताओं और असुरों का संग्राम राजनैतिक और आर्थिक प्रभुता के लिये ही हुआ था। और वह प्रभुता देवताओं को धन्वन्तरि के सहयोग से ही मिली। धन्व वे मरुस्थल ही थे जो आज भी काश्यपीयसर (कास्पियन सागर) के चौगिर्द नमक के रेगिस्तान कहे जाते हैं, तथा असुर लोक (असीरिया) के किनारे-किनारे असीरिया-शाम के रेगिस्तान के नाम से प्रसिद्ध हैं। रघुवंश में महाकवि कालिदास द्वारा लिखा गया रघु का पारस्य विजय उसी ओर का निर्देश करता है।[4] काश्यपीयसर उन्हीं महापुरुषों की

1. हरिवंशपुराण, अ० 29
2. धन्वन्तरि स्ततोदेवो वपुष्मानुद तिष्ठत।
   श्वेतं कमण्डलुं विभ्रदमृतंयत्र तिष्ठति॥ —महाभा० आदि० 18
   ततोधन्वन्तरि विष्णुरायुर्वेद प्रवर्तकः।
   बिभ्रत्कमण्डलुं पूर्णममृतेन समुत्थितः॥ —अग्नि पु०, अ० 3
3. ब्रह्मादयोऽसृजन्पूर्वममृतं सोम संज्ञितम्।
   जरामृत्युविनाशाय विधानं तस्य वक्ष्यते॥ —सुश्रुत, चिकि० 29/3-12
4. पारसीकांस्ततो जेतुं प्रतस्थे स्थलवर्त्मना। —रघुवंश

विजयों का प्रतीक है। 'पूर्वीय प्रशान्त महासागर के तट से चलकर भूमध्य सागर तक आर्यावर्त्त है' मनु का यह लेख उसी ऐतिहासिक सत्य के समर्थन में लिखा गया था।[1]

पूर्व में प्रशान्त महासागर में टांकिग तथा स्याम की खाड़ी से लेकर पश्चिम में फारस की खाड़ी, कास्पियन सागर एवं भूमध्य सागर पर्यन्त जो विशाल समुद्र मंथन हो रहा था उसका केन्द्र उन दिनों के उत्तर कुरु (सिंकियांग) में स्थित सुमेरु अथवा मन्दराचल (पामीर और थियान् शान्) पर्वत ही था।[2] हमने अवतरणिका में लिखा है कि चीनीभाषा के थियान् शान् का अर्थ देवताओं का पर्वत ही होता है। इस सम्पूर्ण राजनैतिक आन्दोलन के सूत्रधार धन्वन्तरि ही थे। अन्यथा प्रत्येक परिवार में अपने नाम से प्रतिदिन एक आहुति पा लेना साधारण काम नहीं था।

धन्वन्तरि का यह असाधारण विशेषण उनके वंश का विरुद बन गया। धन्वन्तरि के पुत्र केतुमान हुए, केतुमान के भीमरथ और भीमरथ के दिवोदास। किन्तु दिवोदास को भी धन्वन्तरि कहकर ही सम्मानित किया गया।--"दिवोदसं धन्वन्तरिम्।" मूल धन्वन्तरि के भी कुछ शिष्य रहे होंगे, किन्तु उनका परिचय नहीं मिलता 'धन्वन्तरि-संहिता' नामक कोई ग्रंथ भी था, इसका आभास मात्र शेष है। स्वयं सुश्रुत संहिता में "ऐसा धन्वन्तरि का मत है" इस प्रकार लिखकर जो सिद्धांत लिखे गये वे संभवत: मूल धन्वन्तरि को ही प्रस्तुत करते हैं। सुश्रुत संहिता का ही एक उल्लेख यह उद्बोधन देता है कि मूल धन्वन्तरि की लिखित एक धन्वन्तरि संहिता भी रही होगी।[3]

सुश्रुत ने चार सागरों का उल्लेख किया है।[4] धन्वन्तरि के युग में जिन चार सागरों का सागर-मन्थन हुआ होगा निश्चय ही वे—(1) प्रशान्त महासागर (दक्षिणी चीन सागर), (2) गंगासार (बंगाल की खाड़ी) (3) सिन्धु सागर (हिन्द महासागर) तथा भूमध्य सागर (रूम सागर) रहे होंगे। उस युग का आर्यावर्त्त इन्हीं चारों समुद्रों से वेष्ठित था। दिवोदास का प्रताप और पाण्डित्य इसी सुदीर्घ प्रदेश में प्रकाशित रहा। सन् 1907 ई० में एशिया माइनर में प्राप्त होने वाले एक उल्लेख से यह ऐतिहासिक सत्य और अधिक स्पष्ट होता है जिसमें भारतीय देवताओं के नामों का आदर पूर्वक उल्लेख किया गया है। इन देवों में मित्र, वरुण, इन्द्र और नासत्य (अश्विनी कुमार) आदि का विवरण प्राप्त होता है। आयुर्वेद का वह प्रारम्भिक नहीं, किन्तु विस्तार का युग था जिसका

---

1. आसमुद्रात्तुवै पूर्वादा समुद्रात्तु पश्चिमाम्।
तयोरेवान्तरं गिर्योरार्यावर्तं विदुर्बुधाः॥ —मनु० I/2

2. यंसर्वशैला परिकल्प्य वत्सं मेरौस्थिते देग्धरि दोहदक्षे।
भास्वन्ति रत्नानि महौषधीश्च पृथूपदिष्टां दुदुहुर्धरित्रीम्॥—कुमारसंभव, कालिदास 2/22

3. अहंहि धन्वन्तरिरादि देवो
जंरा रुजा मृत्यु हरोऽमराणाम्।
शल्यांग मंगैरपरैरुपेतं
प्राप्तोस्मिगां भूयइहोपदेष्टुम॥ —सुश्रुत, सूत्र० 1/21

4. चत्वारः सागरास्तुभ्यंस्तनयोः क्षीरवाहिणः।
भवन्तु सुभगे नित्यं बालस्य बल वृद्धये॥ —सुश्रुत, शति० 10/26

संचालन धन्वन्तरि ने किया था।[1] उन्हीं देवों के संस्मरण रूप हम धन्वन्तरि के प्रयोगों में अनेक औषधियों के नाम देखते हैं।—ऐन्द्री, इन्द्रवारुणी, देवदारु, ब्रह्म सुवर्चला, सोमलता, नागवला। इस प्रकार यह स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं कि जैकोवी और मेकडानल जैसे इतिहासज्ञों के अनुसार इतिहास के आधुनिकतम प्रमाणों के आधार पर ईसा से 3000 से 4500 वर्ष पूर्व भूमध्य सागर (धन्व) तक भारतीयों का ही राजनैतिक तथा सांस्कृतिक अनुशासन स्थापित था। पश्चिम की ओर बढ़ते हुए असुरों तथा पूर्व के देवों ने जिस युग में राजनैतिक एवं सांस्कृतिक आन्दोलनों द्वारा यह सागर मन्थन किया उसी युग में धन्वन्तरि का आविर्भाव हमारे विशाल राष्ट्र के लिये एक वरदान सिद्ध हुआ।

छान्दोग्य उपनिषद ने लिखा है कि वस्तुतः देवता और असुर एक ही वंश की संतान थे। विचारों के भेद ने दोनों दलों में भारी भेद उत्पन्न कर दिया। देवता आस्तिक थे और असुर नास्तिक। देव आत्मा में विश्वास करते थे और असुर भौतिक देह में ही। इसी विचार भेद ने विश्व का इतिहास बदल दिया। धन्वन्तरि ने लिखा कि वस्तुतः प्राण के मोह में असुर मारे गये। और देवों ने आत्मा की अमरता में विश्वास रख कर प्राणों का मोह छोड़ दिया। वे राष्ट्र के प्रति अपने कर्त्तव्यों पर वलिदान होना जानते थे। 'न जायते म्रियतेवा कदाचित्' की भावना लेकर वे कर्मक्षेत्र में सदैव अग्रसर हुए। छान्दोग्य ने असुरों की उपमा उस श्रमिक से दी है जो एक भारी चट्टान को उसी के नीचे बैठकर खोदता रहा। नीचे की मिट्टी खुद गई, किन्तु चट्टान उसी के सिर पर गिरी और वह सदा के लिए सो गया।[2] सचमुच विश्व के इतिहास में असुर इसी प्रकार सो गये। किन्तु देवों की सत्ता अक्षुण्ण वनी रही। धन्वन्तरि उसी परम्परा के कर्णधारों में से थे।

काङ्कायन वाल्हीक भिषक पौष्कलावत पुष्कलावती (चार सद्दा) के निवासी, औरभ्र उर (बैबीलोन) के निवासी, तथा पारसी धर्म-ग्रंथ आवेस्ता में दिवोदास, सुश्रुत एवं करवीर्य करवीर पुर दृषद्वती या आमू (दरिया के तट पर) निवासी, तथा पारसी धर्मग्रंथ आवेस्ता में दिवोदास, सुश्रुत एवं करवीर्य आदि—नामों की प्रतिच्छाया क्या यह स्पष्ट नहीं करती कि धन्वन्तरि का विरुद भूमध्य के रेगिस्तानों को पार कर गया था? आवेस्ता के 'विदैवोदात' तथा 'सोहरवर' में स्पष्ट ही दिवोदास और उनके शिष्य सुश्रुत की नाम

---

1. ...Hence the Indians could not have seperated from the Iranians much sooner than 1300 B. C. But according to Prof. Jacobi, the seperation took place before 4500 B. C. In that case we must assume the Iranian and the Indian language remained practically unchanged for the truely immenced period of over 3000 years...This estimate has not been invalidated by the discovery in 1907 of the names of the Indian deities Mitra, Varuna, Indra, Nasatya, in an inscription of about 1400 B. C. found in Asia-Miner. For the phonetic form in which these names there appear may quite well belong to the Indo-Iranian period when the Indians and the Persians were still one people.

—Vedic Reader-Introd, page xii by A. A. Macdonell

2. छान्दोग्य उपनिषद् 1/2

साम्यता प्रतिध्वनित होती है।[1]

आयुर्वेद का विकास और विस्तार

सुश्रुत संहिता के अनुसार धन्वन्तरि ने इन्द्र से आयुर्वेद प्राप्त किया था। परन्तु हरिवंश पुराण में महर्षि भारद्वाज से भी धन्वन्तरि का विद्या ग्रहण करने का उल्लेख है।[2] उसी प्रकार आयुर्वेद का अष्टांग विभाग करने का श्रेय कुछ प्राचीन ग्रंथकारों ने भरद्वाज को और कुछ ने धन्वन्तरि को दिया है। किन्तु सुश्रुत संहिता का कथन यह है कि स्वयं ब्रह्मदेव ने ही आयुर्वेद को आठ अंगों में विभक्त कर दिया था। वे आठ अंग ये हैं—

(1) शल्य (2) शालाक्य (3) कायचिकित्सा (4) भूत विद्या (5) कौमार भृत्य (6) अगद तन्त्र (7) रसायन तन्त्र (8) वाजीकरण तन्त्र।[3]

धन्वन्तरि तथा अन्य महर्षियों ने इन आठ अंगों का विस्तार किया है सुश्रुत संहिता का प्रारंभिक गुरु सूत्र भी यही बतलाता है कि शल्य, शालाक्य आदि आयुर्वेद के आठों अंग पृथक-पृथक पहिले से थे ही, धन्वन्तरि ने उन्हें और विस्तृत किया है।[4] इसमें सन्देह नहीं कि धन्वन्तरि के आयुर्वेद विज्ञान की इतनी धाक थी कि देव लोग भी उनकी चिकित्सा का आदर करते थे। स्वर्ग के देवताओं को आरोग्य और दीर्घ जीवन प्रदान करने की विद्या अब नरक के सम्राट धन्वन्तरि के पास थी। इसीलिए वह देवताओं में भी सम्पूजित 'आदिदेव' हुए।—'जरा रुजा मृत्यु हरोमराणाम्' का यही स्वारस्य है। पौराणिकों की यह कल्पना मिथ्या नहीं है। कि अमृत का कलश अब धन्वन्तरि के हाथ में था।

धन्वन्तरि के विद्याग्रहण और अष्टांग विभाग करने के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न उल्लेख परस्पर विरोधी नहीं हैं। वास्तविकता यह है कि धन्वन्तरि ने इन्द्र से भी पढ़ा और भरद्वाज से भी। आत्रेय ने भी प्रथम भरद्वाज से ज्ञान प्राप्त किया, और तदनन्तर रसायन विज्ञान अध्ययन करने के लिये हिमालय के सम्राट इन्द्र के विद्यालय में नन्दन वन भी गये। एक ही व्यक्ति अनेक विषयों का उतना विशेषज्ञ नहीं होता जितनी योग्यता भिन्न-भिन्न विशेषज्ञों को। अपने-अपने विषयों के विशेषज्ञ विद्वानों द्वारा ज्ञान प्राप्त करने की परिपाटी भारत के विद्वानों में प्राचीन काल से रही है।।

---

1. काश्यप संहिता, उपोद्घात, पृ० 213 (सन् 1938 ई० नि० सा० प्रेस) तथा श्री वासुदेव शरण अग्रवाल लिखित 'पाणिनि कालीन भारत वर्ष' अध्याय 2 देखें। पाणिनि के 'धन्वोन्वयोपधाद्वुञ्' (4-2-120) सूत्र की काशिका व्याख्या द्रष्टव्य है।

   उर नगर तथा औरभ्र नामक धन्वन्तरि के शिष्य का विवरण (काश्यप संहिता, उपोद्घात में श्री हेमचन्द्र शर्मा ने (216 पृ०) दिया है, यह बाल्हीक (बैबीलोन) साम्राज्य का प्राचीन नगर था।

2. तस्यगेहे समुत्पन्ने देवो धन्वन्तरिस्तदा। काशिराजो महाराजः सर्वरोग प्रणाशनः। आयुर्वेदं भरद्वाआप्राप्येदं भिपजां क्रियाम्। तमष्टधा पुनर्व्यस्य शिष्येन्यः प्रत्यपादयत।—हरिवंश पु०, अ० 29

3. 'इह खल्वायुर्वेददोनाभोपांगमथर्वे वेदस्यानुत्पाद्यैव प्रजा श्लोक शत सहस्रमध्याय लहस्रं च कृतवान् स्वयम्भू। ततोऽल्पायुष्ट्व मल्मेधस्त्वं चावलोक्य नराणां भूयोष्टधा प्रणीतवान।—सुश्रुत सं०, सूत्र 1/6

4. अहंहि धन्वन्तरिरादि देवो, जरा रुजा मृत्यु हरोमराणाम्।
   शल्यांगमंगैरपरैरुपेतं प्राप्तोस्मि गां भूय इहोपदेष्टुम्॥ —सु० सू० 1/21
   ब्रह्मावेदांगमष्टांगं मायुर्वेदमभापत।
   पुरोहित मते तस्माद्वर्ते तभिपगात्मवान्॥ —सु० सू० 34/8

'तदधीतेतद्वेद[1]; 'प्रोक्ताल्लुक', छन्दोब्रह्मणानि च तद्विषयाणि'—आदि सूत्रों द्वारा आचार्य प्राणिनि ने भारतीय शिक्षा पद्धति की एक विस्तृत परम्परा का उल्लेख किया है। इसमें सम्पूर्ण वेद और वेदांगों की शाखायें और चरण समाविष्ट है। जिस प्रकार कठ, और कलाप शाखायें विस्तृत थीं उसी प्रकार आयुर्वेद में भी धान्वन्तर, आत्रेय और काश्यप शाखायें चल गई थीं। उन्हीं के पूर्ववर्त्ती आचार्यों की ब्राह्म, ऐन्द्र, और आश्विन शाखायें स्वर्ग के साम्राज्य में पहिले से प्रचलित थीं। अध्ययन करने के अभिलाषी वहां जाते और ज्ञान प्राप्त करते थे। दूर-दूर जाकर ज्ञानार्जन करने वाले इन जिज्ञासुओं को ही 'चरक' कहा जाता था। 'कठ चरकाल्लुक्' सूत्र में उन्हीं का उल्लेख है।

ऐसे अध्येता ब्रह्मचर्य विधि से समित्पाणि हो गुरु के पास अध्ययन की नियत अवधि तक ज्ञानार्जन करते थे।[2] वह युग था जब धन्वन्तरि, अत्रि, भृगु, भरद्वाज, आदि चरक-वृत्ति जिज्ञासु इन्द्र के विद्यालय में ज्ञानार्जन के लिये जाते, और नियत समय में विशेष योग्यता सम्पादन कर कर्मक्षेत्र में प्रवृत्त होते। इन्द्र और भरद्वाज से धन्वन्तरि का ज्ञानार्जन उसी विशेष योग्यता का निर्देश करता है। जिसे उन्होंने इन्द्र से भी प्राप्त किया और भरद्वाज से भी।

शिक्षा शैली में माणवक, अन्तेवासी, चरक, और पारिषद्य के उपरान्त भूयोविद्य की पदवी तक पहुंचना उसका आदर्श था। माणवक प्रारंभिक शिक्षा, अन्तेवासी माध्यमिक शिक्षा, चरक उच्चशिक्षा, और पारिषद्य शिक्षाधिकारी होते थे। जो अनेक विद्वानों की परिषद् में बैठकर उनके प्रश्नों का उत्तर दे सके और सिद्धांत पक्ष का समर्थन कर सके। इस प्रकार की कितनी ही परिषदों का उल्लेख आयुर्वेद संहिताओं में वर्णित है। इन परिषदों में भूयोविद्य वे थे जो सारे वाद-विवाद पर अपनी अन्तिम व्यवस्था देने योग्य माने जाते हैं। जिनके निर्णय ही सिद्धांत बन गये। सुश्रुत संहिता में औपधेनव, वैतरण एवं सुश्रुत आदि के प्रश्नों पर धन्वन्तरि के विचार ही सिद्धान्त बन गये हैं।[3] चरक संहिता में भी ऐसे अनेकों प्रसंगों का उल्लेख है।[4] आत्रेय भद्रकाप्यीय अध्याय ऐसे ही प्रसंगका उल्लेख है। यज्जः पुरुषीयाध्याय एक ऐसी ही परिषद का चित्रण है जिसके पारिषद्य भगवान आत्रेय पुनर्वसु ही थे।

इस प्रकार हम यह जानते हैं कि भगवान धन्वन्तरि उन महापुरुषों में से थे जिन की व्यवस्थायें परिषदों में सिद्धांत बन गई। धन्वन्तरि ने शल्य शास्त्र पर जो महत्वपूर्ण गवेषणायें की थीं, उनके प्रपौत्र दिवोदास ने उन्हें और परिमार्जित कर सुश्रुत आदि शिष्यों को उपदेश किया। सुश्रुत संहिता का प्रथम अध्याय इस बात को भली भांति स्पष्ट करता है। ग्रंथ प्रारंभ करते हुए ही इस भाव को प्रस्तुत किया गया है 'यथोवाच भगवान्

1. अष्टाध्यायी 4/2/58
2. तदस्य ब्रह्मचर्यम्। —अष्टाध्यायी 5/1/94
3. धन्वन्तरिं धर्म भृतां वरिष्ठेममृतोद्भवम्।
   चरणावुप संगृह्य सुश्रुतः परि पृच्छति॥ —सु० निदा० 1/3
4. तपर्षीणां विवदतामुवाचेदं पुनर्वसुः।
   मैवं वोचत तत्वंहि दुष्प्रापं पक्ष संश्रयात्॥ —चर० सू० 25/26

धन्वन्तरिः' । किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि दिवोदास की योग्यता भी चोटी तक पहुंची इसीलिये उनके सम्मान के लिये उनके प्रपितामह का नाम ही उनकी उपाधि वन गया-- 'दिवोदास धन्वन्तरि' । फलतः दिवोदास का शल्य शास्त्रीय उपदेश भगवान धन्वन्तरि की विरासत ही है ।

धन्वन्तरि केवल मानवीय आयुर्विज्ञान के पारङ्गामी ही नहीं थे, घोड़ा, हाथी, तथा वृक्षों की चिकित्सा में भी अपूर्व योग्यता रखते थे । प्रपितामह का वह विज्ञान दिवो-दास के पास भी था । अग्निपुराण में लिखा है कि धन्वन्तरि ने वे सम्पूर्ण विज्ञान अपने शिष्यों को उपदेश किये थे ।[1] चूंकि शिष्यों का आग्रह शल्य प्रधान उपदेश के लिये था इसलिये सुश्रुत संहिता में वही विपय मुख्य रूप से प्रतिपादित किया गया ।[2]

हाथियों का आयुर्विज्ञान पालकाप्य शास्त्र में, घोड़ों का शालिहोत्र शास्त्र में, पेड़ पौधों का वृक्षायुर्वेद शास्त्र में,[3] तथा पक्षियों का शकुनि-विज्ञान-शास्त्र में, विस्तृत रूप से पल्लवित करने वाले आचार्य धन्वन्तरि के युग से पूर्व और पश्चात तक होते रहे हैं । इन सभी शास्त्रों के उद्धरण तथा प्रसंग-वर्णन हमें आयुर्वेद ग्रन्थों में जहाँ तहाँ मिलते हैं । बूंदी के स्वनामधन्य सम्राट हम्मीरसिंह चौहान के प्रधानमंत्री के पौत्र श्री शार्ङ्गधर द्वारा सम्पादित शार्ङ्गधर पद्धति एक बड़ा उपयोगी संग्रह ग्रंथ है । इसमें उक्त विपयों पर उपादेय संकलन प्रस्तुत किये गये हैं । किन्तु यहाँ हम आयुर्वेद के जिस अंश का प्रति-पादन करने चले हैं उसमें इन विपयों का विवेचन प्रासङ्गिक न होगा ।

महाराज दिवोदास से पूर्व भगवान् धन्वन्तरि अथवा उनके किसी शिष्य ने कोई ग्रन्थ लिखा था या नहीं, यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता । क्योंकि वैसा कोई ग्रन्थ अब उपलब्ध नहीं । फिर भी प्राचीन उल्लेखों के आधार पर प्रतीत होता है कि 'धन्वन्तरि-संहिता' नामक कोई ग्रन्थ अवश्य था । प्राचीन ग्रन्थों में 'धन्वन्तरीयघृत' एवं 'धान्वन्तर मत' जैसे उल्लेख प्राप्त होते हैं । यह उसी संहिता का निर्देश देते प्रतीत होते हैं । परन्तु आज धन्वन्तरि के विज्ञान वैभव की वानगी महाराज देवोदास के उपदेशों में ही देखी जा सकती है ।

सुश्रुत संहिता एक व्यक्ति का नहीं, किन्तु धन्वन्तरि, दिवोदास और सुश्रुत इन तीन महापुरुषों के वैज्ञानिक जीवन का मूर्त्त रूप है । आज भले ही आयुर्वेद शल्यविज्ञान में शिथिल प्रतीत होता है, किन्तु इतिहास साक्षी है कि आयुर्वेद का वह विज्ञान प्राचीन काल में पराकाष्ठा तक पहुंचा हुआ था । पूपा के दांत, इन्द्र की भुजायें, और यज्ञ के ब्रह्मा का कटा हुआ सिर जोड़ने वाले अश्विनी कुमार धन्वन्तरि से बहुत पूर्व स्वर्ग में ही विद्यमान थे । वह विज्ञान धन्वन्तरि जैसे प्रतिभाशाली महापुरुष की वुद्धि से विकसित

1. अग्निपुराण अध्या० 279/292
2. "त ऊचुः, अस्माकं सर्वेपामेव शल्य ज्ञान मूलं कृत्वोपदिशतु भगवानिति ।"
—सुश्रुत सं० सू० 1/10
3. नराणामिव वृक्षाणां वात पित्त कफाद्गदाः ।
संभवन्ति निरूप्यातः कुर्यात्तद्दोपनाशनम् ॥—शार्ङ्गधर पद्धति, 22/56
(एते नानावृक्षायुर्वेद शास्त्रेभ्यः) उपवन विनोदः, श्लो० 175-237

होकर कई गुना समृद्ध हो गया था। ब्रह्मर्षियों ने विशेषकर काय चिकित्सा आदि छः अंगों में अपूर्व आविष्कार किये, किन्तु राजर्षियों ने शल्य और शालाक्य में वैज्ञानिक संसार को चकित कर दिया। काशी का 'धान्वन्तरि' और मिथिला का 'वैदेह सम्प्रदाय' इस विज्ञान में सर्वाधिक अग्रणी रहा है।[1]

दिवोदास, मरीचि, कश्यप, और आत्रेय-पुनर्वसु प्रायः समकालीन थे। परन्तु धन्वन्तरि इन सब से तीन पीढ़ी पूर्व। उपर्युक्त तीनों महर्षियों ने धन्वन्तरि के सिद्धान्त अपने-अपने ग्रन्थों में उद्धृत किये हैं। यद्यपि दिवोदास ने धन्वन्तरि का नाम स्वाहाकार के साथ नहीं लिखा, परन्तु कश्यप और आत्रेय ने उसे स्वाहाकार के साथ ही लिखा है। यह उचित ही था। यदि दिवोदास अपने प्रपितामह के लिये स्वाहाकार लिखते तो 'अपने मुंह मियाँ मिट्ठू' वाली कहावत चरितार्थ हो जाती। ब्रह्मर्षियों के मुख से स्वाहाकार सुनकर संसार धन्वन्तरि के अगाध गौरव का सही अनुमान लगा सकता है।

यह ध्यान रखने की बात है कि प्राचीन महर्षियों ने शल्य शास्त्र के उद्धरण प्रायः धन्वन्तरि के नाम से ही प्रस्तुत किये हैं, दिवोदास के नाम से नहीं। यद्यपि सुश्रुत संहिता को मूर्त रूप में लाने का श्रेय महाराज दिवोदास को ही है। इसका मुख्य कारण यही है कि दिवोदास ने धन्वन्तरि के मिशन के साथ अपने व्यक्तित्व को इतना तद्रूप कर दिया कि संसार ने उन्हें भी धन्वन्तरि के रूप में देखा और धन्वन्तरि कहकर ही सम्बोधित किया। इससे बढ़कर सुपूती और क्या होगी कि सिंहासन पर शासन सूत्र हाथ में लिये हुए उन्होंने अपने पूर्वजों के यश को दिगन्त में विस्तीर्ण किया। और शासन से उपरत होकर आश्रम में वास करते हुए भी उन्हीं वन्दनीय पूर्वजों के ज्ञान और विज्ञान के गौरव को अमरता प्रदान की।[2] क्या यह कहने में अतिशयोक्ति होगी कि भगवान धन्वन्तरि के समग्र जीवन का संचित पुण्य ही मानों मूर्त्त होकर दिवोदास के रूप में अवतीर्ण हुआ था? धन्वन्तरि वह ज्योति थे जिसके उदय को देखकर अस्ताचल विलीन हो गया।

सुश्रुत ने अपने गुरु महाराज दिवोदास को सदैव धन्वन्तरि के रूप में ही देखा। मानों धन्वन्तरि ही दिवोदास में बोलते रहे हों।[3] धन्वन्तरि की चार पीढ़ी बाद आचार्य दिवोदास के उपदेश सुनकर सुश्रुत ने यही कहा "यथोवाच भगवान धन्वन्तरिः।" जैसा धन्वन्तरि ने कहा था ठीक वैसा ही यह उपदेश है। उन्होंने अग्निवेश के 'इतिहस्माह भग-

---

1. "शालाक्य तन्त्राभिहिता विदेहाधिप कीर्तिता:।" —सु० उत्तर० अ० 14
"दाहे धान्वन्तरीयाणामत्रापिभिषजां बलम्।" —चरक०, चि० 5/61
तत्र धान्वन्तरीयाणामधिकारः क्रिया विधौ।
वैद्यानां कृतयोगानां व्यध शोधन रोपणे॥ —चर० चि० 5/42
धान्वन्तरीयाः पुनराहुः—
न रात्रौ प्रणयेद्वस्तिं स्नेहोत्क्लेश करोहि सः। —अष्टांग सं०, सू० अ० 28
2. अथ खलु भगवन्तममरवरमृषिगणपरिवृत माश्रमस्थं काशिराजं दिवोदासं धन्वन्तरिम्......"
—सुश्रुत, सू० 1/3
3. धन्वन्तरि काशिपतिस्तपो धर्मभृतांवरः।
सुश्रुत प्रभृतीञ्छिष्यान्छशासाहत शासनः॥ —सु० कल्प० 1/3

वानात्रेयः' की भांति 'इतिहस्माह भगवान दिवोदासः' नहीं लिखा। क्योंकि जो कुछ कहा गया था वह मानों दिवोदास का नहीं, धन्वन्तरि का ही था। सुश्रुत ने नहीं, स्वयं राजर्षि दिवोदास ने उसी भाव को सुन्दर शब्दों में कहा—'मुझे आदि देव धन्वन्तरि ही समझ लो क्योंकि मैंने उन्हीं की ज्ञान राशि का वितरण करने के लिये वसुधा पर जन्म लिया है।'[1] गुरु के चरणों में यह श्रद्धापूर्ण 'ब्रह्मार्पण' है, जिसमें भक्ति पूरित हृदय अपने अस्तित्व को भूल जाता है। लोक मान्य तिलक द्वारा उद्धृत सन्त तुकाराम का यह अभंग मानों इसी भावना का सजीव चित्रण है—

"सन्तों की उच्छिष्ट उक्ति है मेरी बानी।
जानूं उसका भेद भला क्या मैं अज्ञानी ? ॥"

प्रत्येक पुत्र को अपने पूर्वजों की, और प्रत्येक शिष्य को अपने गुरुओं की प्रशस्ति प्रतिष्ठित करने का यह भारतीय आदर्श है। सत्य यह है कि शल्य शास्त्र की आत्मा भगवान् धन्वन्तरि अवश्य हैं, किन्तु उससे बड़ा सत्य यह है कि उस आत्म साक्षात्कार के लिये दिवोदास की साधना ही अनिवार्य है।

ऐतिहासिकों की सम्मति में ऋग्वेद के प्रथम मण्डल तथा कई अन्य स्थलों में दिवोदास नाम के किसी राजा का उल्लेख है।[2] परन्तु उस दिवोदास की वीरता के वर्णन में 'अतिथिग्वः', 'शम्वर शत्रुः', 'सुदास पिता' आदि विशेषणों का उल्लेख है। काठक संहिता के मन्त्र भाग में भी एक 'व्रध्नश्व दिवोदास' का उल्लेख है किन्तु इस दिवोदास का काशिराज होना तथा धन्वन्तरि का प्रपौत्र होना किसी प्रकार सिद्ध नहीं। ना ही उसका प्राणाचार्य होना प्रमाणित है। इसलिये ऋग्वेद के दिवोदास को काशी में लाना और प्राणाचार्य घोषित करना अत्यन्त दुःस्साहस का काम है।

इसके साथ-साथ वेदार्थ की नियत परिपाटी के अनुसार दिवोदास का अर्थ सूर्य होता है। शम्वर मेघ का नाम है[3] उसका शत्रु सूर्य ही है। श्रुति, लिंग वाक्य प्रकरण, स्थान, और समाख्या जैसे वैदिक व्यूह से जव शब्दार्थ खरा उतर सके तव कहीं अर्थ निर्णय की स्थिति प्राप्त हो। वेद में 'दिविदेवासो अग्निम्' जैसे उल्लेख वहुधा आये हैं। परन्तु उन से दिवोदास का इतिहास निर्णय करना धृष्टता मात्र होगा।

पुराणों में भी कतिपय दिवोदासों का उल्लेख है। परन्तु यहां तो काशिराज दिवोदास की ही चर्चा करनी है। हरिवंश पुराण के 29 वें अध्याय में काश नामक राजा के वंश का वर्णन मिलता है। महाराज काश के ही वंश में धन्वन्तरि का जन्म हुआ था। दिवोदास भी इसी वंश के एक पुरुषरत्न थे। उक्तपुराण में काशी के राजवंश की परम्परा इस प्रकार दी गई है—

1· अहंहि धन्वन्तरिरादि देवो, जरा रुजा मृत्युहरोऽमराणाम्।
शल्यांग मंगैरपरैरुपेतं प्राप्तोऽस्मिगांभूयइहोपदेष्टुम्। —सु० सू० 1/21

2. ऋग्वेद सं० 8, 4, 11, 5

3. निरुक्त, उत्तर० 7/6/3

1. काश	6. भीम रथ (भीमसेन)
2. दीर्घतपाः	7. दिवोदास
3. धन्व	8. प्रतर्दन
4. धन्वन्तरि	9. वत्स
5. केतुमान	10. अलर्क

काशी के राजवंश में इनके अतिरिक्त और भी कितने ही प्रतापी तथा विद्वान सम्राट हुए, परन्तु यहां तो हमें धन्वन्तरि के जीवन पर ही विचार करना है।

यह सब वंश परम्परा रहते हुए भी पुराणों में समुद्र मन्थन और उससे धन्वन्तरि का आविर्भाव होने की कथा का क्या तात्पर्य है ? यह समुद्र कौन था ? उसका मन्थन क्या ? और उसके द्वारा धन्वन्तरि का अमृत कलश लिये आविर्भाव क्या ? यह सारी अत्यन्त महत्वपूर्ण राजनैतिक समस्यायें हैं जिनको गहराई में जाकर समझने की आवश्यकता है।

वह युग था जब एशिया में दो ही राष्ट्र प्रबल थे। पहिले देव थे जिनमें भारत या स्वर्ग के पञ्चजन संगठित थे। दूसरे असुर जिनका शासन केन्द्र असुर लोक (एसीरिया) था। यद्यपि अभिजन की दृष्टि से दोनों ही आर्य जाति के मूल पुरुषों की सन्तान थे।[1] किन्तु दोनों के भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण ने भिन्न-भिन्न दो राजनैतिक राष्ट्रों की स्थापना की। दोनों में रिश्तेदारियां हुईं। घनिष्ठ मित्रतायें हुईं और घनघोर युद्ध भी हुए। असुरों का भौतिकवाद और देवों का अध्यात्मवाद ही उनके मूल अन्तर थे। स्वाभाविक ही भौतिकवादी अधिकार के लिये मरता है और अध्यात्मवादी कर्त्तव्य के लिये। देवों और असुरों के संघर्ष समय-समय पर इसी प्रेरणा के आधार पर हुए। अधिकार में जीवन की ममता होती है और कर्त्तव्य में बलिदान की भावाना। यही कारण है कि अनेक वैज्ञानिक प्रवृत्तियों में देवों से बढ़े-चढ़े रहने पर भी असुर पराजित हुए।

वह देवासुर संग्राम धन्वन्तरि के युग की घटना है जिसमें अमृत कलश लेकर धन्वन्तरि के प्रकट होने की कथा है। उस समय के समुद्र मन्थन से चन्द्रमा, लक्ष्मी, सुरा, उच्चैश्रवा (घोड़ा), ऐरावत (हाथी), कौस्तुभ मणि, कामधेनु, कल्पवृक्ष अप्सराएं, और विष प्रकाश में आये। महाभारत तथा श्रीमद्भागवत पुराण में यह उपाख्यान विस्तार से दिये गये हैं।[2] समुद्र मन्थन के कार्य में देव और असुर दोनों जुटे। इस मंथन में पहिले-पहल हालाहल (विष) ही निकल पड़ा। असुर देवताओं के साथ आधा विष पीने को तैयार न हुए। किन्तु भारतीय राष्ट्र में शंकर जैसे महापुरुष विद्यमान थे जिन्होंने सारा ही विष पी लिया और असुरों को इस भय से मुक्त कर दिया। असुर यह नहीं समझ सके, जो विष पीकर नहीं मरता अमृत उसका ही अनुगामी होता है।

समुद्र, लक्ष्मी और अमृत पर एकाधिपत्य पाने के लिए असुरों ने भारतीय देवों से

---

1. देवाऽसुरा ह वै यत्र संयेतिरे, उभयेप्रजापत्याः। —छान्दोग्य 1/2
2. महाभारत, आदि० अ० 18-19 तथा श्रीमद्भागवत, स्क० 8, अ० 8

युद्ध ठान दिया। परन्तु जो राष्ट्र जहर पीकर नहीं मरा उसे मृत्यु कब डरा सकी? इतिहास को अभी यह निश्चय करना है कि यह युद्ध-भूमि त्रिपुर (Tripoli, Syria) थी या पुष्क-लावती (चार सद्दा)? या दोनों? भारतीय सेनापति का विरुद 'त्रिपुरारी' यह सूचित करता है कि वह युद्ध भूमि 'त्रिपुर' थी।[1] जिसमें त्रिपुरारी शंकर योद्धा थे और ब्रह्मदेव सारथि। और वह समुद्र भूमध्य सागर, जिसका मन्थन हुआ होगा। मनुस्मृति में भारतीय सीमाओं में 'आसमुद्रात्तुवै पूर्वादासमुद्रात्तु पश्चिमाम्' की परिभाषा तभी संघटित हो सकेगी। आखिर लक्ष्मी और अमृत दोनों भारतीय देवों ने जीत लिये। भगवान धन्वन्तरि का वह अमृत भरा शुभ्र कलश देवों ने ही पिया। वे अमर हो गये, और असुर मरण वर्मा।

इतिहास विष पीने वालों की अमरता से भरा है। दौलत पाकर अमरता चाहने वालों की मौत इतिहास के एक-एक पृष्ठ के पीछे से झांकती हुई दिखाई देती है। धन्वन्तरि उन लोगों में से थे जो औरों के लिये अमृत लेकर आये और स्वयं विष पीकर अमर हो गये। उस अमर देवता के नाम से भारत के एक-एक घर में आहुति दी जाती है। यही उसका अमरत्व है।

सुश्रुत संहिता में भी धन्वन्तरि को अमृत का उद्भव (जनक) लिखा है।[2] हमने अश्विनी कुमारों के चरित्र चित्रण में अमृत के आविष्कार का उल्लेख किया है। स्वर्ग की सीमा में सामाजिक-संगठन और सम्मान का वह प्रतीक था। किन्तु धन्वन्तरि जैसे महा-पुरुषों ने स्वर्ग और नरक का भेद ही समाप्त कर दिया था। विशाल आर्यावर्त्त का साम्राज्य बन चुका था। जिसमें स्वर्ग और नरक का विलय हो गया था। सारे आर्यावर्त्त का गण नायक अब भी इन्द्र ही था। किन्तु शर्त यह थी कि जिसने सौ यज्ञ पूर्ण कर लिये हों इन्द्र वही चुना जायगा। सारे राष्ट्र में इन्द्रासन पाने के लिये इस कठिन परीक्षा में होड़ थी।[3] सौ अश्वमेध यज्ञ, साधारण बात न थी। विशाल आर्यावर्त्त में, प्रशान्त महा सागर से भूमध्य सागर तक त्रिविष्टप से विन्ध्याद्रि पर्यन्त एक-एक सेनानी इस होड़ में खड़ा हुआ, किन्तु धन्वन्तरि ने यज्ञ का अश्व कभी नहीं छोड़ा। वे सेवा का कठोरतम व्रत लेकर (धन्व) एसीरिया की मरुस्थली के पार (अन्तरि) पहुंच गये। इस विशाल प्रदेश में अमृत का प्रयोग प्रस्तुत करने वाले एक मात्र धन्वन्तरि ही थे। सुश्रुत संहिता में 'स्व-भाव व्याधि प्रतिषेधनीय रसायन' के अध्याय में यह प्रसंग लिखा गया है। आयुर्वेद में प्राप्त होने वाली किसी अन्य संहिता में यह विज्ञान नहीं है।

अब अमृत निर्माण की कला धन्वन्तरि के पास ही रह गई थी। स्वर्ग की बातें पुरानी हो गईं।[4] धन्वन्तरि ने उसमें जो नवीनता प्रस्तुत की, वह विज्ञान असुरों के पास

---

1. एवं सभगवान्देवः सर्वलोक पितामहः।
   सारथ्यमकरोत्तत्र ब्रह्मा रुद्रोऽभवद्रथी॥—महाभा० वन० अ० 2/101 (By C. V. Vaidya)
2. 'धन्वन्तरिं धर्म भृतां वरिष्ठममृतोद्भवम्।' —सु० निदा० 1/3
3. "अपूर्णमेकेन शतक्रतूपमः शतं क्रतूनामपविघ्नमाप सः" —रघुवंश 3/38
4. "ब्रह्मादयोऽसृजन्पूर्वममृतं सोम संज्ञितम्।
   जरा मृत्यु विनाशाय विधानं तस्यवक्ष्यते॥" —सुश्रु० सं०, चि० 30/3

भी न था। तभी तो असुर अमृत की लिप्सा में लड़े।

चन्द्रमा, ओषधि, सोम और अमृत, यह सब नाम वैज्ञानिक दृष्टि से अन्तः-सम्बन्धित हैं। इनके भी अवान्तर अनुसन्धान के उपरान्त धन्वन्तरि ने चौवीस प्रकार के सोम प्रस्तुत किये थे। यह सारे तुल्य गुणकारी थे, जिनसे अमृत का निर्माण होता था। चन्द्रमा नामक सोम, जिसके द्वारा अमृत बनता था, सोने के समान वर्ण के पत्तों और टहनियों से सुनहरा था। वह सदैव जल में ही पनपता था।[1] इनका विस्तृत विवरण हम 'धन्वन्तरि की खोज' प्रसंग में लिखेंगे। यहां तो लिखने का अभिप्राय यह है कि समुद्र में से चन्द्रमा निकला, यह उपाख्यान इस अर्थ में सत्य है कि चन्द्रमा नाम का सोम ही समुद्र में प्राप्त हुआ। ऐरावत भी एक ओषधि का नाम है।[2]

समुद्र मन्थन के इस उपाख्यान के प्रत्येक तत्व का वुद्धिगम्य समन्वय उपर्युक्त नामों का प्रामाणिक समन्वय होने पर ही निर्भर है।

स्वर्ग के सोम पीथियों में बड़े-बड़े लोग ही सम्मिलित हो पाते थे। एक बार तो अश्विनी कुमारों को भी उस दावत में सम्मिलित नहीं होने दिया गया था। इसीलिये अश्वियों ने प्रथम बार अमृत का प्रयोग स्वर्ग में निर्माण किया था। किन्तु स्वर्ग से उतर कर वह प्रयोग धन्वन्तरि को ही ज्ञात था। असुर इस अमृत पान में सम्मिलित नहीं किये जाते रहे।[3] हो सकता कि असुर इसी प्रतिष्ठा प्राप्ति के लिये लड़े। वे मोहिनी, सुरा और अमृत पर ही मुग्ध थे। किन्तु विष से डरने वालों के पास मोहिनी सुरा, और अमृत कब रह सके।

धन्वन्तरि धन्व का वेटा था। समुद्र का वेटा उसे इतिहास और पुराण कोई नहीं कहता। समुद्र में से आविर्भूत धन्वन्तरि पहिले कहां थे? पीछे काशी में ही कैसे पहुंच गये? इसका उल्लेख न पुराण में है न इतिहास में। समुद्र की घटना एक राजनैतिक संघर्ष का निर्देश मात्र है। उसे देश और काल के अनुसन्धान के अनन्तर ही संघटित किया जा सकेगा।

---

1. 'चन्द्रमा कनकाभासो जले चरति सर्वदा।' —सु० सं०, चि०, 29/24
2. (क) ऐरावतं दन्तशठमम्लं शोणितपित्तकृत्। —सु०सू० 46/162
   ऐरावत का अर्थ करौन्दा है। परन्तु यह ऐरावत इन्द्र का वाहन कैसे?
   (ख) चन्द्रस्तु सोमवल्ली रूपो यो हेमकूटाद्रौ।
   यज्ञैकसाधनं तद्देवानामुदखनन्नसुराः॥
   इन्द्रःश्रुत्वा सोमवल्ली विनाशं तद्रक्षार्थं दैत्यमार्गांश्चरोद्धुम्।
   (ग) गन्धर्वान्व्यान् वासयामासवीरान् सिन्धौ पश्चात् व्याप्य गान्धार देश।
   एवं सोमध्वसनेचान्तरायं दृष्ट्वा दूरादागमे चान्तरायम्।
   योद्धुं दैत्या यत्नगातस्थिरे ते प्रान्तेऽचैव स्वं निवासं विधाय। —इन्द्रविजय, 2/19-21
3. (क) शूद्रवर्जं त्रिभिर्वर्णैःसोमा उपयोक्तव्याः" —सु० चि० 29/13
   (ख) श्री मधुसूदन शर्मा ने 'अत्रिख्यातिः' ग्रन्थ में 71 पृ० पर इस प्रसंग का विवेचन किया है। वहां देखिये।

क्या मथा जाने वाला समुद्र भूमध्यसागर था ? 'त्रिपुरारी' विरुद यह इंगित करता है कि यह घटना भूमव्य सागर में हुई होगी। क्योंकि त्रिपुर (Tripoli) वहीं है। और असुर लोक भी वहीं।

सुमेरु को मथनी बनाकर समुद्र को मट्ठे की भांति मथना बुद्धि गम्य नहीं। वैसा हुआ भी नहीं होगा। मन्थन शब्द राजनैतिक भाव में अनेक व्यक्तियों द्वारा किसी प्रश्न पर गहन विचार विमर्श को घोषित करता है। आज न्यूयार्क में भारत और पाकिस्तान के मध्य राष्ट्रीय सीमाओं का मन्थन चल रहा है। उस युग में क्षीर-समुद्र के प्रश्न पर मन्थन चला होगा। और वह सुमेरु पर्वत (थियानशान) के किसी प्रदेश में बैठकर किया गया। यही सारी कथा का तात्पर्य होना चाहिए।

प्रतीत होता है असुरों ने अमृतपान में अधिकार की मांग की। धन्वन्तरि अमृत देने की उदारता तक झुके। क्योंकि वह विज्ञान एक मात्र उन्हीं के अधिकार में था। मन्थन में अन्य जिन वस्तुओं का बटवारा हुआ उनमें पहला विष ही प्रस्तुत था। असुर विष पीने को तैयार न हुए। वह नीलकण्ठ शंकर ने पी लिया। किन्तु बटवारा भंग हो गया। जब विष एक तरफा पीना पड़ा, तो अमृत भी एक तरफा ही बटना आवश्यक हो गया। इस न्याय के विरुद्ध धृष्टता करने वाले राहु और केतु की गर्दनें कट गई। भगवान् विष्णु का चक्र आततायियों के विरुद्ध घन गर्जन कर उठा। यही देवासुर संग्राम का आधार था।

देवों और असुरों के बीच क्षीरसागर के प्रश्न पर होने वाले मन्थन का यही अभिप्राय है। धन्वन्तरि ही इस मन्थन के अधिष्ठाता थे। राष्ट्र जीवन के बटवारे में आने वाले सारे तत्व इतिहास के पृष्ठों में अमर हो गये, क्योंकि धन्वन्तरि का अमृत उनके साथ था। भले ही धन्वन्तरि का अमृत मर गया, किन्तु वह धन्वन्तरि को अमर कर गया।

प्रतीत होता है कि धन्वन्तरि के पिता ने पारसीक के पश्चिम ईराक तक विजय की। वह प्रदेश धन्व से छू गया है। इसलिये उनका विरुद धन्व ही रहा। किन्तु उनके बेटे ने धन्व के अन्त तक विजयश्री का डंका बजा दिया, इसलिये उसे धन्वन्तरि का गौरव प्रदान किया जाना उचित ही था। उल्हण ने अपनी सुश्रुत व्याख्या में 'धनुः' का अर्थ शल्य शास्त्र लिखा है। और चूंकि धन्वन्तरि शल्य शास्त्र के पारंगामी विद्वान थे अतएव उन्हें 'धन्वन्तरि' पदवी से अलंकृत किया गया।[1] यह व्याख्याकार का प्रौढ़िवाद है। 'धनु' का अर्थ शल्य शास्त्र कैसे हुआ, यह स्पष्टीकरण लिखना शेष रह गया। तो भी उल्हण जैसे आचार्य की बात को गम्भीर विचार मुद्रा में मनन करने की आवश्यकता है। इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि धन्वन्तरि के युग में काशी ही आर्यावर्त्त की राजधानी थी। विश्व के सबसे बड़े सभ्य और समृद्ध देश के सम्राट धन्वन्तरि थे। सुश्रुत ने ठीक

---

1. 'सर्वजनप्रसिद्धं विशेषणमाह-धन्वन्तरिमिति। —धनुः शल्य शास्त्रं तस्य अन्तं पारं इयर्ति गच्छतीति धन्वन्तरिः।" —सु० सू० 1/3

लिखा है धन्वन्तरि धर्मपरायण ही नहीं इन्द्र के तुल्य पराक्रमी भी हुए।[1]

कुछ प्राचीन लेखों में धन्वन्तरि के पिता का नाम धन्व नहीं 'धन गुप्त' पाया जाता है।

श्री मद्भागवत पुराण में धन्वन्तरि के वंश का वर्णन कुछ भिन्न क्रम से दिया गया है। वह देखिये—

1. क्षत्र वृद्ध	7. धन्वन्तरि
2. सुहोत्र	8. केतुमान्
3. काश्य	9. भीमरथ
4. काशि	10. दिवोदास
5. राष्ट्र	11. द्युमान् (प्रतर्दन)[2]
6. दीर्घतमा	12. अलर्क

काशी जैसे समृद्ध साम्राज्य की नींव डालकर महाराज काश (काश्य) ने जो विशाल राष्ट्र निर्माण किया, भगवान् धन्वन्तरि ने विद्या एवं विज्ञान के अक्षय वैभव से सुसज्जित कर उसे वसुधा का स्वर्ग बना दिया। और महाराज दिवोदास ने इस स्वर्ग का अनूठा वैभव विश्व को वितरित करके अपने वंश के यश की धवल ध्वजा इतिहास के शिखर पर गाड़ दी। वह आज भी उनका परिचय दे रही है। भले ही भारत का प्राचीन इतिहास अन्धकार में चला गया हो, किन्तु दिवोदास और धन्वन्तरि उसके उज्ज्वल प्रकाश-स्तम्भ हैं। प्रतिवर्ष उन्हीं की स्मृति में हम धन्वन्तरि त्रयोदशी (धन तेरस) का पर्व मनाते हैं। इस दिन प्रत्येक भारतीय नये पात्र खरीद कर लाता है। उनमें पूजोचित पकवान रखकर धन्वन्तरि के नाम की आहुति देता है और फिर उसमें से एक-एक ग्रास सम्पूर्ण परिवार के व्यक्ति इसलिये खाते हैं कि वह धन्वन्तरि का प्रसाद है। उन पात्रों से लिया गया एक-एक ग्रास, एक-एक घूंट हमारे जीवन में उस अखण्ड राष्ट्रीयता का उद्बोधन करता है जिसके अमर देवता धन्वन्तरि हैं।

यह वह देवता था जिसने काशी को तीर्थ बना दिया। जिसकी नगरी में मृत्यु पाकर भी भारतीय राष्ट्र का जन-जन अपने आपको मुक्ति का अधिकारी मानता रहा है और जिसे भगवती सरस्वती ने अपना अक्षय आवास बनाया था। ब्राह्मण, उपनिषद्, दर्शन, आयुर्वेद, इतिहास और पुराण आदि भारतीय साहित्य की कोई ऐसी शाखा नहीं है जिसमें इस राजवंश के यशस्वी महापुरुषों के संस्मरण न हों।

श्रीमद्भागवत के अनुसार धन्वन्तरि का जन्म पुरूरवा के वंश में हुआ था। यही चन्द्रवंश था। भृगु, जमदग्नि और परशुराम जिस वंश के महापुरुष थे उसी में धन्वन्तरि

---

1. 'धन्वन्तरि धर्मभृतां वरिष्ठो राजर्षिरिन्द्र प्रतिमोऽभवद्यः।'—सुश्रु० निदा० 7/3
2. द्युमान् का अन्यनामप्रतर्दन ही नहीं, शत्रुजित्, ऋतध्वजः और कुवलयाश्व भी उसी के नामान्तर हैं।—श्रीमदभाग० 9/17 धन्वन्तरि के वंश का विस्तृत वर्णन श्रीमद्भागवत पुराण के स्कन्ध 9 के 17 वें अध्याय में देखिये।

भी हुए थे। ऋग्वेद के तत्वदर्शियों में प्रख्यात शौनक भी धन्वन्तरि के पूर्वज ही थे। श्रीमद्भागवत के अनुसार धन्वन्तरि का वंश हम पीछे लिख आये हैं। हमने केवल बारह पीढ़ियां ही यहां उद्धृत की हैं। भागवत में उसकी लम्बी परम्परा दी है।[1]

वह युग था जब जन्म से नहीं, कर्म से ही व्यक्ति अपने वर्ण की व्यवस्था करता था। एक ही वंश में कोई ब्राह्मण, कोई क्षत्रिय और कोई वैश्य मिलते हैं। कुछ वे हैं जो केवल ज्ञान-विज्ञान के ही धनी थे। कुछ ऐसे जो विद्वान् भी और योद्धा भी। ज्ञान-विज्ञान के धनी देवर्षि और विद्वान् होकर भी योद्धा होने वाले राजर्षि कहलाये। विद्वान् होते हुए धन-धान्य में दत्तचित्त रहने वाले वैश्यवर्ण में गिने गये। इसीलिये प्राचीन समाज-शास्त्रियों ने कहा था "गुणा: सर्वत्र पूज्यन्ते पितृवंशो निरर्थक:।"

भागवत में लिखा है कि धन्वन्तरि के वंश में अनेक पीढ़ियों के उपरान्त गम्भीर नाम का सम्राट् हुआ। गम्भीर का पुत्र अक्रिय था। किन्तु अक्रिय की सन्तानें क्षत्रिय नहीं रहीं, वे ब्राह्मण हो गई।[2] इस प्रकार इस वंश की राजकीय प्रभुसत्ता क्षीण हो गई।

हरिवंश पुराण में समुद्र मन्थन का उल्लेख है। लिखा है कि समुद्र मन्थन से 'अब्ज' देवता का आविर्भाव हुआ। धन्व ने इस देवता की भक्तिपूर्वक आराधना की। प्रसन्न होकर वही देवता धन्वन्तरि का अवतार लेकर धन्व का पुत्र धन्वन्तरि हो गया। यह अब्ज देवता सोम है। सोम का अधिष्ठातृ देवता इन्द्र कहा गया है।[3] इन्द्र और उपेन्द्र (विष्णु) दोनों सहोदर भाई थे। पौराणिक मान्यता यही है कि धन्वन्तरि विष्णु के अवतार थे। वह अमृत लेकर अवतीर्ण हुए। हम पीछे लिख आये हैं कि सुश्रुत संहिता में अमृत के प्रयोग का मूल उपादान सोम ही लिखा है। सोम के 28 भेदों में एक भेद चन्द्रमा नाम का भी है जो समुद्र मन्थन के समय आविर्भूत हुआ। इस प्रकार इस सारी कथा का अभिप्राय केवल इतना है कि समुद्र मन्थन के समय अमृत के प्रयोग का अधिष्ठातृत्व केवल धन्वन्तरि के पास था। जैसा कि सुश्रुत संहिता में उल्लेख है। भारतीय विज्ञान को दार्शनिक रूप देकर पुराणों ने अनन्त देवताओं का अवतार लिखा है। अग्नि, वायु, जल, पृथ्वी, ओषधि, अन्न आदि सब देवता हैं। किन्तु भारतीय दर्शन का वैज्ञानिक दृष्टिकोण यह है कि जगत् के अनन्त देवता किसी एक महान् देवता के अवयव हैं।[4]

---

1. श्रीमद्भागवत, स्क० 9, अ० 17

धन्वन्तरि के बहुत पीछे पुरु वंश में दुष्यन्त नाम के सम्राट् के पुत्र भरत हुए। विश्वामित्र की बेटी शकुन्तला उनकी मां थी। भारतवर्ष उसी भरत के नाम से प्रसिद्ध है। भरत की पत्नी काशी के सम्राट् सर्वसेन की बेटी सुनन्दा थी।—महा० आदि० अ० 8 (by C.V. Vaidya)

2. श्रीमद्भागवत, अ० 17/10-11

रम्भस्य रभस: पुत्रो गम्भीरश्चाक्रियस्तत:।
तस्यक्षेत्रे ब्रह्म जज्ञे,......"

3. 'सोम परिचय'—श्रीपाद्दामोदर सातवलेकर। (दैवत संहिता)—मेदिनी कोष में 'अब्ज' जब पुल्लिंग कहा जाय तब 'धन्वन्तरि' का पर्यायवाची लिखा है।—मेदिनी को०, ज द्वितीय वर्ग 3)

4. एकस्यैव देवस्य सर्वेदेवा: प्रत्यङ्गानि भवन्ति।—निरुक्त

"एकोदेव: सर्वभूतेषु गूढ़:"—ऋग्वेद

इसलिए प्रत्येक देवता का वैज्ञानिक दृष्टि से विश्लेषण कीजिये। देवत्व की ऊंची उड़ान में धन्वन्तरि के व्यक्तित्व को खो देना बुद्धिमानी नहीं।

धन्वन्तरि और काशी

सुश्रुत संहिता से ज्ञात होता है कि धन्वन्तरि की राजधानी काशी थी—'काशिराजं धन्वन्तरिम्'। अनेक वार उन्हें काशिराज लिखा गया।[1] इसलिये यह असंदिग्ध है कि धन्वन्तरि काशी के सम्राट् थे। धन्वन्तरि के प्रपितामह काश थे, जिन्होंने इस काशी नगरी और काशी राज्य की स्थापना की थी। काश के अनन्तर उनके पुत्र, पौत्र सभी वीर सेनानी थे। उन्होंने इस राज्य को समृद्ध किया और धन्वन्तरि ने तो उसे 'आसमुद्रात्तुवै पूर्वादासमुद्रात्तु पश्चिमाम्' कर दिया। विद्या व पराक्रम की सम्मिलित राजधानी काशी रही है।

आत्रेय पुनर्वसु के लेखों में भी काशी का कई वार उल्लेख है। 'तदनन्तरं काशिपतिः', 'काशिराजस्य संशयम्'[2] आदि उल्लेख यह सूचित करते हैं कि विद्वन्मण्डली में काशी का स्थान सदैव ऊंचा रहा है। ब्रह्मविद्या, राजनीति, धर्मशास्त्र, विज्ञान आदि सभी विषयों में काशी के सम्राटों ने जो गौरव भारतीय इतिहास को प्रदान किया, वह अद्वितीय है। गीता का प्रारम्भ करते हुए भगवान् कृष्ण ने कहा था 'पराक्रमी काशिराज पाण्डवों के पक्ष में थे।'[3] इसलिए काशी केवल विद्यापीठ रही है, यह कहना पर्याप्त नहीं है, वह 'पराक्रम पीठ' भी रही है। यह स्पष्ट सत्य है कि काशी राज्य में रहने वाले लोग बिस्तरों पर पड़े-पड़े नहीं मरे, वे विद्या और राष्ट्र के लिये कुछ करते-करते मरे और इस प्रकार मरने वाले निस्संदेह अमर हैं।

पाणिनि ने अष्टाध्यायी में (ई० पू० 700) काशी का उल्लेख किया है।[4] बौद्ध जातकों में काशी के युवराज ब्रह्मदत्त का तक्षशिला के विश्वविद्यालम में आयुर्वेदाध्ययन का उल्लेख है। पुराणों में काशी का विस्तृत वर्णन है। शिव पुराण का काशी वर्णन भी उल्लेखनीय है। उपनिषदों में काशी के सम्राट अजातशत्रु का ब्रह्मवेत्ताओं में प्रथम स्थान रहा है।[5] महाभारत में काशी का स्थान-स्थान पर वर्णन उस काल में भी उसकी प्रसिद्धि का प्रमाण है। काशी के सम्राट सुवर्ण वर्मा की राजकुमारी वपुष्टमा इन्द्रप्रस्थ के सम्राट जन्मेजय की रानी थी।[6] इस प्रकार इतिहास के प्रत्येक युग में काशी का गौरव अक्षुण्ण रहा है। गौरव के इन शिखरों की आधारशिला रखने वाले भगवान् धन्वन्तरि ही थे।

धन्वन्तरि, दिवोदास, वार्योविद, वामक और ब्रह्मदत्त आदि धुरन्धर प्राणाचार्य

1. स्वयम्भुवा प्रोक्तमिदं सनातनम्।
   पठेद्भिवः काशिपतिप्रकाशितम्॥—सुश्रु० सू० 1/41
2. चरक सं० 25/5-7
3. 'काशि राजस्तु वीर्यवान'—गीता अ० I
4. काश्यादिभ्यष्ठञ्ञिठौ।—अष्टा० 4/2/116
5. वृहदारण्यक 2/1-2 ब्राह्मण। कौषीतकि ब्राह्मण उप० 4/1
6. महाभारत, आदि० अ० 44

काशी में हुए हैं। यह सब धन्वन्तरि के वंशज ही थे। ब्रह्मदत्त भगवान् बुद्ध के पूर्व हुए (626 वर्ष ई० पू०) थे। किन्तु उन्हें आयुर्वेद का अध्ययन करने तक्षशिला के विश्व-विद्यालय जाना पड़ा था। वाल्हीक के कांकायन, पुष्कलावती के पौष्कलावत, कुन्तिभोज के भोज, काशी में आयुर्वेद का अध्ययन करने आते थे। यह सभी दिवोदास के शिष्य थे। किन्तु ईसा से 626 वर्ष पूर्व काशी के राजकुमार ब्रह्मदत्त को अध्ययन की वे सुविधायें काशी में सुलभ न हुई। उसे तक्षशिला जाना पड़ा। जो भी हो, ब्रह्मदत्त अपने पूर्वज स्वनामधन्य धन्वन्तरि की आयुर्वेद परम्परा को इस समय भी अक्षुण्ण रखे हुए थे।

धन्वन्तरि को वीरता और विद्वत्ता दोनों ने प्रतिस्पर्धा के साथ सम्पूजित किया। वे विष्णु के अवतार थे, इसलिये लक्ष्मी तो उनकी चिरसंगिनी थी ही। वीरता ने उन्हें रुद्र के रूप में प्यार किया, विद्वत्ता ने ब्रह्मा के, और लक्ष्मी ने विष्णु के रूप में उनका आलिगन कर एक ही व्यक्ति को त्रिदेव का प्रतिरूप सिद्ध कर दिया।

धन्वन्तरि के पुत्र केतुमान और पौत्र भीमरथ में वह विशेषता न आई। गृह कलह की ज्वाला सुलगने लगी। सुलगती हुई इस ज्वाला से निकलने वाले धुएं ने काशी का प्रकाश धूमिल कर दिया। भीमरथ के पुत्र दिवोदास ने काशी के इस गिरते हुए सितारे को फिर से आलोकित किया। किन्तु फिर भी आर्यावर्त्त के घर-घर में उनके नाम की आहुति न पड़ सकी। हरिवंश पुराण[1] और महाभारत[2] में लिखा है कि काशी पर कुछ काल आक्रान्ताओं का अधिकार हो गया, और दिवोदास को काशी के समीप ही वाराणसी नाम से एक और नगरी बसानी पड़ी।

वरुणा और असी नदियों के बीच आबाद यह नगरी एक भव्य स्थान बन गया। हरिवंश पुराण के लेखानुसार वाराणसी पहिले से बसी हुई थी, दिवोदास ने उसे भव्य रूप देकर राजधानी बना दिया। किन्तु महाभारत[3] के अनुसार दिवोदास ने ही वाराणसी को आबाद किया था। इस प्रकार काशी और वाराणसी दो नगरियां अलग-अलग थीं। पुरानी राजधानी काशी थी, दिवोदास का राज्याभिषेक यहीं हुआ। महाभारत में उन्हें काशीराज ही लिखा गया है। सुश्रुत संहिता में भी प्रत्येक बार उन्हें काशीराज ही कहा गया।[4] अपने गुरु विश्वामित्र को आठ सौ श्यामकर्ण घोड़े गुरु दक्षिणा में भेंट करने के लिए गालव काशीराज दिवोदास के पास ही याचना करने गया था।[5] दिवोदास ने दो सौ श्यामकर्ण घोड़े गालव को दिये थे। और गालव ने उसके बदले ययाति की सुन्दरी कन्या माधवी दिवोदास को प्रदान की।

धन्वन्तरि के युग की काशी और दिवोदास की बसाई गई वाराणसी के बीच

---

1. हरिवंश, अ० 29
2. महाभारत अनु० अ० 29
3. महाभारत, अनुशासन पर्व,
4. "पठेद्धियः काशिपति प्रकाशितयम्"—सुश्रुत, सू० 1/41
5. महाभारत, उद्योग पर्व अ० 117

महाबलो महावीर्यः, काशीनामीश्वरः प्रभुः।
दिवोदास इति ख्यातो भैम सेनिर्नराधिपः॥—म० भा० उद्योग० 117

भेदक रेखा खींचना अब कठिन है। हरिवंश पुराण के अनुसार वाराणसी पहिले से उजड़ी हुई नगरी थी, दिवोदास ने उसे फिर से आवाद किया था। और दिवोदास के द्वारा समृद्ध वाराणसी उन्हीं के जीवन में फिर अस्तव्यस्त हुई। दिवोदास के पुत्र प्रतर्दन थे। वह उच्च कोटि का ब्रह्मवादी विद्वान था। प्रतर्दन के पौत्र आलर्क ने उजड़ी हुई वाराणसी फिर से श्री सम्पन्न की।

काश का स्थापित राज्य काशी था और उसकी राजधानी भी काशी नगरी। राज्य का नाम काशी और राजधानी का नाम भी काशी। व्यवहार में कुछ कठिनाई अवश्य आती है। इसलिये वरुण और असी नदियों के मध्य वसी हुई राजधानी वाराणसी नाम से घोषित कर दी गई। संभवतः यह घोषणा दिवोदास ने की थी।[1] और इन्द्र के अनुशासन से यह व्यवस्था हुई।

चेदि (छोटा नागपुर-रीवां) के हैहय वंशी राजा काशी राज्य से शत्रुता रख रहे थे। दिवोदास को विद्या विलास में व्यस्त देखकर हैहय राज ने काशी पर आक्रमण कर दिया। दिवोदास युद्ध के लिये तैयार न थे। हैहय नरेश की सेना ने वाराणसी उजाड़ दी। दिवोदास वाराणसी छोड़कर कौशाम्वी (प्रयाग) के समीप महर्षि भरद्वाज की शरण में रहने लगे। वहां रह कर भी दिवोदास का विद्याव्रत अटल था। किन्तु राज्य के पुनरुद्धार की योजना से वे उदासीन न थे।

अभी तक दिवोदास के कोई पुत्र न था। महर्षि भरद्वाज के आश्रमवास के दिनों में उन्होंने भारद्वाज के आदेशानुसार पुत्रेष्टि यज्ञ किया। इस यज्ञीय चिकित्सा के उपरांत दिवोदास की परम सुन्दरी पत्नी माधवी ने पुत्र को जन्म दिया। यह परम विद्वान् एवं प्रतापी प्रतर्दन थे।[2]

अपने पूर्वजों की भांति ही प्रतर्दन भी उच्च कोटि का विद्वान था। उपनिषदों और ब्राह्मण ग्रन्थों में प्रतर्दन के विचार अन्तिम सिद्धान्त स्वीकार किये गये।[3] प्राण और आत्मा के स्वरूप निर्णय पर प्रतर्दन के विचारों का अतिक्रमण न हो सका। आयुर्वेद संहिताओं के शारीर स्थान की यह प्रस्तावना ही मानव के सर्ग, स्थिति और निर्माण का वह विज्ञान है जिस पर भारत को गर्व है। वह भी प्राणाचार्य की सीमा के अन्तर्गत ही है।

प्रतर्दन के नाना ययाति एक वार स्वर्ग से वहिष्कृत कर दिये गये थे। नाना को इस प्रकार स्वर्ग भ्रष्ट देखकर प्रतर्दन ने कहा। 'हे पुरुष श्रेष्ठ ! मैं अपने समग्र पुण्य

---

1. सौदेवस्तस्य काशीशो दिवोदासोभ्यषिच्यत।
   दिवोदासस्तुविज्ञाय वीर्यंतेषां यतात्मनाम्॥
   वाराणसीं महातेजा निर्ममे शक्रशासनात्।—अनुशास० अ० 29
2. महाभा० उद्योग० 117
3. प्रतर्दनोह दैवोदासिरिन्द्रस्य प्रियंधामोपजगाम युद्धेन पौरुषेणच तं ह इन्द्र उवाच प्रतर्दन ! वरं ते ददामि।—कौषीतकि ब्रा० उपनि 3/1
   विश्वामित्र के चार पुत्र थे अष्टक, वसुमना, प्रतर्दन और शिवि इसलिये उपनिषद ने लिखा 'प्रतर्दनो ह दैवोदासिः।' —महा० वन० 128

देकर आपको फिर स्वर्ग पहुंचाना चाहता हूं। वताइये मेरे पुण्य से कितने लोक उपार्जित हैं? ययाति ने उत्तर दिया—प्रतर्दन! तुम्हारे पुण्य से इतने लोक विजित हैं यदि तुम उनमें सात-सात दिन ही रहो, तो उनका अन्त न मिलेगा, परन्तु हे साधु! मैं तुम्हारा पुण्य लेकर स्वर्ग का सुख नहीं लेना चाहता।[1]

हरिवंश पुराण के अनुसार दिवोदास ने वाराणसी को शत्रुओं से छीन कर फिर आवाद कर दिया था। किन्तु दिवोदास के पुत्र प्रतर्दन के शासन में वह फिर शत्रुओं ने विध्वस्त कर दी। प्रतर्दन और प्रतर्दन के पुत्र वत्सराज उसे अपने जीवन में फिर न वसा सके। वत्सराज के पुत्र आलर्क ने शत्रुओं का डटकर मुकाविला किया और वाराणसी को फिर से श्रीसम्पन्न कर दिया। शत्रु की हुंकार के समक्ष अहिंसा, सहिष्णुता, और विश्वबन्धुत्व के आदर्श वघारने वाले राष्ट्र सदैव दुर्वल, भीरु और कायर समझे गये हैं। अतिथि का सत्कार शास्त्र द्वारा और शत्रु का सत्कार शस्त्र द्वारा ही होना चाहिये। आलर्क ने वही किया।

इतिहास के पर्यालोचन से यह स्पष्ट है कि काशी के विरुद्ध कभी कोसल, कभी मगध, और कभी मौर्य, गुप्त, शुंग, और कान्यकुब्ज के आक्रमण होते रहे हैं। इस गृह-कलह ने आर्यावर्त्त के उस विशाल साम्राज्य को, जिसे धन्वन्तरि ने भूमध्य एशिया के धन्व के अन्त तक विस्तृत कर दिया था, अव खण्ड-खण्ड कर दिया। गृह कलह से किसी के घर आज तक आवाद नहीं हो सके, वे वरवाद ही होते हैं। महाभारत के समय तक काशी का पराक्रम सजीव था। इसको प्रमाणित करने के लिये गीता का यह वाक्य ही पर्याप्त है—'काशिराजस्तु वीर्यवान्'। तव तक काशी में शस्त्र और शास्त्र दोनों प्रतिष्ठित थे।

वौद्ध काल में भी वाराणसी एक प्रतिष्ठित नगर था। वौद्ध ग्रन्थों में वाराणसी का वहुत उल्लेख है। भगवान् वुद्ध ने अपने धर्मचक्र की प्रतिष्ठा सवसे प्रथम वाराणसी के 'ऋषिपत्तन' नामक स्थान पर ही की थी। वह स्थान जहां आज सारनाथ है। भूगर्भ से प्राप्त भगवान् वुद्ध का वह आसन वहां आज भी रक्खा है।

पाणिनीय एवं वौद्ध साहित्य के आधार पर यह ज्ञात होता है कि 'काशी' राज्य वाची शव्द है तथा वाराणसी नगरी वाचक। तात्पर्य यह कि वाराणसी काशी राज्य की राजधानी थी। किन्तु काशी की प्रतिष्ठा ने वाराणसी नाम को इतना आवृत कर लिया कि वाराणसी का नाम भी काशी ही हो गया।

पुराणों, व्राह्मण ग्रन्थों एवं महाभारत में काशी का उज्ज्वल इतिहास सुरक्षित है। पुराणों में जिस आलंकारिक भाषा में वह लिखा गया है उसे घटनाओं के अनुरूप समन्वित करने से हम इतिहास के तथ्यों का परिज्ञान कर ही सकते हैं। हम काशी और वाराणसी के लिये यह नहीं कह सकते कि वह उपन्यासों की कल्पनायें हैं। फिर उसके शासक काल्पनिक सत्ता के कैसे कहे जायें? अमृत का कलश, समुद्र का मन्थन, और विष्णु का अवतार साहित्यिक हैं, उन्हें इतिहास की भाषा में लाइये। पुराण साहित्य के

1. महाभारत, आदि० अ० 85

रचयिताओं ने अपनी रचनाओं का स्पष्टीकरण देते हुए स्पष्ट कहा था—

> सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो, मन्वन्तराणि च।
> वंशानुचरितञ्चैव पुराणं पञ्चधामतम्।"

1. सर्ग (सृष्टि की उत्पत्ति,) 2. प्रतिसर्ग, (सृष्टि का विलय) 3. सृष्टि के वंश वृत्त, 4. मन्वन्तरों का काल क्रम, 5. वंशजों के चरित्र—यह पांच विषय पौराणिक साहित्य में वर्णन किये गये हैं भारतीय विचारधारा में एक ही मिशन के लिए जीने मरने वाले महापुरुष एक दूसरे के क्रमशः अवतार हैं। यह ऋग्वेद के देवतावाद का ही प्रतिविम्व है।—"एकोदेवः सर्वभूतेषुगूढ़:" फिर अग्निपुराण के इस उल्लेख में कोई असंगत वात नहीं है—कि 'आयुर्वेद के प्रवर्त्तक, अमृत कलश लिये हुए धन्वन्तरि समुद्र मन्थन के समय विष्णु के अवतार हुए।"[1]

धन्वन्तरि का समय

हरिवंश पुराण में लिखा है कि दिवोदास ने वाराणसी की स्थापना कलियुग में की। यह कलियुग कव से प्रारम्भ हुआ,[2] कितने वर्ष का होगा? यह प्रश्न विवादास्पद ही रह जाते हैं।

सूर्य सिद्धान्त के आधार पर युगों की काल गणना का उल्लेख ऋषि दयानन्द सरस्वती ने ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका में किया है। चौदह मन्वन्तर होते हैं, प्रत्येक मन्वन्तर में एकहत्तर चतुर्युगी। प्रत्येक चतुर्युगी में सत्ययुग, त्रेता, द्वापर और कलियुग का समय 4320000 वर्ष होता है। जिसका विवरण इस प्रकार है—

1. सत्ययुग 1728000
2. त्रेता 1296000
3. द्वापर 864000
4. कलियुग 432000

एक चतुर्युगी=4320000 वर्ष (तेतालीस लाख वीस हजार) यह सातवां वैवस्वत मन्वन्तर व्यतीत हो रहा है। उसमें यह अट्ठाईसवीं चतुर्युगी चल रही है। कलियुग है, जिसके अव तक 5021 वर्ष व्यतीत हो चुके हैं। 426979 वर्ष अभी और कलियुग ही चलेगा।[2] परन्तु इस काल गणना में धन्वन्तरि अथवा दिवोदास को उचित स्थान पर वैठा सकना आज के ऐतिहासिकों को कठिन प्रतीत हो रहा है।

दिवोदास ने वाराणसी आवाद की तव कलियुग लग गया था। तो क्या वर्तमान कलियुग के वीते हुए 5021 वर्ष के अन्दर ही धन्वन्तरि को वैठाया जाय? जव कि यह समय महाभारत युद्ध तक भी कठिनता से पहुंचता है। धन्वन्तरि महाभारत से वहुत पूर्व के महापुरुष हैं। यदि कहा जाय कि धन्वन्तरि छब्बीसवीं चतुर्युगी के कलियुग में हुए थे। तव क्या अड़तीसलाख तिरानवे हजार इक्कीस (3893021)वर्ष पहिले धन्वन्तरि हुए? यह

1. ततो धन्वन्तरिर्विष्णुरायुर्वेद प्रवर्त्तकः।
   विभ्रत्कमण्डलुं पूर्णममृतेन समुत्थितः॥ —अग्निपुराण, अ० 3
2. ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका, वेदोत्पत्ति विषय।

भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उसके वाद सत्ययुग, त्रेता और द्वापर का इतिहास कहां है ? द्वापर में महाभारत हुआ था, और धन्वन्तरि महाभारत से पूर्व । क्योंकि महाभारत में धन्वन्तरि का इतिवृत्त है । तव हरिवंश पुराण का कलियुग कौन सा ? आधुनिक ऐतिहासिक सांचे में हरिवंश पुराण का कलियुग नहीं ढलता ।

धन्वन्तरि का आविर्भाव उपनिषद् और ब्राह्मण काल से पूर्व की घटना है। कठोपनिषद् में नचिकेता के पिता का नाम आरुणि दिया है। कठोपनिषद् आरुणि के पुत्र नचिकेता के जीवन की घटना है । काठक संहिता में दिवोदास और आरुणि का संवाद है ।[1] इस प्रकार उपनिषद काल से पूर्व धन्वन्तरि और दिवोदास हो चुके थे। उपनिषदों में यह संवाद पुराणों से लिया गया हो सकता है। क्योंकि पुराणों की रचना ही उपनिषदों से प्राचीन है । छान्दोग्य उपनिषद में सनत्कुमार से ब्रह्म विद्या सीखते समय अपनी अधीत विद्याओं का व्योरा देते हुए नारद ने कहा था 'इतिहास और पुराण जो पांचवे वेद माने जाते हैं, मैंने उन्हें भी पढ़ा है।'[2]

पौराणिक साहित्य भारतीय वाङ्मय का स्वतन्त्र विषय है। उसका उल्लेख अथर्ववेद में भी है । "ऋक, साम, यजु, अथर्व और पुराण उसी ज्ञान रूप परमात्मा से उत्पन्न हुए ।"[3] इस प्रकार यह स्पष्ट है कि उपनिषद काल (ई० पू० 600) में पुराणों की सत्ता तो थी ही, वह वैदिक काल में भी एक विकसित साहित्य था। ब्राह्मण ग्रंथों में इसीलिये दिवोदास और उनके पुत्र प्रतर्दन (द्युमान) का स्थान-स्थान पर उल्लेख है। वैदिक काल के मूल पुराणों का रूप क्या था ? वह अव प्राप्त नहीं ।

पाणिनि ने काशी,[4] वाराणसी[5] का उल्लेख भारत के प्रसिद्ध स्थानों में किया है। फलतः पाणिनि से वहुत पूर्व काशी और वाराणसी का यश फैल चुका था, जिन्हें काश और दिवोदास ने आवाद किया था। पाणिनि ने भी काशी शब्द जनपद वाची अर्थ में, और वाराणसी नगर-वाची अर्थ में लिखा है। वाराणसी राज्य की राजधानी थी। पाणिनि जनपद-युग के व्यक्ति थे। काशी उनके युग में जनपद (राष्ट्रीय-प्रान्त) था। किन्तु वे और पुराने दिन थे जव काशी साम्राज्य 'आ समुद्रात्तु वै पूर्वादासमुद्रात्तु पश्चिमाम्' एक चक्रवर्ती शासक के आधीन था जिसके सम्राट धन्वन्तरि थे।

पाणिनि ने 'वाराणसेय' भले ही लिखा हो, किन्तु प्राचीन ब्राह्मण ग्रंथों में वाराणसेय कोई नहीं था,—वे महा पुरुष 'काश्य' कहे जाते थे।[6] संभवतः यह दिवोदास से

---

1. 'दिवोदासो भैमसेनिरारुणिमुवाच'—काठक सं० 7-1-8
2. 'ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमथर्वणम् इतिहास पुराण पञ्चमं वेदानां वेदम्'—छान्दोग्य 7-1
3. ऋच; सामानि छन्दासि पुराणं यजुषा सह ।
   उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिवि देवा दिवि श्रितः ॥ —अथर्व, 11/7/24
4. अष्टा० 4/2/116
5. नद्यादिभ्योढक्—वाराणसेयः—4/2/97
6. दृप्त वालाकिर्हानूचानो गर्ग्य आस, स हो वाचाजात शत्रु काश्यं ब्रह्म ते ब्रवाणीति"—बृहदारण्यक, 1 ब्राह्मण

पूर्व के महापुरुष हैं। क्योंकि वाराणसी दिवोदास ने आवाद की थी। उससे पूर्व साम्राज्य भी काशी और राजधानी भी काशी। धन्वन्तरि उसी युग की विभूति थे। सुश्रुत ने धन्वन्तरि को कहीं 'वाराणसेय' नहीं लिखा। वहां सर्वत्र 'काशिपति' विशेषण प्रयुक्त है।[1] गीता में भी 'काशिराजस्तु वीर्यवान' ही लिखा है। अर्थात् महाभारत के समय भी वाराणसेय' कहना उतना सम्मान पूर्ण न था जितना 'काशिपति'। जो कोई वाराणसेय रहे हों —धन्वन्तरि 'काशिपति' से ही गौरवान्वित होते हैं। वह काशी जो 'धन्व'[2] तक शासन कर रही थी।

काठक संहिता में दिवोदास तथा आरुणि का संवाद दिया गया है। हम पीछे उसका उल्लेख कर आये हैं। वृहदारण्यक में आरुणी और याज्ञवल्क्य का संवाद है। जनक और याज्ञवल्क्य का भी। मैत्रेयी और कात्यायनी दोनों पत्नियों के साथ याज्ञवल्क्य का संवाद, अरुणि के पुत्र और नचिकेता के भाई श्वेतकेतु का पाञ्चाल सम्राट प्रवाहण जैवालि से संवाद, यह सारे सम्वाद गार्ग्य और काशी के अजात शत्रु सम्राट के सम्वाद के साथ उद्धृत किये गये हैं। सम्वादों की परिस्थितियां प्रकट करती हैं, ये सारे महापुरुष एक ही युग में हुए। ऐसी दशा में काशी के 'अजात शत्रु' दिवोदास ही प्रतीत होते हैं। परन्तु इस अजातशत्रु को भी लूटने वाले शत्रु चेदि के हैहय वंश में उत्पन्न हो ही गये। दिवोदास की वाराणसी लुट गई उसका सुहाग लुट जाने पर दिवोदास को 'वाराणसेय' कैसे कहा जाता? दो पीढ़ी वाद अलर्क उसे फिर श्री सम्पन्न कर पाया।

अलर्क के वाद वाराणसी चमकी। इसलिये ज्यों-ज्यों वाराणसी का यश वढ़ता गया। साहित्य में उसकी गरिमा वढ़ती गई। वौद्ध काल (ई० पू० 600) में काशी शब्द मन्द पड़ गया, वाराणसी ही प्रतिष्ठित थी। विनय पिटक में आठ दस वार वाराणसी का उल्लेख है। महावग्ग में भगवान् गौतम वुद्ध की धर्म चक्र प्रवर्त्तना का उल्लेख वाराणसी के ऋषिपत्तन (सारनाथ) से ही हुआ है।[3] वाराणसी को पाणिनि ने भी लिखा है। महाभाष्यकार पतञ्जलि ने भी।

निरुक्त में यास्क ने ऋग्वेद के एक मन्त्र की व्याख्या दी है जिसमें 'काशी'[4] शब्द है परन्तु वहां काशी शब्द देश अथवा नगर वाची नहीं, प्रत्युत विशेषण है। यास्क ने 'काशि' को संगठित के अर्थ में दिया है। वंधी हुई मुट्ठी काशि है। क्योंकि वह संगठित है।[5] यह धन्वन्तरि का साम्राज्य भी काशी इसीलिये कहा गया क्योंकि वह मुट्ठी की तरह संगठित था। यह संगठन टूटते ही काशी एक साम्राज्य नहीं, जनपद मात्र रह गया।

1. स्वयम्भुवा प्रोक्तमिदं सनातनम्।
   पठेद्धिय काशिपति प्रकाशितम्॥ —सुश्रुत 1/41
2. वाल्हीक (ईराक) का मरुस्थल
3. महावग्ग, धर्मचक्र प्रवर्त्तन
4. 'मघवन्काशिरित्ते'—ऋग्वेद 3/2/1/5
   काशिः कामयितव्य इत्यवगमः। मुष्टिः इत्यभिधेय वचनम्। एवमत्र संग्रहन सम्बन्धात् काशि शब्दो मुष्टयभिधायक इत्युपपद्यते।"—दुर्गाचार्य व्याख्या
5. निरुक्त पू० पटक 6/1/2

सौभाग्य यह है कि वह आज तक है।

जो भी हो काशी महाभारत से पूर्व एक महान शक्तिशाली राज्य था। और महाभारत के उपरान्त भी उसने अपनी प्रतिष्ठा खोई नहीं थी। भले ही अब वह 'आसमुद्रात्तु पश्चिमाम्' न रहा हो। वह राज्य दिवोदास तक तो धन्व पर्यन्त रहा। तभी दिवोदास का विरुद भी धन्वन्तरि रह सका। किन्तु प्रतर्दन ब्रह्मवादिता में इतने लीन हुए कि अराजक शक्तियों का दमन न हो सका—पूर्व और पश्चिम दोनों ओर के पर्यन्त प्रदेशों में विप्लव हुए और वे स्वतन्त्र राज्य बन गये। सच यह है कि राजनीति में ब्रह्मविद्या, विश्व प्रेम, अहिंसा और सह अस्तित्व जैसी बातों का कोई महत्व नहीं है।[1] इस चक्कर में राज्य शक्ति विद्रोहियों के हाथ चली ही जाती रही है। मनु ने ठीक कहा था—'दण्डः शास्ति प्रजाः सर्वाः।' दण्ड का शासन दुर्बल हो जाने पर भी विद्या का सबल शासन ही आज-तक काशी को जीवित रख सका। विद्या ऐसा धन था जिसे शत्रु नहीं लूट सके, चोर नहीं चुरा सके।

पाणिनि से पूर्व भारत में जनपद युग प्रारम्भ हो चुका था। महाभारत के उपरान्त विध्वस्त राज्य संस्थायें अपना क्रमिक विकास नहीं रख सकीं। तो भी पाणिनि से पूर्व (800 ई० पू०) भारत में सोलह 'महाजनपद' बने हुए थे। जनपद मूल राजसंस्थाएं थीं। विजित प्रदेशों से विस्तृत राजसंस्थाएं महा-जनपद थे। ये सोलह जनपद राजनैतिक स्वार्थों से कुछ इस प्रकार जुड़े थे कि दो-दो के आठ युगल बन गये थे। उनके नाम इस प्रकार हैं— (1) अंग-वंग (2) काशी-कोसल (3) वृजि-मल्ल (4) चेदि-वत्स (5) कुरु-पाञ्चाल (6) मत्स्य-शूरसेन (7) अश्मक-अवन्ति (8) गन्धार-कम्बोज।

पूर्वीय महाजनपदों पर अब भी काशी का प्रभाव था। इतिहास की सूचना के अनुसार अंग-वंग और मगध के विद्रोह के फलस्वरूप काशी ने उनका दमन किया और उनकी सारी सत्ता काशी के अधीन हो गई। किन्तु काशी का सहयोगी कोसल बढ़ने लगा। लगभग 675 ई० पू० कोसल ने काशी पर आक्रमण कर दिया। प्रसेनजित् कोसल का सम्राट था। काशी को उसने जीत कर महाकोसल राज्य बना लिया।[2]

सिंहल या ताम्रपर्णी तक दक्षिण, तथा मिश्र तक पश्चिम में सार्थवाहों से व्यवसाय करने वाले वाराणसेय व्यापारियों की स्वर्ण सम्पत्ति देकर काशी में सरस्वती का शासन फिर भी अक्षुण्ण रहा। विद्वानों की मण्डली कोसल नहीं, काशी ही जाती रही। मगध में जिन शिशुनाक वंशियों का राज्य प्रसिद्ध है, उनका मूल राजा शिशुनाक काशी के राज वंश का ही एक प्रतापी राजकुमार था। प्रायः 727 ई० पू० यह राजवंश स्थापित हुआ।[3] उससे पूर्व महाभारत तक काशी का जीवन वृत्तान्त पता नहीं क्या रहा? यास्क (800 ई० पू०) के पूर्व इतिहास के झुटपुटे में साफ-साफ कुछ दिखाई नहीं देता। पर

---

1. 'नहि केवल धर्मात्मा पृथिवीं जातु कश्चन।
   पार्थिवो व्यजयद्राजन्न भूतिं न पुनः श्रियम॥ —महाभारत, वनपर्व अ० 10
   (By C. V. Vaidya)
2. भारतीय इतिहास की रूप रेखा, भा० 1 प्र० 10 (सोलह जनपद)
3. भा० इ० रू० रे०, प्रकरण 10 (भाग 1)

काशी के आदि और अन्त देखकर ही मध्य का आभास मिलता है।

भगवान् बुद्ध का एक प्रवचन स्मरणीय है जिसमें उन्होंने काशिराज ब्रह्मदत्त का उल्लेख किया है।[1] वह इतिहास बड़ा मार्मिक है—'वाराणसी में काशिराज ब्रह्मदत्त बहुत दिन हुए, राज्य करता था। वह महाधनी, महाभोगवान, महासैन्य युक्त, महा-वाहन युक्त, महा राज्य युक्त और भरे कोष्ठागार वाला था। उसी समय कोसल में दीधिति नामक राजा राज्य करता था जो दरिद्र अल्प भोग, अल्प सैन्य, अल्पवाहन, अल्प राज्य कोप और अल्प कोष्ठागार वाला था। काशिराज ब्रह्मदत्तने चतुरंगिणी सेना लेकर कोसल राज दीधिति पर चढ़ाई कर दी।

दीधिति ने विचार किया, मैं दुर्बल हूं, अल्प शक्ति होने के कारण ब्रह्मदत्त से टक्कर नहीं ले सकता। इसलिए अपनी रानी को साथ लेकर दीधिति राजधानी (श्रावस्ती) से निकल भागा। कोसल पर ब्रह्मदत्त का अधिकार हो गया। दीधिति चलते चलते रानी सहित वाराणसी ही पहुंच गया। एक कोने में किसी कुम्हार के घर परि-व्राजक का रूप धारण कर रहने लगा। इस अज्ञात वास में दीधिति की महिषी गर्भिणी हुई।

एक दिन दीधिति की गर्भिणी महिषी को दोहद हुआ। वह बोली—देव ! मैं सूर्योदय के समय क्रीडाक्षेत्र में सन्नाह और वर्म से युक्त चतुरंगिणी सेना को खड़ी देखना चाहती हूं। और खड्ग की धोवन पीना चाहती हूं। और यदि यह न हो सका तो मैं मर जाऊंगी।

दीधिति चिन्तित हुआ। इस दुर्गति में यह कैसे संभव होगा ?

उस समय तक काशिराज ब्रह्मदत्त का ब्राह्मण पुरोहित परिव्राजक वेप धारी दीधिति का मित्र हो गया था। दीधिति पुरोहित के पास गया। सारी स्थिति पुरोहित से कह दी।

पुरोहित दीधिति के साथ उसकी भार्या के दर्शनार्थ गया। गर्भिणी को देखकर पुरोहित बोला 'निश्चय ही इसके गर्भ में कोसल का सम्राट है।' पुरोहित देवी से बोला—देवि ! तुम चिन्ता न करो मैं तुम्हारा दोहद पूरा करूंगा।

पुरोहित काशिराज ब्रह्मदत्त के समक्ष जाकर बोला—देव ! कल ऐसा मुहूर्त है कि सूर्योदय के समय सन्नाह और वर्म धारण कर क्रीडा क्षेत्र में चतुरंगिणी सेनायें खड़ी हों, और खड्ग धोये जायें।

काशिराज ब्रह्मदत्त ने पुरोहित को वैसा करने की आज्ञा दे दी। सेना खड़ी हुई खड्ग धोये गये।

कोसल पति दीधिति की महिषी ने सूर्योदय के समय चतुरंगिणी सेना को देखा और खड्गों की धोवन पी।

दीधिति की रानी ने समय पर एक तेजस्वी पुत्र को जन्म दिया। माता-पिता ने उसका नाम दीर्घायु रक्खा। शीघ्र ही दीर्घायु विज्ञ हो गया। बात खुलने पर कहीं काशिराज

1. विनय पिटक (महावग्ग) दीर्घायुजातक—

मुझे और मेरे पुत्र को मरवा न दे, इसलिये वह दीर्घायु को नगर से बाहर बसा आया। नगर से बाहर रहते हुए ही दीर्घायु सारे शिल्प सीख गया।

समय की बात, कोसल-राज दीधिति का नाई (हज्जाम) काशि राज ब्रह्मदत्त की सेवा में पहुंच गया। एक दिन हज्जाम ने दीधिति कोसल राज को पत्नी सहित कुम्हार के घर में रहते देख लिया। उसने यह भेद काशिराज ब्रह्मदत्त को बता दिया।

ब्रह्मदत्त ने अपने सिपाहियों को आज्ञा दी, "कोसल राज को स्त्री सहित पकड़ लाओ।"

सिपाही कुम्हार के घर से कोसल राज को स्त्री सहित पकड़ लाये। राजा ने आज्ञा दी—

"कोसल राज के दोनों हाथ पीछे की ओर बांध दो। सिर के बाल मुंड़वा कर एक नगाड़ा जोर से बजाते हुए नगर के चौराहे-चौराहे पर घुमाओ।" सिपाही घुमा रहे थे। अचानक दीर्घायु माता-पिता के दर्शनार्थ नगर में आ रहा था। पिता ने पुत्र को और पुत्र ने पिता को मार्मिक दृष्टि से देखा। दीर्घायु पिता के समीप गया। पिता ने दीर्घायु के समीप आने पर कहा—'वत्स ! तुम छोटा बड़ा देखकर काम न करना। वैर से वैर शान्त नहीं होता, अवैर से वैर शांत होता है।'

सिपाही समझ न सके। उनका खयाल था कोसल राज दीधिति अपमान से पागल हो बक्-झक् कर रहा है अन्यथा कोसल राज का दीर्घायु से क्या सम्बन्ध ? पिता ने पुत्र से तीन बार वही उपदेश कहा।

काशी राज ब्रह्मदत्त ने आज्ञा दी, "दीधिति को स्त्री सहित नगर में घुमाने के बाद नगर के दक्षिण द्वार के बाहर ले जाकर चार टुकड़े कर दो, और चारों दिशाओं को बलि चढ़ा दो।"

सिपाहियों ने घुमाकर दक्षिण द्वार के बाहर जाकर दोनों के चार-चार टुकड़े कर दिशाओं को बलि दे दी।

दीर्घायु ने वेदना भरे नेत्रों से यह देखा। वह बुद्धिमान था। नगर से जाकर शराब लाया। पहिरेदारों को पिलायी। नशे में वे सो गये। अब दीर्घायु ने अपने पिता और माता के खण्डित देह के टुकड़े बटोरे। चिता बनाई। आग लगा दी। चिता प्रज्व-लित हो उठी। भक्ति भरे भाव से वह माता-पिता की चिता की तीन प्रदिक्षणा देकर चल दिया।

काशि राज ब्रह्मदत्त महल की छत पर था। उसने दीर्घायु को चिता की प्रद-क्षिणा करते देखा। मन में सोचने लगा, निस्सन्देह यह दीधिति का सजातीय है। मुझे इस व्यक्ति की खबर ही नहीं मिली। किन्तु दीर्घायु निकल गया।

जंगल में जाकर दीर्घायु माता-पिता के वियोग में पेट भर रोया। पर अब क्या हो ? साहस बांधकर राज महल की ओर लौटा। अन्तःपुर के पास वाली हथसार (फील-ख़ाना) के महावत से मिला।

"आचार्य ! मैं तुमसे कला सीखना चाहता हूं।"

वत्स ! सीखो ।

वीणा और संगीत की शिक्षा प्रारम्भ हुई । दीर्घायु प्रभात में उठता वीणा बजाता और मधुर स्वर लहरियों से दुर्ग के कोने-कोने को मंजुलता से भर देता था।

काशिराज ब्रह्मदत्त ने सुना । संगीत की मधुरता से गद-गद् हो गया। अपने आदमियों से पूछा 'प्रभात का यह मधुर गायक कौन है ?'

'सम्राट ! यह दुर्ग के महावत का शिष्य है, जो प्रभात में उठकर गाता और वीणा बजाता है।'

'तो सौम्य ! उस शिष्य को यहां ले आओ।'

'जो आज्ञा सम्राट।'—वे लोग दीर्घायु कुमार को ब्रह्मदत्त के पास ले आये।

सम्राट ने पूछा—कुमार ! क्या तुम्हीं प्रभात में गाते और वीणा बजाते हो ?

'हां देव !'

'तो कुमार ! यहां भी गाओ और वीणा बजाओ।'

दीर्घायु कुमार ने वीणा छेड़ दी और मधुर स्वर से गाया।

'कुमार ! तू मेरी सेवा में रह।'

'जो आज्ञा सम्राट !' वह सम्राट ब्रह्मदत्त की सेवा में रहने लगा।

दीर्घायु काशिराज ब्रह्मदत्त से पूर्व सोकर उठता और पीछे सोता। धीरे-धीरे वह सम्राट का प्रिय सेवक हो गया। वह प्रियचारी और प्रियवादी सेवक था। थोड़े ही समय में ब्रह्मदत्त सम्राट ने दीर्घायु कुमार को अन्तरंग के विश्वसनीय स्थान पर नियुक्त कर दिया।

एक बार काशिराज ब्रह्मदत्त ने दीर्घायु से कहा—सौम्य ! रथ जोतो शिकार के लिये चलेंगे।

दीर्घायु ने रथ जोता। सम्राट से निवेदन किया—'देव ! रथ जुत गया।'

काशिराज ब्रह्मदत्त रथ पर चढ़ा। दीर्घायु ने रथ हांका। उसने रथ ऐसा हांका कि सेना दूसरी ओर गई और रथ दूसरी ओर।

बहुत दूर जाकर काशिराज ब्रह्मदत्त ने कहा—सौम्य ! रथ रोको। थक गया हूं। लेटूंगा।

'जो आज्ञा देव !' कह कर दीर्घायु ने रथ खोल दिया और भूमि पर पलोथी मार कर बैठ गया। काशिराज ब्रह्मदत्त कुमार दीर्घायु की गोद में सिर रख कर सो गया। थका होने से क्षण भर में गहरी निद्रा आ गई।

दीर्घायु मन ही मन सोचने लगा—यह काशिराज ब्रह्मदत्त हमारे बहुत से अनर्थों का कारण है। इसने हमारी सेना, वाहन, देश, कोष और कोष्ठागार को छीन लिया है। इसी ने हमारे माता-पिता को मरवा डाला। यह समय है जब मैं वैर का बदला ले लूं। यह विचार कर उसने म्यान से तलवार निकाल ली। किन्तु सहसा हृदय ने टोका। मरते समय पिता ने मुझ से कहा था—'वत्स दीर्घायु ! छोटा बड़ा मत देखो। वैर से वैर की शान्ति नहीं होती। अवैर से ही दीर्घायु ! वैर शान्त होता है।' इसलिये

मेरे लिये पिता के वचनों का उल्लंघन करना ठीक नहीं। यही सोच-विचार कर म्यान में तलवार फिर रख दी।

भयभीत, उद्विग्न, शंकायुक्त, त्रस्त होता हुआ काशिराज ब्रह्मदत्त जाग गया। दीर्घायु ने पूछा—सम्राट ! भयभीत होकर जाग क्यों उठे ?

सौम्य ! मैं स्वप्न देख रहा था। कोसलराज दीधिति के पुत्र कुमार दीर्घायु ने मुझे खड्ग से मार गिराया। इसी से चौंककर सहसा मेरी नींद खुल गई।

यह सुनते ही कुमार दीर्घायु ने बायें हाथ से ब्रह्मदत्त के सिर को पकड़, दाहिने हाथ से तलवार खींच ली। और काशिराज ब्रह्मदत्त से कहा—देव ! मैं हूं कोसलराज दीधिति का पुत्र कुमार दीर्घायु। तुमने हमारे बहुत से अनर्थ किये हैं—हमारी सेना, वाहन, देश, कोष, और कोष्ठागार को छीन लिया है। तुम्हीं ने मेरे माता-पिता को मार डाला। उस वैर के प्रतिशोध का यही समय है।

काशिराज ब्रह्मदत्त ने दीर्घायु के चरणों में सिर रख दिया। करुण स्वर में बार-बार कहने लगा 'तात दीर्घायु ! मुझे जीवन दान दो'—'तात दीर्घायु ! मुझे जीवन दान दो।'

—'देव ! मैं तुम्हें जीवन दान दे सकता हूं, यदि तुम भी मुझे जीवन दान दो।'

'तात दीर्घायु ! तुम मुझे जीवन दान दो, मैं तुम्हें जीवन दान देता हूं।'

काशिराज ब्रह्मदत्त और दीर्घायु कुमार ने एक-दूसरे को जीवन दान दिया, और एक दूसरे का हाथ पकड़ कर एक दूसरे के विरुद्ध द्रोह न करने की शपथ ली।

फिर काशिराज ब्रह्मदत्त ने दीर्घायु से कहा, तात ! रथ जोतो, लौट चलें।'

दीर्घायु ने रथ जोता।—'देव ! रथ जुत गया। जिधर आज्ञा दो, चलें।

काशिराज ब्रह्मदत्त रथ पर बैठा। दीर्घायु ने रथ हांक दिया। थोड़ी ही देर में रथ सेना से जा मिला। सजधज के साथ चतुरंगिणी सहित काशिराज ब्रह्मदत्त ने वाराणसी में प्रवेश किया। सारे अमात्यों और पारिषदों को बुला कर सम्राट ने कहा—'आर्य ! यदि दीधिति के पुत्र दीर्घायु कुमार को देखोगे तो उसका क्या करोगे ?'

किसी ने कहा 'हम हाथ काटेंगे', किसी ने कहा, 'हम पैर काटेंगे', 'हम हाथ पैर काटेंगे, देव !' 'हम नाक काटेंगे, देव !' हम कान काटेंगे, कुछ ने कहा 'हम सिर काट लेंगे।'

सम्राट बोले—'आर्य ! यह दीधिति का पुत्र दीर्घायु कुमार है। इसका तुम कुछ नहीं करने पाओगे। इसने मुझे जीवन दान दिया है, और मैंने इसे जीवन दान दिया।'

तब काशिराज ने दीर्घायु कुमार से कहा—तात दीर्घायु ! पिता ने मरने के समय तुम से कहा था—"वत्स दीर्घायु ! यह तुम छोटा बड़ा मत देखो। वैर से वैर शान्त नहीं होता, अवैर से ही वैर शान्त होता है।" क्या सोच कर तुम्हारे पिता ने ऐसा तुमसे कहा था ?

'देव !' मेरे पिता ने यह जो कहा था कि 'बड़ा मत देखो' अर्थात् चिरकाल तक वैर न करो। और यह जो कहा 'छोटा मत देखो' अर्थात् मित्रों से जल्दी बिगाड़ मत

करो। मरते समय पिता ने यह जो कहा था कि 'वैर से वैर शान्त नहीं होता, अवैर से ही वैर शान्त होता है'—देव ! आपने मेरे माता-पिता को मारा इसलिये यदि मैं आप को प्राण से मारता तो आपके हितैषी मुझे प्राण से मार देते। और जो मेरा हित चाहने वाले हैं वे उन्हें प्राण से मारते'—इस प्रकार वह वैर वैर से शान्त न होता। किन्तु इस समय देव ने मुझे जीवन दान दिया, और मैंने देव को जीवन दान दिया। इस प्रकार अवैर से ही वैर शान्त होना था। यही विचार कर मरते समय देव ! मेरे पिता ने कहा था—वैर से वैर शान्त नहीं होता, अवैर से ही वैर शान्त होता है।

काशिराज को यह सुनकर लगा—धन्य है यह सुपुत्र। यह दीर्घायु कुमार कितना पण्डित है। संक्षेप में कहे पिता के उपदेश को इतने विस्तार से समझ गया। ऐसा विचार कर उसके पिता की सेना, वाहन, देश, कोष और कोष्ठागार सभी कुछ लौटा दिया। और न केवल इतना, सुपात्र समझ अपनी कन्या भी प्रदान कर दी।

भगवान् बुद्ध ने संघ को सम्बोधित करते हुए कहा—भिक्षुओ ! शास्त्र और दण्ड ग्रहण करने वाले उन क्षत्रियों में भी विवेक से मेल हो गया, फिर स्वाख्यात धर्म में प्रव्रजित भिक्षुओं में प्रेम होना ही चाहिये।

तथागत द्वारा उद्धृत इस इतिहास में धन्वन्तरि का वह ओज और तेज है, जिसमें विवेक का सौरभ है। वह उन लोकोत्तर महापुरुषों की विरासत है जिनके उदात्त चरित्र 'वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि' रहे हैं। परन्तु काशिराज ब्रह्मदत्त भगवान् बुद्ध से कितने पूर्व हुए ? यह प्रश्न अभी शेष है ही। उत्तर इतना तो हो ही सकता है ईसवी पूर्व 626 से बहुत पहिले। काशिराज ब्रह्मदत्त, कोसलराज दीधिति और कुमार दीर्घायु का यह परिचय तथागत दे गये। मानव जीवन के उदात्त आदर्शों के लिये काशी सदैव ही उद्धृत किया जाता रहा है। क्योंकि उसके आदर्श महान थे, उसकी संस्कृति महान थी और उसके चरित्र अनुकरणीय।

काशी और कोसल के इस संघर्ष में कौन हारा ? कौन जीता ? यह कहना कठिन है। धर्म और राजनीति के इस योग में हार से जीत का और जीत से हार का विश्लेषण करना अशक्य है। दो विरोधी राजवंश मिल कर एक हुए, जैसे सुमन और सौरभ। दोनों महान ! दोनों आदर्श !! एक को धन्वन्तरि ने पावन किया और दूसरे को राम ने। इन देवताओं का सन्तुलन मानव की शक्ति से बाहर है। दीर्घायु में राम और ब्रह्मदत्त में धन्वन्तरि ही झलकते हैं।

भारतीय इतिहास के नैतिक आदर्शों की भूमिका रचने वाले महापुरुषों की परम्परा काशी के राजवंश में आदि से चली आई है। उन्होंने जिन नैतिक आदर्शों की स्थापना की है उन्हें स्वयं ही चरित्र में ढाल कर सिद्ध किया। उनके विचार सिद्धान्त बने, और उनके चरित्र इतिहास। यह कहने में अतिशयोक्ति नहीं है कि भारत के प्राचीन इतिहास का पचास प्रतिशत गौरव काशी का इतिहास है।

पौराणिक इतिहास में मान्धाता का नाम हम पढ़ते हैं। इतिहास के लेखे में काशी राज्य का प्रथम सम्राट मान्धाता ही था। वह अपने युग का अलंकार था। वह

सतयुग की कथा है।[1] उसके वंश का उल्लेख भी श्री मद्भागवत में दिया है[2]:—

1. युवनाश्व
2. मान्धाता
3. अम्बरीष
4. यौवनाश्व
5. हारीत
6. पुरुकुत्स
7. त्रसदस्यु
8. अनरण्य
9. हर्यश्व
10. अरुण
11. त्रिबन्धन
12. सत्यव्रत (त्रिशंकु)
13. हरिश्चन्द्र (सत्य हरिश्चन्द्र)
14. रोहित

मान्धाता और अम्बरीष की प्रजावत्सलता, कर्तव्यनिष्ठा, और त्याग हमारे इतिहास को आज तक आलोकित कर रहे हैं। काशी के-दूसरकर्णिका घाट पर पहुंचकर आज भी कर्त्तव्यनिष्ठा पर मरनेवालों में सबसे प्रथम है न करने की शपथ ली। रानी शैव्या की स्मृति में किस भारतीय की आंखें सजल , तात ! रथ जोतो, लौट चरिश्चन्द्र और शैव्या अब नहीं हैं, किन्तु रानी शैव्या के फटे गया। जिधर आज्ञा दो, त्तं, पोटली बांधकर वे काशी में ही छोड़ गये।

ऐतरेय ब्राह्मण को देखो—'चरैवेति' का संचरण-सूक्त रोहित की विरासत है। थके हुए मानव को जीवन की मंजिल तक पहुंचने के लिए वह ऐसा सम्बल है जो पुराना नहीं होता। जो नश्वर जीवन में अविनाशी प्राणों की प्रेरणा संचरित करता ही रहा है, करता ही रहेगा।[3]

काल निर्णय—वैदिक युग दो भागों में बंटा है। संहिता काल और ब्राह्मण काल। दिवोदास और प्रतर्दन का उल्लेख ब्राह्मण ग्रंथों में पर्याप्त मिलता है। ब्राह्मण युग में ब्राह्मण और आरण्यक साहित्य दोनों समाविष्ट हैं। दिवोदास और प्रतर्दन का उल्लेख दोनों में है। यह पीछे लिख आये हैं। संहिता काल के ऋषियों में—(1) गृत्समद (2) विश्वामित्र (3) वामदेव (4)अत्रि (5) भरद्वाज तथा (6) वसिष्ठ आदि महर्षि तत्व

---

1. मान्धाता च महीपतिः कृतयुगालंकार भूतो गतः—भर्तृहरिः
2. श्री यन्दागवत, स्क॰ 9, अ॰ 7
3: पुष्पिण्यौ चरतो जंघे भूष्णुरात्मा फलग्रहिः।
शेरेस्य सर्वेपाप्मानः श्रमेण प्रपथे हताः ॥
चरैवेति, चरैवेति ॥—ऐतरेय ब्रा॰
(पांच मन्त्र)

वेत्ताओं में प्रमुख थे। अत्रि ने आयुर्वेद संहिता में 'धन्वन्तरि' के नाम की आहुति का विधान लिखा है। इसलिये हमें यह स्वीकार करना ही होगा कि धन्वन्तरि संहिताकाल के ही महापुरुष हैं। लोकमान्य तिलक के अनुसार यह समय कम से कम 6075 ई० पूर्व अवश्य है। लोकमान्य ने इसे 'अदिति-काल' का नाम दिया है। भारतीय संस्कृति का यह प्राचीनतम युग है। किन्तु वह संकृति जो अपने शिखर तक विकसित थी।

लोकमान्य तिलक के विचार से अदिति काल 6075-4075 ई० पूर्व तक है। इस युग में प्रमुख-प्रमुख उपास्य देवताओं के स्तुति मन्त्र तैयार हुए। कतिपय यज्ञीय निविदों (विधि मन्त्रों) की रचना भी होने लगी थी।

दूसरा भाग मृगशिरा काल है जो ईसा 4075 से 2075 ई० पूर्व तक आता है। इस काल में तैत्तिरीय संहिता, शतपथ ब्राह्मण आदि ग्रंथों की रचना हुई थी। ऋग्वेद के कितने ही अंश पूर्ण हुए। यह युग विशेष क्रिया शील था। दिवोदास और प्रतर्दन इसी युग की विभूति थे।

तीसरा कृतिका काल 2575 ई० पू० से 1475 ई० पूर्व तक रहा है। इस भाग में उपनिषद, तथा वेदांगों का विकास हुआ। ज्योतिष के ग्रंथ इसी युग में निर्मित हुए। काशीराज ब्रह्मदत्त इसी समय के महापुरुषों में थे।

चौथा अन्तिम काल 1475 ई० पू० से 500 ई० पू० तक रहा है। इस काल में गृह्यसूत्र, श्रौतसूत्र, दर्शन आदि साहित्य का सृजन हुआ था। सूत्र साहित्य इसी युग की विशेषता है। यास्क, पाणिनि तथा गौतम वुद्ध का आविर्भाव इस युग की विशेषता है। इस चौथे युग में आयुर्वेद संहिताओं के प्रतिसंस्कार भी हुए।

लोकमान्य तिलक के अनुसार दिवोदास और प्रतर्दन अदिति काल के अन्त में तथा मृगशिरा के प्रारम्भ में आविर्भूत हुए थे। इस युग के साहित्य में इन दोनों का पर्याप्त उल्लेख है। और इसलिये तिलक की काल गणना के अनुसार दिवोदास कम से कम 6075 वर्ष पूर्व तथा धन्वन्तरि इनसे दो पीढ़ी पूर्व हुए। इन दो पीढ़ियों का समय यदि 150 वर्ष और रख लें तो धन्वन्तरि ईसा से 6225 वर्ष पूर्व हुए। इसके अर्वाचीन युग में उन्हें नहीं लाया जा सकता। प्राचीन भले हो सकता है।

उपनिषदों की प्राचीन रचनाओं में काशी के सम्राटों के लिए 'काश्य' विशेषण ही प्रयुक्त है 'वाराणसेय' नहीं। वह दिवोदास के वसाये जाने पर भी प्रतिष्ठित न हो सकी, और हैहयों ने उसे उजाड़ दिया। दो पीढ़ी बाद अलर्क ने उसे प्रतिष्ठित किया। इसलिए सुश्रुत संहिता में दिवोदास ने भी अपने को 'काशिराज' ही कहा 'वाराणसेय' नहीं। अतएव दिवोदास ब्राह्मण काल में 4075 ई० पू० हुए।

वृहज्जावालोपनिषद में काशी और वाराणसी दोनों का उल्लेख है।[1] यह काशी के उत्तर काल को प्रकट करते हैं। कौषीतिकि ब्राह्मण उपनिषद में दिवोदास के पुत्र

---

1. वृ० जा० उपनि० ब्राह्मण 5/3 तथा ब्राह्मण 7/7

प्रतर्दन का इन्द्र के साथ संवाद वर्णित है।[1] उससे प्रकट होता है कि प्रतर्दन भी युद्ध करता रहा। काशी के विरोधी तत्वों के दमन के लिये वह पुरुषार्थ शील रहा। तो भी काशी का राज्य टूटने लगा। विनय पिटक में हम ब्रह्मदत्त को भी युद्ध निष्ठ देखते हैं। कोसल उसका सबसे निकट शत्रु बना। यद्यपि काशिराज ब्रह्मदत्त ने दीर्घायु को अपनी कन्या दे दी, तो भी राजाओं की मित्रता कितने दिन ? पाणिनि के युग (700 ई० पू०) में काशी संभवत: एक स्वतन्त्र राज्य ही न रहा।[2] काशी कोसल के साथ जुड़ा हुआ था। उसका कुछ भाग मगध ने दाब लिया। जिसके नाम से सारा राष्ट्र आहुति दे ऐसा कोई सम्राट फिर काशी में न हो सका। वह धन्वन्तरि ही थे जो समग्र राष्ट्र के देवता बन सके।

पाणिनि का युग जनपद युग कहा जाता है।[3] जनपद और संघ दो प्रकार के शासन पाणिनि के युग में चल रहे थे। काशी उस युग में भी जनपदों में गिना जाता था। एकराज जनपदों में काशी की प्रतिष्ठा तब भी थी। वहां की जनता ने सदैव अपने सम्राट को स्वर्गीय देवताओं का अवतार मानकर सम्मानित किया। जगह-जगह संघ शासन बने[4] परन्तु काशी की जनता ने अपने सम्राट को कभी चिनौती नहीं दी। वह उसे भगवद्रूप में देखती रही है।

महाभारत के बाद युधिष्ठिर ने राजसूय यज्ञ किया। काशी की ओर भीम सेन गये। काशीराज सुबाहुने आधीनता स्वीकार न की। महाभारत में लिखा है—'युद्ध में किसी से विमुख न होने वाले सुबाहु को भीम सेन ने परास्त कर दिया।' (महाभारत सभा० 30)

कोसल ने काशी पर आक्रमण किया। मगध ने काशी पर आक्रमण किया। मौर्यों ने आक्रमण किया। शुंगों ने आक्रमण किया। गुप्तों और कान्यकुब्जों ने भी उसके विरुद्ध अभियान किये। किन्तु सारे आक्रान्ता मिलकर भी काशी के यश को धूमिल नहीं कर पाये। कोसल के सूर्यवंशी, मगध के शिशुनाग, शुंग, गुप्त, एवं कान्यकुब्ज के वर्धन काशी का सोना, वैभव और भूमि भले ही लूट ले गये हों, किन्तु विद्या का धन किसी के लूटे न लुटा। जिसके लिये भारत का जन-जन उसे मस्तक झुकाता है, और तीर्थ कह कर सम्मानित करता है। काशी में भगवान् बुद्ध आये। भिक्षु संघ बने। शैव आये, शाक्त आये। सब आये, किन्तु धन्वन्तरि की ज्योति तनिक भी धूमिल न कर सके। आकाश में लाखों तारे चमके, किन्तु चन्द्रमा की ज्योत्स्ना तनिक भी मन्द न हुई।

आत्रेय और कश्यप ने अपनी संहिताओं में धन्वन्तरि को आहुति देने की व्यवस्था की है। आत्रेय की कश्यप के साथ समकालीनता हमने उनके प्रसंग में लिखी है। न केवल इतना ही, आत्रेय की पत्नी अनसूया का विस्तृत उल्लेख रामायण में मिलता है। राम के वनवास में अनसूया ने सीता को नारी जीवन के आदर्शों पर सुन्दर उपदेश दिये थे। इसलिये यह निश्चित है कि धन्वन्तरि रामायण युग से पूर्व हो चुके थे। आज से महाभारत काल पांच सहस्र वर्ष पूर्व कहा जाता है। महाभारत से रामायण भी लगभग

1. 'प्रतर्दनो ह वै दैवोदासिः इन्द्रस्य प्रियं धामोपजगाम युद्धेन पौरुषेण च तं हेन्द्र उवाच"
—कौ० ब्रा० उपनि० 3/1

2. पाणिनि कालीन भारत वर्ष, अ० 2/4

3. गोल्ड स्टूकर ने वह समय 700 ई० पू० निश्चय किया।

4. मगध की शक्ति धीरे-धीरे बढ़ती गई। अन्ततोगत्वा कोसल और काशी मगध के ही अन्तर्गत हो गये।

इतने ही पूर्व मान ली जाय तो यह कहने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिये कि धन्वन्तरि अब से दस सहस्र वर्ष से अधिक अर्वाचीन नहीं हैं।

कतिपय पाश्चात्य विद्वानों ने उन ग्रन्थों के काल निर्णय का प्रयत्न किया है जिनमें प्रतर्दन, दिवोदास के उद्धरण मिलते हैं। भारतीय साहित्य का इतिहास लिखते हुए वेबर ने लिखा कि—श्वेतकेतु, आरुणि, बालाकि गार्ग्य, काशी के सम्राट् अजातशत्रु (संभवतः दिवोदास) तथा जनक के उल्लेखों में समानता होने के कारण कौपीतकि ब्राह्मण उपनिषद् तथा बृहदारण्यक उपनिषद् का रचनाकाल समान ही है।[1] विण्टरनिज़ का विचार भी ऐसा ही है।[2] कौपीतकि ब्राह्मण (17-4) का यास्काचार्य के निरुक्त (1-9) में उल्लेख है। पाणिनि ने 'विकर्षण कुषीतकात् काश्यपे' इस सूत्र में कौपीतकि के पूर्वज कुपीतक का उल्लेख किया है। अतएव कौपीतकि ब्राह्मण पाणिनि और यास्काचार्य से भी पूर्व के हैं।[3] पाणिनि ने गौतम-बुद्ध, महावीर स्वामी तथा उनके बौद्ध एवं जैन सम्प्रदायों का कहीं उल्लेख नहीं किया। इस कारण यह स्पष्ट है कि पाणिनि बुद्ध और महावीर से पहले हो चुके थे। यह समय ईसा से 700-800 वर्ष पूर्व है। गोल्डस्टूकर का विचार भी ऐसा ही है।[4] श्री विनायक चिन्तामणि ने पाणिनि का यह समय ईसा से 900 वर्ष पूर्व सिद्ध किया। इन सब विचारों के मन्थन से यह स्पष्ट है कि कौपीतकि ब्राह्मण बुद्ध के आविर्भाव से बहुत पूर्व का है। बृहदारण्यक उपनिषद् उससे भी पूर्व का। अतएव प्रतर्दन और दिवोदास (अजातशत्रु) को हमें उनसे पूर्व का मानना ही पड़ेगा। धन्वन्तरि को उनसे भी दो पीढ़ी पूर्व का। यह कितना पूर्व का समय होगा? हम रामायण का उल्लेख देकर सिद्ध कर चुके हैं कि वह समय रामायण काल से भी पूर्व का होना चाहिए।

भूमध्य एशिया में किश नामक स्थान पर मिलने वाले भूगर्भ के संस्मरण भारतीय देवताओं की प्रभुसत्ता उस प्रदेश में सिद्ध करते हैं। और इसी वर्ष तजाकिस्तान (रूस) में 36 फीट ऊंची महात्मा बुद्ध की प्रतिमा भूगर्भ से प्राप्त हुई है।[5] छान्दोग्य और बृहदारण्यक उपनिषदों में गन्धार और सिन्धुकोप (हिन्दूकुश), की कथाओं का चित्रण भारतीय जीवन का परिचायक माना गया है। सुश्रुत में पुष्कलावती का भारतीय चित्रण है। निरुक्त में कम्बोज का सान्निध्य, तथा रघुवंश में कालिदास का पारस्य विजय यह भली भांति सिद्ध करते हैं कि वह सम्पूर्ण प्रदेश भारत की प्रभुसत्ता में ही पालित और पोषित हुआ है। हमने ही उन्हें शिक्षा और सभ्यता दी। इन शासन का

1. History of Indian Literature—Weber, p. 52
2. History of Indian Literature—Winternitz.
3. *Rigveda Brahmans, Translated by Keith*, p. 42
4. *Panini, His place in Sanskrit literature. —Goldstucker*
5. *Hindustan Times (Daily) Nov. 21, 1965 (U. N. I.)*
   'A Buddha statue 36 Ft high, has recently been excavated from a mountain vally in Tajikistan, Soviet union. It is first statue of this size to be found in Central Asia and had lain burried for almost 14 Centuries, Says Soviet Embassy release.'

केन्द्र धन्वन्तरि का दरबार काशी में ही था। वर्तमान भारत जो भी है, किन्तु काशी से लेकर गन्धार, और किश तक, भूगर्भ से मिलने वाले संस्मरण धन्वन्तरि के प्रभाव और प्रताप का ही परिचय देते हैं। वे उस अखण्ड प्रभुसत्ता की ओर इंगित करते हैं, जिसे धन्वन्तरि ने स्थापित किया था। समुद्र मन्थन हुआ, देवासुर संग्राम हुआ, परन्तु शासन धन्वन्तरि का ही रहा। यूरोपीय विद्वान याकोबी ने कहा था, 'इस घटना को दस सहस्र वर्ष से कम नहीं हुए।'

ईसा से 200 वर्ष पूर्व शुंग काल में मनुस्मृति की सूत्र रचना को वर्तमान श्लोक-बद्ध रचना का रूप प्रदान किया गया था। इस धर्म व्यवस्था का क्रम लिखते हुए मनु ने कहा, 'ब्रह्मा ने यह धर्मशास्त्र मुझे उपदेश किया था, और मैंने मरीचि, अत्रि, अंगिरस्, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, प्रचेता, वसिष्ठ, भृगु और नारद इन दस मुनियों को उपदेश किया। उन्हें प्रजापति कहते हैं, क्योंकि उन्होंने ही इस धर्म को प्रजा में प्रतिष्ठित किया था।'[1] इस उल्लेख से यह स्पष्ट है कि जिन आत्रेय पुनर्वसु ने अग्निवेश तन्त्र का उपदेश किया था उनके पिता अत्रि से पूर्व मनु हुए थे। मनु ने ही अत्रि को यह धर्मशास्त्र उपदेश किया। इस धर्मशास्त्र का उपदेश देते हुए बलिवैश्वदेव यज्ञ का जो विधान मनु ने कहा उसमें धन्वन्तरि के लिए आहुति देने की व्यवस्था भी की थी।[2] इसलिए किसी भी क्लिष्ट कल्पना के बिना ही यह सिद्ध है कि मनु के आविर्भाव से भी बहुत पूर्व धन्वन्तरि का यश भारत के घर-घर में व्यापक हो चुका था। अत्रि जिन मनु के चरणों में मस्तक झुकाते थे वे मनु धन्वन्तरि को देवता मानकर पूजते रहे और अपने धर्मशास्त्र में उस पूजा को नित्य कर्म बना गये। मनुस्मृति का वर्तमान रूप 200 ई० पूर्व पुष्यमित्र शुंग के शासन में निर्मित हुआ था। किन्तु वह भृगु के लिखे जिन सूत्रों के आधार पर लिखा गया था, उनका निर्माण कब हुआ था? भृगु और अत्रि समकालीन हैं। अत्रि और अयोध्यापति राम भी समकालीन थे। अत्रि पत्नी अनसूया ने वन में सीता को उपदेश दिया था। मनु इस युग के निर्माताओं में अवश्य थे। किन्तु धन्वन्तरि उससे पूर्व ही अपनी यश-पताका गाड़कर इस वसुधा से चले गये थे।

धन्वन्तरि के चरण चिह्नों पर चलकर आयुर्वेद की वैज्ञानिक प्रतिष्ठा स्थापित करने वाले सुषेण जैसे प्राणाचार्य राम के समय भी विद्यमान[3] थे। 'धन्वन्तरि संहिता' उस युग की आयुर्वेदिक प्रतिष्ठा थी और धन्वन्तरि-सम्प्रदाय उस गरिमा का साक्षी।

रामायण से महाभारत तक इतिहास बहुत धुंधला है। परन्तु उस युग में जो बड़े-बड़े कार्य हुए उनका ब्यौरा जब भारतीय विद्वानों ने संकलित किया तो 'जय'

1. 'इदं शास्त्रं तु कृत्वा ऽसौ मामेव स्वयमादितः।
विधिवद् ग्राह्यामास मरीच्यादींस्त्वहं मुनीन्॥ —मनु० 1/58
मरीचिमत्र्यंगिरसौ पुलस्त्यं पुलहंक्रतुम्।
प्रचेतसंवसिष्ठं च भृगुंनारदमेव च॥ —मनु० 1/35
2. अग्नेसोमस्य चैवादौ तयोश्चैव समस्तयोः।
विश्वभ्यश्चैव देवेभ्यो धन्वन्तरय एव च॥ —मनु० 3/85
3. वाल्मीकीय रामायण।

नामक ग्रन्थ 'महाभारत' बन गया। इतिहास, पुराण, कल्प, गाथा, नाराशंसी यह सब प्राचीन इतिहास के ही अंग हैं, जिनमें भारतीय अतीत के युग बोलते हैं। काल की अवधि मानकर व्यक्तियों को नहीं बांधा जा सकता। वह व्यक्तियों के चरित्र हैं, जो काल की अवधि बांधते हैं।

कुछ ऐतिहासिकों का विचार है कि महाभारत के बाद काशी एक शक्तिशाली राज्य बन गया था। उपनिषद् काल जिसे कहा जाता है वह भी महाभारत के बाद का ही युग है। इस आधार पर हम दिवोदास और प्रतर्दन को महाभारत के बाद नहीं ला सकते। वस्तुत: उपनिषद् युग महाभारत का परवर्ती काल है यह विचार ही गलत है।

भगवद्गीता महाभारत का ही एक अंश है और भगवद्गीता की दार्शनिक पृष्ठ-भूमि उपनिषद् ही हैं। यह प्राचीन उत्प्रेक्षा ही उपर्युक्त भ्रान्ति के निवारण के लिए पर्याप्त है—'सम्पूर्ण उपनिषदें' गाय हैं। अर्जुन उसका बछड़ा—दोग्धा गोपाल कृष्ण और गीता उसका दूध[1]।' यदि उपनिषदों का निर्माण महाभारत के उपरान्त हुआ था, तो यह गीता जैसा दुग्ध किन उपनिषदों का?

ऐतिहासिक तथ्य यह है कि रामायण काल के बहुत बाद तक भी काशी भारत (आर्यावर्त्त) की केन्द्रीय शासन सत्ता थी और ईस्वी पूर्व लगभग 675 तक वह एक महान् शक्ति का केन्द्र बनी रही।[2] ईसा के 800 वर्ष पूर्व से लेकर बुद्ध के समय तक भारत का इतिहास वाराणसी से ही प्रारंभ होता था। जिस प्रकार ब्राह्मणों और उपनिषदों में काशी ओत-प्रोत है, उसी प्रकार बौद्ध साहित्य में वाराणसी। काशी का ही शिशुनाक उस क्रूर ग्रह की भांति उदय हुआ जिसने मगध में सत्ता पाकर काशी के गौरव को गिरा दिया।—'इस घर को आग लग गई घर के चिराग से।'

बौद्ध आंदोलन ने भारत को अनेक नये उपहार दिये। दर्शन, आचार और राष्ट्रीयता के साथ अहिंसा की छत्रछाया में कायरता और विलासिता जैसे विषैले तत्त्व भी छिपकर हममें प्रवेश कर गये। त्रिशूल, तलवार और ब्रह्मास्त्रों के पुजारी लिंग पूजक बन गये। प्रभाव और प्रताप[3] दोनों हमें छोड़ गये। फल यह हुआ कि भारत का पश्चिमोत्तर साम्राज्य टूटने लगा। पार्थव, कपिश, गन्धार, मद्र और निषध के विस्तृत प्रदेश विद्रोह कर गये। यूनान, असीरिया, अरब, और ईरान जैसे अकिंचन शत्रु हम पर हावी हुए।

कापिशी (कन्धार), पुष्करावती (चार सद्दा) तक्षशिला तथा शाकल (स्यालकोट) ईसा से 175 वर्ष पूर्व यूनानियों के अधिकार में थे। शाकल का सम्राट् मीनेन्द्र (मिनाण्डर) था। स्थविर नागसेन ने उसे बौद्ध धर्म की दीक्षा दी। इन गुरु शिष्यों के परस्पर संवाद का विवरण 'मिलिन्द पन्हो' (मिलिन्द प्रश्न) नामक पाली ग्रन्थ में मिलता है।

मिलिन्द के एक प्रश्न का उत्तर देते हुए स्थविर नागसेन ने चिकित्सा विज्ञान के

1. सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपाल नन्दनः।
   पार्थोवत्सो सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत्॥ —गीता रहस्य
2. भारतीय इतिहास की रूपरेखा, 10/81 —जयचन्द्र महाजन पद
3. 'स प्रभावः प्रतापश्च यत्तेजः कोष दण्डयोः।' —नीतिशास्त्र

प्राचीन आचार्यों की वात सुनाते हुए जिन आचार्यों का नाम लिया, उनमें धन्वन्तरि का नाम भी है। वहां रोगों के स्वभाव, समुत्थान, और चिकित्सा के विशेषज्ञ के रूप में धन्वन्तरि को स्मरण किया गया।[1]

जातक कथाएं बुद्ध भगवान् के महापरिनिर्वाण (483 ई० पूर्व) के अनन्तर संकलित की गई थीं। 400 ई० पूर्व वैशाली की बौद्ध महासभा में जातक कथाएं संकलित हो गई थीं। मैकडानल आदि इतिहासज्ञों की ऐसी धारणा है। इन जातक कथाओं में तथागत के इस जन्म और पूर्व जन्म की कथायें संकलित की गई हैं। 'अग्रोघर' नामक पालि जातक में बुद्ध भगवान् के किसी पूर्वजन्म की कथा इस प्रकार लिखी है—'किसी पूर्व जन्म में भगवान् राजकुमार थे। उन्हें धर्माचरण की अभिलाषा हुई। इसके लिए वे सम्राट् से अनुमति लेने गये। उस समय उन्होंने कहा—'धन्वन्तरि, वैतरण, भोज आदि प्राणाचार्य जो औषधियों द्वारा भयानक विषों को दूर कर देते थे, मृत्यु के मुंह में चले गये। यह मृत्यु वड़ी प्रवल है। इससे कोई वच नहीं सकता।'[1] इस प्रकार जीवन की नश्वरता दिखाते हुए धर्मानुराग का उल्लेख किया गया है।

कथा के वर्णन से यह स्पष्ट है कि भगवान् बुद्ध के पूर्व जन्म में धन्वन्तरि आदि आचार्य मर चुके थे। फिर यह पूर्व जन्म भी कितने वर्ष पूर्व का ?

तात्पर्य यह कि प्राचीन प्रमाणों की साक्षी हमें यह स्वीकार करने के लिए विवश करती है कि धन्वन्तरि को हम रामायण काल से पूर्व का स्वीकार करें। आधुनिकतम ऐतिहासिक प्रमाणों के आधार पर महाभारत का समय अव से 5000 हजार वर्ष पूर्व अवश्य है। मोहनजोदड़ो, और हड़प्पा के संस्मरण इसकी साक्षी देते हैं। फिर महाभारत से रामायण काल की प्राचीनता भी लगभग इतनी ही होनी चाहिए और धन्वन्तरि राम से तीन पीढ़ी पूर्व।

मनु ने अपने धर्मशास्त्र में आर्यावर्त्त का उल्लेख किया है। इस आर्यावर्त्त के वड़े-वड़े तीन विभाग किये है—(1) ब्रह्मावर्त्त, (2) ब्रह्मर्षि देश, (3) मध्यदेश।

(1) सरस्वती और दृषद्वती दो देव नदियां हैं। इन दोनों नदियों के मध्य देवों द्वारा स्थापित ब्रह्मावर्त्त[2] प्रदेश है। दृषद्वती नदी का आधुनिक नाम 'घग्घर नदी' है।[3] यह वर्तमान अम्वाला के किनारे से वहती हुई सरस्वती नदी में मिल जाती थी। सरस्वती नदी कुरुक्षेत्र परिसर से वहती हुई मारवाड़ होकर कच्छ की खाड़ी में गिरती होगी। परन्तु वह अव दिखाई नहीं देती। इस प्रदेश में जो व्यवहार और जो परम्परायें हैं वे सदाचार शब्द से वोधित होती हैं।[4]

---

1. 'मिलिन्द पन्हो' Pali Text, Ed. Frenckner, p. 272
2. सरस्वती दृषद्वत्योर्देवनद्योर्यदन्तरम्।
   तं देव निर्मितंदेशं ब्रह्मावर्तं प्रचक्षते॥ —मनु० 2/70
3. महामहोपाध्याय श्री गणपति शास्त्री लिखित तथा पेरिस के (AU College de France) प्रोफेसर श्री सिलेविनलेवि द्वारा समर्थित 'भारतानुवर्णनम्' ग्रन्थ से यह लिया गया है।
4. कुरुक्षेत्रं च मत्स्याञ्च पञ्चालाः शूरसेनकाः।
   एष ब्रह्मर्षिदेशो वै ब्रह्मावर्त्तादनन्तरः॥ —मनु० 2/19

(2) दूसरा ब्रह्मर्षि देश है। कुरुक्षेत्र, मत्स्य (अलवर) पञ्चाल (यमुना के उत्तरी तट से हिमालय की तराई तक तथा पूर्व में कानपुर तक)। शूरसेन (मथुरा, भरतपुर, आगरा, अलीगढ़) यह प्रदेश ब्रह्मर्षि देश हुआ।

(3) हिमालय विन्ध्याचल के मध्य विनशन से पूर्व और प्रयाग से पश्चिम मध्य देश में है।[1]

यह 'विनशन' क्या है? मनुस्मृति के व्याख्याकार कुल्लूक भट्ट ने लिखा है कि सरस्वती नदी जहां अन्तर्धान हो गई है वह 'विनशन' प्रदेश है।[2]

महाभारत में सरस्वती नदी का विस्तृत उल्लेख है।[3] वहां साधु-सन्तों के प्रचुर आश्रम थे। बालखिल्य ऋषियों ने सरस्वती नदी के तट पर यज्ञ किया था। वह राष्ट्रीय तीर्थों से पावन था। पांच तीर्थस्थान उसके तट पर थे—न्यग्रोध, पुण्य, पाञ्चाल्य, दाल्भ्यघोष और दालभ्य उन तीर्थों के नाम थे। पलाश तीर्थ भी यहीं था, जहां महर्षि जमदग्नि तप करते रहे। इन्द्र और वरुण भी उसके तट पर यज्ञ, तप करते थे। परशुराम ने सरस्वती तट पर यज्ञ किये और क्षत्रियों का संहार भी। दृषद्वती इसकी सहायक नदी है।[4]

प्रश्न यह है कि इतनी रम्य और पुण्य सलिला नदी का लोप कैसे हो गया?

सरस्वती नदी की भौगोलिक स्थिति का अध्ययन कीजिये। वह यमुना और सतलज (शुतुद्रि) के मध्य बहती थी। हिमालय के ऊपर सरस्वती, यमुना और गंगा के उद्भव स्रोत प्रायः एक ही गिरि शिखर से निकलते हैं। भूमि के ढलाव के अनुसार जल तीन धाराओं में विभाजित होकर तीन नदियों का निर्माण करता है।

गंगा की धारायें अस्तव्यस्त रूप से बहतीं थीं, अलकनन्दा, मन्दाकिनी, आदि पांच धाराओं में वह विभाजित थीं। चरक संहिता में भगवान आत्रेय पुनर्वसु के पञ्चगंग प्रदेश में हुए एक प्रवचन का उल्लेख है।[5]

इधर कोसल के प्रतापी सम्राट का शासन भारत के सुदूर तक फैल गया था। सगर का पुत्र राजकुमार असमञ्जस था। बड़ा दुर्दान्त, बड़ा अत्याचारी। प्रजा के अनुरोध पर सगर ने असमञ्जस को निर्वासित कर दिया। उस समय तक असमञ्जस के एक

---

1. हिमवद्विन्ध्ययोर्मध्यं यत्प्राग्विनशनादपि।
प्रत्यगेव प्रयागाच्च मध्यदेशः स कीर्तितः॥ —मनु० 2/21
2. 'विनशनात्सरस्वत्यन्तर्धानदेशाद्यत्पूर्वं प्रयागाच्च यत्पश्चिमम् स मध्यदेशनामा देशः कथितः।' —कुल्लूक भट्ट
3. महाभारत, वन पर्व, अ० 90
4. दक्षिण ओर सरस्वती और उत्तर ओर दृषद्वती नदी के बीच कुरुक्षेत्र है।—महाभारत, वन पर्व, अ० 83। इस सम्पूर्ण अध्याय में कुरुक्षेत्र, सरस्वती, दृषद्वती तथा उस परिसर का विस्तृत ऐतिहासिक और भौगोलिक वर्णन है।
5. 'विहरन्तं जितात्मानं पञ्च गंगं पुनर्वसुम्'—चरक सं०/महाभारत में सात गंगा धाराओं का उल्लेख है—

एषा गंगा सप्त विधा राजते भरतर्षभ।
स्थानं विरजसं पुण्यं यत्राग्निः सिद्ध सिध्यते॥—महा० वन० 18

पुत्र हो चुका था। नाम था अंशुमान। सगर ने अंशुमान की सहायता से अश्वमेघ यज्ञ पूर्ण-कर लिया, और अंशुमान का राज्याभिषेक करके जीवन लीला समाप्त कर दी। अंशुमान अत्यन्त प्रजावत्सल और कर्तव्य परायण शासक हुआ। उसका एक ही प्रतापी पुत्र था—भगीरथ। भगीरथ को परम योग्य देखकर अंशुमान विरक्त हो वन में तप करते-करते स्वर्गवासी हो गये।

उस समय तक गंगा का जल छिन्न-भिन्न धाराओं में ही प्रवाहित था। भगीरथ ने सारी बिखरी धारायें जोड़कर गंगा को एक महानदी का रूप दिया। अब अलकापुरी से लेकर सागर संगम तक भारत की वसुन्धरा शस्य श्यामला हो गई। राष्ट्र ने भगीरथ के इस महनीय कार्य के लिये गंगा को 'भागीरथी' नाम लेकर सम्मानित किया।[1]

अब गंगा, यमुना और सरस्वनी तीनों नदियां भारत के विशाल प्रदेश को अवि-षिञ्चित कर रही थीं। गंगा और यमुना पूर्व की ओर। और सरस्वती पश्चिम की ओर। महाभारत में इन तीनों नदियों का पृथक-पृथक बहुत उल्लेख है। रामायण काल में सरस्वती अक्षुण्ण थी। महाभारत से कुछ पूर्व तक भी वह तीर्थ स्थान बनी हुई थी।

धृतराष्ट्र और पाण्डु के पिता का नाम जनमेजय (प्रथम) था। इनके पूर्वज ही सम्राट भरत थे। जिनके नाम से भारत वर्ष विख्यात है। भरत के भुमन्यु हुये। भुमन्यु के सुहोत्र। सुहोत्र के अजमीढ़। अजमीढ़ के जन्हु। जन्हु के कुशिक, उनके ऋक्ष। ऋक्ष के संवरण। संवरण के कुरु। कुरु के प्रथम जनमेजय और जनमेजय के धृतराष्ट्र और पाण्डु।

अजमीढ़ के समय से पश्चिमी भारत में विद्रोह था। असुरों की शक्ति प्रबल थी। गन्धार भी विद्रोह पर कमर कसे था। इस वंशावली में जन्हु सबसे पराक्रमी राजा था। उसने साम्राज्य की प्रतिष्ठा बढ़ाई, और विद्रोहियों को परास्त किया। स्वर्ग में अब पञ्च-जन का शासन शिथिल हो गया था। कुरु और कोसल ही समर्थ हो चले थे। उत्तर में जन्हु का राज्य हिमालय के उस प्रदेश तक पहुंच गया जहां से गंगा यमुना और सरस्वती का निकास है। इन तीनों नदियों में गंगा ही सबसे बड़ी और उपयोगी नदी है जो उसके राज्य से निकल कर पूर्व में पाञ्चाल, वत्स, कोसल, काशी तथा अंग और वंग को अभिषिंचित करती पूर्व सागर में गिरती है। गंगा की समृद्धि भारत के सम्पूर्ण उत्तर भाग की समृद्धि है।

पश्चिम की ओर से असुरों की शक्ति बढ़ती जा रही थी। असुर लोक, मद्र, वाल्हीक, और गन्धार की सम्मिलित शक्तियां भारत के विरुद्ध अभियान कर रहीं थीं। महाभारत तथा श्रीमद्भागवत के उल्लेखों से यह बात पूर्ण रूप से स्पष्ट है।[2] प्रतीत होता है आक्रान्ताओं ने राजस्थान का प्रदेश जीत लिया। सरस्वती उस प्रदेश को सस्य श्या-मला कर रही थी।

जन्हु को शत्रु के लिये यह सुविधा देना सह्य नहीं था। इसलिये सरस्वती नदी के

1. रामायण, वाल० अ० 42 अपने ग्रंथ अलि ख्याति में इस पर श्री मधुसूदन त्रि० वा० ने विस्तृत विचार किया है। इसके प्रसंग में पृ० 73-77 देखिये।

2. महाभारत, आदि०, अ० 102

मूलस्रोत काटकर उसने गंगा की धाराओं में मिला दिये ।[1] तत्कालीन भारत के स्थापत्य वेत्ताओं ने यह दुरूह कार्य इस चतुरता से किया कि सरस्वती नदी ही समाप्त हो गई । अब गंगा एक नदी नहीं थी । उसमें सरस्वती भी समाविष्ट हो गई । और प्रयाग में जहां केवल गंगा और यमुना का ही संगम था, अब सरस्वती भी मिल गई । और त्रिवेणी का ऐतिहासिक रूप बन गया । जन्हु ने जिस गंगा को अपने शासन में जन्म दिया, राष्ट्र ने उसे जन्हु की बेटी 'जान्हवी' कहकर अभिनन्दन किया ।

राजस्थान रेगिस्तान हो गया । वही विनशन है । शत्रु भूख से व्याकुल होकर भाग गये । भारत की भूमि आक्रान्ताओं से मुक्त हुई । महाभारत युद्ध समाप्त होने पर सम्राट युधिष्ठिर ने राजसूय यज्ञ किया था । उस समय अर्जुन, भीम, नकुल और सहदेव ने जो दिग्विजय किया उसमें इस प्रदेश के विद्रोहियों का मूलोच्छेदन करने का उल्लेख भी महाभारत में है ।[2] म्लेच्छ, पल्हव, किरात, यवन, और शक ये शत्रु थे जिनसे भारत ने मोर्चा लिया ।

इस प्रकार महाभारत से कुछ ही दिन पूर्व 'विनशन' का आविर्भाव हुआ प्रतीत होता है, क्योंकि महाभारत के उपरान्त सरस्वती तट के तीर्थों का नाम फिर नहीं सुनाई देता । पाणिनि ने (800 ई० पूर्व) सरस्वती का उल्लेख नहीं किया । मनुस्मृति का मध्य देश विनशन के प्राक् (पूर्व दिशा) में ही तो था । इसका अर्थ यह भी तो है कि विनशन के पश्चिमोत्तर की ओर भी भारत का ही विशाल साम्राज्य था । तभी तो विनशन मध्य देश हो सका । और जब यह विनशन हो चुका था, तब इस राष्ट्र के घर-घर में धन्वन्तरि के नाम से आहुति डाली जा रही थी । अब निर्णय कीजिये कि धन्वन्तरि को हम कितना प्राचीन कहें ? गंगा जब भागीरथी नहीं बनी थी, और जान्हवी भी नहीं, तब धन्वन्तरि का अखण्ड शासन भारतीय इतिहास का गौरव बन चुका था । यह ऐतिहासिक तथ्य ईसा से 200 वर्ष पूर्व मनुस्मृति के नये संस्करण लिखने वाले विद्वानों को पता था ।

कालिदास (400 ई०) ने रघु का दिग्विजय लिखते हुए गन्धार और पारस्य विजय का जो उल्लेख किया है वह पश्चिमोत्तर भारत के इन्हीं द्रोहियों की सूचना देता है ।[3] भारवि ने भी इन्हीं विद्रोहियों का उल्लेख अर्जुन का परिचय देते हुए किराता-

---

1. श्रीमद्भागवत, स्क० 10 शाल्ववध ।
   महाभारत में इन्हें निषाद राष्ट्र भी लिखा है—देखिये—

   'एतद्विनशनं नाम सरस्वत्या विशांपते ।
   द्वारं निषाद राष्ट्रस्य येषां दोषात्सरस्वती ।
   प्रविष्टा पृथिवीं वीर! मानिषादाहि मा विदुः ॥—म० भा० वन पर्व अ० 28
   (निषाद=आर्यों से नीच, बर्बर, असभ्य)

2. महाभा० सभापर्व, 32 तथा आदिपर्व अ० 173 में अंगारपर्ण गन्धर्व का अर्जुन से युद्ध
3. (क) रघुवंश, सर्ग 4 तथा सर्ग 15/87-88

   युधाजितश्च सन्देशात् स देशं सिन्धुनामकम् ।
   ददौ दत्त प्रभावाय भरताय भृत प्रजः ॥
   भरतस्तत्र गन्धर्वान्युधि निर्जित्य केवलम् ।
   आतोद्यं ग्राहयामास समत्याजयदायुधम् ॥ —रघु० 1/87-88

र्जुनीय महाकाव्य में किया है।[1] अर्जुन ने उत्तर कुरु (हरिवर्ष) विजय करके फिर से भारत में सम्मिलित किया था।

यद्यपि जन्हु द्वारा गंगा और सरस्वती का यह एकीकरण स्पष्ट नहीं लिखा गया। किन्तु महाभारत और पुराणों का वर्णन हमें इसी निर्णय पर ले जाता है। सरस्वती जैसी विशाल नदी यों ही तो गायब नहीं हो गई? उसके लिये 'विनशन' जैसी संज्ञा देना, और वह भी धर्मशास्त्र में, बहुत महत्वपूर्ण है। गंगोत्तरी स्वयं एक बांध है। उसमें भगीरथ बोलते हैं। उसमें जन्हु के धनुष की टंकार सुनाई देती है। सब नदियां अपने एक ही नाम से आज तक पुकारी जाती हैं। यह गंगा ही 'जान्हवी' क्यों हो गई? प्रयाग में प्रत्यक्ष दो नदियों का संगम 'त्रिवेणी' कैसे हो गया? त्रिवेणी में स्नान से सरस्वती के स्नान का भी पुण्य कहां से आ गया? और कुरुक्षेत्र के सम्राट जन्हु ही गंगा को अपनी बेटी कैसे बना सके? और भी तो सैकड़ों सम्राट हुए। स्वयं धन्वन्तरि की वीरता ही क्या कम थी? परन्तु गंगा उनकी बेटी न बनी। वह 'भागीरथी' से जान्हवी क्यों हो गई?

गंगा की हर लहर पानी ही नहीं है। उसकी प्रत्येक तरंग में भगीरथ की दृढ़ता है, और जन्हु का पराक्रम। उसके तीर्थ में नहाने वाले प्रत्येक भारतीय की रग-रग में वह भगीरथ और जन्हु का पराक्रम प्रवाहित करती है। विनशन की धूल और त्रिवेणी का जल मिलाकर देखो उसमें भगीरथ और जन्हु का इतिहास झलकता है।

धन्वन्तरि के समय गंगा तो थी, किन्तु वह भागीरथी नहीं बनी थी और न जान्हवी। तब विनशन' का कोई प्रश्न ही नहीं था। हां, तब स्वर्ग का शासन शिथिल हो चला था। काशी, कुरु और कोसल के सहारे इन्द्र का शासन टिका था। देवासुर संग्राम में अब केवल इन्द्र ही नहीं, धन्वन्तरि भी सेनापति थे। तभी तो असुरलोक (असीरिया) और भूमध्य सागर पर उसके राज्य की सीमा टिकी थी। पञ्चजन के बाद धन्वन्तरि भारत के इतिहास का दूसरा अध्याय थे। यह स्वर्ग के इतिहास का उपसंहार था और आर्यावर्त्त के इतिहास की प्रस्तावना।

व्यक्तित्व और विशेषतायें

हमें धन्वन्तरि का अध्ययन करते समय यह ध्यान रखना चाहिये कि धन्वन्तरि के दो पीढ़ी बाद उनके प्रपौत्र दिवोदास को भी प्राचीन ग्रन्थों में धन्वन्तरि विशेषण दिया गया है। सुश्रुत संहिता में जो कुछ उपदेश लिखे हैं, वे वस्तुतः दिवोदास के हैं जो उन्होंने

(ख) महा०, आदि पर्व अ० 173 में गंगा और सरस्वती का भौगोलिक वर्णन है। दोनों नदियां हिमालय के स्वर्ण शिखर से निकली हैं। वहां लिखा है गन्धर्व इन नदियों पर अधिकार जमाते थे। अंगार पर्ण गन्धर्व अर्जुन से इसी बात पर लड़ा। स्वर्ण शिखर से सात धारायें निकलीं। गंगा की एक धारा वैतरणी भी है। जन्हु के बाद भी गन्धर्व नदियों के प्रश्न पर लड़ते रहे।

1. 'विजित्यय: प्राज्यमयच्छ दुत्तरान् कुरून कुप्यंवसु वासवोपमः।
सवल्क वासांसि तवाधुना हरन् करोति मन्युं न कथं धनञ्जयः?—किरातार्जुनीय, सर्ग 1
महाभारत में सिम्कियांग को उत्तर कुरु या हरिवर्ष लिखा है।—महा० सभा० अर्जुन की दिग्विजय, अ० 32
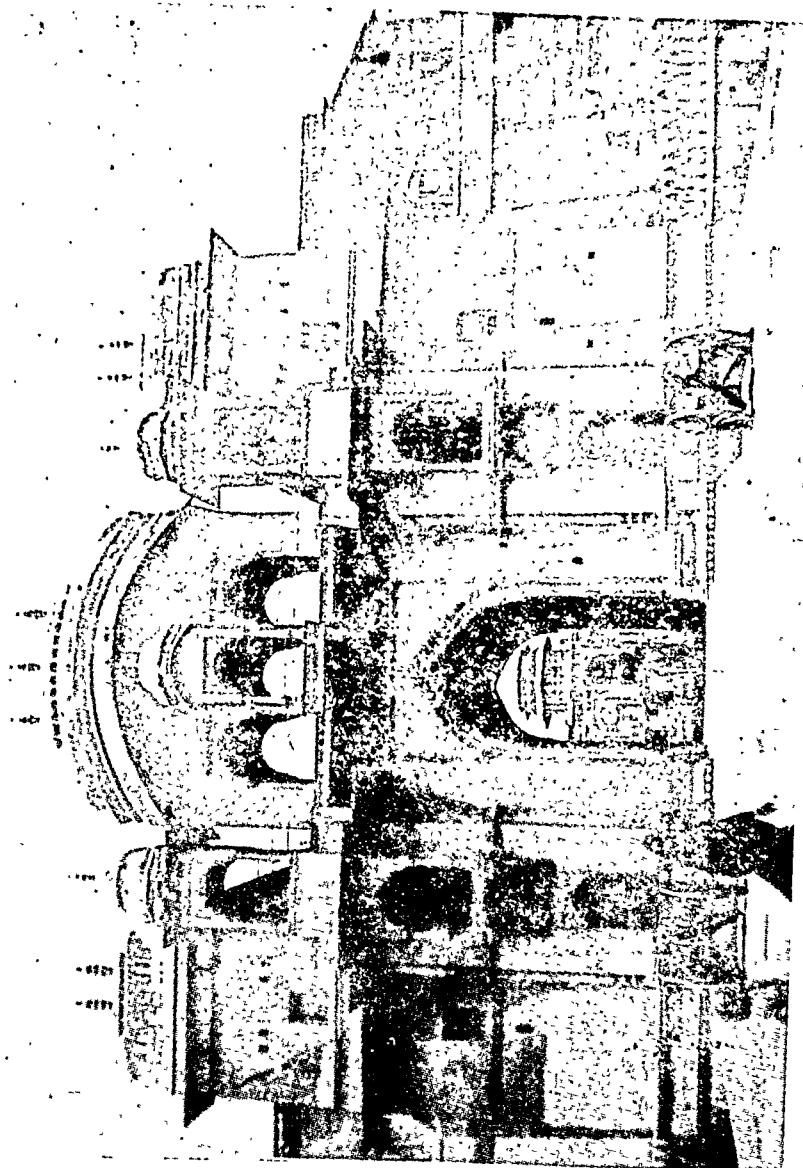
विश्व विख्यात राजभवन काशी, जहां आर्यावर्त के सम्राटों की यशस्वी परम्परा फली फूली

सुश्रुत को दिये थे। किन्तु इन उपदेशों को प्रारम्भ करते समय ही दिवोदास ने कहा था—वत्स सुश्रुत! तुम मुझे धन्वन्तरि ही मान लो। क्योंकि मेरा जीवनोद्देश्य वही है जो प्रपितामह धन्वन्तरि का था। अन्तर इतना है कि उन्होंने देवताओं को रोग, बुढ़ापा, और मृत्यु से मुक्त किया, किन्तु मैं मनुष्यों के लिये वही कल्याण करना चाहता हूं। और इस लिये तुम यह समझो कि प्रपितामह धन्वन्तरि की आत्मा ही अब दिवोदास के रूप से इस धरा पर फिर अवतीर्ण हुई है।[1]

सुश्रुत के व्याख्याकार डल्हण ने लिखा है, पहिले देवता भी मरते जीते थे। किन्तु धन्वन्तरि के चिकित्सा कौशल ने उन्हे अजर-अमर कर दिया। और यह सुरक्षा धन्वन्तरि के शासन की वह व्यवस्था थी जो सच्चे सम्राट के राज्य में होनी चाहिये। ऐसा प्रतीत होता है कि अब इन्द्र की विशेषता धन्वन्तरि की योग्यता पर तुल गई थी। नन्दन वन की विभूतियाँ काशी से ईर्ष्या कर उठी थीं।

धन्वन्तरि के विद्यालय में उनके कौन शिष्य थे, यह उल्लेख करना अब संभव नहीं क्योंकि उस युग का कोई ग्रन्थ नहीं मिलता। धन्वन्तरि की रची हुई 'धन्वन्तरि संहिता' थी, ऐसा परिज्ञान तो होता है। किन्तु उस संहिता का पता नहीं चलता। धन्वन्तरि के उद्धरण, तथा धान्वन्तर सम्प्रदाय का स्थान-स्थान पर उल्लेख ही इस बात के प्रमाण हैं। फिर दिवोदास ने सुश्रुत को उपदेश देने के पूर्व ही 'यथोवाच भगवान् धन्वन्तरि' कहा था। 'उवाच' क्रिया अनद्यतन भूतकाल (Past indefinite) की है। उसका भाव ही यह है कि बात पुरानी है, उसे ही नये सिरे से फिर कह रहा हूं। यों तो दिवोदास ने विद्याध्ययन नन्दन के विश्वविद्यालय में इन्द्र से किया था।[2] इसलिये दिवोदास के गुरु इन्द्र थे, धन्वन्तरि नहीं। क्योंकि दिवोदास तीन पीढ़ी बाद धन्वन्तरि के प्रपौत्र थे। कोई-कोई प्रपितामह प्रपौत्र तक जीवित रहते हैं, इसलिये प्रपितामह का गुरु होना असंभव तो नहीं। किन्तु दिवोदास के बारे में वह सौभाग्य नहीं रहा। उन्होंने स्वयं लिखा—'इन्द्रादहम्।'

प्रपितामह धन्वन्तरि के प्रति श्रद्धा व्यक्त करते हुए अवसर-अवसरपर दिवोदास ने यही कहा यह ज्ञान मेरा नहीं—धन्वन्तरि का ही है। 'काशीपति प्रकाशितम्'—भूय उपदेष्टुम' का यही तात्पर्य है। किन्तु दिवोदास के उपरान्त लिखी गई आत्रेय एवं काश्यप संहिताओं की भांति दिवोदास ने 'धन्वन्तरये स्वाहा' नहीं लिखा।—'प्रतिदैवतमृषीश्च स्वाहाकारं कुर्यात्' लिखकर ही बात पूरी की। और यह उचित भी था। अपने सिर पर अपने आप चढ़ाये गये पुष्प किसी को देवता नहीं बना सके। व्याख्याकार डल्हण ने अवश्य लिखा प्रति देवता और प्रति ऋषि स्वाहाकार करते हुए यज्ञ होना चाहिये। प्रति ऋषि का भाव यह है—'धन्वन्तरये स्वाहा, भरद्वाजाय स्वाहा, आत्रेयाय स्वाहा।'[3] और यह सम्मानपूर्ण आहुति अभी तक चल रही है।

धन्वन्तरि काशी के सम्राट थे। धन्वन्तरि के प्रणय में वीरता और विद्वता दोनों

---

1. सुश्रुत संहिता 1/21
2. ब्रह्मा प्रोवाच, ततः प्रजापतिरधिजगे, तस्मादश्विनौ, अश्विभ्यामिन्द्रः, इन्द्रादहं, मयात्विह प्रदेय-मर्थिभ्यः प्रजा-हित हेतोः। —सुश्रुत, सूत्र 1/20
2. सुश्रुत व्याख्या, सू० 2/4

प्रतिस्पर्धिनी थीं। मान्धाता का परमार्थ, अम्वरीप का त्याग, सत्यव्रत (त्रिशंकु) की दृढ़ता, और हरिश्चन्द्र की सत्यपरायणता उनमें एकत्र समुदित हुई थी। वह प्रखर राज नीतिज्ञ और धुरन्धर विद्वान थे। सच पूछो तो काश (प्रकाशमान) से काशी नहीं चमकी, धन्वन्तरि ने ही काशी को अन्वर्थता प्रदान की।

सुश्रुत संहिता में जहां 'यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः' कह कर भूत कालीन धन्वन्तरि का उल्लेख है वहां मूल धन्वन्तरि और जहां वर्तमान कालीन क्रिया के साथ धन्वन्तरि शब्द लिखा गया है वहां दिवोदास को बोधित करता है। वहां धन्वन्तरि शब्द संज्ञा नहीं, विशेषण है। निदान स्थान के प्रारम्भ में—

धन्वन्तरिः धर्मभृतां वरिष्ठममृतोद्भवम्।
चरणावुप संगृह्य सुश्रुतः परिपृच्छति॥

तथा कल्प स्थान के प्रारम्भ में—

धन्वन्तरिः काशिपति स्तपोधर्मभृतांवरः।
सुश्रुत प्रभृतीञ्छि ष्यान्छशासाहृत शासनः॥

इन स्थलों पर 'धन्वन्तरि' विशेषण है और वह दिवोदास का बोधक।

उपर्युक्त प्रस्तावना के भाव को ही शब्दान्तर से कहीं इस प्रकार भी लिखा है—

'अष्टांग वेद विद्वान्सं दिवोदासं महौजसम्।
छिन्नशास्त्रार्थ सन्देहं सूक्ष्मागाधागमोदधिम्॥
विश्वामित्र सुतः श्रीमान् सुश्रुतः परिपृच्छति॥[1]

किन्तु जहां पर '

'स पूजार्होभिषक श्रेष्ठ इति धन्वन्तरेर्मतम्।'[2]

इस प्रकार जहां किसी तत्व के समर्थन में धन्वन्तरि का नाम आया है, वह मूल धन्वन्तरि के लिये ही। *अपनी उक्ति को महापुरुष से समर्थन प्राप्त कर प्रमाणित करना* तन्त्र युक्ति है।

दिवोदास के उपदेशों से यह प्रतीत होता है कि उनके समय धन्वन्तरि के सिद्धांत एक परम्परा बने हुए थे। दिवोदास के इस कथन का यही अर्थ है—

'एक शास्त्र से सम्पूर्ण तत्व नहीं जाने जाते, इसलिये चिकित्सिक को अनेक शास्त्र जानने चाहिये।'[3]

कहीं-कहीं 'इति धन्वन्तरेर्मतम्' लिखकर अनेक मतों में धन्वन्तरिमत की प्रतिष्ठा स्थापित की गई है।

महाभारत में धन्वन्तरि संहिता का आभास मिलता है। इसके अतिरिक्त दिवोदास ने आयुर्वेदाचार्यो के कतिपय विचार उद्धृत किये हैं—

1. 'गर्भस्य पूर्व शिरः इति शौनकः'।
2. 'हृदयमिति कृतवीर्यः'।

---

1. सुश्रुत सं० उत्त० 66/3-4
2. सुश्रु० उत्तर 65/43
3. एकं शास्त्र मधीयानो न विद्याच्छास्त्र निश्चयम्।
तस्माद्बहुश्रुतः शास्त्रं विजानीयाच्चिकित्सकः॥ —सुश्रु० सू०

3. 'नाभिरिति पाराशर्यः' ।
4. 'पाणिपादमिति मार्कण्डेयः' ।
5. 'मध्यशरीरमिति सुभूतिर्गौतमः' ।
6. 'सर्वाण्यङ्गप्रत्यङ्गानि युगपदिति धन्वन्तरिः' ।[1]

इस प्रकार हम यह नहीं कह सकते कि राजनीति के अतिरिक्त धन्वन्तरि का व्यक्तिगत जीवन केवल भोग-विलासपूर्ण अन्तःपुरों में बीता। संग्रामों से राष्ट्र की, विद्या से विद्यार्थियों की और आयुर्वेद से जनता की सेवा में ही वे उत्सर्ग हो गये। यही उनका पारमार्थिक रूप था, जिसके लिए राष्ट्र उन्हें आज तक पूजता है।

काश्यप और आत्रेय ने अपनी संहिताओं में उनके प्रति श्रद्धा अभिव्यक्त की, और उनके विचार स्थान-स्थान पर उद्धृत किये।[2] तात्पर्य यह है कि धन्वन्तरि के विचार आयुर्वेद विज्ञान में इतने समादृत हुए कि वे 'धान्वन्तर-सम्प्रदाय' का रूप बन गये।[3] और वह सम्प्रदाय आयुर्वेद का एक माननीय सम्प्रदाय आज तक बना हुआ है।

सुश्रुत आदि शिष्यों के प्रश्न पर दिवोदास ने शल्य प्रधान आयुर्वेद का उपदेश दिया था। किन्तु धन्वन्तरि ने अपनी संहिता को केवल शल्य प्रधान नहीं, अष्टांग प्रधान ही लिखा था। सुश्रुत, औपधेनव, औरभ्र आदि शिष्यों ने कहा—श्रीमान्! हम आयुर्वेदाध्ययन के लिये आपके शिष्य होकर आये हैं। वह उपदेश कीजिये।

दिवोदास बोले—आयुर्वेद के आठ अंग हैं—1. शल्य, 2. शालाक्य, 3. काय चिकित्सा, 4. भूत विद्या, 5. कौमारभृत्य, 6. अगदतन्त्र, 7. रसायनतन्त्र, 8. वाजीकरण तन्त्र। बोलो, किसे क्या पढ़ना है?

उत्तर में विद्यार्थियों का यह आग्रह था कि शल्य प्रधान आयुर्वेद हमें पढ़ाइये। उन्होंने वैसा ही पढ़ाया। धन्वन्तरि आठों अंगों पर अधिकारपूर्ण लिख गये थे। इसलिये आठों ही अंगों पर धन्वन्तरि के विचार 'धान्वन्तरमत' बन गये।

यद्यपि दिवोदास ने शल्यप्रधान उपदेश दिया। किन्तु वह 'दैवोदासी' सम्प्रदाय न बना। दिवोदास का शल्य-शास्त्र सुश्रुत ने सूत्र-स्थान में लिखा है। जब वह सुश्रुत संहिता विद्वानों के सामने आई, उन्होंने कहा—'शारीरे सुश्रुतः प्रोक्तः'। सुश्रुत का शारीर स्थान उत्कृष्ट है, सूत्र स्थान नहीं। किन्तु वह शल्य-शास्त्र उसी सूत्र स्थान में लिखा है। फिर 'दैवोदासी' सम्प्रदाय कैसे बनता? धन्वन्तरि के प्रवचन में कला ही कुछ और थी। उन्होंने जो कहा वह और से न बना—

"कहिबो, सुनिबो, देखिबो, हँसिबो तौ सब ठौर।
जेहि बस होत सुजान सो, चितवन ही कछु और॥"

1. सुश्रुत, शारीर० 3/32
2. "सर्वाङ्गनिर्वृत्तिर्युगपदिति धन्वन्तरिः"—चरक, सू० 6/18
3. (क) "दाहे धान्वन्तरीयाणामत्रापि भिषजां मतम्" ।—चर० चि० 5/64
(ग) "महाभारतादिनिरुक्तो धन्वन्तरेरष्टप्रस्थानाचार्यत्वेन तदिदं नाहितवदा यदि पूर्वं मतवादमात्र मूलधन्वन्तरिसंहिता मतं विषयमेवाभिन्नत्वादभेदयान्ननाम्ना धान्वन्तरमतमुक्तं बहुशः सम्भवति ।—काश्यपसंहितोपोद्घात—श्री हेमराज शर्माणः, पृ० 63

मैं यहाँ दिवोदास का अपकर्ष नहीं लिख रहा हूँ। उनकी गरिमा को मैं तोल नहीं सकता। किन्तु धन्वन्तरि की शैली की विशेषता पर शताब्दियों के विद्वत्समाज ने जो धारणा प्रस्तुत की उसे ही प्रस्तुत कर रहा हूँ। हम दिवोदास के ही अधिक ऋणी हैं। यदि उनके ही उपदेश न होते तो धन्वन्तरि के सम्बन्ध में जो कुछ हम आज कह रहे हैं, वह भी न होता। 'वलिहारी गुरु आपने गोविन्द दिये वताय।' आखिर दिवोदास को जनता धन्वन्तरि ही कहने लगी थी--'धन्वन्तरिं दिवोदासम्।'

वहुत काल से विद्वानों में यह संस्मरण चला आ रहा है कि सम्राट् विक्रमादित्य के दरवार में जो 'नवरत्न' थे धन्वन्तरि उन्हीं में एक थे। संस्मरण यों है—

धन्वन्तरि क्षपणकामरसिंह शंकु,
वेतालभट्ट घटकर्पर कालिदासाः।
ख्यातो वराहमिहिरो नृपतेः सभायां,
रत्नानि वै वररुचिर्नव विक्रमस्य॥[1]

सम्राट् विक्रमादित्य की सभा में नौ-रत्न थे। जिनकी विद्वत्ता पर उनका युग मुग्ध था। प्रश्न यह है कि वह कौन सा युग था? संस्मरण में यह तो लिखा ही है 'विक्रमस्य' परन्तु इतने से समाधान तो नहीं होता। कौन से विक्रमादित्य? किस काल के विक्रमादित्य? ऐतिहासिक विद्वानों में भी इन नवरत्नों के सम्बन्ध में एकमत नहीं प्रतीत होता। धन्वन्तरि की वात पीछे, कालिदास, शंकु, वराहमिहिर, वररुचि और भट्ट (भट्टार हरिचन्द) के वारे में वहुत कुछ ज्ञात है। धन्वन्तरि भी उन्हीं के साथ थे।

कालिदास का लिखा प्रचुर साहित्य हमारे सामने है। कुछ लोग कहते हैं कालिदास ईसा से 60-70 वर्ष पूर्व विक्रमादित्य के राजदरवार में थे। जिन विक्रमादित्य का संवत् (2030 वि०) आजकल चल रहा है। दूसरों का कथन है कि वे समुद्रगुप्त के पुत्र द्वितीय चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य की राजसभा के विद्वान् थे। द्वितीय चन्द्रगुप्त का समय 380 ई० से 412 ई० तक निर्धारित किया गया है।[2] इस प्रकार हमें कहना चाहिये कि धन्वन्तरि भी 380 में हुए। परन्तु इस काल के अनुसार दिवोदास, प्रतर्दन, वार्योविद और ब्रह्मदत्त कहाँ बैठाये जायेंगे? ईसा से 300-400 वर्ष पूर्व के पाली जातकों में धन्वन्तरि का वर्णन किस धन्वन्तरि का? उपनिषदों में प्रतर्दन और आरुणि के संवाद किस युग के सिद्ध हो सकेंगे?

हम यह आग्रह नहीं करते कि विक्रम के राजदरवार में कोई धन्वन्तरि नहीं थे। वे थे। किन्तु वे काशी के सम्राट् नहीं, चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के मन्त्री थे। हम जिन धन्वन्तरि की वात कह रहे हैं, वे उन व्यक्तियों में हुए जिनके नाम की आहुति आर्यावर्त्त के घर-घर में पड़ती रही। वे देवता थे, दूसरे धन्वन्तरि एक कवि। वे काशी के अधीश्वर और ये मगध के मंत्री। वे राम से पूर्व, और ये ईसा की चौथी शताब्दि में। इसलिये नाममात्र की समता देखकर भ्रम में पड़ना उचित नहीं। दोनों का भिन्न व्यक्तित्व स्पष्ट है।

1. ज्योतिर्विदाभरण
2. गुप्त साम्राज्य का इतिहास, पृ० 90

आचार्य वाग्भट के प्रकरण में हम इन नवरत्नों के सम्बन्ध में विस्तार से और लिखेंगे। क्योंकि इनमें भट्ट (भट्टारक हरिचन्द) ऐसे विद्वान् थे जिन्होंने न केवल काव्य शास्त्र पर ही, किन्तु चरक संहिता की एक अपूर्व विद्वत्तापूर्ण व्याख्या लिखी थी। जो अब उपलब्ध नहीं। नवरत्नों में गिने गये इन धन्वन्तरि के किसी ग्रन्थ का अभी तक कोई परिचय हमें नहीं मिला। सैकड़ों ऐसे विद्वान् हुए जिनकी कृति को काल ने कवलित कर लिया। तो भी वे आज तक जनता की स्मृति में चमक रहे हैं।

भारतीय पुराणों की एक परिपाटी यह है कि वे व्यक्तित्व का विश्लेषण किसी महापुरुष की कार्य-शैली से करते हैं। योजना, रचना और उपसंहार को देखकर वे उसे ब्रह्मा, विष्णु या महेश का अवतार लिखते हैं। धन्वन्तरि को विष्णु का अवतार इसीलिये लिखा गया कि रचनात्मक कार्य करने वालों में कर्मठ सिद्ध हुए।[1] धन्वन्तरि, राम और कृष्ण, तीनों सम्राट्, तीनों क्षत्रिय और तीनों विष्णु के अवतार। किन्तु सुदीर्घ काल का भेद रहते भी तीनों एक ही उद्देश्य लेकर आये, वे राष्ट्र के लिये जिये, राष्ट्र के लिये मरे। वे परार्थ को ही अपना स्वार्थ मानकर पर हित में विलीन हो गये। घटनाओं में अन्तर हो, पर दृष्टिकोण एक है। वे पृथिवी के राजा तो थे ही, किन्तु उन्होंने जनता के हृदय पर शासन किया। भारतीय दर्शन का यह दृढ़ विचार है—जो हृदय में रहने लगता है, वह देवता है।'[2] वह व्यक्ति का मनोमय रूप है जिसे पुराणों की भाषा में हम अवतार कहते हैं। राज्यों के निर्माण और विध्वंस में वह अक्षुण्ण रहता है—क्योंकि वह मनोमय है—वह देवता है। वह हृदय के उस देश पर शासन करता है जहां मौत नहीं पहुँचती। इसलिये वह अमर है। धन्वन्तरि वही थे। काशी का राज्य छिन्न-भिन्न हो गया, पर धन्वन्तरि का राज्य अटल है।

अभी जब मैं भगवान् धन्वन्तरि के जीवन पर लिखने बैठा, काशी दरबार का प्रतिनिधित्व करने वाले 'श्री काशीराज ट्रस्ट' को मैंने लिखा—"जिस राजवंश में सत्य हरिश्चन्द्र, धन्वन्तरि, दिवोदास, प्रतर्दन, वार्योविद्, वामक और ब्रह्मदत्त जैसे धुरन्धर महापुरुष अवतरित हुए, उसका कोई विवरण क्या आपके पास है ? मैं भगवान् धन्वन्तरि के संस्मरण लिख रहा हूँ। क्या अपने पूर्वज के संस्मरण दे सकेंगे ? मैं अत्यन्त अनुगृहीत हूँगा।" 'उत्तर मिला 'हमारे पास ऐसे कोई संस्मरण नहीं हैं'।—दुःख हुआ। संस्मरण उन्होंने नहीं रखे, न सही। भारतीय राष्ट्र के एक-एक व्यक्ति के हृदय में उनके संस्मरण हैं। धन्वन्तरि जीवन में काशी के सम्राट् थे। जीवन लीला संवरण करने के उपरान्त वे सम्पूर्ण भारत के सम्राट् हो गये। जन-जन के हृदय में उनका सिंहासन है। राष्ट्र के घर-घर में उनका दरबार। हम हृदय में झांकते हैं—उसमें काशी और धन्वन्तरि का दरबार ही नजर आता है। कोटि-कोटि यजमान 'धन्वन्तरयेस्वाहा' से इस राष्ट्र के वातावरण को प्रतिध्वनित कर रहे हैं। उनका लेखा रखने वाले मनु हैं, भृगु हैं, अत्रेय, पुनर्वसु और कश्यप हैं। रामायण, महाभारत और पुराण सब में उनका लेखा ही तो

1. ततो धन्वन्तरिर्विष्णुरायुर्वेद प्रवर्तकः।
बिभ्रत्कमण्डलुं पूर्णममृतेन समुत्थितः॥ —अग्नि पुराण, अ० 30
2. 'स य एषोऽन्तर्हृदय आकाशः, तस्मिन्नयं पुरुषो मनोमयः।'—तैत्तिरीय उपनि० 6/1

है। काम करने वालों ने लेखे की चिन्ता ही कब की ? कवियों ने ठीक कहा—

"गुणाः प्रियत्वेऽधिकृताः न संस्तवः"[1]

धन्वन्तरि, एक प्राणाचार्य

धन्वन्तरि एक सम्राट् थे। एक राजनीतिज्ञ। एक कर्मवीर। किन्तु सबसे बढ़कर वे एक प्राणाचार्य थे। स्वर्ग के वाद इस आर्यावर्त्त में आयुर्वेद को प्राण प्रतिष्ठा देने वालों में वे अग्रणी थे। सुश्रुत संहिता को पढ़ने से ऐसा लगता है—दिवोदास के भीतर से धन्वन्तरि ही बोल रहे हैं। लिखा ही है—"सुश्रुत ! तुम्हें ज्ञान देने के लिये मैं धन्वन्तरि ही फिर लौट आया हूँ।"

दिवोदास के विद्यालय में जिन दूर-दूर प्रदेशों के विद्यार्थी अध्ययन के लिये आये उनमें पुष्कलावती (हिन्दूकुश), तथा वाल्हीक (बेबीलोनियां) तक के पश्चिम से ही क्या पूर्व, उत्तर और दक्षिण भारत के सभी ओर से आने वाले विद्यार्थी थे। औपधेनव, वैतरण, औरभ्र, पौष्कलावत, करवीर्य, गोपुर, रक्षित, सुश्रुत यह आठ नाम तो प्रत्येक संहिता के मूल में हैं ही। किसी-किसी के कांकायन, किसी में भोज आदि अन्य नामों का उल्लेख भी है। इसलिये व्याख्याकारों ने निमि, कांकायन, गार्ग्य, गालव तथा भोज (कुन्तिभोज = मीडिया) आदि नाम भी संकलित किये हैं। यह विस्तृत क्षेत्र यह प्रकट करता है कि धन्वन्तरि के विद्यातीर्थ में भी इन दूरियों से विद्यार्थी आते रहे थे।

हमने अभी कुछ ऐसे प्राणाचार्यों के नाम लिखे हैं जिनका उल्लेख स्वयं सुश्रुत संहिता में है—शौनक, कृतवीर्य, पाराशर्य, मार्कण्डेय, सुभूति, गौतम आदि वे विद्वान् थे ज़ो धन्वन्तरि के विश्वविद्यालय के सैद्धान्तिक विवेचनों में भागीदार थे। महाभारत से पता चलता है ये विद्वान् भारत के सभी प्रान्तों से एकत्रित हुए थे और इस प्रकार धन्वन्तरि ने भारत का सम्पूर्ण राष्ट्र ही मानो अपने विद्यालय के प्रभाव के अन्तर्गत छोड़ा था।

प्राचीन भारत में आर्य जाति के लोग वैदिक शाखा, चरण अथवा उपशाखाओं द्वारा कर्मकाण्ड की मर्यादा को अपनी और अपने वंश की प्रतिष्ठा समझते थे। पाणिनि का युग शाखा और चरणों के विस्तार से भरा पड़ा है। ईसा की 7 वीं शती तक भारत में वह परिपाटी थी। भवभूति ने महावीर चरित में अपना परिचय इसी शैली में दिया है।[2] इसी शैली में दिवोदास ने अपने विद्या सम्प्रदाय का परिचय अपने सुश्रुत आदि शिष्यों को दिया। हम लोग अथर्वाङ्गिरस शाखा में आते हैं। क्योंकि आयुर्वेद अथर्ववेद की शाखा है।'[3]

दिवोदास ने कहा—भगवान् धन्वन्तरि से पूर्व भी आयुर्वेद की एक अथर्ववेदीय ब्राह्मसंहिता प्रचलित थी। जिसमें आयुर्वेद विषयक एक लाख श्लोक थे। लोग अल्पायु और अल्पवुद्धि होने के कारण उसे ठीक-ठीक समझ नहीं पाते थे। इसलिए उसे शल्य,

---

1. सुश्रुत संहिता, सू॰ 1/3
2. अस्थि दक्षिणपथे पद्मपुरं नाम नगरम्। तत्र केचित्तैत्तिरीयिणः काश्यपाश्चरण गुरुवः पंक्ति पावना पञ्चाग्नयो धृतव्रताः सोमपीथिनः उडुम्बरा ब्रह्मवादिनः प्रतिवसन्ति। तदायुष्यायणस्य···श्री कण्ठ-पदलाञ्छनो भवभूतिर्नाम जातूकर्णी पुत्रः —महा॰ वी॰ च॰ अङ्क 1
3. सू॰ सू॰ 1/6

ालाक्य आदि आठ भागों में पृथक-पृथक विभाजित कर दिया गया था। किंतु यह सब न्वन्तरि से पूर्व हो चुका था।—देखो, यह आयुर्वेद आठ अङ्गों में विभाजित है। बोलो, ौन क्या पढ़ना चाहता है?'—धन्वन्तरि इन आठों अङ्गों के आचार्य थे।

अथर्ववेद आयुर्वेदिक सामग्री से भरा पड़ा है। अथर्ववेद पर गोपथ ब्राह्मण तथा ण्डक उपनिषद् भी हैं। इन ब्राह्मण तथा उपनिषदों में जीवन का कोई ऐसा पहलू नहीं जिस पर विचार न किया गया हो। इनमें लोक भी है परलोक भी। इनमें व्यष्टि और मष्टि, जीवन और मृत्यु, सभी कुछ है। सभी का नाम यज्ञ के अन्तर्गत है। ब्राह्मणों की ान्यता है, वह पुरुष ही यज्ञ है।[1] विश्व का समग्र जीवन व्यापार उसी यज्ञ की प्रक्रिया ै। वह प्रातः सवन, माध्यन्दिन सवन, तथा तृतीय सवन में बँटा हुआ है। उसे ही कौमार ौवन और जरा मान लो। हम भोजन करते हैं यह जठराग्नि में यज्ञ ही करते हैं। पुरुष त्री में सन्तान का आधान करता है वह भी यज्ञ ही है। तात्पर्य यह कि पुरुष की प्रत्येक क्रिया और प्रतिक्रिया का अधिक से अधिक वैज्ञानिक विवेचन ब्राह्मण और उपनिषदों में कया गया है।

आयुर्वेद उसी पुरुष यज्ञ का विश्लेषण है। यह नस-नाड़ियां उस यज्ञ की वेदिकायें ैं, यह सिर उसका घृत पात्र है। यह इन्द्रियां याज्ञिक और यह मन ब्रह्मा, तथा हमारा ात्मा यजमान है। नित्य भोजन की आहुति इस यज्ञ की जठराग्नि में डालते हैं, वह वास्थ्य सम्पादन करने वाली होनी चाहिये। यह तीन दोष—वात, पित्त, कफ तथा सात ातु रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा और शुक्र ही इस यज्ञशाला को बनाये हुए है।[2] न्हें पुष्ट करो। ताकि जीवन-यज्ञ चिरकाल तक सुख से चले।

इस यज्ञशाला के निर्माण में लगी हुई एक-एक ईंट इस शरीर की कोषायें हैं, अस्थियां, रस, रक्त आदि सभी उसके निर्माण में व्याप्त हैं। इनकी ऋतु चर्या, स्वस्थ वृत्त का ध्यान रखो। इनके रोग, और उनकी चिकित्सा को जानो। इसीलिए इस पुरुष यज्ञ के विज्ञान का नाम आयुर्वेद है और उसके मर्मज्ञ को प्राणाचार्य कहते हैं।[3] भारतीय दर्शन में आयुर्वेद अध्यात्मशास्त्र ही माना जाता है, क्योंकि वह आत्म तत्त्व तक पहुंचने में हमारा पथ-प्रदर्शक है। उपनिषद् ने इसी भाव से इसकी व्याख्या इन शब्दों में लिखी— 'आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति।' जीवन का सारा व्यापार इस आत्मा के स्वास्थ्य के लिए ही है।

धन्वन्तरि के सम्प्रदाय में एक सौ एक प्रकार की मृत्यु है। उनमें एक ही काल मृत्यु है, शेष अकाल मृत्युयें रोकने का प्रयास ही निदान और चिकित्सा है।[4] आयु के

---

1. पुरुषो वाव यज्ञः। —गोपथ
2. ये त्रिषप्ता परियन्ति विश्वाभूतानि······। —ऋग्वेद
3. पञ्चमहाभूत शरीरि समवायः पुरुष इति। स एव कर्मपुरुषश्चिकित्साधिकृत.॥—सुश्रुत, शारी० 1/16
   वैद्यहीनास्त्रयः पादाः गुणवन्तोऽप्यपार्थकाः।
   उद्गातृ होतृ ब्रह्माणो यथाध्वर्युं विनाध्वरे। —सु० सू० 34/17
4. एकोत्तरं मृत्युशतमथर्वाणः प्रचक्षते।
   तत्रैकः काल संयुक्तः शेषा आगन्तवः स्मृताः॥ —सुश्रुत सूत्र, 34/6

न्यूनाधिक्य की एक-एक माप धन्वन्तरि ने वताई।[1] पुरुप अथवा स्त्री को अपने हाथ के नाप से 120 अङ्गुल लम्बा होना चाहिए। छाती अठारह अङ्गुल, कटि (कमर) भी 18 अङ्गुल। पुरुप की छाती के विस्तार के वरावर स्त्री की श्रोणि (नितम्व देश) होनी चाहिये। शरीर के एक-एक अवयव की स्वस्थ और अस्वस्थ माप धन्वन्तरि ने वताई थी। यह अन्य प्राणाचार्यो ने नहीं दी। यदि दी है तो वह धन्वन्तरि की ही खोज है। ऊपर जो माप दी है वह आयुष्य की वोधक है। इससे भिन्न अनायुष्य की।

जिसके शरीर के जोड़-जोड़ छोटे हों किंतु मेहन (शिश्न) अनुपात से वड़ा। छाती की पसलियां पिचकी हुई। छाती की अपेक्षा पीठ चौड़ी, नाक और कान अपने स्थान से ऊपर चढ़े हुए। हंसते-वोलते जिसके दांतों का जवड़ा और मांस दिखाई दे। जिसकी दृष्टि में सूनापन हो, वह 25 वर्ष ही जियेगा।[2]

धन्वन्तरि की यह सूक्ष्मेक्षिका अन्य प्राणाचार्यो की अपेक्षा विशेप महत्त्व की है। आदि में धन्वन्तरि ने इन सूक्ष्म तत्त्वों को खोज लिया था, इसलिए अनन्तर के आचार्यों का मार्ग सुगम हो गया। आयुर्वेद के इन तत्त्वों का विस्तार स्वर्ग की सीमा के वाहर धन्वन्तरि ने ही पहले किया, इसीलिए उन्हें आयुर्वेद का प्रवर्त्तक कहा जाता है।

दिवोदास ने स्थान-स्थान पर कहा है—मैं जो कुछ कह रहा हूं वह धन्वन्तरि महाराज का सिद्धान्त ही है। धन्वन्तरि ने वेद तथा इन्द्र आदि देवताओं से प्राप्त कर इस विद्या को लोकोपकार के लिये मुझे विरासत में दिया है। परमार्थ के लिये आयुर्वेद से वढ़कर अन्य साधन नहीं।[3] इसलिये उसी को अनुसरण करना सवसे वड़ा लोकोपकार है।

धन्वन्तरि सम्प्रदाय में पुरुप का तीन प्रकार से विश्लेपण किया जाता है—(1) अधिभूत, (2) अधिदैवत और (3) अध्यात्म। जैसे, वुद्धि अध्यात्म है। वोधव्य अधिभूत है और व्रह्मा अधिदैवत। अहङ्कार अध्यात्म है। अहङ्कर्त्तव्य अधिभूत। रुद्र अधिदैवत।

देह का अधिदैवत रूप ही गम्भीर है—धन्वन्तरि सम्प्रदाय में उन्हें इस प्रकार निरूपित किया गया है—

वुद्धि का अधिदैवत रूप व्रह्मा है। अहङ्कार का रुद्र, मन का चन्द्रमा। श्रोत्र का दिशायें। त्वचा का वायु। चक्षु का सूर्य। रसना का जल। घ्राण का पृथ्वी। वाणी का अग्नि। हाथों का इन्द्र। पैरों का विष्णु। गुदा का मित्र। उपस्थ का प्रजापति।

इस अधिदैवत विवेचन से हम यह समझ सकते हैं कि शरीर की विभिन्न क्रियाओं का अधिदैवत रूप ही प्रकृति की सम्पूर्ण क्रियाओं का अधिदैवत रूप है। प्रकृति में काम करने वाली महान् शक्तियां ही हमारे शरीर में भी काम कर रही हैं—'यथा पिण्डे तथा

1. सु०, सू०, 35/12
2. सु०, सू०, 35/9–11
3. चिकित्सितात् पुण्यतमं न किञ्चिदपि सुश्रुमः।
ऋषेरिन्द्र प्रभावस्यामृतयोनेर्भिपग्गुरोः॥
धारयित्वा तु विमलं मतं परम सम्मतम्।
उक्ताहार समाचार इह प्रेत्यच मोदते॥ —सु०, कल्प० 8/141-143

ब्रह्माण्डे' का सिद्धान्त ही आयुर्वेद का सिद्धान्त है।

जब हम वैज्ञानिक दृष्टि से देखेंगे तब मनुष्य पञ्चमहाभूतों का पुतला है। चिकित्सा का अधिष्ठान वही है। अध्यात्मिक दृष्टि से वह आत्मा अथवा पुरुष है। अधिदैविक विचार में वह जब बोध क्रिया करता है तब ब्रह्मा, अहङ्कार की दशा रुद्र, मनन की स्थिति चन्द्रमा है। विशाल ब्रह्माण्ड को शरीर के छोटे ब्रह्माण्ड में अध्ययन करने का यह सुगम मार्ग है। शरीर का अधिदैविक व्यापार भी स्वस्थ रहना चाहिये। उसकी अस्वस्थता भी रोग है।

मनु का विश्लेषण देखिये--

'आचार्यो ब्रह्मणोमूर्ति, पितामूर्तिः प्रजापते।
माता पृथिव्या मूर्तिस्तु भ्राता स्वोमूर्तिरात्मनः॥'

ब्रह्मा प्रोवाच, प्रजापतिरधिजगे' इत्यादि वर्णन को इस आधिदैविक विश्लेषण में मिलाना नहीं चाहिये। वह इतिहास है, और यह विज्ञान। भारतीय वाङ्मय के आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक विश्लेषण में हमें ध्यान रखना चाहिये कि अमुक शब्द किस प्रसङ्ग का है। उसका अर्थ तभी समझा जा सकेगा। संक्षेप में यों समझा जा सकता है---आधिभौतिक ज्ञान की स्थूल विचारधारा के बाद आधिदैविक क्षेत्र आता है, और आधिदैविक विवेचन के अन्त में अध्यात्म शेष रहता है।

यद्यपि प्रत्येक रोग शरीर के आधिभौतिक रूप में ही विकार प्रकट करता है तो भी निदान और रूप में बड़ा अन्तर है। हो सकता है आधिभौतिक विकार का निदान आधिदैविक हो। अपस्मार और उन्माद उसी कक्षा में आते हैं। जब कि ज्वर और अतीसार भौतिक सीमा के अन्तर्गत ही रहते हैं। इस दृष्टि से रोगों का आधिदैविक विचार भी कितना महत्त्वपूर्ण और आवश्यक है? आधिदैविक विकारों के लिये सदैव आधिभौतिक चिकित्सा काम नहीं देती, उसके लिये आधिदैविक साधन और उपाय ही भारतीय प्राणाचार्यों ने ढूंढ़े। धन्वन्तरि ने भी उन्हें प्रतिपादन किया है।[1]

धन्वन्तरि की ज्ञान ज्योति पश्चिम में जहां भूमध्य एशिया के धन्व तक विस्तृत थी, वहां पूर्व में तो सहज ही उसे फैलना था। धन्वन्तरि के अष्टाङ्ग आयुर्वेद के ही शालाक्य तन्त्र पर दिवोदास से पहले विदेहाधिप जनक ने भी एक शास्त्र लिखा था।[2] व्याख्याकार डल्हण ने लिखा कि इन जनक का नाम 'निमि' था। इनके प्रतिस्पर्धी कराल, भद्र, शौनक आदि लेखक भी हुए पर वे उतने सम्मानित न हो सके कि दिवोदास के आदर-पात्र हो पाते।

सुश्रुत में शल्य शास्त्र की प्रधानता दिवोदास की दी हुई है। क्योंकि सुश्रुत आदि शिष्यों ने वही चाहा था। धन्वन्तरि ने शल्य-शास्त्र को ही प्रधान सिद्ध करने की कोई प्रतिज्ञा नहीं की थी। आयुर्वेद के आठों अङ्गों पर उनकी अपनी विशेषताएं हैं। सुश्रुत संहिता के गहन अध्ययन से वे स्पष्ट होती हैं। धन्वन्तरि के अपने आविष्कार यहां-वहां

---

1. सु०, उत्तर अ० 60
2. शालाक्य तन्त्राभिहिता विदेहाधिप कीर्तिताः। —सुश्रुत, उत्तर, 1,5

धन्वन्तरि के विशेष नामोल्लेख के साथ प्रस्तुत किये गये हैं। शरीर में देखिये--

शरीर के क्षीण होते भी यह दो बढ़ते ही रहते हैं--नख और केश। शरीर के बढ़ने पर भी यह दो कभी नहीं बढ़ते--दृष्टि और रोम-कूप। यह धन्वन्तरि की ही खोज है।[1]

ज्वर के सम्बन्ध में धन्वन्तरि की खोज अपूर्व थी। सृष्टि में प्रत्येक प्राणी को ज्वर हो सकता है। देव और मनुष्य दो ही प्राणी ऐसे हैं जो ज्वर से मुक्त होकर जीवित रह पाते हैं। पशु, वृक्ष और पक्षियों को ज्वर मृत्यु का रूप लेकर ही आता है।[2] इस अध्ययन के लिये पशु, पक्षी और वृक्षों का जीवन वृत्त कितनी गम्भीरता से अध्ययन किया गया होगा?

ग्रहणी रोग के सम्बन्ध में धन्वन्तरि की खोज देखिये--

'वालक का ग्रहणी रोग साध्य है, युवा का कष्टसाध्य, और वृद्ध का ग्रहणी रोग उसे लेकर ही जाता है।' दिवोदास ने कहा--'यह धन्वन्तरि की ही खोज थी।'[3]

तव क्या दिवोदास ने मौलिक रूप से कुछ नहीं किया? वहुत किया। किन्तु अपने प्रपितामह के प्रति दिवोदास ने जो शिष्टता और नम्रता प्रस्तुत की वह उनकी विद्या का गौरव है। भर्तृहरि ने ठीक कहा था--

"परगुण परमाणूःपर्वतो कृत्य नित्यं,
निज हृदि विकसन्तः सन्तिसतःकियन्तः?"

दिवोदास का कार्य तो सम्पूर्ण सुश्रुत संहिता है ही। सुश्रुत ने उनके ही गौरव में लिखा है--

सर्वशास्त्रार्थ तत्वज्ञस्तपो दृष्टिरुदारधीः।
वैश्वामित्रं शशासाथ शिष्यं काशिपतिर्मुनिः॥[4]

परन्तु इस अनुशासन में स्थान-स्थान पर दिवोदास ने कहा--'यह धन्वन्तरि का है।' तव यह किस की ओर संकेत है? उन्हीं प्रपितामह के ही।

पूर्व जन्म में क्षीर सागर से अमृत जिनकी कृपा से प्राप्त हुआ था। देवता जिनकी ही कृपा से अमर हुए थे। जिन्हें देवताओं में सर्वोच्च प्रतिष्ठा मिली थी, उन्हीं पूजनीय गुरुदेव को आज दिवोदास के रूप में पाकर, सुश्रुत आदि शिष्यों ने पूछा--'हे भिषक् श्रेष्ठ! व्रण के उपद्रव संक्षेप और विस्तार से वताने की कृपा

---

1. शरीरेक्षीयमाणेऽपि वर्धेते द्वाविमौसदा।
स्वभावं प्रकृतिं कृत्वा नख केशाविति स्थितिः॥
दृष्टिश्च रोम कूपाश्च नवर्धन्ते कदाचन।
ध्रुवाण्येतानि मर्त्यानामिति धन्वन्तरेर्मतम्॥ --सु०, शा०, 4/61-60
2. सुश्रुत, उत्तर० 39/11-12
3. वालके ग्रहणी साध्या यूनिकृछ्रा समीरिता।
वृद्धेत्वसाध्या विज्ञेया मतं धन्वन्तरेरिदम्॥--सुश्रुत
4. सुश्रुत सं०, उत्तर०, 18/3

कीजिये।"[1]

ऐसा लगता है—धन्वन्तरि ने आयुर्वेद का एक अक्षय कोष संचित किया था। दिवोदास उसे ही दान कर रहे थे। दिवोदास ने व्रण के मुख्य उपद्रव ज्वर का विश्लेषण किया। इतना उज्ज्वल कि उससे सुन्दर विवेचन फिर और कोई कर ही न सका। इसीलिये ज्वर के विवेचन का जब भी अवसर आया, उत्तर कालीन प्राणाचार्यों ने उन्हीं शब्दों को दोहराया। यह बात दूसरी है, सुश्रुत ने पद्यों में कहा, चरक ने गद्य में। वाग्भट और माधव को उन शब्दों के अतिरिक्त और शब्द ही न मिले। हां, धन्वन्तरि ने जो वस्तुतत्व कहा, वाग्भट और माधव ने उसी में अपनी शैली जोड़ दी। तत्व धन्वन्तरि का, सजावट औरों की। बस, 'निदाने माधवः श्रेष्ठः सूत्रस्थानेतु वाग्भटः' का यही रहस्य है।

धन्वन्तरि और दिवोदास के युग में निदान के पञ्चावयव[2] (1) निदान (2) पूर्वरूप (3) रूप (4) उपशय और (5) सम्प्राप्ति का शैलीबद्ध विवेचन नहीं था। वह आत्रेय-पुनर्वसु ने प्रस्तुत किया।[3] सुश्रुत ने पहिले ज्वर का रूप लिखा। फिर सम्प्राप्ति और उसके अन्तर निदान और फिर पूर्वरूप। परन्तु आत्रेय ने अवयव क्रम से विवेचन दिया। मैंने कहा है धन्वन्तरि ने वैज्ञानिक वस्तुतत्व दिया और उत्तर कालीन आचार्यों ने वस्तुतत्व और शैली, दोनों।

आयुर्वेद के इतिहास को यदि क्रमिक विकास की दृष्टि से देखें तो हम देखेंगे कि उसमें उत्तरोत्तर शैली का विकास होता गया है, किन्तु वस्तुतत्व घटता गया। धन्वन्तरि केवल वस्तुतत्व हैं, और वाग्भट केवल शैली। यदि आप आज्ञा दें तो मैं यह भी कहना चाहता हूं कि धन्वन्तरि, दिवोदास, आत्रेय पुनर्वसु और कश्यप ने गन्ने की एक विशाल फसल तैयार की थी, किन्तु वाग्भट ने शैली के कोल्हू में पेल कर उससे चीनी तैयार की।

महापुरुषों का सन्तुलन करना बड़ा कठिन होता है। किन्तु हिमालय को देखने वाले यह छोटे-छोटे नेत्र अपनी अनुभूति को कहे बिना भी नहीं रहते। सन्त तुलसीदास हम जैसों को साहस बंधा गये—

"कवि न होहुं नहि चतुर कहावों।
मति अनुरूप राम गुन गावों॥"

हां, धन्वन्तरि के जीवन का जो सबसे बड़ा विज्ञान था, वह था अमृत का प्रयोग। दिवोदास के उल्लेखों से प्रतीत होता है कि धन्वन्तरि के युग में रसायन प्रयोगों

---

1. येनामृतमपांमध्यादुद्धृतं पूर्वजन्मनि।
यतोऽमरत्वं सम्प्राप्तास्त्रिदशास्त्रिदिवेश्वराः।
निष्पाद्यं तं देवमासीनं पप्रच्छुः सुश्रुतादयः॥
व्रणस्योपद्रवाः प्रोक्ता व्रणिनामप्यतः परम्।
समासाद् व्यासतश्चैव ब्रूहि नो भिषजांवर!॥—सु० उत्त० 39/3-5
2. निदानं पूर्वं रूपाणि रूपाण्युपशयस्तथा।
सम्प्राप्तिश्चेति विज्ञानं रोगाणां पञ्चधा स्मृतम्॥—माधव निदान
3. 'तत्रोपलब्धिर्निदान पूर्वरूप लिङ्गोपशय सम्प्राप्तितः।"—चरक, नि० 1/5

का बहुत चलन हो गया था। 'सर्वोपघात शमनीय' तथा 'मेधायुष्कामीय' रसायन प्रयोग लिख कर सुश्रुत ने 'स्वभाव-व्याधि प्रतिषेधनीय' रसायन के प्रयोग लिखे।

रसायन का अर्थ है स्वस्थ मनुष्य को ओजस्वी बनाने वाले योग। धन्वन्तरि ने रसायन प्रयोगों की सिद्धि के लिये ओषधि और मन्त्र दोनों आवश्यक कहे हैं।[1] स्वभाव व्याधियां वे हैं जो अनिवार्य रूप से आती हैं। बुढ़ापा ही उनमें प्रथम है। शरीर के स्वाभाविक कार्यो में क्षीणता—स्मृति, दृष्टि, श्रवण, भाषण, सौन्दर्य आदि का ह्रास, को निवारण करने के लिए रसायन प्रयोग हैं। धन्वन्तरि के इन प्रयोगों की कई श्रेणियां हैं कुछ प्रयोगों का फल सौ वर्ष की आयु लिखा है। कुछ का फल तीन सौ वर्ष, और कुछ पांच सौ वर्ष तक दीर्घ आयु देते हैं। अथर्व वेद के श्री सूक्त का जाप भी इस प्रसंग में में निहित है। श्री सूक्त सौन्दर्य की एक मानसिक कल्पना है।[2] ओषधि प्रयोग के साथ मन में भी तदनुसार प्रवृत्ति न हो तो लाभ की प्रगति मन्द होती है। ओषधि शरीर का नियन्त्रण है और मन्त्र मन का।[3] शरीर और मन दोनों मिल कर ही हमारे जीवन का संचालन करते हैं। जहां कोई मन्त्र नहीं दिया वहां गायत्री का प्रयोग होना चाहिए।

रसायन प्रयोगों में सुवर्ण खाने का विधान धन्वन्तरि के समय प्रचलित था। अनेक प्रयोगों में सुवर्ण का विधान सुश्रुत संहिता में है। मधु और घृत के साथ सुवर्ण खाने का विधान बच्चों के लिये भी है। वहां सुवर्ण की भस्म आदि का उल्लेख नहीं है। प्रतीत होता है कच्चा सोना चूर्ण करके या घिसकर प्रयोग होता हो। सुश्रुत के शारीर स्थान के अन्त में शिशु के संवर्धन के लिये तीन प्रयोग दिये हैं। उनमें सुवर्ण के चूर्ण का स्पष्ट उल्लेख है—'सौवर्ण सुकृतं चूर्णम्।'

परन्तु सबसे बढ़कर जो रासायिनक प्रयोग धन्वन्तरि में कहे वे सोम के हैं। जिन से अमृत तैयार होता था। धन्वन्तरि के जीवन के साथ अमृत का कलश जुड़ा है। वह भी स्वर्ण का कलश था जिसमें अमृत भरा था। अमृत निर्माण करने का प्रयोग धन्वन्तरि ने स्वर्ण के पात्र में ही बताया था। इस प्रकार स्वर्ण के कलश में अमृत लाने वाले धन्वन्तरि तो थे ही।

स्वर्ग में सोमपीथियों की एक माननीय परिपाटी थी। अश्विनी कुमारों के प्रसंग में हमने उस बारे में लिखा है। धन्वन्तरि ने उसी परिपाटी की स्थापना आर्यावर्त्त में की थी। धन्वन्तरि ने कहा—'स्वर्ग में ब्रह्मा, इन्द्र आदि देवों ने सोमनामक जिस अमृत का निर्माण किया था, उसका उद्देश्य जरा, मृत्यु का निवारण था। मैं उसका ही विधान तुम्हें बताता हूं।'[4]

सोम चौबीस प्रकार के हैं। परन्तु उनकी रासायनिक स्थिति एक है। स्थान, नाम, आकृति और प्रतिक्रिया के थोड़े बहुत अन्तर होने से उन्हें चौबीस भेदों में रखना

1. मन्त्रौषधिसमायुक्तं संवत्सर फलं प्रदम्।—सु० चि० 28/9
2. श्री सूक्तमथर्ववेदोक्त 'हिरण्यवर्णां हारिणीं सुवर्ण रजत स्रजाम्" इत्यादिकम।—उल्हण
3. "प्रजासुयस्मान्नऋते किञ्चन कर्म क्रियते तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु"—ऋग्वेद
4. ब्रह्मादयोऽसृजन्पूर्वममृतं सोम संज्ञितम्।
जरामृत्युविनाशाय विधानं तस्यवक्ष्यते॥—सु० चि० 29/3

पड़ा। वे चौबीस भेद ये हैं—

(1) अंशुमान् (2) मुञ्जवान् (3) चन्द्रमा (4) रजत प्रभ (5) दूर्वा सोम कनीयान (7) श्वेताक्ष (8) कनक प्रभ (9) प्रतानवान् (10) ताल वृन्त (11) करवीर (12) अंशवान् (13) स्वयं प्रभ (14) महासोम (15) गरुडाहृत (16) गायत्र (17) त्रैष्टुभ (18) पांक्त (19) जागत (20) शाक्वर (21) अग्निष्टोम (22) रैवत (23) यथोक्त (24) उडुपति

धन्वन्तरि ने कहा—ये वैदिक युग के ही सोम हैं और वही नाम।[1] वेदों में सोम देवता के बहुत सूक्त हैं। विशेषकर सामवेद सोम देवता के सूक्तों से भरा पड़ा है। सोम पीकर साम के गानों में तल्लीनता ही उसका कारण हो सकती है। जो भी हो, सोम की प्रतिष्ठा आर्यों में आदि काल से रही है।

परन्तु सोम पर देवताओं ने ही एकाधिकार किया हुआ था। स्वयं सुश्रुत ने लिखा है—'रसायन ऋषियों के, अमृत देवों के और सुधा नागों के आविष्कार थे।[2] अमृत पीने की लालसा लोगों में बढ़ गई, किन्तु देवों ने उसे स्वर्ग से बाहर नहीं जाने दिया। यहां तक कि अश्विनी कुमारों के युग में ही वह संघर्ष उठ गया था। धन्वन्तरि ने कुछ प्रमुख देवों के सम्पर्क में वह कला सीख ली जिससे अमृत बनता था, और वे उसे आर्यावर्त की भूमि पर ले आये। यहां भी अमृत बनाकर धन्वन्तरि ने जब देना शुरू किया तो देवों ने उसका विरोध किया। इस विरोध ने इतना उग्र रूप पकड़ा कि धन्वन्तरि के वंशज सत्यव्रत (त्रिशंकु) जब स्वर्ग के निवास को गये तो देवों ने उन्हें वहां घुसने नहीं दिया।

देवताओं की साम्राज्यवादी मनोवृत्ति के विरुद्ध अश्वि, धन्वन्तरि और विश्वामित्र जैसे समाजवादी भी थे। तभी तो विश्वामित्र एक नये स्वर्ग की रचना करने लगे थे। बहुमत विजयी होता ही है। सर्वसाधारण के हित का कोई भी आविष्कार किसी के एकाधिकार में जनता नहीं रहने देती। फिर अमृत ही देवों के एकाधिकार में कैसे रहता? अब राष्ट्र की सीमा स्वर्ग नहीं आर्यावर्त था। अमृत आर्यावर्त में भी आना चाहिये था। धन्वन्तरि ले आये।

परन्तु धन्वन्तरि ने यह कहा जरा मृत्यु के विनाश के लिए ब्रह्म आदि देवताओं ने ही सोम नामक अमृत का आविष्कार किया। सर्वजन हिताय मैं उसे कह रहा हूं। सुश्रुत ने उसके रसायन प्रयोग का जो उल्लेख है,[3] वह मामूली काम नहीं है। देखिये —

सोम रसायन उपयोग के लिये तीन वृत्त का घर होना चाहिये। शुभ दिन अंशुमान (सोम) सोम लाया जाय। सोने की छुरी से काट कर उसके कन्द का रस किसी सोने के पात्र में ही कम से कम एक पाव निकालो। फिर उसे एक सांस में पियो। सोम के

---

1. एते सोमाः समाख्याताः वेदोक्तैर्नामभिः शुभैः :
   सर्वे तुल्य गुणाश्चैव विधानं तेषु वक्ष्यते ॥—सु० चि० 29;9
2. रसायन निसर्गिणां देवानाममृतं यथा।
   सुधेवोत्तम नागानां भैषज्यमिदमस्तुते ॥—सुश्रुत सू० 45/1-2
3. सुश्रुत चिकित्सा स्थान अध्याय 29

छूंछ को नदी के जल में फेंक दो। दिन भर यम, नियम पूर्वक मित्रों से वार्तालाप करते हुए उसी घर में टहलता रहे। बैठे-उठे, चले-फिरे, किसी प्रकार सोये नहीं। रात्रि में शान्त चित्त कुशा के विस्तर पर मृगछाला विछाकर सोये। प्यास लगे तो ठंडा जल पिये। भूख लगे तो दूध। प्रातः उठे शान्ति पाठ करके गाय दुहे। सोम पच जाने पर कवमन आयेगी। खून से मिले कृमि निकलेंगे। अनंन्तर शाम तक पका हुआ ढंडा दूध पिये। उसके तीसरे दिन कृमियों से पूर्ण दस्त होंगे। फिर स्नान करके पका हुआ दूध पिये। अब रेशमी चादर विछे बिस्तर पर सोये। अब चौथे दिन देह में सूजन आयेगी। सारे अवयवों से कृमि निकलेंगे। उस दिन विस्तर पर रेत विछा कर सोये। शाम को पहिले की भांति दूध पिये। पांचवें, छठवें दिन यही क्रम रहे। दोनों समय दूध लेता रहे। सातवें दिन मांस पिचक जायेगा। खाल और हड्डी का कंकाल शेष रहेगा। सोम के बल पर जीवन चलता रहेगा। उस दिन गुनगुने दूध से देह मार्जन कर तिल, मुलेठी, तथा चन्दन का लेप देकर दूध पिये।

अब आठवें दिन दूध से नहाकर देह में चन्दन चुपड़कर दूध पिये और रेत की शय्या छोड़कर रेशमी वस्त्रों के विछौने पर लेटे। इस से सूखा मास भरने लगेगा। खाल उतरेगी, दांत, नख, और रोयें गिरेंगे। नवें दिन से अणुतैल मले। सोम के क्वाथ से ही नहाये। दसवें दिन तक ये ही क्रम चले। इससे त्वचा ठीक होगी। ग्यारहवें-बारहवें दिन भी यही क्रम रखे।

तेरहवें दिन से सोम के क्वाथ से ही स्नान करे। सोलह वें दिन तक यों ही चले। सत्रहवेंव अट्ठरह वें दिन तक दांत ठीक हो जाएंगे। दृढ़, चमकदार, नुकीले और सुन्दर। फिर पुराने चावलों का भात दूध से खाये। पच्चीसवें दिन तक यह क्रम रहे। अब उसे चावल, दाल और दूध देवे। इससे उसके नाखून मूंगे जैसे सुन्दर होंगे। श्याम, कोमल घुंघराले केश हो जायेंगे। त्वचा नील कमल जैसी। एक मास बीते केश मुंड़वा दे। खस, चन्दन तथा काले तिलों का उबटन करे। दूध से नहाये। सात दिन में फिर अच्छे केश हो जायेंगे।

दूसरे महीने के प्रथम तीन दिन घर के प्रथम प्राकार से दूसरे तक आ सकता है। फिर भीतर ही रहे। बला तैल की मालिश करे। जौ का उबटन। गुनगुना जल नहाने को अजकर्ण क्वाथ हाथ पैर धोने को। खस का जल नहाने को। चन्दन का लेपन। आंवले का रस मिला दाल का पानी। दूध और मुलेठी का उबटन काले तिल मिला कर। इस प्रकार दस-दस दिन के दो क्रम करे। तीसरे दस दिन के क्रम में अपने नियम संयम से निश्चिन्त होकर रहें। कभी-कभी धूप और हवा में आता रहे। फिर उसी घर में रहे। लोग उसे सुन्दर कहेंगे। पर जल या दर्पण में कभी अपना रूप न देखे। अगले और दस दिन तक क्रोध आदि सब छोड़े रहे। सारे सोम इसी प्रकार रसायनार्थ सेवन किये जाते हैं। वल्ली, प्रतान, क्षुप आदि सोम केवल ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य को लेने चाहिये। उनकी मात्रा साढ़े तीन छटाँक है।'

अंशुमान् सोम को सोने के पात्र में निचोड़े और चन्द्रमा सोम को चांदी के पात्र में। शेषों को तांबे या मिट्टी के बर्तन में, रोहीत काष्ठ अथवा मृगचर्म के पात्र में भी निकाल सकते हैं। चौथे महीने रसायन विधि पूर्ण हो गई। अब अपने काम में लगे।"

यह रसायन विधि है। दैनिक प्रयोग नहीं। चरक ने भी रसायन पाद में कुछेक ऐसी ही विधियां दी हैं। आंवला, त्रिफला और शिलाजीत आदि के रसायन प्रयोग की विधि वहां भी इससे मिलती हुई है। परन्तु यज्ञ आदि अवसरों पर यह कहां सम्भव है। वे सोम पीथि कुछ और थे, जिनके बारे में संघर्ष था। यह सुश्रुतोक्त विधि, चिकित्सा विधि है। सामाजिक विधि कुछ और रही होगी।

सोम रसायन की अतिशयोक्तिपूर्ण प्रशंसा दी गई है। उसका तात्पर्यार्थ लिया जाय तो ज्ञात होता है कि दीर्घायुष्य के लिए यह प्रयोग उस युग के असाधारण प्रयोग माने जाते थे।

उस युग में आर्यावर्त्त के कुछ ऐसे प्रदेश थे जहां सर्वसाधारण नहीं पहुंचते थे। लिखा है कि सोम का पान करने वाले क्षीर सागर, इन्द्र भवन (नन्दन वन) तथा उत्तर कुरु (सिम्कियांग) जहां पहुंचना चाहें अप्रतिहत गति से पहुंच सकते हैं।

जहां से सोम एकत्रित किया जाता था उन स्थानों के नाम भी दिये गये हैं। देखिये—

हिमालय, अर्बुद, सह्य, महेन्द्र, मलय, श्री पर्वत, देवगिरि, देवसह, पारियात्र तथा विन्ध्य, इन पर्वतों पर सोम मिलता है।

देवसुन्द झील, वितस्ता (झेलम) के उत्तरवर्त्ती पहाड़, उनसे निकलने वाली पांच नदियां तथा सिन्धु नदी। इन प्रदेशों में चन्द्रमा नाम की सोमलता प्राप्त होती है। कहीं-कहीं मुञ्जवान् और अंशुमान् सोम भी मिलते हैं।

काश्मीर में जो देवताओं की झील है उसका नाम क्षुद्रमानस (छोटा मानसरोवर) है। वहां गायत्र, त्रैष्टुभ, पांक्त आदि अन्य सब प्रकार के सोम मिल जाते हैं।

सारी ही सोम लताओं में पन्द्रह पत्ते होते हैं। शुक्लपक्ष में प्रतिदिन एक-एक पत्ता निकलता है। पूर्णिमा को पन्द्रह पत्ते हो जाते हैं। कृष्णपक्ष में प्रतिदिन एक-एक पत्ता झड़ता है। अमावस्या को निष्पत्र हो जाता है। सोमों में दूध निकलता है, कन्द होता है, लता होती है। पत्तों की बनावट में अन्तर है, गुणों में नहीं।

सोम तुल्य गुणकारी अठारह औषधियां और हैं। शास्त्रों में जो सोम का विधान, फल तथा स्तुतियां लिखी हैं वे इन्हीं सब सोम तथा उनके तुल्य औषधियों की ही हैं।[3]

धन्वन्तरि के आविष्कृत इस सोम विज्ञान के लिए ही आज एक स्वतन्त्र अनुसन्धानशाला की आवश्यकता है।

सुश्रुत संहिता में इन्हीं औषधियों का विवरण देते हुए फिर लिखा है—"देवताओं ने अमृत का सोम बनाकर पान किया। जो पीते-पीते बच गया वही उन्होंने नाना कुछ अन्य औषधियों में निहित किया और कुछ इस आकाशवर्त्ती चन्द्रमा में। उन चन्द्रमा ने

---

1. ओषधीनां पतिं सोममुपयुज्य विचक्षणः।
दश वर्षसहस्राणि नवां धारयते तनुम्॥ —सु० चि० 29/14-16
2. क्षीरोदं नन्दनमुत्तरांश्च कुरूनपि।
यथेप्सति तदा गन्तुं शक्नोत्यप्रतिहतागतिः॥ —सु० चि० 29/17
3. सुश्रुत सं०, चि, अ०29/30

अमृत नहीं आया, किन्तु चन्द्रमा नामक सोम से अमृत बनाकर देवों ने उस चन्द्रमा को दिया होगा।"

देवसुन्द झील, सिन्धु नदी, महानदी, इन जल-प्रचुर स्थानों में ब्रह्म सुवर्चला सोम-तुल्य ओषधि मिलती है। काश्मीर के छोटे मानसरोवर के तट पर कन्या, छत्रा और अति छत्रा मिलती हैं। कौशिकी नदी के पार तथा सञ्जयन्ती नदी के पूर्व के प्रदेश वल्मीकों (वमीठों) से परिपूर्ण हैं। यह क्षेत्र तीन योजन (12 मील) है। वहां कापोती नामक सफेद औषधि वल्मीकों के ऊपर उगी हुई मिलती है। मलय तथा नलसेतु में वेगवती औषधि मिलेगी। अर्बुद पहाड़ पर यह सारी औषधियां मिलती हैं। इस पहाड़ की चोटियों पर देव लोग रहते हैं। इसके शिखर बादलों से ऊंचे हैं। सिद्ध, ऋषि और देव लोग इसके विख्यात जलाशयों के तट पर निवास करते हैं। बड़ी-बड़ी कन्दराओं में यहां सिंहों की दहाड़ प्रतिध्वनित होती है। हाथी यहां की सरिताओं में क्रीड़ा करते हैं। बहती हुई नदियों के जल से प्रक्षालित रंग-रंग के धातु सर्वत्र शोभित हैं।

आज इस इतिहास को अनुप्राणित करने के लिए धन्वन्तरि के युग के भूगोल को निरूपित करना होगा, जिसमें यह दिखाना है कि देवसुन्द झील, सञ्जयन्ती नदी और अर्बुद शैल कहां हैं? विज्ञान के इस प्रगतिशील युग में ब्रह्म सुवर्चना, कापोती और वेग-वती का रहस्य न जाना गया तो कब जाना जायेगा? इससे अधिक खेद की बात और क्या होगी कि धन्वन्तरि का अमृत हमारे घर में रखा रहा, किन्तु हम पी न सके? हम अमर हुए, अमर थे और अमर रहेंगे। वेद ने पुकारकर कहा था—'शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्राः।' अभी तक हमने सुना ही नहीं। आओ, सुनें।

सोम को सम्पादित करते समय एक मंगल मन्त्र सुश्रुत संहिता में लिखा है—

महेन्द्र राम कृष्णानां ब्राह्मणानां गवामपि।
तपसा तेजसा वापि प्रशाम्यध्वं शिवाय वै ।।[1]

इस मंगलाचरण में राम और कृष्ण का उल्लेख निश्चय ही दिवोदास का कहा हुआ नहीं है। दिवोदास राम और कृष्ण दोनों से पूर्ववर्ती थे। हमने पीछे जो उद्धरण दिये हैं, उनसे सिद्ध है कि आरुणि, प्रतर्दन और प्रावाहण जैबलि जब अध्यात्म की गहन गुत्थियाँ सुलझा रहे थे, अयोध्या में दशरथ राज्य कर रहे थे। दिवोदास प्रतर्दन के पिता थे और धन्वन्तरि दिवोदास के प्रपितामह। फिर राम और कृष्ण का उल्लेख सुश्रुत में कैसे सम्भव है?

वस्तुतः इस मन्त्र का प्रक्षिप्त होना इस आधार पर भी सम्भव है कि मेधायुष्का-मीय रसायन पाद में यह स्पष्ट लिखा है कि जहां रसायन सम्पादन करते समय अन्य वेद मन्त्र न दिया हो वहां त्रिपदा गायत्री का ही विनियोग कर लेना चाहिए।[2] अतएव राम और कृष्ण के नामों से अभिमन्त्रित करने का कोई प्रश्न ही नहीं रहता।

---

1. सुश्रुत, चि० 30/27
2. यत्र नोदीरितो मन्त्रो योगेष्वेतेषु साधने।
   शब्दिता तत्र सर्वत्र गायत्री त्रिपदाभवेत् ।। —सु० चि० 28/25

धन्वन्तरि के समाजवादी विचारों के साथ-साथ विज्ञान-प्रेम ने उन्हें राजनीति से उदासीन कर दिया। यद्यपि अपने प्रारंभिक जीवन में उन्होंने जो महान् पराक्रम किये उनके बल पर उन्होंने आर्यावर्त्त का एक विशाल साम्राज्य खड़ा कर दिया था; किन्तु स्वर्ग में चलने वाली परम्पराओं तथा इन्द्र की साम्राज्यवादी प्रतिष्ठाओं के विरोध में कदम उठाने के कारण धन्वन्तरि की ओर से इन्द्र की राजसभा असन्तुष्ट हुई। यह प्रतिक्रिया धीरे-धीरे यहां तक हुई कि धन्वन्तरि के पौत्र सत्यव्रत (त्रिशंकु) ने जब स्वर्ग में प्रवास करना चाहा तो देवों ने उनका स्वागत ही नहीं किया प्रत्युत स्वर्ग की सीमा से बाहर धकेल दिया। आखिर वे स्वर्ग की उपत्यकाओं में ही रहे, जहां से कर्मनाशा की धारा बही थी।

अब असुरों के आक्रमण के समय इन्द्र का निमन्त्रण काशी के स्थान पर कोसल को जाने लगा था। कालिदास ने उस प्राचीन इतिहास का संस्मरण ही इन शब्दों में लिखा है—

> सोऽहमाजन्म शुद्धानामाफलोदय कर्मणाम।
> आसमुद्रक्षितीशानामानाक रथ वर्त्मनाम् ॥[1]
> रघूणामन्वयं वक्ष्ये…

धन्वन्तरि की जन-सेवा ने साम्राज्य के सिंहासन की सेवा समाप्त कर दी। सुश्रुत ने ठीक लिखा है—

'वे सम्राट् के घर उत्पन्न हुए, किन्तु राज्य के विलास और भोग के लिए नहीं। उनके जन्म लेने का निमित्त ही और था। महान् आत्मा को सम्मान के लिए सम्राट् के घर जन्म मिला यह हो सकता है, किन्तु वे उस ऐश्वर्य के लिए जन्मे ही न थे। जो सब देवों का शास्ता था, उसे नश्वर ऐश्वर्य से क्या काम!'

डल्हण ने अपने युग का एक जन-प्रवाद भी उद्धृत किया है। धन्व के कोई सन्तान चिरकाल तक न हुई। उन्होंने दीर्घ काल तक भगवद्‌राधना की और अन्त में याचना की—यदि मुझे पुत्र देना प्रभु को स्वीकार न हो तो प्रजाहित के लिए ही एक पुत्र दो। धन्व के पुत्र हुआ। वही धन्वन्तरि थे। सत्य यह है, वह जिस कामना से उत्पन्न हुए उसे उन्होंने इस सुन्दरता से पूर्ण किया कि इतिहास में उनका प्रतिस्पर्धी न हो सका। कौन है जिसके नाम से घर-घर में आहुति पड़ सकी?[3]

हमने पीछे लिखा है कि धन्वन्तरि ने वैज्ञानिक आधार पर निदान-विज्ञान में वात, पित्त और कफ के अतिरिक्त रक्त को भी एक दोष स्वीकार किया था। दिवोदास ने

---

1. 'जन्म से शुद्ध चरित वाले, सफल कार्यकर्ता, समुद्रपर्यन्त शासक, स्वर्ग तक रथ ले जाने वाले रघुवंशियों का वर्णन करता हूं।'
   रघुवंश, 1/5-9
2. [illegible]
   [illegible] —सु० नि० 9/3
3. सु० नि० 9/3 की व्याख्या।

सुश्रुत को शल्यशास्त्र-प्रधान आयुर्वेद का दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हुए कहा था—वात, पित्त, कफ और रक्त के वैषम्य से रोग होते हैं।[1]

सूत्रस्थान के 21वें अध्याय में व्रण प्रश्न पर विचार करते हुए 'तदेभिरेव शोणित चतुर्थैः' फिर कहा। उन्होंने कहा कि देह धारण करने वाले मूल तत्त्वों में रक्त भी है।[2] रक्त में विकृति हुए विना व्रण नहीं होता। किन्तु विवेचन की गहराई में जाकर उन्होंने यह भी स्वीकार किया कि रक्त स्वतन्त्र रूप से कभी विकार उत्पन्न नहीं करता जब तक वात, पित्त और कफ में वैपम्य न हो। इस प्रकार मौलिक तत्त्वों में त्रिदोष ही रहता है।[3]

दोपों की रोगोत्पादकता में संचय, प्रकोप, प्रसार, अभिव्यक्ति तथा भेद—इन पांच वातों का परिज्ञान होना आवश्यक है। इसी प्रकार चिकित्सा के लिए औपधि द्रव्य एवं आहार का निर्णय करते समय पदार्थ के रस, विपाक, वीर्य और प्रभाव का परिज्ञान होना चाहिए। दोप तथा औपधियों के शास्त्रीय ज्ञान के विना चिकित्सा में प्रवृत्त होने वाले के लिए धन्वन्तरि के राज्य में प्राणदण्ड होता था।[4]

दोषों की चिकित्सा में उनका प्रसार, अभिव्यक्ति तथा भेद जानने के लिए स्थानी और स्थानगत दोष को पहचानना अत्यन्त आवश्यक है। स्थानगत दोप की चिकित्सा स्थानी के अनुरूप होती है। स्थानी और स्थानगत दोपों के भेद के कारण ही रोगों में भेद होता है। चूंकि ये भेद असंख्य हो सकते हैं, इसलिए रोग भी असंख्य।

संसर्ग दो दोष, सन्निपात तीनों दोष जब रोगजनक हों, तब प्रधान और उपप्रधान दोष का ज्ञान भी आवश्यक है; क्योंकि प्रधान दोष का शमन पहले करना आवश्यक है। प्रधान दोष शमन हुए बिना अप्रधान शान्त नहीं होता।

चिकित्सा के लिए दोपों के संशमन और संशोधन को जानना चाहिए—कब संशोधन, कब संशमन ? विरुद्ध रस, वीर्य, विपाक में परस्पर विरोधी आहार सर्वथा अपथ्य हैं। उन्हें जानकर त्याग देना चाहिए। रसों की परस्पर समन्विता तथा विरोधिता को जाने बिना औषधि एवं आहार का निर्णय संभव नहीं।

कभी-कभी एकान्त अहित पदार्थ भी हितकारी हो जाते हैं; जैसे अफीम, संखिया आदि। 'किन्तु किस रोग में ? किस देश में ? किस काल में ? किस दशा में ? इन प्रश्नों के उत्तर जाने बिना वे प्रयोग संभव नहीं होते।[5]

कुछ लोग जन्म से दीर्घ, मध्य और अल्पायु होते हैं। उनकी गठन, व्यापार, रूप

---

1. सुश्रुत, सू० 1/25
2. नर्ते देहः कफादस्ति न पित्तान्न च मारुतात्।
   शोणितादपिवा नित्यं देह एतैस्तु धार्यते॥ —सु० सू० 21/4
3. यस्माद्रक्तं विना दोषैर्न कदाचित्प्रकुप्यति।
   तस्मात्तस्य यथा दोषं कालं विद्यात्प्रकोपेण॥ —सु० सू० 21/26
4. यस्तु कर्मसु निष्णातोधाष्ट्यर्याष्ट्यर्याच्छास्त्र वहिष्कृतः।
   सत्सु पूजां सनाप्नोति वधंचार्हतिराजतः॥ —सु० सू० 4/49
5. रोगं, सात्म्यं च देशं च कालं देहं च बुद्धिमान्।
   अवेक्ष्याग्न्यादिकान् भावान् रोग वृत्तेः प्रयोजयेत्॥ —सु० सू० 30 9

और स्वभाव के परिज्ञान का ध्यान भी चिकित्सक को होना चाहिए; अन्यथा चिकित्सा से लाभ कम ही हो पाता है।[1]

मैं ऊपर निदान विज्ञान पर धन्वन्तरि का दृष्टिकोण लिख रहा था। चिकित्सा-विज्ञान पर भी तब तक बहुत गहरी गवेषणायें हो चुकी थीं। स्थावर, जङ्गम और पार्थिव—तीन विभागों में ओषधि द्रव्य बांटे गये।

उनमें स्थावर चार प्रकार के हैं—वनस्पति, वृक्ष, वीरुध और औषधि।

जङ्गम भी चार प्रकार के—जरायुज, अण्डज, स्वेदज और उद्भिद।

पार्थिव द्रव्य—सोना, चांदी, मणि, मुक्ता, मनःशिला, मिट्टी तथा पत्थर आदि। इसके अतिरिक्त स्थान-स्थान पर क्षार, लवण, शिलाजतु, लौह, कासीस, तुत्थ आदि का भी उल्लेख है।

लाखों जड़ी-बूटियां, उनके मूल, काण्ड, पत्र, पुष्प और फलों तक के गुण-भेद, योग-भेद तथा प्रकार-भेदों का विवरण उन्हें ज्ञात था।

बड़ी-बड़ी सम्भाषा परिषदों में द्रव्य के किस अंश से क्या लाभ अथवा हानि हो सकती है, इन प्रश्नों पर गम्भीर वैज्ञानिक निर्णय उन्होंने किये। 'केचिदाचार्या ब्रुवते—द्रव्यं प्रधानम्'। 'नेत्याहुरन्ये'। 'तत्राहुरन्ये'।[2] इस प्रकार परिषदों में आये हुए वैज्ञानिकों के सिद्धान्त प्रस्तुत किये गये। उन पर पूर्व और उत्तर पक्ष हुए। अन्त को सिद्धान्त दिये गये।

द्रव्य के रस, वीर्य, विपाक और प्रभाव के सम्बन्ध में एक मौलिक परिवर्तन हुआ। धन्वन्तरि ने द्रव्य की चार प्रतिक्रियाओं का क्रम इस प्रकार रखा था—

1. रस : प्रथम प्रतिक्रिया।
2. वीर्य : द्वितीय प्रतिक्रिया।
3. विपाक : तृतीय प्रतिक्रिया।
4. प्रभाव : चतुर्थ प्रतिक्रिया।

रस से वीर्य, वीर्य से विपाक, विपाक से प्रभाव बलवान् होता है।[3] परन्तु धन्वन्तरि का यह सिद्धान्त दिवोदास तक ही चल सका। उत्तरकालीन वैज्ञानिकों ने यह क्रम बदल दिया। आत्रेय पुनर्वसु ने क्रम यों रखा—

1. रस : प्रथम प्रतिक्रिया।
2. विपाक : द्वितीय प्रतिक्रिया।
3. वीर्य : तृतीय प्रतिक्रिया।
4. प्रभाव : चतुर्थ प्रतिक्रिया।

---

1. सु० सू० 35 अध्याय।
2. सु० सू० अध्याय 40
3. पाको नास्ति विना वीर्याद्वीर्यं नास्ति विना रसात्।
   रसो नास्ति विना द्रव्याद्द्रव्यं श्रेष्ठतमं मतम्॥ —सु० सू० 40/15
   तद् द्रव्यमात्मना किञ्चित्किञ्चिद्वीर्येण सेवितम्।
   किञ्चिद्रस विपाकाभ्यां दोषं हन्ति करोति वा॥ —सु० सू० 40/14

इस क्रम में हम देखते हैं कि विपाक द्वितीय प्रतिक्रिया पर आ गया है। अर्थात् आत्रेय के विचार में विपाक से वीर्य वलवान् है,[1] जवकि धन्वन्तरि सम्प्रदाय में वीर्य से विपाक वलवान् माना गया था। धन्वन्तरि के विचार से पाक दो ही प्रकार का होता है—मधुर और कटु। किन्तु आत्रेय ने तीन[2] प्रकार का माना—मधुर, अम्ल और कटु।

खरीफ और रवी की फसलों की उपज का गहन विश्लेषण धन्वन्तरि के प्रवचन में हुआ है। शूक, शमी तथा कुधान्य, मृग और पक्षी, कन्द, मूल, फल, शाक तथा कृतान्न, सभी का विश्लेषण धन्वन्तरि की विज्ञानशाला में विद्यमान था। पशु-पक्षियों के स्वभाव, उनके मांस के गुण-अवगुण, उनके भेद-प्रभेद भी उन्हें ज्ञात थे। वनस्पतिशास्त्र, पक्षी और पशुओं का विज्ञान भी आश्चर्यजनक रूप से उस युग में समुन्नत हो गया था। किस रोग में कौन मांस, कौन धान्य, कौन मृग—इन प्रश्नों के उत्तर उनके पास आज से कहीं अधिक वैज्ञानिक थे। मानव की भोज्य सामग्री का जितना वैज्ञानिक और सांगोपांग विवेचन सुश्रुत के सूत्रस्थानवर्ती छियालीसवें अध्याय में है वह आज के युग के लिए सर्वथा नया है।

इतने सव विवेचन के ऊपर धन्वन्तरि ने कहा था—तुम्हारे देश में उत्पन्न वस्तु ही तुम्हारे लिए उचित और पथ्य है। उसे अपने देश में उपजाओ।[3]

---

1. रसं विपाकस्तौवीर्यं प्रभवस्तान् व्यपोहति।
   बल साम्ये रसादीनामिति नैसर्गिक वलम्॥ —चरक, सू० 26/74-75
2. त्रिधा विपाको द्रव्यस्य स्वाद्वम्ल कटुकात्मकः। —चरक
   'आगमेहि द्विविध एव पाको मधुरः कटुश्च'।' —सु० सू० 40
3. सुश्रुत, सू० 36-38।

3

स्वनामधन्य सुश्रुत

ऋषिवर विश्वामित्र पिता थे जिनके प्यारे।
कान्यकुब्ज के राजवंश के राजदुलारे॥
राजपाट सब छोड़ दौड़कर काशी आया।
धन्वन्तरि से अमर ज्ञान की पाई काया॥

जो चरण गहे तुमने वही, चरण-शरण युग युग गहूं।
ओ सुश्रुत! तेरे कक्ष का, मैं भी सहपाठी रहूं॥

स्वनामधन्य सुश्रुत

कान्यकुब्ज के राजवंश में प्राचीन काल में बड़े-बड़े त्यागी, तपस्वी और विद्याव्यसनी महापुरुष पैदा हुए हैं। यह देश और उसका राजवंश अपनी इसी विशेषता के लिए भारत के इतिहास में अमर है। इसी अमरकीर्ति राजवंश में महाराज गाधि नाम के एक बड़े धर्मपरायण और प्रजावत्सल सम्राट् हुए।[1] वे जैसे धर्मात्मा और ज्ञानी थे, भगवान् ने तदनुरूप ही उन्हें पुत्र प्रदान किया था। महाराज गाधि के अमरकीर्ति पुत्र महर्षि विश्वामित्र को कौन नहीं जानता? इन्होंने क्षत्रिय पिता की सन्तान होकर भी अपने ज्ञान और तप के ही प्रभाव से संसार में ब्राह्मणत्व का उपार्जन किया था। सुश्रुत उन्हीं महर्षि विश्वामित्र के सौभाग्यशाली पुत्र थे।[2] एक राजकुमार होकर भी सुख-सम्पत्ति को त्यागकर ज्ञानर्जन की कठोर तपस्या में तल्लीन होना ही सुश्रुत के कर्मनिष्ठ जीवन का परिचय देता है। महाभारत में विश्वामित्र के कई पुत्रों के नाम दिये गये हैं, उनमें सुश्रुत का भी नाम है।[3] परन्तु सत्यता यह है कि वे सब मर चुके, केवल सुश्रुत ही जीवित हैं। विश्वामित्र जैसे महर्षि का पुत्र होने के कारण संसार में सुश्रुत का यश नहीं फैला, यह सुश्रुत के जीवन की ही विशेषता थी जिसने सुश्रुत को संसार में स्वनामधन्य अमरता प्रदान कर दी। कवि ने सत्य कहा है—

गुणाः सर्वत्र पूज्यन्ते पितृवंशो निरर्थकः
वासुदेवं नमस्यन्ति, वसुदेवं न मानवाः।

आप किसी महापुरुष के पुत्र हैं, इससे क्या? यदि आप में महानता नहीं है तो संसार आपके लिए मस्तक झुकाये, यह आशा ही व्यर्थ है। वसुदेव भगवान् गिरधर गोपाल के पिता अवश्य थे, परन्तु आज कहां वसुदेव और कहां वासुदेव? विश्व का विधान ही ऐसा है। स्वनामधन्य सुश्रुत का जीवन इसी पहेली को लिये आज भी हमारे सामने खड़ा है।

---

1. महाभारत, वनपर्व, अ० 115 श्लो० 21-30
2. 'विश्वामित्र सुतः श्रीमान् सुश्रुतः परिपृच्छति।'—सुश्रुत सं० उत्तर० अ० 66/4 [illegible]
[illegible]
'विश्वामित्र [illegible]'—सु० उत्त० 18/3
3. अनुशासन पर्व, अध्याय 4 'विश्वामित्र सुतं [illegible]।'
—सु०, चि० अ० 2/3

महर्षि विश्वामित्र की प्रथम विवाहिता पत्नी के अतिरिक्त 'माधवी' और 'उर्वशी' दो पत्नियां और थीं। महाराज ययाति की पुत्री 'माधवी' काशिराज दिवोदास की कुछ काल तक प्रेयसी रही थी। दिवोदास के सम्बन्ध से माधवी ने महाप्रतापी पुत्र प्रतर्दन को जन्म दिया था। प्रतर्दन का परिचय तो धन्वन्तरि के वंश में ही देखने योग्य है। यहां तो यही कह देना पर्याप्त होगा कि महाराज दिवोदास ने महर्षि विश्वामित्र के ज्ञान और तप से प्रसन्न होकर अपनी प्यारी 'माधवी' उन्हें प्रदान की थी। विश्वामित्र के सम्बन्ध से माधवी ने एक वीर पुत्र को जन्म दिया था, जिसका नाम अष्टक था। अष्टक ने विश्वामित्र के राज्य-शासन को संभाला। उर्वशी के गर्भ से विश्वामित्र की जो सन्तान हुई वह केवल एक पुत्री थी, जिसका सुप्रसिद्ध नाम शकुन्तला था।[1] शेष-प्रथम पत्नी की ही सन्तान सुश्रुत थे, जिन्होंने भोग और विलास से भरे हुए राज्य-शासन को त्यागकर विद्या और तप से सुशोभित ज्ञान के साम्राज्य का शासन किया। आचार्य भाव मिश्र ने भी अपने सुप्रसिद्ध ग्रंथ 'भावप्रकाश' में सुश्रुत का उल्लेख किया है। प्रतीत होता है कि जब विश्वामित्र राजकाज से विरक्त होकर तपोवन को चलने लगे उस समय उन्होंने अपने पुत्र सुश्रुत को विद्या-प्रेमी देखकर महाविद्वान् काशिराज दिवोदास के पास जाकर ज्ञानोपार्जन करने की व्यवस्था की थी।[2] राजर्षि दिवोदास को अपने पुत्र-रत्न की धरोहर सौंपकर निश्चिन्त होकर विश्वामित्र तपश्चर्या में तल्लीन हो गये। नैमिषारण्य में पिता की तपश्चर्या प्रारम्भ हुई, और पुत्र की काशी में। संसार उनका परीक्षक बना। अपने-अपने ध्येय में तल्लीन होकर दोनों ने जो कुछ किया—खूब किया। अब वे दिन आये जब उनकी चर्या समाप्त हो गई। संसार ने एक-स्वर से घोषित किया कि पुत्र की निष्ठा ही ऊँची रही; क्योंकि वह केवल परमार्थ के लिए थी। यह बात नहीं, कि विश्वामित्र ने व्यापक ज्ञान प्राप्त करके संसार के लिए कुछ न किया हो, उन्होंने बहुत कुछ किया। वैदिक सिद्धान्तों के क्रियात्मक अर्थ संसार के सामने रखे और आयुर्वेद के वैज्ञानिक तत्त्वों पर गवेषणायें भी कीं। ऋग्वेद के तत्त्वदर्शियों में विश्वामित्र भी एक मन्त्रदृष्टा बने और प्राणाचार्यों में ऊँचे विज्ञानवेत्ता। उनके उद्धरण आज तक प्राचीन ग्रन्थों में मिलते हैं।[3] परन्तु फिर भी दोनों के जीवन में एक अन्तर था, और वह यह कि पिता ने स्वार्थ को भी देखा और निष्ठा को भी; परन्तु पुत्र ने निष्ठा के अतिरिक्त और कुछ देखा ही नहीं।

सुश्रुत की अमर रचना केवल 'सुश्रत संहिता' ही हमें उपलब्ध है। वह अपने विषय का सर्वोच्च और आदर्श ग्रन्थ है। भारतीय साहित्य को उसके लिए सदैव से

---

1. महाभारत, उद्योग पर्व 119 अध्याय
2. अथ ज्ञान दृशा विश्वामित्र प्रभृतयोऽविदन्।
   अयं धन्वन्तरिः साक्षात्काशिराजोयमुच्यते॥
   विश्वामित्रो मुनिस्तेषु पुत्रं सुश्रुत मुक्तवान्।
   वत्स वाराणसीं गच्छत्वं विश्वेश्वर वल्लभाम्॥ —भावप्रकाश 1
3. तथाचोक्तं विश्वामित्रेण—यावशूकस्य पानंतु कुलत्थक्षार वारिभिः"
   —ऋग्वेद 7/96/3 तथा 10/167/4 —सुश्रुत, उल्हण टीका

अभिमान रहा है। सुश्रुत के लिखे हुए अटल सिद्धान्त आयुर्वेदिक विज्ञान के अगाध समुद्र में एक प्रकाश स्तम्भ का काम देते हैं। उसमें आयुर्वेद के आठों अंगों का सुन्दर प्रतिपादन किया गया है, परन्तु प्रधान रूप से शल्यशास्त्र (Surgery) का ही वर्णन है। 'सुश्रुत संहिता' के उपदेष्टा आचार्य काशिराज दिवोदास धन्वन्तरि थे।[1] दिवोदास थे तो धन्वन्तरि के प्रपौत्र, परन्तु वे इतने प्रतिभा-सम्पन्न और ज्ञानवान् थे कि लोग उन्हें पाकर धन्वन्तरि के अभाव को अनुभव करना भूल गये थे। इसीलिए दिवोदास नाम होने पर भी धन्वन्तरि के नाम से ही प्राप्त होने वाले सन्तोष को पाने के लिए लोग उन्हें 'दिवोदास धन्वन्तरि' कहा करते थे। सुश्रुत ने अपने महामहिम गुरु से जो कुछ सुना और सीखा उसी का एकत्र संग्रह कर देने से सुश्रुत संहिता की रचना हो गई है। वास्तविकता यह है कि आज जो सुश्रुत संहिता हमारे लिए आदर्श और अपूर्व ग्रन्थ बना हुआ है वह राजर्षि दिवोदास के एक शिष्य की संकेत पुस्तक (Notebook) मात्र थी। उस युग का भारतीय विज्ञान था ही इतना ऊंचा कि उसके एक विद्यार्थी की नोटबुक इससे और छोटी हो ही क्या सकती थी? इसीलिए सुश्रुत ने 'यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत्क्वचित्'[2] जैसी दृढ़बल के समान कोई गर्वोक्ति नहीं लिखी, प्रत्युत यही लिखा है कि "इसी संहिता को पढ़कर सब कुछ जानना चाहो, यह असंभव है। इसलिए और बहुत से शास्त्रों को पढ़ो, तभी वास्तविक चिकित्सक बन सकते हो।"[3] फलतः इस परिणाम पर सहज ही पहुंचा जा सकता है कि सुश्रुत की इस संहिता की रचना से पूर्व अन्यान्य और भी प्रतिष्ठित संहितायें उस समय तक विद्यमान थीं जिनका अध्ययन और अध्यापन समाज में प्रचलित था।

सुश्रुत का समय—ये बातें आज से इतने ही वर्ष पूर्व की हैं, ऐसा दृढ़तापूर्वक तो नहीं कहा जा सकता, परन्तु यह कहने में कोई अतिक्रमण भी नहीं है कि वह युग आज से दस हजार वर्ष पूर्व का अवश्य था। कुछ महानुभावों (Haas & Jones Wilson) का विचार है कि सुश्रुत संहिता महाभारत के बहुत पीछे बनी। महाभारत के बाद जिस युग में 'सुश्रुत संहिता' का निर्माण हुआ वह उपनिषद् निर्माण का युग भी था। इस सारी कल्पना का आधार यह है कि 'सुश्रुत संहिता' में कृष्ण का नाम है,[4] फलतः वह कृष्ण भगवान् से बहुत काल पीछे ही रची गई होगी। परन्तु इस विचार में कुछ सार नहीं है। यह असंदिग्ध है कि महाभारत में भगवान् कृष्ण ने अर्जुन को गीता के सिद्धान्त समझाये थे। गीता के सिद्धान्त कुछ भगवान् कृष्ण के अपने रचे हुए सिद्धान्त नहीं थे, प्रत्युत वे

---

1. 'अहं हि धन्वन्तरिरादिदेवो जरारुजामृत्युहरोऽमराणाम्।
   शल्याङ्गमङ्गैरपरैरुपेतं प्राप्तोऽस्मि गां भूय इहोपदेष्टुम्॥' —सु० सं० सू० अ० 1/21
   —'काशिराजं दिवोदासं धन्वन्तरिम्…' —सु० सू० 1/3
2. 'जो कुछ यहां है, वही अन्यत्र है, जो यहां नहीं, वह कहीं नहीं'।
3. 'एकं शास्त्रमधीयानो न विद्याच्छास्त्रनिश्चयम्।
   तस्माद् बहुश्रुतः शास्त्रं विजानीयाच्चिकित्सकः॥'—सु० सं० सू० 4/7
4. 'महेन्द्र राम कृष्णानां ब्राह्मणानां गवामपि।
   तपसा तेजसा चापि प्रशाम्यध्वं शिवाय वै॥'—सु० सं० चि० अ० 30/27

उपनिषदों के ही मौलिक भाव थे। सार रूप में भगवान् कृष्ण ने अर्जुन को उन्हीं भावों का उपदेश दिया था, वे भाव ही गीता कहे जाते हैं। पूर्वजों की यह अत्यन्त प्रसिद्ध सूक्ति कौन नहीं जानता कि उपनिषदें गाय हैं और गीता उनका सारभूत दूध।[1] श्रीमद्भगवद्गीता के प्रत्येक अध्याय के अन्त में आप देखेंगे—'इति श्रीमद्भगवद्गीता सूपनिषत्सु ब्रह्म विद्यायां···' इत्यादि। इसका भाव ही यह है कि भगवद्गीता के उपदेश से बहुत पूर्व उपनिषदों के सिद्धान्त बन चुके थे, गीता के विचार उन्हीं का सार हैं। तब यह कैसे संभव है कि गीता का उपदेश महाभारत में हुआ हो, और उपनिषदें महाभारत के बाद बनी हों ? फलतः सत्य यह है कि 'सुश्रुत संहिता' का वह श्लोक जिसमें राम और कृष्ण की स्तुति की गई है, बिलकुल प्रक्षिप्त है। वह उत्तरकालीन उन अन्धभक्तों की रचना है जो प्रत्येक ग्रन्थ में राम और कृष्ण का नाम लिखा हुआ देखना चाहते थे, फिर वैसा करने में इतिहास के साथ चाहे कैसा भी अन्याय क्यों न हो जाय ? 'सुश्रुत संहिता' में प्रतिसंस्कर्त्ताओं के अतिरिक्त और भी लोगों ने समय-समय पर बहुत से अंश घटाये-बढ़ाये हैं। आचार्य डल्हण की व्याख्या पढ़ने वालों से यह छिपा नहीं है। 'सुश्रुत संहिता' के प्रति संस्कार प्रसंग में हम इस विषय पर विस्तार से लिखेंगे। एकाध प्रसंग नहीं किन्तु सैकड़ों प्रसंग ऐसे हैं जिन्हें व्याख्याकार डल्हण ने स्पष्ट लिखा है कि वे अनार्ष और पीछे से मिलाये हुए अंश हैं।

व्याख्याकारों के उद्धरणों से प्रतीत होता है कि सुश्रुत भी एक नहीं, दो हुए हैं जिन्होंने आयुर्वेद में ग्रन्थ लिखे। आचार्य विजयरक्षित ने माधव निदान की व्याख्या में 'सुश्रुत संहिता' के लेखक को 'वृद्ध सुश्रुत' विशेषण देकर लिखा है।[2]

सुश्रुत विश्वामित्र गोत्र के किन्हीं द्वितीय विश्वामित्र के पुत्र थे, यह कल्पना भी सत्य नहीं है। विश्वामित्र महर्षि इतिहास में एक ही थे, दो नहीं। ऋग्वेद के मन्त्रद्रष्टा ऋषि विश्वामित्र वही हैं जो सुश्रुत के पिता थे, और सुश्रुत के पिता विश्वामित्र भी वही हैं जो रामायण के विश्वामित्र हैं। ऋग्वेद के ऋषि होने का अर्थ यह तो नहीं है कि ऋग्वेद उन्होंने बनाया था। ऋग्वेद तो उनसे बहुत पहले बना-बनाया था। विश्वामित्र आदि ऋषियों ने उनके सिद्धान्तों पर अनुसन्धान किये थे—वे रिसर्च स्कॉलर थे। उन्होंने वेदों की सुरक्षा में एक स्मरणीय कार्य किया था, इसलिए संहिताओं में उनका संस्मरण विद्यमान है। वेदों के अनुसन्धान विश्वामित्र और उनके समकालीन वशिष्ठ, कश्यप आदि ऋषियों ने भी किये थे, अतएव वे भी मन्त्रद्रष्टा कहलाते हैं। इन्हीं विश्वामित्र की अत्यन्त सुन्दरी बहन सत्यवती का विवाह भृगुवंशीय महर्षि ऋचीक के साथ हुआ था।[3] ऋचीक के पुत्र जमदग्नि थे, और जमदग्नि के पुत्र परशुराम, जो रामचन्द्र के समकालीन विख्यात हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि विश्वामित्र परशुराम से एक या दो पुरुष पूर्व युवा थे। और यह तो हरेक रामायण पढ़ने वाला जानता है कि

1. सर्वोपनिषदोगावो दोग्धागोपालनन्दनः।
पार्थोवत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत्॥"—गीता

2. ज्वर निदान, 42-47।

3. महाभारत—वनपर्व, अ० 115-116।

वे रामायणकाल में बूढ़े थे, तभी तो यज्ञादि के लिए दशरथपुत्र राम की सहायता उन्हें मांगनी पड़ी। इस प्रकार हम इस परिणाम पर पहुंचे कि सुश्रुत रामायणकाल से अधिक से अधिक 80-90 वर्ष पूर्व हुए थे। विश्वामित्र की आयु उस समय 100 वर्ष से कुछ अधिक रही होगी, इसमें आश्चर्य ही क्या? आत्रेय ने स्पष्ट ही लिखा है कि आदिकाल में आर्यजाति के पुरुषों में 400 वर्ष तक जीवित रहने वाले लोग भी थे।[1] मनुष्य की हीनतम जीवनशक्ति के इस काल में भी सौ वर्ष से अधिक आयु के पुरुष देखे जाते हैं। फलतः सुश्रुत को हम मर्यादा-पुरुषोत्तम भगवान् रामचन्द्र से अधिक से अधिक एक शताब्दी पूर्व तक ही स्वीकार करना चाहते हैं। और वह काल धुंधले प्रमाणों के आधार पर ईसा से आठ हजार वर्ष पूर्व का स्वीकार किया जा सकता है।

सुश्रुत के काल-निर्णय के सम्बन्ध में अनेक मतभेद हैं। पाश्चात्य विद्वानों ने तो प्रतीत होता है कि यह धारणा बना ली है कि सृष्टि का आदि आदर्श महात्मा ईसा को मानकर ही संसारभर के इतिहास का काल-निर्णय किया जाना चाहिए। हैस (Haas) नामक पाश्चात्य विद्वान् की राय में तो सुश्रुत और उनके सहपाठी औपधेनव आदि ईसा की 12वीं शताब्दी में हुए थे। जोन्स तथा विलसन (Jones & Wilson) का कहना है कि वे नवीं शताब्दी में हुए। कुछेक अन्य लेखक उन्हें चौथी या 5वीं शताब्दी का सिद्ध करना चाहते हैं।[2] बहुत क्या कहें, हर्बर्ट गोवन (H. Gowen) नामक एक लेखक ने तो यहां तक राय दे दी कि सुश्रुत नाम का कोई आचार्य भारत में हुआ ही नहीं। लोगों ने ग्रीस देश के सुकरात (Socrates---B. C. 409-339) को ही सुश्रुत बना लिया है।[3] परन्तु आयुर्वेदिक साहित्य से परिचित विद्वानों के सामने ये सब उपहासास्पद कल्पनायें मात्र हैं। विजेता देशों की जातियां अपने विजित देशों के गौरवपूर्ण इतिहास को इसी प्रकार नष्ट करने का उद्योग किया करती हैं। हैस महोदय ने सुश्रुत को ईसा की 12वीं शताब्दी में सिद्ध करते हुए यह नहीं सोचा कि ईसा की ग्यारहवीं शताब्दी में होने वाले आचार्य चक्रपाणि ने सुश्रुत के उद्धरण कहां से पाये? ईसा से 200 वर्ष पूर्व

---

1. पुरुषा सर्वसिद्धाश्च चतुर्वर्षशतायुषः ।
   कृते, त्रेतादिके ह्येषां पादशो ह्रसति क्रमात् ॥"—च० स०
2. Susruta seems to have lived not later than the fourth century A. D. as the Bower manuscript contains passages not only parallel but verbally agreeing with passages in the works Caraka & Susruta.

   —Macdonall, History of Sanskritk, p. 436

   "In language and style it (Susruta) and the works resembling it with which I am acquainted manifestly exhibit a certain affinity to the writings of varahamihira.—History of Indian Literature by Waber, p. 168.
3. By many Susruta have been denied actual substance in flesh, or has been identified with Socrates—History of Indian Literature, H. H. Gowen, pp. 144-145

महाभाष्यकार ने सुश्रुत का उल्लेख किया है तथा ईसा की प्रथम शताब्दी में आचार्य नागार्जुन ने 'सुश्रुत संहिता' का प्रतिसंस्कार किया था, तब सुश्रुत को ईसा की चौथी या पांचवीं शताब्दी में कैसे सिद्ध किया जायगा ?

ईसा की सातवीं से आठवीं शताब्दी के बीच भारत की यात्रा करने वाले हुएन सांग नामक चीनी यात्री के लेखानुसार ईसा की प्रथम शताब्दी में बौद्धधर्म के दार्शनिक आचार्य नागार्जुन नाम के विद्वान् का आविर्भाव हुआ था।[1] इन्हीं आचार्य नागार्जुन का लिखा हुआ आज से दो हज़ार वर्ष प्राचीन 'उपाय हृदय' नाम का एक दार्शनिक ग्रन्थ चीन में उपलब्ध हुआ है। भारतवर्ष में संस्कृत भाषा में लिखा गया यह ग्रन्थ किसी युग में चीनी भाषा में अनूदित हुआ था। भारत में मूल संस्कृत ग्रन्थ का तो लोप हो गया; परन्तु चीनी भाषा में उपलब्ध उस अनुवाद ग्रन्थ का, चीनी और संस्कृत भाषा के परम विद्वान् श्रीयुत तुच्ची महोदय ने फिर से संस्कृत भाषा में प्रत्यनुवाद करके प्रकाशित किया है। उसमें एक स्थल पर औषधि विद्या का उल्लेख करने के अनन्तर इस प्रकार लिखा है—'यथा सुवैद्य को भेषज कुशलो मैत्र चित्तेन शिक्षकः सुश्रुतः'। इस प्रकार आज से दो हज़ार वर्ष प्राचीन आचार्य नागार्जुन द्वारा अत्यन्त आदर और प्रतिष्ठा के साथ सुश्रुत का नामोल्लेख, उन्हें अर्वाचीन सिद्ध करने वालों के मुख-मुद्रण के लिए, एक सुदृढ़ और पर्याप्त साधन हैं।

इतना ही नहीं, किन्तु खोटाङ (नेपाल) प्रदेश में उपलब्ध भोजपत्र पर लिखी हुई 'नावनीतक' पुस्तक की लिपिका अनुसन्धान करने वाले सारे ही विद्वानों ने यह स्थिर किया है कि वह अक्षरलिपि ईसा की तीसरी या चौथी शताब्दी की लिखी हुई है, जबकि पुस्तक पर्याप्त प्रचलित थी। पुस्तक के इतना प्रचलित होने में उस युग में, जब रेल और मोटर नहीं थे, पर्याप्त समय लगा होगा। वह समय यदि हम दो सौ वर्ष ही मान लें तो, ईसा से पूर्व प्रथम शताब्दी में इस ग्रन्थ की रचना हुई थी, यह भी सम्भव है कि इससे और भी पहले हुई हो। इस ग्रन्थ के मंगलाचरण में भगवान् बुद्ध का उल्लेख है। अतएव यह निश्चय हो गया कि ईसा से पूर्व और बुद्ध भगवान् के पश्चात् के काल में यह ग्रन्थ बना था। इस प्राचीन ग्रन्थ में आत्रेय तथा उनके शिष्य क्षारपाणि, हारीत, जतूकर्ण, पाराशर एवं भेड आदि का तथा कश्यप और जीवक के साथ सुश्रुत का भी नाम वर्णित

1. नागार्जुन कई हुए हैं। राजतरंगिणीकार ने नागार्जुन नाम के एक बौद्ध राजा का उल्लेख किया है। वे भगवान् बुद्ध के 150 वर्ष बाद हुए थे। दूसरे शातवाहन के मित्र नागार्जुन का उल्लेख चीनी यात्री हुऐन सांग ने किया है। उनका समय ईसा की प्रथम शताब्दी लिखा है। तीसरे नागार्जुन का उल्लेख ईसा की आठवीं शताब्दी मे भारत-यात्रा करने वाले अल्बेरूनी नामक यात्री ने किया है। उसने लिखा है कि यह नागार्जुन उसके भारत में आने से 100 वर्ष पूर्व हुए थे, और रसायनी विद्या में बड़े निपुण थे। इस प्रकार हमारे सामने तीन नागार्जुन आते हैं—
   (1) राजतरंगिणी के अनुसार महाविद्वान् नागार्जुन नाम के बौद्ध नृपति जो बुद्ध भगवान् के 150 वर्ष बाद हुए।
   (2) हुऐन सांग वर्णित महाराज शातवाहन के परम मित्र एवं गुरु नागार्जुन नाम के बौद्ध आचार्य, जो ईसा की प्रथम शताब्दी में हुए।
   (3) अलबेरूनी वर्णित बौद्ध रसायनाचार्य नागार्जुन जो ईसा की 7वीं शताब्दी में हुए।

है और उन सबकी औषधियों का भी उल्लेख है। उस ग्रन्थ में वर्णित अनेक औषधि प्रयोग वर्तमान 'चरक संहिता' में मिलते हैं। परन्तु 'नावनीतक' में वे चरक नाम से नहीं किन्तु आत्रेय के नाम से उद्धृत किये गये हैं। चरक अथवा नागार्जुन का वहां कोई उल्लेख भी नहीं है। यदि चरक के नाम से प्रसिद्ध 'चरक संहिता' के निर्माण के पश्चात् वह ग्रन्थ बना होता तो वाग्भट के ग्रन्थों की भांति उसमें भी चरक का नाम तो अवश्य ही होता। इसलिए यह कहने में सन्देह नहीं कि 'नावनीतक' की रचना चरक से पूर्व की है। यदि यह कहा जाय कि चरक का नाम लिखना ग्रन्थ-लेखक के ध्यान में न आया होगा, तो भी यह विचारना ही पड़ेगा कि बौद्ध धर्मानुयायी ग्रन्थ-लेखक प्रसिद्धतम बौद्ध आचार्य नागार्जुन का नाम लिखना कैसे भूल सकता था? फलतः यह मानना ही होगा कि आत्रेय, सुश्रुत और कश्यप के बाद एवं चरक और नागार्जुन से पूर्व लिखे गये इस ग्रन्थ में सुश्रुत का उल्लेख हमें यह स्पष्ट बताता है कि सुश्रुत नागार्जुन आदि बौद्ध आचार्यों से तो बहुत प्राचीन हैं।

डल्हण ने लिखा ही है कि सुश्रुत का प्रतिसंस्कार नागार्जुन ने किया।

महाभाष्य में इकोगुणवृद्धी (1-1-2) सूत्र की व्याख्या में ग्रन्थकार ने 'सौश्रुतः'

प्रथम नागार्जुन का व्यापक परिचय राजतरंगिणी में नहीं मिलता। इतना अवश्य ज्ञात होता है कि वे बौद्ध राजा थे। दूसरे नागार्जुन का परिचय ह्युएन सांग ने लिखा है कि वह महाविद्वान् बोधिसत्व एवं पत्थर को भी रसायनशास्त्र के बल से सोना बना देने वाले थे। ये महाराज शातवाहन के परम मित्र एवं गुरु थे। नेपाल के राजपण्डित श्री हेमराज शर्मा के पास ताड़पत्र लिखित शातवाहन चरित्र में 'दृष्ट तत्वो बोधिसत्वो महाराज गुरुः श्री नागार्जुनाभिधानः शाक्य भिक्षुराजः' इस प्रकार उसका परिचय दिया गया है। हर्ष-चरित्र में बाणभट्ट ने भी इन नागार्जुन का उल्लेख इस प्रकार किया है—'समतिक्रामति कियत्यपि काले तामेकावलीं तस्मान्नागराजान्नागार्जुनो नाम...लेभेच, त्रिसमुद्राधिपतये शातवाहनाय नरेन्द्राय सुहृदे स ददौ ताम्।' (हर्ष-चरित्र उच्छ्वास 8)। इसके अतिरिक्त वृन्द और चक्रपाणि ने 'नागार्जुनेन लिखिताः स्तम्भे पाटलि पुत्रके' आदि लेख द्वारा पटना में स्थापित जिन नागार्जुन के औषधि योग प्रदर्शक शिलालेख का वर्णन किया है वे यही आचार्य हो सकते हैं। शातवाहन आदि राजा पाटलिपुत्र के दक्षिण के थे और नागार्जुन उनके गुरु थे। गुप्त साम्राज्य के इतिहास के अनुसार शातवाहन राजा ईसा की प्रथम से द्वितीय शताब्दी के बीच राज्य करते थे। ई० द्वितीय शताब्दी के प्रारंभ तक सातवाहनों का राज्य बहुत समृद्ध था। दक्षिण भारत का अधिकांश भाग इनके ही शासन में था (गुप्त साम्राज्य का इति०, पृ० 12), फलतः उन्हीं राजाओं द्वारा नागार्जुन के औषधिप्रयोग स्तम्भों पर खुदवाकर स्थापित किये गये होंगे। आधुनिक काल में बौद्ध साहित्य में [illegible] करने वाले बौद्धभिक्षु श्री राहुल सांकृत्यायन ने बुद्धचर्या की भूमिका में लिखा है—"ईसा की प्रथम शताब्दी में जिस समय वैभाषिक सर्वास्तिवाद उत्तर में [illegible] जा रहा था दक्षिण के विदर्भ देश (बरार) में आचार्य नागार्जुन पैदा हुए। ये प्रसिद्ध बौद्ध आचार्य [illegible] के शिष्य थे—श्री जयचन्द्र विद्यालंकार (भारतीय इतिहास की रूपरेखा—भाग 2, पृ० 924-926)। इन्होंने माध्यमिक शून्यवाद दर्शन पर ग्रन्थ लिखे। [illegible] और माध्यमिक दर्शन के बीच की शून्यवादी [illegible]।" [illegible] नागार्जुन के [illegible] में, जिन्हें अलबेरूनी ने ईसा की [illegible] 'भूमिका, पृ० 4' [illegible] है, कोई अन्य वर्णन नहीं मिलता। प्रतीत होता है कि अलबेरूनी ने बिना पूरी [illegible]

उदाहरण लिखा है। 'शाक पार्थिवादीनामुपसंख्यानम्' (2-1-170)—इस वार्तिक के उदाहरण में भी 'कृतपवासा सौश्रुतः' उदाहरण दिया है। भाष्यकार ने ही नहीं किन्तु स्वयं आचार्य पाणिनि ने भी 'कार्त्त कौजपादयश्च' (6-2-37) इस सूत्र के गणपाठ में 'सौश्रुत पार्थिवाः' यह शब्द लिखा है। अपत्य और सम्बन्धी अर्थ का बोधक 'सौश्रुत' शब्द न केवल सुश्रुत को ही अपितु उनके वंशजों और शिष्यों की परम्परा को भी पाणिनि से बहुत प्राचीन सिद्ध करता है। पाणिनि के कार्त्त-कौजपादिगण में पठित शब्दों के सिलसिले में शेखर आदि ग्रन्थों में 'सौश्रुत पार्थिवाः' ऐसा प्रयोग लिखा है। यह शब्द बताता है कि उस ज़माने में सुश्रुत सम्प्रदाय वाले वैद्यों और राजाओं का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध था। फिर 'सौश्रुत' शब्द का पार्थिव शब्द से पूर्व प्रयोग यह भी प्रकट करता है कि सुश्रुत सम्प्रदाय वाले वैद्यों का उस युग में राजाओं के यहां बहुत आदर एवं सम्मान था। इन दोनों शब्दों में विहित बहुवचनान्त भाव इस बात का बोधक तो है ही कि उस काल में सुश्रुत सम्प्रदाय वाले वैद्य बहुतेरे राजाओं के यहां प्रतिष्ठित थे। राजाओं के यहां वैद्य को अमुक-अमुक बातों का निरीक्षण करना चाहिए, राजा की रक्षा के लिए भोजनछादन की विशुद्धता की ओर सावधान रहना चाहिए, यात्रा आदि के समय राजा के साथ स्वयं भी रहना चाहिए, इत्यादि बातें 'सुश्रुत संहिता' में बताई गई हैं।[1] वैद्यों और राजाओं का सम्बन्ध आर्य संस्कृति की पुरानी परिपाटी है। 'शतंते

नागार्जुन को 7वीं शताब्दी का लिख दिया है। यह वही नागार्जुन हैं जो ईसा की प्रथम शताब्दी के एवं शातवाहन के मित्र थे। सातवीं शताब्दी में कोई नागार्जुन प्रतीत नहीं होता। सातवीं और आठवीं शताब्दी के अनेक बौद्ध विद्वान् तो पहली शताब्दी से लेकर छठी शताब्दी तक की लम्बी आयु एक ही सिद्ध नागार्जुन को देने के लिए तैयार हैं। विद्वानों का विचार है कि आचार्य नागार्जुन का आश्रम मद्रास के समीप श्रीपर्वत पर था, जो पीछे से मन्त्रयान और वज्रयान का केन्द्र था (गंगा पुरातत्वांक, पृ० 218)। सुश्रुत संहिता के उत्तरतन्त्र, तैंतीसवें अध्याय में 'ग्रन्धपूतना प्रतिषेध' का उल्लेख है। उसमें एक धूप लिखी गई है। धूपनीय द्रव्यों में 'भिक्षु संघाटी' ('जीर्णांच भिक्षु संघाटीं धूपनायोपकल्पयेत्' —अ० उत्तर० 33/6) शब्द का प्रयोग है। इस भिक्षु का अर्थ बौद्ध भिक्षु ही है। डल्हण ने लिखा है कि भिक्षु का अर्थ यहां शाक्य बौद्ध भिक्षु ही है। ('भिक्षुरत्रशाक्यभिक्षुबौद्धाख्यः'—डल्हण टीका) परन्तु डल्हण चूंकि ईसा की 11वीं शताब्दी में हुए थे, उन्हें भी अपने इस अर्थ की पुष्टि के लिए सबूत देने की आवश्यकता थी। इसलिए उन्होंने 5वीं शताब्दी के आचार्य जेज्जट का लेख अपने पक्ष की पुष्टि के लिए पेश किया है। वे लिखते हैं कि जेज्जट का कहना है कि यहां भिक्षु शब्द का अर्थ निस्सन्देह शाक्य भिक्षु ही है। ('भिक्षुरत्र शाक्य भिक्षुरेवेति जेज्जटः'—डल्हण टीका) यह शाक्य भिक्षु अथ इसीलिए है कि प्रति-संस्कर्त्ता नागार्जुन स्वयं शाक्य भिक्षु थे और उनके युग में बौद्ध भिक्षुओं के चीवर का फटा हुआ जीर्ण-शीर्ण टुकड़ा भी रोगों से अभयदान देने वाला समझा जाता था। इस सारे लेख का तात्पर्य यह भी तो स्वयंसिद्ध है कि नागार्जुन 5वीं शताब्दी के जेज्जट से पूर्व हो चुके थे। और निस्सन्देह वह ईसा की प्रथम शताब्दी में ही हुए थे।

1. 'युक्त सेनस्य नृपतेः परानभि जिगीषतः। भिषजा रक्षणं कार्यं यथा तदुपदेक्ष्यते॥ चिन्तयेन्नृपति वैद्यः श्रेयांसीच्छन्विचक्षणः। वैद्योध्वज इवाभाति नृप तद्विद्यपूजितः। —सुश्रुत० सू० अ० 34

राजन् भिषजः सहस्रम्'[1]—ऋग्वेद का यह मन्त्र उक्त बात को सिद्ध करने के लिए सर्वोत्तम प्रमाण है।

संक्षेप में, सुश्रुत का परिचय पाने के लिए अभी तक हमारे पास क्या-क्या साधन हैं, इसका पता नीचे की पंक्तियों से लगेगा—

1. नागार्जुन ने अपने ग्रन्थ 'उपाय हृदय' में सुश्रुत को आयुर्वेद का महान् आचार्य लिखा है।
2. काशिका लेखक ने 'सौश्रुत' शब्द का अर्थ लिखते हुए 'सुश्रुतस्य छात्राः सौश्रुताः' इस प्रकार लिखा है। यह वाक्य सुश्रुत के प्रसिद्ध आचार्यत्व को प्रकट करता है तथा सुश्रुत की शिष्य-परम्परा का भी बोधक है।
3. वाग्भट ने सुश्रुत को आयुर्वेद का महान् आचार्य होने के नाते अत्यन्त आदर और श्रद्धा से स्मरण किया है।[2]
4. नेपाल के खोटाङ्ग प्रदेश में उपलब्ध, भोजपत्रों पर लिखी हुई 'नावनीतक' पुस्तक में सुश्रुत का नाम और उनकी औषधियां आदर से उद्धृत की गई हैं।
5. 'ज्वर समुच्चय' नामक ग्रन्थ में सुश्रुत का प्रतिष्ठापूर्वक उल्लेख आया है।
6. कम्बोडिया में प्राप्त जयवर्म के शिलालेखों में सुश्रुत का उल्लेख है।
7. सुश्रुत संहिता के अरबी भाषा में मिलने वाले अनुवाद से सुश्रुत की सार्वभौम प्रतिष्ठा और ज्ञान-गाम्भीर्य का बोध होता है।
8. ब्राह्मण, उपनिषद्, महाभारत एवं हरिवंशपुराण में दिवोदास का उल्लेख है। इन्हीं दिवोदास से सुश्रुत ने आयुर्वेद विद्या सीखी थी, यह सुश्रुत संहिता में ही लिखा है।[3]
9. महाभारत में विश्वामित्र मुनि के पुत्रों में सुश्रुत का नाम आया है।
10. आयुर्वेद के अधिकांश ग्रन्थों में सुश्रुत का नाम और उनकी संहिता के उद्धरण आदर से लिखे मिलते हैं।
11. सुश्रुत संहिता में बौद्ध भावों की छाया तक नहीं मिलती तथा पारद के प्रयोग नहीं लिखे गये। प्रत्युत बौद्धकालीन ग्रन्थों में सुश्रुत का उल्लेख

---

1. 'हे राजन्, तुम्हारे मंगल के लिए सैकड़ों-हजारों वैद्य हों।' 'शतं ते राजन् भिषजः सहस्रम्।'
—ऋग्वेद, 1-24-9

2. 'अथ चरकमधीते तद्ध्रुवं सुश्रुतादि प्रणिगदित गदानां नाम मात्रे विपाह्यः' —अष्टा० हृ०

3. 'अथ ह स्माह दैवोदासिः प्रतर्दनो नैमिषीयाणां सत्रमुपगम्योपास्य विचिकित्सां पप्रच्छ'
—कौषीतकि ब्राह्मण 26-5

'प्रतर्दनोहवै दैवोदासिरिन्द्रस्य प्रियं धामोपजगाम' —कौषीतक्युपनिषद् 3-1

'महाबलो महावीर्यः काशिनामीश्वरः प्रभुः।
दिवोदास इति ख्यातो भैमसेनिर्नराधिपः॥' —महाभारत, उद्योग पर्व० 117

—हरिवंशपुराण, अध्या० 29

मिलता है।

उपर्युक्त प्रमाणों में हम देखते हैं कि सुश्रुत का वर्णन इतिवृत्त के रूप में दिया हुआ है, अतएव यह स्वयंसिद्ध है कि सुश्रुत का आविर्भाव इन प्रमाणों से वहुत पूर्व हुआ था। प्रतर्दन और सुश्रुत समकालीन थे, अतएव यह भी स्पष्ट है कि कौपीतकि आदि उपनिपदें इनके वाद की वनी हैं। प्रो० हैस और जोन्स विलसन के इस विचार को तो स्वीकार किया जा सकता है कि सुश्रुत का आविर्भाव उस युग में हुआ था, जव उपनिपदों का रचना-क्रम चल रहा था। परन्तु वह युग ईसा के वाद था, यह तो सर्वथा निराधार है। उपनिपदें कुछ दो-चार वर्ष की रचना नहीं हैं। ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक और माण्डूक्य आदि उपनिपदें तो प्रतर्दन और सुश्रुत से ही क्या, धन्वन्तरि से भी वहुत पूर्व वन चुकी थीं। इनके पीछे की उपनिपदें प्रायः इन्हीं के गूढ़ विचारों की व्याख्या में लिखी गई हैं। इस प्रकार हम यह असंदिग्ध रूप से कह सकते हैं कि सुश्रुत का आविर्भाव रामायणकाल से प्रायः एक सौ वर्ष पूर्व हुआ था।

'सुश्रुत संहिता' के सुश्रुत कौन थे?

अग्निपुराण[1] के लेखानुसार सुश्रुत ने मनुष्य आयुर्वेद के साथ घोड़ा और गौवों के आयुर्वेद को भी जिज्ञासापूर्वक भगवान् धन्वन्तरि से पूछा और उन्होंने वह सव सुश्रुत को वताया था। इस प्रकार अपने गुरु दिवोदास धन्वन्तरि के समान सुश्रुत भी मानवीय आयुर्वेद के साथ-साथ अश्वायुर्वेद और गवायुर्वेद के भी विद्वान थे, यह स्पष्ट है। सुश्रुत की लिखी हुई 'सुश्रुत संहिता' ही हमें आज प्राप्त है, अश्व एवं गवायुर्वेद विषयक उनका कोई ग्रन्थ हमें उपलब्ध नहीं होता। विद्वान् शालिहोत्र के ग्रन्थ में, जो अश्वशास्त्र विपयक है, सुश्रुत का नाम जिज्ञासु के रूप में लिखा हुआ मिलता है। "सुश्रुत, मित्रजित्, गान्धार आदि पुत्रों एवं गर्ग आदि शिष्यों के पूछने पर शालिहोत्र ने अश्वायुर्वेद का उपदेश किया।"[2] इस प्रकार सुश्रुत को उस ग्रन्थ में शालिहोत्र का पुत्र लिखा गया है। अतएव यह कहना चाहिए कि विश्वामित्र के पुत्र सुश्रुत से भिन्न यह दूसरे ही सुश्रुत हैं। संस्कृत में प्रचलित परिपाटी के अनुसार शिष्य को ही पुत्र लिखा गया हो यह भी नहीं कह सकते, क्योंकि वहां यह स्पष्ट लिखा है कि "उन महान मुनि से पुत्रों और शिष्यों ने विनम्र भाव से पूछा।"[3] इतना ही नहीं, ग्रन्थ भर में सुश्रुत को 'पुत्र' शब्द से ही सर्वत्र सम्बोधित किया गया है और शिष्यों को शिष्य शब्द से ही। फलतः यह स्वीकार करना ही चाहिए कि यह सुश्रुत विश्वामित्र के पुत्र सुश्रुत से भिन्न शालिहोत्र महर्षि के ही पुत्र थे।

---

1. अग्निपुराण, अ० 279-292
2. शालिहोत्रमृपि श्रेष्ठं सुश्रुतः परिपृष्ठ च्छति। एवं पृष्ठस्तु पुत्रेण शालिहोत्रोऽभ्यभापत॥ शालिहोत्रमपृच्छन्त पुत्राः सुश्रुत संगता। व्याख्यातं शालिहोत्रेण पुत्राय परिपृच्छते॥ मित्रजित्प्रमुखाः पुत्राः भूयःपितरमब्रुवन्। शालिहोत्रः सुतंप्राह हयानां स्वरलक्षणम्॥—शालिहोत्रीय ग्रन्थः
   —शालिहोत्रः सुश्रुताय हयायुर्वेद मुक्तवान्।
   पाल काप्योऽङ्गाराजाय गजायुर्वेदमब्रवीत्॥—अग्निपुराण, अ० 292
3. पुत्रा शिष्याश्च पृच्छन्ति विनयेन महामुनिम्। —शालिहोत्रीय ग्रन्थ

शालिहोत्र के अश्वाभिषेक प्रकरण में लिखे गये श्लोकों में बहुत से आचार्यों का नाम आया है। महर्षि आत्रेय और उनके शिष्य अग्निवेश, हारीत आदि तक का नाम आया है, परन्तु धन्वन्तरि अथवा दिवोदास का कहीं जिक्र भी नहीं है। धन्वन्तरि दिवोदास के अनन्तर होने वाले आत्रेय और अग्निवेश का नामोल्लेख होना और धन्वन्तरि अथवा दिवोदास का कोई जिक्र तक न करना यह प्रकट करता है कि शालिहोत्रीय ग्रन्थ के लेखक सुश्रुत की महर्षि दिवोदास के साथ कोई आत्मीयता नहीं थी। यदि दिवोदास और शालिहोत्र से शिक्षा ग्रहण करने वाले सुश्रुत एक ही होते, तो सुश्रुत संहिता में शालिहोत्र तथा शालिहोत्रीय ग्रन्थ में दिवोदास का स्मरण करना वे न भूलते। परन्तु वास्तविकता यह है कि सुश्रुत संहिता में शालिहोत्र का कहीं उल्लेख नहीं, और शालिहोत्रीय ग्रन्थ में कहीं धन्वन्तरि दिवोदास का नाम नहीं मिलता। अतएव दोनों के लेखक सुश्रुत परस्पर भिन्न थे। इतना ही नहीं, एक प्रसिद्ध आचार्य होने के नाते भी आत्रेय की भांति धन्वन्तरि दिवोदास का नाम लिखा जा सकता था। वह भी न लिखना, यह भी सन्देह उत्पन्न करता है कि शालिहोत्र और दिवोदास में कुछ वैमनस्य तो नहीं था ? अन्यथा एक प्रतिष्ठित आचार्य के लिए उपयुक्त श्रद्धा और मान भी शालिहोत्रीय अश्वशास्त्र में धन्वन्तरि दिवोदास को क्यों न मिलता ? परिणामतः हमें यह स्वीकार करना ही होगा कि शालिहोत्रीय अश्वशास्त्र के लेखक सुश्रुत महर्षि शालिहोत्र के पुत्र थे, और उन्होंने अपने पिता शालिहोत्र से ही अश्वशास्त्र का अध्ययन किया था। 'सुश्रुत संहिता' नामक आयुर्वेद शास्त्रीय ग्रन्थ के लेखक सुश्रुत, महर्षि विश्वामित्र के पुत्र थे, और उन्होंने राजर्षि दिवोदास से आयुर्वेद शास्त्र का अध्ययन किया था। दुर्लभगण के बनाये हुए अश्वायुर्वेद सम्बन्धी 'सिद्धोपदेश' नामक ग्रन्थ में लिखा है कि 'शालिहोत्र, गर्ग तथा सुश्रुत ने अश्वशास्त्र का जो कुछ तत्त्व बताया है वह सब इस ग्रन्थ में मैंने लिख दिया है।"[1] इससे प्रतीत होता है कि महर्षि शालिहोत्र के अश्वशास्त्रीय उपदेशों को जिस प्रकार 'शालिहोत्र संहिता' के रूप में सुश्रुत ने सम्पादन किया था, उसी प्रकार सुश्रुत के उपदेशों को भी उनके शिष्यों ने संकलित किया होगा, परन्तु दुर्भाग्य से वह ग्रन्थ और उसका विस्तृत परिचय आज हमें उपलब्ध नहीं है। दूसरी ओर आग्नेयपुराण के अनुसार दिवोदास धन्वन्तरि के शिष्य सुश्रुत भी अश्वशास्त्र में प्रवीण थे। ऐसी दशा में यह सन्देह हो सकता है कि दुर्लभगण के लिखे हुए सुश्रुत शालिहोत्रीय सुश्रुत थे, या धन्वन्तरि दिवोदास के शिष्य सुश्रुत ? स्पष्ट बात यह है कि शालिहोत्र और गर्ग के साथ सुश्रुत का उल्लेख शालिहोत्रीय सुश्रुत का ही बोधक है, दिवोदासीय सुश्रुत का नहीं। एक आचार्य अनेक विषयों का विद्वान् हो सकता है, दिवोदास के शिष्य सुश्रुत भी ऐसे ही विद्वान थे। परन्तु मानवीय आयुर्वेद के अतिरिक्त अश्वायुर्वेद सम्बन्धी कोई ग्रन्थ उन्होंने लिखा था या नहीं, यह निश्चित रूप से बताने के लिए हमारे पास कोई प्रमाण नहीं है। प्रत्युत सुश्रुत संहिता, अन्यान्य आचार्यों द्वारा लिखे गये संस्मरण एवं शिलालेखों के आधार पर यह तो स्पष्ट कहा जा सकता है कि धन्वन्तरि दिवोदास के शिष्य सुश्रुत

---

1. शालिहोत्रेण गर्गेण सुश्रुतेन च भाषितम् ।
   तत्त्वं यदश्वशास्त्रस्य तत्सर्वमिह संस्थितम् ॥

अश्वायुर्वेद के आचार्य मानकर कभी पूजे नहीं गये। अतएव महर्षि शालिहोत्र के साथ जिन अश्वशास्त्रवेत्ता सुश्रुत का उल्लेख हमें मिलता है वे शालिहोत्र के ही पुत्र सुश्रुत थे। अश्वशास्त्र सम्बन्धी जिन सुश्रुतीय कृतियों की ओर ग्रन्थकारों ने निर्देश किया है, वे इन्हीं की रचनाएं हैं।

कुछ लोगों ने दोनों सुश्रुतों को अभिन्न अर्वाचीन सिद्ध करने के अभिप्राय से नकुल के बनाये हुए 'अश्व चिकित्सित' ग्रन्थ के मंगलाचरण के उस श्लोक को आधार माना है जिसमें लिखा है कि 'तुरंगघोष के पुत्र मुनिवर शालिहोत्र तुम्हारी रक्षा करें।'[1] उन लोगों का कहना है कि 'तुरंगघोष' ईसा से साठ वर्ष बाद होने वाले बौद्ध विद्वान् अश्वघोष ही थे। विख्यात विजेता सम्राट् कनिष्क के समकालीन हुए। जब शालिहोत्र इन अश्वघोष के पुत्र थे तब उनका समय, अधिक से अधिक ईसा से 85 वर्ष बाद का सिद्ध होना चाहिए। और शालिहोत्र के पुत्र सुश्रुत तो ईसा के सौ वर्ष बाद ही हुए। परन्तु यह कल्पना नितान्त अर्थहीन है। शालिहोत्र का उल्लेख महाभारत के नलोपाख्यान में मिलता है।[2] फिर महाभारतकालीन अर्जुन के भाई नकुल ने अपने 'अश्वचिकित्सित' ग्रन्थ में उनका भक्तिपूर्वक स्मरण किया है, अतएव शालिहोत्र का समय महाभारत से भी प्राचीन है। हां, शालिहोत्रीय ग्रन्थ में आत्रेय पुनर्वसु तथा अग्निवेश का नामोल्लेख है, अतएव हम उनका समय रामायण-काल से लेकर राम के 100 वर्ष बाद तक का स्वीकार करते हैं। इस प्रकार महर्षि शालिहोत्र के पुत्र सुश्रुत का समय भी यही मान लेना उचित है। इसके अतिरिक्त तुरंगघोष की बौद्ध अश्वघोष के साथ एकता सिद्ध करने वालों को यह देखना चाहिए कि शालिहोत्र संहिता के अश्वाभिषेक प्रकरण में श्रौत यज्ञ का विधान है। वेदमन्त्रों के उच्चारण का उल्लेख है। वैदिक धर्मानुयायी महर्षियों का स्मरण किया गया है तथा श्रौतस्मार्त देवों के अंशरूप से घोड़ों का वर्णन किया गया है। क्या यह सब एक बौद्ध ग्रन्थ लेखक द्वारा लिखा जाना संभव है? फिर बौद्ध विद्वान् अश्वघोष साकेत (अयोध्या)-वासी थे और शालिहोत्र पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त के निवासी। ऐसी दशा में बौद्ध अश्वघोष का शालिहोत्र के साथ कोई सम्बन्ध रह नहीं जाता। उसी प्रकार सुश्रुत संहिता के लेखक सुश्रुत इन अश्वशास्त्र के सम्पादक सुश्रुत से बहुत भिन्न हैं। यदि दोनों को अभिन्न मानकर बौद्ध अश्वघोष का ही पुत्र मानने का हठ किया जाय तो विश्वामित्र के पुत्र सुश्रुत थे,[3] ऐसा लिखने वाले अनेक प्राचीन ग्रन्थों का क्या अर्थ होगा तथा 'शालिहोत्र से सुश्रुत आदि पुत्रों ने पूछा'[4] इत्यादि वाक्य का समन्वय किस सुश्रुत के साथ किया जायगा? इसके साथ ही यह निश्चित है कि बौद्ध अश्वघोष के समकालीन आचार्य नागार्जुन ने सुश्रुत संहिता का प्रतिसंस्कार किया था,[5] यदि हम सुश्रुत को अश्वघोष का पौत्र मान लें तो यह प्रतिसंस्कार कब संभव हो सकेगा? इतना ही नहीं; पाणिनि,

---

1. 'पायाद्वः स तुरंगघोषतनयः श्री शालिहोत्रो मुनिः।'
2. 'शालिहोत्रोऽथ किन्तु स्याद्धयानां कुल तत्ववित्'—महाभारत, वन पर्व, अ० 71
3. 'विश्वामित्रसुतः श्रीमान् सुश्रुतः परिपृच्छति' —सुश्रुत सं० उत्तर० अ० 66
4. 'शालिहोत्रमपृच्छन्त पुत्राः सुश्रुत संगताः।' —शालिहोत्र संहिता
5. 'प्रतिसंस्कर्त्तापीह नागार्जुन एव' —आचार्य डल्हण, सुश्रुत टी० सू० 1/2.

कात्यायन और पतंजलि द्वारा सुश्रुत का नामोल्लेख देखकर भी बौद्ध अश्वघोष के साथ सुश्रुत का सम्बन्ध कैसे टिक सकेगा ? अतएव यही स्वीकार करना होगा कि तुरंगघोष के पुत्र अश्वशास्त्री सुश्रुत एवं विश्वामित्र के पुत्र शल्याचार्य सुश्रुत बिलकुल भिन्न थे। 'सुश्रुत संहिता' पर विचार करते समय हमें महर्षि विश्वामित्र के पुत्र सुश्रुत को ही ध्यान में रखना होगा।

सुश्रुत के काल-निर्धारण के सम्बन्ध में अनेक विद्वानों ने अपनी सम्मतियां दी हैं। प्रसिद्ध लेखक हर्नल (A. F. Rudolph Hoernle) महोदय ने 'प्राचीन भारत के औषधिशास्त्र का मनन'[1] करते हुए सुश्रुत का समय ईसा से प्रायः छः सौ वर्ष पूर्व स्वीकार किया है, जी० एन० मुखोपाध्याय[2] (G. N. Mukhopadhyaya) महोदय ने ईसा से प्रायः एक हज़ार वर्ष पूर्व स्वीकार किया है। 'सुश्रुत संहिता' का लैटिन भाषा में अनुवाद करने वाले हेसलर महोदय ने भी उन्हें ईसा से एक हज़ार वर्ष पूर्व ही माना है। श्रीयुत अक्षयकुमार मजूमदार आदि कुछ अन्य विद्वानों ने उन्हें ईसा से 15 या 16 सौ वर्ष पूर्व का सिद्ध किया है।[3] इस प्रकार बौद्ध अश्वघोष आदि से सुश्रुत का अत्यन्त प्राचीन होना ही सर्वसम्मत सिद्धान्त है। पाश्चात्य ऐतिहासिकों के आधार पर भी सुश्रुत का समय ईसा से एक हज़ार वर्ष पूर्व से अर्वाचीन नहीं कहा जा सकता। हां, यह प्रश्न तो हो सकता है कि ईसा से एक हज़ार वर्ष से कितने पूर्व सुश्रुत का समय स्थिर किया जाय ? तदर्थ पीछे दिये गये प्रमाणों के अतिरिक्त हमें और भी प्रमाण ढूंढ़ने के लिए अवकाश है।

प्रत्येक विद्वान् इस बात को स्वीकार करता है कि सुश्रुत का समय हम 600 ई० पूर्व से अर्वाचीन रख ही नहीं सकते। इसका अर्थ ही यह है कि हमें सुश्रुत को बौद्धकाल से पूर्व का स्वीकार करना ही चाहिए। फिर भी कुछ लोगों का विचार है कि सुश्रुत संहिता में 'सुभूति गौतम' नाम आया है।[4] सुभूति गौतम भगवान् बुद्ध के शिष्य थे।[5] इस कारण ही सुश्रुत संहिता को बुद्ध भगवान् के बाद की रचना मान लेना चाहिए। परन्तु यह उक्ति किसी काम की नहीं है। प्रथम तो बौद्ध शिष्य का नाम बौद्ध ग्रन्थों में आयुष्मत् सुभूति या स्थविर सुभूति लिखा गया है, सुभूति गौतम कहीं नहीं लिखा गया। दूसरे, एक ही नाम वाले अनेक व्यक्ति होते ही हैं। केवल नाम-साम्य से ऐतिहासिक घटनायें नहीं बदल सकतीं। सुश्रुत संहिता में जहां सुभूति गौतम का नाम लिखा है वहीं शौनक, कृतवीर्य, पाराशर्य तथा धन्वन्तरि का भी नाम लिखा है। ऐसी दशा में सुभूति गौतम के सहवर्त्ती शेष महर्षियों को बौद्धकाल के किस कोने में बैठाया जायगा ? सुश्रुत संहिता में बौद्ध सिद्धान्तों की कहीं छाया भी नहीं है, तब उसे बुद्ध भगवान् के बाद की रचना

---

1. Studies in the Medicine of Ancient India (Part 1)
2. History of Indian Medicine (Part III), p. 576, by G. N. Mukhopadhyaya.
3. The Hindu History by Akshaya Kumar Majumdar.
4. 'गर्भस्य खलु संभवतः पूर्वं मध्यशरीरमिति सुभूतिर्गौतमः' —सुश्रुत सं० शारीर० 3/32
5. अष्ट साहस्रिका, शत साहस्रिका ग्रन्थ।

कैसे स्वीकार किया जाय ? पाणिनि, कात्यायन तथा महाभारत के लेखों में सुश्रुत के उल्लेख हमें ऐसी निराधार युक्तियों को कैसे स्वीकार करने देंगे ? इन समस्त प्रमाणों पर विचार करके हमें यही मानना होगा कि 'सुश्रुत संहिता' के लेखक सुश्रुत का आविर्भाव रामायण-काल से एक सौ वर्ष पूर्व ही हुआ था।

आयुर्वेदिक ग्रन्थों के अनेक व्याख्याकारों ने स्थान-स्थान पर 'वृद्ध सुश्रुत' नाम से उद्धरण दिये हैं। उन उद्धरणों के मूल पाठ कोई-कोई वर्तमान 'सुश्रुत संहिता' में मिलते हैं, और कोई-कोई नहीं मिलते। न मिलने वाले उद्धारणों के आधार पर लोगों का अनुमान यह है कि वर्तमान सुश्रुत संहिता से भिन्न वृद्ध सुश्रुत नामक किसी अन्य व्यक्ति की लिखी हुई कोई दूसरी ही संहिता और रही होगी। वर्तमान सुश्रुत संहिता में न मिलने वाले वृद्ध सुश्रुत नाम के उद्धरण उसी ग्रन्थ के हो सकते हैं। सुश्रुत संहिता में लिखा भी है कि "औपधेनवतन्त्र और भ्रतन्त्र, सौश्रुत तन्त्र तथा पौष्कलावत तन्त्र ही शेप सारे शल्य तन्त्रों के मूल हैं।"[1] वर्तमान सुश्रुत संहिता में न मिलने वाले वृद्ध सुश्रुतीय उद्धरण इसी सौश्रुत तन्त्र के प्रतीत होते हैं। दुर्भाग्य से वह सौश्रुत तन्त्र आज हमें उपलब्ध नहीं है। किन्तु इस सौश्रुत तन्त्र के लेखक ही वृद्ध सुश्रुत थे। इस प्रकार सुश्रुत संहिता के रचयिता सुश्रुत नाम के एक भिन्न व्यक्तित्व को स्वीकार करने का प्रश्न उठ खड़ा होता है। परन्तु यह प्रश्न चल नहीं सकता। पूर्वोक्त शल्याचार्य सुश्रुत एवं अश्वशास्त्री सुश्रुत के अतिरिक्त तीसरे वृद्ध सुश्रुत की सत्ता को सिद्ध करने वाले प्रमाण नहीं मिलते। पूर्वोक्त महाभारत, महाभाष्य नावनीतक तथा ज्वर समुच्चय आदि ग्रंथों में केवल एक ही शल्याचार्य सुश्रुत का उल्लेख मिला है। नागार्जुन तथा वाग्भट आदि आचार्यों ने भी एक ही शल्य-शास्त्री सुश्रुत का परिचय दिया है। कम्बोडिया में मिले हुए सम्राट् यशोवर्मा के शिला लेखों में भी एक ही आयुर्वेदाचार्य सुश्रुत का उल्लेख है। फिर वृद्ध सुश्रुत नाम से मिलने वाले वाक्यों की भाषा, शैली, अथवा प्रौढ़ता सुश्रुत संहिता से अधिक प्राचीनता अथवा भिन्न लेखक की सत्ता का परिचय नहीं देती।

आचार्य दिवोदास धन्वन्तरि के प्रमुख सात शिष्य थे[2]। उनके नाम क्रमशः इस प्रकार हैं—(1) औपधेनव, (2) वैतरण, (3) औरभ्र, (4) पुष्कलावत, (5) करवीर्य, (6) गोपुर रक्षित एवं (7) सुश्रुत। इन सातों शिष्यों ने अपने गुरु दिवोदास से शल्य-प्रधान आयुर्वेद पढ़ने के बाद अपने-अपने नाम से शल्यशास्त्र विषयक ग्रंथ लिखे थे। सुश्रुत संहिता के श्लोक का यही भाव है। चार शिष्यों का नाम तो श्लोक में दिया ही है, शेष तीन के ग्रंथ भी थे, परन्तु सुश्रुत संहिता के भाष्यकार आचार्य डल्हण ने लिखा है कि वे अधिक सौष्ठव-सम्पन्न नहीं थे तथा इन्हीं चारों पर आश्रित होकर लिखे गये थे अतएव

---

1. औपधेनवमौरभ्रं सौश्रुतं पौष्कलावतम्।
शेपाणां शल्य तन्त्राणां मूलान्येतानि निर्दिशेत।—सुश्रुत सं० अ० 4/9

2. सुश्रुत संहिता के भाष्यकार डल्हण के अनुसार दिवोदास के बारह शिष्य थे, जिनमें सात तो ऊपर के हैं ही। शेष (1) भोज, (2) निमि, (3) काङ्कायन, (4) गार्ग्य और (5) गालव, ये पांच शिष्य और भी थे।
'प्रभृतिशब्देन भोजादयः।...प्रभृति ग्रहणात् निमिकाङ्कायन गार्ग्य गालवाः"—सु०व्याख्या सू० 1/3

उन्हें संहिता के श्लोक में समाविष्ट नहीं किया गया[1]। प्राचीन काल की परिपाटी ही ऐसी थी। गुरु से अध्ययन करने के पश्चात् अध्यायनकालीन सारे उल्लेखों (Notes) को शिष्य एकत्र करके ग्रन्थ रूप में लिख लेते थे और फिर गुरुओं को सुनाते थे। शायद यही उनकी उपाधि-परीक्षा (Final Test) समझी जाती थी। सुश्रुत में ही नहीं, चरक संहिता में भी ऐसा ही वर्णन है[2]। इस परीक्षा में जिनके लेखों को गुरु लोग उत्तम समझते थे उन्हें प्रतिष्ठित एवं प्रसिद्ध कर देते थे। सुश्रुत संहिता के श्लोक में केवल चार ही शिष्य उत्तीर्ण हो सके और उन्हें ही प्रतिष्ठित होने का सौभाग्य मिला। इस प्रकार आचार्य दिवोदास से प्रतिष्ठित किये हुए चार ही तन्त्र थे जिनके आधार पर अन्यान्य शल्य-तन्त्र लिखे गये थे। उन्हीं मौलिक चार तन्त्रों में एक सौश्रुत तन्त्र भी था जो इन्हीं सुश्रुत का लिखा हुआ था जिनकी लिखी हुई सुश्रुत संहिता है। सौश्रुत-तन्त्र शल्यशास्त्र का ही ग्रन्थ था। आयुर्वेद के सामान्य विषयों का अन्यान्य ग्रन्थों द्वारा समावेश करके सुश्रुत ने 'सुश्रुत संहिता' पीछे से लिखी थी। यह सुश्रुत संहिता में ही लिखा है[3]। सुश्रुत संहिता के पूर्व लिखे गये सौश्रुत तन्त्र के अनेक अंश इस सुश्रुत संहिता में भी समाविष्ट हैं। इसी कारण वृद्ध सुश्रुत नाम से मिलने वाले अनेक उद्धरण इस सुश्रुत संहिता में ज्यों के त्यों मिल जाते हैं। फिर सुश्रुत को वृद्ध सुश्रुत लिखने का स्पष्ट अर्थ यही है कि ये शल्याचार्य सुश्रुत अश्वशास्त्राचार्य सुश्रुत से वयोवृद्ध थे। आचार्य वाग्भट के सम्बन्ध में भी ठीक ऐसी ही बात हम उनके वर्णन में देखेंगे। वाग्भट ने भी अष्टांग संग्रह के बाद अष्टांग-हृदय लिखा था[1], इस कारण अष्टांग संग्रह के अनेक सन्दर्भ अष्टाङ्ग हृदय में ज्यों के त्यों उपलब्ध होते हैं। वाग्भट अथवा वृद्ध-वाग्भट नाम से दिये गये सारे उद्धरण हमें अष्टांग संग्रह और अष्टांग हृदय में मिल जाते हैं। किन्तु वाग्भट ने लिख दिया है कि मेरे पितामह वृद्ध वाग्भट थे। सुश्रुत ने किसी वृद्ध सुश्रुत का नाम नहीं लिखा। यदि आज सुश्रुत का 'सौश्रुत तन्त्र' भी हमें उपलब्ध होता तो सुश्रुत और वृद्ध सुश्रुत नाम से मिलने वाले उद्धरण अवश्य मिल जाते, और सुश्रुत के अक्षुण्ण व्यक्तित्व को वृद्ध सुश्रुत की स्वतन्त्र कल्पना करके छिन्न-भिन्न करने का दुःस्साहस कोई न कर पाता। सुश्रुत ने अपनी संहिता में ही सौश्रुत तन्त्र का उल्लेख किया है अतएव सुश्रुत उसके रचयिता न रहें यह तो कोई युक्तिसंगत बात नहीं कही जा सकती। वाग्भट ने भी तो अपने पिछले ग्रन्थ अष्टांग-हृदय में अपने पूर्व ग्रन्थ अष्टांग संग्रह का उल्लेख किया है, फिर यदि सुश्रुत ने भी वैसा ही किया है तो उनके व्यक्तित्व को छिन्न-भिन्न करने की कौन-सी बात है? इतना ही नहीं, सुश्रुत ने 'सुश्रुत संहिता' को पीछे से संगृहीत किया था, यह उन्होंने स्पष्ट कह भी तो दिया है।

---

1. 'शेषाणां कारवीर्य गोपुररक्षित प्रभृति प्रणीत शल्यतन्त्राणां प्रत्ययेषु प्रलयो न भवति, कस्मात्? तेषां तन्त्राणामेतन्मूलत्वात्।" —सुश्रुत टीका सू० 4/9
2. चरक सं० सूत्र० अ० 1/30-40
3. 'अन्य शास्त्रोपपन्नानां चार्थानामिहोपनीतानामर्थं वशात्तद्विधेभ्य एव व्याख्यानमनुश्रोतव्यं, कस्मात्? नह्येकस्मिन् शास्त्रे शक्यः सर्वशास्त्राणामवरोधः कर्तुम्"—सुश्रुत सं० सू० अ० 4/6

अन्यशास्त्रोपपन्नानां चार्थानां इहोपनीतानाम् आदि वाक्य द्वारा सुश्रुत संहिता को संकलन बताकर ही आचार्य ने लिखा है कि इस संकलित संहिता का मूल औपधेनव, औरभ्र, सौश्रुत तथा पौष्कलावत तन्त्रों की ग्रन्थ चतुष्टयी को ही समझना चाहिए।

अब पिछले समस्त सन्दर्भ को यदि हम संक्षेप में स्मरण रखना चाहें तो नीचे लिखी बातों को ध्यान में रख लेना पर्याप्त होगा—

1. सुश्रुत रामायणकालीन महर्षि विश्वामित्र के पुत्र थे और कान्यकुब्ज देश के राजकुमार थे।
2. उन्होंने राजपाट छोड़कर काशिराज दिवोदास से विद्याध्ययन करके आयुर्वेद की सेवा में जीवन अर्पण किया था।
3. सुश्रुत ने 'सौश्रुत-तन्त्र' और 'सुश्रुत-संहिता' दो विशाल ग्रन्थ लिखे थे। सौश्रुत-तन्त्र अब नहीं मिलता।
4. सुश्रत नाम के दो आचार्य हुए हैं! प्रथम सुश्रुत संहिताकार दिवोदास के शिष्य सुश्रुत थे, और दूसरे 'शालिहोत्र संहिता' के सम्पादक शालिहोत्र के शिष्य सुश्रुत, जो अश्वशास्त्र में निष्णात थे।
5. सुश्रुत संहिताकार सुश्रुत का समय रामायण-काल से सौ वर्ष पूर्व और अश्वशास्त्राचार्य सुश्रुत का समय रामायण-काल के पीछे का है।
6. सुश्रुत संहिताकार एवं दिवोदास के शिष्य सुश्रुत के प्रमाण 'सुश्रुत' और 'वृद्ध सुश्रुत' दोनों नामों से मिलते हैं। वे शालिहोत्र के पुत्र सुश्रुत से वयोवृद्ध थे।

'सुश्रुत संहिता' की विशेषताएं

यहां जिस युग की हम बात कह रहे हैं, उस युग की तीन संहितायें आज हमें प्राप्त हो सकती हैं—सुश्रुत संहिता आत्रेय संहिता (चरक संहिता) और काश्यप संहिता (अपूर्ण)। इनके अतिरिक्त वर्तमान काल में प्रचलित आयुर्वेदिक संहितायें पीछे की हैं और इन्हीं तीनों के न्यूनाधिक सन्दर्भ उनमें कुछ हेर-फेर के साथ या कहीं-कहीं ज्यों के त्यों भी मिलते हैं। इसलिए सुश्रुत संहिता की विशेषतायें देखते समय काश्यप और आत्रेय संहिताओं की ही तुलना में हमें सुश्रुत संहिता को रखना पड़ेगा। आत्रेय संहिता शारीर तन्त्र है, तथा काश्यप संहिता कौमार भृत्य शास्त्र। परन्तु सुश्रुत संहिता शल्यतन्त्र (Surgery)-प्रधान ग्रन्थ है। यद्यपि सामान्य रोगों का निदान और चिकित्सा भी सुश्रुत ने ऊंचे दर्जे की लिखी है, परन्तु उसके लिए सुश्रुत को अपूर्वता नहीं मिल सकती। सुश्रुत की अपूर्वता तो उनका शल्य ज्ञान ही है। कश्यप के फक्क रोग की बारीक विवेचनायें तथा राजयक्ष्मा पर आत्रेय के चमत्कारी सिद्धान्त आपको सुश्रुत के पास नहीं मिल सकते, ठीक उसी प्रकार सुश्रुत के स्वस्तिक, वडिश और एषणी यन्त्र आपको आत्रेय और कश्यप के पास प्राप्त नहीं हो सकेंगे। सुश्रुत संहिता तो एक शल्य-

---

1. अष्टांगसंग्रह महोदधि मन्थनेनयोऽष्टांग संग्रह महाऽमृत राशिराप्तः।
सस्मादनल्पफलमल्प समुद्यमानां प्रीत्यर्थमेतदुदितं प्रथगेवतन्त्वम्॥
—अष्टांगहृदय, उत्तरतन्त्र, अ० 40/80

शास्त्री (Surgeon) की सहकारी पुस्तक (handbook) है। उसमें अन्य शास्त्रों से काय चिकित्सा सम्बन्धी निदान और चिकित्सा का ग्रन्थकार की भाषा में सन्निवेश किया गया है। सुश्रुत का अपना ग्रन्थ तो सौश्रुत-तन्त्र था जिसके लिए सुश्रुत अपने अभिमान का संवरण न कर सके और इतना तो लिख ही गये—'शोषणां शल्य तन्त्राणां मूलान्येतानि-र्निर्दिशेत्।' सुश्रुत-संहिता में वह बात कहां है? उसके लिए तो सुश्रुत ने साफ लिखा है—अन्यशास्त्रोपपन्नानां चार्थानां इहोपनीतानामर्थवशात्तद्विद्येभ्य एव व्याख्यान मनुश्रोत-व्यम्।' सुश्रुत की स्पष्ट घोषणा तो यही है कि यदि शल्यशास्त्र के सम्बन्ध में जानना चाहो तो हमसे पूछो, परन्तु यदि काय चिकित्सा और कौमारभृत्य की जिज्ञासा हो तो भरद्वाज और अत्रि की शरण में जाना होगा; क्योंकि यहां भी अन्य शास्त्रों से ही उधार ली हुई तद्विषयक सामग्री का संचय किया गया है।

आज हम देखते हैं कि आसुरी, मानुषी और दैवी[1] नाम से चिकित्सा के तीन प्रकार अनेक ग्रन्थकारों ने लिखे हैं। आसुरी चिकित्सा से शल्यचिकित्सा का तात्पर्य होता है। मानुषी से काष्ठौषधि एवं दैवी से रसादि चिकित्सा का भाव लिया जाता है। इस विचार में शल्यशास्त्र के प्रति कितना कुत्सित भाव छिपा हुआ है? संस्कृत में 'असुर' हत्यारे को कहते हैं। अतः आसुरी का भाव हत्यापरक चिकित्सा होता है। शल्यशास्त्र के सम्बन्ध में यह भाव सुश्रुत के समय में नहीं थे प्रत्युत बहुत पीछे से बौद्धकाल में फैलाये गये। स्वर्ग में देव जाति के लोग भी शल्यशास्त्र में बड़े प्रवीण थे। धन्वन्तरि स्वयं देव जाति के ही पुरुष थे[2], परन्तु उन्हें शल्यशास्त्र का आदि-पुरुष कहने से कौन इनकार कर सकता है? देव लोग असुरों को सदैव घृणा की दृष्टि से देखते थे और उनका संहार किया करते थे। फिर उन्हीं देवताओं की आविष्कृत शल्य चिकित्सा को यदि हम आसुरी कहें तो देवों के प्रति अन्याय तो है ही, हम भी उनके प्रति कितने कृतघ्न ठहरते हैं। यह ठीक है कि हम अपना मकान बनाएं। परन्तु अपना मकान बनाने के लिए दूसरे के महल को ढहाने लगें, इसे कोई बुद्धिमत्ता नहीं कह सकता। ठीक इसी प्रकार रसादि चिकित्सा को प्रतिष्ठा देने के लिए प्राचीन वैज्ञानिकों के निर्मल शल्य विज्ञान को 'आसुरी चिकित्सा' कहकर उसके विनाश के उपाय करना सद्भावना नहीं कही जा सकती। आश्चर्य है कि वैज्ञानिकों के निर्मल संसार में भी यह कालुष्य कहां से आया? वह युग कितना दया का पात्र है जब ऐसे गर्हित विचारों को भी पोषण मिला होगा।

ईसा की सातवीं से नवीं शताब्दी तक आयुर्वेद का विज्ञान देश-देशान्तर के लोग भारत से ही सीखते रहे। सातवीं शताब्दी से नवीं शताब्दी के बीच में ही सुश्रुत संहिता का अरब देशवासियों ने अपनी अरबी भाषा में अनुवाद करवाया था, जो आज भी उपलब्ध होता है।[3] इसका अर्थ यह है कि ईसा की नवीं शताब्दी तक हमारे शल्यविज्ञान

1. 'आसुरी मानुषी दैवी चिकित्सा त्रिविधा मता।'
2. 'अहंहिधन्वन्तरिरादिदेवो, जरारुजामृत्युहरोऽमराणाम्।
शल्यांगमङ्गैरपरैरुपेतं प्राप्तोऽस्मि गां भूय इहोपदेष्टुम्॥" —सु० सू० 121
3. 'आरब्यभाषायामनूदितश्चरकः सरक नाम्ना, सुश्रुतः ससद नाम्नाख्यायते।"
—काश्यप सं० उपोद्घात, पृ० 24

की धाक संसार पर थी। और शल्यशास्त्र में सुश्रुत का ग्रन्थ ही सर्वोच्च था। स्याम और कम्बोडिया में प्राप्त यशोवर्म के प्रशस्ति लेखों में सुश्रुत का सुयश मिलता है।[1] यही वह युग था जब दूसरी जातियां सजग होकर अपना घर भरने के लिए सुषुप्त भारत की चहारदीवारी में सेंध फोड़ रही थीं। एक ओर से दौलत लुट रही थी और दूसरी ओर से साहित्य। परन्तु हम मन्त्र और तन्त्रों के जादू से जीवन में आत्म-विस्मृति की मादक भावनायें भर रहे थे। किसी ने भूले-भटके हमारे शल्यशास्त्र का गौरव पूछा भी तो उसे 'आसुरी-चिकित्सा' कहकर टाल देते थे। इसका फल यह हुआ कि हमारी सुश्रुत संहिता का अनुवाद लिख-लिखकर पढ़ने वाली पाश्चात्य जातियां वैज्ञानिक बन बैठीं और हम मन्त्र-तन्त्रों की जादूगरी में ही अपना सब कुछ खो बैठे। पूंजीपति कंगाल हो गये और ब्याज खाने वाले लोग साहूकारी का दावा करने लगे। हम उस दिन फिर सर्जन बनकर ही रहेंगे जिस रोज़ 'सुश्रुत संहिता' के इस शल्यशास्त्रीय वैज्ञानिक गौरव को फिर से समझ लेंगे।

यह तो आठवीं और नवीं शताब्दी की बात है। स्वयं सुश्रुत के सहपाठी 'कांकायन' वाह्लीक देश के रहने वाले थे। वाह्लीक देश आज बैबीलोनिया का प्रसिद्ध स्थान है। आत्रेय पुनर्वसु के समय कांकायन एक प्रौढ़ विद्वान् हो गये थे। आत्रेय पुनर्वसु की अध्यक्षता में चैत्ररथ नामक उपवन में होने वाले आयुर्वेद के महासम्मेलन में काङ्कायन भी सम्मिलित हुए थे। वहां 'वाह्लीक भिषजांवरः' कहकर काङ्कायन का नाम बड़ी प्रतिष्ठा के साथ लिया गया है। वाह्लीक देश के वैद्यों में सर्वश्रेष्ठ होने का यह श्रेय काङ्कायन को मिला ही इसलिये था कि उन्होंने भगवान् धन्वन्तरि दिवोदास का शल्यविज्ञान मैसोपोटामिया के वैज्ञानिक सम्प्रदाय को सिखाया था। आखिर काङ्कायन ने वह विज्ञान सुश्रुत के साथ भगवान् दिवोदास धन्वन्तरि के चरणों में बैठकर ही सीखा था। आपको आज भी शल्यशास्त्र के वे उज्ज्वल सिद्धान्त सुश्रुत संहिता में देखने को मिलेंगे, जिनसे बैबीलोन और मिश्र आदि पश्चिमीय देशों ने प्रकाश प्राप्त किया था।[2] श्रीयुत गिरीन्द्रनाथ

---

1. यशोवर्मन् कन्नौज का राजा था। उसने 8वीं शताब्दी में मगध विजय करके गुप्तों का अन्त किया था।—गु० सा० का इति०, पृ० 186, भाग 1
   प्रशस्ति श्लोक इस प्रकार से है—

   'सुश्रुतोदितयावाचा समुदाचार सारया।
   एको वैद्यः परत्रापि प्रजाव्याधीन् जहारयः॥
   आयुर्वेदास्त्र वेदेषु वैद्यवीरैर्विशारदैः।
   योऽघातयद्राष्ट्ररुजो रुजारीन् भेषजायुधैः॥'

2. In surgeory too the Indian seem to have attained a special proficiency and in this department European surgeons might perhaps even at the present day still learn some thing from them, as indeed they have already borrowed from them the operation of Rhinoplasty. —History of Indian Medicine by G. N. Mukhopadhyaya, Introduction, p. 1

मुखोपाध्याय एवं हर्नेल[1] आदि इतिहास-लेखकों ने अनुसंधान किया है कि ग्रीस देश के शल्य-चिकित्सा (Surgery) सम्बन्धी यन्त्र और शस्त्र (Instruments) प्राय: वे ही हैं जो सुश्रुत ने अपनी संहिता में लिखे हैं। सुश्रुत ने अपने जिन सहाध्यायियों का उल्लेख किया है। उनमें पुष्कलावतक, करवीर्य, औरभ्र नाम देश-सम्बन्धी हैं, जिनसे हम जान सकते हैं, कि सुश्रुत संहिता के विज्ञान ने कितने विस्तृत भूभाग को शल्यशास्त्र का प्रकाश पहुंचाया था। पुष्कलावती नामक नगरी गान्धार देश (वर्तमान कन्धार) की राजवानी थी, जो आजकल अफगानिस्तान में है। पुष्कलावती यक्षों के अधिकार में रहने के बाद गन्धर्व जाति के लोगों ने अपनी राजधानी वनाई थी। रामायण-काल तक वह गन्धर्वों के हाथ में थी। गन्धर्वों ने अपने अधिकृत समस्त प्रदेश का ही नाम 'गान्धार देश' रख दिया था। गान्धार देश से मिला हुआ ही सिन्ध, पश्चिमोत्तर प्रान्त और पश्चिमीय पंजाव केकय देश था, जहां की राजकुमारी कैकेयी अयोध्या के सम्राट् दशरथ की एक रानी थी। कैकेयी के भाई और भरत के मामा युधाजित् को गान्धार की स्वतन्त्र सत्ता अच्छी नहीं लगी, और उन्होंने अयोध्या से वुलाकर अपने भानजे भरत को सेनापति वनाकर गान्धार देश पर आक्रमण कर दिया। भरत के सशक्त युद्धकौशल के आगे गन्धर्व लोग परास्त हो गये। गान्धार पर विजय प्राप्त करने के अनन्तर अपने मामा युधाजित् की अनुमति से भरत ने अपने पुष्कल और तक्ष नाम के दोनों पुत्रों को वह विस्तृत साम्राज्य वांट दिया। पूर्व का भाग, जो पंजाव में शामिल है, तक्ष को दिया। तक्ष ने 'तक्षशिला' अपनी राजधानी वनाई। पश्चिम का प्रदेश पुष्कल को दिया। पुष्कल ने पुष्कलावती को अपनी राजधानी वनाया।[2] ईसा से 240 वर्ष पूर्व भी पुष्कलावती अशोक के साम्राज्य के प्रतिष्ठित नगरों में से एक थी। चीनी यात्री हुएन सांग ने जो 7वीं ई० शताब्दी में भारत की यात्रा करने आया, अपनी आंखों से पुष्कलावती में अशोक के वनवाये हुए कई सौ फीट ऊंचे एक स्तूप को देखा था।[3] कालिदास के उल्लेख से यह पता लगता है कि तक्षशिला और पुष्कलावती राजधानियों को तक्ष और पुष्कल ने नहीं वसाया था किन्तु इन्हीं नामों से वे प्राचीन समय से ही आवाद थीं। भरत के पुत्रों के नाम ही राजधानियों के विभाग के अनुसार रखे गये थे। सुश्रुत के सहाध्यायी पुष्कलावत इसी महानगरी के निवासी थे, जिन्होंने शल्यशास्त्र पर 'पौष्कलावत तन्त्र' नामक मौलिक एवं अपूर्व शास्त्र

1. Surgical Instruments of the Hindus, Vol. I, pp. 342-343 by G. N. Mukhopadhyaya.
   —Medicine of Ancient India, Vol. I, by Hoernle.
2. युधाजितश्च संदेशात्स देशं सिन्धुनामकम्।
   ददौ दत्तप्रभावाय भरताय भृतप्रजः॥
   भरतस्तत्र गन्धर्वान्युधि निर्जित्य केवलम्।
   आतोद्यं ग्राहयामास समत्याजयदायुधम्॥
   स तक्ष पुष्कलौ पुत्रौ राजधान्योस्तदाख्ययोः।
   अभिषिच्याभिषेकार्हौ रामान्तिकमगात् पुनः॥ —कालिदासकृत रघुवंश, सर्ग 15, श्लोक 87-89
   यही प्रसंग वाल्मीकीय रामायण, उत्तरकाण्ड, अ० 101-114 तथा विष्णुपुराण, अ० 4 में देखिये।
3. मौर्य साम्राज्य का इतिहास (संवत् 1985), पृ० 587।

लिखा था। दुर्भाग्य से आज पौष्कलावत तन्त्र नहीं मिलता, परन्तु उसका वहुत कुछ प्रतिविम्ब हमें सुश्रुत संहिता में ही मिल सकता है। पौष्कलावत तन्त्र के उद्धरण चक्रपाणि ने चरक व्याख्या में दिये हैं।[1] 'करवीर' तथा 'उरभ्र' प्रदेशों के सम्बन्ध में भी ऐतिहासिक अनुसंधान चल रहे हैं। अभी अधिक तो नहीं कह सकते, परन्तु फिर भी इतना तो जानना ही चाहिये कि 'करवीर' दृपद्वती नदी के किनारे कोई प्रदेश था। और उरभ्र ईरान के दक्षिण पश्चिम में बेविलोनिया का 'उर' नामक प्रसिद्ध नगर था।[2] ईसा से 3000 वर्ष पूर्व वैवीलोनिया के साथ भारत का घनिष्ठ व्यापारिक सम्बन्ध था। अभी तक 'उर' के भग्नावशेषों में भारतीय 'टीक' की लकड़ी के सामान मिले हैं। यह लकड़ी का व्यवसाय भारतीय पोतों द्वारा अधिकांश में चलता था।[3] यह सब वह विस्तृत प्रदेश है जिसमें भगवान् दिवोदास धन्वन्तरि का शल्य-विज्ञान किसी समय भारतीय आयुवद का मुख उज्ज्वल किये हुए था। आज 'सुश्रुत संहिता' ही रह गई है, जो उन सिद्धान्तों का परिचय हमें फिर से दे सकती है।

सुश्रुत संहिता उस युग की रचना है जब भारत में शिक्षा की व्यवस्था अत्यन्त परिष्कृत और आदर्श थी। उस युग में अध्ययन-अध्यापन एक व्यवसाय के निष्कृष्ट रूप में नहीं, किन्तु प्रत्येक वयोवृद्ध के कर्तव्य में समाविष्ट था। साधारण स्थिति से लेकर सम्राट् तक शिक्षक का कार्य करना अपना अहोभाग्य समझते थे। इसीलिए अशिक्षित वैद्य के लिए उस समय कहीं स्थान ही न था। राजर्षि दिवोदास ने सुश्रुत को पहलेपहल यह बताया था कि 'जो व्यक्ति गुरुमुख से शास्त्र पढे और अनेक वार मनन करके चिकित्सा में प्रवृत्त होता है वही सच्चे अर्थों में वैद्य है। इसके विपरीत चिकित्सा करने वाले वैद्य नहीं, चोर हैं। 'राजर्षि दिवोदास के विचार से इस प्रकार के कुचिकित्सकों को देश में रहने देना राजा का अपराध है। राजा अपने इस अपराध के लिए स्वयं तो प्रायश्चित्त करे ही, परन्तु उस वैद्य नामधारी प्रजा-हिंसक को फांसी पर चढ़ा दे।'[4] हम देखते हैं कि राजर्षि की यह कठोर व्यवस्था बड़ी भयानक है। परन्तु वह भयानक उन्हीं के लिए है जो चिकित्साशास्त्र को लोभ और पाखण्ड के कारण बदनाम करते हैं। इस कठोर अनुशासन का ही तो यह फल था कि धन्वन्तरि का शल्यविज्ञान बहुत काल तक भूमण्डल पर अखण्ड शासन करता रहा। दिवोदास के शिष्य पृथ्वी के जिस भाग में भी पहुंचे, उनके निर्मल ज्ञान और कर्माभ्यास ने उन्हें अक्षय यश और गौरव प्रदान किया। इतना ही नहीं, आयुर्वेद के इतिहास में उनका नाम सदैव के लिए अमर हो गया।

---

1. चरक, चि० 12, श्लोक 89-97।
2. काश्यप संहिता, उपोद्घात, पृ० 213-216।
3. Indian Shipping by R. K. Mukherjee, p. 85
4. शास्त्रं गुरु मुखोद्गीर्णमादायोपास्यचासकृत्।
   यः कर्मकुरुते वैद्यः सवैद्योऽन्येतु तस्कराः॥ —सु० सं० सू० 4/8
   स्नेहादिष्वनभिज्ञा ये छेद्यादिषु च कर्मणि।
   ते निहन्ति जनं लोभात् कुवैद्यानृपदोषतः॥ —सु० सं० सू० 3/52
   यस्तु कर्मसुनिष्णातो धाष्ट्र्यच्छास्त्रवहिष्कृतः।
   स सत्सु पूजां नाप्नोति वधं चार्हति राजतः॥ —सु० सं० सू० 3/49

सुश्रुत के युग में शल्यशास्त्र (Surgery) तो विकास के उच्चासन पर था ही, परन्तु इसके साथ ही साथ एक और विशेष प्रकार की चिकित्सा पद्धति का विकास हुआ था जिसका नाम 'अग्निकर्म विधि' था। इस विधि के अनुसार यह उद्योग किया जाता था कि शस्त्रों (Instruments) द्वारा शरीर को चीड़ना-फाड़ना न पड़े और शरीर के केवल रोग-हेतु को अग्नि-प्रदाह उत्पन्न करके दग्ध कर दिया जाय। यह पद्धति उस युग में इतनी उन्नत हो गई थी कि अनेक ऐसे रोग जिनका प्रतिकार औषधि अथवा शल्य-चिकित्सा (Surgical Treatment) द्वारा नहीं हो सकता था; इस पद्धति से वे अच्छे हो जाते थे। सुश्रुत ने इस बात का दावा किया है कि अग्निकर्म विधि से दग्ध किये गये रोग फिर नहीं उखड़ते।[1] शिर के रोग जैसे पुराना जुकाम, अधिमन्थ (सबल) आदि; नेत्र-रोगों में पलकों और कोये (अपांगप्रदेश) के रोग; चर्म, मांस, सिरा, स्नायु, सन्धि और हड्डियों में पैदा होने वाली भयंकर पीड़ादायक बीमारियां, किसी स्थान का शून्य हो जाना, गांठ पड़ना, बवासीर, भगन्दर, रसौली, अर्बुद (Cancer) तथा अन्त्रवृद्धि (Harnia) आदि अनेक रोग 'अग्निकर्म विधि' से समूल नष्ट हो जाते थे। अग्निकर्म विधि का स्थूल सिद्धान्त यह था कि चर्म पर अग्नि का प्रदाह उत्पन्न करने से चर्म तथा मांस के रोग नष्ट हो सकते हैं, और मांस पर प्रदाह होने से सिरा, स्नायु, सन्धि तथा अस्थिगत रोगों का निवारण हो सकता है। सुश्रुत ने सिरा, स्नायु और सन्धि एवं अस्थि पर भी स्वतन्त्र अग्नि-प्रदाह की पद्धति के नवीन प्रयोग आविष्कार किये थे।[2] किस रोग में कहां प्रदाह करना चाहिए, यह तो इस विषय के गम्भीर अध्ययन और मनन से ही सम्बन्ध रखता है। अग्नि-प्रदाह उत्पन्न करने के लिए अनेक प्रकार की धातु-निर्मित शलाकाओं, हड्डियों तथा सरकंडा (शर) आदि का प्रयोग किया जाता था। तरल एवं औषधि द्रव्यों द्वारा अग्नि-प्रदाह उत्पन्न करने के लिए मधु, घृत, तेल, गुड़, पिप्पली एवं ऐसे ही कुछ अन्यान्य पदार्थों का उपयोग होता था। पिछले सैकड़ों वर्षों से भारत का वैद्य समाज तो इस उपयोगी शैली को सर्वथा भूल ही चुका है। हां, कहीं-कहीं ग्रामों में अनपढ़ और अशिक्षित शूद्र लोग इस चमत्कारी कला को अपरिष्कृत रूप में आज भी अपनाये हुए हैं।

सुश्रुत की दृष्टि में अनेक रोग ऐसे हैं जिनमें केवल रक्त पर ही औषधि की प्रतिक्रिया आवश्यक है।[3] रक्त का परिशोधन ही केवल उन रोगों की चिकित्सा है, अतएव रक्त को मर्यादित रखने के अनेक उपाय भी बताये गये हैं। अन्य संहिताकारों के समान बहुत से उपाय सुश्रुत ने लिखे हैं परन्तु 'जलूका' (जोंक) का प्रयोग सुश्रुत में ही मिलता है। जलूकाओं के प्रयोग पर सुश्रुत ने बहुत खोजपूर्ण अध्याय लिखा है। प्रतीत होता है कि सुश्रुत ने इस विषय पर जो अनुसन्धान किये थे वे उनके युग की विशेषताओं में एक

---

1. तद्दग्धानां रोगाणामपुनर्भवात्, भेषज शस्त्र क्षारैरसाध्यानां तत्साध्यत्वाच्च।"

—सु० सं० सूत्र० 12/3

2. 'तत्र द्विविधमग्निकर्माहुरेके—त्वग्दग्धं, मांस दग्धं च। इह तु-सिरास्नायुसन्ध्यस्थिष्वपि न प्रतिषिद्धोऽग्निः।"

—सु० सं० 12/7

3. व्याधयः वात पित्त कफ शोणित सन्निपात वैषम्यनिमित्ताः। —सु० सू० 1/25

खास चीज़ थे। जौंकों के भेद, उनके पालने का ढंग तथा उनके प्रयोग की शैली हमें सुश्रुत संहिता में ही मिलेगी। रक्तावसेचन करने के साधनों में जौंक के अतिरिक्त दो साधन और भी सुश्रुत ने लिखे हैं—पहला शृंग (सींग) और दूसरा अलावु (तुम्बी)।[1] और साधारण क्रम यह वताया है कि वात, पित्त और कफ के दोषों में क्रम से सींग, जौंक और तुम्वी का प्रयोग करना चाहिए। सींग गाय का होना चाहिए और तुम्वी कड़वी। कड़वी तुम्वी लम्वी होने के कारण ठीक प्रकार से कार्योपयोगी होती है, तथा श्लेष्म व्याधि के लिए विशेषत: लाभकारी है। जौंक तो जीवित प्राणी होने के कारण स्वयं रक्त चूस लेती है, परन्तु सींग और तुम्वी (तुम्वी ग्रीवा) से रक्त खींचने के लिए दो विधियां वताई गई हैं—मुख से आचूपण और प्रदीप। डल्हण ने व्याख्या द्वारा इस विपय को कुछ और स्पप्ट कर दिया है। सींग आठ अंगुल से लेकर अठारह अंगुल तक लम्वा हो सकता है। उसका मुख जो रोगी के शरीर से लगाया जायगा तीन अंगुल व्यास वाला हो और ऊपर का सिरा जिधर से आचूपण होगा मटर के वरावर छिद्र-युक्त होना चाहिए। वह अन्दर से पोला और साफ होना चाहिए। तुम्वी की गर्दन की ओर का लम्वा हिस्सा लिया जाता है। लम्वाई-चौड़ाई में यह भी प्राय: सींग के समान ही होना चाहिए। आचूपण के अतिरिक्त प्रदीप शैली यह है कि खास प्रकार का जलता हुआ छोटा-सा दीपक रोगयुक्त संस्थान को थोड़ा-थोड़ा छेद कर उस पर रख दीजिये। अव सींग या तुम्वी को उस संस्थान पर इस प्रकार जमाइये कि वह दीपक उसके अन्दर आ जाय। दीपक की गर्मी से वायु वाहर निकलने के साथ ही वह सींग या तुम्वी उसी जगह दृढ़तापूर्वक चिपट जायेगी और रक्त को वाहर निकाल देगी। जव चिकित्सक समझ ले कि आवश्यक रक्त निकल चुका है तो उस शृंग या अलावु को हटाकर अलग कर देना चाहिए, और उस स्थान पर सौ वार धोया हुआ घी लगाकर पट्टी से वांध देना चाहिए। वस, यही संक्षेप से सुश्रुत की रक्तावसेचन विधि है। आज भी हिमालय, राजस्थान और मध्यप्रान्त की कुछ अशिक्षित जातियों के लोग इस विधि को काम में लाते देखे जाते हैं।

यद्यपि प्रसिद्ध प्रवाद के अनुसार सुश्रुत ने शारीर स्थान में ही सफलता पायी है, हरेक आयुर्वेद का विद्यार्थी कहेगा—'शारीरे सुश्रुत: श्रेष्ठ:।' परन्तु यह तो सिर्फ कहावत ही है। सुश्रुत कहां कम श्रेष्ठ है, यह कह सकना ही कठिन है। अगद तन्त्र में सुश्रुत के कल्प स्थान से बढ़कर आज हमारे पास है ही क्या? सुश्रुत का निदान न होता तो माधव का निदान ग्रन्थ ही तैयार होना अशक्य हो जाता। सुश्रुत की चिकित्सा न होती तो चक्रदत्त की चिकित्सा ही कैसे तैयार होती? और दूसरा कोई है ही कहां, सुश्रुत के शल्य का जिसके साथ मुकावला किया जाय? कभी होंगे, जव हमारा साहित्य भरा-पूरा था। यह ठीक है, पर हम तो अर्वाचीन युग की वात कह रहे हैं। इसमें शक नहीं कि सुश्रुत संहिता का काल आयुर्वेदिक विज्ञान के विकास का स्वर्ण-युग था। समाज के छोटे ग्राम से लेकर राजदरवार तक वैद्य की प्रतिष्ठा थी। राजा के यहां एक वैद्य

---

1. तत्र वात पित्त कफ दुष्ट शोणितं यथासंख्यं शृंगजलौकोलावुभिखसेचयेत्।' —सु० सू० 13/4

रहना आवश्यक समझा जाता था, और युद्ध में भी राजा के शिविर के साथ वैद्य का शिविर भी आवश्यक था।[1] संक्षेप में यदि हम यह कहें तो कोई अत्युक्ति न होगी कि आत्रेय सिद्धान्त विवेचन में अप्रतिम थे, तो सुश्रुत द्रव्य-गुण-विवेचन में लाजवाब हैं। यही कारण है कि आत्रेय संहिता दर्शनशास्त्र प्रतीत होता है और सुश्रुत संहिता कोश-ग्रन्थ। पर दोनों अपने-अपने कौशल में अद्वितीय हैं।

शरीर धातुओं के साथ पार्थिव धातुओं का सामंजस्य सुश्रुत के समय तक पूर्ण रूप से जाना जा चुका था। सुश्रुत को यह अच्छी तरह ज्ञात था कि पार्थिव धातु शरीर में घुलकर आत्मसात् हो सकते हैं क्योंकि प्राकृतिक रूप से शरीर में उन पार्थिव धातुओं के सजातीय तत्त्व विद्यमान हैं। इसी प्रकार के द्रव्यों की गणना करते हुए सुश्रुत ने लिखा है कि सोना, चांदी, तांबा, लोहा, सीसा, रांगा और पीतल आदि धातु पित्त में घुल जाते हैं और शरीर में आत्मसात् हो जाते हैं। धातुओं का रोगों पर प्रयोग इसी आधार पर होने लगा था। प्रारंभ में यद्यपि वे कच्चे ही प्रयोग किये गये किन्तु क्रमशः उनकी भस्मों की ओर भी ध्यान गया होगा। धातुओं की सेन्द्रियता का उल्लेख यह स्पष्ट करता है। धातुओं में वनस्पतियों के रसों की भावना सेन्द्रियता (Organization) को प्रस्तुत करती है।[2] परन्तु मरे हुए द्रव्य जैसे सींग, दांत, बाल, हड्डी, लकड़ी एवं पत्थर तथा मिट्टी आदि पदार्थ शरीरस्थ पित्त में विलीन नहीं होते और न शरीर के साथ उनका तादात्म्य ही हो सकता है।[3] यही सिद्धान्त है जिसके आधार पर रोगावस्था में धातुओं के खाने की परिपाटी प्रचलित हुई। और यह सुश्रुत से बहुत पूर्व ही प्रचलित हो चुकी थी। धातु देर से पचते हैं, अतएव उनको काष्ठौषधियों की भांति सुपच बनाने के अनुसन्धान सुश्रुत के युग में चल रहे थे, जो सुश्रुत के पीछे तक क्रमशः और उन्नत होते गये। इसी प्रकार चुम्बक के प्रयोग भी उस समय तक साधारण ज्ञान की बात थी। वह उनके लिए नया नहीं था। शरीर में लोह आदि धातुओं के चुभने या फंस जाने पर शल्यशास्त्री चुम्बक के आकर्षण से उन्हें निकाल लिया करते थे।[1]

कल्पस्थान के विष-चिकित्सा प्रकरण में सुश्रुत ने एक 'दुन्दुभिस्वनीयाध्याय'

---

1. दोषागन्तुजमृत्युभ्यो रस मन्त्र विशारदौ।
   रक्षेतां नृपतिं नित्यं यत्तौ वैद्य पुरोहितौ॥
   स्कन्धावारे च महति राजगेहादनन्तरम्।
   भवेत्सन्निहितोनित्यं सर्वोपकरणान्वितः॥—सु० सू० अ० 34/7,12
2. 'सेन्द्रियं चेतनंद्रव्यं निरिन्द्रियमचेतनम्'
3. कनकं राजतं ताम्रं कृष्णायसत्रपुसीसकम्।
   (रैतिकंत्रपु सीसकम्)
   चिरस्थानाद्विलीयन्ते पित्ततेजः प्रतापनात्॥
   स्वभावशीता मृदवो ये चान्येपीदृशाः मताः।
   द्रवीभूताः शरीरेस्मिन्नेकत्वं यान्ति धातुभिः॥
   विषाणदन्त केशास्थि वेणुदारु पलानितु।
   शल्यानि विलीयन्ते शरीरे मृन्मयानि च॥—सु० सू० 26/20-22
4. सुश्रुत सं० सू० अ० 27/4।

लिखा है। विषैले प्राणियों के विष-निवारण के नाना प्रयोग लिखते हुए सबसे प्रथम जो प्रयोग लिखा है, वह वस्तुतः आश्चर्यकारी है। सुश्रुत ने लिखा है कि सिद्ध औषधि को दुन्दुभि पर लेप करके दुन्दुभि बजाई जाय तो दुन्दुभि का वह शब्द सुनने मात्र से ही विष का प्रभाव जाता रहेगा। इतना ही नहीं किन्तु उसी औषधि से लिप्त पताकायें और तोरण देखने और छूने से भी विष का प्रभाव नष्ट होता है। शब्द अथवा दर्शन द्वारा औषधि की विष पर निश्चित प्रतिक्रिया होती है, इस रहस्य के ढूंढ़ने में सुश्रुत अथवा धन्वन्तरि भगवान् ने निस्सन्देह आश्चर्यकारी उदाहरण संसार के सामने रखा है। परन्तु आज इन प्रयोगों की ओर सन्देह की दृष्टि से देखने वाले संसार के समक्ष, परीक्षणों द्वारा उन प्रयोगों की सत्यता सिद्ध करने के लिए, अबतक सुश्रुत अथवा धन्वन्तरि भगवान् के उत्तराधिकारी तनिक भी सचेष्ट न हो सके, यह उससे बढ़कर आश्चर्य है।

इतने विशाल और गम्भीर ग्रन्थ की एक-एक विशेषता पर प्रकाश डाल सकना हमारे समय और शक्ति की क्षमता से बाहर की ही बात है। पिछले हजारों वर्षों से जिन धन्वन्तरि भगवान् के उपदेशों को शताब्दियों में होनेवाले धुरन्धर विद्वान् भी पूर्णरूप से प्रकाश में न ला सके उनके उपदेशों को आज फिर से विशद करने के लिए किसी सुश्रुत की ही आवश्यकता है। हमारे अन्दर हार्दिक अभिलाषा होनी चाहिए तो निश्चय है कि हमारी आवश्यकता पूरी हो जायगी। हज़ारों वर्षों के सुदीर्घकाल से विभिन्न जातियों से होनेवाले संघर्षों की प्रचण्ड प्रतिहिंसामयी ज्वालाओं में जलकर भी यदि हमारे विज्ञान और साहित्य की आभा नष्ट नहीं हुई तो अब उसे नष्ट कर भी कौन सकता है? आयुर्वेद को मारने का प्रयास करने वाली सैकड़ों जातियां स्वयं ही मर गई परन्तु आयुर्वेद फिर भी अमर है। क्या यही एक घटना यह सिद्ध करने के लिए पर्याप्त नहीं है कि देवताओं के अमृत में अमरत्व प्रदान करने का गुण अवश्य था?

सुश्रुत-संहिता का प्रतिसंस्कार—महाभारत युद्ध की धधकती हुई अग्नि में लाखों नरदेह हव्य बन गये। साहित्य और विज्ञान के रखवाले ही न रहे तब उसकी सुरक्षा का ठिकाना ही क्या था? चीन, अफगानिस्तान, ईरान, अरब, यूनान तथा अमेरिका तक के लोग उस प्रचण्ड युद्धाग्नि में अपनी आहुति देने के लिए आये। कुरुक्षेत्र धर्मक्षेत्र के नाम से प्रसिद्ध तो था ही, शायद इसी कारण उसमें नरमेध-यज्ञ का समारोह संगठित होने की आवश्यकता हुई। दुर्योधन के पापों को भस्मसात् करके, उसके पापमय पक्ष से अनुप्राणित होने वाले योद्धा भी हुतात्मा हो गये। कुरुक्षेत्र सच्चे अर्थों में धर्मक्षेत्र ही रहा। परन्तु जो विदेशी जातियां महाभारत में आकर इस नर-संहार को देख गई, उन्होंने भारतीयों के कमजोर पहलू को अच्छी तरह समझ लिया। महाभारत के बाद भी बचे-खुचे राष्ट्रों को चैन न मिला। युधिष्ठिर ने अश्वमेध यज्ञ ठान दिया। अर्जुन, भीम, नकुल और सहदेव ने पृथ्वी को योद्धा-विहीन कर दिया। अब भगवती वसुन्धरा के वक्षस्थल पर श्मशान की शान्ति स्थापित करके पाण्डवों का शासन प्रारम्भ हुआ। परन्तु वह शासन जम न सका। अनुशासन को चलाने के लिए योद्धाओं की आवश्यकता है, परन्तु पृथ्वी तो पहले ही योद्धा-विहीन हो चुकी थी। अर्धसभ्य और असभ्य जातियां मौका पाकर प्रबल हो गई। समाज की शान्ति छिन्न-भिन्न हो गई। इस समस्त कथन की सत्यता इस एक घटना से

ही स्पष्ट हो जाती है कि भगवान श्रीकृष्ण के परिवार को हस्तिनापुर से द्वारिका ले जाते हुए अर्जुन को शासक होने के बावजूद भीलों ने लूट लिया, और रानियों को छीनकर ले गये। पांडव उनका कुछ न बिगाड़ सके। ऐसे आततायी समाज में विज्ञान और साहित्य का उत्थान कैसे पनप सकता था? देश के दानवों ने ही देश को लूटा हो यह बात नहीं, विदेश के लुटेरे भी घुस पड़े। यूनानी, ईरानी, अफगानी और तूरानी जातियां पश्चिम से हमले करने लगीं। कोई दौलत लूटता था और कोई स्त्रियां। किसी ने साहित्य लूटा तो किसी ने विज्ञान। कहीं साहित्यिक सताये जा रहे थे और कहीं वैज्ञानिक। यह इतिहास का मध्यकालीन युग था। उस समय प्राण बचाना ही कठिन हो गया। साहित्य और विज्ञान को कौन बचाता? इस प्रकार भारत का अमूल्य साहित्य और विज्ञान कुछ लुटेरों ने नष्ट-भ्रष्ट किया, और कुछ साहित्य और विज्ञान के मर्मज्ञों से शून्य घरों में दीमकों तथा ऐसे ही कीट-पतंगों का भोजन बन गया। 'सुश्रुत संहिता' को भी उन शताब्दियों का सामना करना पड़ा है। भगवान् धन्वन्तरि से पाये हुए अमरत्व के वरदान से उसकी सत्ता तो नष्ट न हो सकी किन्तु राष्ट्र के इस महान् संकट-जन्य सन्ताप से क्षीण होकर उसका कलेवर जीर्ण-शीर्ण हो गया।

ईसा से 600 वर्ष पूर्व बुद्ध भगवान् ने संसार को शान्ति का वरदान दिया। कलह और अत्याचार से जलती हुई आत्माओं को राहत मिली। राजनीति को धर्म की सहचरी बनाकर अहिंसा के शान्तिमय साम्राज्य में लोगों ने अपने घरों को फिर से सम्हालना आरम्भ किया। साहित्य के भी सुदिन आये। सदियों से बिखरे हुए पन्ने फिर बटोरे गये। कटे-छँटे अंश फिर से संकलित किये गये, और सर्वथा लुप्त हुए सन्दर्भ के सन्दर्भ लोगों ने अपनी स्मृति और अनुभव द्वारा फिर से लिखकर तैयार किये। यह था प्रतिसंस्कार, जिसके द्वारा जीर्ण-शीर्ण हुई प्राचीन साहित्य सामग्री का फिर से नवीकरण हुआ। जीर्ण-शीर्ण 'सुश्रुत संहिता' का प्रतिसंस्कार भी धुरन्धर बौद्ध विद्वान् आचार्य नागार्जुन ने किया।[1] इस प्रकार 'सुश्रुत संहिता' का जो स्वरूप आज हमारे सामने है वह मूल रूप नहीं, किन्तु प्रतिसंस्कृत रूप है।

जैसा ऊपर कहा जा चुका है कि मूल ग्रन्थ के छिन्न-भिन्न अंश को प्रतिसंस्कार द्वारा फिर से सुसम्बद्ध किया जाता है, उसी प्रकार मूल ग्रन्थ के अस्पष्ट अंश को प्रति-संस्कर्ता सुस्पष्ट कर देता है। उसे यह भी अधिकार है कि वह किसी अतिसंक्षिप्त संदर्भ को विस्तृत कर दे और अतिविस्तृत अंश को संक्षिप्त रूप दे दे।[2] तात्पर्य यह कि वह पुरानी चीज़ को नयी-सी करने के लिए यथासम्भव उपायों का प्रयोग कर सकता है। 'सुश्रुत संहिता' के प्रतिसंस्कार में भी वह हुआ है। प्रतीत होता है कि आचार्य नागार्जुन को प्रतिसंस्कार करने के लिए जो प्रति प्राप्त हुई होगी, उसके अतिरिक्त भी कुछ अन्य अस्त-व्यस्त प्रतियां जहां-तहां पीछे से मिली होंगी। इस कारण 'सुश्रुत संहिता' के पाठों में बड़ा मतभेद उत्पन्न हो गया है। डल्हण से पूर्व श्री गयदास और भास्कर आदि

1. 'प्रतिसंस्कर्ताऽपि नागार्जुन एव'—सुश्रुत व्याख्याकार डल्हण—सु० सू०, अ० 1/1-2
2. विस्तारयति लेशोक्तं संक्षिपत्यति विस्तरम्।
संस्कर्ता कुरुते तन्त्रं पुराणं च पुनर्नवम्॥—च० सं० सिद्धिस्थान, अ०–12,76

विद्वानों ने भी सुश्रुत पर व्याख्याएँ लिखी थीं । कुछ सुश्रुत के व्याख्याकारों के नाम डल्हण ने लिखे हैं जिनके नाम सुवीर, नन्दि, वराह, जेज्जट और गयदास हैं (सुश्रुत, कल्प० 8/5-7) । डल्हण के लेखों से प्रतीत होता है कि उनमें भी परस्पर सुश्रुत के पाठों के सम्बन्ध में बहुत कुछ मतभेद था। विद्वान् होने के कारण नागार्जुन का प्रतिसंस्कार तो सर्वमान्य हो गया, परन्तु अनेक अविद्वानों ने भी अपने-अपने मनमाने प्रतिसंस्कार करके सुश्रुत के पाठों में बहुत कुछ हेर-फेर कर डाले । हेर-फेर ही तक नहीं, कहीं-कहीं तो प्रसंग के प्रसंग अपनी ओर से जोड़ दिये और जुड़े हुए निकाल डाले। व्याख्याकारों ने इसकी बड़ी छानबीन करने के अनन्तर 'सुश्रुत संहिता' का पाठ निर्धारण किया। परन्तु फिर भी मतभेद तो रहा ही। उदाहरण के लिए कुछ अंश देखते चलिये--सूत्रस्थान अध्याय 5 श्लोक 9-10 की व्याख्या करते हुए डल्हण ने लिखा है--'कोई-कोई विद्वान् इस श्लोक को सुश्रुत का पाठ नहीं मानते।'[1] सूत्रस्थान अ० 6/19 में लिखा है--'बहुत-से लोग इस पाठ को दूसरी प्रकार का पाठ बतलाते हैं, परन्तु वह बहुत अप्रसिद्ध है--इसलिए उसे हम भी छोड़ देते हैं।'[2] सूत्रस्थान अध्याय 15/31 में लिखा है--'इस पाठ को निकाल देना चाहिए, क्योंकि व्याख्याकारों ने इसे अनार्ष सिद्ध कर दिया है।'[3] सूत्रस्थान अध्याय 24/20-21 में इस श्लोक को सब व्याख्याकारों ने निकाल दिया है अतएव अनार्ष है, फलतः इसे नहीं पढ़ना चाहिए।[4] सूत्रस्थान अध्याय 27/9 में लिखा है--'यह भोज संहिता का पाठ किन्हीं-किन्हीं लोगों ने यहाँ मिला दिया है, वह गलत पाठ है, क्योंकि वह किसी व्याख्या में नहीं मिलता।'[5] सू० अ० 27/23-26 तक 'इस श्लोक को कोई-कोई यहाँ ठीक पाठ नहीं मानते, परन्तु न्यायचन्द्रिका में पढ़ा जाने के कारण अवश्य ही उचित पाठ है। फलतः इसे पढ़ना ही चाहिए।'[6] चिकित्सास्थान में अध्याय 12/5 में एक प्रयोग 'धान्वन्तर घृत' नाम का दिया गया है। डल्हण का कहना है कि यह प्रयोग बिलकुल अनार्ष है, जेज्जटाचार्य तक ने इसे नहीं लिखा, अतएव इसे ग्रन्थ से निकाल देना चाहिए। इस प्रकार एक नहीं सैकड़ों स्थल इसी प्रकार के बताये जा सकते हैं, जिनके सम्बन्ध में यह कह सकना अशक्य है कि वे सुश्रुत के ही लेख हैं या नागार्जुन के अथवा उनके दूसरे किन्हीं पक्षपातियों के। आचार्य विजयरक्षित ने माधवनिदान की पञ्चलक्षण टीका में सुश्रुत के जो उद्धरण दिये हैं वे भी सर्वांश में उपलब्ध 'सुश्रुत संहिता' के पाठों से नहीं मिलते। सुश्रुत के अनुकूल निदान और चिकित्सा करने वाले वैद्यों की संख्या भी बहुत बड़ी रही है। वे सब 'सौश्रुत सम्प्रदाय' के लोग कहलाते रहे हैं।[7] सौश्रुत

---

1. 'अमुं श्लोकं केचिन्न पठन्ति ।'—डल्हण
2. अन्येतु 'तत्राव्यापन्नानामोषधीनामपांचोपयोग' इत्यत्र 'तत्र पुराणाभिरोषधिभिरनुपहतवीर्याभिः क्रियाः कार्या' इत्यादि पाठं पठन्ति; सचात्यर्थमप्रसिद्ध इति न लिखितः ।'—डल्हण
3. अयतुं पाठो न पठनीयः, कुतः ? निबन्धकारैरनार्षी कृतत्वात् ।'--डल्हण
4. अयं च श्लोकः सर्वेष्वपि निबन्धेष्वपरिगृहीत इत्यनार्ष, तस्मान्न पठनीय इति ।'—डल्हण
5. 'इति भोज संहितोक्तं केचित्पाठं पठन्ति, स च प्रमाद पाठः, निबन्धेष्वदर्शनात ।'—डल्हण
6. 'अमुं श्लोकं केचिदत्र न पठन्ति' न्याय चन्द्रिकायां तुपठितत्वादवश्यं पठनीय एव ।--डल्हण
7. 'केचित् सौश्रुतीयाः पठन्ति'—डल्हण, चि० स्था०, 22/67-75

सम्प्रदाय के अनेक व्यक्ति 'सुश्रुत संहिता' को अपनी सम्पत्ति समझकर उसमें स्वेच्छानुसार पाठ घटा-बढ़ा देने का भी अपने-आपको अधिकारी समझ बैठे। इसका परिणाम यह हुआ कि 'सुश्रुत संहिता' सुश्रुत की न रहकर अधिकांश उनके सम्प्रदायियों की हो गई। चेले नये साहित्य का निर्माण कर आयुर्वेद की श्रीवृद्धि और सुश्रुत का यशोविस्तार करते, यह तो न हुआ, प्रत्युत अपने गुरुओं के बनाये हुए आयुर्वेदिक प्रासाद की दीवारें ही उन्होंने फोड़ डालीं। धन्य हैं वे नागार्जुन, जेज्जट, गयदास और डल्हण जिन्होंने उन छिद्रों पर पैवन्द लगाकर भावी सन्तानों के लिए 'सुश्रुत संहिता' का स्वरूप पहचानने योग्य तो बना दिया।

नागार्जुन का संक्षिप्त परिचय हमें मिल ही गया। इतना और ध्यान रखना चाहिए कि नागार्जुन प्राचीन नाग वंश के थे। उनका नाम तो केवल अर्जुन ही समझना चाहिए। 'नाग' शब्द तो जातीय गौरव को बोध कराने के अभिप्राय से जोड़ा हुआ है। नागार्जुन जिस युग में (ई० प्रथम शताब्दी) हुए, नाग जाति का प्रताप-सूर्य उदयाचल के शिखर चुम्बन के लिए वेग से बढ़ रहा था। प्रायः आचार्य के जीवनकाल में ही कुषाणों की सत्ता को परास्त करके नाग लोगों ने अपने प्रताप से समस्त भारतवर्ष को प्रकाशित कर दिया था। यों तो बुद्ध भगवान् के जीवनकाल से भी पूर्व (ईसा से प्राय: 600 वर्ष से पूर्व) शिशुनाग, बिम्बसार, अजातशत्रु आदि नागवंशीय सम्राट् भारत के प्रमुख शासकों में थे ही, परन्तु बीच में कुषाणवंशीय कनिष्क आदि कुछेक राजाओं ने इनके प्रभाव को बढ़ने से रोके रखा। तो भी कुछ ही काल बाद अपनी वीरता, कला और विद्या-प्रेम के कारण नाग लोगों का ही प्रताप चारों ओर विस्तृत हो गया। चन्द्रगुप्त मौर्य के समय तक पाटलिपुत्र के राजसिंहासन पर शासन करने वाला अन्तिम सम्राट् महानन्द नागवंशी ही था। नागवंशीय लोग चूंकि आर्य जाति के थे इसलिए इन लोगों ने अनार्य कुषाणों को निकालकर फिर से आर्य सभ्यता का प्रचार किया। नाग लोगों ने गंगा के पावन तट पर एक-दो नहीं, दस-दस अश्वमेध यज्ञों का अनुष्ठान किया था। इससे ही उनके पराक्रम और दिग्विजय का परिचय मिल सकता है।[1] प्रसिद्ध नागर कला को नाग लोगों ने ही जन्म दिया था। नाग लोगों के रहन-सहन का ढंग इतना सुन्दर और आदर्श था कि उनकी आबादियों के लिए ही प्रयोग होने वाला 'नगरी' या 'नगर' शब्द आज किसी भी सुन्दर और सभ्य आबादी के लिए रूढ़ हो गया है। वे अपने आदिकालीन पूर्वज भगवान् शिव के ही उपासक थे। इसीलिए इतिहास में नागवंशियों के लिए 'भारशिव' नाम का भी प्रयोग होता है। यद्यपि गुप्तवंश के अभ्युदय (ई० तृतीय शताब्दी) से नागों का नाम कुछ-कुछ घट चला था, परन्तु फिर भी गौरव की दृष्टि से समाज में उनका इतना आदर था कि ईसा की चतुर्थ शताब्दी में होनेवाले महाविजेता सम्राट् चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने अपना विवाह 'कुबेरनागा' नामक एक नागकन्या से

---

1. पराक्रमाधिगत भागीरथ्यामल जल मूर्धाभिषिक्तानां, दशाश्वमेधावभृथस्नातानां भारशिवानां महाराजा—बालाघाट तथा चमक प्रशस्ति।

ही किया था।[1] आचार्य नागार्जुन भी उसी जाति में उत्पन्न हुए थे, यह 'नाग' शब्द स्पष्ट करता है। धार्मिक दृष्टि से वे बौद्ध धर्म के अनुयायी थे। अतएव उन्होंने बौद्ध धर्म पर जो दार्शनिक ग्रन्थ लिखे, वे तो लिखे ही; आयुर्वेद के सम्बन्ध में भी 'उपाय-हृदय' नामक एक स्वतन्त्र एवं मौलिक ग्रन्थ लिखा था। 'सुश्रुत संहिता' का प्रतिसंस्कार भी उनकी आयुर्वेदिक सेवाओं का दूसरा आदर्श कार्य है। इतना ही नहीं आयुर्वेद की इससे भी बढ़कर उन्होंने जो सेवा की है वह 'पारद' और 'खर्पर' का वैज्ञानिक परिचय है, जो केवल उन्होंने ही आयुर्वेदिक संसार को दिया था।[2]

आयुर्वेद के महान् आचार्य, रासायनिक, धातुशास्त्रवेत्ता और 'सुश्रुत संहिता' के प्रतिसंस्कर्त्ता के अतिरिक्त नागार्जुन अनेक यन्त्रों के आविष्कर्त्ता, लौहशास्त्र आदि खनिजविज्ञान, रस-रत्नाकर आदि रसायनशास्त्र, प्रजनन-शास्त्र एवं तन्त्र सम्बन्धी कितने ही महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों के रचयिता थे। तन्त्रशास्त्र के क्षेत्र में उन जैसा सिद्ध हुआ ही नहीं। न केवल भारत किन्तु चीन, तिब्बत आदि देशों के सामाजिक और सांस्कृतिक निर्माण में भी उनका हाथ रहा है। वे बौद्धों की माध्यमिक शाखा अथवा महायान सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक थे, जो आज तक नेपाल, चीन, कोरिया, जापान आदि में प्रचलित है। महायान सम्प्रदाय के अनुयायी अभी तक बोधिसत्व के रूप में उनकी वन्दना करते हैं। विश्व के एक बड़े सामाजिक क्षेत्र पर उनका अन्तःशासन था, जिसकी छाप आज भी लोगों के हृदय पर है।

ऐतिहासिकों का बहुमत यही है कि वे ईसा की प्रथम शताब्दी में हुए। वे सातवाहन सम्राट् के गुरु थे, इतना ही नहीं किन्तु हुएनसांग (टवान् चांङ्) ने देव, अश्वघोष और कुमारलब्ध के साथ विश्व को प्रकाशित करने वाले चार सूर्यों में उनकी गणना की है। चौथी, पांचवीं ईस्वी शती में चीनी भाषा में अनूदित नागार्जुन का जीवनचरित्र भी पुरातत्त्ववेत्ताओं को मिला है। तिब्बती और चीनी भाषाओं में नागार्जुन के एक सन्देश का कुछ अंश सुरक्षित है, जिससे ज्ञात होता है कि सातवाहन (शालिवाहन) नामक किसी सम्राट् से उनकी घनिष्ठता अवश्य थी। जैसा हम ऊपर लिख चुके हैं, ईसा की सतरहवीं शताब्दी में तिब्बत के लामा तारानाथ ने एक ग्रन्थ में नागार्जुन की अनेक गाथाओं का संकलन किया था। यद्यपि इन गाथाओं में धार्मिक भावनाओं की अतिरंजना है, फिर भी उनसे आचार्य के जीवन-सूत्र स्पष्ट मिलते हैं। कहते हैं महाबोधिसत्त्व अवलोकितेश्वर के आदेश से नागार्जुन नालन्दा के विहार में प्रविष्ट हुए थे। एक बार अकाल पड़ने पर किसी सुदूर द्वीप में एक सिद्ध से उन्होंने स्वर्ण बनाने की विद्या प्राप्त की थी, और उसी विद्या के द्वारा अकाल से सबकी रक्षा की थी। इन्हीं कथाओं में यह भी उल्लिखित है कि नागार्जुन ने अनेक चैत्य और विहार बनवाये थे, जिनमें पाषाण शिलाओं पर आयुर्वेद के अनेक योग एवं स्वस्थ वृत्त अंकित थे। लौहशास्त्र का आदि प्रवर्त्तक, पारद का नियामन और तिर्यक पातन तथा उनके यन्त्रों का आविष्कारक एवं

1. विस्तृत विवरण के लिए श्री काशीप्रसाद जायसवाल की लिखी हुई History of India तथा श्री वासुदेव उपाध्याय लिखित 'गुप्त साम्राज्य का इतिहास' देखिये।
2. 'नागार्जुनेन संदृष्टौ रसश्च रसका वुभौ'—र० र० स० वाग्भट।

शून्यवादी बौद्ध महायान का संस्थापक होने का श्रेय भारतीय इतिहास में इन्हें ही प्राप्त है। वाग्भट, चक्रपाणि एवं डल्हण जैसे महान् संग्रहकारों एवं भाष्यकारों ने अत्यन्त श्रद्धा से उनके योग उद्धृत किये हैं।

इनके अतिरिक्त जेज्जट और गयदास का विशेष परिचय दुर्भाग्य से हमें अभी तक नहीं मिल सका। हां, इतना तो ज्ञात है ही कि जेज्जट 'अष्टांग हृदय' के रचयिता यशस्वी आचार्य वाग्भट के शिष्य थे।[1] उन्होंने चरक एवं सुश्रुत संहिताओं पर टकसाली टीकाएं लिखकर आयुर्वेदिक संसार में स्मरणीय कार्य किया है। विद्वद्वर गयदास के सम्बन्ध में ऐतिहासिक दृष्टि से कुछ परिचय लिखने के लिए हमारे पास अभी तक कोई साधन है ही नहीं। हां, यत्र-तत्र ग्रन्थों में उनके लेखों के उद्धरण पढ़कर यह अवश्य मानना होगा कि गयदास ने भी आयुर्वेद की स्तुत्य सेवा की है।

'सुश्रुत संहिता' की व्याख्याओं में आज तो आचार्य डल्हण की व्याख्या ही हमारा एकमात्र अवलम्ब रह गई है। इसलिए उनका परिचय बिना लिखे यह अध्याय पूरा ही कैसे हो सकता है? आचार्य डल्हण ने अपना थोड़ा-सा किन्तु बहुत महत्त्वपूर्ण परिचय अपनी सुश्रुत याख्या में दिया है। प्रसिद्ध नगरी मथुरा के समीप 'अङ्कोला' नामक एक स्थान था। वहां बड़े विद्वान् और प्रतिष्ठित वैद्य रहा करते थे। यह 'अङ्कोला' विख्यात 'भादानक देश' के अन्तर्गत था। भादानक देश ही प्रतीत होता है कि पीछे से 'भदावर राज्य' के नाम से प्रसिद्ध हो गया था। यह राज्य इटावा और भिण्ड से लेकर यमुना के किनारे-किनारे आगरा होकर मथुरा की सरहद तक विस्तृत था। इस राज्य के निवासियों को आज भी अपने 'भदौरिया' होने का अभिमान है। इस प्रदेश में जाकर आप आज भी देखेंगे कि वहां के लोग अपने भदौरिया होने के सौभाग्य पर फूले नहीं समाते। तो हां, अङ्कोला में सूर्यवंशी ब्राह्मण रहते थे। उनके ही वंश में राजाओं के यहां प्रतिष्ठा पाने वाले तथा अश्विनीकुमारों के समान विख्यात अनेक वैद्य हुए, जिनमें एक सुविख्यात चिकित्सक 'गोविन्द' नाम के थे। गोविन्द के पुत्र वैद्यराज 'जयपाल' हुए। जयपाल के पुत्र 'भरतपाल' हुए। भरतपाल के सुप्रसिद्ध एवं विद्वान् पुत्र आचार्य डल्हण हुए थे। तत्कालीन भादानक देश के महाराज श्री सहपालदेव के यहां डल्हण का बड़ा मान था।[2] सहपालदेव का दूसरा प्रचलित नामक 'साहल' भी था। डल्हण ने 'सुश्रुत संहिता' की व्याख्या लिखने के लिए विस्तृत प्राचीन साहित्य का अनुशीलन किया था। इसीलिए डल्हण ने अपनी व्याख्या का नाम 'निबन्ध संग्रह' रखा। वास्तव में जितने विद्वानों के विचार डल्हण की व्याख्या में एकत्र मिलते हैं, उतने दूसरे व्याख्याकारों के लेख में नहीं

1. 'आयुर्वेद के यशस्वी आचार्य वाग्भट' का प्रकरण देखिये।
2. सुश्रुत संहिता, डल्हण व्याख्या की अवतरणिका
"[illegible] प्रभवः पदं सुयशसः [illegible] भिषग्-
मायासः सुकृती [illegible] निपुणः श्री [illegible]भिषक्।
श्री भादानकनाथ साहल [illegible]
[illegible] निबन्ध संग्रह [illegible] ॥"
—डल्हण, सु० उत्तर० अ० 26 का उपसंहार

मिल सकते। डल्हण ईसा की दसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध या ग्यारहवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में हुए थे, ऐसा विद्वानों का मत है।[1]

'सुश्रुत संहिता' पर चक्रपाणि ने भी 'भानुमती' नामक व्याख्या लिखी थी, वह आज भी उपलब्ध होती है। परन्तु डल्हण की तुलना में वह अधिक प्रचलित न हो सकी। सच तो यह है कि चरक की व्याख्या लिखकर थके हुए 'चरक चतुरानन' वैसी ही गम्भीर 'सुश्रुत संहिता' पर अपना पौरुष न दिखा सके।

'सुश्रुत संहिता' के प्रारम्भ में ही लिखा है कि काशिराज दिवोदास-धन्वन्तरि ने आश्रमस्थ होकर औपधेनव एवं सुश्रुत आदि शिष्यों को आयुर्वेद का उपदेश किया था।[2] जिस समय सुश्रुत आदि शिष्य जिज्ञासु होकर पहुंचे, उस समय राजर्षि अन्यान्य ऋषि-गणों से घिरे हुए बैठे थे। शायद उन लोगों के साथ कुछ ज्ञान-चर्चा कर रहे होंगे। परन्तु यह निश्चित है कि वे राज्य की चिन्ता से मुक्त होकर ही आश्रमस्थ हो सके होंगे। यदि वे राज्य की ओर से निश्चिन्त न होते तो सुश्रुत 'ऋषिगण परिवृतं' के स्थान पर 'अमात्य-गण परिवृतं' ही लिखते। और तब ज्ञान-चर्चा के स्थान पर कूटनीति की चर्चा का प्रसंग होता। परन्तु सुश्रुत ने जो परिस्थितियां लिखी हैं वे स्पष्ट बतला रही हैं कि दिवोदास के पास जब वे अध्ययन के लिए पहुंचे उस समय वे राजकाज से छुट्टी पा चुके थे, और वानप्रस्थाश्रम में विराजमान थे। भावप्रकाश ने तो लिखा है कि जब सुश्रुत आयुर्वेद के अध्ययन के लिए काशिराज के पास गये तो मुनियों के सौ लड़के और गये थे।[3] बिना राज्य-चिन्ता से छुट्टी पाये सौ-सौ लड़कों का महाविद्यालय सम्हाल लेना राजा के लिए कठिन ही नहीं, असम्भव है। फलतः उपदेश के समय दिवोदास वानप्रस्थाश्रम में पहुंच गये थे इसमें कोई सन्देह है ही नहीं। प्रश्न तो यह है कि वह आश्रम कहां था? कुछ लोगों का विचार है कि महाभारत के लेखानुसार हैहयवंशी किसी राजा ने दिवोदास पर आक्रमण करके उन्हें युद्ध में परास्त कर दिया था, और काशी का राज्य छीनकर अपने अधीन कर लिया था। उस समय महाराज दिवोदास प्रयाग में महर्षि भरद्वाज के आश्रम में रहने लगे थे। सुश्रुत का 'आश्रमस्थं' इसी आश्रम को प्रकट करता है। महर्षि भरद्वाज का यह आश्रम प्रयाग में गंगा-यमुना के संगम पर था। वाल्मीकीय रामायण में इस आश्रम का बड़ा सुन्दर वर्णन है। वनवास के लिए अयोध्या से प्रस्थान करने के बाद भगवान रामचन्द्र, सीता और लक्ष्मण के साथ सबसे पहले इसी आश्रम में महर्षि भरद्वाज के अतिथि हुए थे।[4] सचमुच धन्य है वह आश्रम जो संकट के समय आपद्ग्रस्त आत्माओं

---

1. 'तदेव खीस्तीय दशशतक शेषार्धे एकादशशतक पूर्वार्धेवा समभूड्डल्हणइतिनः प्रत्ययः।"
—प्रत्यक्षशारीर उपोद्धात
2. 'ऋषिगण परिवृत माश्रमस्थं काशिराजं दिवोदासं धन्वन्तरिम्..." —सु० सू० 1/3
3. पितुर्वचनमाकर्ण्य सुश्रुतः काशिकांगतः।
तेन सार्धं समध्येनुं मुनि सूनु शतं ययौ॥ —भावप्रकाश
4. 'धन्विनौ तौ सुखं गत्वा लम्बमाने दिवाकरे।
गंगा यमुनयोः सन्धौ प्रापतुर्निलयं मुनेः॥
सीता तृतीयः काकुत्स्थः परिश्रान्तः सुखोचितः।
भरद्वाजाश्रमे रम्ये तां रात्रिमवसत्सुखम्॥ —रामायण, अयोध्याकाण्ड, सर्ग 49/10-31

को इस प्रकार आश्रय देता रहा। परन्तु शत्रु से परास्त होकर और अपमान के इस कड़वे घूंट को चुपचाप पीकर, शान्त चित्त हो आश्रम में जा बैठना और अध्ययन-अध्यापन में लग जाना एक स्वाभिमानी राजा के लिए कितनी दुस्साध्य कल्पना है—विशेषतः काशी जैसे स्वाभिमानी राजवंश के लिए। इस विचार को ध्यान में रखकर यही सोचना अधिक युक्तिसंगत है कि काशिराज दिवोदास उस समय वानप्रस्थी होकर ही आश्रमस्थ हो गये थे। यह केवल संभावना मात्र ही नहीं है, किन्तु डल्हण ने स्वयं लिखा है कि वृद्धावस्था के कारण राज्य-भार से निश्चिन्त होकर राजर्षि वानप्रस्थी होकर ही आश्रम-वासी हुए थे।[1] इतना ही नहीं, सुश्रुत ने स्वयं भी लिखा है कि दिवोदास का शासन उनके जीवन में अप्रतिहत रहा। इसीलिए उनको 'अहत शासनः' इस प्रकार विशेषित किया है।[2] इसलिए यह तो कहा नहीं जा सकता कि दिवोदास काशी से बलात् निकाले गये थे। अतएव महाभारत के उपाख्यान में लिखित हैहयराज का काशी-विजय क्षणिक हो गया होगा, और पीछे से उसे अपनी उस उद्दण्डता का दण्ड भोगना पड़ा होगा। क्योंकि काशी के इतिहास में हैहय राजवंश के लोग काशी के अधीश्वर रूप में कभी विख्यात नहीं हुए। धन्वन्तरि की सन्तति एवं प्रसन्तति ही उसका शासन करती रही है।

काशी सदैव से ही विद्या के प्रकाश से संसार को प्रकाशित करती रही है। व्याकरण, दर्शन और साहित्य की भांति आयुर्वेद का अथाह ज्ञान भी उसकी अपनी विभूति रही है। काशी के ही राजवंश में भगवान् धन्वन्तरि, महाराज दिवोदास, राजर्षि वार्योविद, तत्त्ववेत्ता वामक एवं युवराज ब्रह्मदत्त जैसे धुरन्धर आयुर्वेद के विद्वानों ने अवतीर्ण होकर अपनी चरण-रज से उसकी धूलि को पवित्र किया है।[3] सुश्रुत ने उसी पावन प्रदेश में बैठकर आयुर्वेद के लिए जो अमर कार्य किया है, वह कभी भुलाया नहीं जा सकता। शल्यशास्त्र तथा सामान्य आयुर्वेदिक विषयों पर औपधेनव आदि कितने ही ग्रन्थ लिखे गये जिनकी स्वयं सुश्रुत ने ही प्रशंसा की है, परन्तु सुश्रुत के लेखों ने जो प्रतिष्ठा पायी वह किसी और को नहीं मिली। सुश्रुत के ग्रन्थों का प्रचार केवल भारत में ही नहीं किन्तु देश-देशान्तरों में भी हुआ। विदेशों में आज तक भी सुश्रुत के यश को विख्यात करने वाले प्रमाण मिलते हैं। और भारत में तो ऐसा कौन है जो सुश्रुत के नाम को नहीं जानता? आज असंदिग्ध प्रमाणों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि पूर्वीय समुद्र से लेकर पश्चिमीय समुद्र तक के सारे ही विस्तीर्ण भूमण्डल पर एक समय सुश्रुत का ही यश छाया हुआ था। पूर्वीय द्वीपसमूहों से लेकर कास्पियन और काले सागर तक के सारे ही प्रदेशों में सौश्रुत सम्प्रदाय वाले ही वैज्ञानिक जगत् का शासन करते थे। सुश्रुत के समय में अब से कहीं अधिक सम्प्रदाय थे, और ग्रन्थ साहित्य तो

---

1. 'आश्रमस्थं वानप्रस्थाश्रमस्थं,
   एतेन राज्यचिन्तापरित्यागादनाकुल चित्तत्वं राजर्षित्वं च मुनित्वम् ।' —डल्हण व्याख्या सू० 1/3
2. धन्वन्तरिः काशिपतिस्तपोधर्मभृतांवरः ।
   सुश्रुत प्रभृतीन्शिष्यान्... ॥ —सु० सू० 1/3
3. 'काशिराजं दिवोदासं...' सुश्रुत सू० 1/3 (ख) 'वार्योविदो राजर्षि,'—च० सू० 12 6
   (ग) 'तत्रजं काशिनिवासी...'—च० सू० 25/5

इतना था कि आजकल उसकी पूरी कल्पना कर सकना भी असंभव है।[1] उस तुलना में भी सुश्रुत का गौरव ही अतुल था, यह आज के मिलने वाले प्रमाणों से भली भांति स्पष्ट है। तात्पर्य यह कि भारत. के इतिहास में वैज्ञानिक दृष्टि से वह युग सबसे बढ़ा-चढ़ा था और सुश्रुत उस युग के निर्माताओं में थे। यह सब कौशल-काशी में बैठकर सुश्रुत ने दिवोदास की चरण-सेवा में प्राप्त किया था।

महाभारत के बाद से काशी की वह प्रतिष्ठा घट चली थी। बौद्ध-काल में तो वह प्राय: तिरोहित-सी हो गई थी। अब वाह्लीक से दौड़कर कांकायन काशी में पढ़ने नहीं आते थे, किन्तु जातक कथाओं से ज्ञात होता है कि काशी के युवराज ब्रह्मदत्त काशी से दौड़कर तक्षशिला में अध्ययन के लिए जाने लगे थे। अपनी पड़ोस की काशी छोड़कर महाभाग जीवक को मगध से तक्षशिला जाकर ही अध्ययन करना पड़ा था। अनेक राजनैतिक और धार्मिक क्रान्तियों के उलटफेर के कारण आयुर्वेद विज्ञान के लिए फैली हुई काशी की वह प्रतिष्ठा पीछे न रही। समय एक-सा नहीं रहता। तक्षशिला की तत्काल बढ़ी हुई वह यश-सम्पत्ति आज बिलकुल लुट गई है, जबकि काशी में उसकी प्राचीन प्रतिष्ठा का वैभव आज भी बहुत अंशों में विद्यमान है।

1. अन्यशास्त्रोपपन्नानां चार्थानामिहोपनीतानामर्थवशात्तद्विद्येभ्यएव व्याख्यान मनुश्रोतव्यं, कस्मात् ? नह्येकस्मिनशास्त्रेशक्य: सर्वशास्त्राणामवरोध:कर्त्तुम।—सुश्रुत० सू० 4/6

4

भगवान् आत्रेय पुनर्वसु

थे जनक जिनके अत्रि, अनसूया सती जननी हुई।
काम्पिल्य के जिस देव ने माया नहीं जग की छुई॥
अष्टांग आयुर्वेद का जो योग ही साधे रहे।
उन देवता के चरण पंकज मधुप-मन मेरा गहे॥
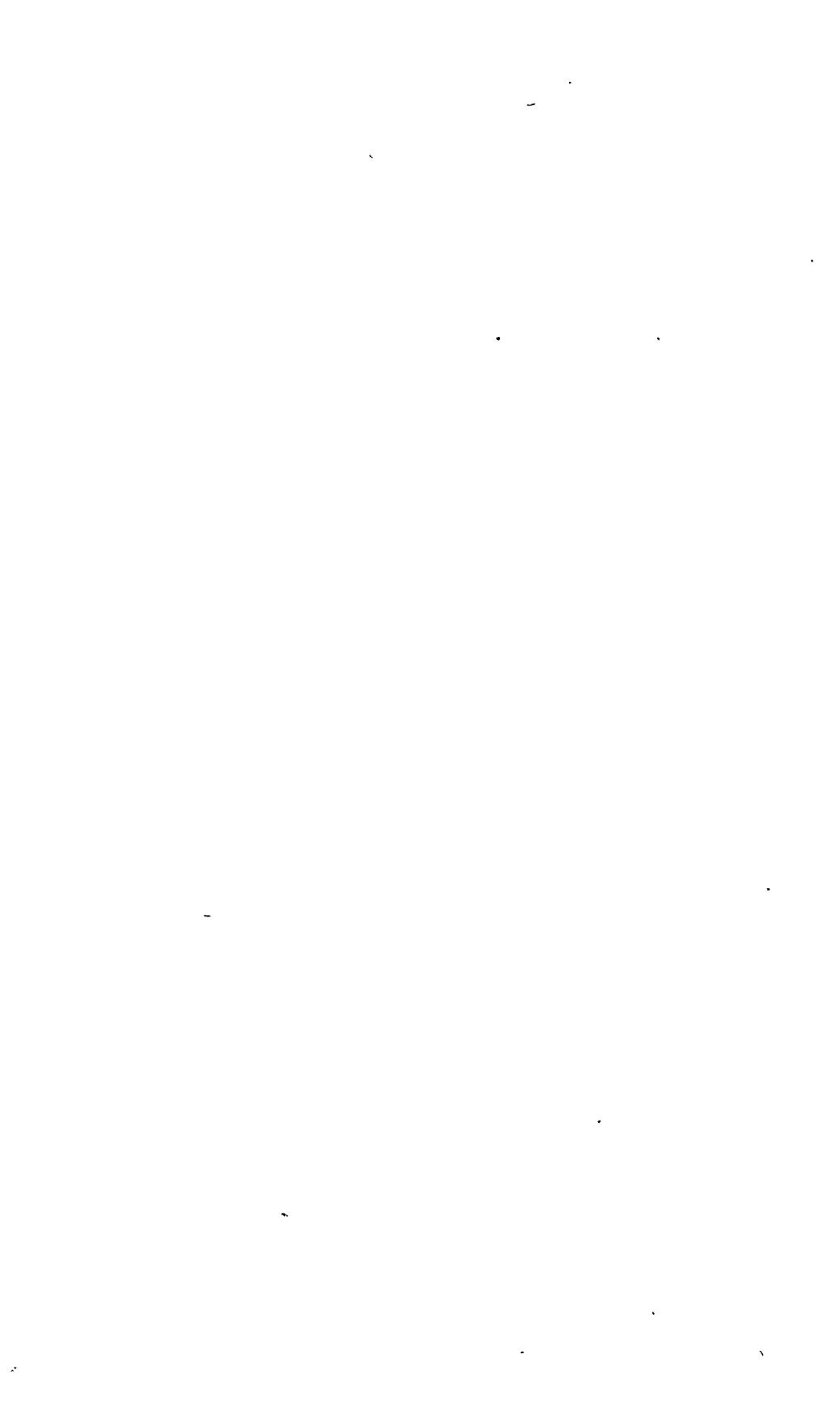
भगवान् आत्रेय पुनर्वसु

तब मनु का विधान नहीं चला था, केवल स्वर्ग का शासन ही चल रहा था, जब महर्षि अत्रि ने आर्यों के राष्ट्रीय जीवन में पदार्पण किया। आर्यों ने जहां तक संभव हुआ अपने इतिहास की परम्परा स्मरण रखी। आज हम इतिहास में जिन वंश-परम्पराओं को पढ़ते हैं, उनमें चार वंश-परम्पराएं ही प्रमुख हैं—(1) अत्रि, (2) काश्यप, (3) भृगु और (4) मनु। जहां से ऊपर परम्परा नहीं मिलता वहां उन्होंने सब का पूर्वज ब्रह्मदेव को लिख दिया। अत्रि के पिता भी ब्रह्मदेव ही थे। किन्तु अत्रि ने एक व्यवस्थित वंश-परम्परा स्थापित की। वह चन्द्र वंश कहा जाता है। प्राचीन संस्मरणों में यह सुविज्ञात है कि अत्रि की पत्नी देवी अनसूया थीं।[1] अनसूया दक्ष प्रजापति की बेटी और स्वर्ग की देवी थी। अनसूया तो उसका विरुद है। नाम चन्द्रभागा था। असूया निन्दा का नाम है। जिसके जीवन में कहीं निन्दा को स्थान नहीं है, वह अनसूया है।

अत्रि के साथ अनसूया का विवाह स्वर्ग में ही हुआ था। पति-पत्नी सांस्कृतिक निष्ठा लेकर स्वर्ग से नरक में उतर आये। किन्तु तब तक नरक आर्यावर्त्त बन चुका था। यहां अनेक प्रजापालक सम्राट् अपने राज्य स्थापित कर चुके थे। उन्हीं राजाओं में एक दुष्ट राजा वेन था। नितान्त दुर्दान्त, अत्याचारी और अहंकारी इस राजा ने अनेक सामान्य प्रजाजनों को ही नहीं, ऋषियों और देवताओं तक को अपने महलों में कूड़ा झाड़ने और पालकी उठाने के लिए विवश किया। उसके यहां विद्या, ज्ञान और तप का सम्मान नहीं था। इस अविनीत सम्राट् के समय ही अत्रि आर्यावर्त्त में आये।

ब्रह्मदेव के समीप अत्रि की शिक्षा-दीक्षा स्वर्ग में हुई थी। ऋग्वेद के प्रतिष्ठित ऋषि वामदेव उनके शास्ता भी थे और मित्र भी। वामदेव एक उच्च कोटि के ज्ञानी तथा योगी थे। ऋग्वेद का सम्पूर्ण चतुर्थ मण्डल महर्षि वामदेव का ही दर्शन है। अग्नि, इन्द्र, ऋभव (सम्पदा), द्यु, पृथ्वी, जल-दिन, रात, आत्मा, उषा, सूर्य, किसान, गौ, कृषि आदि विषयों पर उन्होंने गहरे वैज्ञानिक मंत्र लिखे। किन्तु उन्होंने अपने सम्पूर्ण सूक्त में एक बात बड़े महत्त्व की कही, वह यह कि सरल हृदय लेकर चलो। सरल हृदय वाले के लिए ही यह धरती भगवान ने बनाई है।[2]

अपने शास्ता की यही शिक्षा गांठ में बांधकर महर्षि अत्रि ने अपने जीवन को

---

1. वाल्मीकि रामायण तथा विष्णुपुराण 1/7 देखें।
2. 'अहं भूमिमददामार्याय...'—ऋग्वेद, मं० 4/3/15/2

योजना बनाई। इसका परिणाम यह हुआ कि वामदेव के शिष्यों से अत्रि के शिष्य कई गुना अधिक थे। ऋग्वेद के पाँचवें मण्डल में अत्रि और आत्रेयों (शिष्यों) के लिखे हुए सूक्त ही अत्यन्त महत्त्व के हैं। उनमें आयुर्वेद के गम्भीर ज्ञान का प्रकाश है। अत्रि ने स्वयं अश्वियों की स्तुति में जो कुछ कहा वह विशुद्ध आयुर्वेद ही कहा जाय तो अतिशयोक्ति नहीं। मातृभाषा, मातृसंस्कृति और मातृभूमि को देवता मानकर उपासना करने की प्रेरणा अत्रि के उपदेशों में ही हमें मिलती है।[1]

अत्रि वेन जैसे अत्याचारी ब्रह्मावर्त्त के सम्राट् के युग में यहां कार्यनिष्ठ हुए, परन्तु वे उसकी चापलूसी करने कभी न गये। वेन की दुर्नीति का फल यह हुआ कि उसके विरुद्ध प्रजा ने विद्रोह कर दिया। धर्मसभा ने उस अविनीत सम्राट् को राज्यच्युत कर दिया। वेन का पुत्र पृथु था। पृथु का पूरा नाम पृथुरश्मि था। पृथु ने अपने पिता के कटु परिणामों से शिक्षा ली। वह अत्यन्त विनीत और प्रजावत्सल हुआ। इतना लोकप्रिय कि पृथ्वी पर उसका यश छा गया। पृथु के सम्मान में ही इस वसुधा का नाम पृथ्वी रखा गया था।[2] सारा राष्ट्र उसके अधीन रहने को तैयार था।

वेन अहंकारी था। वह यज्ञ क्या करता? यज्ञ लोकसंग्रह का नाम है। उसके पुत्र पृथु ने अश्वमेध यज्ञ किया। अत्रि उस समय ब्रह्मावर्त्त में ही रहे होंगे। किन्तु अत्रि अपना आत्मसम्मान खोकर कभी धन-दौलत के लिए राजाओं की चाटुकारी में प्रवृत्त नहीं हुए। अत्रि अध्यात्म, विज्ञान और आयुर्वेद के धुरन्धर विद्वान् थे। तपस्वी जीवन बिताते हुए वे अपने मिशन में तल्लीन थे। सती अनसूया दक्ष प्रजापति जैसे सम्पन्न पिता की पुत्री और स्वर्गीय जीवन में पली थी। तो भी अत्रि के प्रति उसने अपनी पतिभक्ति का जो आदर्श रखा वह वन्दनीय है। अत्रि के जीवन में अनसूया भी प्रकाशित है।

ऋषि और महर्षि स्वर्ग के मिशनरी थे। निरीह, त्यागी और परहित-निष्ठा में उन्होंने इतिहास का मस्तक ऊँचा कर दिया। राष्ट्र ने उनका यश अमर करने के लिए सप्तर्षियों में उनका नाम रखा।[3] धर्म-मर्यादा स्थापित करने वाले दस महर्षियों में भी उनका नाम रखा।[4] वाग्मी, योगी, वेदज्ञ सभी विषयों में आप अत्रि का नाम पायेंगे। अत्रि के जीवन में अनसूया ही झलकती है। अत्रि दीपक हैं तो अनसूया उसकी वर्त्ती। अत्रि को हम चित्र मान लें तो अनसूया उसकी कला। और अत्रि राष्ट्र के उद्यान में शोभायमान प्रसून बनकर खिले तो अनसूया ही उसकी सुरभि है।

अत्रि ब्रह्मावर्त्त में जितने दिन भी रहे एक आदर्श बनकर समाज का अनुशासन

---

1. इडा सरस्वती महीतिस्त्रोदेवीर्मयोर्भुवः।—ऋ० मं० 5/1/21/8
2. वेनोविनष्टोऽविनयान्नहुपश्चैव पार्थिवः।
   सुदाः पैंजवनश्चैव सुमुखो निमिरेव च॥
   पृथुस्तु विनयाद्राज्यं प्राप्तवान्मनुरेव च।
   कुवेरश्चधनैश्वर्यं ब्राह्मण्यञ्चैव गाधिजः।—मनु० 8/41/42
3. विश्वामित्र, जमदग्नि, वसिष्ठ, कश्यप, गौतम, भरद्वाज तथा अत्रि—वृहदारण्यक उ० 2/4
4. मरीचिमत्र्यङ्गिरसौपुलस्त्यं पुलहं क्रतुम्।
   प्रचेतसं वसिष्ठं च भृगुं नारदमेव च॥ —मनु० 1/35

करते रहे। अब उनके तीन पुत्र थे—दुर्वासा, पुनर्वसु और चन्द्रदेव। पुत्र अभी छोटे ही थे, तभी अत्रि गृहस्थ जीवन से मुक्त होकर तपोवन चले गये। पुत्रों का पालन-पोषण और शिक्षा-दीक्षा की व्यवस्था माता अनसूया ने की। अत्रि की वाणी में एक ओज था और आकर्षण भी। वही गुण उनके पुत्र आत्रेय पुनर्वसु ने सम्भालकर विरासत में ले लिया। दुर्वासा क्रोधी था, और चन्द्रदेव विलासी। गुणों की विरासत सम्भालने वाला एक ही पुत्र हुआ—आत्रेय पुनर्वसु। अत्रि की वाग्मिता इतनी प्रसिद्ध हुई कि वाणी और अत्रि दो नहीं, एक ही तत्त्व माने जाने लगे। ऋषियों ने उपनिषदों में यह लिखा कि वाणी अत्रि के ही शरणागत हुई।[1]

अत्रि पारिवारिक जीवन से विरक्त होकर चले गये। वे ध्यान-योग में नहीं, कर्म-योग में तत्पर रहे। आर्यावर्त्त के एक कोने से दूसरे कोने तक उनके संस्मरण हमें प्राचीन साहित्य में मिलते हैं। अत्रि निर्भीक समाजसेवी थे। उनका एक उद्घोष इसी विशुद्ध हृदय का परिचय देता है—

'उरौ देवा अनिबाधे स्याम।'[2]

'हे देव! हृदय से हम निर्भीक हों।' यह दस अक्षरों का इतना छोटा मन्त्र उन्होंने ऋग्वेद में अनेक बार लिखा। यह उस कर्मवीर महापुरुष के कर्मठ जीवन का प्रतिबिंब ही है। वह सदैव निर्भीक होकर रहा। भेदभाव से भय होता है। जो सबका है, उसे भय कैसा?

माता की कर्तव्यपरायणता और पिता की निर्भीकता, दोनों आत्रेय पुनर्वसु में कई गुना विकसित हुए। यह कहना कठिन है कि पिता के साथ पुनर्वसु किस आयु तक रहे, तो भी यह तो स्पष्ट है कि पुनर्वसु जब अबोध बालक थे, पिता ने गृह त्याग दिया। अनसूया ही अपने तीनों बेटों का सम्वर्धन करती रही।

अब आर्यावर्त्त में मिथिला, काशी, काम्पिल्य, इन्द्रप्रस्थ, तक्षशिला, गोनर्द और उर जैसे अनेक नगर विद्वानों के केन्द्र बन गये। ऋषियों के शिष्य-प्रशिष्य अनेक केन्द्रों पर ज्ञान-विज्ञान के अधिष्ठान बन गये थे। कहीं गौतम, कहीं वशिष्ठ और कहीं कश्यप के शिष्य अपने-अपने विद्या प्रतिष्ठान चला रहे थे। जिज्ञासु लोग दूर-दूर से वहां आते और अपना समाधान प्राप्त करते थे। वेदों के मन्त्रों पर गम्भीर चर्चाएं उनके भाष्य निर्माण कर रही थीं। केवल विरक्त ब्राह्मण ही नहीं, राज्य-शासन चलाने वाले सम्राट् भी उनके प्रतिस्पर्धी थे। मिथिला के जनक, काम्पिल्य के प्रवाहण जैवलि, काशी के ब्रह्मदत्त और प्रतर्दन, केकय के अश्वपति जैसे दिग्गज भी परा और अपरा विद्याओं के रहस्य तक पहुँचे हुए थे। आत्रेय पुनर्वसु को इन्हीं सबके बीच में अपने व्यक्तित्व को समन्वित करना था। पुनर्वसु की प्रवृत्ति शैशवकाल से ही महान् थी।

एक समय जनता में रोगों की बाढ़ आ गई। ऋषि और महर्षि लोग भी निश्चेष्ट और निकम्मे हो गये। उनमें वह स्फूर्ति और सहिष्णुता न रही जो स्वस्थ पुरुष में होनी चाहिए। इसका फल यह हुआ कि लोगों के शरीर और मन अस्वस्थ रहने लगे।

---

1. वागेवात्रिः—बृ० उ० 2/2
2. ऋग्वेद, मं० 5/19/17

स्वाध्याय, संयम और सेवा के नियम भंग हो गये। चिन्तित होकर महर्षियों ने एक बड़ी सभा काम्पिल्य (फर्रुखाबाद) में बुलाई। पांचाल के सम्राट् ने भगवान् आत्रेय पुनर्वसु की अध्यक्षता में इस विशाल सम्मेलन का आयोजन किया। बाह्लीक (बेबीलोनिया) से लेकर पूर्वान्त (टोंकिंग खाड़ी) पर्यन्त के महाभिषक् एकत्रित हुए। विचारणीय प्रश्न यह था कि जनता एवं महर्षियों तक में फैले हुए इन भीषण रोगों का निदान क्या है और उसकी चिकित्सा क्या होनी चाहिए ? गम्भीर विचार के उपरान्त निश्चय हुआ कि बड़े-बड़े नगरों का सदोष जीवन, भोग और विलास की प्रचुरता एवं अप्राकृतिक भोजन ही उन रोगों का मूल निदान (कारण) है। निर्णय तक पहुँचने पर अनुभव हुआ कि दोष अपना ही है, इसीलिए उसकी चिकित्सा भी हमें ही ढूंढ़नी चाहिए। परन्तु महर्षियों के पास कोई सफल प्रतिकार तो था ही नहीं। आखिर जीवन-शक्ति के इस ह्रास से राष्ट्र और राष्ट्रीय नेताओं का उद्धार कैसे हो ?

उस युग तक हिमालय और विन्ध्याचल के मध्यवर्ती इस नरक के प्रदेश में विज्ञान का इतना विकास न हुआ था, इस कारण महर्षियों की एक अनुसन्धान समिति बनाई गई, जिसमें भृगु, अङ्गिरा, अत्रि, वशिष्ठ, कश्यप, अगस्त्य, पुलस्त्य, वामदेव, असित और गौतम आदि महर्षि थे। समिति के सारे सदस्य गंगा के उद्भव से पवित्र, मैदानी नगरों के दोषों से रहित, औषधियों से परिपूर्ण एवं भगवान् इन्द्र द्वारा अनुशासित अपनी पूर्व निवासभूमि हिमाल पर्वत पर गये। यही स्वर्गलोक था।[1] यहाँ विद्या और विज्ञान की कमी न थी। महर्षि लोग भगवान् इन्द्र के भवन में पहुँचे। इन्द्रदेव अपने सिंहासन पर विराजमान् थे। आते हुए महर्षियों के म्लान मुख, स्वरहीन ध्वनि और कान्तिरहित शरीर देखकर इन्द्रदेव को उनकी कठोर व्यथा समझने में देर न लगी। वे बोले—'महर्षियो ! मैं तुम्हारा स्वागत करता हूँ। बैठो, आयुर्वेद के जो अपूर्व प्रयोग मैं कहता हूँ उन्हें ग्रहण करो।' ऋषियों ने श्रद्धा से बैठकर भगवान् के बताए हुए प्रयोग ग्रहण किये। इन्द्र फिर बोले—'महर्षियो ! आयुर्वेद के इस अद्भुत विज्ञान के द्वारा अपने और जनता के रोगों का निवारण करो। आयुर्वेद का उद्देश्य है सुख और शांतिमय दीर्घ जीवन। महर्षियो ! जाओ, और वसुधा को सुख और शान्ति से भर दो।' महर्षि लोग हिमालय से कितनी ही अमूल्य औषधियाँ लेकर नीचे आये और आयुर्वेद का वह सुखद विज्ञान अपने शिष्यों द्वारा जनता में विस्तीर्ण कर दिया।

यहाँ हम भगवान् इन्द्र के शिष्य उन्हीं महर्षि अत्रि के पुत्र भगवान् पुनर्वसु का वृत्तान्त लिखने चले हैं। वे महर्षि अत्रि के पुत्र थे, इसलिए उन्हें आत्रेय पुनर्वसु कहते थे। प्राचीन काल में भारतीय शिष्टाचार के अनुसार आचार्य को आदर देने के लिए भगवान् शब्द से विशेषित करते थे, इसलिए शिष्यों ने 'आत्रेय संहिता' में उनको भगवान्

1. देखिये—महाभारत आदि पर्व, स्वर्गारोहण पर्व।
श्रीमद्भागवतपुराण तथा चरक संहिता (चि० रसायनपाद 4/3)
रघुवंश (कालिदास) 'त्रिविष्टपस्येव पतिं जयन्तः।
त्रिविष्टपस्य स्वर्गस्य पति मिन्द्रं जयन्त इव ॥—मल्लिनाथ (रघु० 6/78)

आत्रेय-पुनर्वसु लिखा है। धन्वन्तरि के बाद आयुर्वेद के महान् प्राणाचार्यों में आत्रेय पुनर्वसु का ही नाम आता है। मुख्य रूप से दो ही सम्प्रदाय आयुर्वेद में प्रतिष्ठित हैं—प्रथम धन्वन्तरि (धान्वन्तर) और दूसरा आत्रेय पुनर्वसु का। धान्वन्तर सम्प्रदाय अपनी शल्य-चिकित्सा (Surgery) के लिए विशेषता रखता है, तो आत्रेय का सम्प्रदाय काय-चिकित्सा (Physical Treatment) के लिए पूजित है।

यह बात उस युग की है जब स्वर्ग के हिमगिरि प्रदेश के नीचे नरक को आर्य अपना उपनिवेश बना चुके थे। यह हिमालय और विन्ध्याचल के मध्य की भूमि थी जो जलवायु और रहन-सहन के विचार से हिमालय की स्वर्गीय भूमि से सर्वथा भिन्न थी। यहाँ नन्दन, चैत्ररथ और वैभ्रम्भ जैसे उद्यान, अलकापुरी और श्रीनगर जैसे नगर तथा सुमेरु (थियान शान), मानसोत्तरगिरि तथा कैलास जैसे शिखरों के स्थान पर गंगा, यमुना, सरस्वती और सदानीरा (सरयू) की तराइयाँ और दलदलें थीं। उनके घने और सीलदार वनों में नये-नये रोगों का उन्हें सामना करना पड़ा। पुनर्वसु से पूर्व तक उनके पिता अत्रि जैसे महर्षि भी रोगों से आक्रान्त होने पर उनकी चिकित्सा के लिए स्वर्ग के वैज्ञानिकों और चिकित्सकों के पास दौड़-दौड़कर जाते थे। रोगी के लिए नन्दन (तिब्बत), अलकापुरी (गढ़वाल), चैत्ररथ (कुमाऊँ का उत्तरी प्रदेश) और दरद (खुतन) पहुँचना कितना दु:साध्य कार्य था ? फिर इस प्रदेश में चिकित्सा के लिए औषधियाँ भी हिमालय से ही लानी पड़ती थीं। आत्रेय पुनर्वसु ने जनता के इस महान् कष्ट को दूर करने में एक सफल प्रयास किया। उन्होंने पञ्चाल देश की राजधानी काम्पिल्य को अपना केन्द्र बनाया और वहीं गंगा के किनारे अपनी बहुत बड़ी वैज्ञानिक अनुसन्धानशाला स्थापित की थी। यही कारण है कि आत्रेय पुनर्वसु से पूर्व तक महर्षि अपने को स्वर्ग के वैज्ञानिक इन्द्र, अश्विनी और ब्रह्मदेव का शिष्य स्वीकार करते थे, परन्तु आत्रेय पुनर्वसु ने जिस वैज्ञानिक सम्प्रदाय की स्थापना की उसके द्वारा जनता को वह विज्ञान यहीं सुलभ हो गया। फिर रोगाक्रान्त होने पर भृगु, अङ्गिरा और अत्रि की भाँति चिकित्सा के लिए त्रिविष्टप (तिब्बत) के इन्द्र-भवन तक दौड़ने की आवश्यकता न रही।[1] कितना महान् था आत्रेय का यह कार्य ? इसीलिए चिकित्साशास्त्र में आत्रेय पुनर्वसु एक स्वतन्त्र वैज्ञानिक सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक और 'भगवान्' जैसे शब्द के अधिकारी बने।

यह ऐतिहासिक तथ्य है कि आत्रेय पुनर्वसु से पूर्व यहाँ के लोगों को आयुर्वेद के अध्ययन के लिए नन्दन वन (तिब्बत) में इन्द्र के पास, सुमेरु (थियान शान) पर ब्रह्मदेव के पास, अलकापुरी (गढ़वाल के उत्तरी भाग) अथवा कैलास पर अश्विनीकुमारों के पास, या भ्रमणशील होने के कारण वे जहाँ हों, वहीं जाना पड़ता था। इसीलिए पुनर्वसु से पूर्व तक जितने भी आयुर्वेद के आचार्य हुए वे इन्द्र, ब्रह्मा अथवा अश्विनों के शिष्य थे। पुनर्वसु के पिता अत्रि भी आयुर्वेद-ज्ञाता महर्षियों में इन्द्र के अन्यतम शिष्य थे। पिता के उच्च कोटि के आयुर्वेदज्ञ होने का संस्कार ही पुत्र में आयुर्वेद के प्रति प्रबल

1. '[illegible]'
—[illegible]

अभिरुचि के रूप में प्रकट हुआ। पुनर्वसु ने अपने पिता से आयुर्वेद की शिक्षा में यह संस्कार ही पाया था, नियमानुसार विद्यार्थी बनकर तो इन्द्र के एक अन्य शिष्य महर्षि वामदेव से उन्होंने आयुर्वेद का अध्ययन किया था।[1] वामदेव बड़े ऊँचे विद्वान् थे। कहते हैं कि उन्होंने अपने पिता तथा अन्य ऋषियों की ज्ञान-चर्चा द्वारा माता के गर्भ में ही वेदों का अधिकांश ज्ञान प्राप्त कर लिया था। ऋग्वेद प्रवक्ताओं में वामदेव एक प्रमुख ऋषि हुए। वेद के बहुत से सूक्त वामदेव के नाम से आज तक प्रसिद्ध चले आते हैं। ऋग्वेद का सम्पूर्ण चतुर्थ मण्डल वामदेव का लिखा हुआ ही है। इसमें अग्नि, इन्द्र तथा अश्वियों के प्रधान वर्णन के साथ विश्व के वैज्ञानिक तत्त्वों का उल्लेख है। तत्त्व दृष्टि ही नहीं, ऋचाओं पर संगीत की अभिव्यंजना में भी वामदेव का स्थान महर्षियों में प्रमुख है। यदि सामवेद के ऋषियों में से वामदेव को पृथक् कर लें तो सामवेद का एक मुख्य स्तम्भ ही टूट जाये। साम का वामदेव-गान[2] तो कर्मकाण्ड में आज तक प्रसिद्ध है और वेदों की परम्परा के साथ रहेगा। इस प्रकार महर्षि वामदेव न केवल आयुर्वेद किन्तु वेद के अध्यात्म एवं सामवेदीय संगीत के भी अनुपम ज्ञाता थे। निश्चय ही उन्होंने आयुर्वेद पर भी कोई ग्रन्थ लिखा होगा, परन्तु दुर्भाग्य है कि वह चिरकाल से आयुर्वेद में उपलब्ध नहीं होता। न हो, आत्रेय पुनर्वसु जैसा शिष्य संसार को देकर महर्षि वामदेव का यश पूर्ण चन्द्र की भांति सदैव उज्ज्वल रहेगा।

पुनर्वसु के पिता अत्रि निर्धन तपस्वी थे। वेदों की व्याख्याओं तथा आयुर्वेद की सेवा से इतना अवकाश ही कहां था जो धनोपार्जन कर वैभव का आनन्द लूटते। प्राचीन भारत में चिकित्सा के बदले में धन लेना अत्यन्त निन्दनीय समझा जाता था।[3] इस कारण प्रायः अधिकांश पारिवारिक जीवन में अत्रि को आर्थिक दरिद्रता ही भोगनी पड़ी। वस्तुतः भारत के सच्चे ब्राह्मण का स्वरूप अत्रि में देखा जा सकता है। उस समय सम्राट् वेन के पुत्र राजर्षि पृथु ब्रह्मावर्त्त में राज्य करते थे। पृथु ने अश्वमेध यज्ञ किया। ब्राह्मणों और याचकों को अभीष्ट धन देकर सम्राट् ने अपनी लोकप्रियता का विस्तार किया। अत्रि भी धन की इच्छा से सम्राट् के राजभवन जाने को तैयार हुए। परन्तु अन्तःकरण ने कहा—'ब्राह्मण के लिए याचना से बढ़कर सन्तोष ही ऊंचा है।" याचकता पर सन्तोष की विजय हुई। अपनी पत्नी को सम्बोधन कर महर्षि अत्रि बोले—'देवि ! मैं भिक्षा से सन्तोष को ऊंचा धर्म समझता हूं, अतएव सम्राट् पृथु के द्वार पर धन-याचनार्थ जाने की अपेक्षा वन जाकर तपस्या करना अधिक उचित प्रतीत होता है। चलो, हम-तुम पुत्रों को साथ लेकर वन में रहें और सन्तोषपूर्वक तपस्या के जीवन में शान्ति का सुख-लाभ करें। मेरी इच्छा है कि धन-दौलत पर अवलम्बित इस नागरिक गृहवास को त्यागकर पुत्रों-सहित तुम भी मेरे साथ वनवास को स्वीकार करो।"

यह सुनकर महर्षि की धर्मपरायण पत्नी एक क्षण के लिए गम्भीर विचार में निमग्न हो बोली, "देव ! आपका प्रथम कर्तव्य यह है कि आप सम्राट् पृथु के पास

1. महाभारत, वनपर्व, अ० 192
2. सामवेद, उत्तरार्चिक प्र० 1/12
3. नार्थार्थं नापि कामार्थमथ भूतदयाम्प्रति'—चरक सं० चि० 1/4/57

जाकर बहुत-सा धन लाएं। वे राजर्षि, निश्चय ही ऐसे अवसर पर आपको अभीष्ट धन देंगे। पुत्रों आदि, जिन-जिनके भरण-पोषण का भार आपके ऊपर है, उन्हें वह धन बांटकर आपका मन जहां चाहे वहां जाइये। आपका यही कर्तव्य है। अपने विचारों को परिवार पर आग्रहपूर्वक लादना गृहपति के लिए उचित नहीं। धर्मात्माओं ने गृहस्थ का यही धर्म कहा है।"

अत्रि ने पत्नी को उत्तर दिया, "देवि ! महात्मा गौतम से मुझे ज्ञात हुआ है कि यद्यपि सम्राट् पृथु बड़े धर्म-परायण और सत्यनिष्ठ हैं, परन्तु उनकी सभा में कुछ ऐसे ब्राह्मण भी हैं जो मुझसे द्वेष करते हैं। मेरी धर्मयुक्त बातों को वे द्वेषी निरर्थक बतावेंगे और अनर्गल प्रलाप करेंगे ! इस कारण वहां जाने को मेरा जी नहीं चाहता। परन्तु देवि, तुम्हारे कहने से अब मैं वहां अवश्य जाऊंगा। और मुझे यह विश्वास है कि राजा पृथु मुझसे प्रसन्न हो अभीष्ट धन और गौएं देकर मेरे सत्कार में कमी न रखेंगे।"

इस प्रकार पत्नी से परामर्श कर महर्षि अत्रि पृथु की राजसभा में जा पहुंचे। वहां के उचित शिष्टाचार के उपरान्त वे राजा की इस प्रकार स्तुति करने लगे—"हे राजर्षि ! आप धन्य हैं। इस पृथ्वी पर समर्थ और प्रभावशाली प्रथम राजा आप ही हैं। मुनि लोग भी आपकी स्तुति करते हैं। आपसे बढ़कर धर्मज्ञ दूसरा और कोई नहीं है।" इस प्रकार अत्रि के स्तुतियुक्त वचनों को सुनकर महर्षि गौतम ने क्रुद्ध होकर कहा—"हे अत्रि ! तुम्हारी बुद्धि ठीक नहीं है। अब ऐसे वचन कभी मत कहना। महेन्द्र और प्रजापति हमारे प्रथम और पालन करने वाले राजा हैं—पृथु नहीं। फिर ऐसी मिथ्या चाटुकारी तुम क्यों कर रहे हो ?" गौतम के इन आक्षेपयुक्त वचनों को सुनकर अत्रि ने उत्तर दिया, "हे गौतम ! महाराज पृथु इन्द्र और प्रजापति सब कुछ हैं। तुम ऐसे बुद्धिहीन हो कि बिना समझे-बूझे ही आक्षेप कर रहे हो।" गौतम यह सुनकर आवेश में भर गये और अत्रि को बुरा-भला कहने लगे। दोनों महात्माओं को इस प्रकार झगड़ते देख दूसरे महर्षियों को सभाभवन में उनका झगड़ना अच्छा न लगा। तब धर्मज्ञ महर्षि कश्यप ने उनके बीच में जाकर विवाद का कारण पूछा और ठीक-ठीक निर्णय का मार्ग बताया। गौतम बोले—"हे उपस्थित महर्षियो ! अत्रि राजा पृथु को विधाता और प्रथम राजा कहते हैं, मुझे इसमें आपत्ति है, इसलिए मैं अत्रि की बात स्वीकार नहीं कर सकता।" गौतम के इस प्रकार अभिनिवेशपूर्ण वचन सुनकर महर्षि लोग उनके झगड़े का निर्णय कराने के लिए महात्मा सनत्कुमार के पास गये। सनत्कुमार ने कहा—"वास्तव में धर्म का रक्षक होने से राजा विधाता ही है। राजा धर्म और गुण की राह दिखाता है, इसलिए वह सबसे प्रथम और पूजनीय है। वास्तव में अत्रि मुनि ने जो कुछ कहा वह सत्य है।" अब सारे ही महर्षि गौतम के विरुद्ध, और अत्रि के अनुकूल थे।

महाराज पृथु ने इस व्यवस्था को सुन, अत्यन्त सन्तुष्ट हो स्तुति करने वाले अत्रि से कहा—"हे ऋषिवर ! आपने मुझे जिस उच्चभाव में देखा है, वह आदरणीय है। आपके सत्कारार्थ मैं आपको बहुत-सा धन, वस्त्र, आभूषण, दासियां, दस करोड़ स्वर्ण मुद्राएं तथा एक ढेरी चांदी दक्षिणा में देता हूं। हे ब्रह्मर्षि ! आप सर्वज्ञान-सम्पन्न हैं। मैं आपका आदर करता हूं।" इस प्रकार बहु विशाल सम्पत्ति और सत्कार पाकर

महर्षि अत्रि अत्यन्त प्रसन्नतापूर्वक अपने घर आये। घर आकर वह सम्पत्ति उन्होंने पत्नी एवं पुत्रों को वितरण कर दी, और उत्तरदायित्व के भार से मुक्त हो, तपस्या करने के लिए एकान्त वन को चले गये।[1]

महर्षि अत्रि की पत्नी का नाम चन्द्रभागा था और 'अनसूया' विशेषण। अत्रि के वन-गमन के पश्चात पुनर्वसु की माता चन्द्रभागा ही परिवार की संचालिका थी। पिता के वन चले जाने के कारण पुनर्वसु को अवसर ही कहां था जो वे पिता से विद्या प्राप्त कर सकते? यही कारण था कि माता चन्द्रभागा ने उन्हें अत्रि के मित्र महर्षि वामदेव की सेवा में शिक्षा ग्रहण करने से लिए नियुक्त किया। पुनर्वसु अपनी माता को बहुत प्यार करते थे। प्राचीन भारतीय परिपाटी में पुत्र को पिता का नाम गोत्र-परिचय के लिए अपने नाम के साथ जोड़ना पड़ता था इसलिएं पुनर्वसु अपना पूरा नाम आत्रेय पुनर्वसु लिखते थे। परन्तु मातृ-प्रेम के कारण वे अपने आपको माता के नाम से परिचित कराने में अधिक सुख अनुभव करते थे, और पुनर्वसु लिखने के स्थान पर 'चान्द्रभागी' (चन्द्रभागा का पुत्र) नाम भी लिखते थे। पीछे से उनके सहयोगी और शिष्य तक उन्हें चान्द्रभागी ही लिखने लगे थे।[2] यद्यपि माता का नाम पुत्र के साथ जोड़ने की कोई प्राचीन परिपाटी अब न थी, क्योंकि माता का गोत्र अब नहीं होता था, फिर भी यह आत्रेय पुनर्वसु का मातृ-प्रेम ही था कि वे अपने साथ माता का नाम भी सर्वदा के लिए अमर कर गये।

आर्य जाति के लोगों का स्वाभाविक रंग पीला (कनक-कान्ति-कमनीय) होता था। केश भी वैसे ही।[3] अपनी पितृभूमि स्वर्ग में रहने तक आर्य अपने वंशज में काले रंग की कल्पना भी न कर सकते थे। स्वर्ग से फैलकर नरक उपनिवेश में आबाद हो जाने पर जलवायु के प्रभाव ने आर्यो की वह विशेषता कायम न रहने दी। कोई-कोई सन्तानें श्याम वर्ण की भी होने लगीं। परन्तु यह श्यामता उन्हें प्रिय न थी। आर्य वंश में श्याम वर्ण को आक्षेप या व्यंग्य-विशेषण की भांति व्यवहार में लाते थे। सौभाग्य से कुछ श्यामल सन्तानें इतने ऊंचे व्यक्तित्व की हो गई कि वह आक्षेप भी 'हमें प्रिय लगने लगा। आत्रय पुनर्वसु के पिता भी ऐसे ही सौभाग्यशाली व्यक्तियों में से थे। वे श्यामल शरीर के थे, इस कारण समान नाम वाले अन्य व्यक्तियों से अन्तर प्रतीत कराने के लिए लोग उन्हें कृष्णात्रि कहते थे। और उनके पुत्र पुनर्वसु को कृष्णात्रेय।[4] अत्रि और आत्रेय नाम के कई विद्वान् एक ही वंश में हुए थे,[5] परन्तु आज हम जिनकी कथा कह रहे हैं,

---

1. महाभारत, वनपर्व, अ० 145
2. देखो, चरक संहिता, सूत्र० 13/100
   "यथा प्रश्न भगवता व्याहृतं चान्द्रभागिना"।
   तथा भेड संहिता, पृ० 39, 'सुश्रोतानाम मेधावी चान्द्रभागमुवाच ह।"
3. त्रिपिटकाचार्य श्री राहुल सांकृत्यायन के 'सिंह सेनापति' और 'वोलगा से गंगा' नामक निबन्ध देखिये।
4. 'कृष्णात्रेयं जितात्मानं ग्निवेशोथ पृष्ठवान्'—चरक०, चि० 30/2
   'कृष्णात्रेयं पुरस्कृत्य कथाश्चक्रुर्महर्षयः"—भेड सं०
5. सामवेद, आग्नेयकाण्ड, 1/9

उनका परिचय चान्द्रभागी, कृष्णात्रेय और भगवान आत्रेय पुनर्वसु—इन तीन नामों से होता है। वे श्यामल ही सही, फिर भी चन्द्रकला में श्यामता की भांति चन्द्रभागा की गोद में उनकी कमनीयता किसी से कम नहीं है। वन जाते हुए अपने पति के सहयोग से वंचित होकर चन्द्रभागा पुत्रों का ऐश्वर्य भोगने के लिए नहीं, किन्तु अपने पुनर्वसु को विश्व की एक विभूति बनाने के लिए घर पर रही थी, वह उसमें सफल हो गई। राष्ट्र को जिस महान विभूति का दान उसने दिया, वह ऐसा मातृ-ऋण है जिससे हम उऋण नहीं हो सकते।

महर्षि अत्रि स्वयं एक उच्च कोटि के वैज्ञानिक एवं शल्यशास्त्री (Surgeon) थे। ग्रन्थों में व्याख्याकारों द्वारा दिये गये अत्रि के उद्धरण मिलते हैं।[1] वेदवक्ता ऋषियों में सामवेद युग में जिन सात महर्षियों को सर्वोच्च प्रतिष्ठा प्राप्त हुई थी उनमें एक अत्रि भी थे।[2] ऋग्वेद का पांचवां मण्डल अत्रि और उनके शिष्यों का सम्पादित ही है। इन महर्षियों की राष्ट्रीय सेवायें इतनी उच्च थीं कि इनकी स्मृति को अमर कर देने के लिए आकाश में सात नक्षत्रों के एक समुदाय को विद्वानों ने इन्हीं के नाम का अमर स्मारक बना दिया। भारत का आबालवृद्ध सात नक्षत्रों के इस समुदाय को देखकर आज तक जनता के सेवक इन सात महर्षियों को स्मरण कर लेता है, जिनमें अमरकीर्ति अत्रि भी हैं। अत्रि की राज्य-व्यवस्थायें मानव-धर्मशास्त्र में उद्धृत की गई।[3] सप्तर्षियों में बैठकर अत्रि ने वेदों में आत्मसंयम और सुख के जो उपदेश दिये हैं वे देखने ही लायक हैं।[4] इतना सब होने पर भी महर्षि अत्रि के जीवन में आर्थिक संकट आते ही रहे। सामवेद में उन्हीं के द्वारा प्रस्तुत इन दो उद्गीथों में उनकी इस विचारधारा का स्पष्ट आभास है—(1) हे सब अन्धकारों को दूर करने वाले इन्द्र! मेरा जो कुछ इस संसार में तुमसे प्राप्तव्य है और मुझे नहीं मिल सका है, वह धन, हे पूजनीय! हे विद्वद्वन्द्य! दिल खोल-कर मुझे दोनों हाथों से दो।[5] (2) हे इन्द्र! सामर्थ्यवान तेरे धन की राशि बड़ी भारी है। हे शतक्रतो! हे संसार के द्रष्टा! हे सर्वोच्च दाता! हमें भी वह उत्तम धन प्रदान करो।[6] जिस संकट में संसार रोया है, अत्रि ने उसे ही साम के मधुर गानों में गाया। यही उनकी महत्ता है।

अत्रि का यह आदर्श परिवार स्वर्ग से उतरकर पञ्चाल की राजधानी काम्पिल्य में रहता था।[7] प्रावाहण जैवलि वहां के तत्त्ववेत्ता एवं यशस्वी सम्राट् थे। काम्पिल्य का दरबार केवल राजनीतिज्ञों की सभा न थी, वह तत्त्वज्ञानियों और देवपुत्रों की समिति

---

1. रसरत्न समुच्चय, अध्या० 3/135 टीका (कलकत्ता संस्करण)
2. भरद्वाजः काश्यपो गोतमोऽत्रिर्विश्वामित्रो जमदग्निर्वसिष्ठ...''

   —सामवेद, ... 5.5

3. मनु० 3/16।
4. सामवेद का उपर्युक्त सूक्त।
5. सामवेद, ऐन्द्रकाण्ड 4/6/4।
6. सामवेद, ऐन्द्रकाण्ड 4/8/7।
7. चरक सं०, विमान० 3/3।

भी थी। पाञ्चालों की यह समिति अपनी इस विशेषता के लिए प्रसिद्ध थी।[1] वे राजनीति में ही नहीं, ब्रह्मविद्या में मिथिला के जनक और याज्ञवल्क्य से टक्कर लिया करते थे। पञ्चाल की शस्य श्यामला भूमि होने के नाते काम्पिल्य में जहां अपार भौतिक ऐश्वर्य था, वहां तत्त्वज्ञानियों और ब्रह्मविद्या का भी पारावार न था। पाणिनि के जनपद युग (800 ई० पू०) में भी काम्पिल्य एक प्रतिष्ठित नगरी थी (अष्टा० 4-2-80 संकाशादि-गण)। मारीच-कश्यप, विश्वामित्र, वसिष्ठ, वामदेव और अत्रि जैसे ब्रह्मवक्ता उसके स्वनामधन्य सदस्य थे।[2] ऋचाओं पर साम का निर्माण इन और इन्हीं जैसे अन्य महाभाग्य महर्षियों ने यहीं एकत्रित होकर किया था, क्योंकि उनके प्रमुख प्रावाहण जैवलि ही थे। उद्गीथियों में बड़े-बड़े महर्षि भी प्रावाहण जैवलि की तुलना में पीछे रह गये और सम्राट को ही साम गान में प्रथम स्थान मिला।[3] फिर भी जैवलि की दृष्टि में अत्रि की प्रतिष्ठा ऊंची थी। अत्रि ने सदैव ही सम्राट् की विद्वत्परिषद् में सम्मानपूर्वक यश उपार्जन किया। मान-धनी भौतिक धन की परवाह नहीं करते। यही कारण था कि अत्रि ने कभी जैवलि के सामने हाथ नहीं फैलाया और वृद्धावस्था में पत्नी चन्द्रभाग को पुत्रों का दायित्व सौंपकर आत्मसम्मान का संबल लिये तपोवन चले गये।

अब महर्षि अत्रि ने अपना आश्रम चित्रकूट पर बनाया। जीवन के अन्तिम चरण में वे आत्मा और परमात्मा के चिन्तन में तल्लीन हो गये। इस लोक की चिन्ताओं से मुक्त होकर वे परलोकगामी पथ को प्रशस्त बनाने में व्यस्त थे। इधर माता चन्द्रभागा ने पुत्र पुनर्वसु को अत्रि के परम मित्र महर्षि वामदेव की सेवा में शिक्षा प्राप्त करने भेज दिया। पुनर्वसु ने गुरुसेवा में तत्पर रहकर आयुर्वेद का उच्च कोटि का ज्ञान अर्जन किया। दीक्षान्त में गुरु का आशीर्वाद लेकर वे घर आये। अपनी उच्च योग्यता के कारण काम्पिल्य के महान् विश्वविद्यालय में आयुर्वेद के आचार्य नियुक्त हुए। अपनी विद्वत्ता के कारण आत्रेय पुनर्वसु का यश वाह्लीक से लेकर कामरूप (ब्रह्मदेश) तक विस्तृत हो गया। अग्निवेश, भेड, जतूकर्ण, पराशर, हारीत, क्षीरपाणि जैसे शिष्य उनके चरण-सेवक थे और काङ्कायन, वार्योविद, मौद्गल्य, हिरण्याक्ष, भिक्षु आत्रेय और भरद्वाज जैसे विद्वान् अपनी जिज्ञास-पूर्ति के लिए उनकी सेवा में उपस्थित रहते थे।[4] चन्द्रभागा का हृदय अपने पुत्र की इस सफलता पर कृतकृत्य हो गया।

आत्रेय ने जीवन में आचार्य होकर भी अपने आपको विद्यार्थी से अधिक और कुछ नहीं माना। उन्होंने महर्षि वामदेव से विद्या पढ़ने के उपरान्त महर्षि भरद्वाज के पास

---

1. बृहदारण्यक उपनिषद् 6/2 तथा शतपथ ब्राह्मण।
2. सामवेद, उत्तरार्चिक, अ० 1।
3. त्रयोह उद्गीथे कुशलाः बभूवुः शिलकः शालावत्यश्चैकितायनो दाल्भ्य प्रावाहणो जैवलिरिति।"
—छान्दोग्य उपनिषद् 1/8
4. चरक सं०, सूत्र० 1/30 तथा अध्याय 25, भरद्वाज गुरु से भिन्न तन्नामक शिष्य 'भरद्वाजशब्देनेह नात्रेय गुरुरुच्यते किन्तु अन्यएव भरद्वाजगोत्रः कश्चित्' —चरक टी०, शारीर० 3/33

प्रयाग में रहकर आयुर्वेद के अनेक रहस्य प्राप्त किये ।[1] इतना ही नहीं, वे इन्द्र के पास स्वर्ग तक गये और कितने ही रसायन योगों का रहस्य सीखकर काम्पिल्य में आयुर्वेद की चिरस्मरणीय सेवा करते रहे । आत्रेय के जीवन-काल तक आयुर्वेद शिक्षाक्रम प्रायः मौखिक था । वह वेदों में छिन्न-भिन्न (विप्रकीर्ण) लिखा गया था । संगठित रूप से केवल धन्वन्तरि या सुश्रुत संहिताओं के अतिरिक्त व्यापक साहित्य न के बराबर ही था । जो कुछ था, वह भी शल्य (Surgeory)-प्रधान ग्रन्थ थे । आत्रेय ने अपने शिष्यों को अनेक संग्रह ग्रन्थ लिखने की प्रेरणा दी, ताकि आयुर्वेद सर्वसुलभ हो सके । महर्षियों की एक समिति में छः शिष्यों की संहितायें सर्वश्रेष्ठ स्वीकार की गई, वे छहों शिष्य अग्निवेश, भेड, जतूकर्ण, पराशर, हारीत और क्षीरपाणि थे । सर्वप्रथम स्थान अग्निवेश को दिया गया क्योंकि वह इनमें भी श्रेष्ठतम था ।[3] आज उपलब्ध होने वाली चरक-संहिता के उपदेष्टा आत्रेय पुनर्वसु और मूल लेखक अग्निवेश ही थे । यह कहने में कोई अतिशयोक्ति नहीं है कि आत्रेय पुनर्वसु ने यदि काय-चिकित्सा के लिए इतना महान् कार्य न किया होता तो आयुर्वेद को यह गौरव न मिलता, जो उसे अब प्राप्त है ।

अपने पुत्र आत्रेय पुनर्वसु को इस वन्दनीय आसन पर बिठाकर चन्द्रभागा गृहस्थ जीवन के उत्तरदायित्व से मुक्त हो गई थी । एक दिन पति के वन जाते समय वह समाज का ऋण चुकाने के लिए घर में रही थी, परन्तु आज तो समाज ही उसका ऋणी बन गया था । उसने देखा, मातृत्व की परिधि पूरी हो गई । वैदिक मर्यादा के अनुसार सम्पूर्ण उत्तरदायित्व से मुक्त होकर पत्नी के जीवन का सर्वस्व पति की सेवा है । चन्द्रभागा के सौभाग्य से महर्षि अत्रि अभी तक चित्रकूट पर तपश्चरण में तल्लीन थे । इसलिए पुत्र को घर सौंपकर चित्रकूट के आश्रम में पहुंच, पति-चरणों की सेवा में तल्लीन होकर अहर्निशि वह सौभाग्य की सम्पदा बटोरने लगी । उसने अपने जीवन के संगीत का अन्तिम चरण पति की सेवा में ही समाप्त किया । ऐसा आनन्दित जीवन सौभाग्यवती होकर भी सबको प्राप्त नहीं होता, इसीलिए महर्षि वाल्मीकि ने अपने महाकाव्य में उसे अनसूया कहकर विभूषित किया ।[4] कालिदास को लगा कि अनसूया का नाम नहीं लिया तो उनका 'रघुवंश' पूरा नहीं होगा ।[5] सच तो यह है कि अनसूया का जीवन भारतीय महिला के क्रियात्मक आदर्श जीवन का प्रतीक है । उसमें असूया (निन्दा) को स्थान ही नहीं है, इसीलिए चन्द्रभागा के लिए अनसूया से सुन्दर विशेषण (title) कवि को और न मिला । नाम

---

1. [illegible]
   [illegible] । —चरक०, सूत्र० 1,26
2. [illegible] ।
   [illegible] । —[illegible]
3. चरक सं०, सूत्र० 1,29-39 ।
4. रामायण, [illegible] 2 सर्ग
5. रघुवंश 12,27

जब सीता और लक्ष्मण के साथ वनवासी हुए, तो मार्ग में कुछ देर के लिए अत्रि के आश्रम में गये। उस थोड़े समय में देवी अनसूया ने सीता को पतिव्रत धर्म के जिस आदर्श का उपदेश दिया वह सम्पूर्ण रामायण में अतुल है। रामायण के सम्पूर्ण इतिहास में राम का वनवास, राम के वनवास में सीता का अनुगमन, और सीता के अनुगमन में अनसूया के उपदेश एक-दूसरे से कितने महान् हैं, इसकी माप कोई वाल्मीकि या तुलसीदास ही कर सकता है।

आत्रेय पुनर्वसु जैसे सौभाग्यशाली पुत्र थोड़े ही होंगे जिन्हें माता, पिता और आचार्य—तीनों ही इतने महान मिले हों। यही महानता पुनर्वसु के जीवन में भी प्रतिबिम्बित हुई। माता की दृढ़ता, पिता का वैराग्य और गुरु की विद्वत्ता, के सभी गुण आत्रेय में समन्वित थे। उन्होंने ब्रह्मचारी रहकर ही जीवन व्यतीत किया। उनके विवाह का उल्लेख नहीं मिलता। वे इतने अपरिग्रही थे कि उन्होंने व्यक्तिगत सम्पत्ति का संग्रह नहीं किया। उस युग के नैतिक शासक महर्षि लोग थे, उन्हें भी आर्थिक आकांक्षाओं की पूर्ति के लिए राजाओं की चाटुकारी करनी ही पड़ती थी। पुनर्वसु के पिता महर्षि अत्रि को भी अर्थापेक्षी होने पर अश्वमेध के समय ब्रह्मावर्त[1] के सम्राट् पृथु का द्वार खटखटाना पड़ा, और केवल इसी स्वार्थ-पूर्ति के लिए अपने गुरु इन्द्र से वैर मोल लेना पड़ा। पृथु के यज्ञ का घोड़ा चुराने के अपराध में अत्रि ने कई बार उद्योग किया कि इन्द्र का वध कर दिया जाय।[2] परन्तु इन्द्र ही अपनी चातुरी से बच सके। शतरूपा[3] की विद्वन्मण्डली के बीच द्रव्य के लिए सम्राट् पृथु के सामने हाथ फैलाते हुए अत्रि का आत्मसम्मान नतमस्तक हो चुका था। पिता की इस विडम्बना की पुनरावृत्ति पुनर्वसु ने अपने जीवन में न होने दी। पृथु की राजसभा में अत्रि ने जिस प्रकार अपनी विद्वत्ता की धाक स्थापित की और सम्राट् से पायी हुई सम्पति तृण की भांति त्यागकर विरक्त हो गये, उसी आदर्श को पुनर्वसु ने अपने सम्पूर्ण जीवन में चरितार्थ किया। बड़ी-बड़ी विद्वत्परिषदों में ऋषिगण आत्रेय की व्यवस्था के आगे मस्तक झुकाते थे।[4] और जहां अत्रि को राजाओं के दरवाजे खटखटाने जाना पड़ता था, वहां आत्रेय के पास राजाओं के निमन्त्रणों की भरमार थी। इतना ही क्यों, भिन्न-भिन्न सम्राट् विद्यार्थी बनकर उनके चरणों की सेवा करते थे।[5]

अब आत्रेय पुनर्वसु का व्यक्तित्व भगवान की सीमा तक पहुंच गया था। लोग

---

1. सरस्वतीदृपद्वत्योर्देवनद्योर्यदन्तरम्।
   तं देव निर्मितं देशं ब्रह्मावर्तं प्रचक्षते।—मनु० 2/17
2. श्रीमद्भागवत स्क० 4, अ० 19
3. सरस्वती नदी के किनारे ब्रह्मावर्त की राजधानी—श्रीमद्भागवत 4/8/7
   सरमौर की उपत्यका में साधौरा के पास से सरस्वती और बघाट की उपत्यका में कालका के पास दृष्पद्वती (घग्घर) नदी निकलती है।—विस्तृत वर्णन 'भारतीय इतिहास की रूपरेखा' में प्रथम प्रकरण देखिये।
4. तदात्रेय वचः श्रुत्वा सर्व एवानुमेनिरे।
   ऋषयोऽभिननन्दुश्च यथेन्द्र वचनं सुराः।—चरक०, सूत्र 15
5. काशी के सम्राट् वार्योविद एवं विदेह सम्राट् निमि आदि का वर्णन देखिये—चरक०, सूत्र 26

उन्हें भगवान आत्रेय पुनर्वसु कहते थे। व्यक्तित्व के विकास के लिए जो छः गुण[1] आदर्श माने गये, वे सभी उनमें विद्यमान थे, इसीलिए विद्वानों ने उन्हें भगवान की पदवी दी। अपनी विद्वत्ता के कारण आत्रेय ने एक विशाल राष्ट्रीय परिवार की रचना की थी: पश्चिम में वाह्लीक (Babylonia) से लेकर पूर्व में इण्डोचीन तक समस्त प्रदेश उनकी वैज्ञानिक प्रयोगशाला का क्षेत्र था।[2] उन्होंने वाह्लीक में विद्वानों की योजना की, उन्हें आयुर्वेद के गूढ़तत्त्व समझाये। काङ्कायन जैसे वाह्लीकभिषक् सभी वैज्ञानिक विवेचनाओं में आत्रेय से विचार-विनियम किया करते थे। उस युग की शायद ही कोई वैज्ञानिक परिषद् रही हो जिसमें आत्रेय के साथ वाह्लीक के काङ्कायन शामिल न हुए हों। कहना नहीं होगा कि उस युग में वाह्लीक का विस्तार काश्यपीय सर (Caspean Sea) तक था। पार्शव (पर्शिया) और असुर देश (असीरिया) वाह्लीकों के प्रभाव में थे। असुरों की माया और मन्त्रविद्या पर आत्रेय का विज्ञानवाद विजयी हो गया था, क्योंकि वाह्लीकों को चिकित्साशास्त्र का ज्ञान आत्रेय पुनर्वसु से मिला था। किन्हीं लोगों का विचार है कि चिकित्साशास्त्र के लिए भारत सुमेरियन, सेमेटिक या यूनानियों का ऋणी है। लेकिन यह विचार गलत है। यूनानी सभ्यता का उदय तो बहुत पीछे हुआ था। उससे प्रथम मिश्र और वैबीलोनिया में सुमेरियन जातियां बहुत सभ्य हो चुकी थीं। सेमेटिकों से भी पूर्व दजला और फरात के मध्यवासी सुमेरियन लोग सामाजिक सभ्यता उन्हीं ऋषियों से ले गये थे जिनकी कथा हम यहां लिख रहे हैं। उन देशवासियों की भाषा, देवताओं के नाम, औषधियों के प्रयोग और चिकित्सा के मूल सिद्धान्त भारतीय आयुर्वेद के ही रूपान्तर हैं। गान्धार, वैबीलोन और मेसोपोटामिया के पुरातत्व में मिलने वाले संस्मरण भारत की इस देन के पोषक[3] हैं। हम प्रकृत विषय से दूर न हो जायें, इसलिए यहां आत्रेय के शिष्य वाह्लीकभिषक् काङ्कायन के परिचय तक ही सीमित रहना चाहिए। वाह्लीक जैसे पश्चिमी देशों के साथ-साथ सौराष्ट्र (कच्छ, काठियावाड़), सिन्ध, विलोचिस्तान, सैन्धव और सौवीर (गुजरात, खानदेश) का भी गहरा अध्ययन आत्रेय ने किया था। उन्होंने रस, द्रव्य और दोषों की विवेचना में अपने इन गहन अध्ययन के परिणाम अग्निवेश को सुझाये थे। उन्होंने कहा—'लवण का अत्युपयोग दूषित है क्योंकि इससे मांस-शोणित में शिथिलता शीघ्र आती है और द्वन्द्व-सहन की शक्ति घटती है, बालों में सफेदी, देह में झुर्रियां और वृद्धावस्था का शीघ्र प्रभाव होता है।' वाह्लीक, सौराष्ट्र, सिन्धु और सौवीर देशों में नमक बहुतायत से खाया जाता है, यहां तक कि लोग दूध भी नमक डालकर पीते हैं। यही कारण है कि वहां के लोगों में यह

---

1. 'ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः।
ज्ञान वैराग्ययोश्चैव षण्णांभग इतीरणा" ।—चरक०, चक्रपाणि व्याख्या, सू० 1,2
2. 'काङ्कायनोनाम बाह्लीक भिषग्वरः—चरक०, सूत्र 12,6
'तद्यथा प्राक्काङ्कायनोनात्व'—चरक०, विमान० 1,20
3. देखो, 'आर्यों का आदिदेश' (डा० सम्पूर्णानन्द), पृ० 227-233 तथा पेंसिलवेनिया के यूनिवर्सिटी म्यूजियम में रखे प्रस्तर, मेज जो ईराक के निप्पुर (Nippur) स्थान से मिले। ये प्रायः 4000 ई० पूर्व के हैं। उनमें आयुर्वेदिक प्रयोग लिखे गये हैं।

रोग अधिक हैं। उसी प्रकार क्षार का अधिक प्रयोग अन्धापन, नपुंसकता, बुढ़ापा, हृदय की बीमारियां पैदा करता है। पूर्वीय देश और विशेषत: चीन के निवासी क्षार का प्रयोग अधिक करते हैं। इससे उनमें यह रोग अधिक है।[1] आत्रेय के इस विवेचन से यह स्पष्ट है कि काम्पिल्य से इन देशों तक सामाजिक जीवन में एकसूत्रता अवश्य थी, तभी तो उनके लाभालाभ की ओर इतने महान् वैज्ञानिक का ध्यान गया। इसके अतिरिक्त आत्रेय ने भारतवर्ष के भिन्न-भिन्न भागों के जल का वैज्ञानिक विश्लेषण किया है। हिमालय, मलयगिरि, पूर्व समुद्र-वाहिनी नदियां, पारियात्र, विन्ध्याद्रि, सह्याद्रि (पश्चिमी घाट) एवं पश्चिम समुद्रवाहिनी नदियां, सभी के जलों का भिन्न-भिन्न गुण-दोष आत्रेय के अध्ययन में समाविष्ट था।[2] हम इससे स्पष्ट देखते हैं कि राष्ट्रीयता की दृष्टि से उत्तर और दक्षिण भारत तक भी कितने एक थे। उस एकता की आधारशिला को सुदृढ़ बनाने वालों में आत्रेय पुनर्वसु भी थे।

हम लिख चुके, हैं, आत्रेय पुनर्वसु से पूर्व तक आयुर्वेद विज्ञान का केन्द्र स्वर्ग था। स्वर्ग का क्षेत्र त्रिविष्टप (तिब्बत) से लेकर लोकालोक पर्वत (अल्ताई) तक उत्तर में विस्तृत था।[3] पश्चिम में वंक्षु (आमू दरिया) और सुवास्तु (स्वात नदी) की स्वर्ग-निसृत धारायें थीं। काश्यपीय सर (Caspcan Sea) उसकी अन्तिम सीमा थी। वंक्षु (आमू दरिया) के दक्षिण काश्यपीय सर तक वाह्लीक और उत्तर में देवभूमि हरिवर्ष (उत्तर कुरु) के प्रदेश में थे।[4] इस प्रदेश में काङ्कायन द्वारा आत्रेय ने आयुर्वेद का प्रकाश पहुंचाया, यह ऊपर कह चुके हैं। इसके अतिरिक्त चैत्ररथ वन में भी आत्रेय ने एक विशाल विज्ञान परिषद् का आयोजन किया। चैत्ररथ वन अलकापुरी का प्रदेश था। यह यक्षों की राजधानी थी। कुबेर के भवन यहीं थे।[5] गढ़वाल के उत्तर में यह स्थान आज भी है जिसे 'अलकापुरी बांक' कहते हैं। यह विज्ञान परिषद् रसाहार की विवेचना करने के लिए हुई थी। प्रश्न यह था——'रसों की संख्या क्या निर्धारित की जाय?' बड़े-बड़े दस वैज्ञानिकों के विचार इस परिषद् में प्रस्तुत थे। (1) भद्रकाव्य का एक रस-वाद, (2) शाकुन्तेय ब्राह्मण का दो रसवाद, (3) पूर्णाक्ष मौद्गल्य का तीन रसवाद, (4) हिरण्याक्ष कौशिक का रस चतुष्टयवाद, (5) कुमार शिरा भारद्वाज का पञ्च रसवाद, (6) काशिराज वार्योविद् का षड्रसवाद, (7) विदेहराज निमि का सप्त रसवाद, (8) वडिश धामार्गव का अष्ट रसवाद, (9) वाह्लीकभिषक् काङ्कायन का असंख्य रसवाद और (10) आत्रेय का षड्रसवाद——इस परिषद् के विवेचना के विषय थे। गम्भीर विवेचन के उपरान्त आत्रेय का षड्रसवाद ही सर्वसम्मत सिद्धान्त माना गया, क्योंकि वही वैज्ञानिक मर्यादा सिद्ध हुई। काशिराज के षड्रसवाद एवं आत्रेय के षड्रस-वाद में एक मौलिक अन्तर था। काशिराज 'गुरु लघु शीतोष्ण स्निग्ध रूक्ष' को षड्रस

1. चरक०, विमानस्थान, 1/20-21
2. चरक०, सूत्र० अ० 27/205-208
3. श्रीमद्भागवतपुराण का पञ्चमस्कन्ध देखिये।
4. श्री राहुल सांकृत्यायन का 'सिंह सेनापति', पृ० 67, 70-83
5. कालिदास का मेघदूत, तथा महाभारत, उद्योगपर्व, अ० 111 देखिये।

कहते थे, परन्तु आत्रेय का पक्ष था 'मधुर, अम्ल, लवण, कटु, तिक्त और कषाय' ही रस हैं। परिषद् लम्बे विवेचन के उपरान्त आत्रेय के पक्ष को अन्तिम सिद्धान्त घोषित कर समाप्त हो गई।[1]

पञ्चगङ्ग प्रदेश में बैठकर रक्तपित्त पर एक भाषण आत्रेय ने दिया था। अग्निवेश आदि उनके साथ थे।[2] पञ्चगङ्ग प्रदेश अलकापुरी से ऊपर है। मूल स्रोतों से पांच धाराएं अलग-अलग बहती हुई गंगोत्री पर आकर एकत्र होती हैं। यहां से गंगा एक-धारा हो गई है। किन्तु गंगोत्री से ऊपर जहां पांच धाराएं पृथक्-पृथक् बहती हैं पञ्च-गङ्ग प्रदेश कहा जाता है। बदरिकाश्रम इसी स्थान पर है।[3] आत्रेय यहां से गुजरे हों, यह बात नहीं, उन्होंने यहां कुछ समय निवास कर आयुर्वेद के महत्त्वपूर्ण प्रश्नों पर प्रवचन दिये थे। 'पञ्चगंग प्रदेश में विहार करते हुए भगवान् आत्रेय ने प्रवचन दिये,' इस प्रकार अग्निवेश ने स्वयं लिखा है। इसके आगे कैलास पहुंचकर भी आत्रेय ने कुछ प्रवचन दिये, और हिमालय के पार्श्व प्रदेशों में तो कितने ही उनके स्मरणीय भाषण हुए। हिमालय के ऊपर इन्द्र, ब्रह्मा और अश्वियों के देश में आत्रेय का यह कार्य कुछ साधारण काम न था, प्रत्युत स्वर्ग का दिग्विजय कहना चाहिए।[4]

एक समय था जब चिकित्सा का रहस्य जानने के लिए स्वर्ग के नन्दन, कैलास, सुमेरु एवं चैत्ररथ तक जाना पड़ता था। दुर्बल रोगी कैसे जाये? वहां से आकर, यदि रोगावस्था में परिवर्तन उपस्थित हो तो क्या हो? औषधि का प्रयोग, अनुपान, अयोग और मिथ्यायोग कौन समझाये? इन संकटों के रहते, चिकित्सा का चलना ही असंभव था। पुनर्वसु के पिता अत्रि के युग तक यही संकट यहां के लिए था। जब कोई नया रोग दिखाई पड़ता, लोग परेशान होते। चिकित्सा का ज्ञान नहीं, क्या हो? ऐसी ही आपत्ति में पड़कर यहां कार्य करनेवाले लगभग पचास महर्षि एक बार हिमालय के पार्श्व में एकत्र हुए। प्रश्न यह था कि जनता में नये-नये रोग फैल गये हैं, सनाथ भी अनाथों की भांति मर रहे हैं। श्रेय और प्रेय दोनों का अपहरण रोगों ने कर लिया है—इनके शमन का उपाय क्या हो? प्रत्येक महर्षि गम्भीर विचार में निमग्न हो गया। आपत्ति सभी पर थी, उपाय किसी पर नहीं। अन्ततोगत्वा उन्हें यही सूझ पड़ा कि इन्द्र की शरण जाओ। कौन जाये? यह भी तो उतना ही कठिन था। पचास महर्षियों में एक भरद्वाज ने साहस किया—"मैं जाने को तैयार हूं।" महर्षियों में उल्लास और आशा दौड़ गई, सबने अनुमोदन किया। भरद्वाज का साहस उस युग में एक महान् आश्चर्य था

1. चरक सं०, सूत्र अ० 26
2. 'विहरन्तं जितात्मानं पञ्चगङ्गे पुनर्वसुम्।'—चरक०, चि० 4/1
3. (i) भागीरथी, (ii) जाह्नवी, (iii) विष्णुगंगा, (iv) धौली गंगा, (v) अलकनन्दा—ये पांच धाराएं। —'भारतीय इतिहास की रूपरेखा', पृ० 61-62
4. सिद्ध विद्याधराकीर्णे कैलासे सुखमासीनं।—चरक०, चि० 13
'कृते हिमवतः पार्श्वे'—चरक०, चि० 30
'कैलासे किन्नराकीर्णे विहरन्तं जितात्मानमात्रेयमृषिसत्तमम्। ...'
—चरक०, चि० 21

समझा गया। बालक पुनर्वसु ने गुरुवर भरद्वाज से स्फूर्ति-लाभ की और इसी सेवा के लिए अपना समस्त जीवन बलिदान कर दिया।[1] आपने ऊपर के वर्णन से देखा कि पूर्व में मिथिला से लेकर पश्चिम में वाह्लीक तक तथा भारत के दक्षिण से लेकर तिब्बत के उत्तर तक आत्रेय पुनर्वसु ने एक महान् आयुर्वेदिक परिवार की सृष्टि की। अग्निवेश ने इसी भाव से लिखा है--'भगवान् आत्रेय पुनर्वसु आयुर्वेद विद्या के प्रवर्त्तक थे।'[2]

आत्रेय पुनर्वसु से पूर्व भी आयुर्वेद में महत्त्वपूर्ण वैज्ञानिक अनुसन्धान हुए थे, किन्तु वे स्वर्ग में ही सीमित थे। 'सुधा' और 'अमृत' जैसे रासायनिक प्रयोग आत्रेय के पूर्व आविष्कृत हो चुके थे। वह आविष्कार चिकित्सक का आदर्श था। पूर्ववर्त्ती वैज्ञानिकों के लिए यह स्तोत्र आत्रेय के युग में प्रसिद्ध हो चुका था--'ऋषियों ने जैसे रसायन प्रयोगों का आविष्कार किया, देवताओं ने अमृत का, और श्रेष्ठ नागों ने सुधा का, वैसे ही मेरी यह औषधि तुम्हारे लिए हो।'[3] सुधा, अमृत और रसायन जीवनीय प्रयोग थे। परन्तु इनका लाभ नरकवासियों को प्राप्त न था। आत्रेय के युग तक रसायन-प्रयोग स्वर्ग से बाहर (नरक तक) आ गये थे। उन्हें लाने वालों में पुनर्वसु के पिता अत्रि भी थे। परन्तु सुधा और अमृत स्वर्ग के लोग ही पीते रहे। सर्वसाधारण उनके ज्ञान से वंचित रखे गये। भगवान् पुनर्वसु भी निश्चित रूप से न कह सके कि सुधा क्या है और अमृत क्या? वे कोई सुरायें थीं, यही उनका अनुमान है।[4] ये स्वार्थी जीवन के विलास थे। आत्रेय पुनर्वसु के सामने तो रोग और रोगाक्रान्त मनुष्यों का एक संसार था, जिनकी सेवा में उन्होंने अपना जीवन उत्सर्ग किया।

पुनर्वसु के युग में स्वर्ग और नरक नाम का राजनैतिक भेद नहीं रहा था। पुनर्वसु ही क्या, वह तो अत्रि के काल में ही शिथिल हो चला था। अब स्वर्ग की भांति नरक में भी राज्य-व्यवस्था स्थापित हो चुकी थी। जैसे स्वर्ग में इन्द्र की व्यवस्था चलती थी वैसे नरक में मनु का अनुशासन चल गया था। स्वर्ग-जैसे उपवन और भवन यहां भी बन गये थे। पृथु, पृषध्र और प्रावाहण जैसे सम्राटों के राजभवनों में भी लक्ष्मी का लास-विलास इन्द्र से कुछ कम न था। स्वर्ग के निवासी महर्षियों के कितने ही परिवार यहां के निवास में सुख और सौभाग्य समझने लगे थे। रसायनविज्ञान सीखने के लिए इन्द्र के पास त्रिविष्टप (तिब्बत) जाते हुए भृगु, अंगिरा और अत्रि आदि के लिए पुनर्वसु ने लिखा कि वहां उनकी 'पूर्व निवास-भूमि' थी। यह 'पूर्वनिवास' ही यहां के बढ़े-चढ़े वैभव और सुदृढ़ राज्य-व्यवस्था का परिचय देता है। पुनर्वसु के दो पीढ़ी पूर्व भृगु ने मानव-धर्मशास्त्र का सम्पादन किया था।[5] वही मनुस्मृति का मूल रूप था। उस समय

1. चरक सं०, सूत्र० अ० 1
2. आयुर्वेद विदांश्रेष्ठं भिषग्विद्या प्रवर्त्तकम्।
पुनर्वसुं जितात्मानम्...'—चरक०, चि० 13/2
3. चरक०, कल्प० 1/16 ('रसायनमिवर्षीणां देवानाममृतं यथा। सुधेवोत्तमनागानां भैषज्यमिदमस्तु ते।') तथा चिकित्सास्थान, 1/1/78
4. 'यादेवानमृतं भूत्वा स्वधा भूत्वा पितॄंश्च या।
सोमो भूत्वा द्विजातीन्याभुंक्ते श्रेयोभिरुत्तमैः।--चरक०, चि० 24
5. मनु० 1/59

जो सर्वोच्च व्यवस्था परिषद् (Constituent Assembly) बनी, उसमें दस प्रजापति थे। इन दस में एक अत्रि भी थे।[1] प्रजापतियों की इस परिषद् ने पूर्व में प्रशान्त महासागर से लेकर पश्चिम में भूमध्य सागर तक आर्यावर्त्त देश की स्थापना की।[2] इस स्थापना में राजनैतिक विजयों के अतिरिक्त सांस्कृतिक विजयों का महत्त्व ही अधिक था। वह वेदों की फिलासफी या आयुर्वेद की सेवाओं के साथ-साथ विस्तृत हुई थी, जिसके लिए अत्रि ने अथक उद्योग किया और पिता के मिशन की पूर्ति के लिए पुनर्वसु ने अपना समस्त जीवन लगा दिया। सांस्कृतिक और व्यापारिक दृष्टि से दक्षिण भारत के साथ घनिष्ठ सम्पर्क रहते हुए भी आर्यावर्त्त की राजनैतिक अभिन्नता उस काल तक नहीं थी, क्योंकि उत्तर में हिमालय से लेकर दक्षिण में विन्ध्याचल तक ही आर्यावर्त्त की सीमा समाप्त होती थी। फिर भी दक्षिण भारत के शासक पुलस्त्य और पुलह आर्यावर्त्त के प्रजापतियों में सम्मिलित थे। दक्षिण और उत्तर भारत की सांस्कृतिक एकता का यही आधार था। यदि यह एकता न होती तो आर्यावर्त्त के निवासी होकर पुनर्वसु दक्षिण भारत के पहाड़ और नदियों के गुण-दोष पर आयुर्वेदिक दृष्टि से विचार न करते। उनके लेखों में महेन्द्र, मलय और सह्य के लिए जो ममता टपकती है वह न होती। सांस्कृतिक अनुशासन की दृष्टि से आर्यावर्त्त के कुछ प्रदेश ही अग्रणी थे। इनमें प्रथम स्थान ब्रह्मावर्त्त का था। वह नरक में देवताओं का सर्वप्रथम उपनिवेश था। सतलज (शतद्रु) और यमुना के बीच की यह भूमि सरस्वती और दृषद्वती (घग्घर) से अभिसिंचित थी। जनता के लिए सामाजिक आचार (कानून) सर्वप्रथम यहीं बने थे।[3] इससे उतरकर दूसरे नम्बर पर कुरुक्षेत्र, मत्स्य (अलवर), पञ्चाल (फर्रुखाबाद), शूरसेन (मथुरा) का प्रदेश ब्रह्मर्षि देश कहा जाता था। शिक्षा और संस्कृति की दृष्टि से ब्रह्मर्षि देशवासियों की सेवायें महान् थीं। इस प्रकार राजनैतिक दृष्टि से ब्रह्मावर्त्त और सांस्कृतिक दृष्टि से ब्रह्मर्षि देश ही उस युग में प्रकाश के केन्द्र थे।[4] ब्रह्मर्षि देश को यह गौरव प्राप्त है कि पुनर्वसु जैसे प्रकाश-स्तम्भ का उसने निर्माण किया, जिसके द्वारा पूर्व समुद्र से लेकर पश्चिम समुद्र तक सम्पूर्ण प्रदेश आलोकित हो उठा।

हिमालय और विन्ध्याचल के बीच सरस्वती से लेकर प्रयाग तक आर्यावर्त्त को मध्यदेश कहा जाता था।[5] सरस्वती नदी उस काल तक लुप्त हो चुकी थी, क्योंकि भृगु ने

---

1. मरीचिमत्र्यङ्गिरसौ पुलस्त्यं पुलहं क्रतुम्। प्रचेतसं वसिष्ठं च भृगुं नारदमेव च॥—मनु० 1/35
   इनके वंश का वर्णन भागवत 3/24 में देखिये।
2. आसमुद्रात्तु वै पूर्वादासमुद्रात्तु पश्चिमात्। तयोरेवान्तरं गिर्योरार्यावर्त्तं विदुर्बुधाः॥—मनु० 2/22
3. मनुस्मृति, 2/17-18
4. कुरुक्षेत्रञ्च मत्स्याश्च पञ्चालाः शूरसेनकाः।
   एष ब्रह्मर्षिदेशो वै ब्रह्मावर्त्तादनन्तरः॥
   एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
   स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवः॥—मनु० 2/19-20
5. हिमवद्विन्ध्ययोर्मध्यं यत्प्राग् विनशनादपि।
   प्रत्यगेव प्रयागाच्च मध्य देशः स कीर्तितः॥—मनु० 2/21
   कुरुक्षेत्र सरस्वती नदी के तट पर था। सरस्वती, सतलज और यमुना के बीच बहती हुई कच्छ की खाड़ी में गिरती थी।

'मनुस्मृति' में उसके लिए 'विनशन' शब्द-प्रयोग किया है, जिसका अर्थ अदृश्य हो जाना है। परन्तु 'विनशन' शब्द का प्रयोग यह प्रकट करता है कि सरस्वती के लोप हो जाने की घटना उस युग के लिए ताजी थी। पूर्व और पश्चिम समुद्रों की सीमा की दृष्टि से यह मध्यदेश बना था। काशी में धन्वन्तरि, दिवोदास और प्रतर्दन हुए अवश्य, परन्तु उनके पश्चात् मौलिक रूप से राजनीति, संस्कृति अथवा साहित्य का सृजन वहां रुक गया। हैहयवंशी सम्राटों ने, जो प्रायः अंग देश (बिहार-उड़ीसा) के शासक थे, काशी के राज्य को कई बार छिन्न-भिन्न कर डाला था। विदेहों की गिनती ही किसमें थी? वे स्वयं अंग देश के ही करद राज्यों में थे। काशी में धन्वन्तरि और विदेहों में जनक अथवा याज्ञवल्क्य कुछ भी रहे होंगे, परन्तु अब तो काशी के सम्राट् वार्योविद और विदेहराज निमि आत्रेय पुनर्वसु के ही ऋणी थे, जिनके सत्संग से उन्हें विद्या, विज्ञान तथा यश प्राप्त हुआ।

गंङ्गा-द्वार कनखल का उस समय एक विशाल आयुर्वेद विद्यालय था। आत्रेय पुनर्वसु के चचेरे भाई मारीच-कश्यप उसके संचालक थे। पुरुष और स्त्रियां दोनों ही वहां आयुर्वेद अध्ययन करते थे। विद्यालय की अन्य विशेषताएं कश्यप के जीवन-चरित्र में आप देखेंगे, यहां तो यह जान लेना पर्याप्त है कि इस विद्यालय को आत्रेय का भी महान् सहयोग प्राप्त था। उन्होंने वहां होने वाले वादों एवं विज्ञान परिषदों में उल्लेखनीय भाग लिया। उनके अनेक विचार 'काश्यप संहिता' में संकलित किये गये हैं।[1]

आत्रेय के अनुसन्धान

एक प्रश्न सभी के मन में उठेगा—धन्वन्तरि, सुश्रुत तथा अन्य औपधेनव से लेकर पौष्कलावत (चारसद्दा के प्राणाचार्य) संहिताओं और तन्त्रों के रहते हुए आत्रेय पुनर्वसु ने ऐसा क्या किया था, जो उन्हें आयुर्वेद के वैज्ञानिकों में प्रथम श्रेणी का स्थान मिला? यह प्रश्न जितना आवश्यक है, उतना ही महत्त्वपूर्ण भी है। आत्रेय से पूर्व आयुर्वेद में जो कुछ कार्य हुआ था उसमें द्रव्यगुण एवं शरीर पर उनकी प्रतिक्रियाओं के विचार इतने गम्भीर नहीं थे जितनी गम्भीरता उन्हें आत्रेय ने प्रदान की। यह रसाहार प्रक्रिया आत्रेय का सबसे मुख्य विषय था। चैत्ररथ में रसहार-विनिश्चय के लिए जो महती विज्ञान परिषद् हुई, आत्रेय अपनी इसी योग्यता के कारण उसके सभापति थे। आत्रेय का निर्णय ही इस परिषद् का अन्तिम निर्णय घोषित हुआ था।[2] आसवारिष्टों का सफल आविष्कार आत्रेय ने ही किया था। उत्सेचन (Fermentation) युक्त मधुर द्रव में औषधि के गुण सुरक्षित रहते हैं, यह तत्त्व धन्वन्तरि और सुश्रुत के युगतक उतना प्रचलित नहीं था जितना आत्रेय ने उसे क्रियात्मक रूप दिया। अनेक कठिन रोगों के सम्बन्ध में, जो आर्यावर्त्त के शीतोष्ण कटिबन्ध में विशेष होते थे, आत्रेय ने अव्यर्थ प्रयोग निकाले। यक्ष्मा एवं शोष पर अद्वितीय सितोपलादि तथा तालीसादि चूर्ण का

---

1. काश्यप सं०, सिद्धि० 1/13
2 आत्रेय भद्र काप्यीयाध्याय (चरक०, सू० 26)

प्रयोग आत्रेय की ही खोज हैं। मद्य के रसायनोपयोगी गुणों पर आत्रेय ने बहुत प्रकाश डाला। इस प्रदेश के अत्यन्त भीषण संग्रहणी रोग पर उन्होंने जो निदान और चिकित्सा लिखी वह अन्यत्र नहीं है। रसों और दोषों का जो वैज्ञानिक एवं दार्शनिक विवेचन उन्होंने किया वह उन्हीं की विशेषता थी। दार्शनिक दृष्टि से आत्रेय पुनर्वसु की तुलना कर सके, ऐसा कोई प्राणाचार्य नहीं हुआ।

प्राचीन इतिहास में योग विद्या की चार शैलियां प्रसिद्ध हैं—1. राजयोग, 2. मंत्रयोग, 3. हठयोग, 4. लययोग। इनमें राजयोग शैली के आविष्कर्ता आत्रेय पुनर्वसु ही थे।[1] मूलाधार चक्र (कुण्डलिनी), स्वाधिष्ठानचक्र, मणिपूर चक्र पर प्राण और मन को एकाग्र करके हृदयाधिष्ठान में अनाहत चक्र की सिद्धि द्वारा अनाहत नाद की प्राप्ति का मार्ग उन्होंने ही बताया। पातञ्जल का योगशास्त्र उसी आधार-शिला पर खड़ा है। अनाहत चक्र के ऊपर कण्ठ में विशुद्धि चक्र तथा भृकुटि में आज्ञा चक्र पर विजय होती है। ऐसी स्थिति में योगी त्रिकालदर्शी और आत्मदर्शी हो जाता है। सहस्रार चक्र और ब्रह्मरन्ध्र तो मुक्त आनन्द के केन्द्र हैं जहां आनन्द, सौन्दर्य और अक्षय-प्रकाश का राज्य है।

इस आध्यात्मिक तत्त्वज्ञान की गहन एकाग्रता में उन्होंने आयुर्वेद, योग और धर्मशास्त्र के जो सिद्धान्त स्थिर किये वे भूत, भविष्य और वर्तमान में सदैव नये हैं। यही उनकी त्रिमूर्ति है जिसके कारण भक्त लोग उनकी तीन मुख की प्रतिमा बनाकर पूजते हैं। अत्रि के तीन पुत्र थे—दुर्वासा, चन्द्रदेव और पुनर्वसु। पुनर्वसु ने अपना जीवन जन-सेवा में दे दिया, इसीलिए वे दत्तात्रेय हुए।

दत्तात्रेय को ब्रह्मा, विष्णु और महेश के साथ वह पूजनीय पदवी प्राप्त है जो किसी अन्य महर्षि को नहीं मिली। सिद्धयुग (ईसा की 5वीं से 11वीं शताब्दी के बीच) में दत्तात्रेय के नाम से एक उपनिषद् लिखी गई जो 'दत्तात्रेयोपनिषद्' नाम से ही प्रचलित है।[2]

आत्रेय के समय तक लोगों में देव, गन्धर्व अथवा पिशाचों के आवेश से रोगोत्पत्ति की भावना फैल गई थी। लोग चिकित्सा की वैज्ञानिक परिपाटी अनुसरण करने के साथ-साथ मन्त्र, जप, होम आदि का काल्पनिक अनुसरण भी करते थे। सच तो यह है कि देव, राक्षस आदि जातियों का आदिकाल में जनता पर इतना आतंक था कि लोग उनकी कल्पना से भी भयभीत हो उठते थे। इस भय के निवारण के लिए जनसाधारण जप, होम, पूजा जैसे उपायों द्वारा उनके प्रति अपनी चाटुकारी दिखाकर मानसिक दासता का प्रदर्शन करते थे। आत्रेय को यह सामाजिक दासता सर्वथा हेय प्रतीत हुई। उन्होंने कहा, "देव, गन्धर्व, पिशाच अथवा राक्षस मनुष्य को दुःख नहीं देते। मनुष्य के बुरे आचरण

---

1. दत्तात्रेयादिभिः पूर्वं साधितोऽयं महात्मभिः ।
राजयोगो मनोवायू स्थिरीकृत्वा प्रयत्नतः ॥ —[illegible], 4361 श्लोक

2. महायोगिनेऽवधूतायेति [illegible] —
दत्तात्रेयोपनिषद् ([illegible] 2)

ही उसे दु:ख देते हैं।"[1] घूम-घूमकर कर्मवाद के इन उज्ज्वल विचारों के साथ जनता को आयुर्वेद की शिक्षा देना आत्रेय पुनर्वसु के ही जीवन की विशेपता थी।

रसायन-पादों में आत्रेय ने जो कुछ लिखा है; वह आयुर्वेद के सम्पूर्ण आविष्कारों में अद्वितीय है। इच्छाजीवी होने की भावना से प्रेरित होकर मनुष्य ने बड़े-बड़े वैज्ञानिक अनुसंधान किये हैं। इन चारों रसायन-पादों में आत्रेय ने उनका सार लिखा है। उनमें जो रासायनिक प्रयोग हैं, उनका गुण इच्छा जीवन प्रदान करने में आज भी समर्थ है या नहीं, यह प्रश्न इसलिए कठिन है कि आज तो हममें जीवन की भावना ही नहीं रही। हम जियें कैसे, हमें जीवन से डर लगता है। आत्रेय ने लिखा है अमुक रसायन प्रयोग कीजिये आप हज़ार वर्ष जियेंगे, हज़ार वर्ष युवा रहेंगे। परन्तु विलास के लिए नहीं, वासनाओं के लिए नहीं; केवल ब्रह्मचर्य के लिए, संयम के लिए और सेवा के लिए। आत्रेय ने इसकी पुष्टि में इतिहास उद्धृत किया है। "इन रसायनों को वसिष्ठ, कश्यप और अङ्गिरा आदि पूर्वजों ने सेवन किया था, वे दीर्घजीवी होकर थके नहीं, बूढ़े नहीं हुए और तप करते रहे, सेवा करते रहे।"[2] कितनी उच्च है यह जीवन की भावना और उसका आदर्श। वैज्ञानिक दृष्टि से आत्रेय के प्रयोग व्यर्थ नहीं हैं, यदि उन्हें उसी पथ्य से लिया जाय जैसा आत्रेय ने लिखा है।

आत्रेय को समझने के लिए उनका विमान-स्थान समझना आवश्यक है। आठ बड़े-बड़े अध्यायों में उन्होंने चिकित्साशास्त्र की उपयोगिता तथा उसकी दार्शनिक व्याख्या की है। अग्निवेश ने पूछा—"भगवन्, आप कहते हो कि कुपथ्य रोग का कारण है। हमने देखा है भीपण जनपदोध्वंसी रोग (Epidemic Diseases) नगरों और देशों को एक साथ आक्रान्त करते हैं, क्या सभी में एक-सा कुपथ्य संभव है ? यदि नहीं, तो जनपदोध्वंसी रोग क्यों होते हैं ?" आत्रेय बोले, "जीवन का स्वास्थ्य केवल भौतिक तत्त्वों पर निर्भर नहीं है। हमारे विचारों और क्रियाओं से जीवन संचालित होता है, भौतिक तत्त्व उन्हीं के साधन हैं। विचारों और क्रियाओं में दोष है तो चिकित्सा के समस्त भौतिक द्रव्य व्यर्थ हैं। जनपदोध्वंसी रोग समाज के विचारों और क्रियाओं के विकारों के परिणाम हैं। जब तक उनमें निर्मलता नहीं आती, चिकित्सा क्या करेगी ? विचारों और क्रियाओं को सदोष रखकर भौतिक विज्ञान से सुख और स्वास्थ्य की आशा न करो।"[3]

ईसा की आठवीं शताब्दी तक के विद्वानों की सम्मति यह है कि निदान लिखने में जैसे माधव श्रेष्ठ हैं, सूत्रस्थान में वाग्भट और शारीर में सुश्रुत, उसी भांति चिकित्सा

---

1. नैवदेवा न गन्धर्वा न पिशाचा न राक्षसा:।
   न चान्ये स्वयमक्लिष्टमुप क्लिश्यन्ति मानवम् ॥—चरक०, निदान० 7/20
   'अरब के मरुस्थल में रहनेवाली जातियां पिशाच कही जाती थीं'—मनु० में कुल्लूकभट्ट की व्याख्या देखिये—मनु० 1/37
2. चरक सं०, चिकित्सा० 1/3/4
3. चरक०, विमान०, अ० 3/38-40.

में चरक संहिता।[1] चरक संहिता का यह गौरव आत्रेय के ही गौरव का परिचायक है पीछे यद्यपि चरक ने ग्रंथ के कुछ अंश का प्रतिसंस्कार किया, परन्तु उससे आत्रेय की मौलिकता में अन्तर नहीं आता। प्रतिसंस्कर्त्ता का गौरव तो यह है कि प्रतिसंस्कार करके भी उसने ग्रंथकार के मौलिक सौन्दर्य में अन्तर नहीं आने दिया। जो भी हो, अर्श, ग्रहणी, पाण्डु और उदर रोगों पर लिखे गये अपूर्व आसवारिष्टों के आविष्कार का श्रेय आत्रेय को ही है। च्यवनप्राश जैसा अद्वितीय प्रयोग देने के लिए हम आत्रेय को ही बधाई देंगे, और नारायण चूर्ण तथा पुष्यानुग चूर्ण के लिए उन्हीं के प्रति कृतज्ञता प्रकट करनी होगी।

द्रव्यगुण और उनके संयोग से उत्पन्न प्रकृतिसम और प्रकृतिविषम समवायों का उल्लेख आत्रेय से बढ़कर अन्यत्र नहीं है। इस दिशा में आत्रेय के अनुसंधान अपूर्व हैं। 'चरक संहिता' के प्रारंभिक चार अध्यायों में उनके इस अपूर्व ज्ञान का परिचय मिलता है। पदार्थ को रस, वीर्य विपाक और प्रभाव तक जान लेने की जो तल्लीनता आत्रेय में है वह अन्यत्र नहीं। रस की मर्यादा कितनी है और वीर्य की कितनी इस प्रकार पदार्थ की क्रिया और प्रतिक्रियाओं को देखने की तीव्र दृष्टि आत्रेय में ही है। इसी कारण उन्होंने कहा, "केवल रस, अथवा गुण के आधार पर संकुचित सीमा में द्रव्य नहीं बांधे जा सकते। एक-एक द्रव्य को जानना होगा, क्योंकि प्रकृति के द्रव्य-द्रव्य में विशेषता है।"[2] इसीलिए चिकित्सा द्रव्यों के प्रधान उपादान एक-एक करके उन्होंने गिनाये। जङ्गम, उद्भिद और पार्थिव—तीनों प्रकार के द्रव्यगुणों के आधार पर उनकी वर्ग-गणना (Grouping) की। फूल, फल, काष्ठ, मूल अथवा छाल की किस उद्भिद में उपयोगिता है, किसमें नहीं, किस द्रव्य का कौन अंश शरीर के किस भाग पर प्रभाव उत्पन्न करता है, किस पर नहीं; किन द्रव्यों का समवाय 'प्रकृतिसम' और किनका 'विकृति विषम', सुनिश्चित परिणामों के साथ आत्रेय के यह अनुसन्धान आयुर्वेद में अद्वितीय हैं। द्रव्यों पर इतने गम्भीर और सुनिश्चित अनुसन्धान आत्रेय के उपरान्त सम्भवतः नहीं हुए तभी तो चरक ने घोषणा की "जो यहां है वही अन्यत्र, जो यहां नहीं वह कहीं नहीं।"[3]

जीवन के क्षितिज पर

वाह्लीक से लेकर अङ्ग (विहार, उड़ीसा) तक आत्रेय के दार्शनिक और वैज्ञानिक विचार जनता के हृदय में स्थान पा चुके थे। हम उन्हें केवल प्राणाचार्य नहीं किन्तु एक महान् दार्शनिक के रूप में भी पाते हैं। अङ्ग और कलिङ्ग के सम्राट् कृत वीर्य का पुत्र अर्जुन उन्हीं से योगविद्या सीखा। न्याय, वैशेषिक और सांख्य ने मिलकर

1. निदाने माधवः श्रेष्ठः सूत्र स्थानेतु वाग्भटः।
   शारीरे सुश्रुतः प्रोक्तश्चरकस्तु चिकित्सिते॥
2. तस्माद्रसोपदेशेन न सर्वं द्रव्यमादिशेत्।
   दृष्टंतुल्य रसे प्येवं द्रव्ये द्रव्ये गुणान्तरम्॥ —चरक०, सूत्र 26/54
3. यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत्क्वचित्।" —चरक०, सिद्धि० 12/93
   रघु० 6/38 पर मल्लिनाथ व्याख्या देखो।

जो कुछ किया आत्रेय ने अकेले वह तो किया ही, आयुर्वेद की अद्वितीय सेवा द्वारा उन्होंने जो मानव-सेवा की, वह दार्शनिकों की आत्मसेवा से कहीं बढ़कर है। दार्शनिकों ने स्वान्त में आत्मदर्शन किये, और आत्रेय ने दुखियों की वेदना में आत्मा का साक्षात् किया। उनका दर्शन परलोक के लिए था किन्तु आत्रेय का परलोक और इहलोक, दोनों के लिए। इस महान् सफलता के साथ आत्रेय ने जनसेवा के लिए अपने जीवन का मुख्य भाग आर्यावर्त्त में घूम-घूमकर व्यतीत किया, यद्यपि उनका मुख्य निवास काम्पिल्य में ही था। काम्पिल्य के वर्णन से प्रकट होता है कि वहां आत्रेय का स्थायी विद्यालय और संग्रहालय था। तभी तो उन्होंने अपने शिष्यों से कहा—"औषधियां संग्रहालय में एकत्रित कर लो, ताकि समय पर काम आ सकें।"[1] अभिप्राय यह है कि आत्रेय का मुख्य कार्यक्षेत्र स्वर्ग (हिमालय) से नीचे आर्यावर्त्त में रहा। परन्तु जिनके नाम के साथ हम 'महर्षि' शब्द जुड़ा हुआ देखते हैं वे मूल निवासी स्वर्ग (हिमालय) के ही थे। रसायनपाद में आत्रेय ने महर्षियों के इन्द्रभवन पहुंचने पर स्पष्ट ही लिखा, "वे अपनी प्रथम निवास-भूमि इन्द्र के राज्य में हिमाल पर पहुंचे।"[2] इस प्रथम निवास-भूमि का मोह आत्रेय के हृदय में भी था। इस कारण वे वृद्धावस्था में हिमालय के नन्दन और कैलास की ओर अग्रसर हुए। प्रयाग में महर्षि भरद्वाज के आश्रम में उन्होंने विद्यार्थी जीवन में वास किया। कार्यकाल में काम्पिल्य को अपना केन्द्र बनाया। दोनों ही स्थान गंगा के दुकूल में हैं। इसके पश्चात् वे गंगा के किनारे ही किनारे स्वर्ग-पथ द्वारा हिमालय पहुंच गये। अग्निवेश आदि शिष्य-मण्डली ने उनका अनुगमन किया। चरक संहिता का अन्तिम अंश महर्षि ने हिमालय पर ही उपदेश किया था। कैलास, नन्दन और हिमालय की उत्तरीय पार्श्व-भूमियों को आत्रेय के इस निवास का सौभाग्य मिला।[3] पञ्चगंग प्रदेश और चैत्ररथ जाकर वे काम्पिल्य लौटे, परन्तु वृद्धावस्था में कैलास और हिमालय की उत्तरीय पार्श्व भूमियों में जाकर फिर न लौटे। अग्निवेश के लेखों से यह ध्वनि सुन पड़ती है कि भगवान् आत्रेय पुनर्वसु के जीवन का अन्तिम संगीत यहीं समाप्त हुआ।

आत्रेय के जीवन पर विचार करते समय अग्निवेश का उल्लेख भुलाया नहीं जा सकता। यों तो आत्रेय के छः शिष्य थे, जिनके नाम 'चरक संहिता' में लिखे हैं"[4] परन्तु अग्निवेश जैसे तीव्र-बुद्धि और विद्याग्राही अन्य न थे। इसी कारण अग्निवेश के लेखों का जैसा आदर विद्वानों में हुआ वैसा अन्य का नहीं। भेल की संहिता अभी मिलती है। हारीत, जतूकर्ण, क्षीरपाणि की संहिताओं के उद्धरण चक्रपाणि ने दिये हैं[5]। अन्यों के उद्धरण भी जहां-तहां मिलते हैं। स्पष्ट है कि ग्यारहवीं शती (चक्रपाणि के समय) तक आत्रेय के शिष्यों की संहितायें उपलब्ध थीं। अनेक विद्वानों का विचार है कि अग्नि-

1. जनपदोध्वंसीय विमानाध्याय—चरक सं०
2. "पूर्वं निवासं गंगाप्रभवं हिमवन्तममरवराधिगुप्तं जग्मुः" रसायन पाद
3. चरक०, चि० अध्याय 13, 19, 21 व 30 देखिए।
4. अग्निवेशश्च भेलश्च जतूकर्ण पराशरः, हारीतः क्षीरपाणिश्च जगृहुस्त न्मुनेर्वचः।
   बुद्धेर्विशेषस्तत्रासीन्नोपदेशान्तरं मुनेः, तन्त्रस्य कर्ता प्रथममग्निवेशोयतोऽभवत्।
   —चरक०, सू०1/30-31
5. चरक टीका, सूत्र 1/29-30 तथा सू० 27/192-201 तथा निदान०, 3,21

वेश संहिता ही चरक संहिता है। आत्रेय संहिता नामक कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ भी था, यह चक्रपाणि, अरुणदत्त तथा शिवदास की व्याख्याओं से प्रकट होता है। उन्होंने आत्रेय के स्वतन्त्र उद्धरण दिये हैं जो चरक के पाठ से भिन्न हैं। अरुणदत्त ने अष्टांगहृदय की व्याख्या में तथा शिवदास ने चक्रदत्त की व्याख्या में आत्रेय के शल्य और शालाक्य (Surgical) सम्बन्धी उद्धरण दिये हैं[1]। खेद है आत्रेय संहिता अब नहीं मिलती। अग्निवेश संहिता ही आज चरक संहिता के रूप में उपलब्ध है[2]। अग्निवेश संहिता चरक संहिता कैसे बन गयी, यह विवरण महर्षि चरक के वर्णन में देखियेगा।

आत्रेय पुनर्वसु की भक्ति में लिखे गये निम्न स्तोत्र अभी जनता में प्रचलित हैं—

1. दत्तात्रेय सहस्र नामावली।
2. दत्तात्रेय सहस्रनाम स्तोत्र।
3. दत्तात्रेय वज्र कवच।
4. दत्तात्रेय स्तोत्र।

'दत्तात्रेय स्तोत्र' में आत्रेय का एक परिचय इन शब्दों में दिया है—

"महान् जम्बुद्वीप (दक्षिणोत्तर भारत) के विशाल क्षेत्र में मातापुर नगर के निवासी सज्जनों में सबसे महान् हे दत्तात्रेय! तुम्हें मेरा नमस्कार।"[3]

यह मातापुर नगर कहां है, यह निर्णय करना कठिन है, विशेषकर उस महात्मा के लिए जो जीवन भर घर बनाकर कहीं नहीं बैठा। जो गृहस्थ जीवन में गया ही नहीं उसका घर कहां नहीं है?

दत्तात्रेय ब्रह्मावर्त्त में रहते थे यह हम पीछे लिख आये हैं। वाल्मीकि रामायण में[1] राम, लक्ष्मण और सीता वनवास के प्रथम चरण में अत्रि के आश्रम में गये थे। यह चित्रकूट के समीप ही था। आत्रेय पुनर्वसु की माता अनसूया वहां थीं। उन्होंने सीता को आशीष दी और उपहार में वस्त्र पहनाये। उस समय आत्रेय काम्पिल्य (फर्रुखाबाद) में थे। चरक संहिता के विमानस्थान के वर्णन से यह स्पष्ट है। हां, पञ्चाल के इस सम्पूर्ण प्रदेश में दत्तात्रेय की पूजा प्रत्येक मन्दिर में होती है, यही उनकी लोकप्रियता का प्रमाण है। उसके बाद वे अलकापुरी, कैलास, नन्दन और हरिवर्ष (सिम्कियांग) के स्वर्ग में चले गये।

आत्रेय के शिष्य अग्निवेश के अतिरिक्त एक दूसरे अग्निवेश का उल्लेख महाभारत में है। हरद्वार में गंगा के किनारे महर्षि भरद्वाज नाम के एक ब्रह्मचारी रहते थे। एक

---

1. जम्बूद्वीपे महाक्षेत्रे मातापुर निवासिने।
   जयमान सतां देव दत्तात्रेय नमोऽस्तुते॥ —दत्तात्रेय ध्यान, श्लो० 9
2. रामायण, अयोध्या काण्ड 117 सर्ग।
   सोऽत्रेराश्रममासाद्य तं ववन्दे महायशाः।
   तं चापि भगवानत्रिः पुत्रवत्प्रत्य पद्यत॥ —वा० रामा०, अयो० 117/5
3. चरक टीका, चिकि० 3/197 तथा श्री गणनाथ सेन कृत 'प्रत्यक्ष शारीर' की भूमिका देखो।
4. 'इत्यध्यायशतं विंशमात्रेयमुनिवाङ्मयम्।
   हितार्थं प्राणिनां प्रोक्तमग्निवेशेन धीमता।—चरक०' सिद्धि० 12/74

बार घृताची नाम की एक अप्सरा ब्रह्मनिष्ठ भरद्वाज के आश्रम की ओर विहार करती हुई आ निकली। भरद्वाज घृताची के रूप-लावण्य को देख विचलित हो उठे। घृताची के गर्भ से समय पर एक वीर पुत्र हुआ, जो महाभारत के प्रसिद्ध महारथी एवं कौरव-पाण्डवों के गुरू द्रोणाचार्य थे। भरद्वाज शस्त्र विद्या में बड़े निपुण थे। उनके शिष्यों में भी प्रमुख एक शिष्य अग्निवेश था[1]। द्रोणाचार्य के गुरू यही अग्निवेश थे। हमें आत्रेय के अग्निवेश और ब्रह्मचारी भरद्वाज के अग्निवेश का अन्तर ध्यान रखना चाहिए। वैसे ही आत्रेय के भरद्वाज और द्रोण के भरद्वाज का भी। दोनों के समय में बड़ा अन्तर है।

आत्रेय पुनर्वसु का काल

आत्रेय पुनर्वसु का काल निश्चय कर देना उनके इतिहास की सबसे कठिन समस्या है। परन्तु इतिहास की समस्याएं किसी एक ही घटना से उलझती या सुलझती हैं, अथवा कठिन या सरल बन जाती हैं। वस्तुतः भारत का प्राचीनतम इतिहास इतने निर्मल रूप में प्रस्तुत किया गया था कि उसमें भ्रान्ति के लिए अवकाश था ही नहीं। परन्तु हमारी अशिक्षा और शताब्दियों की दासता ने उसे कुरूप कर दिया। आक्रान्ताओं ने प्राचीन संस्मरणों के नाम बदल डाले, और हमने अपने साहित्य का साथ छोड़ दिया। विशेषतः यूरोपीय शासकों ने अधिकांश हमारे इतिहास को केवल कल्पनाओं के आधार पर मनचाहा बना लिया। भारतीय पुराण-लेखकों पर यह आरोप है कि उन्होंने इतिहास-में उत्प्रेक्षा, रूपक और अतिशयोक्ति जैसे अलंकार भर दिये, परन्तु यूरोपीय इतिहासकारों में ऐसे व्यक्ति भी हैं जिन्होंने सर्वथा निर्मूल बातों को हमारे इतिहास में 'अनुसन्धान' (Research) कहकर जोड़ दिया। जो भी हो, उनकी इस दुष्प्रवृत्ति के कारण हमारा ध्यान अपने इतिहास की ओर गया। कोरे विचारों की पूजा से हटकर घटना की पूजा की ओर हम अग्रसर हुए। हमको यह स्पष्ट हो गया कि विचारों का आधार घटनाएं अवश्य होनी चाहिए। इन दोनों का सम्बन्ध ही सच्चे इतिहास की सृष्टि करता है। जहां यह सम्बन्ध नहीं है, वह इतिहास नहीं, उपन्यास या गल्प भले ही हो। इस ग्रन्थ का उद्देश्य तो यही है कि विचारों और घटनाओं का सामंजस्य हो।

महाभारत में वेद और वेदांगों के सम्बन्ध में मौलिक और महत्त्वपूर्ण कार्य करने वाले पूर्वजों का उल्लेख है। वहां लिखा है—'चिकित्साशास्त्र के मौलिक व्याख्याता कृष्णात्रेय हुए।'[2] इस उल्लेख से स्पष्ट है, हम आत्रेय का समय महाभारत से अर्वाचीन नहीं रख सकते। इस कारण बौद्धकाल में आत्रेय को सिद्ध करने वाले विचारों का निराकरण स्वयं हो जाता है। बुद्ध से बहुत पूर्व पाणिनि के समय (800 ई० पू०) अत्रि एक प्राचीन गोत्र बन चुका था—'अत्रिभृगुकुत्सवसिष्ठ गोतमाङ्गिरोभ्यश्च', (अष्टा० सू० 2/4/65) पतञ्जलि ने महाभाष्य में इस सूत्र के पांच उदाहरण दिये

1. महाभारत, आदि पर्व, अ० 132
2. गान्धर्वं नारदो वेद भरद्वाजो धनुर्ग्रहम्।
देवर्षिचरितं गार्ग्यः कृष्णात्रेयश्चिकित्सितम्।'—महाभारत, शान्ति०, अ० 210

हैं—(1) अत्रि भरद्वाजिका, (2) वशिष्ठ कश्यपिका, (3) भृग्वङ्गिरसिका, (4) कुत्स कुशिका, (5) गर्गभार्गविका। बौद्धकालीन महाभाग जीवक के गुरु के नाम के साथ भी आत्रेय गोत्रवाची शब्द तिब्बतीय उपकथाओं में मिलता है, परन्तु दूसरी सिंहलीय कथाओं में उनका नाम 'कपिलाक्ष' दिया गया है।[1] स्पष्ट है कि बौद्धकालीन आचार्य कपिलाक्ष आत्रेय गोत्र के रहे थे। अग्निवेश के गुरु और चन्द्रभागा के पुत्र नहीं थे। आत्रेय कपिलाक्ष तक्षशिला तथा आत्रेय पुनर्वसु काम्पिल्य के निवासी थे। कपिलाक्ष तक्षशिला के विश्वविद्यालय में आचार्य थे, उन्होंने जीवक को आयुर्वेद शिक्षा दी थी। आत्रेय पुनर्वसु इससे बहुत पूर्व काम्पिल्य विश्वविद्यालय के आचार्य थे। तक्षशिला का वैभव बढ़ने से बहुत पूर्व पञ्चाल की राजधानी काम्पिल्य प्रतिष्ठा प्राप्त कर चुकी थी। वैदिक साहित्य में पञ्चाल और काम्पिल्य का उल्लेख है।[2] रामराज्य के पश्चात् भरत के पुत्र तक्ष की राजधानी बन जाने के उपरान्त तक्षशिला का अभ्युदय प्रारम्भ हुआ। भरत का माता कैकेयी केकयवंश[3] (पश्चिम पंजाब और सिन्धु देश) के सम्राट् युधाजित् अश्वपति की बहन थी। राम के राजतिलक के अनन्तर युधाजित् ने राम की आज्ञा से भरत के सेनापतित्व में गान्धार पर आक्रमण कर दिया। रघु की दिग्विजय के उपरान्त धीरे-धीरे स्वतन्त्र बना हुआ गान्धारों का शासन परास्त हो गया। भरत के दो पुत्र थे—बड़ा 'तक्ष,' छोटा 'पुष्कल'। राम की आज्ञा से केकय देश की पुरानी सीमा में तक्ष के नाम से तक्षशिला और पुष्कल के नाम से विजित गान्धार में पुष्कलावती (चारसद्दा) नाम की राजधानियां स्थापित की गई।[4] जब तक्षशिला का वैभव धीरे-धीरे बढ़ रहा था, इससे कितनी ही पूर्व काम्पिल्य का वैभव विश्वविख्यात हो चुका था। इस प्रकार जब तक्षशिला का यौवनोन्मेप नहीं था, आत्रेय पुनर्वसु काम्पिल्य में भारतीय विज्ञान के मस्तक पर राजतिलक कर चुके थे। ऐसी दशा में तक्षशिला के आचार्य कपिलाक्ष के साथ आत्रेय पुनर्वसु की एकरूपता करना कितना असंगत है? वह भी बौद्धकाल में?

भेड ने भगवान् आत्रेय पुनर्वसु की गान्धार-यात्रा का उल्लेख किया है।[5] आत्रेय के वहां पहुंचने पर गान्धार के सम्राट् नग्नजित् ने विष विज्ञान के सम्बन्ध

---

1. विस्तृत विवरण—श्री पं० हेमराज शर्मा लिखित 'काश्यप संहिता' के उपोद्घात पृ० 79 पर देखें।
2. '···सुभद्रिकां काम्पीलवासिनीम्।'—यजुर्वेद, 23/18
   'पाञ्चालानां समितिमेयाय।'—शतपथ ब्राह्मण तथा छान्दोग्य उपनि०
3. 'केकय-देश यह दक्षिण केकय था। उत्तर केकय धियानशान का प्रदेश था। केकयवंश था, जो सिन्धुदेश तथा बिलोचिस्तान में राज्य करता था। पीछे उसे ही केकय देश नाम से पुकारने लगे।
   देखें—रघुवंश, सर्ग 10/55
4. युधाजितश्च सन्देशात्स देशं सिन्धुनामकम्।
   ददौदत्त प्रभावाय भरताय भृतात्मजः॥
   भरतस्तत्र गन्धर्वान्युधि निर्जित्य केवलम्।
   आतोद्यं ग्राहयामास समत्याजयदायुधम्॥
   सतक्ष पुष्कलौ पुत्रौ राजधान्योस्तदाख्ययोः।
   अभिषिच्याभिषेकार्हौ रामान्तिक मगात्पुनः॥—रघुवंश, सर्ग 15/87-89
5. गान्धार देशेराजर्षिर्नग्नजित्स्वर्गमार्गदः। संगृह्यपादौपप्रच्छ चान्द्रभागं पुनर्वसुम्॥—भेड सं०, पृ० 30

में उनसे प्रश्न किये। आत्रेय ने उनका समाधान दिया। 'शतपथ ब्राह्मण' में नग्नजित् का उल्लेख है,[1] 'ऐतरेय ब्राह्मण' में भी।[2] वहां लिखा है कि नग्नजित् बड़ा विद्वान् और पराक्रमी था। उसने अनेक यज्ञ-याग करके दूर-दूर तक प्रतिष्ठा प्राप्त कर ली थी। उसकी इच्छा के विरुद्ध कोई राजा श्रीसम्पन्न नहीं रह सका। वह महान् हो गया। इसका कारण उसके अनेक यज्ञों का हविशेप ही था। नग्नजित् का पूरा नाम 'दारुवाह-नग्नजित्' था।[3] नग्नजित् का पुत्र भी अपने पिता के समान ही वीर था। परन्तु उसने एक गलती की। इन्द्र बनने के लालच में वह स्वर्ग पर आक्रमण कर बैठा। और जीत भी गया। इसी कारण शतपथ में उसे स्वर्ग को जीतने वाला (स्वर्जित्) लिखा है। भेड ने भी उसे स्वर्ग का संचालक (स्वर्गमार्गदः) स्वीकार किया। जिसको चाहे स्वर्ग जाने या आने देने की व्यवस्था उसने कर दी। स्वर्ग को भोजन सामग्री और नमक आदि पहुंचने का मुख्य मार्ग, जो गान्धार होकर ही था, उसने रोक दिया। इसका फल यह हुआ कि नग्नजित् को जहां राजर्षि कहकर पूजा गया, वहां उसके पुत्र के विरुद्ध मित्र-राष्ट्र विप्लव कर उठे। कोसल के दशरथ और सिन्धु के युधाजित् अश्वपति जैसे समृद्ध सम्राटों ने स्वर्गाधिपति इन्द्र का साथ दिया। इसका फल यह हुआ कि गान्धार सम्राट् नग्नजित् का पुत्र भरत के हाथों न केवल मारा गया किन्तु गान्धार का राज्य ही समाप्त हो गया। ऊपर के प्रसंग से यह स्पष्ट है कि सम्राट् नग्नजित् दारुवाह एक विद्वान् और वीर गान्धार का सम्राट् था। आयुर्वेद में भी उसकी प्रवृत्ति थी। उसने आत्रेय के गान्धार पहुंचने पर उनसे अगदतन्त्र विषयक प्रश्न किये और आत्रेय ने उनका समाधान किया। काश्यप संहिता में दारुवाह के साथ कश्यप का विचार-विमर्श हुआ था।[4] निदान दारुवाह नग्नजित, मारीच कश्यप तथा आत्रेय पुनर्वसु समकालीन सिद्ध हुए। भरत के साथ नग्नजित् के पुत्र का युद्ध यह स्पष्ट सिद्ध करता है, कि उक्त सारे ही महापुरुष रामायण-काल में हुए। महाभारत ईसा से 3000 वर्ष पूर्व हुआ. ऐसा सभी का निश्चय है। किन्तु रामायण-काल महाभारत से कितना पूर्व, यह यद्यपि अभी विवादास्पद है, परन्तु मेरा विचार है कि महाभारत से रामायण काल तक पहुंचने के लिए 4 या 5 हजार वर्ष और जोड़े जाने चाहिए। अर्थात् अब से प्रायः दस सहस्र वर्ष पूर्व हम आत्रेय का समय स्वीकार करेंगे।

कुछ इतिहासकारों ने भेड संहिता के 'स्वर्गमार्गदः' को 'स्वर्णमार्गदः' बना लिया है। इस परिवर्तन के उपरान्त वे लिखते हैं कि पाटलिपुत्र सम्राट् बिम्बसार से लेकर अशोक के समय (521 से 485 B. C) तक भारत के पश्चिमोत्तर प्रदेश में ईरान के सम्राट् दारायस (Darius) का अधिकार था। सीमा-प्रान्त के रक्षक होने के नाते दारायस को भारतीय सम्राट् एक करोड़ स्वर्ण-मुद्रायें कर के रूप में दिया करते थे। यह

1. शतपथ, 8-1-4-10 (स्वर्जिन्नाग्नजितः)
2. ऐतरेय, 35/8
3. 'नग्नजितो दारुवाहिनोप्यत्र दुष्यति प्रथमे रक्तमित्यादिक्रमेण···।'
—अष्टांग संग्रह, इन्दु व्याख्या, पृ० 314
4. काश्यप संहिता, सूत्र० 25/3

स्वर्ण धन सम्भवतः गान्धार के सम्राट् की मार्फत दारायस के पास पहुंचाया जाता था। इसलिए यही कल्पना कर लेना ठीक है कि वह गान्धार का सम्राट् नग्नजित् ही होगा। दारायस ईसा से 521 से 485 वर्ष पूर्व था। इस कारण नग्नजित् भी उसी समय हुआ होगा।[1] और नग्नजित् से आत्रेय का वार्तालाप हुआ था। सुतरां आत्रेय भी ईसा से 521 वर्ष पूर्व से लेकर 485 वर्ष पूर्व तक हुए होंगे। कृपया ऐतिहासिक संसार में ऐसी काल्पनिक रचनाएं न की जायें तो अच्छा। स्वर्ग के भौगोलिक और ऐतिहासिक परिचय न होने से 'स्वर्गमार्गदः' को 'स्वर्णमार्गदः' कल्पना किया गया और स्वर्ण मुद्रायें कर के रूप में दी गई। इसलिए दारायस के समय गान्धार में नग्नजित् भी कल्पित, और उस काल में आत्रेय भी कल्पित। कल्पना की सीमा ही क्या है?

भेड संहिता, काश्यप संहिता अथवा शतपथ के जिस नग्नजित् का उल्लेख हमने ऊपर किया है, वह आत्रेय का शिष्य नग्नजित् प्रथम था। बहुत काल उपरान्त गान्धार में नग्नजित् द्वितीय भी हुआ। यह महाभारत का समकालीन गान्धार सम्राट् था। यह सम्राट् प्रह्लाद का शिष्य था। यह गुरु प्रह्लाद वही प्रतीत होते हैं जिन्हें भक्त प्रह्लाद के नाम से हम ग्रन्थों में पढ़ते आये हैं। इस नग्नजित् के सम्भवतः कोई सन्तान न थी। इस कारण इसके छोटे भाई सुवल को राज्यशासन में प्रमुख स्थान मिला। नग्नजित् नाम मात्र को सम्राट् अवश्य था, प्रभुता उसके छोटे भाई सुवल के हाथ में थी। सुवल के एक पुत्र और एक पुत्री थी। पुत्र महाभारत का प्रसिद्ध जुआरी शकुनि था और पुत्री, धृतराष्ट्र की आदर्श पतिव्रता पत्नी गान्धारी।[2]

इतिहास के प्रशस्त लेखक डॉक्टर राधाकुमुद मुकर्जी ने ऐतिहासिकों के उत्तरदायित्व की रक्षा की। उनका भाव है कि यदि दारायस के समय कोई नग्नजित् सम्राट् हुआ भी हो तो वह अन्य ही होगा, आत्रेय का समकालीन नहीं। 'स्वर्णमार्गदः' विशेषण पश्चिमोत्तरवर्त्ती सम्राट् के लिए आदिकाल में भी हो सकता है, क्योंकि उसी मार्ग से रोम और ग्रीस आदि देशों का स्वर्ण भारत आया करता था। अनुसन्धानों से यह सिद्ध है कि वह समय ईसा से कम से कम तीन हज़ार वर्ष पूर्व अवश्य था।[3]

आत्रेय के काल-निर्णय के लिए आत्रेय के सहयोगी महर्षियों को रामायण के साथ संतुलित कीजिये। चरक संहिता के अनुसार आयुर्वेद के अभ्युत्थान के लिए प्रारम्भ में जो महर्षि हिमालय की उपत्यकाओं पर एकत्रित हुए थे वे अधिकांश वे ही हैं जो रामायण के पात्र हैं। अग्निवेश की संहिता (चरक संहिता) जिनके वैज्ञानिक चरित्र की व्याख्या प्रस्तुत करती है, रामायण उन्हीं के नैतिक चरित्र का वर्णन। दोनों में वर्णित व्यक्तियों के नैतिक जीवन को उनके वैज्ञानिक व्यक्तित्व के साथ मिलाकर देखिये तो आत्रेय के समय और उसके निर्मल इतिहास का सुन्दर परिचय मिलेगा। आत्रेय के साथी महर्षियों का रामायण के महर्षियों के साथ सामंजस्य तो देखिये—

1. Early History of India by V. A. Smith, p. 33/35
2. देखें, महाभारत, आदि पर्व, अध्याय 63/110-120
3. History of Indian Shipping and Maritime Activity, Book I, Part II by R. K. Mukherjee.

चरक संहिता के महर्षि	रामायण के महर्षि
1. जमदग्नि	1. जमदग्नि (परशुराम के पिता)
2. वसिष्ठ	2. वसिष्ठ (राम के कुलगुरु)
3. अत्रि	3. अत्रि (अनसूया के पति)
4. अगस्त्य	4. अगस्त्य (दण्डकारण्यवासी मुनि)
5. भृगु	5. भृगु (परशुराम के पितामह)
6. पुलस्त्य	6. पुलस्त्य (रावण के पितामह)
7. भार्गव	7. भार्गव (परशुराम)
8. नारद	8. नारद (रामचरित्र के प्रस्तोता)
9. भरद्वाज	9. भरद्वाज(त्रिवेणी संगम, प्रयागवासी मुनि)
10. जनक वैदेह	10. जनक वैदेह (राम के श्वसुर)
11. गौतम	11. गौतम (अहल्या के पति)
12. विश्वामित्र	12. विश्वामित्र (राम के गुरु)

इतना वड़ा साम्य रहते हुए आत्रेय पुनर्वसु को रामायण-काल के अतिरिक्त दूसरे काल में स्वीकार किया ही नहीं जा सकता। महाभारत का समय ईसा से 3000 वर्ष पूर्व प्रायः निर्धारित है। रामायणकाल महाभारत से प्रायः इतना ही पूर्व अवश्य होगा। अर्थात् अव से लगभग दस सहस्र वर्ष पूर्व भगवान् आत्रेय पुनर्वसु ने इस भारत-भूमि को अपने उज्ज्वल चरित्र से पवित्र किया था, यह कहने में इतिहास के साथ कोई अन्याय न होगा। हो सकता है कि इतिहास के भावी अनुसन्धान उन्हें दस हज़ार वर्ष से अधिक पूर्व ले जायें।

आत्रेय पुनर्वसु की विज्ञान परिषदें एवं चरक संहिता

आत्रेय पुनर्वसु की विज्ञान परिषदों पर दृष्टि डालने पर पता चलता है कि उन्होंने कितना महान् कार्य किया। क्षुद्र और दम्भी उस समय भी होते थे। किसी वैज्ञानिक रहस्य को जान लेने पर वे लोग उसे छिपाने का प्रयास करते हैं, ताकि उससे आर्थिक लाभ उठायें। आत्रेय ने ऐसे दंभियों को वहुत तिरस्कृत किया।[1] उन्होंने सदैव यह प्रयास किया कि प्रत्येक आविष्कार वैज्ञानिक आधार पर हो। पुरानी भूत-प्रेत-वाधाओं के प्रति फैले हुए भ्रमपूर्ण विचारों की उन्होंने कटु आलोचना की, और चिकित्सकों को यह वताया कि मनुष्य प्रज्ञापराध के विना कभी रोगी नहीं होता। हम पीछे कह चुके हैं कि देव, गन्धर्व, पिशाच और राक्षसों को उन्होंने मिथ्या-हेतु कहकर भूत-विद्या के वैज्ञानिक आधार प्रस्तुत किये, और अपने साथ होने वाली विद्वत्सम्भाषाओं में अन्य प्राणाचार्यों को भी उसी मार्ग पर चलने की प्रेरणा दी।[2]

---

1. दम्भिनो मुखराह्यज्ञाः प्रभूतावद्धभाषिणः।
   प्रायः प्रायेण सुमुखा सन्तो युक्ताल्प भाषिणः ॥—चरक०, सू० 30/74
2. प्रज्ञापराधात्सम्प्राप्ते व्याधौकर्मज आत्मनः।
   नैव शसेद्‌:वुधो देवान्न पितॄन्नापि राक्षसान् ॥
   आत्मानमेव मन्येत कर्तारं सुख दुःखयोः ॥ —चरक०, निदान० 8/22-23

वैज्ञानिक दृष्टि से हीन चिकित्सकों को उन्होंने सदैव समाज का शत्रु कहा। उन्होंने कहा—दो प्रकार के चिकित्सक हैं, एक रोगहन्ता, दूसरे प्राणहन्ता। जैसे रोग का परिज्ञान चिकित्सक के लिए आवश्यक है वैसे ही जनता के लिए यह भी आवश्यक है कि वह यह जाने कि रोगहन्ता कौन है, और प्राणहन्ता कौन?

एक प्रतिवादी मैत्रेय ने आत्रेय के विज्ञानवाद के विरोध में उनसे कहा—आप विज्ञान का दम भरते हैं, किन्तु चिकित्सा करते-करते भी हम देखते हैं कि रोगी मरते हैं, तब विज्ञान का भरोसा कहां है? आत्रेय ने विज्ञान के समर्थन में जो वक्तव्य दिया, बहुत ही युक्तियुक्त और प्रभावशाली है; और साथ ही आस्तिक दर्शन का समर्थक भी। नास्तिकवादी निराशा का भविष्य भाग्य पर खड़ा करना चाहता है। वैज्ञानिक योग्यता की कमी ही मृत्यु का कारण है। जो विज्ञान के तत्त्व तक पहुंच गये, वे अमर हो गये।

चिकित्सकों की तीन श्रेणियां उस समय भी थीं—(1) छद्मचारी, (2) सिद्ध-साधित, (3) जीविताभिसारी। वैद्यों जैसी शीशियां, अलमारियां और यन्त्र-शस्त्र बटोर-कर बिना पढ़े-लिखे बनावटी वैद्य छद्मचारी हैं। कुछ वे हैं जो विद्वान् और अनुभवी प्राणाचार्यों की चापलूसी से उपाधियां प्राप्त करके जनता से धन कमाने के लिए आडंबर करते हैं, वे सिद्ध साधित और जो शिक्षा, अभ्यास तथा गुरुओं से वैज्ञानिक ज्ञान पाकर जनता के सुख के लिए चिकित्सा में प्रवृत्त होते हैं, वे जीविताभिसारी वैद्य होते हैं। इसलिए वैद्य और औषधि का चुनाव वैज्ञानिक होना चाहिए।[1]

महर्षि के जीवन की मुख्य-मुख्य वैज्ञानिक सभाओं का उल्लेख चरक संहिता में बड़े सुन्दर ढंग से किया गया है, जो न केवल लेखन का सौष्ठवमात्र है, किन्तु पक्ष और प्रतिपक्ष के वादविवाद द्वारा सुन्दर वैज्ञानिक तत्त्वों को हमारे सामने रखती हैं। इन वैज्ञानिक परिषदों में विज्ञान के साथ-साथ इतिहास और भूगोल के गम्भीर संस्मरण हमारे समक्ष आते हैं, जिनसे हमें अपने महान् अतीत का परिचय मिलता है। इतना ही नहीं, उनमें आचारशास्त्र के वे गम्भीर विचार भी हैं जो हमारी धार्मिक और राष्ट्रीय परम्पराओं के आधार हैं।

चरक संहिता में आठ अध्याय हैं—

1. सूत्र स्थान (श्लोक: स्थान)	30 अध्याय
2. निदान स्थान	8 अध्याय
3. विमान स्थान	8 अध्याय
4. शारीर स्थान	8 अध्याय
5. इन्द्रिय स्थान	12 अध्याय
6. चिकित्सित स्थान	30 अध्याय
7. कल्प स्थान	12 अध्याय
8. सिद्धिस्थान	12 अध्याय
	योग 120 अध्याय

1. चरक०, सू० 11/50-63.

किन्तु हमारा दुर्भाग्य यह है कि चरक संहिता अपने मूल रूप में हम सुरक्षित न रख सके। इसलिए चिकित्सा स्थान के तीस अध्यायों में पिछले सतरह अध्याय तथा कल्पस्थान और सिद्धिस्थान, सम्पूर्ण भाग छिन्न-भिन्न हो गये। किन्तु चक्रपाणि ने लिखा कि चिकित्सा स्थान के यक्ष्म चिकित्सा तक आठ और अर्श, अतीसार, विसर्प, द्विव्रणीय, मदात्यय ये पांच, इस प्रकार तेरह अध्याय प्राचीन रह गये और शेष छिन्न हो गये। इन छिन्न-भिन्न अध्यायों को दृढ़वल ने परम्परा से प्राप्त मौखिक स्मरणों द्वारा या अन्य संहिताओं के सहारे पूर्ण किया। शेष कल्प और सिद्धि स्थान को भी दृढ़वल ने फिर से लिखा। जो भी हो, उनकी मौलिकता जाती रही।

आदि में यह ग्रन्थ 'अग्निवेश तन्त्र' नाम से प्रचलित था, वह टूटा-फूटा तो चरक ने सम्पूर्ण प्रतिसंस्कार किया। और चरक द्वारा प्रतिसंस्कृत भी फिर टूट गया, तो कपिलवल के पुत्र दृढ़वल ने सम्हाल दिया। ठीक किया, उनके प्रति हम कृतज्ञ हैं, किन्तु चरक ने अग्निवेश की मौलिकता और शैली में जो अपना सौष्ठव समाविष्ट किया था, वह वात ही कुछ और थी। उनमें जो ओज, सौष्ठव, ओजस्वी भाषा और ऐतिहासिक शैली थी, वह दृढ़वल में नहीं आयी। वे फटे कपड़े में पैवन्द की भांति तुरन्त पता चलेंगे। इसलिए उनमें वह सामग्री नहीं है जो चरक के प्रतिसंस्कार तक थी। वह इतिहास, विषय की प्रस्तावना, पूर्वोत्तर पक्ष और वस्तु का प्रतिपादन ही तो चरक की मौलिकता है, वह दृढ़वल में कहां है ?

सूत्रस्थान में पहला, वारहवां, पचीसवां, छव्वीसवां और तीसवां अध्याय वड़े ऐतिहासिक हैं। इनमें भगवान् आत्रेय पुनर्वसु के उन सहयोगियों के परिचय, भाषण और वादविवाद हैं जिन्होंने किसी समय 'दत्तात्रेय युग' का निर्माण किया था। वे उस युग के उत्कृष्ट वैज्ञानिक, दार्शनिक और प्राणाचार्य थे। जिस शैली में उनके संस्मरण अग्निवेश ने संकलित किये और चरक ने सुरक्षित रखे वह स्पृहणीय ही नहीं, कमनीय भी है।

सूत्रस्थान के प्रथम, वारहवें, पचीसवें अध्यायों में आत्रेय की गोष्ठी के वे प्रसंग हैं जिनमें सम्पूर्ण एशिया के उद्‌भट वैज्ञानिक समवेत हुए। प्रत्येक अध्याय में एक विज्ञान परिषद् का पृथक्-पृथक् उल्लेख है। उनमें भाग लेने वाले प्राणाचार्यों की उपस्थिति का विवरण और उनके सिद्धान्तों के पूर्वोत्तर पक्षों का ललित और गम्भीर विवेचन है।

यहां उन सभाओं और सभासदों का विवरण देना पाठकों के लिए वहुत रोचक होगा। सूत्रस्थान के प्रथम अध्याय का सम्मेलन ही अग्निवेश संहिता की प्रस्तावना है। इसमें भाग लेने वाले प्रमुख प्राणाचार्यो की सूची ग्रन्थ में दी है। वह सूचित करती है कि जिस समय वह परिषद् हुई, आर्यावर्त्त शासन, शिक्षा, चिकित्सा और समाज-व्यवस्था में अत्यन्त सुसंगठित और समृद्ध था।

यह परिषद् हिमालय की उस पट्टी पर हुई जो दक्षिण की ओर ढली हुई है। संहिता में किसी नगर का नाम तो दिया नहीं, किन्तु इतनी बड़ी परिषद् का सम्मेलन होने के लिए निश्चय ही एक वड़े समतल गिरिपार्श्व की योजना हुई होगी। हम तक्ष-शिला से अल्मोड़ा तक कहीं कल्पना कर सकते हैं, जहां जल, भोजन और निवास की

प्राकृतिक सुविधा हो : सम्मेलन की योजना का आधार जन-जीवन की सुख-सुविधाओं की एक सामान्य प्रेरणा थी, जिसका उद्देश्य केवल यही था कि समाज को बेचैन करने वाले रोगों का उन्मूलन किया जाय, जो तप, सदाचार, शिक्षा, ब्रह्मचर्य एवं जीवन के सामान्य व्यवहारों को सुचारु नहीं चलने देते। प्राणिमात्र इस व्याधि-विस्तार से दुःखी है। न केवल मनुष्य किन्तु इस प्रेरणा में प्राणिमात्र के प्रति गम्भीर सहानुभूति और करुणा थी। ग्रन्थ में लिखा—वे महर्षि थे। उन महर्षियों के अतिरिक्त जो लोग थे उनके पद और संस्थाओं के नाम देकर उनकी उपस्थिति सूचित की गई।

ग्रन्थ की प्रस्तावित ध्वनि यह है कि वे विचारक भी हज़ारों से कम न थे। जो चोटी के वैज्ञानिक उपस्थित हुए उनके नाम देखिये —

1. अंगिरा
2. जमदग्नि
3. वसिष्ठ
4. कश्यप
5. भृगु
6. आत्रेय
7. गौतम
8. सांख्य
9. पुलस्त्य
10. नारद
11. असित
12. अगस्त्य
13. वामदेव
14. मार्कण्डेय
15. आश्वलायन
16. पारीक्षि
17. भिक्षु आत्रेय
18. भरद्वाज
19. कपिञ्जल
20. विश्वामित्र
21. अश्वरथ
22. भार्गव च्यवन
23. अभिजित्
24. गर्ग्य
25. शाण्डिल्य
26. कौण्डिन्य
27. वार्क्षि
28. देवल
29. गालव
30. सांकृत्य
31. कुशिक
32. बादरायण
33. वडिश
34. शरलोम
35. काप्य
36. कात्यायन
37. कांकायन
38. कैकशेय
39. धौम्य
40. मारीचि कश्यप
41. शर्कराक्ष
42. हिरण्याक्ष
43. लोकाक्ष
44. पैंगि
45. शौनक
46. शाकुनेय
47. मैत्रेय
48. मैमतायनि
49. अन्य वैखानस और बालखिल्य
50. अन्य महर्षि

यह ईराक (वाह्लीक) से इण्डोचीन (पूर्वान्त) तक के वैज्ञानिकों की सूची है। इनमें अड़तालीस व्यक्ति प्रथम कोटि के हुए। उनंचास और पचास नम्बर में योग्यता रखने

वालों की सामान्य कक्षायें लिख दीं। विचारीय विषय एक ही था—'रोग कैसे हटाये जायें ? धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की सिद्धि के लिए स्वास्थ्य चाहिए, वह कैसे प्राप्त हो ?'

सारे विद्वान् केवल इस बात पर एकमत हुए कि चिकित्सा-विज्ञान का अध्ययन किया जाय। वह अध्ययन केन्द्र केवल स्वर्ग में इन्द्र का विश्वविद्यालय है। वहां अध्ययन के लिए कौन जाये ? यह प्रश्न उठने पर भरद्वाज ने अपने आपको प्रस्तुत किया। सर्व-सम्मति से भरद्वाज इन्द्र की शरण गये। इन्द्र को अभिवादन किया और इन्द्र ने उन्हें आयुर्वेद की शिक्षा दी। निदान, रोग और चिकित्सा ही उसके तीन सूत्र थे।

भरद्वाज पढ़कर आये, आर्यावर्त्त के ऋषियों को आयुर्वेद की शिक्षा दी। आत्रेय पुनर्वसु ने भी पहले-पहल आयुर्वेद की शिक्षा उन्हीं के चरणों में बैठकर प्राप्त की। हारीत संहिता में आत्रेय के गुरु का नाम भरद्वाज ही लिखा है। कहीं-कहीं, जैसे वाग्भट ने आत्रेय का गुरु इन्द्र को भी लिखा है, वह भी ठीक है। पीछे से रसायन विज्ञान अध्ययन करने आत्रेय भी इन्द्र के विश्वविद्यालय गये। अग्निवेश संहिता (चरक) के रसायन पाद में ही उस घटना का उल्लेख है।

आत्रेय पुनर्वसु के कर्मक्षेत्र में आने पर अग्निवेश, भेड, जतूकर्ण, पराशर, हारीत, क्षीरपाणि आदि छः शिष्य तब हुए, जब अग्निवेश संहिता की रचना हुई। यद्यपि छहों शिष्यों ने एक-एक संहिता लिखी, किन्तु जो बौद्धिक योग्यता अग्निवेश ने प्रस्तुत की वह दूसरों से न बनी। यही कारण है कि जनता में अग्निवेश संहिता ही आदर पा सकी, यद्यपि छहों शिष्यों ने गुरु को अपनी संहितायें सुनाई। कृपालु गुरु ने सभी को उत्तीर्ण कर दिया, किन्तु जनता ने अग्निवेश को ही अधिक अंक दिये। वही चरक संहिता नाम से हमारे सामने है।

आत्रेय के जीवन का यह अत्यन्त अध्यवसायपूर्ण, त्यागमय एवं उदात्त चित्रण है। सार्वजनिक जीवन के प्रति उसमें गहरी सहानुभूति है और वैज्ञानिक सूझ-बूझ के प्रति जागरूकता। लिखा है, आत्रेय के शिष्यों ने जब अपनी संहितायें गुरु को सुनाई तो निर्णय देने के लिए स्वर्ग से देवर्षि आये, देवता आये तथा स्थानीय विद्वान् एकत्रित हुए। छहों संहिता-लेखकों का सम्मान किया गया, पुष्प बरसाये गये और जन-जन में प्रशंसा की चर्चा गूंज गई। अपने शिष्यों के प्रति गुरु का यह वात्सल्य और आदर वन्दनीय है।

दूसरी विज्ञान सभा सूत्रस्थान के बारहवें अध्याय में दी गई है। इसमें प्रथम सभा की भांति योजनात्मक विचार-विमर्श नहीं हैं प्रत्युत वैज्ञानिक विषय पर वादविवाद है। इस विज्ञान-गोष्ठी में निम्न वैज्ञानिक हुए—

1. कुश सांकृत्यायन।
2. कुमारशिरा भारद्वाज।
3. काङ्कायन बाह्लीक।
4. बडिश धामार्गव।
5. वार्योविद राजर्षि।
6. मारीचि कश्यप।
7. काप्य।

8. आत्रेय पुनर्वसु ।

इस गोष्ठी में आयुर्वेद के मौलिक सिद्धान्तों की वैज्ञानिक ऊहापोह है। प्रमुख प्रश्न थे कि वात, पित्त, कफ में—

1. वायु के गुण क्या हैं ?
2. वायु का प्रकोप क्या है ?
3. वायु का उपशम क्या है ?
4. इस अमूर्त और अस्थिर तत्त्व का प्रकोपन और प्रशमन कैसे संभव होता है ?
5. कुपित और अप्रकुपित दशा में इसके क्या कार्य होते हैं ? यह शरीरचारी भी है, वहिश्चारी भी, दोनों की क्रियाओं का विवेचन क्या है ?

उपर्युक्त आठों प्राणाचार्यों ने इस गोष्ठी में अपने-अपने पक्ष प्रस्तुत किये। आत्रेय पुनर्वसु ने अपने वक्तव्य में सबका समन्वय किया और प्रकृति के वैज्ञानिक परिवर्तनों को उद्धृत करते हुए सिद्धान्त पक्ष प्रस्तुत किया, जो सभी ने स्वीकार किया।

सूत्रस्थान के पचीसवें अध्याय में तीसरी वैज्ञानिक गोष्ठी विज्ञान का अध्यात्म से समन्वय करती है। आत्मा, इन्द्रिय, मन और ज्ञान इन सबका समुच्चय ही पुरुष कहा जाता है। इस पुरुष के बारे में प्रश्न ये थे—

1. इन चारों का समन्वय कैसे होता है ?
2. इसके समन्वय में रोग कैसे घुस जाते हैं ?
3. उत्पत्ति से पूर्व इनका क्या स्वरूप होता है ?

इस गोष्ठी में भाग लेने वाले निम्न वैज्ञानिक थे—

1. काशीपति वामक ।
2. पारीक्षि मौद्गल्य ।
3. शरलोमा ।
4. वार्योविद ।
5. हिरण्याक्ष कुशिक ।
6. कौशिक (शौनक)
7. भद्रकाप्य ।
8. भरद्वाज ।
9. काङ्कायन ।
10. भिक्षु आत्रेय ।
11. अग्निवेश ।
12. आत्रेय पुनर्वसु ।

इन उपर्युक्त विद्वानों के समक्ष पुरुष के समन्वय की उलझन बहुत दुःसाध्य हो गई। आत्रेय पुनर्वसु ने ऐसा सुन्दर समाधान दिया कि तर्क समाप्त हो गया। 'जिन तत्त्वों की समता पुरुष को जीवन देती है, उन्हीं की विषमता रोगों को जन्म देती है।' काशी के सम्राट् वामक ने इस वादविवाद में गहरी तर्कनायें कीं परन्तु आत्रेय

के वैज्ञानिक उत्तरों ने उन्हें निरुत्तर कर दिया।

चौथी विज्ञान-गोष्ठी सूत्रस्थान के छव्वीसवें अध्याय में प्रस्तुत हुई है। यह गोष्ठी रस और आहार की चर्चा करने के लिए चैत्ररथ नाम के उपवन में हुई। चैत्ररथ उपवन गढ़वाल में अलकनन्दा के किनारे कुवेर की नगरी अलकापुरी में था। वह स्थान 'अलकापुरी वांक' आज तक विद्यमान है। वांक खेटक को कहते हैं। इस गोष्ठी का स्थान-निर्देश यह ध्वनित करता है कि जिन गोष्ठियों का स्थान-निर्देश नहीं है वे काम्पिल्य में हुई होंगी, क्योंकि आत्रेय पुनर्वसु का वहीं अधिकांश निवास था।

इस गोष्ठी में भाग लेने वालों में परस्पर जय-पराजय की प्रवल प्रतिस्पर्धा थी। रस कितने माने जायें? उनका आहार में क्या महत्व है? उनकी शरीर पर क्या और कैसे प्रतिक्रिया होती है? प्रतिस्पर्धीवक्ता निम्न थे—

1. आत्रेय (भिक्षु)।
2. भद्रकाप्य।
3. शाकुन्तेय।
4. पूर्णाक्ष।
5. मौद्गल्य।
6. हिरण्याक्ष।
7. कौशिक।
8. कुमारशिरा भारद्वाज।
9. वार्योविद राजर्षि।
10. निमि वैदेह।
11. वडिश।
12. काङ्कायन वाह्लीक।

छः रस ही होने चाहिए। उनकी रासायनिक प्रतिक्रिया रस, विपाक, वीर्य और प्रभाव क्रम से शरीर में होती है। वे रस विपाक आदि भी क्रम से उत्तरोत्तर बलवान् होते हैं। इन सम्पूर्ण समस्याओं पर आत्रेय के प्रवचन बड़े महत्त्व के हैं। षड्रस सिद्धांत के आधार पर विश्व की प्रत्येक वस्तु औषधि हो सकती है। केवल रस के परिज्ञान से ही चिकित्सा नहीं चलती; वीर्य, विपाक और प्रभाव भी जानो। चिकित्सा-विज्ञान के मौलिक सिद्धात देखने हों तो इस गोष्ठी की चर्चा देखनी चाहिए।

सूत्रस्थान के वाद विमानस्थान ही चरक संहिता में उत्कृष्ट है। इसका अर्थ यह नहीं है कि निदान-स्थान अपकृष्ट है। आत्रेय का प्रवचन अपकृष्ट तो होता ही नहीं, तो भी धन्वन्तरि का सुश्रुत में लिखा निदान और आत्रेय का चरक में लिखा चिकित्सा-स्थान अपना प्रतिस्पर्धी नहीं रखते।

विमानस्थान चरक की मौलिक योजना है, जिसके विना वैद्य अधूरा रहता है। वैद्य का आचारशास्त्र विमानस्थान ही है। इसका तीसरा अध्याय 'जनपदोध्वंसीय विमान' है। वह युग था जब पञ्चाल देश अपने चरम उत्कर्ष पर था। गंगा के किनारे काम्पिल्य (फर्रुखाबाद) उसकी राजधानी थी। आत्रेय पुनर्वसु

यहीं एक विशाल विद्या-केन्द्र संचालित कर रहे थे। द्विजाति के उज्ज्वल परिवार इसे सम्पन्न और शस्य-श्यामल वनाये थे। भगवान् आत्रेय गंगा के तट पर अपने शिष्यों के साथ वन-विचरण कर रहे थे। वे सहसा प्रमुख शिष्य अग्निवेश से वोले–"सौम्य! अपने चारों ओर देखो, ऋतु विकृत हो गई हैं। ग्रह नक्षत्र, जल, वायु अपना स्वाभाविक गुण छोड़ रहे हैं। भूमि भी विगुण हो जायगी। और भयानक रोग फैलकर सारे जनपद को अस्तव्यस्त कर देगा। इससे पहले औषधियां उखाड़कर रख लो, अन्यथा चिकित्सा कैसे करोगे? वातावरण विकृत होने पर औषधियों के गुण नष्ट हो जाते हैं।"

जनता के सम्मिलित पाप-पुण्य सम्पूर्ण जनपद को कैसे प्रभावित करते हैं, सारा जनपद एक ही रोग से क्यों विकल होता है, इन गहन प्रश्नों के उत्तर ही इस प्रसंग में संगृहीत हैं। पुरुषार्थ और दैव का जीवन पर कैसे प्रभाव होता है, यह देखना हो तो विमानस्थान देखना चाहिए। विमानस्थान में वह युक्ति है, जो वैद्य को वैद्य होने की योग्यता और सफलता देती है।

रस विमान में लिखा है कि पीपल, नमक और क्षार इन तीन वस्तुओं का प्रयोग वहुत नहीं करना चाहिए। परिणाम में पीपल के अति प्रयोग से कफ-पित्त के विकार होते हैं। क्षार का अत्युपयोग केश, आंख, हृदय और मैथुन की शक्ति को नष्ट करता है। चीन और इण्डोचीन में लोग क्षार अधिक खाते हैं, इसलिए उधर के लोग अधिकतर गंजे. अन्धे, भीरु और नपुंसक होते हैं। नमक का अत्युपयोग शरीर को शिथिल करता है। स्वभाव में ग्लानि और कष्ट-सहन की क्षमता को नष्ट कर देता है। वाह्लीक (वैवीलोन), सौराष्ट्र, सिन्ध और सौवीर के लोग दूध भी नमक से पीते हैं, इसी कारण वे सौन्दर्य और तेज से हीन हो जाते हैं। शरीर से शिथिल होते हैं।

व्यावहारिक ज्ञान की महत्त्वपूर्ण वातें विमानस्थान में देखनी चाहिए।

शारीरस्थान में अग्निवेश ने पूछा—भगवन्! गर्भ में शरीर का कौन भाग प्रथम निर्मित होता है? वहां आत्रेय ने अनेक वैज्ञानिकों के विचार उद्धृत किये और अपना सिद्धान्त वताया। निम्न विद्वानों के विचार वहां आये—

1. कुमारशिरा भारद्वाज—सिर प्रथम वनता है।
2. कांकायन —हृदय पहले वनता है।
3. भद्र रुकाप्य —नाभि प्रथम वनती है।
4. भद्र शौनक —आंतें और गुदा प्रथम वनती है।
5. वडिश —हाथ-पैर पहले वनते हैं।
6. वैदेह जनक —समग्र इन्द्रियां प्रथम वनती हैं।
7. मारीचि कश्यप —परोक्ष होने से अचिन्त्य है।
8. धन्वन्तरि —सारे अंग एक साथ वनते हैं।

आत्रेय ने कहा—धन्वन्तरि का विचार ही उपादेय है।

इन्द्रिय-स्थान में साध्यासाध्य लक्षणों का विवेचन किया गया है। मृत्यु का पूर्व-निर्देश देने वाले आश्चर्यजनक लक्षण इस अध्याय में संगृहीत हैं।

अनन्तर आत्रेय का अद्वितीय चिकित्सा-स्थान है। चरक संहिता का सर्वोत्कृष्ट

अध्याय यही है—बहुत वैज्ञानिक और प्रयोगसिद्ध। चरक की चिकित्सा का प्रत्येक प्रयोग (नुस्खा) रामवाण है। साथ ही इस अध्याय की लेखन-शैली अत्यन्त रोचक और ऐतिहासिक है। उसमें आर्यावर्त्त और स्वर्ग के भौगोलिक और ऐतिहासिक संस्मरण सुरक्षित हैं।

इस स्थान के प्रारंभिक दो अध्याय रसायन और वाजीकरण विषयों पर लिखे गये। रसायन पर लिखा तो सुश्रुत और कश्यप ने भी, किन्तु आत्रेय का रसायनपाद अपना उपमान स्वयं है। फिर अग्निवेश की लेखन-कला और चरक के प्रतिसंस्कार ने उसे ऐसा अलंकृत कर दिया है कि रासायनिक प्रभाव पढ़ने वाले पर भी होने लगता है।

चिकित्सा रोग हटाकर स्वास्थ्य देती है। किन्तु स्वस्थ होकर भी ऊर्जा की आवश्यकता रहती है। इसलिए आत्रेय ने औषधियों के दो विभाग बताये—

1. रोग नुत्। रोगी के लिए।
2. ओजस्कर। स्वस्थ के लिए।

फिर उन्होंने कहा—मेरे प्रयोग दोनों काम के हैं। किसी को कहीं भी प्रयोग करो, लाभ होगा।

इस चिकित्सा-स्थान का सौष्ठव यह भी है कि दिये गये प्रयोगों के परीक्षित होने का प्रमाण भी बहुधा दिया गया है। यह प्रयोग अमुक व्यक्ति पर प्रयोग किया गया और सफल सिद्ध हुआ। इस प्रकार उसकी प्रामाणिकता देने से वह असंदिग्ध प्रयोग बन जाता है। च्यवनप्राश-रसायन आत्रेय पुनर्वसु का ही आविष्कार है। अनेक रसायन प्रयोग वे हैं जो स्वर्ग में प्रयोग किये गये, और वही उनका आविष्कार हुआ। आत्रेय ने उनके आविष्कर्ताओं के नाम रसायनों के साथ जोड़ दिये। ब्राह्मरसायन, च्यवनप्राश, ऐन्द्री-रसायन, इन्द्रोक्त रसायन, और इन सब के बाद आचार-रसायन भी लिखी। आचार रसायन उस महापुरूष के चारित्रिक आदर्शों की बानगी है। एक चिकित्सक प्राणाचार्य होकर भी जो अपने सांस्कृतिक आदर्शो पर आरूढ़ रहा। अपने सांस्कृतिक आदर्शों को आत्मसात् करने के लिए प्रत्येक वैद्य को आचार-रसायन का सेवन करना अनिवार्य है।[1]

आंवला, त्रिफला, शिलाजतु और भल्लातक पर आत्रेय के अनुसन्धान अपने ही हैं। वे अन्यत्र नहीं है। विशेषकर भल्लातक पर। यद्यपि इन्द्रोक्त रसायन में सोना, तांबा, प्रवाल, लोहा, स्फटिक (पुखराज), मोती, वैडूर्य (नीलम), शंख और चांदी इन वस्तुओं का प्रयोग भी लिखा है। अनेक वैज्ञानिक प्रयोग, उपाय और गुण लिखे किन्तु आचार-रसायन ही सर्वोत्कृष्ट रखी। प्राणाचार्य की पदवी पाने के लिए आत्रेय ने आचार-रसायन की ही शर्त रखी है।[2]

आत्रेय ने कहा—यह रसायन प्रयोग केवल सिद्धान्त नहीं, वशिष्ठ, कश्यप, अङ्गिरा, जमदग्नि, भृगु तथा उन-जैसे अनेक अन्य व्यक्तियों ने प्रयोग की हैं। थकान, बुढ़ापा, रोग और भयभावना से मुक्त होकर वे इच्छाजीवी हो गये थे। आंवले पर अपने

---

1. उपासितारं वृद्धनांमास्तिकानां जितात्मनाम्।
धर्मशास्त्र परंविद्यान्नरं नित्यरसायनम्।—चरक०, चि० 1/4/33
2. शीलवान्मतिमान्युक्तो द्विजातिः शास्त्रपारगः।
प्राणिभिर्गुरुवत्पूज्यः प्राणाचार्यः सहिस्मृतः। —चरक०, चि० 1/4/50

आविष्कार कहते-कहते महर्षि ने कहा आंवला फाल्गुण में लाये, ऊपर से तोड़े गये हों, एक वर्ष तक उन्हें खाये और गाय का दूध पिये। गौओं के बीच ही रहे, तो सदैव यौवन ही रहता है। बुद्धि में लक्ष्मी का आवास हो जायेगा।

आत्रेय ने यह इतिहास इसी प्रसंग में लिखा कि स्वर्ग में देवताओं ने अमृत के प्रयोग आविष्कृत किये, नागों ने सुधा के प्रयोग। महर्षियों ने यहां रसायन के प्रयोग वैसे ही टक्कर के आविष्कार किये हैं। इनसे बुढ़ापा, दुर्बलता, रोग और मृत्यु तक जीती जा सकती है।

स्वर्ग से ऋषि यहां (आर्यावर्त्त में) आये। वैभव बढ़ा। पर्यटन-वृत्ति छोड़कर ग्राम-जीवन व्यतीत करने लगे—ग्रामीण औषधियाँ, ग्रामीण भोजन, ग्रामीण विहार। सम्पत्तियां जोड़ लीं। इसलिए मन्द चेष्टा और मन्द प्रतिभायें हो गईं। अनमने रहने लगे। अपने उचित कर्तव्य पूरे करने में भी असमर्थ हो गये। उन्होंने अपना यह दोष अनुभव किया। एकत्रित होकर इसके प्रतिकार का उपाय ढूंढा तो सबने निश्चय लिया कि दोष हमारा ही है, इसलिए इन्द्र के समीप चलकर इसका प्रतिकार ज्ञात करें। भृगु, अङ्गिरा, अत्रि, वसिष्ठ, कश्यप, अगस्त्य, पुलस्त्य, वामदेव, असित, गौतम आदि महर्षि गये।

वे इन्द्र के निवासस्थान हिमालय पर गये। उस हिमालय के जो विशेषण आत्रेय ने बताये बड़े ऐतिहासिक हैं—

वह उनका पूर्व-निवास था, या पहले वे वहीं के रहनेवाले थे। स्त्री-पुरुष के यौन-सम्बन्ध सीमित थे। वातावरण कल्याणकारी था। लोग सदाचारी थे। एक-दूसरे में सहयोग था। बुद्धिजीवी लोग रहते थे। कुकर्मी लोग वहां नहीं पहुंच पाते थे। गंगा नदी का निकास वहीं था। देव, गन्धर्व, किन्नर अपने व्यवहार में व्यस्त थे। विभिन्न रत्नों का चलन था, अचिन्त्य और आश्चर्यजनक प्रभाव का यह देश था। सुन्दर जलधारायें, झीलें और सरोवरों से सुशोभित था। ब्रह्मर्षि और सिद्धों के आवागमन से पावन था। हर प्रकार से आवास की सुविधायें थीं। इन्द्र जिसका शासन करते थे, उसी हिमवन्त पर इन्द्र-भवन में वे ऋषि पहुंचे। इन्द्र ने उनका स्वागत किया और रसायन-प्रयोग बताते हुए कहा—सुपात्रों को आप भी बतायें।

औषधियां और औषधि-विज्ञान जो हिमालय पर स्वर्ग में था, वह अन्यत्र नहीं। आत्रेय ने यह सत्य कई बार दोहराया।[1] काम्पिल्य में रहते समय गंगातट पर भी यद्यपि उन्होंने बहुतेरी औषधियां संगृहीत करने की अनुमति अग्निवेश को दी, किन्तु आग्रह हिमवान की ओर ही था। उन्होंने औषधियों की उपादेयता का तारतम्य एक अन्य प्रसंग में भी कहते हुए अग्निवेश से कहा—'हिमवानौषधि भूमीनाम्'—सर्वोत्तम औषधियां चाहिए तो हिमालय ही सर्वोत्तम स्थान है।

इन्द्र ने कुछ ऐसी औषधियां बताईं जो आश्चर्यजनक प्रभावकारी थीं, और रासायनिक प्रयोग की ही। धन्वन्तरि ने सुश्रुत को सोम और सोम जैसी आठ औषधियां

1. औषधीनांपरा भूमिर्हिमवान् शैलसत्तमः।—चरक॰, चि॰ अ॰ 1/1/38

भी वताई थीं। आत्रेय ने अग्निवेश को भी इन्द्र की विरासत प्रदान की। वे औपधियां देखिये——

1. ब्रह्म सुवर्चला
2. आदित्यपर्णी
3. नारी
4. काष्ठगोधा
5. सर्पा
6. सोम (औपधिराज)
7. पद्मा
8. अजा
9. नीला

इनमें से सोम के अतिरिक्त आठ औपधियों का गुण भी कायाकल्प करता है। चिकित्सा-विज्ञान की सांस्कृतिक गरिमा कहते हुए आत्रेय ने कई वार कहा कि यह विज्ञान जनता या प्राणिमात्र की सेवा के लिए है। ग्रन्थ के प्रारंभ में ही अग्निवेश ने आत्रेय का यह सन्देश लिखा है कि प्राणिमात्र की सेवा के लिए चिकित्सा-विज्ञान का प्रसार महर्षियों ने किया था।[1] इसीलिए प्राचीन भारत में चिकित्सा का व्यापार कभी नहीं हुआ। रामायणकाल से लेकर अशोक के समय तक यह सिद्ध करनेवाले प्रमाण मिलते हैं।

चिकित्सास्थान का द्वितीय अध्याय वाजीकरण पर लिखा गया है। वाजीकरण का अर्थ अनेक लोग 'कामवासना वढ़ाने के उपाय' ही समझते हैं, किन्तु यह भूल है। आत्रेय ने वाजीकरण विज्ञान की शिक्षा देने के पहले अग्निवेश से कहा—सौम्य ! वाजीकरण प्रयोग करने वाले पुरुप को संयमी होना चाहिए। क्योंकि धर्म, अर्थ, काम को पाने के लिए पुत्र चाहिए, पुत्र के विना पिता धर्म और अर्थ की सफलता नहीं पाता। श्रेष्ठ सन्तान हो, इस भावना से वाजीकरण प्रयोग आविष्कृत किए गए हैं। मैथुन की शक्ति क्षीण हो तो पुरुष सन्तान उत्पन्न नहीं कर सकता। इस क्षीणता का निवारण ही वाजीकरण है, मैथुन नहीं।[2]

आजकल एलोपैथिक चिकित्सा में अनपत्य शुक्र(Absence of Spermotozoa) का कोई इलाज नहीं है। वाजीकरण तन्त्र उसी का इलाज है। शुक्र के गर्भस्थापन योग्य शुक्राणुओं का अभाव अनेक व्यक्तियों में होता है। स्त्री पूर्ण स्वस्थ हो, तब भी ऐसे पुरुष सन्तान उत्पन्न नहीं कर सकते। उन्हें आयुर्वेद के वाजीकरण प्रयोग लेने चाहिए।

---

1. तदा भूतेष्वनुक्रोशं पुरस्कृत्यमहर्पयः।—चरक०, सू० 1/6
   नार्थार्थंनापिकामार्थमथ भूत दयांप्रति।
   वर्त्तते यश्चिकित्सायां स सर्वमतिवर्तते॥—चरक०, चिकि० 1/4/57
2. शुद्धांस्नातांव्रजेन्नारीमपत्यार्थी निरामयः।—चरक०, चिकि० 2/1/16
   तस्मादपत्य मन्विच्छन् गुणांश्चापत्य संश्रितान्।
   वाजीकरण नित्यः स्यादिच्छेत्काम सुखानि च॥—चरक०, चिकि० 2/1/22

अपत्यजनन क्षीर, अपत्यकर स्वरस, अपत्यकरा पष्ठिकादि गुटिका, अपत्यकर घृत, गर्भाधानकर योग आदि अनेक वृष्य योग वाजीकरण अध्याय में लिखे गए हैं। इसलिए जिनके शुक्र में अपत्यकारी शुक्रकीट न हों वे चरक के वाजीकरण पाठों में दिए गए उक्त प्रयोग काम में लायें। आधुनिक चिकित्सा विज्ञान जो अभी तक नहीं जान सका उसके सिद्ध प्रयोग आयुर्वेद के कोष में विद्यमान हैं।

चिकित्सास्थान में सम्पूर्ण तीस अध्याय हैं। प्रत्येक अध्याय की एक ऐतिहासिक विशेषता है। और वैज्ञानिक गरिमा तो है ही। तीसरा अध्याय ज्वर चिकित्सा पर लिखा गया। स्वर्ग में दक्ष प्रजापति को ज्वर का हेतु मानकर एक आख्यायिका यों लिखी है—

त्रेता युग में शिवशंकर समाविस्थ होकर बैठ गए। असुरों ने मौका पाया। देवों के विरुद्ध विद्रोह करने लगे। उनके धर्म-कर्म सभी में विघ्न होते रहे, किन्तु प्रजापति असुरों की उपेक्षा करते रहे। फिर दक्ष प्रजापति ने यज्ञ किया, उसमें भी महेश्वर के नाम से न आहुति डाली और न ही उनका हविशेप दिया। शिव के सम्मान में दी जाने वाली ऋचायें ही यज्ञ से निकाल दीं। शिव समाधि से उठे। उन्हें पता चला तो क्रोध से यज्ञ का विध्वंस कर दिया। सप्त ऋषियों के साथ देवों ने शङ्कर को सन्तुष्ट किया। उनके सम्मान में दूसरा यज्ञानुष्ठान करके उनकी प्रसन्नता प्राप्त की। सब कुछ हुआ, किन्तु दक्ष पर शंकर का क्रोध शांत न हुआ। इस क्रोध से भयभीत होकर दक्ष और उनके पक्षपातियों को एक अपूर्व वेदना हुई। प्राणाचार्यों ने उस वेदना का नाम 'ज्वर' रखा।

इस ज्वर की निदान और चिकित्सा इस तीसरे अध्याय में ही है। अपूर्व है। यदि आप मुझे आज्ञा दें तो मैं यह कहना चाहता हूं कि ज्वर का ऐसा निदान और ऐसी चिकित्सा विश्व में अभी तक नहीं लिखी गई। जो अग्निवेश ने लिख दिया अचूक है। असंदिग्ध है। ज्वर-निदान निदानस्थान में तो लिखा ही, किन्तु इस प्रकरण में तिर्यक् गत दोषों के निदान बड़े वैज्ञानिक और खोजपूर्ण हैं, और वैसी ही उनकी चिकित्सा।

चौथे अध्याय में रक्तपित्त है। अब भगवान् पुनर्वसु विचारते हुए स्वर्ग के किसी शिक्षा केन्द्र में विहार कर रहे थे। शिष्य मण्डली साथ थी। यह स्थान पञ्चगंग प्रदेश था जो गङ्गोत्तरी के इर्द-गिर्द है। हम पञ्चगंगा का उल्लेख पीछे कर आये हैं। अग्निवेश ने भगवान् से पूछा—आचार्य ! रक्तपित्त का हेतु क्या है? और उसके लक्षण क्या ?' आचार्य ने लक्षण विस्तार से बताये और चिकित्सा भी। ऊर्ध्वग रक्तपित्त में अधोगामी और अधोगामी रक्तपित्त में ऊर्ध्वगामी चिकित्सा होनी चाहिए; अन्यथा रक्तपित्त निर्मूल नहीं होता। याप्य ही रहता है।

पांचवां अध्याय गुल्म चिकित्सा है। आत्रेय ने कहा—जो गुल्म कच्चा है, उसी की चिकित्सा मैं कह रहा हूं। जो पक जाय उसकी शल्यक्रिया में धन्वन्तरि सम्प्रदाय के लोगों से सहायता लो।[1]

---

1. तत्रैव पिण्डितेशूले सम्पक्वं गुल्ममादिशेत्।
तत्र धान्वन्तरीयाणामधिकारः क्रिया विधौ ॥
वैद्यानां कृत योगानां व्यध शोधन रोपणे ॥—चरक, चि० 5/42

छठा अध्याय प्रमेह चिकित्सा है। सातवां कुष्ठ चिकित्सा। कुष्ठ चिकित्सा में पारद के प्रयोग का उल्लेख है। दूसरा प्रयोग गोमूत्र का। और दोनों अचूक।

आठवां अध्याय राजयक्ष्मा की चिकित्सा है। चिकित्सा की अवतरणिका में चन्द्रदेव की कथा ही प्रथम है। "देवताओं से चन्द्रदेव के बारे में ऋषियों ने एक कथा सुनी थी जो चन्द्रदेव की कामुकता के व्यसन की कहानी है।

रोहिणी में अत्यन्त आसक्त रहने और अपने शरीर की उपेक्षा करते-करते वीर्य-क्षय से चन्द्रदेव का शरीर सूख गया। चन्द्र ने दक्ष प्रजापति की सत्ताईस पुत्रियां और पत्नी बना ली थीं। परन्तु केवल एक रोहिणी में आसक्त रहने और अन्यों से सम्पर्क न रखने से वे सब नाराज हो गईं। और बेटियों के बहुमत के साथ पिता दक्ष भी चन्द्रदेव से अप्रसन्न हो गये। इधर सत्ताईस पत्नियों और श्वसुर का क्रोध और उधर मैथुन के अतिरेक के कारण वासना से अन्धे चन्द्र को राजयक्ष्मा हो गया।

चन्द्रमा जब दुखी हुआ तो श्वसुर से क्षमा मांगी। उन्होंने अश्विनीकुमारों द्वारा उसकी चिकित्सा कराई। वह अच्छा हो गया। अश्वियों की चिकित्सा से वह फिर पहले-जैसा सुन्दर और स्वस्थ हो गया।

जीवन में सदाचार और संयम के इस आचार-दर्शन के साथ यह चिकित्सा लिखी गई। और अच्छी लिखी गई। अनेक उपचारों में 'सितोपलादि चटनी' का योग लिखा, जो चरक का ही मौलिक प्रयोग है। किन्तु हम यहां चिकित्सा का उल्लेख या आलोचना नहीं कर रहे हैं। ग्रन्थ की मौलिक और प्रतिसंस्कृत स्थिति पर दृष्टिपात करना चाहते हैं।

ग्रन्थ के प्रारंभ से एक शैली आचार्य चरक की चली आयी है। अध्याय के प्रारंभ में अध्याय की विषयवस्तु का उल्लेख है—'अथ अभयामलकीयं रसायन पादं व्याख्यास्यामः'। इसके बाद 'इतिह स्माह भगवानात्रेयः' इस प्रकार शिष्य सूत्र का उल्लेख। और उपसंहार में भी कुछ परिचयात्मक वाक्य दिये रहते हैं—'इत्याग्निवेश कृते तन्त्रे चरक प्रतिसंस्कृते चिकित्सा स्थाने...।' इत्यादि। किन्तु चौथे अध्याय से आगे वह क्रम नहीं रहा। मध्यम और उत्तम पुरुष दो ही प्रारंभ से आ रहे थे। यहां से प्रथम पुरुष का समावेश भी आत्रेय के लिए हो गया। और अन्त में आचार्य के प्रति श्रद्धार्पण भी समाप्त हो गया।

चिकित्सास्थान के तीसवें अध्याय में प्रतिसंस्कर्ताओं के उल्लेख में यह लिखा है कि इस ग्रन्थ में चिकित्सास्थान के सत्रह अध्याय तथा कल्पस्थान और सिद्धि स्थान छिन्न-भिन्न हो गये हैं। उन सत्रह अध्यायों एवं कल्प और सिद्धि स्थानों को दृढ़बल ने पुनः संकलित या सम्पादित किया।

चिकित्सास्थान के कौन से सतरह अध्याय दृढ़बल ने लिखे, यह प्रश्न भी आवश्यक है। चरक-चतुरान चक्रपाणि ने किन्हीं प्रमाणों के आधार पर अपनी व्याख्या में लिखा कि चिकित्सास्थान के प्रारम्भ से यक्ष्म चिकित्साध्याय तक आठ अध्याय, तथा अर्श (चौदहवां अध्याय), अतीसार (उन्नीसवां अध्याय), विसर्प (इक्कीसवां अध्याय), मदात्यय (चौबीसवां अध्याय), एवं द्विव्रणीय (अट्ठाईसवां अध्याय), इस प्रकार सब मिलाकर तेरह अध्याय अक्षत मिल गये, शेष सत्रह अध्यायों के छिन्न-भिन्न होने से उन्हें

दृढ़बल ने उपलब्ध सामग्री की सहायता से परिपूर्ण किया । कल्प और सिद्धि स्थान भी दृढ़बल ने सम्पादित किये। इस प्रकार चरक द्वारा प्रतिसंस्कृत अग्निवेश तन्त्र दृढ़बल की कृपा से इस रूप में हमें प्राप्त है।[1]

किन्तु कल्प स्थान प्रारम्भ करते समय दृढ़बल ने भी 'इतिहस्माह भगवानात्रेय:' यह शिष्य सूत्र अग्निवेश की परम्परा में लिखा है। प्रतीत होता है कि खण्डित संहिता के जो भाग मिले उसे उन्होंने ज्यों का त्यों रखते हुए खण्डित भाग को उपलब्ध साधनों द्वारा परिपूर्ण कर दिया । इसी कारण कहीं-कहीं चरक वाली शैली का सौन्दर्य है और कहीं सर्वथा नहीं। परन्तु हम चरक के साथ-साथ इन विद्वान् दृढ़बल के भी कृतज्ञ हैं।

नवें से तेरहवें अध्याय तक दृढ़बल के संकलित अध्याय हैं। इसी कारण चक्रपाणि ने उन्माद चिकित्साध्याय के व्याख्या के प्रारम्भ में ही लिखा कि यह उन्माद का चिकित्साध्याय चरक द्वारा प्रतिसंस्कृत अर्श, अतीसार, वीसर्प, मदात्यय, तथा द्विव्रणीय को छोड़कर बनाया गया है। ये पांच अध्याय जहां थे वहीं रखे गए, शेष टूटे हुए भाग को दृढ़बल द्वारा जोड़ा गया है।[2] इसलिए उनका क्रम दृढ़बल द्वारा निर्धारित है। यदि मुझे कहने का अधिकार हो तो मैं कहूंगा कि दृढ़बल द्वारा संकलित अध्यायों की लेखन शैली शिथिल है । वह विषयवस्तु की स्थापना, उत्थान और उप-संहार जो चरक ने प्रस्तुत किया दृढ़बल नहीं कर पाये। हां, भवन को भूमिसात् होने से बचा लिया, यही क्या कम है ?

उन्माद, अपस्मार, क्षतक्षीण श्वयथु और उदर—यह पांच अध्याय यक्ष्म रोग से अर्श तक 8वें से 14वें अध्यायों के बीच आते हैं। तेरहवें उदर चिकित्साध्याय का उत्थान चरक का ही प्रतीत होता है, शेष दृढ़बल का। यह प्रसंग महर्षि आत्रेय ने कैलास के किसी विद्याकेन्द्र पर अपने शिष्यों को उपदेश किया । प्रारम्भ में ही कहा है 'सिद्ध और विद्याधरों से आबाद एवं नन्दन जैसा ही कमनीय यह स्थान था, आत्रेय ने वहीं तपोनिष्ठ होकर निवास किया, जब अग्निवेश ने उदर रोग के बारे में उनसे प्रश्न किया।'[3]

किन्तु दृढ़बल द्वारा सम्पादित अपस्मार का दसवां अध्याय एवं चक्रपाणि की व्याख्या देखने से यह प्रतीत होता है कि दृढ़बल के संकलित भाग में भी कुछ अंश टूटे

---

1. अस्मिन् सप्तदशाध्याया कल्पः सिद्धय एव च ।
नासाद्यन्तेऽग्निवेशस्य तन्त्रे चरकः संस्कृते ॥
तानेतान् कापिलबलः शेषान् दृढबलोऽकरोत् ।
तन्त्रस्यास्य महार्थस्य पूरणार्थं यथा यथम् ॥—चरक०, सिद्धि० 30/274-75
इन्हीं श्लोकों पर चक्रपाणि की व्याख्या देखिये ।

2. अयंक्रमः चरक संस्कृतां पञ्चाध्यायीमर्शोऽतीसारवीसर्पमदात्ययद्विव्रणीयरूपां परित्यज्य ज्ञेय ।
—चरक०, चि० उन्माद चि० १ श्लोक व्याख्या ।

3. सिद्ध विद्याधराकीर्णे कैलासे नन्दनोपमे ।
तप्यमानं तपस्तीव्रं साक्षाद्धर्ममिव स्थितम् ॥
आयुर्वेद विदां श्रेष्ठं भिषग्विद्या प्रवर्तकम् ।
पुनर्वसुं जिज्ञासमानं मग्निवेशोऽन्वपृच्छत: ॥—चरक०, चि० 13/1-2

हैं। अपस्मार चिकित्सा के 51 से 59 तक अतत्वाभिनिवेश की व्याख्या में चक्रपाणि ने लिखा—'यहां सैन्धव का अर्थ काश्मीर समझिये', यद्यपि 51 से 59 तक सैन्धव शब्द वर्तमान पाठ में सर्वथा नहीं मिलता। चक्रपाणि के समय वह शब्द जिस श्लोक में रहा होगा, वह टूट गया और व्याख्या रह गयी।

इसके उपरान्त चौदहवां अध्याय अर्श का ही है, जो चरक का है ही। अर्श पर अग्निवेश के लिखे अरिष्ट बड़े लाभकारी हैं। आसव और अरिष्ट का आविष्कार आत्रेय पुनर्वसु का ही है। अभयारिष्ट, दन्त्यरिष्ट, फलारिष्ट, कनकारिष्ट आदि प्रयोग जो आत्रेय ने कहे थे अर्श पर उन जैसा दूसरा प्रयोग आज तक मिला ही नहीं।

पन्द्रहवां अध्याय ग्रहणी चिकित्सा है। आत्रेय ने इसमें भी अपने नये आविष्कार अग्निवेश को दिये, चित्रकादिवटी, मध्वासव, द्राक्षासव, खर्जूरासव, दुरालभासव, मूलासव, पिण्डासव, मध्वरिष्ट के प्रयोग आत्रेय के ही आविष्कार हैं। सुश्रुत में आसवारिष्टों का ऐसा प्रयोग नहीं है।

सोलहवां पाण्डु रोग, सतरहवां हिक्काश्वास, अठारहवां कास दृढ़बल के हैं ही। कास चिकित्सा सुन्दर है। और पाण्डु रोग पर धान्यवलेह, गौडारिष्ट, बीजकारिष्ट, धान्यरिष्ट भी बहुत अच्छे।

उन्नीसवां अध्याय चरक का मूल अध्याय है। इसमें अतीसार चिकित्सा आत्रेय ने अग्निवेश को तब बताई जब वे हिमालय के उत्तरी ढाल पर स्वर्ग के किसी शिक्षाकेन्द्र में अपने शिष्यों को चिकित्सा-विज्ञान पढ़ा रहे थे। अकेले अग्निवेश नहीं, अन्य कितने ही ऋषि उनके चारों ओर जिज्ञासा लिये बैठे थे। अग्निवेश ने विनयपूर्वक प्रश्न किया—भगवन्! अतीसार का निदान, रूप और उपशम ही नहीं, यह सबसे प्रथम कैसे उत्पन्न हुआ, यह भी बताइये। आचार्य ने कहा—अग्निवेश! सुनो, मैं सम्पूर्ण प्रश्नों का उत्तर तुम्हें सुनाता हूं।

अब से बहुत पहले (आदि काले) आर्य लोग यज्ञ करते तो पशुओं (पालतू) की भी यज्ञ में मन्त्र-शुद्धि करते थे, मारते न थे। दक्ष प्रजापति के यज्ञ के बाद मनु के मरीच, नाभाग, इक्ष्वाकु, कुविडचर्य आदि पुत्रों ने यज्ञों में अभिमन्त्रित पशु का वध भी आवश्यक घोषित कर दिया। उसके बाद उनके उत्तराधिकारी पृषध्र ने बहुत दिनों तक यज्ञ किये। उससे पूर्व के लोग घातक पशुओं का वध करते थे, किन्तु वैसे पशु जब न मिले तो पृषध्र ने गोहत्या की आज्ञा दे दी। मनचले लोगों ने उनका अशस्त मांस खाया भी। इस घटना से प्रजा के लोग अत्यन्त दुखी हुए। उन्हें अत्यन्त सन्ताप और मानसिक उद्वेग हुआ। और जिन्होंने गोमांस का अशस्त आहार किया, उनके पाचन विकृत हो गये। अग्नि मन्द पड़ गयी; खेद का वातावरण चारों ओर फैल गया। फल यह हुआ कि पृषध्र के यज्ञ में ही सबसे प्रथम अतीसार का रोग फैल गया।

अतीसार का विस्तृत निदान और चिकित्सा लिखने के बाद आचार्य ने बड़े महत्त्व का गुरुसूत्र कहा—देखो अग्निवेश! अतीसार चिकित्सा को यह सिद्धान्त याद रखना चाहिए—"पहले वात का शमन करो, फिर पित्त का, और अन्त में कफ का। यदि वात-शमन का ध्यान छोड़कर चिकित्सा की जायगी तो प्रकुपित वायु रोगी की हत्या कर

देगा। हां, यदि अन्य दोष वलवत्तम होकर कष्ट दे रहा हो तो, उसकी पहले व्यवस्था कर सकते हो।"

वायु में वच और अतीस, पित्त में नागरमोथा और सोंठ, कफ में ह्राऊवेर और सोंठ द्वारा पकाया हुआ शीतल जल पिलाना हितकर है।

बीसवां अध्याय छर्दि (वमन) चिकित्सा है। दृढ़वल का संकलित है। दृढ़वल ने चिकित्सा को सांगोपांग विस्तार नहीं दिया, तो भी काम की बातें समाविष्ट कीं।

इक्कीसवां अध्याय विसर्प चिकित्सा, चरक द्वारा प्रतिसंस्कृत, अतएव मौलिक है। आचार्य ने अग्निवेश को उस समय विसर्प चिकित्सा वताई जब वे शीतलजल के झरनों से अभिसिंचित और अनेकानेक औषधियों से रमणीय, विभिन्न वृक्षों से आच्छादित, सुमनोहर प्रसूनों से सुवासित, किन्नरों से आवासित, कैलास पर विहार कर रहे थे। कितने ही महर्षि उनके चारों ओर समासीन थे। प्राणियों के योगक्षेम की चर्चा चल गई। अवसर समझकर अग्निवेश ने गुरुवर से विसर्प की चिकित्सा पूछी।

विसर्प के निदान और चिकित्सा दोनों ही आचार्य ने वताये। विशेषतः सम्प्राप्ति का स्पष्टीकरण किया। आत्रेय के विचार में विसर्प और मसूरिका (चेचक) दो रोग नहीं हैं, एक ही है। उत्तरकालीन आचार्यों ने मसूरिका एक स्वतन्त्र रोग लिखा है, किन्तु आत्रेय संहिता में वह नहीं है। माधव ने कहा—विसर्प पित्तजन्य ही होता है। मसूरिका एक, दो, तीन दोषों से भी। केवल पित्तजन्य हो तो विसर्प और द्वन्द्व, सन्निपातज हो तो मसूरिका। आत्रेय ने मसूरिका को 'कर्दम विसर्प' नाम दिया। इसलिए अग्निवेश ने सम्पूर्ण ग्रन्थ में मसूरिका चिकित्सा अलग से नहीं लिखी। विसर्प की चिकित्सा ही मसूरिका में प्रयुक्त होनी चाहिए।

माधव ने लिखा कि मसूरिका ढलने पर किसी-किसी रोगी के कोहनी, कलाई और कन्धे पर व्रणशोथ होता है। कठिन होता है। इसका नाम आत्रेय ने 'ग्रन्थि विसर्प' रखा। किन्तु माधव ने उसे मसूरिका का उपद्रव कहा है। आत्रेय ने यह कहा था कि गले में भी विसर्पजन्य शोथ हो सकता है, और उसके आपरेशन का या प्रलेप का परामर्श दिया। और कहा कि ऐसे रोगी का 'रक्तमोक्षण' करना सर्वोत्तम है।

इसके उपरान्त बाईसवां तृष्णारोग चिकित्सा अध्याय, और तेईसवां विष चिकित्सा के अध्याय दृढ़वल के प्रतिसंस्कृत अध्याय हैं। दृढ़वल ने विष चिकित्सा अधिक खोजपूर्ण सम्पादित की। उसमें जांगम और उद्भिद् विषों के भेद और उनकी चिकित्सा गहरे अनुभवों के आधार पर दी गई है।

चौबीसवां अध्याय मदात्यय चिकित्सा है और चरक का मौलिक अध्याय है। वह अपनी प्राचीन शैली में भौगोलिक, ऐतिहासिक और वैज्ञानिक है।

---

1. स्वेस्थाने मारुतोवश्यं धावंते कफ संक्षये।
   सवृद्धः सहसा हन्यात्तस्मात्तंत्वरया जयेत्॥
   वातस्थानु जयेत्पित्तं पित्तस्थानु जयेत्कफन्।
   तमाणां वा जयेत्पूर्वं यो भवेद्बलवत्तमः॥ —चरक०, 19/127-28

आचार्य ने पहले सुरा की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि लिखी, "इन्द्र और देवता सब जिसकी अभिलाषा रखते हैं, सौत्रामणि याग में जिसका हवन होता है; इन्द्र का प्रेम पाकर जिस सुरा ने सोम को नीचा दिखा दिया; यज्ञ करने वाले महात्मा जिसके दर्शन, स्पर्शन और साधन के लिए लालायित रहते हैं उस सुरा के अनेक भेद उपादान, संस्कार और नाम भेद से होते हैं, किन्तु मदकारी होने का एक गुण ऐसा है, जिसके कारण अनेक होकर भी वह एक है।"

देवों ने उसे अमृत कहकर प्रेम किया, पितरों ने स्वधा कहकर और द्विजों ने सोम कहकर उसका सेवन किया है। उसमें अश्वियों का तेज है, विद्वानों की प्रतिभा है, इन्द्र का बल है, और सौमणियों का प्यार। जिसके सेवन से शोक, अरति, भय, द्वेष—सब नष्ट होते हैं, जिससे बल प्राप्त होता है; जो प्रेम, रति, वाणी, पुष्टि और पराक्रम भी देती है; देव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस और मनुष्य सभी जिसे पीने को उत्सुक रहते हैं, उस सुरा को पीने के भी कुछ नियम हैं, मर्यादायें हैं। उन्हीं के अनुसार उसे पिएं।

सोने-चांदी के प्यालों में, फलों के रस के साथ, या नमक, सुगन्धित मसालों के साथ, मांस रस के साथ, अथवा जल के साथ प्रेमी स्त्री-पुरुषों के साथ, रम्य उद्यानों या भवनों में पिएं। इसी प्रसंग में वात प्रकृति, पित्त प्रकृति, कफ प्रकृति पुरुष मद्य किस प्रकार पिएं इसका विस्तृत उल्लेख है। जो लोग जैसे मिले वैसे, जितनी मिले उतनी ही मद्य पीते हैं उन्हें वह विष की भांति हानिकर मदात्यय रोग उत्पन्न करती है।

उचित ढंग से, नियत मात्रा में, नियत समय पर, उचित भोजन के साथ, अपने बलाबल के अनुसार, प्रसन्न मुद्रा में जो व्यक्ति मद्य पीता है उसे अमृत जैसा लाभ करती है।[1] मद्य के भेद, शैली, पीने के प्रकार, मात्रा और समय, अतिपान से रोग और चिकित्सा एवं साध्यासाध्य लिखने के उपरान्त अन्त में आत्रेय ने कहा—सारे मद्य छोड़कर, इन्द्रियों को विषय-वासनाओं से परावृत्त करके जो आचरण करते हैं उन्हें शरीर और मन के विकार नहीं होते। वे ही बुद्धिमान् हैं।[2]

अग्निवेश के मौलिक लेखों पर चरक के प्रतिसंस्कार ने सोने में सुगन्ध कर दी। वह सौष्ठव दृढ़बल से नहीं बना। वह विस्तार, वह सारगर्भित शैली, वह इतिहास और भूगोल के संस्मरण चरक ने वैसे ही रखे जैसे वे महर्षि आत्रेय के मुख से कहे जा रहे हों। उनमें आयुर्वेद है, इतिहास और भूगोल है, आचार और संस्कृति है, सबसे बढ़कर वे वैज्ञानिक हैं।

पच्चीसवां अध्याय भी चरक का मौलिक ही है। यह द्विव्रणीय (निज और

---

1. विधिना मात्रया काले हितैरन्नैर्यथाबलम्।
प्रहृष्टो यः पिबेन्मद्यं तस्यस्यादमृतं यथा॥ —चरक०, चि० 24/25
हर्षमूर्जो मदं पुष्टिमारोग्यं पौरुषंपरम्।
युक्त्या पीतं करोत्याशु मद्यं मद सुखावहम्॥ —चरक०, चि० 24/59
2. निवृत्तः सर्व मद्येभ्योनरोयः स्याज्जितेन्द्रियः।
शरीर मानसैर्धीमान् विकारैर्नस युज्यते॥ —चरक०, चि० 24/202

आगन्तुज) चिकित्सा का विधान है। चरक में एक वार कह चुके हैं कि शल्यक्रिया (चीरना, काटना, भरना) धान्वन्तरीय वैद्यों की है। इसलिए सुश्रुत की भांति यन्त्र, शस्त्र आदि के प्रयोग अग्निवेश ने नहीं लिखे। किन्तु लेप, उपनाह (पुल्टिस) तथा शोधन-रोपण प्रयोग ही इस अध्याय में कहे गये।

आगे छब्बीसवें अध्याय से तीसवें तक पांच अध्याय दृढ़वल के प्रतिसंस्कार हैं। आचार्य दृढ़वल ने पूर्वोत्तर सन्दर्भ मिलाने का ध्यान रखा। सूत्रस्थान में मर्मस्थानों का उल्लेख हुआ है। उनमें प्रमुख शिर, हृदय तथा वस्ति रोगों की चिकित्सा इस अध्याय में है। उदावर्त्त, मूत्रकृच्छ्, अश्मरी, हृद्रोग, पीनस, शिरोरोग, मुखरोग, अरोचक, कर्ण-रोग, स्वरभेद एवं खालित्य—इन बारह रोगों की निदान और चिकित्सा इस अध्याय में दी गई है।

सत्ताईसवां अध्याय ऊरुस्तम्भ, अट्ठाईसवां वात-व्याधि, इसमें अपतानक और दण्डापतानक (Tytanus) का उल्लेख भी है। जिन प्रयोगों का सम्पादन हुआ है, वे चरक की खोज तक नहीं पहुंचे। उन्तीसवां अध्याय वात-शोणित चिकित्सा है। खुड, वातवलासक तथा आढ्यवात इसी रोग के पर्याय हैं। तीसवां अध्याय योनि व्यापत्ति की चिकित्सा के नाम से लिखा गया है, इसके अन्तर्गत ध्वज भंग, क्लैव्य, प्रदर, स्तन्य-दोष, वाल रोग भी लिखे हैं। वे एक-दूसरे से सम्वन्धित हैं। परन्तु एक अध्याय में इतने विषय समाविष्ट करने से यह स्पष्ट है कि वह आत्रेय की शैली नहीं है।

कुछेक आदेश औषधि प्रयोग के सामान्य नियमों के वारे में दिये गये हैं, जो बड़े काम के हैं। वैद्य को जानने चाहिए।

कुछ ऐतिहासिक प्रसंग इस तीसवें अध्याय में आये हैं—जैसे वाह्लीक, पल्लव, चीनी, शूलीक, यवन और शक लोग मांस, महुवे की शराब का प्रयोग बहुत करते हैं तथा शस्त्रों के प्रयोग एवं बहुत भोजन के अभ्यासी होते हैं।[1]

पूर्व देश के लोग दूध के प्रेमी, सिन्ध के वासी मछली खाने वाले, अश्मक और अवन्ती प्रदेश के लोग तेल और घी के प्रेमी हैं। मलय के वासी कन्द, मूल, फल के अभ्यासी, दक्षिण के लोग पतली दाल, उत्तर-पश्चिम देशों के लोग मट्ठा पसन्द करते हैं। मध्य-प्रदेश के लोग जौ, गेहूं और दूध-दही के प्रेमी हैं। उनके लिये वैसा ही पथ्य और तद-नुकूल औषधि की योजना वैद्य को अपने विवेक से करनी चाहिए।

अगले कल्पस्थान और सिद्धिस्थान भी दृढ़वल के सम्पादित हैं। कल्पस्थान में वमन-विरेचन का विधान है। इसमें छोटे-छोटे बारह अध्याय हैं। सिद्धिस्थान में भी छोटे-छोटे बारह अध्याय। इसमें पञ्च कर्म के तीन भाग—निरूहण, आस्थापन तथा नस्य-कर्म का विवेचन हैं। यह पञ्च कर्म सुश्रुत के चिकित्सास्थान में है। सुश्रुत का विवेचन अपने युग की शैली में है। किन्तु दृढ़वल का यह विवेचन फटे वस्त्र में पैबन्द जैसा प्रतीत होता है। अग्निवेश और चरक की शैली, आत्रेय की प्रवचन सुषमा उसमें नहीं है। दृढ़वल के पाठ भी टूटे हैं। सिद्धिस्थान अ० ८ के 17 श्लोक में 'घनं सुखम्'—यह व्याख्या चक्रपाणि ने दी है किन्तु श्लोक में घनं कहीं नहीं है। जिसमें पा कट टूट गया।

1. चरक०, नि० स्थान० 30,299-302

इस पंचकर्म के साथ पूर्वकर्म स्नेहन और पश्चात् कर्म स्वेदन का विवरण जैसा सुश्रुत में है, चरक में नहीं है। यद्यपि सुश्रुत की तुलना में चरक और अग्निवेश की शैली बहुत उत्कृष्ट है, किन्तु दृढ़बल वहां तक नहीं पहुंचे। इसीलिए वह खटकती है। किन्तु दृढ़बल ने यह भी कहा कि "यह संक्षेप है।"[1]

पञ्चकर्म में निम्न योजनायें हैं—जिसमें पहले दो कार्य पञ्च कर्म से पृथक पूर्व और पश्चात् कर्म कहे जाते हैं——

(अ) पूर्व कर्म——स्नेहन। (ब) पश्चात् कर्म—स्वेदन।

पंचकर्म[2]

1. वमन
2. विरेचन
3 अनुवासन (स्निग्ध उत्तर वस्तिभी)
4. निरूहण (रुक्ष उत्तर वस्तिभी)
5. नस्य (धूम्रपानभी)

सिद्धिस्थान के उपसंहार में दृढ़बल ने अपनी कृति के बारे में कुछ वक्तव्य प्रस्तुत किया है। उन्होंने कहा——

'चरक के प्राचीन भाव को मैंने कहीं छोड़ा नहीं है। और शास्त्र की मर्यादा में कोई दोष नहीं आने दिया। जिस विषय को प्रतिपादन किया है, उसका सम्पूर्ण तत्त्व प्रस्तुत कर दिया है। खण्डित चरक संहिता के अवशिष्ट अंशों से तथा अन्य प्राचीन बहुत से आयुर्वेद शास्त्रों से प्रयासपूर्वक सम्पूर्ण सामग्री जुटाई और विशेष परिश्रम करके चिकित्सा-स्थान के सत्रह तथा कल्प और सिद्धि स्थान पूरे करके ग्रन्थ को पूरा सम्पादित कर दिया।'

चक्रपाणि ने अपनी व्याख्या में लिखा कि 'बहुभ्य तन्त्रेभ्य:' शब्द लिखते हुए दृढ़बल का भाव है कि सुश्रुत और विदेह निमि आदि के शास्त्रों को देखकर सामग्री पूरी की। मैं समझता हूं कि दृढ़बल को काश्यप संहिता से भी सामग्री लेनी पड़ी।

अग्निवेशतन्त्र के प्रतिसंस्कर्ता चरक भी थे [illegible] अन्त को प्रतिसंस्कार में दृढ़बल को भी प्रयत्न करना पड़ा इसलिये दृढ़बल ने [illegible]र्ता के कार्य और उसकी गुरुता को स्पष्ट किया——

"कभी-कभी मूल ग्रन्थकर्ता एक विषय को [illegible] संक्षेप में लिखकर ही छोड़ देता है। जनता उसको पूरा-पूरा समझ नहीं पाती। संस्कर्ता का काम यह है कि उसे विस्तार से लिख दें। और कोई-कोई विषय ग्रन्थकार बहुत [illegible]तृत लिख देता है, पाठक उसे [illegible] और समझने में असमर्थ होते हैं, प्रतिसंस्कर्ता को चाहिए कि उसे संक्षि[illegible]। इस प्रकार प्रतिसंस्कर्ता को यह अधिकार है कि पुराने को नया-सा कर [illegible]।

---

1. समासेन ममाप्तिम्।——चरक०, सिद्धि० 12/94
2. अनुवासननिरूहश्चोत्तर वस्तिश्च स त्रिविधः। ——चरक०, सिद्धि० 10/6
नावनं चावपीडश्च ध्मापनंधूम एवच।
प्रतिमर्शश्च विज्ञेयं नस्तःकर्मतुपञ्चधा॥ ——चरक०, सिद्धि० 9/90

महाबुद्धिमान् चरक ने अग्निवेशतन्त्र का प्रतिसंस्कार किया था, किन्तु वह खण्डित प्राप्त हो रहा है, अतएव मैं इसे अखण्ड बनाने के विचार से सम्पूर्ण विषयवस्तु का समावेश करके चिकित्सास्थान के सतरह अध्याय तथा कल्पस्थान और सिद्धिस्थान का जीर्णोद्धार कर रहा हूं।"[1]

कल्पस्थान और सिद्धिस्थान के अन्त में दृढ़बल ने कुछेक बड़े काम की सूचनायें लिखी हैं—जैसे कल्पस्थान में शुष्क द्रव्य और द्रव द्रव्यों की मान परिभाषा। जल, स्नेह औषधियों की मान परिभाषा। पाक का खर और मृदुत्व एवं उनके उपयोग। कालिंग और मागध मान। अन्त में सिद्धिस्थान की परिभाषा लिखते हुए उन्होंने कहा कि यहां मेरा कुछ नहीं है, आत्रेय का वाङ्मय और अग्निवेश का तन्त्र ही प्राणिमात्र के कल्याण करनेवाला समझिये। इसे श्रद्धा से पढ़नेवालों का कल्याण होगा। इस ग्रन्थ में बारह हज़ार श्लोक हैं। जिसे इनमें श्रद्धा है वही अर्थज्ञ है, विचारज्ञ है और चिकित्सक है। यह मेरी या चरक की नहीं, अग्निवेश की लिखी हुई चिकित्सा है, इसमें जो कुछ है वही अन्यत्र है, इसमें जो नहीं वह कहीं नहीं।[2]

भगवान् आत्रेय पुर्नवसु के यह आदेश स्मरणीय हैं —

प्राणाचार्य वह है जो शीलवान्, बुद्धिमान्, निदान चिकित्सा में कुशल द्विज, शास्त्रज्ञ तथा जनता में गुरु मानकर पूजित हो।

विद्या पढ़कर गुरु से दीक्षा लेने के बाद वैद्य की दूसरी जाति हो जाती है। ज्ञान से वैद्य होता है। पूर्वजन्म से कोई वैद्य नहीं होता।

विद्या का पारंगामी होने पर ब्राह्म या आर्ष तेज ज्ञान से होता है। और जिसे वह ज्ञान प्राप्त है, वह वैद्य द्विज हो जाता है।

धन के लिए अथवा काम के लिए नहीं, प्राणियों पर करुणा भाव से जो चिकित्सा करता है वह देवता है।[3]

---

1. विस्तारयति लेशोक्तं संक्षिपत्यति विस्तरम्।
संस्कर्ता कुरुते तन्त्रं पुराणं च पुनर्नवम्॥
अतस्तन्त्रोत्तममिदं चरकेणाति बुद्धिना।
संस्कृतं तन्तु संसृष्टं विभागेनोपलक्ष्यते॥
इदमन्यूनशब्दार्थं तन्त्रदोषविवर्जितम्।
अखण्डार्थं दृढ़बलो जातः पञ्चनदे पुरे॥
कृत्वा बहुभ्यस्तन्त्रेभ्यो विशेषोच्चयनोच्चयम्।
सप्तदशौषधाध्याय सिद्धिकल्पैरपूरयत्॥ चरक०, सिद्धि० 12/75-79

2. चिकित्सावह्निवेशस्य सुस्थातुरहितंप्रति।
यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत्क्वचित्॥
चरक०, सिद्धि० 12/93

3. चरक०, चिकित्सास्थान, 1/49-93

5

महर्षि कश्यप

नारी में जननीत्व और नर में पितृत्व की योजना ।
होता है इस देह में पुरुष का निर्माण कैसे यहां ।।
गङ्गा के कल कूल पै कनखल-प्रस्थाश्रम-स्थान में ।
ए हो ! पश्यक देव कश्यप तुम्हें मेरी प्रणामाञ्जलि ।।

महर्षि कश्यप

भारतवर्ष के न जाने कितने अमूल्य रत्न विस्मृति की धूल से धूसरित होकर अज्ञात स्थानों में पड़े हुए हैं, मानो भारतीयों की उपेक्षा देखकर निराशा से एकान्तवासी बन गए हों। सत्य यह है कि अपने महापुरुषों का हमने आदर ही नहीं किया, इसलिए संसार में हमारा भी आदर नहीं हुआ। उन महापुरुषों को खोकर हम स्वयं ही खो गये। हजारों वर्षों के प्रयास के बाद बुद्ध, शंकर और दयानन्द जैसे महापुरुषों ने हमें फिर जगा दिया। इसी जागृति के फलस्वरूप हम अपनी खोयी हुई विभूतियों को ढूंढ़ने के लिए व्यग्र हो गये हैं। किन्तु हमारी स्मृतियां इतनी मन्द हो गई हैं कि हम इतिहास के प्रकाश में अपने ही परिजनों को नहीं पहचान पाते। राष्ट्रीय नवोन्मेष में कठिन अध्यवसाय करके हम जिन महापुरुषों को पहचान सके हैं, उनमें ही महर्षि कश्यप का भी नाम है।

महर्षि कश्यप आयुर्वेद के उन अत्यन्त प्राचीन आचार्यों में से हैं, जिन्होंने आयुर्वेद के निर्माण में मौलिक अध्यवसाय किया था। धन्वन्तरि और आत्रेय पुनर्वसु के समान ही महर्षि कश्यप भी आयुर्वेद के विशाल भवन निर्माताओं में आदर से स्मरण किये जाने योग्य हैं। ईसा की ग्यारहवीं शताब्दी में चक्रपाणि ने 'चरक संहिता' की व्याख्या लिखते हुए एकाध स्थानों पर कश्यप के उद्धरण दिये हैं।[1] उसके बाद से आज तक प्रायः नौ सौ वर्षों में आयुर्वेद के इस कर्णधार को हम इतना भूल गये कि आज के लोग यही नहीं जानते कि महर्षि कश्यप ने आयुर्वेद के लिए क्या किया था। हमने भारत की उन महान आत्माओं का सत्संग छोड़ दिया, इसीलिए भारत की महत्ता हमें छोड़ गई। जगद्गुरु कहलाने वाले लोग आज परापेक्षी हो गये। अन्यथा जिस देश में कश्यप जैसा महान् आयुर्वेद विज्ञान का वेत्ता विद्यमान हो उसे परापेक्षी होने की आवश्यकता ही क्या है? पराधीनता की शृंखलाओं में बंधे हुए हमने सुना, इतिहास की आत्मा कोलब्रुक (Colebrooke) जैसे विदेशी के हृदय में बोल रही थी—

'Hindus were teachers and not learners.'[2]

यही कारण है कि भारतीय आज फिर अपनी खोयी हुई गुरुता को ढूंढने के लिए बेचैन है। वह फिर उपेक्षित खंडहरों और गिरि-कन्दराओं को खोजने लगा है जिनमें भारतीय संस्कृति के जीवन तत्त्व बिखरे पड़े हैं।

अभी तक दो-चार उद्धरणों के अतिरिक्त हम महर्षि कश्यप के बारे में कुछ नहीं

---

1. चरक संहिता, विमान०, अ० 8. 14/8/1
2. हिन्दू लोग गुरु थे, शिष्य नहीं।

जानते थे। जानने का कोई साधन ही न था। गत 1938 ई० में महर्षि कश्यप की निर्माण की हुई 'काश्यप संहिता' का नेपाल में पता चला। वह निर्णयसागर प्रेस, बम्बई से प्रकाशित हुई। ताड़पत्रों पर लिखी हुई एवं बीच-बीच में पत्रों के टूट जाने एवं कीड़ों द्वारा खंडित होने के कारण इस संहिता का बहुत-सा भाग आज भी विलुप्त ही है; तथापि जो कुछ है, वह एक अमूल्य निधि ही समझनी चाहिए। प्रारम्भ के बारह और अन्त के चौवन अध्याय इस ग्रन्थ के अभी भी नहीं मिल सके। आदि और अन्त में ग्रन्थ के खण्डित होने के कारण ग्रन्थ-लेखक और तत्सम्बन्धी अवान्तर बातें बहुत कम जानी जाती हैं। इस प्रकार के उल्लेख प्राय: ग्रन्थ के आदि और अन्त में ही लिखने की परिपाटी है। फिर भी जो अंश शेष है उससे भी हम महर्षि के बारे में अनेक अमूल्य बातें जान सके हैं। उपलब्ध भाग के संहिता कल्पाध्याय[1] में महर्षि कश्यप और उनकी संहिता का इस प्रकार परिचय दिया है—

एक बार स्वर्ग में दक्ष प्रजापति ने एक विशाल यज्ञ किया। दक्ष पर क्रुद्ध होकर भगवान् शंकर ने उस यज्ञ को विध्वंस करना शुरू कर दिया। डर के मारे देवता और महर्षि इधर-उधर प्राण लेकर भागे। प्रबल सन्ताप और भय के कारण उसी समय से विभिन्न रोगों का आविर्भाव हुआ। यह सतयुग की घटना थी। उसके अनन्तर त्रेता में व्यक्तियों में शारीरिक और मानसिक रोग फैले, जिनका वर्णन भी संहिता के प्रारम्भ में किया गया है। रोगों से जीर्ण-शीर्ण जनता की यह दुर्दशा देखकर भगवान् ब्रह्मदेव की प्रेरणा एवं अपने हृदय की करुणा से प्रेरित होकर महर्षि कश्यप ने तपोनिष्ठ होकर निर्मल ज्ञानदृष्टि से इस शास्त्र की रचना की थी। तदनन्तर यह अमूल्य शास्त्र महर्षि से अन्य ऋषियों ने प्राप्त किया। महर्षि से इस शास्त्र का ज्ञान प्राप्त करने वाले शिष्यों में तपस्वी ऋचीक मुनि के पुत्र जीवक भी थे। जीवक की आयु उस समय केवल पांच वर्ष की ही थी। किन्तु फिर भी प्रतिभा और ज्ञान में वह सारे ही मुनियों में अग्रणी था। कश्यप के भाव को जैसा जीवक ने ग्रहण किया वैसा अन्य किसी ने नहीं। वे पीछे रह गये। केवल जीवक ही उस ज्ञान का पूरा अधिकारी बना।

मुनियों ने जो बात फिर जाननी चाही, महर्षि ने उसे बताने का भार जीवक को सौंप दिया। यह बालगुरु वृद्ध मुनियों को शिक्षा देने के लिए गुरु के आसन पर बैठा।

'यह पांच वर्ष का बालक हमें क्या शिक्षा दे सकता है!' इस अभिमान से मुनियों ने उसका तिरस्कार किया। जीवक यद्यपि पांच वर्ष का था, किन्तु उसे यह तिरस्कार असह्य प्रतीत हुआ। गंगा के तट पर कनखल के आयुर्वेद विश्वविद्यालय में एकत्र उन सब मुनियों के देखते-देखते तिरस्कार की असह्य वेदना लिये हुए वह आत्माभिमानी बालक गंगा के गम्भीर गह्वर में निमग्न हो गया। बालक के इस साहसपूर्ण आत्मोत्सर्ग को देखकर वयोवृद्ध मुनियों का हृदय 'धक' से हो गया। कल-कल-निनाद में बहते हुए गंगा के प्रवाह को वे देखते रह गये।

---

1. संहिता कल्पाध्याय, श्लो० 20-28।

लोग अभी संतप्त हृदय से प्रवाह की ओर देख ही रहे थे कि गंगा की अगाध जलराशि के ऊपर वही बालक एक वृद्ध का रूप लेकर प्रकट हो गया। संतप्त हृदय चकित होकर रह गए। लोगों के आश्चर्य की सीमा न रही। ज्ञान के धनी उस छोटे से बालक का यह चमत्कार देखकर अहंकारी मुनियों के मस्तक श्रद्धा से झुक गए। उस ज्ञान-वृद्ध शिशु को सारे मुनियों ने आदर से 'वृद्ध-जीवक' कहकर सम्बोधित किया। तभी से महर्षि कश्यप का वह बाल-शिष्य वृद्ध जीवक नाम से प्रसिद्ध हुआ। मुनियों ने नत-मस्तक होकर ज्ञान-वृद्ध उस बाल-गुरु से आयुर्वेद का ज्ञान प्राप्त किया। महर्षि कश्यप के बाद दूसरा सम्मान मिला तो वृद्ध जीवक को ही।

यह घटना द्वापर की थी। कलियुग प्रारम्भ हुआ तो इस ज्ञान की प्रतिष्ठा रखने वाले व्यक्ति पैदा ही न हुए। या यों कहिये कि ज्ञान-विज्ञान की प्रतिष्ठा करने वाले लोग ही न रहे इसलिए कलियुग आ गया। महर्षि कश्यप का यह शास्त्र छिन्न-भिन्न हो गया। अज्ञान की घटाओं ने घुमड़कर हमारे दुर्दिनों का सूत्रपात किया। ऐसी दशा में अनायास नाम के एक विद्वान यक्ष ने इस शास्त्र को फिर से संकलित किया। अनायास की यह करुणा यदि अनायास ही हमें प्राप्त न होती तो कश्यप का यह आयुर्वेद शास्त्र कभी का विलुप्त हो गया होता। इस शास्त्र को फिर से अध्ययन और अध्यापन क्रम में प्रतिष्ठित करने का श्रेय अनायास को ही है।

इसी समय वृद्ध जीवक के वंश में उत्पन्न वात्स्य नाम के एक विद्वान् ने अनायास की श्रद्धापूर्ण सेवा की। प्रसन्न होकर अनायास ने कश्यप की वह धरोहर विद्वान वात्स्य को सौंप दी। वात्स्य वेदों का विद्वान् और भक्त पुरुष था। अनेक विच्छिन्न अंगों का वात्स्य ने फिर से प्रतिसंस्कार किया। संक्षिप्त को युगानुकूल बुद्धिगम्य बना देना तथा अधिक विस्तृत सन्दर्भ को समयानुकूल संक्षेप कर देना एवं गहन को सरल शब्दों में प्रस्तुत करना ही प्रतिसंस्कार है।[1] वात्स्य का किया हुआ प्रतिसंस्कार ही 'काश्यप संहिता' का अन्तिम रूप है।

अनायास ने वात्स्य को आठ संस्थानों वाली काश्यप संहिता दी थी। परन्तु उन आठ संस्थानों में अनेक महत्त्वपूर्ण विषय या तो विशद होने से रह गए या दुर्भाग्य ने विलुप्त हो गए थे। वात्स्य ने उन सबको विशद करने के लिए प्राचीन आठ संस्थानों के अतिरिक्त नवां 'खिलस्थान' संहिता के अन्त में और जोड़ दिया। वात्स्य का यह नवां संस्थान भी बड़े महत्त्व का है। किन्तु खेद है, आज वह भी पूरा नहीं मिलता।

संस्कृत साहित्य में कश्यप तथा काश्यप नाम के अनेक आचार्यों का वर्णन मिलता है। आयुर्वेद की 'काश्यप संहिता' के उपदेष्टा कौन-से कश्यप हैं यह निश्चय करना भी आवश्यक है। संस्कृत के प्राचीन ग्रन्थों में 'कश्यप' और 'काश्यप' शब्द का प्रयोग व्यक्ति-वाची अथवा गोत्रवाची दोनों ही प्रकार का है। दोनों शब्द दोनों ही अर्थों में प्रयोग किये जाते हैं।

---

1. विस्तारयति लेशोक्तं संक्षिपत्यति विस्तरम्।
संस्कर्ता कुरुते तन्त्रं पुराणं च पुनर्नवम्॥
—चरक।

सूत्र-ग्रन्थों और ब्राह्मण-ग्रन्थों में ऐसे अनेक प्रयोग हैं।[1] ऐसी दशा में यह जान लेना चाहिए कि वर्णनीय कश्यप मूल कश्यप थे या कश्यप गोत्र में उत्पन्न काश्यप। 'काश्यप संहिता' को देखने से ज्ञात होता है कि संहिता में अनेक स्थानों में महर्षि का नाम 'कश्यप' आया है[2] और अनेक स्थानों पर उन्हें 'मारीच' नाम से सम्बोधित किया गया है।[3] इससे यह तो स्पष्ट है कि मारीच और कश्यप एक ही व्यक्ति थे। दूसरे यह कि कश्यप के पिता का नाम मरीचि था। दूसरे, समान नाम के व्यक्तियों से भेद-बोध कराने के लिए पिता का नाम पहले जोड़कर अपना नाम लिखने की परिपाटी भारत की प्राचीन परम्परा है। आत्रेय पुनर्वसु, दाशरथि राम, 'मारीचि कश्यप' ऐसे ही प्रयोग हैं।

बोधायन आदि प्राचीन विद्वानों ने मरीचि के पुत्र कश्यप को ही काश्यप गोत्र का प्रवर्त्तक लिखा है। किन्तु 'चरक संहिता' से यह प्रतीत होता है कि कश्यप, मारीचि और काश्यप—यह भिन्न-भिन्न तीन व्यक्ति थे।[1] उपलब्ध होनेवाले प्रमाणों से हम इस परिणाम पर पहुंचते हैं कि संहिताकार कश्यप से पूर्व भी एक कश्यप थे। उनके लिए ग्रन्थों में 'वृद्ध कश्यप' नाम प्रयुक्त होता है, किन्तु उसी काल मारीचि के पुत्र का नाम भी कश्यप ही था। दोनों का भेद प्रकट करने के लिए एक वृद्ध कश्यप और दूसरे मारीच कश्यप लिखे जाते है। चरक संहिता देखने से यह बात और अधिक स्पष्ट हो जाती है। वात कला कलीयाध्याय[5] में एक को 'मारीच' लिखा और दूसरे को रसायनपाद में 'कश्यप'।[6] ऋषि कक्षा के इन दोनों ही कश्यपों के गोत्र प्रचलित हुए। वृद्ध कश्यप तथा मारीच कश्यप के गोत्र 'काश्यप गोत्र' के एक ही नाम में समाविष्ट हैं। मत्स्यपुराण और प्रवरदर्पण आदि में 'अथकश्यपाः' इस प्रकार सामान्य संज्ञा से काश्यप गोत्र के अधिकार में जो कश्यप और मारीच दोनों नाम मिलते हैं, उसका तात्पर्य यही है कि दोनों काश्यप गोत्र एक ही संज्ञा के अन्तर्गत हैं। माधव निदान के विष-रोग निदान में व्याख्या लिखते हुए आचार्य श्रीकण्ठ ने उद्धरण देकर लिखा—'वृद्ध कश्यप का ऐसा विचार है।[7] इतना ही नहीं,

---

1. (i) 'अथ कश्यपानां त्र्यार्षेयः'—गोत्रवाची आपस्तम्ब प्रवरकाण्ड में। (ii) हरितात् कश्यपाद्धरित कश्यपः, शिल्पात् कश्यपाच्छिल्प कश्यपः।—शतपथ, (iii) वंश ब्राह्मण में कश्यपात्कश्यपः।—व्यक्तिवाची। (iv) 'धौम्यो मारीचि काश्यपौ'—चरक संहिता में व्यक्तिवाची।
2. काश्यप संहिता—सू० अ० 25/3—चिकि० ज्वर 3—विशेष कल्पाध्याय 3।
3. मारीच मासीन मृषि पुराणम्।—भोजन कल्प०, श्लो० 3
मारीचमृषिमासीनं···प्राहस्थविर जीवकः।
—षड्कल्पाध्याय, श्लोक 3। रामायण में मारीच नामक एक राक्षस जाति के व्यक्ति का उल्लेख है। वह इनसे भिन्न है।—'मारीचं नाम राक्षसम्'—रामायण, बाल० 1/50
4. अङ्गिरा जमदग्निश्च वसिष्ठः कश्यपो भृगुः।
काङ्कायनः कैकशेयो धौम्यो मारीचि काश्यपौ॥—चरक०, सू० 1/8-12
5. चरक, सू० अ० 12/9-12
6. एतद्रसायनं पूर्वं वसिष्ठः कश्यपोऽङ्गिराः।
प्रयुज्य प्रयताः मुक्ताः श्रमव्याधि जराभयात्॥'—चरक०, चि० 1/3/4
7. यदाहवृद्धकश्यपः—
संयोगजं च द्विविधं तृतीयं विषमुच्यते। 33-34

स्वयं 'काश्यप संहिता' में ही यह भेद स्पष्ट वर्णित है। सिद्धिस्थान के वमन विरेचनीय तीसरे अध्याय में विभिन्न आचार्यों के विचार उद्धृत किये गए हैं। इन आचार्यों में वृद्ध कश्यप का नाम भी है। फलतः मारीच काश्यप से पूर्व एक और कश्यप अवश्य थे जिन्हें ग्रन्थकारों ने 'वृद्ध कश्यप' नाम से लिखा। 'काश्यप संहिता' में विचार उद्धृत किये गए, अतएव यह भी स्पष्ट है कि वृद्ध कश्यप ने भी कोई आयुर्वेदिक ग्रन्थ लिखा था। इस प्रकार यह स्वीकार कर लेना चाहिए कि वृद्ध कश्यप और मारीच कश्यप दो भिन्न व्यक्ति ही थे।

अब चरक संहिता के तीसरे कश्यप का प्रश्न रह जाता है। इनका कोई ग्रन्थ सम्बन्धी उद्धरण नहीं मिलता। हो सकता है कि चरक संहिता का वास्तविक पाठ 'धौम्य मारीचि-काश्यपौ' इस प्रकार रहा हो। धौम्य के आगे एकवचनान्त प्रथमा विभक्ति गलती से लिख गई हो। या यह भी हो सकता है कि जैसे आज दो कश्यपों का परिचय मिल गया है, कभी तीसरे का भी मिल जाय।

हमने लिखा है कि मारीच और मारीच-काश्यप एक ही व्यक्ति हैं। इसके लिए 'काश्यप संहिता' के लेख ही सर्वोत्तम प्रमाण हैं। 'चरक संहिता' के वातकलाकलीयाध्याय में जो मारिचि नाम आया है वह मारीच-काश्यप का ही आधा नाम है। 'चरक संहिता' में मारीचि और राजर्षि वार्योविद के संवाद का उल्लेख है, 'काश्यप संहिता' में भी वार्योविद के साथ मारीच काश्यप के विचार विनिमय का वर्णन है।[1] चरक संहिता के मारीचि और काश्यप संहिता के मारीच एक ही अर्थ के बोधक हैं, यह भी स्पष्ट है। चरक संहिता में शरीर विचयाध्याय गत माता के गर्भाशय में शरीर का रचनाक्रम बताते हुए अनेक आचार्यों के नाम उद्धृत किए गए हैं,[2] वहां 'मारीचिः कश्यपः' इस प्रकार पूरा नाम ही लिखा है। उपलब्ध काश्यप संहिता के उपदेष्टा यहां मारीचि काश्यप हैं। समस्त चरक संहिता में वृद्ध कश्यप और मारीचि कश्यप इन दो व्यक्तियों को छोड़कर तीसरे 'मारीच काश्यपो' वाले काश्यप का कहीं उल्लेख नहीं मिलता। सूची में दिए गए सभी आचार्यों का नाम कहीं न कहीं आया ही है। इस कारण यह तीसरा नाम लेखक या प्रेस की गलती से धौम्य के आगे प्रथमान्त विसर्ग लगा देने से बन गया है। वस्तुतः तीसरा कश्यप कोई नहीं है। इस प्रकार दो कश्यप ही प्रमाणसिद्ध हैं—प्रथम वृद्ध कश्यप, दूसरे मारीच कश्यप। गोत्र दोनों के मिले-जुले।

काश्यप संहिता के शिष्योपक्रमणीयाध्याय में आयुर्वेद का उद्भव लिखते हुए लिखा है कि यह ज्ञान ब्रह्मा से अश्विनीकुमारों को और इनसे इन्द्र को प्राप्त हुआ। इन्द्र से कश्यप, वसिष्ठ, अत्रि और भृगु—इन चार महर्षियों ने इसे प्राप्त किया। 'काश्यप संहिता' में भी यह प्रारम्भिक सूची इसी क्रम से लिखी गई है—'वसिष्ठः कश्यपो भृगु

---

1. इतिवार्योविदवेदं महीपाल महानृषिः
   मतं सर्वमखिलं वातानात्व भोजम् ॥ —काश्यप सं०, सि० स्था० अ० 13/35
2. चरक सं०, शारीरस्थान, अ० 6/21

रात्रेय:'[1] यहां अत्रि के स्थान पर उनके पुत्र आत्रेय का नाम रख दिया है। चरक संहिता के आयुर्वेद समुत्थानीय रसायन पाद में इन्द्र से ज्ञान प्राप्त करने के लिए जाने वाले महर्षियों में भी---'भृगु, अंगिरा, अत्रि, वसिष्ठ और कश्यप के नाम हैं।'[2] इस प्रकार देवताओं से मनुष्य समाज तक आयुर्वेद का ज्ञान लाने वाले जिन महर्षियों ने प्रथम प्रयत्न किया था, उनमें सर्वत्र जिन कश्यप का नाम मिलता है वे ही आदि कश्यप हैं। मारीच-कश्यप का नाम उस गणना में नहीं है। इन उपर्युक्त महर्षियों द्वारा मनुष्यों तक आयुर्वेद विज्ञान आ जाने के उपरान्त ही मारीच कश्यप ने संहिता लिखी थी। चरक संहिता में प्रारम्भ में पहले एक कश्यप का नाम लिखकर पीछे से मारीच कश्यप का नाम लिखना यह स्पष्ट करता है कि प्रथम कश्यप ही वृद्ध कश्यप थे और दूसरे मारीच-कश्यप। किन्तु आयुर्वेद का प्रसार करने के लिए हिमालय के पार्श्व में महर्षियों की जो विशाल सभा हुई थी उसमें वृद्ध कश्यप के साथ मारीच-कश्यप भी गए थे। सूची में कश्यप के बाद मारीच कश्यप का नाम भी चरक संहिता में लिखा है। किन्तु आयु में एक वृद्ध थे, दूसरे कनिष्ठ। इस प्रकार 'काश्यप' गोत्र वृद्ध कश्यप का चलाया हुआ ही था, यह मानना होगा।[3] मनु ने धर्मशास्त्र में गोत्र-प्रवर्त्तक कश्यप को लिखा है, मारीच कश्यप को नहीं।

तो भी मरीचि का बड़ा सम्मान था। वे दश प्रजापतियों में एक थे। मनु ने उन्हें प्रथम स्थान दिया है तथा यह भी लिखा है कि मरीचि के पुत्र अग्निष्वात्ता कहे जाते थे। वे सामाजिक कार्यों में उत्कृष्ट पूजा के अधिकारी माने जाते थे।[4] इन्हें चांदी के बर्तनों में अन्नपान देने का आदेश मनु ने दिया है। मारीच कश्यप निस्सन्देह इस सम्मान के अधिकारी थे।

किन्तु कश्यप वंश इतना विस्तृत हुआ कि उसमें बहुत से प्रतिष्ठित व्यक्ति हुए। बृहदारण्यक उपनिषद के वंश ब्राह्मण में हरित कश्यप, शिल्प कश्यप, नैध्रुवि कश्यप आदि अनेक नाम दिए गए हैं। व्याकरण में भी कश्यप नामक कोई विद्वान् पाणिनि ने स्मरण किया है।[5] हो सकता है पीछे से मारीच कश्यप का गोत्र भी चला हो। और गोत्र-प्रचलन इतना मिल-जुल गया कि उसमें वृद्ध कश्यप और मारीच कश्यप का भेद करना संभव नहीं प्रतीत होता।

बौधायन आदि आचार्यों ने मारीच कश्यप को मूल कश्यप लिखा है, वहां उनका तात्पर्य अवान्तर कश्यप गोत्र के संस्थापक से ही हो सकता है। काश्यप संहिता के शिष्योपक्रमणीयाध्याय में अग्निहोत्र का विधान है। वहां अग्नि, सोम और प्रजापति के बाद 'कश्यपाय स्वाहा' इस प्रकार अपने से पूर्ववर्त्ती के लिए ही सम्मानार्थ आहुति हो सकती है। पूर्ववर्त्ती वृद्ध कश्यप ही थे।

---

1. चरक सं०, सूत्र० 1/8
2. चरक सं०, चिकि० 1/4/3
3. जमदग्निर्भरद्वाजो विश्वामित्रात्रि गौतमाः।
   वसिष्ठ काश्यपागस्त्या मुनयो गोत्रकारिणः ॥ मनु०
4. मनु० 3/195 तथा 1/35 तथा 3/202
5. तृपि मृपि कृशेः काश्यपस्य। —1/2/25

स्मरण रहे, कश्यप और काश्यप समानार्थक हैं और गोत्रवाची भी। मारीच और मरीचि भी समानार्थक ही हैं। किन्तु गोत्रवाची काश्यप और व्यक्तिवाची कश्यप का स्पष्ट उल्लेख वाग्भट ने किया है।[1]

काश्यप संहिता में कहीं मारीच और कहीं कश्यप और कहीं-कहीं मारीच कश्यप-तीनों ही प्रकार से लिखा गया है। किन्तु आथर्वण सर्वानुक्रम सूत्र में कश्यप के बजाय मारीचि काश्यप नाम, लिखा है।[2] चरक संहिता में पूर्वज कश्यप को केवल कश्यप ही लिखा है। किन्तु काश्यप संहिता में उन्हें वृद्ध कश्यप कहकर सम्मानित किया गया है।[3] आचार्य श्रीकण्ठ ने भी माधव निदान के विष-निदान की व्याख्या में—'वृद्ध काश्यपः' ऐसा ही लिखा है। ह्रस्व ककार वाला कश्यप व्यक्तिवाची तथा दीर्घ (वृद्धि-युक्त) ककार वाला गोत्रवाची है, व्याकरण का यह प्रतिबन्ध प्रायः नहीं रहा है। इसीलिए वार्तिककारों ने उस नियम को शिथिल ही कर दिया। वह प्रतिबन्ध चिरकाल से समाप्त हो चुका। हां, कश्यप का यह सिद्धान्त है, इस भाव से (तस्येदम्) काश्यप शब्द प्रयोग किया गया हो तो कश्यप के लिए काश्यप प्रयोग उचित ही है।

महाभारत के आदि-पर्व (अ० 36) में लिखा है कि महर्षि कश्यप के वंश का बड़ा विस्तार है। कश्यप के दो पत्नियां थीं—अदिति तथा दिति। अदिति के गर्भ से बारह पुत्र उत्पन्न हुए। इनमें सबसे बड़े इन्द्र तथा सबसे छोटे विष्णु थे। बारह आदित्यों के नाम से यही बारह पुत्र प्रसिद्ध हैं। क्योंकि उनकी मां अदिति थी, इसीलिए उनका वंश आदित्य वंश या सूर्य वंश हो गया।

कश्यप की दूसरी पत्नी दिति थी। दिति की सन्तान दैत्य कहलाये। दैत्य अपनी विमाता के तथा उससे उत्पन्न अपने भाइयों के शत्रु थे। दैत्यों का वंश ही असुरों का वंश है। छान्दोग्य उपनिषद्[1] में लिखा है कि देवता और असुर युद्ध करने लगे, यद्यपि दोनों प्रजापति के वंशज थे। पीछे हम मनुस्मृति का उल्लेख कर चुके हैं, वहां मरीचि को प्रजापति लिखा है। इसलिए हमें यह स्वीकार करना होगा कि मरीचि कश्यप के वंशज ही असुर थे जो देवों से लड़े। वृद्ध कश्यप प्राजापत्य नहीं थे।

भारत के आदिकालीन इतिहास में प्रमुख तीन वंश मिलते हैं—(1) अत्रिवंश, (2) मनु वंश, (3) कश्यप का वंश। अत्रि का चन्द्रवंश। मनु का मानव वंश। कश्यप का सूर्यवंश तथा दैत्य वंश प्रसिद्ध हैं। मरीचि कश्यप प्रजापति जैसे उच्च पद वाले पिता के पुत्र थे, और योग्य विद्वान भी। किन्तु वे प्रारंभिक जीवन में आदर्शवादी व्यक्ति नहीं थे। यही कारण है कि उनके दो पत्नियां थीं। एक के सूर्यवंशी आदित्य हुए, किन्तु दूसरी के देशद्रोही दैत्य अथवा असुर हो गये। इन्हीं असुरों में हिरण्यकश्यप

---

1. धन्वन्तरि भरद्वाज निमिकाश्यप कश्यपाः।

—अष्टांग संग्रह, सू० 1/श्लो० 1।

2. पृच्छामि [illegible] मारीचिः काश्यपमजरं [illegible]।

—आथर्वण स० सू० 7/53

3. सिद्धिस्थान, वमन विरेचन, अ० 3।

4. देवासुराह वै यत्र संयेतिरे उभये प्राजापत्याः। —छान्दोग्य 1/2

जैसा आततायी भी हुआ, जो सदैव भारतीय राष्ट्र और संस्कृति का द्रोही बना रहा। इधर कश्यप भी इन पुत्रों के झगड़ों से अलग मस्ती का जीवन बिता रहे थे। कश्य एक विशेष प्रकार की सुरा को कहते हैं। कश्य पीने के कारण ही उन्हें कश्यप नाम से लोग पुकारने लगे। संभव है उनका नाम कुछ और ही रहा हो।[1] किन्तु जनता उन्हें इसी नाम से स्मरण करती रही।

धूल कितनी भी छा जाये, सूर्य चमकता ही है। इस विलासी और अनादर्श जीवन के बाद जब विरक्त जीवन में कश्यप आये, प्रथम श्रेणी के महर्षि तथा तत्त्ववेत्ता बन गये। वे एक उच्च कोटि के वैज्ञानिक और शिक्षाशास्त्री बने। उनकी प्रतिभा भारत के इतिहास में आज भी अप्रतिम है। विद्वानों ने उनके इसी नाम को वर्ण व्यत्यय करके विश्लेषित किया— वे पश्यक (सूझबूझ वाली प्रतिभा युक्त) थे, इसलिए उन्हें कश्यप कहना भी कम शोभनीय नहीं है। ऋषि और पश्यक समानार्थक हैं, इसलिये कश्यप भी महर्षि का पर्यायवाची बन गया।

महर्षि कश्यप और वृद्ध जीवक का आश्रम एवं महाविद्यालय गंगा के किनारे कनखल (हरद्वार) में था, यह कहा जा चुका है। महाभारत में गालव के उपाख्यान से भी यही वास्तविकता सिद्ध होती है।[2]

एक बार महर्षि विश्वामित्र की परीक्षा लेने के लिए धर्मराज महर्षि वसिष्ठ का रूप बनाकर उनके आश्रम नैमिषारण्य[3] में पहुंचे। धर्मराज ने वसिष्ठ की ऐसी मुद्रा बनाई जिससे यह प्रतीत होता था कि वे कई दिन से भूखे हैं। उन्हें भूखा देखकर विश्वामित्र ने उनके लिए उत्तम भोजन तैयार किया। किन्तु महर्षि विश्वामित्र अभी भोजन बना ही रहे थे कि वसिष्ठ ने दूसरे मुनियों से भोजन मांगकर खा लिया। महर्षि विश्वामित्र भी तब तक ताजा-ताजा भोजन परोसकर ले गये। विश्वामित्र को भोजन लाये हुए देखकर, छद्मवेशी धर्मराज बोले—'ऋषिवर! अब तो मैं भोजन कर चुका। तुम अपने बनाये भोजन को लेकर यहीं मिलना। मैं फिर किसी समय आकर खा लूंगा।' इतना कहकर धर्मराज चले गये।

विश्वामित्र अपने बनाये भोजन का थाल अपने सिर पर रखे वहीं खड़े रहे। धर्मराज बहुत दिन तक नहीं लौटे। विश्वामित्र भी भूखे-प्यासे केवल वायु के आधार पर जीवित रहकर भोजन का वह पात्र सिर पर रखे वहीं खड़े रहे। विश्वामित्र सूखकर कांटा हो गये किन्तु धर्मराज की प्रतीक्षा करते रहे। उस दशा में विश्वामित्र के शिष्य गालव ने गुरू के प्रति सम्मान और भक्ति-भाव से सेवा करते हुए दिन-रात एक कर दिया। इस प्रकार बहुत दिन बीत गये। धर्मराज वसिष्ठ का वैसा ही रूप धरकर फिर आये। देखा कि निष्ठावान् विश्वामित्र भोजन का पात्र सिर पर लिये उसी प्रकार उनकी

---

1. ब्रह्मणस्तनयो योऽभूत् मरीचिरिति विश्रुतः।
कश्यपस्तस्य पुत्रोऽभूत्, कश्यपानात्स कश्यपः॥ —वृत्त रत्नाकर व्याख्या, 6/10
2. महाभारत, उद्योग पर्व, 110वां अध्याय।
3. नैमिषारण्य आजकल नीमसार कहा जाता है।

प्रतीक्षा में खड़े हैं। धर्मराज ने आकर प्रसन्नता से भोजन पा लिया। भोजन करके वे बोले—महर्षि! मैं तुमसे अत्यन्त प्रसन्न हूं। तुम जिस भाव से तपोनिष्ठ हो वह आदर्श है। मैं तुम्हें आशीर्वाद देता हूं कि आज से तुम क्षत्रिय नहीं, ब्राह्मण हो।' यह कहकर वसिष्ठ-रूपी धर्मराज चले गये।

अपने शिष्य गालव की अपूर्व सेवा और भक्ति से प्रसन्न होकर विश्वामित्र ने उन्हें आशीर्वाद दिया—'वत्स! जहां चाहो जाओ, तुम्हारी मनोकामनायें पूर्ण होंगी।' गुरु का यह आशीर्वाद पाकर भी गालव ने विनयपूर्वक कहा—'मुनिश्रेष्ठ! मेरी इच्छा है कि मैं आपको गुरु-दक्षिणा देकर कहीं जाऊं। इसलिए मुझसे कुछ न कुछ गुरु-दक्षिणा अवश्य ले लीजिये।' गालव की यह बात सुनकर महर्षि बोले—'पुत्र! जाओ, मैं तुम्हारी सेवा से संतुष्ट हूं, गुरु-दक्षिणा मुझे नहीं चाहिए।' परन्तु गालव अपने हठ से न हटे।

गालव का यह दुराग्रह देखकर महर्षि को झुंझलाहट आ गयी। वे बोले—'यदि देते हो तो चन्द्रमा के समान उज्ज्वल आठ सौ श्यामकर्ण घोड़े लाकर दो।' श्यामवर्ण घोड़े बहुत कम होते हैं। गालव ऐसी दुष्प्राप्य गुरु-दक्षिणा का नाम सुनकर घबरा गया। धीरे-धीरे चिन्ता में घुलने लगा। गालव की यह दशा देखकर उसके मित्र विष्णु-वाहन गरुड़ ने उसकी सहायता की। गरुड़ अपनी पीठ पर गालव को चढ़ाकर अश्व ढूंढने के लिए राजी हो गये। चलने के लिए पश्चिमोत्तर दिशा का वर्णन करते हुए गरुड़ ने गालव को बताया कि इस वायव्य दिशा कोण में मरीचि के पुत्र महर्षि कश्यप रहते हैं। कश्यप संहिता में भी महर्षि के स्थान का उल्लेख गंगाद्वार पर ही किया गया है, जो पश्चिमोत्तर कोण में ही है।[1] आज तक आर्यों की सन्तान उस स्थान को श्रद्धा से पूजती है।

महर्षि की शिष्य-परम्परा के सम्बन्ध में 'काश्यप संहिता' के उल्लेखों से हमें थोड़ा परिचय मिलता है। वृद्ध जीवक के वर्णन में जैसा कहा जा चुका है, महर्षि के पिता का नाम मरीचि था। मरीचि दस प्रजापतियों में प्रतिष्ठित एक व्यक्ति थे। मनु के युग में मरीचि, अत्रि, अंगिरस, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, प्रचेता, वसिष्ठ, भृगु तथा नारद—ये दस व्यक्ति प्रजापति पदवी से सम्मानित थे।[2] मरीचि का वंश महान् था। कश्यप की माता का नाम 'कला' था।[3] कला भी बड़ी विदुषी और सम्मानित देवी थी। वह इतनी सुन्दरी भी थी कि प्रत्येक सौन्दर्य का पर्याय ही कला शब्द बन गया है।

महाभारत में महर्षि की पत्नियों का भी उल्लेख है। अदिति दक्ष प्रजापति की पुत्री थी। उसके गर्भ से महा तेजस्वी और विद्वान् बारह पुत्र कश्यप के थे। उनके नाम (1) इन्द्र, (2) धाता, (3) मित्र, (4) अर्यमा, (5) वरुण, (6) अंशु, (7) भग, (8) विवस्वान्, (9) पूषा, (10) त्वष्टा, (11) सविता और (12) विष्णु थे। स्वर्ग के गण प्रमुख सबसे बड़े इन्द्र ही थे। महाभारत में दक्ष की सन्तान पुत्रियों का

---

1. स्थानानि हिमवत्पार्श्वे गंगाद्वारे प्रजापतिन्।—का० सं०, कल्प स्थान, श्लोक 3
2. मनु स्मृति 1/35
3. श्रीमद्भागवत स्कन्ध 4/ अ० 1/13

उल्लेख है, उनमें तेरह महर्षि कश्यप को व्याही गयीं। अदिति के अतिरिक्त शेष बारह के भी सन्तानें हुई थीं। मनुष्य-समाज का एक बड़ा भाग उन्हीं के वंशजों से भर गया है। वे सभी काश्यप गोत्रीय ही कहे जाते हैं।

किन्तु दिति सपत्नी द्वेष से कुटिल रहकर भी उन दैत्यों को जन्म दे गयी जिन्होंने आर्य देश के इतिहास को कलङ्कित ही किया है। अदिति के शील स्वभाव और विवेक के कारण प्रजाजन उसे 'देव माता' कहकर स्मरण करते रहे हैं। उसके पुत्रों ने भी विद्या, विज्ञान, पराक्रम और वुद्धिमत्ता में अपना आदर्श स्थापित कर दिया। सत्य यह है कि अदिति ने ही अपने पति की प्रतिष्ठा को उज्ज्वल बनाये रखा।

महाभारत के अनुसार महर्षि कश्यप के पुत्र विभाण्डक की परम्परा का एक वर्णन इस प्रकार है—कश्यप के पुत्र विभाण्डक एक बार किसी सरोवर में स्नान कर रहे थे। वहां स्वर्गसे निर्वासित मृगी जैसे कमनीय नेत्र वाली किसी देवकन्या के प्रसंग से उनको एक पुत्र उत्पन्न हुआ। इसका नाम ऋष्यश्रृंग रखा गया। अयोध्यापति राजा दशरथ के एक पुत्री भी थी, जो अङ्गराज (विहार के शासक) रोमपाद ने अपत्य-धर्म से गोद ली थी। इसका नाम शान्ता था। राजा रोमपाद ने शान्ता का विवाह महर्षि ऋष्यश्रृङ्ग से कर दिया। वह स्थान जहां ऋष्यश्रृङ्ग रहते थे, हिमालय के हेमकूट शिखर पर था। 'उत्तररामचरित नाटक' में भवभूति ने दशरथ की इस पुत्री शान्ता का उल्लेख नाटक के प्रारंभ में किया है।[1]

महर्षि कश्यप का काल

महर्षि कश्यप राजर्षि दिवोदास, भगवान् आत्रेय पुनर्वसु और सुश्रुत के समयों में बहुत कुछ समानता है। वे प्रायः एक ही काल के थोड़े आगे-पीछे के महापुरुष हैं। उनके सम्बन्ध में जो वर्णन मिलते हैं वे परस्पर में प्रायः सम्बन्धित हैं। नीचे की युक्तियां इसे और स्पष्ट करेंगी—

1. श्यामकर्ण अश्व ढूंढते समय पश्चिमोत्तर (वायव्य) दिशा में मरीचि कश्यप के आश्रम का परिचय दिया गया है, जहां वे रह रहे थे।

2. गालव काशिपति राजर्षि दिवोदास से दो सौ श्यामकर्ण घोड़े लाये थे। इस प्रकार गालव, कश्यप और दिवोदास समकालीन हुए।

3. मारीच कश्यप और आत्रेय पुनर्वसु का संवाद चरक और काश्यप संहिताओं में मिलता है।

गालव विश्वामित्र के शिष्य थे और सुश्रुत विश्वामित्र के पुत्र। राजर्षि दिवोदास ने गालव को विश्वामित्र के लिए दो सौ श्यामकर्ण घोड़े दिये थे तथा विश्वामित्र ने सुश्रुत को दिवोदास के पास आयुर्वेद पढ़ने भेजा।

---

1. कन्यांदशरथो राजा शान्तां नाम व्यजीजनत्।
अपत्य कृतिकां राज्ञे रोमपादाय तां ददौ॥ —भवभूति, उत्तर० रा०
ऋष्यश्रृंगः सुतो यस्य तपस्वी स यतेन्द्रियः।
तपसो यः प्रभावेन वर्ष या मास वासवम्॥ —महाभारत, वन० 17

5. आत्रेय पुनर्वसु, वार्योविद राजर्षि, भेल, वैदेह जनक, वृद्ध कश्यप, कात्यायन, दारुवाह एवं मारीच कश्यप इन विद्वानों का वार्तालाप चरक-संहिता और काश्यप संहिता दोनों में है।[1] यह विचार-विनिमय इन महापुरुषों की समकालीनता प्रकट करता है।

ऊपर के उल्लेख से यह ज्ञात होगा कि कश्यप उन उच्चकोटि के विद्वानों में रहे जो प्रथम श्रेणी के विचारक थे। वैदिक साहित्य में भी कश्यप के विचार सम्मानित हैं। कात्ययनीय ऋक्सर्वानुक्रम सूक्त में कश्यप तथा उनके गोत्र के अन्य विद्वानों के विचार हैं। वहां 'जात वेदस्' नामक एक हज़ार सूक्तों के ऋषि कश्यप ही कहे गये हैं।[2] उक्त प्रसंग की व्याख्या करते हुए आचार्य षड्गुरु शिष्य ने कश्यप ऋषि का परिचय दिया है--यह मन्त्रदृष्टा ऋषि मरीचि के पुत्र कश्यप हैं।[3] बृहद्देवता में भी उक्त एक हज़ार सूक्तों का दृष्टा कश्यप को ही लिखा गया है।[4] आथर्वण सर्वानुक्रम सूक्त में भी यही बात प्रतिपादित हुई है।[5] सायणाचार्य ने भी जातवेदस मन्त्र की व्याख्या में उसका ऋषि मारीच कश्यप को ही लिखा है।

आज वे एक हज़ार सूक्त नहीं मिलते। हमारी उपेक्षा से काल-कवलित हो गये, कुछेक ही प्राप्त हैं।[6] महर्षि कश्यप के जो सूक्त मिलते हैं उनमें सोम नामक ओषधि का वर्णन है। संभव है उन विलुप्त हज़ार सूक्तों में इसी प्रकार ओषधियों और रोगों का विज्ञान होगा। ज्ञात होता है इसी महातन्त्र को वृद्ध जीवक ने महर्षि से प्राप्त किया होगा। चरणव्यूह आदि कुछेक प्राचीन ग्रन्थों में इन्हीं सूक्तों के आधार पर आयुर्वेद को ऋग्वेद का उपवेद कहा है। 'काश्यप संहिता' नाम के एक अन्य छोटे ग्रन्थ में भी इसी भाव का उल्लेख है।[7]

ऋग्वेद साहित्य में से महर्षि कश्यप के महान् इस ज्ञानकोष के विलुप्त हो जाने पर महर्षियों को वह ज्ञानकोष अथर्ववेद में सङ्कलित करना पड़ा। और तब से अथर्ववेद ही आयुर्वेद का आधार माना जाने लगा। 'काश्यप संहिता' में संहिता कल्पाध्याय का भी यही तात्पर्य प्रतीत होता है जिसमें लिखा है कि जीवक ने कश्यप के विशाल साहित्य को

---

1. चरक, सू० अध्याय 12।
   आकाश के नक्षत्रों तथा पुरुषों के नाम-साम्य का अर्थ यही है कि किसी महापुरुष को सम्मान देने के लिए व्यक्ति का नाम ही नक्षत्र का नाम रख दिया, ताकि स्मृति चिरस्थायी रहे।
   —महाभारत, आदिपर्व, अ० 64 देखने योग्य है।
2. ऋक्सर्वानुक्रम मं० 1, सू० 99
3. अयं च कश्यपो मरीचि पुत्र इति लक्ष्यते मारीच-कश्यप इति।—वेदार्थ दीपिका, पृ० 91
4. जातवेदस्यं सूक्त सहस्त्रमेकं ऐन्द्राग्नं कश्यपार्षं वदन्ति।—बृहद्देवता, पृ० 92
5. पृतनाजितमिति मारीचिः कश्यपः, उभे जगत्यौ जातवेदसम्। 7/63
6. [illegible] सूक्तानि [illegible]। [illegible]। [illegible] सूक्तानामेव [illegible]। जात वेदस [illegible]।—वेदार्थ दी०, पृ० 91
7. ऋग्वेदस्योपवेदस्तु [illegible] पुरा।
   [illegible] महातेजा [illegible]॥

संक्षिप्त कर दिया था।[1]

जो भी हो, यहां हम यह कहना चाहते हैं कि कश्यप का आविर्भाव उस युग में हुआ था जब ऋग्वेदादि संहिताओं का मौलिक सम्पादन हो रहा था, और महर्षिगण मन्त्रों में प्रतिपादित तत्त्वों के साक्षात्कार द्वारा ज्ञान की गूढ़ ग्रन्थि खोल रहे थे।

आज उस काल की अंकों में गणना कर देना सरल काम नहीं है। यद्यपि अनेक विद्वानों ने गणना की है। किन्तु उसके विवाद में पड़ना उचित नहीं है। वह काल अब से दस हज़ार वर्ष से कम नहीं है। हमने लिखा है कि आत्रेय पुनर्वसु और मारीच कश्यप समकालीन हैं, क्योंकि दोनों ने एक-दूसरे को उद्धृत किया है।[2] दोनों का विचार-विनियम दोनों संहिताओं में निबद्ध है।

पुनर्वसु के पिता अत्रि और कश्यप के पिता मरीचि सगे भाई थे। मरीचि बड़े और अत्रि छोटे थे। ये दोनों महर्षि ब्रह्मदेव के पुत्र कहे जाते हैं। हमने पीछे मनु का उद्धरण दिया है। मरीचि और अत्रि के अतिरिक्त ब्रह्मदेव के क्रमशः अङ्गिरा, पुलस्त्य, पुलह और क्रतु नाम के पुत्र और थे। प्राचीन संस्कृत साहित्य में उनका वर्णन मिलता है।[3]

आत्रेय पुनर्वसु के वर्णन में सी० वी० वैद्य महोदय के आधार पर पुनर्वसु का काल ईसा से ढाई हज़ार वर्ष पूर्व है। इसलिए मरीचि कश्यप का काल भी वही ठहरता है। परन्तु अर्वाचीन ऐतिहासिक काल निर्णय-आनुमानिक ही होता है। उससे यथार्थ काल का परिज्ञान कम होता है। यह अवश्य ज्ञात होता है कि आधुनिक इतिहास का विद्यार्थी प्राचीन इतिहास में काल-परिज्ञान के लिए जिज्ञासु अवश्य है, अतएव वह प्रमाणों की खोज में रहता है। निर्णय किये गये कितने ही काल भूगर्भ और पुरातत्व ने खंडित कर दिये।

नग्नजित् और उसके 'स्वर्णमार्गदः' विशेषण के आधार पर ही पारस्य के राजा दारायस के साथ मेल मिलाने, और आत्रेय पुनर्वसु को ईसा से पांच सौ वर्ष पूर्व अनुमान लगाने वाले इतिहास-प्रेमी भी तो हैं। ऐसी दशा में सी० वी० वैद्य का अनुमान ही अच्छा है. जो उन्होंने ऐतरेय और शतपथ ब्राह्मणों में नग्नजित् को ढूंढ़ने के बाद स्थिर किया। इतना अन्वेषण करने के बाद उन्होंने इतिहास की परिधि की ओर कदम तो बढ़ाया। इस प्रयास के लिए हमें उनका आभारी होना चाहिए। महाभारत में आत्रेय पुनर्वसु और मारीच कश्यप का उल्लेख 'पुराकल्प' के रूप में किया गया है। अतीत की घटनाओं का अनेक नायकों से युक्त अनिर्दिष्ट तिथिक्रम उल्लेख 'पुराकल्प' है। यह उल्लेख सिद्ध करता है कि उक्त महर्षि महाभारत से भी बहुत पूर्व हुए थे। महाभारत का समय ही ईसा से तीन हज़ार वर्ष से प्राचीन सिद्ध है, तब इन महर्षियों का समय महाभारत से भी कई हज़ार वर्ष

---

1. जीव को निर्गत तमा ऋचीकतनयः शुचिः।
   जगृहेऽग्रे महातन्त्रं संचिक्षेप पुनः सतत् ॥—सं० कल्पाध्याय, श्लो० 20
2. चरक, सू० 1/8-12। काश्यप सं०, सिद्धिस्थान 1/13
3. महाभारत, आदि० 65।

पूर्व स्वीकार करना चाहिए। आत्रेय पुनर्वसु की माता देवी अनसूया ने वन में राम और सीता का स्वागत किया था। अतएव कश्यप का समय भी राम के राज्यकाल में ही ठहरता है।

महाभारत द्वापर के अन्त में हुआ था, जिसका समय ईसा से तीन हजार वर्ष पूर्व है। आत्रेय पुनर्वसु ने अपने प्रवचनों में त्रेता युग तक का वर्णन किया है, इसलिए वे द्वापर के प्रारम्भ या त्रेता के अन्त में हुए होंगे।[1] यदि हम द्वापर का समय 6 हजार वर्ष ही मान लें तो पुनर्वसु और कश्यप का समय ईसा से 6 हजार वर्ष से अर्वाचीन नहीं है।

पृथ्वी के क्रान्ति परिभ्रमण और याम्योत्तर परिवृत्ति के आधार पर युगों की गणना होती है। यदि उस परिगणन शैली से उक्त समय निकाला जाएगा तो अधिक ही होगा, कम नहीं।

हमने लिखा है मारीच कश्यप से भिन्न वृद्ध कश्यप भी दूसरे ऋषि थे। चरक संहिता के अनुसार वे मारीच कश्यप के समसामयिक और वयोवृद्ध थे। काश्यप संहिता के ही वमन विरेचनीयाध्याय में उनका उल्लेख है। माधव निदान की मधुकोष व्याख्या में वृद्ध कश्यप के उद्धरण हैं। सुश्रुत व्याख्या में आचार्य डल्हण ने कश्यप को उद्धृत किया है।[2] महाभारत में एक अन्य काश्यप चिकित्सक की कथा लिखी है।[3]

एक बार शिकार खेलते हुए राजा परीक्षित ने मौन-व्रती शमीक ऋषि के गले में मरा हुआ सर्प डाल दिया। कुछ देर बाद शमीक के पुत्र शृङ्गी ने आकर यह देखा तो वह अभिशाप देकर बोला कि मेरे पिता के गले में सर्प डालने वाले को एक सप्ताह में सर्प काट ले और उससे ही उसकी मृत्यु हो।

परीक्षित को ज्ञात हुआ तो अपने बचने का प्रबन्ध किया। किन्तु तक्षक नाग राजा को काटने के लिए चला। तक्षक एक ब्राह्मण वेश में था। इधर कश्यप राजा को बचाने के लिए चले। मार्ग में दोनों मिले। तक्षक ने कश्यप को धन देकर लौटा दिया। क्योंकि कश्यप ने तक्षक के विष से सूखे वृक्ष को हरा-भरा कर दिया, इसलिए कश्यप को लौटाना ही एक उपाय था, ताकि तक्षक सफल हो सके। तक्षक फल में कीड़ा बनकर राजा के खाने वाले फलों में बैठ गया। राजा ने ज्योंही फल काटा, तक्षक ने उग्र रूप लेकर काट खाया। परीक्षित की जीवन-लीला समाप्त हो गई। महाभारत में वर्णित यह कश्यप वृद्ध कश्यप और मारीच कश्यप से भिन्न हैं।

वाग्भट ने अष्टांग-हृदय में 'बालामय प्रतिषेधाध्याय' में कश्यप[4] और वृद्ध

---

1. महर्षि चरक का वर्णन देखिए।
2. सुश्रुत सूत्र० (निबन्ध संग्रह), अ० 12/4
   ननु काश्यपेन मुनिना निगदितमग्निकर्म प्रतिषिद्धम्।
3. महाभारत, आदि० 42/43 अध्याय।
4. [illegible] विकारान् [illegible] [illegible]।
   पाठा प्रतिविपरीतं [illegible] [illegible]: ॥—अ० हृदय०, उत्तर० 3/48-49

कश्यप[1] नाम से भिन्न-भिन्न दो प्रयोग लिखे हैं। उन योगों में जो योग वृद्ध कश्यप नाम से लिखा है वह उपलब्ध काश्यप संहिता में नहीं मिलता। किन्तु जो योग कश्यप के नाम से लिखा है वह 'काश्यप संहिता' में प्रकारान्तर से मिलता है। इसी प्रकार बालकों की भूत-बाधा निवारणार्थ जो 'अभय घृत' प्रयोग 'काश्यप संहिता' में है वही वाग्भट ने अपने शब्दों में लिखा है।[2]

सम्भव है विष-निदान की मधुकोष व्याख्या में जो उद्धरण है, वह उन कश्यप के रचे हुए किसी ग्रन्थ का हो जो परीक्षित को विष से मुक्त करने जा रहे थे। वह ग्रन्थ अब प्राप्त नहीं होता। जो भी हो, यह स्पष्ट है कि विषवैद्य कश्यप वृद्ध कश्यप और मारीच कश्यप से भिन्न और पीछे के हैं।

महर्षि पाणिनि ने भी अपनी अष्टाध्यायी में कश्यप का नामोल्लेख किया है[3] तथा तैत्तिरीय संहिता में कश्यप को शिल्पाचार्य के रूप में स्मरण किया गया है।[4] यह दोनों वैय्याकरण और शिल्पाचार्य कश्यप एक हैं या भिन्न-भिन्न, यह कहना भी कठिन है। दोनों के अभिन्न या भिन्न होने का प्रामाणिक आधार होना चाहिए। एक ही कश्यप वेद, ब्राह्मण और आयुर्वेद में मिलते हैं। किन्तु आयुर्वेद में ही अनेक कश्यप और काश्यप हैं। पांच कश्यपों का उल्लेख हमें मिला है—

1. वृद्ध कश्यप,
2. मारीच कश्यप,
3. विषवैद्य कश्यप (परीक्षित-कालीन),
4. वैय्याकरण कश्यप,
5. शिल्पी कश्यप।

ऊपर के तीन कश्यप काल-भेद से भिन्न-भिन्न हैं। वैय्याकरण और शिल्पी कश्यपों का परिचय अभी संदिग्ध है।

---

1. समङ्गाधातकीलोध्र कुटन्नट बलाह्वयैः।
   महासहा क्षुद्रसहा क्षुद्रबिल्व शलाटुभिः ॥
   सकार्पास फलैस्तोयैः साधितैः साधितं घृतम्।
   क्षीर मस्तु युतं हन्ति शीघ्रं दन्तोद्भवोद्भवान् ॥
   विविधानामयानेतद्वृद्धकश्यप निर्मितम् ॥—अष्टा० हृ०, उत्त० 2/41-43
2. ब्राह्मी सिद्धार्थक वचा सारिवा कुष्ठ सैन्धवैः।
   सकणैः साधितं पीतं वाङ्मेधा स्मृतिकृद् घृतम् ॥
   आयुष्यं पाप्म रक्षोघ्नं भूतोन्माद निबर्हणम् ॥—अष्टा० हृ०, उत्त० 1/43-44
   यही प्रयोग काश्यप संहिता के शब्दों में—
   ब्राह्मी सिद्धार्थका कुष्ठं सैन्धवं सारिवा वचा।
   पिप्पल्यश्चेतितैःसिद्धं घृतं नाम्नाऽभयं स्मृतम् ॥
   न पिशाचा न रक्षांसि न यक्षा न च मातरः।
   न बाधन्ते कुमारं तं यः प्राश्नीयादिदं घृतम् ॥—काश्यप सं०, सूत्र०, लेहाध्याय
3. तृपि मृपि कृपे काश्यपस्य।—अष्टा०, 1/2-25
4. यत्ते शिल्पं कश्यप रोचनावदिन्द्रियावत्पुष्कलं चित्रभानु।—तैत्तिरीय संहिता।

काश्यप संहिता

काश्यप संहिता एक ही नहीं है। वे तीन प्राप्त होती है—

(1) प्रथम काश्यप संहिता अथवा वृद्ध जीवकीय तन्त्र नाम से प्राप्त संहिता निर्णयसागर प्रेस से प्रकाशित है। नेपाल के राजगुरु पं० हेमचन्द्र शर्मा ने इसका संपादन किया है।

(2) दूसरी काश्यप संहिता नाम से लिखी गई पुस्तक उमा-महेश्वर संवाद के रूप में है। यह तंजौर के पुस्तकालय में है।[1]

(3) तीसरी काश्यप संहिता काश्यप तथा गौतम के संवाद रूप में लिखी हुई अगद तन्त्र विषयक है। यह मद्रास में मुद्रित हुई है।

पहले उक्त तीनों संहिताओं में दूसरी और तीसरी पर विचार करना है। पहली पर उसके अनन्तर विचार करना अधिक संगत होगा। दूसरे नम्बर की काश्यप संहिता जो उमा-महेश्वर के संवाद के रूप में है, एक छोटा-सा ग्रन्थ है। इसमें ज्वर, वात-व्याधि, ग्रहणी, अर्श आदि नाना व्याधियों के निदान तथा चिकित्सा के साथ अनेक पाप और उनकी शान्ति के उपायों का वर्णन है। शिव आदि देवताओं की पूजा-पाठ का विशेष रूप से वर्णन किया गया है। रचना शैली प्रथम काश्यप संहिता की अपेक्षा बहुत अर्वाचीन है। अर्थ-गाम्भीर्य की दृष्टि से भी कम उपादेय प्रतीत होती है। ग्रन्थ उतना मौलिक नहीं है जितना प्रथम संहिता ग्रन्थ। फलतः यह स्पष्ट है कि वह बहुत पीछे से लिखी हुई है। तांत्रिक ग्रन्थों की छाया मिलने से बहुत सम्भव है कि यह बौद्धकाल या उसके बाद सिद्धकाल में लिखी गई होगी।

तीसरी संहिता जो गौतम और काश्यप के संवाद के रूप में है, अगद तन्त्र विषयक है। इसमें विषैले प्राणियों के दंश, विष तथा उनके शमनोपायों का वर्णन है। गारुड़ी विद्या का भी उल्लेख है। ग्रन्थ को आद्योपान्त देखने से यह प्रतीत होता है कि यह भी अर्वाचीन कृति है। अगद तन्त्र सम्बन्धी जो उद्धरण माधव निदान की मधुकोष व्याख्या में आचार्य श्रीकण्ठ ने दिया है इसमें वह नहीं मिलता। अन्यान्य प्रतिष्ठित ग्रन्थों में भी कहीं इसके उद्धरण नहीं मिलते। ज्ञात होता है, यह पुस्तक भी किसी सामान्य विद्वान की लिखी हुई है, जिसकी प्रतिष्ठा आयुर्वेद साहित्य में बहुत नहीं रही। प्राचीन ग्रन्थों में इसके उद्धरण न होने से इसका निर्माण भी अर्वाचीन है। सम्भव है कि यह भी बौद्धकाल के अन्तिम दिनों में जब सिद्ध लोग और उनके अनुयायी आहितुण्डिक (सपेरे) बनकर विषैले प्राणियों को भगवान् शिव का प्रतिनिधि मानकर पालते और पूजते थे, उसी सम्प्रदाय के किसी व्यक्ति ने महर्षि कश्यप के नाम से यह लिखी होगी।

अनेक ग्रन्थों में महर्षि कश्यप के जो संस्मरण अथवा उद्धरण मिलते हैं, वे मारीच कश्यप के हैं अथवा अन्यों के, यह निश्चयपूर्वक कहना कठिन है, क्योंकि मारीच कश्यप

---

1. श्री पं० हेमराज शर्मा द्वारा सम्पादित काश्यप संहिता का उपोद्घात, पृ० 35

की संहिता सम्पूर्ण उपलब्ध नहीं है। खंडित अंशों में कौन-कौन-से विषय लिखे गये थे, नहीं कहा जा सकता। फिर भी जहां तक परिचय मिलता है, यह असंदिग्ध है कि मारीच कश्यप की यही संहिता प्राचीन काल में भी सम्मानित थी।

इससे पुरानी वृद्ध काश्यप संहिता भी सम्मानित रही होगी। किन्तु वह इस मारीच काश्यप से भी पूर्व की थी। प्रतीत होता है वृद्ध कश्यप के शिष्य सम्प्रदाय में ऐसे विद्वान् नहीं रहे, जो उसे विस्तार देते, प्रतिसंस्कार करके जन-साधारण में प्रचलित बनाये रहते। तो भी वृद्ध कश्यप की संहिता के उद्धरण और मारीच कश्यप द्वारा उनका समादर यह सूचित करता है कि वृद्ध कश्यप का ग्रन्थ भी उत्कृष्ट था।

खोटाङ् (खुतन) प्रदेश में भूगर्भ से प्राप्त 'नावनीतक' नाम के प्राचीन आयुर्वेदिक ग्रन्थ में अनेक प्राचीन आचार्यों का उल्लेख है। उनके कुछ प्रयोग आदि भी लिखे गये हैं। इसके चौदहवें कौमार भृत्याध्याय[1] में कश्यप और जीवक के नाम से कुछ योग दिये गये हैं, जो इसी काश्यप संहिता के प्रतीत होते हैं। कौमार भृत्य विषयक प्रौढ़ता और शैली दोनों की मिलती-जुलती है। यह नावनीतक ताड़पत्रों पर लिखा हुआ है। इस ग्रन्थ की रचना कब हुई, यह तो निश्चित रूप से कहना कठिन है। परन्तु जो ग्रन्थ ताड़-पत्रों पर उपलब्ध हुआ है उसकी लेखन शैली ईसा की चतुर्थ शताब्दी की है, जो चन्द्रगुप्त प्रथम या उसके पुत्र समुद्रगुप्त का समय था। यह गुप्त साम्राज्य के अभ्युदय का समय था। ईसा की 350 से लेकर 467 शती तक यह युग भारत का ऐतिहासिक स्वर्णयुग माना जाता है।

इसी प्रकार पांचवीं से लेकर ग्यारहवीं ई० तक लिखे गये अष्टांगहृदय, अष्टांगसंग्रह, माधव निदान, सुश्रुत पर डल्हण की व्याख्या तथा चरक पर चक्रपाणि की व्याख्याओं में भी कश्यप का नाम मिलता है। अधिकांश ये उद्धरण मारीच कश्यप के ही हैं; क्योंकि उनमें प्रतिपादन की प्रौढ़ता इस तथ्य को पुष्ट करती है। अष्टांगहृदय का सामञ्जस्य तो हम दिखा भी चुके हैं। जहां वृद्ध कश्यप के विचार दिये गये हैं, वहां वृद्ध कश्यप का नाम ही मिलता है। किन्तु वह कम है, अधिक उद्धरण जो केवल कश्यप नाम से प्राप्त होते हैं वे मारीच कश्यप के ही हैं।

दुःख है, अभी तक मारीच कश्यप की काश्यप संहिता संपूर्ण उपलब्ध नहीं है, इस कारण ठीक-ठीक तुलना करना संभव नहीं है। काश्यप के नाम से प्राप्त दूसरी-तीसरी संहिताओं में न ये उद्धरण हैं, न वह विषय-गाम्भीर्य। वे दोनों क्षुद्र हैं। प्राचीन काल से सम्पूजित काश्यप संहिता मारीचि काश्यप की काश्यप-संहिता ही है। उद्धरणों के आधार पर हम यही कह सकते हैं कि ईसा की चतुर्थ शताब्दी तक इसका पर्याप्त प्रचार था। परन्तु वह कब रची गई थी, यह अनुमान गम्य ही है। उस अनुमान के आधारभूत हेतु जो हम लिख आये हैं, यही सिद्ध करते हैं कि मारीचि काश्यप ईसा से छः हज़ार वर्ष पूर्व ही रहे होंगे।

---

1. शर्करा क्षौद्र संयुक्तां पाययीत चिकित्सकः।
   सुखी भवति तां पीत्वा काश्यपस्य वचो यथा।—नावनीतक, श्लोक 10-13

प्रतिसंस्कार

काश्यप संहिता के फक्क[1] चिकित्साध्याय में 'राजतैल' नामक एक प्रयोग लिखा है। राजतैल को उपयोग करने वाले कुछ राजाओं का उल्लेख भी किया गया है। उनमें इक्ष्वाकु, सुबाहु, सगर, नहुष, दिलीप, भरत और गय—इन सात राजाओं के नाम दिये गये हैं। इसका अर्थ यह है कि काश्यप संहिता की रचना से पूर्व उक्त राजा हो चुके थे। उक्त राजा आर्यावर्त्त के भिन्न-भिन्न प्रदेशों के शासक थे। भारत से ज्ञात होता है कि भरत दुष्यन्त के पुत्र थे। वे इन्द्रप्रस्थ में शासन करते थे। भरत ने म्लेच्छ देश (ईराक-बैबीलोनिया) तक अपना शासन फिर से स्थापित कर लिया था। भरत के पुत्र भुमन्यु थे। भुमन्यु के सुहोत्र। सुहोत्र की पत्नी कोसल देश के अधीश्वर महाराज इक्ष्वाकु की पुत्री थी।[2]

इससे हम इस परिणाम पर पहुंचते हैं कि काश्यप संहिता में लिखे हुए राजा एक ही काल के नहीं हैं। इन राजाओं में सबसे पिछले और प्रसिद्ध राजा दिलीप थे। दिलीप का वर्णन महाकवि कालिदास ने अपने प्रसिद्ध काव्य 'रघुवंश' में विस्तार से किया है। दिलीप इक्ष्वाकु वंश के राजा थे। लंका के सम्राट् रावण के विजेता महाराजा रामचन्द्र से चार पीढ़ी पूर्व दिलीप हुए थे। दिलीप के रघु, रघु के अज, अज के दशरथ तथा दशरथ के राम हुए थे। इस राजतैल के इतिहास से यह स्पष्ट है कि यह काश्यप संहिता रघु से रामचन्द्र के बीच वाले समय में निर्मित हुई थी। वह मौलिक संहिता थी। परन्तु ग्रन्थ-निर्माण से पहले ही जिस राजतैल को अनेक राजा प्रयोग करते रहे, वह मौलिक आविष्कार कैसे माना जाय? तात्पर्य यह है कि काश्यप संहिता में सारे योग कश्यप के आविष्कार ही नहीं हैं, किन्तु अन्यों द्वारा आविष्कृत प्रयोग भी संकलित हैं।

सिद्धिस्थान के 'वमन विरेचनीया सिद्धिः' नामक तृतीय अध्याय में जहां वृद्ध कश्यप, वैदेह जनक और वार्योविद राजर्षि के सिद्धान्त उद्धृत हैं, वहां वात्स्य का सिद्धान्त भी लिखा हुआ है, अतएव यह सिद्ध है कि वात्स्य जो काश्यप संहिता के प्रति-संस्कर्ता और कश्यप से बहुत पीछे के हैं, प्रतिसंस्कर्ता होने के नाते मूल आचार्यों के ग्रंथ में समाविष्ट हो गये हैं। इससे यह भी सिद्ध है कि काश्यप संहिता का जो स्वरूप आज हमारे सामने है, सर्वथा मौलिक नहीं है। उसकी रचना कश्यप की ही है, किन्तु परिष्कार में दूसरों का भी बहुत भाग समाविष्ट हो गया है। इसी समावेश का नाम प्रतिसंस्कार है, क्योंकि प्रतिसंस्कर्ता को यह अधिकार है कि वह संक्षेप को विस्तृत और

---

1. फक्करोग सूखा रोग (Recket) का नाम है। काश्यप संहिता में इसका लक्षण इस प्रकार दिया है—'वाचः संवत्सरापन्नः पादाभ्यां यो न गच्छति।
फक्कः इति विज्ञेयस्तस्य कर्माणि कथ्यताम्॥'
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible] —काश्यप [illegible]
2. महाभारत, आदि पर्व, अध्याय 95-96।

विस्तृत को संक्षिप्त करके प्राचीन सामग्री को देश-काल के अनुरूप नया कर दे। दृढ़वल ने यही कहा है--

"संस्कर्त्ता कुरुते तन्त्रं पुराणञ्च पुनर्नवम्।"

इस नवीकरण में प्रतिसंस्कर्ता प्राचीन दुर्बोध को सुबोध कर देता है। अस्पष्ट को सुस्पष्ट और अनुक्त को समाविष्ट करके युगानुरूप बना देता है। महाराजा सुहोत्र ने अमुक प्रयोग से यह लाभ पाया, ऐसा पुराकल्प एवं अर्थवाद जनता को विशेप स्फूर्ति नहीं देता। क्योंकि सुहोत्र को सर्वसाधारण के हृदय में वैसा स्थान प्राप्त नहीं है जो इस युग को स्फूर्ति दे सके। किन्तु यदि यह कहा जाय कि भगवान राम ने ऐसा प्रयोग किया था, तो जनता उस प्रयोग के प्रति विशेप आस्थावान् होगी, और उस प्रयोग से परिचित होने को उद्यत रहेगी। क्योंकि भगवान राम का व्यक्तित्व जिस श्रद्धा का आधार है, सुहोत्र का नहीं। किन्तु इस प्रकार की आस्थायें प्रत्येक युग में एक-सी नहीं रहतीं। किस युग में कौन व्यक्तित्व जनता को प्रभावित करेगा, यह समझ लेना ही प्रतिसंस्कर्ता का काम है। ऐसे व्यक्तियों को अपने परीक्षण की सत्यता में लेना और ग्रन्थ में समाविष्ट करना ही प्रतिसंस्कर्ता का काम है। इस प्रकार प्रतिसंस्कर्ता ग्रन्थ को समसामयिक वनाये रहता है। काश्यप संहिता में भी ऐसे ही अनेक परिवर्तन हुए हैं।

संहिताओं के अध्ययन से पता चलता है कि प्रारम्भ में शिष्य और गुरु के प्रश्नोत्तरों के रूप में ही संहिता का स्वरूप-निर्माण होता था। वे 'शिष्य-सूत्र' और 'गुरु-सूत्र' कहलाते थे। कहीं-कहीं गुरु अपने पूर्वज या समकालीन आचार्यो के विचार भी उद्धृत कर देते थे, ताकि विपय अधिक स्पष्ट हो जाय। ऐसे प्रसंग 'एकीय सूत्र' कहे जाते हैं। परन्तु जव प्रतिसंस्कर्त्ताओं के अपने विचार भी ग्रन्थ में समाविप्ट हो गये, तो उस प्रसंग को 'प्रतिसंस्कर्तृ' सूत्र नाम देना पड़ा।

'काश्यप संहिता' में वृद्ध जीवक ने जो अपनी शंकायें महर्पि के समक्ष रखी हैं, वे शिप्य-सूत्र हैं। महर्पि कश्यप ने जो उनके उत्तर दिये हैं वे गुरु-सूत्र हैं। वृद्ध कश्यप, वैदेह जनक, राजर्पि वार्योविद आदि अन्य विद्वानों के विचार 'एकीय सूत्र' हैं। और कालान्तर में प्रतिसंस्कर्त्ता द्वारा समावेश किये गये विचार 'प्रतिसंस्कर्तृ सूत्र' की गणना में आते हैं। पहले लिखा जा चुका है कि काश्यप संहिता के जीवक द्वारा मूल रूप में प्रस्तुत किये जाने के बाद उसके दो प्रतिसंस्कर्त्ता हुए--प्रथम 'अनायास यक्ष' और दूसरे 'वात्स्य'। हमें काश्यप के साहित्यिक परिवार का परिचय पाने के लिए जहां उनके व्यक्तित्व और उनकी संहिता का परिचय होना चाहिए, वहां उनके शिष्य और प्रतिसंस्कर्त्ताओं का भी परिज्ञान होना आवश्यक है अतएव उनके शिष्य वृद्ध जीवक, और प्रतिसंस्कर्त्ता अनायास यक्ष तथा वात्स्य के सम्वन्ध में भी यहां थोड़ा वहुत लिखना समुचित प्रतीत होता है।

वृद्ध जीवक

'काश्यप संहिता' के कल्पाध्याय में वृद्ध जीवक का जो वर्णन आया है, वह प्रारम्भ में लिखा जा चुका है। जीवक महर्षि ऋचीक के पुत्र थे। ऋचीक भृगु के वंश में उत्पन्न हुए थे। ऋचीक की धर्मपरायण पत्नी कान्यकुब्ज देश के महाराज गाधि

की पुत्री तथा महर्षि विश्वामित्र की बहन सत्यवती थी[1]। जीवक ऋचीक और सत्यवती के पुत्र थे। सत्यवती अद्वितीय सुन्दरी थी। इसलिए महाराज गाधि की एक हजार श्यामकर्ण घोड़े की शर्त को पूरा करके महर्षि ऋचीक ने उसके साथ विवाह किया था। महाभारत तथा काश्यप संहिता के वर्णनों से प्रतीत होता है कि महर्षि ऋचीक द्वारा देवी सत्यवती के गर्भ से जमदग्नि और जीवक नाम के दो पुत्र हुए थे। जमदग्नि महान तपस्वी और वेदों के अद्वितीय विद्वान् थे। और जीवक की प्रतिभा इस एक घटना से ही अनुमान की जा सकती है कि उसने पांच वर्ष की आयु में ही गुरु से सुनकर काश्यप संहिता जैसा महान् शास्त्र हृदयंगम कर लिया था। वह आयुर्वेद का अगाध विद्वान् था। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण 'काश्यप संहिता' के रूप में आज भी हमारे समक्ष है।

जमदग्नि के पुत्र महाप्रतापी परशुराम हुए थे, जिनका परिचय रामायण तथा महाभारत में पर्याप्त मिल जाता है। महाभारत में लिखा है कि जीवक ने सम्पूर्ण जीवन विद्याध्ययन में ही बिता दिया[2]। आत्रेय पुनर्वसु की भांति अविवाहित रहकर ही जीवन-पर्यन्त परमार्थ में तत्पर रहने वाले इस महापुरुष ने सन्तान की कभी कामना ही नहीं की। अनायास यक्ष और वात्स्य जैसे सरस्वती के साधक ही उनके उत्तराधिकारी थे। महर्षि ऋचीक भृगुवंश में उत्पन्न हुए थे, इसलिए उनके पुत्र जीवक के लिए काश्यप संहिता में 'भार्गव' सम्बोधन प्रयोग किया गया है[3]। जीवक के त्यागमय जीवन की ध्वनि काश्यप संहिता के 'शंसितव्रत' विशेषण में प्रकट होती है।

महर्षि कश्यप के अनेक पुत्र थे। मतंग ऋषि उनके सबसे छोटे पुत्र थे। चिकित्सा-विज्ञान में व्याधियां दो प्रकार की हैं, शारीरिक और मानसिक। मतंग ने मानसिक व्याधियों की चिकित्सा के लिए एक ऐसा वैज्ञानिक तन्त्र आविष्कार किया कि वह विद्या 'मातंगी विद्या' नाम से प्रसिद्ध हो गयी[4]। कहते हैं, यह विद्या उन्होंने अपने प्रपितामह स्वयं ब्रह्मदेव से ही प्राप्त की थी। काश्यप संहिता में मतंग के लिए उतने सम्मानपूर्ण संस्मरण नहीं हैं जितने जीवक के लिए। भगवान्, वृद्ध, लोक-पूजित जैसे उत्कृष्ट आदरसूचक विशेषण यह स्पष्ट करते हैं कि जीवक विद्वानों के आदर्श थे।[5]

प्राचीन संस्कृत साहित्य में यद्यपि जीवक का विस्तृत उल्लेख किसी ऐतिहासिक ग्रन्थ में नहीं है किन्तु विद्वानों में उनकी कृतियां ही उनके संस्मरण हैं। प्राचीन 'नावनीतक' नामक ग्रन्थ से यह ज्ञात होता है कि आयुर्वेदिक परम्परा में जीवक की गरिमा किसी महर्षि से कम नहीं थी। नावनीतक के कौमार भृत्य प्रकरण में कश्यप की ही

---

1. महाभारत, वन पर्व, अध्याय 115।
2. महाभारत, आदि पर्व, अध्याय 66।
3. [illegible] गुरुं गुरुम्।
   भार्गवः [illegible] ॥—[illegible] 13
   [illegible] ॥—[illegible] 12
4. [illegible]।
5. [illegible] भगवान् वृद्धो जीवको [illegible] ।—[illegible] 27

भांति जीवक का भी नामोल्लेख है।[1] इस प्रकार जीवक के स्वतन्त्र नामोल्लेख द्वारा यह भी प्रतीत होता है कि संभवतः जीवक ने कौमार भृत्य सम्बन्धी कोई और भी ग्रन्थ लिखा होगा, जिसके ये उद्धरण यत्र-तत्र पाये जाते हैं। 'सुश्रुत संहिता' के उत्तरतन्त्र में सामान्य कौमारभृत्य प्रकरण की व्याख्या लिखते हुए आचार्य डल्हण ने भी कौमार भृत्य के आचार्यों में जीवक का नाम सम्मानार्थ लिखा है।[2] आचार्य चक्रपाणि ने अपने ग्रन्थ 'चक्रदत्त' में जीवक के नाम से 'सौरेश्वर घृत' नामक एक प्रयोग लिखा है। इसी प्रकरण में व्याख्याकार शिवदास ने 'चक्रदत्त' की व्याख्या में जीवक का कौमार भृत्योपयोगी एक अन्य प्रयोग भी दिया है[3]। तात्पर्य यह है कि आयुर्वेद के मूर्धन्य विद्वानों में जब तक जीवक का नाम भी नहीं लिया जाय, वह गणना अधूरी है।

वृद्ध जीवक का स्वतन्त्र ग्रन्थ आज मिले या न मिले, परन्तु जीवक ने कौमार भृत्य शास्त्र को जो संजीवन प्रदान किया है उसके लिए उनका यश अमर है। सत्य यह है कि प्रत्येक वैद्य, प्रसूता और शिशु के लिए वृद्ध जीवक का नाम एक मन्त्र है, जिसकी साधना स्वास्थ्य और सौन्दर्य का फल प्रदान करती है। सुन्दर और स्वस्थ शिशु ही कुमार होते हैं, जो सौन्दर्य में कामदेव को भी तिरस्कृत कर सकें। जीवक कुमारों के देवता थे।

कुछ लोग इतिहास के अज्ञान के कारण वृद्ध जीवक और कुमार भर्तृ जीवक को अभिन्न समझते हैं। यह बड़ी भूल है। वस्तुतः इन दोनों महापुरुषों के देश, काल और व्यक्तित्व में बड़ा अन्तर है। हम कुमार भर्तृ जीवक का वृत्तान्त एक प्रकरण में अलग से लिखेंगे। काश्यप संहिता के परिवार में समाविष्ट वृद्ध जीवक को हम महर्षि कश्यप के साथ ही स्मरण करें, यही उसकी शोभा है। लोग कहते हैं कि महर्षियों की सेवा से अमरत्व प्राप्त होता है। सौभाग्य के धनी वृद्ध जीवक को वह अमरत्व महर्षि कश्यप की सेवा से प्राप्त हो गया। कौमार भृत्य शास्त्र के वैज्ञानिकों में महर्षि कश्यप के साथ वृद्ध जीवक का नाम भी अमर है। कनखल की पावन भूमि में भगवती भागीरथी के तट पर बैठे सरस्वती के उपासक आज भी गंगा की तरंगों के कलरव में जीवक के उपदेश सुन सकते हैं।

अनायास यक्ष

वृद्ध जीवक के अनन्तर 'काश्यप संहिता' के सच्चे उत्तराधिकारी अनायास यक्ष हुए थे। संहिता कल्पाध्याय के अनुसार यक्षराज अनायास का आविर्भाव कलियुग प्रारंभ होने के कुछ समय बाद हुआ था। महर्षि ऋचीक के पुत्र वृद्ध जीवक रामायणकाल से कुछ पूर्व हुए थे। हम उन्हें दशरथ का समकालीन कह सकते हैं। भारतीय काल-गणना

---

1. भार्गीं सपिप्पलीं पाठां पयस्यां मधुनान्विताम्।
   श्लैष्मिकायां लिहेच्छर्द्यामिति होवाच जीवकः॥ नावनीतक 14/105
2. पार्वतक जीवक बन्धक प्रभृतिभिः विस्तरतो दृष्टाः।—डल्हण व्याख्या सुश्रुत सं०, उत्तर० 1/5
3. चक्रदत्त व्याख्या, श्लीपद, 20।

के अनुसार वह त्रेता युग का अन्त था। ईसा से कितने दिन पूर्व वह समय था, यह बता सकना दुष्कर है। युगों की काल-गणना-क्रम ही लुप्त हो गया। अनायास को वृद्ध जीवक की यह सम्पत्ति बहुत छिन्न-भिन्न अवस्था में मिली थी, जिसको फिर से प्रतिसंस्कार कर यक्षराज ने नये संस्करण में प्रस्तुत किया था।[1] किन्तु तब कलियुग आ गया था।

भारतवर्ष में यक्ष जाति उन पञ्चजन के निर्माताओं में से है, जिन्होंने स्वर्ग के शासन का निर्माण किया था। काश्यप संहिता के मूलभाग में यक्ष का वर्णन मिलता है। चरक संहिता में भी यक्षों का उल्लेख है।[3] महाभारत में भी यक्षों के कथानक विद्यमान हैं। वाग्भट ने भी उनका उल्लेख किया है। भूगर्भ से भी स्थान-स्थान पर यक्षों की प्रतिमायें निकली हैं। पुराणों में यक्ष को देव जाति में ही गिना जाता है। ऐतिहासिकों का विश्वास है कि बौद्ध युग में यक्ष जाति बौद्ध अथवा जैन सम्प्रदाय में विलीन हो गई। बौद्ध और जैन ग्रन्थों में भी यक्षों का उल्लेख मिलता है। किन्तु हमारा विचार यह है कि स्वर्ग में देवयुग समाप्त होने के साथ ही महर्षि युग प्रारंभ हुआ था। जब वेदों का संकलन संहिताओं में प्रस्तुत हुआ था, यक्षों का भिन्न वर्ग विलीन होने लगा था। एक यक्ष ही क्या, पूरा पञ्चजन ही परस्पर में मिलकर एक आर्य जाति के रूप में आर्यावर्त्त का शासन करने लगा था।

तो भी प्राचीन जातीय संस्मरण नष्ट नहीं हुए थे। मनुष्य का यह स्वभाव है, वह अपने वर्तमान में अतीत को पूजने लगता है। आर्यावर्त्त में भी देव, नाग, यक्ष, गन्धर्व और किन्नर पूजनीय तत्त्व बन गये थे। बौद्ध और जैन आन्दोलन करने वाले कोई विदेशी नहीं थे। आर्यावर्त्त में ही चलाई गई वर्ण-व्यवस्था के विरोधी लोग थे। उनमें भी पञ्च-जन के सभी वर्गों के व्यक्ति सम्मिलित थे। किन्तु प्राचीन पञ्चजन के प्रति पूज्य भावना सभी में रही। देव, नाग, यक्ष, गन्धर्व और किन्नर का नाम भी श्रद्धेय और पूजनीय बना रहा, और आज तक है। इसीलिए यक्षों का जहां भी उल्लेख है, सर्वत्र ही पूज्य-भाव से उन्हें स्मरण किया गया है।

ग्रन्थों के कथानकों तथा आयुर्वेद शास्त्र में भूतविद्या सम्बन्धी वर्णनों में यक्ष को लोकोत्तर शक्ति वाला प्रकट किया गया है। इतिहासज्ञों का मत है कि प्राचीन काल से लेकर बौद्धकाल तक भी भारतवर्ष में यक्षों की पूजा की जाती थी। इसी कारण जहां-तहां यक्षों की प्रतिमायें भूगर्भ से प्राप्त हुई हैं।[4] भारतवर्ष में ही नहीं, किन्तु सुदूर पश्चिमोत्तर प्रदेश बलख, बुखारा तथा सिमकियांग तक यक्षों की प्रतिमायें भूगर्भ से प्राप्त होती हैं जो यक्षों की पूज्यता को प्रमाणित करती हैं। ऐतिहासिकों की खोज का

1. ततः कलियुगे नष्टं तन्त्रमेतद्यदृच्छया।
   अनायासेन यक्षेण धारितं लोकभूतये ॥—काश्यप संहिता, कल्प० श्लोक० 24-27
2. पिशाच यक्ष गन्धर्व भूतप्रेत निवारिणी।
   धूपमेतं प्रयुञ्जीत [illegible] ॥—च० चि०
3. देवर्षि काव्यं पिशाच यक्ष रक्षः पितॄणामभिधर्षणानि।
   आगन्तुर्नियमव्रतादि मिथ्याकृतं कर्म च पूर्वदेहे ॥—चरक नि०, [illegible] 7/16
4. श्री कुमारस्वामी का 'यक्ष' नामक ग्रन्थ देखिये।

परिणाम यह भी है कि वेबीलोनिया तथा मैसापोटामिया तक इस प्रकार की प्रतिमायें भूगर्भ से प्राप्त हुई हैं।[1] तक्षशिला में प्राप्त यक्षराज कुवेर की प्रतिमा के अतिरिक्त यक्ष प्रतिमायें अहिच्छत्रा (बरेली) के भूगर्भ से भी प्राप्त हुई है।

स्पष्ट है कि यक्षों ने अपनी विद्या तथा आचार के बल से ही समाज में इतनी ऊंची प्रतिष्ठा प्राप्त की थी। यक्षों ने कुवेर जैसा धनी व्यक्ति पैदा किया और अनायास जैसा विद्वान् भी। देवताओं में ही यक्षों का स्थान भी प्रतिष्ठित है। वे वरदान देते थे, अभिशाप देते थे, तथा लोकोत्तर ज्ञान से जनता का पथ-प्रदर्शन भी करते थे।

चिकित्सा-विज्ञान में भी उनका महान् योग है। महाभारत में लिखा है—द्रुपद के एक कन्या हुई थी, जिसका नाम शिखण्डी था। उसे अपने स्त्री होने पर खेद था। उस समय के एक महान् शल्यशास्त्री स्थूण नामक यक्ष ने उसे स्त्री से पुरुष बना दिया था।[2] आयुर्वेदिक शास्त्रों में ग्रहावेश का भी उल्लेख है। ग्रहावेश भूतविद्या में आता है। वहां अन्यान्य देवताओं के आवेश के अतिरिक्त यक्ष का आवेश भी लिखा है। दूसरे देवताओं की भांति यक्ष के आवेश-निवारणार्थ जप, होम, पूजा, वलि आदि का विधान आयुर्वेद की प्राचीन संहिताओं में विद्यमान है। यद्यपि चरक संहिता में उसे मिथ्या कहा गया है, किन्तु कश्यप के पुत्र मतंग ने इस ग्रहावेश-निवारण के लिए मातंगी विद्या का आविष्कार किया। काश्यप संहिता में इसका उल्लेख है।[3]

काश्यप संहिता का प्रतिसंस्कार करके अनायास ने यक्षों की उस आदर्श परंपरा की प्रतिष्ठा बढ़ाई। इस महान् शास्त्र को जनता के लिए सुलभ और सुबोध बनाने में उनकी लोक-हित की भावना ने यक्षों के इतिहास को श्रद्धेय बना दिया। काश्यप संहिता के द्वितीय प्रतिसंस्कर्त्ता वात्स्य ने अनायास के लिए उचित ही लिखा है—'धारितं लोक भूतये'।

ईसा से लगभग 700 वर्ष पूर्व आचार्य पाणिनि के युग में भी यक्षों का उत्कृष्ट सम्मान था। पाणिनि ने उन अनेक यक्षों का नामोल्लेख किया जो उस युग तक पूजनीय थे।[4] शेवल या शेवलेन्द्र-यक्ष कुवेर का ही पर्यायवाची है। 'शेव' शब्द का अर्थ वैदिक

---

1. Unfortunately our figurines are all headless, but few detached cast heads that have survived exhibit features of outlandish dress and foreign facial type. These figures and heads are comparable with some of the contemporary terracates from Seleucia on the tigris and represent the hybrid Parthian art of the period 100 B. C.—A. D. 200. The stumpy figure of kuber however, follows an indigenous art-tradition —Ancient India, Archeological Survey of India, Chap. Taxila (Sirkap), p. 75 (1947-48)
2. महाभारत, आदि०, अ० 63
3. रेवती कल्पाध्याय (काश्यप सं०)
4. शेवल सुपरि विशाल वरुणार्यमादीनां तृतीयात्।—अष्टाध्यायी, 5/3/84
   राजा शब्द प्राचीन संस्कृत कोष ग्रन्थों में यक्ष के लिए ही प्रयोग होता है। शासक मात्र के लिए राजा शब्द का प्रयोग लाक्षणिक रूप से होने लगा है। 'अन्तर्वाष्पश्चिरमनुचरो राजराजस्य दध्यौ' में कालिदास ने राज-राज शब्द कुवेर के लिए प्रयोग किया है। अमरकोष तथा विश्वकोष में राज शब्द यक्ष का पर्यायवाची लिखा है।

साहित्य में धन-सम्पत्ति होता है। कुबेर स्वर्ग की धन-सम्पत्ति के अधीश्वर थे, इस कारण शेवल ही हुए। बौद्ध युग में यक्षों की यह प्रतिष्ठा अक्षुण्ण थी। भरहुत स्तूप पर कुबेर यक्ष की मूर्ति अभी तक विद्यमान है। यह बौद्ध युग का ही संस्मरण है। यक्षों की पूजा और उनके आशीर्वाद से पुत्र की प्राप्ति होने में लोगों को विश्वास था। इस विश्वास का आधार यही प्रतीत होता है कि यक्ष विद्वानों की एक सुदीर्घ परम्परा कौमारभृत्य शास्त्र के विज्ञान में बढ़ी-चढ़ी रही थी।

किसी यक्ष प्राणाचार्य के नाम के बाद 'दत्त' उपपद जोड़कर अपने पुत्र का नाम रखने की परम्परा भारतीय इतिहास में पाणिनि से भी प्राचीन है—शेवलदत्त, कुबेरदत्त, विशालदत्त, आदि। दत्त पद आशीर्वादार्थक होता है। मणिभद्र जैसे यक्ष की मान्यता में ही 'भद्रदत्त' जैसे नाम प्रचलित हुए।

आजकल 'पञ्चरक्षा' नामक एक बौद्ध ग्रन्थ मिलता है। इस प्राचीन ग्रन्थ के चीनी भाषा में कई अनुवाद हुए हैं। इनमें एक अनुवाद श्री 'पोश्रीमित्र' नामक कूच-भिक्षु ने किया है। पोश्रीमित्र मध्य एशिया में किसी स्थान के निवासी हैं, ऐसा ऐतिहासिकों का विचार है। इस अनुवाद का समय 317 से 322 ई० के बीच माना जाता है। जिस भारतीय ग्रन्थ का अनुवाद इतनी दूर तथा इतने पूर्वकाल में हुआ था, उस ग्रन्थ की मौलिक रचना निस्सन्देह इस समय से और भी बहुत पूर्व हुई होगी। इस ग्रन्थ में लगभग दो सौ यक्षों का वर्णन भिन्न प्रदेशों के अधिपति के रूप में किया गया है। साथ ही यक्षों की आराधना, उनकी आराधना से वात, पित्त और कफ जन्य रोगों की निवृत्ति, गर्भ-रक्षा एवं बालग्रह निवृत्त्यर्थ ग्रहपूजन का भी वर्णन किया गया है। इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ में 'महामायूरी विद्या' का वर्णन है। इस वर्णन में भिन्न-भिन्न प्रदेशों के पूज्य अधिदेवों के रूप में यक्षों का उल्लेख करते हुए कौशाम्बी के रक्षक एवं अधिष्ठातृदेव के रूप में [illegible] यक्ष का नाम लिखा गया है।[1] कौशाम्बी भगवान् बुद्ध के समय से अत्यन्त समृद्ध और प्रतिष्ठित नगरी थी। प्राचीन वत्सदेश की यह राजधानी थी। यह नगरी कानपुर से लखनऊ जाते समय गंगा से पूर्व तट की ओर आबाद थी।

कानपुर से लखनऊ रेलवे लाइन पर कुसुम्बी एक छोटा स्टेशन है। यहीं प्राचीन कौशाम्बी के विध्वस्त वैभव की समाधि है। उस विशाल टीले पर आज एक छोटा-सा गांव आबाद है, जिसे 'कुसुम्बी' कहते हैं। वैसाखी पूर्णिमा को यहां भगवती दुर्गा का मेला लगता है, जिसमें लाखों आदमी एकत्रित होते हैं। यहां के एक सरोवर में स्नान करके अपनी मनोकामनाएं पूर्ण होने की सद्भावना लेकर जाते हैं। किसी युग में वत्सदेश के सम्राट् उदयन यहां राज्य करते थे। बुद्ध भगवान् के 250 वर्ष बाद यह सम्राट् अशोक के अधीन आगरा और अवध के प्रान्तीय शासक का केन्द्र स्थान रह गई थी। कौशाम्बी के महामात्र (उपशासक, गवर्नर) के नाम सम्राट् अशोक द्वारा दी गई आज्ञाओं का उल्लेख कौशाम्बी के शिलालेख में मिलता है।[2] कौशाम्बी के भूगर्भ में [illegible]

1. [illegible]
2. देखो प्रथम [illegible]।

प्रयाग के संग्रहालय में देखने योग्य हैं।

गुप्तवंश के महाप्रतापी सम्राट् समुद्रगुप्त ने ईस्वी सन् 344 में कौशाम्बी पर चढ़ाई करके विजय किया था।[1] बौद्ध शासन में कौशाम्बी में उदयन की कथायें ही रह गईं, उसकी कलात्मक गरिमा और वैभव चला गया। किन्तु पञ्चरक्षा के उल्लेख के आधार पर यक्षराज अनायास जैसे आयुर्वेद विज्ञान के कुबेर को अपनी गोद में लालन-पालन करने का गर्व कौशाम्बी को सदैव रहेगा। इस प्रकार प्राचीन इतिहास के आधार पर यह असंदिग्ध है कि यक्षों ने भारतीय साहित्य और विज्ञान के संरक्षण में स्मरणीय योग दिया है।

यक्षराज अनायास के काल-निर्णय के सम्बन्ध में यही कहा जा सकता है कि अनायास का समय बुद्ध भगवान् से पूर्व ही रहा था, क्योंकि पञ्चरक्षा के मौलिक निर्माण से बहुत पूर्व अनायास कौशाम्बी के अधिष्ठातृदेव बन चुके थे। आज भी काश्यप संहिता अनायास की मौलिक भावनाओं का प्रतिनिधित्व करती है। उसमें बौद्ध विचारों का लेशमात्र प्रभाव नहीं है। संहिता में मन्त्रतन्त्रों का उल्लेख बौद्धों का नहीं, यक्षों के वैज्ञानिक और मनोवैज्ञानिक विकास का प्रतिबिम्ब है। बौद्धों ने प्राचीन आयुर्वेद विकास में कोई उल्लेखनीय योग नहीं दिया। मन्त्रतन्त्रों का बहुत कुछ प्रयोग कश्यप के पुत्र मतंग ने ही अपनी मातंगी-विद्या में संकलित किया था।

यक्षों की वंश-परम्परा तथा लौकिक जीवन का विशेष वर्णन साहित्य में नहीं मिलता, क्योंकि वे राजनैतिक और धार्मिक संघर्षों से प्रायः अलग रहे हैं। तो भी इसमें सन्देह नहीं कि आर्य जाति का आर्थिक प्रभाव यक्षों ने ही बनाये रखा था। और उसके साथ ही ज्ञान और विज्ञान में भी वे देवों और नागों से पीछे नहीं रहे। यक्षराज अनायास का आनुवंशिक परिचय हमें उपलब्ध नहीं है, तो भी काश्यप संहिता का वंश ही अनायास का वंश बन गया है। साहित्य और विज्ञान के श्रद्धेय महापुरुषों में अनायास का नाम भक्ति से लिया जाता रहेगा।

वात्स्य

वात्स्य का विस्तृत परिचय भी नहीं मिलता। उनका जन्म कहां हुआ, उन्होंने शिक्षा-दीक्षा कहां पायी, यह सब निश्चित रूप से कहना कठिन है। काश्यप संहिता द्वारा हमें इतना ही ज्ञात होता है कि वात्स्य वृद्ध जीवक के वंश में ही उत्पन्न हुए थे। कितनी पीढ़ियों बाद और किस काल में; यह निर्णय करना कठिन है। वात्स्य ने अनायास यक्ष की प्रसन्नता के प्रसाद-रूप में काश्यप संहिता प्राप्त की थी, यह उल्लेख यह व्यक्त करता है कि वात्स्य के जीवन का बहुत भाग कौशाम्बी में व्यतीत हुआ होगा।

महाभारत के अनुसार भृगु का निवास प्रयाग के निकट महेन्द्रगिरि पर था। यह विन्ध्याचल का एक भाग है। वात्स्य भी भृगुवंशी थे। अतएव यह अनुमान किया जा सकता है कि वे प्रयाग के आस-पास कहीं के निवासी थे।[2] वंश ब्राह्मण में जहां वेद और

1. गुप्त साम्राज्य का इतिहास, पृ० 54-59
2. महाभारत, वन०, अ० 87, श्लोक 20-30

वैदिक धर्म के प्रधान संरक्षकों का उल्लेख है, वहां 'वात्स्याद्वात्स्यः' इस प्रकार कहकर वात्स्य को भी स्मरण किया गया है। इस वाक्य का तात्पर्य यह है कि वात्स्य के पुत्र ने, जिसका नाम भी वात्स्य ही प्रसिद्ध था, वैदिक संस्कृति और साहित्य की सेवा में अपना जीवन अर्पण किया था। काश्यप संहिता में भी वात्स्य का स्मरण इसी नाते किया गया है कि उन्होंने आयुर्वेद की सेवा में अपना जीवन लगा दिया। वह जीवन कितना पूजनीय है जो परार्थ के लिए उत्सर्ग हो ? भारतीय नीतिशास्त्र का आदर्श है—

धनानि जीवितं चैव परार्थे प्राज्ञ उत्सृजेत्।
तन्निमित्तो वरं त्यागो विनाशे नियते सति ॥

वात्स्य ने वह आदर्श अपने जीवन द्वारा प्रस्तुत किया।

बृहदारण्यक उपनिषद् में अनेक श्रोत्रिय विद्वानों की परम्परा का वंश लिखा गया है। पहले मातृ-परम्परा से, फिर पितृ परम्परा से। वहां दोनों प्रसंगों में वात्स्य का भी उल्लेख है—

वात्सी पुत्राद्वात्सी पुत्रः।
वात्साद्वात्स्यः ॥[1]

इस संस्मरण से यह स्पष्ट है कि वात्स्य ने संहिता का प्रतिसंस्कार बृहदारण्यक उपनिषद् निर्माण से बहुत पहले किया होगा। पाणिनि के समय से पूर्व देश के सम्बन्ध से नाम रखने की परिपाटी बहुत थी। वैदिक काल में व्यक्ति का नाम प्रायः गुणवाची होता था। इन्द्र, विष्णु, प्रजापति आदि नाम गुणवाची हैं। स्वर्ग से उतरकर वंशानुक्रम से नामों का प्रचलन हुआ—आत्रेय, काश्यप, प्राजापत्य, गार्ग्य आदि। किन्तु प्रदेशों का विस्तार होने पर देशों के आधार पर भी नाम बनने लगे। कैकेय, कौसल्य, कौरव, कौशाम्बेय, माथुर, पाञ्चाल आदि नाम का प्रचलन देशपरक ही है। वात्स्य भी ऐसा ही नाम प्रतीत होता है, जो वत्स देश का सम्बन्ध प्रकट करता है। यह देशवाचक ही पीछे गोत्र के रूप में प्रयुक्त होने लगा। व्यक्ति जहां स्वयं निवास करता है वह स्थान या जहां पूर्वज रहते आये हों वह स्थान गोत्र रूप में प्रयुक्त होने की परिपाटी पाणिनि से पूर्व की है। पहले को निवास और दूसरे को अभिजन कहते हैं।[2] वात्स्य अभिजनवाची गोत्र प्रतीत होता है। वत्स देश में पीढ़ी दर पीढ़ी विद्वानों की परम्परा चलती रही होगी। अनेक देश के आधार पर नाम बनाने की शैली का उल्लेख पाणिनि ने किया है। पाणिनि का समय ईसा से 700 वर्ष पूर्व है। अतएव वात्स्य का समय हम ईसा से 1000 वर्ष पूर्व से नीचे नहीं ला सकते।

वृद्ध जीवक भृगु कुल में उत्पन्न हुए थे, फलतः जीवक के वंश में उत्पन्न वात्स्य भी भार्गव ही हैं। हमने पीछे कहा है कि भृगु का आश्रम प्रयाग में था। इसलिए भृगु के वंशज प्रयाग से सम्बद्ध वत्स देश में रहे हों यह स्वाभाविक है। भृगु के वंश में ही [illegible]

1. बृहदारण्यक उपनिषद्, अ० 6, ब्रा० 5
2. अष्टाध्यायी—सोऽस्य निवासः, अभिजनश्च, 4,3,89-90
   [illegible] 4,2,80

हैं, उनमें जीवक की शाखा में वात्स्य का आविर्भाव हुआ। यही बात काश्यप संहिता के कल्पाध्याय में कही गई है—'वृद्ध जीवक वंश्येन ततो वात्स्येन धीमता: ।' किन्तु उल्लेखनीय बात यह है कि वात्स्य ने देश के नाम पर अपना परिचय श्रेष्ठ माना और अपने आपको भार्गव नाम से प्रतिष्ठित नहीं किया।

एक ही वंश में अनेक गोत्र भी हुए हैं। सूर्यवंश ही इक्ष्वाकुवंश है। इक्ष्वाकुवंश ही रघुवंश। किन्तु नाम भिन्न-भिन्न। यह व्यक्तियों के तत्कालीन विशेष गुणों का ही प्रभाव है जो वंश में उसका नाम प्रतिष्ठित कर देता है। जीवन में कोई लोकोत्तर गुण न हो तो पुरानी लकीर के फकीर रहना पड़ता है। राजा राज्य हार जाय तो वह देश उसका गोत्र नहीं रह सकता। किन्तु प्रजा के लिए यह संकट नहीं है। वत्स का सम्राट् उदयन वत्सराज रहे या न भी रहे, किन्तु वत्स देश का निवासी वत्स देश में रहे या न भी रहे, वात्स्य रह सकता है। जयपुर के रहने वाले दिल्ली में रहकर भी जयपुरिया बने रह सकते हैं। किन्तु राजा नहीं। इस प्रकार वात्स्य विद्वानों की एक परम्परा है जिसका गुरु वात्स्य है। और उस वात्स्य का शिष्य या पुत्र भी वात्स्य। 'वात्स्याद्वात्स्य:'—इस ब्राह्मण वाक्य का भी यही अर्थ है। चरक भी ऐसा ही विशेषणवाची नाम है जो वैदिक शाखा से सम्बद्ध है। मूल नाम तो वैशम्पायन था। इसी प्रकार वात्स्य भी विशेषणवाची है। मूल नाम क्या था, यही ज्ञातव्य है।

काश्यप संहिता का अन्तरंग परिचय

काश्यप संहिता की आत्मा कश्यप अवश्य हैं, किन्तु आज उसका जो कलेवर है अनायास यक्ष और विद्वान् वात्स्य का बनाया हुआ है। काश्यप संहिता की सिद्धान्त-चर्चा में जहां वृद्ध कश्यप, आत्रेय पुनर्वसु, भेड, वार्योविद तथा काङ्कायन के सिद्धान्तों का उल्लेख है।[1] वहां वात्स्य के सिद्धान्त भी लिखे हुए मिलते हैं।[2] वस्तुत: सत्यता यह है कि प्रतिसंस्कर्त्ताओं ने देश और काल के अनुसार अनेक घटनाओं और सिद्धान्तों का नये सिरे से संकलन करके संहिता का कलेवर फिर से गठित किया है। सिद्धान्तों का मूलरूप कश्यप का रह गया किन्तु बहिरंग संगठन प्रतिसंस्कर्ताओं का ही बन गया है। अन्यथा वृद्ध कश्यप, कश्यप, आत्रेय पुनर्वसु के साथ कौत्स, पाराशर्य, अनायास तथा वात्स्य का समन्वय करना अशक्य हो जाएगा। यह सब प्रतिसंस्कर्त्ताओं का ही समावेश है।

रेवती कल्पाध्याय में मतंग और आस्तीक का वर्णन है। महाभारत में भी उनका उल्लेख है। काश्यप संहिता और महाभारत के अनुसार मतंग कश्यप के ही सबसे छोटे पुत्र थे।[3] किन्तु एक मतंग ऋषि प्रयाग के निकट महेन्द्रगिरि पर रहते थे।[4] किन्तु विश्वामित्र के समकालीन राजा त्रिशंकु भी संन्यास लेने के बाद मतंग नाम से ही प्रसिद्ध हो गये

1. काश्यप सं०, सूत्र 27 तथा सिद्धि० अ० 1
2. धात्री गुरुत्व लघुत्व हेतोरिति वात्स्य: ।
   धात्रीधर्मणि शिशुधर्मेयति भूयांस: ।।—काश्य०, वमन विरेचन सिद्धिस्थान
3. मतङ्गेन महर्षिण कश्यप पुत्रेण कनीयसा···।—काश्यप सं०, रेवती कल्प।
4. महाभारत, वन पर्व, अ० 87

थे। इतिहास में एक नाम के अनेक व्यक्ति हैं, और अनेक नाम के एक व्यक्ति भी। यह ध्यान रखने की बात है कि काश्यप संहिता से सम्बद्ध मतंग कश्यप के छोटे पुत्र ही हैं। किन्तु कश्यप के जीवन के बहुत पीछे होने वाले व्यक्तियों के सिद्धांत 'प्रतिसंस्कर्तृ सूत्र' के रूप में ही लिये जाने चाहिए, उनके समकालीन नहीं। इस प्रकार यह निश्चित है कि वर्तमान में प्राप्त प्रतिसंस्कार की गई संहिताओं में बहुत अंश मूल ग्रन्थकार के पश्चात्, प्रतिसंस्कर्त्ताओं द्वारा समाविष्ट किया हुआ भी है। इसमें जीवक का कितना, अनायास का कितना और वात्स्य का कितना यह रेखा खींचना शक्य नहीं है।

किस प्रतिसंस्कर्त्ता ने किस अंश का प्रतिसंस्कार किया यह निर्णय करना आज अशक्य है। चरक में परिस्थिति भिन्न है। वहां दृढ़वल ने स्वयं लिख दिया है—'इस संहिता के चिकित्सा स्थान के सतरहवें अध्याय का भाग मेरा प्रतिसंस्कृत है, उससे पूर्व चरक का।[1] किन्तु काश्यप संहिता में ऐसा कुछ नहीं लिखा गया। अतएव आज हमें यही स्वीकार करना होगा कि वृद्ध जीवक, अनायास और वात्स्य ने संहिता के एक-एक अक्षर की रक्षा करने में अपने जीवन के अमूल्य क्षणों का वलिदान किया है और अपने महान् व्यक्तित्व की आहुति दी है। उसमें कश्यप, वृद्ध जीवक, अनायास यक्ष और वात्स्य—इन चारों ऋत्विगों की आहुतियां सुवासित होती हैं।

उपर्युक्त उल्लेख से यह स्पष्ट है कि काश्यप संहिता के मूल उपदेष्टा काश्यप थे, किन्तु उसका लेखबद्ध सम्पादन वृद्ध जीवक ने किया था[2]। काश्यप संहिता के देखने से पता लगता है कि महर्षि कश्यप के वृद्ध जीवक ही एक शिष्य नहीं थे, किन्तु सम्भवतः वे आठ थे। सूत्रस्थान के पच्चीसवें अध्याय को प्रारम्भ करते हुए लिखा है कि दारुवाह ने वेदनाओं के सम्बन्ध में प्रश्न पूछने के लिए वृद्ध जीवक को प्रेरित किया, तब उसने महर्षि से वेदनाओं (रोगों) के विषय में उपदेश देने की प्रार्थना की।[3] अतएव यह सिद्ध है कि जिज्ञासुओं में वृद्ध जीवक के अतिरिक्त दारुवाह भी एक दूसरे शिष्य अवश्य थे। इतना ही नहीं, इस 'उपास्य मानमृषिभिः' इस बहुवचनान्त ऋषि शब्द को देखकर यह भी स्पष्ट बोध होता है कि दो ही नहीं, प्रत्युत और भी अधिक शिष्य महर्षि कश्यप के समीप पढ़ रहे थे।

काश्यप संहिता के सूत्र स्थानान्तर्गत सत्ताईसवें रोग अध्याय में प्रारम्भ में एक छोटा-सा विवाद लिखा गया है जिसमें दारुवाह और वृद्ध जीवक के साथ अन्य व्यक्तिओं के नामों की भी स्पष्ट चर्चा है। महर्षि कश्यप ने उन्हें विवाद करते देखकर रोगों के वास्तविक स्वरूप का उपदेश दिया। जीवक और दारुवाह के साहचर्य से यह निस्सन्देह कहा जा सकता है कि विवाद में भाग लेने वाले अन्य छः व्यक्ति भी इन्हीं दोनों के सहपाठी थे। उन आठों शिष्यों के नाम इस प्रकार हैं—

1. चरक०, सिद्धि० अ० 12/76-79
2. 'इतिह स्माह भगवान् कश्यपः।' 'काश्यपोऽब्रवीत्'। आदि वाक्य तथा संहिता कल्पाध्याय इसके परिचायक हैं।
3. उपास्यमानं ऋषिभिः कश्यपं वृद्ध जीवकः।
   चोदितो दारुवाहेन वेदनार्थेऽभ्यचोदयत् ॥—काश्यप सं०, सू० 25/3

१. भार्गव प्रमति	५. दारुवाह राजर्षि
२. वार्योविद	६. हिरण्याक्ष
३. काङ्कायन	७. वैदेह निमि
४. कृष्ण भारद्वाज	८. वृद्ध जीवक

इनमें वृद्ध जीवक द्वारा सम्पादित यह काश्यप संहिता है, जिसका दूसरा नाम वृद्ध जीवकीय तन्त्र भी है। यही जैसे-तैसे रूप में हमें प्राप्त है। अन्य शिष्यों ने भी ग्रन्थ लिखे थे या नहीं, इस प्रश्न पर कुछ कहना कठिन है। परन्तु अनुमान है लिखे होंगे। चरक संहिता में लिखा है कि आत्रेय पुनर्वसु के छः शिष्य थे। छहों ने अलग-अलग तन्त्र लिखे थे, उनमें से कुछ संहितायें अभी मिलती भी हैं। ऐसे उल्लेख से अनुमान करना स्वाभाविक है कि गुरु से अपने उद्दिष्ट विषय की शिक्षा पाने के बाद शिष्य लोग उसी विषय पर संहितायें लिखते थे। अतएव कश्यप के आठ शिष्यों ने भी उस परम्परा का निर्वाह किया होगा।

सैकड़ों परिचित ग्रन्थ ही आज नहीं मिलते, तब उन अपरिचित ग्रन्थों में कौन ग्रन्थ कब काल की कुक्षि में विलीन हो गया, यह कहना अशक्य है। उपलब्ध काश्यप संहिता भी दुर्भाग्य से सम्पूर्ण नहीं मिली। प्रारम्भ के बारह और अन्त के चौवन अध्यायों में क्या लिखा था, कौन जाने। उस विलुप्त भाग में हमारी अनेक शंकाओं के समाधान भी विलुप्त हो गये हैं। प्राप्त अंश में भी सन्दर्भ छिन्न-भिन्न होने के कारण अनेक प्रकरण अधूरे हैं। इस प्रकार पूर्ण काश्यप संहिता का सौन्दर्य भी अनुमेय ही है, प्रत्यक्ष नहीं। फिर भी उपलब्ध भाग में जो महत्त्वपूर्ण विषय प्रतिपादित हैं, वे उच्च कोटि के हैं और महर्षि कश्यप के अगाध वैज्ञानिक परिज्ञान के परिचायक हैं।

काश्यप संहिता का प्रतिपाद्य विषय कौमारभृत्य है। हम उसे कौमारभृत्य शास्त्र भी कह सकते हैं। इसीलिए संहिता के विमानस्थान में कौमारभृत्य को सबसे अधिक प्रधानता दी गयी है।[1] वहां लिखा है, यदि कौमारभृत्य के द्वारा शिशु का संवर्धन ही न हो तो चिकित्सा के शेष सात अंगों द्वारा चिकित्सा ही किसकी होगी? अन्यों की अपेक्षा शिशु के लिए हृद्य औषधियां भिन्न हैं, मात्रा भिन्न है, उपचार भिन्न हैं तथा उनकी विशेषातायें भिन्न। इसलिए महान् आयुर्वेद का आरम्भ कौमारभृत्य से ही मानना चाहिए। फलतः सम्पूर्ण संहिता के अन्दर धात्री और शिशु के सम्बन्ध में रोग चिकित्सा और औषधियों का विस्तृत विवेचन किया गया है।

चिकित्सा स्थान में एक जगह जीवक ने प्रश्न किया—गुरुवर! पहले आपने संक्षेप में कहा था—— व्रण दो प्रकार के होते हैं। मैं विस्तार से उनके लक्षण और चिकित्सा जानना चाहता हूं। शिष्य के ऐसा पूछने पर महर्षि ने उत्तर दिया।

---

1. ततत पुण्य एवआयुर्वेदः।······किञ्चास्याद्यंतन्त्र मिति।
'कौमारभृत्यमष्टानां तन्त्राणामाद्य मुच्यते।
आयुर्वेदस्य महतो देवानामिव हव्यपः॥
अनेन संवर्धितमितरे चिकित्सन्ति। बालस्य हृद्यमौषधमन्यन्। प्रमाणमन्यत् अन्य उपक्रमोऽन्येच विशेषाः।'——काश्य० सं०, विमान, शिष्योपक्रमणीयाध्याय।

"जीवक ! यह अन्य शास्त्र का विषय है। अपने शास्त्र के अतिरिक्त अन्य शास्त्र के विषय का वर्णन एक धृष्टता है क्योंकि उसे सर्वांगीण नहीं कहा जा सकेगा। फल यह होगा कि यह धृष्ट प्रवक्ता विद्वानों के बीच वैसा ही तिरस्कृत होगा जैसे कौवा सजाया हुआ भी हंसों के बीच शोभा नहीं पाता । तो भी मैं तुम्हारे प्रश्न की अवहेलना नहीं करूंगा' क्योंकि वैद्य को चिकित्सा का यह शल्य अंग भी जानना आवश्यक है। अतएव जीवक ! यह विषय तुम उन्हीं के शास्त्रों से जानो तभी विज्ञ हो सकोगे। यहां तो शिशु की कल्याण-कामना को हृदय में रखकर इस शल्य शास्त्र का सार मात्र सुन लो।"

यह व्यावहारिक उद्बोधन देने के बाद आचार्य ने सार रूप जीवक को उसके प्रश्न का उत्तर दिया। किन्तु यह सार इतना महत्त्वपूर्ण है कि उसकी तुलना में केवल सुश्रुत को छोड़कर अन्य सभी संहिताओं के एतद्विषयक लेख असार प्रतीत होते हैं। जो भी हो, हम तो यह दिखाना चाहते हैं कि अवान्तर विषयों को बचाते हुए महर्षि कश्यप ने कौमारभृत्य का प्रतिपादन कितने आग्रहपूर्वक किया है। यही तो कारण है कि महर्षि कश्यप का कौमारभृत्य अद्वितीय और अनुपम हैं। आत्रेय की कायचिकित्सा दार्शनिक सिद्धान्तों की विषम घाटियों में चढ़ती और उतरती हुई दुरुह दिखायी देती है। सुश्रुत का शल्य-शास्त्र शैली के अभाव में अरोचकता की वेदनाओं से विग्रह कर रहा है। परन्तु कश्यप का कौमारभृत्य विषयसन्निवेश की रोचकता तथा वस्तु-प्रतिपादन की माधुरी के कारण मुसकराता हुआ दृष्टिगोचर होता है।

काश्यप संहिता की विशेषता यह है कि जो विषय लिखना प्रारम्भ किया उसका विवेचन इतना पूर्ण और परिष्कृत है, कि प्रतीत होता है वह पूर्णता तक पहुंच गया। दन्त-जन्म, बालग्रह, आकृति विज्ञान, पञ्चकर्म, गर्भिणी चिकित्सा, वेदनाध्याय तथा द्रव्य गुण वर्णन में, प्रतीत होता है गुरुवर कश्यप ने पराकाष्ठा कर दी। स्तन्य दोष, फक्करोग, उरोघात तथा लशुन कल्प तो काश्यप के अपने मौलिक आविष्कार हैं। उनकी समता किसी संहिता से नहीं की जा सकती। वह नवीन अनुसन्धान जो कश्यप ने इन विषयों में प्रस्तुत किये हैं, अन्यत्र हैं ही नहीं।

दन्त-जन्म के सम्बन्ध में कश्यप की सबसे बड़ी खोज यह है कि उन्होंने दूध के दांत तथा अन्न के दांतों की वैज्ञानिक आधार पर विवेचना करते हुए बताया कि मसूड़े के अन्दर दांत जितने महीने में बनता है ठीक उतने ही दिन में वह मसूड़े को फोड़कर ऊपर आ जाता है। बच्चे के जन्म के जितने महीने बाद दूध के दांत उगते हैं, प्रायः उतने ही वर्ष बाद गिर जाते हैं, और उनके स्थान पर अन्न के नवीन दांत उत्पन्न होते हैं।

लड़कियों के दांत कुछ जल्दी और कम कष्ट से निकल आते हैं, किन्तु लड़कों के दांत कुछ देर से तथा अधिक कष्ट से उगते हैं। इसका कारण यह है कि लड़कियों के दांत कम गहराई से तथा कोमल उठते हैं, जबकि लड़कों के दांत दृढ़ और अधिक गहरे होते हैं।

आठ मास की आयु से पूर्व उगने वाले दांत सदैव रोगी और दुर्बल रहते हैं। इसके विपरीत आठवें मास से उगने वाले दांत श्रेष्ठ और सुदृढ़ सिद्ध होंगे। अस्तु ! यहां काश्यप का सम्पूर्ण प्रवचन देना संभव न होगा। किन्तु इस संक्षिप्त परिचय से यह

तो प्रकट होता ही है कि दांतों के सम्बन्ध में निश्चित सिद्धान्त दूसरी संहिताओं में नहीं मिलते। और आज तक भी उन पर इतनी गहराई तक विवेचन नहीं हुआ।

सूखा वायु (बालशोष) रोग से आजकल हजारों बच्चे पीड़ित होते हैं। उसका यथोचित निदान और प्रतीकार अभी तक प्रायः अज्ञात-सा है। बच्चे सूखते जाते हैं। उसका निदान क्या है और सम्प्राप्ति क्या? कश्यप का यही फक्क-रोग है। इस फक्क-रोग का गंभीर और विशद विवेचन काश्यप संहिता जैसा दूसरे ग्रन्थ में नहीं मिलता। कश्यप ने बताया है कि इस रोग के तीन कारण हैं—

1. क्षीर दोष।
2. गर्भाशय दोष।
3. अन्य रोगजनित दोष।

अधिकांश बालक क्षीर-दोष से ही रोगी होते हैं, गर्भाशय तथा अन्य रोगजनित दोषों से कम। इस रोग से आक्रान्त शिशु साल भर का होने पर भी पैरों से अपाहिज रहता है। वह बोलता भी देर से है। चूतड़, पुट्ठे और बांहें सूख जाती हैं। शरीर अस्थि-पञ्जर मात्र दिखाई देने लगता है। शरीर में विशेष प्रकार की दुर्गन्ध आने लगती है। श्वास-प्रश्वास, मल-मूत्र तथा नासिका मल अधिक हो जाते हैं। बालक की प्रत्येक चेष्टा मन्द हो जाती है। यदि उपर्युक्त लक्षण हों तो वह फक्क रोग है।

माता के गर्भ धारण करने के उपरान्त भी लगातार बच्चे को दूध पिलाते रहने से भी गर्भ से दूषित स्तन्य फक्करोग का कारण होता है, क्योंकि गर्भिणा के दूध में पोषक तत्त्व नहीं रहते।

अन्य रोगजनित प्रकार में यकृत प्लीह तथा आंतों के सामता अथवा कृमिजन्य विकारों से आंतों के दूषित हो जाने पर तीसरे प्रकार का फक्करोग होता है। प्रकट रूप से सभी प्रकार से उत्पन्न फक्क के लक्षण समान ही होते हैं। मूल कारण क्या है यह ज्ञात करना वैद्य का ही उत्तरदायित्व है।

केवल क्षीरदोषजनित फक्करोग में अल्प दोष होने पर कभी-कभी बालक सूखता नहीं दीखता, किन्तु एक वर्ष की आयु के बाद भी वह न खड़ा हो पाता है और न ही चलने योग्य। कभी-कभी वह गूंगा, बहरा, लंगड़ा और विक्षिप्त मस्तिष्क वाला हो जाता है। ऐसी दशा में वात, पित्त और कफ का सामञ्जस्य दूध में नहीं होता। वह प्रायः वात और कफ प्रधान दोषयुक्त रहता है। दूध में तीनों तत्त्व सन्तुलित होने चाहिए।

अभी तक कई चिकित्सा प्रकारों में कहा जाता है कि मां के दूध में चूने की कमी से हड्डी पुष्ट नहीं होती, इस कारण फक्क रोगी पैरों से अपाहिज रहता है। परन्तु प्रश्न यह भी है कि गूंगा अथवा बहरा क्यों? और गूंगा रहता है तो बहरा भी अवश्य रहेगा।

बहरा हो तो गूंगा होना अनिवार्य नहीं है। किन्तु गूंगा होकर बहरा होना अवश्यम्भावी देखा जाता है, ऐसा क्यों? इस प्रश्न का जितना सुन्दर और वैज्ञानिक उत्तर महर्षि कश्यप ने दिया है वह दूसरे के पास नहीं है।

महर्षि कश्यप की खोज यह है कि बोलने वाली जीभ जिसे हम एक समझते हैं,

एक नहीं दो हैं। दोनों ऊपर से एक खोल (आवरण) में बन्द हैं। वस्तुतः जैसे हमारे दोनों हाथ अलग-अलग हैं वैसे ही वागिन्द्रिय भी अलग-अलग दो हैं। जब जीभ का एक भाग बोलता है तब दूसरा भाग उस ध्वनि को ग्रहण करता है। कान ध्वनि को जीभ के मूल तक पहुंचाने का ही काम करते हैं। सुनती तो जीभ ही है, कान नहीं।

फक्करोगी के शरीर में कफ और वात दोष से दूषित माता का दूध वागिन्द्रिय को पुष्ट नहीं करता, फलतः बालक गूंगा तो रहता ही है और कानों के मार्ग द्वारा पहुंचे शब्द भी उसकी वागिन्द्रिय ग्रहण नहीं करती इसलिए वह बहरा भी हो जाता है। बोलने वाले बहरे लोगों की वागिन्द्रिय सदोष नहीं है। उनके कानों द्वारा शब्द वहन करने वाले वे मार्ग सदोष हैं जो ध्वनि को वागिन्द्रिय तक ले जाते हैं।[1]

हमने देखा है, सांप के कान नहीं होते, किन्तु पृथक्-पृथक् जीभ के दो फलक होते हैं। प्रकृति ने सर्प की जीभ को अन्य प्राणियों की भांति एक खोल में बन्द नहीं किया है। लोगों का यह प्रवाद था कि सांप जीभ से सुनता है। यह प्रवाद एक वैज्ञानिक सत्य था, जो महर्षि कश्यप के इस वैज्ञानिक अनुसंधान के आधार पर ही प्रचलित है। आज का शरीरविज्ञान भी मस्तिष्क में वचन केन्द्र (speaking centre) तथा श्रवण केन्द्र (hearing centre) में भेद नहीं ढूंढ़ सका। इस प्रकार यह एक वैज्ञानिक सत्य है कि सांप ही जीभ से नहीं सुनते, विश्व के सारे प्राणी ही जीभ से सुनते हैं।

शिशु के लिए सुवर्णप्राशन भी काश्यप की अपनी ही खोज है। शिशु को सामर्थ्यवान् बनाने के लिए खिलाई जाने वाली वस्तुओं में कश्यप ने प्रथम स्थान सुवर्णप्राशन को ही दिया है। उनका प्रयोग यह है कि तत्काल स्वच्छ धोये हुए पत्थर पर दो बूंद मां का दूध या पानी डालिये। विशुद्ध स्वर्ण को उसमें घिस दीजिये। ध्यान रहे, आधा चावल से अधिक न घिसा जाय। इस घिसे हुए स्वर्ण को 2 रत्ती घी तथा 4 रत्ती मधु में मिलाकर शिशु को चटा दीजिये। इससे शिशु की शक्ति, सौन्दर्य तथा बुद्धि में वृद्धि होती है। एक मास सेवन करने से बालक नीरोग तथा बुद्धिमान् होता है। छः मास प्रयोग करने पर उसकी धारणाशक्ति इतनी उत्कृष्ट हो जाती है कि एक-दो बार सुनकर ही किसी सन्दर्भ को स्मरण कर ले।[2]

यों तो महर्षि कश्यप का रासायनिक विश्लेषण प्रायः सर्वोत्तम है, परन्तु खास-

---

1. तत्र वागिन्द्रियं त्वेकं द्विधाभिन्नं यथा करौ।
   अर्धेन शब्दं वदति गृह्णात्यर्धेन तं पुनः॥
   तस्माच्च मूका भूयिष्टं भवन्ति वधिराः नराः।
   वाङ्मूलं हि स्मृतं श्रोत्रं वाग्भ्रंशे भ्रश्यते हितत्॥
   —काश्यप सं०, चिकित्सास्थान, फक्क चिकित्सिताध्याय, श्लो० 7-8

2. विघृष्यधौते दृपदि प्राङ्मुखीलघुनाम्बुना।
   आमथ्य मधुसर्पिभ्यां लेहयेत् कनकं शिशुम्॥
   सुवर्णप्राशनं ह्येतन्मेधाग्नि बलवर्धनम्।
   आयुष्यं मङ्गलं पुण्यं वृष्यं वर्ण्यं ग्रहापहम्॥
   मासात् परम मेधावी व्याधिभिर्नच धृष्यते।
   षड्भिर्मासैः श्रुतिधरः सुवर्ण प्राशनाद्भवेत्॥—काश्य०, सूत्र० लेहाध्याय

खास पदार्थों में लहसन का जो रासायनिक विश्लेषण उन्होंने दिया है, वह उनकी अपूर्व खोज है। उनके अनुसन्धान के सुनिश्चित परिणाम देखिये—

उन्होंने बताया कि प्रकृति के समस्त निर्माण में मधुर, अम्ल, लवण, कटु, तिक्त और कषाय, यह छः रस हैं। लहसन में एक अम्लरस नहीं है, इस एक रस की कमी के कारण ही उसे 'रसोन' संज्ञा दी गई है। इतना ही नहीं, उसके प्रत्येक अवयव का विश्लेषण भी उन्होंने किया है। उनका विश्लेषण देखिये—

1. लहसन के बीज में कटु रस है।
2. उसके नाल में लवण रस एवं तिक्त रस है।
3. उसके पत्तों में कषाय रस होता है।
4. आमाशय में उसका परिपाक मधुर होता है।

यौवन को स्थिर रखने के लिए तथा स्तन्य रोगों, आर्तव रोगों एवं गर्भाशय के रोगों में लहसन के अलग-अलग प्रयोग कश्यप ने बताये हैं। स्त्रियों के अतिरिक्त पुरुषों के लिए रसोन वाजीकरण है। वह वातव्याधि, रक्तदोष, रक्तचाप, स्मृतिभ्रंश, जीर्णज्वर, मूत्र विकार, हृद्रोग, उन्माद तथा कुष्ठ पर चमत्कारपूर्ण लाभ करता है। इन रोगों पर रसोन के जो प्रयोग महर्षि ने आयोजित किये हैं, देखने ही योग्य हैं।

महर्षि ने पौष और माघ का महीना लहसन के उपयोग के लिए सर्वोत्तम बताया है। श्लेष्म और पित्त प्रधान रोगों में लहसन का प्रयोग नहीं करना चाहिए। साम रोगों में भी लहसन हानिकर होता है। यहाँ तक कि उरुस्तम्भ रोग में भी कश्यप ने रसोन का प्रयोग निषिद्ध लिखा है। क्योंकि वह श्लेष्म प्रधान सामता से उत्पन्न होने वाला रोग है।[1]

सन्निपात का विवेचन और चिकित्सा भी कश्यप की अपूर्व है। चरक ने लिखा था कि सन्निपात के समुद्र में डूबते रोगी को जो चिकित्सक उबार लेता है, मानो उसने सारे धर्म कर लिये, और ऐसा कौन-सा सम्मान है जिसका वह अधिकारी नहीं?[2] प्रत्येक प्राणाचार्य ने सन्निपात पर गम्भीर लिखा है। सुश्रुत का सन्निपात विवरण उत्कृष्ट है, चरक का अद्वितीय। किन्तु कश्यप की कमनीयता ही कुछ और है।

राजयक्ष्मा पर भी कश्यप के अपने आविष्कार हैं। हम आत्रेय पुनर्वसु से उनकी तुलना नहीं करना चाहते। किन्तु कश्यप का आविष्कृत 'महा-अभयारिष्ट[3]' न धन्वन्तरि के पास है और न ही आत्रेय के। जल, दुग्ध और माँस के विभिन्न भेदों का प्रथम-प्रथम विश्लेषण देने में कश्यप की रासायनिक प्रतिभा देखने ही योग्य है! यहां छोटी-सी गागर में वह सागर भरा जाय?

कश्यप के वैज्ञानिक आविष्कारों को थोड़ा-सा पढ़ लीजिये, फिर आद्योपान्त पढ़े

---

1. काश्यप संहिता, रसोन कल्प।
2. सन्निपातार्णवे मग्नं योऽभ्युद्धरति मानवम्।
   कस्तेन न कृतोधर्मः कांवा पूजां स नार्हति ॥—चरक
3. "महाभयारिष्ठ इति कश्यपेन प्रकल्पितः"—काश्यप सं०, चिकि०, राजयक्ष्मा।

विना छोड़ने को जी नहीं करता। आज के संसार में वैज्ञानिकता का वड़ा वोलवाला है। किन्तु हजारों वर्ष से वसुन्धरा के गर्भ से छिपी हुई महर्षियों की यह वैज्ञानिक गवेषणायें किससे कम हैं ? ऐसा लगता है आज के वैज्ञानिक से कश्यप पूछ रहे हैं—वाणी के उच्चारण और श्रवण का प्राकृतिक नियम क्या तुझे ज्ञात है ? त्रिदोष की मर्यादा पर रोग और आरोग्य के अपरिवर्तनीय सिद्धान्तों को क्या तू समझ सका है ? जीवन की अल्पता और दीर्घता तेरे ही हाथ है, क्या उसका उपयोग तू कर सका ? यदि यही न कर सका तो विज्ञान का नाम लेकर विध्वंस की ओर क्यों जा रहा है ?

महर्षि कश्यप के समय की एक चीज़ और है, वह है भूत-विद्या। भूत-विद्या नवीन आविष्कार नहीं है। वह आयुर्वेद का मौलिक अंग है। धन्वन्तरि कश्यप से पूर्व हुए थे। उन्होंने आयुर्वेद के आठ अंग लिखे हैं, उनमें एक अंग भूत-विद्या भी है। ग्रह देव और असुर दोनों प्रकार के होते हैं—स्त्री रूप भी और पुरुष रूप भी। इतिहास में पूर्वजों के प्रति प्रत्येक जाति को एक मानसिक श्रद्धा रही है। वह आज भी है। मनुष्य की मानसिक स्थिति ही ऐसी है कि वह अज्ञात कारण वाले सुख और दुःख को पूर्वजों के प्रसाद और रोष का फल मानता है। उसकी कल्पनाओं में वे ही व्यवस्थायें रहती हैं जो इतिहास में उसने पढ़ी या सुनी हैं। ग्रहों के वारे में भी यही बात है। उसमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ग्रह भी हैं।

किन्तु सम्पूर्ण ग्रहों के आवेश में मूल शक्ति रेवती है। और रेवती एक ऐसी शक्ति है जो तीनों लोकों में व्यापक है।[1] और रेवती का प्रकोप अधर्म के कारण होता है।[2] ग्रहों में स्कन्द और रेवती ही प्रधान हैं। स्कन्द पुरुष ग्रह और रेवती स्त्री ग्रह। पुरुष ग्रह सारे ही स्कन्द के तथा स्त्री ग्रह रेवती के ही रूपान्तर हैं। स्कन्द प्रधान, रेवती उसकी आज्ञानुवर्तिनी। इस प्रकार विश्वव्यापिनी रेवती की तुलना में स्कन्द और भी महान् विश्वव्यापी तत्त्व हुआ।

अर्थवाद के रूप में एक कहानी भी लिखी है कि रेवती ने अपनी भक्ति से स्कन्द को प्रसन्न कर लिया। स्कन्द के परिवार में पांच व्यक्ति थे, किन्तु स्कन्द ने प्रसन्न होकर छठवीं रेवती को अपनी वहन स्वीकार कर लिया। स्कन्द के छः मुख थे, रेवती के भी। इसलिए छः मुख वाली छठवीं व्यक्ति परिवार में होने के कारण प्रसव के छठवें दिन ही उसकी पूजा विहित हुई। ग्रहों के अनुसार मंत्र, पूजा, होम आदि मानसिक शुद्धि के साधनों के अतिरिक्त जो रोग होते हैं उनकी चिकित्सा उन-उन रोगों के प्रसंग में कही गई चिकित्सा ही है।[3] केवल मानसिक सन्तुलन के लिए धूपदान या होम की प्रक्रिया ही विशेष है।

---

1. तस्मात् त्रयोलोका भगवत्या रेवत्या वहुरूपया व्याप्ताः।—काश्यप सं०, रेवती कल्प।
2. अधर्मस्याति संवृद्धया रेवती लभतेऽन्तरम्॥—काश्यप सं०, रेवती कल्प 70।
3. योयश्चा भिभेवद्व्याधि स्तं तंच विनिवर्त्तयेत्।
   अक्षिरोग चिकित्सोभिशमयेदन्ध पूतनाम्॥
   शीतङ्कार चिकित्साभिः शम येच्छति पूतनाम्॥—काश्यप०, चिकि०, वाल ग्रह।

कुकर्म करने वाले स्त्री-पुरुषों को ही ग्रह घेरते हैं। वे ग्रह भी विश्वव्यापी शक्ति हैं। कुकर्म सामाजिक पाप हैं। धर्म अथवा सदाचार का अतिक्रमण ही पाप है। इस प्रकार अधर्माचरण करने वालों को दण्ड देना राजकीय न्यायालय का काम है। किन्तु व्यक्ति जब तक अपना स्वयं नियन्त्रण न रखे, अदालतों का भय समाज का नियन्त्रण नहीं कर सकता। मन से व्यभिचार करने वाली स्त्री के मासिक धर्म में विकार होता है। शरीर से व्यभिचार करने वाली स्त्री के स्तन सूख जाते हैं। कुकर्मी पुरुष की सन्तान पागल, अल्पायु अथवा अंग-भंग होती है। उसके लिए होम अथवा मन्त्र-तन्त्र का विधान करके चिकित्सकों ने सामाजिक अनुशासन में बहुत बड़ा सहयोग किया है। मनुष्य की निरंकुशता पर उसका मन ही शासन करता है, कोई ऐसी अदालत नहीं है जो उसे सन्मार्ग पर ला सके। ऐसी परिस्थिति में चिकित्साशास्त्र ने मनुष्य को सन्मार्ग पर आरूढ़ रहने के लिए जो मनोवैज्ञानिक उपाय आविष्कार किये वे अमूल्य हैं।

चिकित्सक न केवल शरीर के रोगों के लिए ही उत्तरदायी है, वह मन के रोगों का शास्ता भी है। अतएव मानसिक स्वास्थ्य के लिए उसने देश, काल और पात्र को ध्यान में रखकर अच्छे से अच्छे संभव प्रयोगों का आविष्कार किया है। महर्षि कश्यप के पुत्र मतंग उनमें अग्रणी थे। इसलिए इस दिशा में जो आविष्कार हुए उनका नाम ही मातंगी विद्या रख दिया गया।[1]

मानस-पटल पर भूतकालीन परिकल्पनाओं के घात-प्रतिघातों के परिणाम-स्वरूप जो कष्ट आ घेरते है उन्हें भूत-विद्या नाम दिया गया। किन्तु मन के दोषों से उत्पन्न कष्ट शरीर को ही भोगने पड़ते हैं इसलिए उनकी चिकित्सा में मन और शरीर दोनों के आरोग्य के लिए प्रयोग लिखे गये हैं। कश्यप ने भी चिकित्सास्थान में एक अलग प्रसंग में 'वाल ग्रह' चिकित्सा बताई है तथा कल्पस्थान में रेवती कल्पाध्याय के अन्तर्गत उसका दार्शनिक और मनोवैज्ञानिक विवेचन किया है तथा मातंगी विद्या के मन्त्र ग्रह-निवारण के लिए लिखे हैं। इन मन्त्रों का साहित्यिक दृष्टि से कोई वाच्यार्थ नहीं है। जब वाच्यार्थ ही नहीं है, तब लक्ष्य और व्यंग्य तक कैसे पहुंचा जाये? लक्षणा और व्यंजनाएं भी वाच्यार्थ के सम्बन्ध से ही अन्यार्थ का बोध कराती हैं। जहत्स्वार्था लक्षणा अथवा अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य ध्वनि में भी यदि वाच्य का बोध न हो तो लक्ष्य और व्यंग्य अर्थ का उत्थान सम्भव नहीं है।[2]

मन्त्र के अक्षरों अथवा उच्चारण से कोई अर्थ कैसे प्राप्त होता है यह युक्ति अब प्रायः अज्ञात है। किन्तु उस युग में भी यह विवादास्पद थी। चरक में भी भूतविद्या के विषय में विवेचन हुआ है। उन्होंने शारीरिक चिकित्सा का नाम 'युक्ति व्यपाश्रय चिकित्सा' लिखा, और इस भूतविद्या सम्बन्धी मानसिक रोगों की चिकित्सा को 'दैव-

---

1. 'मालङ्गीनाम विद्या पुराया"—काश्यप सं०, रेवती कल्प 80।
2. 'सत्यव हिलि मिलि महामिलि कुरुहा अहे भमटे तुम्बिपसे करटे गन्धारि केयूरि भुजङ्गमि ओजहारि सर्पपच्छेदनि अलगणि लगणि पंसुमसि कंकिकाकण्डि हिलि हिलि विडि विडि···। —मतङ्ग विद्या,—काश्यप सं०, कल्प०, रेवती कल्प

व्यपाश्रय चिकित्सा' लिखा।[1] चरक ने 'भूतविद्या' एक विज्ञान तो स्वीकार किया किन्तु देव, पिशाच और राक्षसों का आवेश मिथ्या कल्पना कहकर निर्मूल एवं भ्रमात्मक सिद्ध किया है।

काश्यप संहिता में लिखी हुई भूतविद्या की कथा यदि यहां संक्षेप में दे दी जाय तो अप्रासंगिक न होगा—'सबसे प्रथम प्रजापति ने काल की सृष्टि की। अनन्तर देव, असुर, मनुष्य, अन्न, लता, वृक्षों की रचना की। तीसरे नम्बर पर प्रजापति ने क्षुधा का निर्माण कर दिया। क्षुधा ने प्रजापति को सामने देखा, वह उन्हीं में समा गई। प्रजापति क्षुधा से व्याकुल हुए। अतएव अन्न बनाया। अन्न खाकर भूख की तृप्ति हुई। छूंछ रह गई। फलत: अन्न को प्रतिदिन खाने पर भी लोगों की तृप्ति नहीं होती, क्योंकि वह निस्सार रह गया।

अब क्षुधा प्रजापति से निकलकर काल में प्रविष्ट हो गई। अन्न तो प्रजापति खा ही चुके थे। काल ने देव, मनुष्य और असुरों को खाना शुरू कर दिया। देव और असुर दु:खी होकर प्रजापति के पास गये। प्रजापति ने उन्हें अमृत बता दिया। समुद्र मथकर अमृत निकाला गया, किन्तु वह देव ही पी गये। वे क्षुधा और काल से बचकर अजर-अमर हो गये। असुर रह गये। वे देवों से लड़ने लगे। दीर्घजिह्वी नाम की एक असुर कन्या देवसेना को भक्षण करने लगी, उसकी क्षुधा मिटी न थी। दीर्घजिह्वी का यह उत्पात देख देवगण स्कन्द के पास गये—'भगवन्! दीर्घजिह्वी को रोकिये। वह हम सबको खाये जा रही है।'

स्कन्द ने इस बात पर समझौता किया कि तुम लोग मेरा सम्मान भी प्रथम श्रेणी के देवों में करोगे। देव राजी हो गये। तब से सोम आदि वसुओं में 'ध्रुव' नाम से, अजएकपात आदि दश रुद्रों में ग्यारहवें शङ्कर नाम से, इन्द्र पूषा आदि बारह आदित्यों में 'अहस्पति' नाम से तेरहवें स्कन्द ही है। वर्ष के बारह मासों में तेरहवां (लोंद) मास स्कन्द का ही है।

देवताओं में प्रतिष्ठित होकर स्कन्द ने अपनी बहन रेवती को दीर्घजिह्वी का नाश करने भेजा। वह कुतिया बनकर दीर्घजिह्वी को खा गई। यह विद्युत् ही वह रेवती है। रेवती का विद्युत् रूप देखकर असुरों में भगदड़ पड़ गई। वे देवियों और मानुषियों के गर्भ में छिप गये। रेवती वहाँ भी उन्हें ढूंढ़कर संहार करने लगी। इसलिए जो पुरुष और स्त्री अधर्मी होते हैं, रेवती उनके गर्भों अथवा सन्तानों को ग्रस लेती है। इसीलिए उसे 'जातहारिणी' कहते हैं। इसलिए धर्माधर्म का विवेक रखो और धर्माचरण करो। अन्यथा असुर मानकर जातहारिणी खा जायेगी। जातहारिणी के प्रसाद के लिए इसीलिए जप, दान, होम, इष्टि तथा शान्ति कर्म आवश्यक हैं।[2]

रेवती क्या है? वह उल्का और विद्युत् है। ओलों के रूप में भी वही गिरती

1. तत्र दैवव्यपाश्रयं—मन्त्रौषधि मणि मङ्गल बल्युपहार होम नियम प्रायश्चित्तोपवास स्वस्त्ययन प्रणिपात गमनादि। युक्ति व्यपाश्रयं पुन:—आहारौषधद्रव्याणां योजना।—चरक, सूत्र० 11/54

2. रेवती कल्पाध्याय, काश्यप सं०, देखिये।

है।[1] रेवती ही जातहारिणी बनकर सारे संकट उत्पन्न कर सकती है। धर्माचरण ही उससे बचने का उपाय है। अधर्म से धर्म की ओर मन को प्रवृत्त करने का उपाय मातंगी विद्या है।

अब उपर्युक्त उपाख्यान का समन्वय कीजिये तो निम्न बातें स्पष्ट होंगी—

1. विश्व की रचना में व्यापक एक शक्ति का नाम स्कन्द है।

2. स्कन्द के ही रूपान्तर वसु, रुद्र और आदित्य हैं।

3. रेवती विद्युत् है। उसका गलत प्रयोग जीवन का नाश करता है। रेवती (विद्युत्) की अनुकूलता ही स्त्री और पुरुषों के प्रजनन-प्रवाह को पुष्ट करती है।

4. दुराचरण और अधर्म से रेवती दुःखदायी होती है। धर्म और सदाचार से रेवती सुख देती है तथा सन्तान बढ़ाती है।

संस्कृत साहित्य में भौतिक तत्त्वों में जब शक्ति (Energy) का समन्वय किया जाता है, उसे देवता कहते हैं। शक्ति का प्रतिगामी तत्त्व असुर है।

भौतिक तत्त्वों में जब चेतना शक्ति का समन्वय किया जाता है तब उसे आत्मा कहते हैं।

भौतिक तत्त्वों की शक्तियों का जब आध्यात्मिक वर्णन किया जाता है तब उन्हें प्राण और रयि कहते हैं। ईशावास्य उपनिषद् से लेकर बृहदारण्यक तक दसों उपनिषदों में यही विवेचन भरा पड़ा है।

इस विश्लेषण में समझने के लिए चार बातें हैं—

1. देवता तथा असुर।

2. आत्मा तथा भौतिक तत्त्व।

3. प्राण और रयि।

4. धर्म और अधर्म।

इन चार बातों के अतिरिक्त लिखा गया कथानक तो एक शैली है, जो लेखक की कला है ताकि वह अपनी बात पाठकों के मन में बैठा दे। जिस प्रकार आजकल का लेखक किसी वस्तु का प्रतिपादन करने के लिए नाटक, उपन्यास, कथा आदि शैलियां अपनाते हैं, उसी प्रकार काश्यप संहिता का रेवती कल्प भी एक रोचक शैली है।

रेवती कल्प में स्कन्द के तीन रूप लिखे गये हैं—वसु, रुद्र और आदित्य। इन तीनों का ही वैज्ञानिक रूप जल, वायु और तेज है। आयुर्वेदशास्त्र में इन्हीं का आध्यात्मिक रूप कफ, वात और पित्त है। रेवती विद्युत् है। आध्यात्मिक भाषा में उसे प्राणशक्ति अथवा समीकरण शक्ति कहते हैं। अधर्म कुत्सित विचार और कर्म हैं। चिकित्साशास्त्र में वही रोग का हेतु अथवा रोग का निदान है। धर्म नियमित मन और शरीर की क्रिया है। चिकित्सा में वही उपचार और पथ्य है।[2] विघ्न असुर हैं। आयुर्वेदशास्त्र में यह

---

1. सा उल्का स विद्युत् सा अश्मवर्षा—काश्यप०, रेवती कल्प

2. संसर्जनेह्येषामसुराणामसतां सन्तोऽपि बाधन्ते। संसर्गेहि जातहारिणी दिव्येन चक्षुषा दृश्यते। तस्यास्तु धर्म एव निवृत्तिकारण मुक्तमिति।'—काश्यप सं०, रेवती कल्प, अ० 7

असुर ही रोग हैं।

अब यदि हम कहें कि 'रेवती अधर्म की ओट में छिपे राक्षसों का नाश करती है' तो उसका ही रूपान्तर यह होगा कि--'जीवन शक्ति कुपथ्य के कारण उत्पन्न रोगों का नाश करती है। इसलिए नियम-संयम (धर्म) से चलना चाहिए।' दोनों का एक ही अर्थ है। इसलिए भूतविद्या मनोबल को बढ़ाने का एक उपाय है। चिकित्सा-शास्त्र में रोग के हेतु तीन कहे गये हैं--

1. असात्म्येन्द्रियार्थ संयोग।
2. प्रज्ञापराध।
3. असात्म्य परिणाम।

चरक के ये गुरु सूत्र बड़े व्यापक और वैज्ञानिक हैं। इनमें प्रज्ञापराध-जनित रोगों के लिए ही भूतविद्या की रचना की गई है।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि प्रत्येक रोग के लिए चाहे वह शारीरिक हो या मानसिक, हम ही उत्तरदायी हैं। देवता अपने स्वार्थ में हमें दु:ख या सुख देने नहीं आते। उन्हें देवताओं की पूजा भी स्वस्थ नहीं कर सकती जो अपने चरित्र को सुधारना नहीं चाहते। सन्मार्ग पर चलना ही पथ्य है। वही आरोग्य का साधक है। काश्यप संहिता में ही कहा है, चिकित्सा दो प्रकार की है--युक्त्यधिष्ठान और दैवाधिष्ठान। वमन विरेचन आदि युक्ति है। यज्ञादि धर्म दैवी हैं।[1] रोगोत्पादक दोनों प्रकार के हेतुओं की गणना अधर्म में की गई है।[2]

भारतीय दर्शन में मनुष्य जीवन में देवताओं का स्थान अवश्य है, किन्तु अन्तिम सिद्धान्त यह है कि कर्म देवताओं से भी प्रधान है। जिस प्रकार सारे देवता एक ही देवता के विविध रूप हैं, उसी प्रकार सम्पूर्ण कर्म मनुष्य जीवन की व्याख्या हैं। देवता कर्म के नियन्ता नहीं हैं, कर्म ही देवताओं का भी नियन्ता है। ब्रह्मा, विष्णु, महेश, इन्द्र, वरुण आदि देवों का नियन्ता भी कर्म है, फिर मनुष्य उससे कैसे बच सकता है? कश्यप ने यही कहा था--जीवक, एक बात याद रखना, जातहारि स्वयं कभी नहीं आती। माता, पिता अथवा सन्तान के दुष्कर्म ही उसके आक्रमण के हेतु होते हैं।[3]

चरक ने अत्यन्त ओजस्वी भाषा में इस विषय पर लिखा है। जो मनुष्य अपने कर्मों से दूषित नहीं है; देवता, गन्धर्व, पिशाच और राक्षस उसका कुछ विगाड़ नहीं सकते। अधर्म करके उसके परिणाम में आने वाले दु:खों से बचने के लिए देवताओं का सहारा

1. औषधं युक्त्यधिष्ठानं दैवाधिष्ठानमेवच।
युक्तिर्वमन कर्मादि दैवं यागादि कीर्त्यते ॥ —काश्यप सं०, खिल० 3/26

2. तमुवाच भगवानात्रेयः 'सर्वेषामप्यग्निवेश! वातादीनां यद्वैगुण्यमुत्पद्यते तस्यमूलमधर्मः।' —चरक०, विमा० 3/21

3. नचाधर्मंमृते नारीं विशतेजातहारिणी।
मातुः पितुः सुतानांवा साधर्मेण प्रवर्त्तते ॥ —काश्यप सं०, रेवती 66

लेना व्यर्थ है।[1] अधर्म को धर्म से ही जीता जा सकता है, देवताओं की परिचर्या और कृपा से नहीं। फिर देवताओं की पूजा क्यों बताई गई है? देवता किसी का दुःख दूर नहीं करते तो उनसे सम्पर्क रखने से क्या लाभ? भारतीय आचारशास्त्र ने इसका उत्तर भी दिया है।—यह ठीक है देवता किसी की रक्षा करने स्वयं नहीं आते। किन्तु जो उनके समक्ष प्रायश्चित्त की भावना लेकर अपने उद्धार की याचना करता है, वे उसे वह सुमेधा प्रदान कर सकते हैं जिसके द्वारा वह अपने कर्मों का सुधार कर सके। क्योंकि सुख और दुःख कर्म के ही अधीन हैं,[2] देवताओं के नहीं।

मनुष्य के सुख और दुःख का मूल कारण मन है। इसलिए रोग-निवारण के लिए वैज्ञानिक आधार पर भी आयुर्वेद में विचार हुआ है। यह शरीर रथ है, बुद्धि सारथी, मन बागडोर, इन्द्रियां घोड़े और आत्मा ही उसका रथी है। इस दार्शनिक रूपक को वैज्ञानिक प्रयोगशाला में परीक्षण करके मनुष्य समाज को राहत पहुंचाने का प्रयास ही भूत-विद्या है। वह मूर्खों की वहक नहीं है किन्तु सुबुद्ध दार्शनिकों और वैज्ञानिकों की योजना है। समाज के निम्न से निम्न स्तर के व्यक्ति को भी जिस योजना से नियन्त्रित किया जा सके, वे सूत्र उसमें विद्यमान हैं। वे सीरिया, इज़राइल, जूड़िया और वैवीलोनिया में और अधिक लागू हैं, क्योंकि उन देशों के लोग मानसिक दृष्टि से अधिक उच्छृङ्खल थे।

आज का विज्ञान भारी-भारी भौतिक शक्तियों के नियन्त्रण में प्रवृत्त है। किन्तु मन के नियन्त्रण का वैज्ञानिक उपाय खोजने का प्रयास नहीं हुआ। यही कारण है कि विज्ञान के प्रचुर विकास के बावजूद सुखी समाज नहीं बन सका। रोगी को इंजेक्शन, मिक्श्चर तथा गोलियां खिलाने के बाद आज का चिकित्सक उसकी चिन्ता छोड़ देता है, किन्तु आयुर्वेदशास्त्र के अनुसार रोगी की आचार-संहिता भी चिकित्सक के अधीन है। चरक का सूत्रस्थान और विमानस्थान का बहुत-सा अंश आचार-संहिता ही है। काश्यप संहिता में भी ऐसे प्रसंग हैं, यद्यपि उसका बहुत बड़ा भाग नष्ट हो गया है।[3] आयुष्य के लिए हित और अहित का विवेक ही आयुर्वेद है, उसमें सदाचार ही प्रधान है।

मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों पर रोग-निवारण का यह विज्ञान धीरे-धीरे उन्नत हुआ। उसकी सफलताओं ने जनता का विश्वास प्राप्त किया। यहां तक कि मनोवैज्ञानिकों ने औषधियों की उपयोगिता कम कर दी। फलतः द्रव्यगुण परिज्ञान, उनके रासायनिक

---

1. नैव देवा न गन्धर्वा न पिशाचा न राक्षसाः।
न चान्ये स्वयमक्लिष्टमुपक्लिश्यन्ति मानवम्॥
प्रज्ञापराधात्सम्प्राप्ते व्याधौ कर्मज आत्मनः।
नाभिशंसेद्बुधो देवान्न पितॄन्नापि राक्षसान॥
आत्मानमेव मन्येत कर्तारं सुखदुःखयोः।
तस्माच्छ्रेयस्करं मार्गं प्रतिपद्येत नोत्रसेत्॥—चरक सं०, निदानस्थान, 8/20-23
2. न देवाः दण्डमादाय रक्षन्ति पशुपालवत्।
यं तु रक्षितुमिच्छन्ति बुद्धया संयोजयन्तितम्॥
3. मंगलान्येव सततं प्रजानामभिवर्धयेत्।
सर्वे गृहस्था सेवेरन् दानानिच तपांसि च॥—काश्यप सं०, सिद्धि 8

प्रयोगों की ओर से विमुख मनोवैज्ञानिकों ने मानसिक चिकित्सा द्वारा रोग-निवारण के लिए विभिन्न तान्त्रिक ग्रन्थों की रचना की। यह विज्ञान यहां तक बढ़ा कि लोग मन्त्र-चिकित्सा पर ही विश्वास करने लगे। मन को प्रभावित करने वाले विविध मन्त्रों और विधानों की रचना हुई। मन्त्र चिकित्सकों का एक सम्प्रदाय चल पड़ा।

प्राचीन प्राणाचार्य औषधि द्रव्यों के रासायनिक विज्ञान के आधार पर शरीर के आन्तरिक भागों में होने वाले फोड़ा-फुन्सियों को दूर करते थे। इसीलिए उन्हें शल्य चिकित्सा (Surgery) की उतनी आवश्यकता नहीं थी, जितनी आज एलोपैथी में हो गई है। द्रव्यगुण-परिज्ञान के अभाव में आज का चिकित्सक शल्य चिकित्सा पर ही बल देने लगा है। ठीक इसी प्रकार मन्त्र चिकित्सा ने एक युग में द्रव्यगुण विज्ञान को पीछे डाल दिया। फलतः लोग द्रव्यगुण पर आधारित औषधियों को भूलते गये, और मन्त्र-तन्त्रों द्वारा आरोग्य-प्राप्ति का प्रयास करने लगे।

यद्यपि संहिता-काल से भी इस दिशा में प्राणाचार्यों की प्रगति थी, किन्तु उसे गौण स्थान प्राप्त था। बौद्धकाल में यह शैली बहुत विकसित हुई। क्योंकि बुद्ध भगवान् ने भिक्षु संघ में औषधियों के प्रयोग पर प्रतिबन्ध लगा दिया था। किन्तु रोग तो होते ही थे, उनके निवारण के लिए मन्त्र चिकित्सा को बहुत बल मिला, और इस दिशा में नये-नये मन्त्र-तन्त्र आविष्कृत भी हुए।

किन्तु दुर्भाग्य की बात यह थी कि मन्त्र वैद्य अपने मन्त्र-तन्त्र गुप्त रखने पर बल देते थे। यहां तक संकीर्णता बढ़ी कि यह विचार मन्त्र चिकित्सा का सिद्धान्त बना दिया गया कि गुप्त रहकर ही मन्त्र प्रभावशाली रहता है, प्रकट कर देने से मन्त्र का बल नष्ट हो जाता है। ईसा की सातवीं शताब्दी से सिद्ध सम्प्रदाय केवल मन्त्र, तन्त्र और जादू का उपचार ही करते थे। किन्तु मन्त्र-तन्त्र थे गुप्त ही। इन सिद्धों ने नये-नये भूत-प्रेतों की कल्पना कर डाली। धीरे-धीरे सिद्ध लोग स्वयं मानसिक रोगों से आक्रान्त हो गये। वे नष्ट हुए। उनकी मन्त्रविद्या भी प्रायः नष्ट हो गई। हमें फिर धन्वन्तरि, आत्रेय और कश्यप की औषधियों की ओर ही आना पड़ा। यदि हम उनके रासायनिक द्रव्यगुणों को पूरी तरह जान लें तो शल्य चिकित्सा नाममात्र रह जाय।

काश्यप संहिता में औषध भेषजेन्द्रियाध्याय नामक एक अध्याय है। उसमें औषधि का विश्लेषण करते हुए कहा गया है--चिकित्सा दो प्रकार की है--पहली औषध, दूसरी भेषज। द्रव्यगुण के रासायनिक योग से तैयार होने वाली चिकित्सा औषध है। होम, व्रत, मन्त्र तथा शान्ति कर्म से की गई चिकित्सा भेषज है।[1] दोनों प्रयोगों से यदि रोग नहीं हटता तो समझो जीवन का अन्त आ गया। औषध और भेषज का समुचित प्रयोग जानने वाला चिकित्सक ही प्राणाचार्य है।

---

1. ओषधं भेषजं प्रोक्तं द्विप्रकारं चिकित्सतम्।
   ओषधं द्रव्य संयोगं ब्रुवते दीपनादिकम्।
   हुतव्रततपोदानं शान्तिकर्म च भेषजम्॥—काश्यप सं०, इन्द्रिय० 3-4, 5
   उभयं तद्यदा जन्तो कृतं न कुरुते गुणम्।
   क्षीणायुरितितं ज्ञात्वा न चिकित्सेद्विचक्षणः॥

काश्यप संहिता की सामाजिक झांकी

काश्यप संहिता में जिस सामाजिक अवस्था का चित्रण मिलता है, वह काश्यप की समकालीन झांकी नहीं कही जा सकती। उसमें अनायास यक्ष और वात्स्य काल की झांकियां भी मिली हुई हैं। फिर भी कश्यप के युग के समाज की रूपरेखा उसमें झलकती है। वह महाभारत से पूर्व का युग है। हम उसे ईसा से दस हजार वर्ष पुराना कह सकते हैं। आत्रेय पुनर्वसु रामायण-युग के महापुरुष थे। और कश्यप तथा आत्रेय समकालीन। इस प्रकार कश्यप भी रामायण-युग के ही पुरुष ठहरते हैं। वृद्ध कश्यप कुछ और प्राचीन। कश्यप संहिता के अन्तिम प्रतिसंस्कर्ता वात्स्य का समय बौद्धकाल से पहले का प्रतीत होता है क्योंकि उसमें चरक संहिता की भांति सौगत मत का प्रतिबिम्ब नहीं है।

काश्यप संहिता के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि उस काल में सम्पूर्ण एशिया तथा यूरोप तक के देशों के साथ भारत के व्यावहारिक संपर्क बहुत घनिष्ठ थे। संहिता में उन देशों का व्यावहारिक दृष्टि से उल्लेख यह सिद्ध करता है। रेवती कल्पाध्याय में विभिन्न जातीय ग्रहों का परिचय देते हुए सिंहल, शक, यवन, पह्लव, कम्बोज, हूण आदि के साथ बीसों ऐसी जातियों के नाम भी लिखे हैं जो आजकल अपरिचित हैं। सिंहल आज की लंका, शकों का प्रदेश ताजिकिस्तान और फरगना, यवन यूनान, पल्हव बलख और बुखारा, कम्बोज काबुल तथा हूणों का तुर्किस्तान हमारे परिचित हैं।

भोजन कल्पाध्याय में भिन्न-भिन्न देशों के खान-पान का उल्लेख है, जिनसे तत्कालीन भारतवासी व्यावहारिक सम्पर्क में आते रहते थे। सिन्ध, काश्मीर, चीन, अपरचीन (साइबेरिया), बाह्लीक (बैबीलोनिया), दासेरक शातसार (ऊंटों का देश—अरब) आदि प्रदेश विशेष रूप से वर्णित हैं। सूतिकोपक्रमणीयाध्याय में प्रसूतिकालीन आहार-विहार का वर्णन करते हुए लिखा है कि विदेशों में रहनेवाली नाना मलेच्छ जातियां प्रसव के बाद प्रसूता को रक्त तथा मांस का शोरबा तथा कन्दमूल-फल आदि देती हैं।[1] अनेक देशों के नाम ऐसे हैं जिनके द्वारा आज की राजनैतिक सीमाओं में बंटी हुई भूमि के ऊपर तत्कालीन देशों की सीमा निर्धारित कर सकना अत्यन्त दुष्कर है। किन्तु संहिता के उल्लेखों से यह स्पष्ट है कि तत्कालीन भारत का धार्मिक, राजनैतिक और व्यावहारिक दृष्टि से पश्चिमोत्तरीय प्रदेशों से घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। अफगानिस्तान, ईरान, अरब और यूनान इनमें मुख्य हैं। बाह्लीक देश (बैबीलोनिया) के वैद्यों में श्रेष्ठ काङ्कायन-भिषक् भगवान् आत्रेय पुनर्वसु तथा महर्षि कश्यप के विद्यालयों में चिकित्साशास्त्र की वैज्ञानिक शिक्षा प्राप्त करने के लिए यहां आया करते थे। चरक और काश्यप संहिताओं के अनेक प्रसंग उसके परिचायक हैं।

काश्यप संहिता की रचना जब हुई थी भारत की सामाजिक और राजनैतिक अवस्था बहुत सुसंगठित थी। उस युग में प्रत्येक कला धार्मिक भावों से अनुरंजित होकर

---

1. वैदेश्याश्च प्रयच्छन्ति विविधा म्लेच्छ जातयः।
रक्तं मांसस्य निर्यूहं कन्द मूल फलानि च ॥—काश्यप सं०, सूतिकोपक्रमणीय०, 11/34

ही व्यवहारोचित समझी जाती थी। वह कला कला नहीं जो जीवन को किसी आदर्श से अनुप्राणित नहीं करती। राजनीति और समाज धर्म से अलग नहीं थे। यहां तक कि विज्ञान भी धर्म से वहिर्भूत न था। महर्षि ने स्वयं कहा है—आयुर्वेद का शरीर धर्म है। धर्म की मर्यादाओं से विहीन चिकित्सा निष्फल है।[1] नीम हकीमों को वैद्यराज बनने की स्वतन्त्रता नहीं थी।[2] आयुर्वेद अध्ययन करने का अधिकार चारों वर्णों को था। संहिता में इस बात को बहुत आग्रह से लिखा गया है। वहां लिखा है, ज्ञान के लिए तथा आत्म-कल्याण एवं जनसेवा के लिए ब्राह्मण को आयुर्वेद पढ़ना चाहिए। जनता और प्रजा की रक्षा के लिए क्षत्रिय को, अपनी जीविका के लिए वैश्य को तथा जन-सेवा के लिए शूद्र को और धर्मार्थ सबको ही आयुर्वेद अध्ययन करना चाहिए।[3]

उस युग में स्त्रियों को भी आयुर्वेदिक शिक्षा दी जाती थी। काश्यप संहिता सूत्र-स्थान का 'क्षीरोत्पत्ति' नामक बीसवां अध्याय स्त्रियों के समक्ष दिया हुआ ही एक प्रवचन है।[4] एक ओर स्त्री-शिक्षा का यह आदर्श भारत के उस उन्नत युग का चित्र है जिसमें स्त्री-पुरुष सभी उच्च शिक्षा पाते थे, किन्तु दूसरी ओर प्रतिसंस्कारों के साथ युग का परिवर्तन हुआ और प्रतिसंस्कर्ताओं ने स्त्रियों और शूद्रों को शिक्षा के क्षेत्र से वहिष्कार कर दिया।

चिकित्सास्थान के फक्क चिकित्साध्याय में ब्राह्मी घृत का प्रयोग दिया है। उसके अन्त में लिखा है—शूद्र को ब्राह्मीघृत नहीं पीना चाहिए, अन्यथा उसका नाश हो जाएगा। जो शूद्र ब्राह्मीघृत पीते हैं उनकी सन्तान का नाश होता है, और मृत्यु के बाद उन्हें स्वर्ग नहीं मिलता। जीवन में धर्म का विलोप हो जाता है।[5] इसी प्रकार 'राजयक्ष्म चिकित्साध्याय' में यक्ष्म रोगी के लिए 'पिप्पली क्षीर' तथा 'नागवला चूर्ण' का प्रयोग लिखा गया है। इसके साथ ही यह भी कि यह क्षीर तथा चूर्ण स्त्री और शूद्र को छोड़कर एकान्त में रोगी को खिलावे। स्त्री और शूद्र को ही यह योग हानि करते हों, ऐसा कोई वैज्ञानिक सिद्धान्त नहीं है। यह बदली हुई सामाजिक स्थिति का वह निदर्शन है जो प्रति-संस्कर्त्ताओं के युग में विद्यमान था। कल्पस्थान के 'धूप कल्पाध्याय' में ब्राह्मी धूप के प्रयोग में लिखा है कि वैद्य को यह धूप ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य के लिए ही काम में

---

1. 'तस्य शरीरं धर्मः। धर्माश्रयं ह्यस्मिन् कर्मसिध्यति।'
   —काश्यप०, विमान०, शिष्योपक्रमणीयाध्याय
2. कथंचाध्येय इति ? गुरोरनुमतेनेति।—का०, शिष्यो०
3. ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्रैरायुर्वेदोऽध्येयः। तत्रार्थपरिज्ञानार्थं पुण्यार्थञ्चात्मनः प्रजानुग्रहार्थं ब्राह्मणैः। प्रजा संरक्षणार्थं क्षत्रियैः। वृत्यर्थं वैश्यैः। शुश्रूषार्थमितरैः। धर्मार्थञ्च सर्वैः।
   —काश्य०, विमान०, शिष्योपक्रमणीयाध्यायः।
4. एतच्छ्रुत्वा वचस्तस्य ऋषि पत्न्यः प्रहर्षिताः।
   प्रशशंसुर्महात्मानं कश्यपं लोक पूजितम् ॥—काश्यप०, सू०, अ० 20
5. नतु ब्राह्मी घृतं शूद्रः पिबेत्तद्धयस्य नाशनम्।
   प्रजा क्षयेण युज्यन्ते शूद्राः ब्रह्मी पिबन्ति ये ॥
   मृता स्वर्गं न गच्छन्ति धर्मश्चैषां विलुप्यते।—काश्यप० सं०

लाना चाहिए, अन्य के नहीं। यह व्यवस्था भी स्त्री और शूद्रों के तिरस्कार का भाव ही प्रकट करती है। सामाजिक व्यवथा में यह बड़ा परिवर्तन किस आधार पर हुआ इस विषय की गहराई में जाकर हम स्मृतियों की आलोचना करके विषयान्तर में नहीं जाना चाहते। यहां केवल यह देखना है कि एक ही संहिता में परस्पर-विरोधी भावों का समावेश यह प्रकट करता है कि संहिता काल में आयुर्वेद का क्षेत्र जितना विशाल था प्रतिसंस्कर्त्ताओं के युग में वैसा नहीं रह गया था।[1] कश्यप के युग में जो स्त्री तथा शूद्र आयुर्वेद के अधिकारी थे, प्रतिसंस्कर्त्ताओं के युग में वे अनधिकारी कर दिये गये। आयुर्वेद पतन का यह सूत्रपात ही मानना होगा।

काश्यप संहिता का निर्माणकाल ऋषियों का युग था। सुदीर्घ काल तक ऋषियों की वाणी भ्रान्तिरहित और प्रामाणिक मानी गई। काश्यप संहिता के सूत्रस्थान में वैद्य की विशेषताएं लिखते हुए कहा गया है कि वैद्य वह है जो गुरु से पढ़ा हो, विज्ञानवेत्ता, क्रियात्मक अनुभव वाला हो तथा जिसने न्याय से ऋषियों के ग्रन्थों का अध्ययन किया हो।[2] ज्ञात होता है आर्ष ग्रन्थों को अन्याय से भी लोग पढ़ने लगे थे। एक ओर पढ़ने वालों की यह श्रद्धा और दूसरी ओर उनका बहिष्कार! इसका फल यह हुआ कि बहिष्कृत लोगों में या उनसे सहानुभूति रखने वालों में आर्ष साहित्य के विरुद्ध उग्र प्रतिक्रिया हो गई। आगे चलकर विद्यार्थियों में ऋषियों के ग्रन्थों के प्रति अनास्था हो गई। वाग्भट ने तो स्पष्ट ही लिखा है कि विज्ञान में आर्ष-अनार्ष का विचार व्यर्थ है।[3] पदार्थों के गुण-अवगुण वक्ता की अपेक्षा नहीं रखते। इसलिए ऋषि और अनृषि का विवाद आयुर्वेद में उठाना धूर्तता के सिवा कुछ नहीं है। उन्होंने आग्रहपूर्वक कहा कि आयुर्वेद का कल्याण चाहो तो यह मवकारी छोड़कर मध्यस्थ बनो। सत्य कहीं हो, चाहे ऋषि का या अनृषि का, उसे ग्रहण करना ही उचित है।[4]

भारतीय शिक्षा में यह संकुचित दृष्टिपूर्ण परिवर्तन एक-दो वर्ष में नहीं हो गया था। उस परिवर्तन में शताब्दियां लग गई। एक आर्ष युग था। जनता ऋषियों के सार्वजनिक उपकारों के आगे नतमस्तक रहती थी। जनसाधारण का विश्वास था कि ऋषियों ने जो कुछ कहा, वह सत्य ही था। सत्य उनकी वाणी के पीछे चलता था।

ऋषीणां पुनराद्यानां वाचमर्थोनुधावति।

दूसरा युग वह आया जब उन महर्षियों के विरुद्ध बौद्ध लोग विद्रोह कर रहे थे। वाग्भट की आवाज में उसी विद्रोह की झलक है। सत्य यह है कि शिक्षाशास्त्री विद्या की

---

1. स्त्री शूद्र वर्जो विजने चूर्णं क्षीरेण पाययेत्।—काश्यप०, यक्ष्म चि०
 सर्वतुल्याभवेद् ब्राह्मी ब्राह्मोऽयं धूप उच्यते।
 ब्राह्मणक्षत्रवैश्येषु प्रयोज्यो भिषजा भवेत्॥——काश्यप०, धूप कल्प।
2. तत्रभिषक् गुतीर्थोन्यायेनार्ष ज्ञान प्राप्तः, विज्ञान वाननेकशो दृष्ट कर्मा।—काश्यप०, सू० 26/4
3. अभिधातृवशात् किंवा द्रव्य शक्तिर्विशिष्यते।
 अतो मत्सरमुत्सृज्य माध्यस्थ मवलम्बताम्॥——अष्टाङ्गहृदय, उत्तर० 40/87
4. ऋषि प्रणीते प्रीतिश्चेन्मुक्त्वा चरक सुश्रुतौ।
 भेडाद्याः किन्न पठ्यन्ते तस्माद् ग्राह्यं सुभाषितम्॥——अष्टाङ्गहृदय, अ० 40, उत्तर तन्त्र।

यह मनोवैज्ञानिक पद्धति भूल गये—

ज्यों खरचे त्यों त्यों बढ़ै, बिनु खरचे घटि जात।

काश्यप संहिता तथा अन्य संहितायें

काश्यप संहिता के निर्माणकाल को हम संहिता-काल ही कहेंगे। उस युग में एक यही संहिता नहीं, अन्य अनेक संहितायें आयुर्वेद पर लिखी गई। धन्वन्तरि संहिता, सुश्रुत संहिता, वृद्ध काश्यप संहिता—ये तीन मारीच कश्यप से पूर्व लिखी गई थीं, किन्तु आत्रेय, अग्निवेश, भेड, जतूकर्ण, पराशर, हारीत, क्षीरपाणि आदि संहितायें काश्यप संहिता की समकालीन संहितायें ही हैं। इन संहिताओं का परिचय आज तक हमें अनेक ग्रन्थों के उद्धरणों से मिलता है, यद्यपि दुर्भाग्य से वे सब संहितायें उपलब्ध नहीं हैं। अग्निवेश आदि आत्रेय के शिष्यों ने जिस प्रकार एक-एक संहिता लिखी थी, संभवतः वैसी ही कश्यप के शिष्यों ने भी लिखी होंगी, किन्तु दुर्भाग्य से उनमें कोई उपलब्ध नहीं है। शिष्यों की संहितायें जाने दीजिये, स्वयं काश्यप संहिता ही सम्पूर्ण उपलब्ध नहीं है। अतएव काश्यप संहिता की अन्य संहिताओं से तुलना पूर्ण नहीं, अधूरी रहेगी।

आयुर्वेद के आठ प्रस्थानों में शल्य और काय चिकित्सा विषयक ग्रन्थ ही प्राप्त होते हैं। कौमारभृत्य पर यह काश्यप संहिता और मिल गई, किन्तु अपूर्ण। शालाक्य, भूतविद्या, अगद तन्त्र, रसायन तन्त्र तथा वाजीकरण तन्त्र विषयक स्वतन्त्र साहित्य प्रायः सब लुप्त हो गया। इधर-उधर बिखरी हुई सामग्री से ही उनकी गरिमा का अनुमान होता है। काय चिकित्सा पर आत्रेय अथवा अग्निवेश तन्त्र है, उसे ही हम चरक संहिता नाम से जानते हैं। दूसरी भेड संहिता और प्राप्त है। शल्य प्रस्थान पर केवल सुश्रुत संहिता ही है। कौमारभृत्य पर यह काश्यप संहिता मिल गई। बस, हमारी तुलना का सम्पूर्ण विषय यही है। यह सम्पूर्ण आर्ष युग की ही रचनाएं हैं। ऋग्वेद और अथर्ववेद संहिताओं में भी आयुर्वेद विषयक विचार हैं, किन्तु उन्हें हम आयुर्वेदिक संहितायें नहीं कह सकते। इसलिए उन्हें इस तुलना में रखना उचित न होगा।

दिवोदास धन्वन्तरि, कश्यप और आत्रेय पुनर्वसु प्रायः एक ही युग के महापुरुष थे। इसलिए उनकी संहितायें भी प्रायः समान युग की हैं। जिस प्रकार सुश्रुत दिवोदास के शिष्य थे, उसी प्रकार भेड आत्रेय पुनर्वसु के। फलतः भेड और सुश्रुत संहितायें भी समान युग की ही ठहरती हैं। उनके समय में थोड़ा बहुत अन्तर हो सकता है, किन्तु युग वही है। जिसे हम आर्ष युग कहते हैं, वह संहिता-काल ही था।

काश्यप संहिता का जो भाग उपलब्ध है उसमें तत्कालीन विद्वानों के तथा अनन्तर के प्रतिसंस्कर्त्ताओं ने नामों का उल्लेख है। ऐसे अठारह नाम दिये गये हैं। बहुत सम्भव है उनकी लिखी संहितायें होंगी, जो अब प्राप्त नहीं हैं। उनमें वैदेह निमि, वार्योविद, काङ्कायन और वृद्ध कश्यप के उद्धरण तो मिलते भी हैं। वे अठारह नाम निम्न हैं—

1. दारुवाह ।
2. भार्गव प्रमिति ।
3. वार्योविद ।
4. काङ्कायन ।
5. कृष्ण भारद्वाज ।
6. हिरण्याक्ष ।
7. वैदेह निमि ।
8. धन्वन्तरि ।
9. गार्ग्य ।
10. माठर ।
11. आत्रेय पुनर्वसु ।
12. पाराशर्य ।
13. भेल ।
14. वृद्ध कश्यप ।
15. वैदेह जनक ।
16. वात्स्य ।
17. अनायास यक्ष ।
18. मारीच कश्यप ।

इन विद्वानों में प्रतिसंस्कार करने वाले अनायास यक्ष तथा वात्स्य को छोड़कर सारे विद्वान् मारीच कश्यप के पूर्ववती थे, या समकालीन ।

दिवोदास धन्वन्तरि इन सबसे वयोवृद्ध थे, यद्यपि मूल धन्वन्तरि दिवोदास के पूर्वज थे । यह भी ज्ञात होता है कि उनकी रची धन्वन्तरि संहिता भी थी, किन्तु वह लुप्त हो गई । इसलिए प्राप्त संहिताओं में सुश्रुत के गुरु दिवोदास धन्वन्तरि ही सबसे पूर्ववर्ती ठहरते हैं । चरक तथा काश्यप संहिता दोनों में उनका नामोल्लेख है ।

दिवोदास के शिष्य बाल्हीक (बेबीलोनिया) के निवासी काङ्कायन, कश्यप और आत्रेय के समय उन्हीं के समान प्रौढ़ आयु के विद्वानों में गिने जाते थे । अतएव काङ्कायन के गुरु सबसे वयोवृद्ध होने ही चाहिए, यद्यपि सुश्रुत संहिता के मूल पाठ में दिवोदास के शिष्यों के सात नाम लिखकर आदि-आदि शब्द से कुछ अन्य छूटे हुए नामों का समावेश किया है । उन छूटे हुए नामों का उल्लेख व्याख्याकार डल्हण ने किया है । उन्होंने लिखा है कि प्रभृति शब्द से निमि, काङ्कायन, गार्ग्य और गालव—इन चार शिष्यों का समावेश और करना चाहिए । इस प्रकार दिवोदास के ग्यारह शिष्य थे ।[1] कुछ लोग 'गोपुररक्षित' यह एक नाम न मानकर गोपुर और रक्षित इस प्रकार दो नाम मानते हैं । यदि दो हों तो बारह शिष्य दिवोदास धन्वन्तरि के स्वीकार करने चाहिए । गालव को

---

1. इति औपधेनवादयोऽष्टौ । प्रभृति ग्रहणात् निमि, काङ्कायन गार्ग्य गालवाः । एवमेतान् द्वादश शिष्यानाहुः ।—सुश्रुत सं०, सूत्र०, अध्याय 1/3

छोड़कर शेष तीन विद्वानों के विचार तो काश्यप संहिता में भी उद्धृत हुए हैं।

महाभारत में गालव का राजर्षि दिवोदास के पास जाने और विश्वामित्र को गुरु-दक्षिणा में देने के लिए श्यामकर्ण घोड़े लाने का वर्णन मिलता है। डल्हण के लेख से यह प्रतीत होता है कि अपने अध्यात्म-गुरु विश्वामित्र को गुरु-दक्षिणा देने के उपरान्त गालव ने राजर्षि दिवोदास धन्वन्तरि से आयुर्वेद पढ़ा होगा, अथवा इनसे आयुर्वेद पढ़ने के उपरान्त विश्वामित्र से अध्यात्म ज्ञान लिया होगा। शायद इसी पूर्व परिचय के कारण वे श्यामकर्ण घोड़े मांगने के लिए निस्संकोच दिवोदास के पास पहुंच गये। यह तो मानना ही होगा कि कश्यप और आत्रेय प्रायः काङ्कायन के समवयस्क थे। अतएव स्वयंसिद्ध है कि काङ्कायन के गुरु दिवोदास इन तीनों से वयोवृद्ध अवश्य थे। इसलिए उनके द्वारा उपदेश की गई सुश्रुत संहिता की प्राचीनता प्रथम है।

दूसरे नम्बर पर कश्यप और उनकी काश्यप संहिता को स्थान देना होगा। हमने लिखा है मरीचि और अत्रि भाई-भाई थे। मरीचि ज्येष्ठ और अत्रि कनिष्ठ थे। मरीचि के पुत्र कश्यप और अत्रि के पुनर्वसु थे। महाभारत में वर्णन है कि एक बार सम्राट् वेन के पुत्र राजर्षि पृथु ने यज्ञ किया। वेन उद्दण्ड राजा था। उसने कभी विद्वानों का आदर नहीं किया। पृथु पिता की इस नीति के विरुद्ध शीलवान् एवं विद्वानों का आदर करने वाला हुआ। उसने यज्ञ में विद्वान् आमन्त्रित किये। उन्हें बड़े-बड़े पुरस्कार दिये। पुरस्कार पाने की इच्छा से अत्रि भी वहां गये। महर्षि की ओजस्वी वाक्चातुरी देखकर ऋषिवर गौतम उनसे झगड़ने लगे। उस समय कश्यप इस योग्य आयु के थे कि उनका बीच-बचाव करने लगे, जबकि अत्रि के पुत्र पुनर्वसु छोटे ही थे। दूसरे दिवोदास के समय तक कश्यप की विद्वत्ता इतनी फैल गई थी कि श्यामकर्ण अश्वों के लिए जाते हुए गरुड़ ने अपने साथ यात्रा करते हुए गालव को दिशाओं की विशेषताएं बताई तो उत्तर दिशा की विशेषता कहते हुए यह बताया कि इसी दिशा में विद्वान् महर्षि कश्यप रहते हैं। उस समय अत्रि के पुत्र पुनर्वसु का कोई उल्लेख नहीं आया। अतएव कहना चाहिए कि पुनर्वसु की आयु उस समय तक इतनी नहीं थी कि वे प्रसिद्ध हो सकते। नितान्त, काश्यप संहिता भी आत्रेय संहिता से पूर्व लिखी गई होगी।

तीसरा नम्बर आत्रेय पुनर्वसु का ही है, क्योंकि कश्यप ने उनके साथ अपने विचार-विनिमय का उल्लेख किया है। आत्रेय पुनर्वसु ने कश्यप के साथ अपनी बातचीत का उल्लेख आत्रेय संहिता (चरक संहिता) में किया है।

चौथे नम्बर भेड़ का नाम आत्रेय के शिष्यों में ही आता है। भेड़ की गणना भी तत्कालीन ऋषियों में ही हो गयी थी, यह वाग्भट का लेख प्रमाणित करता है। फलतः संहिताओं के तारतम्य में चौथे नम्बर पर भेड़ (भेल) की संहिता ही रखी जायेगी।

उपर्युक्त वर्णन के आधार पर संहिताओं की स्थिति निम्न प्रकार रही—

1. दिवोदास धन्वन्तरि—वर्तमान सुश्रुत संहिता।
2. मारीचि कश्यप—काश्यप संहिता या वृद्ध जीवकीय तन्त्र।
3. आत्रेय पुनर्वसु—अग्निवेश तन्त्र या वर्तमान चरक संहिता।
4. भेड़ (भेल)—भेड़ संहिता।

इन उपलब्ध संहिताओं के उल्लेखों से यह स्पष्ट है कि उनका रचनाकाल अविच्छिन्न काल-परम्परा में चला है। उनमें बहुत शताब्दियों का अन्तर नहीं है। फलतः उनकी संहिताओं में चित्रित की गयी संस्कृति प्रायः समान है। लेखक के व्यक्तित्व से प्रस्तुत भेद ही उनका भेद है, विषयवस्तु के मौलिक तत्त्व प्रायः समान हैं। इस प्रकार उन भिन्न-भिन्न संहिताओं में भी एक सांस्कृतिक अभिन्नता विद्यमान है। शताब्दियों का अन्तर प्रकट करने वाली यदि कोई बातें उनमें मिलती हैं, तो वे प्रतिसंस्कर्त्ताओं द्वारा समावेश की गयी हैं; क्योंकि प्रतिसंस्कर्ताओं में अनेक शताब्दियों का अन्तर विद्यमान था।

कितना भी प्रयास करें, लेखक अपने लिखे हुए में समकालीन छाया को आने से नहीं रोक सकता। प्रतिसंस्कर्ताओं के लेख में भी वह विद्यमान है। जैसे सुश्रुत संहिता में राम और कृष्ण की स्तुति। जब हम यह देखते हैं कि धन्वन्तरि कश्यप और आत्रेय पुनर्वसु से भी पूर्ववर्ती थे, तब धन्वन्तरि के उपदेश में राम और कृष्ण का उल्लेख कैसे संभव है। वह प्रतिसंस्कर्त्ताओं के युग की छाया है।

वाल्मीकि की रामायण में सूर्यवंश की परम्परा का उल्लेख है।[1] उसमें मरीचि, कश्यप, विवस्वान्, मनु, उसके बाद इक्ष्वाकु—यह वंश-परम्परा क्रम दिया है। प्रायः 40 पीढ़ी बाद राम का आविर्भाव कहा गया है। किन्तु एक सौ आठवें अध्याय में आगे चलकर अत्रि का आश्रम और अत्रि-पत्नी अनसूया का सीता को आशीर्वाद और उपदेश भी लिखा है।[2] कश्यप और आत्रेय पुनर्वसु का विचार-विनिमय हमने उनकी संहिताओं में पढ़ा है। अत्रि और मरीचि का भाई होना भी हम पढ़ते हैं। इस प्रकार प्रत्येक संहिता में प्रतिसंस्कारों द्वारा युग-युग की भिन्न-भिन्न कालीन घटनायें भी समाविष्ट होती गयी हैं। संहिता के साथ महर्षि का नाम अब उसकी ऐतिहासिक श्रद्धा और संस्मरण मात्र रह गया है, उनके मूल वाक्य नहीं। जैसे भगवद्गीता में विषयवस्तु योगिराज श्रीकृष्ण की अवश्य है, किन्तु शब्द-योजना वेदव्यास की है।

वाल्मीकीय रामायण में रामराज्याभिषेक से पूर्व एकत्रित राजसभा में दशरथ ने राम के बारे में लोकमत संग्रह किया। उस समय आये हुए राजाओं ने कहा—हे सम्राट्, आपके राम वैसे ही योग्य हैं जैसे मरीचि के कश्यप थे।[3] इस प्रकार हम इतिहास में कश्यप के गुणों की वह प्रतिष्ठा देखते हैं जो प्रथम श्रेणी के महापुरुषों को प्राप्त है।

किन्तु मारीच कश्यप भी जिनके वैज्ञानिक सिद्धान्तों का आदरपूर्वक उल्लेख करते थे वे वृद्ध कश्यप कौन थे, उनका वंश-परिचय क्या है? इस प्रश्न का उत्तर इतिहास से प्राप्त करना शेष है।

अनेक सांस्कृतिक कर्मकाण्ड सुश्रुत, काश्यप तथा आत्रेय (चरक) संहिताओं

---

1. वाल्मीकि रामायण, अयोध्या काण्ड, 110।
2. सीतात्वेतद्वचः श्रुत्वा राघवस्य यशस्विनी।
   तामत्रिपत्नीं धर्मज्ञामभिचक्राम मैथिली॥ —वाल्मी० रामा०, अयो० 118/17
3. वत्सः श्रेयसि जातस्ते दिष्ट्यासौ तव राघवः।
   दिष्ट्या पुत्र गुणैर्युक्तो मरीच इव कश्यपः॥ —वाल्मी० रामा०, अयो० 2/49

में बहुत सादृश्य रखते हैं। उदाहरणार्थ अध्ययन-अध्यापन विधि को लीजिए—

1. सुश्रुत संहिता (धन्वन्तरि)

"प्रशस्तेषु तिथिकरण मुहूर्त नक्षत्रेषु प्रशस्तायां दिशि शुचौ समे देशे चतुर्हस्तं चतुरस्त्रं स्थण्डिल मुपलिप्य गोमयेन, दर्भैः संस्तीर्य ··· ···प्रति दैवतं ऋषींश्च स्वाहाकारं कुर्यात्।"

2. आत्रेय (चरक) संहिता

"समे शुचौदेशे प्राक्प्लवने उदक्प्लवने वा चतुष्किष्कु मात्रं चतुरस्त्रं स्थाण्डिलं गोमयोदकेनोपलिप्तं कुशास्तीर्ण ··· ···सर्षपाक्षतोपशोभितं कृत्वा धन्वन्तरिं प्रजापतिम-श्विनाविन्द्रमृषींश्च सूत्रकारानभिमन्त्रयमाणः-पूर्व स्वाहेति।"

3. काश्यप संहिता

"विधिनोपनयेदुदगयने पुण्याहे नक्षत्रेऽश्वयुजि रोहिण्यामुत्तरास्वन्यस्मिन् वा। पुण्ये प्रागुदक्प्रवण देशे गोमयेनाद्भिश्च गोचर्ममात्रं स्थाण्डिलमुपलिप्य··· ···समिधो घृताक्ता जुहोति–अग्नये स्वाहा, कश्यपाय स्वाहा, धन्वन्तरये स्वाहा ···।"

उपर्युक्त पद्धति में कितना अधिक सामञ्जस्य है? प्रत्येक देवता और ऋषि के नाम से स्वाहाकार करना चाहिए, धन्वन्तरि ने इतना कहकर ही बात पूरी कर दी। किन्तु आत्रेय और कश्यप ने उन देवताओं और ऋषिओं के अलग-अलग नाम भी लिख दिये हैं। सामञ्जस्य देखिये—

1. प्रशस्त तिथि, कारण, नक्षत्र, मुहूर्त, तथा दिशा का विचार कर अध्यापन प्रारम्भ करे।
2. चार हाथ वर्गाकार भूमि गोबर से लिपी हो।
3. कुशायें बिछी हों।
4. देवताओं तथा ऋषियों के नाम के साथ 'स्वाहा' करते हुए हवन करें।

आत्रेय ने इतना और लिखा–

धन्वन्तरि, प्रजापति, अश्वि, इन्द्र, ऋषिगण तथा सूत्रकारों का नाम लेकर स्वाहा बोलते हुए आहुति दें।

कश्यप ने कहा—

अग्नये स्वाहा, कश्यपाय स्वाहा, धन्वन्तरये स्वाहा। इस प्रकार आहुति दें।

धन्वन्तरि ने अपना नाम लेकर आहुति देने की घोषणा नहीं की। शेष विधि सब में एक-सी ही है। धन्वन्तरि के वाक्य की व्याख्या में भाष्यकार डल्हण ने वह कमी पूरी कर दी—

प्रति ऋषीनिति धन्वन्तरये स्वाहा, भरद्वाजाय स्वाहा, आत्रेयाय स्वाहा इत्यादि।

काश्यप संहिता में काश्यप के नाम की आहुति प्रतिसंस्कर्त्ता की योजना ही है। शिष्टाचार के विचार से कोई महापुरुष यह नहीं कहेगा कि मेरे सम्मान में आहुति दी जाय।

आयुर्वेद अथर्ववेद का उपांग है, इस प्रश्न पर सबकी सहमति देखिये—

धन्वन्तरि—

इह खल्वायुर्वेदो नामोपांगमथर्ववेद स्यानुत्पाद्यैव प्रजाः श्लोक शतसहस्र मध्याय सहस्रं च कृतवान् स्वयम्भूः ॥ (सुश्रु०, सूत्र 1/6)

आत्रेय पुनर्वसु—

"तत्रभिषजा पृष्ठेनैवं चतुर्णामृक्साम यजुरथर्व वेदाना मात्मनोऽथर्ववेदे भक्तिरादेश्या। वेदोह्याथर्वणः स्वस्त्ययन बलि मंगल होम नियम प्रायश्चित्तोपवास मन्त्रादि परिग्रहाच्चिकित्सां प्राह।" (चरक, सूत्र 30/20)

काश्यप संहिता—

"कं च वेदं श्रयति? अथर्ववेदमित्याह। तत्र हि रक्षा बलि होम शान्ति··· प्रतिकर्म विधान मुद्दिष्टं विशेषण। तद्वदायुर्वेदे। तस्मादथर्व वेदं श्रयति।"

(काश्यप सं०, विमान०, शिष्योप० 10)

गर्भ के विकास-क्रम के बारे में देखिये—

"सर्वाणि प्रत्यंगानि युगपत् संभवन्तीत्याह धन्वन्तरिः। गर्भस्य सूक्ष्म त्वान्नोपलभ्यते।" (सुश्रुत०, शारीर०, 3/32)

आत्रेय—

"सर्वांगाभिनिर्वृतिर्युगपदिति धन्वन्तरिः। तदुपपन्नं सिद्धत्वात्···। तस्मात् हृदय प्रभृतीनां सर्वाङ्गानां तुल्य कालाभिनिर्वृत्तिः।" (चरक०, शारीर०, 6/21)

कश्यप—

सर्वेन्द्रियाणिगर्भस्य सर्वाङ्गावयवास्तथा।
तृतीये मासि युगपन्निर्वर्त्तन्ते यथा क्रमम्॥

(काश्यप०, शारीर०, असमान गोत्रीय)

मेधा तथा आयुष्य के लिए स्वर्ण का प्रयोग करने के बारे में कुछ विचार देखिये—

धन्वन्तरि—

वचाघृत सुवर्णं च बिल्वचूर्णमितित्रयम्।
मेध्यमायुष्यमारोग्यं पुष्टि सौभाग्यवर्धनम्॥

आत्रेय—

अनेनैव विधानेन हेम्नश्च रजतस्य च।
आयुः प्रकर्ष कृत्सिद्धः प्रयोगः सर्व रोगनुत्॥

कश्यप—

सुवर्णप्राशनं ह्येतन्मेधाग्नि बलवर्धनम्।
आयुष्यं मंगलं पुण्यं वृष्यंवर्ण्यं ग्रहापहम्॥

इन तीनों संहिताओं में अन्य अनेक प्रसंग भी समान हैं। धन्वन्तरि के प्रवचनों की अपेक्षा आत्रेय तथा कश्यप के प्रवचन बहुत समानतापूर्ण हैं। दोनों की प्रतिपादन शैली में भी बहुत कुछ समता है। धन्वन्तरि के युग में कुछ बातें नहीं कही गई थीं। वे आत्रेय और कश्यप ने पूरी कर दी। विमानस्थान, इन्द्रियस्थान तथा सिद्धिस्थान ऐसे ही प्रसंग हैं। यह आत्रेय और कश्यप के युग के ही विकास हैं। विमानस्थान में मात्रा, देश, काल आदि युक्तियों का विवरण है। चिकित्सा के लिए नितान्त आवश्यक यह प्रसंग सुश्रुत में नहीं है। इन्द्रियस्थान में साध्यासाध्य विवेचना तथा सिद्धिस्थान में पञ्चकर्म का प्रयोग अपने युग के नये विकास थे। धन्वन्तरि ने भी उन्हें कहा था, किन्तु वह सौष्ठव और कश्यप में है, धन्वन्तरि में नहीं है।

ग्रंथ-सम्पादन की दृष्टि से सुश्रुत संहिता, काश्यप संहिता तथा आत्रेय (चरक) संहिताओं का सन्तुलन कीजिये। नीचे अध्याओं की संख्या देखिये—

	सुश्रुत संहिता		काश्यप संहिता	आत्रेय संहिता
1. सूत्रस्थान	46		30	30
2. निदानस्थान	16		8	8
3. विमानस्थान	×		8	8
4. शारीरस्थान	10		8	8
5. इन्द्रियस्थान	×		12	12
6. चिकित्सास्थान	40		30	30
7. सिद्धिस्थान	×		12	12
8. कल्पस्थान	8		12	12
योग	120		120	120
उत्तर०	66	खिल०	80	0

इस तालिका से आत्रेय संहिता (चरक संहिता) तथा काश्यप संहिता में निकट घनिष्ठता मिलती है। कहीं-कहीं भापा में भी बहुत सामञ्जस्य है—

काश्यप—"तस्मात् पुरुषो लोक सम्मितः प्रोच्यते"

—काश्यप० शारीर०, गर्भावक्रान्ति।

आत्रेय—"एवमयं लोकसम्मितः पुरुषः" —चरक, शारीर० 4/13

शारीरस्थान के गर्भाधान प्रकरण का एक प्रसंग देखिये—

काश्यपसंहिता—

"स्नेह स्वेद वमन विरेचनास्थापनानुवासनैः क्रमश उपचरेत्। मधुरौषध सिद्धाभ्यां क्षीरघृत पुष्टं पुरुषं, स्त्रियं तुतैल मांसाभ्यामित्येके।" (शारीर०, जाति सूत्रीय)

आत्रेय संहिता—

"स्नेह स्वेदाभ्यामुपपाद्य वमन विरेचनाभ्यां संशोध्य क्रमेण प्रकृतिमापादयेत्। संशुद्धौचास्थापनानुवासनाभ्यामुपाचरेत्। उपाचरेच्च मधुरौषध संस्कृताभ्यां क्षीर घृताभ्यां पुरुषं स्त्रियं तु तैल मांसाभ्याम्।" (चरक, शारीर० 8/4)

ऊपर कश्यप ने 'इत्येके' कहकर जिस तृतीय मत का उल्लेख किया है वह आत्रेय पुनर्वसु का ही सिद्धान्त है। इससे यह भी स्पष्ट है कि कश्यप यद्यपि आयु में आत्रेय पुनर्वसु से ज्येष्ठ थे, तो भी उनके ही जीवन में, वह भी काश्यप संहिता के निर्माणकाल तक, आत्रेय का पांडित्य भी विद्वानों में पूजनीय हो गया था। काश्यप और आत्रेय संहिताओं के शारीरस्थान विषयक प्रतिपादन में इतना साम्य है, प्रतीत होता है दोनों विद्वान् परस्पर निश्चित किये गये सिद्धान्तों पर लिखने बैठे हों। दोनों के लिखे शारीरस्थानों को सन्तुलित कीजिये—

आत्रेय	कश्यप
1. कतिधापुरुषीयाध्याय	शीर्षक विच्छिन्न है, विषय तुल्य है
2. अतुल्य गोत्रीयाध्याय	असमान गोत्रीयाध्याय।
3· खुड्डी का गर्भावक्रान्ति	गर्भावक्रान्तिशरीराध्याय।
4. महती गर्भावक्रान्ति	शरीर विचयाध्याय।
5. पुरुषविचयाध्याय	जाति सूत्रीयाध्याय।
6. शरीर विचयाध्याय।	6, 7, 8 वें—यह तीनों अध्याय
7. शरीर संख्याध्याय	नष्ट हो गये।
8. जाति सूत्रीयाध्याय	

कुछ अन्य सन्दर्भ और देखिये—

काश्यप संहिता—"यथाविषं यथाशस्त्रं यथाग्निरशनिर्यथा।
तथौषधमविज्ञातं विज्ञातममृतोपमम् ॥"
—खिलस्था० भैषज्योपक्रमणीय

आत्रेय

यथाविषं यथाशस्त्रं यथाग्निरशनिर्यथा।
तथौषधमविज्ञातं विज्ञातममृतं यथा ॥—चरक०, सूत्र०, 1/122

काश्यप—

औषधञ्चापि दुर्युक्तं तीक्ष्णं सम्पद्यते विषम्।
विषंच विधिनायुक्तं भैषज्यायोपकल्पते ॥ —खिल० 3/108

आत्रेय

योगादपि विषं तीक्ष्णमुत्तमं भेषजं भवेत्।
भेषजं चापिदुर्युक्तं तीक्ष्णं सम्पद्यते विषम् ॥—चरक०, सू० 1/124

काश्यप

औषधीर्नाम रूपाभ्यां जानन्ति वन गो चराः।
अजपालाश्च गोपाश्च न तु कर्म गुणं विदुः ॥—खिल० 3/103

आत्रेय

औषधीर्नाम रूपाभ्यां जानते ह्यजपावने।
अविपाश्चैव गोपाश्च ये चान्ये वनचारिणः ॥—चरक०, सू० 1/118

आत्रेय और कश्यप की संहिताओं में आज तक वही समानता है जो दोनों भाइयों

के जीवन में किसी समय रही होगी। कश्यप गृहस्थ हुए, और आत्रेय पुनर्वसु सदैव विरक्त और ब्रह्मचारी। दोनों ने चिकित्सा-विज्ञान के आचार्य होकर भी आत्मवाद का प्रवल समर्थन किया। जिन्हें षड्दर्शनों और दश उपनिषदों के अध्ययन से आस्तिकवादी अध्यात्मवाद और आचारशास्त्र का मनन कठिन लगता हो उन्हें चाहिए कि वे कश्यप और आत्रेय के आयुर्वेद का अनुशीलन करें।

सत्य यह है कि कश्यप के विना आत्रेय और आत्रेय के विना कश्यप का परिचय पूर्ण नहीं होता। काश्यप संहिता की खोज ने आत्रेय के परिचय में नवीनता ला दी और आत्रेय के वारे में कश्यप ने नये परिचय दिये। दोनों उच्च कोटि के दार्शनिक और दोनों ही उच्चकोटि के प्राणाचार्य। कौन किससे महान है, यह तुलना अशक्य है।

कश्यप कश्य जैसी वहुमूल्य सुरा पीते थे इसलिए कश्यप कहे गये। यह विचार क्षुद्र होगा। युगों-युगों के ऋषियों ने ही कहा--वे पश्यक थे, वर्णो के विपर्यास द्वारा हम उन्हें कश्यप कहते रहे हैं।

6

कुमारभर्तृ जीवक

थे बुद्ध की जो शरण जिनकी बुद्ध ने भी शरण ली।
सेवा सदा ही दीन-दुखियों की जिन्होंने वरण की ॥
जीवक उन्हें या राजगृह का देवता था यों कहूं।
उस महामानव के चरण-युग की शरण युग-युग गहूं ॥

जरासन्ध की राजधानी राजगृह जहां जीवक का जन्म हुआ

कुमारभर्तृ जीवक
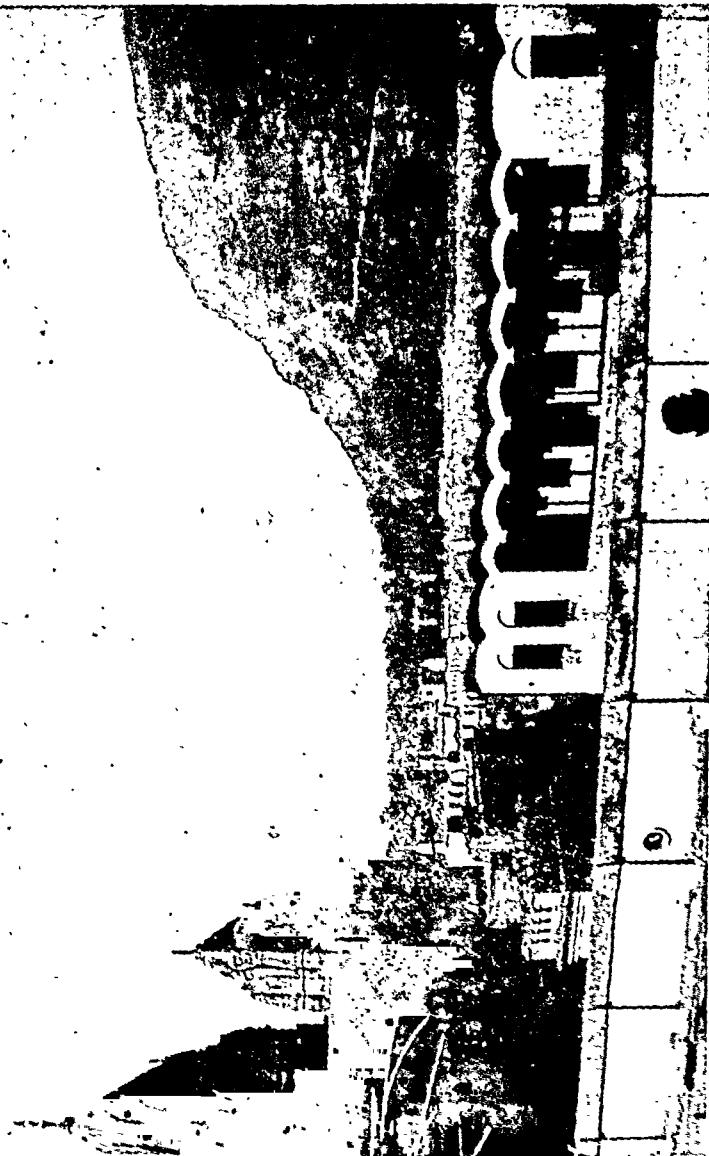
भगवान् बुद्ध के समकालीन महाराज बिम्बसार के राज्यकाल में मगध देश की राजधानी 'राजगृह' नाम का एक बहुत बड़ा स्थान था। वर्तमान गया और पटना मण्डल का सम्पूर्ण भाग मिलाकर राजगृह नाम से प्रसिद्ध था। जैन धर्म के 'सम्मेद शिखर तीर्थमाला' तथा 'पूर्वदेश चैत्य परिपाटी' एवं बौद्ध धर्म के 'दीर्घ निकाय', 'ब्रह्मजाल-सुत्त' और 'महापरिनिर्वाण सुत्त' नामक ग्रंथों के अध्ययन से पता चलता है कि प्रसिद्ध 'नालन्दा' नामक स्थान, जो कि बौद्ध युग में और उसके बहुत काल पीछे तक भी भारत में शिक्षा का प्रसिद्ध केन्द्र था; राजगृह का एक अंश मात्र था। जैन धर्म के तीर्थंकर श्री महावीर स्वामी तथा बौद्ध धर्म के प्रवर्त्तक भगवान् बुद्ध ने बहुत काल तक इसे अपनी चरण-रज से पवित्र किया था। इसका विस्तार सम्भवतः आठ-दस मील से कम नहीं है।

यही राजगृह भगवान् कृष्ण के शत्रु प्रसिद्ध जरासन्ध की राजधानी था। वहां के पंडे आज भी वहां के यात्रियों को जरासन्ध का अखाड़ा दिखाते हैं। महर्षि गौतम का निवास आश्रम इसी भूमि का सौभाग्य तिलक बना था।[1] वह अपने युग के भारत के अभिनय का रंगमंच बन गया था। उसी विश्वविख्यात राजधानी में अत्यन्त सौन्दर्यमयी; गीत, नृत्य और वाद्य आदि सम्पूर्ण ललित कलाओं में प्रवीण, तथा मगध में विख्यात, शालवती नाम की एक वेश्या रहती थी। वैशाली की आम्रपाली में अब वह आकर्षण नहीं रहा था जो शालवती को प्राप्त था। सौन्दर्य की प्रतियोगिता में मगध ने वैशाली पर विजय पा ली, जब शालवती का सौन्दर्य यौवन के झीने-झीने घूंघट में मुसकराया।[2]

दैवयोग से यौवन के प्रथम चरण में ही शालवती ने गर्भ धारण किया। गर्भ हो जाने के कारण वह बड़ी चिन्तित और खिन्न रहने लगी। इस बीच बड़े-बड़े धनी-मानी लोग जब उसके पास आते, वह अपने गर्भ को छिपाने के लिए दासी से कहलवा देती—'मेरी तबीयत खराब है, कुछ समय तक मिलने में असमर्थ हूं।' इस प्रकार अस्वस्थता के बहाने छिपे-छिपे उसने अपना गर्भ-काल बिना किसी से मिले हुए बिताया। गर्भ-काल पूरा होने पर उपयुक्त समय पर शालवती ने एक बहुत सुन्दर बालक को जन्म दिया।

परन्तु अपने पुत्रजन्म को छिपाने के लिए उसने नवजात शिशु को अपनी दासी को देकर आज्ञा दी—'इसे ऐसी जगह फेंक आओ जहां कोई जानने न पाए।' आज्ञा

1. महाभारत, सभा०, अ० 21
2. विनयपिटक, महावग्ग, 8/1

पाकर दासी बच्चे को उठाकर ले गई, और राजमार्ग के किनारे एक घूरे पर फेंक आयी। बच्चे को फेंककर दासी के लौट आने के उपरान्त राजकुमार अभय उसी मार्ग से निकला। जाते हुए उसने देखा—घूरे पर किसी चीज़ को बहुत से कौवे चारों ओर से घेरे हुए बैठे हैं। कोई उसको ठोना नहीं मारता। यह विचित्र दैवी घटना देखकर उसने साथ के लोगों से कहा—'देखो, यह क्या है ?'

लोगों ने कहा—'कुमार ! एक नवजात शिशु पड़ा है।'

राजकुमार ने पूछा—'जीवित है या मरा हुआ ?'

वे बोले—'महाराज ! जीवित है।'

यह सुनकर राजकुमार ने उन्हें आज्ञा दी—'इस बालक को उठाकर मेरे अन्तः-पुर में ले चलो। वहां की दासियों को इसका पालन-पोषण सौंप दो।'

लोगों ने वैसा ही किया। अन्तःपुर में पहुंचने के बाद बच्चे का पालन-पोषण होने लगा। राजकुमार ने बच्चे को जीवित पाकर अपने अन्तःपुर में रखा था। कौवों के बीच असहाय पड़ा रहकर भी वह जीवित रहा। इस सौभाग्य की स्मृति में उसने शिशु का नाम 'जीवक' रखा। परन्तु दासियों द्वारा राजकुमार ने उसका पोषण किया। इसलिए लोग उसे 'कुमारभर्तृ' कहने लगे। इस प्रकार बालक का पूरा नाम 'कुमारभर्तृ जीवक' प्रसिद्ध हो गया।

धीरे-धीरे जीवक की अवस्था बढ़ने लगी। जब वह कुछ समझने लायक हुआ, एक दिन उसने राजकुमार से पूछा—'मेरी माता कौन है और मेरे पिता कौन ?'

राजकुमार ने प्यार से बालक को गोद में बैठा लिया, और कहा—'जीवक ! मैं भी यह नहीं जानता, तुम्हारी जन्मदात्री माता कौन है, और पिता कौन ? हां, तुम्हारा पोषण करने वाला पिता मैं हूं।'

यह जानकर कि मैं वस्तुतः राजकुमार नहीं किन्तु राजकुमार द्वारा पोषित अनाथ हूं, और सौभाग्य से राजाश्रय पा गया हूं, उसे दिन-दिन यह चिन्ता हुई, बिना किसी कला-परिज्ञान के बहुत दिनों मैं राजमहलों में न टिक सकूंगा। मेरे लिए किसी कला का परिज्ञान बहुत आवश्यक है। ऐसा निश्चय करके एक दिन वह राजकुमार अभय से बिना पूछे ही राजमहल से चल दिया और तक्षशिला पहुंचा। काश्मीर के दक्षिण-पश्चिम गान्धार बहुत प्रसिद्ध प्रदेश था। यह वर्तमान पंजाब का पश्चिमोत्तर भाग है। यहीं लवपुर (लाहौर) और पुरुषपुर (पेशावर) के बीच सिन्धु नदी के निकट तक्षशिला नाम का प्रसिद्ध स्थान था। तक्षशिला विद्या का अद्वितीय केन्द्र था। वहां के विश्वविद्यालय में दस हज़ार से अधिक विद्यार्थी शिक्षा प्राप्त करते थे। इसी विश्वविद्यालय में एक धुरन्धर विद्वान, जिनका यश दिग्-दिगन्त में व्याप्त था, ऐसे आचार्य रहते थे। 'विनयपिटक' में उन्हें 'दिशा पामुक्खा-चार्य' नाम से लिखा गया है जिसका अर्थ दिगन्त-विख्यात आचार्य होता है। तिब्बतीय-कथाओं में उनका नाम आत्रेय बताया गया है।[1] यह प्राचीन आत्रेय पुनर्वसु से भिन्न किन्तु उसी गोत्र के विद्वान् थे। तिब्बतीय कथाओं की भांति सिंहलीय और ब्रह्मदेशीय कथाएं भी

1. Tibetan Tales, pp. 75-109

हैं, जिनमें जीवक का वृत्तान्त मिलता है।

सिंहलीय कथा में जीवक के गुरु का नाम कपिलाक्ष दिया गया है और ब्रह्म-देशीय कथा में जीवक की अध्ययन-स्थली काशी लिखी गयी है। तात्पर्य यह है कि जीवक तक्षशिला में दिगन्त-विख्यात आत्रेय गोत्रीय आचार्य कपिलाक्ष का शिष्य हो गया। अत्यन्त श्रद्धापूर्वक आचार्य के चरणों में बैठकर वह आयुर्वेद पढ़ने लगा।[1]

जीवक की आयु उस समय प्राय: सोलह वर्ष की थी। इसी आयु के विद्यार्थी तक्ष-शिला के विश्वविद्यालय में प्रविष्ट किये जाते थे।[2] तक्षशिला में अध्ययन करने का अर्थ उन दिनों यह समझा जाता था कि विद्यार्थी उद्दिष्ट विषय का पूर्ण विद्वान् हो गया। वह स्नातकोत्तर पदवी (Post-graduate) का अधिकारी है।[3] संम्भवत: राजगृह से चलकर कुछ समय काशी में अध्ययन करने के उपरान्त वह तक्षशिला पहुंचा।[4]

जीवक अध्ययन में अत्यन्त पटु था। अनेक बातों को थोड़े ही समय में पढ़ लेता। और जो कुछ पढ़ लेता उसे फिर कभी न भूलता। इस प्रकार गुरु-चरणों में अध्ययन करते हुए धीरे-धीरे उसे सात वर्ष बीत गये। एक दिन जीवक विचारने लगा—पढ़ते-पढ़ते मुझे सात वर्ष बीत गये, परन्तु इस शास्त्र का अन्त अभी तक नहीं आया। गुरुजी से पूछना चाहिए, इसका अन्त कब होगा? यह निश्चय कर उसने एक दिन अवसर देखकर गुरुजी से पूछा—'भगवन ! मुझे अध्ययन करते हुए सात वर्ष हो गये, परन्तु इस शास्त्र का अन्त अभी तक नहीं आया। कृपा करके बताइये इसका अन्त कब होगा?'

गुरु ने शिष्य की मानसिक व्यग्रता को अनुभव किया। उन्होंने देखा हिमशैल से फूटने वाली धारा कर्मक्षेत्र में प्रवाहित होना चाहती है। शिष्य की जिज्ञासा सुनकर गुरु ने एक खनित्र (खुरपा) देकर जीवक से कहा—'जीवक ! जाओ, इस तक्षशिला के चारों ओर एक-एक योजन तक जो चीज़ औषधि न हो उसे खोद लाओ। मैं तब बताऊंगा कि तुम्हारे शास्त्र का अन्त कब होगा।' जीवक चला, तक्षशिला के चारों ओर एक एक योजन चक्कर लगाकर खाली हाथ लौट आया।

---

1. Jivaka went to Takshasila to study medicine. The professor agreed to teach him. At this movement the throne of Sakra trembled, as Jivaka had been acquiring merit through a Kap-Laksha, end was soon to administer medicine to Gautam Budha.
—Manual of Budhism by Spence Hardy, p. 239
2. The Jataka edited by Prof. E. B. Cowell, Vol. 1, p. 126, Vol. II, p. 193, Vol. V, p. 66
3. The Jataka, Vol. IV. p. 24
4. Jivaka, in order to offer relief and comfort to his fellow creatures, he resolved to study medicine. He repaired to Benares, placed himself under direction of a famous physician and soon became eminent by his extreme proficiency in profession.
—Legend of Burmese Budha by Right Revrent P. Bigandet, p. 197

उत्सुकता से गुरु ने पूछा—'जीवक ! क्या लाये ?' जीवक ने उत्तर दिया—'गुरुवर ! मैंने वहुत खोजा किन्तु ऐसी एक भी वस्तु दिखाई न दी जो औषधि न हो। इसलिए खाली हाथ ही लौट आया।'

जीवक का उत्तर सुनकर गुरु की प्रसन्नता का ठिकाना न रहा। शत-शत आशीर्वाद देते हुए वोले—'वत्स जीवक ! आज तुम्हारा यह शास्त्र पूरा हो गया। तुम सचमुच इसके विद्वान् हो गए। जाओ, संसार में अपने पढ़े हुए का उपयोग करो और फलो-फूलो।' यह कहते हुए गुरु ने शिष्य को पाथेय दिया और अपने पास से विदा कर दिया। दीक्षान्त की चरण-वन्दना पर गुरु के आशीर्वाद का सम्वल लेकर जीवक 'राजगृह' की ओर चल दिया।

वह चलते-चलते जव साकेत (वर्तमान अयोध्या) नगरी तक पहुँचा, उसका पाथेय समाप्त हो गया। जीवक सोचने लगा—अभी राजगृह पहुंचने के लिए वहुत-सा मार्ग शेप है, वियावान वनों को पार करना पड़ेगा। मेरा पाथेय चुक गया है। विना पाथेय आगे जाना उचित नहीं। इसलिए साकेत में पाथेय की योजना करना आवश्यक है।

दैवयोग से साकेत के नगरसेठ की पत्नी के सात वर्ष से सिर-दर्द था। अनेक दिगन्त-विश्रुत वैद्य आये, वहुत-वहुत धन लेकर चिकित्सा की, परन्तु दर्द अच्छा न कर सके। असफल होकर लौट गये।

जीवक ने साकेत नगरी में पहुंचकर लोगों से पूछा—'यहां कोई रोगी है ? मैं उसकी चिकित्सा करूंगा।'

लोगों ने वताया—'यहां के नगर-श्रेष्ठी की पत्नी को सात वर्ष से सिर में दर्द है। आचार्य ! जाओ, उसकी चिकित्सा करो।'

जीवक श्रेष्ठी के मकान पर जा पहुंचे और द्वारपाल से वोले—'द्वास्थ ! जाओ, श्रेष्ठी की पत्नी से कहो—एक वैद्य आया है। तुम्हें देखना चाहता है।'

'वहुत अच्छा' कहकर द्वारपाल ने श्रेष्ठी की पत्नी को सूचित किया—'देवि ! एक वैद्य आया है। तुम्हें देखना चाहता है।"

देवी ने पूछा—'कैसा वैद्य ?'

द्वारपाल—'एक तरुण हैं।'

सुनकर देवी ने कहा—'वस, रहने दो। तरुण वैद्य क्या कर सकेगा ? जहां अत्यन्त विख्यात, वयोवृद्ध वैद्य कुछ न कर सके वहां तरुण वैद्य क्या कर सकता है ?' द्वारपाल ने आकर देवी की वात कुमारभर्तृ जीवक को सुना दी।

जीवक ने द्वारपाल से कहा—'जाओ, मेरी ओर से सेठानी से कह देना कि वैद्य ने कहा है कि अच्छा होने से पूर्व कुछ न देना। आराम हो जाने पर भी जो मन चाहे वह देना।' द्वारपाल ने सेठानी से यह वात कह दी। सेठानी ने जीवक की वात स्वीकार कर ली, और द्वारपाल को उसे वुलाने की आज्ञा दे दी।

द्वारपाल ने आकर जीवक से कहा, 'आचार्य ! सेठानी जी ने आपकी वात स्वीकार करते हुए आपको वुलाया है। आप उन्हें देखकर चिकित्सा करें।'

जीवक ने सेठानी को देखकर रोग पहचान लिया और कहा—'आर्ये ! पसभर

घी चाहिए।'

सेठानी ने जीवक को पसभर घी दिलवाया। जीवक ने घी लेकर अनेक औषधियों में सिद्ध किया और सेठानी को पलंग पर लिटाकर उसके दोनों नथनों में डाल दिया। दर्द क्षणभर में बन्द हो गया। नाक से दिया हुआ घी मुख से निकल पड़ा। सेठानी ने उसे पीकदान में थूक दिया और दासी को आज्ञा दी, उस थूके हुए घी को किसी और बर्तन में सम्हालकर रख ले।

यह देखकर जीवक के आश्चर्य का ठिकाना न रहा। वे सोचने लगे—'यह सेठानी कितनी कृपण है। इस फेंकने लायक घी को भी रखवाती है। मेरी अमूल्य औषधियां इस घी में पड़ी हैं, उनका मूल्य यह क्या दे सकेगी?'

सेठानी ने जीवक के भाव को ताड़ लिया। बोली—'आचार्य! आप उदास क्यों हो रहे हैं?' जीवक ने अपने मन का भाव कह दिया। सुनकर सेठानी ने उत्तर दिया—'आचार्य! हम गृहस्थिनें हैं। इस संयम को हम जानती हैं। यह घी दासों के पैरों में मलने तथा दीपक में जलाने को ठीक है। वैद्यराज! आप उदास न हों। मुझे आपको जो देना है उसमें कमी न होगी।'

जब इस प्रकार जीवक ने सेठानी के सात वर्ष के सिर-दर्द को एक ही बार के नस्य से निकाल दिया तो परिवार के आनन्द का पारावार न रहा। सेठानी ने निरोग होकर जीवक को चार हजार मुद्राएं दीं। मेरी माता को अच्छा कर दिया, यह देखकर पुत्र ने चार हजार मुद्राएं दीं। मेरी सास को अच्छा कर दिया, यह देखकर बहू ने चार हजार मुद्राएं दीं। मेरी पत्नी को अच्छा कर दिया, यह देखकर श्रेष्ठी गृहपति ने चार हजार मुद्राएं, एक दास, एक दासी तथा घोड़ों से जुता हुआ एक रथ प्रदान किया। जीवक वे सोलह हजार मुद्राएं, दास और दासी समेत रथ पर चढ़कर राजगृह की ओर चला। चलते-चलते जहां अभय राजकुमार था, वहां जा पहुंचा।

सादर अभिवादन के बाद राजकुमार से बोला—'देव! ये सोलह हजार मुद्रायें, दास, दासी और यह अश्वरथ मेरे प्रथम कार्य का फल है। मेरे पोषक पिता आप हैं, इसलिए आप ही इसे स्वीकार करें।'

राजकुमार ने उत्तर दिया—'जीवक! यह सब तुम्हीं रखो। भगवान् तुम्हारा मंगल करें। देखो अपना घर हमारे महल के भीतर ही बनवाना।'

'जो आज्ञा' कहकर जीवक ने अपना घर राजकुमार की हवेली में बनवाया, और वहीं रहने लगा।

उस समय मगध के राजा बिम्बसार को भगन्दर का रोग था। कोई लाभकारी चिकित्सा न होने से रोग ने भीषण रूप धारण कर लिया। यहां तक कि उसकी धोतियां खून से सन जाती थीं। घर की स्त्रियां देखकर हँसी उड़ातीं—'अब महाराज का ऋतु-काल आया है। देखो कैसा आर्त्तव स्राव हुआ है, शायद अब शीघ्र ही प्रसव भी करेंगे।' महाराज सुनते और लज्जा से चुप रह जाते।

एक दिन सम्राट् ने अभय राजकुमार से कहा—'अभय! मुझे ऐसा रोग है जिस से धोतियां खूनसे सन जाती हैं। घर की स्त्रियां देखकर हँसी करती हैं। इसलिए अभय!

किसी ऐसे वैद्य को ढूंढो जो मेरी चिकित्सा करे।'

'देव ! यह हमारा तरुण वैद्य जीवक बहुत योग्य है। वह आपकी चिकित्सा करेगा।'

'तो अभय ! जीवक को आज्ञा दो वह मेरी चिकित्सा करे।'

अभय ने जीवक से राजा की चिकित्सा करने को कहा। जीवक ने स्वीकार कर लिया। अपनी एक उंगली में दवा भरकर महाराज बिम्बसार के पास पहुंचा—'सम्राट्, रोग दिखाइये !' सम्राट् ने दिखाया। जीवक ने उंगली का लेप व्रण पर लगा दिया। एक ही लेप से रोग अच्छा हो गया।

स्वास्थ्य-लाभ कर सम्राट् ने पांच सौ सुन्दरियों को आभूषणों और वस्त्रों से सुसज्जित किया। फिर उन सबको एकत्र कर जीवक के आगे लाकर कहा—'जीवक ! यह पांच सौ सुन्दरियों के आभूषण मैं तुम्हें देता हूं।'

जीवक ने कहा, 'आप मुझे स्मरण रखें, यही मेरे लिए सबसे बड़ा पुरस्कार है।'

'तो जीवक ! आज से तुम मेरे वैद्य हुए। मेरी तथा बुद्ध-प्रमुख भिक्षुसंघ की चिकित्सा किया करो।'

'जो आज्ञा' कहकर जीवक ने सम्राट् के अनुग्रह को स्वीकार किया। चिकित्सक का सर्वोच्च सम्मान जीवक ने इस अल्पायु में ही प्राप्त कर लिया।

उस समय राजगृह के प्रधान श्रेष्ठी (सेठ) को भी सात वर्ष से सिर में दर्द था। दिगन्त-विख्यात वैद्य भी आराम न कर सके। बहुत-सा धन लेकर चले गये। एक दिन श्रेष्ठी ने अनेक विख्यात वैद्यों को एकत्र किया और उनकी अन्तिम सम्मति मांगी। किसी ने कहा—सेठ पांचवें दिन मर जायगा, किसी ने कहा सातवें दिन। निराश श्रेष्ठी ने जीवन की आशा छोड़ दी।

यह सुनकर राजगृह के प्रबन्धक को चिन्ता हुई—इस श्रेष्ठी से मेरा तथा राजा का बहुत काम निकलता है। वैद्यों ने इसे जवाब दे दिया। केवल सम्राट् का यह तरुण वैद्य ही शेष रह गया है। सम्भव है, यह अच्छा कर सके। अतएव श्रेष्ठी की चिकित्सा के लिए जीवक को हम राजा से क्यों न मांग लें ? इस विचार से उसने सम्राट् बिम्बसार के पास जाकर विनय की—'देव ! यह श्रेष्ठी आपका तथा हम सब का बहुत काम करता है, किन्तु वैद्यों ने उसे जवाब दे दिया है। अच्छा हो महाराज श्रेष्ठी की चिकित्सा के लिए अपने वैद्य जीवक को आज्ञा दें।'

सम्राट् बिम्बसार ने जीवक को बुलाकर श्रेष्ठी की चिकित्सा करने की आज्ञा दी। जीवक ने सहर्ष स्वीकृति दे दी। श्रेष्ठी के घर जाकर जीवक ने कहा—'श्रेष्ठी ! यदि मैं तुम्हें नीरोग कर दूं तो मुझे क्या दोगे ?'

'आचार्य ! मेरा सारा धन तुम्हारी भेंट होगा, और मैं तुम्हारा दास।'

'अच्छा, श्रेष्ठी ! यह बताओ क्या तुम एक करवट सात मास तक लेटे रह सकते हो ?'

'हां, लेट सकता हूं।'

'और दूसरी करवट से भी सात मास लेट सकते हो ?'

'अवश्य।'

'और चित होकर भी उतना ही लेट सकोगे ?'

'क्यों नहीं !'

'श्रेष्ठी, तब तो बहुत ठीक है। इस चारपाई पर लेटो।' श्रेष्ठी चारपाई पर लेट गया। जीवक ने श्रेष्ठी को दृढ़ता से चारपाई से बांध दिया और सिर का चमड़ा फाड़कर खोपड़ी खोल दी। भीतर से दो जन्तु निकालकर लोगों को दिखाये।––'देखो, यह दो जन्तु हैं––एक बड़ा, एक छोटा। जो आचार्य कहते थे––'श्रेष्ठी पांचवें दिन मरेगा उन्होंने इस बड़े जन्तु को देखा था। पांच दिन में यह श्रेष्ठी का मस्तिष्क खा लेता। उससे श्रेष्ठी अवश्य मर जाता। वास्तव में उन लोगों ने ठीक देखा था। और जो आचार्य कहते थे–– श्रेष्ठी सात दिन में मरेगा, उन्होंने इस छोटे जन्तु को देखा था।' लोगों से इतना कह जीवक ने खोपड़ी जोड़ दी, और सिर के चमड़े को सीकर लेप लगा दिया। श्रेष्ठी ने सप्ताह भर एक करवट पड़े रहने के बाद जीवक से कहा––

'आचार्य ! मैं एक करवट से सात मास नहीं लेट सकता।'

'तो श्रेष्ठी, तुमने क्यों कहा था––एक करवट से सात मास लेट सकता हूं ?'

'कहा अवश्य था, परन्तु अब मर भले ही जाऊं, एक ही करवट सात मास न लेटा जायगा।'

'अच्छा, दूसरी करवट से सात मास लेटो।' श्रेष्ठी लेटा, और ठीक सप्ताह बीतने पर फिर कहने लगा, 'आचार्य ! मैं इस करवट भी सात मास न लेट सकूंगा।'

'तो तुमने पहले क्यों कहा था ?'

'कहा तो था, पर अब नहीं लेटा जाता।'

'अच्छा, फिर चित लेटो।' श्रेष्ठी लेटा। और कठिनता से ही एक सप्ताह बीता वह फिर बोला—'मैं चित भी सात मास नहीं लेट सकता।'

'तो श्रेष्ठी, अपना वचन याद करो, क्या तुमने सात मास लेटने का वायदा नहीं किया था ?'

'आचार्य ! किया तो था, पर अब मझे मर जाने दो। किन्तु सात मास न लेटा जायगा।'

यह सुनकर जीवक ने कहा––'श्रेष्ठी, यदि मैंने सात मास की शर्त न की होती तो तुम सात दिन भी न लेटते। मैं पहले जानता था कि तीन सप्ताह में तुम नीरोग हो जाओगे। श्रेष्ठी, उठो, तुम निरोग हो गये। किन्तु याद है––मेरे लिए क्या देना है ?'

'आचार्य, आज से यह सब धन तुम्हारा, और मैं तुम्हारा दास।'

'बस श्रेष्ठी, बस, न यह धन मेरा, न तुम मेरे दास। केवल सौ हजार मुद्राएं राजा को और सौ हजार मुझे दे दो।'

सर्वथा आरोग्य होकर श्रेष्ठी ने सौ हजार मुद्राएं राजा को और सौ हजार जीवक को भेंट कर दीं।

कुछ समय बाद काशी के एक श्रेष्ठी के पुत्र के सिर में घुमरी (भ्रमि) का भीषण रोग हुआ। उसे दलिया, भात तक न पचता था। पेशाब, पाखाना भी गड़बड़। वह दुर्बल

होकर पीला पड़ गया। देह अस्थिपञ्जर मात्र शेष रह गयी थी। श्रेष्ठी को पुत्र की यह दशा देखकर बड़ी चिन्ता हुई। उसने राजगृह आकर चिकित्सा के लिए जीवक को भेज देने के लिए राजा विम्वसार से प्रार्थना की। राजा ने स्वीकार कर ली और जीवक को चिकित्सा के लिए काशी जाने की आज्ञा दी।

जीवक काशी पहुँचे। श्रेष्ठी के पुत्र को देखकर रोग पहचान लिया। सब लोगों को वहां से हटाकर सुदृढ़ खम्भों पर कनात लगवा दी। अनन्तर उसकी भार्या को सामने खड़ा करके, श्रेष्ठी-पुत्र का पेट फाड़ दिया। भीतर से आंत की एक गांठ निकालकर उसकी भार्या को दिखाई—'देखो अपने स्वामी का रोग। इसी के कारण खाया-पिया कुछ भी नहीं पचता था।' इतना कहकर उस गांठ को झुलसाकर अंतड़ियों को भीतर करके पेट को सीं दिया। ऊपर से एक लेप लगा दिया। काशी के श्रेष्ठी का पुत्र थोड़े ही दिनों में निरोग हो गया। श्रेष्ठी ने पुत्र को निरोग देखकर सोलह हजार मुद्रायें भेंट में दीं। जीवक वह पुरस्कार लेकर राजगृह लौट आये।

उस समय उज्जैन के राजा प्रद्योत को पाण्डु रोग हो गया था। बड़े-बड़े वैद्य कुछ न कर सके और बड़ी-बड़ी दक्षिणा लेकर चलते बने। तब राजा प्रद्योत ने मगध-राज विम्वसार के पास दूत भेजकर प्रार्थना की—'देव, मुझे कठिन पाण्डु रोग है। अच्छा हो यदि जीवक वैद्य को आप मेरी चिकित्सा के लिए आज्ञा दे दें।' महाराज विम्वसार ने उसकी चिकित्सा के लिए जीवक से उज्जैन जाने के लिए कहा। जीवक ने सहर्ष उज्जैन को प्रस्थान कर दिया।

उज्जैन पहुंचकर राजा प्रद्योत को देखते ही जीवक ने रोग का निदान स्थिर कर लिया और कहा—'सम्राट्, मैं औषधियों से अभी कुछ घी सिद्ध करता हूं। देव उसे पियें।' यह सुनकर राजा ने कहा—'जीवक! बस घी छोड़कर और किसी योग से निरोग कर सकते हो, करो। घी से मुझे अत्यन्त घृणा है।'

जीवक ने सोचा—इस राजा को ऐसा रोग है जो घी के विना अच्छा न होगा। इसलिए यह उचित होगा कि घी को कषाय वर्ण, कषाय गन्ध और कषाय रस में सिद्ध करूं ताकि उसका माधुर्य छिप जाये और सहसा पहचाना ही न जा सके। ऐसा निश्चय करके जीवक ने कषाय वर्ण, कषाय गन्ध और कषाय रस से युक्त घी सिद्ध किया। साथ ही जीवक को दूसरी चिन्ता उत्पन्न हुई—अरुचि होने के कारण राजा को घी पीने से वमन होने की सम्भावना होगी। यह राजा महा क्रोधी है, कहीं मुझे मरवा न डाले। अच्छा हो, पहले इसका प्रवन्ध कर लूं।

जीवक जाकर राजा प्रद्योत से वोले—'देव! हम लोग वैद्य हैं। भिन्न-भिन्न मुहूर्तों में मूल और वनस्पतियां संग्रह किया करते हैं। अच्छा हो, महाराज वाहन-शालाओं और नगर-द्वारों पर आज्ञा भेज दें कि जीवक जिस वाहन और जिस द्वार से जिस समय जाना-आना चाहे, जाए और आएं।' राजा ने जीवक की वात स्वीकार कर ली। वाहनागारों तथा नगरद्वारों पर वैसी आज्ञा घोषित कर दी गई।

उन दिनों राजा प्रद्योत की भद्रवतिका नाम की एक हथिनी थी। वह दिन में पचास योजन चलने वाली थी। यह वात ध्यान में रखकर कुमारभृत्य जीवक वह सिद्ध

किया हुआ घी लेकर राजा के पास पहुंचे--'देव ! यह कषाय पियें।' इस प्रकार कषाय (काढ़ा) के नाम से राजा को घी पिलाकर जीवक हार्थीसार में जा भद्रवतिका पर सवार होकर शहर से भाग निकले। इधर सचमुच पिये हुए घी से राजा को उवान्त होने लगा। राजा ने मंत्रियों से कहा--'दुष्ट जीवक ने मुझे घी पिलाया है। जाओ, उसे पकड़ लाओ।' उन्होंने जवाब दिया--'देव ! वह तो भद्रवतिका पर सवार होकर नगर से वाहर चला गया है।' राजा के क्रोध का ठिकाना न रहा।

उस समय दिव्य शक्तिशाली काक नामक सेवक राजा के यहां रहता था। वह दिन में साठ योजन चलता था। राजा ने उसे बुलाकर आज्ञा दी--'काक, जाओ। जीवक को पकड़ लाओ। और कहना कि आचार्य ! आपको महाराज लौटाना चाहते हैं। और देखो, काक, ये वैद्य लोग बड़े तो मायवी होते हैं, तुम जीवक के हाथ से कुछ न लेना।'

सेवक काक चल दिया। चलते-चलते मार्ग में कौशाम्वी नगरी में उसने कुमारभर्तृ जीवक को कलेवा करते देखा। और कहा--

'आचार्य, महाराज आपको लौटाना चाहते हैं।'

'ठहरो, कुछ खा लूं। और काक ! लो, थोड़ा-सा तुम भी खा लो।'

'बस आचार्य, मैं कुछ न लूंगा। महाराज ने आज्ञा दी है— ये वैद्य बड़े मायावी होते हैं, तुम जीवक के हाथ से कुछ न लेना।'

जीवक ने अपने नख से कुछ दवा मिलाकर आंवला खाया और पानी पिया। एक बार फिर कहा--'काक ! तुम भी आंवला खाकर पानी क्यों नहीं पी लेते ?'

काक ने सोचा, यह वैद्य स्वयं आंवला खाकर पानी पी रहा है, इसमें अनिष्ट की सम्भावना ही नहीं हो सकती। निदान आधा आँवला खाकर पानी पी लिया। बस, उसका खाया हुआ वह आधा आंवला उसी जगह पेट से वाहर निकल गया। क्षण भर में उग्र अतीसार ने उसे अस्तव्यस्त कर दिया। वेचारा काक दास घवराकर वोला--

'आचार्य ! क्या अव मैं जीवित रह सकूंगा ?'

'काक, डरने का काम नहीं है, तू निरोग हो जाएगा और राजा भी। वह राजा वड़ा क्रोधी है, मुझे कहीं मरवा न डाले, इसलिए मैं न लौटूंगा।' इतना कह भद्रवतिका हथिनी काक को सौंपकर जीवक ने राजगृह का रास्ता लिया। क्रमशः राजगृह पहुंचकर महाराज विम्वसार को आपवीती कह सुनाई। महाराज वोले--

'जीवक ! तुमने वहुत अच्छा किया जो न लौटे। वह राजा वड़ा क्रोधी है। निश्चय ही तुम्हें मरवा डालता।'

उधर राजा प्रद्योत दवा के गुण से सर्वथा निरोग हो गये। उन्होंने जीवक के पास अपना दूत भेजकर कहलवाया--'अव एक वार आचार्य जीवक मेरे यहां आने की कृपा अवश्य करें। कुछ पारितोषिक देना चाहता हूं।'

जीवक ने कहला भेजा--'वस, महाराज मेरा उपकार स्मरण रखें, मेरे लिए यही वड़ा पुरस्कार है।'

उस समय कई हजार दुशालों में सर्वश्रेष्ठ शिविदेश[1] के दुशाले का एक जोड़ा महाराजा प्रद्योत को प्राप्त हुआ था। उन्होंने उस जोड़े को जीवक के लिए भेजा। जीवक ने दुशालों को देखकर यह निश्चय किया—'इन दुशालों के योग्य भगवान् बुद्धदेव या मगध सम्राट् बिम्बसार ही हो सकते हैं, मेरे-जैसा नहीं।'

उन्हीं दिनों भगवान् बुद्धदेव का शरीर दोषग्रस्त हो गया था। भगवान् ने अपने अन्यतम शिष्य आनन्द को सम्बोधन कर कहा—

'आनन्द! मेरा शरीर दोषग्रस्त है। कुछ विरेचन लेना चाहता हूं।' यह सुनकर आनन्द ने जीवक के समीप जाकर कहा—'आचार्य! भगवान् का शरीर दोषग्रस्त है। वे विरेचन लेना चाहते हैं।'

'अच्छा, आनन्द! प्रथम भगवान् के शरीर का कुछ स्नेहन होना चाहिए।'

आनन्द ने भगवान् के शरीर को स्नेहित करके जीवक से फिर कहा—'आचार्य! भगवान् का शरीर स्नेहित हो गया है, जैसा उचित हो कीजिये।'

जीवक ने मन में विचार किया—भगवान् बुद्धदेव जैसे असाधारण व्यक्ति को मामूली जुलाब देना ठीक न होगा। यह विचार कर तीन चम्मचों को नाना औषधियों से भावित किया और एक चम्मच भगवान् को देकर बोले—'भन्ते! प्रथम इस चम्मच को आप सूंघें, उससे दस दस्त होंगे। इसी प्रकार दूसरे और तीसरे को सूंघने पर क्रमशः दस-दस दस्त होंगे।'

इस प्रकार भगवान् को तीस विरेचन की दवा देकर प्रणाम और प्रदक्षिणा करके जीवक अपने घर की ओर चले। इतनी व्यवस्था कर प्रधान द्वार से जाते समय सहसा जीवक को ध्यान आया कि भगवान् का शरीर ऐसा दोषग्रस्त है कि अन्तिम बार में दस नहीं, केवल नौ दस्त ही होंगे। किन्तु भगवान् स्नान कर लें तो यह बाधा दूर हो सकती है। तब निश्चय ही दस विरेचन होंगे। अलौकिक ज्ञान-शक्ति से जीवक के इस ऊहापोह को भगवान् बुद्ध ने अपने स्थान पर बैठे ही बैठे जान लिया और गरम पानी करवाकर स्नान कर डाला। इससे उन्हें पूरे तीस दस्त आ गये।

यह सब होने के उपरान्त जीवक ने भगवान् के शरीर को पुष्ट होने तक यूष (पतली खिचड़ी) सेवन कराया। इस प्रकार थोड़े ही समय में उनका शरीर स्वस्थ हो गया। भगवान् के स्वास्थ्य-लाभ के अनन्तर एक दिन सुअवसर देखकर आचार्य जीवक उस शिविदेश के अमूल्य दुशाले को लेकर भगवान् की सेवा में उपस्थित हुए और विनीत भाव से प्रार्थना की—'भगवन्! शिविदेश के दुशाले का यह जोड़ा राजा प्रद्योत ने मुझे पुरस्कृत किया है। इसे स्वीकार कर आप मुझे कृतार्थ कीजिये।' भगवान् तथागत ने कुमारभर्तृ जीवक का वह दुशाले का जोड़ा स्वीकार कर लिया।

आचार्य जीवक की रचनाएं

ऐसे अद्वितीय प्राणाचार्य का लिखा हुआ कोई ग्रन्थ आज हमें उपलब्ध नहीं है।

1. वर्तमान सीबी—बिलोचिस्तान के आसपास का प्रदेश अथवा शेरकोट (पंजाब) के आसपास का प्रदेश।—राहुल सांकृत्यायन

अभी तक प्राप्त होने वाले साहित्य के आधार पर बहुत से लोगों का यह विचार था कि महाभाग जीवक ने 'कौमारभृत्य तन्त्र' की रचना की थी। यह तन्त्र अब से 800 वर्ष पूर्व भारत में मुसलमानी शासन से पूर्व तक मिलता था। सुश्रुत के प्रसिद्ध व्याख्या लेखक आचार्य डल्हण ने एक स्थान पर उत्तरतन्त्र के प्रारम्भ में लिखा है—कुमाराबाध हेतवः स्कन्द प्राभृतयः पार्वतक जीवक बन्धक प्रभृतिभिः विस्तरतो दृष्टाः।[1]

शिशुओं को पीड़ित करने वाले स्कन्द आदि ग्रहों का विवरण पार्वतक, जीवक तथा बन्धक आदि के तन्त्रों में विस्तार से देखिये। परन्तु काश्यप संहिता की खोज के उपरान्त यह निश्चय हो गया कि वह रचना वृद्ध जीवक की थी, कुमारभर्तृ जीवक की नहीं।

इतिहास में जीवक नाम के दो प्राणाचार्य प्राप्त होते हैं। प्रथम जीवक महर्षि कश्यप का ऐसा ही शिष्य था जैसा आत्रेय पुनर्वसु का अग्निवेश। यह जीवक महर्षि ऋचीक का पुत्र था। पांच वर्ष की आयु में ही महर्षि कश्यप के उपदेशों का संक्षेप 'काश्यप संहिता' उसने सम्पादित की थी।[2] शिशु होकर भी उत्कृष्ट ज्ञानवान् होने के कारण विद्वान् उसे वृद्ध जीवक कहने लगे। वय में नहीं, ज्ञान में समृद्ध व्यक्ति ही सचमुच वृद्ध है। और कुमारभर्तृ जीवक के चरित्र का चित्रण करते समय कश्यप का शिष्य जीवक आयु में वृद्ध ही हुआ।

डल्हण के अतिरिक्त चक्रपाणि ने अपने ग्रन्थ चक्रदत्त में श्लीपद चिकित्सा का एक योग 'सौरेश्वर घृत' लिखा है। प्रयोग के अन्त में लिखा है—'यह प्रयोग जीवक ने अनुसन्धान किया था।'[3] इसी योग की व्याख्या में शिवदास ने कहीं से कौमारभृत्य संबंधी एक प्रयोग और उद्धृत किया है।[4] यह कौमारभृत्य सम्बन्धी प्रयोग भी यदि वृद्ध जीवक का माना जाय, तो क्या यह मान लेना युक्तिसंगत नहीं है कि श्लीपद चिकित्सा का प्रभाव कुमारभर्तृ जीवक के किसी ग्रन्थ का हो सकता है, जो अब हमें प्राप्त नहीं है। शिवदास ने यह भी लिखा है कि जीवक का दूसरा नाम बृहस्पति भी था। प्रश्न यह होगा कि इतिहास में यह बृहस्पति उपनाम वृद्ध जीवक का था या कुमारभर्तृ जीवक का? शिवदास का अभिप्राय वृद्ध जीवक के लिए प्रतीत होता है।

उपलब्ध बौद्ध साहित्य में जीवक कुमारभर्तृ द्वारा लिखे गये किसी ग्रन्थ का परिचय नहीं मिलता। भगवान् बुद्ध ने संघ के बड़े कठोर नियम बनाये थे। खाने-पीने, ओढ़ने-पहनने, पढ़ने-लिखने के लिए भी कठोर नियम थे, जिन्हें कोई उल्लंघन नहीं कर

---

1. सुश्रुत, उत्तरतन्त्र, 1/15
2. काश्यप संहिता, कल्प० 12/18-27
   काश्यप संहिता का दूसरा नाम 'वृद्ध जीवकीयतन्त्र' भी है।
3. घृतं सौरेश्वरं नामश्लीपदं हन्ति सेवितम्।
   जीवकेन कृतंह्येतद्रोगानीकं विनाशनम्॥—चक्र०, श्ली० 20
4. द्राक्षादुरालभाकृष्ण तुगा कर्कटकी जया।
   एषांश्लक्ष्णानि चूर्णानि योजयेन्मधुसर्पिषा॥
   कास श्वास ज्वर हरं विशेषात्तमकं जयेत्।
   निर्मितं जीवकेनेदं कुमाराणां सुखावहम्॥—शिवदास व्याख्या श्लीपद 20

सकता था। तनिक भी नियम भंग हुआ, और कठोर दण्ड का अनुशासन आया। इस दृष्टि से लिखने-पढ़ने की स्वतन्त्रता बौद्ध संघ में थी ही नहीं। करोड़ों भिक्षु चाहते तो न जाने कितना साहित्य लिख डालते, पर भिक्षु संघ के विनय में उसके लिए अवकाश ही न था। काव्य और साहित्य पर लिखना-पढ़ना संघ में दण्डनीय था। अश्वघोष ने भगवान् के महापरिनिर्वाण के पांच सौ वर्ष बाद स्वयं भगवान् का 'बुद्ध चरित' काव्य में लिखा, तो उन्हें उसके लिए क्षमायाचना करनी पड़ी। भगवान् बुद्ध के जीवनकाल में कभी कोई भिक्षु काव्य, अथवा साहित्यिक रचना लिख ही नहीं सका।

अश्वघोष ने लिखा—'भगवान् के चरित को कविता में लिखते हुए, मोक्ष और वैराग्य के अतिरिक्त मैंने कहीं-कहीं श्रृंगार, करुण और वात्सल्य रस भी लिखे हैं, वह 'काव्य धर्म' की परिपाटी में लिखना अनिवार्य हो गया। वैराग्य और त्याग की कटु भेषज काव्य के मधुर रस में बिना भावित किये सर्वसाधारण लोग कैसे निकल पाते।'[1] संघ के इस अनुशासन के अब कितने ही समाधान अनेक लोगों ने दिये, किन्तु तथ्य यह है कि प्रतिबन्ध ने साहित्य-सृजन का कार्य भिक्षु संघ में प्रायः नहीं होने दिया।

श्री विमलचरण ला महोदय ने लिखा—'स्पष्ट है कि भगवान् बुद्ध ने काव्य अथवा पद्य के विरोध में जो व्यवस्था बनाई उसका उद्देश्य यह था कि भावावेश में भिक्षु उद्देश्य से हटकर रसिकता के प्रवाह में बह न जाएं। क्योंकि कला, काव्य, संगीत और साहित्य आकर्षक भाषा के बिना नहीं बनते।'[2] हम नहीं कहते कि भगवान् बुद्ध का यह दृष्टिकोण नहीं था, यही होगा, किन्तु उससे साहित्य-निर्माण के कार्य का अवरोध हुआ, यह भी निर्विवाद है। आश्चर्य कि जीवक जैसा उच्चकोटि का प्राणाचार्य कोई ग्रन्थ न लिख पाया। आयुर्वेद के विद्वान् सैकड़ों भिक्षु हुए पर लेखक बहुत कम—या नहीं के बराबर। जो बौद्ध साहित्य मिलता है वह 'तथागत' के बाद का है।

काव्य हो या आयुर्वेद, लेखन तो एक कला है। वही आयुर्वेद सुश्रुत ने धन्वन्तरि के संरक्षण में लिखा और वही अग्निवेश ने आत्रेय पुनर्वसु के तत्वावधान में, किन्तु दोनों में कितना अन्तर है? और उसके बहुत बाद वाग्भट को देखिये। अष्टांगहृदय में आयुर्वेद के साथ काव्य का आनन्द भी मिलता है। प्रत्येक लेखक एक शैली का सृष्टा है। जहां 'दुक्कट' और 'पाचित्तिय' के अंकुश लगे हों वहां लीक से इधर-उधर हुए और अंकुश पड़ा। फिर अंकुश से गजराज भी डरता है। धीरे-धीरे प्रतिक्रियावादियों की भीड़ संघ के भिक्षुओं में भर गई थी। रचनात्मक कार्य उनके समक्ष कुछ न था। भगवान् नित्य कानून बनाते तो भी नित्य नये अभियोगों की कमी न थी। आनन्द, सारिपुत्र, मौद्गल्यायन,

---

1. यन्मोक्षात्कृतमन्य दन्त्र हिमया तत्काव्यधर्मात्कृतम्।
पातुं तिक्तकमौषधं मधुयुतं हृद्यं कथं स्यादिति॥—सौन्दरनन्द, 18/63

2. Evidently in the Buddhas opinion the appeal of a Kavy or poem lies to the emotional side of hunam nature, and that is made through the skilled art of versification, the rhetorical art of emballishment, and the charming phrases and idioms.
—Aswaghosa, p. 25

उपालि, विशाखा मृगारमाता जैसे कर्मठ व्यक्तियों का जीवन भिक्षु होकर भी विनय की व्यवस्था में ही चला गया। जीवक को जो उत्तरदायित्व सौंपा गया वह सदैव उस पर दृढ़तापूर्वक आरूढ़ रहे--सेवा और चिकित्सा। किन्तु सम्राट् विम्बसार, भगवान् बुद्ध तथा भिक्षु संघ के अतिरिक्त उन्होंने किसी को देखा ही नहीं।

उस समय मगध में कुण्ठ, फोड़ा, चर्मरोग, सूजन और मृगी—ये पांच रोग प्रवल थे। पांचों बीमारियों से पीड़ित लोग कुमारभर्तृ जीवक के पास आते और प्रार्थना करते—'आचार्य ! हमारी चिकित्सा करो।'

किन्तु जीवक ने सदैव एक ही उत्तर दिया—'मगधराज बिम्बसार, भगवान् बुद्ध और भिक्षु संघ की सेवा और चिकित्सा से मुझे अवकाश नहीं, इसलिए अन्य की चिकित्सा करने में असमर्थ हूं।'[1]

वाहर के रोगी देखते भिक्षु संघ में भिक्षु आराम से रहते, आराम से काम करते, वढ़िया खाते-पीते, वढ़िया वस्त्र और शय्याओं पर सोते हैं, हम भी क्यों न संघ के भिक्षु बन जायें ? वे संघ में जाकर प्रव्रज्या लेते, भिक्षु बनकर वहां रहते, तव आचार्य जीवक उनकी मनोयोग से चिकित्सा करते। अच्छे होकर भिक्षु संघ छोड़कर भाग जाते।

भिक्षुओं ने उन भागे हुओं की सूचना जीवक को दी। जीवक ने तथागत से सारी घटना कही। तथागत ने विनय (विनय-कानून) घोषित किया--भिक्षुओ, उक्त पांच रोगों से पीड़ित हो उसे प्रव्रज्या नहीं देनी चाहिए।'

सम्पन्न रोगी आये—'आचार्य जीवक ! मैं अनेक रोगों से पीड़ित हूं, मेरी चिकित्सा कीजिये।'

जीवक ने उत्तर दिया--'सम्राट्, रनिवास, बुद्ध और संघ की सेवा से मुझे अवकाश नहीं। मैं तुम्हारी चिकित्सा नहीं कर सकता।'

'आचार्य ! मेरा सारा धन तुम्हारा और मैं तुम्हारा दास हूंगा किन्तु मुझे आरोग्य करो।'

किन्तु जीवक ने फिर वही उत्तर दिया—'सम्राट्, रनिवास, बुद्ध और संघ के अतिरिक्त अन्य की चिकित्सा के लिए मेरे पास अवकाश नहीं। तुम्हारा धन और सेवा मुझे अभीष्ट नहीं।'

वे लोग भिक्षु संघ में जाते, उपसम्पदा लेते और प्रव्रजित होकर भिक्षु बन जाते। जीवक उनकी चिकित्सा करते, सेवा करते, भोजन और शय्या देते। किन्तु जब वे स्वस्थ हो जाते भिक्षु संघ छोड़कर भाग जाते।

जीवक को एक बार ऐसा ही व्यक्ति मिल गया। जीवक ने पूछा—'क्यों आर्य ! तुमने प्रव्रज्या ली थी ?'

'हां, ली थी।'

'अब संघ क्यों छोड़ गये ?'

'आप अन्यथा चिकित्सा न करते।'

---

1. विनयपिटक, महावग्ग, 8- भाणवार।

जीवक ने भगवान् बुद्ध से सारी बात कही। फिर भगवान् ने विनय घोषित किया—'स्वस्थ को प्रव्रज्या दो, रोगी को नहीं।'

आचार्य जीवक की व्यस्तता का जो उल्लेख विनयपिटक में कहा गया है, उसे देखकर लगता है, उन्होंने संभवतः कोई ग्रन्थ नहीं लिख पाया होगा। प्रतीत होता है कि जीवक प्रव्रजित होकर भिक्षु नहीं हुए। क़िन्तु भिक्षुओं की सेवा में जीवन उत्सर्ग कर गये। वह अपने युग के ऐसे प्राणाचार्य थे जिनका नाम प्रातः स्मरणीय बना। सारे बौद्ध साहित्य में वैसा व्यक्तित्व फिर न उभरा। बुद्ध भगवान् से लेकर चरक पर्यन्त भारत के इतिहास में चमकने वाला वह एक ही प्राणाचार्य है।

संघ के लिए अनेक स्वास्थ्य सम्बन्धी विनय (नियम) आचार्य जीवक ने बनवाये। भगवान् बुद्ध स्वास्थ्य के प्रश्न पर सदैव जीवक से परामर्श करते थे। और जिस व्यवस्था को जीवक ने अनुमोदन किया वही विनय बन गई।

एक बार भगवान् बुद्ध भ्रमण करते-करते वैशाली पहुंचे। महावन की कूटागार शाला में ठहरे। दैवयोग, किसी कार्य से जीवक भी वैशाली पहुंच गये। उस समय वैशाली में बड़े-बड़े भोजनों का सिलसिला लगा था। श्रेष्ठियों के घर से नित्य नये निमन्त्रण आते। अच्छे-अच्छे गरिष्ठ भोजन खाकर भिक्षु लोग बीमार पड़ने लगे। जीवक ने वैशाली में बहुत भिक्षुओं को बीमार देखा।

कारण ज्ञात किया—भिक्षु बढ़िया-बढ़िया भोजन खाते और बिस्तरों पर पड़े रहते हैं।

तब जीवक जहां भगवान् बुद्ध थे, वहां गये। प्रणाम कर एक ओर बैठ गये। बोले—'भन्ते! इस समय वैशाली में उत्तमोत्तम भोजनों का तांता लगा हुआ है। भिक्षु खाते और पड़े रहते हैं। यही कारण है यहां बहुत भिक्षु बीमार हैं। इसलिए भन्ते! भिक्षुओं को आदेश दिया जाये कि भोजन के उपरान्त टहला करें, और भोजन से पूर्व स्नान किया करें।'

भगवान् प्रवचन करने यथासमय बैठे। बोले—'भिक्षुओ! भोजन के उपरान्त टहलने तथा पूर्व स्नान करने की अनुमति देता हूं। आश्रम में यह नियम आवश्यक है।'[1]

भिक्षुओं ने नियम का अनुसरण किया। उन्हें स्वास्थ्य-लाभ हुआ। एक-दो नहीं, सैकड़ों विनय आचार्य जीवक के द्वारा ही संघ के स्वास्थ्य के लिए बनाये गये। जीवक सम्राट् बिम्बसार, भगवान् बुद्ध और बौद्ध संघ के प्रति सदैव निष्ठावान् रहे—निरीह, निस्वार्थ।

व्यावहारिक जीवन

450 ई० में बुद्ध घोष द्वारा लिखी गई 'धम्मपद' की व्याख्या में भी जीवक का वर्णन दिया गया है। संघ वैद्य, बुद्ध वैद्य और राजवैद्य होने के कारण जीवक की आर्थिक आय कम न थी; क्योंकि जीवक की नियुक्ति स्वयं सम्राट् बिम्बसार ने की थी। बुद्धघोष के उल्लेख से ज्ञात होता है कि एक बार पांच सौ भिक्षुओं के साथ भगवान् बुद्ध को जीवक ने अपने घर पर भोजन के लिए आमंत्रित किया। भगवान् गये। यह प्रीतिभोज

1. चुल्ल वग्ग 5/2

जीवक के उल्लेखनीय संस्मरणों में लिखा गया।

उस समय भगवान् बुद्ध के पैर में व्रण था। जीवक ने ही उनकी चिकित्सा की।

वैशाली के आम्बपाली उद्यान में जीवक ने 'आम्रवन विहार' की स्थापना की। यह विहार जीवक की सम्पत्ति से ही बना था। आम्रवन विहार में निवास पाने के लिए भिक्षु वर्ग उत्सुक रहते थे। दर्भमल्ल पुत्र को संघ के विहारों की व्यवस्था का भार सौंपा गया। आम्रवन के लिए उत्सुक भिक्षुओं की भीड़ लगी रहती थी। शयनासन की व्यवस्था के लिए दर्भमल्ल चिंतित रहते थे।[1] जीवक ने जब इस विहार का उद्घाटन किया, भगवान् बुद्ध स्वयं आये। साथ में बारह सौ भिक्षु भी और उन सबका भोजन एवं सत्कार जीवक ने ही सम्पन्न किया।

राजगृह में श्रीगुप्त परिवार के अन्तर्गत बुद्ध भगवान् के सम्मान में जीवक ने एक स्तूप का निर्माण कराया था। उसी के साथ भगवान् की उपदेश-वेदिका भी निर्मित हुई। इसके चतुर्दिक विशाल उद्यान और श्रावकों का प्रांगण था। भगवान् जब कभी आते, यहीं प्रवचन करते। इस पावन वेदिका के भग्नावशेष वहां आज भी विद्यमान हैं।[2]

काशी में पहुंचकर जीवक ने बड़े-बड़े कठिन रोगियों को जीवनदान दिया। काशी के सम्राट् ने जीवक से प्रसन्न होकर रेशम और ऊन से बना हुआ एक दुशाला उन्हें भेंट किया। यह दुशाला पांच सौ मुद्रा का था। जीवक ने सेवा के बदले पाये हुए बहुमूल्य वस्त्रों का विलास कभी नहीं किया। काशिराज का दिया हुआ वह दुशाला लेकर जीवक भगवान् बुद्ध की सेवा में गये।

'भगवन् ! यह पांच सौ मूल्य का दुशाला मुझे काशिराज ने भेजा है। भगवान् इसे स्वीकार करें।'

भगवान् ने मौन हो, स्वीकार किया। इस स्वीकृति के प्रतिदान में भगवान् ने जीवक को व्यवहार-धर्म का एक मार्मिक उपदेश दिया। जीवक को स्फूर्ति मिली, प्रसन्नता मिली, और नवजीवन की प्रगति प्राप्त हुई। तथागत ने सब भिक्षुओं के एकत्र होने पर उन्हें सम्बोधित करते हुए कहा—'भिक्षुओ ! जीवक का दिया हुआ यह दुशाला मैं संघ के लिए अनुमोदित करता हूं।'[3]

आचार्य जीवक के चरित्र की चारुता ने उन स्मृतिकारों को यह लिखने के लिए बाध्य कर दिया—

'गुणाः सर्वत्र पूज्यन्ते पितृवंशो निरर्थकः।'[4]

भारत के प्राणाचार्यों का उत्तराधिकार निर्वहण करने वाली इस ज्योति का महापरिनिर्वाण कब हो गया ? आज 2589 वर्ष हो गये, इतिहास उसका लेखा रखना मानो वियोग की वेदना में भूल गया है।

---

1. चुल्लवग्ग, 4/2
2. Buddist Record of the Western World, Vol. II, p. 152
3. विनयपिटक, महावग्ग, 8/4
4. शार्ङ्गधर पद्धति, 292
   —संसार में गुण की पूजा होती है। पिता का नाम व्यर्थ है।

7

महर्षि चरक

नश्वर जगत में एक रचना से अमर जो हो गये।
अष्टांग आयुर्वेद के संकट सकल जो धो गए॥
कश्मीर के गिरि-कुंज-शिखरों से सुयश जिनका वहे।
वे चरक मुनि हों चन्द्र और चकोर मन मेरा रहे॥

महर्षि चरक

भारतीय चाहे सब कुछ भूल जायें, परन्तु वे चरक का नाम कभी नहीं भूल सकते। हमारे जीवन के प्रत्येक श्वास-प्रश्वास में यह नाम ऐसा ओत-प्रोत हो गया है कि आयुर्वेद का नाम लेते ही सहसा चरक का स्मरण आये बिना नहीं रह सकता। भारत में नाम-माहात्म्य का बड़ा महत्त्व रहा है। इसलिए हमें अपने पूर्वजों के नाम ही याद रह गये हैं, काम नहीं। महर्षि चरक कौन थे? उन्होंने क्या-क्या किया? कब किया? और कैसी परिस्थितियों में किया? यह सब आज ही नहीं, किन्तु सैकड़ों वर्षों से हम भूल चुके हैं। केवल चरक का नाम लेकर ही हम अपनी कृतज्ञता की पराकाष्ठा मान लेते हैं—'कलौ नामैव, नामैव, नामैव परम गतिः।'

परन्तु आज तो हम अपने आयुर्वेदिक साहित्य का वास्तविक अनुशीलन करने के लिए ज्यों-ज्यों उत्कंठित होते जाते हैं, त्यों-त्यों हमारी यह अभिलाषा प्रबल होती जाती है कि हम नाम के साथ पूर्वजों के काम को भी जानें, और उनके पदचिह्नों पर चलते हुए आयुर्वेद की ऐसी सेवा कर जायें, जो उन श्रद्धेय महर्षियों के चरणों में सच्ची श्रद्धांजलि हो।

भारत में ईसा के पांच सौ वर्ष पूर्व से लेकर पांच सौ वर्ष बाद तक का इतिहास राजनैतिक, साहित्यिक और धार्मिक क्रांतियों का इतिहास है। यवन, शक और हूण। व्याकरण, काव्य और दर्शन। आस्तिक और नास्तिक। भक्ति और वैराग्य। सभी कुछ इसी युग के इतिहास की अमूल्य सामग्री है। भारतीय राष्ट्र ने इसी युग में इन तत्त्वों का विश्लेषण अपनी सांस्कृतिक दृढ़ता के साथ किया। प्रत्येक विषय को पूर्वपक्ष में रखकर भारत ने उसके उत्तरपक्ष का जो कुछ निर्माण किया वह भारतीय संस्कृति है। यह निर्माण आज तक के किसी विज्ञान से कम वैज्ञानिक नहीं था। विज्ञान के वे रहस्य हमें आयुर्वेद साहित्य में मिलते हैं, क्योंकि उसमें मनुष्य का विश्लेषण है। और मनुष्य ही इतिहास का एकमात्र नायक है। यदि हमें मनुष्य को भौतिक, मानसिक और आध्यात्मिक किसी भी दृष्टिकोण से अध्ययन करना है, तो आयुर्वेद का अध्ययन ही आवश्यक है।

ईसा की पांचवीं शताब्दी के पश्चात् भारत की राजनैतिक स्थिति बिगड़ती गई। विदेशियों के आक्रमण बढ़े। विप्लव और विद्रोह प्रबल हुए। क्रमशः प्रत्येक दिशा में रचनात्मक कार्य समाप्त होकर अराजकता की स्थिति बनती गई। शक, हूण, यूनानी, ईरानी और अरबी सभी आक्रान्ता के रूप में भारत को बरबाद करने में व्यस्त थे। भारत सम्पूर्ण रूप से एक समरांगण बना रहा। शस्त्र के अतिरिक्त शास्त्र की चर्चा का अवकाश

ही न रहा। लोगों को इतना अवकाश ही कहां था कि वे पढ़ें, लिखें और स्वाध्याय के लिए भी अवसर निकाल सकें। ऐसी दशा में प्रत्येक घटना का संक्षेप में स्मरण रख लेना ही उनके लिए पर्याप्त था।

उधर आक्रांता प्राचीन रचनाओं का संहार करने में संलग्न थे। बड़े-बड़े पुस्तकालय और विद्यालय जलाये जा रहे थे। विद्वानों का संहार किया जा रहा था और कलायें विकल कर दी गई थीं। इधर नवीन निर्माण सर्वथा रुक गये थे। ऐसी दशा में प्रत्येक घटना का संक्षप में स्मरण रख लेना ही पर्याप्त था। उस युग के लोग गंगा के भौगोलिक और ऐतिहासिक गुणों को विस्तार से स्मरण रखने के स्थान में गंगा-गंगा रटकर ही कर्तव्य और धर्म की प्रक्रिया पूरी करते थे। प्रत्येक वस्तु का प्रतीक ही उन्हें याद रह गया। विस्तार के लिए अवकाश ही कहां था? प्रभु का प्रतीक उनकी विरादरी में, गंगा का प्रतीक उनकी गंगाजलि में, और समस्त वेद और वेदांगों का प्रतीक 'पञ्चाक्षर-मन्त्र' में स्मरण रखने वाले उन पूर्वजों ने यदि महान् आयुर्वेद का प्रतीक मानकर 'चरक' को याद रखा तो इसमें आश्चर्य ही क्या है? नाम-माहात्म्य की दृष्टि से हमें उनका कृतज्ञ ही होना चाहिए।

हज़ारों वर्ष के उपरान्त उन प्रातःस्मरणीय महापुरुषों के नाम के सहारे हम उनके काम को खोजने के लिए एक वार फिर से अध्यवसाय कर सकते हैं। दुर्भाग्य से जिन महापुरुषों के नाम विलुप्त हो गये हैं, उनके कार्यों को आज न हम जानते हैं, और न जान ही सकते हैं। नाम विस्मरण हो जाने पर काम स्मरण रखने की प्रेरणा बुद्धि को नहीं मिलती। नाम एक प्रकाश-स्तम्भ है, और काम उसका प्रकाश। यदि प्रकाश एक वार लुप्त भी हो जाय, तो वचे हुए प्रकाश-स्तम्भ को फिर से प्रकाशित करने की प्रेरणा आगे आने वाले पुरुषार्थी समाज को होती ही है। किन्तु यदि प्रकाश-स्तम्भ ही नष्ट-भ्रष्ट हो जाय तो कैसा प्रकाश, और किसका प्रकाशन? सन्त तुलसीदास ने मानो इसी भाव को संकलित किया होगा——

राम एक तापस तिय तारी, नाम कोटि खल कुमति सुधारी।

सचमुच धन्य है वह नाम जो आज तक याद रहा, और धन्य हैं वे जिन्होंने आज तक उसे याद रखा।

आज सौभाग्य से चरक के नाम के साथ-साथ उनका वहुत कुछ काम भी विद्यमान है। परन्तु हमारी जिज्ञासा को संतुष्ट करने के लिए इतना ही पर्याप्त नहीं है। नाम के साथ काम का क्रमवद्ध समन्वय भी होना चाहिए। वह काम जो हमारे सामने है कब किया गया? कैसे किया गया? किन परिस्थितियों में किया गया? यह बिना जाने हमारी कार्य-क्षमता को एक विकलता रहती है। हम यह निश्चय करने के लिए परेशान रहते हैं कि यदि हम भी कुछ करना चाहें तो कैसे करें? कब करें? और किन साधनों द्वारा करें? किसी सफल कार्यकर्त्ता के कार्य को आगे ले जाने के लिए उसके जीवन की परिस्थितियों का ज्ञान हमारे लिए अमूल्य सहयोग प्रदान करता है। उसका ऐतिहासिक अध्ययन अंधेरे पथ पर प्रकाश-स्तम्भ का काम देता है। पूर्ववर्ती अभिनेता ने जहां ठोकर खायी है वहां हम संभलकर चलेंगे, और जहां उसने परिस्थितिओं पर

विजय प्राप्त की है, वहां हम निर्भीक पथिक की नाईं अकड़कर चल सकते हैं। आखिर इतिहास भवसागर की गहराई को नापने का एक पैमाना है। इतिहास के सहारे हम गोते खाने से बच सकते हैं। हमारे जीवन का पथ बहुत कुछ सरल और सुगम हो जाता है। मृत्यु के बाद महापुरुषों के जीवन-चरित्र हमें अमूल्य सहयोग प्रदान किया करते हैं।

आइये, हम अपने बचे-खुचे साहित्य की सहायता से यही देखें कि महर्षि चरक कौन थे ? उन्होंने कब, कैसे और किन परिस्थितियों में अपने कार्य में सफलता प्राप्त की थी ? उनके जीवन के बिखरे हुए संस्मरण वे मोती हैं जिन्हें आज हमें इतिहास के एक सूत्र में पिरोना है ताकि वे हमारे गले के हार हो जाएं।

भारतीय महापुरुषों के जीवन का लक्ष्य सदैव से परोपकार ही रहा है। मनुष्य अपने आप नहीं देख सकता, मानो इसीलिए वे समाज-रूपी दर्पण में अपने स्वरूप को देखने का उद्योग किया करते थे। जीवन में चाहे वे कुछ भी करते रहे हों, किन्तु 'सर्वभूतेषुचात्मानम्' का महान् मन्त्र उन्हें कभी नहीं भूला। इसीलिए अपने संस्मरणों को संकलित करने के लिए उन्होंने न कभी स्वयं उद्योग किया और न कभी वैसा करने के लिए दूसरों को प्रोत्साहित किया। परार्थ ही उनका स्वार्थ था। उन्होंने जिस विशाल भवन की नींव डाली उसे अपने ही ज्ञान और अध्यवसाय से बनाकर खड़ा कर दिया। दुनिया आए और उसकी छाया में आनन्द प्राप्त करे। उन्होंने यह पसन्द नहीं किया कि वे अपनी कृति के गीत गाकर दूसरों को सुनाएं। यदि मन में कृति का अहंकार छिपा ही रहा तो परार्थ कहां हुआ ? वे सच्चे 'आत्मत्यागी' थे। अहंकार का परार्थ में उत्सर्ग करना ही तो आत्मत्याग है। संसार को आवश्यकता हो तो उनकी कृति को याद रखे, और उसके सहारे अपना मार्ग प्रशस्त करे। यही कारण है कि भारतीय महापुरुषों के आत्म संस्मरण हमें अपने साहित्य में नहीं मिलते। जहां-तहां बिखरे हुए वाक्यों और शब्दों के आधार पर ही उनके चरित्र और चित्र का संकलन करना पड़ता है। महर्षि चरक के जीवन का भी यही हाल है।

महर्षि चरक के वंश एवं उनके माता-पिता का परिचय हमें वर्तमान साहित्य में नहीं मिलता। आचार्य भावमिश्र ने अपने ग्रन्थ 'भाव-प्रकाश' में लिखा है—"एक बार सृष्टि में महान् जलीय प्रलय हुआ। तब भगवान् ने मत्स्यावतार लेकर मानव-जाति तथा वेदों का उद्धार किया था। प्रलय के निवृत्त हो जाने पर भगवान् अनन्त देव (शेष) ने मनुष्य-रूप धारण कर गुप्तचर के रूप में पृथ्वी का वृत्तान्त देखने के लिए भ्रमण किया। उन्होंने पृथ्वी पर मनुष्यों को नाना भीषण रोगों से ग्रस्त देखा। कोई रोगों से मर रहे थे, कोई व्यथित थे। भगवान् का हृदय दया और प्रेम से आप्लावित हो उठा। उनके महान् कष्टों का निवारण करने की चिन्ता ने उन्हें व्याकुल कर दिया। इस प्रकार उनके कष्टों का निवारण करने के लिए ही समयानुसार भगवान् एक महामुनि के पुत्र-रूप में अवतीर्ण हुए। जिन मुनिराज के घर उनका जन्म हुआ उनका नाम 'वेद-वेदांग-वेदी' था। वह अपूर्व शिष्य बड़ा हुआ और पृथ्वी पर विचरण करते हुए अपने नैसर्गिक एवं अगाध आयुर्वेदिक ज्ञान की प्रतिभा से मनुष्य को रोग-मुक्त करके स्वास्थ्य प्रदान करने लगा। सामान्य लोगों को उनके भगवद्रूप का क्या ज्ञान ? वे तो केवल इतना ही

जान सके कि वे विचरण करने वाले एक महावैद्य थे। इसलिए वे उन्हें 'चरक' नाम से सम्बोधित करने लगे। महर्षि चरक केवल आयुर्वेद के ही विद्वान् थे यह बात नहीं, वे समस्त वेद और वेदांगों के अद्वितीय ज्ञाता थे। उनके लेखों से हम आज भी यह जान सकते हैं। सच तो यह है कि 'वेद-वेदांग-वेदी' मुनि का पुत्र वेद-वेदांगों का वेत्ता क्यों न होता !"[1]

वस्तुत: चरक शब्द का प्रवृत्ति-निमित्त क्या था, यह निर्णय ही कठिन है। भाव मिश्र की लिखी हुई उपयुक्त कथा एक ऐसी आख्यायिका है जिसको ऐतिहासिक कसौटी पर कठिनता से ही रखा जा सकता है। चरक यदि विचरणशील के अर्थ में प्रयुक्त हो तो वह विशेषण होगा। उसका विशेष्य नाम भी होना चाहिए। चरक शब्द विशेषण रूप से प्राचीन ग्रंथों में स्थान-स्थान पर मिलता है। उपनिषद में चरक शब्द विचरणशील अर्थ में प्रयोग हुआ है।[2] आचार्य पाणिनि ने अष्टाध्यायी में माणवक, चरक और अन्तेवासी—इस प्रकार तीन कोटि के विद्यार्थी वर्ग का उल्लेख किया है।[3] काशिका में वैशम्पायन मुनि का ही दूसरा नाम चरक लिखा है। यहां तक कि वैशम्पायन के नौ शिष्य भी चरक नाम से ही सम्बोधित होने लगे थे। वे वैदिक शाखाओं का प्रचार घूम-घूमकर करते रहे, इसलिए चरक शब्द अन्वर्थ विशेषण था। बौद्ध जातकों में 'चारिक' शब्द विचरण-शील विद्यार्थी या विद्वान् के लिए प्रयुक्त हुआ है।[4] इस प्रकार चरक शब्द का यौगिक अर्थ लेकर अनेक लोग चरक नाम के किसी महान् प्राणाचार्य के व्यक्तित्व पर सन्देह भी प्रस्तुत करते रहे हैं। परन्तु यह सन्देह सर्वथा निराधार है। 'चरक संहिता' के प्रत्येक अध्याय के अन्त में 'अग्निवेश कृते तन्त्रे चरक प्रतिसंस्कृते' इस प्रकार लिखा हुआ संस्मरण यह स्पष्ट सिद्ध करता है कि चरक शब्द का यौगिक प्रयोग भले ही होता रहा हो, किन्तु वह योगरूढ़ संज्ञा भी थी। वह विशेषण ही नहीं, विशेष्य भी है। इसीलिए अमर-कोष में चरक शब्द पुंल्लिग और नपुंसकलिंग (पुन्नपुंसक) दोनों लिखा है। जहां चरक शब्द ग्रन्थवाची प्रयोग हो वहां नपुंसकलिंग और जहां ग्रन्थकर्त्ता के अर्थ में प्रयोग हो वहां पुंल्लिग समझना चाहिए।[5] इस प्रकार यह स्पष्ट है कि अमर कोष के रचना-काल (4-5 ई० शती) में चरक नाम के महर्षि और उनकी रची हुई संहिता विद्वानों में भली भांति प्रसिद्ध थी। इसके अतिरिक्त दृढ़बल के प्रतिसंस्कार में भी चरक विशेषण नहीं, संज्ञा है जो किसी महापुरुष का बोध कराती है।[6] पंकज शब्द की भांति चरक शब्द यौगिक होकर भी एक महापुरुष के लिए रूढ़ है। और अब चरक कहने से उन महापुरुष का बोध ही पहले होता है और यह पीछे प्रतीत होता है कि वे विचरण-शील भी थे।

---

1. भाव प्रकाश, अध्याय 1
2. 'मद्रेषु चरकाः पर्यव्रजाम'—बृहदारण्यक उप० 3/3/1
3. माणव चरकाभ्यां खञ्'—अष्टाध्यायी 5/1/11
4. सोनक जातक 5/247
5. अमर कोष, खण्ड 3, श्लो० 33
6. 'नासाद्यन्तेऽग्निवेशस्य तन्त्रे चरक संस्कृते'—चरक०, चि० 30/275

उस विचरणशील महापुरुष का निवासस्थान कहां था, यह निश्चय कह सकना बड़ा ही कठिन है। परन्तु उपलब्ध सूचनाओं के आधार पर हम कह सकते हैं कि महर्षि चरक का निवासस्थान कश्मीर था क्योंकि 'चरक संहिता' का कश्मीर पाठ बहुत प्रामाणिक माना जाता रहा है। निदान के ज्वर प्रकरण की व्याख्या लिखते हुए आचार्य विजयरक्षित ने "ऐसा चरक के कश्मीर पाठ में लिखा है" इस प्रकार लिखकर श्लोक उद्धृत किये हैं। वर्तमान में जो 'चरक संहिता' हमें मिलती है, वह कश्मीर पाठ वाली संहिता ही है, ऐसा आचार्य विजयरक्षित के श्लोकों से प्रकट होता है।[1] विजयरक्षित के उद्धृत श्लोक वर्तमान 'चरक संहिता' में ज्यों के त्यों विद्यमान हैं।[2] 'चरक संहिता' के कश्मीर पाठ को महत्त्व देने का अभिप्राय यही प्रतीत होता है कि सम्भवतः इस पाठ को महर्षि चरक ने कश्मीर में रहकर स्वयं ही लिखा होगा।

आचार्य नागेश भट्ट ने अपने व्याकरण ग्रन्थ 'मञ्जूषा' में तथा आचार्य चक्रपाणि दत्त ने 'चरक संहिता' की व्याख्या के आरम्भ में लिखा है कि महर्षि चरक और पतञ्जलि एक ही व्यक्ति के दो नाम थे। इसलिए चरक अथवा पतञ्जलि नाम से लिखे हुए जो ग्रंथ उपलब्ध होते हैं उनका कर्त्ता एक ही व्यक्ति है।[3] इन्हीं आचार्यों का अनुसरण करते हुए, अथवा अन्य किन्हीं प्रमाणों के आधार पर, आचार्य विज्ञानभिक्षु ने 'योगवार्तिक' में, आचार्य भोज ने 'पातञ्जल सूत्र वृत्ति' में, आचार्य भाव मिश्र ने 'भाव प्रकाश' में, तथा विद्वद्वर रामभद्र दीक्षित ने 'पातञ्जल चरित' में इसी विचार की पुष्टि की है।[4] चक्रपाणि से लेकर (दसवीं ई० शती) भाव मिश्र और रामभद्र दीक्षित के समय तक के विद्वानों को इस विश्वास में कोई विप्रतिपत्ति नहीं प्रतीत हुई। आयुर्वेद साहित्य में इस प्रचलित विश्वास के विरुद्ध हमें कोई उल्लेख दिखाई नहीं देता। परन्तु आज के समालोचकों को इस विश्वास में अनेक आपत्तियां प्रतीत होने लगी हैं। कठिनता यह है कि हमारे पास

---

1. माधव निदान, ज्वर प्रकरण, मधुकोश व्याख्या (18-23)
2. चरक संहिता (चि० स्था०), अ० 3/89-99
3. 'आप्तोदेशरूप शब्दः प्रमाणम्। आप्तोनामानुभवेन वस्तुतत्वस्य कार्त्स्न्येन निश्चयवान् रागादिवशादपिनान्यथावादीयः सइति चरके पतञ्जलिः"—नागेश मञ्जूषा।

   पातञ्जल महाभाष्य चरक प्रतिसंस्कृतैः।
   मनोवाक्काय दोषाणां हर्त्रेऽहिपतये नमः ॥ चक्रपाणिः—चरक व्याख्यारम्भे।

4. योगेन चित्तस्य पदेन वाचां मलंशरीरस्य च वैद्यकेन।
   योऽपाकरोतं प्रवरं मुनीनां पतञ्जलि प्राञ्जलि रानतोस्मि ॥—विज्ञानभिक्षु
   'शब्दानामनुशासनं विदधता पातञ्जले कुर्वता,
   वृत्ति राजमृगांक संज्ञकमिति व्यातन्वता वैद्यके।
   वाक्येतो वपुषां मलः फणिभृतां भर्त्रेव येनोधृतः,
   तस्यश्री रणरङ्ग मल्लनृपतेर्वाचो जयन्त्युज्वलाः ॥'—भोज
   'सभाति चरकाचार्यो वेदाचार्यो यथादिवि।
   सहस्रवदनस्यांशो येन ध्वंसो रुजां कृतः ॥'—भावमिश्र
   'सूत्राणि योगशास्त्रे वैद्यकशास्त्रेय संहितामतुलाम्।
   कृत्वा पतञ्जलिमुनिःप्रचारयामास जगदिदं त्रातुम् ॥—रामभद्र दीक्षित

क्रमवद्ध ऐतिहासिक साधनों का इतना अभाव है कि प्राचीन इतिहास के बारे में दृढ़ता-पूर्वक बहुत-सी बातें कह भी नहीं सकते। अस्त-व्यस्त साधनों द्वारा हम जो कुछ आज अनुमान कर रहे हैं, वह अन्तिम सत्य है भी या नहीं, ऐसा सन्देह बना ही रहता है।

आजकल जो ग्रन्थ उपर्युक्त विवाद के विषय बने हुए हैं वे निम्नलिखित हैं—

1. चरक संहिता : चरक
2. योगदर्शन : पतञ्जलि
3. महाभाष्य : पतञ्जलि
4. पातञ्जल रसतन्त्र : पतञ्जलि

इनमें प्रथम तीन ग्रंथ तो प्रचलित ही हैं। चौथे 'पातञ्जल रसतन्त्र' को पंडित शिवदास ने चक्रदत्त की व्याख्या में 'तदुक्तं पातञ्जले' लिखकर उद्धृत किया है। वह उद्धरण 'चरक संहिता' में नहीं मिलता। इस कारण यह मानना पड़ता है कि यह उद्धरण किसी स्वतन्त्र पातञ्जल रसतन्त्र का है जो आज हमें प्राप्त नहीं है।[1] अब प्रश्न यह है कि उक्त चारों ग्रंथ एक ही व्यक्ति के लिखे हुए हैं अथवा भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के? यदि वे एक ही व्यक्ति के लिखे हुए सिद्ध हों, तब तो चरक और पतञ्जलि का एक व्यक्तित्व सिद्ध ही है। परन्तु इन ग्रंथों के लेखक यदि भिन्न-भिन्न व्यक्ति हैं तो चरक और पतञ्जलि का अभेद कैसा? अनेक विद्वानों ने दोनों ही पक्षों में अपनी युक्तियां प्रस्तुत की हैं।

पहले पक्ष का कथन है कि आयुर्वेद, व्याकरण और योगशास्त्र के लेखक चरक और पतञ्जलि एक ही व्यक्ति थे। अपने पक्ष की पुष्टि में वे निम्न युक्तियां प्रस्तुत करते हैं—

1. रामभद्र दीक्षित का 'पातञ्जल-चरित' जो ईसा की अठारहवीं सदी का लिखा हुआ प्रतीत होता है, उन्हें अभिन्न कहता है।

2. धार के सम्राट् भोज ने योगदर्शन पर वृत्ति लिखी है, जो ईसा की ग्यारहवीं शती में निर्मित हुई। उक्त वृत्ति में भोज ने दोनों को अभिन्न लिखा है।

3. 'चरक संहिता' के प्रसिद्ध भाष्यकार चक्रपाणि दत्त ने (ईसा की 10-11वीं शताब्दी) भी यही लिखा है।

4. योगशास्त्र पढ़ने वाले गुरु-शिष्य सम्प्रदाय में यह परम्परा चली आती है कि योगशास्त्र के अध्ययन प्रारम्भ करते समय निम्न मंगलाचरण अवश्य करते हैं—

योगेन चित्तस्य, पदेन वाचां, मलं शरीरस्य च वैद्यकेन।
योऽपा करोत्तं प्रवरं मुनीनां पतञ्जलि प्राञ्जलि रानतोस्मि॥

5. कात्यायन के वेदानुक्रमणी भाष्य में षड् गुरुशिष्य ने भी यही अभेद स्वीकार किया है।

6. महाभाष्य में कितने ही वाक्य वैद्यकशास्त्र सम्बन्धी आए हैं। उनसे यह

---

1. चक्रदत्त रसायनाधिकार, श्लो० 34-37, 40 शिवदास व्याख्या
'यावल्लौह रजस्तस्मात् भवेदर्धेन पारदः; तदर्धेनघनं प्रोक्तं मतमेतत्पतञ्जलेः ॥—रसा० 40

ज्ञान होता है कि वैद्यक ग्रन्थ और महाभाष्य के लेखक एक ही हैं।

7. महाभाष्य और योगदर्शन दोनों में शब्द-स्फोटवाद का एक-सा प्रतिपादन है।

8. महाभाष्य और योगसूत्र दोनों में सांख्यशास्त्रीय विचार पाये जाते हैं।

9. महाभाष्य का प्रथम वाक्य है 'अथ शब्दानुशासनम्' और योगशास्त्र का प्रथम वाक्य 'अथ योगानुशासनम्' है। दोनों ग्रन्थों की प्रारम्भिक एकवाक्यता दोनों के रचयिता को अभिन्न सिद्ध करती है।

10. नागेश भट्ट ने अपने ग्रन्थ 'नागेश-मञ्जूषा' में चरक और पतञ्जलि को अभिन्न स्वीकार किया है।

11. प्राचीन विद्वानों की श्रुति-परम्परा दोनों को अभिन्न सिद्ध करती है।

परन्तु चरक और पतञ्जलि को भिन्न-भिन्न व्यक्ति स्वीकार करने वाले दूसरे पक्ष की सम्मति इससे सर्वथा भिन्न है। उनकी भेदसाधक युक्तियां भी सुन लीजिये—

1. पातञ्जल योगदर्शन पर व्यास का भाष्य है। वेदव्यास आचार्य पाणिनि से भी बहुत पहले हुए हैं।[1] महाभाष्य पाणिनि के 200 वर्ष पीछे लिखा गया है। इसलिए योगदर्शन और महाभाष्य के लेखक एक नहीं हो सकते। दूसरे, महाभाष्य में पतञ्जलि ने अपने नाम के अन्य पर्यायवाची लिखते हुए अपना नाम चरक नहीं लिखा।

2. महाभाष्य कात्यायन वार्त्तिकों के पीछे बना है। इन वार्त्तिकों में योगशास्त्र के अनेक शब्दों तथा पतञ्जलि का भी उल्लेख है। इससे ज्ञात होता है कि योगदर्शन के रचयिता पतञ्जलि कात्यायन से पहले हुए और महाभाष्यकार पतञ्जलि पीछे।

3. वृहदारण्यक उपनिषद में 'काप्य पातञ्जल' का नाम मिलता है।[2] वे ही प्राचीन योगाचार्य थे। वैयाकरण महाभाष्यकार पतञ्जलि उनके पश्चात् हुए।

4. श्वेताश्वतर, गर्भ, निरालम्ब, योगशिखा, योगतत्त्वादि उपनिशदों में योग की पर्याप्त चर्चा है, और ये सब ग्रन्थ अत्यन्त प्राचीन हैं। परन्तु महाभाष्यकार पतञ्जलि का समय ईसा से 200 वर्ष पूर्व से 100 वर्ष पीछे तक बताया जाता है। उक्त उपनिषदें ईसा से 200 वर्ष से बहुत पूर्व की हैं। अतएव यह सिद्ध है कि योगदर्शन के लेखक पतञ्जलि महाभाष्यकार पतञ्जलि से भिन्न और प्राचीन हैं।

5. महाभाष्य में मौर्यो का उल्लेख है। और मौर्य चन्द्रगुप्त के समय के हैं। इससे यह ज्ञात होता है कि महाभाष्यकार चन्द्रगुप्त मौर्य के अनन्तर हुए।

6. महाभाष्य में साकेत (अयोध्या) तथा माध्यमिकों पर यवनों (यूनानी) के आक्रमण का उल्लेख है।[3] यवन शब्द यूनानियों के लिए और माध्यमिक बौद्धों के लिए प्रयोग होता है। इतिहास से ज्ञात है कि ईसा से 104 वर्ष पूर्व मीनेण्डर नाम के एक यूनानी राजा ने कोसल (जिसकी राजधानी साकेत—अयोध्या थी) पर आक्रमण किया

---

1. 'पाराशर्यात्पाराशर्यः' वृहदा० 2/6-2
2. मद्रेषुचरकाः पर्यव्रजाम ते पातञ्जलस्य काप्यस्य गृहानैम: ।'—वृहदारण्यकोपनिषद्, 2/3/1
3. अनद्यतने लङ्— अरुणद्यवनः साकेतम्, अरुणद्यवनो माध्यमिकान्' ।—महाभाष्य 3-2-111

था। माध्यमिक लोग नागार्जुन के अनुयायी थे, जो ईसा से 77–43 वर्ष हुए थे। इन दोनों घटनाओं से अनुमान होता है कि महाभाष्य इसी समय का लिखा हुआ है।

7. महाभाष्य में चन्द्रगुप्त सभा, (ईसा से 327 वर्ष पूर्व) पुष्यमित्र सभा और पुष्यमित्र के यज्ञ का उल्लेख है। पुष्यमित्र शुंगवंशीय राजा था, उसका समय ईसा से 178 वर्ष पूर्व का है। महाभाष्यकार ने पुष्यमित्र के यज्ञ का उल्लेख वर्तमानकालीन क्रिया द्वारा किया है।[1] इससे ज्ञात होता है कि महाभाष्यकार इसी समय में हुए।

8. 'राजतरंगिणी' में लिखा है कि अभिमन्यु नामक कश्मीर के राजा के समय (अर्थात् ई० सन् ४० में) छन्दाचार्य ने महाभाष्य को कश्मीर देश में प्रचलित किया। और यह इस समय से 300 वर्ष पूर्व का है[2]।

9. हुएनसांग ने जो ईसा की सातवीं शताब्दी में भारत आया था, लिखा है कि कात्यायन ईसा से 240 वर्ष पूर्व हुए थे। और पतञ्जलि ने उनका उल्लेख अपने महाभाष्य में किया है, इसलिए पतञ्जलि ईसा से प्रायः 200 वर्ष पूर्व हुए।

10. योगसूत्र के चौथे पाद में योगाचार मत का खण्डन है।[3] इसलिए योगसूत्र बौद्ध धर्म के प्रवृत्त होने के उपरान्त लिखे गये। किन्तु महाभाष्य से पूर्व।

11. ब्रह्मसूत्रों में बादरायण (व्यास) ने योग का खण्डन किया है। इससे यह सिद्ध है कि पतञ्जलि बादरायण से पहले हुए थे। परन्तु पाणिनि ने ब्रह्मसूत्र तथा उसके रचयिता पाराशर्य (व्यास) का उल्लेख किया है।[4] इसलिए पाणिनि बादरायण के पश्चात् हुए, और महाभाष्यकार पतञ्जलि और भी पीछे। इस प्रकार महाभाष्यकार पतञ्जलि और योगदर्शनकार पतञ्जलि के व्यक्तित्व में बहुत अन्तर है।

परन्तु ये खडनात्मक युक्तियां प्रथम पक्ष को स्वीकार नहीं हैं। वे इनके प्रतिकार में जो युक्तियां प्रस्तुत करते हैं वे भी सुनिये—

---

1. वर्तमाने लट्—पुष्यमित्रं याजयामः।—महाभाष्य 3/2/123 तथा 1/1/68

महाराज अशोक के समय से फैले हुए प्रबल बौद्ध नास्तिकवाद को हटाकर आस्तिकवादी वैदिक धर्म का फिर से उद्धार करने में महाराज पुष्यमित्र ने बड़ी सहायता दी थी—प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान् श्री राहुल सांकृत्यायन ने लिखा है—"ईसा के पूर्व दूसरी शताब्दी में मौर्यों के सेनापति पुष्यमित्र ने अन्तिम मौर्य सम्राट् (बृहद्रथ) को मारकर अपने शुंगवंश का राज्य स्थापित किया। यह नया राजवंश राजनैतिक उपयोगिता के विचार से ब्राह्मण धर्म का पक्का अनुयायी और अब्राह्मण धर्म का द्वेषी हुआ। शताब्दियों से परित्यक्त पशुबलिमय अश्वमेध आदि यज्ञ महाभाष्यकार पतञ्जलि के पौरोहित्य में फिर से होने लगे। ब्राह्मणों के माहात्म्य से भरे मनुस्मृति जैसे ग्रन्थों की रचना का सूत्रपात हुआ। इसी समय माहाभारत का प्रथम संस्करण हुआ और मृत संस्कृत भाषा के पुनरुद्धार की चेष्टा की गयी।— बुद्धचर्या भूमिका, पृ० ३

2. राजतरङ्गिणी, प्रथम तरङ्ग।
3. योग दर्शन, कैवल्यपाद, सूत्र 15-16
4. पाराशर्य शिलालिभ्यां भिक्षुनट सूत्रयोः —अष्टा० 4-3-110

पाराशर्य सगोत्रस्य वृद्धस्य सुमहात्मनः।
भिक्षोः पञ्चशिखस्याहं शिष्यः परम सम्मतः।।—महाभारत, शान्ति० (पूना) 308/24
आचार्य पञ्चशिख ने सांख्य पर सूत्र लिखे थे।

1. व्यास कई हुए हैं। यह निश्चय नहीं कि पहले योगभाष्यकार व्यास हुए या पाणिनि। पाणिनीय व्याकरण ग्रन्थों में पतञ्जलि का कोई उल्लेख नहीं है।

2. वार्त्तिकों में वर्णित पतञ्जलि कोई दूसरे पतञ्जलि होंगे।

3. वृहदारण्यक के पतञ्जलि भी योगाचार्य पतञ्जलि से भिन्न कोई दूसरे ही पतञ्जलि हैं; क्योंकि वृहदारण्यक के काप्य पातञ्जल को योगाचार्य कहीं नहीं लिखा गया, प्रत्युत उपनिषदों में याज्ञवल्क्य को ही योगाचार्य स्वीकार किया गया है।

4. श्वेताश्वतर आदि उपनिषदों का योग पातञ्जल-योग नहीं है। वह याज्ञवल्क्य तथा हिरण्यगर्भ-प्रतिपादित योग है, क्योंकि इन उपनिषदों में पतञ्जलि का नाम कहीं नहीं आया।

5. यह चन्द्रगुप्तीय मौर्य जाति नहीं है किन्तु एक भिन्न वर्ग के लोग थे, जो हिमालय की अधित्यकाओं में निवास करते थे।[1] चन्द्रगुप्त के वंशज बौद्ध थे, जबकि महाभाष्य में वर्णित मौर्य किसी अन्य मत के।

6. यवन शब्द यूनानियों के लिए ही सीमित नहीं है। यह शब्द संस्कृत साहित्य में प्रायः पश्चिम से आने वाले सभी विदेशी लोगों के लिए आया है। इसी प्रकार महाभाष्य में वर्णित 'माध्यमिक' शब्द बौद्ध धर्मानुयायी माध्यमिकों के लिए नहीं लिखा गया किन्तु मध्यदेश में रहने वालों के लिए प्रयुक्त हुआ है। इन्हीं पर यवनों के आक्रमण का कुछ अर्थ हो सकता है, न कि निर्धन भिक्षुओं पर आक्रमण करना यवनों के लिए कोई महत्त्वपूर्ण कार्य था।

7. चन्द्रगुप्त और पुष्यमित्र नाम के कई राजा हुए हैं। पुष्यमित्र बलख देश का राजा भी था। किन्तु वह भूमि यज्ञ के लिए निषिद्ध है। वहां यज्ञ कैसे हो सकता था? रही चन्द्रगुप्त सभा की बात। उसका महाभाष्य की सब पुस्तकों में वर्णन ही नहीं है, किसी-किसी पुस्तक में ही है। इस कारण 'पुष्यमित्रं याजयामः' का अर्थ संदिग्ध ही है। फिर भी यह स्मरण रखना चाहिए कि महाभाष्य में इन नामों का प्रयोग किसी ऐतिहासिक दृष्टिकोण से नहीं किया गया। और उसका उद्देश्य किसी ऐतिहासिक घटना को सिद्ध करना नहीं है। ये पद केवल उदाहरण रूप से दिये गये हैं। ऐसे नामों के अनेक राजा हुए हैं।

8. 'राजतरंगिणी' की अनेक बातें मिथ्या सिद्ध हुई हैं। फलतः यह ग्रन्थ पूर्ण विश्वसनीय नहीं कहा जा सकता। यदि छन्दाचार्य ने महाभाष्य का प्रचार किया तो इससे पतञ्जलि का समय निश्चित नहीं हो सकता और न इस युक्ति से पतञ्जलि ईस्वी सन् से तीन सौ वर्ष पूर्व के सिद्ध हो सकते हैं।

9. जिस कात्यायन का उल्लेख बौद्ध यात्री हुएनत्सांग ने किया है वह बौद्ध धर्मावलम्बी कोई अन्य ही कात्यायन था, न कि वह कात्यायन जिसके वार्त्तिकों के आधार पर महाभाष्य लिखा गया है। इस नाम के अनेक व्यक्ति हो चुके हैं।

10. योगदर्शन के किसी सूत्र में बौद्ध मत का उल्लेख नहीं है। जिस विषय

---

1. मौर्य साम्राज्य का इतिहास, पृ० 108 (संवत् 1985 वि०)

का खण्डन है वह बौद्ध मत के पहले भी था। सूत्रों में बौद्ध मत के नाम से कोई खण्डन नहीं है। जो कुछ है वह भाष्य और टीकाकारों की कृपा से हुआ प्रतीत होता है।

11. पतञ्जलि योग विचारों के आद्याचार्य नहीं हैं, किन्तु हिरण्यगर्भ हैं। इनके पीछे वार्षगराय हुए और उनके पीछे याज्ञवल्क्यादि। ब्रह्मसूत्रों में पतञ्जलि का नाम नहीं है, प्राचीन योग-मत का खण्डन मात्र है। श्री शंकराचार्य ने भी हिरण्यगर्भ प्रणीत योग-ग्रन्थ के एक सूत्र का उल्लेख किया है। पातञ्जल महाभाष्य में योगसूत्रों का उल्लेख कहीं नहीं है। यदि योग सूत्रकार पतञ्जलि महाभाष्यकार पतञ्जलि से भिन्न और पूर्व के होते तो महाभाष्य में उनका उल्लेख होना चाहिए था। परन्तु हम वैसा नहीं देखते। फलतः योगसूत्र और महाभाष्यकार पतञ्जलि एक ही थे।

इन सब युक्तियों को देखते हुए अधिकांश विद्वानों का विचार यही है कि योग दर्शन और महाभाष्य के रचयिता एक ही पतञ्जलि थे। इन्होंने ही वैद्यक विषय पर 'चरक संहिता' का निर्माण किया। मन, वाणी और शरीर को सन्ताप देने वाले दोषों को दूर करना ही इनका परम उद्देश्य था। योगदर्शन मन की शुद्धि के लिए, महाभाष्य वाणी की और चरक संहिता शरीर की शुद्धि के लिए निर्माण कर वह महापुरुष इस नश्वर संसार में भी अपने को अमर कर गया। चरक के सम्बन्ध में यह विचार केवल भारतीय विद्वानों का ही नहीं, अपितु अनेक पाश्चात्य विद्वानों का भी है।

संस्कृत साहित्य में चरक शब्द अनेक अर्थों में प्रयुक्त होता है। कभी-कभी उपर्युक्त वादविवाद में चरक शब्द के वास्तविक अर्थ का अज्ञान भी कारण हो जाता है। उदाहरण के लिए पाणिनि ने चरक का उल्लेख किया है (4-3-109) और पतञ्जलि का नहीं, अतएव दोनों को भिन्न सिद्ध करना चाहते हैं। किन्तु दूसरे लोग 'इति चरके पतञ्जलिः' इस नागेश भट्ट के लेख द्वारा उन्हें अभिन्न मानने के पक्षपाती हैं। आवश्यक यह है कि हम चरक शब्द के उक्त 'भेदाभेद-वाद' को समझने के लिए चरक शब्द के व्यवहार-भेद को समझ लें। साधारणतया संस्कृत साहित्य में चरक शब्द निम्न अर्थों में व्यवहृत होता है—

1. यजुर्वेद के एक आचार्य चरक नाम से प्रसिद्ध हैं। यजुर्वेद के प्रधान उपदेष्टा आचार्य वैशम्पायन का ही दूसरा नाम चरक था।[1] इसलिए उनकी शाखा के सभी-आचार्य चरक नाम से प्रसिद्ध हुए। आज भी चरक शाखा की लिखी हुई 'यजुर्वेद संहिता' प्राप्त होती है। पाणिनि के लेखों में व्यवहृत चरक शब्द इसी वैदिक शाखा का द्योतक है।

2. दूत का कार्य करने वाले सन्देशवाहक अथवा इधर-उधर घूमते हुए भिक्षावृत्ति करने वाले लोग भी चरक शब्द से बोधित होते हैं। क्योंकि प्रधानतया चरक शब्द का यही वाच्यार्थ है। नैषध में महाकवि श्रीहर्ष ने चरक शब्द दूत के अर्थ में प्रयोग किया

1. चरक इति वैशम्पायन स्याख्या। तत्सम्बन्धेन सर्वे तदन्ते वासिनश्चरका इत्युच्यन्ते।'
—काशिका वृत्ति, 4-3-104

यजुर्वेदस्य षडशीतिर्भेदा भवन्ति। तत्र चरका नाम द्वादश भेदाः। चरका आह्वरका, कठाः प्राच्य कठाः।—चरणव्यूहे कात्यायनः वेदों की कुल 1127 शाखाएं थीं, चरक भी उन्हीं में से एक है।

है ।[1] शुल्क यजुर्वेद संहिता के 30 वें अध्याय के पुरुष मेघ प्रकरणान्तर्गत 18 वें मन्त्र में 'दुष्कृताय चरकाचार्यम्' इत्यादि प्रतीक की व्याख्या करते हुए सायणाचार्य तथा अन्य विद्वानों ने चरक का अर्थ 'मांगने-खाने वाले भिक्षुक' जैसे भाव में ही लिखा है।

3. 'चरक संहिता' के संकलन एवं प्रतिसंस्कर्ता आचार्य को तो हम चरक शब्द से जानते ही हैं। आयुर्वेदिक ग्रंथों में चरक शब्द से प्रायः इन्हीं आयुर्वेद के आचार्य का ग्रहण होता है।

ऐसी दशा में आयुर्वेद या आयुर्वेद के आचार्यों के वर्णन प्रसंग में चरक शब्द 'चरक संहिता' के रचयिता का बोधक हो सकता है। अन्यत्र लिखे हुए चरक शब्द से चरक संहिताकार का अनुमान लगाना युक्तिसंगत नहीं। उस सन्दर्भ के उपक्रमोपसंहार का ध्यान रखकर चरक शब्द का अर्थ समझने की आवश्यकता है। पाणिनीय व्याकरण में जहां वेद की कठ शाखा का उल्लेख है, वहीं चरक शब्द का भी। तब यह चरक शब्द वैदिक शाखा का ही बोधक हो सकता है, न कि 'चरक संहिता' के लेखक का। चरक के सम्बन्ध में इसी प्रकार के अनेक वादविवादों ने 'चरक संहिता' और उसके रचयिता का स्वरूप समाज की दृष्टि में बहुत संभ्रम-युक्त कर दिया है।

चरक शब्द का प्रयोग यौगिक अर्थ में तो बहुत ही कम आया है। वह प्रायः रूढ़ या योग-रूढ़ अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है। चरक शब्द का प्रवृत्ति निमित्त प्रारम्भ में चाहे 'विचरण करने वाला' धात्वर्थ भले ही रहा हो, क्योंकि वे महर्षि विचरण करते हुए ही अपने मिशन का प्रचार करते रहे, परन्तु अब तो वह यौगिक संज्ञा इतनी रूढ़ हो गई है कि 'चरक' कहते ही हमें और कुछ नहीं, केवल उन महर्षि का स्मरण होता है। तब चरक का व्युत्पत्ति-निमित्त चाहे जो हो, उन महर्षियों की अपूर्वविद्वत्तापूर्ण रचनायें और उनके प्रति हमारी अगाध श्रद्धा ही उसका प्रवृत्ति-निमित्त है। भाषाविज्ञान का यह साधारण नियम है कि शब्द का 'व्युत्पत्ति निमित्त' बहुधा इतना बलवान नहीं होता जितना कि 'प्रवृत्ति-निमित्त'। 'कैलाश-पति' आज भी कितने ही व्यक्तियों का नाम है, यद्यपि वे कैलाश के अधिपति नहीं हैं। तो भी इस नाम की सार्थकता तो है ही। इसी प्रकार हमारी दृष्टि में चरक शब्द से किसी विद्वान् ऋषि का बोध होता है; फिर चाहे वह वैदिक शाखा के प्रवर्तक हों, या 'चरक संहिता' के रचयिता। संज्ञा यौगिक भले ही हो, किन्तु उसका व्यवहार योगरूढ़ या रूढ़ ही होता है। इसलिए उपर्युक्त अर्थों में दूसरे नम्बर पर लिखे गये अर्थ (घूमने-फिरने वाला) का कोई प्रयोजन हमारे लिए शेष नहीं रहता। केवल पहला और तीसरा अर्थ ही हमारा विचारणीय है। यदि वैदिक शाखा के प्रवर्तक चरक के देश, काल और व्यक्तित्व को हम अलग से पहचान लें, तब 'चरक संहिता' के रचयिता चरक का परिचय प्राप्त करने में हमारे सामने कोई विशेष कठिनाई नहीं रह जाती।

वैदिक शाखाओं में 'चरक' शब्द प्रायः विशेषणवाची है। हमने पीछे लिखा है

---

1. 'देवाकर्णय सुश्रुतेन चरकस्योक्तेन जानेऽखिलं,
स्यादस्या नलदं विना न दलने तापस्य कोऽपिक्षमः।।—नैषध, 4/116

कि भ्रमण करते हुए विद्याध्ययन करने वालों के लिए 'चरक' शब्द वैदिक शाखाओं में प्रयुक्त है। आचार्य पाणिनि ने ऐसे ही अर्थ में चरक शब्द लिखा है।[1] माणव (छोटे और आश्रमवासी छात्र) के हितकारी को 'माणवीन' और 'चरक छात्र' (भ्रमण करते हुए अध्ययन करने वाले) छात्र के लिए हितकारी को 'चारकीण' लिखा है। और यह विशेषण-परक ही है, व्यक्तिगत संज्ञा नहीं।

बृहदारण्यक उपनिषद में याज्ञवल्क्य की वाजसनेय शाखा के वैदिक ऋषियों के वंश का उल्लेख है। उसमें चरक नाम का कोई ऋषि नहीं लिखा। यद्यपि उसमें अत्रि, आत्रेय और अग्निवेश का उल्लेख है।

वैदिक शाखा में वैशम्पायन के लिए 'चरक' शब्द विशेषण रूप से प्रयुक्त है और वैशम्पायन के नौ शिष्यों—आलम्बि, पलंग, कमल, ऋचाभ, आरुणि, तण्डि, श्यामायन, कठ तथा कालपी के लिए भी चरक विशेषण दिया गया है। प्राच्य, उदीच्य और मध्य-देश में वैशम्पायन चरक और उनके शिष्यों की वैदिक शाखा-प्रशाखायें फैली हुई थीं। ये सब विद्वान् चरक ही कहे जाते थे। चूंकि ये लोग यजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा (कृष्ण यजुर्वेद) के अनुयायी थे इसलिए कर्मकाण्ड में इन्हीं को चरकाध्वर्यु भी कहा गया है। काशिका में लिखा है कि वैशम्पायन का ही दूसरा नाम चरक है। उनके शिष्य भी चरक ही कहे जाते हैं।[2]

आलम्बि, पलंग और कमल—ये तीन प्राच्यदेश के आचार्य थे, और उन्हीं के नाम से आलम्बिन्, पालंगिन् तथा कामलिन् नाम के तीन चरण चरक शाखा के प्राच्यदेश में प्रसिद्ध थे। ऋचाभ, आरुणि और ताण्डय आचार्यों द्वारा स्थापित अर्चाभिन्, आरुणिन् तथा ताण्डिन् नामक चरण मध्यदेश में थे। श्यामायन, कठ और कलापि आचार्यों के नाम से उदीच्य देश (उत्तर की ओर) में श्यामायिन्, काठक और कालापक नाम से तीन चरण प्रसिद्ध थे। ये यजुर्वेद के धुरन्धर विद्वान् तथा तत्सम्बन्धी कर्मकाण्ड के आचार्य थे।

हमने पीछे लिखा है कि चरक कश्मीर के निवासी थे। अतएव यह बहुत संभव है कि वे उदीच्य देशवासी श्यामायिन्, काठक और कालापकों में से किसी शाखा के विद्वान् व्यक्ति रहे हों। औदीच्य चरण के यह वेद-वक्ता धीरे-धीरे गोत्र संस्थापक भी माने जाने लगे थे। उस चरण के अनुयायी उसी गोत्र के कहे जाने लगे थे। उल्लेखनीय यह भी है कि यह चरण केवल अध्यापक ही नहीं थे, वे देश की राजनीति में भी पूरा भाग लेते थे। इतिहास-लेखक मेगास्थनीज ने लिखा है कि भारत पर जब सिकन्दर ने आक्रमण किया, कठों ने उसका मार्ग में मुकाबला किया था। कठों की एक प्रशाखा में कपिष्ठल भी प्रसिद्ध थे। वे विद्वान् ही नहीं, वीर भी थे। पीछे हमने महाभाष्य का उद्धरण दिया है—'अरुणद् यवनः साकेतम्, अरुणद्यवनः माध्यमिकान्।' यह माध्यमिक चरण के

---

1. माणव चरकाभ्यांखञ्—अष्टाध्यायी 5/1/11
   कलापि वैशम्पायनान्तेवासिभ्यः।—अष्टाध्यायी 4/3/104
   सूत्र पर काशिका व्याख्या देखिये।
2. चरक इतिवैशम्पायन स्माख्या, तत्सम्बन्धेन सर्वे तदन्तेवासिनश्चरका इत्युच्यन्ते।
   —काशि० वृत्ति 4/3/104

चरक सम्प्रदायवर्ती लोग ही थे जिन पर किसी यूनानी आक्रान्ता ने हमला किया था। ये माध्यमिक ऋचाभ, आरुणि और ताण्डय आचार्यों के अनुयायी लोग थे।[1]

वैदिक साहित्य में कठोपनिषद् कठ शाखा के विद्वानों की लिखी हुई है, उसी प्रकार बहुत संभव है कि तत्कालीन अग्निवेश-संहिता की अस्त-व्यस्त अवस्था देखकर चरक शाखा के कश्मीर-निवासी एक विद्वान् ने उसका सुचारू रूप से प्रतिसंस्कार किया होगा। प्राचीन ग्रन्थों में बहुधा महापुरुषों के विशेषण लिखे होते हैं, उनका व्यक्तिगत नाम नहीं। यह लेखकों का उनके प्रति सम्मान है। जैसे सम्पूर्ण रामायण में अत्रि की पत्नी का नाम अनसूया (उज्ज्वल चरित्र वाली) लिखा है, किन्तु उनका व्यक्तिगत नाम वह नहीं था। व्यक्तिगत नाम तो उनके बेटे आत्रेय पुनर्वसु ने 'चन्द्रभागा' लिखा है। वह भी सम्मान के लिए, ताकि विश्व यह जाने कि मैं चन्द्रभागा जैसी साध्वी माता का पुत्र हूं। इसी प्रकार कौशल्या, कैकेयी आदि नाम भी हैं। स्त्रियों के नाम ही इस शैली में लिखे जाते हों, यह बात नहीं। उपनिषद् में राजा अश्वपति का नाम भी अश्वपति न था। अश्वपति विशेषण है और नाम युधाजित् था।

चरक के पिता का नाम भी आदर के कारण ग्रन्थकारों ने नहीं लिखा। हमने पीछे लिखा है कि भावमिश्र ने उनके पिता का नाम 'वेद-वेदांग-वेदी' मुनि लिखा है। चरक शाखा का विद्वान् 'वेद-विदांग-वेदी' तो होना ही चाहिए था। कठोपनिषद् के लेखक ने अपने चरण के सम्मान में ग्रन्थ का नाम कठोपनिषद् ही रहने दिया। ठीक उसी प्रकार, हो सकता है कि अग्निवेश संहिता के प्रतिसंस्कर्त्ता ने भी अपने चरण और गुरु के सम्मान में 'चरक प्रतिसंस्कृते' लिखकर ही गुरु और शाखा के प्रति अपने हृदय की प्रतिष्ठा प्रस्तुत की हो। जो भी हो, वह विशेषण अब विशेष्य बन गया है। विशेषण द्वारा विशेष्य का गुणात्मक एवं अभौतिक प्रस्तुतीकरण तो होता ही है। विद्या और समाज के सम्मान में आत्मबलिदान का यह स्वरूप भारतीय समाजवाद की आदर्श परम्परा रही है।

एक बात और, प्राचीन भारतीयों की ग्रन्थ-लेखन शैली यह थी—गुरु बोलते थे और शिष्य लिखते थे। वे अनुशासन लेख (Dictation) होते थे। इस दशा में शिष्य गुरु के लिए सम्मानपूर्ण विशेषण ही लिख सकता था, शिष्टता के नाते उनका नाम लिखना अनुचित ही था। चरण और शाखाओं के अन्तर्गत लिखे गये ग्रन्थों में अनेक व्यक्तियों का सहयोग रहता है, वहां एक व्यक्ति का नाम लिखा भी कैसे जाय? संहिता ग्रन्थों की यही स्थिति है। संहिता ग्रन्थों में जहां व्यक्ति का नाम जुड़ा भी है वहां वह उसका प्रधान सम्पादक ही है। 'संहिता' शब्द यह बतलाता है कि एक व्यक्ति के कार्य में अन्य विद्वानों का योग भी है। वे सारे एक शाखा, या एक विद्यालय के नाते एक ही उद्देश्य की पूर्ति में तत्पर हैं। चरक-संहिता भी ऐसी ही रचना है। 'इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरक प्रतिसंस्कृते' इस उपसंहार में 'चरक प्रतिसंस्कृते' समस्त पद है। यदि इस समास

1. इस विषय का विस्तृत विवरण श्री वासुदेवशरण अग्रवाल लिखित 'पाणिनिकालीन भारतवर्ष' के अ० 5/3 में देखिये।

का व्यास किया जाय तो 'चरकेण-प्रतिसंस्कृते' और 'चरकै: प्रतिसंस्कृते' दोनों हो सकते हैं। जो हो, इसका सम्पादक कोई रहा होगा, उसका नाम इतिहास की दृष्टि में अब 'चरक' ही हो गया है। उस एक ही विद्वान् की छत्रछाया में अनेक आचार्य और भी सहयोगी रहे होंगे, क्योंकि उन्होंने 'अग्निवेश तन्त्र' को चरक संहिता कर दिया। और यह स्पष्टीकरण तो उन्होंने स्वयं ही उपसंहार वाक्य में किया—'अग्निवेश कृते तन्त्रे चरक प्रतिसंस्कृते'। यह 'अग्निवेश तन्त्र' चरक संहिता क्यों कर दिया, इसका केवल एक ही कारण था, यह कि यदि अब इस संहिता में कोई दोष हो तो उसका उत्तरदायित्व चरक पर समझा जाये, अग्निवेश पर नहीं। किन्तु अग्निवेश के प्रति कृतज्ञता का भाव स्थिर रखने के लिए यह भी स्पष्ट कह दिया कि यह महान् ग्रन्थ अग्निवेश ने ही रचा था।

श्यामायन, कठ और कलापि आचार्यों में से किसको चरक का प्रतिसंस्कर्ता कहा जाय? प्रत्येक चरक नाम से ही प्रसिद्ध थे। इसका उत्तर देना अब बहुत कठिन है। यह आचार्य पाणिनि से पूर्व के थे। उसके उपरान्त चरकों की शाखा-प्रशाखाएं पतंजलि के समय (200 ई० पू०) भी किसी न किसी रूप में चल रही थीं। यद्यपि अब प्राच्य, औदीच्य और मध्य जनपद बहुत महत्त्वपूर्ण नहीं रहे थे। पतञ्जलि के लेखों से यह स्पष्ट है कि यूनानियों के आक्रमणों ने इन वैदिक जनपदों को छिन्न-भिन्न कर दिया था। यूनानियों द्वारा माध्यमिकों के विध्वंस का उल्लेख यही प्रकट करता है। यह माध्यमिक शून्यवादी बौद्ध नहीं थे प्रत्युत मध्य-जनपद के निवासी वैदिक सम्प्रदाय ही थे।

चरक संहिता और उसके रचयिता का समय

चरक शब्द के बारे में ऊपर जो कुछ लिखा गया है, उसका अभिप्राय यह है कि यजुर्वेद की वाजसनेय और तैत्तिरीय शाखाओं के वैशम्पायन को चरक उपाधि प्राप्त हुई थी। और उनके उपरान्त उनके शिष्य-प्रशिष्य भी चरक नाम से विख्यात हुए। वे सारे देश में फैले हुए थे, यह पाणिनि के लेखों से स्पष्ट है। एक ही औदीच्य चरक सम्प्रदाय के अन्तर्गत कलापि और कठ दोनों थे। पाणिनि ने लिखा है कि कलापि के शिष्य हरिद्रु से पढ़ने वाले हारिद्रविण और वैशम्पायन के शिष्य आलम्बी से पढ़ने वाले आलम्बिन् कहे जाते थे। परन्तु चरक शाखा के ही बोधक चरक और कठ शब्दों के साथ 'णिनि' प्रत्यम का प्रयोग नहीं होता। चरक से पढ़ने वाले 'चरका: और कठ से पढ़ने वाले 'कठा:' कहे जाते थे।[1] यह उल्लेख प्रकट करता है कि पाणिनि के युग में चरक सम्प्रदाय और उसकी अवान्तर शाखाएं भारतीय जनपदों में पर्याप्त प्रचलित थीं। कुछ लोग अपने को मूल आचार्य के नाम से विशेपित करते थे। वे 'चरक' ही कहे जाते थे। और कुछ लोग अपने को शाखा गुरुओं के नाम से विशेपित करते थे। वे 'आलम्बिन्' और 'कठ' नाम से प्रसिद्ध थे। परन्तु थे चरक ही। पाणिनि के समय चरक संहिता की रचना हो गयी थी इसका कोई प्रमाण नहीं। पाणिनि का समय इतिहास के उपलब्ध प्रमाणों के अनुसार ईसा से 700 वर्ष पूर्व है। अर्थात् बुद्ध से 200 वर्ष पूर्व। पाणिनि ने चरक संहिता

1. अष्टाध्यायी 4/3/104–107

का कहीं उल्लेख नहीं किया, यद्यपि चरक सम्प्रदाय और उसकी शाखाओं-प्रशाखाओं का प्रचुर उल्लेख है।

यजुर्वेदीय शाखा के अनेक चरण थे। वे गांव-गांव में फैले थे। महाभाष्य में पतञ्जलि आचार्य ने लिखा है—'ग्रामे-ग्रामे काठकं कालापकं च प्रोच्यते।'[1] कृष्ण आयुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा और शुल्क यजुर्वेद की शौनक शाखाओं के अवान्तर चरणों की अलग-अलग संख्या बहुत बड़ी है—प्राच्य, औदीच्य और मध्यदेशीय भेद। किन्हीं में उच्चारण भेद, किन्हीं में स्वर भेद, किन्ही में विनियोग भेद। तात्पर्य यह है कि विस्तृत होते-होते सम्भवत: 1127 चरण बन गये थे। परन्तु इनमें औदीच्य शाखा के कठों का विस्तार बहुत था। उनका कार्य भी सबसे महान्। कठ तैत्तिरीय थे। कठों के दो विभाग हुए—औखीय और खाण्डिकीय। आत्रेय इस औखीय शाखा के अन्तर्गत एक गोत्र के अनुयायी थे। अर्थात् वे अत्रि के वंशज थे। अष्टाध्यायी में उन्हें 'अपत्य' अर्थ में 'आत्रेय' लिखा गया है।[2] प्रतीत होता है कि प्रत्येक शाखा में विद्वान् लोग अपने गोत्र के पूर्वजों द्वारा प्रणीत साहित्य के जीर्णोद्धार में तत्पर रहे। और इस प्रकार पुनर्वसु आत्रेय के द्वारा उपदिष्ट इस शास्त्र का प्रतिसंस्कार आत्रेय गोत्रीय औखीय शाखा के विद्वानों ने किया होगा। चूंकि वे चरक-वैशम्पायन के शिष्य थे इसलिए इस शास्त्र का नाम चरक संहिता रखा गया। चरकों के उदीच्य चरण में कलापि नामक आचार्य अत्यन्त उच्चकोटि के थे। न केवल वे कालापी चरण के संस्थापक-मात्र थे, प्रत्युत उन्होंने चार शिष्य—हरिद्रु, छगली, तुम्बुरू और उलप, ऐसे विद्वान् बनाये जिन्होंने अलग-अलग चरकशाखा के चार चरण स्थापित किए। इनमें 'छगली' आत्रेय गोत्र में उत्पन्न हुए थे। अष्टाध्यायी के 4-1-170 सूत्र में 'छागल आत्रेय:' इस प्रकार स्वयं आचार्य पाणिनि ने लिखा है। तात्पर्य यह कि पाणिनि के समय तक आत्रेय गोत्र की प्रतिष्ठा विद्वानों में पूजित थी। उसके सम्मान में विद्वान् लोग उत्कृष्ट साहित्य निर्माण कर रहे थे।

पाणिनि ने जिस सूक्ष्म दृष्टि से शब्दशास्त्र का विवेचन किया है, उसके आधार पर यह प्रश्न हो सकता है कि उन्होंने चरक संहिता का उल्लेख क्यों नहीं किया? परन्तु आत्रेय संहिता, सुश्रुत संहिता और काश्यप संहिताओं का भी उल्लेख कहां है? इसका तात्पर्य यह नहीं हो सकता कि वे संहिताएं उस काल तक निर्मित हुई थीं। वैद्य के लिए 'अगदंकार' शब्द[3] औषधियों, रोगों के वे नाम जो आयुर्वेद की संहिताओं में आए हैं, पाणिनि ने प्रचुर रूप से लिखे हैं। वात, पित्त आदि त्रिदोष का भी उल्लेख उसमें विद्यमान है।[4] अवयव संस्थान के वे नाम जो आयुर्वेदिक संहिताओं में आए हैं, पाणिनि के शास्त्र में विद्यमान हैं।

भोज्यान्नवर्ग में पाणिनि ने जो नाम लिखे हैं, ठीक वे ही नाम चरक में उपलब्ध होते हैं। शालि, महाव्रीहि, हायन, यवक, षष्ठिका, नीवार, आदिधान्य तथा ओदन,

---

1. महाभाष्य, 4/3/101
2. विकर्णशुङ्गच्छगलाद्वत्स भरद्वाजात्रिषु, 4/1/117
3. अष्टाध्यायी, 6-3-70
4. अष्टाध्यायी, 5-2-129 'वातातीसाराभ्यांकुक्च'।
5. चरक०, निदान० 4/6 तथा अष्टाध्यायी, 3/1/48 तथा 5/2/3

यवागू, यावक, मन्थ, सक्तू आदि कृतान्न वर्ग के नाम पाणिनि के समय के ही चरक में भी लिखे गए हैं।

चरक की भाषा और शैली पाणिनीय व्याकरण का अनुसरण करता है। इसलिए 'चरक संहिता' का निर्माण पाणिनि के उपरान्त ही हुआ है। हम ईसा से कितने पूर्व उसे मान लें, इस निर्णय के लिए निश्चित प्रमाण तो अपेक्षित है ही। परन्तु यह निश्चित है कि 'चरक संहिता' का निर्माण ईसा से पूर्व पांच सौ वर्षों के बीच ही हुआ है।

वैदिक शाखा के प्रवर्तक चरक को संस्कृत साहित्य में वैद्य रूप से कहीं नहीं लिखा गया। हमने पीछे लिखा है कि वैशम्पायन का ही दूसरा नाम चरक भी था, क्योंकि वे चरक कोटि के अध्येता थे, जो घूमते-फिरते वेदाध्ययन किया करते। अनेक लोगों के विश्वास के अनुसार यदि हम यह स्वीकार भी कर लें कि महाभाष्य के लेखक पतञ्जलि और आयुर्वेद प्रतिसंस्कर्ता चरक एक ही व्यक्ति थे, तो भी हमें महाभाष्य के युग (100 ई० पूर्व) से सैकड़ों वर्ष पूर्व पाणिनि के लेखों में एक और चरक का नाम मिलता ही है। और आचार्य पाणिनि ने उन्हें वैद्य नहीं, प्रस्तुत वैदिक शाखा के संस्थापक के रूप में प्रस्तुत किया है। अतएव आयुर्वेद प्रतिसंस्कर्ता चरक पाणिनि के बाद ही आ सकते हैं।

शतपथ ब्राह्मण तथा भागवत-पुराण से यह ज्ञात होता है कि व्यास के शिष्य वैशम्पायन चरक ने सबसे पूर्व यजुर्वेद संहिता का काण्ड, प्रपाठक तथा अनुवाकों में अवान्तर विभाग करके प्रवचन किया था। इसी प्रवचन के कारण यजुर्वेद संहिता का नाम भी चरक संहिता या चरकाध्वर्यु-संहिता प्रसिद्ध हुआ तथा इसके पढ़ने वाले ऋषि एवं शिष्य-प्रशिष्य, चरक अथवा चरकाध्वर्यु नाम से सम्बोधित होने लगे।[1] परन्तु वे वैद्य न थे।

कहते हैं गुरु वैशम्पायन से यजुर्वेद पढ़ते हुए याज्ञवल्क्य से एक दिन गुरु क्रुद्ध हो गये और उनसे अपने पढ़ाये हुए वेद-पाठ को त्याग कर चले जाने को कहा। याज्ञवल्क्य ने वैशम्पायन का पढ़ाया प्रकार त्यागकर यजुर्वेद का दूसरा पाठ तैयार कर डाला, जिसे शुक्ल यजुर्वेद या वाजसनेयी संहिता कहते हैं। याज्ञवल्क्य के प्रतिद्वन्द्वी सहाध्यायी 'तित्तिरि' ने भिन्न पाठ लिखकर तैयार किया। यह तैत्तिरीय या कृष्ण यजुर्वेद संहिता बन गई। यह दोनों आज भी मिलती हैं, परन्तु याज्ञवल्क्य और तित्तिरि का यह विवाद इतना बढ़ा कि यजुर्वेद की अनेक शाखाएं बन गई। और महर्षि चरक की लिखित मूल पाठ वाली 'चरकाध्वर्यु संहिता' सदैव के लिए लुप्त हो गई। परन्तु यह संहिता आयुर्वेद की संहिता न थी और न अग्निवेश कृत तन्त्र।

वस्तुतत्त्व की गहराई में न जाकर अनेक पाश्चात्य लेखकों ने चरक को कल्पित व्यक्ति तक लिख डाला। अलबेरूनी का कहना है कि चरक कोई व्यक्ति हुआ ही नहीं। अग्निवेश का ही दूसरा नाम चरक रख लिया गया है। इसी प्रकार हर्बर्ट गोवन की रिसर्च यह है कि सुश्रुत नाम का भी कोई व्यक्ति न था। यूनान के सुकरात को ही

---

1. 'वैशम्पायन शिष्या वैचरकाध्वर्यवोऽभवन्।'--श्रीमद्भागवत, स्कन्ध 12 अ० 6/61-66

भारतीय सुश्रुत कहने लगे हैं।[1]

कुछ विद्वानों ने चरक के व्यक्तित्व को स्वीकार करते हुए उनके समय-निर्धारण का प्रयास भी किया है--

1. प्रो० मैक्समूलर के विचार से चरक का समय ईसा से दो सौ वर्ष पूर्व का है।
2. बेवर की सम्मति में उनको ईसा से 140 वर्ष पूर्व से लेकर 60 वर्ष बाद तक होना चाहिए। उनका यह भी कहना है कि चरक, पतञ्जलि तथा शतपथ ब्राह्मण के काप्य-पातञ्जल एक ही व्यक्ति थे।
3. वो-एलिक के विचार से चरक ईसा से 250 वर्ष पूर्व हुए थे।
4. गोल्ड स्ट्रकर का विश्वास है कि उनका समय ईसा से 140 वर्ष पूर्व से 120 वर्ष पश्चात् तक है।
5. डा० पीटर्सन के मत से चरक पतञ्जलि ईसा से 200 वर्ष पीछे हुए। क्योंकि महाभाष्य में सम्राट् पुष्यमित्र का वर्णन है। और पुष्यमित्र को राजा स्कन्द-गुप्त ने दूसरी ई० शती में परास्त किया था।
6. प्रो० जे० एच० वुड के विचार से वे ईसा से 300 वर्ष से लेकर 500 वर्ष पीछे के हैं।
7. डा० भण्डारकर ने उन्हें ईसा से 144 या 142 वर्ष पूर्व का सिद्ध किया।
8. प्रो० सुरेन्द्रनाथ गुप्त ने अपने भारतीय दर्शन के इतिहास में उन्हें ईसा से 147 वर्ष पूर्व का स्वीकार किया।
9. श्री एन० भाष्याचार्य ने पातञ्जल काल पर अपने लेख में उन्हें ईसा से एक हजार वर्ष पूर्व का सिद्ध किया।

तात्पर्य यह कि चरक का व्यक्तित्व और परिचय अभी तक स्पष्ट नहीं हो सका। ऊपर जिन नौ विद्वानों का उल्लेख है उनकी सम्मतियां भी आनुमानिक हैं जिनमें से कई तो इतिहास के नवीनतम अनुसन्धानों के आधार पर मिथ्या सिद्ध हो गई हैं। डा० पीटर्सन के विचार से "चरक 200 ई० में हुए; क्योंकि महाभाष्य में पुष्यमित्र का उल्लेख है, और पुष्यमित्र को स्कन्दगुप्त ने 200 ई० में परास्त किया था।" इतिहास के असंदिग्ध प्रमाणों से अब यह सिद्ध है कि स्कन्दगुप्त 200 ई० में नहीं हुआ। स्कन्दगुप्त के स्थापित शिलालेखों से ज्ञात होता है कि स्कन्दगुप्त ई० सन् 455 से 467 तक शासन करता रहा था। भितरी (जि० गाजीपुर) के स्तम्भ-लेख से स्पष्ट है कि उसने पुष्यमित्र नामक किसी राजा को नहीं, किन्तु एक जाति थी जिसका नाम पुष्यमित्र था, उन्हें परास्त किया।[2]

---

1. By many Susrut has been denied actual substance in the flesh, or has been identified with Socrates.
—A History of Indian Literature, H. H. Gowen, pp. 144–45

2. विचलित कुललक्ष्मी स्तम्भनायोद्यतेन,
क्षितितल शयनीये येन याता त्रियामा।
समुदित बल कोशान् पुष्यमित्रांश्चजित्वा,
क्षितिप चरण पीठे स्थापितो वाम पादः॥—भितरी का शिलालेख, गु०शा०का इति०, भाग 1, पृ० 118

'पुष्यमित्रान्' यह बहुवचन आखिर समुदाय का ही बोधक है। प्रोफेसर जे० एच० वुड का विचार भी निराधार है। यदि चरक ईसा से 300 से 500 वर्ष पीछे के हैं तो ईसा की प्रथम शती में चीनी भाषा में लिखित त्रिपिटक में वैद्याचार्य चरक का उल्लेख कैसे हुआ ?[1] और श्री भाष्याचार्य के विचार से चरक यदि ईसा से एक हजार वर्ष पूर्व हुए तो पाणिनि, यास्क और पतञ्जलि ने चरक को क्यों भुलाये रखा ? चरक में पाणिनि व्याकरण का समावेश कैसे हुआ ? इस प्रकार ऊपर जितने मत चरक के सम्बन्ध में लिखे गये हैं, वे एकान्ततः स्वीकार नहीं किये जा सकते ।

खोटङ् (नेपाल) में भूगर्भ से प्राप्त 'नावनीतक' नाम का एक प्राचीन वैद्यक ग्रंथ है। पुरातत्ववेत्ताओं ने इसे 'बावर-मैनुस्क्रिप्ट' (Bower Manuscript) नाम दिया है। यह ग्रन्थ भोजपत्रों पर लिखा हुआ है। वह यूरोप में छपकर प्रकाशित हो चुका है। भारत में भी लाहौर के किसी प्रेस से छपकर प्रकाशित हुआ है। इस ग्रन्थ के सम्बन्ध में विद्वानों की सम्मति है कि जो प्रति मिली है, उसकी अक्षर-लिपि ईसा के पश्चात् तृतीय या चतुर्थ शताब्दी की है। मिली हुई प्रति ग्रन्थकार की मूल प्रति नहीं है, प्रस्तुत वह मूल की नकल है। प्राचीन काल में अध्ययन-अध्यापन की परिपाटी लिपि से प्रतिलिपि बनाकर ही चलती थी। उस युग के साधनों को ध्यान में रखते हुए यह अनुमान है कि उक्त ग्रन्थ की रचना का समय प्राप्त लिपिकाल से दो-तीन सौ वर्ष पूर्व का स्वीकार कर सकते हैं। यह ईरान के डेरियस (522 ई० पू०) तथा मेसिडोनिया (ग्रीस) के सिकन्दर द्वारा (326 ई० पू०) भारत पर आक्रमण के मध्य का समय होगा। यद्यपि यह काल भी कुछ न कुछ आनुमानिक ही है। किन्तु 'नावनीतक' के मंगलाचरण में बुद्ध का नाम लिखा है, इसलिए यह कहने में कोई सन्देह नहीं है कि उसकी रचना बुद्ध के जीवनकाल (600 ई० पू०) के पश्चात् ही हुई है।

इस प्राचीन ग्रंथ में भगवान आत्रेय और उनके शिष्य क्षारपाणि, हारीत, जतूकर्ण, पराशर, भेड़ आदि तथा कश्यप, जीवक तथा सुश्रुत के नामों का उल्लेख तथा उनके लेखों के उद्धरण भी मिलते हैं। परन्तु चरक और नागार्जुन के नाम नहीं मिलते। कुछ पाठ ऐसे हैं जो वर्तमान चरक संहिता के पाठों से मिलते अवश्य हैं परन्तु वे आत्रेय नाम से उद्धृत किये गये हैं, चरक नाम से नहीं। फलतः हम इस परिणाम पर पहुंचते हैं कि 'नावनीतक' ग्रन्थ की रचना के समय तक चरक का आविर्भाव नहीं हुआ था। ग्रंथकार ने उपेक्षा से इन दोनों के नाम न लिखे हों, यह समुचित नहीं प्रतीत होता। प्रथम शती के त्रिपिटक में जो चरक चीन में नहीं भुलाया जा सका वह अपने देश में उपेक्षा पात्र नहीं हो सकता। भारत में भी चौथी या पांचवीं शताब्दी में वाग्भट ने चरक का नाम चोटी के आचार्यों में लिखा है। 'नवनीतक' में बौद्ध आस्था के कारण चरक जैसे वैदिक आचार्य की उपेक्षा की गई हो, यह तर्क भी युक्तियुक्त नहीं। क्योंकि नागार्जुन जैसे बौद्ध विद्वान् का नाम भी उसमें नहीं है। उपर्युक्त घटनाओं के आधार पर यह मानना पड़ेगा कि 'नावनीतक' की रचना ईसा की द्वितीय शताब्दी से पूर्व हो चुकी थी। और नागार्जुन तथा चरक का

1. Chinese Budhist Chronicle.

आविर्भाव उसके पश्चात् हुआ।

दूसरी ऐतिहासिक धारणा यह है कि ईसा से 185 वर्ष पूर्व, जबकि मौर्यों के पराक्रम का सितारा अस्त हो रहा था, मौर्यों के ही सेनापति पुष्यमित्र शुंग ने अंतिम मौर्य-सम्राट् 'वृहद्रथ' को मारकर स्वयं ही मगध के राजसिंहासन पर अधिकार कर लिया। मौर्य लोग बौद्ध धर्म से प्रभावित थे। उन्होंने अपने शासन काल में बड़े-बड़े स्तूप तथा संघाराम (बौद्ध मठ) बनवाये, और तत्कालीन श्रेष्ठियों को भी वैसा करने के लिए प्रोत्साहित किया। परन्तु पुष्यमित्र बौद्धधर्म का द्वेषी और वैदिक अथवा ब्राह्मण धर्म का पक्का अनुयायी था। मिलिन्द (मीनेण्डर) नामक यवन राजा ने उसी समय साकेत (अयोध्या) पर आक्रमण किया। वह कोशल की राजधानी थी। किन्तु पुष्यमित्र के पराक्रम के सामने वह परास्त हो गया। पुष्यमित्र के शासन की धाक चारों ओर बैठ गई।

इसी समय महाभाष्यकार महर्षि पतंजलि ब्राह्मण-धर्म का सन्देश लेकर संसार के सामने आये। बौद्ध धर्म की सुविधाएं विध्वस्त होने लगीं। ब्राह्मण-धर्म की पताका एक बार फिर वैदिकधर्म के विशाल दुर्ग पर फहराती हुई दिखाई दी।[1] क्षणभंगवाद का स्थान प्रकृति और पुरुष के नित्यत्व ने ले लिया, तथा सदियों से पिछड़ी हुई देववाणी संस्कृत होकर पालि और प्राकृत पर फिर से शासन करने लगी। उन्होंने महाभाष्य ही नहीं, योग-दर्शन की रचना भी की।

महर्षि पतंजलि का जन्म गोनर्द नामक स्थान में हुआ था। डा० भण्डारकर की खोज के अनुसार यह वर्तमान गोंडा जिले का एक स्थान है। महर्षि की प्रातःस्मरणीया माता का नाम 'गोणिका' था। गोनर्द स्थान में उत्पन्न होने के कारण इनका नाम *'गोनर्दीय' तथा गोणिका का पुत्र होने के कारण 'गोणिका-पुत्र' प्रसिद्ध हुआ।* महाभाष्य में महर्षि ने अपना परिचय इन दोनों नामों से दिया है। पतंजलि के अन्य नाम शेष, अनन्त, फणी, चूर्णीकृत, वररुचि आदि भी प्रसिद्ध हैं। इनके गोनर्दीय तथा चूर्णीकृत नामों का उल्लेख हेमचन्द्र के 'अभिधान चिन्तामणि कोष' में है, और वररुचि नाम 'शब्द रत्नावली' में आया है। इन्हें लोकोत्तरता प्रदान करने के लिए लोगों की किम्वदन्ती है कि ये शेष-नाग के अवतार थे और सर्पाकार बनकर पाणिनि मुनि की अंजलि में स्वर्ग से गिरे थे।

---

1. (अ) ईसा के पूर्व दूसरी शताब्दी में मौर्यों के सेनापति पुष्यमित्र ने अन्तिम मौर्य सम्राट् (बृहद्रथ) को मारकर अपने शुंग वंश का राज्य स्थापित किया। यह नया राजवंश राजनैतिक उपयोगिता के विचार से ब्राह्मण धर्म का पक्का अनुयायी और अब्राह्मण धर्म-द्वेषी हुआ। शताब्दियों से परित्यक्त पशु-बलि मय अश्वमेध आदि यज्ञ महाभाष्यकार पतञ्जलि के पौरोहित्य में फिर से होने लगे। ब्राह्मणों के माहात्म्य से भरे मनुस्मृति जैसे ग्रन्थों की रचना का सूत्रपात हुआ। इसी समय महाभारत का प्रथम संस्करण हुआ, तथा मृत संस्कृत भाषा के पुनरुद्धार की चेष्टा की गई।
—राहुल सांकृत्यायन, बुद्ध चर्या, पृ० 3

(ब) महर्षि पतंजलि के महाभाष्य में 'पुष्यमित्रं याजयामः' तथा 'अरुणद्यवनः साकेतम्' इस प्रकार के दो वाक्य लिखे हैं। प्रथम वाक्य 'याजयामः' इस क्रिया के वर्तमानकालीन होने के कारण पतंजलि और पुष्यमित्र की समकालीनता का स्पष्ट बोधक है। दूसरे वाक्य में 'अरुणत्' यह भूतकालीन क्रिया बताती है कि महाभाष्य लिखे जाने से पूर्व साकेत पर यवनराज का आक्रमण समाप्त हो चुका था।

वर-रुचि नाम एक विवादास्पद समस्या है। पाणिनि व्याकरण पर वार्तिक लिखने वाले कात्यायन मुनि का नाम भी वररुचि था। दूसरी ओर लोगों का यह भी विश्वास है कि 'प्राकृत प्रकाश' नामक प्राकृत भाषा का प्राचीन व्याकरण-ग्रन्थ लिखने वाले भी एक वररुचि आचार्य ही थे।[1] अनेक सूक्ति-संग्रहात्मक ग्रन्थों में वररुचि नाम से उद्धृत पद्य भी मिलते हैं, इससे ज्ञात होता है कि वररुचि कोई अच्छे कवि थे। प्राचीन शार्ङ्गधर पद्धति तथा सुभाषितावलि आदि ग्रन्थों में इनके पद्य पाये जाते हैं। अधिक सम्भावित तो यह है कि वररुचि और वार्तिककार कात्यायन एक ही व्यक्ति थे। क्योंकि पतंजलि ने महाभाष्य में वररुचि के बनाये हुए 'वाररुचं काव्यम्' वाक्य से किसी काव्य-ग्रन्थ का उल्लेख किया है। सम्भवतः इस काव्य-ग्रन्थ का नाम 'कण्ठाभरण' था, जिसका उल्लेख आचार्य राजशेखर ने किया है।[2] दुर्भाग्य से यह ग्रन्थ आज हमें उपलब्ध नहीं है। परन्तु इस आधार पर यदि वार्तिककार कात्यायन ही कवि भी स्वीकार किये जायें तो वररुचि का समय ईसा से पूर्व चौथी शताब्दी होगा। 'कथा सरित्सागर' के वर्णन से यह स्पष्ट है कि वररुचि कात्यायन पाटलिपुत्र के विख्यात महाराजा नन्द के महामात्य थे। वर्ष उपाध्याय से इन्होंने विद्याध्ययन किया था। डाक्टर भण्डारकर ने 'कथा सरित्सागर' के आधार पर वररुचि का समय ईसा से पूर्व चौथी शताब्दी स्वीकार किया है। वररुचि का कात्यायन नाम गोत्र सम्बन्धी था, ऐसा ऐतिहासिकों का मत है।[3]

उपर्युक्त विवाद जो भी हो। पतंजलि के पांच नामों के अतिरिक्त कुछ लोग ऐसे भी हैं जो छठा नाम 'चरक' भी उन्हीं का बतलाते हैं। वे आग्रहपूर्वक यह कहना चाहते हैं कि पुष्यमित्र के पुरोहित पतंजलि का ही एक नाम चरक भी है।[4] 'पतञ्जल चरित' भोजवृत्ति (योगदर्शन) तथा चरक भाष्यकार चक्रपाणि ने ऐसे उल्लेख दिये हैं, किन्तु इन उल्लेखों की ऐतिहासिक सत्यता में प्रमाण क्या है? यह आकांक्षा भी रहती ही है। इतिहास वस्तु-प्रधान होता है। प्रश्न यह है कि कहीं वस्तु को भावात्मक आवरण ने ढक तो नहीं लिया? यदि भावना ने वस्तु-तत्त्व का संवरण कर लिया तो उसकी ऐतिहासिकता धूमिल है। कुछ लोगों का यह विचार भी तो है कि योगदर्शन के पतंजलि और महाभाष्यकार पतंजलि एक नहीं थे। पाणिनि के 'पाराशर्य शिलालिभ्यां भिक्षु नट सूत्रयोः' इस लेख में पाराशर्य व्यास का उल्लेख यह प्रकट करता है कि पाणिनि से पूर्व पातञ्जल सूत्रों पर व्यास भाष्य लिखा जा चुका था। फलतः पाणिनि सूत्रों पर महाभाष्य लिखने वाले पतञ्जलि योगसूत्र लेखक पतञ्जलि से भिन्न हैं। ऐसी दशा में ऐतिहासिक तथ्य का निर्णय करने के लिए अन्यतर पक्ष में प्रमाण खोजने की आकांक्षा बनी ही रहती है।

---

1. 'वररुचि रचित प्राकृत लक्षण सूत्राणि लक्ष्य मार्गेण।
   वृद्धवाचकार वृत्ति संक्षिप्तां भामहः स्पष्टाम् ॥"—प्राकृत प्र० 1/2
2. यथार्थता कथं नाम्नि माभूद्वररुचेरिह।
   व्यधत्त कण्ठाभरणं यः सदारोहण प्रियः ॥—सूक्ति मुक्तावली
3. साहित्याचार्य श्री बल्देव उपाध्याय कृत 'संस्कृत कवि चर्चा', पृ० 15-16 देखिये।
4. योगेन चित्तस्य पदेन वाचां मलं शरीरस्यचवैद्यकेन।
   योपाकरोत्तं प्रवरं मुनीनां पतञ्जलिं प्राञ्जलिरानतोस्मि ॥—आनन्दाश्रम योगसत्र, भूमिका

दूसरे विद्वानों की खोज के अनुसार ज्ञात होता है कि वैद्यक शास्त्र प्रतिसंस्कर्ता चरक राजा कनिष्क के राजवैद्य थे। पश्चात विद्वान् डा० सिलेविन लेवि ने अपनी यह धारणा 'एशियाटिक जरनल' में प्रकाशित की थी।[1] प्रोफेसर कीथ महोदय की सम्मति भी डा० लेवि के अनुकूल ही है।[2] नीचे के उद्धरण से ज्ञात होगा कि कीथ की धारणा में कुछ अस्थिरता-सी है। परन्तु चीन से प्राप्त होने वाले त्रिपिटक में जब हम यह पाते हैं कि महाराज कनिष्क के राजवैद्य चरक थे। एक बार किसी भीषण रोग से कनिष्क की रानी को चरक ने निरोग किया था,[3] तब एक स्थिर धारणा बनाने में सहयोग मिलता है। संस्कृत में कल्हण की लिखी 'राजतरङ्गिणी' नामक कश्मीर के इतिहास से यह ज्ञात होता है कि ईसा से प्रायः दो सौ वर्ष से पूर्व कश्मीर के तुरुष्क वंश में कनिष्क नाम के सम्राट् हुए थे।[4] यह

1. Dr. Sylavin Levi in Journal Asiatic 1897, VIII, p. 447
2. Caraka, according to tradition, was the Physician of Kanishka, whose wife he helped in a critical case. Unhappily we can not tell the value of such stories when they come to us at a late date. —History of Sanskrit Literature by A. B. Kieth, p. 406
3. Chinese Budhist Chronicle.
4. पाश्चात्य विद्वान् सिलेविन लेवि ने 1896 ई० में एशियाटिक जरनल के पृ० 447 पर कश्मीर के सम्राट् कनिष्क का वर्णन लिखते हुए चरक को उसका राजवैद्य लिखा है। और इस कनिष्क का समय साढ़े सत्रह सौ वर्ष पूर्व निर्धारित किया है। अर्थात् ईसा के 146 वर्ष उपरान्त। महामहोपाध्याय श्री गणनाथ सेन महोदय ने वही समय अपने ग्रन्थ प्रत्यक्ष शारीर की भूमिका (पृ० 7) में उद्धृत कर दिया है। परन्तु राजतरङ्गिणी के नाम से लिखे गये इन उद्धरणों का राजतरङ्गिणी के लेख से मेल नहीं खाता। राजतरङ्गिणी का वर्णन इस प्रकार है—

'अथाभवन् स्वनामाङ्क पुरत्रय विधायिनः।
हुष्क, जुष्क, कनिष्काख्यास्त्रयस्तत्रैव पार्थिवाः॥
सविहारस्य निर्माता जुष्को जुष्क पुरस्य यः।
जय-स्वामि पुरस्यापि शुद्ध धीः संविधायकः॥
ते तुरुष्कान्वयोद्भूता अपि पुण्याश्रया नृपाः।
शुष्कलेत्रादि देशेषु मठ चैत्यादि चक्रिरे॥
प्राज्ये राज्यक्षणे तेषां प्रायः कश्मीर मण्डलम्।
भोज्यमास्तेस्म बौद्धानां प्रव्रज्योर्जित तेजसाम्॥
तदा] भगवतः शाक्य सिंहस्य पर निर्वृतेः।
अस्मिन् महीलोकध्वतो सार्ध वर्षशतं ह्यगात्॥

—राज०, प्रथम तरङ्ग, श्लो० 168-172 तक।

महापंडित राहुल सांकृत्यायन के अनुसार भगवान् बुद्ध का महापरिनिर्वाण विक्रम सं० 426 वर्ष पूर्व हुआ था, और ईसा से 484 वर्ष पूर्व। उक्त 'राजतरङ्गिणी' के लेखानुसार यह कनिष्क बुद्ध भगवान् के निर्वाण के 150 वर्ष बाद हुआ। अर्थात् ईसा से 334 वर्ष पूर्व। इन 334 वर्ष को यदि हम हुष्क, जुष्क और कनिष्क—इन तीनों राजाओं में क्रम से बांट दें, तो भी यह मानना ही पड़ेगा कि यह कनिष्क ईसा पूर्व लगभग दूसरी शताब्दी में हुआ। यह शुंग काल था, जिसे हम पुष्यमित्र और पतञ्जलि का युग जानते हैं।

इस प्रकार सिलेविन लेवि, कीथ और उनके अनुगामी श्री गणनाथ सेन का यह निर्णय कि यह कनिष्क ईसा के उपरान्त द्वितीय शताब्दी में हुआ, निराधार है।

बात ध्यान रखने की है कि ईसा के उपरान्त प्रथम शताब्दी में यवन शासक मिलिन्द (मीनेण्डर), जिसकी राजधानी शाकल (स्यालकोट) थी, को परास्त कर पश्चिमी भारत पर कुषाण वंश का आधिपत्य स्थापित करने वाला विजेता कनिष्क दूसरा था। इस कनिष्क की राजधानी पुरुषपुर (पेशावर) थी। ईस्वी सन् 78 से इसने अपना शक संवत् प्रचलित किया था। बौद्ध सर्वास्तिवाद अथवा वैभाषिक सम्प्रदाय के प्रचार में इसने बड़ी सहायता दी थी। 'उपाय हृदय' नामक आयुर्वेद ग्रन्थ के लेखक आचार्य नागार्जुन इसी के समय हुए थे। पाटलिपुत्र पर आक्रमण करके यही कनिष्क अश्वघोष को ले गया था और पीछे इसने ही चतुर्थ बौद्ध संगीति कश्मीर तथा जालन्धर में बुलाई। इस प्रकार यह कनिष्क उपयुक्त सम्राट् कनिष्क से भिन्न था। दोनों के भेद को स्मरण रखने के लिए हमें निम्न बातों की ओर ध्यान रखना होगा। चरक वाला कनिष्क ईसा से पूर्व दूसरी शताब्दी में हुआ तथा दूसरे कनिष्क का समय ईसा के उपरान्त पहली शताब्दी है। प्रथम कनिष्क तुरुष्क वंश में हुए और द्वितीय कुषाण वंश में। प्रथम कनिष्क की राजधानी कश्मीर (श्रीनगर) थी और दूसरे की पुरुषपुर (पेशावर)। प्रथम के राजगुरु चरक और दूसरे के राजगुरु अश्वघोष। पहला ईसा से दो सौ वर्ष पूर्व, दूसरा ईसा से सौ वर्ष बाद। इस प्रकार दोनों के बीच तीन सौ वर्ष का अन्तर है। अनेक लेखकों ने नाम के समान होने के कारण ही कुषाण कनिष्क को चरक का आश्रयदाता मान लिया है। यह भ्रम है। वास्तविकता यह है कि प्रथम कनिष्क जो चरक का आश्रयदाता था, भारतीय सम्राट् था, किन्तु द्वितीय कनिष्क विदेशी शक आक्रान्ताओं में से एक।[1] किन्तु भारत में आकर वह बौद्ध हो गया।

अब चरक ने अश्वघोष का उल्लेख क्यों नहीं किया? नागार्जुन के 'उपाय हृदय' में चरक का उल्लेख क्यों नहीं, इत्यादि शंकाएं सर्वथा निर्मूल हो जाती हैं। चरक के युग में भी कश्मीर बौद्धों का गढ़ था। कारण कि बौद्ध धर्म स्वीकार करने के उपरान्त सम्राट् अशोक ने कश्मीर का प्रदेश बौद्ध संघ को दान कर दिया था। उस प्रदेश की आय से ही संघ का खर्च चलता था। 'राजतरंगिणी' में भी लिखा है कि 'प्रायः कश्मीर मण्डलं भोज्यमास्तेस्म बौद्धानाम्'। परन्तु इस परिस्थिति में भी चरक ने आस्तिकवादी वैदिक विचारधारा को नवजीवन प्रदान किया। उन्होंने निर्भीक होकर कहा--'नास्तिकों की शरण जाना सबसे बड़ा पाप है।'[2] कश्मीर में चरक और पाटलिपुत्र में पतञ्जलि[3] ने बैठकर उस युग में भी आस्तिकवाद की ज्योति को जाज्वल्यमान बनाए रखा। सामाजिक, राजनैतिक और धार्मिक तूफानों में वे प्रकाश-स्तम्भ की भांति चमकने वाले अमर व्यक्तित्व हैं। भारत के इतिहास को उन्होंने एक उज्ज्वल आलोक दिया, जिसके प्रकाश में भारत ने चरित्र, बल और आत्मसम्मान को खोने नहीं दिया।

---

1. 'यवनों' को परास्त कर यूचियों ने पश्चिमी भारत पर कब्जा किया। इन्हीं की शाखा कुषाण थी, जिसमें प्रतापी सम्राट् कनिष्क हुए। कनिष्क की राजधानी पुरुषपुर (पेशावर) थी। उस समय सर्वास्तिवाद गन्धार पहुंच चुका था। कनिष्क स्वयं सर्वास्तिवादियों का अनुयायी था।

—राहुल सांकृत्यायन, बुद्धचर्या, पृ० 4

2. 'पातकेभ्यः परञ्चैतत्पातकं नास्तिक ग्रहः।'—चरक०, सूत्र० 11/14-15
3. 'ब्राह्मणेन निष्कारणोधर्मः षडङ्गो वेदोध्येयो ज्ञेयश्च।'—पातञ्जल महाभाष्य, आह्निक 1

राजतरंगिणीकार ने चरक का वर्णन क्यों नहीं लिखा, यह शंका भी कुछ विशेष महत्त्व नहीं रखती। 'राजतरंगिणी' विशेषत: राजाओं के वर्णन के लिए लिखी गई थी, उसमें वैद्य का वर्णन न होना ही सम्भावित है। स्याम और कम्बोडिया (वर्तमान इण्डोनेशिया और इण्डोचाइना) में प्राप्त जयवर्मा के विजय-स्तम्भों[1] में सुश्रुत का ही नाम है, चरक का नहीं। इस कारण से हम चरक का अस्तित्व समाप्त नहीं कर सकते। काशी से सम्बद्ध होने के कारण पूर्व में सुश्रुत की ख्याति अधिक होना स्वाभाविक ही था। कश्मीर जैसे पश्चिमी तथा उत्तरी प्रदेशों में वह ख्याति सुश्रुत को प्राप्त नहीं थी। कश्मीर में वाग्भट ने चरक के लिए जो श्रद्धा प्रस्तुत की, सुश्रुत के लिए नहीं। उससे सुश्रुत की सत्ता का लोप नहीं हो सकता।

दूसरी ओर चीन के त्रिपिटक का वह लेख जो चरक को कश्मीर के सम्राट् कनिष्क का राजवैद्य तथा ईसा से एक शताब्दी पूर्व का सिद्ध करता है, हमें अधिक उपादेय प्रतीत होता है। यद्यपि पालि त्रिपिटक की मूल रचना ईसा की पहली शताब्दी में लंका में हुई थी,[2] परन्तु चीनी भाषा में उसका जो अनुवाद हुआ वह भी हमारे लिए कम महत्त्वपूर्ण नहीं, वह ईसा की दूसरी शताब्दी में ही अनूदित हुआ था।[3] महर्षि चरक अपने जीवनकाल में ही महान् और ख्यातनामा आचार्य हो गये थे। चोटी के प्राणाचार्यों में उनका स्थान था। अबौद्ध होने पर भी, बौद्ध चरक के प्रति श्रद्धा और सम्मान रखते थे। तभी तो त्रिपिटक में उनको स्थान मिला। यश वही है जो प्रतिद्वन्द्वियों से भी प्राप्त होता है। आज चरक के यश को स्थापित करने का श्रेय वैदिक साहित्य को उतना नहीं है, जितना बौद्ध साहित्य को है। वे बौद्ध जिन्हें महर्षि चरक ने निर्भीकतापूर्वक धिक्कारा था।

माधवनिदान के ज्वर प्रकरण में व्याख्याकार आचार्य विजयरक्षित का 'तथा च काश्मीर पाठे चरक:' यह वाक्य क्या कश्मीर के साथ चरक का सम्बन्ध प्रकट नहीं करता? चरक के कश्मीर पाठ का इतना आदर चरक का सान्निध्य ही प्रकट करता है, अन्यथा चरक के सैकड़ों पाठ प्रचलित हुए, विजयरक्षित ने किसी को वह आदर नहीं दिया जो कश्मीर पाठ को दिया।[4] यह भी एक तथ्य है कि चरक का व्यक्तिगत नाम अन्य कुछ भी रहा हो, किन्तु वे औदीच्य चरक शाखा के विद्वान् होने के कारण अपने गोत्र नाम से ही प्रतिष्ठित रहे और अब उनका विशेषण ही विशेष्य बन गया। वे नाम के लिए नहीं, काम के लिए जिये और काम के लिए जीने वालों के नाम का स्मरण

1. ईसा की 6-7वीं शताब्दी।
2. श्री राहुल सांकृत्यायन, बुद्धचर्या, भूमिका, पृ० 3
3. 'ईसा की प्रथम दो शताब्दियों में ही कुछ भारतीय विद्वानों ने चीन की अलंघ्य सीमाओं को पार करके वहां बौद्धधर्म की ध्वजा गाड़ दी थी। तीसरी शताब्दी में तो कई भारतीय विद्वानों ने वहां पहुंचकर अनेक बौद्ध ग्रन्थों के चीनी भाषा में अनुवाद तक कर डाले थे।'
—भदन्त आनन्द कौसल्यायन (बुद्ध और उनके अनुचर, पृ० 52)
4. चक्रपाणि ने भी चरक संहिता व्याख्या में (निकि० 3/329-39) 'इत्यादि ग्रन्थं काश्मीराः पठन्ति'—इस प्रकार कश्मीर पाठ को प्रमाण-रूप से प्रस्तुत किया है।

रखना दुनिया का उत्तरदायित्व है।

चरक की विद्वत्ता और गरिमा का सार्वजनिक प्रभाव इतना गहरा हुआ कि प्रथम कनिष्क के बाद आने वाले उत्तराधिकारी ने कश्मीर से बौद्ध भिक्षुओं को विप्लवकारी घोषित करके निर्वासित कर दिया था।[1] शासन तथा जनता में भी यह भाव जागृत थे कि बौद्धों की शरण जाना सबसे बड़ा पाप है। द्वितीय कनिष्क की सहायता से ही बौद्ध फिर से कश्मीर में प्रवेश पा सके। उपर्युक्त प्रमाण यह विश्वास करने के लिए पर्याप्त हैं कि भारत के भाग्याकाश में चरक जैसे उज्ज्वल और प्रकाशपुञ्ज नक्षत्र का उदय कश्मीर के ही गिरि शिखर से हुआ था।

भारत में अपनी सत्ता अक्षुण्ण रखने के लिए बौद्धों ने विदेशी शकों और हूणों को सहायता दी। शकों और हूणों ने अपना शासन जमाने के लिए बौद्धों का जामा पहन लिया, अन्यथा शकों के नाम तोरमाण या मिहिरकुल जैसे अभारतीय थे। उन्होंने भारत में आकर वे नाम रखे जिन नामों को जनता प्यार करती थी। कनिष्क ऐसा ही नाम था। वस्तुतः शक कनिष्क ने अपना नाम कनिष्क इसीलिए घोषित किया कि कश्मीर की जनता दो सौ वर्षों से एक कनिष्क को ही प्यार कर रही थी। उसने अपने सिक्कों पर भी नन्दी, वीणा आदि के ऐसे चित्र अंकित किये, भारतीय इतिहास में जिन्हें जनता का सम्मान प्राप्त था। भारत के शत्रु अनाचारी शकों से सन्धि करके बौद्धों ने सबसे बड़ी भूल की। वे, जिन्हें भारत की स्वाधीनता से प्रेम था, जिन्हें आत्म-सम्मान पर गौरव था, और जिन्हें अपने पूर्वजों की आचार-मर्यादा पर अभिमान था, इन शत्रुओं का प्रतिशोध करने के लिए सन्नद्ध हुए। चूंकि शत्रु का मित्र भी शत्रु ही होता है, इसलिए भारत की पवित्र भूमि से शकों के समूल नाश के साथ बौद्धों का भी समूल नाश हो गया। बौद्धों की इस अनैतिक देशद्रोहिता के कारण ही शुंगकालीन वैदिक धर्म के अन्तर्गत ही भागवत धर्म का उदय हुआ। इतिहास इस बात का साक्षी है कि ईसा के दो सौ वर्ष बाद ही गुप्त वंश के सम्राट् अपने को 'परम भागवत' लिखा करते थे।

चरक का आन्दोलन भावात्मक आन्दोलन था, और सम्राटों का आन्दोलन क्रियात्मक। मौर्यों के पतन और गुप्तों के उदय के बीच पूरे 500 वर्ष तक नागवंशी सम्राटों की शक्तियां इन शकों और हूणों को निर्मूल करने के लिए ही सुसंगठित हो रही थीं। बालाघाट एवं चमक-प्रशस्ति के लेख इस बात के प्रमाण हैं कि फिर से अश्वमेध यज्ञों की परिपाटी जागृत हुई।[2] शिवोपासना में त्रिशूल और कृपाण की पूजा ने भारत के आत्मसम्मान को वीरता का मूर्त रूप दे दिया। न केवल कश्मीर किन्तु पद्मावती, कांतिपुर (मिर्जापुर), मथुरा, अहिच्छत्रा (बरेली) तथा चम्पावती (भागलपुर) में भी इन शक्तियों के स्रोत फूट गये थे। राष्ट्र के इस कलेवर में चरक की भावात्मक प्रेरणा ही आत्मचेतना का काम कर रही थी। भारत को चेतना प्रदान करने वाले

---

1. राजतरङ्गिणी, तरङ्ग 1, श्लो० 173-186
2. मूर्धाभिषिक्तानां दशाश्वमेधावभृथ स्नातकानां भारशिवानां महाराजा।

—बालाघाट, चमक प्रशस्ति

दोनों महापुरुष एक ही काल की विभूतियां थीं—पूर्व में पतञ्जलि और पश्चिम में चरक। पतञ्जलि व्याकरण के और चरक आयुर्वेद के आचार्य भले ही थे, किन्तु वे राष्ट्र-चेतना के ही मूर्तरूप थे।

अब बौद्ध-संघ शकों और हूणों से सन्धि करके भारत के प्रति राष्ट्र-द्रोह ही नहीं कर रहे थे, वे अपने शास्त्र के विरुद्ध विश्वासघात भी कर रहे थे। जो सम्यक्-सम्बुद्ध भारत की अभिन्नता और एकता के लिए ग्राम-ग्राम और नगर-नगर फिरा, लाखों ईरानी, यूनानी, मिश्री और चीनियों ने आकर जिसके चरणों में मस्तक टेके, किन्तु फिर भी जो भारत की जनता जनार्दन की उपासना में ही असम्प्रज्ञात समाधि लगाये रहा, उसी के अनुगामी आज दुश्चरित्र और बर्बर शकों से सन्धि कर रहे थे। इसका यह फल हुआ कि भारत की आत्मा ने सम्यक्-सम्बुद्ध को भगवान के दशावतारों में पूजित किया और उनके उत्तराधिकारी बौद्धों को भारत से निर्वासित कर दिया। शुद्धोदन के राज्य में और महामाया की नगरी में अनार्य शकों का शासन किस आत्माभिमानी को सहन हो सकता था। आर्यसत्य के शास्ता के सिंहासन पर अनार्य का अभिषेक लज्जा की बात थी।

प्रश्न यह है कि चरक को कश्मीर के सम्राट् प्रथम कनिष्क का राजवैद्य तथा कश्मीर का अधिवासी स्वीकार कर लेने पर—चरक और महाभाष्यकार पतञ्जलि एक ही व्यक्ति थे तथा वे मगध के सम्राट् पुष्यमित्र के पुरोहित थे—यह विश्वास किस आधार पर टिक सकेगा ? हमारे विचार से यह विश्वास निराधार ही है। यह जानते हुए भी कि चक्रपाणि, विज्ञानभिक्षु, नागेश भट्ट, रामभद्र दीक्षित, भोज तथा भावमिश्र जैसे प्राचीन विद्वानों का विरोध मेरे समक्ष प्रस्तुत होगा, मैं अपनी धारणा में विरोध नहीं देखता। सबसे प्रथम चक्रपाणि ने चरक, योग तथा महाभाष्य के कर्त्ताओं का एकत्र समन्वय किया। उनके पीछे आने वाले दूसरे आचार्यों ने उनका ही अनुसरण शब्दों के थोड़े हेर-फेर के साथ किया। परन्तु चक्रपाणि की बात को समझने में लोगों से भूल हो गयी, और परिणामस्वरूप इतनी बड़ी भ्रान्ति फैल गयी कि वह इतिहास की समस्या बन गयी। जरा चक्रपाणि की उक्ति को उन्हीं के शब्दों में देखिये—

पातञ्जल महाभाष्य चरक प्रतिसंस्कृतैः।
मनोवाक्काय दोषाणां हर्त्रेऽहिपतये नमः॥

चक्रपाणि की सम्मति में पातञ्जल योग, महाभाष्य तथा चरक संहिता के कर्तृत्व का समन्वय अहिपति-भगवान (शेषनाग) के साथ होना चाहिए, न कि परस्पर भी। स्तुति का मुख्य वाक्य 'अहिपतये नमः' केवल इतना है। शेष अहिपति के विशेषण हैं। लोगों ने ग्रन्थ कर्तृत्व को अहिपति से समन्वित न करके परस्पर समन्वय करना प्रारम्भ कर दिया। इसका ही परिणाम यह हुआ कि अनेक ऐतिहासिक उलझनें पैदा हो गईं। स्तुति का सीधा-सा अर्थ है—'उन शेष भगवान को मेरा नमस्कार हो जिन्होंने पतञ्जलि के रूप में योग और महाभाष्य की रचना की तथा चरक के रूप में चरक संहिता की। उन रचनाओं द्वारा जनता के मन, वाणी और शरीर के दोष क्रमशः शान्त हो सकें।' पतञ्जलि

तथा चरक का समन्वय अहिपति से हो सकता है। पतञ्जलि का चरक से तथा चरक का पतञ्जलि से नहीं।

भारत के प्राचीन विद्वानों की प्रायः परिपाटी रही है कि वे एक-से मिशन को पूरा करने वाले महापुरुषों का किसी भगवद्रूप से समन्वय किया करते थे। उनके विचार से संसार में महापुरुषों के लोकोत्तर कार्य करुणामय प्रभु की ही लीलायें होती हैं। प्रत्येक महापुरुष साधारण प्राणी नहीं होता, प्रत्युत प्रभु का ही प्रतीक होता है। एक चक्रपाणि ही क्या, संस्कृत साहित्य में सैकड़ों ही इस प्रकार के लेख मिलते हैं।[1] राम तथा कृष्ण का समन्वय विष्णु भगवान् के साथ किया जाता है। वह एक प्राचीन परम्परा है। परन्तु राम और कृष्ण का परस्पर समन्वय न केवल इतिहास के साथ किन्तु उन विद्वानों के साथ भी अन्याय है। आज हम ऐसा ही अन्याय चक्रपाणि के साथ भी कर रहे हैं। क्या कोई कह सकता है कि राम और कृष्ण एक ही व्यक्ति के नाम थे? श्रद्धा की भावना से प्रेरित होकर हम भले ही उन्हें किसी भगवद्रूप से अभिन्न कहें, परन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से क्या राम और कृष्ण के काल का महान् अन्तर हटाया जा सकता है? क्या गोकुल और अयोध्या में अभिन्नता सिद्ध की जा सकेगी? उनके वंश, जन्म और परिस्थितियों का भेद कैसे भुलाया जा सकेगा? यदि वह भेद रहेगा, तो योग तथा महाभाष्य के कर्त्ताओं के साथ चरक संहिता के कर्त्ता को अभिन्न कहने का हमें क्या अधिकार है?

चरक कश्मीर के निवासी थे, यह सिद्ध होने पर यह कहने में कि चरक पुष्यमित्र के पुरोहित थे, कोई बल नहीं रह जाता। पुष्यमित्र मगध के सम्राट् थे। मगध की राजधानी पाटलिपुत्र थी। कश्मीर का निवासी पाटलिपुत्र के सम्राट् का पौरोहित्य करे, यह उतना युक्तियुक्त नहीं है जितना कश्मीर के निवासी के लिए कश्मीर का पौरोहित्य। बड़े-बड़े धुरन्धर विद्वान् कश्मीर में हुए। परन्तु वे अपनी स्वर्गीय भूमि छोड़कर दूसरे देश में नहीं गये। इसलिए डॉ० भण्डारकर का विचार ही समुचित है कि गोनर्द के पतञ्जलि पाटलिपुत्र में सम्राट् पुष्यमित्र का पौरोहित्य करते थे। 'गोनर्द' वर्तमान गोंडा जिले का बोधक है। गोंडा और पाटलिपुत्र का सामीप्य यह स्वीकार करने के लिए उचित प्रतीत होता है कि गोनर्दीय पतञ्जलि पाटलिपुत्र सम्राट् का पौरोहित्य करते थे।

---

1. "पाठनिः कमठः किटिर्नर हरिः खर्वाकृतिर्भार्गवो।
रामःकेस निषूदनो दशबलः कल्कीच नारायणः॥
युष्माकं सविभूतयेऽस्तुभगवान्सेतुर्भवाम्भोनिधा -
वुत्ताराय युगे युगे युगपतिस्त्रैलोक्यनाथो हरिः॥ —हनूमतः

o o o

रामोनामबभूवहुं, तदबला सीतेतिहुं तां पितु,
र्वाचापञ्चवटीवने निवसतस्तस्याहरद्रावणः॥
कृष्णेनेति पुरातनीं निज कथामाकर्ण्य मात्रेरितां,
सौमित्रे क्व धनुर्धनुर्धनुरिति प्रोक्ता गिरःपान्तुवः॥
(शार्ङ्गधर पद्धति 133 व 120 श्लोक)—वसुन्धरस्य
यं शैवा समुपासतेशिवइति ब्रह्मेति वेदान्तिनो,
बौद्धा बुद्ध इति प्रमाण पटवःकर्त्तेतिनैय्यायिकाः।
अर्हन्नित्यथ जैन शासन रताः कर्मेतिमीमांसकाः
सोऽयं वो विदधातु वाञ्छितफलं त्रैलोक्यनाथोहरिः" —कालिदास

पाणिनि सूत्र 'एङ प्राचांदेशे'[1] की व्याख्या लिखते हुए काशिकाकार ने 'गोनर्दीय:' यह उदाहरण प्राच्यदेश का बोध कराने के लिए लिखा है। यह उदाहरण क्या यह स्पष्ट करने के लिए पर्याप्त नहीं है कि 'गोनर्द' स्थान कश्मीर में नहीं, गोंडा में ही होना चाहिए। इटावा से लेकर आगे का समस्त प्रदेश मगध तक प्राच्यदेश कहा जाता था। काशिकाकार ने लिखा है कि 'एकचक्रा' नगरी प्राच्य देश में थी।[2] यह एकचक्रा नगरी आज भी इटावा जिले का चकर नगर है।

फिर चरक ने अपना नाम पतञ्जलि तथा गोनर्दीय कहीं नहीं लिखा, और न पतञ्जलि ने ही महाभाष्य अथवा योगदर्शन में चरक नाम से अपना परिचय दिया। आश्चर्य है कि हम फिर भी चरक को पतञ्जलि और पतञ्जलि को चरक कहे जाते हैं।

'राजतरंगिणी' में 'गोनर्द' नहीं, गोनन्द नामक सम्राट् का वर्णन है। कश्मीर में गोनन्द नाम के तीन राजा हुए थे। तीसरे गोनन्द ने वैदिक धर्म के सहयोग में बौद्ध-भिक्षुओं को बहिष्कृत किया था, क्योंकि वे आचार की दृष्टि से जनता का सम्मान खो चुके थे।[3] यह गोनन्द भारतीय कनिष्क का उत्तराधिकारी ही था।

संस्कृत साहित्य में 'ऋषि' और 'मुनि' दो शब्द संज्ञाएं प्रचलित हैं। मंत्रकाल में हुए मन्त्रदृष्टा 'ऋषि' कहे जाते हैं। मन्त्रकाल में वेदों के मन्त्र और ब्राह्मण-ग्रन्थों के मन्त्रों का निर्माण हुआ था। उपनिषद् भी उसी साहित्य के अन्तर्गत हैं, किन्तु मन्त्रयुग के उपरान्त संस्कृत साहित्य में 'सूत्र युग' आया था। इस युग में सूत्र-ग्रन्थों की रचना हुई थी। गृह्य सूत्र, शुल्व सूत्र, दर्शन सूत्र, धर्म सूत्रों से लेकर व्याकरण सूत्रों तक यह परिपाटी चली आयी थी। ये सूत्र-सृष्टा लोग 'मुनि' कहे गये हैं। मन्त्र मौलिक रचना है, सूत्र लौकिक रचना। ऋषि का अर्थ है 'दृष्टा'। स्वयं की अनुभूति के चितेरे। परन्तु सूत्र बिखरे हुए ज्ञान-प्रसूनों को संग्रथित करने का प्रयास था। इसलिए मननपूर्ण होने से 'मुनि' शब्द से सम्बोधित हुआ।

चरक का आविर्भाव सूत्रकाल के उपरान्त हुआ था। सूत्रकाल पाणिनि के साथ या अधिक से अधिक वार्तिककारों के साथ समाप्त हो गया था। चरक संहिता के विमानस्थान में अध्यापन-विधि का उल्लेख करते हुए चरक ने लिखा है कि गुरु को गोबर से लिपी हुई भूमि पर बैठकर यज्ञ करना चाहिए। इसमें आशीर्वादपरक मन्त्रों से ब्रह्मा, अग्नि, धन्वन्तरि, प्रजापति, अश्वि, ऋषियों तथा सूत्रकारों का उच्चारण करके स्वाहा-कारपूर्वक घी और शहद से आहुति देनी चाहिए।[4] इस प्रकार ईसा से 185 वर्ष पूर्व कश्मीर में बैठकर चरक ने, और पाटलिपुत्र में बैठकर पतञ्जलि ने वैदिक संस्कृति की छत्रछाया में भारतीय राष्ट्र का नवनिर्माण किया। आयुर्वेद की संहिता होते हुए भी चरक की ओजस्विनी प्रतिभा ने चरक संहिता को किसी भी दर्शनशास्त्र से कम नहीं

---

1. अष्टाध्यायी, 1/1/75
   काशिका पूर्वार्ध, पृ० 31 व 145
2. 'एकचक्रानाम प्राग्देशे नगरी'—काशिका, अ० 4, पा० 2, पृ० 156
3. राजतरङ्गिणी, तरङ्ग 1, श्लो० 185-186
4. चरक, विमान० 8/6/5

रहने दिया। संहिता का आयुर्वेदिक स्वरूप अक्षुण्ण रखते हुए भी चरक ने वह एक दार्शनिक प्रकाशपुञ्ज प्रदीप्त किया। न्याय, वैशेषिक और सांख्य दर्शन के विचार जिस सौष्ठव के साथ चरक ने प्रस्तुत किये वह अपूर्व ही नहीं, अद्वितीय है। मानव जीवन का वह दार्शनिक विवेचन स्वयं कणाद, गौतम और कपिल भी नहीं कर सके।

ऊपर की समस्त व्याख्या को संक्षेप में हम निम्न प्रकार कह सकते हैं—

चरक	पतञ्जलि
1. पिता—वेदवेदांगवेदी	अज्ञात
2. माता—अज्ञात	गोणिका
3. निवास—कश्मीर	गोनर्द (गोंडा)
4. पद—भारतीय कनिष्क के गुरु	पुष्यमित्र के गुरु
5. काल—185 ई० पूर्व	185 ई० पूर्व
6. कृति—चरक संहिता	योगदर्शन महाभाष्य
7. धर्म—वैदिक	वैदिक
8. परिचय—प्राणाचार्य	वैय्याकरण।

अतएव महर्षि चरक और पतञ्जलि के व्यक्तित्व का अन्तर स्पष्ट है। शेष भगवान् के साथ उनका एकत्र समन्वय भारतीय समाज के अवतारवाद की भावनाओं का परिणाम है; क्योंकि दोनों विद्वानों का मिशन प्रायः एक-सा था। विज्ञानभिक्षु, नागेश भट्ट, रामभद्र दीक्षित, भोज तथा भावमिश्र आदि विद्वानों का यही तात्पर्य है। यदि उनका यह तात्पर्य न हो, तो चक्रपाणि के साथ भी उनका समझौता कैसे होगा? चक्रपाणि की बात स्पष्ट है।

बुद्ध के उपदेशों का प्रभाव लोगों पर इतना गहरा हुआ कि अधिकांश लोग बौद्ध हो गये। वैदिक धर्म का ह्रास हो गया। ब्राह्मण धर्म के अधिकांश अनुयायी भी बौद्ध प्रव्रज्या ले रहे थे। वेद और देवगिरा का अध्ययन तो दूर, नाम भी कहीं-कहीं सुनाई देने लगा था। ऐसी दशा में वैदिक धर्म को पुनर्जीवित करने का साहसपूर्ण और सफल उद्योग पूर्व में पतञ्जलि ने किया। पूर्व में मगध बौद्धधर्म का केन्द्र था। किन्तु वहां के भिक्षु संघ अब शक और हूण तथा अनाचारी क्षपणकों के विलासमय विहार बने हुए थे। पतञ्जलि ने वहां वैदिक धर्म का झण्डा फिर से गाड़ दिया। गंगा की लहरों पर वेद की ऋचायें फिर से गूंज उठीं। पाटलिपुत्र अश्वमेध की वेदिका बना। पुष्यमित्र उसका यजमान और पतञ्जलि ब्रह्मा।

बुद्ध के उपदेश आज भी उतने ही निर्मल थे। परन्तु उनके अनुयायी अपने कुकर्मों को छिपाने के लिए उनकी ढाल बनाये हुए थे। मौर्यकाल में कौटिल्य ने बौद्ध भिक्षुओं के वेश में अपने गुप्तचर नियुक्त किये। अशोक जैसे धर्म-विजयी के पौत्र 'सम्प्रति' तथा प्रपौत्र 'शालिशुक' ने 207 ई० पूर्व भिक्षु वेशधारी सिपाहियों को भेजकर दूसरों की हत्या करना प्रारम्भ कर दिया। फलतः बौद्ध धर्म की व्यावहारिकता सर्वथा नष्ट हो गयी थी।[1] पारिवारिक जीवन में भिक्षुणियों के प्रति कोई श्रद्धा शेष न थी। बौद्ध धर्म का

1. मौर्य साम्राज्य का इतिहास, पृ० 670-671

उमड़ा हुआ प्रवाह शरद में स्रोतस्विनी की भांति क्षीण होने लगा।

प्रभाव और पांडित्य

पश्चिमोत्तर भारत में गन्धार, तक्षशिला और कश्मीर जैसे गढ़ अब भी विद्यमान थे। कश्मीर ही इनका केन्द्र था। भारतीय कनिष्क के हाथों में शासन-सूत्र आने पर इधर के बौद्धों का मुकाबला चरक ने ही किया। स्थविरवादी सर्वास्तिवाद का गढ़ कश्मीर ही था। यहीं से चीन और मंगोलिया होता हुआ बौद्ध धर्म जापान तक पहुंचा। बौद्ध धर्म का जितना विशाल साहित्य चीनी भाषा में विद्यमान है, उतना विश्व में अन्य कहीं नहीं। कश्मीर में चीनियों के इस निकटतम सम्पर्क के ही कारण 'चरक संहिता' में चीनियों का उल्लेख है।[1] किसी भीषण रोग से पीड़ित चीन के एक सम्राट् की चिकित्सा चरक ने की थी।[2] एक आयुर्वेदाचार्य होते हुए चरक ने एक महान् प्रचारक का कार्य भी किया। उन्होंने आस्तिकवाद के प्रबल समर्थन द्वारा बौद्ध नास्तिकवाद की जड़ें खोखली कर दीं। यही कारण है कि आयुर्वेद जैसे विज्ञान विषय पर लिखी हुई उनकी 'चरक संहिता' दर्शनशास्त्र से कम नहीं। बौद्धों ने सदाचार की मर्यादाओं को विनय के पिटक में बन्द करके छोड़ दिया। वे चरक ही थे जिन्होंने भारतीय आचारशास्त्र के तत्त्व समाज को फिर से सिखाये। 'चरक संहिता' के सूत्रस्थान और विमानस्थान का पचास प्रतिशत आचार-संहिता ही है। आस्तिकता के प्रकाश में मानव के जीवन का चित्रण करने वाले महापुरुषों में चरक का स्थान ही प्रथम है। इस प्रकार पूर्व से पतञ्जलि और पश्चिम से चरक के सेनापतित्व में होने वाले वैदिक धर्म के आक्रमण से बौद्ध धर्म का किला भूमिसात् हो गया।

यद्यपि चरक और पतञ्जलि के कुछ ही दिन बाद अश्वघोष, नागार्जुन, आर्यदेव, वसुबन्धु तथा असंग जैसे महान तार्किक बौद्ध विद्वान् सामने आये—वसुबन्धु और असंग तो पुरुषपुर (पेशावर) के निवासी ही थे—तो भी चरक की प्रतिभा के समक्ष कोई न टिक सका। यह चरक का ही प्रभाव था कि वसुबन्धु और असंग ने बौद्धों के हीनयान को महायान में परिवर्तित कर दिया। और यह महायान धीरे-धीरे वैदिक धर्म की धारा में मिलकर अपनी सत्ता में ही शून्य हो गया।

गन्धार से लेकर वंग देश तक एक बार फिर से वेद और देववाणी का प्रचार हुआ। फल यह हुआ कि ईसा की पहली शताब्दी तक अश्वघोष, नागार्जुन, बुद्धघोष, वसुबन्धु और असंग आदि विद्वानों ने जो कुछ लिखा पालि और प्राकृत को तिलाञ्जलि देकर विशुद्ध संस्कृत में लिखा। अब संस्कृत राष्ट्रभाषा हो गई।

बौद्धों के नास्तिकवाद से उद्धार पाकर जब फिर से वैदिक धर्म को स्वाधीनता के वातावरण में श्वास लेने का अवसर मिला तो वैदिक धर्मानुयायियों ने अपने उद्धारक चरक और पतञ्जलि को भगवद्रूप में सम्पूजित करके अपनी कृतज्ञता और भक्ति का प्रकाश किया।

1. चरक सं०, विमान० 1/20
2. काश्यप संहिता, उपोद्घात, पृ० 96

प्रश्न यह हो सकता है कि शेषनाग का अवतार बनाकर ही उन्हें सम्पूजित क्यों किया गया ? आर्यों के इन्द्र, विष्णु आदि अन्य देवता भी तो हैं। इस प्रश्न की ऐतिहासिक गुरुता अवश्य है। मौर्यवंश की स्थापना से पूर्व भारत में नन्द वंश का शासन चल रहा था। पाटलिपुत्र का सम्राट् महानन्द, जिसका अन्त कौटिल्य ने किया, नागवंशी सम्राट् ही था। नाग बड़े वीर और धर्मपरायण शासक थे।[1] किन्तु नाग लोग शिव के उपासक थे। हमने उपोद्घात में नागों के परिचय में शिव के सम्बन्ध में लिखा है। अपने पूर्वजों के प्रति जो उच्च भावनाएं सामान्य रूप से मनुष्य में होती हैं, वही नागों में भी शिव के लिए थीं। वे शिव को भगवद्रूप में पूजते थे। नागों के पराक्रम के साथ-साथ शिव की पूजा भी दूर-दूर गई। ईस्वी पूर्व तक दक्षिण भारत का एक ही दर्शन था, और वह था शैव दर्शन। उत्तर भारत में भी वह एक प्रतिष्ठित दर्शन था। 'सर्वदर्शन संग्रह' में शैव-दर्शन एक स्वतन्त्र विद्यापीठ है। ईस्वी पूर्व के प्रमुख दर्शनों में शैव-दर्शन का स्थान रहा है। ईसा से सात सौ वर्ष पूर्व पाणिनि के युग में भी शैव-दर्शन प्रतिष्ठित था। पाणिनि ने इसी आस्था से प्रेरित होकर अपने प्रत्याहार सूत्रों को माहेश्वर-सूत्र लिखा है। 'अष्टाध्यायी' में कुछेक वैदिक देवताओं का उल्लेख है, उनमें शिव को अनेक नामों से स्मरण किया गया है--भव, शर्व, रुद्र, मृड आदि। इनके स्त्रीलिंग बनाकर भवानी, शर्वाणी, रुद्राणी और मृडाणी आदि नाम प्रस्तुत किये गये।[2]

नागवंशियों का शासन-चिह्न सर्प था। शिव के साथ सर्प इसीलिए जोड़े गये। पुरातत्व में जो मूर्तियां भूगर्भ से प्राप्त हुई हैं, उनमें अनेक के पृष्ठभाग में सर्प चित्रित होता है। सर्प से उत्कीर्ण ये प्रतिमायें नागवंशियों की हैं। पृथ्वी शेषनाग के फन पर सधी है, यह भावना भी नाग परम्परा में रही है। जिस शेषनाग पर पृथ्वी सधी है वह भगवद्रूप ही है। पुरुषसूक्त में कहा है—प्रकृति के जिन तत्त्वों से ब्राह्मण बना है वह सृष्टा का एक पाद है, और तीन पाद शेष हैं।[3] यह शेष ही विश्व का आधार है। चरक और पतञ्जलि इस शेष के ही अवतार थे। विश्व सर्पणशील है इसलिए वह सर्प तो है ही। जो इस सर्प के फन पर रहे वही शेष, अन्य का ग्रास तो इसी सर्प के मुख में हो ही जाता है। जो भी हो, यहां दार्शनिक गुत्थियां सुलझाना अप्रासंगिक हो जायगा। बात केवल यह है कि चरक का शेषावतार कैसे बना।

ईस्वी प्रथम शताब्दी से तृतीय शताब्दी तक भी भारत में नागवंशी शासन तो कर ही रहे थे। भारशिव लोगों का इतिहास नागवंशियों का इतिहास ही है। उन्होंने दस-दस अश्वमेध करके अपनी विजय-दुन्दुभि का उद्घोष किया। हम उनके सम्बन्ध में पीछे लिख चुके हैं। सार यह है कि चरक नागवंशी थे।

अब योगदर्शन और महाभाष्य के सम्बन्ध में कुछ आपत्तियां उठाई जाती हैं। उनके कर्ता एक हैं या भिन्न। हिरण्यगर्भ कौन थे, और पतञ्जलि कौन ? किन्तु यहां हम

---

1. समुत्खाता नन्दा नव हृदय रोगा इवे भुवः—मुद्राराक्षस
2. 'इन्द्रवरुण भवशर्वरुद्रमृडहिमारण्य यव यवन मातुलाचार्याणा मानुक्' ।—अष्टा० 4/1/49
3. त्रिपादूर्ध्व मुदैत्पुरुषः पादोस्येहा भवत् पुनः'—पुरुषसूक्त

चरक के ही बारे में बातचीत करने चले हैं। इस उलझन को सुलझाने में विषयान्तर हो जायगा। अतएव प्रचलित विश्वास को ज्यों का त्यों रहने देना ही ठीक है।

चरक संहिता और चरक के सिद्धान्त

'चरक संहिता' कोई मौलिक ग्रंथ नहीं है। यह स्वयं चरक ने ही लिखा है—'अग्निवेशकृते ग्रंथे चरक प्रति संस्कृते।'

अतएव वह प्राचीन 'अग्निवेश संहिता' का परिवर्तित और परिवर्धित स्वरूप है। चरक ने स्वयं लिखा है कि प्रतिसंस्कर्ता किसी प्राचीन ग्रन्थ के विस्तृत सन्दर्भ को संक्षिप्त कर सकता है और संक्षिप्त को अपनी आवश्यकतानुसार विस्तृत। इस प्रकार पुराने को नया बना देना ही प्रतिसंस्कर्ता का काम है।[1] प्राचीन ढांचे पर चरक ने अपनी सजावट इस प्रकार की है कि वह चरक की अपनी-सी चीज़ नज़र आने लगी है। पुरानी अग्निवेश संहिता' में चरक ने कुछ ऐसे परिवर्तन किये हैं जिनके लिए स्वयं चरक उत्तरदायी है, अग्निवेश नहीं। उदाहरण के लिए अग्निवेश के युग में हिमालय से निकलने वाली नदियों का जल गलगण्ड आदि रोगजनक समझा जाता था, परन्तु चरक ने अपने युग के अनुसार उनके जल को सुपथ्य लिखा है।[2] चूंकि अब मूल अग्निवेशतन्त्र उपलब्ध नहीं अतएव चरक और अग्निवेश के लेखों की विस्तृत तुलना करना संभव नहीं है। तो भी चरक ने प्रतिसंस्कर्ता के कार्य का जो विवरण दिया वह यह स्पष्ट करने के लिए पर्याप्त है कि चरक ने वैसे परिवर्तन और परिवर्धन अपने प्रतिसंस्कार में अवश्य किये हैं। प्रकृति में कुछ ऐसे परिवर्तन होते भी रहते हैं जो अग्निवेश के समय कुछ थे, और चरक के समय कुछ और हो गये। जैसाकि ऊपर नदियों के जलों में परिवर्तन हो गया। कुछ परिस्थितियां जो अग्निवेश के समय नहीं थीं, चरक के समय में बन गई। जैसे अग्निवेश मन्त्रकाल में उत्पन्न हुए, चरक सूत्रकाल के उपरान्त। इसलिए चरक ने सूत्रकारों का वन्दना का उल्लेख किया है।[3] अग्निवेश के युग में शासन में राजतन्त्र थे, चरक के युग में गणतन्त्र भी हो गये थे।[4] इसीलिए चरक ने प्रतिसस्कार करने के उपरान्त ग्रन्थ का नाम 'अग्निवेश संहिता' नहीं रखा, किन्तु समस्त परिवर्तन और परिवर्धन का उत्तरदायित्व अपने ऊपर लेकर ग्रन्थ का नाम 'चरक संहिता' रख दिया। चरक की यह ईमानदारी प्रत्येक लेखक के लिए अनुकरणीय है।

साथ ही चरक के हृदय की दूसरी महानता देखिये। ग्रंथ के दूषणों का उत्तरदायित्व अपने ऊपर लेते हुए ग्रन्थ के गुणों का श्रेय अत्यन्त उदार भाव से अग्निवेश को देने में जरा भी आगा-पीछा नहीं किया, और प्रत्येक अध्याय के अन्त में 'अग्निवेशकृते

---

1. विस्तारयति लेशोक्तं संक्षिपत्यति विस्तरम्।
   संस्कर्ता कुरुते तन्त्रं पुराणञ्च पुनर्नवम्॥—चरक०, सिद्धि० 12/76
2. "चरको हिमवत्प्रभवानां नदीना पथ्यत्व मिच्छति। कृष्णात्रेयसुश्रुतौ तासामेव गलगण्डादि कर्तृत्वम्।'
   —अष्टांग संग्रह, इन्दुरात व्याख्या,सूत्र, 1/टीका पृ० 3
3. चरक०, विमान० 8/6-5
4. "न वृद्धान् न गुरून् न गणान् न नृपान् पधिक्षिपेत्" —चरक०, सूत्र०, 8/25

तन्त्रे चरक प्रतिसंस्कृते' लिखकर ही समाप्त किया। 'चरक संहिता' का अध्याय प्रारम्भ से पढ़ने बैठिये, ज्ञात होता है चरक की कितनी अनूठी रचना है। अध्याय समाप्त होते ही चरक कहते हैं—'यह मेरी नहीं, अग्निवेश की कृति है।' ग्रन्थ की अपूर्वता के लिए कुछ श्रेय देना है, तो मुझे नहीं अग्निवेश को दो। हृदय का कितना महान औदार्य है! और कितना असीम आत्मसंयम!! कवि ने ठीक कहा है—'महतां निस्सीमानश्चरित्र विभूतयः'।

भूल से लोग कहा करते थे कि आयुर्वेद के संग्रह ग्रन्थों के प्रणयन में वाग्भट सबसे प्रथम हैं। परन्तु वास्तविकता यह है कि चरक का स्थान ही पहला है। 'भाव-प्रकाश' में आचार्य भावमिश्र ने लिखा है कि महर्षि आत्रेय के अग्निवेश आदि छः शिष्यों ने अलग-अलग अपने-अपने नाम से तन्त्र लिखे थे। उन सभी के तन्त्रों से चुनी हुई सामग्री को परिष्कृत रूप में चरक ने एकत्र संग्रह किया, और उसी संग्रह को 'चरक संहिता' नाम दिया।[1] चरक नाम के साथ संहिता शब्द जोड़कर लेखक ने भी उसी भाव को स्पष्ट किया है। तो भी यह स्पष्ट है कि चरक के ग्रंथ का मूल आधार 'अग्निवेश तन्त्र' ही था। प्राचीन काल में मौलिक ग्रंथ को तन्त्र या अन्य स्वतन्त्र नाम देकर प्रसिद्ध किया जाता था। 'अग्नि-वेश तन्त्र' अथवा 'नावनीतक' ऐसे ही ग्रन्थ थे। परन्तु जो ग्रंथ सर्वथा मौलिक न होकर अन्यों के लेख अथवा विचारों से संकलित होते थे वे 'संहिता' कहे जाते थे। वेदों की संहिताओं से लेकर उसके उपरान्त के भी संग्रह ग्रन्थ संहिता अथवा संग्रह ग्रन्थ हैं, जिनमें एक ही व्यक्ति के मौलिक विचार नहीं हैं, किन्तु विभिन्न विद्वानों के विचारों का संग्रह किसी एक विद्वान् ने अपनी शैली से किया है। संग्रहकार या संहिता लेखक का अपनापन उसमें यही है कि विषयवस्तु के सम्पादन में, और उसके समन्वय में उसने कितनी सफलता प्राप्त की। संहिता शब्द का अर्थ ही बिखरी हुई सामग्री को संग्रह करना है।

प्राचीन 'सुश्रुत संहिता', 'आत्रेय संहिता', 'काश्यप संहिता' आदि रचनाएं इस बात को प्रकट करती हैं कि महर्षि आत्रेय से बहुत पूर्व भी भारतवर्ष में आयुर्वेद का उच्च-कोटि का साहित्य विद्यमान था। उन्हीं का संग्रह होकर वे संहितायें बनी थीं। फिर चरक का युग तो प्राचीन संहिताओं का प्रतिसंस्कार युग था। तब तक आयुर्वेद विज्ञान व्यापक क्षेत्र में विकसित हो चुका था। पाणिनि के समय में ही रोग, औषधि, चिकित्सा, त्रिदोष, ऋतुचर्या आदि का विज्ञान बहुत विकसित था।[2] चरक तो पाणिनि के उपरान्त हुए थे, इसलिए चरक का युग आयुर्वेद का उन्नत युग था। चरक की वस्तु-प्रतिपादन शैली, तर्कना और प्रयोगों का निर्वाचन अद्वितीय है।

आज हम 'चरक संहिता' में ही 'आत्रेय संहिता' और 'अग्निवेश तन्त्र' का आरोप

---

1. आत्रेयस्य मुनेशिष्या अग्निवेशादयोऽभवन्।
मुनयोबहव स्तैश्च कृतं तन्त्रं स्वकं स्वकम्॥
तेषां तन्त्राणि संस्कृत्य समाहृत्य विपश्चिता।
चरकेणात्मनो नाम्ना ग्रंथोऽयं चरकः कृतः॥—भावप्रकाश, अ० 1

2. अष्टाध्यायी, 7/3/61, 6/3/70, 5/1/39, 5/2/129 तथा 5/2/127 से 5/2/129

कर लेते हैं। मौलिक रूप से न 'आत्रेय संहिता' उपलब्ध है, न 'अग्निवेश तन्त्र'। हमारे आयुर्वेद साहित्य की एक बड़ी निधि लुप्त हो गई। चरक का चिकित्सा विज्ञान किसी भी चिकित्सा पद्धति से आज भी सर्वोत्तम है। इसी आधार पर हम लुप्त हुई संहिताओं के गौरव का अनुमान कर सकते हैं। चक्रपाणि, विजयरक्षित, श्रीकण्ठ तथा शिवदास आदि व्याख्याकारों के समय तक 'अग्निवेश संहिता' आदि अनेक मौलिक ग्रन्थ प्राप्त रहे होंगे, क्योंकि उन विद्वानों की व्याख्याओं में उन ग्रन्थों के उद्धरण मिलते हैं, जो आज 'चरक संहिता' में नहीं हैं। यह ईसा की प्रायः 10 वीं से 12 वीं शताब्दी के बीच की बात है। इस्लामी आक्रान्ताओं ने भारत की सम्पत्ति लूटकर हमें उतनी हानि नहीं पहुंचाई, जितनी भारत की संस्कृति और साहित्य को नष्ट-भ्रष्ट करके मानव के विकास को नष्ट किया। इतिहास के बताये हुए इस तथ्य को कौन नहीं जानता कि भारत के अमूल्य ग्रन्थ साहित्य को ईंधन की जगह जला-जलाकर मुसलमान बादशाह अपने हम्माम गरम किया करते थे। परन्तु ग्यारहवीं से पन्द्रहवीं शताब्दी तक देश का राजनैतिक और सांस्कृतिक वातावरण इतना धूमिल रहा कि हम अपना अस्तित्व ही कठिनता से सम्हाल सके। उस युग में यदि हम सावधान होते तो कितना ही साहित्य बचा लेते या फिर से संकलित कर लेते। परन्तु शकों, हूणों और मुसलमान आक्रान्ताओं के चरित्र भारतीय समाज में इतने विषाक्त रूप से संक्रमित हो गये थे कि महापंडित राहुल सांकृत्यायन के शब्दों में—"उस समय के बड़े-बड़े पंडित और प्रतिभाशाली कवि आधे पागल हो... स्त्रियों को ही 'मुक्तिदात्री प्रज्ञा', पुरुषों को ही मुक्ति का 'उपाय' और शराब को ही 'अमृत' सिद्ध करने में अपनी पण्डिताई और सिद्धाई खर्च कर रहे थे।"[1] इतिहास के अनुसार यह ठीक है कि उपर्युक्त असभ्य और विदेशी आक्रान्ताओं ने हमारे ऊपर बड़े-बड़े अत्याचार किये जिनके कारण हमारा पराकाष्ठा तक पतन हो गया। परन्तु उससे अधिक सत्य यह है कि नैतिक दृष्टि से पराकाष्ठा तक हमारा ही पतन हो गया था, जिसके कारण हमारे ऊपर बड़े-बड़े अत्याचार हुए।

चरक ने ईसा से पूर्व दूसरी शताब्दी में अत्यन्त दृढ़ता के साथ 'अग्निवेश तन्त्र' के प्रतिसंस्कार का काम हाथ में लिया। अत्यन्त विद्वत्ता और रोचकता के साथ चरक ने आयुर्वेद को दार्शनिक रूप दे दिया। चरक का एक-एक वाक्य जिस अकाट्य और उन्नत पांडित्य को अभिव्यक्त करता है, वह उनकी उच्च विद्वत्ता और वाक्पटुता का प्रतीक है। सत्य तो यह है कि चरक ने नास्तिकवाद की जड़ें हिला दीं। शून्यवादी माध्यमिक और क्षण-भंगवादी वैभाषिकों का यही तो पूर्व पक्ष था कि विश्व की शून्यता और क्षण-भंगुरता में कौन रोगी? और किसकी चिकित्सा? जिसको ज्वर चढ़ा है वही शून्य है और क्षण-भंगुर है। फिर किसका निदान और किसको चिकित्सा? जिसकी नब्ज देखी थी वह कोई और था, जिसको दवा देनी है वह कोई और है। परन्तु चरक ने उन नास्तिकों के मुंह बन्द कर दिये। एक नई ज्योति प्रदीप्त हुई, एक नया अभियान शुरू हुआ।

परन्तु खेद है कि चरक अभी आधा ही ग्रन्थ लिख पाये थे, विधाता ने उनको

---

1. बुद्धचर्या, भूमिका, पृ० 6

जीवन-लीला समाप्त कर दी। सूत्रस्थान, निदानस्थान, विमानस्थान, शरीरस्थान, इन्द्रियस्थान तथा चिकित्सास्थान के तेरह अध्याय पर्यन्त चरक लिख पाये थे कि जीवन के रंगमंच पर यवनिकापात हो गया। अष्टांग-संग्रह के व्याख्या-लेखक श्री इन्दुराज ने लिखा है कि चरक अधूरा ही ग्रन्थ प्रतिसंस्कार कर पाये थे कि ब्रह्मलीन हो गये।[1] बहुधा लोगों का यह विचार था कि चरक ने सम्पूर्ण 'अग्निवेश तन्त्र' का प्रतिसंस्कार कर दिया था। उसका जो भाग नष्ट हो गया उसे दृढ़बल ने लिखकर पूरा किया। वस्तुतः वह नष्ट नहीं हो गया था, प्रत्युत उस भाग को चरक ने लिख ही नहीं पाया था, और वे जीवन-लीला समाप्त कर गये। इन्दुराज (इन्दुकर) के लेख का यही अभिप्राय है।

'इन्दु व्याख्या' ही नहीं, चरक के चिकित्सास्थान में स्वयं दृढ़बल ने भी लिखा है कि इस 'अग्निवेश तंत्र' के चरकाचार्य द्वारा किये प्रतिसंस्कार में चिकित्सास्थान के सत्रह अध्याय, तथा कल्पस्थान एवं सिद्धिस्थान नहीं हैं, उन्हें मैं पूर्ण कर रहा हूं।[2] यह अर्थ-गम्भीर्यपूर्ण शास्त्र है, इसलिए इसकी गम्भीरता अक्षुण्ण रखने के लिए मैंने पूरा परिश्रम किया है। चिकित्सास्थान के वे सत्रह अध्याय जो दृढ़बल के लिखे हुए हैं, कौन-कौन से हैं, इस प्रश्न पर लोगों में मतभेद है। इस मतभेद का भी एक कारण है, कि हस्तलिखित प्राचीन प्रतियों में तथा प्रेस से प्रकाशित प्रतियों में चिकित्सास्थान के अध्यायों का क्रम एक-सा नहीं है।

गंगाधर कविराज ने चरक पर 'जल्प कल्पतरु' नामक व्याख्या लिखी है। उनके विचार से चक्रदत्त की व्याख्या वाली 'चरक संहिता' के पाठ के अनुसार प्रथम रसायनपाद से लेकर तेरहवें उदर चिकित्साध्याय पर्यन्त चरक का लिखा हुआ है। शेष अर्श-चिकित्सिताध्याय से लेकर योनिव्यापच्चिकित्सिताध्याय पर्यन्त सत्रह अध्याय एक साथ दृढ़बल के लिखे हुए हैं। परन्तु चक्रपाणि की सम्मति इससे भिन्न है। चिकित्सास्थान में कुल तीस अध्याय हैं। चक्रपाणि का कहना है कि प्रथम अध्याय से आठवें यक्ष्म चिकित्साध्याय पर्यन्त एक साथ तथा अर्श, अतीसार, विसर्प, मदात्यय और द्विव्रणीय चिकित्साध्याय। इन पांच को मिलाकर तेरह अध्याय चरक के लिखे हुए ही हैं।[3]

दृढ़बल द्वारा रचित अध्यायों का ध्यान रखते हुए, यक्ष्म चिकित्सा के बाद उन्माद चिकित्सिताध्याय की व्याख्या प्रारंभ करते हुए चक्रपाणि ने लिखा है कि यक्ष्मचिकित्सा के उपरान्त उन्माद चिकित्सा-क्रम प्राप्त है। क्योंकि यक्ष्मा का मूल निदान अधर्म है, और उन्माद का भी अधर्म। इसलिए यक्ष्मा के

---

1. 'चरकोऽर्धं कृते तन्त्रे ब्रह्मभूयं गतो यतः।"
—इन्दुराज, अष्टांग संग्रह व्याख्या।

2. अस्मिन् सप्तदशाध्याया कल्पासिद्धय एव च।
ना साद्यन्तेग्निवेशस्य तन्त्रे चरक संस्कृते॥
तानेतान् कापिलवलः शेषान् दृढ़बलोऽकरोत्।
तन्त्रस्यास्य महार्थस्य पूरणार्थं यथायथम्॥—चरक सं०, चिकि० 30/274-275

3. अर्श, प्रचलित 14 वां अध्याय, अतीसार 19 वां, विसर्प 21 वां, मदात्यय 24 वां तथा द्विव्रणीय 25 वां अध्याय। चक्रपाणि के अनुसार आठवें यक्ष्म चिकित्सिताध्याय के उपरान्त ये पांच अध्याय क्रम से होने चाहिए। प्रेस-मुद्रकों ने क्रम-भंग करके वर्तमान अध्याय-क्रम बना दिया है, जो मौलिक नहीं, किन्तु व्यतिक्रम है।

अनन्तर उन्माद को लिखा गया। परन्तु यह क्रम चरक द्वारा प्रतिसंस्कार किये हुए अर्श, अतीसार, विसर्प, मदात्यय तथा द्विव्रणीय चिकित्सा, इस पञ्चाध्यायी का अतिक्रमण है।[1] चक्रपाणि की सम्मति में यक्ष्मा के बाद ये पांच अध्याय होने चाहिए, क्योंकि ये चरक के लिखे हुए ही हैं। इस प्रकार चिकित्सास्थान के प्रथम आठ अध्याय तथा 14, 19, 21, 24 और 25 वें अध्याय चरक के लिखे हुए पहले विद्यमान थे, शेष सत्रह अध्याय दृढ़बल ने लिखे। परन्तु गंगाधर कविराज ने वर्तमान तेरह अध्याय छोड़कर पीछे के सत्रह अध्याय एक ही सिलसिले में दृढ़बल द्वारा रचित लिखे। यह मतभेद किस आधार पर चला, कहना कठिन है। परन्तु अधिकांश प्रमाणों के आधार पर यही ज्ञात होता है कि चक्रपाणि की बात में ही अधिक बल है। श्री जीवानन्द विद्यासागर महोदय द्वारा कलकत्ता से प्रकाशित मूल चरक संहिता में तो चिकित्सास्थान का अध्याय-क्रम ही चक्रपाणि के लिखे हुए क्रम के अनुसार मिलता है। यक्ष्म चिकित्सा के आठवें अध्याय के बाद चक्रपाणि के लेखानुसार चरक द्वारा लिखे गये 14, 19, 21, 24 और 25 वें अध्याय क्रमशः 9, 10, 11, 12 और 13 वें अध्याय के नाम से लिखे गये हैं। इतना ही नहीं, किन्तु अहमदाबाद के वैद्य रणछोड़लाल मोतीलाल बोधा महोदय द्वारा प्राप्त 'चरक संहिता' की एक प्राचीन हस्तलिपि में भी चिकित्सास्थान का अध्यायक्रम चक्रपाणि के अनुसार ही मिलता है।[2]

'चरक संहिता' पर 'निरन्तर पदव्याख्या' नामक आचार्य जेज्जट की लिखी हुई प्रति भी है। जेज्जट की व्याख्या देखने से चक्रपाणि का लिखा हुआ अध्याय-क्रम ही ठीक प्रतीत होता है। क्योंकि मदात्यय चिकित्साध्याय (24 अ०) की व्याख्या प्रारंभ करते हुए उन्होंने लिखा है—'अब विष चिकित्सा के अन्तर मदात्यय चिकित्सा का पर्याय है।' इस प्रकार उपक्रम लिखते हुए अन्त में लिखते हैं कि "चरकाचार्य द्वारा प्रतिसंस्कार किये गये इस अध्याय को भट्टार हरिचन्द्र ने ही भली प्रकार विशद किया था।"

इसी प्रकार द्विव्रणीय चिकित्साध्याय (25 वां अध्याय) के अन्त में भी लिखा है—'यह अध्याय आचार्य (चरक) द्वारा सुनिर्मित हुआ था।' इससे यह तो प्रतीत होता है कि चरक संहिता के चिकित्सास्थान का अध्याय-क्रम जेज्जट (6ठी ई०) से पूर्व ही इस क्रम में था जो अब चल रहा है। अर्थात यक्ष्मा के बाद नवां अध्याय उन्माद और विष चिकित्सा (23 वां अध्याय) के बाद ही मदात्यय (24वां अध्याय)। बीच-बीच में जेज्जट को यह लिखना पड़ा कि यह चरक का लिखा है। इसलिए ईसा की छठी शताब्दी से पूर्व अर्श चिकित्साध्याय 14 वां, अतीसार 19 वां, विसर्प 21 वां, मदात्यय 24 वां और द्विव्रणीय 25 वां अध्याय बना दिये गये थे। बीच-बीच में दृढ़बल ने अपने लिखे हुए अध्याय निदान अथवा सम्प्राप्ति के सामञ्जस्य के अनुसार जोड़ दिये। यह ऐतिहासिक तथ्य है

---

1. "इदानीमुपोद्घातितं राजयक्ष्म चिकित्सितमभिधाय क्रम प्राप्तमुन्माद चिकित्सितं ब्रूते। अत्र च क्रमश्चरक प्रतिसंस्कृतां पञ्चाध्यायीमर्शोतीसार वीसर्प मदात्यय द्विव्रणीयरूपां परित्यज्यतेः।"
—चरक, चिकि०, 9/1-2 चक्र व्याख्या

2. निर्णय सागर प्रेस, बम्बई से प्रकाशित चरक सं०, उपोद्घात, द्वितीयावृत्ति, आचार्य यादव शर्मा लिखित, पृ० 11

कि दृढ़वल ईसा की तीसरी शती में हुए थे। दृढ़वल ने लिखा ही है कि सत्रह अध्याय मेरे लिखे हुए हैं। कलकत्ता से श्री जीवानन्द विद्यासागर ने जो अध्याय-क्रम अपनी प्रकाशित प्रति में रखा वह इसी विचार से कि चरक लिखित अध्याय पहले रहें, दृढ़वल के उसके अनन्तर।

भट्टार हरिचन्द्र ने ईसा की चतुर्थ शताब्दी में, आचार्य जेज्जट ने छठी शताब्दी में, और चक्रपाणि ने ग्यारहवीं शताब्दी में अध्यायों का जो क्रम बनाये रखा, उसमें भी कुछ सार्थकता देखकर ही उसका समर्थन किया। वह वैज्ञानिक दृष्टि से निदान और सम्प्राप्ति के सामञ्जस्य का क्रम है। लेखक-दृष्टि से जो क्रम जीवानन्द विद्यासागर महोदय ने स्वीकार किया, उसे प्राचीन व्याख्याकारों ने उद्‌ङ्कित तो किया, किन्तु दृढ़वल का मिला-जुला क्रम ही व्यवहार में रहने दिया। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि गंगाधर कविराज की यह सम्मति निराधार है कि चिकित्सास्थान के अन्त में लगातार सत्रह अध्याय दृढ़वल के लिखे हुए हैं। दृढ़वल ने चरक के लिखे अध्यायों का क्रम वदलकर वीच-वीच में अपने लिखे अध्याय क्यों शामिल किये, इसका उत्तर यही ज्ञात होता है कि निदान और सम्प्राप्ति के सामञ्जस्य को ठीक-ठीक मिलाने के लिए उन्होंने ऐसा किया होगा। और दृढ़वल ने इतनी छूट तो अपने लिए रखी ही है—'संस्कर्त्ता कुरुते तन्त्रं पुराणञ्च पुनर्नवम्'। पुराने को नया करने का अधिकार संस्कर्त्ता को होना ही चाहिए।

दृढ़वल और चरक

अव दृढ़वल का वक्तव्य भी सुनने योग्य है। उन्होंने लिखा कि महर्षि आत्रेय ने अग्निवेश को कुल एक सौ वीस अध्याय लिखवाये थे—

1.	सूत्रस्थान	30 अध्याय
2.	निदानस्थान	8 अध्याय
3.	विमानस्थान	8 अध्याय
4.	शारीरस्थान	8 अध्याय
5.	इन्द्रियस्थान	12 अध्याय
6.	चिकित्सास्थान	30 अध्याय
7.	कल्पस्थान	12 अध्याय
8.	सिद्धिस्थान	12 अध्याय
	योग	120 अध्याय

"अग्निवेश के इस तन्त्र का प्रतिसंस्कार चरक ने किया (200 ई० पू०)। प्रतिसंस्कर्त्ता ग्रन्थ के संक्षिप्त भाग को विस्तृत और विस्तृत भाग को संक्षेप कर देता है, जैसा उसके युग में अभीष्ट हो वैसा उसे करने का अधिकार है। अर्थात् प्रतिसंस्कर्त्ता पुराने ग्रंथ को प्रायः नवीन रूप दे देता है। कितनी वातें ऐसी थीं जो अग्निवेश के समय व्यवहार-सिद्ध थीं, किन्तु चरक के युग में उनकी विस्तृत व्याख्या आवश्यक हो गयी। कुछ वातें उस समय व्याख्या से स्पष्ट की गयी थीं, किन्तु अव सामान्य ज्ञान में आ गयी

हैं, उन्हें संक्षेप कर देना उचित होता है। वुद्धि के धनी चरक ने इस 'अग्निवेश तन्त्र' का प्रतिसंस्कार वड़ी उत्तमता के साथ किया। किन्तु दुःख है कि उसका कुछ भाग अधूरा पड़ा है। इस अधूरे भाग को शास्त्र-रचना के पैंतीस गुणों से युक्त करके मैं लिख रहा हूं। इस ग्रन्थ के चिकित्सास्थान के सत्रह अध्याय, तथा कल्प एवं सिद्धिस्थान चरक द्वारा प्रतिसंस्कृत नहीं हुए, ग्रन्थ के अध्ययन करने वालों को उनका लाभ नहीं मिलता। अतएव इन 41 अध्यायों को (सत्रह चिकि०, 12 कल्प०, 12 सिद्धि०) इस ग्रन्थ की सम्यक् पूर्ति के लिए मैं लिख रहा हूं। मेरा नाम दृढ़वल है। मेरे पितृ पाद कापिलवल थे। मैं पञ्चनदपुर का निवासी हूं।"[1]

हम पीछे लिख चुके हैं कि चरक ग्रन्थ को पूर्ण नहीं लिख पाये और जीवन-लीला समाप्त कर गये। आचार्य वाग्भट (5-6 ई०) के 'अष्टांग संग्रह' ग्रन्थ पर उनके शिष्य इन्दुकर नें व्याख्या लिखी है। उन्होंने कल्पस्थान अध्याय 8 के अन्त में 'चरक संहिता' में प्रतिपादित की गई कुछ परिभाषाएं विस्तार से लिखी हैं। इस प्रसंग में इन्दुकर ने लिखा है कि महर्षि चरक अपने ग्रन्थ को अधूरा छोड़कर स्वर्ग सिधार गये थे। इसलिए स्नेह-पाकविधि, पेया, क्वाथ, कल्क तथा चूर्ण आदि की परिभाषाएं दृढ़वल ने लिखकर ग्रन्थ को पूर्ण किया। इन प्रयोगों के लिए उपयुक्त मात्राएं चरक के लिखित भाग के प्रकरणों

---

1. अस्मिन् सप्तदशाध्यायाः कल्पाः सिद्धय एव च।
नासाद्यन्तेऽग्निवेशस्य तन्त्रे चरक संस्कृते ॥
तानेतान् कापिलवलः शेषान् दृढ़वलोऽकरोत्।
तन्त्रस्यास्य महार्थस्य पूरणार्थं यथा यथम् ॥ ——च०, चिकि० 30/274-275

× ×

विस्तारयति लेशोक्तं संक्षिपत्यति विस्तरम्।
संस्कर्त्ता कुरुते तन्त्रं पुराणं च पुनर्नवम् ॥
अतस्तन्त्रोत्तम मिदं चरकेणाति वुद्धिना।
संस्कृतं तत्तु संसृष्टं विभागेनोपलभ्यते ॥
इदमन्यून शव्दार्थं तन्त्रं दोष विवर्जितम्।
अखण्डार्थं दृढ़वलो जातः पञ्चनदे पुरे ॥
कृत्वा वहुभ्यस्तन्त्रेभ्यो विशेषाच्च वलोच्चयम्।
सप्तदशौपधाध्याय सिद्धिकल्पैरपूरयत् ॥——च०, सिद्धि० 12/76-79

लाहौर से मोतीलाल वनारसीदास द्वारा प्रकाशित (1929 ई०) की चरक संहिता में उक्त पाठ है। किन्तु एक हस्तलिखित प्रति में यह पाठ कुछ भिन्न है——

विस्तारयतिलेशोक्तं संक्षिपत्यति विस्तरम्।
संस्कर्त्ता कुरुते तन्त्रं पुराणञ्च पुनर्नवम् ॥
अतस्तन्त्रोत्तममिदं चरकेणाति वुद्धिना।
संस्कृतं तत्वसम्पूर्णं त्रिभागेनोपलभ्यते ॥
तच्छङ्करं भूतपति सम्प्रसाद्य समापयत्।
अखण्डार्थं दृढ़वलो जातः पञ्चनदे पुरे ॥
कृत्वा वहुभ्यस्तन्त्रेभ्यो विशेषोञ्छशिलोच्चयम्।
सप्तदशौपधाध्याय सिद्धि कल्पैरपूरयत् ॥——च०, सिद्धि० 12/63-67

कुछ लोगों का विचार है कि यह पंचनदपुर (पंचनदे का गाव) उत्तर प्रदेश के इटावा जिले में है।

के आधार पर अनुमान से मैं लिखूंगा।[1] इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि जिस प्रकार 'अग्निवेश तन्त्र' का प्रतिसंस्कार चरक ने किया था, उसी प्रकार दृढ़बल ने 'चरक संहिता' का आद्योपान्त प्रतिसंस्कार नहीं किया। चरक अपनी कृति को अधूरा छोड़कर स्वर्ग सिधार गये थे। अवशिष्ट भाग को दृढ़बल ने लिखकर पूर्ण किया।

हस्तलिखित प्रति में 'असम्पूर्ण त्रिभागेनोपलक्ष्यते' लिखा है। अर्थात् 'अग्निवेश तन्त्र' में कुल 120 अध्याय थे। इसका एक तिहाई चरक ने पूर्ण नहीं कर पाया। एक सौ बीस का एक तिहाई चालीस अध्याय होते हैं। किन्तु दृढ़बल ने लिखा है कि मैंने 41 अध्याय (17 अध्याय चिकित्सास्थान के, 12 कल्प० और 12 सिद्धि स्थान के) लिखकर ग्रन्थ को पूरा किया। ये 41 अध्याय एक तिहाई से कुछ अधिक हो गया है। चक्रपाणि ने अपनी व्याख्या में यह बात विशेष रूप से लिखी है कि दृढ़बल का लेख एक तिहाई से अधिक है। एक तिहाई तो चालीस अध्याय ही होते हैं, दृढ़बल ने इकतालीस अध्याय लिखे, यह असदिग्ध ही है।[2] इस प्रकार 'त्रिभागेन' का अर्थ करना होगा—'लगभग एक तिहाई'।

चक्रपाणि के लिखे हुए चिकित्सा ग्रन्थ चक्रदत्त की व्याख्या आचार्य शिवदास ने लिखी। इस व्याख्या में 'चरक संहिता' के कल्प एवं सिद्धिस्थान से कुछ उद्धरण लिये गए हैं, स्वयं चक्रदत्त ने भी कुछ प्रयोग चरक के कल्प एवं सिद्धि स्थान से चक्रदत्त में उद्वृत किये हैं। शिवदास ने उन उद्धरणों को चरक नाम से नहीं, किन्तु दृढ़बल के नाम से ही लिखा है। चक्रदत्त के निरूहाधिकार में छठे श्लोक की व्याख्या प्रारंभ करते हुए शिवदास ने 'दृढ़बलस्य' ऐसा लिखकर ही व्याख्या लिखी। यद्यपि वह श्लोक 'चरक संहिता' के सिद्धिस्थान में विद्यमान है। परन्तु शिवदास ने उसे 'चरकस्य' ऐसा नहीं लिखा। फलतः इसमें किञ्चित्मात्र सन्देह नहीं कि चरक संहिता के अन्तिम 41 अध्याय पूर्णरूप से दृढ़बल के लिखे हुए हैं। चरक उस अंश का प्रतिसंस्कार करने से पूर्व स्वर्गवासी हुए। यद्यपि यह निस्संदेह कहा जा सकता है कि दृढ़बल ने चरक द्वारा लिखे सन्दर्भ से पूर्ण सामञ्जस्य रखते हुए अपने लेख को पूरा किया, जैसा कि दृढ़बल ने स्वयं कहा है।

दृढ़बल स्वयं जैसे विद्वान् थे, उनके पिता कापिलबल भी एक धुरन्धर प्राणाचार्य हुए। कापिलबल ने भी आयुर्वेद पर एक विशाल ग्रन्थ लिखा था। आज वह उपलब्ध नहीं है। 'अष्टांग संग्रह' के सूत्र स्थानीय (बीसवें) दोष भेदीयाध्याय में रसों के आधार

---

1. इन्दुकर का वक्तव्य निम्न प्रकार है—

कल्क कल्पस्तु चरके कषायाणां न कीर्तितः ॥ 24
स्नेहपाक विधिस्तूक्त एवं दृढ़बलेन तु।
चरकोऽर्धं कृते तन्त्रे ब्रह्मभूयं गतो यतः॥ 25
कषायस्यतु पेयस्य यदिवा कल्क चूर्णयोः :
मात्रा दृढ़बलेनापि तत्रेति परिभाषिता ॥ 26
चरकोक्तैर्मया वाक्यैरनुमानुमानात्प्रसाधिता।
अनुक्तापि यथा मात्रा पश्चाद्वक्ष्याम्यहं तथा ॥ 27—अष्टाङ्ग संग्रह, कल्पस्थान, अ० 8
अन्तिम श्लोक व्याख्या।

2. 'दृढ़बल प्रतिपादितैक चत्वारिंशदध्यायानां विंशाध्यायशत त्रिभागता युज्यते इतिनोद्भावनीयम्।'
—चक्र व्याख्या, सिद्धि स्थान० 12/76-79

पर त्रिदोष सिद्धान्त की व्याख्या करते हुए कापिलवल के ग्रन्थ से वाग्भट ने उद्धरण लिये हैं।[1]

ऐतिहासिक दृष्टि से दृढ़वल के सम्बन्ध में हमें थोड़ा बहुत ज्ञान हो सकता है। चरक के परिवार से दृढ़वल का नाम भुलाया नहीं जा सकता, इसलिए जब हम चरक के सम्बन्ध में कुछ विचार करते हैं, तब दृढ़वल के सम्बन्ध में कुछ न कहा जाय तो चरक की चर्चा ही अधूरी है। आचार्य दृढ़वल ने स्वयं ही अपना थोड़ा-सा परिचय लिखा है, उसके अतिरिक्त हमारे पास और कोई साधन उनके बारे में अधिक जानकारी के नहीं हैं। ऊपर हमने देखा कि दृढ़वल के पिता विद्वान् कपिलवल थे। वे पञ्चनदपुर के रहने वाले थे। यह पञ्चनदपुर वितस्ता (झेलम नदी) तथा सिन्धु नदियों के संगम के निकट पंज्योर नाम से प्रसिद्ध है।[2] पाश्चात्य विद्वान् डा० स्टीन महोदय ने 'राजतरंगिणी' का अंग्रेजी अनुवाद करते हुए इस बारे में लिखा है। पञ्चनदपुर आज भी सक्खर से कुछ ऊपर और बहावलपुर के पश्चिम सिन्धु और झेलम के संगम पर नक्शे में देखा जा सकता है। इस प्रकार दृढ़वल सिन्धु देश के निवासी थे।[3]

जिस 'अग्निवेश तन्त्र' का प्रतिसंस्कार चरक ने किया वह 'अग्निवेश तन्त्र' दृढ़वल के समय भी उपलब्ध था या नहीं, यह संदिग्ध ही है। चरक ईसा से 200 वर्ष पूर्व हुए और दृढ़वल 250 वर्ष बाद। इन 450 वर्षों में शायद 'अग्निवेश तन्त्र' लुप्त हो गया। अन्यथा शेष 41 अध्यायों का निर्माण करते हुए दृढ़वल को बहुत से तन्त्रों से शिलोञ्छवृत्ति (सिला बीनना) न करनी पड़ती। दृढ़वल ने लिखा है कि मुझे चरक के शेष 41 अध्याय लिखने के लिए बहुत से तन्त्रों से सामग्री बटोरनी पड़ी। यह भी हो सकता है कि चरक के विद्वत्तापूर्ण प्रतिसंस्कार ने 'अग्निवेश तन्त्र' का मान घटा दिया होगा। जो भी हो, दृढ़वल ने 'अग्निवेश तन्त्र' को किसी रूप में देखा होगा तभी तो कल्पस्थान और सिद्धिस्थान क्रम से जोड़े जैसे कि 'अग्निवेश तन्त्र' में थे। 'अग्निवेश तन्त्र' के छिन्न-भिन्न अंग तो

---

1. कापिलवलस्त्वेषां स्वलक्षणानि रसतो निर्दिदेश:—
कट्वम्ललवणं पित्तं स्वाद्वम्ल लवण: कफ:।
कषाय तिक्त कटुको वायुर्दृष्टोनुमानत: ॥—अष्टांग सं० सू० 30
तच्च कापिलवलग्रन्थं वाहट: (वाग्भट:) कट्वम्लेत्यादिना स्वयं पठति'।—इन्दु व्याख्या
2. तेन कंगण वर्षस्य रस सिद्धस्य सोदर:।
चंकुणोनाम भुःखार देशानीतो गुणोन्नत: ॥
स रसेन समातन्वन् कोषे बहु सुवर्णताम्।
पद्माकर इवाब्जस्य भूभृतोऽभूच्छुभावह: ॥
रुद्ध:पञ्चनदे जातु दुस्तरै सिन्धु संगमै:।
तटेस्तम्भित सैन्योऽभूद्राजा चिन्तापर: क्षणम् ॥
ततोऽम्बुतरणोपायं तस्मिन् पृच्छति मन्त्रिण:।
अगाधेऽम्भसि रोधःस्थरचंकुणो मणिमक्षिपत् ॥
तत्प्रभावाद्विधाभूतं सरिन्नीरं स सैनिक:।
उत्तीर्णो नृपतिस्तूर्णं परं पारं समासदत् ॥—राजतरंगिणी, तरंग 4, श्लो० 246-250
3. 'दृढ़बलो जात: पञ्चनदे पुरे'—चरक०, सिद्धि०, 12/78

व्याख्याकारों के लेखों में अभी तक प्राप्त होते हैं। चक्रपाणि ने कहीं-कहीं लिखा है--'दृढ़बल संस्कारेऽपिपठ्यते'। इसका अर्थ यह है कि दृढ़बल ने 'अग्निवेश तंत्र' का प्रतिसंस्कार ही किया, जिस भाग को चरक नहीं लिख सके थे। इससे यह ध्वनि तो निकलती ही है कि दृढ़बल के समय तक 'अग्निवेश तन्त्र' मूल रूप में प्राप्त था।[1] चरक ने लिखा है—'मैं सिद्धिस्थान में यह लिखूंगा', 'मैं कल्पस्थान में यह लिखूंगा'; इस प्रकार वे ग्रन्थ का ढांचा बना ही गये थे। यद्यपि यह दोनों स्थान लिख न पाये।[2]

दृढ़बल के समय का निर्धारण उपर्युक्त प्रमाणों के आधार पर बहुत कुछ असंदिग्ध है। चक्रपाणि ईसा की 11 वीं शती में हुए, उन्होंने दृढ़बल के उद्धरण लिखे हैं। चक्रपाणि से पूर्व वाग्भट ईसा की 5वीं शती में सिन्धु देश में ही हुए। उन्होंने भी दृढ़बल के उद्धरण दिये हैं। इसलिए दृढ़बल वाग्भट से पूर्ववर्ती थे, इसमें सन्देह नहीं। वाग्भट के शिष्य जेज्जट ने 'चरक संहिता' पर दृढ़बल के लिखे हुए भाग तक व्याख्या लिखी है। भट्टारक हरिचन्द्र वाग्भट (500 ई०) तथा जेज्जट (600 ई०) से पूर्व 'चरक संहिता' पर 'चरकन्यास' नामक व्याख्या लिख चुके थे। 'चरक संहिता' की व्याख्या में एक जगह चक्रपाणि ने लिखा है कि वाग्भट भट्टारक हरिचन्द्र के अनुयायी ही थे।[3] भट्टारक हरिचन्द्र, की 'चरकन्यास' व्याख्या सम्पूर्ण 'चरक संहिता' पर उपलब्ध नहीं है, वह केवल सूत्रस्थान पर्यन्त है। भट्टारक हरिचन्द्र का समय हम चतुर्थ शती मानते हैं। फलतः दृढ़बल का समय हम ईसा की तृतीय शताब्दी स्वीकार करें तो इतिहास के साथ कोई अन्याय होने की सम्भावना नहीं।

'चरक संहिता' चिकित्सास्थान का 30 वां योनिव्यापच्चिकित्साध्याय दृढ़बल का लिखा हुआ है। उसमें व्यक्तियों के देश के स्वभावानुसार पथ्यापथ्य की व्यवस्था दृढ़बल ने दी है। इन व्यक्तियों में वाल्हीक, पल्लव, चीनी, शूलीक, यूनानी और शकों के स्वभावानुकूल आहार का उल्लेख है। चिकित्सा में वैद्य को उनके लिए क्या-क्या ध्यान रखना चाहिए, यह उल्लेख है। तात्पर्य यह कि उक्त देशों के लोग भारत में आते-जाते थे, जिनकी चिकित्सा भारतीय प्राणाचार्य ही करते थे। मीनाण्डर जैसे यूनानी तथा कनिष्क आदि शक आक्रान्ता उस युग तक भारत-भूमि पर आ ही चुके थे।' यद्यपि चरक के युग (200 ई० पू०) तक शक आक्रान्ता भारत की भूमि पर पैर नहीं रख सके थे। मुद्राशास्त्र के आधार पर शकों का प्रथम शासक मोग (Maues) गन्धार तक ई० पू० पहली शती में आया और उसका उत्तराधिकारी अयस् (Ayes) ईसा की प्रथम शती में बढ़कर पंजाब तक घुस आया था।[4] इसलिए दृढ़बल द्वारा शकों का उल्लेख यह प्रकट करता है कि दृढ़बल ईसवी 100 के बाद हुए। व्याख्याकारों के उल्लेख यह भी स्पष्ट करते हैं कि हम

1. चक्र व्याख्या, चरक सं०, सू० 7/46-50
2. च० सू० 15/5 तथा विमा० 8/14
3. 'भट्टार हरिचन्द्रेणतु······इतिव्याख्यातं। तन्मतानुसारिणा वाग्भटेन चोक्तम् 'श्रावणे कार्त्तिके चैत्रेमासि······" --चरक सं०, सूत्र०, अ० 7, श्लोक 46-50 तक चक्रपाणि की व्याख्या देखिये।
4. गुप्त साम्राज्य का इतिहास, पृ० 11

उन्हें 300 ई० के बाद नहीं ले जा सकते।

'चरक संहिता' पर भिन्न-भिन्न समयों में अनेक व्याख्यायें लिखी गई हैं। उनमें कितनी ही अब प्राप्त नहीं हैं। जो प्राप्त हैं वे भी प्रायः अपूर्ण या खण्डित हैं। 'चरक संहिता' पर अभी तक चार प्राचीन व्याख्यायें निम्न प्रकार उपलब्ध हैं—

1. भट्टारक हरिचन्द्र लिखित 'चरक न्यास' व्याख्या। यह प्रारम्भ से सूत्र-स्थान पर्यन्त लिखी हुई है। मद्रास के सरकारी पुस्तकालय में है। संभवत ईसा की चतुर्थ शती में लिखी गई।

2. जेज्जटाचार्य लिखित 'निरन्तर पदव्याख्या'। चिकित्सास्थान से सिद्धिस्थान तक। बीच-बीच में कहीं-कहीं खण्डित। मद्रास के पुस्तकालय में है। ईसा की छठी शती में लिखित।

3. श्री चक्रपाणिदत्त रचित 'आयुर्वेद दीपिका' व्याख्या। यह वर्तमान में प्रचलित और सम्पूर्ण है। ईसा की 11 वीं शती में निर्मित।

4. श्री शिवदास की 'तत्त्व चन्द्रिका' व्याख्या। यह प्रारम्भ से सूत्रस्थान के 27 वें अध्याय पर्यन्त है। बम्बई के रॉयल एशियाटिक सोसाइटी के पुस्तकालय में है। ईसा की 13 वीं शती में लिखी गई।

5. इसके अतिरिक्त कविराज गंगाधर की 'जल्प कल्पतरु' व्याख्या तथा कविराज योगीन्द्रनाथ सेन की 'चरकोपस्कार' नामक व्याख्यायें और भी हैं। ये ईसा की 18 वीं शती के बाद की हैं, और अभी तक बहुत प्रचलित नहीं।

ये सम्पूर्ण व्याख्याएं दृढ़बल के द्वारा 'चरक संहिता' पूर्ण करने के उपरान्त लिखी गयीं। प्राचीन आचार्यों की साक्षी से ज्ञात होता है कि ईसा की दसवीं शताब्दी तक 'चरक संहिता' पर भट्टार हरिचन्द्र तथा आचार्य जेज्जट की व्याख्यायें ही विद्वानों में आदरणीय समझी जाती थीं। तीसटाचार्य विरचित 'चिकित्सा कलिका' नामक ग्रन्थ की व्याख्या के प्रारम्भ में उनके पुत्र चन्द्रट ने लिखा है—'हरिचन्द्र सुधीर तथा जेज्जट जैसे धुरन्धर आचार्यों की व्याख्या के रहते आयुर्वेद विषय पर दूसरे व्यक्ति का व्याख्या लिखना केवल धृष्टता ही है।"[1] भट्टार हरिचन्द्र, सुधीर तथा जेज्जट के पक्ष में चन्द्रट की इस गर्वोक्तिपूर्ण वकालत रहते हुए भी ईसा की 11वीं सदी में आचार्य चक्रपाणि ने चरक पर नई व्याख्या लिखने की हिम्मत कर ही डाली। आज वह विद्वानों में आदर की पात्र बनी हुई है। महाकवि भारवि ने ठीक कहा है— 'गुणाः प्रियत्वेऽधिकृता न संस्तवः'। हां, इसमें सन्देह नहीं कि चक्रपाणि की व्याख्या से हरिचन्द्र सुधीर और जेज्जट की प्रतिष्ठा तनिक भी कम नहीं हुई। वे जहां थे वहीं हैं। भट्टार हरिचन्द्र सुधीर और जेज्जट की सम्मति पाये बिना आयुर्वेद का सिद्धान्त-पक्ष पूर्ण नहीं होता।

भट्टारक हरिचन्द्र ने चरक पर जो व्याख्या लिखी थी वह केवल सूत्रस्थान पर ही नहीं, प्रत्युत सम्पूर्ण 'चरक संहिता' पर। दुर्भाग्य है कि सूत्रस्थान के अतिरिक्त अन्य

---

1. व्याख्यातरि हरिचन्द्रे श्री जेज्जट नाम्नि सति सुधीरे च।
अन्यस्तायुर्वेदे व्याख्या धाष्ट्यं समाचरति।—चन्द्रट

भाग प्राप्त नहीं हुए। माधवनिदान की मधुकोष व्याख्या में आचार्य विजयरक्षित ने भट्टारक हरिचन्द्र द्वारा लिखी हुई 'चरक संहिता की 'चरकन्यास' व्याख्या के निदान-स्थान से उद्धरण लिए हैं।[1] उसी प्रकार जेज्जट ने अपनी प्रतिभा से चरक की निरन्तर पद व्याख्या द्वारा चरक के सिद्धान्तों का उज्ज्वल स्पष्टीकरण दिया। जेज्जट आचार्य वाग्भट के शिष्य थे। चरक और दृढ़बल के समन्वय और समीकरण में इन व्याख्याकारों ने उल्लेखनीय योग दिया। यद्यपि चरक की लेखनी में जो प्रवाह और बहुज्ञता थी वह दृढ़बल नहीं ला सके। विज्ञान में वह सूझ-बूझ जो चरक में स्वाभाविक प्रतीत होती है, दृढ़बल की पहुंच से बहुत दूर है। परन्तु भट्टारक हरिचन्द्र और जेज्जट ने अपनी व्याख्याओं से यह अन्तर ऐसे मिटा दिया, मानो 'चरक संहिता' का पट एक ही ताने-बाने में बुना गया हो। इसमें सन्देह नहीं कि जिस प्रकार भगवान् राम का चरित्र-चित्रण करके महर्षि वाल्मीकि ने अमर यश पा लिया, उसी प्रकार चरक की सेवा द्वारा दृढ़बल ने अपना नाम अमर कर लिया।

चरक के सिद्धान्त

अब तक की बातचीत में चरक का बहिरंग परिचय था। परन्तु हमें यहां उनका अन्तरंग परिचय पाने का प्रयास करना आवश्यक है। भारत के प्राचीन विद्वानों की दृष्टि में यही परिचय, व्यक्ति का वास्तविक परिचय है। कोई कहां पैदा हुआ, उसका वंश क्या था, उसके माता-पिता कौन थे, वह कितनी सम्पत्ति का मालिक था—ये सब बातें भारतीय संस्कृति में विशेष महत्त्व नहीं रखतीं। वे कर्म सिद्धान्त के उपासक थे, जन्म सिद्धान्त के नहीं। मनुष्य जीवन का मूल्य उसके कर्म से आंकना चाहिए, जन्म से नहीं—यही उनका अमूल्य उपदेश है, जो अपने चरित्र और लेखों द्वारा वे संसार को दे गये।

चरक ने उसी उच्च सरणि का अनुगमन किया। जहां उन्होंने अपनी अनुपम कृतियों की धरोहर एक आदर्श संहिता के रूप में हमें सौंपी, वहां अपने जन्म के सम्बन्ध में एक शब्द भी कहने में समय का दुरुपयोग नहीं किया। यद्यपि बहिरंग परिचय से भी अनुगामियों को स्फूर्ति मिलती है, परन्तु अन्तरंग परिचय एक कर्मवीर के जीवन में जो महत्त्व रखता है, वही सबसे बढ़कर गौरव की चीज है। कर्मवीर पुरुषों के जीवन में अपने सिद्धान्तों के प्रति जो सत्य-निष्ठा और उत्सर्ग की भावना रहती है, वह उनके साथ सिद्धान्तों को इतना अभिन्न बना देती है, कि वे सिद्धान्त ही उनके जीवन की परिभाषा बन जाते हैं। इसलिए यदि महापुरुषों के जीवन को समझना हो तो उनके सिद्धान्तों को समझना चाहिए।

1. आस्तिकवाद

चरक का आविर्भाव उस युग में हुआ था, जब बौद्ध और जैन नास्तिकवाद की घटायें भारत के राष्ट्रीय गगन में घिरी हुई थीं। शून्यवाद और क्षणभंगवाद जैसे

1. यत्तु भट्टार हरिचन्द्रेण निदानस्थाने 'यौगैः सुदोहाभवनि न तां निददीत' इति व्यास प्रयोग मुपन्यस्य" इत्यादि।—माधव निदान 1/4 व्याख्या

तर्क चिकित्सा-विज्ञान को ही जड़ से उखाड़ देना चाहते थे। शून्यवादी माध्यमिक कहते थे कि विश्व शून्य का विवर्त (मिथ्या आभास) है। जिस प्रकार स्वप्न में चढ़ा हुआ ज्वर और ज्वर का उपचार वास्तव में मिथ्या है; उसी प्रकार रोगी के रोग का निदान और उसकी चिकित्सा पर विचार सर्वथा मिथ्या है। किसी को रोगी कहना और उसकी चिकित्सा की व्यवस्था करना जनता की प्रतारणा के सिवाय और कुछ नहीं, क्योंकि वह मिथ्या आभास है।

ठीक उसी प्रकार क्षणभंगवादी वैभाषिकों का कहना यह था कि विश्व का प्रत्येक पदार्थ प्रतिक्षणभंगुर है। प्रथम क्षण की वस्तु द्वितीय क्षण रहती नहीं। फिर वैद्य जिस रोगी का निदान पहले क्षण में कर लेता है, दूसरे क्षण में वह व्यक्ति ही नहीं रहता, फिर चिकित्सा के रूप में जिसे औषधि दी जाती है, वह व्यक्ति उस व्यक्ति से भिन्न है जिसका निदान किया गया था। रोगी कोई, औषधि किसी को दी जाय, यह कहां की बुद्धिमत्ता है ?

चरक ने बुद्धि के इस विभ्रम को दूर करने का सबसे प्रथम प्रयास किया। इनका एक ही समाधान था, वह था आस्तिकवाद, या सत्कार्यवाद। कपिल मुनि ने इसी सिद्धांत पर सम्पूर्ण सांख्य-दर्शन की रचना कर डाली। सांख्य-दर्शन में कपिल ने जो कुछ लिखा था उसे चरक ने अपनी प्रयोगशाला में व्यवहार-सिद्ध रूप देकर हमारे सामने रखा। कपिल का सांख्य केवल दर्शन था, किन्तु चरक ने उसे विज्ञान का रूप दे दिया। सत्कार्य-वाद की तात्विकता क्या है, इस तत्त्व को समझने के लिए सांख्य-दर्शन उतना पर्याप्त नहीं है जितनी 'चरक संहिता'।

सूत्रस्थान के यज्जः-पुरुषीयाध्याय में पथ्यापथ्य का विवेचन करते हुए हितकारी और अहितकारी पदार्थों की एक लम्बी सूची आचार्य ने लिखी है। प्रश्न उठाया है कि त्याज्य वस्तुओं में सबसे अधिक त्याज्य क्या है? उत्तर दिया—'नास्तिक'।[1] क्योंकि नास्तिक की दृष्टि में परीक्ष्य और परीक्षा, कर्त्ता और कारण, कर्म और कर्मफल; इतना ही नहीं, देव, ऋषि, सिद्ध, विद्वान् आदि सभी कुछ मिथ्या प्रतारणा है। अपनी जिस सत्ता का हम प्रतिक्षण अनुभव करते हैं, नास्तिक उसी को भ्रम कहकर हमें आत्मघात की ओर प्रेरित करता है। इसलिए नास्तिक का संग सबसे बुरा पाप है।[2] चरक का यह उल्लेख विषयान्तर अथवा अध्यात्मवाद नहीं है, प्रत्युत आयुर्वेद विज्ञान की पृष्ठभूमि 'आस्तिकता' ही है। विज्ञान का मानव के साथ कोई सम्बन्ध जुड़ सकता है तो वह आस्तिकवाद के द्वारा ही; अन्यथा विज्ञान का मानव से कोई सम्बन्ध है ही नहीं। यह ठीक है कि विज्ञान से सब कुछ जाना जाता है,' परन्तु उस जानने वाले को किसने जाना जाय? सम्पूर्ण

---

1. 'नास्तिकोवर्ज्यानाम्'—चरक० सू० 25/39
2. न परीक्षा न परीक्ष्यं न कर्ता कारणं न च ।
   न देवा नर्षयः सिद्धाः कर्म कर्मफलं न च ॥
   नास्तिकस्यास्ति नैवात्मा यदृच्छोपहतात्मनः ।
   पातकेभ्यः परञ्चैतत्पातकंनास्तिकग्रहः ॥—चरक०, सू० 11/14-15

विज्ञान एक विशाल ज्ञान का क्षेत्र है, यदि इसमें क्षेत्रज्ञ नहीं, तो इसका ज्ञाता कौन है ?[1] आंख से देखी गई वस्तु को लेने के लिए हाथ क्यों बढ़ते हैं ? कानों से सुने गये शब्दों पर वाणी 'वाह-वाह' क्यों कर उठती है ? दूसरे के करुण क्रन्दन कानों से सुनकर नेत्र क्यों छलक उठते हैं ? इसीलिए कि इन इन्द्रियों से परे कहने, सुनने और देखने वाली कोई एक सत्ता है, जो इस शरीर-रूपी पंचभूत के पुतले को अपनी चेतना से अनुप्राणित कर रही है। इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख और ज्ञान का अनुष्ठान बनाये हुए है।[2]

काल, बुद्धि और इन्द्रियों के विषयों का मिथ्यायोग, अयोग, अथवा अतियोग व्याधि को जन्म देता है। इसलिए इन तीनों कारणों से उत्पन्न होने वाले धातु वैषम्य को समता में रखना चिकित्सा का उद्देश्य है और समता की स्थिति का नाम ही स्वास्थ्य है।[3]

शरीर और मन ही व्याधि के अधिष्ठान हैं। शरीर और मन ही सुख एवं स्वास्थ्य के भी अधिष्ठान हैं। आत्मा निर्विकार और नित्य है। वह भौतिक दुःख और सुख दोनों से मुक्त केवल साक्षी रूप इस नाटक को देखता है। हां, उसमें विषय-वासना का लेप हो, तो शरीर और मन के सुख-दुःख को अपना सुख-दुःख मानकर सुखी और दुःखी होने का अहंकार लिये रहता है। यह मिथ्या अहंकार छूट गया तो जानो मुक्त हो गया।[1] स्वभाव से आत्मा मुक्त तो है ही। अहंकार से मुक्ति पाना ही दुःख से मुक्ति होती है।

आस्तिकवाद का सबसे प्रबल और प्रथम समर्थक वेदों का साहित्य है, इसलिए चरक ने वेदों के प्रति पदे-पदे अपनी आस्था अभिव्यक्त की है। चरक ने लिखा है कि आयुर्वेद अथर्ववेद का उपवेद है।

तत्त्व-निर्णय के लिए चरक ने न्यायदर्शन का मार्ग स्वीकार किया है। गौतम न्याय के सम्पूर्ण तत्त्व विमानस्थान में सुन्दर शैली में प्रतिपादित हैं। परन्तु न्याय के असत्कार्यवाद को स्वीकार न करके उन्होंने सांख्य के सत्कार्यवाद का प्रतिपादन किया। वे नास्तिकवाद और अनेकान्तवाद के सर्वथा विरोधी थे। नास्तिकवादी बौद्ध विश्व को सर्वथा मिथ्या कहते थे। दूसरे जैन विश्व को अनैकान्त सिद्ध कर रहे थे। किसी वस्तु का स्वरूप निश्चित नहीं कहा जा सकता। स्याद्वाद ही जैनों का प्रबल तर्क था। यह पुरुष भी हो सकता है, यह पशु भी हो सकता है; यह जीवित भी है, यह मृत भी है। किसी पदार्थ को

---

1. इतिक्षेत्रं समुद्दिष्टं सर्वमव्यक्त वर्जितम्।
   अव्यक्तमस्य क्षेत्रस्य क्षेत्रज्ञमृषयो विदुः ॥--चर०, शारीर०, 1/63
2. ज्ञः साक्षीत्युच्यते नाज्ञः साक्षी ह्यात्मा यतः स्मृतः।
   सर्वे भावा हि सर्वेषां भूतानामात्मसाक्षिकाः ॥—चर० शारी०, 1/81
3. काल बुद्धीन्द्रियार्थानां योगो मिथ्या न चाति च।
   द्वयाश्रयाणां व्याधीनां त्रिविधो हेतु संग्रहः।—च० सू०, 1/53
   धातु साम्यक्रिया चोक्ता तन्त्रस्यास्य प्रयोजनम्।—च० सू०, 1/52
4. निर्विकारः परस्त्वात्मा सत्व भूत गुणेन्द्रियैः।
   चैतन्ये कारणं नित्यो द्रष्टा पश्यतिहि क्रियाः ॥--च० सू०, 1/55

एक दृष्टि में नहीं बांधा जा सकता। जैनों के इस विचिकित्सावाद का चरक ने विरोध किया।[1] उन्होंने आस्तिकवादी दर्शनों की निर्णयात्मक 'प्रमा' बुद्धि का समर्थन किया। इसीलिए चरक प्रमाणवादी थे, क्योंकि प्रमा का साधन प्रमाण है।

चरक के विचार से जगत् में सब कुछ दो भागों में है—सत् और असत्। इनके प्रमा ज्ञान के लिए प्रत्यक्ष, अनुमान, आप्तोपदेश तथा युक्ति—ये चार साधन उन्होंने बताये। बौद्ध और जैन जगत् को केवल प्रत्यक्ष से अधिक नहीं मानते। प्रत्यक्ष का नाश होने पर फिर कुछ नहीं। चरक ने कहा—जिन इन्द्रियों से तुम जगत् को प्रत्यक्ष अनुभव करते हो, वे स्वयं अनुमेय हैं।[2] आप्तोपदेश की अंतिम मर्यादा उन्होंने वेद को लिखा है।[3] उनका विचार था कि रोग, स्वास्थ्य, दीर्घायु और अल्पायु पर पूर्वजन्म के सुकृत एवं दुष्कृत का प्रभाव भी है। पूर्वजन्म के ये संस्कार ही 'दैव' शब्द से बोधित होते हैं। और जो हम वर्तमान जीवन में कर रहे हैं वह कर्म पुरुषार्थ है। पुरुषार्थ से दैव को जीता जा सकता है। चिकित्सा करते हुए निरोग होते हैं, चिकित्सा करते हुए मर भी जाते हैं, फिर चिकित्सा का क्या लाभ? चरक ने लिखा कि यह दैव और पुरुषार्थ का आनुपातिक भेद है। इस प्रकार दीर्घायु और अल्पायु के निर्माता हमीं हैं। दैव बीज है और यह जीवन अंकुर। बीज नाश हो जाय तो अंकुर ही न हो। बीज-नाश के लिए पुरुषार्थ प्रबल होना चाहिए। चिकित्सा इस अंकुर को स्वस्थ रखना चाहती है, ताकि उसके द्वारा पुरुषार्थ किया जा सके और उसमें सुफल लगें।

चरक के विचारों की सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि उन्होंने मनुष्य जीवन को व्यावहारिक और पारमार्थिक सत्य कहा। अनेक दार्शनिक मनुष्य जीवन को स्वप्न और मिथ्या कहकर आत्म-प्रवंचना कर रहे थे। यह आत्म-प्रवंचना ही नहीं, जग-वंचना ही अधिक थी। नास्तिकवादियों का कहना यह था कि यज्ञ और उपासना संसार को धोखा देकर स्वार्थ साधने का मार्ग है। परन्तु चरक ने कहा—जीवन को मिथ्या सिद्ध करने का मार्ग संसार को लूटने और स्वयं मौज उड़ाने का मार्ग है। आस्तिकवाद में इस जीवन की करनी का हिसाब अगले जीवन की परम्पराओं में तब तक नहीं छूटता जब तक लेना-देना बराबर न हो। परन्तु नास्तिकवादी का हिसाब-किताब कुछ नहीं। वह चाहे जिसे लूटे, उसका न्याय नहीं। वह अपनी करनी का उत्तरदायी भी नहीं होना चाहता।[4] इसके विरुद्ध चरक ने एक ही बात कही—'विश्व का प्रवाह आकस्मिक नहीं, वह हमारे ही कर्मों का प्रवाह है।'[5] इस आधार पर चरक ने लौकिक जीवन को सबसे बड़ा शिक्षा देनेवाला

---

1. 'तत्र बुद्धिमान्ना स्तिक्य बुद्धि जह्या द्विचिकित्सां।'—चरक, सू० 11/7
2. चरक, सूत्र 11/8
3. 'आप्तागमस्तावद्वेदः यश्चान्योपि कश्चिद्वेदार्थादविपरीतः परीक्षकैः प्रणीत शिष्टानुमतो लोकानुग्रह प्रवृत्तः शास्त्रवादः सचाप्तागमः।'—च० सू०, 11/27
4. तथा कृती निर्वृतिमभ्युपेतो, नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम्।
   दिशं न काञ्चिद्विदिशं न काञ्चित्क्लेशक्षयात् केवलमेति शान्तिम्॥—अश्वघोष, सौन्दरनन्द, 16/29
5. रूपादिरूप प्रभवः प्रसिद्धः कर्मात्मकानां मनसो मनस्तः।
   भवन्ति ये त्वाकृति बुद्धिभेदा रजस्तमस्तत्र च कर्म हेतुः॥—चरक सं०, शारीर०, 2/36

आचार्य लिखा—'कृत्स्नो हि लोको बुद्धिमतामाचार्यः, शत्रुश्चाबुद्धिमता मेव ।'[1] रोगी अपने जीवन से प्रत्येक को शिक्षा देता है—'कुपथ्य का उपयोग बन्द करो; अन्यथा मेरे-जैसे रोग का कष्ट तुम्हें भी भोगना पड़ेगा।' युग बीत गये, संसार एक ही शिक्षा दे रहा है—राम की तरह आचरण करो, रावण की भांति नहीं। कृष्ण के चरणचिह्नों पर चलो, कंस के नहीं। बुद्धिमानों ने इस उपदेश को सुना और चैन से जीवन निर्वाह कर गये। मूर्खों ने नहीं सुना, उन्हें शारीरिक और मानसिक रोग खा गये। इन्हीं रोगों से ग्रस्त लोगों को स्वास्थ्य प्रदान करना प्राणाचार्य का काम है, ताकि वे स्वास्थ्य के मार्ग पर चलकर जीवन को सफल कर लें।

चरक से पूर्व त्रिदोषवाद का सिद्धान्त सर्वसम्मत सिद्धान्त नहीं था। धन्वन्तरि और सुश्रुत 'धान्वन्तरीय' सम्प्रदाय से बोधित होते थे। वे ही आयुर्वेद के क्षेत्र में विशेष पूजित थे। धाण्वन्तर सम्प्रदाय निदानशास्त्र में वात, पित्त, कफ और रक्त—ये चार दोष मूलरूप में स्वीकार करता था।[2] चरक ने रक्त का स्वतन्त्र दोषत्व खण्डन कर डाला। केवल वात, पित्त और कफ—इस त्रिदोषवाद की स्थापना की। यद्यपि आत्रेय तथा अग्नि-वेश संहिताओं की स्थापना त्रिदोषवाद के पक्ष में थी, परन्तु उसमें विवाद के लिए भी स्थान था। चरक ने प्रतिसंस्कार के द्वारा त्रिदोषवाद की जो उज्ज्वल स्थापना की, उसने आयुर्वेद में यह विवाद नहीं रहने दिया। चरक के उपरान्त नागार्जुन, भट्टारक हरिचन्द्र, वाग्भट, जेज्जट, चन्द्रट एवं माधव ने जो ग्रंथ लिखे, एकमात्र त्रिदोषवाद के समर्थन में ही लिखे, मानो 'दोष चतुष्टयवाद' समाप्त ही हो गया।

चरक का त्रिदोषवाद

चरक का यह वैज्ञानिक सिद्धान्त है कि बाह्य सृष्टि के संचालन में जो नियम काम कर रहे हैं, ठीक वे ही नियम हमारे आध्यात्मिक संसार की अन्तःसृष्टि में भी काम कर रहे हैं। 'यथापिण्डे तथा ब्रह्माण्डे' का अटल सिद्धान्त प्राचीन भारतीयों की ऐसी खोज है जिसका अपलाप नहीं हो सका। शारीरस्थान के 'महती गर्भावक्रान्ति' नामक चौथे अध्याय में पुरुष का उत्पत्ति-क्रम बतलाते हुए चरक ने इसी बात को स्पष्ट किया है कि 'वैज्ञानिक तत्त्ववेत्ताओं का यह सिद्धान्त है कि बाह्य सृष्टि में जो तत्त्व काम कर रहे हैं, पुरुष के अन्दर भी वे ही तत्त्व विद्यमान हैं। और पुरुष के अन्तर्जगत् में जो तत्त्व हैं, बाह्य सृष्टि में भी वही तत्त्व और नियम विद्यमान हैं।"[3]

---

1. चरक, विमान, 8/6
2. 'शारीरास्त्वन्नपान मूला वात, पित्त, कफ, शोणित सन्निपात वैषम्यनिमित्ताः'
—सुश्रुत सं०, सूत्र 1/25

नर्ते देहः कफादस्ति न पित्तान्नचमारुतात्।
शोणितादपि वा नित्यं देह एतैस्तुधार्यते॥ —सु०, सू० 21/3-4
देहस्य रुधिरं मूलं रुधिरेणैव धार्यते।
तस्माद्यत्नेन संरक्ष्यं रक्तं जीवइतिस्थितिः॥ —सु०, सू० 14/44

3. 'एवमयं लोक सम्मितः पुरुषः। यावन्तोहिलोके मूर्तिमन्तो भाव विशेषास्तावन्तः पुरुषे; यावन्तः पुरुषे तावन्तो लोके इति, बुधास्त्वेवं द्रष्टुमिच्छन्ति'। —चरक, शारी० 4/13

हम अपनी ज्ञानेन्द्रियों से पांच गुणों का प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं। वे हैं (1) शब्द, (2) स्पर्श, (3) रूप, (4) रस और (5) गन्ध। स्वाभाविक है कि इन गुणों का आधार जानने की ओर वैज्ञानिकों का मन अग्रसर हुआ। उन्होंने इनके पांच आधार ढूंढ़ निकाले—(1) शब्द का आधार आकाश, (2) स्पर्श का वायु, (3) रूप का तेज, (4) रस का जल और (5) गन्ध का पृथ्वी। ये पांचों आधार पंच महाभूत नाम से कहे गये।[1] चूंकि पहले से दूसरा स्थूल है इसलिए दूसरे में पहला भी मिश्रित रहता है। और वह पहले के गुण से युक्त रहता है। उदाहरण के लिए आकाश शब्द गुण-युक्त है। किन्तु दूसरा वायु शब्द और स्पर्श गुणों से युक्त है। तीसरा तेज शब्द, स्पर्श और रूप तीन गुणों से युक्त है। चौथा जल शब्द, स्पर्श, रूप और रस इन चार तथा पांचवां पृथ्वी शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध इन पांचों गुणों से युक्त है। यह समस्त विश्व इन्हीं पञ्च महाभूतों से बना है। इसलिए सम्पूर्ण विश्व में उपर्युक्त पांच ही गुण विद्यमान हैं। चूंकि विश्व के सम्पूर्ण पदार्थ इन्हीं पांचों के न्यूनाधिक सम्मिश्रण के परिणाम हैं, इसलिए विश्व 'पञ्चीकृत' है। विश्व की रचना इन्हीं पञ्चतत्त्वों से होती है, और इन्हीं में विलय हो जाती है।[2]

आकाश शेष चारों महाभूतों की रचनाओं का क्षेत्र है। पृथ्वी आकाश में ही प्रथित हुई है। उसके स्वरूप को सुरक्षित और सुन्दर रखने के लिए वायु, तेज और जल का सम्मिश्रण रहता है। इसी कारण पृथ्वी में वायु, तेज और जल के गुण क्रम से स्पर्श, रूप और रस का सम्मिश्रण हमें दिखाई देता है। गन्ध स्वयं पृथ्वी का गुण है। इस समुच्चय का सामञ्जस्य ही इस रचना को मर्यादित और सुन्दर बनाये हुए है। इस सामञ्जस्य में थोड़ा भी वैषम्य आ जाये तो विश्व की रचना का यह स्वस्थ सौन्दर्य रह नहीं सकता।

प्रत्येक निर्माण में सम-योग ही स्वास्थ्य है। अयोग, अतियोग और मिथ्या योग ही अस्वास्थ्य का हेतु। एक पौधे को सरदी, गरमी और वायु सभी का सहयोग चाहिए। सरदी जल है, गरमी तेज और वायु वात। यदि पौधे को सरदी का अयोग रहे तो वह मर जायगा। यदि सरदी का अतियोग रहे तो भी वह मर जायगा। और यदि सरदी का अकाल में योग हो तो भी वह मर जायगा। वह जीवित तभी रहेगा जब सरदी का सम-योग स्थिर रहे। हमारे शरीर की भी यही दशा है। आंख सर्वथा बन्द रखो, बेकार हो जायगी। आंख से सूर्य के सामने देखो, बेकार हो जायगी। और उसी आंख से अधिक धुएं, मिट्टी, या गन्दे वातावरण में काम लो तो भी बेकार हो जाती है। इस विश्व में स्वास्थ्य और अस्वास्थ्य का एक यही सिद्धान्त है। वस्तु के निर्माण का जो अनुपात है वह स्थिर रहना चाहिए। अनुपात भंग हुआ और वस्तु का स्वास्थ्य नष्ट हो गया। शीत ही नहीं, गरमी और वायु के लिए भी समता की अपेक्षा रहती है।

---

1. पृथिव्यापस्तेजो वायुराकाशमिति भूतानि।—न्यायदर्शन 1/1/13
2. पञ्चाभिभूतास्त्वथ पञ्चकृत्वः,
   पञ्चेन्द्रियं पञ्चसु भावयन्ति।
   पञ्चेन्द्रियं पञ्चसु भावयित्वा,
   पञ्चत्वमायान्ति विनाशकाले॥—सुश्रुत, शारीर० 9/11
   (अ) गन्धरसरूपस्पर्शशब्दाः पृथिव्यादिगुणास्तदर्थाः'। —न्यायदर्शन 1/1/14
   (ब) संसर्गाच्चानेकगुणग्रहणम्। —न्याय 3/1/67

विश्व के सारे पदार्थों का निर्माण इन्हीं पंच महाभूतों के न्यूनाधिक सम्मिश्रण का परिणाम है। हमारी सम्पूर्ण अनुभूतियां गन्ध, रस, स्पर्श, रूप तथा शब्द इन्हीं पांच गुणों के अन्दर सीमित हैं। परन्तु इन गुणों का ज्ञान करने वाला एक तत्त्व और है, वह चेतन आत्मा है। पञ्चभूतों में ज्ञान और चेतना किसी तत्त्व में नहीं। इसलिए यह छठा तत्त्व आत्मा ही है। इन छः तत्त्वों को 'षड्धातु' कहते हैं। इन्हीं षड्धातु के संयोग का नाम पुरुष है।[1] और चूंकि पञ्चभूत निर्मित शरीर में विद्यमान रहकर सुख और दुःख का अनुभव किया करता है, इसीलिए केवल चेतन आत्मा को भी पुरुष ही कहते हैं। संक्षेप में जीवन की समष्टि यों है—

1. पृथ्वी—गन्ध—शरीर
2. जल—रस—कफ
3. तेज—रूप—पित्त
4. वायु—स्पर्श—वात
5. आकाश—शब्द—स्रोत[2]
6. आत्मा—ज्ञान—चेतना

पृथ्वी आकाश में प्रथित हुई है। उसके स्वरूप को सुरक्षित रखने के लिए वायु, तेज और जल का समुचित सम्मिश्रण रहता है। इसी कारण पृथ्वी में वायु, तेज और जल के गुण स्पर्श, रूप और रस का समुच्चय हमें दिखाई देता है। गन्ध पृथ्वी का अपना गुण है।[3] इस समुच्चय का सामञ्जस्य सृष्टि को कायम किये हुए है। इस सामञ्जस्य में थोड़ा भी वैषम्य आ जाय तो सृष्टि का यह सौन्दर्य नहीं रह सकता। वायु बढ़ जाय तो विश्व का सब कुछ सूख जाय। घट जाय तो पदार्थों का भेद मिटकर एक ठोस पिण्ड रह जाय। तेज बढ़ जाय तो सब कुछ जल जाय। घट जाये तो विकास बन्द हो जाय। और उसी प्रकार जल बढ़ जाय तो सब कुछ गल जाय और घट जाय तो क्षण भर में विश्व धूल बनकर वायु में उड़ जाय। पृथ्वी वायु, तेज और जल का आधार (Base) है। तत्त्वों का विष्टम्भ (Combination) पृथ्वी के सहारे हुआ है। सृष्टि का यह बाह्य नियम ही हमारे शरीर अथवा आध्यात्मिक जगत में काम कर रहा है। चरक ने अपने शब्दों में लिखा है कि यह पुरुष 'लोक-सम्मित' है।

पञ्चभूतों के अनन्त क्षेत्र में आत्मा व्यापक तत्त्व है। फिर भी सर्वत्र सुख, दुःख और ज्ञान की अनुभूति नहीं होती। इसका कारण यह है कि पञ्चभूत जड़ और आत्मा चेतन है। दोनों भिन्न तत्त्वों को संयुक्त करने वाला प्रकृति का सूक्ष्म तत्त्व मन है। यह

1. व्यक्तं चैन्द्रियकं चैव गृह्यते तद्यदिन्द्रि यैः।
अतोन्यत्पुनर व्यक्तं लिंग ग्राह्य मतीन्द्रि यम् ॥—चर० शारी० 1/60
खादयश्चेतनाषष्ठा धातवः पुरुषः स्मृतः।
चेतनाधातुरप्येकः स्मृतः पुरुष संज्ञकः॥—चर०, शारी० 1/14
2. *अपि चैके स्रोतसामेव समुदयं पुरुषमिच्छन्ति।......वात पित्त श्लेष्मणां पुनः सर्वशरीर चराणां सर्वस्रोतांस्ययन भूतानि"।* —चर० वि० 5/6
3. संसर्गाच्चानेक गुण ग्रहणम्। —न्यायदर्शन, 3/1/67

सत्व, रजस और तमस के सूक्ष्म सम्मिलन से निर्मित होता है। कर्म का संस्कार इसी में रहता है। वही सुख-दुःख का अनुभव उत्पन्न करता है। पञ्चभूतों से आत्मा का सम्बन्ध जहां मन करता है वहां सुख-दुःख अनुभव होते हैं, अन्यत्र नहीं।[1]

यह जगत् पञ्चमहाभूतों से बना है और यह पुरुष भी। चरक ने पुरुष की परिभाषा ही यह की है कि चेतना के अधिष्ठान पञ्चमहाभूतों की समष्टि का नाम ही पुरुष' है।[2] चेतना निर्लेप पदार्थ है। वह स्वयं एक तत्त्व है, मिश्रण नहीं। उसमें भौतिक विकारों को स्थान नहीं। वैषम्य भौतिक मिश्रण में होता है। आत्मा अभौतिक है। इसलिए पञ्चमहाभूतों से निर्मित शरीर के वैषम्य और समता पर विचार करने के लिए आयुर्वेदशास्त्र प्रवृत्त हुआ है।[3]

पञ्चमहाभूतों के अनुपात-भेद से जिस प्रकार जगत् के असंख्य पदार्थ बने हैं, उसी प्रकार हमारा शरीर भी निर्मित हुआ है। निश्चित अनुपातों में जहां अन्तर आया, पदार्थ में विकार उत्पन्न हुआ। हमारे शरीर का भी वही हाल है।[4] बाह्य सृष्टि में पृथ्वी के ऊपर वायु, अग्नि और जल के वैषम्य से होने वाले उत्पातों को हम प्रत्यक्ष देखते हैं, उसी प्रकार हमारे अन्तर्जगत् में भी जब वायु (वात), अग्नि (पित्त) और जल (कफ) का वैषम्य होता है, उत्पात खड़े हो जाते हैं। उन्हें ही रोग कहा जाता है। बाहर के पृथ्वी, जल, तेज और वायु अन्तःसृष्टि के शरीर, कफ, पित्त और वात शब्दों से बोधित होते हैं। आयुर्वेदशास्त्र में वैषम्य के परिणामों का नाम रोग है, और इस वैषम्य के निवारण करने के लिए जो उपाय किया जाता है उसका नाम चिकित्सा है।

अब हमने देखा कि भौतिक जगत् का आध्यात्मिक जगत् के साथ कितना तारतम्य है। यह शरीर पञ्चतन्त्रों का निकाय है और यह संसार भी। हम पुरुष हैं। वैज्ञानिकों ने ब्रह्माण्ड को भी 'महापुरुष' कहकर सम्बोधित किया है। वेदों का पुरुषसूक्त इसी ब्रह्मांड पुरुष के वर्णन में लिखा गया है। इस प्रकार इस सम्पूर्ण विश्व में वात, पित्त और कफ के अतिरिक्त चौथा मौलिक तत्त्व है ही नहीं।[5] इसी भाव को चरक ने लिखा है कि

---

1. सत्व मात्माशरीरं च त्रयमेतत्त्रि दण्डवत्।
   लोकस्तिष्ठति संयोगात्तत्र सर्वं प्रतिष्ठितम्॥—चर०, सू० 1/45
   निर्विकारः परस्त्वात्मा सत्वभूतगुणेन्द्रियैः।
   चैतन्ये कारणं नित्यो द्रष्टा पश्यति हि क्रियाः॥—चर०, सू० 1/55
   महाभूतानि खंवायुरग्निरापः क्षितिस्तथा।—चर०, शारी० 1/14-25
2. 'खादयश्चेतना षष्ठाधातवः पुरुषः स्मृतः।—चर०, शारी० 1/14
3. इत्युक्तं कारणं, कार्यं धातु साम्य मिहोच्यते।
   धातु साम्यक्रियाचोक्ता तन्त्रस्यास्य प्रयोजनम्॥—चर० सू०, 1/52
4. विकारो धातु वैषम्यं साम्यं प्रकृतिरुच्यते।—चर०, सू० 9/4
   'तत्र शरीरं नाम चेतनाधिष्ठान भूतं पञ्चमहाभूत विकारसमुदायात्मकं समयोग वाहि। यदा ह्यस्मिन् शरीरे धातवो वैषम्यमापद्यन्ते तदा क्लेशं विनाशं वा प्राप्नोति।' —चरक०, शारीर० 6/4
5. वायुः पित्तं कफश्चोक्तः शारीरो दोष संग्रहः।—चरक०, सू० 2/15
   शरीरं सत्व संज्ञं च व्याधीनामाश्रयोमतः।—चरक०, सू० 1/54

बुद्धिमानी यही है कि बाह्य जगत् के समान ही अन्तर्जगत् को स्वीकार किया जाय। सूत्र-स्थान के उन्नीसवें 'अष्टोदरीयाध्याय' का उपसंहार करते हुए चरक ने बड़े बलपूर्वक 'त्रिदोषवाद' के सिद्धान्त का समर्थन किया है। उन्होंने लिखा है कि जिस प्रकार सारे दिन उड़ता रहकर भी अपनी छाया का उल्लंघन नहीं कर सकता, उसी प्रकार शरीर में चाहे कितने ही रोग हों वे वात, पित्त और कफ की त्रिदोष मर्यादा का उल्लंघन नहीं कर सकते।[1]

सुश्रुत ने धन्वन्तरि मत का समर्थन करते हुए लिखा था कि व्याधियां (1) आगन्तुक, (2) शारीरज, (3) मानस तथा (4) स्वाभाविक—चार प्रकार की होती हैं। बाहरी चोट आदि लगने से आगन्तुक व्याधियां उत्पन्न होती हैं। शारीरज व्याधियों का मूल कारण वात, पित्त, कफ और रक्त की विषमता होती है। मानस रोग काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि विकारों से जनित हैं तथा स्वाभाविक व्याधियां भूख, प्यास, निद्रा, बुढ़ापा आदि प्रकृति के स्वभाव से ही होती हैं। सुश्रुत ने सूत्रस्थान का 14 वां अध्याय केवल रक्त के दोषत्व-प्रतिपादन के लिए ही लिखा है। इस अध्याय में न केवल धन्वन्तरि किन्तु अन्य आचार्यों का अभिमत भी लिखा गया है। धन्वन्तरि का मत यह था कि रक्त रस धातुजलीय है। तैजस पित्त से अनुरंजित होकर रस ही रक्त का स्वरूप ग्रहण करता है। किन्तु सुश्रुत ने अपने आचार्य धन्वन्तरि का यह विचार लिखते हुए यह भी लिखा कि अन्य आचार्य रक्त को जलीय और तैजस मात्र ही नहीं, किन्तु पाञ्च-भौतिक ही स्वीकार करते हैं।[2] इस प्रकार यह स्पष्ट है कि चरक से पूर्व त्रिदोषवाद और दोषचतुष्टयवाद, आयुर्वेद के विवादास्पद विषय बने हुए थे। रक्त के स्वरूप का वैज्ञानिक विश्लेषण भी एक विवाद ही था। धन्वन्तरि रक्त को जल और तेज का सम्मिश्रण स्वीकार करते थे। दूसरे आचार्य उसे पाञ्चभौतिक मानने का आग्रह कर रहे थे।[3]

चरक ने आत्रेय पुनर्वसु के प्राचीन त्रिदोषवाद का बलपूर्वक समर्थन किया और धन्वन्तरि के दोष-चतुष्टयवाद का खण्डन। उन्होंने कहा कि वैज्ञानिक दृष्टि से जलीय रस धातु पित्त से अनुरंजित होकर रक्त बनता है, अतएव वे रोग जिन्हें हम केवल रक्तज कहना चाहते हैं, पित्तज रोगों में गिने जाने चाहिए। और उन्होंने चिकित्सा में वैज्ञानिक

चतुर्णां भिषगादीनां शस्तानां धातुवैकृते।
प्रवृत्तिर्धातु साम्यार्था चिकित्सेत्यभिधीयते॥—चर० सू०, 9/5

× × ×

सहस्त्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपाठ।—ऋग्वेद, पुरुषसूक्त

1. 'सर्व एव निजा विकराः नान्यत्र वातपित्त कफेभ्योनिर्वर्त्तन्ते। यथाहि शकुनिः सर्वं दिवसमपि परि-पतन् स्वां छायां नाति वर्त्तते, तथास्वधातु वैषम्य निमित्ता सर्वेविकराः वातपित्त कफन्नातिवर्त्तन्ते।
—चर०, सू० 19/5

2. पाञ्च भौतिकन्त्वपरे जीव रक्त माहुराचार्याः। —सुश्रुत०, सू० 14/8

3. रञ्जिता स्तेजसात्वायपः शरीरस्थेन देहिनाम्।
अव्यापन्नाः प्रसन्नेन रक्त मित्यभिधीयते।—सुश्रुत, सू० 14/5

प्रयोगों द्वारा यह सिद्ध कर दिया कि रक्तजन्य रोगों की चिकित्सा वही है जो पित्तजन्य रोगों की है।[1] यह दूसरी बात है कि रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा, शुक्र आदि धातुओं में जिस प्रकार रोग होते हैं, उसी प्रकार रक्त में भी रोग हो सकते हैं। किन्तु उन रोगों को उत्पन्न करने का कारण वात, पित्त और कफ की विषमता ही है। रक्त का स्वतन्त्र दोषत्व नहीं। इसी धारणा से चरक ने सूत्रस्थान के अठारहवें अध्याय में रक्तजन्य रोगों को पित्तज रोगों की सूची में लिखा है। वीसर्प, पिडका, तिलक, विप्लव, व्यंग, नीलिका आदि रोग यद्यपि रक्त में ही होते हैं, परन्तु पित्त-प्रकोप ही उनका मूल कारण है, स्वतन्त्र रक्त नहीं।[2]

रोग के दो अनुष्ठान हैं—मन और शरीर। रोग चार प्रकार के होते हैं—आगन्तुज, वात, पित्त और श्लेष्मजन्य। चारों ही भेद 'रोग' कहे जाते हैं; क्योंकि वे सभी कष्ट देते हैं। चारों प्रकार के रोगों की दो ही प्रकृतियां हैं--निज और आगन्तुज। निज रोग ही वात, पित्त और कफ जन्य हैं। इन निज रोगों को दो श्रेणियों में रखा जाता है--सामान्यज और नानात्मज। सामान्यज वे हैं जो केवल एक दोष से नहीं, किन्तु अनेक दोषों से मिलकर उत्पन्न होते हैं। जैसे आठ उदर रोग, आठ मूत्राघात। सात कुष्ठ, सात वीसर्प। छः अतीसार, छः उदावर्त्त। ये सम्पूर्ण रोग केवल एक ही दोष से नहीं, प्रत्युत अनेक दोषों के सम्मिश्रण से उत्पन्न होते हैं। नानात्मज वे हैं जो केवल एक ही दोष से उत्पन्न हुए हैं, जैसे—अस्सी वात रोग, चालीस पित्त रोग तथा बीस कफ रोग।[3]

तीनों दोषों के नियत केन्द्रस्थान भी शरीर में हैं। पक्वाशय विशेषतः वायु का केन्द्रस्थान है, आमाशय विशेषकर पित्त का तथा वक्षस्थल विशेषतः कफ का केन्द्र-स्थान है। एक दोष अपने स्थान पर दूषित होकर रोग उत्पन्न करता ही है। वह कभी-कभी दूसरे दोष के केन्द्रस्थान में पहुंचकर भी किसी रोग की उत्पत्ति का कारण हो जाता है। दोष अपने स्थान में 'स्थानी' कहा जाता है अपने केन्द्र से चलकर दूसरे के केन्द्र में पहुंचा हुआ दोष 'स्थान-गत' कहा जाता है।

स्थानी और स्थानगत दोषों में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण बात है कि स्थानगत दोष की चिकित्सा स्थानी दोष के अनुसार होती है।[4]

दोषों की प्रगति तीन प्रकार की होती है--(1) क्षय, (2) स्थान, (3) वृद्धि। एक शैली।

(1) ऊर्ध्व, (2) अधः, (3) तिर्यक। द्वितीय शैली।

---

1 कुर्याच्छोणित रोगेषु रक्त पित्त हरीं क्रियाम्।--चरक, सू० 24/18

2. चरक, सू० 18/29-31
'स्वधातु वैषम्य निमित्तजाये विकार संघा बहवः शरीरे।
न ते पृथक्पित्त कफानलेभ्य आगन्तवस्त्वेव ततो विशिष्टाः।--चर०, सू० 19/17

3. चरक, सू० अध्या० 20/11

4. 'स्थानि स्थानगतं दोषं स्थानि वत्समुपाचरेत्।'

(1) कोष्ठ, (2) शाखा, (3) मर्मास्थि सन्धि। तृतीय शैली।[1]

दोष क्षय होने पर अपना कार्य छोड़ देते हैं। प्रवृद्ध होने पर उनके कार्य में सीमा से अधिक वृद्धि हो जाती है। सम रहकर ही उनकी क्रिया समान रहती है। एक ही दोष समानान्तर में पहुंचकर विभिन्न प्रकार के रोगों को उत्पन्न करता है और वृद्ध, वृद्धतर तथा वृद्धतम—इस प्रकार तर-तमादि भेद से रोगों के स्वरूप में अनन्त भेद-प्रभेद हो जाते हैं। एक दोष से उत्पन्न रोग 'एकज', दो से 'द्वन्दज' और तीनों दोषों से 'सान्निपातज' कहे जाते हैं।

वर्षा, शरद्, हेमन्त, वसन्त, ग्रीष्म और प्रावृट—इन छहों ऋतुओं में क्रम से वात, पित्त और कफ दोषों का चय, प्रकोप और प्रशमन स्वभाव से होता ही रहता है। काल-परिवर्तन के साथ दोषों में यह परिवर्तन स्वाभाविक है। वर्षा में वायु, शरद में पित्त तथा वसन्त में कफ का प्रकोप स्वाभाविक है। इसीलिए आहार-विहार आदि ऋतुचर्या पर ध्यान देना आवश्यक है।

रज और तम मन के दोष हैं और वात, पित्त एवं कफ शरीर के। मन और शरीर के दोनों ही दोष तीन प्रकार से प्रकुपित होते हैं—(1) असात्म्येन्द्रियार्थ संयोग, (2) प्रज्ञापराध, (3) परिणाम। इस प्रकार कारण (निदान)-भेद और स्थान-भेद से तथा एक दोषजन्य, संसर्गजन्य, अथवा सन्निपातजन्य भेद से रोगों की संख्या अनन्त हो जाती है। शरीर में अनन्त स्रोत हैं, स्थान-भेद से उनमें होने वाले रोग भी अनन्त हो सकते हैं। तो भी चरक ने अड़तालीस रोगाधिकरण गिनाये हैं।[2] यह अड़तालीस संख्या गिना देने के बाद भी महारोगाध्याय में चरक को यह लिखना पड़ा कि यह तो स्थूल संख्या है। विकार असंख्य हैं।[3] मानसिक दोषों में रजोगुण और शारीरिक दोषों में वात मुख्य हैं। दूसरे दोष गतिशील नहीं हैं। तम को रज ही यत्र-तत्र ले जाता है और पित्त एवं कफ को वात।[4]

प्रत्येक व्यक्ति भिन्न-भिन्न प्रकार के आहार-विहार लेता है। भोजन, चर्या तथा

---

1. क्षयः स्थानं च वृद्धिश्चदोषाणां त्रिविधागतिः।
ऊर्ध्वञ्चाधश्च तिर्यक् च विज्ञेया त्रिविधापरा।
इत्युक्ताविधि भेदेने दोषाणां त्रिविधागतिः।
त्रिविधा चापरा कोष्ठशाखा मर्मास्थि सन्धिषु॥—चर०, सू० 17/110-111
क्षयं वृद्धि समत्वञ्च तथैवावरणं भिषक्।
विज्ञाय पवनादीनां त प्रमुस्वति कर्मसु॥—च०, चि० 28/242
2. अष्टोदरियाध्याय—च० सू०, अ० 19
'इत्यष्ट चत्वारिंशद्रोगाधि करणान्यस्मिन् संग्रहे।'
3. 'विकरा पुनरपरिसंख्येया प्रकृत्यधिष्ठान लिङ्गायतन विकल्प विशेषात्तेषामपरि संख्येयत्वात्।'
—च०, सू० 20/4
4. 'नह्यरजस्कं तमः प्रवर्त्तते।'—च०, विमा० 6/9
'पित्तं पङ्गुः कफः पङ्गुः पङ्गवोमलधातवः।
वायुना यत्र नीयन्ते तत्र गच्छन्ति मेघवत्॥'

विचार सबके समान नहीं होते। इसलिए प्रत्येक व्यक्ति भिन्न-भिन्न दोप की प्रधानता से युक्त रहता है। कोई वात प्रकृति, कोई पित्त प्रकृति और कोई कफ प्रकृति का होता ही है। अनेक ऐसे भी हैं जिनमें तीनों दोप समता में रहते हैं। वे सम प्रकृति हैं। वात प्रकृति, पित्त प्रकृति, अथवा कफ प्रकृति व्यक्ति स्वस्थ नहीं हैं। उन्हें आजीवन रोगी ही कहना चाहिए, क्योंकि उनके आहार-विहार तथा चिकित्सा में सदैव प्रमुख दोप का ध्यान रखकर ही उपचार करना पड़ता है। सुखसाध्य रोग का विवेचन करते हुए चरक ने लिखा है कि प्रकृति वाले दोप के अतिरिक्त दोप से उत्पन्न व्याधि सुखसाध्य होती है और यदि व्याधि उसी दोप से उत्पन्न हो जिससे प्रकृति वनी है, तो व्याधि कष्टसाध्य या असाध्य होगी।[1] वात प्रकृति व्यक्ति को वातजन्य रोग भीपण और वलवत् होता है। उसी प्रकार पित्त और कफ प्रकृति वालों के लिए समझना चाहिए।

दोपों का ऋतुओं से प्राकृत सम्बन्ध है। ऋतुओं के अनुसार दोपों का चय, प्रकोप और प्रशमन स्वयं भी होता रहता है। इसलिए आयुर्वेद में ऋतु-चर्या का बड़ा महत्त्व है। वात, पित्त और कफ क्रमशः वर्षा, शरद और वसन्त के प्राकृत दोप हैं। ऋतु के प्रभाव से ही वर्षा में वात प्रकुपित हो जाता है। इसी प्रकार शरद में पित्त और वसन्त में कफ। चय, प्रकोप और प्रशमन का क्रम निम्न प्रकार होता है--

1. वात--ग्रीष्म में चय, वर्षा में प्रकोप, शरद में प्रशमन।
2. पित्त--वर्षा में चय, शरद में प्रकोप, वसन्त में प्रशमन।
3. कफ--हेमन्त में चय, वसन्त में प्रकोप, ग्रीष्म में प्रशमन।

ऋतुक्रम के अनुसार दोपों के इस चय, प्रकोप और प्रशमन का परिज्ञान निदान और चिकित्सा के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। वर्षा में वात, शरद में पित्त, वसन्त में कफ प्रधान दोप होते हैं। इसलिए वे प्राकृत दोप हैं। प्रकृति के स्वभाव से ही उनका प्रकोप हो जाता है। प्राकृत दोप से उत्पन्न रोग सुखसाध्य होता है, किन्तु वर्षा ऋतु में वात दोप प्राकृत होने पर भी कष्टसाध्य है।[2]

इस सामान्य नियम के अपवाद भी विशेप-विशेप रोगों में मिलते हैं। ज्वर में तुल्य-ऋतु दोप होना सुखसाध्य ही है,[3] अन्य रोगों में कष्ट-साध्य।

शरीर में दोपों की प्रगति को काल की प्रगति सदैव प्रभावित करती ही रहती है। स्वस्थ अथवा रोगी को तीन प्रकार से वल प्राप्त होता है—सहज, कालज तथा युक्तिजन्य। शरीर और मन का स्वाभाविक वह वल जो मां के गर्भ से आता

---

1. 'न दोप: प्रकृतिर्भवेत्।'--चर० सू०, 10/11 तथा विमान० 6/15
   समपित्तानिल कफा केचिद्गर्भादि मानवाः।
   दृश्यन्ते वातला केचित्पित्तलाः श्लेष्मला स्तथा॥
   तेपामनातुराः पूर्वे वातलाद्याः सदातुराः।
   दोपनुशयिता ह्येपांदेह प्रकृतिरुच्यते॥--चर०, सू० 7/39-40
2. प्राकृतः सुखसाध्यस्तु वसन्त शरदुद्भवः'—चर० चि०, अ० 3
3. ज्वरे तुल्यर्तुदोपत्वं प्रमेहे तुल्य दूष्यता।
   रक्त गुल्मे पुराणत्वं सुखसाध्यस्य लक्षणम्॥—चर०, व्याख्या, सूत्र० 11/11-13

है सहज वल है। ऋतु विभाग अथवा आयु विभाग से जो वल प्राप्त होता है वह काल-जन्य है। ऋतु विभाग का उल्लेख ऊपर हुआ है। आयु विभाग से भी वल का विभाजन होता है और तदनुसार दोपों का वलावल रहता है। शैशव में कफ, यौवन में पित्त और वृद्धावस्था में वात का अतिरेक स्वाभाविक है। प्रातः काल कफ, मध्याह्न पित्त और सायं-काल वात प्रवल हो जाता है। इस वैपम्य से जो दुर्वलता आती है उसे निवारण कर दोपों के समीकरण द्वारा जो वल प्राप्त किया जाता है वह युक्तिजन्य है। वह आहार-विहार द्वारा प्राप्त होता है। आयुर्वेदशास्त्र इस वल के सम्पादन की व्यवस्था करता है।

वात, पित्त, कफ, तथा आगन्तु—चार प्रकार से ही व्याधियां होती हैं। आगन्तु व्याधि वाह्य आघातों से पहले उत्पन्न होकर पीछे वात, पित्त, या कफ प्रकोप से सम्वद्ध हो जाती है। और दोपों से उत्पन्न रोग (निज-रोग) प्रथम से ही दोप-प्रकोप से उत्पन्न होते हैं। आगन्तु व्याधि के वाह्य हेतुओं में अभिचार, अभिशाप और अभिपंग (भूत-प्रेत) आदि भी चरक ने लिखे हैं। किन्तु निज-विकार असात्म्येन्द्रियार्थ संयोग, प्रज्ञापराध, और काल-परिणाम से दोप प्रकोप द्वारा ही होते हैं। अन्तर इतना ही है कि आगन्तु में व्यथा पहले, दोप-प्रकोप उसके अनन्तर। और निज में दोप-प्रकोप पहले, व्यथा उसके उपरान्त। किन्तु व्यथा उत्पन्न हो जाने के उपरान्त आगन्तु रोग, निज रोग से और निज रोग आगन्तु से सम्वद्ध हो सकते हैं। एक प्रधान (प्रकृत अथवा अनुवन्ध्य) रोग होता है, दूसरा उसका अनुगामी (अनुवन्ध, सहरोग) हो जाता है। चिकित्सिक को यह भेद पहले जान लेना चाहिए, अन्यथा चिकित्सा में सफलता नहीं मिलती। इसका कारण यह है कि चिकित्सा का वल प्रधान (अनुवन्ध्य) के निवारण के लिए विशेप होना चाहिए। क्योंकि प्रधान के शान्त होने पर अप्रधान स्वयं शान्त हो जाता है।

प्रधान प्रकुपित-दोप एक व्याधि उत्पन्न करता है। उस प्रकोप से अनुप्राणित होकर दूसरे दोपों में भी उद्रेक हो जाना स्वाभाविक है। पित्त से ज्वर हुआ। इस पित्त के विकार से वात भी थोड़ा वहुत प्रकुपित हुए विना नहीं रहता। इस वात-प्रकोप से ज्वर के साथ शिरोवेदना हो उठती है। चरक का सिद्धान्त यह है कि प्रधान रूप से प्रकुपित पित्त की चिकित्सा होने पर ही शिरोवेदना हटेगी। शिरोवेदना की चिकित्सा से ज्वर नहीं। क्योंकि शिरोवेदना अनुवन्ध्य है।[1] इस अनुवन्ध्य को ही हम व्यावहारिक भापा में उपद्रव या रोग की अलामत कहते हैं। इस प्रकार प्रधान दोप का एक या दोनों दोप भी अनुवन्ध्य वनकर अनेक उपद्रव उत्पन्न कर सकते हैं। सुश्रुत भी इस प्रसंग में चरक के विचार का समर्थक है।[2] चिकित्सकों के लिए चरक ने इस रहस्य को समझने का प्रवल आग्रह किया है।[3]

दोप-प्रकोप का अर्थ है उस दोप की क्रिया का अतिरेक। और जिस प्रकार दोप

---

1. 'तत्रोपद्रवस्य प्राय: प्रधानप्रशमात्प्रशम:' —चरक, चि० अ० 21
2. सर्वैर्भावैस्त्रिभिर्वापि द्वाभ्यामेकेनवा पुन:।
   संसर्गेकुपित: क्रुद्धं दोपं दोपोनुधावति॥ —सु०, सू०, अ० 21
3. अगन्तु रन्वेति निजं विकारं निजस्तथा गन्तुमपि प्रवृद्ध:।
   तत्रानुवन्धं प्रकृतिच सम्यक् ज्ञात्वा तत: कर्म समारमेत॥—चर०, सू० 19/18

का प्रकोप रोगोत्पादक होगा, उसका ह्रास भी दूसरे प्रकार के रोगों को जन्म देता है। पित्त के अतिरेक से दाह, वात से पीड़ा या दर्द तथा कफ से शीत या गुरुता अवश्य होते हैं। इन्हीं दोषों के ह्रास से उलटे लक्षण प्रकट होते हैं। इसलिए दोष-वैषम्य अतिरेक मात्र नहीं, ह्रास भी वैषम्य के अन्तर्गत होता है।[1] एक दोष प्रधान और दो अप्रधान हों, रोग सुखसाध्य। दो प्रधान और एक अप्रधान तो कष्टसाध्य। और तीनों प्रधान हों तो रोग असाध्य जानना चाहिए। चरक ने लिखा है कि रोग के पूर्व-रूप देखकर ही यह निर्णय किया जा सकता है। किसी रोग के पूर्व रूप में जितने ही लक्षण कम प्रकट हों, समझो सुखसाध्य है। जितने ही लक्षण उग्र और प्रचुर मात्रा में प्रकट हों, रोग की गम्भीरता के बोधक हैं। यहां तक कि यदि किसी रोग के पूर्व रूप में उसके सम्पूर्ण लक्षण आविर्भूत हो जायें तो वह असाध्य है। रोगी की मृत्यु का बोधक है।[2]

इस प्रकार प्रवृद्ध दोषों का ह्रास तथा क्षीण दोषों का वर्द्धन एवं सम दोषों का परिपालन ही चिकित्सा का उद्देश्य है, क्योंकि दोषों की समता ही आरोग्य है।

याभिः क्रियाभिर्जायन्ते शरीरे धातवः समाः।
सा चिकित्सा विकाराणां कर्मतद्भिषजां स्मृतम्॥—चरक०, सू० 16/34

वात रूक्ष है, पित्त उष्ण और कफ शीतल। प्रत्येक दोष एक-दूसरे से भिन्न गुण रखता है, फिर वे एक-दूसरे का व्याघात क्यों नहीं करते? भिन्न धर्म वाले तीनों तत्त्व शरीर में एकत्र रहकर जीवन की प्रक्रिया किस प्रकार चलाने लगते हैं, यह प्रश्न भी महत्त्वपूर्ण है। चरक ने इस प्रश्न पर भी विचार किया है। वहां अन्तिम निर्णय यही लिखा कि यह प्रकृति का स्वभाव ही है कि विरुद्ध गुण वाले होने पर भी दोष परस्पर उपघात नहीं करते। सर्प में तीव्र विष रहता है परन्तु उससे सर्प की मृत्यु नहीं होती।[3] वास्तविकता यह है कि सम्पूर्ण सृष्टि में यही तत्त्व जिस प्रकार कार्य कर रहे हैं उसी प्रकार इस शरीर में भी। दोषों का वैषम्य ही इस रचना का आधार है। उनकी आनुपातिक समता निर्माण करती है, और विषमता विध्वंस का कारण है।

समता का अर्थ है आनुपातिक समता, और उसका व्याघात ही विषमता है। गति और विभाजन वायु का काम है, पाचन और प्रतिभा पित्त का। स्नेह, गौरव और बल कफ के कार्य। यह कार्य एक नियत अनुपात के आधार पर ही होते हैं, जैसे इस सम्पूर्ण जगत् में ये तीनों तत्त्व कार्य कर रहे हैं वैसे ही शरीर में।[4] इस आनुपातिक समता की

---

1. दोषाप्रवृद्धा स्वंलिगे दर्शयन्ति यथाबलम्।
   क्षीणा जहति स्वंलिङ्गं समाः स्वं कर्म कुर्वते।—च० सू० 17/62
2. पूर्व रूपाणि सर्वाणिज्वरोक्तान्यति मात्रया।
   यं विशन्ति विशत्येनं मृत्युर्ज्वर पुरस्सरः॥
   अन्य स्यापिचरोगस्य पूर्वरूपाणि यं नरम्।
   विशन्त्यनेन कल्पेन तस्यापि मरणं ध्रुवम्॥—च० इन्द्रि०, अ० 5
3. विरुद्धैरपिन त्वेते गुणैर्घ्नंन्ति परस्परम्।
   दोषा सहज सात्म्यत्वाद्घोर विषमहीनिव॥ —च० सू० 17/62 व्याख्या
4. चरक, सूत्र० अ० 18/55-58

सुरक्षा ही चिकित्साशास्त्र का उद्देश्य है। हमने पीछे लिखा है कि तत्त्व का परिचय ज्ञान है, और तत्त्व के आनुपातिक अन्तर का परिचय पाना विज्ञान है अथवा स्रोत ज्ञान है, और उसकी धारा का विस्तार विज्ञान। चरक ने ज्ञान और विज्ञान दोनों पर लिखा। चिकित्सा में दोनों तत्त्व जाने जायें, यह आवश्यक है। चरक ने इस आवश्यकता की पूर्ति बड़ी सफलता के साथ की है। इसीलिए चरक का यह विरुद अमर है—'चरकस्तु चिकित्सिते'।

वैदिककालीन आयुर्वेद में त्रिदोष सिद्धान्त ही मान्य था।[1] इसी त्रिदोषवाद के प्रतिपादन में चरक ने अपनी वैज्ञानिक प्रतिभा का उपयोग किया। धन्वन्तरि का 'दोष-चतुष्टयवाद' वस्तुतः एकांगी था।[2] शल्यतन्त्र में रक्त का दोषत्व सार्वभौम सिद्धान्त नहीं बन सका। फिर चरक ने रक्त का समावेश पित्त में ही कर दिया। वैज्ञानिक दृष्टि से पित्त ही रक्त का जनक है। पित्त के पोषक तत्त्व ही रक्त के पोषक हैं। काश्यप का विचार भी यही था—'यो हेतुः पित्त रोगाणां रक्तजानां स एव तु'—सू० 27/61

चरक का यह त्रिदोषवाद चिकित्साविज्ञान का सर्वसम्मत व्यापक सिद्धान्त बन गया। अरब, ईरान, मिश्र, ग्रीस और बैबीलोन में चिकित्सा के विकास के साथ-साथ यह त्रिदोषवाद ही विकसित हुआ। हिपोक्रिटस (Hippocrates) ग्रीस का महान चिकित्साशास्त्री हुआ। वह प्रायः चरक का समकालीन (450 B. C.) था। उसने इस त्रिदोषवाद का समर्थन करते हुए ही पाश्चात्य देशों को चिकित्साविज्ञान दिया। किन्तु हिपोक्रिटस ने यह विज्ञान आत्रेय अथवा चरक से ही लिया था।[3]

चिकित्सा के सिद्धान्त

सम्पूर्ण विश्व के पदार्थ छः रसों में बटे हुए हैं—(1) मधुर, (2) अम्ल, (3) लवण, (4) कटु, (5) तिक्त, (6) कषाय। इस प्रकार जगत में रसों का ही साम्राज्य है। रस की वैज्ञानिक योजना चरक ने इस प्रकार दी है—

1. मधुर—जल-प्रधान रस।
2. अम्ल—पृथ्वी और तेज प्रधान।
3. लवण—जल एवं तेज प्रधान।
4. कटु—वायु एवं तेज प्रधान।
5. तिक्त—वायु एवं आकाश प्रधान।
6. कषाय—वायु एवं पृथ्वी तत्त्व प्रधान।

चूंकि पञ्चभूतों से ही दोषों का निर्माण होता है तथा रसों का आधार भी

---

1. 'त्रिधातुशर्म वहतं शुभस्पति'—ऋग्वेद 1/34/6
2. 'तदेभिरेव शोणित चतुर्थै संभवस्थिति प्रलयेष्वप्यविरहितं शरीरं भवति' —सुश्रुत, सू० 21
3. Now it is a weel known fact that the Indian medicine is woven round the theory of three humours of the body, vij., Vayu, Pitta and Kapha. and that this theory was borrowed by Hippocrates, the Originator of western medicine, for his explanation of diseases —Fourth All India Oriental Conference, Vol. II, p. 428

पञ्चभूतों का विभिन्न सम्मिश्रण ही है, इसलिए दोषों की समता और विषमता रसों के न्यूनाधिक उपयोग पर निर्भर करती है। मधुर, अम्ल और लवण—ये तीन स्निग्ध हैं तथा मल-मूत्र और वायु का अनुलोमन और सारण करते हैं। कटु, तिक्त और कषाय रूक्ष रस हैं। इसलिए ये मल-मूत्र का अवरोध करते हैं।

मधुर, अम्ल और लवण—ये तीन रस वायु का शमन करते हैं। तिक्त, कटु और कषाय रस कफ का शमन करते हैं। कषाय, तिक्त और मधुर पित्त का शमन करते हैं।

इसके प्रतिकूल तिक्त, कटु और कषाय वायु को प्रकुपित करते हैं। अम्ल, लवण और कटु पित्त को प्रकुपित करते हैं। मधुर, अम्ल तथा लवण कफ को प्रकुपित करते हैं।

प्रत्येक रस चार प्रकार से अपना असर प्रकट करता है—(1) रस, (2) विपाक, (3) वीर्य और (4) प्रभाव। रस से विपाक, विपाक से वीर्य और वीर्य से प्रभाव अधिक बलवान है।[1]

द्रव्य के रसना से सम्पर्क होते ही जो स्वाद अनुभव होता है वह रस है। यह स्वाद छः प्रकार के ही हैं। इन्हीं छः के न्यूनाधिक मिश्रण से अन्य स्वाद बन जाते हैं। द्रव्य के रसना सम्पर्क से प्रथम रसबोध होता है। पीछे से अनु-रसों का बोध भी होने लगता है। स्थूल रूप से रसानुरसों की स्थूल कल्पना तिरसठ प्रकार की होती है।

विपाक आमाशय में रस का परिणाम है। जाठराग्नि के सम्पर्क से रस में जो रासायनिक परिणाम आहार के पचने पर होता है वह विपाक है। कटु, तिक्त, कषाय रसों का विपान प्रायः कटु ही होता है—अम्ल का अम्ल, मधुर तथा लवण का मधुर।

पदार्थ विपाक के अनन्तर जो क्रिया करता है वह वीर्य है। चरक के समय इस विषय में दो प्रकार के सिद्धान्त प्रचलित थे। एक पक्ष का कहना था कि पदार्थ में आठ प्रकार का वीर्य होता है। किन्तु चरक का मत यह था कि वीर्य दो प्रकार का ही है—शीत और उष्ण। पिप्पली कटु है, किन्तु उसका विपाक मधुर होता है इसलिए वह पित्त का शमन करती है। चित्रक मधुर है, उसका विपाक भी मधुर, तो भी पित्त को उद्रिक्त करता है। पदार्थ जब तक शरीर में विद्यमान है, उसका वीर्य तभी तक कार्य करता है। कहीं-कहीं पदार्थ के शरीर-संयोग से भी वीर्य अपना काम करता है जैसे जीभ से लगते ही मिरच का चरपरापन।

प्रभाव का वैज्ञानिक विश्लेषण चरक के समय अप्रत्यक्ष था। एक विष दूसरे विष का नाश करता है। दन्ती (जमालगोटा) खाने से दस्त ही आते हैं। अफीम दस्त ही बन्द करती है। ब्राह्मी बुद्धि को ही बल देती है। वैडूर्य, मुक्ता, या मणि के धारण करने से अनेक रोग दूर होते हैं। यह द्रव्यों का प्रभाव ही है। विधाता की रचना में विभिन्न द्रव्यों का यह वैशिष्ट्य क्यों है इसका उत्तर चरक युग के वैज्ञानिकों के पास न था और आज के युग का वैज्ञानिक भी यहां मौन ही है। चरक ने तो स्पष्ट लिखा—'प्रभावोऽचिन्त्य

---

1. रसो निपाते द्रव्याणां, विपाकः कर्म निष्ठया।
वीर्यंयावदधीवासान्निपाताच्चोपलभ्यते ॥ —चर०, सू० 26/68
रसं विपाकस्तौवीर्यं प्रभावस्तान्व्यपोहति।
बल साम्ये रसादीनामिति नैसर्गिक बलम् ॥ —चर०, सू० 26/74-75

उच्यते।' वहां तर्क और विज्ञान काम नहीं देता।

इस प्रकार त्रिदोष की चिकित्सा में केवल रस-ज्ञान पर्याप्त नहीं है। विपाक, वीर्य और प्रभाव का परिज्ञान भी आवश्यक है। बिना यह जाने चिकित्सा में सिद्धि होना संभव नहीं।[1] त्रिदोष-साम्य सम्पादन करने के लिए यह विज्ञान प्राप्त करना अनिवार्य है। इस आधार पर चरक ने विश्व के पदार्थों को 'प्रतिनियत शक्ति' कहा है।

साधारणतः चरक ने त्रिदोष के समीकरण के लिए प्रकुपित दोष के विरुद्ध चिकित्सा का आदेश दिया है। शीत से उष्ण और उष्ण प्रयोग से शीत को शमन करना चाहिए।[2] इसके साथ यह भी ध्यान रहे कि सारे पदार्थ रस विपाक और वीर्य से ही विपरीत होने पर चिकित्सोपयोगी हों, ऐसा नहीं। कुछ पदार्थ रस, विपाक और वीर्य से अविपरीत होते हुए भी प्रभाव से विपरीत होते हैं। इन्हें चरक ने 'विवपरीतार्थकारी' द्रव्य नाम दिया है। जैसे छर्दि (वमन रोग) में वमन लाने वाला मैनफल लाभ करता है। पैत्तिक अतीसार जो अन्य औषधि से रुकता न हो, वहां गरम दूध देकर रेचन कराने से अतीसार रुक जाता है। पित्तज व्रणशोथ पर उष्ण पुल्टिस लाभ देती है। मद्योत्थ मदात्यय पर मद्य-प्रयोग हितकारी है। एक विष को शान्त करने के लिए दूसरे विष का ही प्रयोग हितकर है। यद्यपि ऐसे स्थानों पर चिकित्सा के प्रयोग विपरीत नहीं प्रतीत होते तो भी द्रव्य का प्रभाव रोग का निवारण करता है।[3]

इस प्रकार त्रिदोष को समता में लाने के लिए चिकित्सा तीन प्रकार की हो सकती है—

1. हेतु विपरीत— जैसे कफ ज्वर में शुण्ठी।
2. व्याधि विपरीत— कुष्ठ में खदिर।
3. विपर्यस्तार्थकारी— छर्दि में मैनफल।

वैज्ञानिक निष्कर्ष यह है कि जो द्रव्य दोष विपरीत है वह व्याधिहारी नहीं भी हो सकता, किन्तु जो व्याधिहारी द्रव्य होगा वह दोषहारी अवश्य है। संक्षेपतः चिकित्सा-विधि में प्रति दोष के शमन के लिए निम्न प्रयोग सारभूत निश्चित किये गये हैं—

दोष	शामक द्रव्य	शामक प्रयोग
1. वात	तैल	वस्ति
2. पित्त	घृत	विरेचन
3. कफ	मधु	वमन

चरक ने चिकित्सा-विधि (Therapeuties) में जो गम्भीर अनुसन्धान और

1. तस्मा द्रसोपदेशेन न सर्वं द्रव्यमादिशेम्।
दृष्टं तुल्य रसे प्येवं द्रव्ये द्रव्ये गुणान्तरम्॥ —चर० सू० 26/54
रसान् द्रव्याणिदोषांश्च विकाराश्च प्रभावतः।
वेद यो देशकालौय शरीरं च सनो भिषक्॥ —चर०, विमा० 1/47
2. शीतेनोष्ण कृतान् रोगान् शमयन्ति भिषग्विदः।
येत्र शीत कृता रोगास्तेषा मुष्णां भिषग्जितम्॥ —चर०, विमा० 3/43
3. चरक, निदान० 1/9

युक्तियां लिखी हैं, उन तक कोई दूसरा पहुंच ही न सका। चरक ने लिखा कि विश्व के सारे द्रव्य अचूक लाभकारी हैं, यदि उनके प्रयोग की युक्ति का ठीक-ठीक परिज्ञान हो।[1] विश्व का प्रत्येक पदार्थ औषधि है, प्रयोक्ता ही नहीं मिल पाते। प्रत्येक सूत्र, शारीर और निदान के साथ-साथ चरक ने वैद्य के लिए जो प्रयोग-विधियां और युक्तियां लिखी हैं, वे अपूर्व हैं। सत्य यह है कि चरक का लेख वैद्य का आचारशास्त्र है, विशेषकर चरक का विमानस्थान। सम्पूर्ण रस, द्रव्य और दोषों का परिज्ञान करने के उपरान्त भी वैद्य वन सकना संभव नहीं, यदि चरक के विमानस्थान का परिज्ञान न हो। आचार्य वाग्भट का लिखा सम्पूर्ण ग्रन्थ साहित्य और कुछ नहीं, वह चरक की व्याख्या ही है। अपने थोड़े से जीवनकाल में चरक जो सामग्री अपनी संहिता में भर गये, वाग्भट ने अपने जीवन के अस्सी वर्ष उसे ही सजाने में लगा दिये।

अष्टांगहृदय के अन्त में वाग्भट ने अपनी श्रद्धा का नैवेद्य चरक के चरणों में अर्पित करते हुए लिखा, 'यह ठीक है कि सुश्रुत आदि संहिताकारों ने कतिपय नये रोगों का उल्लेख किया है, उनके अध्ययन से नवीन रोगों का परिचय ही मिलता है। परन्तु चरक ने जिस प्रक्रिया का वोध हमें प्रदान किया यदि उसे न जाना जा सका तो द्रव्य, गुण और रोग का ज्ञान रहते भी वैद्य रोगी का हित नहीं कर सकेगा।'[2]

त्रिदोष और नाड़ी विज्ञान

त्रिदोष रोग और स्वास्थ्य के आधार हैं। विषमता रोग और समता स्वास्थ्य का चिह्न है।[3] समता एक है किन्तु विषमता असंख्य।[4] प्रत्येक रोग एक विषमता है। साधारणतः दोनों अवस्थाओं का ज्ञान मनुष्य को अपनी अनुभूति से होता है। रोग दुःख से अनुभव होता है और स्वास्थ्य सुख के अनुभव से।[5] परन्तु इतने अनुभव से चिकित्सा का उद्देश्य पूरा नहीं होता। समता की अनुभूति एक होती है। किन्तु विषमताएं अनन्त रूप से अनुभव में आती हैं। प्रत्येय विषमता का स्वरूप एक-दूसरे से भिन्न है।

रस, द्रव्य, दोष, विकार, प्रभाव, देश-काल तथा शरीर-रचना के निर्मल परिज्ञान के विना रोग का ज्ञान नहीं होता। और रोग-सम्बन्धी विषमता का जब तक ठीक-ठीक ज्ञान नहीं हुआ, समता सम्पादन करना अशक्य है। चरक ने 'भिषक्' का लक्षण ही यह

---

1. तिष्ठत्यु परियुक्तिज्ञो द्रव्य ज्ञान वतां सदा!—चरक, सू० 2/14
2. यदि चरक मधीते तद् ध्रुवं सुश्रुतादि॥
   प्रणिगदित गदानां नाम मात्रेपि वाह्यः॥
   अथ चरक विहीनः प्रक्रियायामखिन्नः।
   किमिव खलु करोतु व्याधितानां वराकः॥—अष्टा० हृदय, उत्तर० 40/84
3. 'रोगस्तु दोष वैषम्यं दोष साम्यमरोगता:।—वाग्भट
4. 'विकारा पुनरपरि संख्येया:।'—चरक० सू० 20/4
5. 'सुख संज्ञकमारोग्यं विकारो दुःख एव च'।—चर० सू० 9/4

दिया कि जो उपर्युक्त तत्त्वों को सही-सही जाने वही 'भिषक्' है।[1] चिकित्सा के भी दो पक्ष हैं---रोग-ज्ञान और औषध-ज्ञान। और इस ज्ञान के उपरान्त वैद्य की अपनी प्रतिभा पर निर्भर करने वाली युक्ति भी चाहिए। तब कहीं चिकित्सा का क्रम अग्रसर होता है। परन्तु इन सब में ज्ञान ही प्रथम है। चरक ने स्वयं लिखा है कि रोग-परिचय पहले, औषध उसके अनन्तर, फिर चिकित्सा युक्ति।[2]

चरक ने 'विविधाशित पीतीयाध्याय'[3] में रोगोत्पाद सम्बन्धी दोषों की विषमता और उनके हेतुओं के साथ स्थान-भेद का विस्तृत उल्लेख किया है। इस सूक्ष्म भेद को जानने के लिए निदानस्थान में निदान, पूर्वरूप, रूप, उपशय और सम्प्राप्ति---ये पांच साधन लिखे। चिकित्साशास्त्र में यह निदान-पञ्चकाप्रत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।[4]

आत्रेय पुनर्वसु के युग में रोग-परिज्ञान के लिए ये पांच साधन ज्ञात किये गये थे। चरक के युग में भी वही पांच साधन सर्वमान्य थे। इन पांचों साधनों की परीक्षा के लिए प्रत्यक्ष, अनुमान, आप्तोपदेश तथा युक्ति आदि प्रमाणों का समावेश चरक ने उसी प्रकार किया है जैसा आत्रेय ने अग्निवेश को उपदेश दिया था। 'चरक संहिता' में 'स्रोतो विमान'[5] नाम से एक महत्त्वपूर्ण अध्याय लिखा गया है। शरीर में परिणति प्राप्त करने वाले समस्त धातुओं का वहन करने वाले पथ का नाम 'स्रोत' है। प्रत्येक धातु के स्रोतों का उल्लेख इस अध्याय में किया गया है। किन्तु वात, पित्त और कफ के लिए चरक ने लिखा है कि शरीर के सारे स्त्रोत इन दोषों के वाहक स्रोत अवश्य हैं, क्योंकि त्रिदोष सारे शरीर में संचरण करते हैं।[6] दूसरे यह भी वैज्ञानिक सत्य वर्णित है कि प्राणवाही स्रोतों का मूल हृदय है। इसलिए वह महास्रोत कहा जाता है।[7]

संम्भवतः इसी आधार को ध्यान में रखते हुए चिकित्साशास्त्रियों ने हाथ के अंगुष्ठ मूल में चलने वाली नाड़ी को त्रिदोष की समता और विषमता के परिज्ञान का साधन स्वीकार किया है। हृदय की प्राणवाहिता तथा त्रिदोषवाहिता का एकत्र प्रतीत होने वाला केन्द्र अंगुष्ठ मूल में चलने वाली नाड़ी ही है।

चरक ने सूत्रस्थान के 29 तथा 30वें अध्याय इसी विषय के स्पष्टीकरण में

---

1. रसान् द्रव्याणि दोषांश्च विकाराश्च प्रभावतः।
   वेद यो देश कालौ च शरीरं च सनोभिषक्॥---च० वि० 1/47
2. रोग मादौ परीक्षेत ततोनन्तर मौषधम्।
   ततः कर्म भिषक् पञ्चाज्ज्ञान पूर्वं समाचरेत॥---चर० सू० 20/24
3. चर० सू० अ० 28
4. चर० निदान०, 1/5
5. चर० विमान०, 5
6. 'वात पित्तश्लेष्मणां पुनः सर्व शरीर चराणां सर्व स्रो-तांस्ययन भूतानि'।---चर० विमा० 5/6
7. तत्र प्राण वहानां स्रोतसो हृदयं मूलयं महास्रोतश्च।---च० वि० 5/9

लिखे हैं। प्राणशक्ति के दस केन्द्र चरक ने लिखे हैं।[1] इनका विवरण इस प्रकार है—

(1) दो शङ्ख, (2) हृदय, (3) वस्ति, (4) शिर, (5) कण्ठ, (6) रक्त, (7) शुक्र, (8) ओज, (9) गुदा=10। दो शङ्ख और शेष आठों मिलकर दस होते हैं। इनके तत्त्व को समझने वाले वैद्य के लिए चरक ने 'प्राणाभिसर' विशेषण दिया है और इन्हें विना समझे चिकित्सा में प्रवृत्त होने वाले के लिए 'रोगाभिसर' विशेषण लिखा। चरक ने यह भी लिखा कि प्राणाभिसर ही रोग-हन्ता हो सकते हैं। किन्तु रोगाभिसर प्राण-हन्ता ही होते हैं। इसलिए रोगाभिसरों से बचो। राजा का कर्तव्य है कि इन रोगाभिसरों को चिकित्सा में न आने दे।

उक्त दस प्राणायतनों में हृदय ही मुख्य है। इसलिए 'चरक संहिता' में हृदय के लिए 'महत्' और 'अर्थ' यह दो अन्वर्थ नाम लिखे गये हैं। प्राणायतनों में हृदय का ही सबसे अधिक महत्त्व है इसलिए वह 'महत्' है। शरीर की सम्पूर्ण इन्द्रियां, बुद्धि और आत्मा प्रगति के लिए हृदय से ही अर्थना करते हैं, इसलिए वह 'अर्थ' है।

हृदय के महत्त्व का और विवेचन करते हुए चरक ने लिखा—जिस प्रकार गोपानसी (छप्पर) को साधने के लिए ऊपर आगार कर्णिका (बड़ेरी) लगी रहती है, उसी प्रकार जीवन को साधने का काम हृदय करता है। उसमें विघ्न हो जाय तो मूर्छा और वह टूट जाय तो मृत्यु अवश्यम्भावी है। इसलिए वह जीवन का आधार है।[2]

स्पर्श से जिस धड़कन का ज्ञान होता है, वही जीवन (धारि) है। वह जीवन हृदय के आश्रित है। शरीर, इन्द्रिय, मन और आत्मा का एकत्र संयोग ही जीवन है। इस जीवन से जो चेतना उत्पन्न होती है उसका महान केन्द्र हृदय ही है। जीवन-शक्ति को बल देने वाला मुख्य तत्त्व ओज का केन्द्र भी हृदय ही है। इसीलिए वह 'महत्' है। और चूंकि शरीर, इन्द्रिय, मन और आत्मा संयुक्त रहने के लिए हृदय से ही शक्ति की अर्थना करते हैं, इसलिए वह 'अर्थ' भी कहा जाता है। आत्म-चेतना की अनुभूति इसी केन्द्र में होती है, इसलिए वह 'हृदय' (हृदि+अयम्) है।[3]

---

1. दशैवायतनान्याहु प्राणायेषु प्रतिष्ठिताः।
शंखौमर्मत्रयं कण्ठो रक्त शुक्रौजसौगुदम्॥
तानिन्द्रियाणि विज्ञानं चेतना हेतु मामयम्।
जानीते यः स विद्वान्वै प्राणाभिसर उच्यते॥ —चर सू० 29/3-4
2. प्रतिष्ठार्थं हि भावनामेषां हृदयमिष्यते।
गोपानसीनामागार कर्णिकेवार्थचिन्तकैः॥
तस्योपघातान्मूर्छायं भेदान्मरणमृच्छति॥ —च० सू० 30/5
3. यद्धितत्स्पर्श विज्ञानं धारि तत्तत्र संश्रितम्।
तत्परस्यौजसः स्थानं तत्र चैतन्य संग्रहः॥
हृदयं महदर्थश्च तस्मादुक्तं चिकित्सकैः॥ —च० सू० 30,6

इस[1] हृदयरूपी मूल केन्द्र से चेतना को वहन करने वाली दस धारायें प्रवाहित होती हैं जिनसे अभिसिंचित होकर प्राणी जीवित रहता है। और जिसके द्वारा गर्भ सम्प्रेषित होता है। जिसके नाश से नाश होता है। जिसके आधार पर जीवन चलता है। जिससे शरीर को रूप और सौन्दर्य मिलता है, और जिसमें प्राण की प्रतिष्ठा है। जिसके फलवान होने पर ही दसों धारायें नाना प्रकार के फल प्रदान करती हैं, उसी हृदय की धड़कन वहन करने के कारण उस धारा का नाम धमनी है। चेतना प्रस्रवण करने के कारण वह स्रोत है। और जीवन-शक्ति को प्रवाहण करने से 'सिरा' कही जाती है।

चरक के इस विवेचन को हम मौलिक नहीं कह सकते और न आविष्कार। क्योंकि वह आत्रेय पुनर्वसु की विरासत है। अग्निवेश ने उसे संजोया था और आत्रेय एवं अग्निवेश से भी पहले उसके मूल विचार अथर्ववेद में विद्यमान थे,[2] इसलिए यही कहना होगा। कि ब्रह्मा, प्रजापति अथवा अश्वियों के युग में भी इस नाड़ी विज्ञान की सूझ भारत के प्राणाचार्यों को थी। चरक ने यही लिखा है कि आयुर्वेद के मौलिक विचार अथर्ववेद में हैं। हम उन्हीं की व्याख्या कर रहे हैं।[3]

चरक की अपनी मौलिकता यह है कि उन्होंने आत्रेय की उस विशुद्ध वैज्ञानिक विचारधारा को समर्थन दिया जिसमें पुरुपार्थ और युक्ति को महत्त्व प्राप्त है। देवताओं, पिशाचों और भूत-प्रेतों की दासता का समूल उच्छेद कर, उन्होंने कहा, 'तुम स्वयं अपने सुख और दुःख के निर्माता हो।' पथ्य जीवन ही सुख है, और कुपथ्य जीवन दुःख। इसलिए देवताओं और भूत-प्रेतों का विश्वास समाप्त करो और अपने कर्म पर विश्वास रखो।[4]

---

1. तेन मूलेन महता महामूला मता दश:।
   ओजो वहाशरीरेस्मिन् विधम्यन्ते समन्तत:।।
   येनौजसावर्त्तयन्ति प्रीणिता: सर्वजन्तव:।
   यहतंसर्व भूतानां जीवितं नावतिष्ठते।।
   यत्सारमादौगर्भस्य यत्तद्गर्भ रसाद्रस:।
   सेवर्त्तमानं हृदयंसमाविशति यत्पुरा।।
   यस्यनाशात्तुनाशोस्ति धारि यद्धृदयाश्रितम्।
   यच्शरीर रसस्नेह: प्राणा: यत्र प्रतिष्ठिता:।।
   तत्फला वहुधा वाता: फलन्तीव महाफला:।
   ध्यामाद्धमन्य: स्रवणात्स्रोतांसि सरणात्सिरा:।—च० सू०, 30,7-11
2. इमानियानि पञ्चेन्द्रियाणि मन: पष्ठानि मे हृदि ब्रह्मणा संश्रितानि। यै रेव संसृजे घोरं तैरेव शान्तिरस्तुन:।।—अथर्व० 19/9/5
3. तत्र भिपजा पृष्ठेनैवं चतुर्णामृक् साम यजुरथर्ववेदानामात्मनोऽथर्ववेदे भक्तिरादेश्या। वेदोह्यथर्वण: स्वस्त्ययन वलि मङ्गल होम नियम प्रायश्चित्तोपवास मन्त्रादि परिग्रहाचिकित्सां प्राह।
   —च० सू० 30/20
4. नैवदेवा न गन्धर्वा न पिशाचा न राक्षसा:।
   न चान्ये स्वयमक्लिष्टमुपक्लिश्यन्ति मानवम्।
   आत्मान मेव मन्येत कर्त्तारं सुख दु:खयो:।।—चर०, निदान० 7/20-24

नाड़ी-विज्ञान का यह असंदिग्ध परिचय रहते हुए भी निदान पञ्चक में इसका समावेश क्यों नहीं किया गया, यह प्रश्न स्वभावतः उठता ही है।

निदान, पूर्वरूप, रूप, उपशय और सम्प्राप्ति द्वारा रोग-ज्ञान का अर्थ यह है कि रोग का असंदिग्ध परिचय हो। इसलिए एक ही साधन से नहीं, पांच साधनों से साध्य की सिद्धि करने का प्रयत्न किया गया। नाड़ी-विज्ञान सम्प्राप्ति के अन्तर्गत रखा जा सकता है। क्योंकि वह दोषों का तारतम्य बोधक है। दोषों का तारतम्य बोधक कराना सम्प्राप्ति का ही कार्य है। नाड़ी केवल व्याधि का रूप या पूर्व रूप नहीं बताती किन्तु दोष की इतिकर्तव्यतापूर्वक व्याधि के जन्म को बोधित करती है। वह रोग की संख्या, प्राधान्य, विधि, विकल्प, बल, काल आदि की विशेषताएं बोधन कराते हुए रोग का परिचय देती है। वह बोधक भी है और स्वयं बोध का विषय भी।

इतना ही नहीं, निदान पञ्चक में पांचों अवयव एकमात्र रोग-बोध के साधन ही नहीं है, किन्तु उनका पृथक्-पृथक् भिन्न प्रयोजन भी होता है। निदान चिकित्सा के मार्ग का बोध भी कराता है, क्योंकि चिकित्सा का मूल निदान का परिवर्जन है। पूर्वरूप साध्यासाध्य का बोध कराते हैं। जिस रोग के सम्पूर्ण पूर्व-रूप प्रकट हों वह असाध्य है। रूप से केवल व्याधि का स्वरूप ही नहीं, वह भी साध्यासाध्य ज्ञापन करता है। सम्पूर्ण लक्षण वाला सन्निपात असाध्य है। उपशय से संकीर्ण लक्षण रोग का भेद-ज्ञान होता है। तैल मर्दन से दर्द बढ़े, समझो कफजन्य पीड़ा है और घटे तो जानो वातजन्य। सम्प्राप्ति दोष, काल, देश आदि के भेद से रोग के बलाबल का बोध कराती हुई चिकित्सा की दिशा का परिज्ञान कराती है। इसलिए नाड़ी-विज्ञान एक छठा निदान और होने की कोई आवश्यकता नहीं रहती। क्योंकि वह सम्प्राप्ति के अन्तर्गत ही आता है।

सम्प्राप्ति दोष और दूष्य का मेल है। नाड़ी दोष और दूष्य के सम्बन्ध की सरल और कठिन स्थिति का परिचय देती है। उसी के आधार पर रोग सम्बन्धी अन्य परिचय जो चिकित्सक को होता है वह उसकी प्रतिभा और ज्ञान के आधार पर होता है। हम उसे अनुमानगम्य ज्ञान कह सकते हैं। दर्शन, स्पर्शन और प्रश्न—चरक के इन तीन रोग परीक्षा के प्रकारों में नाड़ी-विज्ञान स्पर्शन के अन्तर्गत समाविष्ट हो जाता है।[1]

नाड़ी-विज्ञान को निदान के अन्य अंगों की अपेक्षा सर्वाधिक महत्व देने वाले कतिपय पूर्व विद्वानों ने केवल नाड़ी विज्ञान पर ही ग्रन्थ लिखे हैं। किन्तु वे ग्रन्थ सीमित प्रतिष्ठा ही पा सके। रावण, कणाद, वासवराज तथा अश्विनीकुमार नामक विद्वानों द्वारा रचित नाड़ी-विज्ञान सम्बन्धी छोटे-छोटे ग्रन्थ अभी तक उपलब्ध होते हैं। किन्तु नाड़ी-विज्ञान पर लिखा गया यह साहित्य अधिक विस्तार न पा सका, क्योंकि नाड़ी विज्ञान के समर्थक यह सिद्ध न कर सके कि नाड़ी-विज्ञान के अतिरिक्त अन्य साधनों के बिना ही रोग-परिज्ञान हो सकता है। स्वयं रावण कृत नाड़ी-परीक्षा में ग्रन्थकर्ता ने लिखा है—

'रोगी के सम्पूर्ण रोग-ज्ञान के लिए नाड़ी, मूत्र, मल, जिह्वा, शब्द, स्पर्श, दृष्टि

---

1. 'दर्शन स्पर्शन प्रश्नैः परीक्षेतात्र रोगिणम्।'—चर०

और आकृति इन आठ बातों की परीक्षा आवश्यक है।"[1]

स्पष्ट है कि रोगी का पूर्ण ज्ञान केवल नाड़ी-ज्ञान से सम्भव नहीं। नाड़ी देखकर रोगी का सब कुछ बता देने की परम्परा नाड़ी विज्ञान की सर्वार्थ-साधकता नहीं बताता, किन्तु उन व्यक्तियों की प्रतिभा और सूझ-बूझ का निदर्शन है। उसमें ज्ञान का आनुमानिक अंश ही अधिक है, प्रत्यक्ष सीमित। अन्यथा अन्य सात परीक्षाओं की आवश्यकता ही न पड़ती। तो भी इसमें सन्देह नहीं कि नाड़ी-ज्ञान रोगी की जीवन-स्थिति का जिस गहराई तक परिचय देता है, उतना दूसरे साधन नहीं।

नाड़ी-विज्ञान की जो खोज अब तक हुई है उसकी मान्यता यह है कि पुरुष की नाड़ी दाहिने हाथ में तथा स्त्री की बाएं हाथ में देखनी चाहिए।[2] चरक, सुश्रुत अथवा कश्यप ने इन रहस्यों पर कोई गहन विवेचन नहीं किया और न ही उसके सम्बन्ध में किसी अन्य आचार्य ने ही लिखा। आत्रेय अथवा चरक सम्प्रदाय के सबसे धुरन्धर आचार्य वाग्भट हुए, उन्होंने भी इस प्रश्न को विवेचन किये बिना ही छोड़ दिया।

स्त्री और पुरुष के शरीर-विज्ञान में चरक ने एक ही स्थूल अन्तर लिखा— 'रज की अधिकता से कन्या और वीर्य की अधिकता से पुत्र का जन्म होता है,[3] यह अधिकता भी कुछ तोल-नाप से नहीं, किन्तु शुक्र अथवा रज की प्रजनन शक्ति-सम्पन्न पेशियों की सामर्थ्य पर निर्भर है। तो भी स्त्री और पुरुष में अनुलोम और प्रतिलोम (Positive and Negative) का जो अन्तर है, वह उपनिषद् जैसे अध्यात्म ग्रन्थों में विस्तार से दिया गया है। वासवराज ने भी अपनी नाड़ी-परीक्षा में इस विषय पर थोड़ा बहुत लिखा है।[4] किन्तु विषय की गम्भीरता को देखते हुए वह अकिंचन है। नाड़ी को विज्ञान की दृष्टि से देखने के लिए चरक जैसी एक संहिता ही और होनी चाहिए, जिसमें नाड़ी सम्बन्धी तत्त्वों का विश्लेषण किया जाय।

रोगी की नाड़ी देखकर रोग-ज्ञान कदाचित् सम्प्राप्ति मान ली जाय। किन्तु नाड़ी विज्ञान में यह आग्रह भी किया गया है कि रोगी के दूत की नाड़ी देखकर भी रोगी के सम्बन्ध में साध्यासाध्य स्थिति का निर्णय किया जा सकता है। जब यह स्थिति हो तो नाड़ी-परीक्षा सम्प्राप्ति-लक्षण में कैसे रखी जायेगी? यह प्रश्न भी दुरूह है। चरक ने इन्द्रियस्थान में दूत सम्बन्धी अरिष्ट लक्षणों का उल्लेख किया

---

1. गदा क्रान्तस्य देहस्य स्थानान्यष्टौ निरीक्षयेत्।
नाड़ी, मूत्रं, मलं, जिह्वां, शब्द, स्पर्श दृगा कृतिम्॥—रावणकृत नाड़ी परीक्षा, श्लो० 1
2. स्त्रीणां भिषग् वाम हस्ते वाम पादे च यत्नतः।
पुंसां दक्षिण भागे च नाडीं विद्याद् विशषतः॥—रावण नाड़ी परीक्षा, श्लोक 8
3. रक्तेन कन्यामधिकेन पुत्रं शुक्रेण तेन द्वि विधी कृतेन।
बीजेन कन्यां च सुतं च सूते यथा स्वबीजान्यतराधिकेन॥ —चरक० शारीर० 2/12
4. स्त्रीणामूर्ध्वं मुखः कूर्मः पुंसां पुनरधोमुखः।
अतः कूर्मं व्यतिक्रान्तात् सर्वत्रैव व्यतिक्रमः॥
लक्ष्यते दक्षिणे पुंसां या च नाड़ी विचक्षणैः।
कूर्म भेदेन वामानां वामे चैवावलोक्यते॥—वासव राज०

है।[1] हम उनकी मनोवैज्ञानिक उपयोगिता से इनकार नहीं कर सकते। मनोवैज्ञानिक प्रभाव नाड़ी-विज्ञान से इतने निकट है कि दोनों के बीच विभाजक रेखा खींचना कभी-कभी असम्भव होता है। चरक ने लिखा है कि मन और शरीर दोनों ही रोगाधिष्ठान हैं। एक की व्याधि दूसरे को आक्रान्त किये बिना नहीं रहती।

नाड़ी-विज्ञान में नाड़ी की गति से पूर्वरूप, रूप और साध्यासाध्य का परिज्ञान होता है। परन्तु वे सब ज्ञान दोष-दूष्य की तरतमता, विकल्पना, प्राधान्याप्राधान्य एवं बलाबल का परिचय देते हैं। चरक की प्रयोगशाला में यह सब सम्प्राप्ति का ही विस्तार है। इन्द्रियस्थान में दूत द्वारा साध्यासाध्य विवेचन करते हुए भी चरक ने दूत की नाड़ी देखने का प्रश्न नहीं उठाया। बाह्य लक्षणों द्वारा ही अरिष्ठता का निर्णय किया।

नाड़ी-विज्ञान अनुभूति-विज्ञान है। जिस प्रकार बिहाग, मालकोस, अथवा जयजयवन्ती रागों के लक्षण याद कर लेने से कोई बिहाग आदि रागों का ज्ञाता अथवा गायक नहीं हो सकता, ठीक वैसे ही रावण, कणाद, वासवराज या अश्वियों की नाड़ी-परीक्षा पढ़कर नाड़ी तत्त्ववेत्ता वैद्य न बन सका और न बन सकेगा। संगीत की भांति नाड़ी-ज्ञान भी उसकी स्वर-साधना पर निर्भर है। आदि में वात, मध्य में पित्त और अन्त में श्लेष्म की नाड़ी-गति देखकर दोष-विवेचन की प्रक्रिया रावण ने लिखी है।[2] परन्तु सितार की तन्त्रियों पर हाथ रखकर हरेक स, रे, ग, म नहीं निकाल सकता, उसके लिए चिरन्तन अभ्यास और स्वरों की अनुभूति चाहिए। वह अनुभूति या संस्कार लेख की सीमा से परे है।

रावण, कणाद, वासवराज के अतिरिक्त एक 'नन्दी' नामक आचार्य का उल्लेख भी रावण ने किया है।[3] वहाँ यह भी कहा है कि नन्दी नाड़ी-विज्ञान के बड़े तत्त्ववेत्ता थे। संभव है नन्दी ने भी कोई नाड़ी-विज्ञान लिखा हो, जो अब हमें उपलब्ध नहीं है। उसी प्रकार अश्विनीकुमारों के नाम से लिखी गई नाड़ी-परीक्षा के सत्ताईस श्लोक ही मिलते हैं। इन ग्रन्थ-लेखकों का आयुर्वेद साहित्य मे कार्य-विस्तार नहीं हो सका। ये ग्रन्थ चरक से बहुत पीछे के लिखे हुए प्रतीत होते हैं। रावण ने अपनी नाड़ी-परीक्षा में सुश्रुत का एक श्लोक भी ज्यों का त्यों उद्धृत किया है।[4] एक नन्दी नामक विद्वान् का उल्लेख 'रसरत्न समुच्चय' में हुआ है, यदि रावण का नन्दी वही है तो यह नाड़ी-परीक्षा ईसा की सातवीं

---

1. मुक्तकेशोऽथवा नग्ने रुदत्यप्रत्ययेऽथवा।
भिषगभ्यागतं दृष्ट्वा दूतं मरण मादिशेत्॥
विकार सामान्य गुणे देशकालेऽथवाभिषक्।
दूतमभ्यागतं दृष्ट्वा नातुरं तमुपाचरेत्॥ —चरक, इन्द्रिय०, अ० 12, श्लो० 10-15
2. आदौवात वहा नाड़ी मध्ये वहति पित्तला।
अन्ते श्लेष्म विकारेण नाडिकेति विधामता॥ —रावण०, 11
3. मस्तिप्रकोष्ठगा नाड़ी मध्ये कापि समाश्रिता।
जीव नाडीति सा प्रोक्ता नन्दिना तत्ववेदिना॥—रावण०, 3
4. पञ्चाभि भूतास्त्वथपञ्चकृत्वा पञ्चेन्द्रियं पञ्चनु भावयन्ति।
पञ्चेन्द्रियं पञ्चनु भावयित्वा पञ्चत्वमायान्तिविनाशकाले॥

या आठवीं शताब्दी के उपरान्त लिखी गई होगी। अश्विनीकुमारों के नाम से भी किसी अन्य विद्वान् ने यह नाड़ी-परीक्षा लिखी हो सकती है, क्योंकि इन ग्रन्थों का उल्लेख प्राचीन ग्रन्थों में कहीं नहीं है। इतिहास में एक नाम के अनेक व्यक्ति होते ही रहे हैं। कुछ लोगों का विचार है कि नाड़ी-विज्ञान भारत के दक्षिणापथ के वैज्ञानिकों ने आविष्कृत किया था। यदि रावणकृत नाड़ी-परीक्षा राम के प्रतिद्वन्द्वी रावण की मान ली जाय तो यह एक अपुष्ट सत्य अवश्य हो सकता है। 'चक्रदत्त व्याख्या' में शिवदास ने रावणकृत 'कुमार तन्त्र' का उद्धरण दिया है। इसमें 'नमोनारायण' लिखा है। नारायण की वन्दना ईसा की प्रथम शती से ही भागवत सम्प्रदाय के साथ प्रारम्भ हुई। चक्रदत्त ने भी 'नमोनारायण' लिखकर रावण नाम के एक प्राणाचार्य का ही परिचय दिया है, सम्राट् का नहीं[1]। नाड़ी-परीक्षा के लेखक यही रावण हो सकते हैं। और वह चक्रपाणि (1000 ई०) से पूर्व हो चुके थे।

प्राप्त 'चरक संहिता' ही 'अग्निवेश तन्त्र' का रूपान्तर है। क्योंकि चरक ने अग्निवेश तन्त्र का प्रतिसंस्कार करके ही 'चरक संहिता' का निर्माण किया था। 'चरक संहिता' के पूर्वार्ध में प्रत्येक अध्याय के अन्त में 'इत्यग्निवेश कृते तन्त्र चरक प्रतिसंस्कृते' इस प्रतिज्ञा का उल्लेख स्वयं चरक ने किया है। प्रतिसंस्कार किसी ग्रन्थ का नवीकरण होता है, जिसमें प्राचीन ग्रंथ के विस्तृत सन्दर्भ संक्षिप्त और संक्षिप्त का विस्तार हो सकता है। इस प्रकार प्रतिसंस्कर्त्ता पुराने को एक प्रकार से नया रूप देता है।[2]

इस प्रतिसंस्कार को ध्यान में रखते हुए यह कहना होगा कि 'चरक संहिता' ही 'अग्निवेश संहिता' नहीं है। 'चरक संहिता' बन जाने के बाद भी 'अग्निवेश संहिता' भिन्न ग्रन्थ विद्यमान था; क्योंकि चक्रपाणि, विजयरक्षित, श्रीकण्ठ तथा शिवदास आदि के समय तक (11वीं ई० शती) 'अग्निवेश संहिता' प्रचलित थी। इन व्याख्याकारों ने 'अग्निवेश संहिता' के जो उद्धरण दिये हैं, वे सर्वांश में वर्तमान 'चरक संहिता' में नहीं मिलते।

हो सकता है वे उद्धरण 'चरक संहिता' के विलुप्त भाग में से लिये गये हों, जिन्हें दृढ़बल और कापिलबल ने फिर से लिखकर पूर्ण किया है किन्तु कापिलबल के अनन्तर दृढ़बल का आविर्भाव हुआ। दृढ़बल का आविर्भाव ईसा की तीसरी शताब्दी में हुआ था, और चक्रपाणि आदि ईसा की दसवीं शताब्दी के व्यक्ति। तब तक 'चरक संहिता' दृढ़बल पूर्ण कर चुके थे। इसलिए चक्रपाणि और विजयरक्षित आदि व्याख्याकारों ने जो उद्धरण 'अग्निवेश तन्त्र' से लिये हैं वे 'चरक संहिता' से भिन्न तन्त्र से ही लिये थे, जो 'अग्निवेश तन्त्र' नाम से प्रचलित था। तात्पर्य यह कि चरक ने 'अग्निवेश तन्त्र' को 'चरक संहिता' का रूप देकर मूल तन्त्र की सत्ता समाप्त नहीं कर दी थी, किन्तु 'अग्निवेश तन्त्र' फिर भी विद्यमान रहा, जिसके आधार पर चरक ने प्रतिसंस्कृत 'चरक संहिता' लिखी। किन्तु वह अब प्राप्त नहीं है। वह कब और कैसे लुप्त हो गया, यह कहना कठिन है।

---

1. चक्रदत्त, बालरोगचिकित्सा, 61-62
2. विस्तारयति लेशोक्तं संक्षिपत्यति विस्तरम।
   संस्कर्त्ता कुरुतें तन्त्रं पुराणञ्च पुनर्नवम् ॥ —चरक०

'अञ्जन निदान' नामक एक अन्य ग्रन्थ अग्निवेश का लिखा बताया जाता है। किन्तु अभी तक यह विवादास्पद है कि यह वस्तुतः आत्रेय के शिष्य अग्निवेश का ही लिखा हुआ है। यद्यपि 'अञ्जन निदान' के अनेक पाठ चरक और सुश्रुत संहिता से मिलते हैं, परन्तु उपजीव्य ग्रन्थ कौन है इस निर्णय के लिए निश्चित प्रमाण चाहिए।

पतंजलि

रामभद्र दीक्षित ने 'पातञ्जल चरित' लिखा। उनके लेख से यह ज्ञात होता है कि पतञ्जलि ने योगसूत्र, महाभाष्य के अतिरिक्त एक आयुर्वेदिक ग्रन्थ भी लिखा था।[1] यह पातञ्जल लौह शास्त्र था। चक्रदत्त पर व्याख्या लिखते हुए शिवदास ने लौह-पाक की व्याख्या करते हुए पातञ्जल शास्त्र के उद्धरण दिये हैं।[2] शिवदास ने चरक तथा पतञ्जलि दोनों के भिन्न-भिन्न नामों से उद्धरण दिये हैं, दोनों को एक ही व्यक्ति मान-कर उद्धृत नहीं किया। शिवदास के उद्धरण यह सिद्ध करते हैं कि उनके काल तक पतञ्जलि का लौह शास्त्र भी नागार्जुन से कम न रहा होगा।

यद्यपि लौह प्रयोग चरक और चरक से पूर्व आत्रेय एवं कश्यप के समय भी आविष्कृत हो गये थे। लोहा, सोना, चांदी, तांबा और चूना आदि के प्रयोग आत्रेय और कश्यप की संहिताओं में विद्यमान हैं। चाहे उनके प्रयोग का रूप भले ही बदल गया, किन्तु उनकी औषधि-रूप से उपयोगिता पुरानी है। स्वर्णमाक्षिक तथा पारद-कज्जली का प्रयोग कुष्ठ-नाश के लिए चरक ने लिखा है।[3] परन्तु पारद का प्रयोग वैसा व्यापक न था, जैसा नागार्जुन ने किया।

चरक की लेखन-शैली

चरक की लेखन-शैली इतनी सुन्दर है कि उस युग का एक भी ग्रन्थ उसकी समता नहीं कर सकता। सबसे महत्त्व की बात यह है कि उन्होंने 'चरक संहिता' लगभग एक स्वतन्त्र ग्रन्थ लिख डाला किन्तु आत्रेय पुनर्वसु और अग्निवेश की प्रतिष्ठा को अणुमात्र भी कम नहीं होने दिया। सारी 'चरक संहिता' पढ़ने से प्रतीत होता है मानो आत्रेय पुनर्वसु के विद्यालय का प्रत्यक्ष विवरण ही लिखा गया है। और अग्निवेश के पांडित्य के आगे तो चरक ने अपने प्रत्येक अध्याय के अन्त में मस्तक ही झुका दिया—'अग्निवेशकृते तन्त्रे चरक प्रतिसंस्कृते'। इससे बढ़कर शिष्टता और नम्रता का उदाहरण इतिहास में नहीं।

---

1. सूत्राणि योगशास्त्रे वैद्यक शास्त्रे च संहिता मतुलाम्।
   कृत्वा पतञ्जलि मुनिः प्रचारयामास जगदिदं त्रातुम्॥ —पातञ्जलचरित, 5 सर्ग
2. पातञ्जले तु स्पर्शादिनाऽपि पाकज्ञानमुक्तम्।
   "तावल्लौहं पचेद्वैद्यो यावद् वस्त्रेणपीडितम्॥
   सामुद्रं जायते व्यक्तं न निस्सरति सन्धिभिः।
   —चक्र० रसायनाधिकार, श्लो० 36-37 शिवदास व्याख्या
3. सर्व व्याधि निवर्हणमद्यात् कुष्ठी रसंचनिगृहीतम॥—चर० चि० 7/69

यद्यपि शिवदास के समय तक (1200 ई०) 'अग्निवेश संहिता' भी स्वतन्त्र रूप से प्रचलित थी, क्योंकि शिवदास ने 'यदाह अग्निवेश:' लिखकर उसके उद्धरण अपनी व्याख्या में दिये हैं, तो भी चरक की संहिता अपनी विशेपताओं के लिए सम्मानित थी।[1] वस्तुत: चरक की उत्कृष्ट लेखन-शैली और पांडित्य ने विद्वानों को इतना मोह लिया कि अग्निवेश के विशाल ग्रन्थ की अपेक्षा 'चरक संहिता' ही अधिक समादृत हो गई। वाग्भट ने 'अष्टांग हृदय' लिखते हुए एक नई दृष्टि से सार समुच्चय किया और यह लिखा कि प्राचीन ग्रन्थों में लिखा सब कुछ है, किन्तु वे लेख इतने बड़े जंगल हैं कि उनमें लोग भूल-भुलैयों की तरह फंसे रहते हैं, और पार नहीं पहुंच पाते, इसलिए मैं उनमें से सार ढूंढ़कर यह ग्रन्थ लिख रहा हूं। इस संकलन में 'अग्निवेश तन्त्र' और 'चरक संहिता' दोनों से सामग्री ली गई। विजयरक्षित ने माधव निदान की व्याख्या में वाग्भट का एक उद्धरण देते हुए लिखा कि यह अग्निवेश का विचार ही वाग्भट ने लिया है।

चरक ने अपने पांडित्य की प्रतिष्ठा के लिए किसी भी प्राचीन आचार्य के समक्ष धृष्टता का प्रदर्शन नहीं किया। उन्होंने अपने पांडित्य और पराक्रम का प्रदर्शन भी किया। किन्तु वह नास्तिकवादी दर्शनों के विरुद्ध ही। आस्तिक और वैदिक विद्वानों के समक्ष अपनी नम्रता प्रस्तुत करने में उन्होंने हद कर दी। दूसरी ओर नास्तिकवादियों के विरुद्ध साहस और अभिमानपूर्वक उन्होंने युद्ध की घोषणा भी की, जिसमें कोई क्षमा नहीं, कोई समझौता नहीं। फिर भी आयुर्वेद की मर्यादा का अतिक्रमण नहीं होने दिया। उन्होंने प्रत्येक प्रसंग को अपने प्रतिपाद्य उद्देश्य से ऐसा संकलित रखा कि दार्शनिक प्रसंग भी आयुर्वेद बन गये। सांख्य, न्याय और वैशेषिक के विचारों का जो दार्शनिक विवेचन चरक ने किया है, वैसा संभवत: उन दर्शनों के मूल ग्रन्थों में में भी नहीं है। विशेषता यह है कि चरक ने दर्शनों की व्याख्या अपनी वैज्ञानिक प्रयोग-शाला में बैठकर की है, इसलिए वह अधिक सुबोध, अधिक स्पष्ट और अधिक रोचक है।

सुश्रुत ने यह तो लिखा कि एक शास्त्र के अध्ययन मात्र से प्राणाचार्य का उद्देश्य पूर्ण नहीं होता, इसलिए उसे बहुश्रुत होना चाहिए। तत्त्व-निर्णय तभी होता है।[3] परन्तु शल्य शालाक्य से बाहर वे न झांक सके। दूसरी ओर जहां जिस शास्त्र का प्रसंग उठा, चरक ने उसके मूल सिद्धान्तों का सांगोपांग वहीं विवेचन किया। और ओजस्विनी तथा प्राञ्जल भाषा में। उसमें ब्राह्मण ग्रन्थों जैसा निरन्वय और अव्यावहारिक शब्द-विस्तार नहीं है, प्रत्युत परिमार्जित एवं सुबोध रूप से ऐसी शब्दावली का समावेश है जिसमें पांडित्य और प्रतिभा का प्रकाश झलकता है। चरक की भाषा आने वाले युग में पतञ्जलि,

---

1. यदाह अग्निवेश: 'क्वाथ्यमानन्तु यत्तोयं निष्फेनंनिर्मलीकृतम्।
भवत्यर्धावशिष्टं च तदुष्णोदक मुच्यते ॥--चक्र व्याख्या, ज्वर 15-16
2. वात पित्त कफै सप्तदश द्वादश . वासरान्।
प्रायोनुयाति मर्यादा मोक्षायचवधायच ॥--वाग्भट, नि० अ० 2
--इत्यग्निवेश मते प्रायोग्रहणेन द्वैगुरायमिति ॥--माधव, ज्वर० 66-73
3. एकंशास्त्रमधायानो न विद्याच्छास्त्र निश्चयम्।
तस्माद्बहुश्रुत: शास्त्रं विजानी याच्चिकित्सक: ॥--सुश्रुत सूत्र०

अश्वघोष, नागार्जुन और कालिदास की प्रस्तावना प्रतीत होती है। सुश्रुत की भाषा सुहागिन तो है, पर विप्रलब्धा नायिका जैसी। किन्तु चरक की भाषा वह नवोढ़ा है जो मुग्धा नायिका से कम नहीं। उसे समझने के लिए वह सहृदय-संवेद्यता अपेक्षित है जिसमें अभिधा, लक्षणा और व्यंजना का विकास हो। वह रस, रक्त अथवा क्वाथ और फाराट तक ही सीमित नहीं। तभी तो दृढ़बल ने अभिमान से लिखा—'यदिहास्ति तदन्यत्र, यन्नेहास्ति न तत्क्वचित्'।

लेखन शैली में चरक ने एक नये युग की आधारशिला रखी। आत्रेय और अग्निवेश के सम्वाद में जो स्वाभाविकता और आत्मीयता है, वह आज भी गुरु और शिष्यों के हृदयों को प्रेरणा प्रदान करती है। आजकल के लोग अपने बेटे को इस प्यार से नहीं पढ़ा पाते जिस वात्सल्य, अनुकम्पा और तल्लीनता के साथ चरक के आत्रेय ने अग्निवेश को पढ़ाया। गद्य में एक बात कहकर दुबारा पद्य में कहते हुए ऐसा लगता है, मानो सम्पूर्ण वस्तुसार काव्य के रस में घोलकर पिला दिया हो। तभी वे शिष्य थे जो गुरु के पीछे-पीछे छाया की भांति फिरते रहे। काम्पिल्य के समतल में और कैलास के अगम्य शिखरों पर अग्निवेश जिस श्रद्धा से गुरु-चरणों की सरोज-रज अपने मस्तक पर लेता फिरा, उसका प्रतिस्पर्धी इतिहास में अन्यत्र नहीं। चरक का प्रत्येक अध्याय इसी मधुरता को लेकर प्रारम्भ होता है और इसी के साथ समाप्त।

भारत के बड़े-बड़े प्राणाचार्यों के उज्ज्वल इतिहास को चरक ने सुरक्षित बनाये रखा, अन्यथा उनके नाम आज कौन जानता? त्रिदोष में वात का ही सर्वाधिक विस्तार है। अस्सी वात के मुख्य रोग। चालीस पित्त के। और बीस कफ के। परन्तु वात के विस्तृत तत्त्व को स्पष्ट करने के लिए प्राणाचार्यों का जो सम्वाद वात कलाकलीयाध्याय[1] में चरक ने लिखा वह अत्यन्त रोचक सम्वाद है। विद्यार्थी को पढ़ते-पढ़ते हृदयस्थ हो जाता है। (1) कुश सांकृत्यायन, (2) कुमारशिरा भारद्वाज, (3) वाह्लीक कांकायन, (4) बडिश धामार्गव, (5) राजर्षि वार्योविद्, (6) मारीचि और (7) काप्य जैसे सात धुरन्धर विद्वानों के वक्तव्य के उपरान्त आत्रेय पुनर्वसु का सिद्धान्त पक्ष कितना समन्वयात्मक और सुबोध है? किसी वाद में सारे वक्ता सन्तुष्ट हो जायें और सिद्धान्त की स्थापना भी हो जाय, इसके लिए निश्चय ही कोई चरक ही चाहिए था। आत्रेय के प्रवचन पर सबका सिर श्रद्धा से विनीत हो गया, और वे आनन्द से उसका समर्थन कर उठे। यही चरक का अपनापन है, और यही प्रतिसंस्कार, जिसके लिए चरक ने लिखा—'संस्कर्त्ता कुरुते तन्त्रं पुराणञ्च पुनर्नवम्'।

शरीर और शरीर में रोगों का आरम्भ कैसे हुआ? प्रश्न बहुत गम्भीर था। अपनी संहिता में चरक ने एक सभा बुलाई। काशी के सम्राट् वामक ने प्रश्न को बड़े उलझे हुए ढंग से सदस्यों के समक्ष रखा। भगवान आत्रेय बोले—आप सब लोग मुझसे अधिक ज्ञान-विज्ञान के वेत्ता यहां बैठे हो, काशिराज का संशय निवारण करो।

(1) पारीक्षि मौद्गल्य ने काशिराज के प्रश्न का उत्तर दिया। (2) शरलोमा

---

1. चर० सूत्र०, अ० 12

ने उसके विरुद्ध दूसरा सिद्धान्त स्थापित किया। (3) काशिपति वार्योविद शरलोमा से सहमत न हुए। (4) हिरण्याक्ष कुशिक काशिपति के विरुद्ध कह रहे थे। (5) कौशिक ने हिरण्याक्ष कुशिक का खण्डन किया। (6) भद्रकाप्य को कौशिक का विचार असंगत लगा। (7) भारद्वाज भद्रकाप्य की स्थापना के विरुद्ध थे। (8) और कांकायन सारे पूर्व वक्ताओं के प्रतिपक्ष में खड़े थे। आठ धुरन्धर विद्वानों के पक्ष-प्रतिपक्ष का एक ही उत्तर में समाधान देना आत्रेय पुनर्वसु का काम था। आत्रेय ने सुलझा हुआ उत्तर दिया। सारे वादी-प्रतिवादी मौन रह गये। परन्तु तो भी अग्निवेश उनका ही शिष्य, चुप न रह सका। उसने आचार्य के समाधान पर ही आपत्ति उठा दी। गुरु को क्रोध न था, उपेक्षा भी नहीं। अग्निवेश ने कहा--"यह सूत्र रूप का समाधान गिने-चुने लोगों को छोड़कर कोई न समझेगा। स्पष्ट कहिये, विस्तार से कहिये, और सरलता से कहिये।" गुरु ने फिर कहना शुरू किया--"तो वत्स अग्निवेश ! फिर सुनो।" एक लम्बी व्याख्या सुना दी। इस शिक्षा पद्धति को आज के एल० टी० और एम० एड० भी बहुत बार नई खोज कहने लगते हैं, पर यह बहुत पुरानी है--ईसा से तीन सौ वर्ष पुरानी। चरक तब भी शिक्षा के इस रहस्य को गहराई तक समझते थे। उन्होंने अपनी संहिता उसी शैली में लिखी।

रस और आहार के वैज्ञानिक विवेचन के लिए चैत्ररथ वन (अलकापुरी) में होने वाली वैज्ञानिकों की परिषद में (1) आत्रेय, (2) भद्रकाप्य, (3) शाकुन्तेय, (4) पूर्णाक्ष, (5) मौद्गल्य, (6) हिरण्याक्ष, (7) कौशिक, (8) कुमारशिरा भारद्वाज, (9) राजा वार्योविद्, (10) निमि विदेह, (11) वडिश, (12) वाह्लीक काङ्कायन जैसे धुरन्धर प्राणाचार्यों के साथ अन्य कितने ही वैज्ञानिकों के संस्मरण[1] न केवल भारत के वैज्ञानिकों की रासायनिक एवं शारीरिक समीकरण (Metabolism and Anabolism) की गहरी योग्यता का ही परिचय देते हैं, प्रत्युत आयुर्वेद के उस विशाल शासन का भी परिचय देते हैं जिसके आगे विश्व के वैज्ञानिक नतमस्तक हुए।

पाञ्चाल क्षेत्र की राजधानी काम्पिल्य में गंगा के तट पर अन्तेवासियों के साथ आयुर्वेद के विश्वविद्यालय में आचार्य आत्रेय पुनर्वसु के उपदेश केवल जनपदोध्वंसीय रोगों का वैज्ञानिक विश्लेषण ही प्रस्तुत नहीं करते, वे उस युग में हमें ले जाते हैं जब शासन को जनता के स्वास्थ्य की जागरूक चिन्ता थी। औषधियों के भंडार विश्वविद्यालयों की वैज्ञानिक शालाओं में संचित थे। और द्विजाति के लोग अपने नैतिक जीवन में सत्यनिष्ठ होकर आरूढ़ थे। सांकाश्य (फर्रुखाबाद, उत्तरप्रदेश) की इस विभूति के लिए आर्यावर्त्त में उसकी अन्तिम प्रतिष्ठा थी। राष्ट्र के बड़े-बड़े विद्वान, वैज्ञानिक, दार्शनिक और तत्त्ववेत्ता प्रावाहण जैवलि के इसी राज्य में इसलिए आते थे क्योंकि यह 'द्विजाति वराध्युषित' था।

'अग्निवेश तन्त्र' से चरक ने सदाचार के वे महकते प्रसून चुने हैं जिनमें अभी तक

---

1. चरक० सू०, अ० 26
2. चरक०, विमा०, अ० 3 एवं छान्दोग्य उपनिषद्।

चारित्र्य, समाज और राष्ट्र-उन्नयन की सुगन्ध महक रही है। विमानस्थान का आठवां अध्याय पवित्र सम्बन्धों का आदर्श चित्र है, जिसके देखने से प्रतीत होता है कि भारत का गुरु अपने शिष्य के जीवन-निर्माण के लिए कितना जागरूक था। उसमें पुत्र और शिष्य का वह समीकरण है जो विश्व के लोग आज तक निर्माण नहीं कर सके। उसमें भारत के समाजवाद के दर्शन होते हैं। और अपने शिष्य को अपने से अधिक योग्य, अपने से अधिक यशस्वी और अपने से अधिक सफल देखने के लिए गुरु में ललकती हुई लालसा के दर्शन होते हैं।

चिकित्सास्थान के रसायनपाद में ऋषियों को चिकित्सा की खोज करते हम देखते हैं। प्रश्न उठा—चिकित्सा की खोज क्यों? चरक ने उसका उत्तर अपने ही शब्दों में लिखा—'क्योंकि उन्होंने कृषि छोड़कर दौलत बटोरनी शुरू कर दी थी। क्योंकि वे सम्पत्तिवालों से ही मिलते और व्यवहार करते थे।''[1] इसलिए भयानक रोगों ने उन्हें घेर लिया था।'' क्या प्लेटो और अरस्तू, मार्क्स और स्टालिन से अब भी हमें कुछ सीखना शेष है?

ऋषि चिकित्सा की खोज में अपनी पितृभूमि में इन्द्र के पास गये। जहां से गंगा निकलती है, जहां देव, गन्धर्व, किन्नर और ब्रह्मर्षि विचरते हैं, जहां उज्ज्वल सरोवर हैं, जहां प्रकृति ने औषधियों का भण्डार भर दिया है, और जहां से रोगों की बाधा दूर रहती है और जहां इन्द्र का अखण्ड शासन था, वह पुण्य स्थान हिमालय ही था।[2] चिकित्साविज्ञान के वे अग्रदूत भृगु, अंगिरा, अत्रि, वशिष्ठ, कश्यप, अगस्त्य, पुलस्त्य, वामदेव, असित और गौतम थे। आयुर्वेद के समुत्थान के लिए महर्षियों की इस निष्ठा के दर्शन हमें इस विज्ञान के विकास के लिए नई स्फूर्ति देते हैं। और यह कहते हैं कि यह नन्दन, त्रिविष्टप, अलका, श्रीनगर, मानसरोवर, कैलास, उत्तरीय हिमालय, क्षीरसागर और पंचगंगा तुम्हारे ही पूर्वजों की विरासत हैं। जिस पर इन्द्र का शासन रहा है, उस पर तुम्हारा शासन होना चाहिए।

चिकित्सा लिखते हुए चरक ने राजयक्ष्मा चिकित्सा का प्रसंग उठाया। चिकित्सा का अवतरणिका ऐसी मार्मिक लिखी जिसे पढ़ते ही विद्यार्थी यम और नियम की व्रतचर्या का मार्ग खोजने लगता है। आधी से अधिक चिकित्सा तो वह अवतरणिका ही है। शिष्य ने पूछा—गुरुवर! यक्ष्मा क्या है? और उसकी चिकित्सा क्या? गुरु ने उत्तर दिया—देखो अग्निवेश! देवता और महर्षि एक बार वार्तालाप कर रहे थे। देवताओं ने उन्हें एक कथा सुनाई। यह कि चन्द्रदेव ने कई विवाह किये। यहां तक कि अट्ठाईस पत्नियां ले आया। कामी चन्द्रमा विषय-वासना में ऐसा लिप्त हुआ कि दिन-रात शरीर की चिन्ता छोड़कर मैथुन के व्यसन में ही व्याप्त हो गया। इसका फल यह हुआ कि मैथुन के अति-रेक से शुक्र और ओज का नाश हो गया, और यक्ष्मा का रोग पहले-पहल चन्द्रदेव को हुआ।

---

1. ऋषयः खलु कदाचित्।—शालीना यायावराश्च ग्राम्यौषध्याहाराः सन्तः साम्पन्निका मन्दचेष्टाश्च नाति कल्या प्रायेण बभूवुः।—चर० चि० 1/4/3
2. चरक चि० 1/4/3

उसके उपरान्त लम्बा निदान और चिकित्सा चरक ने लिखी। किन्तु एक ओर वह सब, और दूसरी ओर यह इतिहास, यदि तोला जाय तो यही गुरुतर लगता है। उसमें रोचकता ही नहीं है, प्रत्युत गृहस्थ जीवन में रहते हुए भी संयम, और परिवार-नियोजन का एक मूक आदेश है। पति और पत्नियों के लिए एक ऐसी मर्यादा है जो मनु और याज्ञवल्क्य अपने धर्मशास्त्रों में नहीं बांध सके। माता और पिता जीवन के जिस तथ्य को अपने बेटे और बेटियों से नहीं कह पाते, शील और मर्यादा को तनिक भी व्याघात पहुंचाये बिना चरक ने जिस शैली में वह दी उसे कोई और नहीं कह सका।

चरक अपूर्ण ग्रन्थ लिखकर ही दिवंगत हुए। शेष कापिलबल और फिर दृढ़बल ने लिखकर पूर्ण किया। चरक ने जितना भाग लिखा वह प्राय: दो तिहाई है। शेष एक तिहाई को दो-दो मल्ल लिखते रहे तो भी वह लालित्य और वह शैली न बनी जो चरक ने बनाई थी। पढ़ते ही प्रतीत होता है यह चरक का लेख है, यह अन्य किसी का। वह माधुर्य, वह प्रसाद, वह ओज और वह शैली सबसे नहीं बनती। बिहारी ने ठीक कहा था—'चितवन वह औरे कछू जेहि बस होत सुजान'।

एक चीज़ और देखिये, फिर यह प्रसंग समाप्त करें। भगवान आत्रेय एक बार सन्ध्या और अग्निहोत्र के उपरान्त हिमालय के उत्तरीय-पार्श्व में बैठे हुए थे। ऋषि और मुनियों की मण्डली उन्हें घेरे हुए थी। अग्निवेश ने पूछा—भगवान! अतीसार का निदान और लक्षण बताइये। गुरु ने प्रश्न को तत्परता से सुना और कहा—अग्निवेश! लो, पूरी बात सुनो—

प्राचीन काल में यज्ञ के समय पशुओं को यज्ञ-साधन के लिए लाते थे, हत्या के लिए नहीं। दक्ष प्रजापति के यज्ञ के उपरान्त मरीच, नाभाग, इक्ष्वाकु, कुविडचार्य आदि ने जो विधान रचा उसमें पशुओं को भी यज्ञ का एक अंग घोषित कर दिया, इसलिए लोग यज्ञ में दीक्षा के समय अपने पशुओं को भी यज्ञीय जल से प्रोक्षित करने लगे। इसके कुछ और अनन्तर पृषध्र नाम के एक यजमान ने कई यज्ञ दीर्घकाल तक किये। उसके पास और कोई पशु तो थे नहीं, गौवें ही थीं। उसने सीमा का यहां तक अतिक्रमण किया कि उन गौवों का प्रोक्षण के साथ वध करा दिया, और हव्य तथा हविशेष में उपयोग किया। प्रजा के लोग इससे दुखी ही नहीं हुए, किन्तु यज्ञ में वह गोमांस का गुरु, उष्ण और पुरुष के पाचन संस्थान के लिए अनुपयुक्त हविशेष खाने के कारण, पृषध्र के ही यज्ञ में लोगों को पहले-पहल अतीसार का रोग हुआ।'

यह कथा ही नहीं है, इसमें निदान और चिकित्सा का जो सुन्दर समावेश है, वह दूसरी संहिता में मिलता ही नहीं। आहार की मर्यादायें, यज्ञ की अहिंसा और अतीसार का निदान एक ही बात में कह देने की यह विशेषता चरक की है। दृढ़बल ने ठीक लिखा है—सूर्य कमल को विकास ही नहीं, सौन्दर्य भी देता है। प्रदीप घर में प्रकाश ही नहीं, वस्तुओं का विवेक भी उत्पन्न कर देता है। उसी प्रकार चरक की शास्त्र-युक्तियां आयुर्वेद की चर्चा तो करती ही हैं, किन्तु सदाचार, समाजदर्शन, राजनीति और अध्यात्म के वे तत्त्व भी प्रस्तुत करती हैं जो मनुष्य के स्वस्थ जीवन के लिए आवश्यक हैं। चरक की भाषा अभिधा पर ही समाप्त नहीं होती, वह लक्षणा और व्यञ्जना से आगे भी प्रति-

ध्वनित होती है। वह प्रतिध्वनि आयुर्वेद के सारे साहित्य में ऐसी गूंज गई है कि किसी ग्रंथ को उठाकर देखिये, वह चरक की सुषमा से सुहावना और सम्पूजित है।

जहां धन्वन्तरि, कश्यप आदि का भौतकीय विज्ञान उत्कृष्ट है, वहां चरक का रासायनिक विज्ञान आश्चर्यजनक है। निदान सही हो तो चरक का लिखा प्रयोग अव्यर्थ सिद्ध होता है। चरक से पूर्व भूत-प्रेत और ग्रहावेश में लोगों का विश्वास था। किन्तु चरक को यह विश्वास मूर्खता का लगा। उन्होंने स्थान-स्थान पर इस मूर्खतापूर्ण विश्वास का खण्डन किया। वे कहते थे—प्रत्येक रोग हमारे अपथ्य का फल है। अपने ही आज्ञापराध से मनुष्य रोगी होता और अपनी मूर्खता जब तक नहीं छोड़ता स्वस्थ नहीं हो पाता। अपने सुख और दुःख के हम स्वयं उत्तरदायी हैं।[1] अन्य संहिताकारों ने वस्तुतत्त्व का ही प्रतिपादन किया, किन्तु चरक ने वस्तुतत्त्व के साथ-साथ एक शैली का भी।

चरक पर जितनी व्याख्यायें लिखी गयीं उतनी किसी अन्य संहिता पर नहीं। चक्रपाणि ने अपनी व्याख्या में स्थान-स्थान पर विभिन्न व्याख्याकारों को स्मरण किया है। यद्यपि उनमें से अधिकांश चक्रपाणि के समय (1000 ई०) उपलब्ध थीं, किन्तु आज वे काल-कवलित हो चुकी हैं। (1) अंगिरि, (2) सैन्धव सोनक, (3) जेज्जट, (4) ईश्वरसेन, (5) भासदत्त, (6) स्वामीदास, (7) आषाढ़ वर्म, (8) ब्रह्मदेव, (9) हरिचन्द्र, (10) चक्रपाणि तथा (11) खरनाद।—इन व्याख्याकारों का उल्लेख चक्रपाणि के लेख में मिलता है।[2] वाग्भट को भी यदि हम चरक का व्याख्याकार ही कहें तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। प्राचीन तीन व्याख्याकारों का उल्लेख चन्द्रट ने किया है—हरिचन्द्र, जेज्जट तथा सुधीर। व्याख्याएं बहुतों ने लिखीं, परन्तु चन्द्रट ने इन तीन की तारीफ में कलम तोड़ दी—

जेज्जट और सुधीर सों वढ़ि चढ़ि कै हरिचन्द।
लेखक आयुर्वेद के और ढीठ मतिमन्द॥[3]

---

1. नैव देवा न गन्धर्व न पिशाचा न राक्षसाः।
   न चान्ये स्वयमक्लिष्ट मुप क्लिश्यन्ति मानवम्॥—चरक० निदान० 7/20
2. व्याख्यानानि अङ्गिरि सैन्धव जेज्जट ईश्वरसेनादीनां सन्ति॥—चरक सिद्धिस्थान व्याख्या 1/21
   "पूर्व टीका कृद्भिः भासदत्त स्वामिदास आषाढ़वर्म ब्रह्मदेव प्रभृतिभिर्व्याख्यातत्वान्न प्रतिक्षेपणीयः खरनादेनापि समानोऽयं पाठः॥—चरक० चि० 3/212-13
3. व्याख्यातरि हरिचन्द्रे श्री जेज्जट नाम्नि सति सुधीरेच।
   अन्यस्यांयुर्वेदे व्याख्या धाष्ट्यं समवहति।—चन्द्रट
   हरिचन्द्र कालिदास के समकालीन चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के अमात्य थे। वे आयुर्वेद या साहित्य के उच्चकोटि के विद्वान थे। अमात्य (मिनिस्टर) होने से 'भट्टारक' उनका विरुद था। चरक व्याख्या के अतिरिक्त साहित्य पर भी उनका कोई ग्रन्थ प्रसिद्ध था। 'सदुक्ति कर्णामृत' में उनकी महाकवियों में प्रशस्ति लिखी गई है।

   "सुबन्धौ भक्तिर्नः क इह रघुकारे न रमते।
   धृतिर्दाक्षीपुत्रे, हरति हरिचन्द्रोऽपि हृदयम्॥"

   'संस्कृत-कविचर्चा' में श्री बलदेव उपाध्याय ने लिखा है कि हरिचन्द्र गद्य-काव्य के [illegible]

चन्द्रट जो भी कहें, उनका विचार ठीक है। परन्तु कलिका पर मंडराने वाला एक ही पञ्चरीक उसके सौन्दर्य का प्रमाण नहीं है, प्रत्येक भौंरा उसके सौन्दर्य को समान रूप से प्रमाणित करता है। ठीक वैसे ही जेज्जट, सुधीर और हरिचन्द्र की व्याख्यायें रहते भी अन्य व्याख्याकारों की रचनायें 'चरक संहिता' के अप्रतिम सौन्दर्य का परिचय देती हैं। उसके सुवासित पराग की मादकता पर एक-दो नहीं, किन्तु सारी ही भ्रमरावली मुग्ध हुई है। आयुर्वेद का उद्यान उसके सौरभ से सुवासित होकर आज तक महक रहा है, और महकता रहेगा।

थे। आयुर्वेद में चरक-व्याख्या लिखकर उन्होंने जो महान् कार्य किया था, उसे अनुवर्त्ती व्याख्याकार आदर्श और अद्वितीय मानते आये हैं। माधवनिदान की व्याख्या लिखते हुए श्रीकण्ठ ने ग्रन्थ की अवतरणिका में आयुर्वेद व्याख्याताओं में उन्हें सबसे प्रथम स्मरण किया है। उनकी स्तुति देखिये—

'भट्टार जेज्जट गदाधर वाप्यचन्द्र
श्री चक्रपाणि वकुलेश्वरसेन भोजैः।
ईशान कार्त्तिक सुकीर सुधीर वैद्य—
मैत्रेय माधवमुखैर्लिखितं विचिन्त्य ॥"

आचार्य श्रीकण्ठ (1200 ई०) के समय तक जेज्जट और सुधीर की व्याख्यायें सुलभ थीं। जेज्जट वाग्भट के शिष्य थे, और सुधीर भी उन्हीं के आस-पास आविर्भूत हुए। चन्द्रट की उक्ति से यह सिद्ध है। क्योंकि चन्द्रट वाग्भट (500 ई०) के पौत्र थे। वाग्भट ने दीर्घ जीवन पाया। वे 80 वर्ष की आयु पूर्ण करके कब स्वर्गवासी हुए यह कहना कुछ कठिन है। तो भी पांचवीं शताब्दी के अन्तिम चरण से छठी शती के तृतीय चरण तक वे जीवित थे। वाग्भट के पुत्र तीसट को 60 वर्ष और मान लें तो चन्द्रट का समय ईसा की सातवीं शताब्दी का उत्तरार्ध होगा। फलतः सुधीर लगभग वाग्भट के समकालीन थे। हो सकता है जेज्जट और सुधीर दोनों ही वाग्भट के शिष्य हों। वाग्भट चरक सम्प्रदाय को समर्थन करने वाले परिवार के प्रमुख थे। और वही श्रद्धा वे अपनी शिष्य-परम्परा को भी दे गये।

8

बोधिसत्व नागार्जुन

त्यागी होकर भी निरन्तर जिया स्वाधीनता का धनी ।
वैरागी फिर भी रही रसमयी विद्या सदा संगिनी ।।
वैरी व्यूह विदर्भ के जिस यती को देखते ही लुके ।
श्री नागार्जुन के पवित्र चरणों में शीश मेरा झुके ।।

बोधिसत्व नागार्जुन

ईसा की प्रथम शताब्दी न केवल भारत के ही किन्तु विश्व के इतिहास में एक नई प्रस्तावना लेकर उपस्थित हुई थी। पैलस्टाइन में अवतीर्ण होकर ईसा ने, तथा चीन में कन्फ्यूशियस ने, और भारत में भगवान बुद्ध ने गत 600 वर्षों में जो नवीन जागृति उत्पन्न की थी उसका उपसंहार ईसा की प्रथम शताब्दी के अन्तिम चरण में अवतीर्ण होकर आचार्य नागार्जुन ने किया था। विशेषता यह थी कि अन्य महापुरुष केवल अध्यात्मवेत्ता थे, किन्तु नागार्जुन एक महान वैज्ञानिक भी।

भारत में ईसा से 625 वर्ष पूर्व भगवान बुद्ध तथा महावीर स्वामी ने बौद्ध तथा जैन सिद्धान्तों द्वारा मानव-समाज में ज्ञान के जो प्रदीप प्रकाशित किये थे उनमें अब स्नेह क्षीण हो चला था। आचार्य नागार्जुन ने उनमें फिर से नूतन स्नेह का आप्लावन किया। और इस प्रकार एक बार फिर नवीन ज्योति संचार करने का श्रेय प्राप्त किया। बुद्ध के बाद चार महान धार्मिक संगीतियां जो कार्य नहीं कर सकी वह अकेले आचार्य नागार्जुन ने किया था।

प्रेम की साक्षात् देवी साध्वी दमयन्ती ने जिस भूमि को अपने जन्म से अक्षय यश प्रदान किया था, उसी विदर्भ (बरार) देश के छत्तीसगढ़ नामक स्थान में आचार्य नागार्जुन का जन्म ईसा के 78 वर्ष बाद एक उच्च एवं प्रतिष्ठित ब्राह्मण परिवार में हुआ था।[1] उस युग में विदर्भ को ही दक्षिण कोसल भी कहते थे, क्योंकि वह कोसल राज्य का दक्षिणी भाग था। ह्वेनसांग ने भी नागार्जुन का जन्मस्थान दक्षिण कोसल ही लिखा है। यह वह युग था जब महर्षि पतञ्जलि ने अपने महाभाष्य में लिखा था— 'यह ब्राह्मण का निष्कारण धर्म है कि वह षडङ्ग[2] वेदों का अध्ययन करे और उसके ज्ञान का पारंगामी हो।'[3] उसी परिपाटी के अनुसार नागार्जुन ने वेद और वेदांगों का परिश्रम

---

1. दर्शन दिग्दर्शन (श्री राहुल सांकृत्यायन), पृ० 570 तथा भारतीय इतिहास की रूपरेखा (श्री जयचन्द्र विद्यालंकार), भाग 2, पृ० 1012
2. शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष—यह वेदों के षडङ्ग हैं।
3. ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडंगो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्चेति।—महाभाष्य 1/1

Bodhisatwa—

Therefore a Bodhisatwa, with a heart full of 'Maha maitri' and 'Maha karuna' knowing thoroughly the miseries, sorrows, and sufferings of the world, identifies his own happiness with the removal of the sufferings of all creatures.

—Cultural Heritage of India, Vol. I, p. 266

से अध्ययन किया। भारत की लक्ष्मी उन दिनों पाटलिपुत्र में निवास कर रही थी। किन्तु नागार्जुन के परिवार की प्रतिष्ठा विद्या और त्याग थी। वे उन गिने-चुने एकाध महाभाग्यों में से थे जिनके लिए प्रायः उनके समकालीन पाटलिपुत्र के सम्राट् भर्तृहरि ने लिखा था[1]—

'स्वार्थोयस्य परार्थ एव स पुमानेकः सतामग्रणी'

उन दिनों महाकवि दार्शनिक अश्वघोष के गुरु पार्श्व तथा वसुमित्र जैसे महाविद्वान पाटलिपुत्र में निवास करते थे। भगवती सरस्वती की आराधना के लिए नागार्जुन विदर्भ से पाटलिपुत्र आ गया। पाटलिपुत्र में गंगा के तीर पर सन्त एवं धुरन्धर गुरुओं के चरणों में बैठकर नागार्जुन ने विद्याध्ययन किया।[2] वैदिक शास्त्रों के अध्ययन के उपरान्त पाटलिपुत्र में बौद्ध विचारधारा के प्रवाह ने नागार्जुन की प्रारम्भिक शिक्षा की धारा को अपने वेग से परावर्तित कर दिया। कहते हैं कि केवल अठारह वर्ष की आयु में नागार्जुन ने बौद्धधर्म स्वीकार कर लिया। उसके उपरान्त उन्होंने बौद्धदर्शन तथा आयुर्वेद का गम्भीर अध्ययन किया।

गुरुओं से आशीर्वाद प्राप्त करके नागार्जुन ने पाटलिपुत्र से चलकर गया में गंगा के तट पर अपनी एक कुटिया बनाई। यही कुटी नागार्जुन के कर्मयोगी जीवन की पहली प्रतिष्ठा थी। इस कुटी में निवास करते हुए नागार्जुन ने 'सुहृल्लेखा' तथा 'माध्यमिक-कारिका' आदि कितने ही दार्शनिक ग्रन्थ लिखे।[3] बड़े-बड़े धुरन्धर दार्शनिक अब नागार्जुन के चरणों में मस्तक झुकाने लगे थे। कितने ही उच्चकोटि के विद्वान् नागार्जुन के शिष्य थे। अब नागार्जुन अपने ज्ञान और विद्वत्ता के कारण केवल विदर्भ, पाटलिपुत्र अथवा गया में सीमित न थे, किन्तु वे सारे भारत में प्रतिष्ठित हो गये थे। नागार्जुन के ज्ञान की चर्चा गांव की चौपालों से लेकर राजाओं के दरबारों तक पहुंच गई थी। किन्तु खेद है कि इतिहास ने आज यह बताने के लिए मौन साध लिया है कि वे माता और पिता कौन थे जिन्होंने इस पुत्र-रत्न को जन्म दिया था। माता और पिता अपना नाम स्थिर रखने के लिए पुत्र का निर्माण करते हैं। परन्तु नागार्जुन जैसा पुत्र पाने के बाद माता और पिता की वह आकांक्षा इतिहास की आकांक्षा बन गयी है।

344 ईस्वी में कुमारजीव नामक एक महाविद्वान् बौद्ध आचार्य हुए थे। नौ वर्ष की आयु में ही कुमारजीव घर छोड़कर विद्या की खोज में कश्मीर की ओर चल पड़े। कश्मीर में अनेक वर्ष विद्याभ्यास करने के उपरान्त वे कूचा गये और वहाँ से चीन पहुंच गये। कुमारजीव ने चीन में पहुंचकर 98 संस्कृत ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद किया। इन्हीं में बोधिसत्व नागार्जुन की जीवनी भी थी। उनके इन सारे अनुवाद-ग्रन्थों में

---

1. भारते रस विज्ञानं पुरैवासीदिति तु प्रथम शताब्दी वर्तिनो भर्तृहरेः 'उत्खातं निधिशङ्कया क्षितितलं ध्माता गिरेर्धातवः' इत्युल्लेखेनापिदृढ़ी क्रियत इतिः। काश्यपसंहिता, उपोद्घात, पृ० 103
2. Government Magazine 'Uttar Pradesh', March 1959, see Nagarjun, the great Budhist Scholar, p. 42
3. पाटलिपुत्र के विद्याकेन्द्र होने का विस्तृत उल्लेख ह्वेनसांग ने किया है। देखिये—गुप्त साम्राज्य का इतिहास, भाग 2, पृ० 180

अश्वघोप तथा नागार्जुन के जीवन-चरित्र, ये दो ग्रन्थ वस्तु-प्रतिपादन तथा भापा-सौष्ठव की दृष्टि से बड़े महत्त्व के समझे जाते हैं। नागार्जुन के जीवन-चरित्र का मूल संस्कृत ग्रंथ तो भारत से नष्ट हो गया। किन्तु पुरातत्त्ववेत्ताओं ने वह चीनी भापा का अनुवाद खोज लिया है। दुःख है कि वह चीनी भापान्तर अभी तक फिर से भारतीय भापाओं में प्रकाशित होकर सर्वसाधारण के समक्ष नहीं आया, यही कारण है कि नागार्जुन के माता-पिता, अथवा पारिवारिक जीवन के सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। आशा है कि प्रत्यनुवाद सर्वसाधारण के समक्ष आने पर अनेक नये परिचय नागार्जुन के बारे में मिलेंगे।[1]

तो हां, गया में नागार्जुन की वह कुटिया अब सरस्वती का मन्दिर बन गई थी। चाहे वह थी घास-फूस की ही, परन्तु अब उसे वह सम्मान प्राप्त था जो सम्राटों के दरबारों को नहीं था। दक्षिण में शालिवाहन (शातकर्णी) सम्राट् अपने चरम विकास पर पहुंचे हुए थे। वे उज्जैन से बैठकर दक्षिण में मैसूर और हैदराबाद तक तथा उत्तर में दिल्ली तक शासन कर रहे थे। पाटलिपुत्र तथा कोसल उनके ही माण्डलिक राज्य थे। किन्तु उत्तर-पश्चिम से शकों के महत्त्वाकांक्षापूर्ण आक्रमण भी शान्त न थे। पुरुषपुर (पेशावर) में कुपाण कनिष्क बलख, अफगानिस्तान से लेकर पंजाब और मथुरा तक शासन कर रहा था। सहसा उसने पाटलिपुत्र पर आक्रमण कर दिया। कनिष्क की बर्बर सेनाओं ने पाटलिपुत्र के सेनानियों के पैर उखाड़ दिये। मागधों ने शस्त्र रख दिये। कनिष्क का पाटलिपुत्र पर अधिकार हो गया।

पाटलिपुत्र पर भर्तृहरि के उत्तराधिकारी राज्य कर रहे थे। राजा ने कनिष्क की अधीनता स्वीकार कर ली। पाटलिपुत्र के राजदरबार में बड़े-बड़े विद्वान् और कलाकार व्यक्ति विद्यमान थे। वे विद्वत्ता में अपना प्रतिस्पर्धी नहीं रखते थे। परन्तु यहां तो बर्बरता से काम था। पाटलिपुत्र की राजसभा का सबसे प्रतिष्ठित विद्वान् आचार्य अश्वघोप था। दूसरे भगवान् बुद्ध के महापरिनिर्वाण के उपरान्त उनके उपकरण पाटलिपुत्र सम्राट् के ही संरक्षण में रखे थे। जब पाटलिपुत्र सम्राट् ने कनिष्क के सामने हार मान ली, कनिष्क ने उसे इस शर्त पर प्राणदान दिया कि पाटलिपुत्र सम्राट् कनिष्क को छः करोड़ रुपया हर्जाने के रूप में दे। पाटलिपुत्र सम्राट् ने यह शर्त स्वीकार कर ली परन्तु यहां तो युद्ध में सर्वस्व लुट चुका था। छः करोड़ कहां से आयें?

कनिष्क बौद्ध विचारों से बहुत प्रभावित था। उसे भगवान् बुद्ध के प्रति अटूट श्रद्धा थी। इसलिए वह पाटलिपुत्र सम्राट् से तीन करोड़ रुपये के बदले भगवान् बुद्ध के भिक्षापात्र को और शेप तीन करोड़ के बदले आचार्य एवं महामात्य अश्वघोप को लेकर सन्तुष्ट हो गया। अभी तक अश्वघोप और नागार्जुन दोनों ही मगध के गौरव थे। किन्तु कनिष्क अश्वघोप को शाकल ले गया। वयोवृद्ध आचार्य अश्वघोप को इस प्रकार पराधीनता में जाते देखकर नवयुवक नागार्जुन के हृदय को अत्यन्त वेदना हुई। इसमें सन्देह

1. 'बुद्ध और उनके अनुचर' (आनन्द कौसल्यायन)—कुमारजीव की जीवनी देखिये।

नहीं। अन्तेवासी के प्रति, चाहे वह ज्येष्ठ हो या कनिष्ठ, किसे ममत्व नहीं होता?[1] आखिर अश्वघोष और नागार्जुन दोनों ही पाटलिपुत्र के गुरुकुल के विद्यार्थी थे।

कनिष्क सेना से शक्तिशाली बना था, किन्तु अश्वघोष पर भी अपनी बुद्धि का प्रचुर बल था—ऐसी प्रखर बुद्धि जिसने पराजय नहीं देखी। पाटलिपुत्र की रक्षा के लिए निरपराध होकर भी महामात्म अश्वघोष ने वन्दी रहना स्वीकार कर लिया। पाटलिपुत्र के प्रति उनके निश्छल अनुराग की यह परीक्षा थी। शाकल में आकर अश्वघोष ने कनिष्क को बौद्धधर्म में दीक्षित कर दिया। कनिष्क अश्वघोष को दास बनाकर लाया था, परन्तु परिस्थिति उल्टी हो गई। कुछ ही समय बाद कनिष्क अश्वघोष का दास हो गया। बौद्ध धर्म में दीक्षित होने के उपरान्त कनिष्क ने बुद्ध भगवान् के संस्मरण में महान् कार्य किये। किन्तु वह अश्वघोष की सलाह के बिना कुछ न करता था।

अब नागार्जुन की प्रतिष्ठा गौरव के गिरि पर कितनी ही ऊंची चढ़ चुकी थी। भारत की भूमि नागार्जुन के यश को विश्राम करने के लिए छोटी हो गई थी। जिस सभा में देखो नागार्जुन की विद्या का यश सुनाई देता था। उसके लिखे उच्चकोटि के दार्शनिक ग्रन्थ पंडित मण्डली के वाग्विलास बन रहे थे। कनिष्क ने नागार्जुन की यह प्रशस्ति सुनकर अश्वघोष से पूछा, "आचार्य! यह नागार्जुन कौन है? क्या उसका दर्शन करना हमारे लिए उचित नहीं है? ऐसे महान् विद्वान् से हमें भी लाभ उठाना चाहिए। क्यों न उसे यहां ले आएं?"

अश्वघोष ने नागार्जुन का दर्शन करने की स्वीकृति दी। कनिष्क और अश्वघोष नागार्जुन को ढूंढ़ते हुए गया पहुंचे। अब संध्या हो गई थी। गंगा तट पर एक फूस की कुटी में घुसकर कनिष्क ने देखा, जिसका यश सारे राष्ट्र पर शासन कर रहा था वही नागार्जुन भूमि पर बिछे एक फटे-पुराने बिछौने पर बैठा 'सुहृल्लेखा'[2] लिख रहा था। सामने छोटे-छोटे दो मिट्टी के प्रदीप टिमटिमा रहे थे। कुटी के दूसरी ओर उसकी सारी सम्पत्ति के रूप में केवल एक भिक्षा-पात्र रखा हुआ था। नागार्जुन के कृश और श्यामल कलेवर पर ढंकने के लिए एक लंगोटी के सिवाय और वस्त्र तक न थे। कनिष्क की आंखों से टप-टप आंसू टपक पड़े।

पहाड़ की अभेद्य शिलाओं से मानो शीतल जल के स्रोत फूट पड़े। एक दिन वह इसी मगध को लूटकर ले गया था। अश्वघोष को छीनकर कनिष्क ने समझा था कि मगध का विद्या और वैभव उसने लूट लिया। परन्तु भारत की वसुन्धरा वन्ध्या नहीं हो गई थी। मगध के राजप्रासादों से अधिक महान् व्यक्तित्व अब वहां के वन में विकसित होते हुए उसे दिखाई दिया। मगध को लूटते समय कनिष्क जो पत्थर का हृदय लेकर आया था, वह इस बार नागार्जुन के प्रताप की ऊष्मा पाकर पिघल उठा। आंसू नहीं, वह कनिष्क का द्रवित हृदय ही था जो आंसू बनकर टपक रहा था।

---

1. भारतीय इतिहास की रूपरेखा, भाग 2, पृ० 923 तथा 'बुद्ध और उनके अनुचर' में अश्वघोष का विवरण देखिये।
2. सातवाहन सम्राट् को लिखा हुआ नागार्जुन का गौरवपूर्ण लेख।

अश्वघोष कनिष्क के साथ थे। नागार्जुन ने उस वयोवृद्ध एवं वन्दनीय विद्वान् को मस्तक झुकाया। वह अश्वघोष की नहीं, भारत के आत्म-गौरव की वन्दना थी जो अश्वघोष के रूप में आज उसकी फूस की झोंपड़ी में आया था। कनिष्क का मन था कि वह नागार्जुन को भी ले जाय। अश्वघोष का व्यक्तित्व उसने केवल तीन करोड़ का आंक लिया था परन्तु इस महापुरुष का दाम कौन लगाये ? आज नागार्जुन का व्यक्तित्व सारे भारत का व्यक्तित्व था। अश्वघोष को लेकर मगध भले ही जीता गया हो, परन्तु नागार्जुन को लेकर सारे भारत को जीतना कनिष्क के लिए संभव न था। जन्मभूमि का सम्मान खोकर कनिष्क के राजमहलों में जाने के लिए नागार्जुन अपने आसन से न हिले।

निराश कनिष्क और अश्वघोष पुरुषपुर के लिए विदा हुए। नागार्जुन ने उन्हें विदा दी। गंगा के प्रवाह में कल-कल करती हुई तरंगों ने कहा—'मगध का महाविद्वान् बंदी होकर गया है, गुरु होकर नहीं। तीन करोड़ के मूल्य में ! ! नागार्जुन ! अभी मातृभूमि की गई हुई प्रतिष्ठा फिर से प्राप्त करनी है। अश्वघोष ने बन्दी होकर भी कनिष्क का हृदय जीत लिया। तुम स्वतन्त्र होकर भी क्या मातृभूमि को स्वतन्त्र नहीं करोगे ?' रह-रहकर नागार्जुन की आंखों के आगे आचार्य अश्वघोष कह रहे थे—'नागार्जुन ! मातृभूमि के सम्मान को फिर से प्रतिष्ठित करना तेरा ही दायित्व है।'

उज्जैन के सम्राट शातवाहन (शातकर्णी) का माण्डलिक राज्य लुट जाय और वह देखता रहे ? शातवाहन के हृदय में दिन-रात आन्दोलन था। अब नागार्जुन के यश की किरणें शातवाहन के राजदरबार में भी चमक रही थीं। शातवाहन ने नागार्जुन को अपना गुरु मानकर सम्पूजित किया।[1] गुरु का मूल्य किसने कूता है ? वह गौरव ही क्या जिसे कोई तोल सके ? अब नागार्जुन गया से चलकर दक्षिण में श्रीपर्वत के समीप धान्य कटक में आ गये। पूर्व में उदय होकर सूर्य ज्यों-ज्यों दक्षिण की दिशा को बढ़ता है प्रचण्ड होता जाता है। नागार्जुन राजगुरु होकर भी उज्जैन के महलों में नहीं, कृष्णा नदी के किनारे श्रीपर्वत पर आश्रम की एक कुटिया में ही रहते थे—वह कुटिया जिस पर सैकड़ों-सहस्रों राजमहल न्यौछावर होते थे।

कनिष्क के दरबार में अश्वघोष प्रधानमंत्री के पद पर प्रतिष्ठित थे। और शातवाहन की राजसभा में नागार्जुन मन्त्री नहीं, राजगुरु। एक बन्दी होकर प्रतिष्ठित था, दूसरा गुरुता के मुक्त वातावरण में सम्मानित। एक राजमहलों में रह रहा था, दूसरा आश्रम की कुटिया में। एक पञ्जरबद्ध केसरी था, दूसरा मुक्त वन में विचरने वाला मञ्चानन। इतना भेद होते हुए भी दोनों में एक अभेद था—'मातृभूमि की प्रतिष्ठा फिर से स्थापित करो।'

ईस्वी सन् 101 में शातवाहन सम्राट ने पुरुषपुर पर आक्रमण कर दिया।[2] विजय के गर्व से उन्मत्त कनिष्क अपनी विशाल सेना लेकर युद्ध क्षेत्र में मोर्चा लेने के लिये आया। शातवाहन और उसकी सेनाएं नागार्जुन का आशीर्वाद लेकर आत्मसम्मान की प्रतिष्ठा के

1. हर्षचरित (बाणभट्ट का लेख) देखें, उच्छ्वास 7
2. भारतीय इतिहास की रूपरेखा, भाग 2, पृ० 926

लिए जूझ रही थीं। कनिष्क ने अपना सम्पूर्ण कौशल खर्च किया, परन्तु मातृभूमि के लिए ही मरने वालों को आज तक कौन जीत पाया ? शातवाहन की सेना ने शकों के पैर उखाड़ दिये। युद्ध में लड़ते-लड़ते कनिष्क का सिर भूमि पर धराशायी हो गया। विजयश्री ने शातवाहन को आलिंगन किया। आचार्य नागार्जुन का आशीर्वाद फलीभूत हो गया।

पुरुषपुर के दुर्ग पर शातवाहन-विक्रमादित्य का झंडा फहराने लगा। मगध को गई हुई प्रतिष्ठा फिर से प्राप्त हो गई। आज अश्वघोष का हृदय वन्दी जीवन से उन्मुक्त होकर आनन्द की गंगा में क्रीड़ा कर रहा था। अश्वघोष के हृदय में नागार्जुन के प्रति अथाह श्रद्धा ने स्थान पा लिया। कौन कह सकता है कि मगध का उद्धार नागार्जुन की अक्षय कीर्ति का इतिहास नहीं है ?

यद्यपि अश्वघोष ने अपने वुद्धि-वल से कनिष्क को अव मनुष्य वना दिया था, अश्वघोष स्वयं एक महाकवि और धुरन्धर दार्शनिक विद्वान् था। कनिष्क के दरवार में रहते हुए उसने 'वुद्धचरित' और 'सौन्दरनन्द'—ये दो महाकाव्य लिखे। सारिपुत्र-प्रकरण नामक नाटक, वज्रसूची उपनिषद, महायान श्रद्धोत्पाद शास्त्र तथा सूत्रालङ्कार जैसे दार्शनिक ग्रंथ लिखे। और यह सव करते हुए भी उसने कनिष्क को विद्या-प्रेमी वना दिया। आयुर्वेद, दर्शन और साहित्य के वड़े-वड़े विद्वान् उसने अपने राजदरवार में संगठित किए। उसने 500 विद्वान् वौद्ध भिक्षुओं को वुलाकर चौथी वौद्ध संगीति का आयोजन किया, जिसमें वौद्ध त्रिपिटकों पर विभाषाएं लिखी गईं। उसने वौद्धधर्म के प्रचार के लिए वहुत धन और शक्ति खर्च की। सवसे प्रथम वुद्ध भगवान् की मूर्ति कनिष्क ने वनवाई जो गंधार कला की आदर्श चित्रण थी। तिव्वत खोतान और मंगोलिया तक कनिष्क को लोग आदर से स्मरण करते थे। अश्वघोष के गुरु पार्श्व और वसु मित्र जैसे विद्वान् भी वौद्ध संगीति में अश्वघोष से मिले।[1] किन्तु नागार्जुन तभी मिले जव मगध का उद्धार हो गया। अश्वघोष और भगवान् तथागत का भिक्षापात्र मगध को वापस मिल गये। धार्मिक भावावेश में राष्ट्रद्रोही को क्षमा करना नागार्जुन को स्वीकार्य न था।

उसने वुद्ध की स्मृति में वड़े-वड़े स्तूप वनवाये। न केवल वौद्ध किन्तु सिक्कों पर उसने अपने आपको माहेश्वर-प्रेमी भी सिद्ध करने का प्रयास किया। उसके सिक्कों पर नन्दि का चिह्न था। उसका पिता 'विमकैड फीसिस' अपने को माहेश्वर ही लिखता था। उसके सिक्कों पर भी माहेश्वर खुदा है तथा नन्दि और शिव के चित्र हैं।[2]

नागार्जुन अभी 24 वर्ष का नवयुवक था। उसने केवल विद्या और सम्मान को ही अपने जीवन का लक्ष्य वनाया था। किन्तु इस छोटी आयु में ही नागार्जुन की प्रतिष्ठा शातवाहन के शासन की मर्यादा वन गई थी। क्या जाने नागार्जुन को दृष्टि में रखकर ही महाकवि भारवि ने लिखा था—

गुणाः पूजास्थानं गुणिषु न च लिंग न च वयः।

---

1. भारतीय इतिहास की रूपरेखा, भाग 2, पृ० 922-929
2. भारतीय इतिहास के आलोक-स्तम्भ, 'कनिष्क' देखें।

चीनी यात्री ह्वेनसांग (7 ईस्वी शती) ने नागार्जुन का उल्लेख किया है। उसने विश्व को प्रकाशित करने वाले चार महापुरुषों का उल्लेख किया है—1. आर्यदेव, 2. अश्वघोष, 3. कुमारलब्ध और इस चतुष्टयी को पूर्ण करने वाला चौथा नाम आचार्य नागार्जुन का ही है।[1] नागार्जुन आर्यदेव के गुरु थे।[2] दूसरे लेखकों ने नागार्जुन, आर्यदेव और वसुबन्धु-असंग को 'बौद्ध धर्म के तीन सूर्य' कहकर उपमा दी है।[3] वसुबन्धु नागार्जुन के बाद चौथी शताब्दी में हुए थे। इसमें सन्देह नहीं कि आर्यदेव, अश्वघोष और कुमारलब्ध नागार्जुन के दार्शनिक अथवा साहित्यिक साथी थे। परन्तु नागार्जुन ने दार्शनिक अथवा साहित्यिक क्षेत्र के अतिरिक्त वैज्ञानिक क्षेत्र में भी जो महनीय सेवाएं की थीं, उन्हें आयुर्वेदिक संसार में भुलाया नहीं जा सकता।

भगवान् बुद्ध के प्रभाव से चिरकाल तक पाटलिपुत्र विद्या में काशी का प्रतिस्पर्धी हो गया था। भर्तृहरि, अश्वघोष, नागार्जुन, आर्यदेव, वसुबन्धु, असंग और दिङ्नाग जैसे धुरन्धर विद्वान् पाटलिपुत्र में ही रहते थे। विदर्भ में जन्म लेकर भी नागार्जुन को विद्या की शक्ति ही पाटलिपुत्र ले आयी। पेशावर (पुरुषपुर) में अवतीर्ण होकर वसुबन्धु और असंग दोनों भाई भगवती सरस्वती की उपासना के लिए ही पाटलिपुत्र आये।[4] साकेत में जन्म लेकर भी अश्वघोष ने पाटलिपुत्र को विद्या के लिए सुशोभित किया।[5] ह्वेनसांग ने सातवीं ईस्वी शती तक पाटलिपुत्र का वह विद्या-वैभव देखा था। और तो क्या, वह स्वयं कई वर्ष पाटलिपुत्र में रहकर गुरुओं से बौद्ध-शास्त्रों का अध्ययन करता रहा था। परन्तु नागार्जुन के आयुर्वेद गुरु कौन थे? उन्होंने दर्शन किनसे पढ़े? उस विश्वविद्यालय का क्या नाम था? वहां की शिक्षा-पद्धति क्या थी? ये कुछ ऐसे प्रश्न हैं जो रह-रहकर हृदय को विक्षुब्ध किये रहते हैं, ताकि हम अनुसन्धान की दिशा में और प्रगतिशील हों।

भिन्न-भिन्न लेखों से प्रतीत होता है कि नागार्जुन नाम के अनेक व्यक्ति भिन्न-भिन्न समयों में हुए थे। आठवीं ईस्वी शती में भारत की यात्रा के लिए आने वाले यात्री अल्बेरूनी ने लिखा है कि भारत में मेरे पहुंचने से सौ वर्ष पूर्व, अर्थात् ईसा की सातवीं शताब्दी में रसायन विद्या में अत्यन्त निपुण विद्वान् नागार्जुन हुए थे। इनके अतिरिक्त ईसा की सातवीं शताब्दी में भारत यात्रा पर आने वाले चीनी यात्री ह्वेनसांग ने लिखा है कि मेरे भारत में आने से सात-आठ सौ वर्ष पूर्व शान्तिदेव तथा अश्वघोष की भांति महाविद्वान् बोधिसत्व नागार्जुन हुए थे, जो रसायनी विद्या के प्रभाव से पत्थर को भी सोना बना देते थे। इन नागार्जुन का परम मित्र सम्राट् सातवाहन था। राजतरंगिणी-कार ने लिखा कि भगवान् बुद्ध के प्राय: 150 वर्ष पश्चात् महाविद्वान् आचार्य नागार्जुन

---

1. भारत निर्माता (1993 विक्रम), पृ० 56
2. गुप्त साम्राज्य का इतिहास, भा० 2, पृ० 150
3. There are three suns of Buddhism. Nagarjun, Arya Deo, and Arya Sanga or Asanga, because of their pouring forth its light upon the world.—Voice of the Silence, p 330
4. गुप्त साम्राज्य का इतिहास, भाग 2, पृ० 136
5. संस्कृत साहित्य का इतिहास (श्री [illegible])—[illegible]

हुए थे ।[1]

उपर्युक्त लेखों से यह स्पष्ट है कि नागार्जुन नाम के कई व्यक्ति हुए थे । अल्बेरुनी के अनुसार ईस्वी सातवीं शताब्दी का एक नागार्जुन था जो ह्वेनसांग के नागार्जुन से भिन्न था । क्योंकि ह्वेनसांग ने लिखा है कि उसके आने के समय (7वीं शती) से 700-800 वर्ष पूर्व रसायनाचार्य नागार्जुन हुए। अल्बेरुनी ईसा की 8वीं शताब्दी में आया था । इस प्रकार दूसरे नागार्जुन का समय ईसा की 7वीं शताब्दी होना चाहिए। जैसा राजतरंगिणीकार ने लिखा कि बुद्ध के डेढ़ सौ वर्ष बाद कोई नागार्जुन और हुए थे, संभव है हुए हों, परन्तु उस नागार्जुन के बारे में कोई इतिहास नहीं मिलता.। इस प्रकार तीन नागार्जुन नाम के व्यक्तियों का उल्लेख हमारे सामने है—

1. बुद्ध भगवान के 150 वर्ष बाद (राजतरंगिणी)
2. ईसा की पहली शताब्दी में (ह्वेनसांग)
3. ईसा की 7वीं शताब्दी में (अल्बेरुनी)

'राजतरंगिणी' में जिस नागार्जुन का उल्लेख है वह रसायनाचार्य नहीं, किन्तु एक सम्राट था । 'काश्यप संहिता' के सम्पादक श्री हेमराज शर्मा ने लिखा है कि उसके पुस्तकालय में ताड़-पत्रों पर लिखित एक ग्रन्थ 'शातवाहन चरित्र' है । उसमें यह स्पष्ट लिखा है कि सम्राट् शातवाहन के गुरु बौद्ध भिक्षु परम विद्वान् श्री नागार्जुन थे, जो तत्व-दर्शी, बोधिसत्व और मनीषी थे । बाण महाकवि के 'हर्षचरित' ग्रन्थ में भी नागार्जुन एवं शातवाहन की घनिष्ठता का उल्लेख है । इस प्रकार हम यह निस्सन्देह कह सकते हैं कि शातवाहन सम्राट् के गुरु एवं परम मित्र नागार्जुन ही रसायनी विद्या के आचार्य एवं बोधिसत्व थे । यह बौद्ध भिक्षु और रसायनाचार्य नागार्जुन थे, जो 'राजतरंगिणी' का नागार्जुन सम्राट् था । तीसरे नागार्जुन का उल्लेख अल्बेरुनी का है । यह ईसा की 7वीं शताब्दी में हुआ था । कक्षपुट, योगशतक, तत्वप्रकाश आदि अनेक ग्रन्थों में उनके लेखक का नाम सिद्ध नागार्जुन दिया हुआ है । यह सिद्ध नागार्जुन भी बोधिसत्व नागार्जुन से भिन्न है । जिन नागार्जुन का हम यहां उल्लेख कर रहे हैं वे बोधिसत्व नागार्जुन थे, जो बौद्ध भिक्षु भी थे और ईसा की प्रथम शताब्दी के अन्तिम चरण में हुए ।

बोधिसत्व नागार्जुन के बाद 7वीं ईस्वी शती में होने वाला तांत्रिक सिद्ध नागार्जुन बोधिसत्व नागार्जुन से भिन्न था । ईसा की सातवीं शताब्दी से लेकर 10वीं शताब्दी तक लिङ्गयान और वज्रयान सम्प्रदायों के अन्तर्गत चौरासी सिद्धों का सम्प्रदाय हुआ था । इन्होंने तांत्रिक मत का विस्तार किया । ग्रन्थ की प्रस्तावना में मैंने लिङ्गयान और वज्रयान का उल्लेख किया है । वहाँ श्री राहुल सांकृत्यायन लिखित 'बुद्धचर्या के

---

1. काश्यप संहिता, उपोद्घात, पृ० 64-65
2. हर्ष चरित, उच्छ्वास 7 —"नागार्जुनो नाम······त्रिसमुद्राधिपतये शातवाहन नाम्ने नरेन्द्राय सुहृदे स ददौ ताम् ।"
(ब) नागार्जुन ने सातवाहन राजा को 'सुहृल्लेख' नामक पत्र लिखा था जो चीनी तथा भोटिया भाषाओं में अब भी सुरक्षित है । —गंगा पुरातत्वांक (महायान बौद्धधर्म की उत्पत्ति)

उपोद्घात के अनेक उद्धरण भी दिये हैं। इन्हीं 84 सिद्धों की परम्परा में सिद्ध नागार्जुन नाम के एक सिद्ध गुरु हुए थे।[1] यह तान्त्रिक नागार्जुन भी आयुर्वेद का विद्वान् था। किन्तु दार्शनिक और बोधिसत्व न था और न ही शातवाहन सम्राट् का गुरु।

हम यहां जिन अमरकीर्ति नागार्जुन के सम्बन्ध में लिख रहे हैं वे द्वितीय नागार्जुन हैं जो ईसा के प्राय: 78 वर्ष पश्चात् अवतीर्ण हुए––वही नागार्जुन जिन्होंने पाटलिपुत्र का पुनरुद्धार करके उसे भगवती सरस्वती का तीर्थ बना दिया था। यों तो मौर्य चन्द्रगुप्त के समय से वहां कौटिल्य, भर्तृहरि, पार्श्व और वसुमित्र जैसे विद्वान् होते रहे थे, परन्तु 102 ईस्वी के पश्चात् जो विद्वान् पाटलिपुत्र में संगठित हुए वे मानो नागार्जुन के उपकारों के प्रति श्रद्धाञ्जलि अर्पित कर रहे थे। नागार्जुन के प्रति अगाध श्रद्धा ही थी जो कनिष्क की राजधानी पुरुषपुर (पेशावर) में जन्म लेने के बाद भी असङ्ग और वसुबन्धु को पाटलिपुत्र ले आयी थी। पुरुषपुर के बन्दी जीवन से छुड़ाकर आचार्य अश्वघोष का स्वागत और सम्मान जिस दिन नागार्जुन ने पाटलिपुत्र में किया होगा उसे वर्णन करने की योग्यता अश्वघोष में नहीं रही होगी; अन्यथा जो भगवान् बुद्ध के चरित्र का चित्रण करने में सिद्धहस्त सिद्ध हुआ वह उस गौरवपूर्ण अवसर का उल्लेख किये बिना न रहता। परन्तु वह आह्लाद, वह अनुराग और वह गर्वोक्ति लिखने के लिए शब्द ही कहां थे? अश्वघोष के शब्दों का भण्डार 'बुद्धचरित्' और 'सौन्दरनन्द' महाकाव्य लिखने में समाप्त हो चुका था।

ईसा से 150 वर्ष पूर्व से लेकर 200 वर्ष पश्चात तक भारत का राजनैतिक वातावरण अत्यन्त अशान्त और अस्त-व्यस्त रहा है। शकों और हूणों के निरन्तर आक्रमणों ने न केवल राजनैतिक स्थिति को ही अस्त-व्यस्त किया प्रत्युत धार्मिक, साहित्यिक और सांस्कृतिक जीवन को भी बहुत कलुषित कर दिया था। भारत के समस्त राजतन्त्र एवं प्रजातन्त्र अस्त-व्यस्त स्थिति में पहुंच गये थे। तभी तो ईसा की तृतीय शताब्दी के बाद गुप्त शासकों को अपनी विशेष शक्ति इन शक तथा हूणों का समुच्छेद करने में लगानी पड़ी।[2] परन्तु आक्रान्ताओं की क्रिया जितनी उग्र थी, भारतीय राष्ट्र में प्रतिक्रिया भी उतनी ही उग्रता पकड़ती गयी। भारतीय विद्वानों ने अपनी समस्त प्रतिभा भारतीय साहित्य एवं सांस्कृतिक पुनर्निर्माण में लगा दी। कहना नहीं होगा कि स्वनाम-धन्य आचार्य नागार्जुन उन्हीं राष्ट्रसेवियों में से अन्यतम थे जिन्होंने अपना सम्पूर्ण जीवन ही

---

1. गंगा के पुरातत्वांक में 'मन्त्रयान' वज्रयान और चौरासी सिद्ध' शीर्षक लेख में श्री राहुल सांकृत्यायन ने 84 सिद्धों की परम्परा में 16वें सिद्ध का नाम सिद्ध नागार्जुन लिखा है।

—गंगा पुरातत्वांक, जनवरी 1933

2. चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य की उपाधि 'शकारि' थी। मेहरौली के लौहस्तम्भ का लेख निम्न प्रकार है—

'तीर्त्वा सप्त मुखानि येन समरे सिन्धोर्जिता वाह्लिका।
यस्याद्याप्यधिवास्यते जलनिधिर्वीर्यानिलैर्दक्षिणः॥

स्कन्दगुप्त की प्रशस्ति में भितरी का स्तम्भ-लेख निम्न प्रकार है—

'हूणैर्यस्य समागतस्य समरे दोर्भ्यां धरा कम्पिता'।

राष्ट्र-निर्माण में बलिदान कर दिया। गुप्त शासन से पूर्व जब शातवाहनों का शासन भारतीय प्रतिष्ठा की रक्षा के लिए दिन-रात जागरूक था, नागार्जुन ही उसके शास्ता थे। शकों और हूणों के तूफानी आक्रमणों को परास्त करने के लिए जो पराक्रम शातवाहनों ने समराङ्गण में प्रस्तुत किया, राजनीति, साहित्य, संस्कृति और विज्ञान के क्षेत्र में नागार्जुन का पराक्रम उससे कम न था।

नागार्जुन के लिखे हुए उच्चकोटि के अनेक दार्शनिक ग्रन्थ उपलब्ध हैं। उनके तन्त्र ग्रन्थ भी अध्यात्म-प्रधान हैं। तत्त्व-प्रकाश, परम रहस्य-सुखाभि, सम्बोधि, समयमुद्रा आदि अध्यात्म-प्रतिपादक तान्त्रिक ग्रन्थ हैं। दर्शन-ग्रन्थों में माध्यमिक वृत्ति, तर्कशास्त्र, उपाय हृदय, माध्यमिक कारिका, युक्ति षष्टिका, शून्यता सप्तति, प्रज्ञापारमिता सूत्र शास्त्र, दशभूमि विभाषा आदि ग्रन्थ अत्यन्त उच्चकोटि के हैं। चित्त विशुद्धि प्रकरण नामक एक नीतिकाव्य भी महत्त्वपूर्ण है।[1] नागार्जुन ने वैज्ञानिक ग्रन्थ भी लिखे अवश्य परन्तु दुर्भाग्य से वे अभी तक हमें उपलब्ध नहीं हैं। नागार्जुन का एक ग्रन्थ 'आदि शास्त्र' नामक जनन विज्ञान के सम्बन्ध में है। एक दूसरे ग्रन्थ 'लोहशास्त्र' का उल्लेख भी है, परन्तु वह ग्रन्थ नहीं मिलता।[2] ईस्वी 405 में कुमारजीव ने चीन पहुंचकर नागार्जुन के ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद किया था। चीनी भाषा में नागार्जुन के बीस ग्रन्थ अभी प्राप्त हैं। कुछ के नाम ये हैं—

1. माध्यमिक कारिका
2. दशभूमि विभाषा शास्त्र
3. महाप्रज्ञा पारमिता सूत्र व्याख्या शास्त्र
4. उपाय कौशल (न्याय)
5. प्रमाण कौशल (न्याय)
6. विग्रह व्यावर्त्तनी (शून्यवाद विरोधी युक्तियों का खण्डन)
7. चतुस्तव (चार स्तोत्र)
8. युक्ति षष्टिका (शून्यवाद समर्थक साठ युक्तियां)
9. शून्यता सप्तति: (शून्यता समर्थक 70 कारिकायें)
10. प्रतीत्य समुत्पाद हृदय
11. महायान विंशकम् (शून्यवाद विवेचन)
12. सुहृल्लेख (आचार्य नागार्जुन बोधिसत्व सुहृल्लेख)

एक ग्रन्थ येन-लुङ् नाम से भी प्रचलित है, जो नागार्जुन का लिखा ही कहा जाता है। यह नेत्र रोग, नेत्र चिकित्सा तथा नेत्र विज्ञान पर लिखा हुआ है। एक अन्य ग्रन्थ 'नागार्जुन बोधिसत्व योग' नामक भी नागार्जुन का लिखा कहा जाता है।

सुहृल्लेख का प्रथम अनुवाद चीनी भाषा में गुणवर्मा ने 424-431 ई० में किया

---

1. काश्यप संहिता, उपोद्घात, पृ० 64-65 तथा गुप्त साम्राज्य का इतिहास, भाग 2, पृ० 150
2. भारतीय इतिहास की रूपरेखा, भाग 2, पृ० 1012

था। दूसरा अनुवाद संघवर्मा ने 433 ई० में किया। 700 ई० में इत्सिङ्ग (इ-चिंग) ने तीसरा अनुवाद लिखा। इत्सिङ्ग ने लिखा है कि जब मैं भारत-यात्रा को आया, एक बालक से मिला जिसे 'सुहृल्लेख' कण्ठस्थ याद था। वयस्क लोग भी इसका श्रद्धा से पाठ करते हैं।" 1886 ई० में एच० वैंजेल ने तिब्बती भाषा से अंग्रेजी में इसका अनुवाद किया। उसी वर्ष जर्मन भाषा में भी इसका अनुवाद हुआ।[1]

माधवनिदान के व्याख्याकार आचार्य विजयरक्षित ने नागार्जुन के एक अन्य ग्रन्थ का उल्लेख किया है—वह 'आरोग्य मञ्जरी' थी। यह निदान सम्बन्धी आयुर्वेद का उच्च ग्रन्थ था। वैज्ञानिक दृष्टि से इसमें दोषों के निदान, सम्प्राप्ति पूर्वरूप एवं रूपों का उल्लेख था। विजयरक्षित ने नागार्जुन के इस ग्रन्थ का उद्धरण भी दिया है।[2]

अब भगवान बुद्ध को धर्म चक्र का प्रवर्तन किये हुए 700 वर्ष बीत चुके थे। बौद्ध धर्म ज्यों-ज्यों बढ़ता गया उसमें मतभेद बढ़ते गये। तथागत के महापरि-निर्वाण के 100 वर्ष बाद बौद्ध भिक्षु दो बड़े-बड़े निकायों में विभक्त हो गये थे। ये निकाय सम्प्रदाय मात्र थे। प्राचीन बातों के दृढ़ पक्षपाती स्थविर कहलाते थे। बुद्ध भगवान् के सामने जो विनय (discipline of moral rules) स्थापित हुआ था, उसी को ज्यों का त्यों कायम रखा जाय, यह 'स्थविरवाद' था। किन्तु दूसरे पक्ष का कहना था कि देश और काल के अनुकूल यदि आवश्यक हो, तो कुछ नये नियम भी विनय में सम्मिलित कर लिये जाएं। इस प्रकार नियमों का प्रचार करने वाले 'महासांघिक' कहलाये।

महासांघिकों ने बौद्धधर्म को भिक्षुओं और उनके संघों के तंग दायरे से निकाल-कर सर्वसाधारण जनता के नगरों और ग्रामों तक विस्तृत कर दिया।[2]

बुद्ध-निर्वाण के 220 वर्षों बाद सम्राट् अशोक के समय बौद्ध-समाज में सामञ्जस्य स्थापित करने के लिए एक बड़ी सभा पाटलिपुत्र में आचार्य तिष्य के सभापतित्व में हुई थी। यह तृतीय बौद्ध संगीति कहलाई। इसमें उक्त दो भेद समाप्त तो नहीं हुए प्रत्युत अन्य अनेक मतभेद बढ़कर सांघिकों और स्थविरों में भी भेद-प्रभेद होने से 18 निकाय हो गये। कहना चाहिए बौद्धधर्म के ये अठारह निकाय अठारह सम्प्रदाय ही थे।

बुद्ध-निर्वाण के 625 वर्ष बाद ईसा की प्रथम शताब्दी में शक सम्राट् कनिष्क ने भारत में बड़ी प्रभुता स्थापित कर ली थी। हम लिख चुके हैं उसने भारत आकर अपनी राजधानी पुरुषपुर (पेशावर) बनाई। भारत में रहकर वह बुद्ध धर्म से बहुत प्रभावित हुआ। उसने साकेत और पाटलिपुत्र के राज्य भी जीत लिये थे। पाटलिपुत्र विजय करके वह विद्वान् अश्वघोष को अपने साथ ले गया। अश्वघोष ने पुरुषपुर पहुंचकर कनिष्क को

1. सरस्वती सुषमा (काशी), चैत्र 2009 वि०, वर्ष 7, अङ्क 1
2. This movement brought Buddhism from the secluded cloisters to the towns and villages, and converted it from a religion of the recluses to that of the masses.

—The Cultural Heritage of India, Vol. I, pp 279-80

बौद्ध धर्म की दीक्षा दे दी। अश्वघोष के ही परामर्श से ईसा की प्रथम शताब्दी में कनिष्क ने बौद्ध भिक्षुओं और विद्वानों की एक बहुत बड़ी सभा बुलाई और यह प्रयत्न किया कि बौद्धों के पारस्परिक मतभेद दूर हो जाएं। यह सभा कश्मीर की राजधानी श्रीनगर के समीप कुण्डल-वन विहार तथा जालन्धर के निकट कुवन विहार में हुई थी और कई मास तक होती रही थी। यह चतुर्थ बौद्ध-संगीति के नाम से प्रसिद्ध है। इसमें विनय के प्रश्न पर मतभेद मिटाने का प्रयास तो बहुत हुआ, परन्तु वह मिट न सका। तो भी त्रिपिटक लेखबद्ध हुए और तीनों पिटकों (विनय, सूत्र, धर्म) पर विभाषा नाम की व्याख्याएं लिखी गई। इस प्रकार विनय, सूत्र और अभिधर्म पर विभाषा लिखने वाले दल के विद्वान् सारे मतभेदों को तो दूर न कर सके, प्रत्युत 'वैभाषिक' सम्प्रदाय के रूप में स्वयं एक सम्प्रदाय बन गये।[1]

इस प्रकार बौद्धों के विनय के आधार पर 18 तथा दार्शनिक दृष्टिकोण से 4 मुख्य सम्प्रदाय बन गये। दार्शनिक सम्प्रदाय क्रमशः इस प्रकार थे—

1. वैभाषिक
2. सौत्रान्तिक
3. योगाचार
4. माध्यमिक[2]

वैभाषिक सम्प्रदाय के लोग सम्पूर्ण प्रत्यक्ष को क्षण-भंगुर स्वीकार करते थे। सौत्रान्तिकों का कहना था कि पदार्थ क्षणभंगुर होने से प्रत्यक्ष हो नहीं सकता, अतएव हमारा सम्पूर्ण ज्ञान अनुमेय है। विश्व में प्रत्यक्ष कुछ नहीं। योगाचारों का आग्रह था कि विश्व ज्ञान का विवर्त है। अतएव हमारा प्रत्यक्ष ज्ञान स्वप्न की भांति मिथ्या है। वस्तुतः वह हमारे ही ज्ञान का विवर्त्त है। चौथे माध्यमिक वर्ग की धारणा यह थी कि जगत् में जो कुछ है वह शून्य का विवर्त है। अतएव शून्य का विवर्त होने के कारण विश्व का प्रत्यक्ष अभावात्मक है, भावात्मक नहीं।[3] आचार्य बोधिसत्व नागार्जुन माध्यमिक शाखा के ही प्रबल समर्थकों में से थे। न केवल समर्थक किन्तु माध्यमिक शाखा के शून्यवाद पर उद्भट दार्शनिक ग्रन्थों की रचना करके नागार्जुन ने शेष तीन दार्शनिक सम्प्रदायों को प्रायः

---

1. विनयपिटक (उपोद्घात), श्री राहुल सांकृत्यायन, पृ० 6
   (अ) प्रथम संगीति बुद्धपरिनिर्वाण के चौथे मास राजगृह में हुई। इसमें 500 भिक्षु महाकाश्यप के सभापतित्व में एकत्रित हुए। धर्म, विनय और अभिधर्म का विश्लेषण हुआ।
   (ब) द्वितीय संगीति परिनिर्वाण के 100 वर्ष बाद वैशाली में हुई। 700 भिक्षु रेवत स्थविर के प्रधानत्व में जुटे। विचारणीय विषय वज्जियों के दस अतिक्रमण।—महावंश
2. मुख्यो माध्यमिको विवर्त्तमखिलं शून्यस्य मेनेजगत्।
   योगाचार मतेतुसन्ति मतयस्तासां विवर्त्तोऽखिलः॥
   अर्थोस्ति क्षणिकस्त्वसावनुमितो बुद्धयेति सौत्रान्तिकः।
   प्रत्यक्षं क्षणभंगुरंच सकलं वैभाषिको भाषते॥
3. 'ते बौद्धाश्चतुर्विधया भावनया परम पुरुषार्थं कथयन्ति। ते च माध्यमिक योगाचार सौत्रान्तिक वैभाषिक संज्ञाभि, प्रसिद्धा बौद्धा यथा क्रमं सर्वशून्यत्व वाह्यशून्यत्व वाह्यर्थानुमेयत्व बाह्यार्थ प्रत्यक्षत्ववादाना तिष्ठन्ते।—सर्वदर्शन संग्रह, बौद्धदर्शन 9

परास्त कर दिया। नागार्जुन ने जिस माध्यमिक शून्यवाद का प्रतिपादन किया। वह बौद्धों का महायान सम्प्रदाय कहा जाता है। न केवल स्वयं नागार्जुन ने, किन्तु नागार्जुन ने अपने जैसा महाविद्वान् दार्शनिक शिष्य तैयार किय, जिसका नाम आर्यदेव था। 200 ई० के लगभग आर्यदेव ने 'चतु:शतक' तथा 'चित्त-विशुद्धि-प्रकरण' जैसे ग्रंथ लिखकर अपने गुरु के रहे-सहे कार्य को शिखर तक पहुंचा दिया।

कहते हैं नागार्जुन के पांडित्य से आकृष्ट होकर जब आर्यदेव उनसे मिलने आये, नागार्जुन अपनी कुटी में बैठे हुए थे। किसी शिष्य ने आर्यदेव के आने की सूचना नागार्जुन को दी। उन्होंने मिलने से पूर्व अपने कमण्डल में जल भरकर उनके पास भेज दिया। आर्यदेव ने जल में एक सुई डाल दी, और ज्यों का त्यों वापस कर दिया। नागार्जुन यह देखकर अत्यन्त प्रसन्न हुए।

जल चाहे परिपाटी के अनुसार सम्मानार्थ भेजा गया था, किन्तु आर्यदेव ने उसे फैलाया नहीं, किन्तु सुई डालकर यह मौन प्रस्तावना रखी कि आपके अगाध ज्ञान में सुई की भांति प्रविष्ट होने के लिए मैं तत्पर हूं। नागार्जुन ने आर्यदेव को अपना शिष्य बना लिया और सचमुच आर्यदेव की बुद्धि सुई की भांति पैनी सिद्ध हुई। उसने जीवन-पर्यन्त ज्ञान-पट के परिधान ही सिये।[1]

आर्यदेव के उपरान्त भी बुद्धपालित, भावविवेक, चन्द्रकीर्ति, कमलबुद्धि आदि अनेक विद्वान् शिष्य-प्रशिष्य हुए जिन्होंने बौद्धों के महायान सम्प्रदाय को बहुत उत्कर्ष तक पहुंचाया।[2] गुप्तकाल में महायान सम्प्रदाय अत्यन्त उत्कर्ष पर पहुंच गया था। ईसा की चौथी और पांचवीं शताब्दियों में वसुबन्धु, असंग तथा उनके शिष्य धुरन्धर तार्किक दिङ्नाग के रहते हुए भी योगाचार नहीं, किन्तु नागार्जुन और आर्यदेव का शून्यवादी महायान ही प्रतिष्ठित रहा।[3] सत्य यह है कि इस युग में—ईसा की प्रथम शताब्दी से लेकर पांचवीं शताब्दी तक—बौद्ध धर्म के तीन प्रमुख विद्वान् हुए, जो बौद्ध धर्म के तीन सूर्य कहे जाते हैं।[4] उनमें प्रथम स्थान नागार्जुन का और द्वितीय उनके शिष्य आर्यदेव का ही था। तीसरे नम्बर पर आचार्य वसुबन्धु और असंग का, यद्यपि असंग और वसुबन्धु ने अपने प्रबल तर्क से योगाचार सम्प्रदाय का उत्कृष्ट प्रतिपादन किया। वसुबन्धु का 'अभिधर्म कोष' बौद्ध सिद्धान्तों का वास्तव में कोष है। 280 से 360 ई० तक वसुबन्धु और असंग का समय है, किन्तु उससे पूर्व जो स्थापना नागार्जुन ने की थी वह हिलाई न जा सकी।

---

1. सरस्वती सुषमा (काशी), चैत्र 2009 वि०, वर्ष 7, अंक 1
2. गुप्त साम्राज्य का इतिहास, भाग 2, पृ० 149-152
3. विनयपिटक, भूमिका (श्री राहुल सांकृत्यायन), पृ० 2
4. He (Asanga) was founder of the Yogachar School of Buddhism His name is joined with those of Nagarjun and Aryadeo, and these three men have been called the three suns of Buddhism, because of their activity in the pouring forth its light and glory upon the world. —Voice of the Sielence, Sec II, p [illegible]

दक्षिण भारत में श्रीपर्वत के समीप श्री धान्यकटक में नागार्जुन का आश्रम था। नागार्जुनी कोंडा भी उसी के निकट है, वह भी नागार्जुन के निवास के कारण ही उनके नाम से विख्यात है। यह स्थान दक्षिण के गुंटूर जिले में आज तक विद्यमान है, जो ई० पूर्व प्रथम शताब्दी से लेकर ईसा की तृतीय शताब्दी तक शातकर्णी, सातवाहन या शालिवाहन वंश के आंध्र सम्राटों के अधीन था। बाणभट्ट के 'हर्षचरित' का उद्धरण देते हुए हम पीछे उल्लेख कर चुके हैं कि नागार्जुन सातवाहन सम्राट्[1] शिवस्वामी विक्रमादित्य और उसके पुत्र गौतमी-पुत्र सातकर्णी विक्रमादित्य के गुरु और मित्र थे[2]। इन शातकर्णी या सातवाहन राजाओं की बौद्धधर्म पर अटूट श्रद्धा थी। इस श्रद्धा का कारण एकमात्र नागार्जुन का महान व्यक्तित्व ही था। सातवाहन राजाओं ने बौद्ध सिद्धान्तों को शिलालेखों में खुदवाया तथा राजधानी, धान्यकटक (अमरावती) में भव्य स्तूप, गुहा मन्दिर, संगमरमर की मूर्तियां, पट्टिकाएं, स्तम्भ एवं तोरण आदि बनवाये जो आज तक भूगर्भ से प्राप्त होते हैं। सत्य कहा जाय तो वे राजाओं के संस्मरण नहीं, किन्तु नागार्जुन के ही संस्मरण हैं। अमरावती एवं नागार्जुनी कोंडा से मिले शिलालेखों से आज भी ज्ञात होता है कि इन राजाओं और उनकी रानियों को बौद्ध धर्म और विशेषतः नागार्जुन के प्रति कितनी अगाध श्रद्धा थी।

महायान, वैपुल्यवाद, महाशून्यतावाद और माध्यमिक दर्शन नागार्जुन के सम्प्रदाय के ही नाम हैं। ईसापूर्व प्रथम शताब्दी में भी वैपुल्यवादी विचार लोगों में थे, वे लंका तक पहुंच गये थे[3], परन्तु उन्हें अपनी विद्वता से अभिसिंचित करके नागार्जुन ने महायान बना दिया। वस्तुत: नागार्जुन के शून्यवाद में योगाचार, सौत्रान्तिक तथा वैभाषिक, तीनों ही सम्प्रदाय समन्वित हो जाते हैं। यहां तक कि वैदिक दार्शनिकों के प्रत्यभिज्ञादर्शन जैसे शैव और ब्रह्माद्वैतवादी वेदान्ती भी बहुत कुछ उसके समीप आ गये थे। उपनिषदों का 'नेति-नेति' दर्शन और नागार्जुन का शून्यवाद पर्यवसान में एक ही सिद्ध होते हैं। तात्पर्य यह कि भिन्न-भिन्न दार्शनिक विचारों में नागार्जुन ने सुन्दर समन्वय कर दिया। सबका माध्यम होने के कारण ही वह माध्यमिक सम्प्रदाय बन गया।

वभाषिकों का क्षणभंगवाद भले ही बाह्यवस्तु सत्ता को क्षणभंगुर स्वीकार करता हो, किन्तु ज्ञेय के क्षणभंगुर रहते भी ज्ञान के प्रवाह रूप ज्ञाता का स्थायित्व तो रहता ही है; अन्यथा एक वर्ष पूर्व जाने हुए ज्ञेय की प्रत्यभिज्ञा ही असंभव हो जाय।

सौत्रान्तिक प्रत्येक ज्ञेय को प्रत्यक्ष नहीं, अनुमेय इसलिए स्वीकार करता है कि

---

1. सातवाहनों का विस्तृत उल्लेख 'भारतीय इतिहास की रूपरेखा', भाग 2, पृ० 793 (149 सातवाहन राज्य) में देखें। उसमें लिखा है कि सातवाहन महाराष्ट्र ब्राह्मण थे, किन्तु पीछे उनमें आंध्र रक्त भी मिल जाने से वे आन्ध्र सातवाहन कहे जाने लगे थे।
2. भारतीय इतिहास की रूपरेखा, भाग 2, पृ० 911 तथा 978-979 (वंश तालिका देखें)
3. The evidence suggest that a fachion of Mahayanists known as the Vaitulyakas made their way to Ceylon sometime before the third Century A. D., and tried to obtain a footing there. —The Cultural Heritage of India, Part I, p. 282.

क्षणभंगुर होने के कारण पदार्थ का स्थायित्व न होने से प्रत्यक्ष का व्यापार संभव नहीं। अतएव प्रत्येक पदार्थ अनुमेय है।

योगाचार की दृष्टि में जगत् ज्ञान के विवर्त से अधिक अन्य कुछ नहीं। सोते हुए व्यक्ति को अपने बिस्तर पर ही स्वप्न में रेलगाड़ी, यात्रा और नगर—सभी प्रतीत होते हैं। वह अपने ही ज्ञान का विवर्त है। ज्ञेय की वास्तविक सत्ता न होने पर भी जो ज्ञान होता रहता है वही विवर्त है। स्वप्न की भांति इस सम्पूर्ण जगत् का व्यापार भी विवर्त है।

और माध्यमिक दर्शन में नागार्जुन ने उपर्युक्त तीनों का माध्यम यह बताया कि विश्व शून्य है, अभावात्मक शून्य। भाव रूप में केवल ज्ञान का स्वरूप ही शेष रहता है। अन्ततोगत्वा केवल यही संवित्ति शेष रहती है कि विश्व में जो कुछ है वह प्रतीयमान सत्ता से शून्य है। और मैं स्वयं भी विश्व की प्रतीत होने वाली सत्ता से शून्य हूं।[1]

भगवान् बुद्ध का यह उपदेश देखिये— पुत्तामत्थि धनंमत्थि इति बालो विहञ्जति। अत्ताहि अत्तनो नत्थि कुतो पुत्ता कुतो धनं।—धम्मपद 62

यह वैदिक दर्शनों के भी समीप पहुंचने का मार्ग बन गया। सांख्य ने लिखा था तत्त्वाभ्यास से "मैं कर्त्ता भोक्ता नहीं हूं, यह संसार मेरा नहीं है, और मैं शरीर से प्रतीयमान सुखी और दुःखी नहीं होता हूं, ऐसी विशुद्ध ज्ञान की स्थिति का नाम ही कैवल्य है।"[2]

कैवल्य अथवा परमपद का विश्लेपण विधिरूप से (Positively) करना दुष्कर देखकर ही वैदिक दर्शनों ने भी उसे अभावात्मक (Negatively) रूप से कहा था। अत्यन्त विमोक्ष को अपवर्ग कहो,[3] या त्रिविध दुःख की अत्यन्त निवृत्ति को,[4] तात्पर्य

---

1. अर्थो ज्ञानान्वितो वैभाषिकेण बहुमन्यते।
   सौत्रान्तिकेन प्रत्यक्षग्राह्योऽर्थो न बहिर्मतः ॥
   आकार संहिता बुद्धिर्योगाचारस्य सम्मता।
   केवलां संविदं स्वस्थां मन्यन्ते मध्यमा पुनः ॥
   रागादि ज्ञान सन्तान वासनाच्छेद संभवा।
   चतुर्णामपि बौद्धानां मुक्तिरेषा प्रकीर्तिता ॥—सर्वदर्शन संग्रह, बौद्धदर्शन 60
   The sole object of the followers of the Sunyavada is to rootout the motion of 'I' and 'mine' or the self and that which belongs to the self.'
   ...Therefore one who believes in the void (Sunya) has nither likes nor dislikes.—The Cultural Heritage of India, Vol. I. p. 262
   (An article by Shri Mahamahopadhyaya Vidhushekhar Bhattacharya Head of the Dept of Sanskrit, Calcutta University.
2. एवं तत्त्वाभ्यासान्नास्मि न मे नाहमित्यपरिशेषम्।
   —अविपर्ययाद्विशुद्धं केवल मुत्पद्यते ज्ञानम् ॥—सांख्यकारिका
   "स एष नेति नेत्यात्मागृह्यो नहि गृह्यते, अशीर्यो नहि शीर्यते, असङ्गो न सज्यते—" बृहदारण्यक उपनिषद् 4/5
3. तदत्यन्त विमोक्षोऽपवर्गः।—न्याय
4. त्रिविध दुःखात्यन्तनिवृत्ति रत्यन्त पुरुषार्थः।

अभावात्मक ही है। सांख्य का 'नास्मि-नमे' और उपनिषद का 'नेतिनेत्यात्मा' सभी तो शून्यावस्था का निर्देश करते हैं। शून्यावस्था में जो ज्ञान-घन (वज्रसत्व) शेष रहता है वही कैवल्य है। नागार्जुन का 'वज्रसत्व' और माण्डूक्य उपनिषद का 'प्रज्ञान घन' एक ही तत्त्व हैं। अतएव निषेधात्मक शैली से प्रतिपादित नागार्जुन का शून्यवाद न केवल बौद्धों के ही शेष तीनों सम्प्रदायों का माध्यम बन गया, प्रत्युत वैदिक दर्शनों का भी माध्यम उसमें उद्भासित हो उठा। इसीलिए नागार्जुन का शून्यवाद ही अन्ततोगत्वा शंकर का 'सर्वखल्विदं ब्रह्मनेह नानास्ति किंचन' का रूप लेकर वैदिक दर्शनों को भी मान्य हो गया। नागार्जुन का यही माध्यमिक वाद था[1] जिसने बौद्ध और वैदिक सम्प्रदायों के बीच की गहरी खाई पाट दी। यही कारण था माध्यमिक सम्प्रदाय इतना लोकप्रिय हुआ कि इसके 'प्रज्ञापारमितासूत्र', 'रत्नकूट-सूत्र', 'उपाय हृदय' तथा 'वैपुल्य-सूत्र' ईसा की दूसरी शताब्दी में ही तिब्बती और चीनी भाषाओं में अनूदित होकर तिब्बत और चीन में प्रतिष्ठित हो गये थे।

मध्य भारत में 'विदिशा' (वर्तमान भेलसा) भी नागार्जुन के प्रचार-केन्द्रों में एक प्रतिष्ठित स्थान था। यहां पर नागार्जुन के अनुयायी कितने ही पंडितों ने तन्त्र साहित्य की रचना की थी[2] यहां तक कि वह ईसा की चतुर्थ शताब्दी में दिङ्नाग और कालिदास के समय भी अपने सौभाग्य-वैभव पर फूली नहीं समाती थी। कालिदास ने 'मेघदूत' में बड़े गौरव से विदिशा का उल्लेख किया है।[3] प्रतीत होता है पाटलिपुत्र के पतन के उपरान्त मगध की राजधानी भी विदिशा हो गई थी।[4]

ईस्वी सन् 102 में आचार्य अश्वघोष को कनिष्क की बन्धकता से मुक्त करके

---

1. शून्यमिति न वक्तव्यम् अशून्य मिति सोभवेत्।
   उभयं नो भयं चेति प्रज्ञप्त्यर्थं तु कथ्यते ।।—नागार्जुन, मा० कारिका, 22/11
   बुद्धैरात्मान चा मात्मा कश्चिदित्यपि देशितम्।—नागार्जुन, मा० कारिका, 18/6
   "न कर्म कर्तृ फलादिकं नास्तीति ब्रूयः : किन्तर्हि निःस्वभाव मेतदिति व्यवस्थापयामः।"
   —चन्द्रकीर्ति, मा० वृ० व्याख्या, पृ० 329

   The Vijnanvada reffered to above is said to be besed on the Upanishadas. This will be perfactly clear if one reads the vedanta in the light throw by such older teachers as Gaudapada······ Therefore Brahmavada or Atmauada in fact Vijnan vada.—The Cultural Heritage of India, Vol. I, p. 263.
2. मञ्जुश्री मूल कल्प—(पृ० 175 पटल 18)
3. तेषां दिक्षु प्रथित विदिशा लक्षणां राजधानीम्।'—मेघदूत, पूर्वमेघ 24
4. कुछ ऐतिहासिक उल्लेख प्रकट करते हैं कि संभवतः विदिशा का दूसरा नाम 'वेदालय' भी था और नागार्जुन का जन्म यहीं हुआ था। वैप्रल्य-सूत्र यहीं लिखे गये। यहीं शून्यवाद या महायान की आधारशिला रखी गई। यहीं से प्रथम बार वैपुल्यवादी विचार लंका तक पहुंचे थे। 'लंकावतार' नामक ग्रन्थ में 'नाग' (नागार्जुन) नामक महायान अथवा शून्यवाद के संस्थापक का उल्लेख है, जो वेदालय में पैदा हुए। इस विचार के अनुसार ईसा के 100 वर्ष पूर्व हुए।
   —Cultural Heritage of India, pp. 233-284

नागार्जुन ने उन्हें बौद्ध संघ का प्रधान स्थविर स्वीकार किया। प्रायः 49 वर्ष बौद्ध संघ के महास्थविर पद पर अश्वघोष ने संघ की सेवा की। नागार्जुन के शिष्ट और व्यवहार-पाटव से परिपूर्ण आचार ने अश्वघोष को इतना प्रभावित किया कि वैभाषिक सम्प्रदाय की स्थापना करके भी अन्त को अश्वघोष ने नागार्जुन के महायान को स्वीकार कर लिया। न केवल स्वीकार किन्तु 'महायान श्रद्धोत्पाद शास्त्र' जैसा दार्शनिक ग्रन्थ भी महायान के समर्थन में लिखा। कवि होकर भी अश्वघोष नागार्जुन से इतने प्रभावित हुए कि अपनी कविता का क्षेत्र छोड़कर महायान का दार्शनिक विवेचन करने को बाध्य हुए। अश्वघोष का 'महायान श्रद्धोत्पाद शास्त्र' ऐसा उच्चकोटि का ग्रन्थ था कि मूल संस्कृत से चीनी भाषा में अनूदित हुआ। भारत से वह मूल संस्कृत ग्रन्थ तो लुप्त हो गया, किन्तु अब जापानी विद्वान् सुजुकी ने चीनी से अंग्रेज़ी में इसका अनुवाद किया है।[1]

अश्वघोष और नागार्जुन दोनों एक ही प्रदेश के महापुरुष थे। वह मगध की ही यशस्विनी धरित्री है जिसने अश्वघोष और नागार्जुन जैसे सपूतों को जन्म दिया। अश्वघोष का जन्म साकेत (अयोध्या) में हुआ था, और नागार्जुन का विदर्भ (छत्तीसगढ़) में। दोनों नगर उस युग में मगध राज्य के अन्तर्गत ही थे। अतएव मगध का सम्मान ही दोनों का सम्मान था। एक ही माता के दो पुत्रों की भांति वे एक-दूसरे के लिए सदैव काम आये। बुद्ध, धर्म और संघ के लिए उन्होंने अपने जीवन को गर्व से बलिदान तो किया ही, इसके अतिरिक्त राजनीति, साहित्य एवं विज्ञान में भी उन्होंने अपनी विद्या और चरित्र से अमर स्थान प्राप्त किया।

अब अश्वघोष की आयु 76 वर्ष की हो गई थी। अपने उज्ज्वल ज्ञान से काव्य, दर्शन और राजनीति के गौरव-गिरि पर अपनी विजय-पताका गाड़कर सन् 150 ई० में अश्वघोष ने अपनी जीवन-लीला समाप्त कर दी। मगध के इतिहास में उसके सपूतों का एक नया अध्याय बनाकर अश्वघोष अमर हो गये। अपने पूर्ववर्ती वयोवृद्ध विद्वान् के विदा हो जाने पर उनके रिक्त सिंहासन पर बौद्ध संघ के महास्थविर पद पर आचार्य नागार्जुन का अभिषेक हुआ।

दक्षिण भारत में उस युग में अन्धक और वृष्णि, ये दो जातियां बहुत प्रबल थीं। अन्तर्विग्रह, अथवा जातीय स्वार्थों के कारण जो भी हो, गत चालीस वर्षों में उनका पतन होने लगा था। कनिष्क के पराभव से शकों की प्रतिहिंसा शान्त नहीं हुई, प्रत्युत उद्दीप्त हुई। सिन्ध और काठियावाड़ के मार्ग से शकों के नये आक्रमण शुरू हो गये। बौद्ध और जैनों का पारस्परिक मनोमालिन्य ही था जिसके कारण कालकाचार्य जैन फारस से शकों को भारत पर आक्रमण के लिए ले आया। यह घटना प्रायः 123 ई० पू० से 100 ई० पू० की है। बीच में प्रायः 78 ई० पू० गौतमी-पुत्र शातकर्णी ने भारतीय राष्ट्र को सामर्थ्यवान बनाकर उन्हें भारत से खदेड़ दिया।[2] इसके उपरान्त भी ईसा के 25 वर्ष बाद तक आंध्र वंश की सत्ता का प्रताप भारतीय गगन में प्रचण्ड तेज से चमकता रहा। कनिष्क आया,

---

1. 'संस्कृत कवि चर्चा' (श्री बलदेव उपाध्याय), अश्वघोष का प्रसंग देखिये।
2. भारतीय इतिहास की रूपरेखा, भाग 2, पृ० 840

परन्तु अधिक दिन न टिक सका। कनिष्क को पराजित करके आंध्र शातवाहनों का प्रताप अस्तोन्मुख हो चला था।[1] कनिष्क की मृत्यु के दस वर्ष बाद ही उज्जैन शातवाहनों के हाथ से निकल गया था। तो भी नागार्जुन का आश्रम श्रीपर्वत पर सुशोभित था। शातवाहनों का राजनैतिक चक्रवर्ती क्षेत्र जितना ही घटता जाता था, नागार्जुन का धार्मिक चक्रवर्तीत्व उतना ही विस्तृत हो रहा था। अब वे बौद्ध भिक्षुसंघ के महास्थविर थे। उस युग में बौद्ध संघ का महास्थविर किसी चक्रवर्ती से कम न था।

शक और हूण भारत में सिन्ध और काठियावाड़ होकर ही आये। चूंकि वाल्हीक से लेकर कलिंग तक तथा हिमालय से दक्षिण समुद्र तक एकछत्र शातवाहन साम्राज्य का केन्द्र उज्जयिनी थी, इसलिए शक सिन्धु और काठियावाड़ से सीधे उज्जयिनी की ओर बढ़ गये। और 9-10 वर्ष में ही उज्जयिनी तथा विदिशा जैसे प्रमुख केन्द्रों पर उन्होंने अधिकार कर लिया। धीरे-धीरे वे अपना विस्तार करने लगे। हुविष्क, चष्ठन और रुद्रदामन जैसे शक शासक सिन्ध, गुजरात और उज्जैन तथा विदिशा में जम गये थे। नागार्जुन ने अपने धार्मिक अनुशासन में एक सुन्दर युक्ति चलाई। 150 ई० में शातकर्णी सम्राट् शक शासक का जामाता बन चुका था।[2] नागार्जुन ने धार्मिक अनुशासन में यह व्यवस्था कर दी कि भारतीय शासक शकों की बेटियों से विवाह कर लें। नागार्जुन के धर्म-प्रचार को यह श्रेय है कि उससे प्रभावित होकर शक-हूण शासक भी बौद्धधर्म में दीक्षित हो गये। कनिष्क भी इसके लिए बहुत कुछ कर गया था। शातवाहन राजाओं ने शक कन्याओं से विवाह करना प्रारम्भ कर दिया। शकों को चाहे कन्यायें न दी जाती हों, परन्तु शकों की कन्यायें लेने में कोई आपत्ति न थी। इसीलिए शकों को दक्षिण पालि ग्रंथों में 'रठ्ठिय-साल' (राष्ट्रीय-साल) कहा जाने लगा था। क्योंकि प्राय: प्रत्येक शक क्षत्रप भारतीय राजा का साला हो गया था। धीरे-धीरे राष्ट्र-साल शब्द शकों का पर्याय-वाची बन गया।[3] शकों का बड़े पैमाने पर यह राष्ट्रीयकरण नागार्जुन के धर्म-प्रचार का ही फल था, इसमें सन्देह नहीं।

'पाली अभिधम्मपिटक' के 'कथावत्थु' ग्रंथ में कितने ही बौद्ध निकायों का खण्डन किया गया है, साथ ही वैपुल्यवाद का मण्डन। कथावत्थु की अट्ठकथा में वैपुल्यवादियों को ही महाशून्यतावादी कहा गया है। नागार्जुन ही शून्यतावाद के आचार्य थे। इसलिए वैपुल्यवादी और शून्यतावादी एक ही थे। इन्होंने बौद्धधर्म में जो नये विचार प्रचलित किये वे वस्तुत: बौद्ध संघ में भयंकर विप्लव मचाने वाली बातें थीं। यह विद्रोही बौद्ध अनुशासन ही नागार्जुन का 'महायान' था। इनके मुख्य अनुशासन देखिये--

(1) संघ को दान ग्रहण नहीं करना चाहिए। संघ किसी दाता को शुद्ध करता है, यह मिथ्या है। संघ को दान का उपभोग भी न करना चाहिए। संघ को दान देने से कोई महाफल होगा यह मिथ्या है।

(2) बुद्ध को (बुद्ध के नाम पर) दान देना निष्फल है। बुद्ध इस लोक में

---

1. भारतीय इतिहास की रूपरेखा, भाग 2, पृ० 931
2. वही, भाग 2, पृ० 939
3. गंगा पुरातत्वांक, पृ० 208

कोई नहीं थे, और न उन्होंने कोई उपदेश दिये।

(3) किसी खास कारण से (एकाभिप्राय से) मैथुन का सेवन किया जा सकता है, जो ज्ञान की दृष्टि से हो।[1]

ये तीनों ही बातें प्रचलित बौद्धधर्म और संघ के प्रति स्पष्ट विद्रोह थीं। पहली में संघ का, दूसरी में बुद्ध का और तीसरी में धर्म का निराकरण स्पष्ट ही विद्यमान है।[2]

ईसा की प्रथम शताब्दी तक बौद्धधर्म वह धर्म नहीं रह गया था, जिसकी स्थापना 625 वर्ष पूर्व भगवान बुद्ध ने स्वयं की। स्वयं भगवान बुद्ध के समय भी भिक्षु और भिक्षुणियों के अनुचित आदान-प्रदान और मैथुन की शिकायतें हो जाती थीं। उनके लिए तथागत को व्यवस्थाएं देनी पड़ती थीं।[3] अब 625 वर्ष पश्चात् ऋषि पत्तन के धर्म-प्रवर्त्तन में कहे गये आठ आर्य-सत्य लोगों को भूल गये थे। धर्म की वह पवित्रता नष्ट हो गयी थी। खुले-आम अमर्यादित आदान-प्रदान और मैथुन बुद्ध, धर्म और संघ को कलंकित कर रहे थे। ऐसी दशा में नागार्जुन का विद्रोही आन्दोलन समयोचित था। क्योंकि सत्य यह है कि परमार्थ में अब न वह संघ था जिसे दान दिया जाय, न वह बुद्ध भावना जिसे सम्यक्-सम्बुद्धि कहा जाय और न वे भिक्षु और भिक्षुणियां जिनमें ब्रह्मचर्य की पवित्रता हो।

तो भी नागार्जुन ने बौद्ध धर्म से अपना सम्बन्ध-विच्छेद नहीं किया। वे अपने को बौद्ध कहते रहे। बुद्ध के व्यक्तित्व से धर्म न चिपटा रहे, इसलिए शून्यवादी के लिए यह कहना कि बुद्ध कोई हुए ही नहीं, अनुचित न था। धर्म के अनुशासन व्यक्ति के अनुशासन नहीं हैं, वे अखण्ड सत्य हैं, जो कल थे वे आज भी हैं और आगे भी रहेंगे। ऋत और सत्य सदैव यथापूर्व होते हैं, और होते रहेंगे। धर्म की सत्ता बुद्ध के जीवन से क्यों जोड़ी जाय? बुद्ध ने जो कुछ कहा, क्या वह पहले सत्य नहीं था? वह क्या आज भी सत्य नहीं है? इसलिए बुद्ध के भय से धर्माचरण करना ही अधर्म को मार्ग प्रदान करना है। जब वह भय न होगा, धर्माचरण भी न रहेगा। और नहीं रहा। इसलिए 'आत्मावलम्बी बनो'। यही बुद्ध भगवान का आदेश था, जो नागार्जुन ने अपने नये ढंग से प्रस्तुत किया। महायान की यही महिमा थी—देश, काल और पात्र को देखकर व्यवहार करो।

नागार्जुन के धर्म-प्रचार का यही औचित्य था जो देश, काल और पात्र के अनुकूल था। इसी कारण बौद्ध आचार्यों में नागार्जुन को बोधिवृक्ष कहा जाता है।[4] नागार्जुन

1. The Cultural Heritage of India, Part I, p. 282 तथा गंगा पुरातत्वाङ्क (श्री राहुल सांकृत्यायन), पृ० 212
2. विनयपटक।
3. शून्य, निःस्वभावता और निरालम्बता की भावना में संघ, बुद्ध और धर्म सभी अनावश्यक हैं। आचार्य असंग ने कहा था—'बुद्धो नैवच देशितो, भगवता प्रत्यात्मवेद्यो यतः"—सूत्रा० 12.2। इसे आचार्य नागार्जुन ने माध्यमिक कारिका में लिखा—'नैवान्त [illegible] न [illegible] सम्पश्यति सर्वलोकः"—मा० का० 25/30-31
4. The tree of the knowledge is a title given by the followers of the Bodhi Dharma (Wisdom Religion) to those who have attained

की छत्रछाया में बैठकर लोगों ने एक वार फिर धर्म का वास्तविक बोध प्राप्त किया। ठीक वैसे ही भगवान गौतम ने बोधि-वृक्ष के नीचे बैठकर उस वेला में नीरंजरा नदी के तट पर प्राप्त किया था। श्रीपर्वत आज की उरुवेला बन गयी थी।

ये सब नागार्जुन के जीवन के वे चित्र हैं जो उनकी दार्शनिक, सामाजिक और धार्मिक योग्यता को प्रस्तुत करते हैं। ईसा के 150 वर्ष पूर्व जिस प्रकार राष्ट्र का शरीर पुष्यमित्र और आत्मा पतञ्जलि थे, ठीक वैसे ही ईसा के 150 वर्ष पश्चात राष्ट्र का शरीर शातवाहन में और आत्मिक चेतना नागार्जुन में निहित थी। हमने अभी तक उनके जीवन के उस भाग को छुआ ही नहीं जिसके कारण हम उन्हें भारत के महान् प्राणाचार्यों के बीच यहां सम्मानित कर रहे हैं। हमने अब तक नागार्जुन को एक दार्शनिक, धर्माचार्य अथवा समाजशास्त्री के रूप में देखा है, आइये, अब उनका एक प्राणाचार्य के रूप में परिचय करें—

एक वार बुद्ध भगवान् श्रावस्ती में अनाथ पिंडिक के आराम जेतवन में विहार कर रहे थे।

भगवान् ने देखा, भिक्षु शारदीय ज्वर (जाड़ा बुखार) से जर्जरित हैं। वे खिचड़ी खाते, वमन हो जाती। भात खाते, वमन हो जाता। इस कारण वे कृश, रूक्ष और दुर्वल थे। शरीर पीले-पीले हो गये थे। मांस सूख गया, और पिचकी हुई खाल पर उभरी हुई नसें दूर से दिखायी देती थीं। देखकर भगवान् ने आयुष्मान आनन्द से पूछा—

'आनन्द! आजकल ये भिक्षु क्यों जीर्ण-शीर्ण और जर्जरित हो रहे हैं?'

'भन्ते! इन भिक्षुओं को शारदीय ज्वर ने जीर्ण-शीर्ण और जर्जरित कर दिया है, जिससे इन्हें खिचड़ी और भात तक नहीं पचता, वमन हो जाता है।'

भगवान् की मुद्रा गम्भीर चिन्ता में निमग्न हो गयी। एकान्त में बैठकर वे विचार करने लगे—'दुःख की बात है, इतने सारे भिक्षु शारदीय ज्वर से जर्जर हैं। वे खा-पी नहीं सकते। उनके शरीर सूखकर अस्थि चर्म शेष रह गये हैं। क्यों न भिक्षुओं को औषधि-सेवन की अनुमति दूं? ऐसी औषधि जिसे लोग आहार भी मानें और औषधि भी हो जाय।' विचारते-विचारते भगवान् ने घी, मक्खन, तेल, मधु और खांड—यह पांच वस्तुएं निश्चय कीं। लोग इन्हें सूक्ष्म आहार भी मानते हैं, और यह औषधि भी हो सकती हैं, उचित हो कि मैं भिक्षुओं को इन्हीं औषधियों के प्रयोग की अनुमति दूं।

सन्ध्या हो गयी। भगवान् के प्रवचन का समय आ गया। भगवान् ने एकत्रित भिक्षुओं को सम्बोधित करते हुए कहा—

---

the height of mystic knowledge– Adepts. Nagarjun, the founder of the Madhyamik School, was called the 'Dragon-tree' the dragon standing as a symbol of wisdom and knowledge. The tree is honoured because it is under the Bodhi (wisdom) tree that Buddha received his birth and enlightenment, preached his first sermon, and died.—Madame Blavatsky (The Voice of the Silence, p. 457)

'भिक्षुओ ! मैं तुम्हें शारदीय ज्वर से जर्जर देख रहा हूं। अतएव पांच भैषज्यों के प्रयोग की अनुमति देता हूं। किन्तु भिक्षुओ, संग्रह न करना। प्रातःकाल ही भैषज्य का सम्पादन करो, और प्रयोग कर लो।'

भिक्षुओं ने वैसा किया। परन्तु इतने से पूर्ण लाभ न हुआ। आनन्द ने भगवान् से कहा—

'भन्ते ! पूर्वाह्न में ली हुई औषधि से भिक्षुओं को पूर्ण लाभ नहीं हुआ।'

'तो आनन्द ! पूर्वाह्न और अपराह्न में भी औषधि-सेवन की अनुमति देता हूं।'[1]

इस प्रकार भगवान् बुद्ध ने संघ में रोगों के निदान और चिकित्सा की आधारशिला रखी थी। नागार्जुन के काल तक भगवान् के वे शब्द जन-गण में गूंज रहे थे।

'आनन्द ! रोग-निवारण के लिए भैषज्य की अनुमति देता हूं।'

इतना ही नहीं, समय-समय पर कई बार भगवान् ने भिक्षुओं को सम्बोधित करके कहा था—

'भिक्षुओ ! किसी प्रकार दूसरे का उपकार किये बिना, भिक्षा लेना पाप है।'

शास्ता ने एक बार और कहा था—

'जो रोगी की सेवा करता है, वह मेरी सेवा करता है।'[2]

यही सब प्रेरणाएं थीं जिन्होंने भिक्षु संघ को निदान और चिकित्सा-विज्ञान के अनुसन्धान की ओर प्रवृत्त किया। आचार्य नागार्जुन में वह प्रवृत्ति उत्कृष्ट रूप में विद्यमान थी। न केवल प्रवृत्ति किन्तु तत्परता और तल्लीनता भी। उन्होंने भारतीय चिकित्साशास्त्र में ऐसे महत्त्वपूर्ण अनुसन्धान प्रस्तुत किये जिन्होंने न केवल आयुर्वेद में, किन्तु सारे वैज्ञानिक जगत् में एक नया युग प्रस्तुत कर दिया।

भगवान् तथागत सम्यक्-सम्बुद्ध ने समय पर ऊपर के केवल पांच द्रव्य ही नहीं, सैकड़ों या हजारों औषधि द्रव्यों की अनुमति संघ को दे दी थी। रोग-परिज्ञान के लिए निदान शास्त्र की प्रेरणा दी। जांगम, औद्भिद और पार्थिव द्रव्यों का प्रयोग, पंचकर्म, शास्त्र कर्म, ऋतुचर्या, भैषज संग्रह, भैषज्य कल्पना, आदि सभी का ओजस्वी विधान किया। विनयपिटक का 'भैषज्य स्कंध' इसी प्रकार के विधानों से भरा पड़ा है। भगवान् 'जीवक' की योग्यतापूर्ण चिकित्सा से स्वयं अत्यन्त प्रभावित थे।

तथागत के वे अनुशासन 700 वर्ष बाद भी भारत के वातावरण में प्रतिध्वनित हो रहे थे।

'जो रोगी की सेवा करता है, वह मेरी सेवा करता है।' भगवान् का जो भक्त उनकी सेवा करना चाहता हो उसे एक ही प्रेरणा थी—'वह रोगी की सेवा करे।' नागार्जुन के हृदय में वे शब्द रह-रहकर प्रतिध्वनित होते थे—

'रोगी की सेवा ही भगवान् की सेवा है।'

मानो जीवन के निविड़ पथ पर खड़े होकर भगवान् ने स्वयं ही मानव का आह्वान किया हो। नागार्जुन ने कर्मक्षेत्र के सघन कानन में जाते हुए शास्ता की पुकार

1. विनयपिटक, भैषज्य स्कन्धक।
2. बुद्ध और उनके अनुचर (बुद्ध)।

पुकार सुन ली—

'मेरी सेवा का पुण्य पाने के लिए रोगी की सेवा करो।'

शून्यवाद के प्रतिपादन में अनवरत लगी हुई ऋतम्भरा विश्व का मिथ्यात्व भी मिथ्या मानकर शास्ता के कर्मयोगी आदेश पर आरूढ़ हुई। भारत, भूटान, नेपाल, तिब्बत, चीन और जापान तक जिसके निर्माण किये हुए महायान पर विश्व चल रहा था, वह स्वयं आज शास्ता के संजोये हुए पथ पर रोगियों की चिन्ता में चला। निर्मम ज्ञान की प्रत्यभिज्ञा में विश्व ने जिसे बोधिसत्व के रूप में परिचय किया, वही स्वास्थ्य की शून्यता में रोगों की अशून्यता देखकर शून्यता और अशून्यता का निदान और चिकित्सा के साथ समन्वय करने में प्रवृत्त हो गया। बड़े-बड़े दिग्गजों से टक्कर लेकर जिसने इस विश्व की शून्यता सम्पादन की थी, वही महान् योद्धा इस शून्य विश्व में रोगों की अशून्यता कैसे स्वीकार कर लेता ?

राष्ट्र के भीषण तूफानों में न जाने कितने जाज्वल्यमान प्रकाशपुञ्ज बुझ जाते हैं, टिमटिमाते हुए प्रदीपों की कौन कहे ? ईसा की दो शताब्दियों पूर्व तक भारत के महान् साहित्य का बड़ा भाग छिन्न-भिन्न हो गया था। मनुस्मृति, सुश्रुत, चरक, महाभारत और रामायण आदि ग्रन्थों का फिर से प्रतिसंस्कार हुआ, तब वे आज इस रूप में हमें उपलब्ध हैं, अन्यथा राष्ट्र जीवन के ये प्रकाश-स्तम्भ भी बुझ जाते। ईसा से 326 वर्ष पूर्व भारत पर सिकन्दर के आक्रमण ने यहां के विशाल ग्रन्थ साहित्य को अधिकांश नष्ट कर दिया था। उससे 350 वर्ष पूर्व भी यूनानियों के आक्रमण अपने विध्वंसकारी अपराधों के लिए भुलाये नहीं जा सकते। बीच में शक और हूणों जैसी असभ्य जातियों ने भी भारत की कला और साहित्य का विनाश करने में कोई कसर नहीं उठा रखी। नागार्जुन के समय तक भी शक आक्रान्ता अपनी विनाशकारी करतूतें कर ही रहे थे। इतिहासकारों को ज्ञात है कि छः बार विध्वंस हो-होकर तक्षशिला नई-नई आबाद होती रही थी।[1] तक्षशिला में भारतीयों के जो बड़े-बड़े पुस्तकालय और विश्वविद्यालय थे, वे उपर्युक्त आक्रमणों द्वारा छिन्न-भिन्न हो चुके थे। और नागार्जुन के समय तक भी ये दस्युदल शान्त नहीं हो पाये थे। उनके आक्रमण चल ही रहे थे।

यह वह युग था जब भारत के विद्वानों के समक्ष राष्ट्र के नव-निर्माण का प्रश्न था। विशाल भग्नावशेषों का जीर्णोद्धार, छिन्न-भिन्न साहित्य और कलाओं का प्रतिसंस्कार ही इस युग के नव-निर्माण थे। एक शताब्दी पूर्व (100 ई० पूर्व) ही अस्तव्यस्त 'अग्निवेश संहिता' का प्रतिसंस्कार कश्मीर-सम्राट् कनिष्क के दरबार में बैठकर चरक ने

1. At one or two points in the northern part of the walled city, Marshall dug down in small areas to the natural soil. He found remains belonging to six successive periods of habitation.
—Bulletin of the Archeological Survey of India, No. 4, 1947-48 p. 83

किया था ।[1] यह साधारण कार्य न था । 'अग्निवेश संहिता' के सहारे वैदिक दर्शनों की जो वकालत चरक ने की वह अद्वितीय है । बौद्धों के नास्तिकवाद के विरुद्ध जब किसी को उंगली उठाने की क्षमता नहीं थी, तब चरक ने आत्मगौरव के साथ गरजकर कहा—

'पातकेभ्यः परञ्चैतत्पातकं नास्तिक ग्रह :'[2]

सर्ग, प्रतिसर्ग, प्रेत्यभाव, कर्मविपाक, सदसद्भाव, आप्तागम आदि प्रश्नों को लेकर क्षणभंग और शून्यवाद को ऐसी फटकार बताई कि प्रतिवादियों के पैर कांप गये। तो भी प्रतिसंस्कार का गौरव यह था कि ग्रन्थ में आयुर्वेद की वैज्ञानिकता को तनिक भी व्याघात नहीं पहुंचा । जो भी हो, लोग धाक मान गये । सपक्ष और विपक्ष ने एक स्वर से कहा—'चरकस्तु चिकित्सिते ।' और दृढ़बल ने तो कलम ही तोड़ दी—'यदिहास्ति-तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत्क्वचित्'[3] ।

परन्तु इतने से क्या होता है ! यहां तो शताब्दियों नहीं, सहस्राब्दियों से साहित्य के प्रासाद विध्वस्त पड़े थे । नागार्जुन ने 'सुश्रुत संहिता' पर दृष्टि डाली । आखिर 'सुश्रुत संहिता', 'अग्निवेश संहिता' से कुछ प्राचीन ही थी । नागार्जुन ने 'सुश्रुत संहिता' का प्रतिसंस्कार करके भारतीय वैज्ञानिकों के अस्तप्राय शल्यशास्त्र को पुनर्जीवित कर दिया। उपाय हृदय, प्रज्ञापारमिता, रत्नकूट, वैपुल्य सूत्र आदि विशाल दार्शनिक ग्रंथ लिखने के बाद नागार्जुन को आयुर्वेद में दर्शन की तर्कनाएं लिखने की आवश्यकता नहीं रही थी। नागार्जुन ने सुश्रुत के प्रतिसंस्कार में चरक की भांति दर्शनशास्त्र नहीं लिखा। चरक में न्याय, वैशेपिक और सांख्य की भांति नागार्जुन ने सुश्रुत में प्रत्यभिज्ञा, विवर्त्त और शून्यता का प्रतिपादन करके ग्रंथ को दुरूह नहीं बनाया । यद्यपि चरक की तर्कना शैली, विषय-प्रतिपादन, भाषा-सौष्ठव और खण्डन-मण्डन बहुत रोचक और प्रभावशाली हैं, तथापि वे इस सीमा तक पहुंच गये हैं कि यदि अध्येता पहले से न्याय, वैशेपिक और सांख्यशास्त्रों का विद्वान् न हो तो 'चरक संहिता' को समझ ही नहीं सकता। इसके प्रतिकूल नागार्जुन ने सुश्रुत में ऐसी जटिलता नहीं आने दी ।[4]

जिस प्रकार चरक का चिकित्सा-स्थान सर्वोत्तम माना जाता है, उसी प्रकार सुश्रुत का शारीर-स्थान ।[5] सुश्रुत के शारीर-स्थान का प्रथम अध्याय दार्शनिक विचारों

---

1. यह कनिष्क शक जातीय कनिष्क से भिन्न था । कौपाण (शक) कनिष्क की राजधानी पुरुषपुर थी, जब कि भारतीय कनिष्क का राजधानी श्रीनगर । भारतीय कनिष्क 100 वर्ष पूर्व हुआ था। दो कनिष्क 'भारतीय इतिहास की रूपरेखा' में भी (भा० 2, पृ० 930-931) सिद्ध किये गये हैं । कुषाण कनिष्क को 'शाहानुशाहि' या 'वाझेष्कपुत्र' विशेपण देकर लिखा गया । शकों ने भारतीय नामों की नकल में अपने नाम बहुत रखे ।
2. नास्तिकों का समर्थन करना सबसे बड़ा पाप है—चरक सं०, सू० 11/15
3. "जो यहां है वही अन्यत्र । जो यहां नहीं वह कहीं नहीं ।"
4. 'यथोवाच भगवान् धन्वन्तरि रिति इदं प्रति संस्कर्त्तृ सूत्रम् । यत्र यत्र परोक्षे लिट् प्रयोगस्तत्र तत्रैव प्रतिसंस्कर्त्तृ सूत्रं ज्ञातव्यम् इति । प्रतिसंस्कर्त्तापीह नागार्जुन एव ।'—उल्हण, सुश्रुत व्याख्या, सूत्र 1/2
5. 'शारीरे सुश्रुत प्रोक्तः' चरकस्तु चिकित्सिते ।"
   पूरा श्लोक निम्न प्रकार है—
   "निदाने माधवः श्रेष्ठः सूत्रस्थानेतु वाग्भटः ।
   शारीरे सुश्रुतः प्रोक्तश्चरकस्तु चिकित्सिते ॥"
   आयुर्वेद ग्रन्थों की 'वृहत्त्रयी' में सुश्रुत का स्थान है । वृहत्त्रयी के सुश्रुत, चरक और अष्टांग हृदय—यह तीन ग्रंथ प्रसिद्ध हैं ।

का संग्रह है। (1)शरीर के कारण क्या हैं? उपादान क्या? समवायि क्या? और निमित्त क्या? (2) चेतना क्या है? (3) प्रकृति क्या है? (4) पुरुष क्या है? (5) विकार क्या है? आदि विषय ही इस अध्याय की विचारणीय सामग्री हैं। नितान्त शून्यवादी होते हुए भी इस अध्याय में नागार्जुन ने सांख्य मत का सुन्दर प्रतिपादन किया है। परमार्थ में भले ही यह जगत शून्य हो या अन्य कुछ—नवयं नास्तिकाः। अस्तित्व नास्तित्व निरासेन तुवयं निर्वाणपुर गामिन मद्वैत पथं विद्योतयामः।' (मा० वृ० व्याख्यायां, चन्द्रकीर्ति, पृ० 368) व्यवहार में यदि शरीर शून्य हो तो काहे का निदान और किसकी चिकित्सा? शरीर को परमार्थ में पाञ्चभौतिक स्वीकार किये बिना आयुर्वेद की प्रवृत्ति हो नहीं सकती।[1] इसी रहस्य को स्पष्ट करने के लिए 'सुश्रुत संहिता' के प्रारम्भ में लिखा है—तत्रपुरुषः प्रधानं तस्योपकरण मन्यत्।[2]

शारीर स्थान में शरीर और शारीर का वर्णन अक्षरशः सांख्य मत का ही अनुसरण है। वह उपमा जो आचार्य ईश्वरकृष्ण ने सांख्यकारिका में दी है, सुश्रुत में भी अविकल रूप से विद्यमान है।[3] जैसे जड़ (अचेतन) दुग्ध बछड़े के पोषण के निमित्त माता के स्तनों में स्वयं प्रवृत्त होता है, उसी प्रकार पुरुष कैवल्य के लिए प्रकृति प्रवृत्त होती है।[4] इस प्रकार सुश्रुत का कर्म पुरुष वही है, जो सांख्य का शरीर है, और वही चिकित्सा का अधिकरण है।[5] इस प्रकृति और पुरुष के सम्बन्ध का नाम ही जीवन है। वही आयुर्वेद का चिकित्साधिकरण है। इस प्रकार अचेतन की सत्ता से भिन्न एक नित्य चेतन की सत्ता भी 'सुश्रुत संहिता' में स्वीकार की गई है।[6]

नागार्जुन ने वैदिक दर्शन की मान्यताओं पर अपने शून्यवाद की छाप लगाने का प्रयत्न नहीं किया, अन्यथा शून्यवादी की दृष्टि में वस्तु सत्ता का प्रश्न ही नहीं उठता। शून्य परिणामतः सत्ता का प्रतियोगी है। परन्तु नागार्जुन ने सुश्रुत को आधार बनाकर दार्शनिक संघर्ष के लिए बौद्ध और अबौद्ध अथवा नास्तिक और आस्तिक का विवाद प्रस्तुत नहीं किया। सबसे अधिक गौरव और निरभिमानता की बात यह भी है कि सुश्रुत का आमूल-चूल प्रतिसंस्कार करके भी नागार्जुन ने ग्रंथ का नाम 'सुश्रुत संहिता' ही रहने दिया। चरक ने 'अग्निवेश संहिता' का प्रतिसंस्कार करके संहिता का नाम भी बदलकर 'चरक संहिता' कर दिया। इस सन्तुलन में चरक की सेवाओं और विद्वत्ता का सम्मान हृदय में रखते हुए भी यह स्वीकार करना ही पड़ेगा कि चरक की सेवाओं से नागार्जुन की सेवायें ही अधिक निःस्वार्थ थीं।

---

1. 'अस्मिन् शास्त्रे पञ्चमहाभूत शरीरि समवाय। पुरुष इत्युच्यते।'—सुश्रुत सं०, सूत्र० 1/22
2. सुश्रुत, सूत्रस्थान, 1/22
3. 'सत्यप्यचैतन्ये प्रधानस्य पुरुष कैवल्यार्थं प्रवृत्ति मुपदिशन्ति क्षीरादीश्च हेतूनुदा हरन्ति।"
—सुश्रुत, शरीर० 1/8
4. वत्स विवृद्धिनिमित्तं क्षीरस्य यथा प्रवृत्तिरज्ञस्य।
पुरुष विमोक्ष निमित्तं तथा प्रवृत्तिः प्रधानस्य॥—सांख्य कारिका 57
5. पञ्चमहाभूत शरीरि समवायः पुरुषइति। स एव कर्मपुरुषश्चिकित्साधिकृतः"
—सुश्रुत, शारीर स्थान, 1/16
6. आयुर्वेदशास्त्र सिद्धान्तेष्वसर्वगताः क्षेत्रज्ञाः नित्याश्च।—सुश्रु० शारी० 1/16

नाम परिवर्तन करने में चरक के सामने एक हेतु अवश्य रहा होगा। 'अग्निवेश संहिता' इतनी छिन्न-भिन्न हो गई होगी कि चरक को स्वयं अपने विचारों का समावेश करके संहिता पूर्ण करनी पड़ी होगी। संभव है प्रतिसंस्कर्त्ता के विचारों में कोई त्रुटि के लिए उत्तरदायी न माना जाय तथा उन त्रुटियों के लिए अग्निवेश को विद्वानों में अवमानित न होने देने के लिए चरक ने संहिता में अपना नाम जोड़कर सारी त्रुटियों का भार अपने ऊपर ले लिया और प्रत्येक अध्याय के अन्त में सम्मानपूर्वक मूल ग्रन्थ लेखक को मस्तक झुकाते रहे—'अग्निवेश कृते तन्त्रे चरक प्रतिसंस्कृते'। आखिर प्रतिसंस्कर्त्ता का अधिकार-क्षेत्र बहुत है, वह ग्रन्थ को पुराने से नया कर सकता है।[1] इस कायाकल्प में कितने उलटफेर नहीं होते होंगे! तो भी ग्रन्थ-निर्माण का श्रेय देने के लिए अग्निवेश को प्रत्येक अध्याय के अन्त में श्रद्धांजलि अर्पित करना हिमालय की उच्चता और सागर की गम्भीरता से कम नहीं।

चरक का यह प्रतिसंस्करण अधूरा रह गया था। 'चरक संहिता' के दूसरे प्रतिसंस्कर्ता दृढ़बल ने स्वयं लिखा है कि 'महर्षि चरक ग्रन्थ को चिकित्सास्थान के तेरहवें अध्याय तक लिखकर छोड़ गये थे। शेष 41 अध्याय और लिखकर ग्रन्थ को मैंने पूर्ण किया है।' इन 41 अध्यायों में 17 अध्याय चिकित्सास्थान के, 12 कल्पस्थान के, और 12 सिद्धिस्थान के हैं। इसी प्रकार अनेक उलटफेर 'सुश्रुत संहिता' में भी हुए होंगे।[2] 'चरक संहिता' का अन्तिम प्रतिसंस्कार जो दृढ़बल ने किया वह नागार्जुन के कुछ ही बाद, किन्तु वाग्भट (5वीं-6ठी ई० शती) से पूर्व हुआ था। इसको हम तीसरी-चौथी ई० शती का मान सकते हैं। चरक नागार्जुन से प्रायः 100 वर्ष पूर्व हुए। इन दोनों विद्वानों ने ग्रन्थ में अपने किये हुए प्रतिसंस्कार का स्पष्ट परिचय लिखा है। चरक ने प्रत्येक अध्याय के अन्त में 'अग्निवेश कृते तन्त्रे चरक प्रतिसंस्कृते' लिखा। दृढ़बल ने भी 'सप्तदशौपधाव्याय सिद्धि कल्पैरपूरयत्' लिखकर अपनी कृति का स्पष्टीकरण दिया है। नागार्जुन ने वैसा कहीं कुछ नहीं लिखा। केवल व्याख्याकार उल्हण का लेख 'प्रतिसंस्कर्तापीह नागार्जुन एव' ही यह मानने का आधार है कि 'सुश्रुत संहिता का प्रतिसंस्कार नागार्जुन ने किया था।

नागार्जुन ने स्वयं अपने 'उपायहृदय' नामक दार्शनिक ग्रन्थ में भैषज्य विद्या के विषय एव तत्सम्बन्धी शास्त्र का विश्लेषण करते हुए सम्मानपूर्वक सुश्रुत का नामोल्लेख किया है।[3] किन्तु वहां यह नहीं लिखा कि मैंने सुश्रुत का प्रतिसंस्कार भी किया है। इसी को आधार मानकर कुछ लोगों में यह विप्रतिपत्ति है कि नागार्जुन ने वस्तुतः

---

1. विस्तारयति लेशोक्तं संक्षिपत्यति विस्तरम्।
   संस्कर्त्ता कुरुते तन्त्रं पुराणंच पुनर्नवम्॥—चरक०, सिद्धि० 12/76
2. ऐसे परिवर्तनों का निर्देश उल्हण ने अनेक स्थानों पर अपनी व्याख्या में किया है। और स्थान-स्थान पर सुश्रुत सहिता के पाठ-भेद उद्धृत किये हैं।
3. यथा सुवैद्य को भेपज कुशलो मैत्र चित्तेन शिक्षकः सुश्रुतः।— उपाय हृदये आगमवर्णन प्रसंगे नागार्जुनः।—काश्यप सं०, उपोद्घात, पृ० 65

'सुश्रुत संहिता' का प्रतिसंस्कार किया भी था या नहीं ?[1] परन्तु 'सुश्रुत संहिता' के व्याख्याकार उल्हण का उल्लेख 'प्रतिसंस्कर्ता वीह नागार्जुन एव' प्रमाण क्यों नहीं ? इस प्रश्न का कोई उत्तर होना चाहिए।

सुश्रुत में नागार्जुन ने बौद्ध विचार क्यों समाविष्ट नहीं किये ? यह सन्देह विप्रतिपत्ति का आधार नहीं बन सकता । सत्य यह है कि यदि आचार्य नागार्जुन सुश्रुत जैसे वैदिक परिपाटी के शास्त्र में[2] अवैदिक विचार समाविष्ट कर देते तो उनकी ईमानदारी को कलंक लग ही जाता। बोधिसत्व का यही कार्य होना चाहिए था जो नागार्जुन ने किया। बोधि से अबोधि की आशा करने वालों को गम्भीर होकर विचारना चाहिए—वैदिक देवताओं का समर्थन, सांख्यशास्त्र का प्रतिपादन, वर्ण-व्यवस्था की मर्यादा आदि में 'सुश्रुत संहिता' की वैदिक मौलिकता है। नागार्जुन ने उन्हें अक्षुण्ण रखकर जो गौरव उपार्जन किया है, वही श्रद्धेय है। अन्यथा ज्वर और व्रण, क्वाथ और शस्त्र न वैदिक हैं, न अवैदिक । विज्ञान के जगत् में विश्व का प्राणिमात्र एक है। प्रपञ्च और पञ्चत्व के बीच में पञ्च स्कन्ध के परिवर्तन के अतिरिक्त और है ही क्या ? वैदिक और अवैदिक के वितण्डावाद से खीझकर वाग्भट ने ठीक कहा था—'वक्ता के अनुरोध से द्रव्यों के गुणावगुण में कोई अन्तर नहीं आता, अतएव पक्षपात की भावना को त्यागकर मध्यस्थ *बुद्धि से चिकित्साशास्त्र का मनन करो।''*[3] *नागार्जुन ने वही किया था।* उनके माध्यमिक दर्शन का यही आदर्श था।

सुश्रुत अथवा अग्निवेश के युग में निदानशास्त्र का जो विकास हो चुका था, चिकित्साशास्त्र उससे कम विकसित न था। शरीरविज्ञान की सूक्ष्मताएं तथा सेन्द्रिय[5] और निरिन्द्रिय[4] भौतिक द्रव्यों पर उन्होंने गहरे अनुसन्धान कर लिये थे । प्राणियों में सेन्द्रिय तत्त्वों का परिपाक और समीकरण होता है, निरिन्द्रिय का नहीं; अतएव निरिन्द्रिय तत्त्वों में सेन्द्रियता सम्पादन की कला का आविष्कार उन्होंने कर लिया था। सुश्रुत ने लिखा है कि प्राणियों के जीवन की स्थिति का हेतु आहार है । वह आहार छः रसों में विभक्त है । रस द्रव्यों में रहते हैं। द्रव्य ही औषधि है। वे द्रव्य दो श्रेणियों में विभक्त हैं—स्थावर और जङ्गम। स्थावर चार प्रकार के हैं और जङ्गम भी। स्थावरों में वृक्ष, लता आदि; जङ्गमों में पशु-पक्षी आदि लिये जाते हैं। परन्तु इनके अतिरिक्त द्रव्यों की एक श्रेणी और ढूंढी गयी थी। वे थे— पार्थिव द्रव्य।[6] सुवर्ण, रजत,

---

1. तदेवं नागार्जुनस्य सुश्रुत संहिता प्रतिसंस्कर्तृभाव आत्मनः साधनाय वलवत्प्रमाणमपेक्षते" ।
   —काश्य० सं०, उपोद्घात, पृ० 112
2. इहखल्वायुर्वेदो नामो पांग यथर्व वेदस्य" —सुश्रुत सूत्र 1/6
3. 'अभिधातृ वशात् किंवा द्रव्य शक्तिर्विशिष्यते' ।
   अतो मत्सर मुत्सृज्य मध्यस्थ मवलम्वताम् ।। —अष्टांगहृदय, उत्तरतन्त्र 40/87
4. सेन्द्रिय=Organic.
5. निरिन्द्रिय=Inorganic.
6. पार्थिव द्रव्य निरिन्द्रिय (अचेतन=Inorganic) होते हैं। सुश्रुत का सूत्र० अ० 1/28-32 देखें।

मणि, मुक्ता, मनःशिला, मिट्टी और पत्थर आदि भी औषधि द्रव्यों के अन्तर्पाती हैं। इन निरिन्द्रिय द्रव्यों को सेन्द्रिय बनाने की वैज्ञानिक पद्धति का आविष्कार उस युग के प्राणाचार्यों ने नागार्जुन से पहले ही कर लिया था।

यद्यपि सुश्रुत ने इस विषय को संक्षेप से लिखकर ही छोड़ दिया, क्योंकि रसाहार उसका मुख्य प्रतिपाद्य विषय न था। 'अग्निवेश संहिता' (चरक) में इस विषय पर जो कुछ लिखा है वह बहुत महत्त्वपूर्ण है। चरक ने लिखा—द्रव्य दो प्रकार के हैं—एक सेन्द्रिय और दूसरे निरिन्द्रिय। सेन्द्रिय चेतन और निरिन्द्रिय अचेतन द्रव्यों का नाम है। सेन्द्रिय के दो भेद हैं जंगम और उद्भिद। निरिन्द्रिय द्रव्य पार्थिव द्रव्य हैं जिनमें सोना आदि पांच लौह हैं। लौह शब्द धातुओं के लिए प्रयोग होता है। वे पांच सोना, चांदी, तांबा, सीसा और लोहा हैं। इनके उपधातु शिला, जतु आदि हैं, जिनका चरक ने प्रशस्त रासायनिक विश्लेषण किया है।[1] वह चरक में ही देखने योग्य है।

यहां इस प्रसङ्ग को केवल यह परिचय देने के लिए लिखा है कि सुश्रुत और चरक के समय तक आयुर्वेद में सेन्द्रिय द्रव्यों की ही नहीं, निरिन्द्रिय द्रव्यों की भी औषधि रूप से उपयोगिता प्राणाचार्यो ने खोज ली थी। जैसा हम उपोद्घात मे विस्तार से लिख चुके हैं, सुश्रुत ने सोना, चांदी, तांबा, कांसा, लोहा, नमक, रांगा, सीसा, मुक्ता, मूंगा, हीरा, पुखराज, नीलम आदि निरिन्द्रिय द्रव्यों के गुण-दोष भी विस्तार से लिखे हैं।[2] यह सब नागार्जुन से पूर्व हो चुका था। द्रव्य-गुण में भारतीयों की अप्रतिम योग्यता एक ही घटना से स्पष्ट हो जायेगी—परीक्षा के लिए तक्षशिला विश्वविद्यालय के आचार्य भिक्षु आत्रेय ने जीवक से कहा—'जाओ, तक्षशिला की चौगिर्द दो-चार योजन तक ढूंढ़कर ऐसा द्रव्य लाओ जो औषधि न हो।' सायंकाल जीवक खाली हाथ लौटा। गुरु ने पूछा—'क्या लाये?' जीवक ने कहा—'ऐसा कुछ नहीं।'

नागार्जुन ने सबसे महान् कार्य यह किया कि पारद की औषधि रूप से उपयोगिता सिद्ध कर दी। न केवल शब्दों से, किन्तु सैकड़ों आश्चर्यजनक प्रयोग निर्माण करके। अभी तक लोग यही जानते थे कि पारद विमान चलाने की ही चीज़ है।[3] नागार्जुन ही पहले व्यक्ति थे जिन्होंने यह सिद्ध किया कि पारद में सारे स्थावर, जङ्गम और पार्थिव द्रव्यों से अधिक रोग-निवारण की शक्ति भी है। सैंकडों रोगों पर पारदीय प्रयोग देकर प्राणाचार्यों के समक्ष उन्होंने अपने अनुसन्धान की सत्यता प्रत्यक्ष रूप से सिद्ध कर दी। पारद के अतिरिक्त उन्होंने दूसरे जिस पदार्थ का अनुसन्धान किया वह 'रसक' (खर्पर) था।[4]

---

1. चरक, सूत्र० अ० 1/47-70
2. सुश्रुत सूत्र० अ० 46/313-330
3. हतोहन्ति जरा व्याधिर्मूर्छितो व्याधि घातकः।
   बद्धः खेचरतांधते कोऽन्यः सूतात्कृपा करः॥— रसेन्द्र सार संग्रह, 1/6
4. नागार्जुनेन सन्दिष्टौ रसश्च रसकावुभौ।
   श्रेष्ठौ सिद्धरसौ ख्यातौ देहलोह करौ परम्॥
   रसश्च रसकश्चोभौ येनाग्नि सहनौ कृतौ।
   देह लोह मयी सिद्धिर्दासी तस्य न संशयः॥—रस रत्न समु० 2/144–45

प्रसिद्ध 'वसन्तमालती' नामक प्रयोग इसी खर्पर से निर्मित हुआ था। अग्नि के तीव्र उत्ताप में भी पारद और खर्पर की स्थिरता सम्पादन करने का प्रयोग नागार्जुन ने जब अपने युग के वैज्ञानिकों के समक्ष रखा, वे आश्चर्यचकित रह गये। इन दोनों द्रव्यों को अग्नि-सह बनाकर जो लाखों रोग-निवारक प्रयोग आविष्कृत हुए, उनका श्रेय एकमात्र नागार्जुन को ही है।

नागार्जुन के युग को हम रसेन्द्र-युग कहें तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। नागार्जुन ने अपनी प्रयोगशाला में पांच प्रकार के पारद ढूंढ़ लिये थे।[1] वाग्भट का कहना है कि उनमें एक पारद लाल रंग का भी था। सबसे अधिक रसायनोपयोगी वही था। दूसरा हल्के सांवले रंग का (स्लेटी) था। पहला रक्तवर्ण पारद देव लोग प्रयोग करते थे और उससे जरा-मृत्यु पर उन्हें विजय मिली थी, दूसरा नाग लोग प्रयोग करते रहे और उससे वे भी जरा-मृत्यु से मुक्त हुए। परन्तु कुछ वाह्य आक्रमणों की घटनायें ऐसी हुई कि देवों और नागों ने लाल और स्लेटी पारद की खानें बन्द कर दीं। और उन दोनों प्रकार के पारद का मिलना मनुष्यों के लिए असम्भव हो गया। अतएव शेष तीन (क्रमशः पीत, श्वेत और मोर की चन्द्रिका जैसा रंग-विरंगा) पारद ही लोग पा सके। चूंकि वे सदोष थे, अतएव उनकी शुद्धि के लिए अठारह संस्कार खोजे गये। शुद्ध होने के पश्चात् यह तीनों भी सर्व-सिद्धिप्रद हो गये और इनका प्रयोग ही प्रचलित हुआ। देवों और नागों ने भी पारद पर क्या प्रयोग किये थे, इतिहास इस बारे में अभी तक मौन है।

नागार्जुन ने इस महान् वैज्ञानिक अनुसन्धान पर अनेक वैज्ञानिक ग्रंथ भी लिखे थे, यह हम पीछे कह चुके हैं। उनका 'योगशतक' नामक ग्रंथ तो अब प्राप्त है, जो प्रकाशित भी हो गया है। श्री हेमचन्द्र शर्मा ने 'काश्यप संहिता' की प्रस्तावना में लिखा है कि उनका एक और ग्रंथ 'चित्तानन्द पटीयसी' ताड़पत्रों पर लिखा हुआ तिब्बत के भीम मठ में विद्यमान है। उनके और कौन-कौन से विशाल ग्रंथ इस विषय पर थे, इसका लेखा दे सकने के साधन अभी हमें प्राप्त नहीं हैं। तो भी ईसा की आठवीं शताब्दी के भारत-यात्री अल्बेरूनी तथा ईसा की सातवीं शती के यात्री ह्वेनसांग के लेखों में नागार्जुन को रस-विद्या-निपुण एवं रसायन विद्या से पत्थर को सोना बना देने वाले होने का उल्लेख यह सिद्ध करता है कि नागार्जुन ने पारद के तथा विविध धातुओं के औषधि सम्बन्धी प्रयोगों पर वैज्ञानिक क्षेत्र में आश्चर्यजनक अनुसन्धान किये थे। वाणभट्ट (7-8वीं शती) के 'हर्ष-चरित' में शातवाहन सम्राट् के मित्र नागार्जुन द्वारा सम्राट् को 'रत्नमाला' तथा 'रसायन गुटिका' देने का उल्लेख भी नागार्जुन के अप्रतिम वैज्ञानिक व्यक्तित्व को प्रकट करता है।[2]

---

1. 'रसोरसेन्द्रः सूतश्च पारदो मिश्रकस्वथा।
   इति पञ्च विधोजातः क्षेत्र भेदेन शम्भुजः॥ --र० र० स० 1/67
2. हुयन्-संगो हि वोधिसत्वतया धातुवाद विद्वत्तयाच शालवाहन सामयिकं नागार्जुनमुल्लिखति। नागार्जुनेन शातवाहन्तय रसायन गुटिकौषधस्य प्रदानमपीतिवृत्ते लभ्यते। नागार्जुनेन स्व सुहृदे शातवाहनाय रत्नै कावल्या प्रदानस्य······हर्ष चरिते (उ० 8) वाण भट्टस्य लेखनादप्येतयोः समकाल सौहार्दं प्रतीयते। ततश्च शातवाहन सामयिको नागार्जुनो वोधिसत्वं स्थानीयो महाविद्वांस्तन्त्र विद्या निपुणो रसायनेऽपि प्रसिद्धो वैद्यकेऽपि विद्वानसीदिति निश्चीयते।'--काश्यप संहितो पोद्धाते श्री हेम-चन्द्र शर्मा, पृ० 65

नागार्जुन ने यह अनुसन्धान केवल पारद के सम्बन्ध में ही नहीं, किन्तु पारद के साथ पारदीय यौगिक एवं अन्य धातु-उपधातुओं के सम्बन्ध में भी किये। सम्पूर्ण धातु-उपधातुओं के ऊपर पारद की रासायनिक प्रभुता सिद्ध करके नागार्जुन ने पारद का नाम 'रस' या 'रसराज' रख दिया। जो धातु घुलता है वह घुलनशील है और जो अपने में घोल लेता है वह घोलनशील। घुलनशील धातु के लिए घोलनशील धातु 'रस' है; क्योंकि घोलनशील घुलनशील में अनुरसित होता है। पारद सम्पूर्ण धातुओं को अपने में घोल लेने की क्षमता रखता है, इसलिए वह 'रस-राज' है। (काष्ठौपध्योनागे नागोवंगेऽथवंगमपि शुल्वं। शुल्वं तारे तारं कनके कनकं भ लीयते सूते॥—र. र. स. 1/40 तथा रसहृदय तन्त्र) पारद की इस व्यापकता के आधार पर ही प्राचीन वैज्ञानिकों ने लिखा था—रसनात्सर्व धातूना रस इत्यभिधीयते'।[1] पारद के सम्बन्ध में यह नागार्जुन की ही व्याख्या थी जो रस-शास्त्रों के लेखक भगवद्गोविन्दपादाचार्य तथा वाग्भट ने लिखी है।[2]

नागार्जुन की यह वैज्ञानिक प्रयोगशाला श्रीपवत पर ही थी। शातवाहन राजाओं की मान्यता ही इस वैज्ञानिक प्रयोगशाला को चलाने में सहयोग देती रही होगी। इस दृष्टि से शातवाहन राजाओं को भी इन वैज्ञानिक अनुसन्धानों के लिए कम श्रेय नहीं। दूर-दूर देशों से धातु-उपधातुओं का संग्रह किया जाता रहा था। रस ग्रंथों से यह स्पष्ट है। पारद का एक नाम 'दरद' भी है। इसी 'दरद' से उस प्रदेश का नाम दर्दिस्तान' बना है।[3] कैलास पर्वत पर चांदी की कोई खान थी, वहां से रजत संग्रह होता था।[4] स्वर्णमाक्षिक ताप्ती नदी, किरात देश, चीन तथा यूनान से आता था।[5] रस राज, महा रस, उप रस तथा साधारण रस—इस प्रकार के अवान्तर भेदों में प्राय: सारे खनिज विभाजित किये गये। इसके अतिरिक्त मणियां तथा लोह वर्ग भी वे खनिज हैं जो पारद को बद्ध करनेमें प्रयोग होते थे। वाग्भट ने लिखा है कि यह वर्गीकरण करने वालों में नागार्जुन ही प्रमुख वैज्ञानिक थे।[6] नागार्जुन ने अपनी प्रयोगशाला में कोई ऐसा भी प्रयोग सिद्ध कर लिया था जिसके द्वारा पारद से स्वर्ण बन जाता था। क्योंकि रस ग्रंथों में जहां सोने के भेद गिनाये गये हैं वहां पारद से बने हुए स्वर्ण (रसेन्द्रवेध सञ्जात स्वर्ण) का भी उल्लेख अवश्य है।[7]

---

1. रस रत्न समुच्चय (वाग्भट), 1/76
2. भगवद्गोविन्दपादाचार्य श्री शंकराचार्य के गुरु थे। उन्होंने 'रस हृदय तन्त्र' नामक रस-शास्त्र लिखा है। इसमें रस का दार्शनिक तथा वैज्ञानिक विवेचन है। वाग्भट का लिखा हुआ 'रस-रत्न समुच्चय' नामक दूसरा रस ग्रंथ है। यह भगवद्गोविन्दपाद के बाद का लिखा हुआ है।
3. र० र० स०, अ० 1/88
4. वही, अ० 5/22-23
5. वही, अ० 2/73
6. रस सिद्धिकरा: प्रोक्ता नागार्जुन पुर: सरै:।—र० र० स० 3/127
7. प्राकृतं सहजं वह्निसम्भूतं खनि सम्भवम्।
   रसेन्द्रवेध सञ्जातं स्वर्णं पञ्चविधं स्मृतम्॥—र० र० समुच्चय 5/2

इस प्रकार रस विज्ञान के आविष्कार ने चिकित्सा जगत् में बड़ी-बड़ी सुविधायें प्रस्तुत कर दीं। रसायनाचार्यों ने रस चिकित्सा की विशेषताएं दिखाते हुए लिखा है—पारद की रस चिकित्सा वनस्पतियों द्वारा चिकित्सा से अधिक उपादेय है क्योंकि रस की मात्रा स्वल्प होती है। अरुचि का कोई प्रश्न इसमें नहीं है, क्योंकि कडवे, वकटे, अथवा तिक्त स्वाद की विरसता इसमें नहीं है, तीसरी सबसे महत्त्व की बात यह है कि वनस्पति-निर्मित औषधियों (क्वाथ, अवलेह आदि) से यह शीघ्र आरोग्य सम्पादन करती है।[1] स्वाभाविक है कि इन सुविधाओं के कारण चिकित्सक वर्ग रस चिकित्सा की ओर विशेष आकृष्ट हुए। उपर्युक्त तीनों हेतुओं से बढ़कर रस चिकित्सा में विशेषता यह मिली कि वनस्पति निर्मित औषधियां जितनी पुरानी होती जाती हैं उतनी अल्प गुणकारी, यहां तक कि दो-चार वर्ष बाद बेकार हो जाती हैं। रस निर्मित योग जितने पुराने हों, अधिक लाभकारी हो जाते हैं। पारद की दार्शनिक व्याख्या में भगवद्गोविन्दपाद ने यही लिखा है जैसे पुराना होकर पारद जीर्ण नहीं होता, वैसे ही पारद खाने वाला व्यक्ति अधिक आयु में भी जरा से जीर्ण नहीं होता।[2] पारद में प्रत्येक गुण को स्थायित्व (preservation) प्रदान करने की शक्ति का अनुसन्धान नागार्जुन ने ही किया था। चिकित्सा क्षेत्र में औषधियों के गुणों को स्थायित्व प्रदान करने के कारण पारद का विश्वव्यापी प्रयोग हुआ जिसके कारण भारतीय सार्वजनिक स्वास्थ्य के विकास के साथ ही साथ भारतीय व्यवसाय और वैज्ञानिक प्रतिष्ठा का बहुत उन्नयन हुआ, इसमें लेशमात्र भी सन्देह नहीं है। हम लिख चुके हैं मिश्र, ईरान और यूनान का उन दिनों भारत से घनिष्ठ सम्पर्क था। भारत से यह विज्ञान वे भी अपने देशों को ले गये।

पार्थिव द्रव्य कहिये या लोहशास्त्र, बहुत अन्तर नहीं है। लोहशास्त्र तो थोड़ा बहुत धन्वन्तरि और अग्निवेश के समय भी था ही। आत्रेय के चचेरे भाई कश्यप ने अपने कौमारभृत्य शास्त्र में, और धन्वन्तरि ने सुश्रुत में स्वर्ण खाने के लिए प्रयोग लिखे हैं। पतञ्जलि का लिखा एक लोहशास्त्र भी था जिसके उद्धरण जहां-तहां ग्रन्थों में मिलते हैं।[3] वह पतञ्जलि वही महाभाष्यकार थे या अन्य, यह दूसरा विषय है। किन्तु यह निश्चित है कि लोहशास्त्रकार पतञ्जलि नागार्जुन से पूर्व हो चुके थे। तो भी नागार्जुन का लोहशास्त्र आरों से अधिक पूजित हुआ उसके उद्धरण चक्रपाणि ने अपने ग्रंथ चक्रदत्त में दिये हैं और लिखा है कि नागार्जुन का लोहशास्त्र अत्यन्त गहन था। फिर भी नागार्जुन ने जिस रूप में पारद का अनुसन्धान किया वह अभूतपूर्व था।

पारद के गुणों के कारण 'रस' अथवा 'रसराज' कहकर पारद को जो लोकोत्तर प्रतिष्ठा प्रदान की गई उसके बारे में सब आचार्य एकमत हैं। पारद की लोकोत्तरता

---

1. स्वल्प मात्रोपयोगित्वादरुचे रप्रसंगतः।
   क्षिप्रमारोग्यदायित्वा दौपधेम्योऽधिको रसः॥—रसेन्द्रसार संग्रह 1/4
2 परमात्मनीव सततं भवति लयो यत्र सर्वसत्वानाम्।
   एकोऽसौ रस राजः शरीरमजरामरं कुरुते॥—रस हृदय तन्त्र, अ० 1
3. भारतीय इतिहास की रूपरेखा, भाग 2, पृ० 1013

ही उसका दार्शनिक रूप है। पारद शिव का धातु है और अभ्रक पार्वती का।[1] गन्धक पार्वती का रज है तथा मनःशिला लक्ष्मी का—इत्यादि विचित्र कल्पनाएं दार्शनिक रूप से प्रस्तुत की गई। नागार्जुन के समय इतनी कल्पनाएं चाहे नहीं थीं, किन्तु सिद्ध सम्प्रदाय ने इस प्रकार की विचित्र कल्पनाएं बहुत-सी लिख डालीं। जो हो, वह अगली पंक्तियों में लिखा जायगा। नागार्जुन के युग में भी पारद की लोकोत्तर शक्तियों पर लोग चकित थे। वे उसे साक्षात् भगवान् के तेज का पुंज मानकर पूजने भी लगे।[2] यह स्वीकार किया गया कि पारद की पूजा ब्रह्म-साक्षात्कार और मुक्ति का साधन है।[3] यह शरीर रोगी, जरा-जीर्ण अथवा अल्प कालावस्थायि रहा, तो चिरकालीन योगाभ्यास कैसे संभव हो? अतएव योगाभ्यास और शक्ति के प्रत्यवाय निवारण करने के लिए एकमात्र यह रसराज ही अवलम्ब है। साधन करते-करते जैसे जीव ब्रह्म में लीन हो जाते हैं, उसी प्रकार पारद में सारे धातु लीन हो जाते हैं। फलतः शरीर जिन धातुओं से निर्मित हुआ है, वे पारद में ही एकत्र होकर शरीर को अजर और अमर बना सकते हैं।[4]

बौद्ध आगम में शिवभक्ति, आत्मा और परमात्मा का एकीभाव, स्वतन्त्र चिन्मय ब्रह्म की सत्ता, ब्रह्महत्या में पाप की भावना, यज्ञयाग का पारलौकिक फल एवं अन्यान्य आस्तिक भावनाओं को चाहे भले ही स्थान न हो, तो भी रसशास्त्र के विवेचन में नागार्जुन ने ऐसे विचारों का खण्डन करने के लिए लेखिनी नहीं उठाई। इसके साथ ही साथ रस के महत्त्व को लेकर उसमें अनेक अदृश्य शक्तियां मानकर 'रसेश्वर दर्शन' नाम से एक स्वतन्त्र दार्शनिक ग्रन्थ ही तैयार हो गया। माधवाचार्य ने 'सर्वदर्शन संग्रह' में इस का भी संकलन किया है।

पाशुपत, शैव और प्रत्यभिज्ञा दर्शनों के विचारकों में पारद का माहात्म्य बहुत बढ़ा। परन्तु उसकी प्रत्यक्ष करामात देखकर अन्य सम्प्रदायों के लोग भी उसकी ओर आकृष्ट हुए। भगवद्गोविन्दपाद जैसे व्यक्ति नितान्त वैदिक सम्प्रदाय के होते हुए भी रसेश्वर के विचारकों में अन्यतम थे। वैदिक सम्प्रदाय के लोगों पर पारद का प्रभाव

---

1. 'पारदं शिव वीर्यं च दुर्गा वीजञ्च गन्धकम्।'—र० र० स० 1/59 टीका
'देव्यारजो भवेदगन्धो धातुः शुक्रं तथाभ्रकम्।'—र० र० स० 2/2
'अभ्रकस्तव वीजं तु मम वीजं तु पारदः।
अनयोर्मेलनं देवि मृत्युदारिद्रय नाशनम्॥—सर्वदर्शन संग्रहे रसेश्वरदर्शने।
(क) नागार्जुनोमुनीन्द्रः शशास यल्लोहशास्त्रमति गहनम्।
तस्यार्थस्य स्मृतये वयमेद्विशदा श्रवैब्रूमः॥—चक्र० रसायनाधिकार 15
2. विधाय रस लिंगं यो भक्ति युक्तः समर्चयेत्।
जगत्त्रितय लिंगानां पूजा फल मवाप्नुयात्॥
भक्षणं स्पर्शनं दानं ध्यानं च परिपूजनम्।
पञ्चधा रस पूजोक्ता महापातक नाशिनी॥—र० र० समु० 1/23-24
3. प्रत्यक्षेणप्रमाणेन यो न जानाति सूतकम्।
अदृष्ट विग्रहं देवं कथं ज्ञास्यति चिन्मयम्॥—र० र० स० 1/54
4. परमात्मनीव सततं लयो भवति यत्र सर्व सत्वानाम्।
एकोऽसौ रस राजः शरीर मजरामरं कुरुते॥—र० र० स० 1/42

यहां तक हुआ कि वे लोग वेद की श्रुतियों की व्याख्या पारद की प्रशस्ति में ही करने लगे। 'रसो वै स:' 'रसंह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति' आदि श्रुतियों का समन्वय पारद के लोकोत्तर गुण-वर्णन में किया गया। व्याख्याकारों ने कहा—इन श्रुतियों में रस का अर्थ और कुछ नहीं, पारद ही है। छान्योग्य उपनिषद् की साक्षी यह सिद्ध करने के लिए प्रस्तुत की गई कि पारद और परमेश्वर का तादात्म्य ही है—'स एष रसानां रस तम:'।[1] रसेश्वर का नाम पारद इसीलिए रखा गया कि वह मनुष्य को ससार से पार ही लगाने वाला है।[2] गंगाजल नहीं, पारद पेट में पहुंच जाय, ऐसी दशा में जिसकी जीवन-लीला समाप्त हो, वह सारे पापों से छुटकारा पाकर परम-पद को प्राप्त होता है। जिस प्रकार जगत् के समस्त तत्वों की सत्ता परमात्मा में विलीन हो जाती है उसी प्रकार सारे धातु पारद में विलीन हो जाते हैं।[3] पारद और परब्रह्म का यही सामञ्जस्य है। इसलिए पारद का नाम (पार+द) अन्वर्थ है—यज्ञ, दान, तप, वेदाध्ययन, इन्द्रिय-दमन, सदाचार और योग साधन से जो आत्म-साक्षात्कार प्राप्त होता है वही पारद के ध्यान से होता है। लोह-सिद्धि और देह-सिद्धि पारद के प्रत्यक्ष फल हैं। लोह-सिद्धि से अभीष्ट स्वर्ण बनाकर धनधान्य से सुखी हो सकते हैं और देह-सिद्धि से चिरकाल तक मनमाने सुख भोगे जा सकते हैं। भगवद्दर्शन के लिए भी चिरकालावस्थायि शरीर भक्त को चाहिए ही। आयुर्वेदिक दृष्टि से ही देखें तो लोह-सिद्धि से देह-सिद्धि होती है। देह-सिद्धि से ब्रह्म-साक्षात्कार।[4] योग-समाधि से लोह एक बार मुक्त न हो, किन्तु पारद की साधना से एक जीवन में ही मुक्ति हो जाती है।[5] इत्यादि पारद पर लिखे गये विस्तृत दार्शनिक विवेचन में जो विचार हैं वे वैदिक पद्धति के अनुगमन में प्रतीत होते गये हैं। नागार्जुन इस परम्परा के विरुद्ध नये बौद्ध विचार लिखकर नहीं छोड़ गये।

तात्त्विक दृष्टि से रसेश्वर पर दार्शनिक विचार न तो वैदिक ही हैं, और न बौद्ध ही। वैदिक दर्शन में आत्म-साक्षात्कार के लिए यज, दान, तप, वेदाव्ययन, इन्द्रिय वशीकार, सदाचार तथा योग-मार्ग यही सब साधन हैं। रसेश्वरवादियों ने इनका खण्डन करके रसेश्वर की पूजा का जो विधान किया है वह वैदिक परम्परा से बहुत दूर है।[6]

---

1. छान्दोग्योपनिषद् 1/3
2. रसस्य पारदत्वं संसार परपार प्रनाण हेतुत्वेन। तदुक्तम् 'संसारस्य परं पारं दत्तेऽसौ पारदः स्मृतः।"
—सर्वदर्शन संग्रहे रसेश्वर दर्शने 1
3. परमात्मनीव सततं लयो भवति यत्र सर्व सत्वानाम्।
एकोऽसौ रस राजः शरीरमजरामरं कुरुते ॥—र० र० समु० 1/42
4. नहि देहेन कथञ्जित व्याधि जरामरण विधुरेण।
क्षण भगुरेण सूक्ष्मं तद ब्रह्मो पासितुं शक्यम् ॥—रस हृदय तन्त्र 1
5. उदरे संस्थिते सूते यस्योत्क्रामति जीवितम।
स मुक्तो दुष्कृताद्घोरात द्रयाति परमं पदम ॥—र० र० स० 1/32
6. यज्ञादानात्तपसो वेदाध्ययनाध्यात सदाचारात।
अत्यन्त भूयसी किल योगवशादात्य संवित्तः ॥—र० र० स० 1/47
भक्षणं स्पर्श दानं ध्यानञ्च परिपूजनम।
पञ्चधा रस पूजोक्ता महापातक नाशिनी ॥—र० र० स० 1/24

बौद्ध आगम में सभी कुछ अभावात्मक है। वहां जीवन की सम्पूर्ण साधनाओं का ध्येय महापरिनिर्वाण होगा। यह परिनिर्वाण भी अभावात्मक। रसेश्वर की साधना का फल सच्चिदानन्द ब्रह्म की एकरूपता। वह ज्योतिर्मय है, निर्वाण रूप नहीं।[1] फिर रसेश्वर का साक्षात् फल शरीर का स्थैर्य सम्पादन ही है। यह वही भौतिक लाभ है जिसके लिए बृहदारण्यक उपनिषद् में मैत्रेयी ने कहा था—'येनाहं नामृता स्याम किमहं तेन कुर्याम् ?'

कुछ लोगों को सन्देह है कि बोधिसत्व नागार्जुन जो ईसा की प्रथम शताब्दी में हुए थे, रसशास्त्र के प्रवर्तक नहीं थे, प्रत्युत ईसा की सातवीं शताब्दी में होने वाले सिद्ध नागार्जुन ही उसके प्रवर्तक थे, जिनका उल्लेख चौरासी सिद्धों के बीच श्री राहुल सांकृत्यायन ने किया है। हो सकता है सिद्ध नागार्जुन भी रसशास्त्र के सम्बन्ध में बहुत कुछ कर गये हों, परन्तु उससे ईसा की प्रथम शताब्दी में बोधिसत्व नागार्जुन द्वारा किये गये पारदीय आविष्कारों का अपलाप नहीं किया जा सकता; अन्यथा बाण तथा ह्वेनसांग के लेखों में वर्णित सात सौ वर्ष पूर्व का नागार्जुन कौन होगा, जिसने रसायनशास्त्र का आविष्कार किया और जो अपनी वैज्ञानिक प्रतिभा से पत्थर को भी सोना बना सकता था? स्मरण रहे, ईसा की सातवीं शताब्दी का सिद्ध नागार्जुन भी बौद्ध ही था। किन्तु बौद्ध दृष्टि से रसशास्त्र पर उसने कोई दार्शनिक विचार नहीं लिखे।

इस सम्पूर्ण विवेचन से हम इस परिणाम पर सहज ही पहुंच सकते हैं कि ईसा की प्रथम शताब्दी में ही बोधिसत्व नागार्जुन ने बौद्ध होते हुए भी महायान के अतिरिक्त एक ऐसे रसेश्वर सम्प्रदाय की स्थापना की थी जो बौद्ध भी था और वैदिक भी। यह भी कह सकते हैं कि वे न बौद्ध थे और न वैदिक। वे बौद्ध इसलिए नहीं थे कि जगत से भिन्न एक सच्चिदानन्द परब्रह्म की सत्ता स्वीकार करते थे और वैदिक इसलिए नहीं कि 'रसो वै सः', 'रसंह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति', 'स एव रसानां रसतमः' आदि श्रुतियों का जो अर्थ वैदिक परिपाटी में है वे उसे स्वीकार नहीं करते।

इसमें सन्देह नहीं कि बोधिसत्व नागार्जुन का महायान पिछले स्थविरवाद या सर्वास्तिवाद से भिन्न था। नागार्जुन के महायान में पिछले वादों के विरुद्ध विद्रोह था। हम लिख चुके हैं, नागार्जुन ने महायान की स्थापना के साथ सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दृष्टियों से बुद्ध धर्म और संघ की प्रचलित बौद्ध परम्पराओं के विरुद्ध विद्रोह कर दिया था। यह सब जानते हैं, किसी मर्यादा के विरुद्ध विद्रोह उठा देना सुकर है; परन्तु उठे हुए विद्रोह को मर्यादित करना अत्यन्त दुष्कर। महायान की स्थापना द्वारा नागार्जुन ने विद्रोह खड़ा तो कर दिया, परन्तु वह उसे मर्यादित नहीं रख सके। प्रायः विद्रोह चरम सीमा पर पहुंचकर स्वयं अपने दुष्परिणामों के फलस्वरूप ही शान्त हो पाता है। विद्रोह कितनी भी सद्भावना से प्रारम्भ किया जाय, वह दावानल की भांति जब फैल जाता है, करीर और चन्दन का भेद नहीं रख पाता। जो कुछ है सभी को भस्म करके उसकी शान्ति हो पाती है। नागार्जुन ने बुद्ध और संघ के प्रति जो पवित्रता और

1. एकांशेन जगद्युगपदवष्टभ्यावस्थितं परंज्योतिः।
पादैस्त्रिभिस्तदमृतम······॥ र० र० स० 1/44
—'निव्वाणं परमं सुखम"—धम्मपद-सुखवग्गो 7-8

गौरव की भावना सर्वसाधारण में थी, उसे वैधानिक रूप से समाप्त कर दिया। और धर्माचरण में जो सदाचार और ब्रह्मचर्य का प्रतिबन्ध था, उसे भी मैथुन की छूट देकर नष्ट कर दिया। इसका फल यह नहीं हुआ कि छिपे-छिपे होने वाले सांघिक पाप वैध होकर मर्यादा में आये हों। प्रत्युत वे एक गन्दे नाले के प्रवाह की भांति भीषण दुर्गन्ध लेकर अग्रसर हुए। प्रवाह जितना तीव्र होता गया दुर्गन्ध उतनी ही तीव्र। मर्यादा के दोनों तट कट-कटकर ढहते गये। अब न लोक का भय था, न परलोक का।

वस्तुतः भगवान् बुद्ध के ही जीवनकाल में लोग उनके विरुद्ध विद्रोह करने का प्रयास करने लगे थे। स्वयं उनके चचेरे भाई देवदत्त ने उनके विरुद्ध नीच से नीच उपाय किये। भगवान् के महापरिनिर्वाण के तुरन्त बाद जब सम्पूर्ण संघ दुःखसागर में डूबा हुआ था, सुभद्र भिक्षु ने प्रसन्न होकर कहा, "अच्छा हुआ, महाश्रमण चला गया। अब जो चाहेंगे, करेंगे।" यही कारण था कि भगवान् के महापरिनिर्वाण के चौथे महीने ही राजगृह में एकत्र होकर 500 भिक्षुओं को धर्म, विनय और अभिधर्म का संगायन करना पड़ा।[1] भगवान् बुद्ध के उदात्त चरित्र का वह अभेद्य दुर्ग ही था जिसे तोड़कर अविनीत और अवसरवादी लोग मनमानी नहीं कर सके। वह एक ही अति-तेज व्यक्तित्व था जो करोड़ों को एक सूत्र में पिरोये रहा।

नागार्जुन ने 625 वर्ष बाद जिस बौद्ध धर्म के दर्शन किये थे वह चार संगीतियों की शक्ति से जैसे-तैसे चल रहा था। प्रवाह सीमाओं का अतिक्रमण करके चल रहा हो तो उचित है कि प्रवाह की सीमाएं बढ़ा दी जायें। नागार्जुन ने माध्यमिक-वाद[2] की स्थापना करके यही किया था।[3] उन्होंने कठिन चीवर में कसे हुए बौद्ध संघ की बेचैनी देखकर सद्भावना से ग्रन्थि को ढीला किया, ताकि बेचैनी हटे और चीवर फट न जाये। परन्तु थोड़ा-सा अवकाश पाकर लोगों ने यह आवरण उतारकर फेंक दिया। नागार्जुन के दर्शन में, साहित्य में और विज्ञान में मानव के लिए एक उदात्त स्वतन्त्रता की भावना थी। उन्होंने यह प्रयत्न किया कि सबका एक माध्यम ढूंढ़ लिया जाय,

---

1. महावंश (भूमिका, पृ० 11)
2. 'बुद्धैरात्मा न चानात्मा कश्चिदित्यपि देशितम्'। —नागार्जुन (माध्य० कारिका, 18.6)
   व्याख्याकार चन्द्रकीर्ति ने लिखा था— 'न वयं नास्तिकाः। अस्तित्व नास्तित्व निरासेन तु वयं निर्वाण पुरगामिनमद्वैत पथं विद्योतयामः'—मा० वृत्ति०, पृ० 368
3. (a) When the misuse of dogmatical orthodox Buddhist Scriptures had reached its climax, and the true spirit of the Buddha's philosophy was nearly lost, several reformers appeared from India, who established an oral teaching, such were Bodhidharma and Nagarjun, the authors of the most important works of the contemplative school in China, during the first centuries of our era. --The Secret Doctrine, Vol. III, p. 429
   By Madame Blavatsky (Voice of the Silence), p. 465
   (b) 'मध्ये हि स्थानं प्रकरोति पण्डितः'— नागार्जुनः (समाधिराज सूत्रे)

ताकि राष्ट्रीय और सामाजिक एकता दृढ़ हो। वे चाहते थे कि भगवान् बुद्ध की मध्यमा प्रतिपदा को व्यावहारिक रूप दिया जाय—'वीणा के तार को इतना न कसो कि टूट जाये, इतना ढीला न करो कि उसका स्वर-संगीत जाता रहे।' उनके सामने केवल भारत न था—मिश्र, रोम, यूनान, ईरान, चीन, लंका, जापान आदि सारे देशों का समन्वय था। दार्शनिक, राजनैतिक और वैज्ञानिक जगत् में प्रखर तेज से चमकते हुए सूर्य की भांति विश्व को प्रकाशित करके 180 ई० में वह महान् तेजः-पुंज 102 वर्ष की आयु में जीवन के क्षितिज पर पहुंचकर अस्त हो गया।[1] अशून्य और शून्य समन्वित हो गये।

सूर्य के अस्त हो जाने पर भी सान्ध्य क्षितिज पर जो प्रकाश की आभा शेष रह गयी थी, उसी के अवलम्ब से अगले तीन-चार सौ वर्ष में असङ्ग, वसुबन्धु, दिङ्नाग, कुमारजीव और बुद्धघोष जैसे प्रखर बौद्ध विद्वान् कार्य करते रहे। परन्तु ज्यों-ज्यों सान्ध्य् श्यामता में अविनीत रजनी का अभिसार पथ प्रशस्त हो रहा था, बौद्ध विचारों की प्रतिभा सोती जा रही थी। नागार्जुन का माध्यमिक सम्प्रदाय यह भूलता जा रहा था कि उनके आचार्य ने उन्हें जो सुविधायें दी थीं, वे केवल समाज के साथ जीवन के माध्यम को सन्तुलित करने के लिए ही दी गयी थीं। बुद्धि का विभ्रम यहां तक बढ़ा कि लोगों ने पासंग को भी जीवन का मापक मान लिया। पासंग माध्यम का आधार अवश्य हो सकता है, परन्तु वस्तु का मापक नहीं हो सकता। यद्यपि ईसा की इसी शताब्दी में गुप्त साम्राज्य की स्थापना ने 'परम भागवत' होते हुए भी बौद्ध धर्म को बड़ी सहायता दी। सम्राट् कुमारगुप्त ने नालन्दा का प्रसिद्ध विश्वविद्यालय स्थापित किया। तो भी गिरते हुए पहाड़ को कौन साध सका? जिस धर्म-वृक्ष की शाखायें पश्चिम में मिश्र और यूनान, पूर्व में स्याम, सुमात्रा और स्वर्णभूमि (बर्मा, इण्डोनेशिया), दक्षिण में सिंहल और उत्तर में चीन और जापान तक अपनी छाया दे रही थीं, उसके मूल में ही दुर्गुणों की दीमक दौड़ गई थी।

महायान ही ईसा की पांचवीं शताब्दी में मन्त्रयान बना, सातवीं में वज्रयान और आठवीं में लिंगयान के रूप में परिवर्तित हो गया।[2] प्रायः ईसा की तेरहवीं शताब्दी तक नागार्जुन का महायान बिगड़ते-बिगड़ते मन्त्र, हठयोग और मैथुन के सिवा अन्य कुछ नहीं था। इन सब कुकर्मों का केन्द्र वही श्री पर्वत था जिसका नाम पीछे से वज्रपर्वत भी हो गया था। मन्त्रयान के वज्रयान में परिवर्तित होने पर श्री पर्वत वज्रपर्वत बना, और उस समय मद्य, मन्त्र, हठयोग और स्त्री—ये चार ही वस्तुएं वज्रयान के मुख्य रूप थे। यह सब छिपे-छिपे नहीं, किन्तु इनका बड़ा साहित्य लिखा गया और उसमें तर्क और युक्तियों का

---

1. Nagarjun was one of the three great Buddhist teachers of the earlier centuries of the christian era. He is supposed to have died A. D. 180. —Voice of the Silence, Chap XXX, p. 330.
2. देखो गंगा के पुरातत्वांक में 'मन्त्रयान, 'वज्रयान और चौरासी सिद्ध' शीर्षक लेख। श्री राहुल सांकृत्यायन द्वारा लिखित।

निन्दनीय आश्रय लेकर इन कुकृत्यों का सैद्धान्तिक प्रतिपादन किया जाता रहा।[1] (1) गूढ़ विनय, (2) मायाजाल तन्त्र, (3) प्रज्ञोपायविनिश्चय सिद्धि, (4) गुह्य समाज तन्त्र, (5) गुह्य कल्प आदि पांच ही नहीं, बीसों ग्रंथ लिखे गये। ये सब आन्दोलन चलाने वाले सिद्ध कहे जाते थे। यह सिद्ध परम्परा एक से चलकर चौरासी पर समाप्त हुई। सिद्ध साहित्य की मान्यता है कि उनके आदिगुरु सिद्ध नागार्जुन ही थे, जो ईसा की सातवीं शताब्दी में हुए। स्मरण रहे कि सिद्ध परम्परा में भी नागार्जुन नाम के कई सिद्ध हुए थे। साधक सिद्ध हो गया इसका निर्णय एक बीस वर्ष की युवती देती थी, जिसके साथ वह एक महीना एक बिस्तर पर सोये और आसक्ति न हो। युवती ने जिसे सिद्ध कह दिया वह सिद्ध है। परन्तु सिद्ध होना कठिन हो गया। नागार्जुन का ही स्थापित किया हुआ विक्रमशिला का विश्वविद्यालय अब नामशेष था। वहां भी सिद्धों के आश्रम बन गये थे। युवतियां ही परीक्षक थीं। छः सौ वर्ष में कुल चौरासी स्नातक हुए। वे ही 84 सिद्ध हैं। परन्तु गुरु गोरखनाथ ने उनकी भी शिकायतें कीं।

बौद्ध विचारों ने ब्राह्मणों की वर्ण-व्यवस्था के जोड़ इतने ढीले कर दिये थे कि इन चौरासी सिद्धों में—जो समाज के गुरु होने का दावा करते थे—सभी वर्णों के व्यक्ति सम्मिलित थे। ब्राह्मण भी सिद्धों में थे; क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र भी। न केवल शूद्र किन्तु चाण्डाल (डोम) तक उनमें सम्मानित थे। इन चौरासी सिद्धों में अनेक स्त्रियाँ भी थीं। राजकुमार और राजकुमारियाँ भी। स्त्रियों को योगिनी कहा जाता था। किन्तु सभी की यह मान्यता थी कि उनके आदि-गुरु नागार्जुन ही थे। श्री राहुल सांकृत्यायन ने इन चौरासी सिद्धों की एक सूची गंगा के पुरातत्वांक (जनवरी, 1933 ई०) में प्रकाशित की थी। उसमें 'सरह' सिद्धों के आदि प्रवर्तक हैं। सरह भोट भाषा का शब्द है, जिसका हिन्दी में अनुवाद 'नागार्जुन' होता है।

बोधिसत्व नागार्जुन जो ईसा की पहली शताब्दी में हुए थे, इन 84 सिद्धों के आदि-गुरु नहीं हैं। क्योंकि सिद्ध सम्प्रदाय ईसा की सातवीं शताब्दी से प्रारम्भ हुआ था। कुछ ऐसे लोग भी हैं जो बोधिसत्व नागार्जुन को ही ईसा की पहली से सातवीं शताब्दी तक की लम्बी आयु देने को तैयार हैं, किन्तु यह मानने को तैयार नहीं कि बोधिसत्व नागार्जुन से सातवीं शताब्दी वाले सिद्ध नागार्जुन भिन्न थे। यह अनुचित है। यह भी स्मरणीय है कि सिद्ध नागार्जुन का शिष्य भी नागार्जुन नामधारी ही था। इतना अन्तर

1. भक्ष्याभक्ष्य विनिर्मुक्तो, पेयापेय विवर्जितः।
गम्यागम्य विनिर्मुक्तो भवेद्योगीसमाहितः॥
प्रज्ञा पारमिता सेव्या सर्वथा मुक्ति कांक्षिभिः।
ललना रूपमास्थाय सर्वत्रैव व्यवस्थिता॥
ब्राह्मणादि कुलोत्पन्नां मुद्रां वै अन्त्यजोद्भवाम्।
जनयितीं स्वसारंच स्वपुत्रीं भागिनेयिकाम्—
कामयन् तत्व योगेन लघुसिद्धयेद्धि साधकः॥
वेश्या रत्नं सुरा रत्नं रत्नं देवो मनो भवः।
एतद्र त्नत्रयं वन्दे अन्यत् काच मणित्रयम्॥—गंगापुरातत्वांक, पृ० 219-20

ध्यान रखने योग्य है कि सिद्ध नागार्जुन नालन्दा के निवासी थे और शिष्य नागार्जुन काञ्ची का रहने वाला। काञ्ची के नागार्जुन का शिष्य भी आर्यदेव था, जो नालन्दा का निवासी था। बोधिसत्व नागार्जुन के शिष्य दार्शनिक आर्यदेव से यह सिद्ध आर्यदेव भिन्न था, जो ईसा की आठवीं शती में हुआ।

वास्तविकता यह है कि यह सिद्ध सम्प्रदाय न बौद्ध था, न वैदिक। भले ही वह बौद्ध वंश में उत्पन्न हुआ हो, उसने अपनी वंश-मर्यादा छोड़ दी थी। वह बुद्ध, धर्म और संघ की सीमा से बाहर था। महायान शब्द यौगिक है—महा+यान, अर्थात् बड़ा यान। यान का अर्थ है मार्ग तय करने का वाहन। तात्पर्य यह कि महापरिनिर्वाण जैसे उद्देश्य (मंजिल) तक पहुंचने के लिए यह बड़ा शकट तैयार किया गया था। इस बड़े शकट के निर्माण की आवश्यकता इसलिए पड़ी कि पहला शकट छोटा था। अतएव उसका नाम हीनयान रह गया। छोटे शकट (हीन-यान) में बैठकर थोड़े लोग जा पाते थे, अतएव प्रयास यह था कि इस बड़े शकट (महायान) में बैठकर बहुत से लोग भवसागर से पार उतर सकें।[1]

मन्त्रयान का अर्थ यह था कि भवसागर से पार जाने का यान केवल मन्त्र है। और मन्त्र-रूपी यान की प्राप्ति मन के वशीकरण से हो सकती थी; क्योंकि मनन का सार ही मन्त्र है।[2] मनन लम्बा-चौड़ा होता है, मन्त्र उसका सार। यदि हम स्वयं मनन की ओर नहीं बढ़ते, तो गुरु का मन्त्र हमें पार नहीं लगा सकेगा। इसलिए मनन द्वारा स्वयं अपना यान तैयार करो। मन की स्थिरता अथवा 'निर्विषयता' ही मन्त्र-यान है।

वज्रयान में वज्र का अर्थ है हीरा या फौलाद—वह जो टूट न सके और सुसंगठित हो। उपनिषदों में कहा था—'कर्मकाण्ड की नाव कमजोर है।[3] कमजोर नाव पर चढ़ने वाला यात्री डूब सकता है। इसलिए वज्र की नाव बनाई जाय ताकि टूटने-डूबने की आशंका न रहे।[4] यह वज्रासन अविचलित बुद्धि की स्थिति ही थी, जो इन्द्रियों के वैषयिक विप्लवों से टूट न सके।[5]

---

1. That the word Yana is to be understood not exactly in its primary sense of 'Vehicle', but rather in a secondary sense nearly equivalent to the English word 'Career'. According to this interpretation the Mahayana puts before a man the 'grand career' of becoming a Bodhi Satwa and devoting himself to the welfare of the world, while the Hinyana shows him only the 'smaller career' of so living as to attain Nirvana for himself.
—Voice of the Silence, Part II, pp. 338-339
2. 'मन्त्राः मननात्'—निरुक्त
3. प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा अष्टादशोक्तं अवरं येषु कर्म'—कठोपनिषद
4. सुत्रामाणं पृथवीं द्यामनेहसं–सुशर्माणमदिति सुप्रणीति दैवीं नावं स्वरित्रामनागस मस्रवन्तीमारुहेम स्वस्तये।—यजुर्वेद
5. Make hard thy soul against the snares of self, deserve for it the man of Diamond soul. —Voice of the Silence, Part II, p. 563

लिंगयान का कहना है कि आखिर मन और बुद्धि शरीर के आश्रित होकर ही कुछ कर सकते हैं। शरीर न हो तो मन और बुद्धि अकिञ्चित्कर हो जायें। इसलिए शरीर ही परम पुरुषार्थ का साधन है।[1] दार्शनिक भाषा में शरीर का नाम ही लिंग है।[2] लिंग शरीर इस दिखाई देने वाले शरीर से सूक्ष्म है। बाल, युवा और वृद्ध अवस्थाओं में यही स्थूल शरीर घटता-बढ़ता रहता है। लिङ्ग शरीर सदा एक-सा रहता है। बुद्धि सर्ग (कारण शरीर) ही मुक्ति का हेतु हो सकता है, इसलिए लिंग सर्ग वृथा है, ऐसी बात नहीं है। लिंग शरीर के विना बुद्धि सर्ग की प्रवृत्ति होना ही संभव नहीं। अतएव भवसागर से पार ले जाने वाला यान लिंग शरीर ही है।

(1) मन्त्रयान, (2) वज्रयान तथा (3) लिंगयान की संक्षिप्त दार्शनिक मान्यताएं ऊपर दी गई हैं। व्यक्ति को आसंग या आसक्ति पतन की ओर ले जाती है। इसीलिए गीता के निष्काम कर्मयोग में कहा है—'असक्तः कुरु कर्माणि'। भक्ति, ज्ञान और मुक्ति में भी आसक्ति नहीं होनी चाहिए।[3] परन्तु जिन्हें यह विवेक नहीं रहता, भक्ति, ज्ञान अथवा वैराग्य से भी उनका उद्धार संभव नहीं। उक्त यानों का यही विपरिणाम हुआ। मन्त्र सिद्धि में मन के वशीकार के लिए सिद्ध लोग धीरे-धीरे हठयोग, जादू-टोना और मारण उच्चाटन में लग गये। वज्रयान में बुद्धि की वज्रधारा (स्थित प्रज्ञा) के लिए भांग, शराब, चिलम और चण्डू का स्वागत हुआ। लिंगयान में लिंग शरीर की साधना के लिए वेश्याओं और योगिनियों की साधना ही प्रमुख हो गई।[4] महायान ने बुद्ध, धर्म और संघ का प्रतिबन्ध तो पहले ही हटा दिया था। और न भी हटाया होता तो भी भिक्षु और भिक्षुणियां उन प्रतिबन्धों को मान कब रहे थे? साथ ही शकों, हूणों और यूनानियों ने आकर इस सुलगती आग में पलीता लगा दिया। अब ये सारे यान मिलकर एक यान हो गये जिसका नाम था 'सहजयान'।

इस सहजयान या लिंगयान का विकास सिद्धों ने 500 वर्ष तक किया। 700 ई० से 1200 तक लिंगयान या सहजयान जोरों से विकसित हुआ। और इसके लिए नागार्जुन

---

1. आयतनं विद्यानां मूलं धर्मार्थकाम मोक्षाणाम्।
श्रेयः परं किमन्यच्छरीरमजरामरं विहायैकम्॥ —र० र० समु० 1/53
इतिधन शरीर भोगान्मत्वानित्यान् सदैव यतनीयम्
मुक्तौ, सा च ज्ञानात्तच्चाभ्यासात्सच स्थिरे देहे॥ —र० र० समु० 1/38
—(भगवद्गोविन्दपादाचार्य, रसेश्वर दर्शन)

2. न विना भावैर्लिङ्गं न विना लिङ्गेन भाव निर्वृत्तिः।
लिङ्गाख्यो भावाख्य स्तस्माद्द्विविधा प्रवर्त्तते सर्गः॥ —सांख्य कारिका 52
पुरुषार्थ हेतुकमिदं निमित्त नैमित्तिक प्रसंगेन।
प्रकृतेर्विभुत्व योगान्नटवद् व्यवतिष्ठते लिंगम्॥ —सांख्यकारिका 42

3. योध पुञ्ञञ्च पापञ्च उभो सङ्गंउपच्चगा।
असोकं विरजं सुद्धं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणम्॥ —धम्मपद, ब्राह्मणवग्गो 30
'अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मात्'—कठ०

4. वेश्यारत्नं सुरा रत्नं, रत्नं देवोमनोभवः।
एतद्रत्न त्रयं वन्दे अन्यत् काच मणित्रयम्॥ —नीलपटदर्शन,

द्वारा पारद में ढूंढ़ी गई लोकोत्तर शक्तियां साधन बनाई गईं। पारदीय आविष्कारों में शरीर को अजर-अमर बनाने के प्रयोग ढूंढ़े जाते रहे। यों कहना चाहिए कि सिद्ध युग में रोग-निवारण पारद का गौण उद्देश्य था, देह-सिद्धि ही प्रमुख।[1] पारद शिव का वीर्य और अभ्रक गौरी का। ऐसी विचित्र कल्पनाओं द्वारा पारद की पूजा और ध्यान का कर्मकाण्ड भी निर्मित हुआ।[2] पारद का नैवेद्य, पारद का ध्यान, अर्चन और पूजन सभी के मन्त्र बने। और तो क्या, उस पर 'रसेश्वर दर्शन' नाम से एक स्वतन्त्र दर्शन-ग्रंथ ही लिख गया। हम लिख चुके हैं कि पारद नाम ही इस आशय से रखा गया था कि वह भवसागर के पार लगा देगा।[3] पारद सम्बन्धी कर्मकाण्ड को रसांकुश-विद्या कहते थे।[4]

नागार्जुन के अतिरिक्त पारद के विशेषज्ञ छब्बीस वैज्ञानिक और थे। इस प्रकार कुल 27 रसाचार्यों की नामावलि 'रस रत्न समुच्चय' में वाग्भट ने दी है। इन सत्ताईस में भी चार का नाम विशेष उल्लेखनीय है—

1. नन्दी, 2. नागार्जुन, 3. मुनीश्वर, 4. सोमदेव।

वाग्भट ने लिखा है कि इन चार विद्वानों के तुल्य रसायनी विद्या का ज्ञाता हुआ ही नहीं।

सत्ताईस रस सिद्धों के नाम निम्न प्रकार हैं—

(1) व्यालाचार्य, (2) चन्द्रसेन, (3) सुबुद्धि, (4) नरवाहन, (5) नागार्जुन, (6) रत्नघोष, (7) सुरानन्द, (8) यशोधन, (9) इन्द्रधूम, (10) माण्डव्य, (11) चर्पटि, (12) शूरसेन, (13) आगम, (14) नागबुद्धि, (15) खण्ड, (16) कापालिक, (17) कामारि, (18) तान्त्रिक, (19) शम्भु, (20) लंका, (21) लम्पट, (22) नारद, (23) बाणासुर, (24) मुनिश्रेष्ठ, (25) गोविन्द, (26) कपिल, (27) बलि।[5] काव्य के अनुरोध से नाम पर्यायवाची शब्दों द्वारा भी लिखे गये हैं। जैसे मुनीश्वर ही मुनिश्रेष्ठ है। सोमदेव को ही दूसरी जगह चन्द्रसेन लिखा है। नन्दी ही अन्यत्र सुरानन्द है। यहां इन व्यक्तियों का पूर्वापर्य क्रम, आयु, काल अथवा गुरु-शिष्य-परम्परा को ध्यान में रखकर नहीं लिखा गया।

ये सत्ताईस व्यक्ति रसाचार्यों के सम्प्रदाय में रस विद्या के प्रमुख आचार्य थे। इनके अतिरिक्त प्रायः 19 विद्वान् और भी हुए हैं। इन सबने रस-विद्या पर अलग-अलग ग्रन्थ लिखे थे। वाग्भट ने लिखा है कि मैंने इन सबके ग्रन्थ देखे। इनके अतिरिक्त और भी कुछ

---

1. तस्माज्जीवन मुक्तिं समीहमानेन योगिना प्रथमम्।
   दिव्यातनुर्विधेया हरगौरी सृष्टि संयोगात्॥ —रसहृदय तन्त्र (रसेश्वर दर्शन)
2. अभ्रकस्तव बीजं तु ममबीजंतु पारदः।
   अनयोर्मेलनं देवि मृत्यु दारिद्र्यनाशनम्॥—सर्वदर्शन संग्रह (रसेश्वर 4)
3. संसारस्य परं पारं दत्तेऽसौपारदः स्मृतः।—रसेश्वर दर्शन
4. रसरत्न समुच्चय, अ० 6/38
5. रसरत्न-समुच्चय, अ० 6/51-55

ग्रन्थ देखने के उपरान्त मैं अपना ग्रन्थ लिख रहा हूं।[1] दुर्भाग्य है कि वे ग्रन्थ आज हमें उपलब्ध नहीं हैं; अन्यथा रसायनी विद्या का कितना विशाल साहित्य हमारे समक्ष होता। नागार्जुन की प्रथम शताब्दी से लेकर ईसा की आठवीं शताब्दी तक बड़े-बड़े विद्वान् रसायनाचार्यों ने सात सौ वर्षों में जो अमूल्य साहित्य तैयार किया था, सातवीं और आठवीं शताब्दी के बर्बर मुसलमान आक्रान्ताओं ने सारा का सारा आग में फूंक दिया। न जाने कितने वैज्ञानिक आविष्कार सदा के लिए विलीन हो गये। मनुष्य जो स्मरण रख सका वही पीछे के साहित्य में संकलित हो सका। पराधीनता में नवीन आविष्कार या तो हुए ही नहीं, हुए भी हैं तो पिछले अनुसन्धानों की तुलना में वे नगण्य हैं।

हमने पीछे लिखा है कि सुश्रुत और चरक में धातुओं, उपधातुओं तथा मणियों का उल्लेख है। परन्तु उनके शोधन, मारण आदि प्रक्रिया का कोई विस्तृत उल्लेख उन ग्रन्थों में नहीं है। सुश्रुत ने धातुओं के गुणावगुण का विवरण दिया है। एतावता मनुष्य शरीर पर धातुओं तथा उपधातुओं के प्रयोग होते रहे थे, इसमें विवाद को अवकाश ही नहीं। तो भी सुश्रुत और चरक में चिकित्सा के लिए उनका उपयोग विरल किया गया है। काश्यप संहिता में सुवर्ण-प्राशन (सोना-खिलाना) का उल्लेख है।[2] सुश्रुत में भी।[3] सोने, तांबे, चांदी और लोहे का प्रयोग चरक में भी कम नहीं।[4] किन्तु इतने प्रयोग से हम उन्हें लौहशास्त्र नहीं कह सकते। यद्यपि यह स्पष्ट है कि सुश्रुत के समय से ही भारत के प्राणाचार्य धातुओं का प्रयोग औषधि रूप में जानते थे। वे उनमें सेन्द्रियता-सम्पादन की वैज्ञानिक विधि (Organization or edibility) से भी परिचित थे। फिर भी नागार्जुन के रस विज्ञान ने लौहशास्त्र को एक नवीन प्रेरणा दी जो सुश्रुत और चरक नहीं दे सके थे।

यद्यपि चरक में भी रसायन-पाद का उल्लेख है, वहां पर्याप्त रसायन प्रयोग लिखे हैं। सुश्रुत और काश्यप संहिताओं में भी रसायन शब्द का व्यवहार है। किन्तु पारद में 'रस' या रसायनी विद्या का प्रयोग एक विशेष दृष्टिकोण से है जिसे हम पीछे लिख आये हैं। चरक, सुश्रुत और काश्यप संहिताओं का 'रस' या 'रसायन'[5] शब्द पारद से रहित है। यद्यपि नागार्जुन की रसायनी विद्या और चरक के रसायन-पाद का उद्देश्य एक ही है—जरा-व्याधि का प्रतिकार और आयु की वृद्धि।[6] इसका अर्थ यह है कि रसायन

1. एतेषां क्रियतेऽन्येषां तन्त्राण्यालोक्य संग्रहः।
   रसानामथ सिद्धानां चिकित्सार्थोपयोगिनाम्।
   सूनुना िह गुप्तस्य रस-रत्न समुच्चयः॥ —र० र० समु० 1/8
2. विधृष्य धौते दृषदिप्राङ्मुखी लघुनाम्बुना।
   आमथ्य मधुसर्पिभ्यां लेहयेत्कनकं शिशुम्॥ —लेहाध्याय, सूत्र स्था० काश्यप संहिता
3. सौवर्ण सुकृतं चूर्णम् कुष्ठं मधु घृतं वचा। —सुश्रुत, शारीर, 10/68
4. हेम ताम्र प्रवालानामयसः स्फटिकस्यच।
   मुक्तावैदूर्य शंखानां चूर्णानां रजतस्यच॥ —चरक, चिकित्सा, 1/4/21
   मञ्जिष्ठा रजनी द्राक्षा बलामूलान्योरजः। —चरक, चि० 16/102
5. रसायनानां द्विविधं प्रयोगमृषयो विदुः। —चरक, चिकि० 1/1/16
6. चरक, चिकित्सा स्थान, 1/1/7-8

के उद्देश्य 'लाभोपायो हिशस्तानां रसादीनां रसायनम्' की माँग समाज को बहुत प्राचीन-काल से थी। अधिक से अधिक सफल साधनों की खोज चालू थी। बोधिसत्व नागार्जुन ने सबसे अधिक प्रभावशाली साधन संसार को भेंट किये। किये चरक ने भी। परन्तु नागार्जुन चरक से कितने ही पग आगे बढ़ गये।

वे लोग भूल में हैं, जो कहते हैं, कि रसायनी विद्या का परिचय भारत को ग्रीस या मिश्र से मिला। यदि रसायन विद्या का जन्म ग्रीस या मिश्र में हुआ होता तो हेरोडोट्स, डायो डोरस, प्लुटार्क तथा प्लीनी आदि तद्देशीय विद्वानों के लेखों में इतने महत्त्वपूर्ण आविष्कार का उल्लेख अवश्य होता। परन्तु उन लोगों ने कहीं उसकी चर्चा तक नहीं की। ईसा की चौथी शताब्दी तक मिश्र और ग्रीस में रसायनी विद्या का कोई अस्तित्व नहीं था। अनेक ऐतिहासिकों का विचार है कि गैंवर नाम का एक अरब ईसा की 7-8वीं शताब्दी में भारत आया था। वह सिद्धों और पंडितों की सेवा करके बहुत कुछ रसायनी विद्या सीख गया। लौटकर अरब को इस आविष्कार का प्रथम परिचय उसने ही दिया।

अरबी में इस विद्या को अल-कीमिया (Alquimia) नाम दिया गया। ग्रीक और लैटिन में यह शब्द केवल 'कीमिया' रह गया। पुरानी फ्रेंच भाषा में यह शब्द 'अल्-केमी' (Alchemie) था।[1] सम्भवत: मिश्री, यूनानी, अरबी और फ्रांसीसी व्यापारी जो उस युग में भारत आते-जाते रहते थे, वे ही इस विद्या को पश्चिमी देशों को ले गये। कुछ ऐतिहासिकों का विचार है कि मागी जाति के लोग, जो पर्शिया के रहने वाले थे, पहले-पहल इस विद्या को भारत से बाहर ले गये। उनके इतिहास से भी यह प्रकट होता है। भारतीय वैद्य भी अरब, ईरान, मिश्र और यूनान तक आते-जाते रहते थे। अरबी में मनका और सलेह नामक भारतीय वैद्यों के वर्णन हैं, जिन्होंने चरक और सुश्रुत का अरबी भाषा में अनुवाद किया था।[2] इनसे भी प्राचीन काल में काङ्कायन नाम के वाल्हीक (बैबिलोनिया के निवासी) भिषक ने आत्रेय और धन्वन्तरि से आयुर्वेद पढ़कर ग्रीस (यूनान), बैबिलोनिया, मैसोपोटामिया और असीरिया को दिया था, यह तो चरक और सुश्रुत में भी स्थान-स्थान पर लिखा है।

भारत के साथ मिश्र, यूनान और ईरान का यह बहिरंग सम्पर्क ही न था, प्रत्युत अन्तःपुरों के अन्दर तक भारतीय गृहलक्ष्मी की अर्चना में उन-उन देशों की युवतियां सौन्दर्य के प्रसून बनकर महकती रही हैं। नागार्जुन के केवल दो सौ वर्ष बाद ही महाकवि कालिदास ने 'अभिज्ञान शाकुन्तल' में सम्राट् दुष्यन्त के बहाने विक्रमादित्य चन्द्रगुप्त के अन्तःपुर की परिचर्या में लगी हुई यवनी (यूनानी) युवतियों का सुन्दर और मनोहारी वर्णन किया है।[3] मातृगुप्ताचार्य ने लिखा है—"घरों के अन्दर सजधज से विचरने वाली, उपवनों में प्रसूनों की प्रतिस्पर्धा में संचार करती हुई शोभा-संभार जुटाने वाली तथा दिनचर्या को समयानुकूल माधुर्य प्रदान करने वाली अत्यन्त कलाकुशल युवतियां यवनी

1. Concise English Dictionary (Dr. Annandale, England)
2. काश्यप संहिता, उपोद्घात, पृ० 102
3. 'एषवाणासनहस्ताभिर्यवनीभिर्वनपुष्पमाला धारिणीभिः परिवृतइत एवागच्छति प्रियवयस्यः'
—अभिज्ञान शाकुन्तल, अंक 2 में विदूषक का प्राकृत में लिखा हुआ परिशिष्ट-पर्यालोचन देखें।

अथवा संचारिका कही जाती हैं।"[1] ये यवनियां सबसे प्रथम मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त की महारानी और यवन देश (यूनान) की राजकुमारी हेलना के साथ यहां आयी होंगी। उसके बाद जितने प्रदेश में यूनान का राज्य विस्तृत हुआ, सभी क्षेत्रों की युवतियाँ भारतीय वैभव का शृंगार करने के लिए आती रहीं। कराची, कच्छ, केसल, बम्बई आदि पश्चिमी घाट के बन्दरगाह शताब्दियों तक सौन्दर्य की सौगात लाने वाली उन कला-कुशल यवनियों का स्वागत करते रहे हैं।[2]

इन यवनियों की सन्तानें ही 'दास्या पुत्र' होते थे। संस्कृत के नाटकों में दास्या-पुत्रों की कम भरमार नहीं।

इधर सिद्धों का प्रभाव बढ़ा। उनके जादू-टोने का प्रभुत्व जनता पर जम गया। सिद्ध लोग जीवन को अजर-अमर करने वाले माने जाने लगे। राजाओं की जनता पर ही हुकूमत थी, किन्तु सिद्ध लोग जनता और राजा दोनों पर हुकूमत करने लगे थे। गुप्त-काल के अन्तिम चरण अर्थात ईसा की छठी शताब्दी के बाद जिस साहित्य की रचना हुई है उसमें 'सिद्धादेश' का सबसे अधिक प्रभाव है। सिद्ध लोग रसायनी विद्या के प्रमुख पोषक रहे हैं। कितनी ही यवनियां और कितने ही 'दास्या पुत्र' सिद्धों और रसायनाचार्यों से यह विद्या लेकर मिश्र, यूनान, ईराक और ईरान गये; इसमें सन्देह नहीं। तात्पर्य यह कि बोधिसत्व नागार्जुन के इस वैज्ञानिक आविष्कार की मौलिकता में मिश्र, यूनान अथवा ईरान आदि किसी अन्य देश का कोई साझा नहीं है। दुर्भाग्य यह है कि नागार्जुन का उत्तराधिकार सम्हालने वाले सन्तों और सिद्धों ने रसायनी विद्या को अपने चीवर के अवगुण्ठन में इतना छिपाये रखा कि कोई आत्माभिमानी विद्वान् जो उनको अपनी प्रतिष्ठा नहीं सौंप सका, रसायनी विद्या का लाभ न पा सका।[3] यही कारण है कि नागार्जुन के तीन सौ वर्ष बाद ही वाग्भट जैसे आचार्य ने अष्टांगहृदय और अष्टांग-संग्रह में रसायनी विद्या पर एक भी अध्याय न लिखा।

नागार्जुन ने रसेश्वर के चमत्कारपूर्ण गुणों की खोज करके जो महान लाभ जन-साधारण को पहुंचाना चाहा था, वह उनके उत्तराधिकारियों को न मिल सका। सोना बनाने के लालच में चेलों का समूह जीवनभर सिद्धों की चिलम, चण्डू और सुरा सम्भालता रहा किन्तु हाथ कुछ न लगा। अब समाज का जीवन तीन भागों में विभाजित था—सोलह वर्ष की आयु तक बालक, उसके पश्चात् विषय-रसास्वाद का लम्पट और अन्त को बेकार बूढ़ा। ज्ञान, ध्यान, स्वाध्याय और साधना तो स्वप्न हो गये थे। भगवद्-गोविन्दपाद ने इस हीन दशा पर पारद की प्रभुता सिद्ध करते हुए लिखा है कि पारद का प्रभाव यह है कि वह इस जीवन को इतनी दिव्यता प्रदान कर देगा कि लम्बे जीवन की

1. गृह कक्षा विचारिण्यस्तथोपवन संचराः।
यामेषुचनियुक्तानां यामशुद्धि विशारदाः॥
संचारिकास्तु ताज्ञेया यवन्योपि मताक्वचित्॥
—अभिज्ञान शाकुन्तल टीका, अंक 2 (विदूषक प्रस्तावना)

2. मौर्य साम्राज्य का इतिहास देखो।

3. रस विद्या सदागोप्या मातुर्गुह्यमिव ध्रुवम्। —र० र० समुच्चय

प्राप्ति होने से मुक्ति की साधना के लिए भी समय मिल जाय।[1]

भारत से रसायनी विद्या प्राप्त करके दूसरे देशों में उसका भौतिक विकास हुआ। किन्तु भारत में नागार्जुन और उनके शिष्यों ने इस विषय को भौतिक मात्र न रखकर दार्शनिक भी बना दिया। रसेश्वर की दार्शनिकता भी नागार्जुन की सूझ-बूझ का ही परिणाम है। दार्शनिक प्रतिभा के व्यक्ति होने के कारण प्रत्येक विषय को दार्शनिक दृष्टिकोण से विचारना उनके लिए स्वाभाविक ही था। नागार्जुन से 100 वर्ष पूर्व पतञ्जलि द्वारा लिखे गये एक लौहशास्त्र का उल्लेख इतिहास में मिलता है। वह लौहशास्त्र अब नहीं मिलता, यद्यपि उसके उद्धरण विभिन्न लेखकों ने दिये हैं। वे उद्धरण यह स्पष्ट करते हैं कि पतञ्जलि लौहशास्त्र का उद्भट विद्वान् था, इसमें सन्देह नहीं।[2] यह कहना कठिन है कि महाभाष्यकार अथवा योगशास्त्र के लेखक पतञ्जलि ही लौहशास्त्र के लेखक भी थे। परन्तु कहना तो यह है कि लौहशास्त्र पर पतञ्जलि ने दार्शनिक रंग नहीं चढ़ाया। जो भी हो, रसेश्वर का वैज्ञानिक आविष्कार और उस पर दार्शनिक विचार केवल नागार्जुन की ही देन है।

नागार्जुन का युग दार्शनिक युग था। चाहे रसेश्वर दर्शन नागार्जुन का लिखा नहीं है, तो भी रसायनी विद्या पर दार्शनिक विचार शैली की प्रस्तावना उन्होंने ही रखी होगी। रसेश्वर दर्शन का उल्लेख करते हुए माधवाचार्य ने लिखा है कि जीव और ब्रह्म को अभिन्न स्वीकार करने वाले माहेश्वर-सम्प्रदाय के लोग पारद को ही जीवन-मुक्ति का साधन मानते हैं।[3] उन्होंने ही पारद पर दार्शनिक विचार प्रस्तुत किये। पारद के सम्बन्ध में लोकोत्तर कल्पनायें और श्रुतिमंत्रों की तोड़-मरोड़ महेश्वरों ने की हैं। परन्तु माहेश्वर सम्प्रदाय तो पाणिनि के युग में ईसा से 800 वर्ष पूर्व भी था, जिन्होंने व्याकरण के 14 प्रत्याहार सूत्र लिखे थे। 'सिद्धान्त कौमुदी' में भट्टोजी दीक्षित ने लिखा है कि ये माहेश्वर सूत्र हैं।[4] परन्तु पाणिनि के समय रसेश्वर का यह वैज्ञानिक आविष्कार ही न हुआ था; अन्यथा पाणिनि ने अपने युग के सम्पूर्ण महत्त्वपूर्ण सम्प्रदायों

---

1. बाल : षोडश वर्षो विषय रसास्वाद लम्पटः परतः
   यात विवेको वृद्धो मर्त्यः कथमाप्नुयान्मुक्तिम ॥—रस हृदय तन्त्र
2. भारतीय इतिहास की रूपरेखा, भाग 2, पृ॰1013
3. अपरे महेश्वराः परमेश्वर तादात्म्य वादिनोऽपि पिण्डस्थैर्ये सर्वाभिमता जीवन्मुक्तिः सेत्स्यतीत्या-स्थाय पिण्डस्थैर्योपायं पारदादि पद वेदनीयं रसमेव सङ्गिरन्ते"। —रसेश्वर दर्शन
4. इति माहेश्वराणि सूत्राणि अणादि संज्ञार्थानि। —सिद्धान्त कौमुदी

   माहेश्वर दर्शन नागवंशियों का दर्शन था। नागराजाओं का विस्तृत इतिहास पुराणों, सिक्कों तथा शिलालेखों से प्रचुर मात्रा में प्राप्त हो गया है। वे लोग 'भारशिव' भी कहलाते थे। नागवंशी स्वभावतः शैव थे। इसका विस्तृत उल्लेख मैंने प्रस्तावना में किया है। नागराजाओं की जो प्रतिमाएं भूगर्भ से मिली हैं उनके मस्तक पर शिवलिंग बना होता है। अहिच्छत्रा, मथुरा, पद्मावती, कौशाम्बी, चम्पावती (भागलपुर) तथा विदिशा (भेलसा) से इनके प्रभूत सिक्के मिले हैं। गौतमीपुत्र सातकर्णी नागवंशी राजा भवनाग का धेवता (दौहित्र) था। प्रसिद्ध शेषनाग सम्राट् ईसा से 200 वर्ष पूर्व विदिशा में राज्य करता था। दर्शन, साहित्य, कला और राजनीति में वे आदर्श थे।

   —देखे 'गुप्त साम्राज्य का इतिहास, नागवंश', पृ॰ 13-14

और आचार्यों का उल्लेख किया, वहां रसेश्वर को भी न भूलते। परन्तु पाणिनि ने रसेश्वर का उल्लेख इस रूप में नहीं किया।

'सर्वदर्शन संग्रह' में माधव ने पाणिनि-दर्शन भी संकलित किया है। क्या पाणिनि माहेश्वर सम्प्रदाय के अनुयायी थे? यह भिन्न प्रश्न है। परन्तु रसेश्वर दर्शन और पाणिनि दर्शन भिन्न-भिन्न विचारधारा के हैं। शब्द को ब्रह्म सिद्ध करने वाले स्फोटवादी पाणिनि[1] के सम्प्रदाय के ही कुछ लोग पीछे से पारद को ब्रह्म सिद्ध करने का दु:साहस भी कर सके ऐसा प्रतीत होता है।[2] परन्तु यह तभी संभव हो सका जब नागार्जुन ने पारद की वैज्ञानिक महिमा सिद्ध कर दी। इसीलिए माधवाचार्य ने लिखा—'अपरे माहेश्वरा:'। सारे माहेश्वर नहीं, किन्तु कुछेक माहेश्वर।

ईसा की सातवीं शताब्दी में जब महायान का रूप बिगड़ते-बिगड़ते मन्त्रयान, वज्रयान और अन्ततोगत्वा लिंगयान में परिवर्तित हो गया, प्रत्येक यान के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न दर्शन विद्यमान थे। सातवीं शताब्दी में बाण कवि ने[3] 'हर्षचरित' में 'कारन्धमिन' सम्प्रदाय का उल्लेख किया है। 'कारन्धमिन' धातुवादी लिंगयानी या माहेश्वर ही थे। कुछ महायान झुका और कुछ माहेश्वर। दोनों मिलकर एक थे। मन्त्रयान ने दार्शनिक साहित्य की रचना धातुवादियों से पूर्व कर ली थी। परन्तु ईसा की नवीं शताब्दी तक रसेश्वरवादी (या धातुवादी) इतने प्रौढ़ हो गये थे कि मन्त्रयान को उसका किंकर कहा जाने लगा। आचार्य माधव ने रसेश्वरदर्शन के अनुयायियों का विचार लिखा है—'रस-प्रयोग से अजर-अमर एवं नित्य शरीर प्राप्त होता है। जो लोग मरने के पश्चात मुक्ति प्राप्त करने पर विश्वास करते हैं, वे मरें। किन्तु जिन्होंने पारद और अभ्रक सेवन किया है वे जीवन्मुक्त-सिद्ध वन्दनीय हैं, क्योंकि मन्त्र-तन्त्र तो उनके किंकर हैं।'[4] रसेश्वरवादियों की यह दृढ़ मान्यता थी कि रसेश्वर के प्रयोग से लिंग शरीर अजर-अमर हो जाता है। रस-सेवी सिद्ध लोग लिंग शरीर में आज भी विद्यमान हैं और मौज कर रहे हैं। इस प्रकार रसेश्वरवादियों की यह मान्यता थी कि रस का उपयोग केवल धातुवाद (शोधन, मारण अथवा रसेन्द्रवेध द्वारा स्वर्ण-निर्माण) के लिए ही नहीं है, किन्तु उसका परम प्रयोजन जीवन-मुक्ति ही है। जब तक चाहो जियो, भोग-विलास करो, उससे पेट भर जाय तब मुक्त हो जाओ। शरीर छूट जाने पर शून्य में विलय हो जायगा। इसलिए शरीर को बनाये रखो।[5] सांख्य ने बताया था—भोग का साधन

1. शब्द ब्रह्मणि निष्णातंत्वातोपरं ब्रह्माधिगच्छति:। —पाणिनिदर्शन 36
2. यो ब्रह्मैव स दैन्य संसृति भयात् पायाद.ो पारद:। —रसेश्वरदर्शन 17
3. संस्कृत कविचर्या (प्रो० बल्देव उपाध्याय) —पृ० 226
4. तथा च रस हृदये—'येचात्यक्त शरीरा हरगौरी सृष्टिजान्तरं प्राप्ता:।
वन्द्यास्ते रस सिद्धा: मन्त्रगण: किंकरो येषाम्॥
अत्यल्पमिद मुच्यते देव दैत्य मुनिमानवादिषु वहवो रस सामर्थ्याद्दिव्यं देहमाश्रित्य जीवन्मुक्तिमाश्रिता: श्रूयन्ते। सर्वदर्शनसंग्रहे, रसेश्वर दर्शने।—4-5
5. अस्मिन्नेवशरीरेयेषां परमात्मनो न संवेद:।
देहत्यागादूर्ध्वं तेषांतद् ब्रह्म दूरतरम्॥ —भगवद्गोविन्द पाद
'न च रसशास्त्रं धातुवादार्थ मेवेति मन्तव्यम्। देहबन्ध द्वारा मुक्तेरेव परम प्रयोजनत्वात्। —सर्वदर्शन रसेश्वरदर्शनम् 8।

लिंग शरीर ही है।

इस प्रकार नागार्जुन से लेकर ईसा की नवीं शताब्दी तक (800 वर्ष) रसेश्वर पर अनेक दर्शन ग्रन्थ बन गये थे। रसार्णव, साकार सिद्धि, रसेश्वर सिद्धान्त, रसहृदय-तन्त्र आदिदर्शन ग्रन्थों के उद्धरण माधवाचार्य ने रसेश्वरदर्शन में उद्धृत किये हैं। 'रसेश्वर दर्शन' में रसेश्वर सिद्धान्त का उद्धरण देते हुए लिखा है कि न केवल महेश जैसे देवता, कंस जैसे असुर, बालखिल्य जैसे मुनि तथा सोमेश्वर जैसे राजा ही रस के प्रयोग से अमर हो गये थे, प्रत्युत गोविन्द भगवद्पादाचार्य, गोविन्द नायक, चर्पटि, कपिल, व्यालि, कापालि एवं कान्दलायन जैसे सिद्ध साधु भी रस के सेवन से जीवन्मुक्त हो गये। लिंग-शरीर में नित्य जीवन प्राप्त करके, वे लोग आज तक भी स्वेच्छा विहार कर रहे हैं।[1] कहना नहीं होगा कि 'रस हृदयतन्त्र' के लेखक परम दार्शनिक भगवद्गोविन्दपादाचार्य ही आचार्य शंकर के गुरु थे। परन्तु कंस और बालखिल्य के युगों में पारद का प्रयोग हुआ था, यह उल्लेख आज के ऐतिहासिक पटल पर कोरी अतिरंजना है।

रसेश्वर पर आचार्य नागार्जुन का लिखा हुआ कोई दार्शनिक ग्रन्थ नहीं मिलता, यद्यपि उनके लिखे हुए अनेक प्रयोग रस ग्रन्थों में यत्र-तत्र बहुधा पाये जाते हैं। आयुर्वेद सम्बन्धी अन्य ग्रन्थ जो उनके लिखे हुए प्राप्त हैं उनका उल्लेख पीछे किया गया है। कुछेक विद्वानों का कहना है कि नागार्जुन ने 'अष्टांगहृदय' नामक ग्रन्थ भी लिखा था।[2] ईसा की 5 से 6ठी शताब्दी के बीच वाग्भट के अतिरिक्त अन्य किसी ने भी 'अष्टांगहृदय' नामक ग्रन्थ लिखा था, ऐसा कोई प्रमाण प्राप्त नहीं हो सका। आयुर्वेद ग्रन्थों के व्याख्याकारों ने कहीं नागार्जुन के लिखे हुए अष्टांगहृदय का उल्लेख भी नहीं किया। हां, नागार्जुन ने आयुर्वेदिक प्रयोगों तथा स्वस्थवृत्त को प्रस्तर शिलाओं पर खुदवाकर सर्वसाधारण के हितार्थ स्थान-स्थान पर स्थापित करवा दिया था। ऐसे एक शिला पटल का उल्लेख व्याख्याकार वृन्द और चक्रपाणि ने किया है।[3] यह शिला पटल पाटलिपुत्र में वृन्द और चक्रपाणि के समय (10-11वीं ई० शताब्दी) तक विद्यमान था।[4]

नागार्जुन के संस्मरण भारत में ही नहीं, भारत के बाहर ईरान, मिश्र, रोम, अरब, बैबीलोन तथा ग्रीस तक पहुंचे। रसायनी विद्या का विस्तार उन-उन देशों में नागार्जुन के पश्चात ही हुआ। चन्द्रगुप्त मौर्य की रानी ग्रीस की राजकुमारी थी। ईसा के 400 वर्ष पूर्व प्राय: मौर्य शासन की स्थापना और महानन्द के शासन के अन्तिम दिनों में मिश्र देश में, जहां आज अलेक्जेंड्रिया आबाद है, एक विश्वविख्यात विश्वविद्यालय था, जिसमें 14,000 से कुछ अधिक विद्यार्थी अध्ययन करते थे। इस विश्वविद्यालय में शिक्षा देने वाले आचार्य अधिकांश भारतीय ही थे। और कितने ही भारतीय विद्यार्थी

1. सर्वदर्शन संग्रह (रसेश्वर द० 5)
2. इस विषय पर 'उपाय हृदय' नागार्जुन का ग्रन्थ है।
3. दर्शन दिग्दर्शन (श्री राहुल सांकृत्यायन), पृ० 570
4. नागार्जुनेन लिखिता: स्तम्भे पाटलिपुत्र के।

भी वहां अध्ययन करते थे।[1] नागार्जुन के जीवन में ही चलने वाला यह विश्वविद्यालय नागार्जुन के ज्ञान से अवश्य आलोकित हुआ होगा; विशेषत: इसलिए कि वहां भारतीय आचार्य ही शिक्षक थे।

ईसा से 326 वर्ष पूर्व भारत से लौटते समय सिकन्दर भारत के वैद्य भी अपने साथ ले गया। चाहे सिकन्दर बैबीलोन ही में मर गया, परन्तु भारतीय वैद्यों ने ग्रीस (यूनान) में आयुर्वेद के प्रति आकर्षण उत्पन्न कर दिया। यूनानी चिकित्सा की निदान पद्धति वही है जो आयुर्वेद की है। ईरान तो भारत के साथ तक्षशिला के माध्यम से प्रतिदिन सम्बन्धित था। प्राचीन काल से बैबीलोनिया का सम्बन्ध भारत से था। वहां का निवासी काङ्कायन आत्रेय का शिष्य था। इन सम्बन्धों की प्राचीन परम्परा में सैकड़ों बौद्ध भिक्षु तथा भारत से शिक्षा प्राप्त करने वाले विदेशी विद्वान् नागार्जुन की यह विद्या भिन्न-भिन्न देशों को ले गये। चीन में आचार्य कुमारजीव नागार्जुन के एक सौ वर्ष बाद विद्यमान थे। इस प्रकार नागार्जुन ने भारत का विशाल प्रभाव-क्षेत्र निर्माण किया, जिसके कारण हम नागार्जुन को एक युग कह सकते हैं।

नागार्जुन के बाद रसायनी विद्या को लिङ्गस्थानीय सिद्धों ने बहुत महत्त्व दिया। उन्होंने रसेश्वर की लिङ्ग प्रतिमा बनाकर उसकी पूजा प्रचलित की। लिङ्ग शरीर अरूप होता है। अतएव लिङ्ग शरीर में अजर-अमर रहने वाले देवी और देवताओं की प्रतिमा क्या हो? इसका एक ही उपाय ढूंढ़ा गया कि स्त्री और पुरुष के भेदक लिङ्ग ही उनके प्रतीक मानकर पूजे जाएं। भारत की यह परम्परा मिश्र में प्रचलित हुई। वहां अब तक लिङ्ग-पूजा की परम्परा विद्यमान है।[2] यही नहीं, पारद के प्रयोग प्राचीन काल से उन देशों में अब तक प्रचलित हैं, जो नागार्जुन की ही देन है।

वस्तुत: पारद पर दार्शनिक विचार नागार्जुन के वैज्ञानिक अनुसंधानों के उपरान्त भले ही हुए किन्तु शैव विचार नये नहीं थे। पारद के आश्चर्यजनक गुणों के कारण वह भी दार्शनिक विचारधारा में समाविष्ट कर लिया गया। पारदीय सम्प्रदाय को समझने के लिए हमें नागार्जुन के समकालीन दार्शनिक सम्प्रदायों को समझना होगा।

नागार्जुन के समय भारत में 'माहेश्वर-शैव' तथा 'भागवत-वैष्णव' विचार के दो सम्प्रदाय प्रमुख थे। तीसरे एक निर्गुण उपासक भी थे जो इन दोनों से भिन्न ब्रह्मतत्त्व के उपासक थे। तीनों ही अपने को वैदिक मानते थे तथा वैदिक साहित्य एवं श्रुतियों से अपने-अपने विचारों का समर्थन करते थे। कहना नहीं होगा कि माहेश्वर अथवा शैव नागवंशी लोग ही थे, जिनकी चिरकालीन प्रभुता भारत में सर्वतोमुखी रही है। देवताओं के अमृत की भाँति उन्होंने वैज्ञानिक सुधा का आविष्कार किया था। वे पराक्रमी

1. रोम के सम्राट् टैब्रियस के साथ भारतीय सम्बन्ध देखिए। उसकी मुद्रायें प्रचुर मात्रा में चन्द्रावली (मैसूर) में भूगर्भ से मिली हैं। सम्राट् टैब्रियस यज्ञशातकर्णी (सातवाहन) सम्राट् का समकालीन 150 ई० में था। शातकर्णी नागार्जुन का मित्र था।—Ancient India No. 4, p. 287 (Archeological Survey)
सिकन्दरिया में भारतीयों के व्यापार का उल्लेख डा० राधाकुमुद मुकर्जी ने 'Indian Shipping' में किया है।
2. काश्यप संहिता, उपोद्घात, पृ० 204

शिव और शक्ति के उपासक थे। शिव और शक्ति को आधार मानकर उन्होंने अपने दार्शनिक साहित्य का निर्माण किया था। उनके ही प्रभाव के कारण रोम, यूनान, मिश्र, अरब, पैलस्टाइन, चीन और जापान तक उनके दार्शनिक विचार फैल गये थे।[1] माहेश्वर अथवा शैव-सम्प्रदाय नागों का ही सम्प्रदाय था। नागार्जुन के समय भी नागवंशी सम्राट् शासन कर रहे थे। इनका ही दूसरा नाम 'भारशिव' भी था। पुरातत्व में इनकी सैकड़ों मूर्तियां प्राप्त हुई हैं। सिन्धु घाटी की सभ्यता नागों से प्रभावित थी। हड़प्पा और मोहञ्जोदाड़ो की खुदाई में निकली हुई शिव की मूर्तियां इस तथ्य को सिद्ध करती हैं।

नागवंशी राजाओं ने अनेक अश्वमेध यज्ञ किये। विदिशा (भेलसा), मथुरा, कान्तिपुर, मिर्जापुर, पद्मावती, अहिच्छत्रा आदि स्थानों में इनकी राजधानियां थीं, यह पीछे लिखा जा चुका है। उनके दश अश्वमेध यज्ञों का उल्लेख बालाघाट तथा चमक प्रशस्ति में उत्कीर्ण है।[2] विदिशा में शेषनाग का राज्य था। उसे शुंगों ने उजाड़ दिया। मथुरा में शिवदत्त नाग तथा पद्मावती में शिव नन्दी के सिक्के मिले हैं। कनिष्क ने इन्हें परास्त किया। परन्तु तो भी नागों की कला, शासन-प्रणाली इतनी सुन्दर थी कि अनेक शक शासक शैव धर्म के अनुयायी बन गये। कैडफीसीस (द्वितीय) शैव धर्म का भक्त हो गया था। उसके सिक्कों पर नन्दि (वृषभ) के चिन्ह मिलते हैं। इस प्रकार नागार्जुन के समय शैव और शक लोगों का उग्र संघर्ष था। यह निश्चित है कि सातवाहन शैव थे, जो माहेश्वर नाम से भी परिचित हैं। ईस्वी सन् 176 में कुषाण (शक) राज्य के पतन के पश्चात् नागों का निष्कण्टक राज्य ईसा की तीसरी शताब्दी तक चला और उनके बाद ही परम-भागवत गुप्त शासन प्रारम्भ हुआ। नागार्जुन शैव युग के आचार्य थे। वीरसेन, स्कन्दनाग, भीमनाग तथा भवनाग आदि प्रतापी नागवंशी राजा भी शैव ही थे।

बौद्ध होकर भी नागार्जुन शैवागम की मौलिक विचारधारा को नहीं छोड़ सके। नागार्जुन का शून्यवाद शैवागम का ही रूपान्तर था।[3] कारण (महत्तत्व), लिङ्ग (पञ्चतन्मात्र) तथा स्थूल (सृष्टिरूप) विविध रचना जब मूल प्रकृति की साम्यावस्था में पहुँच जाते हैं तभी जिस आत्म-तत्त्व का साक्षात्कार होता है वही शिव है। यह शिव दर्शन तभी होता है जब विभिन्न प्रणालिकाओं में बहती हुई ज्ञान की धारा एक वृत्त (शून्य) में निमग्न हो जाये।[4] नास्मि, नमे, नाहम् इस प्रकार का ज्ञान शिव का दर्शन है। इस

1. 'कल्याण' के शिवांक में श्री रामदास गौड़ का 'लिङ्ग रहस्य' लेख देखें। सं० 1990 वि०
2. शिव लिंगोद्वहन शिव सुपरितुष्ट समुत्पादित् राजवंशानां पराक्रमाधिगत भागीरथ्यामलजल मूर्धाभिषिक्तानां दशाश्वमेधाव भृथस्नातकानां भारशिवानां महाराजा'—गुप्त साम्राज्य का इतिहास, भाग 1, पृ० 14।
3. भिन्नापिदेशनाऽभिन्ना शून्यताद्वय लक्षणा (बोधिचित्तविवरण)
4. ओङ्कार का प्रपञ्च देखिये—
   केन्द्र = शिव
   त्रिकोण—शक्ति, सत्व, रज, तम।
   वृत्त = अद्वैत

शिव का सात्त्विक, राजस् और तामस् रचना के साथ सम्पर्क ही प्रपञ्च है। यह सम्पर्क लिङ्ग शरीर द्वारा ही स्थापित होता है। वस्तुतः शिव (पुरुष) शक्ति (प्रकृति) के साथ तब तक सम्बद्ध नहीं होता जब तक कि वासना-वासित लिङ्गशरीर दोनों के बीच सम्बन्ध स्थापित न करे। प्रकृति ही प्रत्येक पदार्थ की जननी है, शिव नहीं। इसलिए जगत् के प्रपञ्च की योनि शक्ति-रूप प्रकृति ही हुई। यह लिङ्ग और योनि का सम्बन्ध ही विश्व के प्रपंच को प्रेरणा देता है। वस्तुतः शैवागम में योनिरूप प्रकृति भी शक्तिरूपा है। शक्ति शक्तिमान् से भिन्न नहीं रहती। जब सम्पूर्ण वासनाओं के कोण टूटकर एक वृत्त (बिन्दु) में आ जाते हैं वही महापरिनिर्वाण है।[1] बौद्धागम में वही 'वज्रसत्व' है।[2]

इसमें सन्देह नहीं कि शैव सम्प्रदाय के लोग वेदों से पूर्ण सन्तुष्ट न थे। इसलिए निगम (वेद) के मुकाबले में आगम की रचना हुई। वेदों में मंत्र थे। आगमों में तन्त्र लिखे गये। 'मंत्र' मनन के परिणाम हुए। 'तन्त्र' ज्ञान की तन्त्री पर सूक्ष्म संवेदन को प्रस्तुत करने वाले समझे गये। मन्त्र या तन्त्र ज्ञान रूप हैं, उनको मूर्तरूप में लाने के लिए 'यन्त्र' (साकार ज्ञान) का आविर्भाव भी हुआ। जिस प्रकार कल्पना अमूर्त है, चित्र मूर्त; उसी प्रकार मंत्र पर तन्त्र अमूर्त और यन्त्र मूर्त। परन्तु एक ऐसी सीमा भी आयी जब आगमों और तन्त्रों ने निगम और मन्त्रों के साथ अपना समन्वय कर लिया। और यदि किसी एकाध प्रश्न पर वह न हो सका तो उन्होंने उसकी परवाह नहीं की। वह रहस्यवाद था।

वस्तुतः शैवागम का यह विश्वास है कि जैसा यह शरीर है, वैसा ही ब्रह्माण्ड है।[3] वेदों में भी पुरुषसूक्त इसी भाव से लिखा गया है। जैसे इस शरीर में कारण सर्ग के बाद लिङ्ग सर्ग है वैसे ही इस जगत् में महत्तत्व के उपरान्त ब्रह्माण्ड रूपी लिङ्ग सर्ग ही होता है। इस दृष्टि से यह सम्पूर्ण विश्व ही भगवान् का ज्योतिर्लिङ्ग है। इस उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय को जो अन्तिम बिन्दु तक जान लेता है वही ज्ञानी है। यही बिन्दु नागार्जुन का शून्यवाद है। वास्तविकता यह है कि सारे बौद्धागम नागार्जुन के शून्यवाद में अन्तर्भूत हुए और यह शून्यवाद भी वैदिकों के 'एकोदेवः सर्व भूतेषु' में विलीन हो गया। न केवल इतना ही किन्तु माहेश्वर सम्प्रदाय के 'शिवोऽहम्' में भी वही व्यञ्जना प्रतिध्वनित हुई। नागार्जुन के जीवन में यह महा समन्वय हो गया था।

नागार्जुन का आश्रम श्रीपर्वत के ऊपर कृष्णा नदी के रम्य तट पर था। शैवागम में द्वादश ज्योतिर्लिङ्गों की जो कल्पना है वे वर्ष के बारह मास हैं। उनमें से एक ज्योतिर्लिङ्ग का नाम 'मल्लिकार्जुन' है, जो इसी श्रीशैल पर अवस्थित है। एक विशाल मन्दिर में यह शिवलिङ्ग स्थापित है। महाभारत पद्मपुराण और शिवपुराण में इसका बड़ा माहात्म्य वर्णित है। कह नहीं सकते कि नागार्जुन और मल्लिकार्जुन का कोई अन्तःसम्बन्ध है या नहीं? महाभारत और पुराणों का प्रतिसंस्कार भी इसी युग के आगे-पीछे हुआ था। इस प्रकार यह 'लिङ्ग' भावना शैव सम्प्रदाय की दार्शनिक और आध्यात्मिक विचारधारा का एक

1 चित्सत्तैव जगत्सत्ता जगत्सत्तैव चिद्वपुः।—योगवासिष्ठ 3/14/75
2, तस्मिन्सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूद्विजानतः, तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः।—उपनिषद्
3. यथापिण्डे तथा ब्रह्मांडे।

केन्द्र था। शैव दर्शन का विचार ही यह है कि पशु, पति, या पाश चाहे कुछ हो, अन्ततोगत्वा जिस तत्त्व में लीन होते हैं वही लिङ्ग है। लयनाल्लिङ्गम्।

इस प्रकार पिण्ड में होने वाले समस्त व्यापार इस ब्रह्माण्ड में भी संघटित करने के प्रयास में आलिङ्गन, मैथुन और चुम्वन आदि शब्दों के रहस्यपूर्ण अर्थ स्थिर किये गये[1]। चौंसठ तन्त्र-ग्रन्थों का उल्लेख मिलता है। इन ग्रन्थों में शैव और शाक्त सम्प्रदायों का पारिभाषिक साहित्य विद्यमान है। यह सब कुछ माहेश्वर सम्प्रदाय की विचारधारा के ही विभिन्न रूप हैं। रसेश्वरदर्शन की सृष्टि भी माहेश्वर विचारों की ही प्रतिक्रिया है। पारद को शिव का लिङ्ग (शरीर या चिह्न) मानकर उसकी पूजा में मुक्ति[2] की भावना का मूल माहेश्वर दर्शन ही है। रसेश्वर लिङ्ग का भी कर्म-काण्ड वहुत विस्तृत है। उसकी पञ्चविध पूजा, पूजा के यन्त्र, तन्त्र और मन्त्र, सभी कुछ वनाये गये। प्रकृति से प्रत्यय मिलकर जैसे उसके विभिन्न रूपों की सृष्टि कर देता है, वैसे ही शिव के वीर्य पारद से पार्वती का वीर्य अभ्रक (अथवा 'रज' गन्धक) मिलकर अनेक रोग-निवारण करने वाली औषधियों का निर्माण करते हैं।

इस रहस्यपूर्ण दर्शन को उत्तराधिकार पानेवाले सिद्ध सम्प्रदाय ने अपने भौतिक जीवन को अजर-अमर बनाने का साधन ही समझा। वे गुणों की उपासना के स्थान पर गुणी की उपासना वासनाओं की तृप्ति के लिए करने लगे। अब वे लिङ्ग और योनि का अर्थ शिव और शक्ति भूल गये थे और काम-वासना के साधन ही उन्हें स्मरण रह गये। कामदेव के इस प्रचण्ड शासनकाल में सिद्ध और उनके अनुयायी देव चरणों की वन्दना छोड़कर लिङ्ग की पूजा और देवियों की मातृ-रूप से वन्दना त्याग-कर स्त्री-योनि की पूजा में तत्पर हो गये। इस अवस्था में आवश्यक था कि वे विनश्वर मानव देह को सुदृढ़, स्वस्थ और कामदेव का किला बनाये रखते। स्थिति उल्टी हो गई। स्वरूप में शङ्कर को भूलकर उनके शत्रु कामदेव का ध्यान, पूजन और दर्शन होने लगा। सुतरां यह आवश्यक हुआ कि ऐसे प्रयोग ढूंढे जायें जिनसे उक्त आवश्यकता की पूर्ति हो। नितान्त कामुकता के पिपासुओं ने पारद से ऐसे-ऐसे रासायनिक योग तैयार कर

---

1. कुल कुण्डलिनी शक्ति; देहिनी देह धारिणी।
तयाशिवस्य संयोगो मैथुनम् परिकीर्त्तितम् ॥
"या नाडी सूक्ष्म रूपा परमपद गता सेवनीया सुषम्णा,
साकान्तालिगनार्हा, न मनुज रमणी सुन्दरी वार योषित्।
कुर्याच्चन्द्रार्क योगे युगपवन गते मैथुनं नैव योनौ
योगीन्द्रो विश्ववन्द्यः सुखमयभवने तां परिष्वज्यनित्यम् ॥
—कल्याण, शक्ति अंक, श्रीदयाशंकर रविशंकर लिखित 'पञ्चमकार का आध्यात्मिक रहस्य' देखें।

2. ब्रह्महत्या सहस्राणि स्त्री गोहत्याऽयुतानिच।
तत्क्षणाद्विलयं यान्ति रस लिंगस्य दर्शनात्।
स्पर्शनात्प्राप्यते मुक्तिरिति सत्यं शिवो दितम् ॥ —रस० र० न०, 6/20
भक्षणंस्पर्शनं दानं ध्यानञ्च परिपूजनम्।
पञ्चधा रसपूजोक्ता महापातकनाशिनी ॥—र. र० स० 1/24

डाले जिनका ध्येय चिकित्सा नहीं, किन्तु स्तम्भन, वाजीकरण और उत्तेजन आदि ही था।

तान्त्रिक हठयोग और मन्त्र-यन्त्र गुप्त रखे जाएं तथा पात्र को देख-भालकर उनका उपदेश देने की विधि कभी पवित्र भी रही होगी, परन्तु पीछे से यह गुह्य मार्ग जनता को भुलावे में डालने वाला ही था। रसायनी विद्या वाजीकरण तन्त्र से अधिक और कुछ न थी। विद्रावण, स्तम्भन और वशीकरण ही रसेन्द्र के प्रयोग बन रहे थे। गुरु लोग शिष्यों को एकाध ऐसे ही प्रयोग बताकर आजीवन उलझाये रहते थे। यद्यपि इस काल में भी रसेश्वर के चिकित्सोपयोगी प्रयोग पर अनुसन्धान हुए, परन्तु शक्ति का बड़ा भाग एक अवांछनीय दिशा में नष्ट हो गया; अन्यथा इतने सिद्ध मिलकर चिकित्सा जगत में आश्चर्यजनक विकास कर देते।

अन्ततोगत्वा गुरु गोरखनाथ ने सिद्धों के गुह्य समाज की पोल खोल दी। यद्यपि वे भी सिद्ध मत्स्येन्द्रनाथ के शिष्य थे, तो भी उन्हें सिद्धों का यह आडम्बर अनुचित लगा। गोरखनाथ ने फिर से नैतिक चरित्र को महत्त्व दिया और भटके हुए लोगों को सन्मार्ग पर लाने का उद्योग किया। इस प्रयास में वे सफल भी हुए।

पूर्णरूप से नागार्जुन के ग्रथों का संरक्षण भारत के विद्वान् नहीं कर सके। दार्शनिक ग्रंथों में तो कुछ मिलते भी हैं, रस शास्त्र पर उनका एक भी ग्रन्थ उपलब्ध नहीं। यत्र-तत्र उनके बिखरे हुए प्रयोग ही उनका स्मरण दिलाते हैं। चीनी भाषा के साहित्य से यह भी ज्ञात होता है कि नागार्जुन उच्चकोटि के नेत्र-चिकित्सक भी थे। नागार्जुन के नेत्र-चिकित्सक होने का यश उनके जीवनकाल में ही चीन तक फैल चुका था। चीनी भाषा के साहित्य से यह ज्ञात हुआ कि नागार्जुन ने नेत्र रोग पर भी ग्रन्थ लिखे थे। उनका लिखा हुआ 'येन्-लुन्' नामक नेत्र रोग पर एक ग्रन्थ चीन में मिलता है। 'लुंग्-चु-पु-स-यओ-फेंग्' नामक एक दूसरा ग्रन्थ भी चीनी भाषा में प्राप्त है, जिसका अर्थ होता है—'नागार्जुन बोधिसत्व के प्रयोग'।[1]

यों तो नागार्जुन के नाम से कितने ही ग्रन्थों का उल्लेख मिलता है परन्तु निश्चित रूप से बीस ग्रन्थ चीनी भाषा में आज भी विद्यमान हैं, जो चीन में ही मिलते हैं। उनमें से अठारह ग्रन्थों का उल्लेख विद्वान् श्री बुनियो-नेंजियो ने अपने प्रसिद्ध सूचीपत्र में किया है। नागार्जुन के ग्रन्थों में बारह ग्रन्थ अत्यन्त प्रसिद्ध हैं, वे निम्न प्रकार हैं—

1. माध्यमिककारिका या माध्यमिकशास्त्र
   (महायानीय शून्यता दर्शन पर विचार प्रस्तुत करने वाला ग्रन्थ)।
2. दशभूमि विभाषा शास्त्र
   (बोधिसत्व की दस भूमियों में से 'प्रमोदिता' तथा 'विमला' नामक दो भूमियों का वर्णन)।
3. महाप्रज्ञा पारमिता सूत्र व्याख्या शास्त्र

---

1. 'सरस्वती सुषमा' काशी राजकीय संस्कृत महाविद्यालय पत्रिका, चैत्र पूर्णिमा 2009 वि०। श्री भरतसिंह उपाध्याय का लेख देखिये।

(405 ई० में कुमारजीव ने चीनी भाषा में अनुवाद किया)।

4. उपाय कौशल्य
5. प्रमाण विध्वंसन
} न्याय-सम्बन्धी दर्शन।

6. विग्रह् व्यावर्त्तिनी (शून्यवाद-विरोधी युक्तियों का खण्डन)।
7. चतुःस्तव (चार स्तोत्रों का संग्रह्)।
8. युक्ति षष्टिका (शून्यवाद समर्थक साठ युक्तियां)।
9. शून्यता सप्तति (शून्यवाद पर 70 कारिकाएं)।
10. प्रतीत्य समुत्पाद हृदय (प्रतीत्य समुत्पाद विवेचन)।
11. महायान विशंक (शून्यवाद विवेचन)।
12. सुहृल्लेख (शातवाहन सम्राट् को पत्र)।

खेद है कि नागार्जुन की उक्त रचनाओं में से 'माध्यमिकशास्त्र' और 'विग्रह-व्यावर्त्तिनी—दो ही ग्रन्थ संस्कृत में प्राप्त हैं। शेष चीनी या तिब्बती भाषा में हैं। 'सुहृल्लेख' की भी वही दशा है। 'आर्य नागार्जुन-बोधिसत्व-सुहृल्लेख'—यह उसका पूरा नाम है। सुहृल्लेख के तीन चीनी तथा एक तिब्बती भाषा में अनुवाद प्राप्त होते हैं। सुहृल्लेख का प्रथम अनुवाद 424-431 ई० में 'गुणवर्म' ने किया था। दूसरा 433 ई० में संघवर्मा ने। तीसरा अनुवाद इ-चिंग् (इत्सिङ्ग) महोदय ने 700 ई० में किया। इ चिंग ने लिखा है कि उसकी भारत-यात्रा के समय भारत के (605-695 ई०) एक-एक बालक को सुहृल्लेख याद था। वयस्क लोग भी श्रद्धा से पढ़ते थे। सुहृल्लेख के तिब्बती अनुवाद को एच० वैंजेल महोदय ने 1886 ई० में 'जरनल ऑफ पालि टैक्स्ट सोसायटी' से अंग्रेजी में अनुवाद करके छपाया। उसी वर्ष उसका जर्मन भाषा में भी अनुवाद हुआ।

'नागार्जुन का 'सुहृल्लेख' अब सातवाहन सम्राट् को लिखा गया लेख मात्र नहीं है, उसमें नागार्जुन के हृदय का जीवित चित्र है जिनमें मानवता और राष्ट्र-प्रेम के पवित्र आदर्श का दर्शन है। वह विश्व के प्रत्येक राष्ट्र के लिए सौहार्द का सन्देश है। महाकवि कालिदास ने सम्भवतः नागार्जुन के उदात्त और निर्मल चरित्र को सामने रख कर ही यह लिखा था—

क्रिया सिद्धिः सत्वे भवति महतां नोपकरणे।

—जो धन के पीछे नहीं दौड़ा, किन्तु धन जिसके पीछे दौड़ता रहा; जो ऐश्वर्य का अनुगामी नहीं बना, किन्तु ऐश्वर्य जिसका अनुगामी बना रहा; जो राज्य के वैभव का अनुवर्त्ती नहीं हुआ, किन्तु बड़े-बड़े राज्य जिसका अनुवर्त्तन करते रहे, वह सदैव अमर रहने वाला महापुरुष नागार्जुन ही था।

अन्त में एक बात और बिना कहे नागार्जुन की कथा समाप्त नहीं हो सकती—नागार्जुन के आठ सौ वर्ष पूर्व से भारत की मातृभाषा संस्कृत तिरस्कृत हुई पड़ी थी। लोग पालि और प्राकृत में लिखने और पढ़ने लगे थे। पुरातत्व में जो शिलालेख मिले हैं उनमें संस्कृत वर्णमाला तक बहिष्कृत हो चुकी थी। नागार्जुन से पूर्व—महाकवि दार्शनिक अश्वघोष को छोड़कर सारा बौद्ध-साहित्य पालि में लिखा गया, यहां तक कि स्वयं बुद्ध

भगवान का 'धम्मपद' भी। नागार्जुन को राष्ट्रभाषा का यह तिरस्कार सहन न हुआ। उन्होंने अपने सारे ग्रन्थ संस्कृत भाषा और संस्कृत लिपि में ही लिखे। उन स्वनामधन्य व्यक्तियों में नागार्जुन का नाम भुलाया नहीं जा सकता, जिन्होंने संस्कृत साहित्य के जीर्णोद्धार की आधारशिला रखी।

नागार्जुन के शून्यवाद के तीन पहलू थे। उन्हें ध्यान में रखना आवश्यक है—

(1) शून्यता।
(2) निःस्वभावता।
(3) निरालम्बता।

(1) शून्यता का अर्थ एकान्त भाव नहीं है। किन्तु पदार्थ का परमार्थ ज्ञान ही शून्यता है। जब तक हम वास्तविक सत्य तक नहीं पहुँचते तब तक एक परिज्ञात सत्य को दूसरा सत्य शून्य कर देता है। गोविन्द किसी का पिता है, किसी का भाई और किसी का मित्र। सभी सत्य हैं परन्तु परमार्थ में गोविन्द इन सत्यों से शून्य है। इसलिए सत्य दो कोटियों में विभक्त है—लोक-संवृति-सत्य और परमार्थ सत्य। जो इन दोनों कोटियों को नहीं जानते वे तत्त्व तक नहीं पहुँचे।[1] नागार्जुन के माध्यमिकवाद की व्याख्या करते हुए उनके शिष्य चन्द्रकीर्ति ने लिखा था—हम नास्तिक नहीं हैं। किन्तु पदार्थ का तत्त्व अस्ति और नास्ति से परे है, यह बताकर निर्वाण पथ को प्रशस्त करना चाहते हैं।

(2) पदार्थ को हम जिस रूप में देखते हैं, विवेक होने पर वह अन्यथा प्रतीत होता है। बहुत-सी पंखड़ियां देखकर हमें पंखड़ियों के स्थान पर ज्ञात होता है कि यह फूल है। इसलिए प्रत्यक्ष होती हुई वस्तु और है, ज्ञान कुछ और। ज्ञान प्रतीयमान से विलक्षण है। अतएव जो कुछ हम सत्य मानकर ज्ञान करते हैं वह स्वाभाविक नहीं है।[2] स्वाभाविकता निर्विकल्प और अनिर्वचनीय तत्त्व है।

(3) ज्ञान किसी के आलम्बन से उत्पन्न नहीं होता। वह स्वयं प्रकाशित होने वाला तत्त्व है। 'यह बुद्ध का दिया हुआ ज्ञान है' ऐसा कहना मिथ्या है, ज्ञान बुद्ध अथवा सारिपुत्र का नहीं है। वह निरालम्ब है। एक ऐसा अपार समुद्र, जिस पर किसी का आधिपत्य नहीं। इसलिए बुद्ध से ज्ञान मिला अथवा सारिपुत्र से, यह मान्यता मिथ्या है। ज्ञान सर्वत्र विद्यमान है ही, न वह बुद्ध से आता है, न सारिपुत्र से[3]। दर्पण में अपने मुख को देखता हूं, इस ज्ञान में सत्य कुछ नहीं है। क्योंकि दर्पण में मेरा मुख नहीं होता। तो भी प्रतिबिम्ब को हम ज्ञान का आधार मानते हैं, जो अवास्तविक है। इसी प्रकार व्यक्ति को ज्ञान का आलम्ब मानना भी मिथ्या है, क्योंकि ज्ञान स्व-प्रकाश है।

---

1. येऽनयोर्न विजानन्ति विभागं सत्ययोर्द्वयोः।
   ते तत्व न विजानन्ति गम्भीरे बुद्ध शासने॥ —मा० का० (नागार्जुन), 24/19-20
2. बुद्धैरात्मा नचानात्मा कश्चिदित्यपिदेशितम॥—नागार्जुन, मा० का० 18/6
3. नैवाल तथता न तथा गतोस्ति बिम्बे च सम्पश्यति सर्व लोकः।
   —नागार्जुन, मा० का०, 25/30-31

वस्तुतः नागार्जुन द्वारा प्रतिपादित प्रज्ञा की यह परा-कोटि परमार्थ-सत्य का विवेचन थी, जिसके लिए उपनिषदों ने लिखा था—"वह वाणी और शब्द का विषय नहीं है, केवल अन्तःकरण में मिश्री के माधुर्य की भांति अनुभव होता है। वही परमार्थ सत्य है। किन्तु स्थूल तत्त्वों तक ही जिनकी दृष्टि कुंठित हो गई है, वे इस 'परा' कोटि तक नहीं पहुंच सके। उन्होंने परमार्थ को लोक में जोड़कर सत्य को दोनों कोटियों से कलुषित कर दिया। इस अध्याय में पीछे लिखे गये माध्यमिकवाद के तीन विद्रोही सिद्धान्त वस्तुतः नागार्जुन के अनुशासन नहीं थे। किन्तु उनके पारमार्थिक[1] सत्य को व्यावहारिक जीवन में विसंघटित करके लोगों ने नागार्जुन के 'महायान' को नहीं समझ पाया। अपने नेत्र-दोष के कारण ही ठोकर खाने वाले लोग पाषाण पर दोषारोपण करें तो उपाय ही क्या है? नागार्जुन एक महान् दृष्टि लेकर आये और विश्व को उद्बोधन देकर महापरिनिर्वाण पा गये। सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन और सम्यक् चारित्र्य ही नागार्जुन का महान् अभियान था। एक महान् राजनीतिज्ञ, उद्भट दार्शनिक और अद्वितीय वैज्ञानिक के रूप में भारत के इतिहास में उनका नाम सदैव प्रतिष्ठित रहेगा। परिस्थितियां कुछ हों, सूर्य का प्रखर प्रताप इसकी चिन्ता नहीं करता। "नहि तरणिरुदीते दिक्पराधीन वृत्तिः"।

नागार्जुन की प्रतिभा से अब चारों दिशायें आलोकित थीं। वे केवल लङ्का और ब्रह्मदेश में बोधिवृक्ष की शाखा गाड़कर नहीं रह गये, किन्तु उनका महायान एशिया माइनर के मैसोपोटामिया और सीरिया तक पहुंचा। अफ्रीका तथा यूरोप में ईजिप्ट (मिश्र), रोम, यूनान, और मैसीडोनिया (ग्रीस) तक के लोग उसके अनुगामी बने, उत्तर में चीन तथा कोरिया तक उनके विचार जन-गण के जीवन संगीत हो गए, और पूर्व में इण्डोचाइना तथा पूर्वीयद्वीपसमूह उनके आलोक से जगमगा उठा था। उन्होंने बौद्ध संघ में फिर से नया जीवन आन्दोलित कर दिया। आर्य देव, असङ्ग और वसुबन्धु जैसे दार्शनिक, बोधिधर्म और अतिशा जैसे प्रचारक, धर्मकीर्ति, दिङ्नाग जैसे तार्किक, विमुक्त सेन तथा कमलशील जैसे लेखक, सुभूति और कात्यायन जैसे व्याख्याता, कुमारजीव एवं जिन मित्र जैसे अनुवादक नागार्जुन के ही सौरमण्डल में चमकने वाले देदीप्यमान नक्षत्र थे, जिन्होंने विश्व को आलोकित किया।

1. 'भावाभाव दर्शन द्वय प्रसंगो भावाभावसंसारस्वमेत्य [illegible] प्रतिपद्भावनीया"। —चन्द्रकीर्ति, मा० वृ०, पृ० 276

9

आचार्य वाग्भट

हुआ सिन्ध में जन्म, किन्तु कश्मीर-निवासी।
विद्या जिनके रही, सदा ही घर की दासी॥
मन्त्र कह गये, तन्त्र रहे उन पर भी कहते।
टिका न ज्ञानी एक तुम्हारी वाणी रहते॥

मैं युग-युग तक संसार में, साख वाग्भट की भरूं।
उन वन्दनीय आचार्य के चरण द्वन्द वन्दन करूं॥

आचार्य वाग्भट

एक युग था, भगवती सरस्वती ने कश्मीर की अधित्यकाओं को अपना निवास-स्थान चुना था। प्राकृतिक सौन्दर्य तथा वाणिज्य-व्यवसाय की समृद्धि से परिपूर्ण वह एक स्वतन्त्र राज्य था, जहां लक्ष्मी भी चिरकाल से निवास कर रही थी। तभी तो कश्मीर की राजधानी श्रीनगर वनी थी। काशी के वाद यह सौभाग्य कश्मीर को ही प्राप्त हुआ था, जहां अपना चिर-वैमनस्य भुलाकर लक्ष्मी और सरस्वती एक नहीं, अनेक शताब्दियों तक हिल-मिलकर रही थीं। वहां निवास करते हुए लक्ष्मी ने अनेक प्रतापी सम्राटों को जन्म दिया, और सरस्वती ने यश-काय में सदैव अमर रहने वाले यशस्वी विद्वानों का प्रसव किया। ई० पूर्व प्रथम शताब्दी से लेकर ई० पश्चात अष्टम शती तक कश्मीर ने भारत का जो इतिहास निर्माण किया है, भारत की सन्तान उसे कभी भूल नहीं सकेगी। आचार्य वाग्भट की यही कर्मभूमि थी।

आयुर्वेद के समस्त साहित्य में आचार्य वाग्भट का नाम वड़ी प्रतिष्ठा से लिया जाता है। चरक और सुश्रुत से उतरकर आयुर्वेद में जो कार्य वाग्भट ने किया वह किसी और से नहीं हो सका। किसी दृष्टि से भी तुलना करें, अन्य आचार्य वाग्भट की समता में नहीं पहुँचे। इसी कारण आयुर्वेद के समस्त साहित्य की वृहद्त्रयी में चरक और सुश्रुत के साथ तीसरा नाम वाग्भट के अष्टांगहृदय का ही आता है। वाग्भट से जिनका तनिक भी परिचय है, वे जानते हैं कि वाग्भट की लेखिनी से जो वाक्य लिखा गया वह मानो एक मन्त्र वन गया है। उनके छोटे-छोटे वाक्यों में सन्दर्भ-के-सन्दर्भ समाये हुए मिलेंगे। गागर में सागर देखना हो तो वाग्भट को देखना चाहिए।

वाग्भट केवल आयुर्वेद के ही विद्वान् रहे हों, ऐसी वात नहीं थी। वे साहित्य के भी ऊँचे मर्मज्ञ थे। उनकी साहित्यिक योग्यता की वानगी प्रसंग-प्रसंग पर मिलती है।

अनेक विखरे हुए तत्वों को संगृहीत कर उनकी सुन्दर शृङ्खला तैयार कर देने में वाग्भट अत्यन्त सिद्धहस्त हुए। उनकी इस योग्यता की समता करने वाला एक भी आचार्य आयुर्वेद में नहीं है। दोष, रोग और चिकित्सा का जो समीकरण उन्होंने स्थान-स्थान पर किया है, प्राचीन से लेकर अर्वाचीन तक किसी अन्य विद्वान् से वह नहीं वन सका। किसी लम्बे-चौड़े प्रसङ्ग का सार इस प्रकार निकाल देना कि जिसमें सम्पूर्ण भाव का समावेश हो और उसका सौन्दर्य भी न्यून न हो, यह वाग्भट से सीखना चाहिए।

आयुर्वेद में वाग्भट के लिखे दो महाग्रन्थ मिलते हैं—पहला अष्टाङ्गसंग्रह और और दूसरा अष्टाङ्गहृदय। अष्टाङ्गसंग्रह में अपने व्यक्तिगत परिचय के सम्बन्ध में आचार्य ने थोड़ा-सा लिखा है, यही उनका आत्म-परिचय है। उसके अतिरिक्त जो कुछ भी जाना जा सकता है, वह इतिहास के बिखरे हुए प्रमाणों के आधार पर ही। अष्टाङ्ग-संग्रह में आचार्य ने लिखा है कि उनका जन्म सिन्धु देश (सिन्ध) में हुआ था। उनके पितामह का नाम भी वाग्भट ही था। ये भी विद्वान् और ख्यातनामा वैद्य थे। इसी कारण आचार्य ने उन्हें भी 'भिषग्वर' विशेषण देकर स्मरण किया है। इन भिषग्वर वाग्भट के पुत्र सिंहगुप्त हुए, और इन सिंहगुप्त के पुत्र हमारे वर्णनीय आचार्य वाग्भट थे[1]। यह परिवार सिन्ध के किस नगर में रहता था, तथा आचार्य वाग्भट ने जन्म लेकर किस नगर को सौभाग्य-सम्पदा प्रदान की, यह बताने के लिए हमारे पास अभी तक कोई निश्चित प्रमाण नहीं है। उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर हम यह निश्चित रूप से कह सकते हैं कि जिस परिवार में उन्होंने जन्म लिया वह विद्याव्रती तथा योग्य वैद्यों का परिवार था।[2]

'कैटलॉगस् कटलोगोरम्' (Catalogues Catalogorum) ग्रन्थ में डाक्टर ऑफ़्रैक्ट महोदय ने वाग्भट की वंश-परम्परा सम्बन्धी जो खोज की है, उसके आधार पर वाग्भट के पुत्र का नाम 'तीसट' था। तीसट भी आयुर्वेद का प्रसिद्ध विद्वान् हुआ। तीसटाचार्य का लिखा हुआ 'चिकित्साकलिका' नामक एक उत्तम ग्रन्थ है। तीसट के उद्धरण आयुर्वेद ग्रन्थों के भाष्यकारों की व्याख्याओं में स्थान-स्थान पर मिलते हैं। 'माधवनिदान' की मधुकोश व्याख्या में आचार्य विजयरक्षित ने तीसटाचार्य के कुछ निदान श्लोक उद्धृत किये हैं। इन श्लोकों से तीसट में भी अपने पिता की-सी तत्त्व-संग्रहशालिनी योग्यता का परिचय मिलता है।[3] जो हो, विजयरक्षित ने तीसट के नाम के साथ आचार्य की उपाधि प्रयोग करके यह स्पष्ट कर दिया है कि तीसट भी आयुर्वेद के प्रमुख विद्वानों में गिने जाते रहे हैं और उनकी एक शिष्य-परम्परा अवश्य रही होगी।

ऑफ़्रैक्ट के अनुसार तीसट के पुत्र का नाम चन्द्रट था। तीसट के बाद उनके पुत्र चन्द्रट ने भी आयुर्वेद की गुरु परम्परा को अपनी योग्यता से अक्षुण्ण रखा। चन्द्रट भी योग्य विद्वान् था। ईसा की सातवीं शती में चन्द्रट ने 'सुश्रुत संहिता' की पाठ-शुद्धि की थी। चन्द्रट ने पाठ-शुद्धि के अन्त में अपना परिचय स्वयं लिखा है।[4] चन्द्रट के इस

---

1. भिषग्वरो वाग्भट इत्यभून्मेपितामहोनामधरोस्मि यस्य।
   सुतोऽभवत्तस्यचसिंहगुप्तस्तस्याप्यहंसिन्धुपुजातजन्मा ॥—अष्टांगसंग्रह, अ० 50
2. अष्टांगसंग्रह के प्रारंभिक मंगलाचरण में स्वयं आचार्य ने लिखा था कि मेरे पूर्वज 'वैद्यागमज्ञ' होते रहे हैं—
   "रागादि रोगास्सहजास्समूला येनाशुसर्वेजगतोप्यपास्ता:।
   तमेक वैद्यं शिरसा नमामि वैद्यागमज्ञान्स्वपितामहादीन् ॥ —अ० सं०, मंगलाचरण
3. व्यायामादपतर्पणात्प्रपतनात्…" चिकित्सा कलिका 29-31—माधवनिदान पञ्चलक्षणी व्याख्या।
4. सौश्रुते चन्द्रटेनेहभिषक्तीसट सूनुना।
   पाठ शुद्धिः कृता तन्त्रेटीकामालोक्य जेज्जटीम् ॥ —चन्द्रटशोधित सुश्रुत सं० के अन्त में।

परिचय से दो बातें असंदिग्ध रूप से सिद्ध होती हैं—प्रथम यह कि चन्द्रट ने 'सुश्रुत संहिता' की पाठ-शुद्धि स्वयं की थी, दूसरे यह कि चन्द्रट के पिता का नाम तीसट अवश्य था। चन्द्रट के पुत्र-पौत्रों के सम्बन्ध में अभी तक और जानकारी प्राप्त नहीं हो सकी, तथापि इन पाँच पीढ़ियों में इस वंश ने आयुर्वेद की जो सेवा की है वह भारतीय इतिहास में स्वर्णाक्षरों में लिखे जाने योग्य है।

अष्टाङ्गसंग्रह (उत्तर, अ० 50) में वाग्भट ने अपने अध्ययन का भी उल्लेख किया है। इस उल्लेख द्वारा वाग्भट ने किन गुरुओं से शिक्षा प्राप्त की इसका स्पष्ट ज्ञान होता है। यह भी कि वाग्भट ने अपने जिन दो पूर्वजों (पिता और पितामह) का उल्लेख किया है वे भी सिद्धहस्त चिकित्सक तथा शास्त्रों के परम विद्वान् थे।[1] वाग्भट ने लिखा है—"मुझे ज्ञान देने वाले प्रथम गुरु 'अवलोकितेश्वर' हैं। दूसरे उनसे भी गुरुतर मेरे पिता ही हैं जिन्होंने मेरी बुद्धि में ज्ञान का प्रकाश किया। शास्त्र के अष्टाङ्ग विवेचन तथा उसके तत्त्व-निर्णय का जो कार्य मैं सुचारु रूप से कर सका हूं, यह उन्हीं गुरुओं के आशीर्वाद का फल है। वाग्भट ने अपने प्रथम परिचय में अपने पितामह वाग्भट को 'भिषग्वर' विशेषण देकर स्मरण किया है, जो यह स्पष्ट करता है कि वाग्भट के पितामह उच्च-कोटि के विद्वान् और चिकित्सक थे। दूसरे इस उल्लेख द्वारा यह स्पष्ट है कि वाग्भट के पिता सिंहगुप्त भी प्रतिभाशाली विद्वान् और चिकित्सक थे। आचार्य के दोनों उल्लेखों से यह भी प्रतीत होता है कि उन्होंने जब अष्टाङ्गसंग्रह और अष्टाङ्गहृदय ग्रन्थों का निर्माण किया, उनके पिता सिंहगुप्त तथा पितामह वाग्भट जीवित नहीं थे। 'अभूत्' तथा 'अभवत्'—ये भूतकालीन क्रियाएँ दोनों पूर्वजों की अनुपस्थिति की ही प्रत्यायक हैं। 'अभूत्' लुङ् लकार का रूप है, विप्रकृष्ट भूतकाल की उससे प्रतीति होती है। और 'अभवत्' लङ् लकार का रूप होने से सन्निकृष्ट भूतकाल का अर्थ देता है। तात्पर्य यह कि पहले वाग्भट के पितामह की मृत्यु हो चुकी थी और पीछे उनके पिता का स्वर्ग-वास हुआ, जिन्हें स्वर्गवासी हुए अधिक समय नहीं हुआ था।

अब प्रश्न यह है कि वाग्भट के गुरुओं में उनके पिता श्री सिंहगुप्त के अतिरिक्त दूसरे गुरु अवलोकितेश्वर भी थे। यह अवलोकितेश्वर कौन थे?

भगवान् बुद्ध (624 ई० पूर्व से 544 ई० पू०) के उपरान्त उनके सम्बन्ध में विभिन्न प्रकार के विश्वासों का आविर्भाव हुआ। भक्तों की भावनाएँ विचारों से साकार प्रकार मूर्तियों और चित्रों के रूप में मूर्त हो गई। चूंकि भावनाएँ भिन्न-भिन्न थीं इसलिए मूर्तियां और चित्र भी भिन्न-भिन्न भाव के प्रतीक बनाये गये। साधारण रूप से उस युग के मानव ने अपने व्यावहारिक और आध्यात्मिक जीवन के पांच आदर्श बनाये। वह चाहता था पांचों आदर्शों में भगवान् बुद्ध की पवित्र सत्ता का साक्षात्कार उसे हो। इसीलिए

---

1. समधिगम्य गुरोरवलोकितात् गुरुतराच्च पितुः प्रतिभां मया।
सुबहुभेषज शास्त्र विलोकनात् सुविहितोऽङ्ग विभाग विनिर्णयः॥—अष्टांगसंग्रह, उत्तर०, अ० 50
'अवलोकिताख्यादादि गुरोः प्रतिभां बुद्धि विकासं मया अलभत।
न केवलं तस्मादेव गुरोरपितु गुरुतराच्च पितुः।"—इन्दु व्याख्या

पांचों परिकल्पनायें भगवान् बुद्ध की ही प्रतीक स्वीकार की गई। वे इस प्रकार हैं[1]—

1. अमिताभ = ध्यान मुद्रा
2. अक्षोभ्य = वरद मुद्रा
3. रत्न संभव = भूमि-स्पर्श मुद्रा
4. अमोघ सिद्धि = अभय मुद्रा
5. वैरोचन = धर्मचक्र-प्रवर्तन मुद्रा

पांचों रूप अपने में अपूर्ण हैं। वे मिलकर ही एक पूर्ण पुरुष का निर्माण करते हैं, जिसे 'बुद्ध' कहा जा सके। इसलिए बुद्धत्व-प्राप्ति के मार्ग की भावात्मक सत्ता का नाम 'बोधिसत्व' रखा गया। मनुष्यता की भूमि से बहुत ऊपर किन्तु बुद्धत्व के सिंहासन से नीचे 'बोधिसत्व' की स्थिति स्वीकार की जाती है।

यद्यपि यह पञ्चायतन भक्ति बौद्ध धर्म में कुछ नवीन कल्पना नहीं है। वह जैन-धर्म में 'आदिकर्तृन्' नाम से तीर्थङ्करों की पूजा में मिलती है। आदिनाथ, शान्तिनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ तथा महावीर स्वामी—यह पांच व्यक्तित्व मिलकर जिस एक सत्ता का निर्माण करते हैं वह 'आदिकर्तृन्' है[2]। जैनों के अतिरिक्त वैदिक धर्म में भी वही विचारधारा विद्यमान थी। 'पञ्चाग्नि परिचर्या' उसका मूल रूप है। माता, पिता, अग्नि' आत्मा और गुरु—यह पांच मिलकर परम पुरुषार्थ का निर्माण करते हैं।[3] भगवान् राम की पञ्चायतन पूजा प्रसिद्ध है।

ध्यानमग्न अमिताभ-बोधिसत्व की पूजा सबसे अधिक प्रचलित हुई है। चीन आदि विदेशों में भी जहां-जहां बौद्ध धर्म गया, अमिताभ की उपासना को उसने अपने आदर्शों में सदैव रखा। चीन के बौद्ध मन्दिरों में अन्यान्य देवी-देवताओं के साथ अमिताभ की उपासना मुख्य है।[4] क्योंकि अमिताभ की ध्यान-मुद्रा में एक नीरोग विश्व की रचना विद्यमान रहती है। ऐसा विश्व जिसमें स्वास्थ्य, सौन्दर्य और आनन्द का पवित्र राज्य हो। इसीलिए अमिताभ का दूसरा नाम 'भैषज्य गुरु' भी है। बोधिसत्व-अमिताभ

---

1. गुप्त साम्राज्य का इतिहास, भाग 2, पृष्ठ 287, तथा रायकृष्णदास लिखित 'भारतीय चित्रकला' में पृ० 30 पर अजन्ता के भित्तिचित्रों में अवलोकितेश्वर का वर्णन देखिये।
2. गुप्त साम्राज्य का इतिहास, भाग 1, पृ० 121
3. पञ्चाग्नयो मनुष्येण परिचर्या प्रयत्नतः।
   माता पिताग्निरात्माच गुरुश्च भरतर्षभः॥ —महाभारत, विदुरनीति।
4. The Chinese are lovers of beauty···Many of the Budhist temples and monestries are built on beautiful sites. Among the images we come across in the Budhist temples are : the heavenly Budḥas, among whom Gautam the Budha, Amitabha (Bḥaisajya Guru, The Physician of the World), Vairo'cana, Losancs and Dipanker are to be found.
   —India and China, Dr. Sir Radhakrishnan, p. 149.

करुणा की प्रतिमूर्ति है। करुणा, दया अथवा अहिंसा का मूर्त रूप ही 'वैद्य' है। चरक ने लिखा था--"तदा भूतेष्वनुक्रोशं पुरस्कृत्य महर्षयः। समेताः..."[1] मानव के हृदय में जब करुणा का स्रोत फूटा, वह आयुर्वेद के रूप में प्रवाहित हुआ। अहिंसा की इस अभिव्यंजना से जो हृदय प्रकाशित हो सका वही मानव से महामानव, बोधिसत्व, अथवा अमिताभ बन गया।

बोधिसत्व अमिताभ अपनी करुणा और दया से प्राणिमात्र को दुःख से उबारते हैं। परन्तु वह उद्धार परम पद तक नहीं ले जाता, केवल बोधमार्ग का पथिक बनाकर छोड़ देता है। अमिताभ दूसरों को क्लेश-मुक्ति के प्रयत्न में अपनी मुक्ति का परित्याग करता है, परन्तु उससे आगे निर्वाण-पथ पर अग्रसर होने के लिए जिस महान् बोधिसत्व का अवलम्ब प्राप्त होता है, वही अवलोकितेश्वर है[2]।

जिस प्रकार वैदिक देवताओं में ब्रह्मा के साथ सरस्वती की कल्पना मिलती है, उसी प्रकार बौद्ध धर्म की महायान विचारधारा में अवलोकितेश्वर के साथ 'मञ्जुश्री' की कल्पना की गई है। दोनों ही करुणा और ज्ञान के प्रतीक हैं। परन्तु 'मञ्जुश्री' स्त्री नहीं, पुरुष है। कभी-कभी अवलोकितेश्वर के साथ एक देवी की मूर्ति भी मिलती है। इसका नाम 'तारा' है। वह भी बोधिसत्वों की गणना में है।

मूर्तिकला में बोधिसत्वों की प्रतिमाएं बैठी तथा खड़ी हुई मिलती हैं। खड़ी हुई अवलोकितेश्वर की प्रतिमा सारनाथ के संग्रहालय में विद्यमान है। यह प्रतिमा कमल पर खड़ी हुई बनाई गई है। इसका दाहिना हाथ खंडित है, परन्तु बायें हाथ में कमल है। इसी कारण अवलोकितेश्वर को 'पद्मपाणि' भी कहते हैं। जिस मूर्ति में दाहिना हाथ भी है वह वरद मुद्रा में उत्कीर्ण है। अवलोकितेश्वर का ऊपरी शरीर अनावृत तथा अधःकाय वस्त्र से वेष्ठित रहता है। कटि प्रदेश अलंकृत कटिबन्ध (करधनी) से सुशोभित रहता है। उत्तरीय वस्त्र का अन्तिम भाग दाहिनी ओर ग्रन्थि रूप में शोभित है। कर्ण में मण्डलाकार अवतंस के साथ गले में हार धारण किये हुए हैं। भुजा में मकराकृति केयूर तथा रत्नजटित कङ्कण हैं। सिर पर रत्नजटित मुकुट शोभित

---

1. चरक सूत्र 1/7
2. Bodhisattwas are angels of mercy and knowledge, who have indefinitely postponed their entry into nirvana for the sake of helping suffering humanity. The great Bodhisattwas like Avalokiteshwara and Manjushri decline to enter nirvana, so that they may be able to alleviate the sufferings of the world. Bodhisattwas are emanations of the Budhas and have a beginning. They are not creaters of the world but are helpers of mankind. The Bodhisattwas ideal answers to the Hindu conception of Avatar.

   —*India* and China : Dr. Sir Radhakrishnan, p. 121

है। बालों का कुछ भाग कन्धों पर लटका है। अवलोकितेश्वर के कमलासन के नीचे प्रेत की आकृतियां उत्खचित हैं, जिन्हें अवलोकितेश्वर अमृतपान करा रहे हैं।[1]

वैदिक कल्पना में धन्वन्तरि का भी प्रायः यही रूप है जो पद्मपाणि विष्णु के अवतार हैं। करुणा और ज्ञान के अधिष्ठाता अवलोकितेश्वर आचार्य वाग्भट को विद्वत्ता के लिए ज्ञान तथा आयुर्वेद की सेवा के लिए करुणा की प्रेरणा देने वाले प्रथम आचार्य थे। इसी भाव को व्याख्याकार इन्दुकर ने लिखा है—"अवलोकिताख्यादादि गुरोः प्रतिभां बुद्धिविकासं समधिगम्य।" परन्तु इन अलौकिक गुरु की अपेक्षा वाग्भट ने लौकिक गुरु अपने पूज्यपाद पिता को अधिक सम्मान दिया है—'गुरुतरात्' विशेषण उसे भली प्रकार स्पष्ट करता है। पिता का गौरव गुरु से अधिक है।[2] जिस व्यक्ति को गुरु होने के साथ-साथ पिता होने का सौभाग्य भी प्राप्त हो, वह निस्सन्देह 'गुरुतर' है। सिंहगुप्त ऐसे ही सौभाग्यशाली थे।

वाग्भट का जन्मस्थान

आचार्य वाग्भट ने अपने जन्मस्थान का परिचय स्वयं ही दिया है। वे सिन्ध में पैदा हुए थे।[3] इसका अर्थ यह भी है कि वाग्भट के पूर्वज सिन्ध के रहने वाले थे। किन्तु जिस युग में वाग्भट का जन्म हुआ, सिन्ध की राजनैतिक अवस्था बड़ी अस्तव्यस्त थी। आगे काल-निर्णय के प्रसंग में हम बतायेंगे कि वाग्भट के समय (420 से 525 ई०) सिन्ध में भीषण संघर्ष था।

ईसा से 326 वर्ष पूर्व सिकन्दर के आक्रमण के उपरान्त भारत के पश्चिमोत्तर प्रदेश से विदेशी जातियाँ एक के बाद दूसरी आक्रमण करती ही रहीं। यूनानी आक्रमणों के उपरान्त मौर्य-साम्राज्य के पतन के साथ शक और हूण जातियों ने भारत पर नये हमले प्रारम्भ कर दिये थे।[4] यह 176 ई० पूर्व था। यद्यपि मौर्यों की सबल शासन-सत्ता के विरुद्ध ये भारत में प्रवेश न पा सके तो भी बलख (Bactria), दर्दिस्तान (दरद देश), पामीर-हिन्दूकुश (निषध देश) के आस-पास ये जम गये थे और छोटे-छोटे राज्य स्थापित करने में सफल हो गये[5]। वहां से ये लोग सिन्ध होते हुए भारत की ओर अग्रसर हुए।

लगभग 120-115 ई० पूर्व सिन्ध में शकों की ऐसी सत्ता जम गई थी कि

---

1. गुप्त साम्राज्य का इतिहास, भाग 2, पृ० 288
2. उपाध्यायान्दशाचार्यः आचार्याणां शतं पिता।
   सहस्रं तु पितॄन्माता गौरवेणातिरिच्यते॥ —मनु० 2/145
3. भिषग्वरो वाग्भट इत्य भून्मे पिता महो नामधरोऽस्मियस्य।
   सुतोऽभवत्तस्य च सिंहगुप्तस्तस्याप्यहं सिन्धुषुजात जन्मा॥
   —अष्टाङ्गसंग्रह, अ० 50, उत्तर स्थान
4. कुषाण, ऋषिक, हूण तथा शक एक ही जाति के भाई-बन्धु थे। कुषाण उनके एक पूर्वज का नाम था।—भारतीय इतिहास की रूपरेखा, अ० 178, भाग 2
5. भारतीय इतिहास की रूपरेखा, भाग 2, पृ० 897-98

पश्चिमी देशों के लोग उसे 'इन्दो स्कुथिया' अर्थात् हिन्दी शक स्थान कहने लगे थे। यहां पर शकों की राजधानी सिन्धु नदी के किनारे 'मीन-नगर' थी।[1] समरकन्द और ताशकन्द से उतरकर इन बर्बर आक्रान्ताओं के जत्थे सिन्ध के मुहाने तक जगह-जगह आबाद हो गये थे।

शक लोग भारत में कैसे आये, इस पर जैन अनुश्रुति का कालकाचार्य कथानक प्रकाश डालता है। राजा गर्दभिल्ल से तंग आकर जैन आचार्य कालक उज्जैन से चला आया। वह पारस या पार्श्व कुल (फारस) पहुँचा। वहाँ नाग-कुल (शकों के कबीले के राज्य में) रहने लगा। वहां का सबसे बड़ा राजा 'साहानुसाही' कहलाता था। साहानुसाही ने दूसरे शक सरदारों के पास अपने दूत द्वारा एक कटारी भेजी और कहला भेजा कि यदि उन्हें अपने परिवार बचाने हों तो अपना सिर काटकर भेजें नहीं तो लड़ाई में सामने आएं। कालक जैन ने उन सरदारों से कहा—क्यों अपने को मरवाते हो, चलो हिन्दुग देस (सिन्धु देश) चलें। उन छियानवे शक सरदारों ने कालक की सलाह मान ली और अपनी सेना-सहित कालक के साथ भारत आये। सिन्ध में डेरा डालकर सुराष्ट्र (कच्छ-काठियावाड़) पहुँचे और वहां शक वंश स्थापित हो गया। फिर दक्षिण गुजरात के राजाओं को साथ लेकर उज्जयिनी पर आक्रमण किया। क्योंकि कालक जैन उज्जैन के राज्य से अप्रसन्न था। यह घटना 123 ई० पूर्व से 100 ई० पूर्व की है[2]।

समरकन्द और ताशकन्द की ओर से होने वाले शक, हूण और कुषाणों के निरन्तर आक्रमणों का फल यह हुआ कि 200 ई० पूर्व से लेकर 200 ई० पश्चात् तक तक्षशिला छः बार बरबाद और आबाद हुई, यद्यपि तक्षशिला के चारों ओर 15 से लेकर $21\frac{1}{2}$ फुट मोटी दीवार का प्राकार विद्यमान था। इस प्रकार ईसा की प्रथम शताब्दी तक इन्होंने सिन्ध, सौराष्ट्र तथा मालवा तक दक्षिण में अपना राज्य स्थापित कर लिया। और एक बार तो आक्सस से लेकर बंगाल की खाड़ी तक, कश्मीर से पंजाब, सिन्ध तथा काठियावाड़ तक इनका राज्य हो गया। नागवंशी भारशिव सम्राटों ने वीरता-पूर्वक इनको यहां से खदेड़ा।[3] ईसा की प्रथम और द्वितीय शताब्दियां इसी संघर्ष में व्यतीत हो गईं। तो भी ये बर्बर लोग हमारी सीमाओं पर मंडराते ही रहे।[4]

शक लोग उत्तर-पश्चिम में शासन करने वाले हूणों के सूबेदार (क्षत्रप) बनकर भारत में रहे और धीरे-धीरे स्वयं ही शासक बन गये तथा अपने को महाक्षत्रप

---

1. भारतीय इतिहास की रूपरेखा, भाग 2, पृ० 165
2. भारतीय इतिहास की रूपरेखा, भाग 2, पृ० 164
3. गुप्त साम्राज्य का इतिहास, भाग 1, गुप्तपूर्व काल।
4. The fifth city, to which the major part of the excavated city belongs, has been thought to belong to Indo-Parthian times (1st Century A.D.) and the sixth to the time of the early Kushans under whom the city was moved to a new site (Sir Sukh) further North.

—Taxila, Ancient India. No. 4. p. 42

कहने लगे। ईसा की प्रथम शताब्दी पूर्व से तृतीय शताब्दी के अन्त तक इन विदेशी जातियों का विस्तार भारत में होता ही रहा। ई० सन् 319-20 से गुप्तवंश का शासन प्रारम्भ हुआ। इस समय तक न केवल सिन्धु और सौराष्ट्र प्रत्युत मध्यभारत और गङ्गा-यमुना के दोआबे तक इनका राज्य जम गया था। मथुरा के समीप प्राप्त एक लेख में कुषाण राज्यों के लिए 'महाराजा, राजातिराजा, व देव-पुत्र' की उपाधि का उल्लेख मिलता है। 319 ई० में सांची तक शक नरेशों के शासन-लेख प्राप्त होते हैं।

176 ई० में कनिष्क के वंशज कुषाण राजा वासुदेव (प्रथम) को परास्त कर नागवंशी राजाओं का कान्तिपुर, मथुरा, पद्मावती, अहिच्छत्रा और चम्पावती आदि केन्द्रों में राज्य स्थापित हो गया था। 300 ई० तक इन नागवंशी सम्राटों ने भारतीय सभ्यता और संस्कृति को अत्यन्त प्रोत्साहन दिया। शैव धर्म की प्रतिष्ठा इन्होंने ही की थी।[1]

प्रथम चन्द्रगुप्त तथा उसके पुत्र समुद्रगुप्त (255 ई० से 375 ई० तक) के साथ हूणों के क्षत्रप तथा शक मुरुण्ड (स्वामी) सन्धि तथा मित्रता की नीति से वर्ताव करते रहे। किन्तु समुद्रगुप्त के पराक्रमी शासन के उपरान्त उसका ज्येष्ठ पुत्र रामगुप्त अत्यन्त भीरु और कायर राजसिंहासन पर बैठा। उसके समकालीन शकाधिपति ने रामगुप्त पर आक्रमण कर दिया। रामगुप्त ने सन्धि का प्रस्ताव रखा। सन्धि में रामगुप्त ने अपनी महारानी 'ध्रुवदेवी' शकराज को देना स्वीकार कर लिया। रामगुप्त के छोटे भाई चन्द्रगुप्त (द्वितीय) को यह अपमान असह्य हो उठा। उसने अपने बड़े भाई रामगुप्त की हत्या करके स्वयं ध्रुवदेवी का वेश बनाया। वह एक सुन्दर राजकुमार था, स्त्री-वेश में पहचानना कठिन था। ध्रुवदेवी के वेश में वह शकाधिराज के शिविर में चला गया। शकाधिराज ध्रुवदेवी समझकर ज्यों ही उसके समीप पहुंचा तुरन्त चन्द्रगुप्त ने उसे भी मार डाला। इसके उपरान्त चन्द्रगुप्त ने जीवनभर शकों का संहार कर उन्हें भारत भूमि से बाहर निकाल देने का व्रत लिया। वह इस महाव्रत में सफल हुआ। इसी कारण इस सम्राट् को 'शकारि' तथा 'विक्रमादित्य'—ये दोनों विरुद प्राप्त हुए।

चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य तथा शकाधिपति की यह घटना जहां घटी वह स्थान हिमालय पर्वत पर अल्मोड़ा के समीप कार्तिकेय नगर (कार्तिकेयपुर) है। 'काव्यमीमांसा' के लेखक राजशेखर ने ईसा की सातवीं शती में तथा 'हर्ष-चरित' में बाण ने सातवीं शती में उक्त घटना का उल्लेख अपने ढंग से किया है।[2]

---

1. गुप्त साम्राज्य का इतिहास, भा० 1, पृष्ठ 15-24
2. हत्वा रुद्धगति खसाधिपतये देवींध्रुवस्वामिनीम्।
   यस्मात खण्डित साहसो निववृते श्री शर्मगुप्तो नृपः॥
   तस्मिन्नेव हिमालयेगिरि गुहाकोण क्वणत्किन्नरे—
   गायन्ते तव कार्तिकेय नगर स्त्रीणां गणैः कीर्तयः॥

   —काव्यमीमांसा

   कामिनी वेषगुप्ताः चन्द्रगुप्तः शकाधिपतिमशातयत् हर्षचरित।

समुद्र गुप्त की मुद्रायें

समुद्र गुप्त की मुद्रायें

प्रधान मुद्रा

चन्द्रगुप्त मुद्रा

केश मुद्रा

युद्ध मुद्रा

सिंह मुद्रा

अश्वमेध मुद्रा

समुद्र गुप्त की मुद्रायें

संगीत मुद्रा

कुमारी शोभना विश्नोई के सौजन्य से प्राप्त

शकों के दो राजवंश भारत में राज्य करते थे। प्रथम प्रतापी शकराजा 'नहपान' था। यह अपने को क्षहरात वंश का मानता था। नासिक तथा कार्ले की गुफाओं में नहपान के जामाता उषवदात के लेख मिले हैं। इनसे प्रकट होता है कि नहपान का राज्य नासिक, पूना से लेकर मालवा, गुजरात, सौराष्ट्र तथा राजस्थान के पुष्कर नामक स्थान तक था। दूसरे क्षत्रप राजवंश का संस्थापक 'चष्टन' था। भारतीय सम्राटों द्वारा नष्ट किये गये नहपान के राज्य को इसने ही पुनः स्थापित किया और उज्जयिनी को अपनी राजधानी बनाया। चष्टन के पौत्र महाक्षत्रप 'रुद्रदामन' का एक शिलालेख काठियावाड़ के गिरनार पर्वत पर पाया जाता है। इसमें उसके राज्य-विस्तार का वर्णन है उसने मालवा, सौराष्ट्र, कच्छ, राजस्थान, कोंकण तथा सिन्ध के प्रदेशों को जीतकर एक विशाल साम्राज्य की स्थापना की थी। यह लेख सन् 78 ई० में खुदवाया गया था। उज्जैन के क्षत्रप वंश में 22 राजाओं की नामावली मिलती है, जिन्होंने ई० सन् 78 से चतुर्थ शताब्दी तक राज्य किया।[1]

शक लोग बड़े अत्याचारी शासक थे। टैक्सों तथा लूटों द्वारा प्रजा का धन अपहरण करने में इन्होंने कोई अत्याचार शेष नहीं छोड़ा। हिन्दू सभ्यता तथा संस्कृति के ये घोर शत्रु थे। भारतीय स्त्रियों का सतीत्व नष्ट करना इनके बाएं हाथ का खेल था। भारतीय आदर्शों का सम्मान इनकी दृष्टि में रंचमात्र भी न था। पुराणों में इनके अत्याचार का चित्रण इन शब्दों में किया गया है—"स्त्री बाल गो द्विजघ्नाश्च परदार धनाहृताः।"[2] अपने राज्यारोहण के समय से जीवन-पर्यन्त (380 ई० से 412 ई० तक) इन आततायी शासकों का विध्वंस करते हुए विक्रमादित्य चन्द्रगुप्त ने भारत के भाग्याकाश को एक वार फिर से उज्ज्वल कर दिया।

चन्द्रगुप्त प्रथम के उपरान्त समुद्रगुप्त, चन्द्रगुप्त (विक्रमादित्य), कुमारगुप्त तथा स्कुन्दगुप्त तक गुप्त शासन का उत्कर्ष-काल चला। 455 ई० से 467 ई० तक स्कन्द के शासनकाल में वार-वार अपनी शक्ति संग्रह करके हूण और शक आक्रमण करते ही रहे। परन्तु स्कन्दगुप्त के सामने उनकी एक न चली। 456 ई० में स्कन्दगुप्त ने इन म्लेच्छों को परास्त कर दिया था।[3] वे हारकर पीछे लौट गये। परन्तु स्कन्द के उपरान्त हूणों ने अपना वल फिर संचित किया और आक्रमण शुरू कर दिये। स्कन्दगुप्त के कोई पुत्र न था। इसलिए उत्तराधिकार के लिए संघर्ष चला। इस संघर्ष में सौराष्ट्र तथा मालवा के पश्चिमी भाग गुप्त शासन से सदा के लिए निकल गये। इस अव्यवस्था से सिन्ध का प्रदेश फिर अशान्त और विक्षुब्ध हो गया। क्योंकि हूणों का वहीं मुख्य मार्ग था। 510 ई० में हूणों ने मध्यभारत में सम्राट भानुगुप्त के सेनापति गोपराज को मार

---

1. सन् 78 ई० शक संवत का प्रारम्भ गिना जाता है। कुछ लोग 123 ई० पूर्व से मानते हैं। शक राजा कनिष्क 78 ई० में ही राजगद्दी पर बैठा। कनिष्क के सिक्कों पर 'शाओनानो शाओ कनिष्कि कोशानु' अर्थात् शाहंशाह कनिष्क कौषाण लिखा रहता है।

—भारतीय इतिहास की रूपरेखा, भाग 2, पृ० 189

2. स्त्री, बच्चों, गौ, ब्राह्मण के हत्यारे एवं परायी स्त्री व धन को लूटने वाले।

—गुप्त साम्राज्य का इति०, भाग 1, पृ० 90-91

3. हूणैर्यस्य समागतस्य समरे दोर्भ्यां धरा कम्पिता।"-भितरी का स्तम्भ लेख।

डाला।[1] यद्यपि विजय भानुगुप्त को ही मिली, तो भी स्थिति निरापद न हुई। पश्चिमी भारत में हूणों के लेख तथा सिक्के भूगर्भ से मिले हैं, जिनसे पंजाब से मध्य भारत तक उनकी स्थिति स्पष्ट होती है।[2]

स्कन्दगुप्त के उपरान्त गुप्त शासन दो वंश परम्पराओं के हाथ बंट गया। पहला पुरगुप्त का वंश था, यह स्कन्दगुप्त का भाई था। दूसरा बुध गुप्त का वंश था। कुमार गुप्त प्रथम के दो पुत्र थे पहला स्कन्द गुप्त, दूसरा पुरगुप्त। इस पुरगुप्त के नरसिंह गुप्त और नरसिंह गुप्त के कुमारगुप्त (द्वितीय) हुआ। इसके अनन्तर इस वंश के किसी योग्य अधिकारी का पता नहीं लगता।

दूसरे बुधगुप्त का वंश था। यह किसकी पीढ़ी में था, अभी तक निश्चित नहीं हो सका। इसका क्रम यों है—(१) बुधगुप्त, (२) तथागत गुप्त, (३) भानुगुप्त-बालादित्य, (४) वज्रगुप्त। इसके उपरान्त यह वंश भी समाप्त हो गया। गुप्तों के इसी अवनति-काल (467 ई०–544 ई०) में वाग्भट का सिन्ध प्रदेश में आविर्भाव हुआ, जब चारों ओर विद्रोही शक्तियां अपना सिर उठा रही थीं। एरण (मध्य भारत) तथा दामोदरपुर (उत्तरी बंगाल) से प्राप्त सिक्कों तथा शिलालेखों से ज्ञात होता है कि गुप्तों के इन अन्तिम सम्राटों के प्रयत्न करने पर भी शक तथा हूण दबाये नहीं जा सके थे।[3] 475 ई० में कुमारगुप्त द्वितीय की मृत्यु के उपरान्त बुधगुप्त राज्य का उत्तराधिकारी बना। 494–495 में यह सम्राट् परलोक सिधार गया। परन्तु उसके जीते जी सन् 485 ई० बाद उसके अनुवर्त्ती राजा मातृ-विष्णु तथा उसके अनुज धन्यविष्णु ने हूण सरदार तोरमाण की अधीनता स्वीकार कर ली। निश्चय ही यह गुप्त शासन की नैतिक पराजय थी। सर्वप्रथम 455 ई० में हूणों ने गुप्त शासन पर आक्रमण किया। 485 ई० में उनका अधिकार भारत के एक विस्तृत भूभाग पर हो गया था। हां, 512 ई० में एरण में भानुगुप्त-बालादित्य ने तथा 532 ई० में मालव सम्राट् यशोवर्मा ने पंजाब में उन्हें पराजित किया[4]।

इस काल में भारत में शासन करने वाले सर्वप्रथम हूण सरदार तोरमाण (तुर्मान्) का नाम मिलता है। ह्वेनसांग के वर्णन से ज्ञात होता है कि इसकी राजधानी पंजाब में स्थित शाकल (स्यालकोट) नगर थी। इसके सिक्के तथा लेख पंजाब से लेकर मध्य-भारत (एरण) तक मिले हैं। ये सिक्के चांदी के हैं, जिन पर 'विजितावनि रवनिपति श्री-तोरमाण' लिखा रहता है। एरण में ही प्राप्त इसके एक लेख से मातृविष्णु तथा धन्य विष्णु द्वारा अधीनता स्वीकार करने का परिचय मिला है।

तोरमाण के पश्चात इसके पुत्र मिहिरकुल ने शासन किया। मिहिरकुल के लेख तथा सिक्कों के प्राप्ति-स्थानों से ज्ञात होता है कि इसका साम्राज्य भी विस्तृत था। मिहिरकुल के सिक्के समूचे पंजाब में प्रचुर मात्रा में मिले हैं। इसके सिक्कों पर एक

1. एरण का स्तम्भ लेख, गुप्त सं० 191
2. एरण में तोरमाण का शिलालेख तथा ग्वालियर का शिलालेख (मिहिरकुल का, 15वें वर्ष का)
3. एरण का स्तम्भ तथा दामोदरपुर का ताम्रलेख।
4. मन्दसोर के दो लेख।

ओर नन्दि की मूर्ति है, उसके अधोभाग में (जयतु वृष) लिखा है। दूसरी ओर घोड़े पर सवार राजा की मूर्ति है, तथा 'मिहिरकुल' या 'मिहिरगुल' लिखा रहता है। इसका एक लेख ग्वालियर में मिला है। इससे प्रकट होता है कि इसका राज्य भी पंजाब से सिन्ध, कच्छ, काठियावाड़ एवं राजस्थान होते हुए मध्यभारत तक था। कहना नहीं होगा कि शक भी हूणों की ही एक अवान्तर शाखा थी। जब हम हूण कहते हैं, तो शकों का उसी में समावेश रहता है[1]।

ऊपर के लेखानुसार 455 ई० से 532 ई० तक, कुल 77 वर्ष, हूण और शक स्वच्छन्द शासक एवं सम्राट् बनकर भारत में रहे। 532 ई० में उनके शासन का अन्त हो गया और हूण अथवा शक-देश भारत में न रहा। वाग्भट ने 'अष्टाङ्गहृदय' में भारत में 'शक-देश' का उल्लेख किया है[2]। इस कारण हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि वाग्भट का जन्म इसी काल के प्रारम्भ में (450 ई०) हुआ होगा। सिन्धु देश विदेशी आततायियों से पदाक्रांत होने पर उन्होंने सिन्ध का निवास त्यागकर कश्मीर का अधिवास स्वीकार कर लिया था।

कहते हैं, आचार्य वाग्भट की कन्या परम विदुषी एवं रूप-लावण्यमयी थी। एक बार म्लेच्छ राजा की दृष्टि उस पर पड़ गयी। इस अनुपम रूपराशि को देखकर म्लेच्छ-राज सब कुछ भूलकर उस पर आसक्त हो गया। कामी म्लेच्छराज ने कन्या दे देने के लिए वाग्भट के पास अपना सन्देश भेजा। आत्माभिमानी पिता ने अपनी कन्या एक विदेशी म्लेच्छ सम्राट् को देने से इनकार कर दिया। जब बादशाह ने देखा कि वाग्भट सीधे-सीधे कन्या उसके हवाले करने को तैयार नहीं है, तो उसने बलपूर्वक कन्या को पकड़ लाने के लिए अपने सिपाही भेज दिये। म्लेच्छ परम्परा के अनुसार सिपाही घर में घुस कर बलपूर्वक कन्या को पकड़कर ले चले। असहाय पिता का हृदय अपनी पुत्री की यह दुर्दशा देखकर रो पड़ा। पिता को रोते देखकर नश्वर-रूप लावण्य को धिक्कारती हुई असहाय विदुषी कन्या पिता से यह कहती चली गई—

"तात वाग्भट ! मा रोदि, कर्मणां गतिरीदृशी।
दुष्धातोरिवास्माकं गुणो दोषाय कल्पते॥"[3]

—पूज्य पिताजी ! रो-रोकर अपने मन को दुःखी न कीजिये। जन्म देते समय भगवान ने मुझे यह अनुपम रूप-लावण्य दे दिया, यह उनकी करुणा थी। मेरे ही पूर्वजन्म के कोई कर्म इतने अधम हैं कि करुणानिधान की दया भी मेरा संकट न रोक सकी। यह सौन्दर्य का गुण मेरे लिए वैसे ही दोष बन गया जैसे दुष् धातु को गुण का योग दोष बना देता है[4]। सच है, करनी बड़ी प्रबल है। यही देखकर सन्त सूरदास ने लिखा था—

1. पीछे कहा जा चुका है कि शक हूणों के क्षत्रप बनकर भारत में रहे थे, पीछे वे भी शासक बन गये। क्योंकि ईसा की प्रथम शताब्दी में शक सम्राट कनिष्क शासन कर चुका था। अतः शकों फिर से शासक होने की महत्वाकांक्षा उनमें विद्यमान थी। शकों से मतलब नाग था, हूणों से तुर्क एवं कुषाण मिले-जुले।
2. "तस्य गन्धारसन्ताने हिमवच्छक देशजान्।"—अष्टाङ्गहृदय, उत्तर. 39/116
3. स्वर्गीय पूज्यपाद गोस्वामी दामोदरदास शास्त्री, काशी द्वारा ज्ञात।
4. संस्कृत व्याकरण में दुष् धातु को गुण होने से ही 'दोष' शब्द की निष्पत्ति होती है।

'ऊधो ! करमन की गति न्यारी'। सौन्दर्य जैसा गुण भी जिसके लिए सर्वातिशायी दोष बन गया हो, वह असहाय कन्या ऐसी विपत्ति के समय इससे अधिक और क्या कर सकती थी ?

यह अत्याचारी तोरमाण या मिहिर कुल में से कोई एक था।

इस अवस्था में आचार्य वाग्भट के परिवार का सिन्ध में टिकना निश्चय ही असंभव हो गया होगा। और तभी वे सिन्ध छोड़कर कश्मीर चले गये। सिन्ध युगों तक कश्मीर के शासन में रहा है। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के पराक्रम के फलस्वरूप हिमालय के प्रदेश इन शक और हूण आततायियों से खाली हो गये थे। भारत के विद्वानों का केन्द्र कश्मीर बन गया था। अपनी विद्या का प्रकाश आचार्य ने कश्मीर में रहकर ही किया। अष्टाङ्गसंग्रह और अष्टाङ्गहृदय दोनों विशाल ग्रन्थ कश्मीर में ही लिखे गये। आचार्य वाग्भट के शिष्य इन्दुकर ने अष्टाङ्गसंग्रह की व्याख्या लिखते हुए स्पष्ट लिखा है—'इत्याचार्यस्य देश सिद्धा: काश्मीरका:—"[1] अर्थात् आचार्य के देशवासी कश्मीरी लोग ऐसा मानते हैं। इन्दुकर से अधिक प्रामाणिक लेख आचार्य वाग्भट के लिए और नहीं हो सकता। इन्दुकर ने आचार्य वाग्भट से ही आयुर्वेद पढ़ा था। इसके अतिरिक्त वाग्भट की लिखी हुई अनेक वस्तुओं का परिचय इन्दुकर ने कश्मीर के व्यावहारिक जीवन द्वारा ही दिया है।[2] तात्पर्य यह कि सिन्ध छोड़कर आचार्य वाग्भट ने अपना सम्पूर्ण जीवन काश्मीर में व्यतीत किया, इसमें कोई सन्देह नहीं है। उनकी शैली, भाषा और साहित्य में काश्मीर की शीतलता, सुन्दरता और सुवास है।[3]

शिष्य-परम्परा

आचार्य वाग्भट के समय (450 ई०) तक तक्षशिला का विश्वविख्यात शिक्षा केन्द्र वैसा उन्नत नहीं रहा था जैसा वह मौर्यों के युग में (200 ई० पूर्व तक) था। हूणों और शकों के वर्बर आक्रमणों ने उसे छिन्न-भिन्न कर डाला। यही कारण है कि भारत के उत्तर पश्चिमी प्रदेशों के विद्वान् कश्मीर, काशी (ऋषिपत्तन), अथवा नालन्दा चले गये। विद्वानों का वह प्रदेश वर्बरों का प्रदेश बन चुका था। वाल्हीक (शालातुर) जहां पाणिनि जैसे विद्वान जन्मे थे, अब कुषाण, हूण और शकों जैसे असभ्य और आततायी कबीलों का केन्द्र बन गया था। तक्षशिला की अब पाणिनि, कौटिल्य, कौमार भृत्यजीवक जैसे धुरन्धर आचार्य पैदा करने की कथायें मात्र शेष रह गयीं थीं। अत्यन्त आवश्यकता

---

1. अष्टाङ्गसंग्रह, उत्तर स्थान, अध्या० 49 (लशुन रसायन)
2. सुनिषण्ण गण्डी जल मध्ये भवति, पर्वैश्चाङ्गेरी सदृशैर्यः काश्मीरेषु शूल्येषुचाति प्रसिद्धः'।—अष्टाङ्गसंग्रह, सू० अ० 7
 —'कुथ, कम्बल, रल्लक, हसन्तिका आदि वस्तुयें पहाड़ी नगरों में व्यवहृत होती हैं, अष्टा० हृदय; चि० 1/142 में इनका उल्लेख है। चक्रपाणि ने चरक चि० 3/112-115 में लिखा है कि कश्मीरी लोग विषमज्वर को पित्त ज्वर से भिन्न मानते हैं, और वाग्भट ने विषम ज्वर को भिन्न ही लिखा है।—अष्टाङ्गहृदय, चि० 1/167
3. अष्टाङ्गहृदय, उत्तर० 39–40

नालन्दा विश्वविद्यालय (400 ई.) के भग्नावशेष
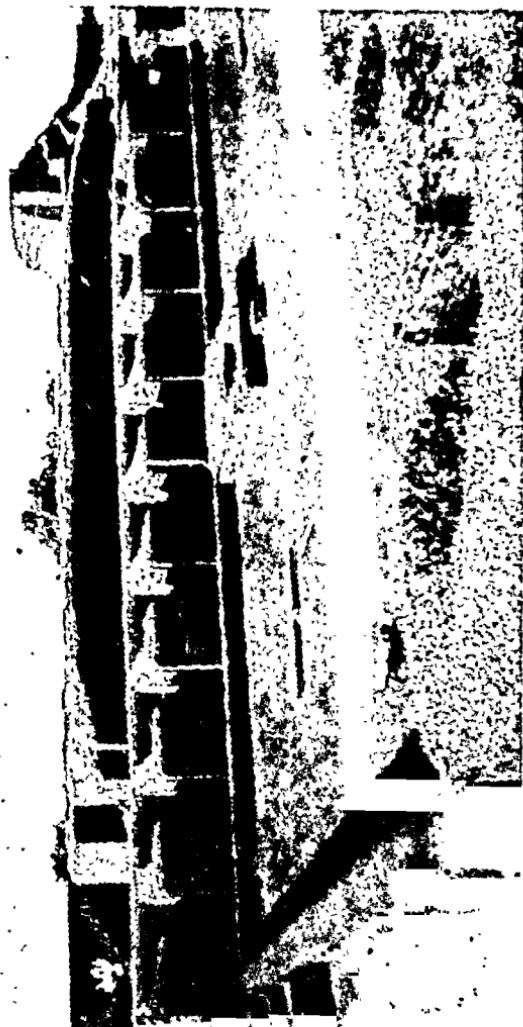
इस बात की थी कि विद्वानों को कहीं सुरक्षित आश्रय प्राप्त होता। बर्बर आक्रमणों का प्रवेशद्वार होने के कारण भारत के बाल्हीक, गन्धार, पंचनद (पंजाब) तथा सिन्धु देश में वह संभव ही न था। इस कारण ईसा की प्रथम शताब्दी से चौथी शताब्दी तक विद्वानों का कोई एक केन्द्र भारत में नहीं रह सका।

बौद्धयुग में पालि भाषा का प्राचुर्य था। उसके पश्चात् हूणों और शकों ने अपनी भाषाओं का भी समर्थन किया। तुर्क और ग्रीक भाषायें भी सिक्कों पर मिली हैं। सर्व-साधारण में प्राकृत और अपभ्रंश भाषायें चल रही थीं। भाषा-भेद के कारण सामाजिक जीवन छिन्न-भिन्न होने लगा था। फल यह हुआ कि भारत की जनता ने फिर से अपनी पुरानी भाषा गीर्वाणी (देवगिरा) को राष्ट्रीय साहित्य के सिंहासन पर अभिषिक्त कर दिया। 250 ई० में वाकाटक राजाओं के संरक्षण में वैदिक सभ्यता का सन्देश लेकर देवगिरा फिर से सम्मानित हुई। संस्कृत को वाकाटक सम्राटों ने राष्ट्रभाषा बना दिया। घरों में स्त्रियां तथा दास पालि या अपभ्रंश प्राकृत भाषा भले ही बोलते रहे हों, किन्तु सभ्य समाज में पुरुष संस्कृत बोलते तथा लिखते थे। कालिदास, भवभूति, विशाखदत्त और शूद्रक आदि कवियों के ग्रन्थ यह स्पष्ट करते हैं। यों तो ईसा की प्रथम शताब्दी तक संस्कृत जागरूक भाषा बन गई थी, अश्वघोष ने 'बुद्धचरित' उसी युग में संस्कृत में ही लिखा था, किन्तु 150 ई० में वह राष्ट्रभाषा बन गई। वैदिक सभ्यता के आधार पर भारत को फिर से एक राष्ट्र बनाने की आधारशिला वाकाटकों ने रखी, और उनके अनुगामी गुप्तों ने उस पर भव्य भवन का निर्माण किया। इसीलिए गुप्तकाल के विद्वानों की भाषा संस्कृत भाषा ही थी। वाग्भट संस्कृत के उच्चकोटि के विद्वान थे। उन्होंने सम्पूर्ण साहित्यिक कार्य संस्कृत भाषा में ही किया।

वाग्भट जिस वंश में पैदा हुए वह विद्वानों का वंश था। गुरु-शिष्यों की परम्परा का उसने एक आदर्श निर्माण किया। परन्तु विद्वानों के जो केन्द्र इस युग में बन रहे थे उनमें नालन्दा सबसे प्रधान था। गुप्त सम्राट् कुमारगुप्त (प्रथम) ने (414 से 451 ई०) इस महान विद्या-केन्द्र की स्थापना की थी। पाटलिपुत्र का बौद्ध विद्यापीठ कनिष्क के आक्रमण ने नष्ट-भ्रष्ट कर दिया था। नागार्जुन ने उसे फिर से सजीव तो किया किन्तु अब परिस्थितियां बदल गई थीं। वह बात फिर न आयी, जो एक बार नष्ट हो गई। गुप्त-काल में नये निर्माण हुए।

410 ई० में फाहियान चीन से भारत यात्रा के लिए आया। वह नालन्दा भी गया परन्तु उसने नालन्दा का कोई महत्वपूर्ण उल्लेख नहीं किया। इससे प्रतीत होता है कि उस काल तक नालन्दा में कोई महत्वपूर्ण विद्या केन्द्र न था। सातवीं सदी के चीनी यात्री ह्वेनसांग ने नालन्दा का अत्यन्त गौरव पूर्ण उल्लेख किया है। इससे पता चलता है कि उस के आने से पूर्व इसकी विशेष उन्नति हो चुकी थी। कुमारगुप्त (प्रथम) ने तथा उसके उपरान्त बुधगुप्त, तथागतगुप्त, बालादित्य, तथा वज्रगुप्त ने यहां अलग-अलग विहार बनवाये। यह सम्पूर्ण सन्निवेश एक विशाल प्राचीर से वेष्टित था, जिसमें दक्षिण की ओर द्वार था।

यशोवर्मा (532 ई०) के नालन्दा लेख से ज्ञात होता है कि यहां ऊंचे-ऊंचे भव्य मन्दिर तथा अनेक विहार वर्तमान थे।[1] वाग्भट के युग (450 ई० से 550 ई०) तक निश्चय ही तक्षशिला की ही भांति नालन्दा भी अन्तर्राष्ट्रीय ख्यातिप्राप्त विद्या केन्द्र बन गया था। भिन्न-भिन्न प्रमाणों के आधार पर अनुमान है कि यहां 10 हजार से 13 हजार तक विद्यार्थी शिक्षा प्राप्त करते थे। प्राय: दस विद्यार्थियों के ऊपर एक शिक्षक होता था। इससे अनुमान किया जा सकता है, कितने विद्वान शिक्षक यहां काम करते थे। प्रथम धर्मपाल, अनन्तर शीलभद्र नालन्दा के आचार्य कुलपति थे। इतना विशाल विद्याकेन्द्र होने पर भी वाग्भट ने नालन्दा छोड़ कर कश्मीर को अपना केन्द्र बनाया। महर्षि चरक ने जहां रहकर आयुर्वेद को आलोकित किया, उसी यशोगरिमा को वाग्भट ने और समुन्नत किया।

ईसा से 400 वर्ष पूर्व से कश्मीर भी एक उत्कृष्ट विद्याकेन्द्र था। चरक ही नहीं, दर्शन और साहित्य के विद्वानों की एक लम्बी परम्परा कश्मीर में अवतीर्ण हो चुकी थी। ईसा की प्रथम शताब्दी में बौद्धों की चतुर्थ संगीति कनिष्क ने जालन्धर में आयोजित की थी, उसका अधिकांश दार्शनिक कार्य कश्मीर के कुण्डन वन विहार में ही हुआ था। अधिकांश बौद्ध दार्शनिक कश्मीर में ही एकत्रित थे। आसंग और वसुबन्धु पेशावर छोड़ कर कश्मीर में ही रहे। अश्वघोष ने कनिष्क के यहां बन्दी जीवन में 'बुद्धचरित' और सौन्दरनन्द, जैसे काव्य यहीं लिखे थे। कनिष्क का शासन चीनी तुर्किस्तान (हरिवर्ष) से लेकर काशी तक विस्तृत था। बौद्ध होकर उसने भारतीय संस्कृत साहित्य को बौद्ध विचारधारा से भरने का पूरा प्रयास किया। उसका केन्द्र कश्मीर ही तो था। वाग्भट ने अपने जीवन में कश्मीर की भूमि में सरस्वती के मन्दिर का द्वार खोल दिया। जैय्यट, कैय्यट, अल्लट, रुद्रट, उद्भट, रत्नाकर, मातृगुप्त, मम्मट और आनन्दवर्धन जैसे अमरकीर्ति साहित्याचार्य ईसा की सातवीं शती से लेकर तेरहवीं शती तक होते ही रहे। काशी और कश्मीर भारतीय इतिहास के आलोक स्तम्भ हैं। भगवती सरस्वती की स्वर-माधुरी के स्रोत वहीं से प्रवाहित होते रहे हैं।

आत्रेय पुनर्वसु अथवा धन्वन्तरि की भांति आचार्य वाग्भट ने अपने शिष्यों का उल्लेख नहीं किया। फिर भी शिष्यों ने गुरु को स्मरण रखा। अपने पिता और पितामह को अपने गुरु के नाते वाग्भट ने स्वयं लिखा ही है। उनके पितामह वाग्भट की शिष्य-परम्परा में कौन-कौन विद्वान हुए इसका लेखा हमें प्राप्त नहीं है, और न सिंहगुप्त के शिष्य और वाग्भट के सहपाठियों का परिचय हमें प्राप्त है। किंतु इतना निश्चय है कि वाग्भट के पितामह वाग्भट से एक गुरु-शिष्य परम्परा चली आ रही थी। वाग्भट के शिष्य सम्प्रदाय में एक स्तुति प्रचलित है जो वाग्भट की शिष्य परम्परा पर पर्याप्त प्रकाश डालती है।[2] कुछ लोगों का अनुमान है कि यह स्तुति वाग्भट के शिष्य इन्दुकर की लिखी हुई है। जो हो, वह स्मरणीय है—

---

1. 'यस्यामम्बुधरावलेहि शिखर श्रेणी विहारावली,
   मालेवोर्ध्व विराजिनी विरचिता धात्रामनोज्ञाभुव: ॥—इंडियन एण्टिक्वेरी, भाग 2, पृ० 43
2. अष्टाङ्गसंग्रह, मैसूर संस्करण, उपोद्घात।

लम्वश्मश्रु कलापमम्वुजनिभच्छायाद्युतिं वैद्यका-
न्तेवासिन इन्दु जेज्जटमुखानध्यापयन्तं सदा ।
आगुल्फामल कञ्चुकाञ्चितदरालक्ष्योपवीतो ज्वलत्,
कण्ठस्थागुरुसार मञ्जितदृशंध्याये दृढं वाग्भटम् ॥

घनी और लम्वी मूछों वाले, सांवले रंग वाले, इन्दु तथा जेज्जट आदि शिष्यों को पढ़ाने में निरन्तर तल्लीन, पैरों के गट्टों तक पहने हुए रेशमी चोगे के अन्दर से झलकते हुए यज्ञोपवीत से शोभित, गले में अगर का पूजा-लेप किये हुए, आंखों में अञ्जन का अनुरञ्जन लिये हुए आचार्य वाग्भट की मैं श्रद्धा से वन्दना करता हूं।

स्तुति से यह स्पष्ट है कि इन्दुकर तथा जेज्जट दोनों आचार्य वाग्भट के शिष्य थे। न केवल यही, इनके अतिरिक्त और शिष्य भी अवश्य थे। तभी तो 'मुखान्' शब्द चरितार्थ होगा। ये दो प्रमुख थे, इनके अतिरिक्त अनेक और भी शिष्य उनसे विद्या-लाभ करते थे। हम पीछे औफ्रेक्ट महोदय का उद्धरण देकर यह लिख आये हैं कि वाग्भट के पुत्र का नाम तीसट था। वह भी प्रतिष्ठित विद्वान था। इसने भी वाग्भट से ही शिक्षा प्राप्त की थी, इसमें सन्देह नहीं। तीसट के पुत्र चन्द्रट ने भी परम्परा के अनुसार अपने पिता से अध्ययन किया होगा।

वाग्भट के शिष्य इन्दुकर ने वाग्भट के अष्टाङ्गसंग्रह पर योग्यतापूर्वक व्याख्या लिखी है, जो सौभाग्य से आज भी प्राप्त है। इन्दुकर की इस व्याख्या से आचार्य वाग्भट के सम्वन्ध में अनेक महत्त्वपूर्ण वातें ज्ञात होती हैं। इन्दुकर का पुत्र भी योग्य विद्वान हुआ और आयुर्वेदिक जगत् में अपना नाम अमर कर गया। वह था प्रसिद्ध 'माधवनिदान' ग्रन्थ का लेखक माधवकर। माधव ने अपने निदान ग्रन्थ के अन्त में अपना यह परिचय स्वयं लिखा है।[1] संक्षेप में उपर्युक्त परम्परा को हम यहां लिख देते हैं, ताकि सुविधा हो :—
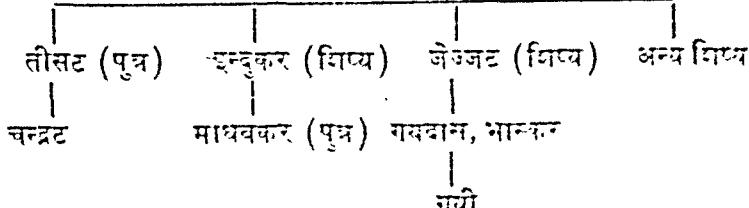
प्रथम वृद्ध वाग्भट के रचित कौन-कौन ग्रन्थ थे अभी यह कहना कठिन है। [illegible]

1. सुभाषित [illegible] ।
[illegible]

लेखकों का युग था, बड़े गर्व के साथ कलम उठाने वाले मैदान में आये, परन्तु वाग्भट की रचनाओं ने जो जादू किया वह औरों से न बना। शायद विहारी ने वाग्भट की चातुरी के लिए ही लिखा होगा--

लिखन वैठि जाकी सविहि, गहि-गहि गरव गरूर।
भये न केते जगत के चतुर चितेरे कूर॥

वाग्भट से प्रथम एक व्यक्ति की धाक विद्वानों में थी। वह थे हरिश्चन्द्र या भट्टारक हरिचन्द्र। वाग्भट के जन्म से पूर्व हरिचन्द्र ने चरक पर व्याख्या लिखी थी।[1] हरिचन्द्र वड़ा विद्वान व्यक्ति था। व्याकरण, अलङ्कारशास्त्र, दर्शन और आयुर्वेद में उसका प्रतिस्पर्धी न था। भट्टारक हरिचन्द्र के ही वंश में उत्पन्न आचार्य महेश्वर ने अपने विश्व प्रकाशकोप के प्रारम्भ में लिखा है कि द्वितीय चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के दरवार में (380 ई०) हरिश्चन्द्र राजवैद्य थे। अपनी उत्कृष्ट योग्यता के कारण उन्हें 'भट्टारक' तथा 'विद्यातरंग' की उपाधियां प्राप्त थीं। उन्होंने अपनी व्याख्या से चरक को अलंकृत किया। ऐतिहासिकों का स्थिर मत है कि 'साहसाङ्कनृपति' चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य का ही विशेपण है। चन्द्रगुप्त के शिलालेखों में 'विक्रमादित्य, श्री विक्रम, अजित विक्रम, सिंहविक्रम, नरेन्द्रचन्द्र, आदि उपाधियों के साथ 'विक्रमाङ्क' उपाधि भी मिलती है।[2] 'साहसाङ्क' और 'विक्रमाङ्क' समानार्थक हैं। भट्टारक हरिचन्द्र न केवल आयुर्वेद किन्तु दर्शन तथा साहित्य पर भी जो लिख गये वह अप्रतिम वन गया। वे अपने युग के प्राणाचार्य थे, और महाकवि तथा दर्शन केसरी भी। सदुक्तिकर्णामृत में लिखा है--'हरति हरिचन्द्रोऽपि हृदयम'। हरिश्चन्द्र ने विद्वनों का दिल चुरा लिया।

वाम्पतिराज ने 'गौड़वहो' (गौड़वध) में भास, कालिदास तथा सुवन्धु जैसे धुरन्धर साहित्याचार्यो के साथ हरिचन्द्र का नाम भी लिखा है।[3] गद्यकाव्य की जो लेखन शैली पीछे से भास, वाण और दण्डी ने अपनायी उसकी आधारशिला रखने वाले भट्टारक

---

1. भट्टार हरिचन्द्रेण चरकस्तन्त्रा युक्तय: प्रश्नव्याकरण व्यक्तान्ताभिधान हेत्वाख्या: व्याहृता:--चरक, सिद्धि० चक्रपाणि व्याख्या 12/80-84

--तदेतेष्वाचार्येषु हरिश्चन्द्रस्य सूत्रस्थान टीकाया: कानिचित्पत्राणितथा जेज्जटस्य चिकित्सा स्थानादारभ्य सिद्धिस्थान पर्यन्त टीका पुस्तकं मद्राजकीये पुस्तकालये हस्तलिखितं वर्तते"।

—श्री नरेन्द्रनाथ शास्त्री, चरक प्राक्कथन, सन् 1929 ई० (लाहौर संस्करण)

2. श्री साहसाङ्क नृपतेरनवद्य वैद्य विद्यातरङ्ग पदमद्वयमेव विभ्रत।
यश्चन्द्रचारुचरितो हरिचन्द्र नामाख्यया चरक तन्त्रमलंचकार॥

—गुप्त साम्राज्य का इतिहास, भा० 1, पृ० 100--विश्वप्रकाश कोषप्रथम कान्तवर्ग, श्लोक 5

3. भासम्मि जलणमित्ते कुन्ती पुत्ते तथा च रहुआरे।
सोवन्धे च वन्धम्मि हरियन्दे च आनन्दो॥

—1896 ई० में राजकीय ग्रन्थमाला बंबई से प्रकाशित अमर कोप के उपोद्घात में प्राचीन कोष ग्रन्थों का उल्लेख है। प्रसिद्ध-प्रसिद्ध प्राचीन कोषकारों के नाम गिनाये गये। वहां कहा गया है कि सम्राट् विक्रमादित्य ने भी एक कोष ग्रन्थ लिखा था, जिसकी उपाधि 'साहसांक' थी। —अमरकोष, प्रस्तावना 1896 ई०, पृष्ठ 34

हरिचन्द्र ही थे। वाग्भट ने अष्टाङ्गसंग्रह और अष्टाङ्गहृदय की रचना में भट्टारक हरिचन्द के विचारों का आग्रहपूर्वक अनुसरण किया है।[1] हरिचन्द की साहित्यिक सरसता वाग्भट में भी ओत-प्रोत है। चरक पढ़ते हुए आयुर्वेद के साथ न्याय और सांख्य शास्त्रों का मनन भी होता है, उसी प्रकार अष्टाङ्गहृदय का अध्ययन करते हुए आयुर्वेद में काव्य-शास्त्र की कमनीयता अनुभव होती है। अष्टाङ्गहृदय के चिकित्सा स्थान में मदात्यय रोग की चिकित्सा लिखने के बाद वाग्भट कश्मीर की स्वभावसिद्ध सरस साहित्य-सुषमा का संगोपन नहीं कर सके। अपनी सम्मति भी लिख डाली—

रहसि दयितामङ्के कृत्वा भुजान्तर पीड़ना-
त्पुलकित तनुं जात स्वेदां सकम्प पयोधराम्।
यदि सरभसं सीधूद्गारं न पाययते कृती,
किमनुभवति क्लेश प्रायं ततो गृह तंत्रताम्॥

"पुलकित गात्र, सकम्प पयोधरा प्रियतमा को एकान्त बाहुपाश में लेकर यदि सुरा के एक घूंट का आदान-प्रदान न कर पाया तो इस पुरुष से पूछो कि गृहस्थी के कारागार में क्यों फंसा है?" आखिर भट्टारक हरिचन्द का अनुयायी भले ही आयुर्वेद लिखने बैठा, इतना कहे बिना कैसे रह जाता? अभी अश्वघोष, कालिदास और भट्टारक हरिचन्द के काव्य-कुसुमोद्यान का सौरभ भारत के वातावरण में महक रहा था। व्याधियों की वेदना में वाग्भट के ये मधुर बोल किसी रसायन योग से कम नहीं लगते।

आचार्य वाग्भट के ग्रन्थों पर पूर्वापर दृष्टि डालने से प्रतीत होता है कि उस समय आयुर्वेदाचार्यों के दो सम्प्रदाय थे—पहला चरक सम्प्रदाय और दूसरा सौश्रुत सम्प्रदाय। वाग्भट चरक सम्प्रदाय के अनुयायी थे, हम अभी कह चुके हैं। चरक सम्प्रदाय के संस्थापक स्वयं चरक ही थे जो ईसा से 200 वर्ष पूर्व कश्मीर में ही आविर्भूत हुए थे। सौश्रुत सम्प्रदाय के अग्रणी बोधिसत्व नागार्जुन थे, जो प्रायः ईसा की प्रथम शती में हुए थे। बौद्ध धर्म के चार विभाग थे—(1) माध्यमिक, (2) योगाचार, (3) सौत्रान्तिक, (4) वैभाषिक। पहले दो माध्यमिक और योगाचार महायान तथा सौत्रान्तिक स्थविरवाद या थेरवाद तथा वैभाषिक सर्वास्तिवाद हीन-यान कहे जाते थे। आचार्य नागार्जुन महायान के एक महा विद्वान दार्शनिक थे ही, आयुर्वेद के भी अमर उद्धारक हुए।

चरक से पूर्व आत्रेय पुनर्वसु और धन्वन्तरि के सम्प्रदाय भी भिन्न-भिन्न थे ही। चरक ने अग्निवेश तन्त्र पर आस्तिकवादियों का ऐसा रंग चढ़ा दिया कि बौद्ध युग में चरक के बाद से लोग चरक संहिता को बौद्ध-विरोधी शास्त्र समझने लगे। यद्यपि आयुर्वेद तो सर्वसाधारण की वस्तु है। बौद्ध ईश्वरसेन ने चरक पर व्याख्या भी लिखी तो भी चरक को आस्तिकवादी और सुश्रुत को भौतिकवादी मानकर कुछ नास्तिकवादी सुश्रुत के सम्प्रदाय में श्रद्धा रखते रहे। अग्निवेश तन्त्र का प्रतिसंस्कार जिस प्रकार चरक ने किया,

---

1. "हरिचन्द्रेण तु सहशब्दोऽयमकारान्तो मार्गशीर्ष वचनस्तस्य सहस्य प्रथमे ,र्तिके इति व्याख्यातम्। तन्मतानुसारिणा वाग्भटेन चोक्तम्—श्रावणे कार्तिके चैत्रे मासि साधारणे क्रमात।"—चरक, सू० 7/46–50 चक्रपाणि व्याख्या।

'सुश्रुतसंहिता' का प्रतिसंस्कार नागार्जुन ने किया था। सुश्रुत के भाष्यकार आचार्य डल्हण ने नागार्जुन के इस महान कार्य का उल्लेख किया है।[1] 'सुश्रुत संहिता' भी आस्तिकवादी शास्त्र है, नागार्जुन ने बौद्ध दार्शनिक होकर भी धन्वन्तरि की भावना को व्याघात नहीं पहुंचाया। चरक की शैली पर उन्होंने आस्तिकवादियों को डांटा-फटकारा भी नहीं। वाग्भट ने दोनों का मध्यवर्ती मार्ग अनुसरण किया। इस युग से पूर्व तक चिकित्सा शास्त्र में काष्ठादि औषधियों का ही प्रयोग प्रधान रूप से होता था। धातुओं का प्रयोग कच्चे रूप में ही किसी प्रकार उन्हें जीर्ण करके यदा-कदा कर लिया गया था। परन्तु नागार्जुन ने उनके सम्बन्ध में गहरे अनुसन्धान के उपरान्त यह सिद्ध किया कि धातु भी सेन्द्रिय (Organic) बनाकर भस्म किये जा सकते हैं, और रोगों पर उनका निरापद प्रयोग हो सकता है। इससे भी बढ़कर महत्त्व की खोज जो नागार्जुन ने आयुर्वेद को प्रदान की थी, वह औषधि रूप में पारद का आभ्यन्तर प्रयोग था। पारद से अनेक खाने योग्य प्रयोग बनाकर नागार्जुन ने चिकित्साशास्त्र में एक नया युग प्रस्तुत कर दिया।[2] यह रसायनी-विद्या अथवा रस शास्त्र का आरंभ था। वाग्भट के युग में इस आविष्कार को प्रायः 400 वर्ष हो गये थे, तो भी तत्कालीन प्राणाचार्यों में इस आविष्कार का उतना सम्मान न था जितना सुश्रुत और चरक के काष्ठादि एवं रसायन प्रयोगों का। वाग्भट ने अपने ग्रन्थों में रसशास्त्र के प्रयोगों को नहीं के बराबर स्थान दिया। तात्पर्य यह कि ईसा की पांचवीं शताब्दी तक रसायनी विद्या प्राणाचार्यों में वैसी प्रतिष्ठित नहीं हुई थी, जैसी इसके उपरान्त सिद्ध सम्प्रदाय ने उसकी प्रतिष्ठा बढ़ा दी। वाग्भट के युग तक उसमें वैसे आविष्कार नहीं हुए थे।

दूसरी ओर काष्ठौषधि चिकित्सा थी। वह प्राचीन एवं परखी हुई प्रणाली थी ही। वह षड्रसों मधुर, अम्ल, लवण, कटु, तिक्त, और कषाय-के रासायनिक (Chemical) विज्ञान पर आधारित थी। परन्तु नागार्जुन ने पारद के रासायनिक विश्लेषणों द्वारा उसे भी खाद्य बना दिया तथा छहों रसों का पारद में एकत्र सन्निवेश करने की भावना से उसे रस-राज नाम दे दिया।[3] और पारद की चिकित्सा ही रस-चिकित्सा घोषित की गई। वाग्भट प्राचीन परिपाटी छोड़कर इस नवीन रसायनी विद्या से सन्तुष्ट नहीं हुए। प्राचीन शैली अधिक सेन्द्रिय (Organic) थी—अधिक परीक्षित और अधिक हितकारी। पारदीय प्रयोगों में भयानक प्रतिक्रिया का भय था। इसलिए प्राचीन शैली समर्थक चरक सम्प्रदाय के पोषण में उन्होंने अपनी सारी शक्ति लगा दी। और निसन्देह वे उसमें सफल हुए। चरक ने ईसा से दो सौ वर्ष पूर्व आत्रेय संहिता का जो प्रति संस्कार किया था, वाग्भट के समय तक प्रायः छः सौ वर्ष में वह अस्तव्यस्त और निष्प्रभ प्रतीत होने लगा था। सम्राट चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के राजवैद्य भट्टारक हरिचन्द की व्याख्या मात्र उसका उद्धार न कर पाती यदि वाग्भट की उद्भट लेखनी प्रतिगामी प्रगति

1. प्रतिसंस्कर्तापीह नागार्जुन एव।—सुश्रुत 1/1-2 भाष्य
2. नागार्जुनेन सन्दृष्टौ रसेन्द्ररसबन्धनौ।—रसरत्न० स० 2/144
3 रसनात् सर्वधातूनां रस इत्यभिधीयते। —र० स० 1/76

लेकर कर्मक्षेत्र में अवतीर्ण न होती। अनेक विखरे हुए ग्रन्थों का सुवोध और विद्वत्तापूर्ण संकलन करके वाग्भट ने गागर में सागर भर दिया। रसों और दोपों का जो विशद और योग्यतापूर्ण विवेचन आचार्य ने किया है वह महर्षियों के ग्रन्थों से भी अधिक सरल और सुगम है। तभी तो आचार्य ने कहा था—"अभिनिवेश के कारण जिसे पुराने ग्रन्थों पर ही आग्रह हो वे जीवनभर उन्हें पढ़ेंगे तो भी थोड़ा ही तत्त्व पा सकेंगे।"[1] प्रतीत होता है महाकवि भारवि ने वाग्भट के लिए ही लिखा था—अतिवीर्य वतीव भेपजे, वहु रल्पीयसि दृश्यते गुण:।

इतनी योग्यतापूर्वक ग्रन्थ लिखते हुए भी वाग्भट की ईमानदारी स्तुत्य है। प्रत्येक अध्याय के प्रारम्भ में लिखा—'इति हस्माहुरात्रेयादयो महर्पय:'।—यह आत्रेय आदि महर्पियों की वात ही कह रहा हूं।

वाग्भट के समय तक चरक, सुश्रुत, काश्यप, निमि, अग्निवेश, हारीत तथा पाराशर आदि प्राचीन संहितायें उपलब्ध थीं।[2] सभी के विचारों का संकलन उन्होंने किया है। पाराशर ने आत्रेय (चरक) संहिता पर आक्षेप किये हैं। वाग्भट ने आक्षेपों का खण्डन करके आत्रेय मत (चरक संहिता) के सिद्धान्तों का समर्थन किया है।[3] सोनक नाम के अन्यतम विद्वान का लिखा कोई ग्रन्थ वाग्भट के समय विद्वानों में प्रतिष्ठित था। वाग्भट ने सोनक का समर्थन भी किया है।[1]

इस प्रकार हरिश्चन्द्र, सोनक, अङ्गिरि, ईश्वरसेन, जेज्जट, एवं सुधीर जैसे प्रतिभाशाली व्याख्या-लेखक वाग्भट के युग के ही आचार्य थे, किन्तु वाग्भट ने जो कुछ लिखा वह अद्वितीय था। चरक और सुश्रुत के समन्वय में वाग्भट ने नवीनता ला दी। दोनों के लम्वे-लम्वे सन्दर्भों को वाग्भट ने एक या दो वाक्यों में लिख दिया। भापा में माधुर्य और प्रसाद गुणों ने जन-मन रंजनी शैली का ऐसा आविष्कार किया कि चरक की कठिन ग्रन्थ-ग्रन्थियां अनायास खुल गई। यह दुर्भाग्य की वात है कि वाग्भट के समकालीन किसी भी विद्वान का लिखा पूरा ग्रन्थ आज उपलव्ध नहीं है, शायद सर्वसाधारण में वे व्यापक नहीं हो सके। हां, वाग्भट के समय राजनैतिक उथल-पुथल में जनता का विद्या-प्रेम घट रहा था। शकों और हूणों के प्रभाव में आकर लोग अर्थ का अनर्थ करने लगे थे। एक जगह वाग्भट ने इस ओर इङ्गित किया है—'आंवले का रस, शहद, मिश्री और शुद्ध घृत का लेप वनाकर पथ्यभोजी रहकर नियम से सेवन करने वाले पुरुप के जरा विकार वैसे ही नाश हो जाते हैं, जैसे दूपित मनोवृति वाले लोगों के

---

1. अभिनिवेशवशादभियुज्यते सुभणितेऽपिनयो दृढ़मूढ़क:। पठतु यत्न पर: पुरुपायुप मग्जन् वैद्यक माद्यमनिर्विद:॥ —अष्टाङ्गहृदय, उत्तर० 40/85
2. चरक, सुश्रुत—अष्टाङ्गहृदय उत्तर० 40/84/काश्यप—उत्त० 2/42-43 निमि, उत्त० 13/99/ अग्निवेश, हारीत, निदान० 2/62/हारीत, निदा०/2/62/पाराशर—अष्टा०सं०सू० अ० 17 सू० 127।
3. अष्टाङ्ग संग्रह, सू०, अ० 21, पृ० 158-159 (दोष शामकौषधि कम निर्देश प्रकरण)। तथा अष्टाङ्गहृदय, सूत्र० 9/13 व शारीर० 5/128।
4. सोनक वचनमनुवदतावाग्भटेन…, चरक व्याख्या—चक्रपाणि, नि 3/195-197

अधिकार में आये हुए विशाल ग्रन्थों का नाश हो जाता है ।'[1] ये दूषित मनोवृत्तियां क्या थीं ? शकों और हूणों का दूषित प्रभाव, अन्य कुछ नहीं ।

चन्द्रट वाग्भट का पौत्र था । उसने वाग्भट जैसे कुशल विद्वान् अपने पितामह की प्रशस्ति लिखने में एक भी अक्षर व्यय नहीं किया । किन्तु तो भी उसने उस युग के प्राणाचार्यो की आलोचना लिखकर यह स्पष्ट कर दिया कि वाग्भट के शिष्य और सम-कालीन लेखकों के उपरान्त आयुर्वेद साहित्य की सरिता-सरस्वती मानों सदा के लिये सूख गई—

व्याख्याता हरिचन्द हुए, जेज्जट, सुधीर जैसे धीमान् ।
आगे आयुर्वेद विषय पर लिखना एक धृष्ट अभिमान ।[2]

पारद के आविष्कार ने चिकित्सा में एक क्रान्ति अवश्य की, किन्तु निदान की दिशा में उससे कोई विकास न हुआ । आयुर्वेदिक चिकित्सा का मूल आधार त्रिदोष (वात, पित्त, कफ) विज्ञान है । नागार्जुन तथा उनके अनुयायियों ने उस सम्बन्ध में कोई नवीन प्रगति नहीं की । प्रारम्भ में पारद के प्रयोग चिकित्सापरक थे भी नहीं, शारीरिक भोग-विलास का स्थायित्व ही उनका उद्देश्य था । उसे जीवन-मुक्ति भी कहते थे ।[3] आचार्य नागार्जुन ने उसे चिकित्सापरक बनाकर एक नया दृष्टिकोण अवश्य दिया । परन्तु आयु-र्वेद का वह दार्शनिक और वैज्ञानिक अंश जो रोग और रोगी के निदान से सम्बन्ध रखता है, वाग्भट ने ही परिमार्जित किया । यही कारण है कि तत्कालीन आयुर्वेद के सारे ही आचार्यो में आयुर्वेद-दर्शन के आचार्य की दृष्टि से उन्हें ही प्रथम स्थान मिला । निम्न सूक्ति से यह भली प्रकार स्पष्ट होगा—

निदाने माधवः श्रेष्ठः सूत्रस्थानेतु वाग्भटः ।
शारीरे सुश्रुतः प्रोक्तश्चरकस्तु चिकित्सिते ।।

निदान लिखने में माधव, सूत्रस्थान में वाग्भट, शरीर में सुश्रुत और चिकित्सा में चरक सर्वश्रेष्ठ हैं । सूत्रस्थान 'आयुर्वेद-दर्शन' का ही नाम है । वाग्भट उसी के श्रेष्ठतम विद्वान् हैं । वाग्भट ने अष्टाङ्गहृदय का सूत्रस्थान समाप्त करते हुए लिखा है—'समाप्यते स्थान मिदं हृदयस्य रहस्य वत्' । अर्थात् इस सूत्रस्थान में जो कुछ लिखा गया है वह आयुर्वेद के हृदय का रहस्य समझिये । सच पूछिये तो नागार्जुन आयुर्वेद चिकित्सा का नवीनतम रूप विश्व के सामने रखकर भी उसके हृदय का वह रहस्य प्रकट नहीं कर सके जो वाग्भट ने ही किया ।

---

1. धात्री रस क्षौद्र सिता घृतानि,
   हितानि नाना विहृता नराणाम् ।
   प्रणाशमायान्ति जरा विकारा,
   ग्रन्था विशाला इव दुर्गृहीताः ।।
   —अष्टाङ्गहृदय, उत्त० 39/149
2. व्याख्यातरि हरिचन्द्रे श्री जेज्जट नाम्नि सति सुधीरे च ।
   अन्यस्यायुर्वेदे व्याख्या धार्ष्ट्यं समावहति ।।—चन्द्रट
3. तस्माज्जीवन्मुक्तिं समीहमानेन योगिना प्रयत्नम् ।
   दिव्या तनुर्विधेया हर गौरी सृष्टि संयोगात् ।। —रस० ह० त० 1/59

कला, साहित्य और विज्ञान पर लिखना बौद्ध संघ में अनुमोदित न था। कविता लिखना तो बौद्ध भिक्षु के लिए अपराध था। इसलिए केवल नास्तिक वादी दर्शन को छोड़कर बौद्ध युग में कोई साहित्य-रचना न हो सकी। शून्य विश्व में कला, साहित्य और विज्ञान की कल्पना ही क्लिष्ट है। इनमें रुचि दिखाने वाले भिक्षु को दण्ड मिलता था। महायान सम्प्रदायियों ने तथागत के बहुत बाद विनय के नियम बहुत कुछ शिथिल कर दिये। तब कहीं थोड़े से ग्रन्थ लिखे गये। आयुर्वेद की एक-एक वस्तु के लिए आज्ञा लेनी पड़ती थी। बड़ी-बड़ी प्रयोगशालायें कहां से बनतीं? बड़े-बड़े प्रतिभाशाली भिक्षु हुए किन्तु भारतीय साहित्य में वे कुछ योग न दे सके। नागार्जुन तो उस दृष्टि से विद्रोही भिक्षुओं में थे। तो भी आयुर्वेद पर उनका उपकार बहुत है।

वाग्भट के अष्टाङ्गहृदय पर हेमाद्रि ने व्याख्या लिखी थी, जिसका केवल सूत्र-स्थान ही अब प्राप्त है। श्री मृगांक दत्त के पुत्र श्री अरुणदत्त की दूसरी व्याख्या (सर्वाङ्ग सुन्दर) ही सम्पूर्ण उपलब्ध है, जो प्रकाशित है। वही पठन-पाठन में प्रचलित है।

वाग्भट के आस-पास आयुर्वेद के कुछ अन्य धुरन्धर विद्वान् भी हुए, जिन्होंने भिन्न-भिन्न ग्रन्थ लिखे थे, या व्याख्यायें लिखीं, जिनके उद्धरण उपलब्ध व्याख्याओं में प्राप्त होते हैं। यद्यपि उन आचार्यों के सम्पूर्ण ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हैं। 'भारत वर्ष का वृहद् इतिहास' नामक ग्रन्थ में श्री भगवदत्त बी० ए० महोदय ने एक ऐसी परम्परा लिखी है, हम उसे यहां दे दें तो अप्रासंङ्गिक न होगा—

7. आषाढ़वर्मा, सुवीर, नन्दि, वराह, हरिश्चन्द्र, स्वामिदास, चेल्लदेव, हिम दत्त।
|
6. जेज्जट
|
5. गयदास, भास्कर (पञ्जिका कारौ), माधवकर।
|
4. ब्रह्म देव, गोवर्धन (कौमुदी तथा रत्नमालाकार), गदाधर।
|
3. चक्रपाणि (संवत् 1100 वि० के समीप)
|
2. डल्हण
|
1. हेमाद्रि

1. 'अष्टाङ्गहृदय' की व्याख्या में हेमाद्रि ने डल्हण को उद्धृत किया है।

2. सुश्रुत, उत्तरतन्त्र 49/18-20 व्याख्या में डल्हण ने चक्रपाणि को उद्धृत किया है।

3. 'चरक संहिता', चिकित्सास्थान 3/217 व्याख्या में चक्रपाणि ने ब्रह्मदेव आदि को स्मरण किया है।

4. 'सुश्रुत संहिता' के व्याख्याकार डल्हण ने लिखा है कि ब्रह्मदेव गयदास के

अनुयायी थे--'गयदासाचार्येणायं पाठः अनार्ष एव कृतः, तन्मतानुसारिणा ब्रह्मदेवेन क्वचिद् व्याख्यातः।' (सुश्रुत, सूत्र० 19/18)।

5. डल्हण के अनुसार पंजिकाकार गयदास और भास्कर जेज्जट के उत्तरवर्ती हैं। (सुश्रुत, सूत्र० 46/130-133)।

6. आचार्य जेज्जट ने आषाढ़वर्म, सुवीरनन्दी, वराह और गूढ़पद भङ्ग के उद्धरण दिये हैं।[1]

उक्त परम्परा में डल्हण और चक्रपाणि का पूर्वापर्य निश्चय कर सकना कठिन है। सुश्रुत, उत्तरतन्त्र 49/18-20 में डल्हण ने चक्रपाणि को उद्धृत किया है, और चरक सिद्धिस्थान 1/13 में चक्रपाणि ने डल्हण को उद्धृत किया है। कुछ लोग चक्रपाणि को डल्हण का अनुवर्ती स्वीकार करना चाहते हैं।[2] परन्तु दोनों विद्वानों ने एक-दूसरे के उद्धरण दिये हैं, इस कारण हम उन्हें समकालीन ही क्यों स्वीकार करें? यह स्पष्ट है कि उल्लिखित परम्परा में इन विद्वानों का पौर्वापर्य अवश्य है, और वे आचार्य वाग्भट के 100 वर्ष पूर्व से 500 वर्ष पीछे तक के हैं। उनमें परस्पर क्या सम्बन्ध है, यह कुछ नहीं कहा जा सकता। गुरु-शिष्य अथवा पिता-पुत्र का कोई सम्बन्ध कल्पना भी नहीं किया जा सकता, क्योंकि उनके समय का ठीक-ठीक बोध नहीं। जब तक कोई निर्णायक प्रमाण न हो कोई सम्बन्ध जोड़ना दुःस्साहस मात्र होगा। केवल यह कहना ही पर्याप्त है कि वे आचार्य वाग्भट के अनुयायी थे।

इतने ही व्यक्ति वाग्भट के अनुयायी नहीं थे, कुछ अन्यों का उल्लेख भी 'माधव निदान' की व्याख्या में आचार्य विजयरक्षित ने किया है। उनके नाम भी हम यहां लिख दें तो अनुचित नहीं होगा--1. भट्टारक हरिचन्द, 2. जेज्जट, 3. गदाधर, 4. वाप्यचन्द्र, 5. चक्रपाणि, 6. वकुल, 7. ईश्वरसेन, 8. भोज, 9. ईशान देव, 10. कार्तिक, 11. सुकीर, 12-सुधीर, 13-मैत्रेय, 14-माधव।[3] परन्तु इन चौदह विद्वानों में काल का पौर्वापर्य क्रम ध्यान में रखकर विजय रक्षित ने इन्हें उद्धृत नहीं किया। तात्पर्य यह है कि ये सारे ही विद्वान वाग्भट के मिशन पर काम करने वाले सिपाही थे। हम लिख चुके हैं माधव वाग्भट के शिष्य इन्दुकर के पुत्र थे।

कहा जाता है, माधव विजयनगर के सम्राट् के प्रधानमन्त्री थे, और माधवाचार्य नाम से विख्यात हुए। माधवाचार्य के दूसरे भाई सायणाचार्य थे जिन्होंने ऋग्वेद

---

1. भारतवर्ष का बृहद् इतिहास, लाहौर संस्करण, भाग 2, पृ० 900--सन् 1934 तक।
2. 'अयं चक्रपाणिः दशमशताब्द्यां नयपाल नरपतेः प्रियः भिषग् बभूवेति चक्रसंग्रहे स्पष्टोल्लेखः। सुश्रुत टीकाकर्तुस्तु डल्हणादर्वाचीन इति सिद्धिस्थाने व्याहृतमेव"।
—चरक प्राक्कथने श्री नरेन्द्रनाथ शास्त्री (लाहौर संस्करण)
3. भट्टार जेज्जट गदाधर वाप्य चन्द्र,
श्री चक्रपाणि वकुलेश्वर सेन भोजैः।
ईशान कार्तिक सुकीर सुधीर वैद्यै—
मैत्रेय माधव मुखैर्लिखितं विचिन्त्य॥—माधवनिदान, मधुकोश व्याख्या, श्लोक 2

संहिता पर प्रसिद्ध व्याख्या लिखी ।[1] इस प्रकार वाग्भट के शिष्य इन्दुकर ने माधव और सायण जैसे दो विद्वान् पुत्र संसार को देकर पितृऋण से मुक्ति पा ली।

वाग्भट के अनुयायियों में ईश्वरसेन भी प्रमुख विद्वान् थे। वे बौद्ध थे। ह्वेनसांग ने ईश्वरसेन का उल्लेख किया है। हम पहले कह चुके हैं, ईश्वरसेन की गुरु-शिष्य परम्परा कतिपय ऐतिहासिकों ने निम्न प्रकार स्वीकार की है[2]—
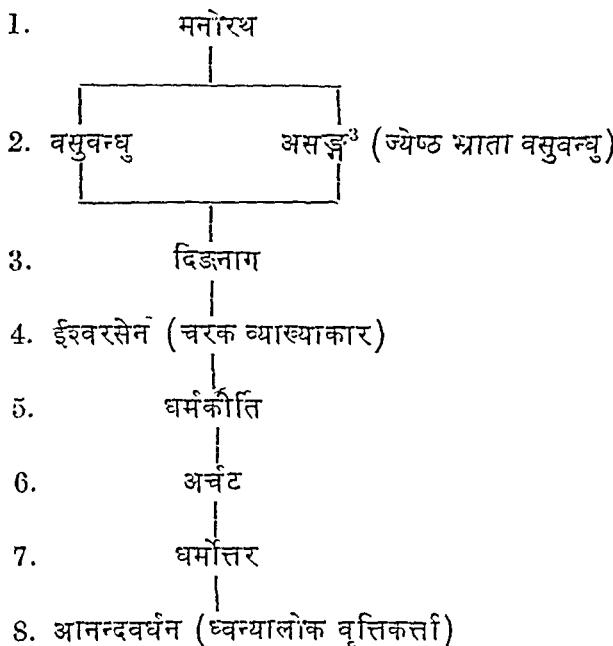
ईश्वरसेन की विद्वत्ता का पता इसी से लग जाता है कि पश्चाद्वर्ती व्याख्याकारों ने उन्हें पदे-पदे स्मरण किया है। ह्वेनसांग ने भी उनका उल्लेख इसीलिए

---

1. It is known that Madhava is the great Madhavacharya, the brother of Sayanacharya, the well-known commentator of the Rik Sanhita. Madhava was the Prime Minister of the king of Vijay Nagar. —Introduction of Astanaga Hridaya. Nirnaya Sagar Press, 1925, p. 2

2. भारवर्ष का वृहद् इतिहास—भगवद्दत्त, अ० 11, पृ० 317।

3. वसुवन्धु का पूरा नाम 'वसुवन्धु कनिष्क' था। प्रतिष्ठित होने पर उनका नाम 'असङ्ग' या 'आर्यसङ्ग' हो गया। उनका कुछ परिचय अंग्रेजी की इन पंक्तियों में देखिये—

'He took birth at Peshawar, which was then called Purushpur, under the name of Vasubandhu Kanishka. When he was admitted to the order of monks, he took the name 'Asanga' —the man without hinderence, and later in his life his admiring followers lengthenged this to'Aryasanga' by which he is chiefly known, as author and preacher. He is said to have lived a very great age—nearly a hundred and fifty years, if tradition speaks truly, and to have died at Rajgriha.

He was a voluminous writer. The principal work of his, of

किया है कि उसकी यात्रा के समय (631 ई० से 648 ई०) तक ईश्वरसेन का नाम विद्वानों में प्रतिष्ठित था। आयुर्वेद में 'चरक व्याख्या' से तो उन्हें प्राणाचार्यों में ही प्रतिष्ठा मिली, किन्तु बौद्धदर्शन का प्रकाण्ड विद्वान् होने के कारण वे सार्वभौम ख्याति पा गये। ईश्वरसेन के गुरु दिङ्नाग एक चोटी के बौद्ध दार्शनिक ही नहीं, आयुर्वेद के भी उत्कृष्ट विद्वान् थे। चिकित्साशास्त्र में उनकी प्रतिभा देखकर बड़े-बड़े विद्वान् चकित रह जाते थे।

दिङ्नाग का जन्म काञ्ची के पास सिंहवक्त्र नामक ग्राम में हुआ था। वे 345 ई० से 425 ई० तक जीवित रहे। उनका जन्म एक ब्राह्मण कुल में हुआ था। उन्हें बौद्धधर्म की दीक्षा देने वाले गुरु नागदत्त थे। उसके पश्चात् वे असङ्ग और वसुबन्धु के शिष्य हो गये। दिङ्नाग अधिकतर उड़ीसा में रहा करते थे। कई बार नालन्दा में भिन्न मतावलम्बियों के विरुद्ध शास्त्रार्थ में दिङ्नाग विजयी हुए। वे धुरन्धर नैयायिक और शास्त्रार्थी ही नहीं, किन्तु उद्भट वैज्ञानिक भी थे। तिब्बतीय

---

which we hear is the 'Yogachar Bhumishastra'. He was the founder of the Yogachar School of Budhism, which seems to have begun with an attempt to fuse, with Budhism the great yoga system of philosophy, or perhaps rather to adopt from the later what could be used and interpreted Budhistically. He travelled much and was mighty force in the reform of Budhism. In fact his fame reached so high a level that his name is joined with those of Narjun and Arya Deo, and these men have been called the three suns of Budhism, because of their activity in pouring forth its light and glory upon-the world. The date of Aryasanga is given vaguely... but none asign him a late date than the seventh century after christ. —The voice of silence, ch. XXX, p. 330

श्री भगवद्दत्त ने असङ्ग को वसुबन्धु का ज्येष्ठभ्राता लिखा है। अन्य इतिहासकारों का मत है कि वसुबन्धु का नाम ही भिक्षु होने पर असङ्ग या आर्यासङ्ग हो गया था।

वसुबन्धु की आयु, जैसा कि ऊपर उल्लेख है, बहुत लम्बी हुई। वे समुद्रगुप्त के समय पुरुषपुर (पेशावर) में जन्मे। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के समय में उन्होंने कालिदास का प्रतिस्पर्धी दिङ्नाग जैसा शिष्य तैयार किया। कुमारगुप्त के समय उन्होंने घूम-घूमकर बौद्धों के महायान सम्प्रदाय की योगाचार शाखा का प्रचार किया। इसका मुख्य केन्द्र तिब्बत था। कश्मीर, तिब्बत तथा नेपाल में उन्होंने दार्शनिक विद्वानों के कई मठ स्थापित किये, और स्वयं भी अनेक दार्शनिक ग्रन्थ लिखे। मैडम ब्लेवट्स्की (Madame Blavatsky) ने उनके एक ग्रन्थ 'The Book of the Golden Precept' का उल्लेख किया है। सूत्रपिटकों पर उन का महत्त्वपूर्ण कार्य था। समुद्रगुप्त के बाद सम्राट् पुरुगुप्त को उन्होंने बौद्ध धर्म में दीक्षित किया। यह गुप्त साम्राज्य का उत्कर्ष काल था, जो 143 वर्ष (324-467 ई०) निकलता है। इस प्रकार उपर्युक्त 150 वर्ष की आयु ठीक प्रतीत होती है। अतएव असङ्ग और वाग्भट समकालीन ही थे।

सम्राट् कुमारगुप्त ने नालन्दा में विश्वविद्यालय स्थापित किया था। असङ्ग का उसमें बड़ा योग था। नालन्दा राजगृह में ही है। असङ्ग ने वहीं महापरिनिर्वाण पद प्राप्त किया। असङ्ग की चर्चा हम यहां इसलिए करने लगे, क्योंकि वह भी एक प्राणाचार्य था। दिङ्नाग को चिकित्सा विज्ञान की विरासत इन्हीं से मिली थी।

ऐतिहासिक लामा तारानाथ ने लिखा है कि एक बार उड़ीसा के राजा के अर्थसचिव भद्रपालित (पीछे जिसे दिङ्नाग ने बौद्ध धर्म की दीक्षा दी थी) के उद्यान में हरीतकी का वृक्ष सूख गया। भद्रपालित को वृक्ष के सूखने का दुःख हुआ। बात दिङ्नाग के पास तक गई। दिङ्नाग ने अपने विद्या-बल से उसे सात दिन में हरा-भरा कर दिया।

जब दिङ्नाग का जीवन प्रदीप 425 ई० में निर्वाण के अनन्त अस्ताचल में तिरोहित हो रहा था, आचार्य वाग्भट अपना आलोकमय व्यक्तित्व लेकर भारत के ऐतिहासिक उदयाचल पर 420 ई० में प्रगट हुए। हमने देखा कि वाग्भट ने एक ऐसे कुल में जन्म लिया जो सदा से आयुर्वेद का सेवक और विद्वानों का वंश था।

इस आनुवंशिक संस्कार की प्रेरणा लेकर वाग्भट ने आयुर्वेद की स्मरणीय सेवा की और साथ ही एक ऐसी परम्परा क़ायम की जिसमें आयुर्वेद के धुरन्धर विद्वान्, उनके बाद कई शताब्दी तक उत्पन्न होते रहे। यद्यपि इस सम्प्रदाय का प्रारंभ चरक ने किया था, भट्टारक हरिचन्द्र ने उसे अनुप्राणित किया, परन्तु वाग्भट ने उसे संवर्धित न किया होता, तो राजनीतिक और सामाजिक तूफानों की छः शताब्दियों में (चरक से वाग्भट तक) उसका अस्तित्व ही मिट जाता। वाग्भट ने न केवल स्वरचित अद्वितीय साहित्य ही, किन्तु उच्च कोटि के विद्वान भी हमें दिये, जिन्होंने आज तक आयुर्वेद के प्रगति-पथ को आलोकित किया हुआ है।

वाग्भट का काल

अब हम आचार्य वाग्भट के काल के सम्बन्ध में भी कुछ विचार करें तो अप्रासंगिक न होगा। पिछली घटनाओं से आचार्य के काल के सम्बन्ध में धुंधला आभास मिलता है, किन्तु उसे परिमार्जित रूप से विवेचन किये बिना लेखक का कार्य पूरा नहीं होता। हम पीछे यह भली प्रकार देख चुके हैं कि अग्निवेश तन्त्र का चरक द्वारा 200 ई० पूर्व प्रतिसंस्कार होने के बाद भट्टारक हरिचन्द्र की व्याख्या उस पर लिखी जा चुकी थी। भट्टारक हरिचन्द्र चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के राजवैद्य थे। ऐतिहासिक अनुसन्धानों से यह प्रकट है कि चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य 378 ई० में राजसिंहासन पर बैठा।[1] मथुरा से प्राप्त चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के शिलालेख से यह प्रतीत होता है कि ई० सन् 380 में वह गुप्त साम्राज्य का शासक था। इस लेख में सम्राट् चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य तथा उसके पिता सम्राट् समुद्रगुप्त दोनों का उल्लेख है तथा उनके सम्मान में भट्टारक पदवी का उल्लेख है। वही पदवी चन्द्रगुप्त के राजवैद्य हरिचन्द्र के नाम के साथ भी ग्रन्थकारों ने लिखी है।[2]

काव्य-मीमांसा लेखक राजशेखर ने लिखा है कि उज्जयिनी में शक-विजय के उपरान्त चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने राजधानी स्थापित की थी, और वहां की 'ब्रह्मसभा'

---

1. गुप्त साम्राज्य का इतिहास, भाग 1, पृ० 86
2. भट्टारक हरिचन्द्रेणापि तन्त्र युक्त्या निदादि विवरण प्रस्तावे एर्वंद निरूपितरासा।—माधवनिदान पञ्चल 4, व्याख्या श्री विजय रक्षितः।

में विद्वानों को पदवियां दी जाती थीं ।[1] पीछे 'विश्वप्रकाश कोश' के लेखक आचार्य महेश्वर का उद्धरण देकर यह सिद्ध किया जा चुका है कि भट्टारक हरिचन्द्र विक्रमादित्य के राजवैद्य थे। विक्रमादित्य की राजसभा के नवरत्नों का उल्लेख 'ज्योतिर्विदाभरण' ग्रंथ में किया गया है—

धन्वन्तरिक्षपणकामर सिंह शंकु—
वेतालभट्ट घटकर्पर कालिदासाः ।
ख्यातो वराह मिहिरो नृपते सभायां,
रत्नानि वै वररुचिर्नव विक्रमस्य ॥

इनमें 'वेताल भट्ट' नाम भट्टारक हरिचन्द्र का ही बोधक प्रतीत होता है। गौड़वध में हरिचन्द्र का नाम कालिदास के साथ लिखा गया है, इससे भी यही प्रकट होता है कि कालिदास का साथी कोई भट्ट था तो वह भट्टारक हरिचन्द्र ही होना चाहिए। इस प्रकार भट्टारक हरिचन्द्र का सम्बन्ध चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के साथ स्पष्ट सिद्ध है। फलतः भट्टारक हरिचन्द्र का समय चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के शासन काल (378 से 412 ई०) में ही स्वीकार करना होगा।

वाणभट्ट का समय असंदिग्ध रूप से ईसा की सातवीं शताब्दी का प्रथम चरण है। वह श्रीहर्ष के राजपंडित थे। भट्टारक हरिचन्द्र का यश उस समय व्यापक था। यह ई० सन् 600 था। महाकवि वाणभट्ट ने हर्षचरित की प्रस्तावना में लिखा है, ललित पद-न्यास तथा मनोहारिणी रीति में अक्षर-विन्यास के कारण भट्टारक हरिचन्द्र की गद्यात्मक लेख शैली सब पर शासन करती है।[2]

अष्टाङ्गहृदय व्याख्याकार श्री अरुणदत्त का अभिप्राय यह है कि चरक संहिता पर सम्राट् चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य और विद्यातरंग हरिचन्द्र दोनों ने व्याख्याएं लिखी थीं। हम पीछे लिख आये हैं कि प्राप्त मुद्राओं द्वारा यह निश्चित रूप से ज्ञात है कि 'भट्टारक' सम्राट चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य की उपाधि थी। उसकी मुद्राओं पर 'भट्टारक चन्द्रगुप्त' खुदा है। अरुणदत्त ने लिखा है—'कुछ धृष्ट लोग चरक जैसे वन्दनीय ग्रन्थ पर भी दोषा-रोपण करते हैं। उन दोषों का उद्धार करते हुए अपने-अपने बुद्धि-वैभव से भट्टारक तथा हरिचन्द्र इन दोनों विद्वानों ने विशेष व्याख्यायें लिखीं।[3] यहां अरुणदत्त के लेख से यह अभिप्राय भी निकाला जा सकता है कि चरक पर जो व्याख्या वाग्भट ने पूर्व प्राप्त थी, वह सम्राट् भट्टारक चन्द्रगुप्त तथा विद्यातरंग हरिचन्द्र दोनों ने मिलकर लिखी थी।

---

1. काव्य मीमांसा 10/178
   इह कालिदास मेण्ठावत्रामर रूपसूर भारवयः ।
   हरिचन्द्र चन्द्रगुप्तौ परीक्षिताविह विशालायाम् ॥—का० मी० अध्या० 10/178
   विशाला उज्जयिनी का पर्याय है।
2. पदबन्धोज्ज्वलो हारी, कृतवर्णक्रमस्थितिः, भट्टार हरिचन्द्रस्य गद्यबन्धो नृपायते ॥
   —हर्ष चरित० 1/12
3. 'यदीनन्तादिदुर्भागवता चरक मुनिना प्रणीत तन्त्रं रत्नाकर इव गाम्भीर्यादिगुण दोषानुद्धृत्य सन्ति नदोषता प्रकटयन्ति वाचाटाः ।—अत मति वैभवाद्भट्टारक हरिश्चन्द्रो व्याख्या विनिर्ममे तत्राम् ।'
   —अष्टा० हृ० सूत्र० 1/1 व्याख्या

'भट्टारक हरिचन्द्रौ ···अवोचताम्' में द्विवचन का अर्थ यही होगा कि व्याख्या एक नहीं, दो व्यक्तियों का प्रयास था। इस प्रकार यह और भी अधिक स्पष्ट है कि सम्राट् चन्द्रगुप्त तथा हरिचन्द्र विद्यातरंग अपने कार्य और समय की दृष्टि से कितने अभिन्न थे। चरक पर उन दोनों ने सम्मिलित व्याख्या लिखी।

आचार्य वाग्भट विद्यातरंग भट्टारक हरिचन्द्र के उपरान्त हुए थे। वाग्भट ने हरिचन्द्र के लेखों का अनुमोदन किया है। चरक संहिता के व्याख्याकार चक्रपाणि ने लिखा है कि भट्टारक हरिचन्द्र के विचार से दोष-संशोधनार्थ कार्तिक मास उपयुक्त है, और उनके अनुयायी वाग्भट ने भी कार्तिक मास का ही समर्थन किया है।[1] इस प्रकार हम इस निर्णय पर पहुंच गये कि वाग्भट का जन्म 412 ई० के पश्चात हुआ था, क्योंकि चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने 412 ई० तक शासन किया।

भट्टारक हरिचन्द्र और कालिदास दोनों सम्राट् चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य की विद्वत्सभा में थे। विक्रमादित्य के नवरत्नों में उनकी गिनती थी। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने 412 ई० तक शासन किया। वाग्भट भट्टारक हरिचन्द्र के अनुवर्त्ती थे, अतएव यह सिद्ध है कि वे 412 ई० के उपरान्त जन्मे। चक्रपाणि के 'तन्मतानुसारिणा' का यही तात्पर्य है। वाग्भट हरिचन्द्र के अनुवर्त्ती थे।

कालिदास ने 'मेघदूत' में दिङ्नाग के प्रति अपना विरोध प्रकट किया है।[2] क्योंकि दिङ्नाग ने कालिदास की कृतियों में दोष निकाले थे, और कालिदास के सहपाठी निचुल ने उनका समाधान किया था। दिङ्नाग 345 से 425 ई० में हुए थे।[3] दिङ्नाग अपने युग का शास्त्रार्थ महारथी एवं बौद्ध नैयायिक था। सम्राट् चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य 'परम भागवत' था।[4] दिङ्नाग भागवत धर्म का विरोधी। इसलिए भी कालिदास का दिङ्नाग के विरुद्ध और सम्राट् चन्द्रगुप्त के पक्ष में बोलना सर्वथा उचित है।

दिङ्नाग चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के पिता समुद्रगुप्त (325 ई० से 375 ई०) का समकालीन भी था और चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के पुत्र कुमारगुप्त (413 ई० से 455 ई०) तक के समय तक भी जीवित रहा। हम लिख चुके हैं कि दिङ्नाग वाग्भट के पूर्ववर्ती चरक व्याख्याकार ईश्वरसेन के गुरु थे। शास्त्रज्ञ ईश्वरसेन का उल्लेख ह्वेनसांग ने किया है।[5] न केवल ईश्वरसेन किन्तु उस युग के महान आयुर्वेदाचार्य के नाते उसने वाग्भट का भी उल्लेख किया है। इसलिए यह सिद्ध है कि ह्वेनसांग के भारत-आगमन (631 ई०) से पूर्व ही ईश्वरसेन तथा वाग्भट प्रथम श्रेणी के विद्वानों में प्रतिष्ठित हो चुके थे।

---

1. हरिचन्द्रेण तु सहशब्दोऽयमकारान्तो मार्गशीर्षवचनस्तस्य सहस्य प्रथमे कार्तिके इति व्याख्यातम्। तन्मतानुसारिणा वाग्भटेन चोक्तम्—"श्रावणे कार्तिके चैत्रे मासि साधारणे क्रमात्। ग्रीष्मवर्षा हिम चितान् वाय्वादीनाशु निर्हरेत" ।—चर० सू०7/46–50 चक्रटीका।
2. "दिङ्नागानां पथि परिहरन् स्थूल हस्तावलेपान्"। मल्लिनाथ व्याख्या देखिये—मेघदूत-पूर्व० 14
3. गुप्त साम्राज्य का इतिहास, भा० २, पृ० 146
4. परम भागवतस्य महाराजाधिराज श्री चन्द्रगुप्तस्य—वैशालीमुद्रा, भारतीय विद्रे, पृ०, 159
5. भारतवर्ष का बृहत् इतिहास, अ० 11, पृ० 317—श्री भगवद्दत्त।

ऊपर के सम्पूर्ण विवरण से निम्न सारांश निकलते हैं—

1. कालिदास तथा भट्टारक हरिचन्द्र चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के दरबार में थे। विक्रमादित्य के नवरत्नों में उनकी गिनती थी।

2. चन्द्रगुप्त के समय वाग्भट का जन्म नहीं हुआ था। किन्तु भट्टारक हरिचन्द्र आयुर्वेद के प्रमुख विद्वानों में प्रतिष्ठित हो चुके थे। 378 ई० में चन्द्रगुप्त सिंहासनारूढ़ हुआ और 412 ई० में दिवंगत हो गया।

3. वाग्भट तथा ईश्वरसेन दोनों समकालीन थे। ईश्वरसेन दिङ्नाग के शिष्य थे, उन्होंने चरक पर व्याख्या लिखी। किन्तु आयु में ईश्वरसेन वाग्भट्ट से वयोवृद्ध थे। क्योंकि दिङ्नाग की मृत्यु के समय वाग्भट प्रायः चार-पांच वर्ष के रहे होंगे।

4. वाग्भट दिङ्नाग की मृत्यु (425 ई०) से पूर्व 420 ई० में उत्पन्न हो चुके थे और ह्वेनसांग के भारत में आने (631 ई०) के पूर्व प्रतिष्ठित विद्वानों में गिने जा चुके थे। अर्थात् 420 ई० से 431 ई० के बीच वाग्भट का आविर्भाव हुआ।

सन् 412 ई० में चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य स्वर्गवासी हुआ। 413 ई० में उसका पुत्र कुमारगुप्त (प्रथम) राजसिंहासन पर बैठा। 413 से 455 ई० तक कुमारगुप्त ने शासन किया।[1] इसके पिता चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने पश्चिमी एवं पश्चिमोत्तर दिशाओं में बलख (वाल्हीक) तक प्रदेशों को विजय किया, जो शकों के अधिकार में थे। शकाधिपति को जिसका परिचय भारतीय ग्रन्थों में 'खस' शब्द से मिलता है, चन्द्रगुप्त ने कार्तिकेय नगर (जिला अंलमोड़ा) में परास्त किया था।[2] यदि चन्द्रगुप्त के शासनकाल में वाग्भट का जन्म हो गया होता तो उन्हें सिन्धु प्रदेश छोड़कर काश्मीर जाने की आवश्यकता न होती। क्योंकि वह स्थान गुप्त साम्राज्य में ही आ गया था। वहां भारतीयों को निर्विघ्न रहने की सुविधा थी।

चन्दगुप्त विक्रमादित्य के उपरान्त 413 ई० से 455 ई० तक उसके पुत्र कुमारगुप्त के शासनकाल में बयालीस वर्ष तक शकों ने कोई आक्रमण भारत पर नहीं किया। कुमारगुप्त बड़ा वीर सम्राट् था। उसकी उपाधि 'सिंह महेन्द्रः' उसके सिक्कों पर उत्कीर्ण प्राप्त होती है। दूसरी उपाधि 'महेन्द्रादित्य' भी मिलती है। अपने पिता चन्द्रगुप्त तथा पितामह समुद्रगुप्त की भांति कुमारगुप्त ने भी अश्वमेध यज्ञ किया था। उसके सिक्कों पर 'अश्वमेध महेन्द्रः' लिखा हुआ मिलता है। सातवीं शताब्दी के चीनी यात्री ह्वेनसांग ने लिखा है कि गुप्त राजा 'शक्रादित्य' ने नालन्दा में बौद्ध विहार की स्थापना की थी। यह 'शक्रादित्य' 'महेन्द्रादित्य' कुमारगुप्त ही था।[3] इसका शासन नितान्त निर्विघ्न तथा शांतिपूर्ण रहा। इसके विरुद्ध किसी शत्रु को शस्त्र उठाने

---

1. गुप्त साम्राज्य का इतिहास, भाग 1, पृ० 106
2. 'तीर्त्वा सप्त मुखानि येन समरे सिन्धोर्जिताः वाह्लिकाः'—महरौली का स्तम्भ लेख।
   'जिसने सात नदियां पार करके युद्ध में बलख जीता।'
3. गु० सा० का इतिहास, भाग 1, पृ० 102

का साहस नहीं हुआ। इसी कारण इसके सिक्कों पर 'गुप्तकुलामलचन्द्रः' आदि उपाधियां लिखी गईं।

कुमारगुप्त के उपरान्त 455 से 467 ई० तक उसके पुत्र स्कन्दगुप्त ने शासन किया। इसके बारह वर्ष के शासनकाल में शकों और हूणों ने फिर से भारत में आक्रमण प्रारम्भ कर दिये। 456 ई० में हूणों ने पहला आक्रमण भारत पर किया। परन्तु स्कन्द ने उन्हें परास्त कर दिया। यह निश्चित है कि स्कन्द के पराक्रमी होने के बावजूद हूणों और शकों ने भारत में गुप्त साम्राज्य की एकान्त शान्ति भंग कर दी। एक पुष्यमित्र नामक जाति भी थी। उन्होंने भी भारत पर आक्रमण किये। स्कन्दगुप्त ने अपने पिता के समान ही पुष्यमित्रों को भी परास्त किया। भितरी (जि० गाजीपुर) वाले स्कन्दगुप्त के शिलालेख में उसका जो वर्णन मिलता है वह तत्कालीन राजनीतिक अशान्ति तथा स्कन्द की वीरता पर भली-भांति प्रकाश डालता है।[1] जो भी हो, ये सारे आक्रमण पश्चिम से ही हुए थे। इस कारण पंजाब और सिन्ध के प्रदेश समुद्रगुप्त के बारह वर्ष के शासनकाल में (455 से 467 ई०) युद्धक्षेत्र ही बने रहे। ऐसी परिस्थिति में उस प्रदेश के निवासी भारतीय परिवार निश्चय ही दूसरे सुरक्षित प्रदेशों में जाकर आबाद हुए होंगे। वाग्भट का परिवार भी इसी अशान्त वातावरण में सिन्ध से कश्मीर गया होगा। यह निश्चित है वाग्भट की पुत्री का शक या हूण आक्रान्ता द्वारा बलपूर्वक अपहरण इस विश्वास को और अधिक दृढ़ करता है। इन आधार पर हम यह मानेंगे कि वाग्भट का जन्म कुमारगुप्त के शासनकाल (413 से 455 ई०) में ही हुआ। स्कन्दगुप्त के समय युवती पुत्री का होना यह सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है कि पुत्री 16–17 वर्ष की अवश्य थी। यदि वह वाग्भट की 20 वर्ष की आयु में उत्पन्न हुई हो तो जब वाग्भट की आयु 36 वर्ष की थी उसका अपहरण हुआ। इस प्रकार 456 ई० में हूण आक्रमण के समय वाग्भट 36 वर्ष के थे। अतएव 456 में से 36 घटा दें तो वाग्भट का जन्म वर्ष 420 ई० होता है। 420 ई० में कुमारगुप्त का शासन अपने गौरव के शिखर पर आरूढ़ था। कोई शत्रु उसके समक्ष सिर उठाने का साहस नहीं कर सकता था। तभी तो 'अश्वमेध महेन्द्र' तथा 'महेन्द्रादित्य' जैसी उपाधियां उसे प्राप्त हुई थीं।

जीवन के इन 36 वर्षों में वाग्भट निश्चय ही आचार्यत्व के अधिष्ठातृदेव अवलोकितेश्वर की उपासना द्वारा अन्तर्ज्योति प्राप्त करके अपने पूज्य पिता सिंहगुप्त से अपने घर पर ही शास्त्रों का अध्ययन करते रहे होंगे। 36 या 37 वर्ष की आयु में

---

1. पितरि दिवमुपेते विप्लुतां राजलक्ष्मीं,
   भुजबल विजितारिर्यः प्रतिष्ठाप्य भूयः।
   जितमिव परितोषन्मातरं साश्रु नेत्रां,
   हतरिपुरिव कृष्णो देवकीमभ्युपेतः॥
   विचलित कुल लक्ष्मी स्तम्भनायोद्यतेन, क्षितितल शय नीये येन याता त्रियामा।
   समुदित बल कोषान्पुष्यमित्रांश्च जित्वा क्षितिप चरण पीठे स्थापितो वाम पादः॥
   —'हूणैर्यस्य समागतस्य समरे दोर्भ्यां धरा कम्पिता'।—भितरी का स्तम्भ लेख।

(456 ई०) हूणों के आक्रमण ने समूचे सिन्ध और पंजाब में जो उथल-पुथल की वह विद्या-प्रेमी और शान्तचित्त व्यक्तियों को स्थान त्याग देने के लिए अवश्य विवश करती थी। विशेषतः कन्या के अपहरण से खिन्न होकर 37 वर्ष की युवावस्था में वाग्भट कश्मीर आकर बस गये।

455 से 467 ई० तक, बारह वर्ष तक स्कन्दगुप्त के राज्यकाल में यद्यपि शक और हूण भारत में बैठ तो नहीं सके, परन्तु उन्होंने यहां की सामाजिक अवस्था को अशान्त बनाये रखा। इसी कारण निरन्तर बारह वर्ष तक स्कन्द का एक हाथ अपनी प्रजा के कल्याण के लिए उठा रहा और दूसरा तलवार की मूठ पर रहा। अपने पिता सम्राट् कुमारगुप्त की भांति वह राजमहलों के पलंग पर निश्चिंत होकर न सो सका। भितरी का शिलालेख इस पर सुन्दर प्रकाश डालता है—'

विचलित कुल लक्ष्मी स्तम्भनायोद्यतेन,
क्षितितल शयनीये येन याता त्रियामा।[1]

स्कन्द के राज्यकाल के बारह वर्ष महलों में नहीं, युद्धभूमि में ही अधिकांश व्यतीत हो गये। महलों की आकांक्षा उसने कभी नहीं की। दिनभर विश्व को आलोकित किए बिना सूर्य भी सन्ध्या का आलिङ्गन नहीं करता। स्कन्दगुप्त जैसे चक्रवर्ती सम्राट् की स्थिरता भी जिन परिस्थितियों में दोलायमान हो गई, उनमें वाग्भट जैसे एक नागरिक की गिनती ही क्या ?

यह ठीक है कि स्कन्दगुप्त के पराक्रम का लोहा हूण मान गए।[2] किन्तु तो भी 467 ई० में स्कन्दगुप्त की मृत्यु के उपरान्त गुप्त साम्राज्य का वेग से पतन प्रारंभ हो गया। दुर्भाग्य से स्कन्दगुप्त के कोई पुत्र न था। इसलिए उसकी मृत्यु के बाद उसका भाई पुरगुप्त राजसिंहासन का अधिकारी बना।[3] वह अपने पूर्वजों की भांति 'परम भागवत' न रहा, किन्तु आचार्य वसुबन्धु से उसने बौद्ध धर्म की दीक्षा ले ली। स्कन्दगुप्त तक परम भागवत होने का विरुद अविचल रूप से प्रत्येक गुप्त सम्राट् के नाम के साथ मिलता है,[4] परन्तु पुरगुप्त ने उसे समाप्त कर दिया।

वाग्भट के लेखों में भागवत धर्म के प्रति भक्ति के भाव हमें प्राप्त होते हैं। ब्रह्मा, इन्द्र, विष्णु तथा कार्तिकेय की स्तुति उनके लेखों में मिलती है[5]। भूतपति (शिव) तथा उनके गणों की स्तुति भी उन्होंने लिखी है।[6] देवता, गौ तथा ब्राह्मण की अर्चना का

---

1. 'अपने कुल की विचलित राज्यलक्ष्मी की रक्षा के लिए भूमि पर सोकर जिसने रात्रियां व्यतीत कीं।'
2. प्रथयन्ति यशांसि यस्य रिपवोप्यामूल भग्न दर्पाः,
निर्वचना म्लेच्छ देशेषु" — जूनागढ़ का शिलालेख।
3. भितरी की राजमुद्रा।
4. परम भागवतो महाराजाधिराज श्री कुमारगुप्तस्य पुत्रः तत्पादानुध्यातः परमभागवतो महाराजाधिराज श्री स्कन्दगुप्तः। —बिहार का शिलालेख।
5. अष्टा० सं०, शारीर०, अ० 3
6 अष्टा० सं०, उत्तर०, बालग्रह प्रतिषेध, अ० 4

उल्लेख तथा वेदों के प्रति आस्था स्पष्ट ही भागवत धर्म के प्रतीक हैं, जो वाग्भट के ग्रन्थों में अनेक स्थलों पर लिखे गये हैं। देवता अनेक हैं, किन्तु भागवत धर्म का मुख्य आग्रह वैदिक आचारशास्त्र एवं आस्तिकवादी वह विचारधारा है जो भागवत पुराण में चित्रित की गई है। वहां स्पष्ट लिखा है कि भागवत धर्म निगम-कल्प तरु का रसीला फल है।[1] वैदिक धर्मों में अनेक शाखा-प्रशाखाएं जुड़ी हैं। योग, वैराग्य, यज्ञ-याग, जैसे मार्ग भी वैदिक हैं, परन्तु वे रूखे हैं। भागवत सरस भक्ति का मार्ग है। वह लोक संग्रह के साथ चलता है।

भागवत धर्म के माङ्गलिक प्रतीकों में (1) पूर्ण कुम्भ, (2) कन्या, (3) शंख, (4) ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, (5) उष्णीष, (6) वेदाध्ययन, (7) चक्र, (8) गदा, (9) पद्म आदिका उल्लेख वाग्भट ने किया है।[2] नृसिंह का अवतार भागवत सम्प्रदाय का महत्त्वपूर्ण अंश है। वाग्भट ने उसके प्रति आस्था प्रकट की है।[3] भागवत धर्म से गर्भित इन लेखों को देखकर हम यही निर्णय कर सकते हैं कि वाग्भट का आविर्भाव परम-भागवत गुप्त काल में हो चुका था। गुप्तों का परम भागवत काल स्कन्दगुप्त के उपरान्त समाप्त हो गया।

275 से 324 ई० गुप्त शासन का आदिकाल कहा जाता है। इसमें तीन राजा हुए—

1. श्रीगुप्त।
2. घटोत्कचगुप्त।
3. चन्द्रगुप्त (प्रथम)।

उत्कर्ष काल 324 से 467 ई० तक। इसमें चार सम्राट् आते हैं—

1. सम्राट् समुद्रगुप्त
2. सम्राट् चन्द्रगुप्त (विक्रमादित्य)
3. सम्राट् कुमारगुप्त (प्रथम)
4. सम्राट् स्कन्दगुप्त

अपकर्ष काल 467 से 544 ई० तक। इसमें छः राजा आते हैं—

1. पुरुगुप्त
2. नरसिंह गुप्त
3. कुमारगुप्त (द्वितीय)

भूतेशंपूजयेत्स्थाणुं प्रमथान्यांश्च तद्गणान्।—अष्टा० हृ०, उत्त० 5/52
"वेदवाद मिश्रैः कृत पुण्याहघोषैः"—अ० हृ० उ० 5/52

1. निगम कल्पतरोर्गलितं फलं,
शुक मुखादमृत द्रव संयुतम्।
पिवत भागवतं रसमालयं,
मुहुरहो रसिकाः भुवि भावुकाः॥—श्रीमद्भागवत
2. अष्टा० हृ०, शारीर०, अ० 6/30-38
3. 'चक्रोज्वलभुजं भीतं नारसिंहमिवासुराः'। —अष्टा० हृ०, उत्तर० 37/44
शङ्खचक्रगदापाणिस्त्वामाज्ञापयतेऽच्युतः। —अष्टा० हृ०, उत्त० 39/89

4. बुध गुप्त

5. तथागत गुप्त

6. भानुगुप्त

हमने ऊपर लिखा है कि वाग्भट का जन्म 420 ई० में सिन्ध में हुआ था। उस समय कुमारगुप्त प्रथम शासन कर रहे थे। कुमारगुप्त का शासन 413 ई० से प्रारम्भ हुआ था। वाग्भट के जन्म तक उसे शासन करते सात वर्ष बीत चुके थे। यह भी ध्यान रखनें की बात है कि 467 ई० में स्कन्दगुप्त की मृत्यु के उपरान्त पुरुगुप्त शासक तो बना, किन्तु सौराष्ट्र तथा पश्चिमी मालवा गुप्तों के हाथ से निकल गये।[1] सौराष्ट्र के निकल जाने से उसके सबसे निकट पड़ोसी सिन्ध की स्थिति भी अच्छी नहीं थी।

पुरु गुप्त के समय से गुप्त शासन दो भागों में बट गया। पुरुगुप्त का छोटा भाई बुधगुप्त था। वह भी दूसरा शासक बन गया। इस प्रकार गुप्त साम्राज्य पुरुगुप्त और बुधगुप्त दोनों के आधीन क्रम से चला।

1. पुरुगुप्त (बौद्ध)—467–469 ई० तक

2. नरसिंह गुप्त—469–472 ई० तक

3. कुमार गुप्त (द्वितीय)—473 से 475 ई० तक

यह परम्परा कुल दस वर्ष में समाप्त हो गई। दूसरी परम्परा बुध गुप्त की थी—

1. बुध गुप्त—476–495 ई० तक

2. तथागत गुप्त या वैन्य गुप्त—496–509 ई० तक

3. बालादित्य (भानुगुप्त)—510–544 ई० तक

4. वज्र—545–560 ई० तक।

इस प्रकार कुमारगुप्त प्रथम के तीन पुत्र थे—(1) स्कन्द गुप्त (2) पुरुगुप्त (3) बुधगुप्त। शासन तीनों ने किया। स्कन्द ने सम्राट् होकर, पुरु और बुधगुप्त ने उत्तराधिकारी होकर। पुरुगुप्त के वंश ने कुल 10 वर्ष और बुधगुप्त के वंश ने 84 वर्ष राज्य-शकट को जैसे-तैसे खींचकर 560 ई० में गुप्त साम्राज्य का अन्त कर दिया। इन पिछले सम्राटों की प्रवृत्ति प्रायः बौद्ध थी।

हमने ऊपर लिखा है कि वाग्भट ने शक देश[2] का उल्लेख किया है। भारत में शक तथा हूणों का अन्तिम समय 532 ई० है। भारत में शक, हूण, और कुषाण एक ही परम्परा में गिने जाते हैं। उनमें वंशभेद रहा हो, किन्तु वे एक ही जाति, एक ही संस्कृति और एक ही राजनीति के अनुयायी थे। उस युग के लेखक उन्हें 'म्लेच्छ' लिखते थे। मनुस्मृति में उन्हें पहले से 'म्लेच्छ' या 'दस्यु' नाम दिया गया था।[3] स्कन्दगुप्त की जूनागढ़ वाली प्रशस्ति में "प्रथयन्ति यशांसि यस्यरिपवोऽप्यामूल भग्नदर्पा निर्वचना-

---

1. गुप्त सा० का इति०, भा० 1, पृ० 127
2. अष्टा० हृ० उत्तर० 39/116
3. मनु० 10/44-45

म्लेच्छ देशेषु'[1] लिखा है।

सन् 510 में भानुगुप्त बालादित्य ने मध्य भारत में हूणों को परास्त किया, और उनका राज्य वहां से उखाड़ दिया। फिर भी सिन्ध और पंजाब उनके अधिकार में था ही। भानुगुप्त ने 510 ई० में तोरमाण को अवश्य हरा दिया था। वह मध्य भारत और सौराष्ट्र से हट गया। किन्तु तोरमाण के मरने के उपरान्त भी उसका पुत्र मिहिरकुल शाकल (सियालकोट) में राजधानी बनाकर सिन्ध और पंजाब पर शासन कर रहा था। सन् 532 ई० में मालवा के सम्राट् यशोवर्मा ने मिहिरकुल पर आक्रमण कर दिया। भीषण युद्ध हुआ। मिहिरकुल को मारकर यशोवर्मा ने शाकल पर अधिकार कर लिया। हूण शासन भारत से सदैव के लिए समाप्त हो गया।

सन् 532 के बाद भारत में कोई शक देश नहीं रहा। इसलिए यह निश्चय है कि वाग्भट का समय हम 532 ई० के बाद निर्धारित नहीं कर सकते। हमने पीछे लिखा है कि वाग्भट का जन्म 420 ई० में कुमारगुप्त (प्रथम) के शासनकाल में हुआ था। इसलिए 420 ई० से 532 ई० के बीच में ही वाग्भट की आयु का मान स्थिर करना होगा। 456 ई० में स्कन्दगुप्त के समय हूणों ने जो आक्रमण किया था, उसमें स्कन्दगुप्त से परास्त हो कर उन्हें लौट जाना पड़ा था। तो भी इस अभियान में वाग्भट की कन्या का अपहरण हो गया था। किन्तु शक देश स्थिर रूप से नहीं बन सका। एरण (जि० सागर, मध्य-प्रदेश) से प्राप्त दो लेखों से यह प्रकट होता है कि बुधगुप्त (477 से 495 ई०) के शासन-काल में तोरमाण का आधिपत्य पंजाब, सिन्धु और मध्य प्रदेश में अवश्य हो गया था। बुधगुप्त के आश्रित शासक मातृविष्णु तथा उसके अनुज धन्यविष्णु ने 485 ई० में तोरमाण की अधीनता स्वीकार कर ली थी।

सन् 485 ई० में भारत में शक देश बन गया था। इस कारण हम यह दृढ़ता-पूर्वक कह सकते हैं कि वाग्भट 485 ई० में जीवित थे। 456 ई० में वाग्भट की आयु 37 वर्ष की थी और 485 ई० में जब ये अष्टाङ्गसंग्रह के उपरान्त अष्टाङ्गहृदय लिख रहे थे, उनकी आयु 66 वर्ष की हो गई थी। जब उन्होंने अष्टाङ्गहृदय लिखना प्रारम्भ किया, गुप्त वंश का पतन प्रारम्भ हो गया था। परन्तु जब उसे वे समाप्त कर रहे थे भारत में शक देश स्थापित हो चुका था। इसी कारण शक देश का उल्लेख उन्होंने ग्रन्थ के अन्तिम अध्यायों में किया है।[2] इस उल्लेख के बाद केवल एक चालीसवां अध्याय लिखकर आचार्य ने ग्रंथ समाप्त कर दिया। रसायन प्रयोगों में लहसुन का उल्लेख करते हुए वाग्भट ने लिखा है कि हिमालय और शक देश में पैदा होने वाली लहसुन उपयोग में लायी जाय। लहसुन की उपज का यह क्षेत्र पंजाब और सिन्ध ही होना चाहिए। यहीं इसका व्यवहार सबसे अधिक है।

अष्टाङ्गसंग्रह और अष्टाङ्गहृदय दोनों ग्रन्थ आचार्य ने कश्मीर में ही लिखे।

---

1. जिसके शत्रुओं का मद गुमान गायब हो गया है। म्लेच्छ देश में ये नीच रहते हुए स्कन्दगुप्त का यश फैला रहे हैं।
2. अष्टां० हृ०, उत्तर०, 39/116

अष्टाङ्गसंग्रह की व्याख्या में उनके शिष्य इन्दुकर ने लिखा ही है—'इत्यचार्यस्यदेशसिद्धाः काश्मीरकाः' । जब अष्टाङ्ग संग्रह कश्मीर में लिखा गया तब उसका उपजीवक ग्रन्थ अष्टाङ्गहृदय तो निश्चय ही कश्मीर में लिखा गया था। और वह आचार्य की परिपक्व अवस्था में निर्माण हुआ। 66 वर्ष की आयु के उपरान्त आचार्य के जीवन क्रम का परिज्ञान अभी तक हमें ठीक-ठीक ज्ञात नहीं है। किन्तु घटना क्रम यह इङ्गित करता है कि अनुमानतः छठी शताब्दी के प्रारम्भिक चरण में जराजीर्ण शरीर से भी आयुर्वेद का हितसाधन करते हुए, अनेक शिष्य-प्रशिष्यों को प्राचीन प्राणाचार्यों की यह धरोहर सौंपकर वे यशःकाय में विलीन हो गये। इस प्रकार हम 420 से 508 ई० तक वाग्भट का जीवनकाल स्वीकार कर सकते हैं।

अस्तोन्मुख गुप्त साम्राज्य के राजा वैन्यगुप्त (तथागतगुप्त) का यह शासन काल था। 496 ई० से 508 ई० तक उसने शासन किया। वैन्य ने अपना नाम तथागत-गुप्त रख लिया था, इससे यह निर्विवाद है कि वह भागवत नहीं था। गुनैघर (कोमिल्ला—बंगाल) के लेख से ज्ञात होता है कि वैन्य शैव था। उसने बौद्ध विहार के लिए भूमि दान की थी, और उसके मिले हुए सिक्कों पर 'गरुड़ध्वज' की मूर्ति उत्कीर्ण है। यह उसकी धार्मिक सहिष्णुता का मध्यम मार्ग है। वाग्भट के युग का वही आधार सूत्र था—'सर्व धर्मेषुमध्यमाम्'। भागवत, बौद्ध और शैव धार्मिक प्रवृतियों की खींचातानी के कारण वाग्भट ने ग्रन्थ की प्रारंभिक वंदना में किसी देवता का नाम नहीं लिखा। उन्होंने लिखा—'क्लेशों से जीवन का उद्धार करने में जो समर्थ है, उसी देवता को मेरा नमस्कार हो।'[1] वाग्भट की यह प्रवृति ही, उनके जीवल काल का इङ्गित करती है। हां, यह भी कहना महत्व-पूर्ण होगा कि सातवीं शताब्दी में (631–648 ई०) चीनी यात्री ह्वेनसांग ने अपने भारत में आने के समय से निकटतम भूतकालीन आचार्यों में वाग्भट का उल्लेख किया है। 508 ई० जो वाग्भट के महापरिनिर्वाण का समय है, ह्वेनसांग की भाषा से समन्वित होता है।

इस प्रकार वाग्भट ने अपने जीवनकाल में अपने देश के बड़े-बड़े चढ़ाव-उतार देखे। उनके सामने राजाओं की सात पीढ़ियां शासन कर गईं—

1. कुमारगुप्त (प्रथम) (413 से 455 ई०)
2. स्कन्दगुप्त
3. पुरुगुप्त
4. नरसिंह गुप्त
5. कुमारगुप्त (द्वितीय)
6. बुधगुप्त
7. वैन्यगुप्त (तथागत गुप्त) (496 से 508 ई०)

---

1. रागादि रोगान् सततानुषक्ता—
   नशेषकाय प्रसृतानशेषान्।
   औत्सुक्य मोहा-रतिदान् जघान,
   योऽपूर्व वैद्याय नमोऽस्तु तस्मै ॥—अ० हृ०, सू० 1/1

इन 88 वर्ष में जहाँ राजाओं की सात पीढ़ियाँ शासन कर गई, वाग्भट प्राणाचार्यों के साम्राज्य पर अकेले शासन करते रहे। हां, यह स्वीकार करने में भी हिचकिचाहट नहीं होनी चाहिए कि 508 ई० में जिस प्रकार गुप्त साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया, उसी प्रकार आयुर्वेद का साम्राज्य भी। फिर उसमें उस टक्कर के न आचार्य हुए, न ग्रन्थ रचे गये। इसीलिए मैं इस ग्रन्थ में युग-निर्माता प्राणाचार्यों में वाग्भट को अन्तिम महारथी लिख रहा हूं।

आचार्य ने अष्टाङ्गसंग्रह में अपने अध्ययन का परिचय देते हुए लिखा है कि मैंने बुद्धि की प्रतिभा आदि आचार्य अवलोकितेश्वर से प्राप्त की और उसके अतिरिक्त विद्या अपने पूज्य पिता से ग्रहण की है।[1] हमने पीछे लिखा है कि बौद्ध धर्म के अनुसार अवलोकितेश्वर अनेक बोधिसत्वों में से एक हैं। बौद्धों की मान्यता है कि भगवान बुद्ध ने बुद्धत्व एक ही जीवन में नहीं पा लिया था। वे पिछले जन्म-जन्मान्तरों से उसके लिए प्रयत्न करते आ रहे थे। सम्बोधि प्राप्त करने के प्रयत्न में उन्होंने जो अनेक अवतार धारण किये, उन्हें बोधिसत्व कहते हैं। ये बोधिसत्व मनुष्य कक्षा से ऊपर तथा बुद्ध से नीचे हैं। गुप्त-काल में इन्हीं बोधिसत्वों की विभिन्न प्रतिमायें प्रस्तरों पर निर्मित की गई। मथुरा तथा सारनाथ से ऐसी अनेक बोधिसत्व मूर्तियां प्राप्त हुई हैं। यह पीछे कहा जा चुका है।

सारनाथ में प्राप्त अवलोकितेश्वर की प्रतिमा का उल्लेख भी पीछे हो चुका है।- अवलोकितेश्वर का दाहिना हाथ वारद मुद्रा[2] में रहता है तथा बाएं हाथ में मंगल का प्रतीक कमल पुष्प रहता है। शरीर का ऊपरी भाग विवस्त्र तथा कमर से नीचे वस्त्र रहता है। कमर करधनी से अलंकृत रहती है। कानों में मण्डलाकार कर्णाभरण तथा गले में हार पहने हुए होते हैं। भुजा में मकराकृति केयूर तथा रत्नजटित कंकण दिखाई पड़ते हैं। बालों का कुछ भाग कन्धों तक लटका रहता है। अवलोकितेश्वर की यह प्रतिमा करुणा और स्वास्थ्य की देवता है। बोधिसत्व अवलोकितेश्वर मरणधर्माओं (प्रेतों) को अमृतपान कराते हुए सारनाथ की प्रतिमा में चित्रित हैं।[3]

अवलोकितेश्वर की यह परिकल्पना बौद्ध धर्म की मौलिक भावना नहीं है। किन्तु भागवत धर्म के विचारों से प्रभावित होकर बौद्ध धर्म ने जो रूपान्तर लिया उसमें भागवत देवताओं की भांति अनेक बौद्ध अवतार उसी भावना को प्रस्तुत करने के लिए रचे गये जिन्हें भागवत धर्म में दस अवतारों के रूप में पूजा जाता था। भागवत विचारों में भगवान धन्वन्तरि के विष्णु अवतार की जो कल्पना है, ठीक वही गुप्तकालीन बौद्ध विचारों में अवलोकितेश्वर का स्थान है। यही विचार दार्शनिक रूप में बौद्धों का 'महायान' बना। भारत और भारत के बाहर लंका, चीन, जापान और पूर्वी द्वीप समूहों तक इसी महायान सम्प्रदाय का विकास अधिक हुआ।

बोधिसत्व मञ्जुश्री विद्या तथा ज्ञान के देवता है। इनकी मूर्ति के दोनों ओर दो

---

1. समधिगम्य गुरोरवलोकितान् गुरुतराच्च पितुः प्रतिमां मया --अष्टा० सं०, उत्तर० अ० 50
2. "वरद कर्म दक्षिणेन"—साधनमाला
3. गु० सा० का इति०, भाग 2, पृ० 288

देवियां चित्रित हैं। दाहिनी ओर 'भृकुटी-तारा वाएं हाथ में कमण्डलु तथा दाहिने में अक्षमाला लिये चित्रित है तथा वायीं ओर 'मृत्युवंचन-तारा' का दाहिना हाथ वरद मुद्रा में तथा वाएं में उत्पल शोभित है। वाग्भट अवलोकितेश्वर की भांति तारा पर भी अत्यन्त श्रद्धा रखते थे। उन्होंने तारा की उपासना का उल्लेख शिव, स्कन्द तथा सूर्य की उपासना के समकक्ष किया है।[1]

मौर्यकाल तक बौद्ध धर्म (200 ई० पूर्व) निवृत्ति-प्रधान धर्म था। ई० पूर्व 200 से 100 तक के बौद्ध मूर्तिकला के नमूने भरहुत तथा सांची में मिले हैं। इन मूर्तियों की सजावट साधारण आभूषणों से प्रारम्भ हुई है। ईसा की प्रथम से द्वितीय शताब्दी में दक्षिण भारत में अमरावती से प्राप्त मूर्तियों में वही सज्जा अधिक आकर्षक, सौन्दर्य और शृंगार से परिपूर्ण प्राप्त हुई है।

वेल-वूटे, पुष्पलताएं आदि यहां की विशेषताएं हैं। ईसा की प्रथम शताब्दि में कुषाण तथा शक राजाओं ने उत्तर-पश्चिम से गंधार तथा ग्रीक कला की पुट भारतीय भाव-भंगी में दे दी थी। इसमें मूर्ति के सिर के चारों ओर ओप निर्माण किया जाने लगा। इन (गन्धार तथा ग्रीक) शैलियों ने भगवान वुद्ध के जीवन की अनेक घटनाओं की मूर्तियां निर्माण कीं। वुद्ध भगवान की जटाजूट प्रतिमा पहले-पहल इसी कला ने प्रस्तुत की थी। इसके नमूने स्वात और पेशावर में पाये जाते हैं। मथुरा भी पीछे से इस कला का एक प्रधान केन्द्र वन गया था।[2] किन्तु ईसा की प्रथम शताब्दी में वुद्ध धर्म की मूल निवृत्ति-प्रधान आकृति में प्रवृत्ति का विस्तार हो चला था। यह प्रगति यहां तक वढ़ी कि वौद्ध धर्मानुयायियों में ही वौद्ध धर्म के वास्तविक रूप के वारे में विवाद उठ पड़ा, और प्रगतिशील व्यक्तियों ने अपना एक स्वतन्त्र संगठन घोषित कर दिया, जिसका नाम 'महायान' सम्प्रदाय था।

सच यह है कि मौर्यों के पतन के पश्चात शुङ्गों नें जिस वैदिक धर्म को फिर से संस्थापित किया उससे प्रभावित वौद्ध धर्म की नवीन आकृति का नाम ही 'महायान' मार्ग है। गुप्तों के काल तक भागवत धर्म से प्रभावित होने के उपरान्त वौद्ध धर्म प्रकारान्तर से भागवत धर्म ही वन गया था वौद्ध नामों की आड़ में वैदिक अवतारों की प्रतिमायें वनीं, और उन्हीं की पूजा की जाने लगी। अवलोकितेश्वर भगवान् धन्वन्तरि का विष्णु अवतार तथा तारा भगवती सरस्वती के ही प्रतिरूप हैं, अधिक कुछ नहीं। डॉ० राधाकृष्णन ने अपनी पुस्तक India and China में इस विषय का विवेचन करते हुए लिखा है कि यह हिन्दू धर्म (भागवत धर्म) की नकल मात्र थी।[2]

---

1. व्रत दम यम, सेवा त्यागशीलाभियोगो,
द्विज सुर गुरु पूजा सर्व सत्वेषु मैत्री।
शिव शिवसुत तारा भास्कराराधनानि,
प्रतदिन मन पाप कुष्ठ मुन्मूलयन्ति ॥—अष्टा० हृ०, चि० 20/98

2. The Bodhi Sattwas, Avalokiteshwar and Manjushri are the personifications of kindness and knowledge. Avalokiteshwar is often accompanied by a female figure Tara, who is adored

कनिष्क के राज्यारोहण के तृतीय वर्ष में उसका एक महाक्षत्रप (खर पल्लान) सारनाथ में रहता था। उसी के समय में भिक्षुवल ने अवलोकितेश्वर की प्रतिमा प्रतिष्ठापित की थी।[1] तात्पर्य यह कि ईसा की प्रथम शताब्दी में जिस देवता की परिकल्पना महायान के आविर्भाव के साथ हुई थी, गुप्तकाल में वह और अधिक पुष्पित और पल्लवित हुई। बौद्ध धर्म की चतुर्थ संगीति शक सम्राट् कनिष्क के तत्वावधान में आचार्य वाग्भट की कर्मभूमि कश्मीर में ही हुई थी, जिसमें पांच सौ प्रमुख बौद्ध भिक्षुओं ने मिलकर प्रगतिशील विचार 'महाविभाषा' के रूप में संकलित किए थे। चाहे वे हीनयान से ही सम्बन्धित थे, परन्तु उनमें क्रान्ति की प्रगति तो थी ही। मूल स्थविरवाद (हीनयान) की शाखा होने पर भी मूल सर्वास्तिवाद में भिक्षुओं के 35 और भिक्षुणियों के 60 नियम अधिक हो गए।[2] ये विचार 300 ई० तक आन्दोलन के रूप में थे, परन्तु उसके उपरान्त ज्यों ही गुप्त सम्राटों का उदय हुआ, वे महायान के सार्वभौम सिद्धान्तों के रूप में स्वीकार कर लिये गए। आचार्य वाग्भट की अवलोकितेश्वर तथा तारा के प्रति भक्ति-भावना यह स्पष्ट करने के लिए पर्याप्त है कि वे गुप्तकालीन आदर्शों के प्रतीक थे।

भिक्षुप्रवर श्री राहुल सांकृत्यायन ने लिखा है—"ईसा की चौथी-पांचवीं शताब्दी में (चन्द्रगुप्त प्रथम से स्कन्दगुप्त तक) महायान के प्राबल्य से पूर्व भारत और वृहत्तर भारत में कहीं न कहीं सभी निकायों के अनुयायी मिलते थे, जिनमें दक्षिण भारत में सम्मितीय और चैत्यवादी, लंका में स्थविरवादी (हीनयानी), उत्तर भारत में सर्वास्तिवादी प्रधान स्थान ग्रहण करते थे।...उन निकायों के नाश के साथ उनके पिटकों का भी सर्वदा के लिए लोप हो गया है। सिर्फ महासांघिक, सर्वास्तिवादी तथा एकाध और के कुछ ग्रन्थ चीन और तिब्बत की भाषाओं में अनुवादित होकर अब भी मिलते हैं।"[3]

आचार्य दिङ्नाग, मैत्रेयनाथ तथा वसुबन्धु, असङ्ग जैसे दिग्गज बौद्ध भिक्षुओं

---

as a female Bodhi Sattwas. Avalokiteshwar assume many shapes as the God of mercy. Manjushri is pictured as having in his hand the sword of knowledge and a book.

The Mahayan teachings in consonance with the spirit of Indian religion in that it is large enough to include an endless variety of symbolic representations of the absolute. It makes use of Hinyana doctrine for those who are not yet ready for the larger vision. Its metaphysics and the religion have developed under the powerful influence of Hinduism. Several Gods and Godess of the Hindu pentheon have been taken over.—India and China. p. 129, by Dr. S. Radhakrishnan

1. गुप्त सा० का इति०, भा० 2, पृ० 254
2. विनयपिटक, भूमिका (राहुल)
3. वही, पृ० 2

ने शून्यवाद तथा विज्ञानवाद के प्रचार द्वारा जिस महायान का प्रतिपादन किया वह बौद्ध धर्म को धीरे-धीरे वैदिक धर्म के विवर्त्त तथा एकात्मवाद के इतने समीप ले आया कि अगली शताब्दियों (नवीं शताब्दी) में अद्वैतवादी सत्ता का विभिन्न उपाधियों के कारण नाना रूपों में आविर्भाव अवतारवाद का आधार है। भागवत धर्म की वही विचारधारा बोधिसत्वों के अवतारों का आधार भी है, जिनके प्रति आचार्य वाग्भट ने अपनी असीम भक्ति प्रकट की है। अष्टाङ्ग संग्रह में अवलोकितेश्वर की उपासना की प्रतिध्वनि ही अष्टाङ्ग हृदय के मङ्गलाचरण में भी विद्यमान है।[1]

आचार्य वाग्भट ने अपने ग्रन्थों में चैत्यों का उल्लेख अनेक स्थलों पर किया है।[2] उल्लेखों से प्रतीत होता है कि आचार्य के समय चैत्यों को श्रद्धा की दृष्टि से देखा जाता था। बौद्ध धर्म में धीरे-धीरे शाखा-भेद होने पर उसमें अनेक वाद-प्रवाद उत्पन्न हो गए थे। भगवान बुद्ध के महापरिनिर्वाण के 220 वर्षो के उपरान्त अशोक के समय तक इस प्रकार के मुख्य-मुख्य अठारह शाखा-भेद हो गए थे। प्रत्येक शाखा को 'निकाय' कहते थे। इनमें सबसे अन्तिम अठारहवां निकाय 'चैत्यवादी निकाय' ही था।[3] अशोक के पूर्व तक समाज में चैत्यों के प्रति श्रद्धापूर्ण विचारों को प्रमुख स्थान नहीं था। चैत्य पूजा अशोक के उपरान्त ही बौद्ध धर्म में समाविष्ट हुई थी। क्रमशः ईसा की चतुर्थ शती में वह भारत के सर्वसाधारण में आस्था का विषय बन गया। केवल अशोक ने ही अपने जीवनकाल में 84000 चैत्यों का निर्माण कराया था,[4] क्योंकि बौद्ध धर्म में उस समय तक उतने ही सम्प्रदाय उत्पन्न हो गये थे। प्रत्येक सम्प्रदाय के लिए एक विहार तथा चैत्य अशोक ने अर्पित किया था।

इस प्रकार आचार्य वाग्भट के काल-निर्णय में तत्कालीन परिस्थितियों और लेखों का सामंजस्य ही सबसे बड़ा अवलम्ब है। संस्कृत-साहित्य का इतिहास (History of Sanskrit litrature) के लेखक श्री मैकडानल ने भी वाग्भट को ईसा से 400 वर्ष बाद ही स्वीकार किया है, जो निस्सन्देह सम्राट् चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य का ही काल है। श्री गणनाथ

---

1. रागादिरोगान सततानुषक्तान-
   शेष काम प्रसृतान शेषान् ।
   औत्सुक्य मोहारतिदान जघान
   योऽपूर्व वैद्याय नमोऽस्तु तस्मै ॥ अ० हृ०, सू० 1/1
2. चैत्य पूजा ध्वजाशस्त्रच्छाया भस्मतुषाशुचीन् ।—अ० हृ०, सू० 2/33
   तथा चत्वर चैत्यान्तश्चतुष्पथ सुरालयान—अ० हृ० सू० 2/37
3. देखो—विनयपिटक भूमिका में श्री राहुल सांकृत्यायन द्वारा दी गई तालिका।
4. (क) बौद्ध गया में प्राप्त एक ब्राह्मी लेख (Burmese Inscription 1295-1298 Ep. India XI 119
   (ख) महावंश, प्रकरण 5 — — एक बार सम्राट ने मोग्गलि पुत्र तिस्स से पूछा — भगवान के क्या सिद्धान्त हैं? मोग्गलि पुत्र तिस्स ने उत्तर दिया — धर्म के 84000 मत या अधिकार हैं। अशोक ने घोषणा की—'मैं प्रत्येक के लिए एक-एक विहार अर्पित करूंगा'। नब्बे हजार कोटि खजाना वितरण करते हुए अशोक ने चौरासी हजार नगरों में विहार बनवाए। (अशोक—श्री मार्ग, पृ. 36-37
   (ग) फाहियान ने इन विहारों को गृह अथवा चैत्य लिखा है; Leggas, p. 69

सेन महोदय ने भी उन्हें ईसा की 5वीं शती में स्वीकार किया है। अष्टाङ्ग हृदय की भूमिका (निर्णयसागर प्रेस) में अनेक आनुमानिक बातों के आधार पर यह सिद्ध करने का उद्योग किया गया है कि आचार्य वाग्भट ईसा से 200 वर्ष पूर्व हुए थे। परन्तु हमने पीछे वंश-परम्परा के आधार पर जो समय निर्धारित किया है, वही युक्तियुक्त है। वाग्भट के भट्टारक हरिचन्द्र का अनुयायी होने का जो उल्लेख चक्रपाणि ने किया है, वह वाग्भट के काल-निर्णय पर पर्याप्त प्रकाश डालता है। इन्दुकर, जेज्जट तथा उनके शिष्य अथवा पुत्र माधवकर एवं गयदास का स्थान-स्थान पर व्याख्याकारों द्वारा उल्लेख भी वाग्भट के काल-निर्णय का मुख्य साधन है। ईश्वरसेन और उनके गुरु दिङ्नाग द्वारा भी हम वाग्भट तक पहुंचते हैं। चाहे दिङ्नाग पूर्ववर्ती हैं, परन्तु ईश्वर-सेन के गुरु होने के कारण दिङ्नाग का काल (345-425 ई०) वाग्भट के काल-निर्णय का साधन बन गया है क्योंकि व्याख्याओं से ईश्वरसेन और जेज्जट का साहचर्य प्रकट है। जेज्जट वाग्भट के शिष्य थे। पूर्ववर्ती और परवर्ती व्यक्तियों का काल ज्ञात होने पर मध्यवर्ती प्रकट हो ही जाता है। फिर वाग्भट द्वारा शक-देश का उल्लेख भी इतिहास की प्रमुख घटना है। वह भी वाग्भट के काल-निर्णय के साधनों में एक महत्त्वपूर्ण साधन है। इस प्रकार ऊपर वर्णित सभी प्रमाणों के आधार पर आचार्य वाग्भट का जन्मकाल 420 ई० ही उपयुक्त है।

वाग्भट के धार्मिक विचार

वाग्भट का समय जिस प्रकार राजनीतिक क्रान्ति का युग था उसी प्रकार धार्मिक क्रान्ति का भी। वाग्भट के धार्मिक विचारों का अध्ययन करने के लिए हमें तत्कालीन प्रमुख धर्मों के विचारों पर भी दृष्टि डालनी होगी। हम पीछे लिख चुके हैं कि उस युग में बौद्ध तथा वैदिक विचारों में अत्यन्त जागृति थी। परन्तु वह जागृति संघर्षपरक नहीं, समन्वयपरक थी। बौद्ध और वैदिक अपने क्षितिज से चलकर एकता का मध्य-बिन्दु ढूंढ़ रहे थे। प्रतिगामिनी दिशाओं में चलते-चलते आज वे कालचक्र के उस स्थल पर थे जब आमने-सामने खड़े होकर एक-दूसरे का आलिंगन करें। परम्पराओं से आती हुई भिन्नतायें चाहे अभी मिट नहीं सकी थीं, किन्तु बीज के दो पार्श्वों के मध्य आविर्भूत होने वाले एक सुकोमल अंकुर का आविर्भाव स्पष्ट ही दृष्टिगोचर होने लगा था। वाग्भट के युग की धार्मिक क्रान्ति का यही रूप था।

आचार्य वाग्भट का जन्म सिन्धु देश में हुआ था। पुरुषपुर (पेशावर), तक्षशिला, सुवास्तु (स्वात), पुष्कलावती (चारसद्दा) एवं गन्धार (कन्दहार) उसके पूर्व से बौद्ध धर्म के केन्द्र चले आ रहे थे। बौद्ध इतिहास में उस प्रदेश ने अपना एक स्वतन्त्र स्थान बना लिया है। वह सारे सिन्ध, बलोचिस्तान, पंजाब, अफगानिस्तान तथा गंधार के सांस्कृतिक और धार्मिक विकास को प्रस्तुत करता है। उस एकता का नाम है 'गन्धार कला'। कला-कौशल की दृष्टि से उसका सांस्कृतिक महत्त्व है। भाव-चित्रण की दृष्टि से उसका धार्मिक महत्त्व और भी अधिक है। उस युग में बौद्धों के अतिरिक्त जैन विचार-धारा भी थी, परन्तु अवैदिक आन्दोलन होने के कारण वह बौद्ध विचारधारा में ही

अन्तर्भूत हो गई थी। दोनों ही वर्ण-व्यवस्था को स्वीकार नहीं करते। दोनों ही वैदिक यज्ञयाग पर विश्वास नहीं रखते। दोनों ही वेदों का प्रामाण्य नहीं मानते। परन्तु जन-सम्पर्क में बौद्ध ही अग्रणी थे, इसलिए बौद्ध विचारों ने जैनों को अन्तर्भूत कर लिया।

इस प्रकार बौद्ध विचारों से प्रभावित क्षेत्र में आचार्य वाग्भट का जन्म हुआ। अनन्तर वे युवावस्था में कश्मीर चले गये। कश्मीर भी बौद्ध धर्म का केन्द्र था। कश्मीर की प्रसिद्ध नगरी श्रीनगर अशोक ने फिर से आवाद की थी, वह हूणों ने विध्वस्त कर दी थी। इस नगरी को श्रीसम्पन्न तथा आवाद करके बौद्धधर्म स्वीकार करने पर अशोक ने उसे बौद्ध संघ को दान दे दिया। श्रीनगर बौद्ध धर्म का केन्द्र बन गया। मथुरा, सारनाथ तथा उदयगिरि के अतिरिक्त चौथा बौद्ध केन्द्र कश्मीर में श्रीनगर ही था। इस कारण वाग्भट के विचारों में बौद्ध विचारधारा का गहरा प्रभाव है।[1]

भगवान् बुद्ध ने बुद्धत्व प्राप्त करने के उपरान्त ऋषिपत्तन (सारनाथ) में आकर पंचवर्गीय भिक्षुओं को अपना प्रथम उपदेश दिया था—

"भिक्षुओ! अब तक लोगों ने जीवन के दो मार्ग ढूंढ़े हैं—(1) अत्यन्त भोग विलास और (2) अत्यन्त क्लेशपूर्ण तपस्या। दोनों ही अनर्थ हैं। इसलिए दोनों ही अतिरेकों को छोड़ो। भिक्षुओ! इन दोनों अतिरेकों में न जाकर तथागत ने 'मध्यम मार्ग' खोज निकाला है, उसीका अनुसरण करो। यह आर्य अष्टाङ्गिक मार्ग है—(1) सम्यक् दृष्टि, (2) सम्यक् संकल्प, (3) सम्यक् वचन, (4) सम्यक् कर्म, (5) सम्यक् जीविका, (6) सम्यक् प्रयत्न, (7) सम्यक् स्मृति, (8) और सम्यक् समाधि।

चार आर्य सत्य हैं—(1) दुःख है, (2) दुःख का कारण है, (3) दुःख का परिहार है, (4) दुःख परिहार के उपाय भी हैं। भिक्षुओ! इस दुःखसागर से पार जाने का एक ही मार्ग है, जो मध्यम मार्ग मैंने तुम्हें बताया है।[2] अत्यन्त भोग-विलास और अत्यन्त सन्ताप को छोड़कर सम्यक् शैली की मध्यम प्रतिपदा पर आरूढ़ होओ।"

बुद्ध भगवान् के इस महावाक्य का सुन्दरतम प्रतिबिम्ब हमें आचार्य वाग्भट में मिलता है। अष्टाङ्ग हृदय के प्रारंभ में ही वे लिखते हैं —

'न पीडयेदिन्द्रियाणि न चैतान्यति लालयेत'[3]

इन्द्रियों को अत्यन्त सन्तप्त और अत्यन्त लालन करना दोनों बुरे हैं। सन्ताप से चेतना चली जाएगी और लालन से लिप्सा का आवरण तुम्हारी चेतना को ढक लेगा। इसलिए उचित है कि मध्यम मार्ग का अनुसरण करो। उन्होंने फिर लिखा—

'अनुयायात्प्रति पदं सर्व धर्मेषु मध्यमाम्।'[4]

पदे-पदे धर्मो का निरर्थक पक्षपात छोड़कर मध्यम मार्ग पर चलो। किसीसे विशेष लगाव न हो।

---

1. अशोक, श्री पांडेय, पृ० 13. सम्वत् 2003।
2. विनयपिटक, महावग्ग 2
3. इन्द्रियों को अति सन्ताप और अति विलास से दूर रखो। —अ० हृ०, सू० 2/29
4. अ० हृ०, सू० 2/30

एक बार निरञ्जना नदी (जि० गया, बिहार) के तट पर समाधि से उन्मुक्त होते हुए गौतम ने निकटवर्ती उरुवेला ग्राम से मुखरित होता हुआ नर्तकियों का संगीत सुना—'वीणा के तार को बहुत ढीला न छोड़ो अन्यथा उसमें स्वर-लहरी का गुंजार न होगा। बहुत कसो भी नहीं, अन्यथा वह टूट जाएगी।' शृंगार की स्वर-लहरी गौतम के विरक्त हृदय में घुलकर कर्मयोग की सुधा बन गई। तपस्वी ने समझा, जीवन की शान्त और सुखमय राह मध्यम प्रतिपदा ही है। जो उसने हृदय में समझा उसे ही वाणी से कहा, और वही कर्म द्वारा चरितार्थ करके दिखा दिया। आचार्य वाग्भट ने भगवान् बुद्ध के इस आदर्श का अनुपद अनुसरण किया।

उनके युग में बौद्ध धर्म नास्तिकवादी वाद-विवादों का अखाड़ा बना हुआ था। बौद्ध धर्म कोई एक धर्म न होकर चौरासी हज़ार सम्प्रदायों की एक चौपाल बन गया था। धर्म का आदर्श एकता है, परन्तु बौद्ध धर्म अनेकताओं का अड्डा हो चुका था। धर्म की वीणा के तार इतने खींचे गए कि वे टूटकर टुकड़े-टुकड़े हो गए थे।[1] इन टूटे हुए तारों को जोड़कर फिर से बौद्ध-धर्म का संगीत प्रारंभ करने के लिए कनिष्क के युग तक (100 ई०) एक के बाद एक, चार संगीतियां भी सफल न हो सकीं। वे तार ऐसे टूटे कि फिर उनसे अच्छे-अच्छे गुणी भी संगीत की मधुर स्वर-लहरी अभिव्यक्त न कर सके। यद्यपि पिछले संगीत की मधुर मूर्छनायें चीन, ईरान, ग्रीस, जापान तथा प्रशान्त महासागर के आस-पास भूभागों पर अभी तक प्रतिध्वनित हो रही थीं। परन्तु समीर की तरल तरंगों पर स्वर-लहरियां कितनी देर टिक सकती हैं, यदि वीणा के तार ही टूट जायें?

जब भगवान् बुद्ध ने धर्म के रहस्य को जान लिया, आग्रहपूर्वक कहा—"भिक्षुओ! यह है 'दुःख-निरोध की ओर जाने वाला मार्ग—दुःख-निरोधगामिनी प्रतिपद'—आर्य सत्य। यही आर्य अष्टाङ्गिक मार्ग है।"

यह थी वह दृढ़ता, जो धर्म की आत्मा का साक्षात्कार कर लेने पर किसी महापुरुष में होनी चाहिए। आचार्य वाग्भट ने इस दृढ़ता के साथ किसी धर्म का निर्देश अपने ग्रन्थों में नहीं किया। इसके प्रतिकूल एक मनोवैज्ञानिक तथ्य की ओर निर्देश करने में उन्होंने भलाई समझी—

'आदमी के मन को टटोलो। वह जैसे प्रसन्न हो, वैसे ही कहो, वैसे ही करो। दूसरों को प्रसन्न रखना ही पंडिताई है।'[2]

गीता के 'योगः कर्मसु कौशलम्' में यह व्यवहार-नीति भी समाविष्ट है। वाग्भट

---

1. बुद्ध निर्वाण के 220 वर्षों बाद सम्राट् अशोक के समय महासांघिकों और स्थविरों में फिर कितने ही छोटे-मोटे मतभेद होकर 18 निकाय हो गये।—भदन्त राहुल सांकृत्यायन, विनयपिटक, भूमिका, पृष्ठ 1
2. 'जनस्समाजमभालक्ष्य यो यथा परितुष्यति।
तं तथैवानुवर्तेत पराराधनपण्डितः॥ —अ० हृ०, सू० 2·28

ने मानो उसीकी पुनरुक्ति कर दी। इसका अर्थ यह भी है कि आपके सम्पर्क में आने वाला व्यक्ति यदि आपके अनुकूल नहीं है तो उसे अनुकूल बनाओ।

आयुर्वेद के ग्रन्थ में धर्म की आस्था प्रकट करना परिपाटी के विरुद्ध है, यह समाधान कोई अर्थ नहीं रखता, जबकि ईसा से 200 वर्ष पूर्व आत्रेय संहिता का प्रतिसंस्कार करते हुए महर्षि चरक ने वैदिक धर्म का दृढ़ता से समर्थन किया। न केवल समर्थन, किन्तु शून्यवादी तथा क्षण-भङ्गवादी नास्तिकों को बुरी तरह फटकार दी। उन्होंने लिखा[1]—इन नास्तिकों का सहयोग करना भी महापाप है। इसलिए बुद्धिमानी इसीमें है कि नास्तिक भावना को त्याग दो—'तत्र बुद्धिमान्नास्तिक्यबुद्धिं जह्यात्।'[2] चरक सम्प्रदाय के अनुगामी होकर भी धर्म के विषय में वाग्भट ऐसी दृढ़ता से कुछ नहीं कह सके। इसका एक ही कारण था कि बौद्ध धर्म विद्वानों में अपनी आस्था खो चुका था। उसकी वीणा के तार टूट चुके थे। और वैदिक धर्म का साज इतना शिथिल था कि उसके तारों को कसने की आवश्यकता थी। उसमें अभी अपने युग के मानवीय अन्तर्नाद का मेल करने वाली झंकार उठना शेष था। श्रुति और स्मृतियों से उद्गीथ की जन-मन-रंजिनी रागिनी को दिगन्त में व्याप्त होने में कुछ देर थी।

किन्तु फिर भी वह युग बौद्ध और वैदिक दोनों धर्मों का सन्धिकाल था। महाकवि कालिदास ने अपने काल की ही परिस्थिति का इन शब्दों में चित्रण किया है—

यात्येकतोऽस्तशिखरं पतिरोषधीना
माविष्कृतोऽरुण पुरस्सर एकतोऽर्कः।
तेजो द्वयस्य युगपद्व्यसनोदयाभ्यां-
लोको नियम्यत इवैष दशान्तरेषु ॥[3]

कालिदास का यह लोक-चित्र वाग्भट के समय का भी लोक-चित्र है। क्योंकि दोनों में एक पीढ़ी मात्र का अन्तर है। कालिदास चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के समय (380 ई०) और वाग्भट चन्द्रगुप्त के पुत्र कुमारगुप्त के समय (420 ई०), केवल एक पीढ़ी आगे-पीछे हुए थे।

कालिदास का श्लोक बड़ा सारगर्भित है। एक ओर कलङ्कित चन्द्रमा अस्त हो रहा है, दूसरी ओर अरुण का उग्र प्रकाश लिये सूर्य उदय हो रहा है। इस अस्त और उदय में केवल प्रकाश का परिवर्तन नहीं है, किन्तु समाज का परिवर्तन हो रहा है। और इतिहास कहता है कि सचमुच उस समय समाज का परिवर्तन हो रहा था। अपने

1. न परीक्षा न परीक्ष्यं न कर्ता कारणं न च।
न देवा नर्षयः सिद्धा कर्मकर्म फलं न च॥
नास्तिकस्यास्ति नैवात्मा यदृच्छोपहतात्मनः।
पातकेभ्यः परञ्चैतत्पातकं नास्तिक ग्रहः॥ —चरक, सू० 12/14-15

2. चरक, सू० 12/7

3. अभिज्ञान शाकुन्तल, अङ्क 4/1

एक ओर चन्द्रमा अस्त हो रहा है, दूसरी ओर सूर्योदय। उपमान है और समाज का परिवर्तन अनिवार्य है।

नैतिक दोषों के कारण बौद्ध धर्म अस्त हो रहा था, और वैदिक धर्म भागवत धर्म के रूप में उदयाचल पर चमकने लगा था। महर्षि चरक के समकालीन शून्यवादी, और यदृच्छावादी (शून्यवादी) नास्तिकों के विचारों को त्यागकर समाज आस्तिकवादी स्तोत्र उच्चारण कर रहा था—

श्रियमभिमतभोग्यां नैककालापनीतां—
त्रिदशपतिसुखार्थं यो बलेराजहार।
कमलनिलयनायाः शाश्वतं धाम लक्ष्म्या
स जयति विजितार्तिर्विष्णुरत्यन्त जिष्णुः॥[1]

पराक्रम और आस्तिक भावना—उस युग के दो ही सन्देश थे। 'एकोदेवः सर्वभूतेषु गूढ़ः'[2] की वैदिक ऋचाएं आज फिर से शून्यवादी हृदयों को अशून्य करने लगी थीं। अहिंसा के अतिशय ने राष्ट्र को नपुंसकता और भौतिक भोग का रोग लगा दिया था, जिसके परिणामस्वरूप ग्रीक, ईरानी, शक और हूणों ने भारत को कई शताब्दियों तक आक्रान्त किये रखा। आज नृसिंह, शिव, इन्द्र, विष्णु और दुर्गा के वीरत्वपूर्ण अवतारों में राष्ट्र नवीन चेतना का संग्रह कर रहा था। संन्यास तथा निवृत्ति-प्रधान बौद्ध समाज हीनयान से महायान में परिवर्तित हो गया था। बौद्धों के जिस अनीश्वर विश्व को देखने वाला और उसे व्यवस्थित रखने वाला कोई साक्षी नहीं था, उसे निरन्तर सजग रहने वाले भगवान् अवलोकितेश्वर ने सनाथ कर दिया था। आचार्य वाग्भट ने उन्हींकी वन्दना अपने ग्रन्थ के मङ्गलाचरण में की। अन्यथा बौद्ध ग्रन्थों में किसी ईश्वर अथवा जगन्नियंता को मानकर मङ्गलाचरण करने की परिपाटी कभी नहीं थी।

हमने पीछे लिखा है, अवलोकितेश्वर की कल्पना किस प्रकार आई। यही अवलोकितेश्वर धीरे-धीरे विष्णु के रूप में पूजे जाने लगे थे। संसार के त्रय ताप से व्याकुल प्राणियों की मुक्ति के लिए अहर्निश उद्यत रहने वाले भगवान् ही तो अवलोकितेश्वर[3] हैं।

---

1. सम्राट् स्कन्दगुप्त का जूनागढ़ वाला शिलालेख।
'जिसने इन्द्र की प्रसन्नता के लिए बार-बार चुराई हुई राज्यलक्ष्मी को असुर सम्राट् बलि से छीन लिया, वही लक्ष्मीपति, एवं शत्रु-विजेता वीर विष्णु हमारी रक्षा करें।
2. 'एक ही सच्चिदानन्द परमात्मा सर्वत्र व्यापक है। प्रत्येक पदार्थ में उनका अस्तित्व है। सबका आधार और साक्षी होकर भी वह अद्वितीय और निर्लेप है।—ऋग्वेद
3. पूर्ववत् क्रमयोगेन लोकनाथं शशिप्रभम्।
हीः कामाक्षरसम्भूतं जटाकुसुममण्डितम्॥
वज्रधर्मं जयन्तश्च अशेष रोगनाशनम्।
वरदं दक्षिणे हस्ते वामे पद्मधरं तथा॥
ललिताक्षेप संस्थंतु महासौम्यं प्रभास्वरम्।
वरदोत्पलका सौम्या तारा दक्षिणतः स्थिता॥
वन्दना दण्ड हस्तस्तु हयग्रीवोऽत्र वामनः।
रक्त वर्णो महारौद्रो व्याघ्र चर्माम्बर प्रियः॥
एवं विधे समायुक्तं लोकनाथं प्रभावयेत्।
सर्वक्लेशमलातीतो भवेद्दुर्नमनोरथः॥—साधनमाला तंत्र
अनेक स्थानों में अवलोकित [illegible] मानकर पूजे गये हैं। इनकी 30 प्रकार की मूर्तियां बनाने का विधान है।—विश्वकोष,

विष्णु का धन्वन्तरि अवतार भी अवलोकित का ही प्रतीक है। आयुर्वेद ग्रन्थ का प्रारम्भ करते हुए जरा-मरण जैसे भवरोग को निवारण करने वाले उस अपूर्व वैद्य को नमस्कार करना आवश्यक था। वाग्भट ने वही किया। वह न बौद्ध है, न वैदिक। वह केवल दोनों का माध्यम है। वाग्भट के 'सर्वधर्मेषु मध्यमाम्' का यही तात्पर्य है।

यह नास्तिक और आस्तिक विचार-धाराओं का संघर्ष उस युग के प्रत्येक विचारक में मिलेगा। कालिदास के 'अभिज्ञान शाकुन्तल' का नान्दीपाठ भी इसी प्रतिक्रिया का प्रतीक है। वह स्पष्ट ही माध्यमिक, योगाचार और जैन विचारों के नास्तिकवादी पक्ष का खण्डन करता है।[1]

सन् 420 ई० में जब वाग्भट का जन्म हुआ कुमारगुप्त शासन कर रहा था। उसने परम-भागवत होकर भी नालन्दा में बौद्ध विहार एवं विश्वविद्यालय की स्थापना की थी। आचार्य जब कश्मीर पहुंचे, भारत के राजसिंहासन पर स्कन्दगुप्त की विजय-पताका फहरा रही थी। स्कन्द के समय नालन्दा की और उन्नति हुई। स्कन्द ने सभी धार्मिक सम्प्रदायों को पूरी-पूरी सहायता दी। 475 ई० में बुधगुप्त ने बौद्ध धर्म को ही फिर से राजधर्म घोषित कर दिया था। ह्वेनसांग ने लिखा है कि बुधगुप्त से लेकर वज्र (532 ई०) तक सभी राजाओं ने नालन्दा महाविहार की बहुत वृद्धि की। अर्थात् नालन्दा महाविहार वाग्भट के जीवन में स्थापित हुआ और समृद्धि के उच्च शिखर पर पहुंचा। 485 ई० में तोरमाण द्वारा शक देश स्थापित करने के समय तक वाग्भट अवश्य जीवित थे। नालन्दा में इस बीच दिङ्नाग, धर्मपाल, शीलभद्र, चन्द्रकीर्ति, गुणमति, स्थिरमति, प्रभामति, जिनयति, कमलबुद्धि तथा अन्यान्य धुरन्धर बौद्ध विद्वानों के तत्त्वावधान में लगभग दस सहस्र भिक्षु तथा विद्यार्थी भगवती सरस्वती का आराधन कर रहे थे। दर्शन, व्याकरण, धर्मशास्त्र, चित्रकला, प्रस्तर कला, ज्योतिष, साहित्य आदि विषयों के साथ आयुर्वेद की उच्च शिक्षा भी दी जाती थी।[2] परन्तु वाग्भट ने सिन्ध छोड़कर नालन्दा जाना उचित नहीं समझा, वे कश्मीर गये। यदि उन्हें बौद्ध धर्म के प्रति आग्रह होता तो वे नालन्दा के आचार्य होते।

वाग्भट की स्तुति में प्रचलित स्तोत्र द्वारा यह स्पष्ट है कि वाग्भट का उपनयन और वेदारम्भ संस्कार हुआ था। स्तुति में कहा गया है—'इनके रेशमी कञ्चुक (चोगा)

---

1. या सृष्टिः स्रष्टुराद्या वहति विधिहुतं,
   या हविर्या च होत्री।
   ये द्वे कालं विधत्तः श्रुति विषय गुणा,
   या स्थिता व्याप्य विश्वम्॥
   यामाहुः सर्व बीज प्रकृतिरिति,
   यया प्राणिनः प्राणवन्तः॥
   प्रत्यक्षाभिः प्रपन्नस्तनुभिरवतु,
   वस्ताभिरष्टाभिरीशः॥—अभि० शा०, 1/1
2. गुप्त साम्राज्य का इतिहास, भाग 2, पृ० 1931. इसीमें गुप्तकालीन शिक्षा प्रणाली देखिये।

के अन्दर पहना हुआ यज्ञोपवीत दूर से झलकता था।' बौद्ध धर्म में यज्ञोपवीत के लिए सर्वथा स्थान नहीं है। यज्ञोपवीत स्पष्ट ही वैदिक कर्मकाण्ड का अधिकार-चिह्न है। गायत्री के बिना यज्ञोपवीत धारण होता ही नहीं। वेदों के प्रामाण्य को सर्वथा निषेध करने वाले बौद्ध गायत्री का गौरव कब स्वीकार कर सकते थे! इसके अतिरिक्त वाग्भट ने वेदपाठ की ध्वनि को माङ्गलिक लिखा है।[1] स्थान-स्थान पर वेद अथवा वेदाङ्गों के मन्त्र एवं वाक्य मङ्गलार्थ उद्धृत भी किये हैं, जिनमें वैदिक देवताओं की स्तुति है।[2]

पुंसवन की विधि का उल्लेख करते हुए वाग्भट ने लिखा कि द्विजों के लिए वेद-मन्त्र विहित तथा शूद्रों के लिए मंत्रवर्जित विधि होनी चाहिए। यह वैदिक कर्मकाण्ड का अनुमान ही है।[3]

वैदिक देवताओं के प्रति वाग्भट ने अत्यन्त भक्ति प्रकट की है। इन देवताओं में ब्रह्मा, विष्णु, शिव आदि सभी का आस्थापूर्वक उल्लेख है।[4] वाग्भट के काल में विष्णु-पूजा का बड़ा महत्त्व था क्योंकि गुप्त सम्राट् भागवत धर्म के पोषक एवं 'परम-भागवत' थे। यही भागवत दर्शन 11वीं और 12वीं शताब्दी में वैष्णव धर्म के रूप में परिवर्तित हो गया था। परन्तु मूल में विष्णु देवता की आस्था ही दोनों ओर प्रधान थी। विष्णु जगत् की स्थिति के अधीश्वर माने जाते हैं। वे विनाश से उसकी रक्षा करते हैं। सिंह ऐसा प्राणी है जो कृषि को नष्ट करने वाले प्राणियों को समाप्त करता रहता है किन्तु स्वयं फसल को नहीं खाता। उसे पराक्रम का प्रतीक मानकर सिंह-मुख को गुप्तकाल में कीर्ति-मुख कहा जाता था। यहां तक कि विष्णु भगवान् का अवतार भी नृसिंह अवतार के रूप में स्वीकार किया गया। महत्त्वपूर्ण द्वारों, स्तम्भों, तथा वेदिकाओं में 'सिंह-मुख' चित्रित किया जाता था। भूमरा तथा देवगढ़ के स्तम्भों पर कीर्तिमुख बने हुए मिलते हैं। सारनाथ में भी अनके चित्र इस प्रकार के उपलब्ध हुए हैं। अहिच्छत्रा में भी नृसिंह की प्रतिमाएं भूगर्भ से उपलब्ध हुई हैं। बंगाल तथा उड़ीसा के मंदिरों में भी प्रचुर संख्या में इस प्रकार की प्रतिमाएं मिलती हैं।[5] एक कल्पना 'व्याल' के चित्रण की भी इस युग में प्रचलित हुई थी। इसमें एक योद्धा बनाया जाता है जिसका पिछला धड़ घोड़े जैसा होता है। यह अहिच्छत्रा के भूगर्भ में मिले हैं। परंतु वह भी सिंह-मुख में ही परिवर्तित हो गया। विशेष प्रचलन कीर्तिमुख का ही हुआ। व्याल में 'यूनानी' नकल थी, सिंह भारतीय था।

---

1. वेदाध्ययन शब्दाश्च सुखो वायुः प्रदक्षिणः।
   पथि वेश्म प्रवेशे च विद्यादारोग्यलक्षणम् ॥—अ० हृ०, शा० 6/38-39
2. ब्रह्मा बृहस्पतिर्विष्णुः सोमः सूर्यं स्तथाश्विनौ।
   भगोऽथ मित्रावरुणौ वीरं ददतु मे सुतम् ॥—अ० हृ०, शा० 1/33-34
3. उपाध्यायोऽथ पुत्रीयं कुर्वीत विधिवद्विधिम्।
   नमस्कारपरायास्तु शूद्रायाः मन्त्रवर्जितम् ॥—अ० हृ०, शा० 1/28-29
4. शंखचक्रगदापाणिस्त्वामानारयनेऽच्युतः।—अ० हृ०, उत्त० 39/89
   शिव, शिवसुत, तारा भास्करारावधनानि—अ० हृ०, चि० 19/98
5. गु० सा० इति०, भाग 2, पृ० 292

आचार्य वाग्भट ने इस 'नृसिंहावतार' के प्रति अत्यन्त भक्ति प्रकट की।[1] चूर्ण के एक प्रयोग का नाम उन्होंने 'नारसिंह चूर्ण' रखा, और यह भावना प्रकट की—इस नारसिंह चूर्ण से रोग वैसे ही डरते हैं जैसे नरसिंह भगवान् से असुर।

राजा का वैद्य किन गुणों से युक्त हो, इस प्रश्न का विवेचन करते हुए वाग्भट ने तीन गुणों का प्रमुख उल्लेख किया—(1) दयालु हो, (2) चिकित्सा में क्रिया-कुशल हो तथा सबसे बढ़कर (3) वैदिक आचार-मर्यादा का पालन करने वाला हो।[2]

मनु ने लिखा था—'श्रुति प्रामाण्यतो विद्वान् स्वधर्मे निविशेत वै।''—विद्वानों को उचित है कि वेद को प्रमाण मानकर उसीके बनाये मार्ग से अपने-अपने धर्म (कर्तव्य कर्म) का पालन किया करें। परन्तु बौद्धों ने कहा—'वेद कोई प्रमाण नहीं है। वेद हमारा पथ-प्रदर्शक है, सारे 'धम्मपद' में यह स्वीकृति नहीं है। बुद्ध धर्म और संघ ही मनुष्य का शास्ता होना चाहिए।[3] भूः, भुवः और स्वः का परोक्ष चिन्तन छोड़ो, बुद्ध, धर्म और संघ का प्रत्यक्ष अनुशासन ही श्रेयस्कर हो सकता है। धम्मपद का अन्तिम ब्राह्मण-वग्ग देखने योग्य है। उसके 40 मन्त्रों में जो अनुशासन है, उसमें वेद का कोई स्थान नहीं है। बुद्ध धर्म में वेदानुशासन का इतना विरोध रहते भी आचार्य वाग्भट ने वैदिक श्रुतियों को आदरपूर्वक उद्धृत किया है। वे बौद्ध होते तो क्या यह संभव था?[4]

बौद्ध आन्दोलन का सबसे प्रबल अभियान वैदिक वर्ण-व्यवस्था के विरोध में था। शूद्रों को वैदिक कर्मकाण्ड में भाग लेने का अधिकार नहीं था। धार्मिक व्यवस्था में ऐसा कोई सामाजिक प्रतिबन्ध बौद्ध स्वीकार न करते थे। अनेक शूद्र बौद्धों में प्रमुख प्रचारक हुए हैं। उपसम्पदा के लिए द्विजों और शूद्रों के बीच बौद्ध व्यवस्था में कोई अन्तर नहीं रखा गया।[5] किन्तु वाग्भट ने ब्राह्मण वर्ण-व्यवस्था का ही समर्थन किया है।[6] यद्यपि वाग्भट के युग तक भागवत धर्म में वैदिक वर्ण-व्यवस्था भी इतनी परिवर्तित हो गई थी कि अनेक कार्यों में द्विजों और शूद्रों के समानाधिकार स्वीकार कर लिए गये थे।[7]

---

1. अत्तारं नारसिंहस्य व्याधायो न स्पृशन्त्यपि।
   चक्रोज्वलभुजं भीताः, नारसिंहमिवासुराः॥—अ० हृ०, उत्त० 39/174
2. श्रुतिचरितसमृद्धे कर्मदक्षे दयालौ,
   भिषजि निरनुबन्धं देहरक्षां निवेश्य॥ —अ० हृ०, सूत्र 7/76
3. बुद्धं शरणं गच्छामि, धर्मंशरणं गच्छामि, संघं शरणं गच्छामि'।—विनयपिटक, महावग्ग 3/2
4. अङ्गादङ्गात्संभवसि हृदयादधिजायसे। —ऋक्० (निरुक्त नैघंटु 3/3)
   ऊर्ध्वमूलमधः शाखं ऋषयः पुरुषं विदुः —अ० हृ०, उत्त० 1/3-4
   वेदवाद मिर्श्रपुण्याद्दृघोषैः कृतपुष्पोपहारम्—अष्टा० सं० शिष्योपनयन उपनि०
5. न जटाहि न गोत्तेहि न जच्चा होति ब्राह्मणो।
   यम्हि सच्चञ्च धम्मोच सो सुची सोच ब्राह्मणो॥ —धम्मपद 26/12
6. उपाध्यायोऽस्य पुत्रीयं कुर्वीत विधिवद्विधिम्।
   नमस्कारपरायास्तु शूद्राया मन्त्रवर्जितम्॥ —अ० हृ०, शा० 1/28-29
7. नरोधयति मां योगो न सांख्यं धर्म एव च।
   न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो नेष्टापूर्तं न दक्षिणा॥

तो भी पुंसवन में वाग्भट ने शूद्रों को वेद-मन्त्र सुनाने का निषेध कर दिया। न केवल यही, किन्तु अन्य प्रसंग देखने से यह प्रतीत होता है कि वाग्भट को वर्ण-व्यवस्था का बहुत आग्रह था। आरोग्य का लक्षण लिखते हुए उन्होंने द्विजों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) की मर्यादा को नहीं भुलाया—

सत्व लक्षण संयोगो भक्तिर्वैद्य द्विजातिषु।
चिकित्सायामनिर्वेदस्तदारोग्यस्य लक्षणम् ॥

अ० हृ०, शारी० 6/73

द्विजातियों की भक्ति द्वारा आरोग्य-प्राप्ति की घोषणा करते हुए वाग्भट के विचारों में न केवल सामाजिक किन्तु आध्यात्मिक दृष्टि से भी वर्ण-व्यवस्था को वह ऊंचा स्थान प्राप्त है जो स्वस्थ और सुखी रहने के लिए मनुष्यमात्र को अपने हृदय में रखना आवश्यक है।

व्यावहारिक दृष्टि से ही नहीं किन्तु धार्मिक दृष्टि से भी वैद्य में भक्ति रखना भारत की प्राचीन परम्परा है। वैदिक और बौद्ध दोनों ही परिपाटियों में वैद्य को धार्मिक महत्त्व प्राप्त है। वेद में भिषक् को सम्मान दिया गया है।[1] भारतीय परम्परा में पुरानी कहावत है—'रिक्त हस्तो न पश्येत राजानं, भिषजं, गुरुम्।' राजा, वैद्य और गुरु के सामने हाथ में श्रद्धा का प्रतीक लिये बिना नहीं जाना चाहिए। गृह्य कर्मों में इसी भावना को अक्षुण्ण रखने के लिए 'धन्वन्तरये स्वाहा' द्वारा बलिवैश्वदेव यज्ञ का विधान है। जो सम्मान वैदिक गृह्य सूत्रों में धन्वन्तरि को प्राप्त है वही बौद्ध ग्रन्थों में अवलोकितेश्वर को दिया गया है। परन्तु अष्टाङ्गसंग्रह में जिन अवलोकित को उन्होंने आदिगुरु कहकर सम्पूजित किया, अष्टाङ्गहृदय लिखने के समय तक उनकी वह धारणा शिथिल हो गई। उन्होंने अष्टाङ्गहृदय के मंगलाचरण में अवलोकित या धन्वन्तरि, दोनों में किसी एक का नाम लेने में अपनी असमर्थता प्रकट की। उन्होंने लिखा—'योऽपूर्व वैद्याय नमोऽस्तु तस्मै।' कोई गुरुतर सत्ता अवश्य है जो प्राणिमात्र के योग-क्षेम की व्यवस्था में प्रतिक्षण तत्पर है। उन्हें अवलोकित कहा जाय या धन्वन्तरि, किन्तु उस करुणानिधान को मेरा नमस्कार। अष्टाङ्गसंग्रह में अवलोकित और धन्वन्तरि दोनों का उल्लेख है। परन्तु

व्रतानि यज्ञश्छन्दांसि तीर्थानि नियमा यमाः।
यथावरुंधे सत्संगः सर्व सङ्गापहो हि माम् ॥
सत्सङ्गेन हि दैतेया यातुधाना मृगाः खगाः।
गन्धर्वाप्सरसो नागा सिद्धाश्चरण गुह्यकाः।
विद्याधरा मनुष्येषु वैश्याः शूद्राः स्त्रियोन्त्यजाः।
रजस्तमः प्रकृतयस्तस्मिंस्तस्मिन्युगेऽनघ ॥
बहवो मत्पदं प्राप्तास्त्वाष्ट्रकाया धवादयः ॥

—श्रीमद्भागवत, स्क० 11/अ० 12/1-5

1. 'शतं ते राजन् भिषजः सहस्रम्—ऋग्वेद 1/6/24/9
'शतो भिषजोऽह्य मीव चातनः'—अथर्ववेद

अष्टाङ्गहृदय में धन्वन्तरि का उल्लेख कई बार है ।[1] अवलोकितेश्वर का सर्वथा नहीं ।

यों तो आचार्य ने भिन्न-भिन्न अवसरों पर प्रत्येक धर्म के महापुरुषों का स्मरण किया है । एक स्थान पर जैन धर्म के उपदेष्टा 'ज़िन' का कहा हुआ एक प्रयोग उद्धृत किया है ।[2] एक प्राचीन महापुरुष निमि का उल्लेख भी उन्होंने किया है । निमि के नाम के साथ वाग्भट ने 'भगवान्' विशेषण दिया है । निमि संम्भवत: विदेहों के वंश में हुए थे। उन्होंने शालाक्य तंत्र लिखा था । आचार्य ने मणिभद्र यक्ष का उल्लेख भी आदर से किया है । मणिभद्र यक्ष संभवतः दो हुए थे। पहला कुबेर का सेनापति, दूसरा चन्द्रगुप्त मौर्य के शासनकाल में एक प्रतिभाशाली व्यक्ति था । वह बौद्ध धर्म का विद्वान् था। चन्द्रगुप्त के शासन में वह किसी प्रतिष्ठित पद पर कार्य करता था । मणिभद्र की लोक-सेवायें इतनी महान् थीं कि ईसा की प्रथम शताब्दी तक उसकी मूर्ति बनाकर लोग अपना सम्मान अभिव्यक्त कर रहे थे। ई० सन् 78 तक पद्मावती[3]-मथुरा में नाग शासक राज्य करते थे, जिन्हें कुशाण शासक कनिष्क ने परास्त कर दिया था। इसी पद्मावती से मणिभद्र यक्ष की मूर्ति प्राप्त हुई है जिस पर तत्कालीन सम्राट् शिवदत (शिव नन्दी) का नाम खुदा हुआ है। इसी शिवनन्दी को परास्त करके कनिष्क ने पद्मावती पर अपना अधिकार कर लिया था ।[4] मणिभद्र यक्ष की धार्मिक महत्ता का प्रमुख कारण आयुर्वेद ही था। वह उच्चकोटि का लोकप्रिय प्राणाचार्य था। इन सबके उल्लेख से कहीं अधिक उल्लेख आचार्य वाग्भट ने चरक, वृद्ध, कश्यप तथा आत्रेय का किया है।[5]

हमने पीछे कहा है—वाग्भट आत्रेय सम्प्रदाय के अनुयायी थे । इसलिए उन्होंने ग्रन्थ में गुरुतर प्रमाण के रूप में किसीको उद्धृत किया तो आत्रेय को ही। 'संशय प्राप्तमात्रेयो जीवितं तस्य मन्यते ।'[6]—इत्यात्रेयादागमय्यार्थं सूत्र[7] आदि अनेक स्थलों पर आत्रेय के उद्धरण अत्यन्त सम्मानपूर्वक दिये गये हैं। फलतः उद्धरणों के आधार पर हम आचार्य के धार्मिक विचारों का निर्णय नहीं कर सकते । यदि बौद्ध और जैन महापुरुषों के उद्धरण वाग्भट ने दिये, तो उसका आधार आयुर्वेदिक प्रतिष्ठा ही है, न कि धार्मिक एकता ।

भगवान् वुद्ध के समय आयुर्वेद को भी धर्म के अनुशासन में ले लिया गया था।

---

1. (i) धन्वन्तरिस्तु त्रीण्याह सन्धीनाञ्च शतद्वयम् ॥ —अ० हृ०, शारी० 3/16
   (ii) धान्वन्तरं महातिक्तं कल्याणमभयाघृतम् ॥ —अ० हृ०, चिकि० 17/14
2. अष्टाङ्ग हृदय, उत्तर० 37/44
3. जिला मिर्जापुर ।
4. गुप्त सा० इति०, भाग 1, पृ० 15-16
5. अष्टा० हृ०, उत्तर० 2/42-43 तथा 3/48-49 में कश्यप का उल्लेख है। सूत्र० 19/13 में चरक का। प्रत्येक संस्थान के प्रारम्भ में 'इतिहस्माहुरात्रेयादयो महर्षयः' इस संकल्प के साथ आत्रेय का संस्मरण है।
6. अ० हृ०, शारी० 5/128
7. अ० हृ०, उत्तर० 40/59

इसलिए चिकित्सा में भी धर्माधर्म का विचार किया जाने लगा। कुछ-कुछ ऐसा ही अनुशासन महावीर स्वामी ने जैन धर्म में भी स्थापित किया था। विनयपिटक का एक प्रसङ्ग देखिये—

'उस समय बुद्ध भगवान् श्रावस्ती में अनाथ पिंडक के आराम जेतवन में विहार करते थे।'

उस समय भिक्षु शरद् की बीमारी (जाड़ा बुखार) से उठे थे। उनका पिया यवागू (खिचड़ी) भी वमन हो जाता था। खाया भात भी वमन हो जाता था। इसके कारण वह कृश, रूक्ष और दुर्वर्ण पीले-पीले, नसों में सटे शरीर वाले हो गये थे। भगवान ने उन भिक्षुओं को नसों में सटे शरीर वाला देखा। देखकर आयुष्मान् आनन्द से पूछा—

'आनन्द ! क्यों आजकल भिक्षु कृश, नसों में सटे शरीर वाले हैं ?'

'इस समय भन्ते ! भिक्षु शरद् की बीमारी से उठे हैं। उनका पिया यवागू भी वमन हो जाता है। नसों में सटे शरीर वाले हो गये हैं।'

तब एकान्त में स्थित हो विचारमग्न होते समय भगवान् के मन में विचार पैदा हुआ—'इस समय भिक्षु शरद् की बीमारी से उठे हैं, नसों में सटे शरीर वाले हो गये हैं, क्यों न मैं भिक्षुओं को ऐसे भैषज्य की अनुमति दूं जिसको लोग भैषज्य मानते हों, जो आहार का काम भी कर सके किन्तु स्थूल आहार न समझा जाए'। तब भगवान् को यह हुआ—यह पांच भैषज्य हैं जैसे कि घी, मक्खन, मधु, तेल और रांड। लोग इन्हें भैषज्य भी मानते हैं और यह आहार का काम भी कर सकते हैं, किन्तु स्थूल आहार नहीं समझे जाते। क्यों न मैं इन भिक्षुओं को इन पांच भैषज्यों को समय से लेकर समय पर उपयोग करने की अनुमति दू ?'

तब भगवान् ने सायंकाल को एकान्त चिन्तन से उठकर इसी सम्बन्ध में इसी प्रकरण में धार्मिक कथा कह भिक्षुओं को सम्बोधित किया—

'भिक्षुओ ! आज एकान्त में स्थित हो विचारमग्न होते समय मेरे मन में विचार पैदा हुआ—इस समय भिक्षु शरद् की बीमारी से उठे हैं, क्यों न मैं भिक्षुओं को भैषज्य की अनुमति दूं ?

'भिक्षुओ ! अनुमति देता हूं पांच भैषज्यों की, पूर्वाह्न में लेकर पूर्वाह्न में ही सेवन करने की।

'...भिक्षुओ ! गुह्य स्थान में शस्त्र कर्म नहीं कराना चाहिए।

'...भिक्षुओ ! गुह्य स्थान के चारों ओर दो अंगुल तक शस्त्र कर्म या वस्ति कर्म नहीं कराना चाहिए।'[1]

भगवान् बुद्ध ने चिकित्सा सम्बन्धी जो अनुशासन घोषित किये, यह उनका एक अंश है। भिन्न-भिन्नअवस्थाओं में चिकित्सा-सम्बन्धी अन्य अनुशासन भी उन्होंने दिये थे।

---

1. विनयपिटक, महावग्ग, भैषज्य स्कंध देखें।

भोजन, वस्त्र, जल तथा सोने और जागने के लिए भी उनके तत्कालोचित अनुशासन थे। शताब्दियां बीत गईं, किन्तु मानव के हृदय पर वे अनुशासन अङ्कित होकर रह गये। अनेक स्थानों पर आज तक उनका पालन समाज में हो रहा है। उसमें क्यों और किसलिए को स्थान नहीं। भगवान् स्वयं जिस व्यवस्था को बदल गये, बदल गई। जो नहीं बदल सके, अमिट अनुशासन बनकर रह गई और अनुयायियों के लिए बनी ही रहेगी।

भगवान् बुद्ध ने जिन पांच वस्तुओं का औषधि-रूप से निर्धारण किया, आयुर्वेद-शास्त्र में त्रिदोष चिकित्सा के लिए वे विज्ञानसिद्ध औषधियां धन्वन्तरि और आत्रेय ने भी लिखी हैं। बुद्ध जैसे तत्त्वदर्शी की दृष्टि उन तत्त्वों तक सहज ही पहुंचती है जो मनुष्य जीवन के लिए आवश्यक हैं। बुद्ध भगवान् ने कहा था—पांच भैषज्यों की अनुमति देता हूं—(1) घी, (2) मक्खन, (3) तेल, (4) मधु, (5) खांड।

वाग्भट ने लिखा—शरीर में विकृत वात, पित्त और कफ की क्रमशः तीन ही औषधियां हैं तेल, घी और मधु।[1] वस्ति, विरेचन और वमन। प्रथम तीन शमन, दूसरे तीन शोधन। परन्तु भगवान् बुद्ध के अनुशासन में गुह्य अङ्गों का शस्त्र कर्म निषिद्ध होने पर भी वाग्भट ने गुह्य अङ्गों का शस्त्र कर्म लिखा है।[2] इस प्रकार वुद्ध अनुशासन से चाहे तत्कालीन समाज पर चिकित्साशास्त्र के प्रसार अथवा शैली पर भले ही प्रभाव पड़ा हो परन्तु वाग्भट की धार्मिक भावना पर उसका कोई प्रभाव नहीं कह सकते। स्वयं भगवान् बुद्ध के चिकित्सक महाभाग जीवक शल्यशास्त्र के उद्भट ज्ञाता थे, यद्यपि वे बौद्ध थे। इस प्रकार यद्यपि भगवान् बुद्ध ने चिकित्साशास्त्र को भी अपने धार्मिक अनुशासन में लिया अवश्य, परन्तु उससे चिकित्साशास्त्र किसी धर्म का अनुगामी नहीं हो सका। चरक वैदिक धर्म के प्रबल अनुयायी थे, परन्तु चरक संहिता पर बौद्ध धर्मावलम्बी होते हुए ईश्वरसेन ने व्याख्या लिखी थी। सर्वथा आस्तिकवादी ग्रन्थ 'सुश्रुत संहिता' का प्रति-संस्कार नागार्जुन जैसे बोधिसत्व ने किया था।

आयुर्वेद पर धार्मिक अनुशासन स्वीकार करने या न करने के बारे में वाग्भट ने अपनी स्पष्ट सम्मति अष्टाङ्गहृदय के अन्त में प्रकट की है। उन्होंने लिखा—'वात, पित्त और कफ तीन दोष हैं, उनके लिए क्रमशः तेल, घृत और मधु का उपयोग पथ्य है। यह वैज्ञानिक सत्य है। इसे ब्रह्मा कहें या ब्रह्मा के पुत्र प्रजापति, पदार्थों के गुण-दोष में कोई अन्तर नहीं आता। पदार्थों के गुण-दोष वक्ता से अनुशासित नहीं होते।[3] जब द्रव्यों की

---

1. शरीरजानां दोषाणां क्रमेण परमौषधम्।
   वस्तिर्विरेको वमनं, तथा तैलं घृतं मधु ॥ —अ० हृ०, सू० 1/25
2. नानाविधानां शल्यानां नानादेश प्रबाधिनाम्।
   आहर्तु मभ्युपायो यस्तद्यन्त्रं यच्च दर्शने ॥
   अर्शो भगन्दरादीनां शस्त्र क्षाराग्नि योजने।
   योनिव्रणेक्षणं मध्ये सुषिरं षोडशाङ्गुलम् ॥ —अ० हृ०, सू० 25/1-22
3. वाते पित्ते श्लेष्म शान्तौ च पथ्यं,
   तैलं सर्पिर्माक्षिकञ्च क्रमेण।

शक्ति वक्ता के व्यक्तित्व से प्रभावित होकर घट-बढ़ नहीं सकती तब यही उचित है कि व्यक्तिगत अथवा सम्प्रदायगत मात्सर्य त्यागकर मध्यस्थ रहना चाहिए। और मध्यस्थ भाव से प्रकृति के वैज्ञानिक सत्य को ढूंढ़ो, आयुर्वेद का वही आधार है।

सत्य वक्ता की अपेक्षा रखता है। जो वक्ता की अपेक्षा नहीं रखता वह ऋत है। प्राणाचार्य की बुद्धि ऋतम्भरा होनी चाहिए, जो निरपेक्ष यथार्थ को ग्रहण कर सके। आयुर्वेद निरपेक्ष तथ्य है। उसमें व्यक्ति अथवा धर्म के मात्सर्य को वाग्भट ने कभी स्वीकार नहीं किया।

चरक (ई० पू० 200) से लेकर वाग्भट के समय तक (पांचवीं शती प्रथम चरण) छः सौ वर्ष के काल में भारत में अनेक सभ्यताओं और संस्कृतियों ने प्रवेश किया, जिनमें स्वदेशी नहीं, विदेशी विचारों की प्रचुरता ही अधिक थी। इस कारण वाग्भट के काल में भारत में जो धार्मिक विचारधारा चल रही थी, वह अनेक स्वदेशी और विदेशी विचारधाराओं का सम्मिश्रण था। पुरातत्त्व के गर्भ से उस युग की जो सामग्री प्राप्त हुई है, वह तत्कालीन धार्मिक क्रांति का स्पष्ट चित्र प्रस्तुत करती है। तक्षशिला, मथुरा, अहिच्छत्रा, कौशाम्बी, भिटा तथा सारनाथ में भूगर्भ ने उक्त सवा छः सौ वर्ष का जो धार्मिक इतिहास प्रस्तुत किया है, उसमें (1) पर्थियन, (2) शक, (3) कुषाण, (4) मुरुण्ड, (5) केदार-कुषाण, (6) श्वेत हूण (Haphthalites), (7) ईरानी सासानियन तथा (8) यूनानी जातियों के विचारों का सम्मिश्रण भी भारतीय धार्मिक भावनाओं के साथ मिलता है।[1]

विदेशी जातियां हमसे क्या लेकर गई, यह भिन्न प्रश्न है। वे जो कुछ छोड़ गई वह हमारे धार्मिक इतिहास में गहरा प्रभाव रखता है। विचार जब छनते-छनते आदर्श की स्थिति तक पहुंचते हैं, तब धर्म बन जाते हैं। निश्चय ही हमारे धार्मिक आदर्शों में विदेशियों के आदर्श भी इस प्रकार ढल गये हैं कि उनमें विदेशी और स्वदेशी का अन्तर नहीं किया जा सकता। अपने युग की इस अवस्था को ध्यान में रखकर वाग्भट ने 'सर्वधर्मेषु मध्यमाम्' की नीति चुनी। बुद्ध भगवान् के उपदेशों की गूंज उस समय तक सुनाई दे रही थी—दोनों अतिरेकों को छोड़कर मध्यम मार्ग पर चलना सीखो।

परदेशी आये और अपने घर लौट गये। वे जो कुछ यहां छोड़ गये भारत में

एतद ब्रह्मा भाषते ब्रह्मजो वा,
का निर्मन्त्रे वक्त भेदोक्ति शक्तिः ॥
अभिधातृवशात्किंवा द्रव्य शक्तिर्विशिष्यते ।
अतो मत्सरमुत्सृज्य माध्यस्थ्यमवलम्ब्यताम् ॥ —अ० हृदय, उ० स्० 40/86-87

1. During the first six centuries of the Christian era a succession of foreign races entered North India. Amongst whom the Perthians, the Sakas, the Kushanas, the Murundas, the Kedar-Kushanas, and the white Huns or Hephthalites, and possibly also the Sassanians, were masters of settled empires and had left their stamp on the culture and population of the country.

—V. S. Agarwala.
Bulletin of the 1948, Archeological Survey of India,
Ancient India No. 4, p. 155.

उद्‌गीथ—गायक—कण्ठ ने उसे अपने ही स्वरों में गाया। भारत माता के कला-कुशल सपूतों ने बचे-खुचे प्रस्तर-खण्डों को छेनी से छीलकर अपने विचारों के सौन्दर्य में मूर्त कर दिया। उसने यूनानी, पर्थियन और सासेनियन (ईरानी) लोगों की रुबाइयां सुनीं परन्तु उसकी प्रतिध्वनि में गायत्री, अनुष्टुप्, शार्दूल-विक्रीडित और शिखरिणी के स्वरों में गान गाया। शकों और हूणों को खदेड़ते हुए, उनके चोगे और कुल्ले उसने छीन लिये, परन्तु छीनकर स्वयं नहीं पहने, किन्तु नैगमेष (स्कन्द) तथा भैरव को पहना दिये। भागते समय ईरान तथा यूनान की सुन्दरियां जो जरीकारी यहां छोड़ गईं, भारतीय नारियों ने उसे लक्ष्मी और गौरी का, तारा और सरस्वती का परिधान बनाकर आत्मसात् कर लिया। यही धर्म है जो वाग्भट के युग ने हमें प्रदान किया।[1] और यही माध्यम है जिसका समर्थन वाग्भट ने 'सर्वधर्मेषु मध्यमाम्' में किया।

परन्तु इस मध्यमावृत्ति में भी एक पक्षपात तो चल ही रहा था, वह था भारतीय संस्कृति का पक्षपात। वह चाहे वैदिक थी या बौद्ध, परन्तु थी विशुद्ध भारतीय ही। हमारे दार्शनिक धर्म के अतिरिक्त हमारा एक राष्ट्रीय धर्म सदैव से रहा है। हम दार्शनिक क्षेत्र में भले ही लड़ते-झगड़ते रहे हों, परन्तु हमारे राष्ट्रीय धर्म की एकता का प्रतिस्पर्धी विश्व का कोई राष्ट्र नहीं हो सका। विदेशी आक्रान्ताओं से हमने जो कुछ पाया वह उसी अभिन्न भारतीय संस्कृति के श्रृङ्गार में हमने लगा दिया। वाग्भट की मध्यस्थता का यही केन्द्र-बिन्दु है। उनके लेखों में प्रमुख देवता निम्नलिखित मिलते हैं—

(1) ब्रह्मा, (2) बृहस्पति, (3) विष्णु, (4) शिव, (5) अवलोकितेश्वर, (6) तारा, (7) शंख, चक्र, गदा, पद्म, (8) जिन, (9) नैगमेष, (10) वज्रिन् (इन्द्र), (11) भूतेश, (12) द्वादश-ग्रह—पुरुष, स्त्री, (13) यक्ष, गन्धर्व, नाग, (14) सुर (15) सूर्य, (16) राक्षस। इन सभी की प्रसन्नता प्राप्त करने के लिए मन्त्र, पूजा, बलि, होम तथा जाप आदि का उल्लेख वाग्भट ने किया है।[1]

---

1. It seems as if skillful modellers of the Gupta age presented in clay a tropological inventory of Contemporary society for delectation of an appreciative public. —by V. S. Agrawala, Terracotta Figures of Ahichhatra, Distt. Bareilly, U. P. (Ancient India No. 4) p. 147 (Archeological Survey of India)—close fitting Culah cap with a round knotted top, round earring in left ear. *Another foreign of this type is conical skull-cap tilting back-*wards and worn an a receding forehead.

   —*Ancient India, No. 4, p. 153*

2. (I) ब्रह्मा बृहस्पतिर्विष्णुः (अ० हृ०, शा० 1/34), (II) शिव, शिवसुत तारा भास्कराराधनानि, (अ० हृ०, चि० 19/98) (III) शंख, चक्र, गदा पाणिस्त्वामाज्ञापयतेऽच्युतः (अ० हृ० उ० 39/89) (IV) समधिगम्य गुरोरवलोकितात् (अ० संग्रह) (V) संक्रान्तिकारीकथितो जिनेन (अ० हृ०, उ०, 37/44) (VI) स्कन्दो विशाखो मेषाख्यः श्वग्रहः पितृ संज्ञितः। शकुनिः पूतना-शीत पूतना दृष्टि पूतना॥ मुखमण्डलिका तद्वद्रेवती शुष्क रेवती। पुरा गुहस्य रक्षार्थं निर्मिता शूल पाणिना। मनुष्य विग्रहाः पंचसप्तस्त्रीविग्रहा ग्रहाः॥ (अ० हृ० उत्तर 3/1-3) (VII) भूतेशंपूजयेत्स्थाणुंप्रमथाख्यांश्चतद्‌गणान्। (अ० हृ०, उत्तर 5/52) (VIII) वज्रि वज्र मिवा-सुरान् (अ० हृ० उत्तर 37/83) (IX) सुर, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस तथा नाग का उल्लेख (अ० हृ० उत्तर 5/24-27)।

उक्त सब देवताओं में शिव और विष्णु ही उस युग के प्रमुख देवता थे। इनका प्रभुत्व सभी से बढ़कर उत्कृष्ट माना जाता था। बुद्ध भगवान् भी पूजनीय थे। किन्तु वे विष्णु के अवतार के रूप में समादृत हो रहे थे। बौद्ध और जैन विचारों में बड़े-बड़े उतार-चढ़ाव हुए किन्तु सारे नास्तिकवादी दर्शन के पीछे एक महान् तत्व की सत्ता किसीको नहीं भूल सकी। धम्मपद में बुद्धवग्ग एक प्रसंग है। वहां बुद्ध भगवान् ने कहा—'जो धीर हैं, जो ध्यान-रत हैं, त्याग और उपशम में लगे हैं उन स्मृतिमान बुद्धों की देवता भी प्रशंसा करते हैं।[1] यह प्रशंसा करने वाले देवता कौन हैं? वे निश्चय ही ब्रह्मा, विष्णु और महेश ही होंगे।

वाग्भट के समकालीन कुमारगुप्त प्रथम ने सन् 436 ई० में शिव प्रतिमा की स्थापना की थी।[2] सम्राट् स्कन्दगुप्त ने अपने पिता कुमारगुप्त की स्मृति में भितरी (जि० गाजीपुर) में भगवान् विष्णु (शार्ङ्गिण) की प्रतिमा प्रतिष्ठित की थी।[3] न केवल यही किन्तु स्कन्दगुप्त के अधीन सौराष्ट्र (गुजरात) के प्रतिनिधि चक्रपालित ने भी सुदर्शन कासार के तट पर विष्णु भगवान् की प्रतिमा स्थापित की थी।[4] स्कन्दगुप्त द्वारा विष्णु पूजा को राजधर्म स्वीकार करने का यह उत्तम प्रमाण है। गुप्तवंश के सम्राटों में स्कन्दगुप्त तक सभी लेखों तथा सिक्कों पर 'परम भागवत' शब्द का उल्लेख भी उपयुक्त विचार को पुष्ट करता है। वाग्भट ने इसी राजधर्म की प्रतिध्वनि में लिखा—

शंख चक्रगदापाणिस्त्वामाज्ञापयतेऽच्युतः।
मन्त्रेणानेन ···।[5]

शंख, चक्र, गदा, पद्मधारी भगवान् अच्युत (विष्णु) के अनेक संस्मरण अहिच्छत्रा की खुदाई में भूगर्भ से मिले हैं, जो इसी युग के हैं। इनके अतिरिक्त अग्नि, नृसिंह, कुबेर, कार्तिकेय, नाग शिव तथा पार्वती आदि वैदिक देव मूर्तियां ही प्रचुर मात्रा में अहिच्छत्रा के भूगर्भ ने प्रस्तुत की हैं, जो वाग्भट के युग-धर्म पर प्रकाश डालती हैं।[6]

भारत की प्राचीन संस्कृति में भगवान् की सगुण उपासना के लिए जो रूपक और अलंकार वेदों में मिलते हैं, उन्हें भक्तों ने मूर्तरूप देकर चित्रों और मूर्तियों के रूप में स्थूल बना लिया। किन्तु वे आदर्श भावनाओं के प्रतीक थे। निरीह मुद्रा में वरदहस्त

---

1. ये झाणपसुता धीरा नेक्खम्मू पसमे रताः।
   देवापि तेसं पिहयन्ति सम्बुद्धानं सतीमतं॥ —धम्मपद, 14/3
2. करमदण्डा (फैजाबाद) का लेख, गु० सा० का इति० भा० 1, पृ० 104
3. कर्तव्या प्रतिमाकाचित् प्रतिमां तस्य शार्ङ्गिणः।—गु० सा० इति० भा० 1, पृ० 121
4. गु० सा० इति० भा० 1, पृ० 121
5. अ० हृ०, उ० 39/89
6. Images of Vishnu, Surya, Ganesh and Mahishasurmardini are found amongst the Ahichchatra terracottas. In AC. III they range from stratum III to stratum I, i.e. from the Gupta to medieval period. This group includes figures of miscellaneous deities such as Narsinha, Kubera. Kartikeya. Naga, Ganesa and Seva and Parvati. They are from strata III and II,

बनाकर भगवान् को पिता के रूप में पूजा गया। माता की गोद में शिशु का चित्रण करके भगवान् के मातृ-रूप की पूजा की जाती थी। चक्र द्वारा विश्व-संचालन, शंख द्वारा आशीर्वाद की घोषणा, गदा द्वारा दुष्ट-दलन तथा पद्म द्वारा विकास एवं सुख-समृद्धि का माङ्गलिक रूप प्रकट किया जाता था। भगवान् के शत्रुमर्दन रूप को शिव और दुर्गा के त्रिशूल द्वारा तथा ज्ञानमय रूप को ब्रह्मा के चार मुख बनाकर अभिव्यक्त किया गया था। बुद्ध भगवान् के समय तक (600 ई० पूर्व) इस आदर्श पूजा का क्रम स्थिर था। सिकन्दर के भारत-आक्रमण (326 ई० पूर्व) के साथ-साथ इस पूजा-शैली में परिवर्तन प्रारंभ हुए।

क्रमश: ईरानी, शकों और हूणों ने इस आदर्श को एक सीढ़ी नीचे उतार लिया। स्थूल चित्रों और मूर्तियों में जो इन्द्रियातीत एवं भावात्मक पूजा थी, उसे इन्द्रियगम्य और वासनात्मक बना दिया। भगवान् के प्रेममय रूप को अभिव्यक्त करने के लिए माता और पुत्र के स्थान पर युवा और युवती की प्रतिमाएं बनने लगीं। वे यहां तक स्थूल और विषयात्मक बनीं कि नग्न स्त्री-पुरुषों के अवयव चित्रित किये जाने लगे। शत्रुमर्दन रूप का प्रतीक त्रिशूल (त्रयताप-हारी) से हटकर हर-गौरी का सुरत बन गया। सुख और समृद्धि की अभिव्यंजना के लिए पद्म के स्थान पर कामिनी के उन्नत उरोज आ बैठे। तात्पर्य यह कि अतीन्द्रिय सच्चिदानन्द की उपासना इन्द्रियों के विषयजाल में ऐसी उलझती गई कि आयुर्वेद में भी 'पारद : शिववीर्यस्याद्गन्धकं पार्वती रज:' तथा 'विधाय रस लिंग यो भक्तियुक्त: समर्चयेत्' की ध्वनि व्याप्त हो गई।[1] विदेशियों ने भारत में आकर हमारे निर्मल आध्यात्मिक धर्म में वासनाओं की कीचड़ उठा दी। धर्म के अतीन्द्रिय तत्त्वों को भौतिक इन्द्रियों के विषयों में एकाकार करके क्षणभंगुर और विषाक्त बना दिया।[2] निश्चय ही इन्द्रियारागी इन विचारों के विरुद्ध प्रतिक्रिया आचार्य वाग्भट के हृदय में हुई। फलस्वरूप आचार्य ने अष्टांगहृदय में वाजीकरण प्रकरण को इतना गौण स्थान दिया कि संभवत: किसी दूसरे आयुर्वेद ग्रन्थकार ने उसे इतना संकुचित नहीं किया। वाग्भट ने सबसे अन्त में इस पर लेखनी उठाई। चूंकि वाजीकरण प्रकरण लिखना आयुर्वेदिक ग्रन्थ में आवश्यक था, इसे लिखा तो, परन्तु उस पर अपनी स्वतन्त्र सम्मति भी अलग से लिख दी—

---

corresponding to a period from about A. D. 350 to 850, during which time the Brahmanical deities were fashioned both in stone and clay. Ancient India No 4,
(Terracotta figurines of Ahichchatra, Distt. Bareilly)
—by V. S. Agrawala, pp, 126-130

1. रस हृदय तन्त्र तथा रस रत्न समुच्चय, अध्याय 1
2. *Evidence shows that Indian modellers working through the medium of clay reached to the presence of these foreign types in their midst and preserved. Their salient features in the figurines now available.* —Ancient India, p. 155

धर्म्यं यशस्यमायुष्यं लोकद्वयरसायनम्।
अनुमोदामहे ब्रह्मचर्यमेकान्तनिर्मलम् ॥[1]

यह वाजीकरण प्रकरण ग्रन्थ परिपाटी में लिखना आवश्यक था, लिख रहा हूं, परन्तु व्यक्तिगत रूप से मेरी सलाह पूछो तो धर्म के परम साधन यश देने वाले तथा लोक परलोक में भी कल्याणकारी एक ब्रह्मचर्य (इन्द्रिय-निग्रह) का ही मैं अनुमोदन करता हूं। वाजीकरण के प्रसंग में ब्रह्मचर्य का यह उपदेश निस्सन्देह, वाग्भट के अपने ही धार्मिक विचारों का प्रतीक है। तभी तो उन्होंने 'अनुमोदामहे' उत्तम पुरुष की क्रिया का प्रयोग किया। विदेशी आक्रान्ताओं द्वारा दूषित वातावरण में भी भारतीय आदर्शों की सदाचार परिपाटी का इतना जोरदार समर्थन वाग्भट के जीवन का आदर्श था। उसमें चरक की निर्भीकता का प्रतिबिम्ब दिखाई देता है।

बौद्ध अथवा जैन विचारों में वैदिक धर्म के पारलौकिक अंश को स्वीकार नहीं किया गया। नित्य, शुद्ध, बुद्ध और मुक्त स्वभाव सच्चिदानन्द परमात्मा की सत्ता स्वीकार करने में उन्हें आपत्ति थी। परन्तु व्यावहारिक जीवन के वैदिक आदर्शों को उन्होंने ज्यों का त्यों स्वीकार किया था। ब्रह्मचर्य ही उनका आदर्श था। ब्रह्मचर्य में जीवन

(b) The females invariably have full round breasts pressing against each other, without intervening space as in the preceding Kushana age. —Ancient India, Page 137, No. 4

(c) Amongst the female figures also occurs a special sub-type distinguished by a plain petticoat without folds on the lower body and a scarf (Uttarasanga) passing over the breast and on the left shoulder. This agrees with Itsing's (इत्सिंग के) account of the dress of female nuns, whom the clay figurines seem to represent. - - - He also adds that the nuns did not conceal their busts under a bodice, as confirmed by the uncovered breast on the specimen. —Ancient India No. 4, Page 149.

(d) A dozen clay figurines show a nude woman either moving with bent body in a dishevelled and disconsolate posture or simply standing with the right hand drawan parlled to the body and left akimbo. Nudity is contrary to the conventions of Gupta art. The present type, however, finds its explanation in terms of a distinct iconographic formula. - - - - - Her admission to the Hindu pantheon seems to have been accomplished about the early Gupta period. —V. S. Agrawala,
Terracotta figurines of Ahichchatra
Distt. Bareilly U. P. p., 151

1. अष्टां० हृ०, उत्तर० 40/4

यम, नियम, आदि सभी आदर्श अन्तर्भूत हैं।[1] परन्तु जीवन का लौकिक आदर्श स्वयं किसी अलौकिक आदर्श की खोज करता रहता है। चाहे वह 'प्रतीत्य समुत्पाद' से चलकर 'महापरि निर्वाण हो', अथवा 'जरामरण' से छूटकर 'मुक्ति'। एक ऐसा अन्तिम आश्रय होना चाहिए जहां दुःख से छूटकर सुख मे, अज्ञान से छूटकर ज्ञान में, और अनेक से छूटकर एक में मेरी सत्ता सुरक्षित और अक्षुण्ण बनी रहे। धर्म कर्म मुक्ति के लिए है, और मुक्ति प्राप्त होकर यदि आत्मसत्ता का ही नाश हो जाए, तो उस मुक्ति को कौन चाहेगा ? आत्मा की सत्ता का नाश कोई नहीं चाहता। यदि मुक्ति आत्मा का नाश ही माना जाए, तो जिस धर्म-कर्म से मुक्ति होती हो उसमें किसीको अभिरुचि न रहेगी। धर्म-कर्म से पराङ्मुख जनता में जो सामाजिक अनाचार बढ़ेगा, वह राष्ट्र के लिए कितना भयानक होगा ? यह भयानक स्थिति ईसा की तृतीय शताब्दि तक भारत में आने लगी थी।

जब अन्ततोगत्वा आत्मसत्ता का ध्वंस ही होना है, तो 'जब तक जियो सुख से जियो'—'यावज्जीवेत् सुखं जीवेत्' का ध्येय ही सबको अच्छा लगता है। वाम मार्ग, वज्रयान, लिङ्गयान आदि उस युग के सम्प्रदायों का दृष्टिकोण भुक्ति को ही मुक्ति मान लेने में था। इसीलिए वे लोग रस-प्रयोगों द्वारा देह सिद्धि की चिन्ता में व्यस्त थे।[2] जब कर्म का कोई साक्षी ही नहीं, तो पाप-पुण्य का विचार समाप्त हो गया।

परन्तु वाग्भट के युग तक इस भौतिक देह से परे भी एक अविनाशी आत्मतत्त्व का परिचय पाने की उत्कण्ठा भारतीय राष्ट्र में फिर से जागृत हो गई थी।[3] उन्हें विश्वास था कि हमारे भले-बुरे कर्मों का साक्षी एक परमेश्वर है। दीपशिखा की भांति हमारा निर्वाण नहीं होगा, किन्तु अपने कर्मों के फल हमें भोगने पड़ेंगे। वाग्भट के हृदय में भी वह प्रेरणा अवश्य थी। इसी कारण, चाहे उन्होंने परलोक सम्बन्धी प्रश्नों

---

1. (अ) भिक्षुओ ! ऐसा देखते हुए विद्वान् आर्य, शिष्य रूप से उदास होता है। वेदना से उदास होता है। संस्कार से उदास होता है। विज्ञान से उदास होता है। उदास होने पर उनसे विराग को प्राप्त होता है। विराग के कारण मुक्त होता है। मुक्त होने पर 'मुक्त हूं' ऐसा ज्ञान होता है। और वह जानता है, आवागमन नष्ट हो गया। ब्रह्मचर्यवास पूरा हो गया। करना था सो कर लिया, अब यहां कुछ करने को बाकी नहीं है। —विनय पिटक, महावग्ग 1/1/7

   (ब) यदापञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह।
   बुद्धिश्च न विचेष्टते तामाहुः परमां गतिम्॥ —उपनिषद्

2. तस्माज्जीवन मुक्तिं समीहमानेन योगिना प्रथमम्।
   दिव्यातनुर्विधेया हर गौरी सृष्टि संयोगात्॥ —र. र. 1/59
   देहलोहमयीं सिद्धिं सूते सूतस्ततः स्मृतः। —र. र. 1/77
   बुद्धचर्या में भी राहुल सांकृत्यायन लिखित उपोद्घात देखिये।

3. (क) आत्मानं चेद्विजानीयात्परं ज्ञानधुताशयः।
   किमिच्छन् कस्य वा हेतोर्देहं पुष्णाति लम्पटः। —श्रीमद्भागवत स्क० 7/15/40

   (ख) तथैव जीर्णानि विहाय देहान्यन्यानि संयाति नवानि देही। —गीता अ० 2

को चरक संहिता की भांति नहीं उठाया, फिर भी भौतिक शरीर से परे अविनाशी आत्मा के दर्शन की लालसा का संवरण वे न कर सके ।[1]

यही कारण है, पुरातत्त्व सम्बन्धी जो भूगर्भ की खुदाइयां हुई हैं उनमें वाग्भट के काल की मूर्तियां प्राप्त हुई हैं, उनमें वैदिक देव मूर्तियां ही अधिक हैं। लिङ्ग और योनि के चित्रण, नग्न स्त्री और पुरुषों की प्रतिमायें गुप्त काल के आदर्श नहीं हैं। वैदिक प्रतिमाओं के बाद दूसरे नम्बर बौद्ध और तीसरे नम्बर जैन मूर्तियां रक्खी जा सकती हैं। बौद्ध और जैन विचार-धारा में नङ्गापन आया किन्तु वैदिक विचारों में वेशविन्यास और वस्त्राभरण का गौरव सदैव रहा है। वाग्भट ने भी दिनचर्या का आदर्श लिखा—

'स्नानशीलः सुसुरभिः सुवेशोऽनुल्वणोज्वलः ।'

'स्नान करो, सुगन्ध लगाओ, सुन्दर वस्त्राभरण पहिनो, कुछ गन्दे कुछ उजले मत रहो।'

दूसरी ओर बौद्ध परम्परा में पांसुकूल चीवर तक चल रहे थे। घरों की स्त्रियां जो गन्दे कपड़े घूरे पर फेंक देतीं उन्हें बटोरकर पहिनने और ओढ़ने का वस्त्र ही लेना पांसुकूल चीवर था।[2] दूसरी ओर तीर्थिक (जैन) नंगे फिरते थे।[3] वाग्भट इन सबके विरोधी थे। उन्होंने वैदिक परिपाटी के सुवेश का समर्थन करके अपनी प्रवृत्ति स्पष्ट रूप से वैदिक धर्म की ओर ही प्रकट की है।

फिर भी भूगर्भ से वाग्भट कालीन जो प्रतिमायें प्राप्त हुई हैं, सभी पर न्यूनाधिक विदेशी (यूनानी, पर्शियन, शक तथा हूण) आक्रान्ताओं का प्रभाव विद्यमान है। दक्षिण भारत में यह विदेशी प्रभाव उतना नहीं था, जितना उत्तर भारत में। हिमालय और विन्ध्याचल की मध्यवर्ती भूमि में ही विदेशियों के आक्रमण अधिक होते रहे। यह विदेशी लोग यवन (यूनानी) शक, तुषार (कुषाण वंशी शाखा), मुरुण्ड (कुषाण शाखा) हूण तथा पर्शियन लोग थे।[4] भारत में वे जहां-जहां टिक गये, वहां उनकी कुछ न कुछ

1. सत्यवादिनमक्रोधमध्यात्मप्रवणेन्द्रियम् ।
शान्तं सद्वृत्त निरतं विद्यान्नित्य रसायनम् ॥
स निवृत्तात्मा दीर्घायुः परत्रेह च मोदते ॥ —अ० हृ उत्तर० 39/180-82
2. विनयपिटक 8, चीवर स्कंध 6
3. विनयपिटक, चीवर स्कंध 8/1
4. यवन=यूनानी (Ionion or Greeks) Sakes (Sythians), पल्हिवन=पार्थीय, (Perthians and Bactrions), आभीर तथा गर्दभिल्ल नाम की अनार्य या अर्ध-सभ्य जातियां और थीं, जो इस युग में छुट-पुट राज्य स्थापित कर सकी थीं।

—गु० स० इ० 1 भा०. पृ० 10-13

इनका विवरण देखिये। संक्षेप में इनका शासन-काल विभिन्न प्रदेशों पर निम्न प्रकार था :

(क) आभीर	10 राजा	67 वर्ष
(ख) गर्दभिल्ल	7 राजा	72 वर्ष
(ग) शक	18 राजा	183 वर्ष
(घ) यवन	8 राजा	88 वर्ष
(ङ) तुषार	14 राजा	105 वर्ष
(च) मुरुण्ड	13 राजा	200 वर्ष
(छ) हूण	11 राजा	103 वर्ष

स्मृतियां शेष रह गईं। ईसा पूर्व प्रथम शताब्दि तक ग्रीक शासकों का अन्त होकर शकों ने आधिपत्य स्थापित किया।

शकों के अन्तिम समय पारसीक (पर्शियन) शासक प्रवल हुए। उधर शक सम्राट् कनिष्क का उत्तराधिकार कुषाणों ने ले लिया। सन् 176 ई० तक कुषाणों की प्रथम परम्परा नष्ट हो गई। यद्यपि स्कन्दगुप्त के वाद 467 ई० में वाग्भट के समय फिर से हूणों ने शाकल को राजधानी वनाकर राज्य स्थापित कर लिया था। शकों के अधीन कार्य करने वाले क्षत्रपों ने दक्षिण भारत में भी अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया था। महाराष्ट्र, कोंकण, मन्दसोर (मालवा) तथा पुश्कर (अजमेर) तक नहपान नामक शक क्षत्रप शासन करता था। ईसा की द्वितीय शताब्दि के आरंभ में ही दक्षिण के आन्ध्र सम्राट् गौतमी पुत्र शातकर्णी ने उसे परास्त कर महाराष्ट्र को फिर से अपने शातवाहन राज्य में सम्मिलित कर लिया।

ग्रीक 323 ई० पूर्व भारत से चले गये। परन्तु उनके प्रभाव में ईरान, ईराक, वेवीलोन तथा असीरिया के प्रदेश अभी तक विद्यमान थे। धीरे-धीरे ई० पूर्व प्रथम शताब्दि तक शकों तथा हूणों ने उनको उस प्रदेश से भी निकालकर अपनी शक्ति इतनी वढ़ा ली कि वे भारत में भी घुस आये और शासक बन गये। 50 ई० तक मथुरा तथा तक्षशिला में शकों के क्षेत्रप (Governor) शासन चला रहे थे। इसी काल ईरानी (Perthian) शक्तिओं का उदय हुआ। उन्होंने शकों से तक्षशिला छीन ली। परन्तु दक्षिण-पश्चिम भारत में शक क्षेत्रप शातवाहनों (आन्ध्र शासकों) से युद्ध करके अपना साम्राज्य विस्तार कर रहे थे। नहपान क्षत्रप काठियावाड़ को राजधानी वनाकर अपनी शक्ति दक्षिण में स्थापित कर रहा था। हम कह चुके हैं महाराष्ट्र, कोंकण, मालवा तथा पुश्कर उसके अधिकार में थे। पांडुलेना, नासिक जूनार तथा कार्ले की गुफाओं के लेख शकों के शासन की साक्षी देते हैं। उज्जयिनी के क्षत्रप रुद्रदामन् ने आन्ध्र सम्राट् शातकर्णी को परास्त करके दक्षिण भारत पर अपना प्रभाव कितना वढ़ा लिया था, यह उसकी जूनागढ़ से प्राप्त प्रशस्ति से प्रतीत होता है।[1]

जव दक्षिण भारत की यह दशा थी, भारत के पश्चिमोत्तर द्वार पर कावुल की घाटी (निपध) में अन्तिम ग्रीक शासक हरमेयस राज्य कर रहा था। कैडफीसिस कुषाण ने उसे परास्त करके अपनी सत्ता स्थापित कर ली। उसने पूर्वोक्त पर्थियन शासक गोंडाफरेस को भी हराकर तक्षशिला तक अपना अधिकार कर लिया। ईसा की प्रथम शताब्दी के उत्तरार्ध में शकों का एक प्रतापी सम्राट् सामने आया, इसका नाम कनिष्क था। मध्य एशिया से लेकर सारनाथ (काशी) तक इसका एकछत्र राज्य स्थापित हो गया। इसके लेख पेशावर, स्यू विहार (सिंध) तथा सारनाथ में मिलते हैं। कनिष्क ने अपनी राजधानी पेशावर (पुरुषपुर) वनाई। कनिष्क का उत्तराधिकार कुषाणों ने लिया।

---

1. 'स्ववीर्यं निर्जितामनुरक्ता सर्वं प्रकृतीनां पूर्वापराकरावन्ती अनूपनीवृदानर्त्त सुराष्ट्र श्वभ्रमरुकच्छ सिन्धु सौवीर कुकुरापरांत निषादादीनां समग्राणां।।' —एपि ग्राफिका इण्डिका, भा० 8, पृ० 46
गु० सा० का इति० भा० 1, पृ० 11-12

हम कह चुके हैं, यह दोनों सजातीय थे। सन् 176 ई० तक कुषाणों का अन्त हो गया। भारतीय इतिहास के अन्धकार युग (Darkperiod) कहे जाने वाले इस काल का अन्त होते-होते भारत में नागवंशी सम्राटों का उदय हो रहा था। उधर दक्षिण में शालिवाहनों का प्रताप चमक रहा था। प्रायः 150 ई० से 350 ई० (गुप्त वंश के उदय) तक नागवंशी सम्राटों ने भारत की राजसत्ता फिर से अपने हाथ में ली।

यह राजनैतिक सिंहावलोकन वाग्भट के समकालीन धार्मिक विचारों पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश डालता है। अशोक की मृत्यु (236 ई० पूर्व) के उपरान्त भारत में जो राजनैतिक उथल-पुथल रही, वही वाग्भट के समकालीन धार्मिक विचारों की पृष्ठभूमि है। मौर्यों के पूर्व काल तक का धर्म मानव के हृदय तथा समाज के विश्वास की वस्तु थी। ग्रीकों के सम्पर्क होने के पश्चात् मौर्य काल में पत्थर, लोहा, तांबा, कांसा आदि भी धर्म के सहयोगी तत्त्व बन गये। धार्मिक उपदेश तथा धार्मिक प्रतिमाएं, जो प्रस्तरों तथा धातुओं द्वारा अभिव्यक्त होती थीं, स्थान-स्थान पर दिखाई देने लगीं। ऐसी प्रतिमाएं जो भारतीय दृष्टि से स्वाभाविक नहीं थीं। इनमें विदेशी प्रभाव था। प्रस्तरों द्वारा इस प्रकार के कलात्मक चित्रण को अंग्रेजी में 'मेगालिथ' (Megalith) कहते हैं। मेगालिथ शब्द ग्रीक भाषा से अंग्रेजी में आया है। बड़ी-बड़ी तथा अनगढ़ शिलाओं द्वारा जो मन्दिर त्रिकोण छत के, अथवा चौरस छतों के बनाये जाते थे वे 'मेगालिथिक' कहे जाते थे।[1]

ग्रीक लोगों की मान्यता है कि प्राचीन काल में एक ऐसा युग था, जब साइक्लोप्स

---

1. (क) Cyclops, तथा Megalith शब्दों का विवरण देखिये।
—Concise English Dictionary by Charles Annandale London.

(ख) It may be recalled, in the first place, that the customs of inscribing upon rock and of covering archelectural, caves out of the rock were established in Iran long before the date of the earliest known examples in India. From the Seventh century B.C. onwards, if not earlier, tombs in the likeness of pillared halla were being cut into the cliffs of Media and Persia, whilest the earliest dated cave-buildings of India are those carved in the reign of Asoka about 250 B. C. in the Baraher hills near Gaya in Behar. The Bisutun or Behistun rock inscription of Darius I dates from C 518 B. C.; There is in India no precedent for the rock-edicts cut at the bidding of Asoka in and after 257 B. C. In these things, the Mauryan Emperor was delibrately adopting the method of the Great Kings, whose mantle had in a sense decended upon him. But the resemblance is one of technique, not of spritual or aesthetic contents.

—Ancient India No, 4, p. 98 R. E. M. Wheeler

नामक विशालकाय देवता होते थे। साइक्लोप्स के मस्तक पर वृत्ताकार केवल एक आंख होती थी। इन्हीं साइक्लोप्स देवताओं की मूर्तियां प्राचीन ग्रीस के मन्दिरों में पूजी जाती थीं। यह मन्दिर बड़े-बड़े अनगढ़ प्रस्तरों को जोड़कर इस प्रकार बनते थे कि जिनके जोड़ने में किसी प्रकार के चूना, अथवा सीमेण्ट की अवश्यकता नहीं थी। इन मन्दिरों को मेगालिथिक कहते थे। धीरे-धीरे प्रस्तर-कला को ही मेगालिथिक कहा जाने लगा है।

ग्रीक लोगों के भारत में आने के पूर्व भारत में साइक्लोपियन देवता का कोई स्थान न था। ग्रीक साइक्लोपियन देवता को अपने साथ लेकर आये। भारतीयों ने ग्रीक देवता के मस्तक पर एक विशाल नेत्र देखा। ग्रीक सेना के आगे साइक्लोप्स की मूर्ति रहती थी। भारत में यह कितना अस्वाभाविक चित्रण था? परन्तु एक नेत्र वाले इस विशाल देवता को विजय करने के लिए उस युग के भारतीयों का देवता शिव ही था। छोटे-छोटे दो नेत्र वाले देवता से ग्रीक भयभीत नहीं हो सकते थे। इसलिए साइक्लोपियन देवता की शक्ति को शिवशंकर में प्रकट करने के लिए एक विशाल नेत्र उनके मस्तक पर भी भारतीय राजनीतिज्ञों ने स्थापित कर दिया। अब तीन नेत्र वाले देवता के आगे एक नेत्र वाले देवता की क्या सामर्थ्य जो टिक सके? साइक्लोप्स एक नेत्र से सदैव देखते थे, परन्तु शिवशंकर का तृतीय नेत्र कभी-कभी ही खुलता। और जब खुलता, प्रलय की विकरालता लेकर ही खुलता। शिवशंकर की ऐसी ही मूर्तियां अनेक स्थानों में भूगर्भ से प्राप्त होती हैं। वाग्भट के विचारों में इन शिव के प्रति अत्यन्त भक्ति और सम्मान था। शैव दर्शन का प्रभाव भारत में पिछले युगों से चला आता था। वह वीरता और विजय का प्रतीक बनकर राष्ट्रव्यापी हो गया था। वाग्भट ने न केवल शिव के लिए ही किन्तु उनके पुत्र स्कन्द के लिए भी श्रद्धा प्रकट की है। इस शिव पूजा का जोर वाग्भट के युग से बहुत पूर्व प्रायः शुङ्ग काल (150 ई० पू०) में बढ़ चला था और कुशाणों के पतन के उपरान्त 176 ई० में नाग वंशी राजाओं ने शैव दर्शन को ही राष्ट्रधर्म घोषित कर दिया था। इसी कारण इतिहास में इन राजाओं का नाम 'भारशिव' पड़ा।[1]

ईसा की प्रथम शताब्दि में पर्थियन सम्राट् कैडफीस द्वितीय, जो तक्षशिला में शासन कर रहा था, तथा गंधार में भी जिसकी तूती बोलती थी, भारतीय शिवोपासना से इतना प्रभावित हुआ कि वह स्वयं शैव धर्मानुयायी बन गया। इसके सिक्कों पर नन्दि के चिह्न से इस बात की पुष्टि होती है। भारतीयों की शिवोपासना अब विशुद्ध भारतीय न होकर ग्रीक और भारतीय दोनों ही संस्कृतियों का सम्मिश्रण हो गई थी। शिव के आगे भारतीय मस्तक झुकाते थे और ग्रीक भी। ग्रीक ने उन्हें विजेता त्रिपुरारि के रूप में देखा और भारतीय ने शिवशंकर के रूप में।

इसी युग में दक्षिण भारत से आंध्र शक्ति का उदय हुआ था। आंध्र दक्षिण

1. "यह कथन केवल पुनरुक्ति मात्र है कि भारशिव राजा परम शैव थे। इस काल में शिव पूजा को बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया। शिव पूजा ही इस समय की राष्ट्रीय भावना थी। सर्वत्र शिव ही शिव देख पड़ते थे। समस्त भारशिव वायुमण्डल ही शिव की पवित्र आराधना से व्याप्त हो गया था।"—गुप्त सा० का इति०, भा० 1, पृ० 17

से उत्तर तक बढ़ गये। परन्तु वे ज्यों-ज्यों उत्तर की ओर बढ़ते जाते थे, उनके दक्षिण प्रदेश में शक और हूण घुसते जा रहे थे। उत्तर भारत में आंध्रों के पैर बहुत दिन नहीं जम सके क्योंकि उनके अपने घर (दक्षिण) में शक और हूण बुरी तरह लूट मचा रहे थे। यह इतिहास का वह अन्धकार युग था, जब भारत की संस्कृति विदेशियों के साथ संघर्ष कर रही थी। दक्षिण अथवा उत्तर में कोई स्थिर शासन अथवा धर्म नहीं था।[1] सन् 50 से 200 ई० तक आंध्रों ने स्थिर होकर दक्षिण में जो शक्तिशाली धर्म राज्य संचालित किया उसका प्रमुख देवता शिव ही था। उत्तर भारत से दक्षिण लौटते हुए आंध्र और कुछ नहीं ले गये। पराक्रम के प्रतीक शिव को ही अपने साथ ले गये।[2] आंध्रों का शासन-केन्द्र कृष्णा और कावेरी के मध्य का प्रदेश था। परन्तु फिर भी समस्त दक्षिण भारत के राजनैतिक और सांस्कृतिक निर्माण में आंध्रों का प्रभाव स्वीकार करना होगा। यही कारण है कि दक्षिण भारतीय पुरातत्त्व में शिव की जितनी मूर्तियां प्राप्त होती हैं उतनी किसी अन्य देवता की नहीं। मध्य भारत के नागोद राज्य में स्थित भूमरा तथा खोह स्थानों में एक मुख शिव लिङ्ग (चिह्न, प्रतीक) की भव्य मूर्तियां प्राप्त हुई हैं। अजमेर के संग्रहालय में चतुर्मुख शिवलिङ्ग की प्रतिमा विद्यमान है। यह कमन नामक स्थान से प्राप्त हुई है। खोह से प्राप्त शिवमूर्ति एक मुख शिवलिङ्ग नाम से विख्यात है। इस पर रत्न जटित, मुकुटधारी, जटाबद्ध शिव की मूर्ति बनी है। जटाओं पर चन्द्रमा की कला तथा मस्तक पर तृतीय नेत्र शोभित है। उदय गिरि (भेलसा) की गुफा में दुर्गा (शिव पत्नी) की महिषासुरमर्दिनी प्रतिमा बनी हुई है। यह मूर्ति अष्ट भुजा युक्त है।[3]

प्राचीन वैदिक साहित्य में ब्रह्मा, विष्णु, तथा इन्द्र के नाम प्रमुख देवताओं में लिये जाते हैं। ब्रह्मा ज्ञान-विज्ञान के लिए, विष्णु प्रजापालन और व्यवस्था के लिए तथा इन्द्र युद्ध और राजनीति के लिए प्रतिष्ठित थे। शिव का नाम वैदिक देवताओं में संहारकारी गिना गया था। इसीलिए शिव को रुद्र नाम से सम्बोधित किया गया। रुद्र

---

1. As the evidence stands at present, I find it easier to suppose that the northward move of the Megaliths occured later, in the chaos which followed the death of Asoka, C. 236 B. C., when the Mauryan empire melted away and a Dark age settled upon the Deccan for some three centuries.
by R. E. M. Wheeler, Brahmegiri and Chandravati 1947
Ancient India, No. 4. p. 202

2. At Banwasi (Kanara District) and Malavalli (Shimoga, District Mysore) we have inscriptions of the time of Haritiputra Satkarni. At Talgunda (Shikarpur taluq Mysore) there is an inscription of the Kadamba King Kakusthavarman which mentions that, in the Siva temple there, Satkarni and the other great Kings had worshiped, — — — — Bulher places these inscriptions in about 200 B. C. i.e. in the period immediately following that of Asoka.
—N. P. Chakravarti (Minor Rock Edicts of Asoka)
Ancient India p 21

3. गु० भा० सा इति०, भा० 2, पृ० 172-173

का अर्थ है भयानक, रुला देने वाला, शत्रु जिसके आगे टिक न सकें। धन्वन्तरि के प्रकरण में हमने लिखा है कि त्रिपुर (असुरलोक) की विजय में ब्रह्मा सारथी थे और रुद्र रथी।[1] यह भी कहा जा चुका है, शिव नाग जातीय थे, देव नहीं। देवों की गिरती हुई शक्ति को नागों ने ही सन्तुलित किया था। इसलिए इतिहास में नागों का स्थान भी कम महत्त्व का नहीं। शिव उन्हीं के गणनायक थे। कमन, खोह और उदयगिरि के भूगर्भ में प्राप्त शिव-मूर्तियां भारतीय इतिहास के उसी युग के अध्याय हैं।[2]

विजित प्रदेशों पर शिव की राजनीति बहुत सफल रही। इसीलिए शिव का दूसरा विरुद 'आशुतोष' है। कुछ लोगों का विचार है कि यजुर्वेद का शतरुद्रिय प्रकरण (अ० 16) रुद्र का विवेचन प्रस्तुत करता है, तो भी अदिति की सन्तानों का गौरव ही वैदिक साहित्य में अधिक है। रुद्र देवता के सूक्त इन्द्र की तुलना में नगण्य हैं।

मोहन्जोदारो, हड़प्पा, तथा तक्षशिला के भूगर्भ से शिव की मूर्तियां उतनी नहीं मिलीं, जितनी ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र और सविता अथवा अश्विनीकुमारों की। शिव का ऐतिहासिक गौरव हम महाभारत में पाते हैं। इसका अर्थ यह है कि वैदिक युग के उपरान्त नागों का उदय हुआ था, जिनके पराक्रम का उल्लेख महाभारत में है। महाभारत का मूल ग्रन्थ व्यास ने लिखा था, जिसका नाम 'जय' था। उपलब्ध महाभारत व्यास की भाषा नहीं है। वह उसका प्रतिसंस्कार है। ऐतिहासिकों का विचार है कि वह एक व्यक्ति का अथवा एक ही समय का लिखा हुआ नहीं है। उनका विश्वास है कि यह विशाल महाभारत व्यास के आधार पर मौर्य चन्द्रगुप्त से पूर्व नागवंशी सम्राटों के युग में लेखबद्ध होना प्रारम्भ हुआ था।[3] सिकन्दर के आगमन (326 ई० पू०) के समय नागवंशी सम्राट् महानन्द ही भारत का यशस्वी शासक था। वह प्रतापी, बलवान और विद्वान् भी था। सिकन्दर उसकी योग्यता के डर से ही भारत में पंजाब से आगे न बढ़ा। नागवंशी सम्राटों ने शिव को अपना आदि गणनायक मानकर सम्मानित किया, यह उचित ही था। असुरों से पराजित होकर ब्रह्मा, विष्णु और इन्द्र आदि देवता जनता पर वह प्रभाव प्रस्तुत नहीं कर रहे थे, जो शिव के त्रिशूल से संभव था। शिव को इसीलिए 'भूतपति' के रूप में पूजने की भावना भारतीय राष्ट्र में प्रबल थी। परिवार विशेषतः

---

1. सारथ्यमकरोत्तत्र ब्रह्मा रुद्रोऽभवद्रथी।—महा भा०, आदि
2. महा, भा० आदि पर्व (संभव पर्व) अ० 65 से 68 तक वंशावली देखिये। देव वंश का संक्षिप्त परिचय यह है—ब्रह्मा के मरीचि, अत्रि, अंगिरा, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, दक्ष प्रजापति, स्थाणु, धर्मदेव एवं भृगु नाम के पुत्र तथा एक पुत्री हुई। पुत्री प्रजापति की पत्नी बनी। उसके वंश में तेरह कन्याएँ हुईं। इन्द्र और विष्णु प्रजापति की कन्या अदिति के वंशज हैं। शिव स्थाणु के वंशज हुए। वेदों में प्रजापति के वंश का अधिक हाथ है।
3. As we know that, though a part of Mahabharat was compiled in the third or fourth century B. C., the work of compilation went on for several centuries, right down to the fourth century A. D.
—N. P. Chakravarty
Ancient India No. 4, p. 21

गुप्तकाल 300 ई. में स्वास्थ्य ही कला और सौन्दर्य का प्रतीक वना

शिशुओं की मंगल कामना से शिव के चित्र और मूर्तियां बनाई जाती थीं। वाग्भट के युग में चिकित्सकों में उनकी पूजा प्रचलित थी।[1] इतिहास साक्षी है, शिव ने कभी पराजय नहीं देखा। साइक्लोप्स को शिव की त्रिनेत्र कल्पना ने परास्त कर दिया। महाभारत का यह संकलन महानन्द से लेकर चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य तक चलता ही रहा। इस प्रकार 800 वर्षों में वर्तमान महाभारत का यह विशाल ग्रन्थ तैयार हो सका, जिसमें भारतीय संस्कृति की सभी प्राचीन शाखाओं का समन्वय उपलब्ध है।

महाभारत में शिव की पूजा एक महापुरुष के रूप में प्रस्तुत की गई है। मौर्य काल से पूर्व शिव की जो भावना भारतीय विचारधारा में थी वह महाभारत में देखी जा सकती है। किन्तु ईसा से 326 वर्ष पूर्व भारत में ग्रीक सम्राट् सिकन्दर आक्रान्ता के रूप में आया। उसके उपरान्त भारतीयों का ग्रीक लोगों से सम्पर्क बढ़ा। प्रस्तर-प्रतिमाओं की सभ्यता ग्रीक सम्पर्क के साथ भारत में प्रारम्भ हो गई थी। ईसा से 400 वर्ष पूर्व यूनानियों (ग्रीक) को मेगालिथिक सभ्यता ही भारत में मूर्ति-पूजा का संक्रमण काल है। उससे पूर्व विजय-स्तम्भ अथवा यज्ञ-यूप स्थापित करने की परिपाटी ही भारतीय परम्परा थी। अशोक के शिलालेख उन्हीं के अनुकरण में धर्म-विजय के प्रतीक ही तो थे। 140 ई० पूर्व ग्रीक राजा हेलियोडोरस ने भगवान् विष्णु की प्रतिष्ठा में एक विजयस्तंभ वेस नगर (भेलसा) में स्थापित किया था।[2]

शुङ्गकाल (250 ई० पू०) तक भारतीय नग्न मूर्तियां निर्माण नहीं करते थे। यद्यपि डेढ़ सौ वर्षों में ईरानी (पर्थियन) सभ्यता के सम्पर्क से भारतीय प्रस्तर-कला में बहुत विकास हुआ, किन्तु वह विकास नग्नता की ओर नहीं था। किन्तु ईसा की प्रथम शताब्दी पूर्व शकों के सम्पर्क होने के उपरान्त सहसा हम भारतीय पुरातत्त्व में नग्न मूर्तियां पाते हैं। तक्षशिला के पुरातत्त्व में नग्न मूर्तियां उपलब्ध हुई हैं। भारत का पश्चिमोत्तर द्वार तक्षशिला ही था। सबसे प्रथम शक इसी मार्ग से भारत में प्रविष्ट हुए थे।[3]

---

1. नाना ग्रह परिवारं—
   भिषग्भूतपतिं लिखेत्।
   तं प्रति प्राङ्मुखो विद्यां
   पठन्नुपहरेद्बलिम्॥—अष्टा० सं०, उत्तर० बालग्रहप्रतिषेध, अध्याय 4
   भूतेशं पूजयेत्स्थाणुम्—अ० हृ० उत्तर० 5/1-52
2. The earliest specimen of a piller erected in honour of a Brahmanical deity is the famous monolithic Column at Besinagar (ancient Vidisa) set up towards the middle of the second century B. C. in honour of Vasudeo by a Greek Heliodorus, who calls himself a Bhagwat or worshipper of Krishna Vishnu.
   —N. P. Chakravarty
   Minor Rock Edicts of Asoka, Ancient India No 4, Page 24
3. The favourite subject for the cast figures is a female standing in a frontal pose with arms pendent, nude and realistically

ईसा से 2500 वर्ष पूर्व सिन्धु घाटी की आर्य सभ्यता (Indus Valley Civilization) के युग में शिव को राजनैतिक देवता का वह स्थान प्राप्त नहीं था, जो पीछे से नाग शक्तियों के उदय के बाद प्राप्त हुआ। आर्य सभ्यता का आदियुग इन्द्र को वीरता और विजय का देवता मानकर पूजता था।[1] गोत्रभित्, पुरुहूत और वज्री वही था। शिव नहीं। इतिहास की दृष्टि में केवल सिन्धु घाटी ही उस सभ्यता का क्षेत्र न था, मैसोपोटामिया (दजला-फरात का दोआबा), ईराक तथा ईरान भी उसमें समाविष्ट थे। जब हम मैसोपोटामिया का नाम लेते हैं, सीरिया और जोर्डन भी उसमें समाविष्ट रहते हैं। तभी मनु ने लिखा था—'आसमुद्रात्तु वै पूर्वादासमुद्रात्तुपश्चिमाम्'। धन्वन्तरि का विशाल साम्राज्य यही तो था। त्रिपुरारि और पुरन्दर की विजय का झंडा ढूंढ़ा जायगा तो ट्रिपोली के भूगर्भ में मिल जायगा। इतिहास के नये अन्वेषकों ने इसी मैसोपोटामिया को सुमेरियन सभ्यता का केन्द्र कहा है। वे सुमेरियन और कोई नहीं थे, भारत के विजेता ही, प्रवासी बनकर वहां रह रहे थे।[2]

---

modelled. Unfortunately, our figurines are all headless, but the few detached cost heads that have survived exhibit features of out landish dress and foreign facial type. These figures and heads are comparable with some of the contemporary terracottas from Seleucia (a Parthian city) on the Tigris and represent the hybrid perthian art of the period 100 B. C. — 200 A. D.

—A. Ghosh (Taxila, Sircap)

Bulletin of Archeological Survey of India No. 4, p. 75-76

The sensuous pose and features of the lady are foreign to the contemporary art of Gandhar. —A. Ghosh (Taxila), p. 79

1. सख्ये त इन्द्र वाजिनो मा भेम शवसस्पते। त्वामभि प्रणोनुमो जेतारमपराजितम्॥

—ऋग्वेद 1/1/11/2

2. We can, I think, best visualize the relationship of the Indus civilization with its contemporaries and forbearers of Iran and Mesopotamia along those lines.

Now the Rigveda, which preserves some image of the great incursion into the land of the seven rivers, speaks constantly of the 'forts' or 'citadels' which lay across the path of the invaders. Indra, the Aryan war-god, is 'fortress-destroyer', he demolishes ninety, ninety-nine, a hundred citadels; he 'rends forts as age consumes a garment. Massacred men, women and children are found in the topmost levels of Mohanjo-daro where else, save in the Indus cities, were there *non* Aryan citadels worthy of prowess of Indra and his Aryan following? Certainly no rival claiments are known to us.

—Archeological Survey of India No. 4, R. E. M. Wheeler, p. 92. (Iran and India in Pre-Islamic times)

मोहन्जोदाड़ो के भूगर्भ में अन्तिम स्तर पर मरे हुए स्त्री, पुरुष तथा बच्चों के अस्थिपञ्जरों के सिवा और कुछ नहीं मिला। ऐतिहासिकों का अनुमान है कि सिन्धु घाटी में आर्यों ने जो सभ्यता स्थापित की थी वह उस स्थान पर अधिकार चाहने वाले असुरों और अनार्यों का समूल संहार करके ही स्थापित हुई थी। यह संहार करने वाला इन्द्र ही था। वाग्भट ने इसी तथ्य का उल्लेख अपने लेख में किया है—'वज्रिवज्रमिवासुरान्'।[1] इन्द्र के पराक्रम की वह घटना 'देवासुर-संग्राम' के नाम से इतिहास में अमर हो गई।[2]

धन्वन्तरि के युग तक स्वर्ग में गृह-कलह हो गया। देवों की अमरावती पर नागों ने आक्रमण कर दिया। उमा, जो अमरावती की ही बेटी थी, उसका कारण बनी। जो भी हो देवताओं की प्रभुता को गिराकर राष्ट्र की प्रतिष्ठा का उत्तरदायित्व नागों पर आ गया। किन्तु नागवंशियों ने शिव के सेनापतित्व में उस उत्तरदायित्व का निर्वाह पूरी तरह से किया। त्रिपुर-विजय में शिव सेनापति थे और ब्रह्मा सारथी। उर और किश के संस्मरण उसी घटना की ओर इंगित करते हैं।[3] शिव ने त्रिपुर-विजय करके आर्यावर्त की सीमा भूमध्यसागर बना दी। दक्षिणापथ जो विन्ध्याचल के दक्षिण का विशाल भारत का ही भाग है, शिव के संरक्षण में ही आर्य संस्कृति से आलोकित हुआ था। वाग्भट ने शिव के प्रति उचित आस्था का प्रदर्शन स्थान-स्थान पर किया है। आदिकाल का पूर्वार्ध इन्द्र-युग था और उसका उत्तरार्ध शिव का। वाग्भट के पूर्व युग में ही कालिदास के ग्रन्थों में हम पार्वती और शिव का संस्मरण पाते हैं।[4]

महाभारत में शिव और इन्द्र का समान महत्त्व है। किन्तु युग बढ़ता गया, शिव का महत्त्व भी बढ़ता गया। क्योंकि नागशक्तियाँ उत्तरोत्तर प्रबल होती गईं। इन्द्र युद्ध के उपरान्त नन्दन के महलों में विलास करते रहे। किन्तु शिव बड़ी-बड़ी विजयों के बाद निरीह भाव से विरक्त होकर कैलास पर समाधिस्थ हो गये। उस समाधि की गहराई में उनके ध्यान का तत्त्व राष्ट्र था या परब्रह्म, यह निर्णय करना कठिन था। कालिदास ने इसी भाव को अपने शब्दों में लिखा—'स्वयं विधाता तपसः फलानां केनापि कामेन तपश्चचार'।[5]

---

1. अष्टा० हृ०, उत्त० 37/83
2. A few objects manifestly of Indus origin found in Mesopotamia, and still fewer of Mesopotamian origin found in the Indus valley, are useful for the correlation of chronology but serve to emphasize the seperateness of the two civilizations.
   —Archeological Survey of India, No. 4, p. 91
3. Futhermore, there is at Mohanjodaro, in contrast for example to Ur, an indication of sudden maturity which suggests the intrusion of a perfected civic scheme.—Ancient India No. 4, p. 91.
4. वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थ प्रतिपत्तये।
   जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ॥—रघुवंश 1/1
5. कुमारसम्भव, 2/57
   जो शंकर भगवान् दूसरों को तपस्या का फल प्रदान करते हैं, वे स्वयं न जाने क्या पाने के लिए तपस्या करते हैं।

इस प्रकार सिन्धु-उपत्यका की सभ्यता के उपरान्त (2500 ई० पू०) शिव का गौरव बढ़ा। यह गौरव प्रकट करता है कि राष्ट्र को इन्द्र जैसे विलासी नायक की नहीं, किन्तु शिव जैसे निरीह विजेता की आकांक्षा बढ़ गई थी। विलास और स्वार्थ की दुर्गन्ध भारतीय राष्ट्र ने अपने देवता में भी स्वीकार नहीं की। इन्द्र के सहस्र नेत्रों में अनेक वासनाएं समा गई थीं, इसलिए उसने त्रिनेत्र देवता पर आस्था करना अधिक समीचीन समझा। आत्मा, परमात्मा और दुरात्मा का परिज्ञान ही राष्ट्रनायक का उत्तरदायित्व होना चाहिए।

कालिदास ने 'रघुवंश' में इन्दुमती के स्वयंवर का वर्णन करते हुए अवन्ती के समीप महाकाल नामक स्थान में शिव के एक प्राचीन मन्दिर का उल्लेख किया है। यह चन्द्रमौलीश्वर का स्थान कहलाता था। दूसरा शिवोपासना का केन्द्र दक्षिण भारत के समुद्र तट पर 'गोकर्ण' नामक स्थान पर था, जहां नारद जैसे भक्त अपनी वीणा पर शिव के गुणों का गान करने जाया करते थे[1]। वस्तुत: इन्द्र के ह्रास के साथ-साथ शिव का गौरव बढ़ता गया। और शिव के गौरव का अर्थ है, नागवंशियों का उदय। ईसा के 800 वर्ष पूर्व पाणिनि के युग में शिवदर्शन ही प्रतिष्ठित था, स्वयं पाणिनि के प्रत्याहार सूत्र माहेश्वर-सूत्र कहे जाते हैं। ईसा के 400 वर्ष पूर्व पाटलिपुत्र में नाग वंशी सम्राट् महानन्द ही राज्य कर रहा था, जिसको परास्त करके कौटिल्य की सहायता से चन्द्रगुप्त मौर्य शासक बना। शिवदर्शन में शिव ही सच्चिदानन्द ब्रह्म है। उत्तर भारत में शैव और बौद्धदर्शन को भागवत धर्म ने ढक लिया, किन्तु वाग्भट की सहानुभूति शैवदर्शन के साथ ही अधिक थी। तभी उन्होंने भागवत धर्म के देवता भगवान कृष्ण का उपहास किया[2]।

वाग्भट के समय तक दक्षिण भारत में शिवदर्शन ही व्यापक था। और ईसा की नवीं-दसवीं शताब्दी तक भी वह भागवत विचारों से संघर्ष कर रहा था,[3] यद्यपि उत्तर भारत में भागवत दर्शन प्रतिष्ठित हो चुका था। वाग्भट की आस्था विष्णु के देवत्व में अधिक थी, किन्तु वे वह सम्मान गोकुल के ककुद्मान को देने के लिए तैयार न थे।

शिव हों चाहे विष्णु, भारतीय दृष्टिकोण में आध्यात्मिक और निरीह देवता थे। किन्तु ईसा की प्रथम शताब्दी के बाद ज्यों-ज्यों शकों और हूणों का प्रभाव बढ़ा, यह आध्यात्मिक और परमार्थ की भावना नष्ट होने लगी। हमने पीछे लिखा है कि सबसे प्रथम नग्न मूर्ति तक्षशिला के भूगर्भ से मिली। यह 100-50 ई० पूर्व की सिद्ध हुई है। यही काल भारत में शकों के सम्पर्क का है। ई० पू० 50 में मोग (Moaics) से लेकर कनिष्क (75 ई०) पर्यन्त उत्तर से दक्षिण तक जहां-जहां विदेशी शकों और

---

1. रघुवंश 6/34 तथा 8/33
2. 'शक्त: सुरूप: सुभग: शतायु:,
   कामी ककुद्मानिव गोकुलस्य: ॥ —अष्टा० हृ०, उत्त० 39/57
3. A dispute was raging at the time of Ramanuja's visit as to whether the God was Vishnu or Siva.
   —*Vaishnavite Reformers of India, Ramanuja*, p. 55

हूणों का प्रभाव फैला यह नग्न सभ्यता उसके साथ गई। इस कारण ईसा की प्रथम शताब्दी के उपरान्त भूगर्भ से जो-जो संस्मरण मिले उनमें नग्न प्रतिकृतियां ही विशेष हैं। मथुरा, अहिच्छत्रा, सारनाथ तथा कौशाम्बी में नग्न तथा स्थूल प्रणय को प्रस्तुत करने वाली जो मूर्तियां प्राप्त हुई हैं, वे शत-प्रतिशत इसी युग के प्रभाव को लेकर निर्मित हुई हैं। शकों और कुषाणों के पास कोई आध्यात्मिक आदर्श नहीं था। अतएव वे इन्द्रियों को ही विश्व का आदिस्रोत मानते और पूजते थे। शिव जैसे वीर और विरक्त देवता की उपासना, जो अशोक के समय तक आध्यात्मिक और विजय की प्रतीक थी, ईसा की प्रथम से द्वितीय शताब्दी तक इतनी विकृत हो गई थी कि लोग शिव और उनके लिङ्ग (चिह्न) त्रिशूल के स्थान पर शिव के लिङ्ग (शिश्न) की ही पूजा करने में तल्लीन हो गये थे। पूजा मन्दिरों में उपासिकाओं के स्तन खुले रखना भी एक सभ्यता हो गई थी।[1] देवी और देवताओं के स्थूल प्रणय की मूर्तियां मन्दिरों में पूजा के लिए स्वीकृत होने लगी थीं। अवैदिक सम्प्रदायों ने इस नग्नता को सुगमता से स्वीकार कर लिया। आखिर ईसा से 600 वर्ष पूर्व जैन तीर्थंकर महावीर स्वामी नंगे रह चुके थे। भिक्षु और भिक्षुणियों की गिरती हुई आचार-मर्यादा के कारण बौद्धों ने भी इसे सहज में अपना लिया। भिक्षु संघ में बुद्ध भगवान् द्वारा निषिद्ध भिक्षु और भिक्षुणियों का यौन सम्बन्ध अब महायान में वैध घोषित होने से, पूजनीय हो गया था। कितने ही बौद्ध भिक्षुओं ने 'रसेश्वर दर्शन' में पारद को शिववीर्य, और रसबन्ध को शिव-लिङ्ग बनाने में अपनी सिद्धाई और पण्डिताई खर्च की है। शक, हूण और कुषाण आक्रान्ताओं ने 'मिथुन' और 'मैथुन' दो ही वस्तुएं भारत को पूजा के लिए प्रदान कीं। संभव है ऋग्वैदिक साहित्य में जिन 'शिश्न-देवों' का उल्लेख है, उनके ही वंशज शक, कुषाण और हूण रहे होंगे।[2]

वाग्भट का हृदय इस सांस्कृतिक पतन पर रो उठा। तभी तो उन्होंने लिखा—

धर्म्यं यशस्यमायुष्यं लोकद्वयरसायनम्।
अनुमोदामहे ब्रह्मचर्यमेकान्तनिर्मलम्॥[3]

इस ब्रह्मचर्य में भगवान् शिव का वह आदर्श छिपा है जो वैदिक परिपाटी ने मानव के लौकिक और पारलौकिक सुख के लिए स्थिर किया था।

महापुरुषों की स्मृति में स्तम्भ निर्माण करने की परिपाटी भारत में पहले से चली आ रही थी। सन् 140 ई० में भागवत धर्मावलम्बी हेलियोडोरस द्वारा बेसनगर में भगवान् विष्णु की प्रतिष्ठा में स्तम्भ स्थापित किये जाने से पूर्व भी देवताओं के नाम पर प्रतिष्ठा के लिए यूप स्थापित करने की परिपाटी भारत में प्राचीन काल से चली आ

---

1. Archeological Survey of India, No. 4, p. 149
2. ऋग्वेद 7/21/5
3. अ० हृ०, उत्त० 40/4
   धर्मानुकूल एवं यशप्रद आयुवर्धक एवं दोनों लोकों में हितकर। निर्मल ब्रह्मचर्य का हम अनुमोदन करते हैं।

रही थी। कालिदास ने रघुवंश में इन यूपों का उल्लेख किया है।[1] ग्रीक, मैसोपोटामिया (ईराक) अथवा ईरान (पारस्य) से हमने यह प्रथा सीखी, ऐसी बात नहीं है। यह वैदिक कर्मकाण्ड का एक अंग था। किन्तु पीछे से शिव के सम्मान में स्थापित किये जाने वाले यूप अथवा त्रिशूल के चिह्न शक एवं हूणों की हीन सभ्यता के सम्पर्क से लिङ्ग एवं उसकी स्थापन वेदिका योनि मानकर पूजी जाने लगी। न केवल उत्तर भारत में, प्रत्युत दक्षिण भारत में भी जहां-जहां शक और हूण गये, इसी भावना को ले गये। सिन्ध से लेकर महाराष्ट्र तक भारत के पश्चिमी भाग में, जहां-जहां शकों का शासन विस्तीर्ण हुआ, लिङ्ग तथा योनि पूजा का प्रचलन अधिक है।

वाग्भट के समय गुप्त शासकों के प्रभाव से शक उत्तर भारत से हट गये थे, किन्तु दक्षिण में नहपान (ई० प्रथम शती) तथा चष्ठन (दूसरी शती) का वंशज रुद्रसिंह (388 ई०) उज्जयिनी में बैठकर कच्छ और गुजरात से लेकर महाराष्ट्र तक अपनी प्रभुता का शंखनाद कर रहा था। इसीलिए उसे 'महाक्षत्रप' कहा जाता था।[2] चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य द्वारा 400 ई० में रुद्रसिंह को विजय कर लेने पर भी वाग्भट के समय (420 ई०) तक कई शताब्दियों से जमा हुआ शक प्रभाव काम कर रहा था। अजन्ता तथा एलोरा की गुफायें इस बात की साक्षी दे रही हैं। यह ठीक है कि उनमें गुप्तकालीन भारतीयों की कला का आदर्श विद्यमान है, परन्तु शकों और कुषाणों की नंगी सभ्यता भी उसकी आड़ में छिपी हुई दीखती है।

मथुरा में कुषाणों (शक) के क्षत्रप 200 ई० पू० से 200 ई० तक शासन कर रहे थे। न केवल मथुरा किन्तु तक्षशिला, सिन्ध और मालवा, कोंकण तथा काठियावाड़ से महाराष्ट्र तक उनके भिन्न-भिन्न वंशजों का शासन चल रहा था। इनमें तक्षशिला के पटिक और मथुरा के रंजुवुल और सोडास क्षत्रपों के नाम उल्लेखनीय हैं।[3] उसके बाद ईसा की प्रथम शताब्दी में कनिष्क शक का शासन इन सब क्षेत्रों पर व्यापक था। इस युग की जो मूर्तियां मथुरा के भूगर्भ से निकली हैं, सारी ही नग्न हैं। पञ्जरस्थ शुकविनोदिनी, जल-निर्झर में स्नान करती हुई युवती तथा उद्वर्त्तन की जाती हुई एक अन्य युवती की प्रतिमायें भूतेश्वर (मथुरा) के भूगर्भ से प्राप्त हुई हैं जो सर्वथा नग्न ही हैं। ये मूर्तियां ईसा की प्रथम से द्वितीय शताब्दी काल की हैं।[4]

अहिच्छत्रा के भूगर्भ से भी एक शिव मन्दिर प्राप्त हुआ है, जो 450 ई० का है। इसमें छः शिव मूर्तियां मिली हैं। इनमें यद्यपि वस्त्राभूषणों का चित्रण है, तो भी नग्नता कायम रखी गई है।[5] वस्त्राभूषण गुप्तकाल की सुधारवादी भावना है। किन्तु नग्नता

---

1. रघुवंश 1/44 तथा 9/20
   क्रतुषु तेन विसर्जितमौलिना, भुजसमाहृत दिग्वसुना कृताः।
   कनक यूप समुच्छ्रयशोभिनो वितमसा तमसा सरयू तटाः॥
2. गुप्त साम्राज्य का इतिहास, भाग 1, पृ० 63-64
3. वही, भा० 1, पृ० 10-12
4. Indian Art Album 1948. (Govt. of India)
5. Ancient India (Archeological Survey) No. 4, Plate L—XI to XIV

शक परम्परा का आग्रह। वाग्भटकालीन गुप्तशासन को ही यह श्रेय है कि शकों द्वारा नंगी की जाती हुई भारतीय सभ्यता को उन्होंने फिर से वस्त्राभरणों द्वारा सुशोभित किया। वाग्भट ने दिनचर्या में वेशभूषा को महत्त्वपूर्ण मानकर उल्लेख किया।[1] क्योंकि नग्नता भारतीय सभ्यता नहीं थी।[2] देवताओं के सम्बन्ध में भी वाग्भट ने विशुद्ध भारतीय आदर्श प्रस्तुत किया है।

इस युग में शिव तथा उनकी पत्नी पार्वती, उनके पुत्र गणेश तथा स्कन्द—सभी का गौरव राष्ट्र के लिए पूजनीय हो गया था। लौकिक स्वार्थ त्यागकर श्रद्धामयी पूजा ही धर्म बन जाती है। शिव और उनके परिवार की पूजा भी उसी युग तक धर्म बन गयी थी। कालिदास ने उस युग की राष्ट्रवाणी को ही इन शब्दों में लिखा है—

वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये।
जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ॥

"वाणी और अर्थ की प्राप्ति के लिए विश्व के माता और पिता पार्वती तथा परमेश्वर (शिवशंकर) को मेरी श्रद्धा स्वीकार हो, जो शब्द और अर्थ की भाँति नित्य सम्बद्ध हैं।" कालिदास के व्याख्याकार विद्वान् मल्लिनाथ ने लिखा है कि महाकवि की यह श्रद्धांजलि वायुपुराण के निम्न सिद्धान्त की अनुवाद मात्र थी—

शब्दजातमशेषं तु धत्तेशर्वस्य वल्लभा।
अर्थरूपं यदखिलं धत्ते मुग्धेन्दुशेखरः॥

दार्शनिक सत्य यह है कि न्याय, वैशेषिक तथा सांख्य, योग से आगे बढ़कर वाग्भट के युग में भारतीय राष्ट्र मीमांसा के उस शब्द ब्रह्म का साक्षात् करने को उद्यत था जिसके प्रकाश के बिना तमोमय विश्व प्रकाशित नहीं होता।

न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते।
अनुविद्धमिवज्ञानं सर्वं शब्देन भासते।[3]

वाणी पदार्थ का रहस्य प्रकाशित करती है और स्वयं अपना भी। विश्व में ऐसा कोई ज्ञान नहीं है जो वाणी के प्रकाश के अन्तर्गत न हो। गुरु शिष्य को कुछ नहीं देता, केवल गुरु की वाणी ही अज्ञात को ज्ञात करा देती है। अंधेरे में बिना दीपक वाणी से वस्तु का परिचय एक-दूसरे को होता है। यह प्राणी विश्व में आता है, सृष्टि-रचना से सर्वथा अपरिचित। वाणी द्वारा ही विश्व का ज्ञान पा लेता है। सारा साहित्य वाणी (शब्द) का ही संकलन है।

वाग्भट के युग में तारा और पार्वती में कोई तात्त्विक अन्तर नहीं था। तभी उन्होंने 'शिव निचनुत तारा' का एकल उल्लेख किया। यदि ऐसा न होता तो वे 'पार्वती' का पृथक् उल्लेख करते ही। जिस प्रकार वाणी से अर्थ और अर्थ से वाणी का अभिन्न

---

1. स्नानशीलः सुसुरभिः सुवेषोऽनुल्बणोज्ज्वलः। —अ० हृ० सू० 2:31
2. Nudity is contrary to the convention of Gupta art.
—Ancient India No. 4. V. S. Agarwala, p 151
3. [illegible] भवति।—छान्दोग्य उप० 7,2

सम्वन्ध है, उसी प्रकार शिव और गौरी का भी। यही कारण है कि शिव अर्द्धनारीश्वर कहे गये। मातृ शक्ति के रूप में विश्व का सृजन करने वाली तारा वौद्धागम में, गौरी शैवागम में, बज्रा वाममार्ग में, पद्मा जैनागम में, गायत्री वैदिक श्रुतियों में, और प्रकृति सांख्यदर्शन में प्रतिपादित हुई है। अन्तर केवल नाम का है, तत्त्व का नहीं।[1]

150 से 300 ई० तक गुप्तकाल से पूर्व नागवंशी भारशिव राजाओं में शिव का त्याग, वीरता, गणतंत्र तथा गोरक्षा का बड़ा महत्त्व था। नचना (अजयगढ़, म०प्र०) का पार्वती मन्दिर तथा भूमरा (नागोद राज्य, जबलपुर) का शिव मन्दिर इसी युग के हैं। शिव का वाहन नन्दी वृषभ स्वीकार किया जाता है। 600 ई० पूर्व नाग सम्राट् महानन्द के शासन में नन्दी राष्ट्र-चिह्न था। अशोक के युग में भी नन्दी सम्मानित प्रतीक था। राजगृह में अशोक द्वारा स्थापित विजय-स्तम्भ के शिखर पर नन्दी स्थापित है जो अभी तक विद्यमान है। अशोककालीन नन्दी की प्रस्तर-मूर्तियां अन्यत्र भी मिली हैं। वृषभ नन्दी इसलिए है कि गाय-बैल रखने वाले लोग आनन्दित रहते हैं। वृषभ शिव को (कल्याण को) अपने साथ लाता है। नागर कला के मन्दिर इतिहास में प्रसिद्ध हैं। इनका निर्माण चौकोर, यूनानी साइक्लोप्स के मन्दिरों की भांति 'मेगालिथिक' शैली का होता था।[2]

सूर्य देवता की उपासना भी उस युग की प्रमुख पूजा थी। अहिच्छत्रा (वरेली) तथा मथुरा के भूगर्भ से सूर्य की मूर्तियां प्राप्त हुई हैं, जो चतुर्थ या पंचम ई० शती की हैं। गुप्तकालीन सूर्य देवता की संगमरमर निर्मित मूर्तियां अफगानिस्तान में कावुल के निकट खैर खाने (Khair Khaneh) से भी प्राप्त हुई हैं। सूर्य की दो पत्नियां हैं—ऊषा तथा प्रत्यूषा। सात रंगों के सात घोड़े सूर्य का रथ खींचते हैं। सूर्य का सारथी अरुण है। जो प्रतिमायें मिलीं उनमें यह सब चित्रण विद्यमान है। वाग्भट ने शिव, शिवसुत और तारा के उपरान्त भास्कर की आराधना का ही उल्लेख किया है—'शिव शिवसुत, तारा भास्कराराधनानि'। सूर्य की उपासना में सौरमण्डल का सम्पूर्ण रहस्य छिपा हुआ है। वाग्भट के युग का ज्योतिषशास्त्रीय विज्ञान सूर्य की आराधना द्वारा स्पष्ट होता है। सूर्य प्रजनन शक्ति का आधार है। ब्राह्मण-ग्रन्थों में सूर्य की महिमा का विस्तृत उल्लेख है। वेदों में सूर्य की उपासना में सैकड़ों मंत्र लिखे गये हैं। विद्वानों का मत है कि सूर्य प्रजा का दार्शनिक केन्द्र काश्मीर ही था।[3] छान्दोग्य तथा वृहदारण्यक उपनिषदों में

---

1. तारा त्वं सुगतागमे भगवती गौरीति शैवागमे।
   बज्रा कौलिक शासने जिनमते पद्मावती विश्रुता॥
   गायत्री श्रुतिशालिनां प्रकृतिरित्याख्यासि सांख्यागमे।
   मातर्भारति किं प्रभूतभणितैर्व्याप्तं समस्तं त्वया॥
   —गायत्री वा इदं सर्वम्"—छान्दोग्य, 3/12
2. गुप्त साम्राज्य का इतिहास, भा० 1, पृ० 18-20
3. Surya, the Sun God, is represented by thirteen fragmentary plqaues. The iconographical form furnished by these rounded plaques prevailed between A. D. 450 and 750.
   The plaques are circular with the upper half occupied by

सूर्य का वैज्ञानिक वर्णन देखने योग्य है।[1]

अत्यन्त महत्त्वपूर्ण देवता विष्णु भी उस युग का एक आदर्श था। हमने पीछे लिखा है कि वाग्भट से प्रायः 1500 वर्ष पूर्व से इन्द्र का महत्त्व घटता आया था। उसका स्थान शिव ने ले लिया था। किन्तु विष्णु की उपासना का महत्त्व क्रमशः बढ़ता गया और वाग्भट के युग में पराकाष्ठा तक पहुंच गया। गुप्त सम्राटों ने भागवत धर्म को राष्ट्रधर्म बना दिया। भागवत धर्म का प्रधान उपास्य देवता विष्णु इन्द्र का छोटा भाई ही है। उसका नाम प्राचीन ग्रंथों में उपेन्द्र लिखा गया है। परन्तु इन्द्र की लोकप्रियता के साथ विष्णु की लोकप्रियता नहीं घटी। भूगर्भ से इन्द्र की प्रतिमायें उतनी नहीं मिलतीं किन्तु विष्णु की अनगिनत प्रतिमाएं पायी जाती हैं। इसलिए वाग्भट काल के प्रमुख देवताओं में विष्णु का स्थान भी प्रमुख है।

वाग्भट ने कई जगह विष्णु का श्रद्धापूर्वक उल्लेख किया है—

'शङ्ख चक्र गदा पाणिस्त्वामाज्ञापयतेऽच्युतः।

—अष्टा० हृ०, उत्तर० 39/89

तथा 'ब्रह्मा बृहस्पतिर्विष्णुः ... ..."

—अष्टा० हृ०, शारीर० 1/34

हम पीछे लिख आये हैं, शिव का राजनैतिक महत्त्व प्रमुख था, आध्यात्मिक गौण। राजनीति में जितना अध्यात्म घुल-मिल सकता है, उतना शिव के साथ मिलाया गया। मित्रलाभ और सुहृद्भेद के लिए सन्धि और विग्रह का देवता शिव था, यह कहने में कोई अतिशयोक्ति नहीं है। परन्तु विष्णु राजनीति से अधिक कर्मनीति (Ethical order) का देवता स्वीकार किया गया। कर्म और अकर्म का विवेचन मानो विष्णु भगवान् का ही विवेचन है। 600 ई० पूर्व से 600 ई० पश्चात् तक भारत ही एशियाई युद्धों का मोर्चा रहा है। उस काल शिव जैसे देवता की ही आवश्यकता थी जिसके तांडव में प्रलयंकर प्रभाव था। किन्तु गुप्त-युग ने राष्ट्र की रचना का आधार आचारशास्त्र पर रखा, इस कारण राष्ट्रधर्म (भागवत धर्म) का देवता विष्णु आचारशास्त्र का आदर्श बना। गीता और पुराण इसी ओर इंगित करते हैं। विष्णु के शंख, चक्र, गदा और पद्म राष्ट्र के रचनात्मक प्रतीक हैं। शंख कानून का, चक्र शासन का, गदा दण्ड का

---

the deity and lower half by an array of seven horses. Several specimen of similar large circular stone images have been found in the Mathura School of Sculpture which it should now be possible to assign to the period of these plaques.

They already appear in Mathura Sculpture of the Gupta period and also in the marble Surya image of the fourth century A. D. from distant Khair Khaneh near Kabul, Afghanistan.

—V. S. Agarwala. Ancient India. No. 4, p 128-129

1. [illegible] 3/1—[illegible] 10/0-12
[illegible] 3-1-3-5

और पद्म श्री-सम्पत्ति का प्रतीक है। वाग्भट के युग का धर्म विष्णु देवता के संरक्षण में कानून, शासन, दण्ड, और श्रीसम्पत्ति सम्पन्न राष्ट्र का निर्माण कर रहा था। श्री-सम्पत्ति से राष्ट्र का प्रभाव वढ़ता है और शासन एवं दण्ड से प्रताप। वैसा ही राष्ट्र का निर्माण हुआ भी। भागवत धर्म के अनुसार विश्व के समस्त व्यवहार का भगवान् में समन्वय स्वीकार किया गया है। इसलिए विष्णु में ही विश्व के चराचर का आवास है। इसी आवास के कारण वे विश्वात्मा एवं वासुदेव कहे गये।[1]

अहिच्छत्रा के भूगर्भ से 200 ई० से लेकर 900 ई० पर्यन्त वनी हुई विष्णु भगवान् की प्रतिमा प्रचुर मात्रा में पाई गई हैं। इन प्रतिमाओं में विष्णु भगवान् गले में वनमाला, भुजा में मयूराकृति केयूर (अनन्त) तथा बाएं कन्धे के ऊपर से दाहिनी ओर यज्ञोपवीत धारण किये चित्रित किये गये हैं। उत्तरीय तथा अधो-वस्त्र (धोती) धारण किये हैं। नग्नता भागवत धर्म के विरुद्ध है।[2]

भारत और मिश्र का सम्बन्ध वहुत पुराना है। दक्षिण भारत में कोचीन और मैसूर के पुरातत्त्व में मिश्र के सिक्के भूगर्भ से प्रचुर मात्रा में मिले हैं, जो 6 ई० से 372 ई० तक के सिद्ध हुए हैं।[3] ईसा के 6 वर्ष वाद जो सिक्के मिश्र से भारत आये वे यह स्पष्ट करते हैं कि भारत और मिश्र का सम्बन्ध ईसा के वहुत पहले से चला आ रहा था। हमने उपोद्घात में लिखा है कि मिश्र का स्वर्णव्यापार भारत के साथ यूनानी सभ्यता के उदय होने से पूर्व था। यूनान को सभ्यता सिखाने का वहुत श्रेय मिश्र को है। भारत के साथ इस प्राचीन सम्वन्ध में मिश्र ने भारत से जो अनेक वस्तुएं ली थीं, उनमें विष्णु देवता की पूजा भी एक थी। किन्तु ट्यूटोनिक जाति के असभ्य गिरोहों ने

---

1. चतुर्भुजं कञ्जरथाङ्गशंख—
गदाधरं धारणया स्मरन्ति ॥—श्रीमद्भागवत 2/2/8 तथा 2/1/5
2. Archeological Survey of India, No. 4, pp. 127-128
3. Of the coins found on the main site (ch. 43) at chandravali in 1947, the most definitely datable is a denarius of the Roman emperor Teberius of late Levia-Pax type, minted c. A. D. 6–372 anp lost when in fairly good condition (Ph. c. XXVI B.)
An interesting light is Thrown on this matter by a hoard of Romangold and silver coins found with nature square punch marked silver coins in a pot at Eyyal, 22 miles North West of Trichur on Cochin state in 1945. The Roman coins in this hoard mainly represent Augustus, Tiberius, Claudius and Nero but end with an aureus of the Second Consulate of Tranjan (A. D. 98-99) over a century later the mint-date of the earliest coin.
Ancient India No. 4 by R. E. M. Wheeler
Brahmagiri and Chandravalli 1947 Page 287

ईसा की चौथी-पांचवीं शती में मिश्र को बुरी तरह लूटा, और मिश्र ने जो कलायें तथा साहित्य भारत से प्राप्त किया था एक-एक करके नष्ट कर दिया ।[1]

भारतीय वैदिक साहित्य में देवताओं की वंश-परम्परा का उल्लेख यह है कि दक्ष प्रजापति के अनेक कन्याएं थीं । उनमें सबसे बड़ी का नाम अदिति था, दूसरी का दिति और तीसरी का नाम दनु था । ये तीनों प्रजापति (minister) कश्यप को व्याही गईं। दिति की सन्तान दैत्य, अदिति की आदित्य, तथा दनु की दानव कही जाती है । दिति के दैत्य वंश में बलि, हिरण्यकशिपु तथा प्रह्लाद आदि हुए । अदिति के आदित्य वंश में विवस्वान्, पूषा, सविता, वरुण, इन्द्र तथा विष्णु आदि बारह पुत्र हुए । दनु के 40 पुत्र थे जिनमें प्रसिद्ध विप्रचित्ति नामक दानव (Dionysius) था ।[2]

अदिति के बारह आदित्यों का वंश ही प्रसिद्ध देववंश कहलाया । मिश्र-वासियों का विचार है कि वे इन बारह आदित्यों में से ही किसीके वंशज हैं । भारत में जिस प्रकार आदित्य (सूर्य) की पूजा होती है, मिश्र में भी उसी प्रकार आदित्य पूजनीय है । न केवल सूर्य, किन्तु अदिति परम्परा के सभी देवों का वहां सम्मान है । विष्णु उनमें से प्रमुख है, यद्यपि विष्णु अपने भाइयों में सबसे कनिष्ठ थे । ऐतिहासिकों का विचार है कि मिश्र में जिस हरकुलीज देवता की पूजा होती है, वह विष्णु ही है । इतिहास-लेखक हैरोडोटस ने लिखा है कि मिश्रवासियों का विश्वास है कि अमेसिस के राज्यकाल से पूर्व विष्णु को सतरह हजार वर्ष बीत गये ।[3] जो हो, भारत की भांति मिश्र तक विष्णु भगवान् की पूजा होती रही है । और स्वर्ग के शासन ने आज तक अक्षुण्ण है । वाग्भट के युग में विष्णु के जीवन की व्यवहार-पटुता ही कर्मयोग का आधार बनकर राष्ट्र का आदर्श बनी हुई थी । वाग्भट ने विष्णु की स्तुति बार-बार की ।[4]

अदिति के पुत्र आदित्य ही देवता थे तथा दिति और दनु के दैत्य और दानव, जिन्होंने क्रमशः दो विचारधाराओं को जन्म दिया । अदिति के देव आस्तिकवादी थे, दिति और दनु के दैत्य और दानव नास्तिकवादी । दैत्य और दानव ही इतिहास के असुर हैं। एक ओर देवता थे, दूसरी ओर असुर । सम्पत्ति और साम्राज्य के विभाजन

---

1. Dictionary में 'Vandals' शब्द का विवरण देखें ।
2. देवासुरा ह वै यत्र संयेतिरे, उभय ह वा प्राजापत्याः । —छान्दोग्य 1/2
   द्वया ह प्राजापत्या देवाश्चासुराश्च, ततः कनीयसा एव देवा ज्यायसा असुरा."—बृहदारण्यक 1/3
   —श्री भगवद्दत्त लिखित 'भारतवर्ष का बृहद् इतिहास' देखें । अध्याय 10.
3. Seventeen Thousand years before the reign of Amasis the twelve gods were—भगवद्दत्त, भा. बृ० इ०, पृ० 136
4. ब्रह्मा बृहस्पतिर्विष्णुः सोमः सूर्यस्तथाश्विनौ ।
   भगोऽथमित्रावरुणौ वीरं ददतु मे सुतम् ॥ —अ० हृ० शारी० 1.34
   ग्रीस में हरकुलीज एक राजा भी था, जो मिश्र के देवता हरकुलीज से भिन्न है । हैरोडोटस ने लिखा है—
   Of the other Hercules, with whom the Greeks are familiar, I could hear nothing in any part of Egypt.
   —Herodotus Part I, p 135

पर दोनों में युद्ध हुआ। स्वाभाविक ही असुर संख्या में अधिक थे। वे रण-कौशल में भी कम न थे। विष्णु ने कामिनी-वेश बनाकर उन्हें मुग्ध कर लिया। इस चातुरी से देवों की विजय असुरों की पराजय हो गई। राहु और केतु जैसे असुर धृष्टता से फिर भी आगे बढ़ रहे थे। विष्णु ने अपने चक्र से उनका सिर काट दिया। सच यह है कि गीता का 'योगः कर्मसु कौशलम्' वाक्य विष्णु के जीवन का ही सारांश है। भागवत धर्म ने भक्ति के साथ व्यावहारिक योग्यता तथा वीरता का सम्मिश्रण ऐसी सुन्दरता के साथ किया है कि वह स्थूल बुद्धि के व्यक्ति को भी प्रिय लगे। व्यवहार अथवा संघर्ष दोनों ही दशाओं में आस्तिक्य बुद्धि रखना ही विश्व-बन्धुत्व का आधार है। हममें कितना भी विरोध हो, कितना भी अन्तर, फिर भी इस भावना को न भूलो कि हम एक ही पिता की सन्तान हैं। अनेक धाराओं के समान भिन्न प्रतीत होने पर भी हम सब एक ही स्रोत से उद्गत हुए हैं।

धर्मः स्वनुष्ठितः पुंसां विष्वक्सेन कथासु यः।
नोत्पादयेद्यदि रतिं श्रम एव हि केवलम् ॥[1]

कर्त्तव्य (धर्म) करते रहो, ईश्वर की क्या आवश्यकता है? इस प्रश्न का उत्तर ही भागवत धर्म है। कर्त्तव्य करने वालों के हृदय किसी एक सूत्र से संवलित होकर परस्पर सम्बन्द्ध नहीं हैं तो राष्ट्रीय एकता सम्भव नहीं है। बहुत से बहुमूल्य मोतियों का ढेर जब तक एक सूत्र में पिरोया न हो, माला नहीं बनता। भगवान् विष्णु के गले में सदैव वनमाला (एकावली) रहती है। यह एकावली यही आदर्श प्रस्तुत करती है— 'धर्माचरण द्वारा फूलों के समान सुवासित राष्ट्र के व्यक्तियों के चरित्र एकावली की भांति यदि एक ही सूत्र में ग्रथित नहीं, तो धर्माचरण में किया हुआ परिश्रम भी व्यर्थ हुआ।' विष्णु राष्ट्र का देवता है। वन की लताओं पर खिले हुए भिन्न-भिन्न फूल जब एक सूत्र में गुंथ जाते हैं, देवता के गले का शृंगार बनते हैं। ठीक वैसे ही राष्ट्र के भिन्न-भिन्न प्रदेशों में बिखरे हुए व्यक्ति जब एक सूत्र में आबद्ध होते हैं, राष्ट्र-रूपी देवता के हार बन जाते हैं। यह भिन्न-भिन्न लोगों को एकता में लाने वाला सूत्र ही भागवत धर्म है।

वाग्भट के समकालीन सम्राट् स्कन्दगुप्त ने इन्हीं आदर्शों को लेकर मितरी (गाजीपुर) में विष्णु भगवान् की प्रतिमा स्थापित की थी। यही आदर्श लेकर गुप्त सम्राटों ने अपने को परम-भागवत घोषित किया था। स्कन्दगुप्त ने महामात्र (Governor) चक्रपालित द्वारा सौराष्ट्र के सुदर्शन कासार के तट पर इसी आदर्श को लेकर विष्णु भगवान् का विशाल मन्दिर निर्माण कराया था।[2]

भागवत धर्म के राष्ट्र-पुरुष वासुदेव अथवा श्रीकृष्ण हैं। श्रीकृष्ण का उल्लेख महाभारत में बहुत है। सत्य यह है कि श्रीकृष्ण ही महाभारत के नायक हैं। परन्तु भागवत धर्म के उदय से पूर्व श्रीकृष्ण एक ऐतिहासिक महापुरुष थे, भगवान् नहीं। वाग्भट

---

1 "धर्माचरण की सम्पूर्ण मर्यादाओं का आचरण करने पर भी, यदि श्रीनारायण में प्रेममयी तल्लीनता न हुई तो परिश्रम व्यर्थ हुआ।" —श्रीमद्भागवत, स्क० 1/2/8

2. गुप्त साम्राज्य का इतिहास, भाग 1, पृ० 121

के युग में ही वे भगवान् बनाये गये। यही कारण है कि गुप्त युग से पूर्व बनी हुई कृष्ण की मूर्तियां भूगर्भ से प्राप्त नहीं हुई। सारनाथ में गोवर्धनधारी श्रीकृष्ण की मूर्ति प्राप्त हुई है जो वहां के संग्रहालय में विद्यमान है। गुप्तकाल में बनी हुई यही कृष्ण-मूर्ति सबसे प्राचीन समझी जाती है।[1] श्रीकृष्ण को भगवान् का गौरव प्रदान करने के लिए उन्हें विष्णु का अवतार कहा गया। हम कह चुके हैं, अवतार का अर्थ है चरित्र की पूजा, व्यक्ति की नहीं, अन्यथा अवतारवाद का मूल ही नष्ट हो जायेगा।

प्रतीत होता है कि वाग्भट के समय तक श्रीकृष्ण को भगवान् के रूप में सर्वसाधारण ने स्वीकार नहीं किया था। वाग्भट भी उनमें से एक थे। वाग्भट ने एक स्थान पर लिखा है—

शक्तः सुरूपः सुभगः शतायुः,
कामी ककुद्मानिव गोकुलस्थः ॥[2]

वाग्भट के इन शब्दों की व्यञ्जना भक्तिपरक नहीं है। वह राजनैतिक मजाक है। आज की राजनैतिक भाषा में कहें तो वाग्भट की दृष्टि में श्रीकृष्ण 'हर फन मौला' से अधिक और कुछ नहीं थे। शब्दों का तात्पर्य सीधा-सादा है—"बलवान, सुन्दर और सम्पन्न होकर आयु भर जो 'कामी' ही रहा, फिर भी वह सारी जनता का नेता (ककुद्मान) बन गया, यह उस गोकुलवासी की लोक-चातुरी ही थी। सारे वाक्य के वाच्यार्थ को 'गोकुलस्थः' और 'ककुद्मान्' पदों का निकृष्टार्थ सांड' (Bull) और भी किरकिरा कर देता है। अपने युग के भागवत धर्म के नैतिक (Ethical) विचारों के प्रति वाग्भट की पूर्ण सहानुभूति थी। किन्तु श्रीकृष्ण को विष्णु जैसे कर्मठ देवता का अवतार मानकर भी चोर, जार और लम्पट रूप में पूजने में वाग्भट सहमत न हुए। अनेक देवता पहले से पुजते चले आ रहे थे। वाग्भट की दृष्टि में वे ही पर्याप्त थे। नये और लम्पट देवता की सृष्टि करके भक्तों के हृदय को कलुषित करना उन्हें पसन्द नहीं आया।

परन्तु यह दृष्टिकोण वाग्भट अकेले का नहीं था। उस युग में अनेक विद्वान् ऐसे थे जिन्हें श्रीकृष्ण को यह प्रतिष्ठा देना स्वीकार न था। अश्वघोष वाग्भट से कोई सौ वर्ष पूर्व हुए थे। उन्होंने 'बुद्धचरित', 'सौन्दरनन्द' महाकाव्य लिखे तथा 'शारिपुत्र प्रकरण' नामक नाटक। वे अपने युग के प्रतिष्ठित स्थविर, कवि, दार्शनिक, संगीताचार्य एवं उपदेष्टा थे। अयोध्या के एक ब्राह्मण के घर में जन्मे; वेद, वेदांग, उपनिषद्, शास्त्र आदि पढ़ने के उपरान्त बौद्ध हो गये। उनकी रचनाओं में उनके गम्भीर ज्ञान का सौरभ ओत-प्रोत है। 'बुद्धचरित' और 'सौन्दरनन्द' महाकाव्यों में उन्होंने भारतीय इतिहास के अनेक महापुरुषों का चरित्र और ज्ञान वन्दनीय स्वीकार किया, किन्तु श्रीकृष्ण को

---

1. गुप्त साम्राज्य का इतिहास, भाग 2, पृ० 219
2. (वाच्यार्थ)—गोकुलस्थः=गोकुल के निवासी। ककुद्मान्=श्रीकृष्ण।
(व्यङ्ग्यार्थ)—गोकुलस्थः=गौओं के समूह में रहने वाला। ककुद्मान्=सांड, बिजार।
—अष्टाङ्गहृदय, उत्तर० 39,57

कोई गौरव प्रदान नहीं किया; यहां तक कि उन्हें बोधिसत्व की श्रेणी में भी नहीं रखा।[1] बौद्ध धर्म की आचार-मर्यादाएं भागवत धर्म के विरुद्ध थीं। बौद्ध अनुशासन विरक्ति-प्रधान था और भागवत धर्म भक्तिप्रधान शरणागति का समर्थक। यह तर्क भी बहुत युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि अश्वघोष ने श्रीराम के चरित्र को सम्मानित किया, यद्यपि वे भी भागवत दर्शन के दूसरे स्तम्भ हैं। हिन्दी साहित्य में सूर को जो प्रतिष्ठा श्रीकृष्ण की शरणागति द्वारा प्राप्त हुई, वही तुलसी को श्रीराम की। श्रीमद्भागवत में श्रीकृष्ण के चरित्र-चित्रण के साथ राम की उपेक्षा नहीं है।[2]

हम यह नहीं कह सकते कि अश्वघोष अयोध्या के (साकेतक) थे, इसलिए देश के पक्षपात से अयोध्यापति राम का सम्मान करते रहे। दूसरी ओर यह भी तो देखना होगा कि पाटलिपुत्र के गुप्त सम्राट् ब्रजभूमि के श्रीकृष्ण का आदर क्यों करते रहे? प्रश्न अपनी-अपनी विचारधारा का था। श्रीकृष्ण के जीवन की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि वाग्भट को प्रिय नहीं थी। वे न ब्रजभूमि के थे और न साकेत के। उनके सामने सम्पूर्ण राष्ट्र के दैहिक और मानसिक स्वास्थ्य का प्रश्न था। उनकी जो स्वतन्त्र धारणा थी, उन्होंने व्यक्त कर दी।

दूसरा ऐतिहासिक व्यक्तित्व राम का था। महर्षि वाल्मीकि ने राम का जो ऐतिहासिक चित्र रामायण में प्रस्तुत किया था, कालिदास ने उसमें कमी अनुभव की। अश्वघोष ने रामायण की छाया लेकर 'बुद्धचरित' की पृष्ठभूमि निर्माण की। भले ही अश्वघोष के प्राय: दो सौ वर्ष बाद कालिदास ने 'बुद्धचरित' की छाया लेकर 'रघुवंश' तो लिखा किन्तु जब चारों ओर परम भागवत लोग भगवान् कृष्ण का यशोगान कर रहे थे, कालिदास ने उस श्यामसुन्दर के चरित्र पर एक अक्षर भी नहीं लिखा। प्रत्युत यह कहा कि रघुवंशियों के गुण सुनकर उन्हें लिखने के लिए मेरा चित्त बेचैन हो उठा है।[3] महाभारत काल में कृष्ण ही नायक थे, इसलिए राम का चरित्र-चित्रण गौण है। श्रीमद्भागवत में भी कृष्ण की तुलना में राम नहीं लिखे गये। देव वंश के उत्तराधिकार

1. "As regards Krishna Vasudeva, although a similar historical outline may be made out of the legendery account in the great Epic and its suppliment, his life has no appeal to Aswaghosa except as God incarnate in the role of the Guru and teacher in the Bhagwadgita. The Budhist ethical ideal was deadly against recognizing him even as a Bodhisattva or previous personal form of the Budha. The case was otherwise with Rama."—Aswaghosa by Bimla Churn Law, Page 66

2. त्यक्त्वा सदुस्त्यज सुरेप्सित राजलक्ष्मीं,
धर्मिष्ठ आर्यवचसायदगादरण्यम्॥
मायामृगं दयितयेप्सितमन्वधावन्—
वन्दे महापुरुष ते चरणारविन्दम्॥—श्रीमद्भागवत 11/5/34

3. रघूणामन्वयं वक्ष्ये तनुवाग्विभवोऽपि सन्।
तद्गुणैः कर्णमागत्य चापलाय प्रचोदितः॥—रघुवंश 1/9

पर अपना स्वत्व घोषित करने वाले सूर्यवंश ने जिन नर-रत्नों को जन्म दिया उन्हें केवल ऐतिहासिक पुरुषों की भांति वर्णन कर देना मात्र कालिदास की दृष्टि में पर्याप्त नहीं था। उन पर सांस्कृतिक दृष्टि से भी कुछ लिखा जाना चाहिए था। वह सांस्कृतिक आदर्श ही तो है जो नर को नारायण बनाता है। कालिदास ने यही दृष्टिकोण लेकर वाग्भट से केवल एक पीढ़ी पूर्व चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के दरबार में बैठकर 'रघुवंश' का फिर से वर्णन किया और इस वर्णन में राष्ट्र के सांस्कृतिक गौरव का एक नया दृष्टिकोण प्रस्तुत किया। वाल्मीकि रचित रामायण उदात्त थी, अपूर्व थी और राजदरबारों में गाई जाती थी। परन्तु कालिदास ने उसे राजदरबारों से निकालकर यह प्रयास किया कि रघुवंशियों के पावन चरित्र राष्ट्रीय गौरव की भावना से प्रेरित होकर ग्रामों में गन्ने तथा धानों के खेत की रखवाली करने वाली युवतियां भी गायें, और अपनी सन्तान में राष्ट्रीय एकता का गौरव भर दें।[1]

इतना ही नहीं, महर्षि होकर भी वाल्मीकि जिन राम को दशरथ-पुत्र तथा मर्यादा-पुरुषोत्तम से अधिक न देख पाये, उन्हें कालिदास ने पहली बार भगवद्रूप में साक्षात् किया। भगवान् जब तक शिशु न बनें, माताएं उनकी लोरियां नहीं गा सकतीं, बच्चे उन्हें अपने साथ नहीं खिला सकते। कालिदास ने देखा इस अखण्ड दर्शन के बिना अखण्ड राष्ट्र का निर्माण नहीं हो सकता—

विभवतात्माविभुस्तासामेकः कुक्षिष्वनेकधा।
उवास प्रतिमा चन्द्रः प्रसन्नानामपामिव॥[2]

'निर्मल जलों में जिस प्रकार चन्द्रमा अनेक होकर उद्भासित होता है, उसी प्रकार अखण्ड व्यापक अद्वितीय भगवान् दशरथ की रानियों के गर्भ में आ गये।' कालिदास ने इस प्रकार राम के राज्य को प्रभु का राज्य बना दिया तथा अपने युग के राष्ट्र-निर्माण के लिए जो आदर्श प्रस्तुत किया, इतिहास में इससे पूर्व वह कोई न कर सका था।

विष्णु, ब्रह्मा, इन्द्र, अश्विन, सविता, रुद्र, आदि स्वर्गकालीन महापुरुष इतिहास के सुदूर अतीत में पहुंच गये थे। अपने राष्ट्र पराये शासन में पहुंचकर अपना नाम तक बदल चुके थे। सुमेरु, हरिवर्ष, अमरावती, चैत्ररथ जैसे स्थान पुरातत्त्व की वस्तु बन गये थे। अब नये अवतार, नये चरित्र और नये महापुरुषों का सम्बल चाहिए था। युग-निर्माताओं ने राम और कृष्ण के गौरवपूर्ण चरित्र हमें दिये जो प्राणी-प्राणी को अनुप्राणित कर सकें।

मनुष्य का स्वत्व जब परमार्थ में विलीन हो जाता है, वह अतिमानव, देवता बनकर इतिहास का नहीं, धर्म का विषय बन जाता है। वह राष्ट्र का प्रकाश-स्तम्भ होता है। वाग्भट के युग ने भगवान् विष्णु को राम और कृष्ण के रूप में एक कर्मठ आदर्श

---

1. इक्षुच्छायानिषादिन्यस्तस्य गोप्तुर्गुणोदयम्।
आकुमार कथोद्घातं शालि गोप्यो जगुर्यशः॥—रघुवंश 4/20
धानों की रखवाली करने वाली युवतियां गन्ने के खेत की छाया में बैठकर उस राष्ट्र-रक्षक के बचपन से लेकर तब तक की कथायें कहती हुई उसके यश के पुल बांधती थीं।

2. रघुवंश, सर्ग 10/65

लेकर हमारे सामने प्रस्तुत किया। संसार से विरक्त हो, नेत्र मूंदकर एकान्त में समाधिस्थ हो जिस भगवान् का दर्शन कोई-कोई ही कर पाते थे, व्यवहार में रहकर भी निर्मल-चरित्र के दर्पण में उसे देख लेने का अवसर वाग्भट के युग ने ही हमें दिया। वाग्भट का अनुमोदित यही धर्म है।[1]

वाग्भट के युग से पूर्व राम की पूजा भगवद्रूप में प्रचलित नहीं थी। राम में भगवद्रूप का दर्शन सबसे पहले कालिदास ने 'रघुवंश' में किया। स्वर्ग के इतिहास को अक्षुण्ण रखते हुए उन्होंने कहा—'सदैव जनता पर कृपा करने वाले भगवान् विष्णु ही फिर आये। न केवल विष्णु किन्तु उनके साथ स्वर्ग भी यहीं उतर आया।[2] युग बीत गये। सैंकड़ों राष्ट्र बने और विगड़ गये, किन्तु वह भागवत धर्म था—जिसका न कुछ गया, न विगड़ा। वही विष्णु, वही स्वर्ग, वही पराक्रम अमर होकर रह गया। तुम जो कुछ तब थे, वही आज भी हो, कर्त्तव्य करते रहो। तुम्हारे अन्दर ही भगवान् का निवास है।

किसीने राम के चरित्र में, किसीने श्याम के चरित्र में एक ही तत्त्व का साक्षात्कार किया। भागवत ने लिखा—'वासुदेव की भक्ति में ही ज्ञान है, वासुदेव की भक्ति में ही तप है, वासुदेव की भक्ति में ही धर्म है और वासुदेव की भक्ति में ही मुक्ति है।[3] वाग्भट ने भगवान् पर व्यंग्य लिखकर कुछ अशिष्टता नहीं की। निश्छल और निर्भीक अनुराग ही भागवत धर्म की आत्मा है। भगवान् से सम्बन्ध बनाये रहो, रिश्ता कोई भी मान लो—'मोहि तोहि नाते अनेक'। क्या सूरदास ने नहीं कहा था—'मधुकर श्याम हमारे चोर'?

गुप्त-शासन के विस्तार के साथ-साथ विष्णु के इन दोनों अवतारों का भी जनता में विस्तार हुआ। पंजाब से लेकर बंगाल तक तथा उत्कल से लेकर गुजरात एवं कच्छ तक चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के सम्पूर्ण राज्य में भागवत धर्म एक अखण्ड राष्ट्रधर्म बन गया था। पहाड़पुर (उत्तरी बंगाल) में 600 ई० की राधाकृष्ण की प्रतिमा प्राप्त हुई है। यहां स्थित मन्दिर की दीवारों पर राम तथा कृष्ण के चरित्र चित्रित किये गये हैं। उदयगिरि (भोपाल) में शेषशायी विष्णु की चतुर्भुजी मूर्ति मिली है। श्रीकृष्ण की बाललीला से सम्बन्ध रखने वाली कितनी ही अन्य मूर्तियां भी पहाड़पुर में उपलब्ध हुई हैं। वैशाली से प्राप्त उस युग की राज-मुद्राओं पर विष्णु के शंख, चक्र, गदा और पद्म अंकित हैं। कहीं-कहीं विष्णु के वाहन गरुड़ का चित्र भी उपलब्ध होता है। मुद्राओं पर

---

1. आर्द्रसन्तानता त्यागः कायवाक्चेतसां दमः।
   स्वार्थबुद्धिःपरार्थेषु पर्याप्तमिति सद्व्रतम्॥
   इत्याचारः समासेन यं प्राप्नोति समाचरन्।
   आयुरारोग्यमैश्वर्यं यशोलोकांश्च शाश्वतान्॥ —अष्टा० हृ०, सूत्र 2/45-48
2. निर्दोषमभवत्सर्वमाविष्कृत गुणं जगत्।
   अन्वगादिव हि स्वर्गो गां गतं पुरुषोत्तमम्॥—रघुवंश, 10/72
3. वासुदेव परं ज्ञानं वासुदेव परं तपः।
   वासुदेव परो धर्मो वासुदेव परा गतिः॥—श्रीमद्भागवत 1/1/29

'पत्री विष्णु पद स्वामीनारायण' लिखा है,[1] परन्तु अश्लील और नग्न चित्रण नहीं।

मन्दिर बनाकर प्रतिमा-प्रतिष्ठा कर देने से जब तक मन्दिर की इमारत रहती है तभी तक वह पूज्यता रहती है। इस पूज्यता को चिरस्थायित्व देने के लिए पर्वतों में गुहामन्दिर निर्माण करने की प्रथा गुप्तकाल में चालू की गई। ये पहाड़ काटकर बनाये जाते थे। इन देवालयों को 'चैत्य' कहते हैं। कालिदास के समय सम्राट् चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने उदयगिरि (भेलसा) में ऐसे चैत्य-मन्दिर का निर्माण कराया था। इसकी बाह्य दीवारों पर महिष-मर्दिनी दुर्गा तथा विष्णु की प्रतिमाएं बनी हैं। अजन्ता (दक्षिण) की गुफाएं भी उसी काल की रचना हैं। बाघ (ग्वालियर) की गुफाएं भी उसी काल की कृति हैं।[2] न केवल भारत, किन्तु भारत के बाहर भी स्याम, सुमात्रा, जावा, बोर्नियो तथा कम्बोडिया तक राम का चरित्र धार्मिक आदर्श के रूप में स्वीकार किया जाता है। स्थान-स्थान पर राम और सीता के चित्र हैं तथा उनके नाम पर उत्सव मनाये जाते हैं। स्याम का 'बोरोबुदुर' इसका आदर्श है।

वाग्भट के युग की सबसे महत्त्वपूर्ण घटना यह है कि वैदिक धर्मानुयायियों का अवैदिक बौद्धों के साथ पिछली अनेक शताब्दियों से चलने वाला विरोध समाप्त हो गया। वैदिक धर्मानुयायियों ने यह घोषणा कर दी कि तथागत बुद्ध भगवान् विष्णु के ही अवतार थे। न केवल इतना, किन्तु भगवान् के जिन दस अवतारों का वैदिक साहित्य में उल्लेख है, उनमें एक भगवान् बुद्ध भी गिने गये।[3]

दक्षिण से उत्तर तक भारत को हम दो भागों में विभाजित करें तो स्पष्ट ही प्रतीत होगा कि पश्चिमी भाग में शिव की भक्ति का बाहुल्य हुआ जिसका उत्तरी केन्द्र बद्रीनाथ तथा दक्षिणी महाराष्ट्र था। ठीक उसी अनुपात में पूर्वीय भाग में विष्णु की भक्ति का प्रसार हुआ जिसका उत्तरी केन्द्र पाटलिपुत्र तथा दक्षिण में श्रीरंगम (त्रिचनापल्ली) था। पश्चिम तथा उत्तर की ओर से भारत पर सदैव आक्रमण हुए हैं, इस कारण उस भाग में शिव जैसे सेनानी की ही आवश्यकता थी और सुन्दर समाज-व्यवस्था के लिए पूर्व की ओर विष्णु की। इन दोनों देवताओं ने पुरुष-समाज को जितना अनुप्राणित किया, उनकी देवियों ने स्त्री-समाज में उसी अनुपात से जागृति का संचार किया। श्रीमद्भागवत में यही लिखा है—'कलियुग में जनता अधिकांश नारायण (विष्णु) की भक्त होगी, किन्तु विशेष रूप से पूर्वीय घाट पर द्रविड़ आदि प्रदेशों में उनकी विशेष मान्यता रहेगी'।[4] दुर्गा, पार्वती, शक्ति, चण्डिका, भवानी, काली, गौरी और

1. गुप्त साम्राज्य का इतिहास, भाग 2, पृ० 219
2. वही, भाग 2, पृ० 271-272
3. यं शैवा समुपासते शिव इति ब्रह्मेति वेदान्तिनो।
   बौद्धा बुद्ध इति प्रमाणपटवः कर्तेति नैय्यायिकाः॥
   अर्हन्नित्यथ जैनशासनरताः कर्मेति मीमांसकाः।
   सोऽयं वो विदधातु वाञ्छित फलं त्रैलोक्यनाथो हरिः॥—कालिदास
4. कलौ खलु भविष्यन्ति नारायणपरायणाः।
   क्वचित्क्वचिन्महाराज द्रविडेषु विशेषतः॥ —श्रीमद्भागवत, 11/5/38-40

सिंहवाहिनी आदि नाना रूपों में शिव-पत्नी का ही साक्षात्कार भारतीय जनता ने किया, और लक्ष्मी, अन्नपूर्णा, माया, सीता, राधा, कमला, श्री तथा वसुन्धरा के पावन दर्शनों द्वारा विष्णु-पत्नी का वरदान प्राप्त किया। अन्तिम सत्य यह है कि राष्ट्र को जागृत रखने के लिए शक्ति के ये अनेक रूप एक ही जीवन के दो पहलू हैं।

प्रकाशञ्चाप्रकाशं च जङ्गमं स्थावरं च यत्।[1]
विश्वरूपमिदंसर्वं रुद्रनारायणात्मकम्॥
या देवी सर्वभूतेषु शक्ति रूपेण संस्थिता।[2]
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमोनमः॥

उत्तर भारत में विष्णु और लक्ष्मी के रहस्यपूर्ण विश्लेषण के लिए विष्णु-पुराण तथा श्रीमद्भागवत पुराणों की रचना हुई। दक्षिण भारत में नाथ-मुनि (रंगनाथाचार्य) तथा अलवर जैसे विद्वानों ने भागवत धर्म पर तमिल भाषा में हजारों श्लोक लिख डाले। इनसे भी पूर्व तमिल में शतकोप द्वारा विष्णु भगवान् की स्तुति में लिखी गई सहस्रश्लोकी स्तुति गेय स्तोत्रों में प्रचलित थी, जिनका एकत्र संकलन पीछे से नाथ मुनि ने स्वयं किया। संस्कृत की वाल्मीकि रामायण प्रसिद्ध तमिल कवि कम्बन ने तमिल भाषा में लिख डाली। कम्बन का यह भाषान्तर बहुत उत्कृष्ट और लोकप्रिय है। वाल्मीकि ऋषि की रामायण एक युग में राम के ही दरबार में गाई गई थी, किन्तु कम्बन की रामायण नगर-नगर की प्रतोलियों में संगीत की स्वर-लहरियों में तरंगित हुई और आज तक उसका प्रचलन है। अनेक राज्यों का विभाजन रहते हुए भी राष्ट्रीयता के अभिन्न स्तर पर एक ही सांस्कृतिक आदर्श लेकर तपस्वी नाथमुनि ने अपने स्थान श्रीरंगम से चलकर उज्जैन, मथुरा, वृन्दावन, बद्रीनाथ, द्वारिका तथा जगन्नाथपुरी की तीर्थयात्रा की।[3] सांस्कृतिक एकता ने अनेक राज्यों के भेद-भाव की खाइयां इस प्रकार भर दीं कि दक्षिण और उत्तर भारत अभिन्न बन गये।

ये घटनाएं आचार्य वाग्भट के दस-बीस वर्ष बाद तक चलती रहीं, किन्तु उनकी प्रस्तावना उन्हीं के सामने तैयार हो गई थी। भारत की अखण्ड राष्ट्रीयता के आधार पर दक्षिण के कन्याकुमारी से हिमालय तक जो सांस्कृतिक मार्ग नाथमुनि ने निर्माण किया, उसीके सहारे उत्तर भारत के लाखों निवासी कन्याकुमारी तक श्रद्धा के अक्षत चढ़ाने जाते रहे हैं। नाथमुनि के उत्तराधिकारी पुंडरीक, यमुनाचार्य तथा रामानुज ईसा की दसवीं शताब्दी तक उन्हीं के मार्ग को प्रशस्त बनाते रहे। उन्हें चाहे आप भागवत कहें या वैष्णव, बात एक ही है। न केवल राष्ट्रीय किन्तु सामाजिक भेदभाव भी बहुत हद तक समाप्त हो गये। शाब्दिक व्यवहार में भले ही दो देवताओं की थी, किन्तु सांस्कृतिक दृष्टि से वह एक ही आस्तिक भावना का पोषण था। भिन्न-भिन्न दिशाओं में भटकते हुए भारतीयों से सांस्कृतिक मंच पर खड़े होकर वाग्भट के युग ने

---

1. वायु पुराण 5/3
2. मार्कण्डेय, देवी महात्म्य, 5/32
3. Vaishnavite Reformers of India — T. Rajgopala chariar pp.1-9

पुकारकर कहा--

एकोवशी सर्व भूतान्तरात्मा,
रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव ।[1]

वर्ण-व्यवस्था का विरोध करने वाले ही स्वयं निन्दनीय दायरों में विभाजित हो गये थे। शून्यवादी, क्षणभंगवादी, नास्तिकवादी, बज्रयान, लिंगयान, दिगम्बर, श्वेताम्बर जैसे अराष्ट्रीय भेदभाव भूलकर जनता ने एक मन्त्र सीखा--

'हरि को भजे सो हरि का होई'।

वाग्भटकालीन सामाजिक अवस्था

ऊपर के धार्मिक विचारों को ध्यान में रखकर ही वाग्भटकालीन सामाजिक अवस्था का चित्र खींचा जा सकता है। ईसा से 650 वर्ष पूर्व तक ब्राह्मणों ने धर्म का जो ढांचा बनाकर तैयार किया था, वह इतना संकीर्ण था कि उसमें सम्पूर्ण भारत न समा सका। भारतीयों ने भौगोलिक सीमाओं को राष्ट्र का आधार कभी नहीं माना, किन्तु सांस्कृतिक एकता ही उनके राष्ट्र का आधार रही है। सांस्कृतिक अभिन्नता के नाते राष्ट्र का प्रत्येक व्यक्ति जब एक ही राष्ट्रीय आधार पर खड़ा हो तब एक उच्च, दूसरा नीच कैसे ? एक अधिकारी और दूसरा अनधिकारी क्यों ? इन्हीं प्रश्नों का सन्तोषपूर्ण उत्तर ब्राह्मणों से न मिलने के कारण बुद्ध और महावीर स्वामी को क्षेत्र में आना पड़ा। उन्होंने समाज की आकांक्षाओं का ध्यान रखते हुए राष्ट्र-निर्माण का जो सूत्र प्रस्तुत किया, वह जनता को पसन्द आया और उसी ढांचे में भारत का बहुमत एक बार समन्वित हो गया।

ईसा से डेढ़ सौ वर्ष पूर्व तक महावीर और बुद्ध की सीमायें टूटने लगीं। धर्म के प्रवक्ताओं की पवित्रता जब भंग होने लगती है, छल और दम्भ पदार्पण करने लगते हैं, मानो धर्म का चक्र चरमरा गया। नई जागृति, नये विचार और नये संगठन का पदार्पण होता है। यही नया धर्म बन जाता है, जो नये युग का निर्माण कर देता है। प्राणिमात्र का कल्याण ही उद्देश्य होने के कारण प्रत्येक धर्म ध्येय की दृष्टि से अभिन्न है। ध्येय तक पहुंचने के साधन और उनका प्रयोग ही भेद प्रस्तुत करता है। साधन और उनके प्रयोग में जो सफल हो गया वही परम धर्म और शेष असफल प्रयास हैं।

पुष्यमित्र शुङ्ग ने ईसा से दो सौ वर्ष पूर्व पतंजलि के पौरोहित्य में 600 ई० पूर्व ब्राह्मणों का बनाया हुआ पुराना जामा ही राष्ट्र को फिर से पहनाने का प्रयास किया। किन्तु वह पुराना और इतना छोटा हो गया था कि पतंजलि और पुष्यमित्र के आग्रह से राष्ट्र उसे भली भांति पहन भी नहीं पाया, कि वह केवल एक शताब्दी में (50 ई० पूर्व) ही फटकर टूक-टूक हो गया।

फिर से नया जामा बनाने में कुछ समय (तीन सौ वर्ष के लगभग) लगा। आखिर वाग्भट के युग तक (420 ई०) विद्वानों ने वह जामा बना लिया जो राष्ट्र के

1. कठोपनिषद्।

सम्पूर्ण शरीर को ढक सके। अब ब्राह्मणों की वर्ण-व्यवस्था अवश्य थी, किन्तु अपने घरों में रिश्तेदारी करने के लिए ही। समाज में उसका कोई गौरव नहीं था। बसन्त ब्राह्मण का, ग्रीष्म क्षत्रिय का और शरद वैश्य की[1]। राष्ट्रीय आधार पर ऐसा कोई बंटवारा न रहा। मनु, बुद्ध, महावीर तथा पतंजलि के मिले हुए स्वरों में धर्म का एक ही माध्यम स्वीकार किया गया—

सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
सम्पश्येन्नात्मयाजी स्वराज्यमधिगच्छति ॥[2]

जिन्हें ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य ही कर सकते थे, वे सोमयाग, अश्वमेघ तथा राजसूय आदि याग बहिष्कृत हो गये, केवल आत्मयाग ही प्रारंभ किया गया, जिसे सब कोई कर सकता था—

सब में अपना रूप है, अपने में सब रूप ।
आत्मयाग स्वाराज्य का साधन सुखद अनूप ॥

इस आत्मयाग की पवित्र वेदी पर बैठकर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—सभी समान रूप से उस राष्ट्र देवता के लिए अपनी आहुति अर्पण कर सकते थे जिसका ही दूसरा नाम ईश्वर भगवान् और सच्चिदानन्द है। वे लोग गलती पर हैं, जो यह कहते हैं कि बुद्ध और महावीर ने भगवान् की सत्ता को स्वीकार नहीं किया। वाग्भट के युग में सम्पूर्ण राष्ट्र ने देखा कि वे स्वयं भगवान् थे।

इस प्रकार वाग्भट के युग में सामाजिक विचारधारा के तीन ही मुख्य आदर्श थे—1. समाज में मनुष्य मात्र का समीकरण, 2. अनेक देवताओं का एक देव-पूजा में समावेश, 3. व्यवहार में रूढ़िवादी परिपाटी के स्थान पर सार्वजनीन परिपाटी का आदर्श। पहले किसी कर्तव्य-कर्म के लिए शास्त्र ही प्रमाण था। अब शास्त्र के ऊपर लोक प्रमाण हो गया। वाग्भट ने यही लिखा है—'सारे व्यवहारों में लोकमत ही मुख्य है, अतएव विवेकपूर्वक उसीका अनुसरण करो'।[3] चरक ने भी यही लिखा था—'बुद्धिमान् लोग पहले लोक-प्रमाण का आदर करते हैं, पीछे और प्रमाणों का। किन्तु बुद्धिहीन लोग इससे प्रतिकूल चलते हैं।'[4]

ये सूत्र कुछ नये समाजवादी विचार न थे, किन्तु आर्य संस्कृति के मौलिक आदर्श परायण मात्र थे। मनु ने भी यही बात कही थी।[5] 'यद्यपि अर्थ और काम का अर्जन करने के लिए शास्त्र प्रमाण है, किन्तु ऐसे धर्मशास्त्र का बहिष्कार कर देना ही उचित है, दुखदायी और लोक-विरुद्ध है'। इस प्रकार शास्त्राचार से सदाचार ही गुरुतर है। शास्त्राचार में 'असुखोदर्क' तथा 'लोक विक्रोश' का भय हो सकता है,

---

1. बसन्ते ब्राह्मणमुपनयेत् ग्रीष्मे राजन्यम् शरदि वैश्यम् ॥
2. मनु० 12/91
3. आचार्य-सर्वचेष्टासु लोक एव हि धीमतः ।
   अनुकुर्यात्तमेवातोलौकिकेर्थे परीक्षकः ॥—अ० हृ०, सू० 2/44
4. कृत्स्नो हि लोकोबुद्धिमतामाचार्यः, शत्रुश्चाबुद्धिमतामेव ।—चरक, विमा० 8/6/8
5. परित्यजेदर्थकामौ यौ स्यातां धर्म वर्जितौ ।
   धर्मञ्चाप्यसुखोदर्कं लोक विक्रुष्टमेव च ॥—मनु० 4/176

किन्तु सदाचार उससे मुक्त है। इस कारण सदाचार ही धर्म की कसौटी है। सामाजिक स्वस्थता के लिए वाग्भट ने इसी विचार को वार-वार दोहराया—

'देशकालात्मविज्ञानं सद्वृत्तस्यानुवर्तनम्।'[1]

इस सम्पूर्ण समाज-दर्शन का अर्थ यह है कि व्यक्ति को जन्ममूलक गौरव न देकर कर्ममूलक गौरव दिया जाना चाहिए। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये चार वर्ण थे। मनु ने उन्हें कर्ममूलक ही लिखा। एक ही पिता के दो पुत्रों में एक ब्राह्मण और दूसरा क्षत्रिय हो सकता है। धन्वन्तरि के वंशजों में कई पीढ़ी वाद कुछ लोग ब्राह्मण हो गये, कुछ क्षत्रिय रहे। सामाजिक कार्य-विभाजन में व्यक्ति की स्वतन्त्रता रहनी चाहिए। वह धर्म जो व्यक्ति को सदैव दासता के वन्धन में रखने वाला है, अधिक दिन नहीं चलता। शूद्रों को तीनों उच्च वर्णों की सेवा सौंपी गई थी, किन्तु तीनों उच्च-वर्ण अपनी कर्तव्य-मर्यादा से जैसे-जैसे च्युत होते गये, शूद्र की सेवा-भावना वैसे ही वैसे समाप्त हो गई। वर्ण-व्यवस्था में विद्रोह उठ खड़ा हुआ। विद्रोही दलों में जैन और बौद्ध प्रमुख थे।

वाग्भट के युग तक दोनों सम्प्रदाय प्रचलित थे। किन्तु विद्रोही भावनायें अव शिथिल हो गई थीं। वर्ण-व्यवस्था में जो दोष देखे गये थे वैसे या उन जैसे अन्य दोष विद्रोहियों में भी उत्पन्न हो गये थे। बौद्ध और जैनों में भी उच्च और नीच वर्ग वन गये। इस कारण एक नई व्यवस्था की आवश्यकता फिर हुई और वह भागवत धर्म का रूप लेकर आई। यद्यपि मनु की भांति भागवत धर्म का आधार भी वेदों को माना गया,[2] किन्तु धर्म-कर्म में शूद्रों को समानाधिकार प्राप्त हो गये। कुल और जातिगत सम्मान समाप्त करके भागवत धर्म ने गुण और कर्म पर आश्रित समाज-व्यवस्था को प्रचलित किया।[3] भागवतपुराण में इसी भाव को सूतजी के मुख से प्रस्तुत किया गया है। इसमें कहा गया है कि मनु द्वारा विलोम सन्तान का धार्मिक कर्मकाण्ड में वहिष्कार होने पर भी सूतजी के समान विलोम-जात पुरुष भी भागवत धर्म की शरण आकर सम्मान-योग्य महापुरुष वन गये।[4] इस प्रकार हम देखते हैं कि न केवल शूद्र, किन्तु जिन्हें मनु ने दस्यु कहा है[5] तथा जिनके लिए वैदिक मर्यादा में कोई सम्मान नहीं है, वे शक,

---

1. अष्टा० हृ०, सू० 4/33
2. निगम कल्पतरोर्गलितं फलं, शुकमुखादमृतद्रव संयुतम्।
   पिवत भागवत रस मालयम्··· ।—श्रीमद्भागवत, स्क० 1, अध्याय 1
3. किरात हूणान्ध्र पुलिन्द पुल्कसा,
   आभीर कङ्का यवना खसादयः।
   येऽन्ये च पापा यदुपाश्रयाश्रयाः
   शुद्धयन्ति तस्मै प्रभविष्णवे नमः॥—श्रीमद्भागवत, स्क० 2/5/18
   या याः कथा भगवतः कथनीयोर कर्मणः।
   गुण कर्माश्रया पुम्भिः संसेव्यास्तावुभूषुभिः॥—श्रीमद्भागवत 1/18/10
4. श्रीमद्भागवत, स्क० 1/18/18
5. मनु० 10/44-45
   विजानीह्यार्यान्येचदस्यवोवर्हिष्मते। रन्धयाशासदव्रतान्।—ऋग्वेद

हूण, यमन आदि भी भागवत धर्म में सादर स्वीकार कर लिये गये।

इतनी विशाल सहृदयता जिस युग के कर्णधारों में रही हो, वह राष्ट्र और समाज सचमुच ही विशाल रहा होगा। परम भागवत हेलियोडोरस यवन (यूनानी) का वासुदेव स्तम्भ (सन् 140 ई०) में जो वेसनगर में है, इसी विशाल भावना का परिचायक है। परम भागवत होकर भी सम्राट् कुमारगुप्त ने नालन्दा में बौद्ध विश्वविद्यालय की स्थापना की और स्कन्दगुप्त ने उसका संवर्धन किया। न केवल इतना ही, बौद्ध और जैन सम्प्रदाय जो आर्य संस्कृति के विद्रोही पक्ष थे, संगठन और समन्वय की ओर बढ़े। बौद्ध महायान ने प्रकारान्तर से भागवत धर्म की सारी मान्यताएं स्वीकार कर लीं। लक्ष्मी के स्थान पर तारा, विष्णु के स्थान पर बोधिसत्व तथा अन्य देवी-देवताओं के रूप में बुद्ध तथा यशोधरा के जन्मान्तरों के अवतार स्वीकार किये गये। श्रीमद्भागवत-पुराण में जैन तीर्थंकर श्री ऋषभ देव का चरित्र एक आदर्श महापुरुष के रूप में भगवान् कहकर चित्रित किया गया।[1]

"जिन कोङ्क, वेङ्क तथा कुटक नामक कर्णाटक प्रदेशों के लोग वेद और शास्त्रों के दार्शनिक रहस्य को नहीं समझते थे, उन पर भी करुणा की भावना से विष्णु भगवान् ही ऋषभदेव के रूप में अवतीर्ण हो गये।" यह घोषणा भागवत धर्म के व्यापक दृष्टि-कोण का परिचय देती है। वाग्भट ने भी जहां अन्य सम्प्रदायों के प्रति सद्भावना प्रकट की, वहां 'जिन' तथा जैनों को भुलाया नहीं।[2] किन्तु सम्मानपूर्वक उनका स्मरण किया।

बौद्ध समाज के प्रति वाग्भट की जो आस्था थी, उसका उल्लेख पीछे हो चुका है। बुद्ध के प्रति भगवद्रूप की भावना श्रीमद्भागवत में प्रस्तुत की गई।[3] दार्शनिक अन्तर रहा हो, किन्तु समाज में व्यावहारिक दृष्टि अभेदपूर्ण रही। इस प्रकार भारत-भूमि में रहने वाले समस्त वर्गों का एकीकरण इस युग का आदर्श था। इस समीकरण के फलस्वरूप भारत में रहने वाले लाखों शक, हूण, यवन आदि भी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, और शूद्रों में ही समाविष्ट हो गये। गुप्त शासन के उपरान्त भारत के इतिहास से इन जातियों के नाम सदा के लिए लुप्त हो गये।

वर्ण-व्यवस्था में ऊंच-नीच, अधिकारी-अनधिकारी का झगड़ा था जो समाज के विद्रोह का मूल कारण था। वैदिक मीमांसा दर्शन में वेदों को कर्म-काण्डपरक सिद्ध किया गया। कर्मों के साथ उनकी फल-प्राप्ति (फल-श्रुति) का लालच निम्न वर्ग को

---

1. तस्य ह वा एवं मुक्त लिङ्गस्य भगवत ऋषभस्य योगमायावासनया देह इमां जगतीमभिमानाभावेन संक्रममाणः कोङ्कावेंक कुटकान् दक्षिण कर्णाटकान् देशान्···विचचार।—श्रीमद्भागवत 5/6
2. अष्टा० हृ०, उत्तर० 37/44
3. भूमेर्भरावतरणाय यदुष्वजन्मा,
   जातः करिष्यति सुरैरपि दुष्कराणि।
   वादैर्विमोहयति यज्ञकृतोऽतदर्हान्,
   शूद्रान्कलौ क्षितिभुजोन्यहनिष्यदन्ते॥ —श्रीमद्भागवत 11/5/22

उच्चवर्ग के प्रति विद्रोह की प्रेरणा देता था। उच्चवर्ग भी कर्मकाण्ड (यज्ञ-याग) के फलों का लाभ स्वयं लेने के लिए आग्रहशील थे। इस प्रकार झगड़ा वेदों के यज्ञ-यागों से मिलने वाले फलों के लिए था। वाग्भट के युग ने वेदों के साथ जुड़ी हुई लालच की भावना को यह कहकर समाप्त कर दिया कि वेद की फल-श्रुतियां मनुष्य जीवन का पुरुषार्थ नहीं हैं। उनके लालच में पड़ना ऐसा है जैसे मिठाई के लालच में मक्खी अपने प्राण खोने के लिए तैयार हो। वैदिक कर्मकाण्ड के फल पुरुपार्थ के फूल हैं। फूल का त्याग करो, तभी फल मिलेगा। तुम पेड़ को सदाचार के जल से सींचते रहो। उसमें प्रेम के सरस फल लगेंगे। यही जीवन का अभिपिंचन है। भागवत ने यही तो कहा है—"निगम कल्पवृक्ष का फल भागवत धर्म है।" इस प्रकार तुम जिस राष्ट्र का निर्माण करोगे वही सबसे बड़ा यज्ञ है। मनु और गीता का आत्मयज्ञ यही है। रहीम ने एक दोहे में यही रहस्य लिख दिया—

रहिमन या संसार में सबसों मिलिये धाय।
का जाने केहि रूप में नारायण मिलि जाय॥

भागवत पुराण ने एक उपाख्यान में बताया है कि धर्म की साध्वी पत्नी का नाम 'मूर्ति' था। उसके दो ही बेटे हुए—पहला नर और दूसरा नारायण। सत्य यह है कि नरों के सदाचार-परायण प्रेम से जिस राष्ट्र का जन्म होता है वही नारायण है। वाग्भट ने राष्ट्रदर्शन के इस सूत्र को अत्यन्त संक्षेप में यों लिखा—

'संपद्विपत्स्वेकमना हेतावीर्ष्येत्फले न तु।'[1]

लाभ और हानि में मन को विचलित न करो। कर्त्तव्य-पालन में औरों से ईर्ष्या करो, फल में नहीं। वेदों की फल श्रुति में ईर्ष्या सदाचार नहीं, कदाचार है। यही कारण है कि वाग्भट ने जीवन के उद्देश्यों में मोक्ष का उल्लेख नहीं किया।

त्रिवर्गशून्यं नारम्भं भजेत्तंचाविरोधयन्।[2]

धर्म, अर्थ और कामनाओं की साधना के लिए ही कर्म करो, जिसमें धर्म पर अर्थ और अर्थ पर काम हावी न हो जाए। इतने कर्म-परायण व्यक्ति का मोक्ष कोई रोक नहीं सकता। जो चलता रहेगा, मंजिल पर पहुंचकर रहेगा। धर्म, अर्थ और काम भी यात्रा है, मोक्ष तो मंजिल है। कर्मठ के लिए वह स्वयं सिद्ध है। अतएव निष्काम कर्मयोग से मोक्ष आनुपंगिक प्राप्त होता है।

कर्म की व्यासक्ति में पड़ा हुआ व्यक्ति मुक्त कब हो सकता है? व्यासक्ति स्वयं बन्धन है। उपनिषद् में नचिकेता ने धर्मराज से यही पूछा था—अधर्म और धर्म से भी जो परे है वह बताओ? 'भ्रमरगीत' में परम भागवत सन्त नन्ददास का यह पद देखिये—'कर्म पाप और पुण्य लोह सोने की बेड़ी'। यह है समाज-निर्माण का आधार जो हमें वाग्भट ने दिया।

उन्होंने देवता, गौ, ब्राह्मण, वृद्धजन, वैद्य, राजा तथा अतिथि की पूजा का

1. अ० हृ०, सूत्र० 2/25
2. अ० हृ०, सूत्र० 2/29

विधान भी लिखा।[1] किन्तु यह जाति अथवा कुल की पूजा न थी, गुण और कर्म की ही पूजा थी। जो लोग केवल वर्ण-व्यवस्था को ही वैदिक समाज-रचना का आधार मानते हैं, वे भूल करते हैं। वर्ण-व्यवस्था के साथ आश्रम-व्यवस्था अनिवार्य रूप से जुड़ी हुई है। वैदिक समाज-व्यवस्था को चलाने के लिए वर्ण और आश्रम दो पहिये हैं। एक भी टूट जाय तो समाज का रथ नहीं चल सकेगा। वर्ण अधिकार-पक्ष है और आश्रम कर्तव्य-पक्ष। अधिकार और कर्तव्य दोनों पक्ष सन्तुलित न हों तो वैदिक समाज-व्यवस्था नहीं हुई। मनु ने इस दृष्टिकोण को स्थान-स्थान पर लिखा है।[2] कर्तव्य का विवेक न होने पर अधिकार का प्रयोग अत्याचार होता है तथा अधिकार का ज्ञान हुए बिना कर्तव्य-पालन में मर्यादा नहीं रहती। मनु का अभिप्राय यह है कि जहां जन्ममूलक जाति पर अभिमान करने वाले ही व्यक्ति रहते हों, वह 'जातिमात्रोपजीवी' शूद्रों का राष्ट्र है। ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास आश्रमों में व्यक्ति का निर्माण होता है। राष्ट्र का प्रत्येक व्यक्ति इस स्तर पर समान है। वर्ण-व्यवस्था में व्यक्ति का उपयोग होता है, अर्थात् योग्यतानुसार कार्य का विभाजन और कार्य के अनुसार सुविधाओं का बंटवारा। जहां यह व्यवस्था भंग हुई वहां न ब्राह्मण धर्म है, और न ही भागवत। बौद्ध और जैन राष्ट्र भी इसीलिए न टिक सके, क्योंकि उनमें योग्यता और अधिकार-मर्यादा पर नियंत्रण न रह सका। वाग्भट के युग ने राष्ट्र को ऐसे व्यक्ति प्रदान किये जिन्हें अधिकार और कर्तव्य, दोनों का ध्यान था। यही कारण है कि जिस व्यवस्था के विरुद्ध विद्रोह भड़का था, उसी वर्ण-व्यवस्था को राष्ट्र ने फिर से स्वीकार कर लिया।

निस्सन्देह मानना होगा कि जन्म और कुल के अभिमान पर गुण और कर्म की गरिमा फिर से स्वीकार करने के लिए बौद्ध अनुशासन ने ही राष्ट्र को बाध्य किया।

बुद्धं शरणंगच्छामि, धम्मं शरणं गच्छामि, संघं शरणं गच्छामि—ये तीनों उपसम्पदा-सूत्र कर्मयोग के आधार-स्तम्भ हैं। संक्षेप में व्याख्या की जाय तो कह सकते हैं—(१) ज्ञान के लिए आगे बढ़ूंगा, (२) कर्तव्य के लिए आगे बढ़ूंगा, (३) राष्ट्र के लिए आगे बढ़ूंगा। 'ऐतरेय ब्राह्मण' का संचरण सूक्त जीवन के रंगमंच पर सक्रिय हो उठा—'चरैवेति, चरैवेति'।

ब्राह्मण राध ने संघ के समक्ष खड़े होकर भगवान् बुद्ध से प्रव्रज्या की याचना की। भगवान् बोले : 'क्या राध का कोई उपकार किसीको स्मरण है?' सारिपुत्र ने

---

1. अर्चयेद्देव गो विप्र वृद्ध वैद्य नृपातिथीन्।—अष्टा० हृ०, सू० 2/23
2. विप्राणां ज्ञानतो ज्यैष्ठ्यं क्षत्रियाणान्तु वीर्यतः।
   वैश्यानां धान्य धनतः शूद्राणामेव जन्मतः॥—मनु० 2/155
   न हायनैर्नपलितैर्न वित्तेनन च बन्धुभिः।
   ऋषयश्चक्रिरे धर्मं योऽनूचानः सनो महान्॥—मनु० 2/154
   अव्रतानाममन्त्राणां जातिमात्रोपजीविनाम्।
   सहस्रशः समेतानां परिषत्वं न विद्यते॥—मनु० 12/114
   उत्तमानुत्तमान् गच्छन् हीनान्हीनांश्चवर्जयन्।
   ब्राह्मणः श्रेष्ठतामेति, प्रत्यवायेन शूद्रताम्॥—मनु० 4/245

कहा—'भन्ते ! एक बार इस ब्राह्मण ने करछी-भर भात मुझे भिक्षा में दिया था। बस, मनुष्योचित परीक्षा पूर्ण हो गई।'

भगवान् बोले—'सारिपुत्र ! तुम्हीं राध को प्रव्रजित करो।' सारिपुत्र द्वारा राध प्रव्रजित हुआ।[1] जन्म और कुल का गर्व त्यागकर मानवोचित कर्म को ही योग्यता का आधार मानने का उच्च आदर्श यह था। यदि इस आदर्श की अवहेलना न होती तो सारिपुत्र, अश्वघोष, नागार्जुन और राध बौद्ध क्यों हो जाते ? वे ब्राह्मण ही थे।

परन्तु बौद्ध भी कर्तव्य के इस आदर्श से विचलित हो गया। विवश होकर राष्ट्र को वैदिक वर्ण-व्यवस्था ही फिर स्वीकार करनी पड़ी। भगवान् बुद्ध ने कितनी ही सीमाएं बांधीं, उन्होंने ब्रह्मचर्य पर ध्यान दिया, उपसम्पदा का विचार किया, प्रव्रज्या का विमर्श रखा, भिक्षु और भिक्षुणियों की मर्यादाएं बांधीं, यह पूर्ण सत्य है। किन्तु वे वर्णाश्रम-व्यवस्था से बढ़कर सिद्ध न हुई। उनके अनुशासन से निवृत्ति-पथ प्रशस्त हुआ। किन्तु विधाता ने संसार को प्रवृत्ति के लिए ही बनाया है। इस बहते हुए अनादि प्रवाह को मनुष्य के अनुशासन न रोक सके, और न रोक सकेंगे। प्रवृत्ति तो अनिवार्य है। वह कब, कैसे और कितनी ? इसका उत्तर वर्णाश्रम-व्यवस्था में ही था।

वाग्भट के युग में वर्णाश्रम-व्यवस्था सर्वसाधारण को फिर मान्य हो गई थी। कुछ लोग ऐसे भी थे जो अब भी इस व्यवस्था के विरुद्ध थे, उन्हें 'पाषण्ड' या 'पाखण्ड' कहा जाता था।[2] अमर्यादित रहकर मौज उड़ाने वाले लोग ही इस पाखण्ड-सम्प्रदाय में रह गये थे। आश्रमों के चार भेद इस प्रकार किये गये—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, भिक्षु और वैखानस। मनु ने इन्हें ही ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास नाम से लिखा है। कालिदास ने 'वैखानस' शब्द का प्रयोग 'अभिज्ञानशाकुन्तल' में किया है।[3] गोस्वामी तुलसीदास[4] ने भी इसी अर्थ में 'वैखानस' शब्द का व्यवहार किया। संन्यासी शब्द ही संभवतः 'पाषण्ड' श्रेणी के अन्तर्गत हो गया था। वाग्भट के व्याख्याकार अरुणदत्त ने लिखा है कि उस समय 96 प्रकार के 'पाषण्डी' होते थे। 'पाप खण्ड' का ही रूपान्तर 'पाखण्ड' है।[5]

भागवत धर्म लोगों को वैरागी बनाकर इस संसार को उजाड़ देने के पक्ष में नहीं है। उसका कहना यह है कि भगवान् का स्वरूप प्रेममय है, तो प्रेम करना ही भगवद्दर्शन का एकमात्र उपाय है। वे लोग निश्चय ही पाखण्डी हैं जो इस प्रेममय

---

1. विनयपिटक, महावग्ग—12
2. पाषण्डाश्रमवर्णानां सवर्णाः कर्म सिद्धये।—अष्टा० हृ०, शारी० 6/1
   इस वाग्भट के श्लोक की अरुणदत्त व्याख्या देखिये—'आश्रमाः—ब्रह्मचारि गृहस्थ भिक्षुवैखानस भेदेन चत्वारः।'
3. वैखानसं किमनया व्रतमाप्रदानात् ? —अभिज्ञानशाकुन्तल
4. 'वैखानस सोइ सोचन जोगू, तप बिहाय जेहि भावइ भोगू'।—रामचरितमानस
5. श्रीमद्भागवत।

विश्व में प्रेम की परावृत्ति[1] और जन-जन में घृणा का साम्राज्य स्थापित कर रहे हैं। प्रेम करो, किन्तु उसमें काम की दुर्गन्ध न हो। यही वाग्भट के युग का भागवतधर्म है।[2]

इसी प्रकार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्रों की अनुलोम सन्तान को 'अपसद' तथा प्रतिलोम को 'चाण्डाल' कहा जाता था। सवर्ण में विवाह धर्मसम्मत था ही। किन्तु निम्नवर्ण कन्या से विवाह भी हो सकता था किन्तु उसकी सन्तान 'अपसद' (निकृष्ट) कही जाती थी।[3] निम्नवर्ण पुरुष से उच्चवर्ण कन्या का विवाह अमान्य था। फाहियान के वर्णन से ज्ञात होता है कि ऐसी सन्तान को चाण्डाल अथवा अस्पृश्य माना जाता था। उन्हें छूने में भी पाप[4] था। अरुणदत्त की व्याख्या से ज्ञात होता है कि वाग्भट के युग में 'अपसद' और 'चाण्डाल' होने का कलंक वर्ण-व्यवस्था से हटाया जा रहा था[5], क्योंकि उसने प्रतिलोम और अनुलोम को 'वर्ण-भेद' मात्र लिखा है, जबकि चाण्डाल मानव धर्मशास्त्र में किसी वर्ण में न थे। हमने पीछे देखा है कि श्रीमद्भागवत के उपदेष्टा सूत जी स्वयं 'अपसद' थे। किन्तु तत्कालीन समाज ने उनकी वाणी के आगे मस्तक झुका दिया।

तो भी द्विज की प्रतिष्ठा अक्षुण्ण थी। कालिदास का एक वर्णन उस युग के द्विजों की स्थिति पर प्रकाश डालता है—

'राजा दशरथ शिकार खेलते हुए तमसा नदी (जि० रीवां) के तट पर पहुंचे। उसी समय श्रवणकुमार अपने अन्धे माता-पिता के लिए पानी लेने आया। वह एक लता की ओट में नदी से जल लेने के लिए कलश डुबो रहा था। कलश के शब्द को राजा ने हाथी का शब्द जानकर शब्दवेधी बाण मार दिया। समीप जाने पर दशरथ ने देखा, पितृपरायण श्रवणकुमार तीर से आहत होकर प्राण छोड़ रहा है। राजा ने भयभीत होकर परिचय पूछा। श्रवण लड़खड़ाती वाणी से इतना कहकर चल बसा—'राजन्, मैं द्विज नहीं हूं'।[6]

चारों वर्णों के लोग प्रायः उत्तम भोजन खाते थे। भोज्य अन्नों में चावल, गेहूं, जौ, मूंग, अरहर, मसूर, उड़द, मटर, रमास (राजमाष), कोदों, तिल तथा मांस खाने

---

1. प्रेमतो जायते शोकः प्रेमतो जायते भयम्।
प्रेमतो विप्रमुक्तस्य नास्ति शोकः कुतो भयम्॥ —धम्मपद, 16/5
2. येषां चित्ते वसेद्भक्तिः सर्वदा प्रेमरूपिणी।
न ते पश्यन्ति कीनाशं स्वप्नेप्यमलमूर्तयः॥ —श्रीमद्भागवत माहात्म्य अ० 2/16
3. विप्रस्य त्रिषु वर्णेषु नृपतेर्वर्णयोर्द्वयोः।
वैश्यस्य वर्णे चैकस्मिन् षडेतेऽपसदा स्मृताः॥ —मनु० 10/10
4. गुप्त साम्राज्य का इतिहास, भाग 2, पृ० 207
5. वर्णाः ब्राह्मण क्षत्रिय विट्शूद्राश्चत्वारः। ते च प्रतिलोमानुलोमतो बहवः।
—अष्टा० हृ०, शारी० 6/1 व्याख्या।
6. रघुवंश —9/76
श्रवणकुमार के पिता वैश्य और माता शूद्रा थी।
न द्विजातिरहं राजन्माभूत्ते मनसो व्यथा।
शूद्रायामस्मि वैश्येन जातो जनपदाधिप॥ —वाल्मीकि रामायण

का चलन था। ज्वार तथा बाजरा प्रजा के प्रमुख भोज्यान्नों में नहीं थे। दूध, घी तथा गुड़ और शक्कर के अनेक प्रयोग खाये-पिये जाते थे। शाक-भाजी खाने का विशेप रिवाज था। फलों का उपयोग भी समाज का प्रिय भोजन था। नाना प्रकार के मसाले भी काम में लाये जाते थे।

भोज्यान्न दो श्रेणियों में विभक्त थे—शूक धान्य और शिम्बी धान्य। शूक धान्य जौ, चावल, गेहूं, आदि मुख्य और शिम्बी धान्य (फली के भीतर से निकलने वाले अन्न) गौण माने जाते थे। वाग्भट ने चावलों का विस्तृत उल्लेख किया है। देश के एक भाग से दूसरे भागों तक चावल का विनिमय और व्यापार चलता था। चावलों के बहुत से भेद-प्रभेद वाग्भट ने लिखे हैं। देश के भिन्न-भिन्न भागों के मुख्य-मुख्य चावलों का वर्णन है, जैसे मगध का 'कलम'। उसीका वड़ा रूप कश्मीर में 'महातण्डुल'। कश्मीर के कुछ अन्य प्रकार के चावलों का भी उल्लेख है।

जब भगवान् बुद्ध का जन्म हुआ, अभूतपूर्व उत्सव हुआ। मानसरोवर के हंस उत्तर कुरु (सिमकियांग) में उत्पन्न होने वाले श्रेष्ठतम धान अपनी चोंच में लेकर भगवान् की अर्चना को अक्षत चढ़ाने आये। भगवान् पर चढ़ाये हुए वे धान इधर-उधर फैले हुए देखकर मृगारि की माता विशाखा ने बटोर लिये और अपने खेतों में बोये। धान खूब फूले-फले। विशाखा कोसल की राजधानी श्रावस्ती की निवासिनी थी। भगवान् बुद्ध की जन्मभूमि कपिलवस्तु से लेकर श्रावस्ती, और वहां से देश के अन्यान्य भागों में वह धान फैल गया।[1] बुद्ध भगवान् की अर्चनाहेतु जो धान अक्षत बना हो वह कितना स्पृहणीय होगा? चूंकि पक्षियों (हंसों) द्वारा वह धान लाया गया था, इस कारण धान की उस किस्म को 'शकुनाहृत' नाम से जनता ने स्मरण रखा। संभव है उसीका अन्य नाम 'हंसराज' हो गया हो।

कुछ प्रकार के धान तिब्बत के देवताओं से प्राप्त हुए थे। ये जालन्धर तथा मगध में बहुत पैदा हुए। यह किस्म 'देवशालि' या 'गन्ध-शालि' नाम से प्रसिद्ध हो गयी। वह आज 'वासमती' नाम का चावल कहा जाता है।[2] एक प्रकार का धान चीन देश से यहां लाकर बोया गया। वह यहां उपजा किन्तु उसका चावल बहुत घटिया किस्म का निकला। 'चीन-शालि' नामक वह चावल भी वाग्भट के युग में यहां चलता था।[3]

उस युग में कई प्रकार के लवणों का प्रयोग चल रहा था—(1) सैंधव, (2) सौवर्चल, (3) विड्, (4) सामुद्र, (5) औद्भिद, (6) कृष्ण तथा (7) 'रोमक'। उत्तरोत्तर हीन गुण माने जाते थे। स्वाभाविक सैन्धव लवण के अतिरिक्त अन्य रासायनिक लवणों का उत्पादन और प्रचार यह स्पष्ट करता है कि भारत का लवण-व्यवसाय उस युग में बड़े पैमाने पर हो रहा था। यह भी मानना होगा कि वाग्भट के

1. विनयपिटक, महावग्ग 8–4–5
   —अष्टाङ्ग हृदय, सूत्र० 6/1–3—अरुणदत्त व्याख्या।
2. सुगन्धको गन्धशालि संज्ञया जालन्धर मगधादिषु ख्यातो देव शालिरित्यपरनामा।
   —अ० हृ०, सू० 6/13—अरुणदत्त व्याख्या
3. चीन शारद दर्दुरा—अ० हृ० सू० 6/8

जीवनकाल में ही सिन्ध का प्रदेश भारत के साथ फिर सम्मिलित हो गया था। सैन्धव लवण वहीं की उपज है।

जलचर, थलचर और नभचर प्राणियों में बहुत से प्राणियों के मांस खाने का रिवाज था। भौगोलिक दृष्टि से उस युग के वैद्य का ज्ञान अत्यन्त परिमार्जित और विस्तृत होता था। कौन प्राणी कहां और कब मिलता है? किस वस्तु की पैदावार कहां अच्छी और कहां बुरी है? इन सभी प्रश्नों का उत्तर वह दे सकता था। वाग्भट ने इस प्रकार का विस्तृत भौगोलिक विवेचन स्थान-स्थान पर किया है।[1] नदियों के जल का लाभ-अलाभ समाज के स्वास्थ्य पर कैसी प्रतिक्रिया करता है, यह विवेचन भी वाग्भट ने किया है।

पश्चिम की ओर बहने वाली नदियों का जल स्वास्थ्य के लिए हितकर है। किन्तु हिमालय तथा मलयगिरि (दक्षिण) से निकलने वाली वे नदियां जो पत्थरों में बहती हैं, पथ्य-जल-युक्त हैं, अन्य नहीं। पूर्व दिशा को बहने वाली नदियां, तथा मालवा के इलाके की नदियां अपरान्त (कोंकण), महेन्द्रगिरि की नदियों का जल उदर एवं श्लीपद रोग उत्पन्न करता है। सह्य (पश्चिमी घाट) तथा विन्ध्याचल की नदियां कुष्ठ, पाण्डु तथा सिरोरोग करने वाली होती हैं। पारियात्र की नदियां बल और प्रजनन शक्ति को बढ़ाती हैं। समुद्र का जल त्रिदोष को दूषित करने वाला तथा रोगकारी है।

वाग्भट का ऋतुचर्या वर्णन देखने योग्य है।[2] उससे ज्ञात होगा कि जनता की पारिवारिक स्थिति उस समय अत्यन्त समृद्ध थी। मालिश, कुश्ती के उपरान्त स्नान-ध्यान, फिर केसर और कस्तूरी का अनुलेपन आवश्यक नित्यकर्म था। कश्मीर की केसर तथा कस्तूरी सम्पूर्ण भारत के व्यवहार में आती थी। कश्मीर की उपज होने के कारण लोग केसर को कश्मीर ही कहने लगे थे। सूती, रेशमी, ऊनी, चमड़े के, भांग की छाल के तथा अन्य कई जंगली पौधों की छाल द्वारा निर्मित वस्त्रों का व्यवहार होता था। भांग, सन, पाट, जूट आदि की छालों द्वारा बने वस्त्र ही वल्कल वस्त्र कहे जाते थे। इनकी छालों को कूटने से सुन्दर, मुलायम और मजबूत रेशा निकलता है। उसीके सूत से बना वल्कल वस्त्र पहनने का रिवाज अभी तक अलमोड़ा, रानीखेत तथा नैनीताल के प्रदेशों में है।

अनेक प्रकार की सुराओं और मद्यों का प्रयोग बहुत होता था। गुड़ आदि मधुर द्रव्यों से जो उत्तेजक द्रव्य तैयार होता वह मद्य तथा चावल, जौ आदि एवं लोध्र आदि कषाय द्रव्यों से जो उत्तेजक पेय तैयार होता वह सुरा कही जाती थी।[3] सर्वसाधारण जूते पहनकर चलते और वर्षा-धूप में छतरी का उपयोग करते थे।[4]

1. अष्टा० हृ०, सू० अध्याय 6 देखें।
2. अष्टा० हृ०, सू० अ० 3
3. मधु माधव मैरेय सीधु गौडासवादिभिः।
   मदशक्तिमनुज्झन्ती या रूपैर्बहुभिः स्थिता ॥—अ० हृ०, चि० 7/58
   तथा अ० हृ०, सू० 6/12-14 (अरुणदत्त व्याख्या)
4. सातपत्र पदत्राणो विचरेत्'—अ० हृ०, सू० 2/32

दूध के अनेक प्रयोग बनाकर व्यवहार होता था। गाय, भैंस, बकरी, ऊंटनी, स्त्री, भेड़, हथिनी, घोड़ी, गधी आदि के दूध प्रयोग में लाये जाते थे। उनका प्रयोग कहां-कहां हो, यह वाग्भट ने लिखा है। मुरब्बे, शर्बत, अचार, पन्ने (प्रपानक) तथा सलादों का प्रयोग घर-घर में होता था। घरों में गर्मी की फसल के 'धारागृह' होते थे, जिनमें चारों ओर स्त्री, बच्चों, पक्षियों आदि की मूर्तियां बनी रहती थीं। उनकी पिचकारियों, चंचुओं तथा मुखों से खस के जल की फुहारें निकलती रहती थीं।[1] गरमी में चन्दन की सुगन्धियों का प्रयोग ही नहीं, चमेली, बेला, जुही, निवाड़ी (मल्लिका) की सुगन्धियां भी प्रचलित थीं।

स्त्रियों का जीवन हास, विलास और उल्लासपूर्ण होता था। जीवन को मधुर बनाने वाली सम्पूर्ण कलाओं में स्त्रियां कुशल होती थीं। स्त्रियों की पारिवारिक शिक्षा में नृत्य, वाद्य, संगीत, चित्रकला तथा वेश-विन्यास आवश्यक थे। वे और विद्याएं भी पढ़तीं, किन्तु ललित कलाएं अवश्य।[2] गोष्ठी, महोत्सव, उद्यान-भोज में उत्तम कोटि के मद्य का प्रयोग सभ्य समाज में प्रचलित था।[3] औसत दर्जे के गृहस्थ प्रायः मद्य व्यवहार करते थे। वाग्भट ने लिखा है, यदि कोई गृहस्थ प्रणय की एकान्त तल्लीनता में मद्य का एक घूंट स्वयं पीकर दूसरी अपनी प्रेयसी को न पिला सका, तो गृहस्थाश्रम के कारागार में क्यों पड़ा है?[4]

इतना होने पर भी नैतिक आदर्श की दृष्टि से मद्य का उपयोग सम्मानित नहीं था। आचार-मर्यादाएं लिखते हुए वाग्भट ने यह लिखा कि मद्य का बनाना, बेचना, देना, लेना भी बुरा है।[5] दुबारा फिर इसी मर्यादा को दोहराकर कहा, "कल्याण चाहने वाले को मद्यपान और स्त्री-परायणता छोड़ देनी चाहिए।"[6] इस आदर्श का पालन जब तक समाज ने किया—श्री गुप्त, घटोत्कच गुप्त, चन्द्रगुप्त, समुद्रगुप्त, चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य, कुमारगुप्त और स्कन्दगुप्त (275 ई० से 467 ई०) पर्यन्त राष्ट्र उन्नत होता गया। वाग्भट के यौवन के उत्थान के साथ-साथ राष्ट्र उठा और उतार के साथ शिखर से उतरने लगा था। वाग्भट ने अपने जीवन में उसे चढ़ते भी देखा और उतरते भी। भागवत धर्म ने कहा था—'संसार को प्यार करो, किन्तु आसक्ति न हो।' वह अनुशासन भूल गया।

---

1. सुप्याद्धारागृहेऽथवा। पुस्तस्त्रीस्तन हस्तास्य प्रवृत्तोशीरवारिणि।—अ० हृ०, सू० 3
2. विलासिनीनाञ्च विलासशोभि, गीतं सनृत्तं कल तूर्य घोषैः।
   काञ्ची कलापैश्चल किङ्किणीकैः, क्रीडा विहङ्गैश्च कृतानुनादम्॥
   मणि कनक समुत्थै रावनेर्यैर्विचित्रैः,
   सजल विविध लेख क्षौमवस्त्रावृताङ्गैः।
   अपि मुनिजन चित्त क्षोभ सम्पादनीभि-
   श्चकित हरिणलोल प्रेक्षणीभिः प्रियाभिः॥ अ० हृ०, चि० 78/79
3. गोष्ठी महोत्सवोद्यानं न यस्या शोभते विना।—अ० हृ०, चि०, 7/65
4. अष्टा० हृ०, चि० 7/88
5. मद्य विक्रय सन्धान दानादानानिनाचरेत्॥—अ० हृ०, सू० 2/39
6. मद्यातिसक्ति विश्रम्भ स्वातन्त्र्ये स्त्रीषु च त्यजेत्।—अ० हृ० सू० 2/44

कलाओं की दृष्टि से भी राष्ट्र ने इस युग में जो विकास किया वह भारत के इतिहास में ही क्या, विश्व के इतिहास में अपूर्व है। उस युग की स्त्रियां भी कलाओं में निपुण होती थीं। कालिदास द्वारा 'अभिज्ञानशाकुन्तल' में शकुन्तला का पत्र-लेखन स्त्रियों के पठन-पाठन की योग्यता का परिचायक है। 'मेघदूत' में चित्र-लेखन का प्रसंग बड़ा ललित है।[1] लोगों का रहन-सहन उद्यानों से अभिराम था, जिनमें फसल-फसल के पुष्प, कासार तथा क्रीड़ाकक्ष होते थे। कालिदास के नाटकों से यह सुविदित है। स्त्रियों की साज-सज्जा अत्यन्त कलापूर्ण होती थी। प्रसाधन का सामान भारत के ही वैज्ञानिक प्रस्तुत करते थे। न केवल भारत को ही किन्तु मिस्र और यूनान भी उसके ऋणी हैं। मिस्र में सिकन्दरिया का बाजार केवल इसीलिए आबाद था कि वहां भारत की प्रसाधन-सामग्री का बाजार था। डॉ० राधाकुमुद मुकर्जी ने लिखा है कि सुवर्ण के तुल्य भार में ये प्रसाधन बिकते थे, जिन्हें काहिरा और एथेन्स की सुन्दरियां अपने शृंगार के काम में लाती रही हैं।

पुष्प-रचना भारतीय शृंगार में इस युग की विशेषता है। इस युग की जो मूर्तियां भूगर्भ से प्राप्त हुई हैं वे पुष्पहारों द्वारा बने भांति-भांति के आभूषणों से सुसज्जित होती हैं। कुछ आभूषण पुरुष भी पहनते थे, जिनमें रत्न जड़े रहते थे। यह मांगलिक माना जाता था। वाग्भट ने भी इन आभूषणों का उल्लेख किया है।[2] ये भुजा, ग्रीवा और उंगलियों में पहने जाते थे। भारतीय परम्परा में स्वर्ण, मुक्ता, मणि तथा पुष्पों के आभरणों का ही महत्त्व है। चांदी को बर्तन और सिक्कों के अतिरिक्त आभूषणों में प्रयोग करने की परिपाटी ईरानी और शकों की सभ्यता के साथ यहां प्रचलित हुई। कालिदास ने जवाहिरात के जड़ाव में स्वर्ण का ही उल्लेख किया है, चांदी का नहीं।[3] सम्राट् लोग यज्ञ-यूप भी स्वर्ण के ही निर्माण कराते थे।[4] आत्रेय पुनर्वसु के युग में भी स्वर्ण का सिक्का चलता था।[5] हड़प्पा और मोहन्जोदड़ो में ईसा से पांच हजार वर्ष पुराने सोने के ही आभूषण भूगर्भ से मिले हैं। धन्वन्तरि, कश्यप, आत्रेय पुनर्वसु से लेकर वाग्भट तक बच्चों को औषधि रूप से स्वर्ण खिलाने की परिपाटी थी।[6] भारतीय चिकित्सा विज्ञान ने यह अनुसन्धान किया था कि स्वर्ण खाने से ओज बढ़ता है। हृदय-शक्ति चिरस्थायी रहती है तथा बालकों को क्षय, शोष आदि रोग नहीं होते। वाग्भट ने लिखा है कि सोना खाने वाले व्यक्ति पर विष का प्रभाव नहीं होता।[7] उपनिषद् काल में

---

1. त्वामालिख्य प्रणयकुपितां धातुरागैः शिलायाम् ।
   आत्मानं ते चरण पतितं यावदिच्छामि कर्तुम् ॥—मेघ०, उ० 42
2. धारयेत्सततं रत्नसिद्ध मन्त्र महौषधीः ।—अ० हृ०, सू० 2/31
3. रत्नं समागच्छतु काञ्चनेन—'रघुवंश' 6/79
4. कनक यूप समुच्छ्रय शोभिनो, वितमसातमसा सरयू तटाः ।—रघु० 9/20
5. 'मण्डलैर्जातरूपस्य'—चर० चि० 2/3/11
6. चामीकर वचा ब्राह्मी ताप्यपथ्या रजीकृताः ।
   लिह्यान्मधुघृतोपेताः हेमधात्री रजोऽथवा ॥—अष्टा० हृ०, आ० 3/9-10
7. न सज्जते हेमपाङ्गे पद्मपत्रेऽम्बुवद्विषम् ।

यहां सोने के वर्तनों का भी व्यवहार था।[1]

स्वर्ण भारतीय वसुधा की उपज थी, चांदी विदेशी। पश्चिम में वाल्हीक और असुर लोक (वेवीलोन-एसीरिया) से तथा पूर्व में ब्रह्म देश से भारत में चांदी आती थी। एक युग था जव भारत में चांदी महंगी और स्वर्ण सस्ता था। मौर्यकाल में चांदी का व्यवसाय भारत में वढ़ा। वेवीलोन, ग्रीक तथा एसीरियन लोग चांदी के ढेर के ढेर तक्षशिला, पुरुषपुर तथा पाटलिपुत्र तक के वाजारों में वेच जाते थे। और उसके वदले में प्रसाधन-सामग्री ले जाते थे।[2] ईसा की प्रथम शताव्दी पूर्व शक तथा हूणों ने पहली वार चांदी के सिक्के भारत में चलाये। गुजरात तथा सौराष्ट्र में शक क्षत्रपों के चांदी के ही सिक्के मिले हैं। संभवत: भारत में चांदी की नई धवलता देखकर उसे 'राजत' नाम दिया गया होगा। नागार्जुन ने स्वर्ण को भस्म करके उसे खाने के योग्य अधिक उपयोगी वना दिया। स्वर्ण के साथ चांदी, तांवा आदि अन्य धातु भी भस्म करके प्रयोग करने का आविष्कार ईसा की प्रथम शती में भारत के वैज्ञानिकों ने किया था। इनमें नगार्जुन ही प्रमुख थे।

वाग्भट के युग में भारत का व्यवसाय वहुत ही विस्तृत था। पूर्वी द्वीप समूह एक प्रकार से भारत के व्यवसाय पर ही जीवित था। भारत से इन द्वीपों को प्रचुर खाद्य-सामग्री तथा वस्त्र पहुंचते थे। लौंग आदि अनेक मसाले की वस्तुएं इन द्वीपों से भारत में आयात होती थीं।[3] मिस्र के साथ भारत का व्यापार प्रागैतिहासिक काल से रहा है। तक्षशिला और भरुकच्छ ही इसके केन्द्र थे। सिकन्दरिया जव सिकन्दर ने आवाद की, भारत के साथ यूनान के व्यापार-केन्द्र की दृष्टि से ही वह मण्डी वनाई थी। उत्तर में चीन के वने रेशमी वस्त्र भारत में आते थे और सूती वस्त्र, शर्करा, नमक तथा अनेक वस्तुओं का चीन को निर्यात होता रहा। कालिदास ने चीन के रेशम का उल्लेख 'अभिज्ञान शाकुन्तल' में किया है।[4] अरव का स्वतन्त्र कोई व्यापार न था, वह मिस्र और यूनान के ही शासन में था।

कलात्मक वस्तुओं का विविध व्यापार ईरान के साथ भी भारत का रहा है। वस्तुत: ईरान भारतीय सभ्यता और संस्कृति के प्रथम प्रासाद का भग्नावशेष है। वह हमारी युद्धभूमि रहा है। तो भी भारत ही उसका पोषण करता रहा है। ईरान के मस्तिष्क ने अपनी विशिष्ट कलाएं विकसित की हैं। चित्रकला तथा वास्तुकला में उनका महत्त्वपूर्ण स्थान है।[5] संगीत तथा साहित्य में भी भारत तथा ईरान आदिकालीन इतिहास

---

1. 'हिरण्मयेन पात्रेण'—ईशावास्य उपनिषद्
2. डा० राधाकुमुद मुकर्जी (Marrytime of India)
3. अनेन सार्धं विहराम्बुराशेस्तीरेषु ताली वन मर्मरेषु।
   द्वीपान्तरानीत लवङ्गपुष्पैरपाकृतस्वेदलवा मरुद्भिः॥—रघु०, 6/57
4. चीनांशुकमिव केतोः प्रतिवातं नीयमानस्य।—अभि० शा० 1/30
5. The break up of the old Achaemenian civilization by Alexender, the scuttering of the metropolitan craftmen of Iran, the simultaneous emergence of new and powerful patronage in India, and not least, the capacity of the Indian craftsmen for adaptation and transmutation, all combined in the following centuries to establish an architectural tradition which, after

से एक-दूसरे के सहयोगी रहे हैं। वस्तुतः एक-दूसरे के पूरक हैं। इस प्रकार वाग्भट के काल में भारत धन-धान्य, कला, साहित्य, संगीत आदि सभी दृष्टियों से भरा-पूरा, सुखी और समृद्ध राष्ट्र था। अब स्वर्ग मानो हिमालय से नीचे उतर आया था।

"देवता भी गीत जिसके गा रहे थे,
श्रेय भारत के निवासी पा रहे थे।
स्वर्ग या अपवर्ग इसमें खो गया था,
देव से मानव अधिकतम हो गया था॥"[1]

वाग्भट के युग की सबसे बढ़कर विशेषता यह है कि इस युग में सांस्कृतिक दृष्टि से बड़ा कार्य हुआ। संस्कृत-साहित्य ने नवीन चेतना प्राप्त की। साहित्य में अश्वघोष, कालिदास, भट्टारक हरिचन्द्र, अमरसिंह, शंकुक, वराहमिहिर, वररुचि आदि अमर विद्वान् हुए। दूसरी ओर आयुर्वेद में चरक के पश्चात् भट्टारक हरिचन्द्र और तीसरे नम्बर पर वाग्भट ही ज्योतिर्मय नक्षत्र की भांति उदय हुए। कश्मीर में उस समय मातृगुप्त, भर्तृमेण्ठ, शूद्रक, विशाखदत्त, सुबन्धु आदि महाकवि हुए, जिनकी रचनाएं आज तक नवीन और सुरभित हैं।

बड़े-बड़े बौद्ध विद्वान् इसी युग में लंका, मिस्र, ग्रीस, ईरान, चीन, चीनी तुर्किस्तान, जापान, जावा, सुमात्रा तथा बाली आदि देशों तक भारत का सांस्कृतिक एवं राष्ट्रीय अनुशासन ले गये। इन स्वनामधन्य अध्यवसायी विद्वानों में—(1) कुमारजीव, (2) बुद्धभद्र, (3) बुद्धयश, (4) धर्मरक्ष, (5) गुणवर्मन, (6) गुणभद्र, (7) बोधिधर्म, (8) संघपाल, (9) परमार्थ, (10) उपशून्य, (11) बोधिरुचि, और (12) बुद्ध शान्त का नाम स्मरणीय है। इन महान् अध्यवसायियों ने हिमालय के उत्तुंग शिखरों को, जहां सूर्य की रश्मियां थकित होकर शान्त हो जाती हैं, अनथक भाव से पार किया। समुद्र के अलंघ्य विस्तार को अपने साहस के पोत पर आरूढ़ होकर तैर डाला। न केवल दार्शनिक अथवा धार्मिक विचारधारा ही वे अपने साथ ले गये किन्तु संस्कृति के साथ-साथ आयुर्वेद का विज्ञान भी ले गये। समस्त एशिया को मानसिक स्वास्थ्य के साथ-साथ शारीरिक स्वास्थ्य का वरदान देकर इस युग ने भारत के इतिहास पर अमिट छाप छोड़ी। भगवान् बुद्ध ने कहा था, "दूसरे का उपकार किये बिना भिक्षा मांगकर खाना भी पाप है।" इस परोपकार-परायण व्रत को पूरा करने के लिए आयुर्वेद ही सर्वश्रेष्ठ साधन सिद्ध हुआ।

---

all, resembles only itself. This conclusion is testimony to the Indian genius but is no belittlement of the part played by Iran, then as earlier and later, in stimulating and helping that genias to find oppression.

Iran and India in pre-Islamic times.
by-R. E. M. Wheeler [Ancient India No.4]

1. गायन्ति देवाः किल गीतकानि धन्यास्तु ये भारत भूमि भागे।
स्वर्गापवर्गस्य च हेतु भूते भवन्ति भूयः पुरुषा सुरत्वात्॥

भारत में वेदों को पढ़ने और सुनने के अधिकार एवं अनधिकार के प्रश्न ने समाज में भेदभाव की गहरी खाई खोद रखी थी। इस युग से विद्वानों ने वेदों का सार लेकर दर्शन, उपनिषद्-भाष्य, पुराण, ज्योतिष, स्मृतियां आदि लिखकर सर्व-साधारण तक वे तत्त्व पहुंचा दिये। इस प्रकार वह झगड़ा समाप्त हो गया। कर्मकाण्ड की रूढ़ पद्धतियां भगवत भक्ति में परिवर्तित हो गई। श्रीमद्भागवत के प्रारम्भ में ही लिखा है, 'यह वेद रूपी कल्पवृक्ष का सरस फल है।' फल खाने वाले लोग बहुत थे, किन्तु वृक्षों को सींचने वाले ही कम पैदा हुए। यदि सींचने वाले सजग रहते तो वेदों की संहिताएं पहेली न बन जातीं। आयुर्वेद को इस बात का गर्व है कि उसका द्वार सबके लिए सदैव खुला रहा। वह धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का प्रत्यक्ष साधन है। वाग्भट ने भी ग्रन्थ के उपसंहार में यही लिखा है कि यह शास्त्र वेद का सार है। और इसका फल प्रत्यक्ष ही प्राप्त होता है। अनुमान, उपमान और शब्द-प्रमाणों द्वारा साध्य साधन की आवश्यकता यहां नहीं है। इसका एक-एक वाक्य मंत्र की ही भांति निश्चित फल देने वाला है। यहां सन्देह और तर्क व्यर्थ है।[1] फिर भी जिसे अधिकार अनधिकार का अभिनिवेश हो, वह जीवन भर वेदमन्त्र पढ़ा करे।[2]

वाग्भट के अन्य जीवन-प्रसंग

कश्मीर में प्रकृति की अप्रतिम रचना के व्यासंग से न केवल ऐश्वर्यमयी लक्ष्मी ने ही वहां आवास किया, प्रत्युत सरस्वती को भी वह स्थान कमनीय लगा। कालिदास ने मानो यहां की विशेषता ही अपने शब्दों में अभिव्यक्त की—

"निसर्ग भिन्नास्पदमेकसंस्थं,
अस्मिन् द्वयं श्रीश्च सरस्वती च।"

विल्हण का यह दावा है कि 'कविता का अंकुर कश्मीर को छोड़कर अन्यत्र नहीं उगता।' किन्तु कविता ही क्या, दर्शन, व्याकरण, इतिहास, साहित्य तथा आयुर्वेद के विद्वानों की भी एक परम्परा को उस भूमि ने जन्म दिया है। दार्शनिक वसुगुप्त, वैय्याकरण कैय्यट, ऐतिहासिक कल्हण, कविश्रेष्ठ रत्नाकर, भल्लट, दामोदर गुप्त, विल्हण, क्षेमेन्द्र तथा मातृगुप्त एवं साहित्यमर्मज्ञ वामन, उद्भट, आनन्दवर्धन, अभिनव-गुप्त तथा मम्मट इसी प्रदेश में हुए। न केवल यही, किन्तु अमर प्राणाचार्य चरक, हरिचन्द्र, वाग्भट, जेज्जट, इन्दुकर, तीसट, चन्द्रट तथा माधव ने इसी सौभाग्य-सुन्दरी वसुधा की गोद में खेलकर राष्ट्र को स्वास्थ्य एवं सुखी जीवन का वरदान दिया। यही कारण है कि आयुर्वेद की परम्परा में 'काश्मीराः' अथवा 'काश्मीरकाः' करके विद्वानों

---

1. इदमागमसिद्धत्वात्प्रत्यक्षफलदर्शनात्।
मन्त्रवत्सम्प्रयोक्तव्यं न मीमांस्यं कथंचन॥ —अ० हृ०, उत्तर० 40/81
2. अभिनिवेशवशादभियुज्यते सुभणितेऽपि न यो दृढ मूढकः।
पठतु यत्नपरः पुरुषायुषं स खलु वैद्यकमाद्यमनिर्वृतिः॥ —अ० हृ०, उ० 40/85

की एक शाखा ही बन गई है।[1] कश्मीर के पूर्ववर्ती विद्वान् के विचारों को उत्तरवर्ती विद्वान् ने अपने लेखों में सम्पुष्ट किया है। इसी परिपाटी के अनुसार चरक का समर्थन भट्टारक हरिचन्द्र ने किया। इस परिपाटी को सम्पुष्ट करते हुए वाग्भट ने चरक और भट्टारक का स्थान-स्थान पर समर्थन किया।[2] प्राचीन पाराशर नामक विद्वान् ने अपनी 'पाराशर संहिता' में चरक के सिद्धान्तों का खण्डन किया था। वाग्भट ने 'अष्टाङ्ग संग्रह' में उसका निराकरण करके चरक के सिद्धान्तों को ही स्थिर किया।[3]

बहुत से लोग प्रश्न उठाते हैं, आयुर्वेद ग्रन्थ परम्परा में संहिताएं लिखी जा रही थीं, वाग्भट ने भी अपने नाम की संहिता क्यों नहीं लिखी? 'अष्टाङ्ग संग्रह' और 'अष्टाङ्ग हृदय' नाम क्यों रखे? इसका एक कारण था—यह कि वाग्भट के पितामह 'वाग्भट संहिता' लिख चुके थे जिन्हें आयुर्वेद व्याख्याकार वृद्ध वाग्भट नाम से स्मरण करते हैं। ऐसी दशा में पौत्र को 'वाग्भट संहिता' लिखने का अवसर ही न रह गया। खेद यह है कि अब 'वाग्भट संहिता' हमें उपलब्ध नहीं। चक्रदत्त के व्याख्याकार शिवदास के समय तक 'वाग्भट संहिता' उपलब्ध थी।[4]—वाग्भटकालीन प्राणाचार्यों के साथ हम वृद्ध वाग्भट और भिषगाचार्य सिंहगुप्त को भुला नहीं सकते। दुर्भाग्य की बात है कि उन दोनों की कृतियां लुप्त हो गईं।

सम्राट् अशोक ने कश्मीर के राज्य की आय बौद्ध संघ के निमित्त अर्पित कर दी थी। वहां एक सुदृढ़ बौद्ध विहार की स्थापना हुई। इसका नाम कुण्डन-वन-विहार था। बौद्ध संघ का सम्पूर्ण व्यय कश्मीर की आय पर ही चलता था। ईसा से तीन सौ वर्ष पूर्व की गई यह व्यवस्था ईसा के तीन सौ वर्ष बाद गुप्त शासनकाल में भी किसी न किसी रूप में शेष थी। अशोक के उपरान्त भी स्थविर पार्श्व, आर्यदेव, अश्वघोष, नागार्जुन, दिङ्नाग, असंग, वसुबन्धु जैसे दिग्गज बौद्ध विद्वान् यहीं हुए। शुंग पुष्यमित्र ने उसे नष्ट नहीं किया और गुप्त सम्राटों ने भी उसका आदर किया।

चीन के प्राचीन इतिहास में 'गाओ सेंग-चाउन' (Gao-Seng-Tchoun) नामक ग्रन्थ में प्राचीन एवं महान् बौद्ध भिक्षुओं के जीवन-चरित्र लिखे हुए हैं। यह

---

1. (क) अत्र काश्मीराः······इत्यादि ग्रन्थं पठन्ति। —चक्रपाणि च०, चि० 3/112-115
   (ख) तथा च काश्मीर पाठे चरकः—विजयरक्षित, मा० नि० ज्वर 18/23
   (ग) इत्याचार्यस्य देशसिद्धाः काश्मीरकाः —इन्दुकर अष्टा० सं०
2. (क) चरकस्त्वाह वीर्यं तद्येन या क्रियते क्रिया। —अ० हृ०, सू० 9/13
   (ख) संशय प्राप्तमानोयो जीवितं तस्य मन्यते। —अ० हृ०, शारी० 5/128
   (ग) हरिचन्द्रेण तु सहशब्दोऽयमकारान्तो······इतिव्याख्यातम्। तन्मतानुसारिणा वाग्भटेन चोक्तम्। —चक्रपाणि, चर० सू० 7/46/50
3. अष्टा० संग्रह, सूत्र०, अ० 1, पृ० 158-159
4. 'वाग्भट टीकायाञ्च सर्वत इति मण्डूरसहित चूर्णादष्टगुणं गोमूत्रमिति व्याख्यातम्। वृद्ध वाग्भटेऽपि मूत्रं सर्वतोऽष्ट गुणमित्युक्तम्'। —चक्रव्याख्या, पाण्डुरोग—22।
   प्रतीत होता है शिवदास के युग तक वृद्ध वाग्भट संहिता उपलब्ध थी, क्योंकि उसके उद्धरण चक्रदत्त की व्याख्या में शिवदास ने दिये हैं।

ग्रन्थ 519 ई० का लिखा हुआ है। मेहरोली के स्तम्भ लेख के अनुसार चन्द्रगुप्त (द्वितीय) विक्रमादित्य 380 ई० में राज सिंहासन पर आरूढ़ हुआ। चीनी ग्रन्थ के विवरण के अनुसार उस युग में संघनन्द (Seng-kia-A-Nan) नामक सम्राट् कश्मीर में राज्य कर रहा था। यह गुप्त शासन का मांडलिक सम्राट् था। संघनन्द सम्राट् हरिभद्र (Ho-Lih-PA-To) का पुत्र था जो प्रायः समुद्रगुप्त का समकालीन (325 ई० से 375 ई०) था। समुद्रगुप्त ने अश्वमेध यज्ञ किया। इस यज्ञ का उल्लेख शिलालेखों में प्राप्त होता है। भद्रक, यौधेय, कुषाण तथा शकों के राज्य कश्मीर को इर्द-गिर्द से काट रहे थे। समुद्रगुप्त ने इन सबको परास्त करके भारतीय राष्ट्र को संगठित किया। समुद्रगुप्त ने कश्मीर के विरुद्ध शस्त्र नहीं उठाये, किन्तु उसके शत्रुओं का समूल नाश करके अपने मांडलिक राज्य के रूप में सुरक्षित रखा। हरिभद्र उस समय कश्मीर में राज्य कर रहा था।

सन् 420 ई० में जब वाग्भट का आविर्भाव हुआ, कश्मीर में संघनन्द शासनारूढ़ था। किन्तु उधर समुद्रगुप्त के परलोकवासी होने के उपरान्त (375 ई०) शकों तथा कुषाणों के आक्रमण फिर बढ़ने लगे। समुद्रगुप्त के पुत्र चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने फिर अश्वमेध करके उन्हें परास्त किया और कश्मीर को सुरक्षित बनाये रखा। यह 380 ई० से 412 ई० तक शासन करता रहा। प्रायः 400 ई० में संघनन्द का पुत्र गुणवर्मन हुआ। यह प्रतिभाशाली धर्म-परायण राजकुमार था। राज्य वैभव और राजनीति में उसे रुचि न थी।[1]

लगभग 440 ई० में संघनन्द ने जीवनलीला समाप्त कर दी। गुणवर्मन ही उत्तराधिकारी राजकुमार था। उसके सामने जब राज्य-सिंहासन पर अभिषिक्त होने का प्रश्न रखा गया, उसने अस्वीकार कर दिया और बौद्ध-संघ में जाकर प्रव्रज्या ग्रहण कर ली। भिक्षु गुणवर्म ने बौद्ध विद्वानों के चरणों में बैठकर बौद्ध-शास्त्रों का ज्ञानार्जन किया। अध्ययन के बाद गुणवर्म ने यात्रा प्रारम्भ की। वे बौद्ध धर्म का प्रचार करते हुए पैदल ही लंका पहुंचे। बौद्ध धर्म की सुदृढ़ नींव पर लंका को खड़ा करने का श्रेय गुणवर्म को ही है। यह ठीक है कि अशोक के बेटे महेन्द्र और बेटी संघमित्रा ने लंका में बौद्ध धर्म का विटप रोपित किया। किन्तु अभिषिंचित कर पूर्णता तक पहुंचाने का श्रेय गुणवर्म को ही है।

भिक्षु गुणवर्म वैदिक तथा बौद्ध धर्म के समन्वयात्मक विचारों के वैसे ही व्यक्ति थे जैसे वाग्भट। वे महायान सम्प्रदाय के समर्थक थे। लंका से चलकर वे जावा गये। जावा की राजमाता को उन्होंने ही बौद्ध धर्म की दीक्षा दी थी। सन् 424 ई० में

---

1 Prince Gunverman, a scion of the royal house of Kashmir, was from his childhood very pious. He was heir apparent to the Throne of Kashmir, but showed no desire for worldly power and pomp. He devoted his time to study and religion, in meditation and in the performance of noble and charitable deeds. Patriots, March 13, 1966.

चीन के सम्राट् ने भिक्षु गुणवर्म को चीन आमन्त्रित किया। वे एक भारतीय जहाज में बैठकर चीन गये। यह जहाज भारत के एक व्यापारी 'नन्दिश्रेष्ठि' का था। चीन में गुणवर्म का बड़ा सम्मान हुआ। नानकिंग नगर में गुणवर्म का संघस्थान था। कुछ ही महीनों के उपरान्त चीन में ही अचानक उन्होंने अपनी जीवनलीला समाप्त कर दी। अपने महापरिनिर्वाण के समय वे पैंसठ वर्ष के थे। सन् 420 ई० से 500 ई० तक इधर आचार्य वाग्भट कश्मीर की उस प्रतिष्ठा को बढ़ाते रहे, जिसे अपने त्याग द्वारा गुणवर्म ने प्रतिष्ठित किया था। इसीलिए आचार्य वाग्भट ने लिखा, 'सब धर्मों में मध्यमावृत्ति रखें। धर्म कोई हो, राष्ट्र का हित होना चाहिए।

कश्मीर में धर्म, दर्शन, साहित्य के अतिरिक्त विज्ञान की जो महान् रचनाएं हुईं, उनमें चरक के बाद वाग्भट का स्थापत्य एक अमर इतिहास बन गया। भारत के इतिहास में कश्मीर और कश्मीर के इतिहास में वाग्भट सदैव चमकते रहेंगे।

वाग्भट कश्मीर के राजभवन में राजा की अन्न-पान व्यवस्था के अधिकारी थे। उनके अन्नपान रक्षाध्याय[1] से यह ध्वनि निकलती है। अध्याय का उपक्रम और उपसंहार राजभवन को दृष्टि में रखकर ही लिखा गया है। राजाओं के महानस का सुन्दर चित्रण उसमें प्रस्तुत हुआ है। इस प्रसंग में वाग्भट के दो प्रयोग अत्यन्त उल्लेखनीय हैं—

1. विष खा लेने के कारण हृदय के अवसाद (depression) को रोकने के लिए मधु के साथ ताम्र-भस्म का प्रयोग।

2. रक्त में मिश्रित विष के प्रभाव को शरीर धातुओं से दूर करने के लिए गोदुग्ध के साथ थोड़ी-थोड़ी करके तीन माशे स्वर्ण-भस्म खिलाना चाहिए।

ताम्र-भस्म की मात्रा वाग्भट ने नहीं लिखी। किन्तु उसके बाद स्वर्ण-भस्म की चर्चा करते हुए तीन माशा सामान्य मात्रा दी है। इसलिए ताम्र-भस्म की मात्रा भी तीन माशे ही होनी चाहिए। दो-दो रत्ती की एक मात्रा बनाकर प्रातः-सायं देने से यह पूर्ण-मात्रा छः दिन में देना उचित होगा। फिर आयु और बलाबल देखकर वैद्य स्वयं इसका निर्णय कर सकते हैं, क्योंकि मात्रा का अवस्थान सम्भव नहीं।[2]

आयुर्वेद में अनुष्टुप् और आर्या छन्द लिखने की प्राचीन परिपाटी चली आ रही थी। वे वस्तु-प्रधान छन्द होते थे, स्वर-प्रधान नहीं। किन्तु वाग्भट ने शार्दूल-विक्रीडित, मालिनी, द्रुतविलम्बित, वसन्ततिलका, उपजाति, कुसुमितलता वेल्लिता, शालिनी, हरिणी, इन्द्रवज्रा, उपेन्द्रवज्रा आदि श्रुति-मधुर छन्दों का प्रयोग किया। आचार्य पिंगल के बनाये हुए राजमार्ग पर मालिनी, वसन्ततिलका और कुसुमितलता वेल्लिताओं में द्रुतविलम्बित पदन्यास करते हुए शार्दूल-विक्रीडित एवं शालिनी और हरिणी का परिचय धीर ललित भावनाओं को इतना परिपुष्ट कर देता है कि विषय-प्रतिपादन के

---

1. अष्टा० हृ०, सू०, अ० 7
2. मात्राया नास्त्यवस्थानं दोषमग्निं बलं वयः।
   स्वाभावं प्रकृतिं चैव वीक्ष्य मात्रां प्रयोजयेत् ॥—चरक
   'वाग्भट के यह दोनों प्रयोग अष्टा० हृ० सू०, अ० 7 में 22-28 श्लोक तक देखिये।

गुरुतर प्रयास की क्लान्ति अनुभव ही नहीं होती। वाग्भट की लेखन-शैली में वह माधुर्य पदे-पदे है।

वाग्भट का युग लेख-युद्ध का युग था। लेखों द्वारा कौन अपने विचारों को जन-साधारण में चिरस्थायी कर दे, यही उस युग का संघर्ष था। उस युग के विद्वानों में बड़ी प्रतिस्पर्धा थी। प्रतीत होता है कि प्रतिद्वन्द्वी लोग अपने विपक्षियों के श्रमपूर्वक लिखे गये ग्रन्थों को अवसर पाकर नष्ट कर देने का दुष्कृत्य भी करते थे। वाग्भट ने इस बुरी प्रकृति की निन्दा की है—'ग्रन्था विशाला इव दुर्गृहीताः'।[1]

वाग्भट के समय बौद्धों का व्यावहारिक जीवन अन्य धर्मों के प्रति सहानुभूतिपूर्ण होने के बजाय द्वेषपूर्ण था। वे विदेशी आक्रान्ताओं की सहानुभूति प्राप्त करने के लिए उनका सहयोग करते थे और उनके सहारे जनता पर बौद्ध अनुशासन का आतंक। मीनेन्द्र, कनिष्क, मिहिरकुल, तोरमाण—सभी अपने राजनैतिक स्वार्थों को पूर्ण करने के लिए बौद्ध बनते रहे और यहां के बौद्ध अपना राजनैतिक और धार्मिक आतंक जनता पर स्थापित करने के लिए उनकी चाटुकारी करते। यदि बौद्ध संघ ने इन आक्रान्ताओं का सहयोग न किया होता तो वे यहां टिक नहीं सकते थे। इस दुष्प्रवृत्ति के राजनैतिक परिणाम जो हुए सो हुए, जनता में सिर और मूंछ मुंड़ाये बौद्ध भिक्षुओं का दर्शन मांगलिक अवसरों पर अशुभ माना जाने लगा था। 'दूतादि विज्ञानीय' अध्याय में अशुभ चिह्न में 'मुण्ड श्मश्रु'[2] का उल्लेख भी वाग्भट ने किया है। दूसरी ओर वाग्भट ने वैदिक संस्कारों का प्रबल समर्थन किया। जातकर्म के विधान का उल्लेख उन्होंने वेद का मन्त्र लिखते हुए किया।[3] रसायन विधान में आथर्वण विधि तथा विषवारण में सामवेद का वैदिक गान उन्होंने उपयुक्त कहा।

वाग्भट की शिष्य-परम्परा में इन्दुकर तथा जेज्जट के नाम पीछे आये हैं। इन्दुकर के पुत्र माधवाचार्य ने 'माधव निदान' लिखा। 'माधव निदान' की शैली और निदान-लक्षण अधिकांश वाग्भट के ही हैं। वाग्भट ने ही निदान का परिमार्जन इस

---

1. अ० हृ०, उत्त० 39/149
2. तथा मुण्डं कृत वपनं श्मश्रु मुख व्यञ्जनं यस्य'। —अ० हृ०, अरुणदत्त व्याख्या, शारी० 6/2
   बौद्ध भिक्षुओं के लिए मौर्यकाल में 'क्षपणक' शब्द प्रयोग होने लगा था। यह कुत्साद्योतक विशेषण सामाजिक अश्रद्धा का द्योतक ही है। क्षपणक का शब्दार्थ है 'रात को नोंदा करने वाला'। यह कुत्सापरक शब्द भी व्यवहारसिद्ध हो गया। 'धन्वन्तरि क्षपणकामरसिंह शङ्कु' संस्मरण में भी हम क्षपणक शब्द का प्रयोग देखते हैं। कौटिल्य ने 'क्षपणक' शब्द का प्रयोग कई बार किया।
3. अथास्य दक्षिणे कर्णे मन्त्रमुच्चारयेदिमम् ॥
   अङ्गादङ्गात्संभवसि हृदयादधि जायसे।
   आत्मा वै पुत्र नामासि स जीव शरदां शतम्।
   प्राजापत्येन विधिना जात कर्माणि कारयेत्। —अ० हृ०, उत्त० 1/1-11
   अथर्वमन्त्रादि कृताश्चकृत्याः—
   शाम्यन्त्यनेनातिबलाश्च वाताः ॥ —अ० हृ०, उत्त०, 39/53
   विततं श्रावयेत्साम वेणुगीतादि निस्वनम्। —अ० हृ० कल्प, 3/39

सुन्दर शैली से किया कि वह जनता को बुद्धिगम्य और सुगम हो सका। 'माधव निदान' का 'पञ्चलक्षण निदान' आयुर्वेद साहित्य का गौरवपूर्व प्रसंग है। किन्तु वह माधव का नहीं है, वाग्भट से ही उद्धृत किया गया है।

एक बात विचारणीय अवश्य है, 'पराशरमाधव', 'काल-माधव', 'जैमिनिन्याय-माला विस्तार', 'सर्वदर्शन संग्रह' तथा 'शंकर दिग्विजय' नाम के ग्रन्थ भी माधवाचार्य नामक विद्वान् के ही लिखे हुए हैं। क्या सम्पूर्ण ग्रन्थ एक ही माधव के हैं ? इस प्रश्न की गहराई में अभी प्रमाणों की खोज अपेक्षित है। इन्दुकर के पुत्र माधव छठी शती के उत्तरार्ध में हुए और शंकराचार्य आठवीं शती के उत्तरार्ध में। तब 'शंकर दिग्विजय' तथा 'माधव निदान' के लेखकों के बीच दो सौ वर्ष का अन्तर होना चाहिए।

हां, स्पष्टवादिता में वाग्भट को प्रथम श्रेय मिलना चाहिए। उन्होंने पुराणों के अमर्यादित चित्रण पर मौन धारण नहीं किया और बौद्ध अथवा जैन गरिमा को गिराने का प्रयास भी नहीं किया। सच्चे अर्थों में उनके भागवत होने का यही प्रमाण है कि वे समन्वयवादी थे। 'जात-पात पूछे नहि कोई, हरि को भजै सो हरि का होई'। फिर आयुर्वेद की दृष्टि से एक प्राणाचार्य किसी जाति अथवा धर्म के हाथ नहीं बिका।

स्वप्नविज्ञान पर वाग्भट के अनुसंधान सबसे बढ़कर हैं। दृष्ट, श्रुत, अनुभूत, प्रार्थित, कल्पित, भाविक तथा दोषज—सात प्रकार के स्वप्नों का विश्लेपण उन्होंने किया है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से उक्त सात वासनाओं से सात प्रकार की चित्त-वृत्तियां निर्मित होती हैं। उन्होंने लिखा—प्रथम पांच वृत्तियों से होने वाले स्वप्न प्रायः निरर्थक होते हैं। एक बुरा स्वप्न देखकर निद्राभंग हो जाय, उसके उपरान्त फिर सो जाने पर यदि मांगलिक स्वप्न हो तो पीछे वाला मांगलिक स्वप्न ही फलवान् होगा। यदि स्वप्न उसी दोष की प्रधानता से हो जो देखने वाली की प्रकृति का दोष है, तो स्वप्न निरर्थक है। दिन में देखा स्वप्न निरर्थक है। प्रभात में देखा गया स्वप्न, जिसके बाद फिर निद्रा न रहे, फलवान् होता है।[1]

वाग्भट चरक सम्प्रदाय के व्यक्ति थे, यह पीछे कहा जा चुका है। चरक में आत्रेय के उपदेश ही वाग्भट के ग्रन्थों की आधारशिला है।[2] तो भी यह नहीं कह सकते कि वाग्भट मौलिक नहीं हैं। रस तथा दोषों का वैज्ञानिक विवेचन जो वाग्भट ने दिया है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। तो भी वाग्भट ने प्रत्येक अध्याय के आरम्भ में लिखा है—'इतिहस्माहुरात्रेयादयोमहर्षयः'। न केवल यही उन्होंने प्रारम्भ में ही कहा—आत्रेय और उनके शिष्यों ने पृथक्-पृथक् तन्त्र लिखे। मैं उन्हीं विस्तृत ग्रन्थों का संक्षेप लिख रहा हूं।[3]

---

1. अष्टाङ्ग हृदय, शारी०, अ० 6
2. यं नरं सहसा रोगो दुर्बलं परिमुञ्चति।
   संशयं प्राप्तमात्रेयो जीवितं तस्य मन्यते॥ —अ० हृ०, शारी०, 5/128
3. तेभ्यऽयोति विप्रकीर्णेभ्यो प्रायः सारतरोच्चयः।
   क्रियतेऽष्टाङ्ग हृदयं नाति संक्षेप विस्तरम्॥ —अ० हृ० सू० 1/4–5

वाग्भट के युग में जिन विचारों का संघर्ष चल रहा था, उन्हें ही दृष्टि में रखकर उन्होंने मनुष्य की प्रकृति का वैज्ञानिक विश्लेपण दिया—

1. वात-प्रकृति पुरुप—वकवादी, नास्तिक, झगड़ालू और पेटू होते हैं।

2. पित्त-प्रकृति—सच्चरित्र, वलवान, प्रेमी, वुद्धिमान्, विद्वान् तथा धर्माधर्म के झगड़े से अलग रहते हैं।

3. कफ-प्रकृति—सुन्दर, धर्मात्मा, स्थिरचित्त, श्रद्धालु, प्रेमी, उपेक्षाशील, दूरदर्शी, भक्त तथा आस्तिक होते हैं।

उनकी धारणा थी कि प्रकृति में दोषों के स्वाभाविक उतार-चढ़ाव होते हैं, और तदनुसार समाजिक विचारधाराएं चला करती हैं। यद्यपि वुद्ध भगवान् ने कभी अपने को नास्तिक नहीं कहा, तो भी उनके अनुयायी शताब्दियों तक नास्तिक वादी मान्यताओं पर आरूढ़ रहे। यह तत्कालीन प्राकृतिक वात वृद्धि थी। इसीलिए नास्तिकवाद जोर पकड़े रहा। किन्तु वात की उग्रता प्रकृति में घटी, नास्तिकवाद घटा और आस्तिकवादी विचार प्रवल हुए। वाग्भट का दृष्टिकोण यह है कि धार्मिक उतार-चढ़ाव प्रयास के फल नहीं हैं, स्वाभाविक हैं।[1]

स्वास्थ्य की दृष्टि से वाग्भट के युग का पुरुप स्वस्थ और चिरजीवी होता था। उन्होंने लिखा है—सोलह वर्प तक वालक, सत्तर वर्प तक यौवन, 'तदुपरान्त वुढ़ापा।[2]

स्वास्थ्य के सिद्धान्त भी धर्म में ही गिने जाते थे। वाग्भट का धर्म स्वास्थ्य-धर्म है। उन्होंने उसी पर वल दिया।[3] विना स्वास्थ्य-धर्म के मोक्ष-धर्म कौड़ी काम का नहीं होता। वाग्भट प्रकृति के प्रत्येक पदार्थ को स्वास्थ्य का सन्देशवाहक मानते थे। उनका सदुपयोग हमें ज्ञात होना चाहिए। वाग्भट ने इसी धर्म को मानवता का माध्यम स्वीकार किया। प्रत्येक वस्तु का सदुपयोग जानो, विश्व में व्यर्थ कुछ नहीं—मन्त्र का वल प्रत्येक अक्षर में है। औपधि का गुण प्रत्येक द्रव्य में है। काम करने की योग्यता प्रत्येक पुरुप में है। उनसे काम लेने वाले ही नहीं मिलते। वही जानो।[4]

कहते हैं एक वार आचार्य वाग्भट अपने शिष्यों के साथ उद्यान में घूम रहे थे। शिष्य औपधियों का परिचय करते और गुण-दोप पूछते थे। आचार्य उत्तर देते जाते थे। सहसा 'कुर्च' पक्षी वोल उठा—'कोरुक्, कोरुक्, कोरुक !' एक शिष्य ने विनोदपूर्वक कहा,

---

1. अ० हृ० शारीर० अ० 3
2. वयस्त्वाषोडशाद्बालं तत्र धात्विन्द्रियौजसाम् ।
   वृद्धिरासप्ततेर्मध्यं तत्रावृद्धिः परंक्षयः ॥—अ० हृ० शा० 3/105
3. दान शील दया सत्य ब्रह्मचर्य कृतज्ञताः ।
   रसायनानि मैत्री च पुण्यायुर्वृद्धिकृद्गणः ॥—अ० हृ० शा० 4/120
   नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः ।—उपनिषद्
4. नानन्तमक्षरं निर्मूलं च द्रव्यमनौषधम् ।
   नायोग्यः पुरुषः कश्चित् प्रयोक्ता एव दुर्लभः ॥

'गुरुवर ! यह पक्षी भी आपसे कुछ पूछ रहा है। क्या आप उसके प्रश्न का उत्तर नहीं देंगे ?'

'आयुष्मान ! पक्षी क्या पूछ रहा है ?'

'आचार्य ! उसका प्रश्न है कोऽरुक ? कोऽरुक् ? कोऽरुक् ?—अरुक् = रोगहीन कः ? कौन ? अरुक् कः ? रोगहीन कौन ? रोगहीन कौन ?

वत्स, प्रश्न बहुत अच्छा है। लो उसका उत्तर सुनो—

जीर्णे हित मित भोजी, शतगामी वामशायी च ।
अविजित सूत्र पुरीषी खगेन्द्र ! सोऽरुक्, सोऽरुक्, सोऽरुक् ।।[1]

चरक ने चिकित्सा के दो भेद बताए—संशोधन और संशमन। दोनों की लम्बी-लम्बी व्याख्याएं दी हैं। स्मरण करने में श्रम और समय दोनों चाहिए। बुद्धिमान् व्यक्ति ही हृदयंगम कर सके। आचार्य वाग्भट से अध्ययन करते हुए शिष्यों ने पूछा—इस लम्बे प्रसंग का सार बताइये ? वाग्भट बोले, सुनो—

शरीरजानां दोषाणां क्रमेण परमौषधम् ।
बस्तिर्विरेचको वमनं तथा तैलं घृतं मधु ।।

शरीर में होने वाले दोषों का वात, पित्त, कफ शोधन करना हो तो वात में वस्ति, पित्त में विरेचन, कफ में वमन एवं शमन करना हो तो क्रम से तैल, घृत और मधु खिलाइए। बस आयुर्वेदिक चिकित्सा का सार यही है। अन्य सब कुछ इसी सूत्र की व्याख्या है। चिकित्सा-पथ पूर्ण हो गया।'

कालार्थ कर्मणां योगा हीन मिथ्यातिमात्रकाः ।
सम्यग्योगश्च विज्ञेयो रोगा रोग्यैक कारणम् ।।

ऋतु, पदार्थ, और कर्म का हीन, मिथ्या, तथा अति योग रोग का कारण है, और सुयोग स्वास्थ्य का। बस सम्पूर्ण निदान पूरा हो गया। अचार्य के निर्मल ज्ञान और सुलझी हुई प्रतिभा का इससे उत्तम दिग्दर्शन और क्या हो सकता है ?

वाग्भट के युग तक आयुर्वेद में जड़ी-बूटियों के अतिरिक्त पारद, लौह, उपलौह का प्रयोग भी होने लगा था।[2] उस युग तक 'लौह' संज्ञा के अन्तर्गत चांदी, तांबा, सीसा, पीतल तथा लोहा, इन पांच धातुओं की गणना होती थी। सोना लोह नहीं था। वह इन पांचों से भिन्न स्वतन्त्र धातु था। क्योंकि उसकी रासायनिक प्रक्रिया इन पांचों से भिन्न है।

---

1. पहला भोजन पच जाने के उपरान्त पथ्य और मात्रानुकूल भोजन करने वाला, भोजन के उपरान्त कम से कम सौ पग अवश्य चल लेने वाला, सोते समय बायीं करवट सोने वाला, मल और मूत्र के वेग को कभी न रोकने वाला पुरुष ही स्वस्थ है। पक्षिराज ! तुम्हारे प्रश्न का इतना ही उत्तर है।—स्वर्गीय गुरुवर श्री उमाशंकर जी द्विवेदी आयुर्वेदाचार्य द्वारा प्राप्त।
2. मधकेनतवा क्षीर्या पिप्पल्या सिन्धु जन्मना ।
   पृथग्लो हे सुवर्णेन वचया मधुसर्पिषा ।।—अ० हृ० उत्त० 39/42
   लोहः रूप्यं ताम्रसीसं त्रपु अय इति पञ्च। तैः सुवर्णेन च पृथग्युक्ता वरा रसायनमिति योज्यम्।—अरुणदत्त व्याख्या।

यह निश्चय है कि रासायनिक प्रक्रिया के बारे में उस युग के वैज्ञानिकों की जानकारी बहुत बढ़ी-चढ़ी थी। चिकित्सा में पारद का प्रयोग वाग्भट के समय तक निर्विवाद और सर्वसम्मत नहीं हो सका था। वाग्भट के ग्रन्थों में पारद का उल्लेख नहीं है। उन्होंने औषधियों के वर्गीकरण में पारद का उल्लेख नहीं किया और न ही वैसे प्रयोग लिखे जिनमें पारद का प्रयोग हो। हां एकाध हिंगुल के बहिःप्रयोग अवश्य लिखे हैं।[1] रसायन विज्ञान पर अष्टाङ्ग हृदय के सूत्र स्थान का नवां अध्याय देखने योग्य है। यद्यपि वह खोज आत्रेय की है, तो भी वाग्भट की शैली कैसे भुला दी जाय?

यद्यपि औषधिशास्त्र में स्वर्ण और लौह का प्रयोग नागार्जुन से पूर्व (200 ई० पूर्व) भी हो चुका था, किन्तु इस युग को पारद का उपयोग सुझाने का श्रेय नागार्जुन को ही मिला। पारद के इस विकास में बौद्ध भिक्षुओं ने ही अधिक अनुसन्धान किये। प्रतीत होता है कि योजनाबद्ध आन्दोलन खड़ा करके जनता में पारद का प्रचार किया गया। रसपूजा, ध्यान, तथा सिद्धि के साथ-साथ रसेश्वर दर्शन तक लिख डाले गये।[2] इस आन्दोलन में बौद्ध, वैदिक, जैन और लोकायत—सभी शामिल थे। पारद को 'रस' नाम दिया गया और 'रसो वै सः।'—'रसंह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति' इत्यादि श्रुतियों का समन्वय भी इसी रस (पारद) में कर दिया गया। किन्तु यह आन्दोलन वाग्भट के युग तक उतना प्रभावशाली न था जितना वह बाद को हुआ। वाग्भट के एक सौ वर्ष बाद तो सिद्धों का सम्प्रदाय केवल इसी आन्दोलन का सूत्रधार था।

वाग्भट के बाद आचार्य शंकर के गुरु भगवद्गोविन्दपाद ने इसी विषय पर 'रस हृदय तन्त्र' नामक ग्रन्थ ही लिखा। भिक्षु लोग पहले से भी रस के प्रयोग सर्व-साधारण को बताते नहीं थे।[3] किसी शिष्य पर बहुत अनुराग प्रकट करने के लिए एकाध प्रयोग बताया तो बताया, अन्यथा वह 'गोप्य' ही रहता रहा। वाग्भट ने भिक्षुओं के इस झगड़े में पड़ना उचित नहीं समझा। जिनके हृदय में जनहित और करुणा है, वे चिकित्सा जैसे तत्त्व को 'गुप्त' कैसे रख लेते? यदि भिक्षुओं की वह क्षुद्र भावना ही सब में होती तो धन्वन्तरि, आत्रेय और वाग्भट के अमूल्य ग्रन्थ हमें न मिलते। परमार्थ ही जिनका स्वार्थ है, वे उंगलियों पर गिने जाने वाले महापुरुष धन्य हैं। चरक ने यही कहा था—

'नार्थार्थं नापि कामार्थमथ भूत दयां प्रति।
वर्त्तते यश्चिकित्सायां स सर्वमतिवर्त्तते॥'

'अर्थ और काम की वासना त्यागकर दया-भाव से प्राणि-मात्र की चिकित्सा करने से बढ़कर दूसरा पुण्य नहीं।' मानवों की ही क्या, हाथी, घोड़े, पशु और पक्षियों की चिकित्सा पर ग्रन्थ लिखने वाले वे महापुरुष यदि भगवान् माने गये तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। वाग्भट उन्हीं के अनुचरों में से एक परम-भागवत थे।

---

1. सिद्धं सिक्थक सिन्दूर पुर तुत्थक तार्क्ष्यजैः।
कच्छूं विचर्चिकां वातु कटु तैलं नियच्छति॥ अ० हृ०, चि०, 19/84
2. 'सर्वदर्शन संग्रह' में रसेश्वर दर्शन देखिये।
3. रस विद्या सदा गोप्यामातृगुह्यमिव ध्रुवम्॥ —र० हृ० तन्त्र

'वालामय' प्रसंग वाग्भट ने बड़े विस्तार से लिखा है। इसमें वालक के जातकर्म, नामकरण, अन्न-प्राशन आदि वैदिक संस्कारों का विधान है।[1] और उससे वढ़कर वाल-रोगों के निदान एवं चिकित्सा का विवेचन है। इसमें वाग्भट के गम्भीर वैज्ञानिक अनुभवों का उल्लेख है। कश्यप ने स्वर्ण तथा ब्राह्मी का प्रयोग शिशु को सूतिका-गृह में देने के लिए लिखा था। वाग्भट ने उस प्रयोग में थोड़ा परिवर्धन करके लिखा—स्वर्ण, वचमीठी, ब्राह्मी, स्वर्णमक्षिक तथा हरड़ का प्रयोग बनाकर मधु एवं घृत (विषम मात्रा में) के साथ देना चाहिए; अथवा स्वर्ण और आंवले का चूर्ण—दो द्रव्यों का प्रयोग भी पर्याप्त है।

शिशु के जन्म के उपरान्त तीसरे या चौथे दिन तक स्त्री की शिरायें दुग्ध वहन कर पाती हैं। इसलिए इन तीन-चार दिन मधु में किंचित् घृत मिलाकर दिन में तीन बार तक देना पर्याप्त है। दूसरे दिन दो बार और तीसरे दिन तीन बार तक माता के स्तन से भी दूध पिलाना चाहिए। चौथे दिन से यथोचित माता का ही दूध देना उचित है। शोक, क्रोध, लंघन तथा थकान से माता का दूध सूख जाता है। इसलिए इनका निवारण करो। छठे दिन शिशु के स्वास्थ्य में अनेक उपद्रव होते देखे जाते हैं, इसलिए उस दिन और रात को सजग रहकर बच्चे का ध्यान रखने की आवश्यकता है। घर का वातावरण प्रसन्नतापूर्ण रखना चाहिए।

पांच मास से पूर्व बच्चे को भूमि पर नहीं बैठाना चाहिए। छठे मास अन्नप्राशन हो। सातवें या आठवें मास शीत ऋतु में बच्चे का कर्णवेध करना चाहिए। कान पीछे की ओर से वेधना चाहिए। हल्की धूप में बैठकर देखें—जहां सूर्य की किरणें झलकें तथा कोई नाड़ी न हो, वही वेध स्थान है। छिद्र बाहर की ओर झुका न हो, गण्डस्थल की ओर झुकना चाहिए। यदि इन बातों की उपेक्षा हुई तो वेध के बाद कान सूजेगा, दाह बढ़ेगा, मूर्च्छा हो सकती है। गर्दन जकड़ सकती है। बहुधा अपतानक (Titenus) जैसी भयानक बीमारी का आविर्भाव होते भी देखा जाता है।

छेदने वाली सूई को घी या शुद्ध तैल में गरम कर लेना चाहिए। डोरा स्वच्छ तथा औषधिसिद्ध हो। छेदने के बाद औषधिसिद्ध तैल नित्य लगाएं। धीरे-धीरे आभूषण पहना दें। बालक का दाहिना कान और बालिका का बायां कान पहले छेदें। दांत निकलने के साथ-साथ मां का दूध कम करते जाएं। फल, चिरौंजी, शहद, धान की खीलें, धान के सत्तू, यथामात्रा दें। बच्चा चंचलता के कारण तुम्हारी आज्ञा न माने तो उसे मारपीटकर, आंखें दिखाकर भयभीत न करें। अन्यथा उसे भयानक रोग होंगे। स्वास्थ्य गिरेगा और दुर्बल रहेगा। शान्ति से सान्त्वना देकर प्रेम से उचित और अनुचित का बोध कराएं।

वे मौलिक बातें जिन पर माता-पिता बहुधा अज्ञानवश गलतियां करते रहते हैं, वाग्भट ने विस्तार से लिखी हैं। वाग्भट का कौमारभृत्य कमनीय है। सम्पूर्ण प्रसंग यहां लिखना संभव नहीं है। वह उनके ग्रन्थों में ही देखना चाहिए।

---

1. प्राजापत्येन विधिना जातकर्माणि कारयेत्। —अ० हृ० उत्त० 1

वाग्भट चरक सम्प्रदाय के ही थे। चरक ने भूतजन्य रोगों पर अनास्था प्रकट की है। उन्होंने लिखा है कि यह अपनी ही बुद्धि का विकार है, किसी भूत-प्रेत का कोई प्रभाव नहीं है।[1] किन्तु इस विषय में वाग्भट ने चरक का सहयोग नहीं किया। उन्होंने बाल-ग्रह तथा भूत-विद्या पर उत्तर स्थान में पर्याप्त लिखा है। बाल-ग्रह प्रारंभ करते ही उन्होंने लिखा--"प्राचीन काल में शंकर के पुत्र कार्तिकेय का जन्म हुआ। शंकर और गौरी को लोक-व्यवस्था से इतना अवकाश कहां कि उसे गोद में लिये रहें। इसलिए उन्होंने उसकी रक्षा के लिए पांच पुरुष देही तथा सात स्त्री देही ग्रहों का निर्माण किया। स्कन्द, विशाख, मेष, श्वग्रह, और पितर--यह पांच पुरुष देही ग्रह। शकुनि, पूतना, शीत पूतना, दृष्टिपूतना, मुखमण्डलिका, रेवती और शुष्क रेवती--ये सात स्त्री-विग्रह ग्रह निर्मित हुए। ये ग्रह फिर मरे नहीं। अब तक औरों के बच्चों को कष्ट देते हैं? इनका सामान्य लक्षण यह है कि शिशु को तीव्र ज्वर होगा तथा वह निरन्तर रोता रहेगा। प्रत्येक ग्रह का अलग-अलग लक्षण भी लिखा, चिकित्सा भी लिखी।[2]

इतने तार्किक और विद्वान् व्यक्ति ने यह प्रश्न नहीं उठाया कि औरों के बच्चों को यह ग्रह क्यों कष्ट देते हैं? वे रक्षा के लिए बने थे, कष्ट क्यों देने लगे? किन्तु लोक-प्रवाह तर्क पर ताला डाल देता है। किन्तु इनके साथ जुड़ी हुई पौराणिक गाथा केवल अर्थवाद है। वह उसी प्रकार है जैसे दक्ष के यज्ञ में दुर्गा के सती हो जाने के बाद शंकर को क्रोध आ गया। वह क्रोध ज्वर बनकर अभी तक प्राणियों को कष्ट दे रहा है। इस अर्थवाद से जनता में रोग से भय अवश्य फैला, किन्तु वह चरक से भी प्राचीन विभीषिका वाग्भट के हटाये न हटी। वे चरक जैसी निर्भीकता लेकर यह न कह सके कि यह हमारा ही बुद्धि-विभ्रम है।

वस्तुतः मनुष्य की बुद्धि जहां थक जाती है, वहां इस प्रकार की काल्पनिक मान्यताएं बन जाती हैं। आधुनिक चिकित्सा में 'एलर्जी' ऐसी ही कल्पना है जिसका निदान बुद्धिगम्य नहीं हो सका।

चरक के सैकड़ों श्लोक एकाध शब्द-परिवर्तन के साथ वाग्भट ने अपने ग्रन्थों में ले लिये हैं। किन्तु वाग्भट की निर्व्याज कृतज्ञता एक प्रसंग पर देखिये--सम्पूर्ण अष्टाङ्गहृदय लिखने के बाद अन्त में लिखा, "इस प्रकार अग्निवेश ने अपने सहाध्यायी भेड आदि के साथ भक्तिभाव से आयुर्वेदार्थ हृदयंगम किया। और फिर यह पूछा, "भगवन्! इस चिकित्साशास्त्र से क्या लाभ जबकि पथ्यभोजी लोग भी रोगी होते और मरते हैं?"

यह सुनकर करुणापूर्ण आत्रेय ने अपने शिष्यों को चिकित्सा की उपयोगिता बताई--"मनुष्य युक्ति और उपाय-जीवी प्राणी है। जहां तक उसकी युक्ति और उपाय चल सकते हैं, वह मर नहीं सकता। जहां से युक्ति और उपाय की सीमा समाप्त होती

1. न पिशाचा न गन्धर्वा न देवा न राक्षसाः।
न चान्ये स्वयमक्लिष्टमुपक्लिश्यन्ति मानवम् ॥ —चरक संहिता

2. भूतेशं पूजयेत् स्थाणुं प्रमथाख्यांश्च तद्गणान्।
जपन् सिद्धांश्च मन्त्रांश्च ग्रहान्सर्वानपोहति ॥ —अ० हृ०, उ० ३, 5,52

है, वहां जीवन समाप्त होता है। किन्तु जो प्रमादी युक्ति और उपाय के बिना ही हाथ पर हाथ रखे दैव की ओर देखते हैं, वे अकाल ही मृत्यु के गाल में चले जाते हैं। यह युक्ति और उपाय का निर्देष्टा ही 'प्राणाचार्य' है।"

ऐसा लगता है वाग्भट के सम्पूर्ण लेख आत्रेय के उपदेश का अनुवाद (Repetition) मात्र हैं। इसीलिए उन्होंने प्रत्येक अध्याय के प्रारम्भ में लिखा, 'इति ह्स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः।'

भारतीय पंचयज्ञ के उच्च आचार दर्शन का यह कितना सुन्दर निर्वाह है? सचमुच वाग्भट ने मातृऋण, पितृऋण और ऋषिऋण---सब कुछ चुका दिया। वे एक शैली के कलाकार थे और रचना-सौन्दर्य के अधिष्ठातृ देवता! त्रिविक्रम भट्ट ने मानो वाग्भट को ही दृष्टि में रखकर कहा था---

प्रसन्नाः कान्तिहारिण्यो नानाश्लेषविचक्षणाः।
भवन्ति कस्यचित्पुण्यैर्मुखेवाचो गृहे स्त्रियः॥

कुछ भी हो, सदैव प्रसन्न, अम्लान सौन्दर्य से मन को हरने वाली तथा नाना श्लेष और आलिंगन से अनुपम, वाणी मुख में, और प्रियतमा घर में, किसी-किसी पुण्यात्मा के ही होती है।

वाग्भट ने किसी नवीन आविष्कार का दावा नहीं किया। कुछेक प्रयोग ऐसे हैं जो वाग्भट के संजोये हुए हैं। हिंग्वाष्टक चूर्ण की योजना वाग्भट की ही है। किन्तु निदान और चिकित्सा की जो शैली वाग्भट ने प्रस्तुत की वह सुश्रुत और चरक के पास नहीं थी। 'सुश्रुत संहिता' ने सामग्री का संचय किया। आत्रेय ने उसे दार्शनिक और ऐतिहासिक परिधान पहनाये, और वाग्भट ने उसे, शैली का सौन्दर्य संजोकर, नवोढ़ा कामिनी की भांति कमनीय बना दिया ---वह कमनीयता जिस पर आज भी विश्व मुग्ध है। सौन्दर्य वही है जो कभी पुराना नहीं होता। वाग्भट के बाद आज डेढ़ ह़ज़ार वर्ष बीत गये, आयुर्वेद विद्या उतनी ही सुन्दर है, उतनी ही कमनीय और उतनी ही मन-मोहिनी। भले ही उसमें नये आविष्कार नहीं हुए।

आयुर्वेद का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विषय 'नाड़ी विज्ञान' है। वाग्भट ने उसका कहीं उल्लेख तक नहीं किया। निदान, पूर्वरूप, रूप, उपशय तथा सम्प्राप्ति रोग-विज्ञान के यही पांच साधन आचार्य ने गिनाये।[1] इनमें नाड़ी-विज्ञान कहां है? केवल नाड़ी द्वारा रोग-निर्णय असंदिग्ध नहीं होता, इस कारण उस समय भी इसे रोग का असंदिग्ध ज्ञान-साधन नहीं माना गया था। नाड़ी में आज तक भी ऐसा निर्णय नहीं हो सका है, जिस पर प्रत्येक चिकित्सक सहमत हो सके। निदान असंदिग्ध होना ही सफल चिकित्सा का एकमात्र उपाय है। यद्यपि वाग्भट ने यह लिखा कि प्रत्येक रोग के दोष शरीर की नाड़ियों में प्रवाहित होते हैं, तभी रोग उत्पन्न करते हैं। परन्तु उस प्रवाह का परिचय 'नाड़ी-विज्ञान' है, ऐसा उल्लेख निदान-स्थान में भी नहीं है।

---

1. निदानं पूर्वरूपाणि रूपाण्युपशयस्तथा।
सम्प्राप्तिश्चेति विज्ञानं रोगाणां पंचधास्मृतम्॥---अ० हृ०, निदा० 1/2

रोगी के शरीर की परीक्षा के लिए दर्शन, स्पर्शन तथा प्रश्न—तीन मार्ग गिनाये गये। स्पर्शन का अर्थ यदि नाड़ी-परीक्षा ही मान लें तो वह कितना गौण सिद्ध होगा? जिसका कहीं स्पष्टीकरण तक नहीं। प्राचीन आर्ष संहिताओं में नाड़ी-विज्ञान ढूंढ़ना भी निष्फल है क्योंकि वाग्भट ने कहा है कि मेरा ग्रन्थ उन्हीं ऋषियों की संहिताओं का 'नाति संक्षेप विस्तर' है। वाग्भट ने अपने लेख में किसी प्राचीन अनुसन्धान को छोड़ा नहीं है।[1]

प्रतीत होता है वाग्भट के समय जैसे पारद चिकित्सा सर्वसम्मत नहीं थी, वैसे ही नाड़ी-विज्ञान की स्थिति भी विवाद का विषय बनी हुई थी। यद्यपि नाड़ी-विज्ञान पर अनेक छोटी-मोटी पुस्तकें उपलब्ध हैं, सम्भवतः उनमें से कुछेक वाग्भट के समय भी रही होंगी, किन्तु चोटी के प्राणाचार्यों ने उसे निर्विवाद और पूर्ण ज्ञान-साधन नहीं माना। नाड़ी-स्पर्शन के बाद भी दर्शन और प्रश्न की आवश्यकता बनी ही रहती है। चरक के चरित्र-चित्रण में हमने इस प्रश्न पर विचार किया है। किन्तु चरक सम्प्रदाय के अनुगामी होकर वाग्भट ने नाड़ी-विज्ञान पर एक अध्याय भी नहीं लिखा, यही नाड़ी-विज्ञान की दुर्बलता है।

प्रत्येक रोग में क्रुद्ध दोष रोगाधिष्ठान की ओर जाने वाली नाड़ियों में समाविष्ट होकर शरीर में प्रवाहित होते हैं।[2] इतना वक्तव्य नाड़ी-विज्ञान की व्याख्या नहीं है। दोषों की ऊर्ध्व, मध्य तथा अधोगति; कोष्ठ, शाखा तथा मर्मास्थिसन्धियों की स्थिति; स्थान, वृद्धि और क्षय की अवस्था; चय और प्रकोप—सभी का परिज्ञान यदि नाड़ी-विज्ञान द्वारा सम्भव होता तो वाग्भट को सूत्र तथा निदान स्थानों के विस्तृत विवेचन की आवश्यकता न होती।

नाड़ी-विज्ञान धमनियों की अनुभूति का विज्ञान है। वह थर्मामीटर की भांति निश्चित अंक बताने में समर्थ नहीं है। वैद्य की अनुभूति पर उसकी सत्यता की तौल होती है। इसलिए वैद्य का अज्ञान रोगी के प्राणों का ग्राहक हो सकता है। वैद्य भी डर-डरकर पग बढ़ाता है। रोग का निदान और चिकित्सा का विधान कितना कठिन हो उठता है? किन्तु सत्य यह है कि वह कठिन तो है ही। थर्मामीटर के निश्चित अंक देखकर भी वह कठिनाई कम नहीं होती। अनुभव और अनुभूति का मूल्यांकन कम नहीं होता। वाग्भट ने इसीलिए लिखा है—

"केवल शास्त्र रट लेने से कोई सफल वैद्य नहीं होता। चिकित्सा में सफलता पाने के लिए अभ्यास और अनुभूति भी चाहिए। रत्नशास्त्र पढ़कर कोई हीरे-जवाहरात का जौहरी नहीं होता, यदि दृष्टि में अभ्यास और सूझ-बूझ न हो।[3]

---

1. न नागमात्रमप्यत्र किञ्चिदागमवर्जितम्।
   तेऽर्थास्त ग्रन्थ वन्धश्च संक्षेपाय क्रमोऽन्यथा॥—अष्टा० संग्रह सूत्र०, 1
2. प्रतिरोगमितिक्रुद्धा रोगाधिष्ठान गामिनीः।
   रसायनीः प्रपद्याशु दोषा देहे विकुर्वते॥—अ० हृ०, नि० 1/24
3. अभ्यासात्प्राप्यते दृष्टिः कर्मसिद्धि प्रकाशिनी।
   रत्नादि सदसज्ज्ञानं न शास्त्रादेव जायते॥—अ० हृ० सूत्र, 12/56

नाड़ी-विज्ञान भी ऐसा ही विज्ञान है। सूझ-बूझ का विवेचन ही उसका विवेचन है।

वास्तविकता यह है कि वाग्भट ने अपने से पूर्व लिखे गये सम्पूर्ण आयुर्वेद वाङ्मय का सारांश लिखा। वह सचमुच अष्टाङ्गशास्त्र का हृदय ही है। आयुर्वेद की जीवनी-शक्ति उसमें स्पन्दित होती है। इसीलिए विद्वानों ने एक स्वर से स्वीकार किया—

'निदाने माधवः श्रेष्ठः सूत्रस्थाने तु वाग्भटः।
शारीरे सुश्रुतः प्रोक्तश्चरकस्तु चिकित्सिते॥'

आयुर्वेद में 'अष्टाङ्गहृदय' और 'अष्टाङ्ग हृदय' में भी सूत्र स्थान अपूर्व है।

वाग्भट के युग में संस्कृत-साहित्य अपने लालित्य-विकास की चरम सीमा पर था। वाग्भट के ग्रन्थों में अनुप्रास, उपमा, रूपक, श्लेष, उत्प्रेक्षा, स्वभावोक्ति, अर्थान्तर-न्यास तथा अवज्ञा आदि अलंकारों की भरमार है। ई० सन् 440 में गुणवर्मन् काश्मीर का राज्य त्यागकर भिक्षु हो गया। कुछ ऐतिहासिकों का विचार है कि उसके बाद राजगद्दी खाली पड़ी रही। उज्जैन के राजा हर्ष विक्रमादित्य की सहायता से अपनी योग्यता के कारण मातृगुप्त को कश्मीर का राज्य मिल गया। मातृगुप्त एक विद्वान् कवि थे। राज्य पाकर कश्मीर की प्रकृति-सुलभ सरस काव्य-सुधा उनकी वाणी से भी आविर्भूत हुई। उन्होंने नाट्यशास्त्र पर कोई ग्रन्थ रचा था। ऐतिहासिकों का विचार है कि यह 430 ई० का समय था। तब वाग्भट सिन्ध में ही थे। उसके बाद लोगों का विचार है कि राजा प्रवरसेन (द्वितीय) सिंहासन पर बैठे। मातृगुप्त ने कुल चार-पांच वर्ष राज्य करके प्रवरसेन के लिए राजगद्दी छोड़कर संन्यास ले लिया और काशीवास करने लगे।[1]

राज्य लेने से पूर्व प्रवरसेन तीर्थयात्रा करता रहता था। दूसरा विचार यह भी है कि कश्मीर का राज्य गुणवर्मन् नहीं, 'हिरण्य' का था। वह निःसंतान मर गया। उस समय प्रवरसेन, जो उसका भतीजा था, तीर्थयात्रा पर गया था, इसलिए मातृगुप्त अन्तरिमकालीन सम्राट् बनाये गये। दूसरी ओर गुणवर्मन् भिक्षु बनकर राज्य छोड़ गया और लंका तथा जावा होता हुआ चीन में मर गया। इस अवस्था में कश्मीर का राज्य सूना हो गया। स्थिति अस्तव्यस्त अवश्य हुई थी।

हम पीछे कह चुके हैं, वाग्भट का जन्म 420 ई० में सिन्धु देश में हुआ। प्रायः 455–456 ई० में सिन्ध में तोरमाण के आक्रमण से परेशान होकर वे कश्मीर आये और आजीवन वहीं रहे। इस युग में चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य का पुत्र कुमारगुप्त (प्रथम) 413 ई० से 455 ई० तक भारत का समाट् था। कश्मीर उसीका माण्डलिक राज्य था। वाग्भट उसीके युग में कश्मीर आये और स्कन्दगुप्त के बाद भी चार पीढ़ियों तक जीवित रहे। पुरुगुप्त, नरसिंहगुप्त, कुमारगुप्त, (द्वितीय) बुधगुप्त तथा वैन्यगुप्त सम्राटों के राज्य-काल भी वाग्भट ने देखे थे। वैन्यगुप्त के समय उन्होंने जीवन-यात्रा समाप्त कर दी। हमने लिखा है कि वाग्भट संभवतः राजवैद्य के रूप में कश्मीर के राजमहलों में भोजनाधिकारी

1. संस्कृत कविचरित चर्चा : श्री बलदेव उपाध्याय, पृ० 140

थे। उन्होंने वैद्य की राजनैतिक स्थिति का भी उल्लेख किया है। राजा को वैद्य का मकान अपने महल के समीप बनवाना चाहिए।[1] सविप और निर्विप अन्न की पहचान कैसे की जाय? कौन-कौन से पशु और पक्षी विपयुक्त अन्न का परिचय देते हैं, उनकी भिन्न-भिन्न अभिव्यंजनाएं वाग्भट ने लिखीं। भारतीय परिवारों में तोता, मैना, चकोर, मयूर आदि पक्षी तथा बिल्ली, बन्दर आदि पशु पालने की परम्परा बहुत प्राचीनकाल से चली आती है। यह भी कि गृहस्थ पहले इन्हें अपने भोजन का प्रत्येक द्रव्य खिलाकर, पीछे स्वयं खाएं। इस परिपाटी का कारण यही है कि ये प्राणी विपयुक्त अन्न को शीघ्र पहचानते हैं और उसे प्रकट कर देते हैं। उनकी अभिव्यंजनाओं से परिचित व्यक्ति समझ सकता है कि भोजन सविप है या निर्विप। राजभवन के लिए विद्वान्, चरित्रवान्, कर्मकुशल, दयालु तथा वैदिक आचार-विचार वाले वैद्य को नियुक्त करने की व्यवस्था आचार्य ने दी है।[2]

युद्धकाल में सेना शिविर में वैद्य की नियुक्ति का उल्लेख भी वाग्भट ने किया है। शिविर में एक उच्च पदाधिकारी की भांति वैद्य का सम्मान होता था। वह शल्य-चिकित्सा का भी उत्कृष्ट ज्ञाता होता था। प्रचुर औपधियों तथा यंत्रों का संग्रह उसके साथ रहता था। वैद्य का शिविर किसी ऊंची भूमि पर होता था। उसके शिविर की उच्चवेदिका पर एक राष्ट्रीय झण्डा लगा रहता था, जिसे देखकर दूर से रोगी उसके स्थान का परिचय पा सकें।[3]

इन राजकीय उल्लेखों से अनुमान है कि वाग्भट प्रवरसेन द्वितीय के राजभवन में भी सम्मानित थे। उनकी स्तुति में 'आगुल्फामलकञ्चुकाञ्चित' संभवतः कश्मीर के राजदरबार का ही वेश था।

कश्मीर का राजदरबार गुप्तकाल में विद्वानों का सत्कार करने के लिए प्रसिद्ध था। एक वैद्य के नाते ही नहीं, एक उत्कृष्ट विद्वान् के रूप में भी वाग्भट का सम्मान था। उनकी विद्वत्ता स्वयं प्रमाण बन गई थी। काश्मीर के कमनीय कासारों में, कलित कमलों में, झिलमिलाते झरनों में, मनोहारी मरालों में मानो वाग्भट का ही यश प्रतिबिम्बित हो रहा था। अरुणदत्त ने वाग्भट की समता व्यास जैसे चोटी के विद्वान् से की है।[4] उनकी कविता सुश्रुत की भांति केवल आयुर्वेद के वृत्त से ही वेष्ठित नहीं है, उसमें सरस साहित्यिक प्रवाह भी है। कहीं-कहीं तो प्रतीत होता है, आयुर्वेद पीछे रह गया, साहित्य की सुषमा ही आगे है। ऐसे प्रसंगों में बहुधा आयुर्वेद का सुपरिचित अनुष्टुप् छन्द आचार्य

---

1. राजा राजगृहासन्ने प्राणाचार्यं निवेशयेत्। —अ० हृ०, सूत्र, 7/1
2. श्रुतिचरित समृद्धे कर्मदक्षे दयालौ-
   भिषजि निरनुबन्धं देहरक्षां निवेश्य॥ —अ० हृ०, सू० 7/76
3. अथास्यमित्रं व्रजतो जिगीषोर्वैद्यः सुसज्जौषधशस्त्र यन्त्रः।
   तुङ्गध्वजाज्ज्ञात निवास भूमिर्युद्धागतं योधजनं चिकित्सेत्॥
   —अष्टा० संग्रह, सूत्र०, अ० 8
4. सुकविलक्षणस्यैवं स्थितत्वात्। तथा च भगवतो व्यासस्य "पन्चनिम्बं पञ्गुना।" इत्यादि।
   —अ० हृ०, सू० 14/20 व्याख्या

ने छोड़ दिया तथा मालिनी, द्रुतविलम्बित, शार्दूलविक्रीडित तथा हरिणी आदि ललित वृत्तों का प्रयोग किया है। एकाध उदाहरण लीजिए—

मणिकनक समुत्थैरावनेयैर्विचित्रैः,
सजल विविधलेख क्षौमवस्त्रा वृताङ्गैः।
अपि मुनि जनचित्तक्षोभ सम्पादनीभि-
श्चकित हरिणलोल प्रेक्षणीभिः प्रियाभिः ॥[1]

० ० ०

स्तन नितम्ब कृतादतिगौरवा
दलस माकुलमीश्वर संभ्रमात्।
इति गतंदधतीभि रसंस्थितम्
तरुण चित्त विलोभन कार्मणम् ॥[2]

रहसिदयितामङ्कीकृत्वा भुजान्तर पडिना—
त्पुलकित तनु जात स्वेदां सकम्प पयोधराम् ।
यदि स रभसं सीधूद्गारं न पाययते कृती
किमनुभवति क्लेशं प्रायंततो गृहतन्त्रताम् ॥[3]

० ० ०

"भवेच्चिर स्थायि बलं शरीरे,
सकृत् कृतं साधु यथा कृतज्ञे ॥"

० ० ०

"प्रणाशमायान्ति जरा विकाराः
ग्रन्था विशाला इव दुर्गृहीताः ॥"

० ० ०

"जरानदीं रोग तरङ्गिणीं ते
लावण्य युक्ताः पुरुषास्तरन्ति ।"[4]

० ० ०

सेव्या सर्वेन्द्रिय सुखा धर्मकल्पद्रुमाङ्कुराः।
विषयातिशयाः पंचशराः कुसुम धन्वनः ॥[5]

पहले श्लोक में पाठक यह भी देखें कि वाग्भट के युग में भारत की वस्त्र-कला तथा छपाई कितनी उन्नति कर गई थी। "सजल विविध लेख क्षौमवस्त्रावृताङ्गैः' से न केवल सादा छपाई किन्तु यह स्पष्ट होता है कि जल से तैयार होने वाले रंगों के अतिरिक्त भी अनेक प्रकार के रंग प्रयोग होते थे जिनसे नाना रंग की छींटें और साड़ियां

1. अ० हृ०, चिकि० 7/79
2. अ० हृ० चिकि० 7/80
3. अ० हृ०, चि० 7/88
4 अ० हृ०, उत्त० 39/148-152
5. अ० हृ०, उत्त० 40/37

तैयार होती थीं। यह भी ध्यान रखना होगा कि उस युग के पारिवारिक जीवन में (क्षौमवस्त्र) रेशमी कपड़ों का रिवाज था।

भारत के पारिवारिक जीवन में देव, गौ और ब्राह्मण की पूजा नित्य-कर्म मानी जाती रही है। चरक और वाग्भट में यह पारिवारिक संस्कृति समान रूप से विद्यमान है।[1] सम्पूर्ण चरक पढ़ जाने पर प्रतीत होता है कि उस युग का समाज तपोनिष्ठ, सहिष्णु और मित-परिग्रही था। किन्तु वाग्भट के अध्ययन से ज्ञात होता है कि इस युग में समाज वीर, किन्तु विलासी और अमित परिग्रही बन गया था। व्यावहारिक जीवन चरक के समय से अब कहीं अधिक कलापूर्ण हो गया था। वाग्भट के काल में ब्राह्मण वैसा तपस्वी और आप्त नहीं रह गया था जैसा चरक के समय था। चरक के काल में आप्त, तपस्वी और विद्वान् सब ब्राह्मण के ही पर्यायवाची थे। वाग्भट के युग में उनका अर्थ भिन्न-भिन्न था। 'ग्रन्था विशाला इव दुर्गहीताः' तथा—

> अभिनिवेशवशादभियुज्यते
> सुभणितेऽपि न यो दृढ़ मूढकः।
> पठतु यत्न परः पुरुषायुषं
> स खलु वैद्यकमाद्यमनिर्विदः॥[2]

ये 'दुर्गृहीता' और 'दृढ़मूढकः' उन्हीं ब्राह्मणों को लक्ष्य कर रहे हैं जो 'आर्य' और 'आप्तोपदेश' के शब्द-प्रमाण का राग अब भी अलाप रहे थे। ये पंक्तियां वाग्भट-काल की सामाजिक मनोदशा का ही उल्लेख हैं।

गर्भिणी स्त्री को श्रेष्ठप्रसू होने के लिए वाग्भट ने एक प्रयोग लिखा है—'महापुरुषों की छोटी-छोटी सुन्दर मूर्तियां सोने, चांदी या लोहे की बनवाई जाएं। उन्हें अग्नि में गरम करके दूध में बुझा दिया जाए। वह दूध गर्भिणी स्त्री पिया करे। इस विधि से विश्वास है कि सन्तान श्रेष्ठ होगी। वाग्भट ने इस प्रतिमा-निर्माण में वर्ण-व्यवस्था को तनिक भी महत्त्व नहीं दिया।[3] नये निर्दोष निर्माण के लिए पुराने सदोष का परित्याग करने में वाग्भट ने रूढ़िवाद को तनिक भी प्यार नहीं किया। उनके जीवन को अनुप्राणित करने वाला एक ही मंत्र था—

> पुराणमित्येव न साधु सर्वं, न नूतनं सर्वमथानवद्यम्।
> सन्तः परीक्ष्यान्यतरद् भजन्ते, मूढः परप्रत्ययनेय बुद्धिः॥

उन्होंने आत्रेय सम्प्रदाय के लिए चरक की भांति ही अपना जीवन अर्पण कर दिया, किन्तु

---

1. 'देवगोब्राह्मणान् कृत्वा'—चरक, चि० I/23
   "अर्चयेद्देवगोविप्र"— अ० हृ० सू० 2/23
2. अ० हृ० उत्त० 40/85
   "जो दुराग्रही मूर्ख 'आप्तोपदेश' के आग्रह से सदुक्ति का आदर नहीं करता वह अविवेकी जीवन-भर पुरानी किताबों में समय नष्ट करे तो करता रहे।"
3. पुण्ये पुरुषकं हेम राजतं वायवाऽयसम्।
   कृत्वाग्निवर्णं निर्वाप्य क्षीरे तस्याञ्जलिं पिबेत्॥ —अष्टा० हृ०, शारीर० I/38-39

उसका अन्वानुगमन नहीं किया। आयुर्वेद में चरक का दार्शनिक और धार्मिक आग्रह वाग्भट को तनिक न सुहाया। आखिर एक स्वतन्त्र विचारक की भांति उन्होंने लिखा–'विज्ञान में वक्ता के कहने से द्रव्यों की शक्ति न बढ़ती है न घटती, इसलिए पक्षपात छोड़कर मध्यस्थ रहना ही उचित है।'

ऋषियों की भक्ति से आर्ष ग्रन्थ पढ़ने का आग्रह करने वालों से पूछो कि वे चरक और सुश्रुत को छोड़कर भेड, जतूकर्ण अथवा पराशर के ग्रन्थ क्यों नहीं पढ़ते? इसीलिए कि भेडादि के लेख उतने सुभाषित नहीं जितने चरक और सुश्रुत के। तो फिर सुभाषित का आग्रह होना चाहिए। आर्ष या अनार्ष का नहीं।"[1]

अशोक ने अपने युग का धर्मानुशासन चलाते हुए कहा था, "मैं चाहता हूं सबके धर्म के सार की वृद्धि हो।" यही बुद्धि का अनुशासन था, अनुगामी दुराग्रह से धर्म को सम्प्रदाय बना देते हैं। वाग्भट ने चरक का सार ही लिया, आग्रह नहीं। यही उनके लेखों में उनका अपनापन है। वाग्भट के जीवन में यही कला थी कि वे वस्तु के सार को देखते थे। अपने ग्रन्थों में उन्होंने वही संग्रह किया। चिकित्सक की दृष्टि शरीर के अन्य अभावों पर नहीं, हृदय पर रहती है। इसीलिए वाग्भट को अपने युग का सन्देश-वाहक मानकर विद्वानों ने स्मरण किया—

अत्रिः कृत युगे चैव, द्वापरे सुश्रुतो मतः।
कलौ वाग्भट नामा च, त्रेतायां चरको मतः॥[2]

कुछ लोगों में यह भी आस्था है कि भगवान् गौतम बुद्ध करुणा से प्रेरित होकर 'वाग्भट' के रूप में अवतीर्ण हुए थे। कुछ लोग इससे भिन्न यह कहते हैं कि वाग्भट एक विलासी ब्राह्मण थे, और कुछ नहीं। परन्तु यह तो लोगों की अपनी-अपनी मान्यताएं हैं। वाग्भट क्या थे? इसका उत्तर तो 'अष्टाङ्ग संग्रह' और 'अष्टाङ्ग हृदय' देते हैं।

राष्ट्रीय विप्लवों के निविड़ अन्धकार में इतिहास से भटककर लोग महापुरुषों को किसी रूप में महान् अवलम्ब मानकर याद करते हैं। कुछ लोग कहते हैं—"वाग्भट धन्वन्तरि के अवतार थे।" कुछ ने कहा—"समुद्र-मन्थन के समय जो चौदह रत्न निकले थे उनमें एक वाग्भट भी थे।"[3] जो हो, राष्ट्र के भले-बुरे सभी दिनों में हम

---

1. अभिधातृवशात्किवा द्रव्यशक्तिर्विशिष्यते।
अतो मत्सरमुत्सृज्य माध्यस्थमवलम्व्यताम्॥
ऋषि प्रणीते प्रीतिश्चेन्मुक्त्वा चरक सुश्रुतौ।
भेड़ाद्याः किं न पठ्यन्ते तस्माद् ग्राह्यं सुभाषितम्॥—अ० हृ०, उत्त० 40/87—88

2. "भगवान् की एक ही शक्ति सतयुग में अत्रि, द्वापर में सुश्रुत, कलियुग में वाग्भट तथा त्रेता में चरक हुई।" अष्टाङ्ग हृदय के सम्पादकीय वक्तव्य में यह 'आत्रेय संहिता' का श्लोक मानकर लिखा गया है। परन्तु यह निश्चय है कि यह वाग्भट के उपरान्त ही लिखा गया होगा। इसी लिए वह 'आत्रेय संहिता' का नहीं। केवल 'जन प्रवाद' है।

3. It is said that he is Dhanwantari himself. Some also identify him with one of the gems obtained when the Ocean was churned. —Astanga Hridaya—Preface. Page 2.

उन्हें याद करते रहे और आत्म-मन्दिर में बिठाकर श्रद्धा के प्रसून चढ़ाते रहे हैं। प्राणाचार्यों में उनका अमर स्थान है।

आचार्य वाग्भट के ग्रन्थ

आचार्य वाग्भट के युग को यदि हम 'ग्रन्थ-रचना-युग' कहें तो अतिशयोक्ति नहीं। न केवल आयुर्वेद के ही, प्रत्युत समग्र विषयों पर विभिन्न विद्वानों ने जितने ग्रंथ इस युग में लिखे, शायद दूसरे किसी युग में नहीं लिखे गये। साहित्य, दर्शन, वेद, स्मृति, पुराण, इतिहास भूगोल गणित, ज्योतिष, वास्तुविद्या, कृषि-उद्यानशास्त्र, पशु-पक्षी चिकित्सा तथा आयुर्वेद आदि विषयों पर जो प्रचुर ग्रन्थ इस युग ने निर्माण किये वे फिर कभी नहीं हुए। संस्कृत-साहित्य नष्ट हो जाता, यदि इस युग ने उसे उदीयमान आभा फिर से प्रदान न की होती।

ईसा के ढाई से पांच हजार वर्ष पूर्व सिन्धु घाटी की सभ्यता[1] ने जो भारत का गौरवपूर्ण युग निर्माण किया था, वह वाग्भट के युग में फिर से नवीन हो गया। धन्वन्तरि, सुश्रुत, आत्रेय पुनर्वसु, कश्यप, अग्निवेश, भेड, जतूकर्ण, पराशर, हारीत, क्षारपाणि, औपधेनव, औरभ्र, पुष्कलावत, खरनाद, भालुकी, दारुवाह, भद्रशौनक, नागार्जुन, चरक तथा भट्टारक हरिचन्द्र जैसे विद्वानों के ग्रन्थ वाग्भट से पूर्व आयुर्वेद क्षाहित्य में विद्यमान थे। इनके अतिरिक्त भी अनेक विद्वानों के लेख रहते हुए वाग्भट ने एक ऐसी शैली की आधारशिला रखी जो सबसे बढ़कर विद्वज्जन मनोहारिणी हुई। संक्षिप्त और रोचक होने के साथ-साथ वाग्भट की विशेषता यह थी कि उन्होंने अपने पूर्ववर्ती आयुर्वेदिक ग्रन्थों का सार एकत्र संग्रह कर दिया। यद्यपि राजनैतिक विप्लव हो रहे थे तो भी उपेक्षित प्राचीन साहित्य को उन्होंने युग का प्रिय साहित्य बना दिया। प्राचीन ग्रन्थों की अवहेलना देखकर[2] वाग्भट ने उनमें वह सौन्दर्य भरा कि जनता उसे सानुराग हृदय से प्यार कर उठी।

विदेशी शक, हूण, कुषाण, पारसी, यूनानी (यवन) लोगों के दल भारत में राजनैतिक विप्लवों का बीजारोपण करते ही रहते थे। मिश्र के साथ भारत के मधुर सम्बन्ध प्राचीनकाल से ही रहे हैं। भारत में इन जातियों का सम्पर्क भाषा की दृष्टि से भी क्रान्तिकारी रहा है। इस दृष्टि से हूण, शक और कुषाणों का प्रदेश तुर्किस्तान तथा ताशकन्द, पारसीकों का ईरान, यूनानियों का ग्रीस एवं मिश्रियों का मिश्र देश मिलकर भाषाओं का मिश्रित परिवार भारत में एकत्रित हो गया था। इसलिए इन देशों की भाषाओं में एक-दूसरे के अनेक शब्द मिश्रित हो गये हैं। कुछ लोगों ने भारत में अपनी

---

1. Indus Valley civilization was flourishing about 2300 B. C, but how much earlier it began and how much later it ended, are still largely guesswork. But the estimate is 2500-1500 B. C.

   Ancient India No. 4, Page 87

2. ग्रन्था विशाला इव दुर्गृहोता: —अ० हृदय, उत्त० 30/149

भाषा और लिपि को भी स्थापित करने का प्रयास किया। वाग्भट से पूर्व के जो सिक्के पुरातत्त्व में भूगर्भ से मिले हैं, उनमें यूनानी भाषा तथा चित्र विद्यमान हैं। ईसा से दो सौ वर्ष पूर्व तक के सिक्के इनमें विद्यमान हैं। अशोक के समय यहां खरोष्ट्री लिपि का प्रचार भी था। यह दाएं से बाएं लिखी जाती थी। दूसरी ब्राह्मी लिपि भी प्रचलित थी, यह बाएं से दाएं लिखी जाने वाली थी। वाग्भट के युग का प्रभाव यह था कि ये सम्पूर्ण भाषाएं और लिपियां उनके समय में संस्कृत से परास्त हो गई।

विदेशी जातियों के भारत में रहने वाले शासकों ने भी संस्कृत का ही आश्रय लिया। कश्मीर से कन्याकुमारी तक तथा बाल्हीक से बंग तक एकछत्र संस्कृत का ही राज्य हो गया था। जो देवनागरी वर्णमाला हम आज देख रहे हैं, इसे उसी युग में फिर से स्थायित्व मिला। वाग्भट कालीन विद्वानों ने ग्रन्थों में गम्भीर विषयों का विवेचन किया तथा संस्कृत भाषा और लिपि का जीर्णोद्धार भी। यद्यपि ईसा से आठ सौ वर्ष पूर्व यह कार्य आचार्य पाणिनि ने किया था। किन्तु पाणिनि के उपरान्त इतने राजनैतिक विप्लव हुए कि वह सुधार जनसाधारण तक वैसे ही आ सका जिस प्रकार तुहिनपात में सूर्य का प्रकाश। देवगिरा को संस्कृत का रूप पाणिनि ने दिया और उसको यौवन की कमनीय कान्ति देने का श्रेय वाग्भट के युग के विद्वानों को ही है।

संस्कृत का अपभ्रंश 'प्राकृत भाषा' बन गई थी। जनसाधारण उसीका व्यवहार करते थे। उस युग के लिखे गये नाटकों में स्त्री तथा सामान्य पात्र प्राकृत में ही वार्तालाप करते हैं। कुछ के ग्रन्थ भी प्राकृत भाषा में ही लिखे गये। वाक्पतिराज का 'गौडवहो' (गौडवध) नाटक तथा कश्मीर के ही आचार्य आनन्दवर्धन की 'गाथा सप्तशती' प्राकृत भाषा में ही लिखे गये ग्रन्थ हैं। उस युग के विख्यात कवि कालिदास, भवभूति, शूद्रक, विशाखदत्त, वररुचि, अश्वघोष और भास के ग्रन्थों में स्त्री पात्र तथा सामान्य पात्रों की भाषा प्राकृत ही लिखी गई है। स्वयं वाग्भट के शिष्य इन्दुकर ने 'अष्टाङ्ग हृदय' की व्याख्या में जहां-तहां प्राकृत शब्दों का व्यवहार किया है। स्वयं आचार्य का नाम वाग्भट के स्थान पर 'वाहट' या 'वाहड' लिखा है। किन्तु आचार्य के लेख विशुद्ध संस्कृत में प्रस्तुत हुए हैं। वह संस्कृत जिसका उज्जवल प्रवाह, जिसकी विशद पदावली, जिसका प्रभावशाली पद-विन्यास और मनोहारी सौष्ठव इतिहास के अन्य चरण में अप्राप्य है, मानो उन्हें ही लक्ष्य करके 'काव्यमीमांसा' में राजशेखर ने लिखा था—

मुक्तके कवयोऽनन्ताः सङ्घाते कवयः शतम्।
महाप्रबन्धेतु कविरेको द्वौ दुर्लभास्त्रयः॥[1]

आत्रेय सम्प्रदाय के अनुयायी होने पर भी वाग्भट ने समस्त विद्वानों के अनुसंधानों और विचारों का संकलन अपने ग्रंथों में किया है। वाग्भट ने स्वयं लिखा है कि मुझसे पहले ग्रन्थ-लेखकों की एक विस्तृत परम्परा विद्यमान है। उनके बिखरे हुए विचारों में से सार

1. प्रकीर्ण मुक्तक लिखने वाले अनन्त कवि मिलेंगे, जिनकी गिनती नहीं। छोटे-मोटे निबन्ध लिखने वाले भी सौ-दो सौ मिल जायेंगे। किन्तु (वाग्भट जैसे) महाप्रबन्ध लिखने वाले कवि एक या दो के बाद तीसरा मिलना ही कठिन है।

लेकर मैं अपना ग्रन्थ लिखने बैठा हूं ।[1] इस संकलन में आचार्य ने पक्ष-विपक्ष का विचार त्यागकर मधुकोष की भांति सभी के गुणों का ग्रहण किया है । उसमें अश्वि, इन्द्र, धन्वन्तरि, सुश्रुत, आत्रेय, चरक, निमि, नागार्जुन, जिन, भिक्षु, मणिभद्र-यक्ष तथा मृगारमाता विशाखा के श्रद्धापूर्ण संस्मरण विद्यमान हैं । मौर्य काल के कौटिल्य चाणक्य का आयुर्वेदिक चित्र भी उसमें विद्यमान है ।[2] जो यह सूचित करता है कि आचार्य चाणक्य नीति लिखने के कारण कौटिल्य अर्थशास्त्र लिखने के कारण अर्थशास्त्री और आयुर्वेदशास्त्र लिखने के कारण एक उत्कृष्ट प्राणाचार्य भी थे । उनका लिखा चिकित्सा ग्रन्थ अब प्राप्त नहीं । मौर्यकाल के एक चाणक्य को छोड़कर और कोई ग्रन्थकार अब प्रकाश में नहीं है ।

मणिभद्र जैसे तापस-जीवी, मृगारमाता जैसी संघ-संचालिका, विदेहाधिप और चाणक्य जैसे राजनीति-परायण व्यक्तियों से भी आयुर्वेदोपयोगी सार संग्रह कर अपने ग्रन्थों को तात्कालिक (upto-date) बनाने में वाग्भट का प्रयास स्तुत्य है । उन्होंने प्राचीन श्रुतियों और उपनिषदों का समन्वय भी अपने लेखों में किया । एक जगह शिरोरोग के विवेचन में उन्होंने लिखा, "ऋषियों ने श्रुतियों में कहा है कि यह पुरुष ऐसा वृक्ष है जिसकी जड़ ऊपर है और शाखाएं नीचे की ओर, इसे समझो ।" इसका अर्थ यह है कि सिर मूल है, क्योंकि गर्भ में वही प्रथम निर्मित होता है शेष अवयव उसीसे अंकुरित होते हैं । इसलिए चिकित्सक को चाहिए कि शिरोरोगों को निर्मूल करने में तनिक भी असावधानी न हो, अन्यथा यह पुरुष रूपी वृक्ष ही सूख जायेगा ।[3] वाग्भट ने यह लिखने में अतिशयोक्ति नहीं की, "उत्कृष्ट और निर्मल ज्ञान वाले वैज्ञानिकों तथा मुनियों के विचारों का अनुसरण करने वाला मेरा यह ग्रन्थ सभी का ऐसा संग्रह है जैसे सम्पूर्ण नदियों का समुच्चय एक सागर में हो" ।[4] वाग्भट के ग्रन्थों में अनेक रहस्य हमें ऐसे मिलेंगे जो चरक, सुश्रुत, काश्यप आदि के ग्रन्थों में एकत्र मिलना संभव नहीं । तभी तो वे 'महासागर गम्भीर' हैं । ऐसी दशा में वाग्भट का यह कथन सर्वथा उपयुक्त है, "ऋषि होकर भी भेड तथा जतूकर्ण आदि जो न लिख सके वह अग्निवेश और सुश्रुत ने लिखा है । और अग्निवेश तथा सुश्रुत की लेखिनी से जो छूट गया वह मैं लिख रहा हूं,

---

1. तेभ्योतिविप्रकीर्णेभ्यः प्रायः सारतरोच्चयः ।
   क्रियतेऽष्टांगहृदयं नातिसंक्षेप विस्तरम् ॥ —अ० हृ०, सू० 1/4-5
2. श्वेत पुष्कर तुल्यांशैर्जीवन्त्या कुसुमैः कृतः
   स्वमपिष्टो मणिर्धार्यश्चाणक्येष्टो विषापहः ॥ —अष्टा० संग्रह
   चाणक्यस्य कौटिल्यस्य । इन्दु व्याख्या, उत्तर तन्त्र, विष प्रकरण ।
3. ऊर्ध्वमूलमधःशाखं ऋषयः पुरुषं विदुः ।
   मूल प्रहारिणस्तस्माद्रोगान् शीघ्रतरं जयेत् ॥ —अ० हृ० उत्त० 24/58
   कठोपनिषद् देखिये—
   'ऊर्ध्वमूलऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः' —कठो० 2/6/1
4. विपुलामल विज्ञान महामुनि मतानुगम् ।
   महासागर गम्भीर संग्रहार्थोपलक्षणम् ॥ —अ० हृ०, उत्त० 40/83

इसलिए व्यक्ति का आग्रह छोड़ो और कृति का आदर करो।"[1]

बुद्ध भगवान् से पूर्व तक भारतीय चिकित्सा में शल्य-तंत्र का अत्यन्त विकास था। भगवान् बुद्ध के चिकित्सक महाभाग जीवक स्वयं एक अद्वितीय शल्य-शास्त्री (Surgeon) थे। बौद्ध काल में ग्रन्थ-प्रणयन भले ही कम हुआ, उस युग के प्राणाचार्यों ने औषधियों के रासायनिक तत्त्वान्वेषण में इतना विकास कर लिया कि वाग्भट के युग में (420 से 500 ई० तक) औषधियों के रासायनिक प्रयोग द्वारा ही शल्य-क्रिया (Surgery) का अधःकरण हो गया। वाग्भट के युग का चिकित्सक औषधियों के रासायनिक प्रयोगों से ही शल्य-विषयक अधिकांश रोगों का निवारण करने लगा, फलतः मण्डलाग्र, वृद्धिपत्र और संदंशों को पेटी में पड़े-पड़े ज़ंग लग गया।[2] इसी कारण वाग्भट के ग्रन्थों में शल्य-तन्त्र का प्राधान्य दृष्टिगोचर नहीं होता। द्रव्यगुण के परिज्ञान द्वारा ही रोग-निवारण करना चिकित्सा का आदर्श है, शल्यक्रिया नहीं। रासायनिक द्रव्य-गुणों के परिज्ञान से निराश चिकित्सक ही शल्य-क्रिया का आश्रय लेता है। यदि औषधि खाने मात्र से अश्मरी निकल जाय तो चाकू उठाने की क्या आवश्यकता है? वाग्भट के द्रव्य-गुण-परिज्ञान का यह उत्कर्ष 'अष्टाङ्ग-हृदय' के अन्तिम अध्याय में मिलता है।

उदाहरण के लिए देखिये—(1) ज्वरनिवारण के लिए नागरमोथा और पित्त पापड़ा, (2) शुद्ध मिट्टी के ढेले को आग में तपा लिया जाय फिर जल में बुझा दो, यह जल तृषा पर, (3) छर्दि (Vomitting) पर धान की खीलों का जल, (4) वृक्क रोगों पर शिलाजतु, (5) प्रमेहों पर आंवला और हल्दी, (6) पाण्डुरोग पर लौह, (7) वात-कफ-वृद्धि पर हरड़, (8) प्लीहा पर पिप्पली (9) उरःक्षत आदि रक्त-प्रवाही रोगों पर लाक्षा, (10) विषों पर सिरस, (11) मेद एवं तज्जन्य वात पर गुग्गुलु, (12) रक्त-पित्त पर अड़ूसा, (13) दस्तों पर इन्द्र जौ, (14) अर्श पर भल्लातक, (15) रक्त में व्याप्त विषों पर स्वर्ण सर्वश्रेष्ठ हैं। इस प्रकार रासायनिक दृष्टि से चुने गये संग्रह अन्यत्र कठिन हैं।

यद्यपि आत्रेय सम्प्रदाय चिकित्सा में रासायनिक परिज्ञान को पहले से महत्त्व देता आया है, परन्तु प्राचीन ग्रन्थों की प्रतिपादन-शैली इतनी क्लिष्ट और विरल है कि महा प्रयास करके ही कोई व्यक्ति उससे थोड़ा लाभ पा सकता है। वाग्भट ने उनका सार लेकर सुबोध शैली में संकलित कर दिया। उन्होंने लिखा भी है, "प्राचीन ग्रन्थ विप्रकीर्ण थे। उनमें न्याय, सांख्य तथा योग के गहन दार्शनिक विचारों का इतना विस्तार है कि यदि उत्कृष्ट दार्शनिक योग्यता न हो तो कोई व्यक्ति उन ग्रन्थों को समझ ही नहीं सकता। इसलिए उन ग्रन्थों का सारसंग्रह करके मैं यह ग्रन्थ लिख रहा हूं। यह न तो इतना संक्षिप्त है कि आवश्यक विषय छूटें हों, और न उतना विस्तृत कि जीवन-भर

---

1. ऋषिप्रणीते प्रीतिश्चेन्मुक्त्वा चरक सुश्रुतौ।
   भेडाद्याः किन्न पठ्यन्ते तस्माद् ग्राह्यं सुभाषितम्॥ —अ० हृ० उत्त० 40/88
2. मंडलाग्र, वृद्धिपत्र (Surgical knives) संदंश (forceeps)।

पढ़ना पड़े ।"[1]

आचार्य ने पहला ग्रन्थ 'अष्टाङ्ग-संग्रह' लिखा था। तभी उनका दृष्टिकोण यह था कि विप्रकीर्ण को संवलित किया जाय। 'अष्टाङ्ग-संग्रह' में उन्होंने यह लिखा भी है कि अथाह आयुर्वेद-सागर में गोता लगाकर मैं काम की मूल्यवान् चीजें संग्रह कर रहा हूं। वे सागर के मोती हैं।[2] किन्तु वृद्धावस्था के शान्तिपूर्ण दिनों में उन्होंने फिर से आयुर्वेदशास्त्र का विश्लेषण किया[3], और फिर जो संकलन प्रस्तुत किया, वह आयुर्वेद का हृदय बन गया। आचार्य ने उसका नाम ही 'अष्टाङ्ग-हृदय' रख दिया। उसमें आयुर्वेद की जीवनशक्ति का स्पन्दन है। उन्हें अपनी इस रचना पर बहुत गर्व और सन्तोष था—

हृदयमिव हृदयमेतत्सर्वायुर्वेद पयोधेः ।
दृष्ट्वा यच्छुभमाप्तं शुभमस्तु परं ततो जगतः ॥[1]

लोगों का कहना है कि विधाता भी कोई रचना ऐसी न कर सका जो सर्वथा निर्दोष हो। वाग्भट की यह रचना ही उसका अपवाद है।

अनेक विप्रकीर्ण प्रसंगों को एक सूत्र में ग्रथित करने की योग्यता में कोई लेखक वाग्भट से आगे न बढ़ सका। यहां तक कि चरक में आत्रेय पुनर्वसु जो बात एक अध्याय में कह पाये, वही बात वाग्भट ने एक श्लोक में कह दी। चरक के सूत्र स्थान के पूरे आठवें अध्याय में जो कुछ कहा गया, वाग्भट ने एक श्लोक में कह दिया—

कालार्थ कर्मणां योगा हीनमिथ्यातिमात्रकाः ।
सम्यग्योगश्च विज्ञेयो रोगारोग्यैक कारणम् ॥[5]

इस प्रकार वाग्भट का सूत्रीकरण उनके सूत्र स्थान का सार्थक नाम है। इसी विशेषता के कारण विद्वानों की परम्परा में यह सम्मान वाग्भट को प्राप्त है कि सूत्र स्थान में वे अद्वितीय हैं—

"निदाने माधवः श्रेष्ठः सूत्रस्थाने तु वाग्भटः ।
शारीरे सुश्रुतः प्रोक्तश्चरकस्तु चिकित्सते ॥"

निदान में माधव, शारीर में सुश्रुत, चिकित्सा में चरक और सूत्र स्थान में वाग्भट ही सर्वश्रेष्ठ हैं।

वाग्भट से पूर्व और प्रति संस्कर्त्ता चरक के पश्चात् प्रायः पांच सौ वर्ष तक भारत में राजनैतिक तथा धार्मिक संघर्षों की बाढ़ आ गई थी। वैदिक, बौद्ध, जैन और वाम-

---

1. तेभ्योऽति विप्रकीर्णेभ्यः प्रायः सारतरोच्चयः ।
   क्रियतेऽष्टाङ्गहृदयं नाति संक्षेप विस्तरम् ॥—अ० हृ० सू० 1/4-5
2. आयुर्वेदोदधेः पारमपारस्य प्रयाति कः ।
   विस्तव्याख्योषधि ज्ञान सारस्त्वेष समुच्चितः ॥—अ० सं०, अ० ५०
3. अष्टाङ्गवैद्यक महोदधि मन्थनेन योऽष्टाङ्ग संग्रह महामृतराशिराप्तः ।
   तस्मादनल्पफलमल्पसमुद्यमानां प्रीत्यर्थमेतदुदितं पृथगेव तन्त्रम् ॥—अ० हृ० उत्त० 40/80
4. नैकत्र सर्वोगुण सन्निपातः ।—कालिदास
5. अ० हृ०, सूत्र०—1/19

मार्ग जैसे धर्म, तथा ग्रीक (यवन), शक, हूण कुषाण एवं पर्शियन जैसे विदेशियों के मोर्चे चारों ओर लगे थे। जहां जिसे अवकाश मिलता, अपना प्रभुत्व जमाने का प्रयास करता। ऐसी अवस्था में ग्रन्थ-लेखक के लिए दो ही मार्ग हैं—या तो वह किसी पक्ष के समर्थन में खुलकर गर्जना करे अथवा सर्वप्रिय बनने के लिए ऐसा मार्ग निकाले जो सबको प्रिय हो। चरक ने पहला मार्ग चुना और वाग्भट ने दूसरा। वाग्भट के युग में गुप्त शासकों ने विदेशी आक्रान्ताओं के ही घुटने टेक दिये थे किन्तु धार्मिक मोर्चे लगे हुए थे। और उनके जीवन के उत्तरार्ध में तो शकों की प्रभुता फिर बढ़ गई थी। नितान्त वाग्भट ने ग्रन्थ-लेखन की सर्वप्रिय शैली चुनी—

जनस्याशयमालक्ष्य यो यथा परितुष्यति।
तं तथैवानुवर्त्तेत पराराधन पण्डितः॥

विषयवस्तु-प्रतिपादन में वह शैली प्रस्तुत करने में वाग्भट ने कुशलता प्रस्तुत की। अपनी बात पूरी हो गई और किसीको खटकी भी नहीं। सभी को वह अपने हित की ही लगी। अंजलि में रखे हुए फूल दोनों हाथों को सुवासित करते हैं।

चरक ने ऐसा न करके अवैदिक नास्तिकों पर तीखे तर्क-बाणों की वर्षा की। सुश्रुत ने अपनी बात के साथ औरों की भी कही, तभी काम निकाल पाये।[1] किन्तु वाग्भट ने केवल अपनी बात कही और ऐसी कही कि सबको प्रिय लगी। सच है—

चितवन वह औरै कछू, जेहि बस होत सुजान।

सूत्र-स्थान सिद्धान्तों की स्थापना है। वाग्भट ने जो विचार प्रस्तुत किये वे साध्य में निश्चित हैं। अन्वय और व्यतिरेक से संघटित हैं। चरक और सुश्रुत के सपक्ष में उनका स्थान है। और पराशर[2] जैसे विपक्षियों से व्यावृत्त है, अतएव उनकी शुद्धता में कोई सन्देह नहीं। इस प्रकार 'सूत्र स्थाने तु वाग्भटः' कहकर विद्वानों ने आचार्य को उनकी योग्यता के अनुसार ही सम्मानित किया।

वाग्भट की कोमल, कमनीय तथा ओजस्विनी शैली ने उन्हें चरक और सुश्रुत के समकक्ष आदरणीय बना दिया। आयुर्वेद की वृहत्त्रयी—चरक, सुश्रुत और वाग्भट को लेकर ही बनी है। चरक अपने चिकित्सा स्थान के लिए, सुश्रुत शरीर स्थान के लिए, और वाग्भट अपने सूत्रस्थान के लिए उतने ही सम्मान के योग्य हैं। सत्य यह है कि वाग्भट का सूत्रस्थान एक संग्रह होने पर भी मौलिक से कम नहीं। उसमें वह मौलिकता है जो अन्यत्र नहीं है। वाग्भट ने स्वयं लिखा है—

---

1. अनिमित्तागमाद्व्याधेर्गमनादकृतेऽपि च।
आगमाच्चाप्यपस्मारं वदन्त्यन्ये न दोषजम्॥
क्रमोपयोगाद्दोषाणां क्षणिकत्वात्तथैव च।
आगमाद्वैरवश्याच्च स तु निर्वण्यते बुधैः॥—सु० उ० 6/17-19
—तथा सर्वपारिषदत्वादायुर्वेदस्य सौगतमतमवलम्ब्य गमनाद कृतेऽपीत्यस्य हेतोर्निराकरणाय हेतुमाह—'क्षणिकत्वात्तथैव च'।
—डल्हण व्याख्या।

2. अष्टांग-संग्रह, सूत्र० अ०21 पृ० 158-159 (मैसूर संस्करण)

समाप्यते स्थानमिदं हृदयस्य रहस्यवत् ।
अत्रार्था सूत्रिताः सूक्ष्मा प्रतन्यन्तेहि सर्वतः ॥[1]

जब सम्पूर्ण आयुर्वेद का हृदय 'अष्टांगहृदय' है तब सूत्रस्थान को उसका रहस्य मानना ही पड़ेगा, जो शरीर में चेतना का स्रोत प्रवाहित करता है। वह हृदय के रहस्य से कम नहीं—धड़कता हुआ, ओजस्वी और सजीव।

वाग्भट के काल तक ऋषि-परम्परा समाप्त हो चुकी थी। वह स्वर्ग के समाज-शास्त्र का माननीय पद था। अब स्वर्ग शासन ही आर्यावर्त में विलीन हो चुका था। स्वर्ग की ऐतिहासिक प्रतिष्ठा के लिए जूझते हुए आर्यावर्त के इतिहास के युग निकल गये। पाताल (असुर देश) की शक्तियां उससे निरन्तर लोहा ले रही थीं। तो भी वह सम्मान और गौरव के साथ रणक्षेत्र में गरज रहा था। उसके शत्रु भी उसकी विद्या, उसकी कला और उसकी वीरता के आगे मस्तक टेकते थे। अब नये विधान, नयी सीमाएं और नये विरुद बन गये थे। स्वर्ग और ऋषियों की कथाएं उन्हें अनुप्राणित करती थीं।

वाग्भट अपने जीवन में ऋषि नहीं माने गये। किन्तु ऋषियों के प्रति उत्कट श्रद्धा के कारण समाज उन्हींके लेखों को अधिक श्रद्धा और सम्मान से देखता था। आचार्य को यह चिन्ता थी, कहीं ऋषियों की भक्ति के कारण उनके अनार्ष ग्रन्थों का लोग अनादर न करें। अतएव अपनी प्रामाणिकता सिद्ध करते हुए वाग्भट ने स्वयं लिखा—यह 'आगम सिद्ध'—शास्त्रों से अनुमोदित है। आखिर आगमसिद्ध परापेक्षी सत्य है। इसलिए ऋषियों का ही श्रेष्ठतर हुआ, क्योंकि ऋषि तत्त्वद्रष्टा होते थे। फलतः वाग्भट ने दूसरा तर्क यह दिया कि मैंने जो कुछ लिखा है, प्रत्यक्ष सत्य देख लिया है। वह प्रयोगसिद्ध है। इसलिए ऋषियों के लिखे मंत्रों की भांति यह भी मंत्र ही समझो। इस पर अनास्था अथवा आलोचना करना भी युक्तिसंगत न होगा।[2] आयुर्वेद के आर्षग्रन्थ आप्त प्रमाण हैं, किन्तु मेरी कृति भी साक्षात् कृतधर्मा ही है; क्योंकि आप्तत्व उसी पर आश्रित है।

अब शब्द-प्रमाण का वह आदर नहीं रह गया था।[3] सत्य किसीके द्वारा प्राप्त हो, उसकी सत्यता स्वयंप्रमाण है। वह व्यक्ति की अपेक्षा नहीं रखता। दीपक के प्रकाश को देखने के लिए दूसरे दीपक की क्या आवश्यकता? प्रमाण स्वयं प्रकाशित होता है। इसलिए प्रमाण को प्रमाणान्तर की अपेक्षा क्यों हो? विशेषतः आयुर्वेद में। वह प्रत्यक्ष का ही विषय है। वह व्यक्तित्व की अपेक्षा नहीं रखता, क्योंकि सृष्टि के अखण्ड नियमों में किसीके व्यक्तित्व का प्रवेश संभव नहीं। वात, पित्त और श्लेष्मा के शमन के लिए क्रमशः तैल, घी और मधु के वैज्ञानिक गुणों को वक्ता का व्यक्तित्व कैसे बदल सकता है? मदिरा शूद्र बनाये या ब्राह्मण, उन्माद होता ही है। वह यज्ञशाला में पियो या मधुशाला

---

1. अष्टां० हृ०, सू० 30/53
2. इदमागम सिद्धत्वात्प्रत्यक्षफलदर्शनात् ।
   मन्त्रवत्संप्रयोक्तव्यं न मीमांस्यं कथंचन ॥ —अ० हृ०, उत्त० 40/81
3. बौद्धों तथा जैनों ने ही नहीं, वैशेषिक जैसे वैदिक दर्शन ने शब्द या प्रमाणत्व खंडित कर डाला—
   शब्दोपमानयोर्नैव पृथक् प्रामाण्यमिष्यते ।
   अनुमानगतार्थत्वादिति वैशेषिकं मतम् ॥

में, बुद्धि पर समान विकार दिखाई देता है। फिर ऋषि-परम्परा में ही भेड और जतूकर्ण भी हुए तो भी आत्रेय, धन्वन्तरि और चरक का ही आदर क्यों ? इसलिए कि विज्ञान व्यक्ति की अपेक्षा नहीं रखता। वह सत्य से भी एक चरण आगे 'ऋत' की कोटि में रहता है। सत्य देश, काल और पात्र की अपेक्षा कर सकता है किन्तु ऋत नहीं।[1] जो दुराग्रही इतने पर भी व्यक्तित्व के आग्रह को नहीं छोड़ता, वह मूर्ख लम्बे-चौड़े सन्दर्भ पढ़ने में अपना जीवन नष्ट किया करे तो उसका उपाय ही क्या है?[2] इसलिए आत्रेय, चरक और सुश्रुत ऋषि थे, वाग्भट नहीं—ऐसा विवाद उठाना व्यर्थ का अभिनिवेश है।

संस्कृत-साहित्य में 'अष्टाङ्गहृदय' और 'अष्टाङ्गसंग्रह' दो ग्रन्थ ही नहीं, किन्तु कुछ और ग्रन्थ भी वाग्भट के नाम से प्राप्त हैं। प्रश्न यह है कि वे सम्पूर्ण ग्रन्थ क्या एक ही व्यक्ति के लिखे हुए हैं ? अथवा एक ही नाम के भिन्न-भिन्न व्यक्तियों द्वारा लिखे गये ? वाग्भट नाम से प्रचलित ग्रन्थ जो आजकल प्राप्त हैं, इस प्रकार हैं—

1. अष्टाङ्ग-संग्रह
2. अष्टाङ्गहृदय
3. रसरत्नसमुच्चय
4. वाग्भटालंकार
5. काव्यानुशासन एवं अलंकारतिलक वृत्ति, और
6. नेमिनिर्वाण

उपर्युक्त छहों ग्रन्थों में प्रथम तीन आयुर्वेद-विषयक हैं। शेष तीन काव्य एवं अलंकार-शास्त्र से सम्बन्ध रखते हैं। प्रथम दो 'अष्टाङ्गसंग्रह' तथा 'अष्टाङ्गहृदय' के सम्बन्ध में ऊपर बहुत कुछ लिखा गया है। तीसरा ग्रन्थ 'रसरत्नसमुच्चय' भी आयुर्वेद-विषयक है और उसके लेखक भी वाग्भट हैं। देखना यह है कि यह वाग्भट कौन हैं ?

रसरत्नसमुच्चय—'रसरत्नसमुच्चय' यद्यपि आयुर्वेद-विषयक ग्रन्थ है, फिर भी 'अष्टाङ्गसंग्रह' तथा 'अष्टाङ्गहृदय' से बहुत भिन्न है। ये दोनों ग्रन्थ आयुर्वेद की प्राचीन चिकित्सा-शैली के अनुसार 'आर्षपद्धति' पर लिखे गये हैं। इनकी चिकित्सा-शैली मुख्य रूप से जड़ी-बूटियों पर आधारित है। जो परिपाटी धन्वन्तरि तथा आत्रेय पुनर्वसु ने स्वर्ग के देव-वैद्यों से लाकर सुश्रुत एवं अग्निवेश को दी थी, 'अष्टाङ्गसंग्रह' तथा 'अष्टाङ्गहृदय' में उसे ही एक नवीन एवं परिमार्जित शैली में सजाया गया है। वाग्भट ने ग्रन्थ प्रारंभ करते हुए स्वयं लिखा है—'इतिहस्माहुरात्रेयादयो महर्षयः।' व्याख्याकार शिवदास ने लिखा है—'आत्रेय आदि' में आदि शब्द धन्वन्तरि प्रभृति का समावेश करता

---

1. ऋतं च सत्यञ्चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत।—ऋग्वेद
2. अभिनिवेशवशादभियुज्यते,
   सुभणितेऽपि न-यो दृढमूढकः।
   पठतु यत्नपरः पुरुषायुषं,
   स खलु वैद्यकमाद्यमनिर्विदः॥ —अ० हृ०, उत्त०, 40/85

है।[1] इसका अभिप्राय यह भी है कि वाग्भट यह स्पष्ट करना चाहते हैं कि दोनों ग्रन्थों में मैंने धन्वन्तरि तथा आत्रेय आदि महर्षियों के विचार ही प्रस्तुत किये हैं, अपनी कल्पना से कुछ नहीं। जिस प्रकार सन्देशवाहक दूत सन्देश का सम्पूर्ण भाव अपने शब्दों में कहता है मानो वैसे ही मैं आत्रेयादि महर्षियों का सन्देशवाहक हूं। इसके प्रतिकूल 'रसरत्न-समुच्चय' में रस-शास्त्र या सिद्धायुर्वेद का उल्लेख है। रसशास्त्र या रसायनी-विद्या का मुख्य प्रतिपाद्य पारद है। उसके साथ अन्य धातु-उपधातु भी उपरसों की कोटि में रखे जाते हैं।

बोधिसत्त्व नागार्जुन द्वारा पारद का आविष्कार 'अष्टाङ्गसंग्रह' तथा 'अष्टाङ्ग-हृदय' के निर्माणकाल तक चिकित्सा-क्षेत्र में व्यापक नहीं हो सका था। वह 'गोप्या' थी ही, अन्यथा वाग्भट-जैसा गुणग्राही विद्वान् पारद के प्रयोग भी अपने ग्रन्थों में अवश्य लिखता। स्वर्ण, लौह, शिलाजतु, तुत्थ, कासीस, मनःशिला आदि अनेक धातु-उपधातुओं का उल्लेख रहते भी पारद का उल्लेख सर्वथा नहीं है। इस कारण सहज ही हम इस परिणाम पर पहुंचते हैं कि वाग्भट उस काल तक भी पारद को चिकित्सा-द्रव्यों में बहुत महत्त्वपूर्ण नहीं मानते थे। ईसा की सातवीं शताब्दी में, वाग्भट के एक सौ या डेढ़ सौ वर्ष बाद, सिद्धनागार्जुन ने उसे वह महत्त्व प्रदान किया, जो उसे अब प्राप्त है। 'अष्टाङ्ग-संग्रह' तथा 'अष्टाङ्गहृदय' की शैली एक है, किंतु 'रसरत्नसमुच्चय' की शैली दोनों से सर्वथा भिन्न है। इस कारण 'अष्टाङ्गहृदय' तथा 'अष्टाङ्गसंग्रह' के लेखक वाग्भट से 'रसरत्नसमुच्चय' के लेखक वाग्भट को भिन्न स्वीकार करना पड़ेगा।

पाश्चात्य विद्वान् डा० हर्नल ने मध्य एशिया में आयुर्वेद-सम्बन्धी जो ग्रन्थ प्राप्त किया, उसमें स्वर्ण, रजत आदि धातु-उपधातुओं का उल्लेख है। यह ग्रन्थ ईसा की चतुर्थ शताब्दी से पूर्व का है, ऐसा ऐतिहासिकों का विचार है। खुतन (निषध) देश में बावर महोदय द्वारा प्राप्त 'नाव-नीतक' ग्रन्थ में भी धातुओं-उपधातुओं का औषध-रूप से उल्लेख है। यह ग्रन्थ ईसा की चतुर्थ शताब्दी का लिखा माना जाता है। इससे बहुत पूर्व आर्ष ग्रन्थों में आत्रेय, धन्वन्तरि और कश्यप के उपदेशों में भी धातु-उपधातुओं के औषध-प्रयोग बहुत से मिलते हैं। इसलिए धातु-शास्त्र के बारे में 'रसरत्नसमुच्चय' के लेखक वाग्भट का प्रयास नया नहीं है। वह पारद के सम्बन्ध में हो सकता है। क्योंकि पारद के प्रयोग 'अष्टाङ्गसंग्रह' और 'अष्टाङ्गहृदय' में नहीं हैं, उनसे पूर्व के संहिता-ग्रन्थों में भी नहीं। ईसा की प्रथम शताब्दी में बोधिसत्त्व नागार्जुन के पारदीय प्रयोग अवश्य थे, परन्तु वे अब उपलब्ध नहीं हैं। संभव है, वाग्भट को 'अष्टाङ्गसंग्रह' या 'अष्टाङ्गहृदय' लिखते समय भी उपलब्ध न हुए हों। और यदि परम्परा से प्राप्त भी हुए हों तो यही कहना होगा कि 'अष्टाङ्गहृदय' के लेखक वाग्भट को पारद की अलौकिकता में विश्वास नहीं था।

'रसरत्नसमुच्चय' देखने से पता लगता है कि पारद के आविष्कार का प्रारंभिक

---

1. आत्रेय आदिर्येषां धन्वन्तरिप्रभृतीनां त एव महान्तस्व ने रूपपरय महर्षयः। महत्त्वं तत्कालाति-शययोगात्।...नास्माभिः स्वमतिपरिकलितं किञ्चिदभ्यधायितम्। केवल दूतवत्[illegible] युगानुरूपः सन्मात्रोऽन्यथाकृत [illegible]। तथा चास्यैव संग्रहे—"न [illegible] किञ्चिदागम-वर्जितम्। तेऽर्थाः स ग्रन्थबन्धश्च संक्षेपाय क्रमोऽन्यथा।"—अष्टां० हृ० व्याख्या, पृ० 1।

उद्देश्य चिकित्सा नहीं था। वह वृष्य या रसायन-प्रयोग था।[1] बुढ़ापा कैसे रोका जाय? अजर-अमर कैसे हुआ जाय? विद्रावण और वशीकरण कैसे हो? भोग-विलास के वावजूद अक्षुण्ण यौवन कैसे प्राप्त हो? यही प्रथम प्रेरणाएं थीं जो पारद के अनुसन्धानों की ओर तत्कालीन रसायनाचार्यों को आकृष्ट करती थीं।[2] 'अष्टाङ्गहृदय' के लेखक वाग्भट को पारद की इस लोकोत्तरता पर आस्था नहीं थी। और उसकी गोपनीयता तथा दीक्षा-विधि तो एक चिकित्सक के लिए नितान्त अनास्था की वस्तु थी।[3] आर्ष आयुर्वेद तो सर्वविदित करने के लिए ही प्रवृत्त हुआ था। इसलिए 'अष्टाङ्गहृदय' के लेखक के लिए 'गोप्या' के घूंघट में झांकने की आस्था ही असंभव थी।

पारद विज्ञान के द्वार से आयुर्वेद में नहीं आया। वह दर्शन के द्वार से विज्ञान में आया और विज्ञान ने उसे आयुर्वेद को दिया। हां, आयुर्वेद में आने के वाद पारद का दार्शनिक रूप धीरे-धीरे समाप्त हो गया। वाग्भट को पारद का यह दार्शनिक रूप किसी प्रकार भी स्वीकृत न था। पारद की कौन कहे, उन्हें चरक और सुश्रुत की दार्शनिक चर्चा आयुर्वेदशास्त्र में असंगत लगती रही।[4] उन्होंने अपने ग्रन्थों में भी दार्शनिक चर्चा नहीं आने दी, ताकि पढ़ने वालों को उसकी गहराई में गोते न खाने पड़ें।

ईसा की पहली शताब्दी में वोधिसत्त्व नागार्जुन द्वारा पारद का आविष्कार होने के उपरान्त ईसा की छठी शताब्दी तक पारद 'रसेश्वर' कहकर पूजा जाता रहा। उस पर स्वतन्त्र रूप से एक 'रसेश्वरदर्शन' लिखा गया। 'रसो वै सः', 'रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति' आदि श्रुतियों की व्याख्याओं का पारद के साथ समन्वय किया गया तथा पारद की दृश्य और अदृश्य गतियों की कल्पना की गई। उसकी पूजा तथा ध्यान की विधियाँ निर्मित हुई। 'रसेन्द्र-सार-संग्रह', 'रस-चिन्तामणि' तथा 'रसरत्नसमुच्चय' में वे विधियाँ विस्तार से लिखी गई हैं।[5] गन्धक को पार्वती का रज और पारद को शम्भु का वीर्य मानकर योनि और लिंग की पूजा के जो विधान निर्माण किये गये, वे आयुर्वेद की सीमा में किसी प्रकार नहीं आ सकते थे। ईसा की पांचवीं शताब्दी में वाग्भट जैसे वुद्धिवादी विशुद्ध वैज्ञानिक के लिए यह सब स्वीकार करना संभव न था। और इसीलिए उन्होंने पारद के विषय में एक शब्द भी नहीं लिखा। कोई भी वैज्ञानिक उस पर लिखने में असमर्थ था। इसीलिए ईसा की पहली शताब्दी में वोधिसत्त्व नागार्जुन द्वारा पारद के आविष्कार के वाद पूरे छः सौ वर्ष तक उस पर वैज्ञानिक दृष्टि से कुछ लिखा ही नहीं

---

1. स्वस्थस्योर्जस्करं यत्तु तद्वृष्यं तद्रसायनम्।—चरक
2. 'लिङ्गाग्रे योनिनिक्षिप्तं यावदायुर्वशंकरम्।'—र० र० स० 11/106
   सेत्स्यति रसे करिष्ये महीमहं निर्जरा मरणाम्।'—र० र० स० 1/35
3. रसविद्या दृढं गोप्या मातुर्गुह्यमिव ध्रुवम्।
   भवेद्वीर्यवती गुप्ता निर्वीर्या च प्रकाशनात्॥—र० र० स० 6/63
4. अभिनिवेशवशादभियुज्यते सुभणितेऽपि न यो दृढ-मूढकः।
   पठतु यत्नपरः पुरुषायुषं स खलु वैद्यकमाद्यमनिर्विदः॥—अ० हृ० उत्त० 40/85
5. चतस्रो गतयो दृश्या अदृश्या पञ्चमी गतिः।
   मन्त्रध्यानादिना तस्य रक्ष्यते पञ्चमी गतिः॥—रसरत्नसमुच्चय 1/8

जा सका। लिखा वहुत गया, किन्तु वह आयुर्वेद न था। वह एक ऐसा दर्शन था जिसका विश्लेषण कपिल, कणाद, गौतम और पतंजलि की कल्पना से वाहर था।

बोधिसत्त्व नागार्जुन का लिखा कोई रस-ग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं है। इसलिए उनके दृष्टिकोण पर कुछ नहीं कहा जा सकता। उनके वाद ईसा की सातवीं शताब्दी में सिद्ध नागार्जुन ने ही आयुर्वेद के साथ पारद का समुचित समन्वय किया। ऐसी दशा में आचार्य वाग्भट के लिए यही उचित था कि वह चरक और सुश्रुत की प्राचीन आयुर्वेदिक पद्धति का ही अनुसरण करते और उन्होंने वही किया। धातु और उपधातुओं का उल्लेख किया, किन्तु पारद को छोड़ दिया।

ईसा की सातवीं शताब्दी से पूर्व तक धातु-उपधातुओं के प्रयोग उतने विकसित नहीं थे, जितने वे सातवीं शताब्दी से हुए। प्राचीन परम्परा में धातु-उपधातु भस्म किये हुए, अर्धभस्मीकृत तथा कच्चे भी प्रयोग होते थे। सारे धातुओं का शोधन, जारण तथा निरुत्थीकरण पूर्ण विकसित न था। रहा भी हो तो गुप्त ही रहा। सिद्ध नागार्जुन की प्रयोगशाला में ईसा की सातवीं शताब्दी के उपरान्त पारद के वैज्ञानिक अठारह संस्कारों के आविष्कार के साथ-साथ अन्य धातु-उपधातुओं के शोधन, मारण, जारण और निरुत्थीकरण के प्रयोग आविष्कृत हुए। प्राचीन साहित्य में उल्लेख है कि पतंजलि का लिखा एक लौहशास्त्र भी था; परन्तु उसके बारे में क्या कहा जाय, क्योंकि वह उपलब्ध नहीं। वाग्भट ने भी उसके सम्बन्ध में कुछ नहीं लिखा। यद्यपि धातु-उपधातुओं के प्रयोग वैज्ञानिक शैली में आत्रेय, धन्वन्तरि तथा कश्यप के समय से चले आ रहे थे। शिलाजतु का जो विश्लेषण आत्रेय ने अग्निवेश को बताया था, वह प्रकट करता है कि धातु-उपधातुओं के बारे में उस युग के विद्वानों की सूझ-बूझ कम नहीं थी।

'रसरत्नसमुच्चय' में पारद तथा अन्य धातु-उपधातुओं का शोधन, जारण, मारण तथा निरुत्थीकरण आदि विस्तार से दिया गया है। उसमें धातुओं के सत्त्व-विश्लेषण के प्रयोग भी हैं। यह सब ईसा की छठी शताब्दी के वाद का विकास है, जो 'अष्टाङ्गसंग्रह' तथा 'अष्टाङ्गहृदय' के निर्माण के वाद का है। 'रसरत्नसमुच्चय' स्वयं एक लेखक की शोध का परिणाम नहीं है। उसके लेखक वाग्भट ने रसायनविद्या के मर्मज्ञ अपने से पूर्वज तेंतालीस रससिद्धों के नाम ग्रन्थ के प्रारंभ में दिये हैं। ग्रन्थ के बीच-बीच में भी रसायनी-विद्या के तत्त्ववेत्ता अनेक विद्वानों के नाम दिये हैं। नन्दी, नागार्जुन, ब्रह्मज्योति, मुनीश्वर तथा सोमदेव आदि का अत्यन्त सम्मानपूर्वक उल्लेख है।[1] महत्त्वपूर्ण वात यह है कि रसायनी-विद्या के ज्ञाता 'आचार्य' शब्द से सम्बोधित नहीं किये गये। वे 'सिद्ध' शब्द से सम्बोधित होते थे।[2] सिद्ध लोग रसायनी-विद्या केवल उन्हीं को

---

1. नन्दी नागार्जुनश्चैव ब्रह्मज्योतिर्मुनीश्वरः।
   वेत्ति श्रीसोमदेवश्च नापरः पृथिवीतले॥—र० र० स० 9/63
2. एते सर्वे च सुरेन्द्रा रससिद्धा महाबलाः।
   भवन्ति सर्वलोकेषु नित्या भोगपरायणाः॥—र० र० स० 6/54
   सर्वेषां रससिद्धानां नामसङ्कीर्तनं सदा।—र० र० स० 6/50

वताते थे जो उनकी नियत विधि से उनकी शरण में आकर दीक्षा ले, अन्य को नहीं।[1] ऐसे सिद्ध सम्प्रदाय के लोग हिमालय से लेकर लंका तक फैल गये थे। 'रसरत्नसमुच्चय' में लंका के सिद्धों का भी उल्लेख है। किन्तु उनकी मान्यता यह थी कि पारद-सिद्ध लोग मुक्त हो जाते हैं, और स्थूल देह छूटने पर भी सूक्ष्म शरीर से लैंगिक सुख-भोग किया ही करते हैं।[2] इस प्रकार यह एक ऐसा चक्र था जो दुखियों पर दया के भाव से नहीं, भोग-परायणों के सन्तर्पण के लिए गुह्य गह्वरों में छिपा-छिपा पनप रहा था। ईसा की पहली शताव्दी में वोधिसत्त्व नागार्जुन के आविष्कार के वाद छठी शती तक केवल 43 रस-सिद्ध हो सके थे, जिनका उल्लेख 'रसरत्नसमुच्चय' में है। गुह्य सिद्धों के यह छ:सौ वर्ष आयुर्वेद सम्प्रदाय के साथ समन्वित न होते यदि सिद्ध नागार्जुन और गोविन्दपाद ने उसे जनहित के लिए प्रकट न किया होता।

महायान ने भिक्षु और भिक्षुणियों को मिलने की छूट दे दी थी। शर्त यह थी, किसी निश्चित उद्देश्य से मिलें। इस उद्देश्य की परिभाषा क्या? यही कारण हुआ कि वौद्ध संघ और विहारों पर लिंगयान और वज्रयानों का झण्डा फहराने लगा। करोड़ों भिक्षुणियां शक और हूण ले गये और करोड़ों की कथाएं उन खँडहरों से पूछो जो उस युग के इतिहास की मूल वेदनाएं अपने हृदय में छिपाये खड़े हैं। उन खँडहरों में ही पारद का इतिहास दव गया। अच्छा हुआ आचार्य वाग्भट ने उसे खोदकर नहीं निकाला। भूमि की उसी समाधि पर शुङ्ग, शातवाहन, भारशिव तथा गुप्त सम्राटों ने उन्नत चरित्रों के नये इतिहास लिखवाये, जिनकी भाषा लिखने वाले ही चरक, पतंजलि, नागार्जुन और वाग्भट थे।

'रसरत्नसमुच्चय' में 43 रससिद्धों में गोविन्द का नाम भी है। यह गोविन्द 'रसहृदयतन्त्र' के लेखक भगवद् गोविन्दपादाचार्य हैं। गोविन्दपाद सिद्ध-सम्प्रदाय के व्यक्ति थे और वेदान्त के स्वनामधन्य आचार्य शंकर के गुरु। गोविन्दपाद का आविर्भाव ईसा की नवीं शताव्दी में हुआ था। इसलिए 'रसरत्नसमुच्चय' का निर्माण ईसा की नवीं शताव्दी के वाद ही हुआ, यह स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। विशेषत: शिष्य के दीक्षा-काल में रसायनी-विद्या के ज्ञान के लिए जिस लिंग तथा योनि-पूजा की परिपाटी[3] चली, वह भारत में शक, हूण और कुषाणों के आगमन के उपरान्त ही चली। रस-ग्रन्थों में दी हुई यह विधि किसी प्राचीन ग्रन्थ में नहीं है। शकों-हूणों के भारत से भाग जाने के उपरान्त वह समाप्त भी हो गई। किन्तु सिद्ध लोग उसे दसवीं शताव्दी तक छिपे-छिपे वनाये रहे। डॉक्टर प्रफुल्लचन्द्र राय का मत है कि 'रस-रत्नसमुच्चय' के लेखक वाग्भट का समय ईसा की तेरहवीं शताव्दी स्वीकार करना

---

1. रसविद्या दृढं गोप्या मातुर्गुह्यमिव ध्रुवम्।
भवेद्वीर्यवती गुप्ता निर्वीर्या च प्रकाशनात्॥—र० र० स० 6/63
2. एते सर्वे च सूतेन्द्राः रससिद्धा महावलाः।
चरन्ति सर्वलोकेषु नित्या भोगपरायणाः॥—र० र० स० 6/54
3. रसरत्नसमुच्चय, अध्याय 6

चाहिए। हमें इस धारणा में कोई आपत्ति नहीं प्रतीत होती।

कुछ लोगों का विचार है कि रसायनी-विद्या मिश्र देश से भारत में आई, अरब और ग्रीस ने भी वहीं से प्राप्त की। इस विचार में बहुत सार नहीं है। ईसा से प्रायः दो सौ वर्ष पूर्व मिश्र में भारतीय विद्वानों द्वारा जो विश्वविद्यालय संचालित किये जा रहे थे, उनमें पारदीय विज्ञान की प्रतिष्ठा थी, ऐसा कोई अभिज्ञान नहीं मिलता। ईसा की द्वितीय शताब्दी पूर्व से द्वितीय शताब्दी पश्चात् तक भारत में यूनानी, ईरानी और अरबी लोग बहुत आये, परन्तु वे हमें रसायनी-विद्या दे गये, यह उल्लेख कहीं नहीं है। इसके विरुद्ध हम यह तो पढ़ते हैं कि रस का आविष्कार नागार्जुन ने किया था।[1] जैसे मिश्र, अरब और यूनान के इतिहास में रसायनी-विद्या का उल्लेख--'अष्टाङ्गहृदय' के लेखक वाग्भट (420 ई०) से पूर्व नहीं मिलता। यह विद्या अरब में 'कीमिया' या 'किमाइ' नाम से ईसा की तीसरी शताब्दी के बाद विकसित हुई। किन्तु यह 'कीमिया' धातुशास्त्र तक ही सीमित थी, 'रसतन्त्र' तक नहीं; जबकि पारद का आविष्कार भारत में ईसा की प्रथम शताब्दी में नागार्जुन ने कर लिया था। 'दृढ गोप्या' होने के कारण बोधिसत्त्व नागार्जुन से लेकर आचार्य वाग्भट तक वह भारत के वैज्ञानिकों में ही सुपरिचित न थी, मिश्र, अरब और यूनान की कथा ही क्या? उसे सिद्ध नागार्जुन ने ही ईसा की सातवीं शताब्दी में सर्वसाधारण में सुपरिचित किया, और उसके अनन्तर ही 'रसरत्नसमुच्चय' का निर्माण हो सका।

हां, पारद का प्रयोग भारतीयों में आदिकाल से वायुयानों के निर्माण में अवश्य होता था। 'रसरत्नसमुच्चय' में वाग्भट ने लिखा है कि असुरों ने जब स्वर्ग पर आक्रमण किया उस समय शत्रुओं के हाथ पारद न लग जाए इसलिए देवों और नागों ने पारद की खानें मिट्टी और पत्थरों से बन्द कर दी थीं। हिमालय के किन्हीं प्रदेशों में वे दो खानें थीं। एक से रक्तवर्ण, दूसरी से श्वेत-श्याम (भूरे रंग वाला) पारद निकलता था।[2] उस समय पारद का चिकित्सा में प्रयोग किस रूप में होता था, इस बात को सिद्ध करने के लिए कोई ग्रन्थ नहीं है। यह तो स्पष्ट है कि चिकित्सा के लिए उसे बोधिसत्त्व नागार्जुन ने ईसा की प्रथम शताब्दी में वैज्ञानिक आधार पर अनुमोदित किया। परन्तु यह आविष्कार प्रायः पाँच-सौ वर्ष गुप्त रूप से गुरु-चेलों में ही चलता रहा।

प्राचीन ग्रन्थ-लेखकों की यह परिपाटी थी कि वे अपने पूर्वज ग्रन्थकार आचार्यों का नामोल्लेख करने के उपरान्त ही ग्रन्थ का प्रतिपाद्य विषय लिखते थे। चरक में 'इतिहस्माह भगवानात्रेयः', सुश्रुत में 'इतिहस्माह भगवान् धन्वन्तरिः', 'काश्यप संहिता' में 'इतिहस्माह भगवान् कश्यपः' लिखकर ग्रन्थारम्भ किया गया है। इसी परिपाटी का 'अष्टाङ्गहृदय' और 'अष्टाङ्गसंग्रह' के लेखक ने पालन किया। अपने

---

1. नागार्जुनेन सन्दृष्टौ रसश्च रसकावुभौ।—र० र० स०
2. रसो रक्तो विनिर्मुक्तः सर्वदोषै रसायनः।
   रसेन्द्रो दोषनिर्मुक्तः श्यावो रूक्षोऽतिनिर्मलः॥
   देवैर्नागैश्च तो कूपौ पूरितौ मृद्भिरश्मभिः॥—र० र० स० 1.68-70

इन ग्रन्थों को प्रारम्भ करते हुए आचार्य वाग्भट ने लिखा—'इतिह्स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः'। कारण कि उस युग तक प्राचीन आर्ष आयुर्वेद ही सम्मानित था। ग्रन्थों में उद्धृत नाम भी प्राचीन ही हैं।

परन्तु 'रसरत्नसमुच्चय' में वह एक बात भी दिखाई नहीं देती—न उन ऋषियों के नाम, न उनके उद्धरण। प्रत्युत जो नाम इस ग्रन्थ में मिलते हैं, वे सब नये ढंग के, पुरानों से सर्वथा भिन्न हैं। इन नये नामों में प्राचीन गोत्र, प्रवर अथवा शाखाओं की वैदिक परिपाटी नहीं है। कपाली, मत्त, कम्बली, व्याडि, लम्पक, काक, भालुकि, भर्यल जैसे नाम प्राचीन गोत्र अथवा शाखाओं में सर्वथा नहीं थे। इस स्पष्ट भेद को देखकर सहज ही यह कहना होगा कि 'अष्टाङ्गहृदय' और 'रसरत्नसमुच्चय' के लेखकों तथा उनके काल में पर्याप्त अन्तर है।

अब मुख्य प्रश्न यह रहता है कि 'रसरत्नसमुच्चय' के प्रारम्भ में लिखे हुए—

एतेषां क्रियतेऽन्येषां तन्त्राण्यालोक्य संग्रहः।
सूनुना सिंहगुप्तस्य रसरत्नसमुच्चयः॥[1]

इस परिचय का क्या तात्पर्य है? 'अष्टाङ्गहृदय' के लेखक वाग्भट ने भी अपने पिता का नाम सिंहगुप्त ही लिखा है।[2] आखिर इस वल्दियत की एकता में कोई सार है तो वह क्या? अनेक विद्वानों का मत है कि 'सिंहगुप्तस्य' ऐसा पाठ प्रक्षिप्त है। प्राचीन हस्त-लिखित पुस्तकों में 'संघगुप्तस्य' ऐसा पाठ मिलता है। नितान्त छपे हुए अर्वाचीन ग्रन्थों की तुलना में हस्तलिखित प्राचीन ग्रन्थ को ही बलवत्तर प्रमाण मानना होगा। फिर एक बात और, 'अष्टाङ्गसंग्रह' और 'अष्टाङ्गहृदय' के लेखक ने सन्देह को भविष्य में स्थान न मिल सके, यही विचार कर अपने पिता और पितामह तक के नाम का उल्लेख कर दिया। दो पीढ़ियां एक से नाम की हो भी सकती हैं, तीसरी नहीं। किन्तु 'रसरत्न-समुच्चय'-लेखक वाग्भट ने पितामह का नाम नहीं लिखा और न अपने को सिन्ध का निवासी ही घोषित किया।

विशाल ग्रन्थ 'अष्टाङ्गसंग्रह' लिखने के उपरान्त आचार्य वाग्भट ने 'अष्टाङ्ग-हृदय' की रचना की थी। इस बात का परिचय उन्होंने पिछली रचना 'अष्टाङ्ग-हृदय' में दिया है।[3] यदि तीसरा ग्रन्थ 'रसरत्नसमुच्चय' भी उन्हींका लिखा हुआ होता तो इसमें भी वे अपने अन्य ग्रन्थों का परिचय अवश्य देते। आचार्य वाग्भट अपनी रचनाओं पर अपनी स्मृति की छाप लगाने के विरोधी नहीं थे। उन्होंने अपने दोनों ग्रन्थों में अपना समुचित परिचय दिया, किन्तु 'अष्टाङ्गसंग्रह' और अष्टाङ्गहृदय' में

---

1. रसरत्नसमुच्चय, अध्याय 1/8
2. भिषग्वरो वाग्भट इत्यभून्मे पितामहो नामधरोऽस्मि यस्य।
   सुतोऽभवत्तस्यच सिंहगुप्तस्तस्याप्यहं सिन्धुषु जातजन्मा॥—अष्टांग० संग्रह, उत्तर० 50
3. अष्टाङ्गवैद्यक-महोदधि-मन्थनेन
   योऽष्टाङ्गसंग्रह महामृतराशिराप्तः।
   तस्मादनल्पफलमल्पसमुद्यमानां
   प्रीत्यर्थमेतदुदितं पृथगेव तन्त्रम्॥—अष्टांग हृ०, उत्तर० 40/80

'रसरत्नसमुच्चय' का तनिक भी उल्लेख नहीं।

विभिन्न विषयक रचनाएं होने पर भी उनका लेखक प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से उन सबमें अवश्य अनुस्यूत रहता है। शैली, शब्द-योजना, वाक्य-विन्यास, अलंकार और अर्थवैशद्य ऐसे गुण हैं जो अनेक चित्रों में एक रचयिता की भांति लेखक के अभिन्न व्यक्तित्व से व्यापक रहते हैं। 'रसरत्नसमुच्चय' में एक बात भी ऐसी दिखाई नहीं देती जो उसके कर्त्ता को 'अष्टाङ्गसंग्रह' और 'अष्टाङ्गहृदय' के कर्त्ता के साथ अभिन्न सिद्ध कर सके। साथ ही समुच्चय के संगृहीत विषय गोविन्दपादाचार्य (ईसा की नवीं शताब्दी) के 'रसहृदयतन्त्र' तथा वैद्यराज सोमदेव के 'परिभाषा-प्रकरण' में अविकल मिलते हैं। उनके श्लोक तथा अनेक प्रयोग ज्यों-के-त्यों 'समुच्चय' में विद्यमान हैं। ये दोनों लेखक 'अष्टाङ्गहृदय'-लेखक वाग्भट से बहुत अर्वाचीन हैं। सुतरां 'समुच्चय' के लेखक तांत्रिक अथवा सिद्धवाग्भट का अर्वाचीनतर होना स्वयंसिद्ध है।

आयुर्वेद की विभिन्न शाखाओं के ग्रन्थ आत्रेय पुनर्वसु के युग में विद्यमान थे। 'चरक विमानस्थान' में इस बात की चर्चा की गई है।[1] आयुर्वेद प्रत्यक्ष कर्माभ्यास पर आधारित है। न्यायदर्शन में महर्षि गौतम ने आयुर्वेद की प्रत्यक्ष प्रामाणिकता को वेद की प्रामाणिकता का आधार कहा है, क्योंकि आयुर्वेद सम्पूर्ण वेद-ज्ञान का एक अंग है।[2] मंत्रों में प्रत्यक्ष चिकित्सा का उल्लेख है। उनकी सत्यता प्रत्यक्षसिद्ध है। यह प्रत्यक्ष सत्य ही सम्पूर्ण वेद की सत्यता सिद्ध करता है। इन मंत्रों के द्रष्टा ऋषि थे। वे ही आप्त भी कहे गये।[3] ऋषियों का एक लम्बा युग है। वैदिक वाङ्मय पर उनका प्रभुत्व था। आत्रेय, कश्यप और धन्वन्तरि के युग में मंत्रों की सारवत्ता और सत्यता असंदिग्ध थी। इसीलिए प्राचीन संहिता-ग्रन्थों में स्थान-स्थान पर मंत्रों का उल्लेख है। 'मंत्रों में सन्देह नहीं होना चाहिए,' यह अटूट और निर्विवाद मान्यता थी। ऋषियों का उत्कृष्ट ज्ञान ही उनके असंदिग्ध होने का आधार था। वे जो कहते वह शब्द-शब्द सत्य ही हुआ, इसीलिए समाज ने उनकी वाणी को शब्द-प्रमाण माना।

किन्तु ऋषियों के अतिरिक्त समाज में सिद्ध भी विद्यमान थे। ये सिद्ध भी पूज्य व्यक्तियों में गिने जाते रहे हैं। आत्रेय पुनर्वसु के युग में भी इन सिद्धों का स्थान था। आत्रेय ने विमान-स्थान में अध्ययन-अध्यापन की प्रक्रिया बताते हुए कहा है कि देव, गौ, ब्राह्मण, गुरु, वृद्ध, सिद्ध और आचार्यों की वन्दना करके अध्ययन प्रारम्भ होना चाहिए।[4] उदर-रोग की चिकित्सा लिखते हुए सुन्दर प्रसंग प्रस्तुत किया गया है—'भगवान् आत्रेय पुनर्वसु अपनी तपश्चर्या में तत्पर कैलास पर विद्यमान थे। सिद्ध और विद्याधर उनके चारों ओर बैठे हुए थे। उस समय अग्निवेश ने आयुर्वेद विद्या के प्रवर्त्तक अपने गुरु आत्रेय पुनर्वसु से यह प्रश्न पूछा—"भगवन्! उदर-रोग का निदान

1. विविधानि हि शास्त्राणि भिषजां प्रचरन्ति लोके—चरक विमा० 8/3
2. मन्त्रायुर्वेद प्रामाण्य वच्च तत्प्रामाण्यमाप्त प्रामाण्यात्—न्यायदर्शन 1/2/67
3. किम्पुनराप्तानां प्रामाण्यम् ? साक्षात्कृतधर्मता, भूतदया, यथा भूतार्थचिख्यापयिषा चेति"
—वात्स्यायन-भाष्य
4. देव-गो-ब्राह्मण-गुरु-वृद्ध-सिद्धाचार्येभ्यो नमस्कृत्य......।—चरक, विमा० 8/6

और चिकित्सा क्या है ?"[1] आखिर यह निश्चित है कि सिद्ध लोगों की एक परम्परा आदिकाल से चली आती थी। वह स्वर्ग में भी थी।

यह सिद्ध कौन थे ? और यह ऋषि कौन ? यह प्रश्न भी बड़े महत्त्व का है। साधनों के द्वारा साध्य सम्पादन करने वाले सिद्ध, और साध्य से साधनों का सम्पादन करने वाले ऋषि थे।[2] ऋषियों के विचार मंत्र थे, और सिद्धों के विचार तंत्र। ऋषि योजना (Plan) देने वाले, और सिद्ध उसे व्यावहारिक दृष्टि से निर्माण करने वाले (Executers) थे। ऋषि शब्द दर्शन से बना है। वह द्रष्टा (Seer) होता था। बौद्ध आन्दोलन ने मंत्रों की श्रद्धा उखाड़ दी।[3] ऋषियों का शासन भंग कर दिया। बौद्ध संघ ने स्वयं अपने युग की योजना बनाई और स्वयं उसे क्रियान्वित किया। ऋषि कोई न था, सब सिद्ध ही थे। द्रष्टा कोई न था, सब निर्माता ही थे। बोधिसत्त्व नागार्जुन ने उन्हीं विचारों के पल्लवन में सिद्धों की प्रतिष्ठा का सूत्रपात किया और उनकी रचनाएं तंत्र-ग्रन्थों के रूप में प्रचलित हो गईं।

आयुर्वेद के उत्तरकाल में ही यह प्रश्न नहीं उठा कि 'ज्ञान से कर्मसिद्धि होती है, या कर्म से ज्ञानसिद्धि ?' ऋषि प्रथम पक्ष में थे, और सिद्ध द्वितीय में। किन्तु यह मानव का सनातन प्रश्न है और बना रहेगा। स्वयं वेदों में हम ज्ञान-काण्ड (ऋग्वेद) के बाद ही कर्मकाण्ड (यजुर्वेद) का प्रतिपादन देखते हैं। और अन्त को उपनिषदों ने विवाद को यह कहकर समाप्त किया कि "विद्याञ्चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह।"[1] आचार्य वाग्भट ने अपने ग्रन्थों में इसका सुन्दर समाधान यह दिया कि "ऋषि और सिद्ध का विवाद छोड़ो। सुभाषित को ग्रहण करो। देश और काल के अनुसार जो हितकर हो, वही पकड़ो।"[5] प्रकाश में प्रगति करो। वह पूर्व की खिड़की से आता है या पश्चिम की, यह विवाद व्यर्थ है। चरक ने भी तर्क से तंग आकर कहा, "वैद्य कौन है ? वही जो रोग-मुक्त कर दे।" रोग न हट सका तो आयुर्वेदाचार्य की पदवी का क्या होगा ? परन्तु तो भी वाग्भट के ज्ञान का आधार वह साहित्य था जो ऋषियों के जीवन से आलोकित हुआ था। इसलिए अन्त में उन्होंने अपने ग्रन्थों के पठन-पाठन का एक ही मार्ग बताया—

---

1. सिद्धविद्याधराकीर्णे कैलासे नन्दनोपमे।
   तप्यमानस्तपस्तीव्रं साक्षाद्धर्ममिव स्थितम्॥
   आयुर्वेदविदां श्रेष्ठं भिषग्विद्याप्रवर्त्तकम्।
   पुनर्वसुं जितात्मानमग्निवेशोऽब्रवीद्वचः॥ —चरक, चि० 13/1-2
2. ऋषीणां पुनराद्यानां वाचमर्थोनुधावति। —निरुक्त (देवराज)
3. 'बुद्ध और उनके अनुचर' —'बुद्धघोष' का वर्णन देखें।—श्री आनन्द कौसल्यायन
   बुद्धघोष तथा आचार्य वाग्भट समकालीन थे।
   अनन्येनैवभावेन गच्छन्त्युत्तमपुरुषम्। श्रुतिःसाध्वीमदक्षोवैः का वा शाक्यैर्न दूषिता ?
   —शंकरदिग्विजय 1/36
4. ज्ञान और कर्म दोनों को जानो।—ईशोपनिषद्
5. ऋषिप्रणीते प्रीतिश्चेन्मुक्त्वा चरकसुश्रुतौ।
   भेडाद्याः किन्न पठ्यन्ते तस्माद् ग्राह्यं सुभाषितम्॥—अ० हृ०, उत्तर 40

"मन्त्रवत्संप्रयोक्तव्यम् ।" उन्हें मंत्र मानकर पढ़ो। तांत्रिक वाग्भट में यह दृढ़ता न थी।

यद्यपि आर्ष उपनिषदों में ज्ञान और कर्म का समन्वय ही अन्तिम सिद्धान्त है, तो भी सिद्ध लोग भौतिकवादी ही थे। वे साध्य पर कम और साधनों पर अधिक भरोसा रखते थे। मन्त्र ऐसा तत्त्व प्रस्तुत करता है जिसमें तर्क को स्थान नहीं रहता। इसीलिए वाग्भट ने कहा—'मन्त्रवत्सम्प्रयोक्तव्यम्'—तर्क न करो। क्योंकि तर्क अनवस्थित है। श्रद्धा और विश्वास के साथ अनुगमन करो। तत्त्व वहां रहता है जहां वाणी और तर्क नहीं पहुंचते। परन्तु सिद्ध अपने साधनों के भरोसे साध्य को वाध्य करना चाहते थे। ज्ञान का साधन शरीर है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का मूल साधन भी शरीर ही है। इसलिए यौवन से खिला हुआ और कमनीय अजर-अमर शरीर ही अन्तिम श्रेय है।[1] सिद्ध सम्प्रदाय का यही आग्रह है जो 'रसेश्वरदर्शन' का सार है। सिद्ध-सम्प्रदाय केवल प्रत्यक्षवादी है। वह ऋषियों की भांति अनुमान, उपमान और शब्द-प्रमाणों के प्रपंच में नहीं पड़ता।[2] आचार्य वाग्भट आत्रेय सम्प्रदाय के अनुयायी तथा प्रमाण-चतुष्टय के पक्षपाती थे, किन्तु सिद्ध (तांत्रिक) वाग्भट केवल प्रत्यक्षवादी।

आचार्य वाग्भट वैदिक आचारशास्त्र के समर्थक थे। सूत्रस्थान के दूसरे अध्याय (अष्टाङ्गहृदय) में सदाचार का ही उपदेश है। उन्होंने कायिक और मानसिक सम्पूर्ण आचारों का प्रवल समर्थन वैदिक परिपाटी के अनुसार किया। दस प्रकार के पापों को काया, वाणी और मन से भी त्यागने का आदेश दिया।[3] दूसरी ओर सिद्ध वाग्भट ने 'रसरत्नसमुच्चय' में लिखा—"हजारों ब्राह्मण मार डालो, करोड़ों स्त्री तथा गौएं मार डालो. रस-लिंग बनाकर उसका नित्य दर्शन करो तो ये सारे पाप क्षण-भर में नष्ट हो जायेंगे। और यदि रसलिंग का नित्य स्पर्श किया तो जानो मुक्ति मिल गई।"[4] एक ओर आचार्य वाग्भट का सदाचार और दूसरी ओर सिद्ध वाग्भट का यह कदाचार, दोनों व्यक्तियों का महान् अन्तर ही प्रस्तुत करता है।

उपर्युक्त प्रमाणों के आधार पर 'अष्टाङ्गहृदय' के लेखक तथा 'रसरत्नसमुच्चय' के रचयिता, दोनों व्यक्तियों के भिन्न-भिन्न होने में कोई सन्देह नहीं रहता। तो भी यहां तुलनात्मक दृष्टि से उनके सम्बन्ध में थोड़ा-सा विचार और करें तो उनके अलग-अलग व्यक्तित्व को पहचानना सुकर होगा।

ऊपर कहा जा चुका है, 'रसरत्नसमुच्चय' में गोविन्दपादाचार्य तथा वैद्यराज

---

1. आयतनं विद्यानां मूलं धर्मार्थकाममोक्षाणाम् ।
   श्रेयः परं किमन्यत् शरीरमजरामरं विहायैकम् ॥ —र-र-स० 1/53
2. प्रत्यक्षेण प्रमाणेन यो न जानाति सूतकम् ।
   अदृष्टविग्रहं देवं कथं ज्ञास्यति तन्मयम् ॥ —र० र० स० 1/54
3. पाप कर्मेति दशधा कायवाङ्मनसैस्त्यजेत् । —अ० हृ०, सूत्र० 2/21-22
4. ब्रह्महत्या सहस्राणि स्त्री गोहत्याऽयुतानि च ।
   तत्क्षणाद्विलयं यान्ति रसलिङ्गस्य दर्शनात् ॥
   स्पर्शनात् प्राप्यते मुक्तिः……। —र० र० स० 6/19-20

सोमदेव के ग्रन्थों से अनेक प्रकरण उद्धृत किये गये हैं। उसी प्रकार 'चरक-संहिता' तथा 'अष्टाङ्गहृदय' के भी वहुत से श्लोक समुच्चयकार ने उद्धृत किये हैं। ये उद्धरण 'समुच्चय' के अन्तिम तीसवें अध्याय में हैं। ग्रन्थ का उपसंहार करते हुए ये श्लोक लेखक ने उद्धृत किये। आइये, 'अष्टाङ्गहृदय' के उपसंहार के साथ 'रसरत्नसमुच्चय' के उपसंहार की तुलना करें।[1]

'अष्टाङ्गहृदय' के उपसंहार की भाषा वहुत ओजस्विनी है। उससे लेखक की उच्चकोटि की विद्वत्ता और कवित्वशक्ति व्यक्त होती है। प्रतीत होता है, लेखक वहुत ऊंचे आसन से गुरु की भांति सारे संसार को शिष्य के रूप में आयुर्वेद का उपदेश दे रहा है। उसे अपनी उक्ति की सत्यता पर पूर्ण विश्वास है। वह जानता है कि उसकी सूक्तियां अजर और अमर हैं। अपनी कृति की सत्यता में उसे इतना विश्वास है कि वह उसमें ऋषियों और मुनियों के भी हस्तक्षेप को स्वीकार करने को तैयार नहीं। उपक्रम और उपसंहार उसकी लेखनी की नोक पर अठखेलियां करते हैं। उत्कृष्ट और प्रांजल भाषा, सरस और सुन्दर कवित्व, गम्भीर और वैज्ञानिक वस्तुतत्त्व, आचार्य वाग्भट का यह परिचय एक-एक पंक्ति देती है।

दूसरी ओर 'रसरत्नसमुच्चय' के उपसंहार में इसके सर्वथा प्रतिकूल—भाषा दवी हुई है, कवित्व उदास है, लेखक को आत्मविश्वास इतना कम है कि किसी भी प्रतिवादी की गर्जना सुनकर वह मैदान छोड़ने को तैयार है। विद्वत्ता के नाम पर वह कोई अधिकारपूर्ण वात कहने को उद्यत नहीं। दोनों के शब्दों की तनिक तुलना तो कीजिये—

'अष्टाङ्गहृदय' के लेखक का दावा है—

इति तन्त्रगुणैर्युक्तं तन्त्रदोषविवर्जितम्।
चिकित्साशास्त्रमखिलं व्यापठ्य परितः स्थितम्॥
इदमागमसिद्धत्वात्प्रत्यक्षफलदर्शनात्।
मन्त्रवत्सम्प्रयोक्तव्यं न मीमांस्यं कथञ्चन॥[2]

परन्तु 'रसरत्नसमुच्चय' कार में वह क्षमता कहां है? वहुत-सी उधार सामग्री को दवी हुई भाषा में इस ढंग से प्रस्तुत किया है जिसमें न साहित्य है, न कवित्व और न ओज। और अन्त में उन्होंने कहा—

रसरत्नसमुच्चयो मयेत्थं
रचितः साधु नितान्तमाद्रियन्ताम्।

---

1. तुलना कीजिये—

चरक संहिता—	रसरत्नसमुच्चय
सूत्रस्थान—9/15	30/123

2. "शास्त्र के सारे गुणों से युक्त और सम्पूर्ण दोषों से रहित यह चिकित्साशास्त्र मैं प्रस्तुत कर रहा हूं। यह आयुर्वेद का सार है। प्रमाणों से सिद्ध तथा प्रत्यक्ष फल देने वाले इस प्रबन्ध को वेद के मन्त्रों की भांति प्रयोग करना। इसमें टीका-टिप्पणी की आवश्यकता नहीं।"

सुधियो यदि विद्यतेऽत्र दोषः
क्वचिदर्हन्ति ममाप्यलं विसोढुम् ॥[1]

कहां 'तन्त्रदोषविवर्जितम्' और कहां 'यदि विद्यतेऽत्रदोपः'? कहां 'न मीमांस्यं कथञ्चन' और कहां 'अर्हन्ति ममाप्यलं विसोढुम्'? दोनों में आकाश और पाताल-जैसा अन्तर है। इतना बड़ा अन्तर देखकर भी क्या हम उन्हें नहीं पहचान सकते? यहां विवाद की आवश्यकता ही क्या है?

वाग्भटालंकार

वाग्भट के नाम से मिलने वाला चौथा ग्रन्थ वाग्भटालंकार है। यह संस्कृत-साहित्य के अलंकारशास्त्र का एक छोटा-सा किन्तु महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। अनेक बार पढ़ने पर भी ग्रन्थ की रोचकता में कमी नहीं आती। अपने प्रतिपाद्य विपय को विशद करने में विद्वान् लेखक ने सफलता पाई है। संस्कृत-साहित्य के 'काव्यप्रकाश', 'साहित्यदर्पण', 'ध्वन्यालोक' और 'रसगङ्गाधर' आदि बड़े-बड़े लक्षण-ग्रन्थों में अभिधा, लक्षणा, व्यंजना, ध्वनि तथा विविध अलंकारों के जो उदाहरण दिये गये हैं वे अधिकांश संग्रह-मात्र हैं। परन्तु वाग्भटालंकार अथ से लेकर इति तक कुशल कवि की अपनी रचना है। ग्रन्थ देखने से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि ग्रन्थ-लेखक एक विद्वान् और उच्च कोटि का कवि है।

परन्तु प्रश्न तो यह है कि 'अष्टाङ्गसंग्रह' और 'अष्टाङ्गहृदय' के लेखक ही 'वाग्भटालंकार' के लेखक हैं या और कोई? अनेक लोगों का कहना तो यही है कि 'अष्टाङ्गसंग्रह' के लेखक वाग्भट ही वाग्भटालंकार के भी लेखक हैं। उपर्युक्त दावा करने वाले व्यक्तियों के पास अपने पक्ष-पोषण के लिए केवल वाग्भट नाम की एकता ही सबसे प्रवल युक्ति है। दूसरी यह कि दोनों ग्रन्थ एक-सी विद्वत्ता के परिचायक हैं। "दोनों के कवित्व में प्रतिभा और ओज है, इसलिए दोनों ग्रन्थ एक ही वाग्भट के लिखे हुए स्वीकार किये जाने चाहिए। इस मान्यता को स्वीकार करने से पूर्व हमें वाग्भटा-लंकार की अन्तरंग परीक्षा करनी होगी। कसौटी पर जो रह जाय वही स्वर्ण है।

हम ऊपर कह चुके हैं, वाग्भटालंकार एक छोटा किन्तु रोचक, विद्वत्तापूर्ण और सरल ग्रन्थ है। उसे ओद्योपान्त पढ़ने पर निसर्ग-सुन्दर शृंगार के साथ-साथ भगवद्भक्ति-पूर्ण भावनाओं का रस भी प्राप्त होता है। ग्रन्थ-लेखक जितना रसिक है, उतना ही भगवद्भक्त भी है। जिस प्रसून पर चंचरीक मचल उठते हैं, वही उस कमनीय सौन्दर्य के चितेरे की कथा भी कहता है। मंगलाचरण देखिये—

श्रियं दिशतु वो देवः श्रीनाभेय जिनः सदा।
मोक्षमार्गं सतां ब्रूते यदागमपदावली ॥

—"ग्रन्थ-रूपी गम्भीर सागर से पार उतरना है तो भवसागर से पार उतारने वाले 'जिन'

---

1. "यह 'रसरत्नसमुच्चय' मैंने अपनी शक्ति भर अच्छा लिखा है, आप इसका आदर करें। परन्तु इसमें कोई दोप रह गया हो तो बुद्धिमान् उसे क्षमा करें।"

भगवान् ही तुम्हारा कल्याण करेंगे।" जो भवसागर से पार उतार सकता है, वह ग्रन्थ-सागर से पार उतार ही देगा। भगवान् 'जिन' का जिसे इतना भरोसा है, उसके जैन होने में कोई सन्देह नहीं। ग्रन्थ को आद्योपान्त पढ़ जाने पर यह कहने में तनिक भी संकोच नहीं कि जिन भगवान के प्रति यह अटूट भक्ति ग्रन्थकार की अन्तरात्मा का प्रतिविम्ब ही है। वाग्भटालंकार के व्याख्या-लेखक श्री सिंहदेव गणि ने भी यही लिखा है—

'तथा च शास्त्रादौ त्रिविधानां देवतानां स्तुतिः सम्भवति समुचितायाः, इष्टायाः, समुचितेष्टायाः। ···अत्र पुनः शास्त्रारम्भे श्रीनाभेय नमस्कारेणाभीष्ट देवता स्तुतिं प्रचक्रे वाग्भटः॥

अर्थात् शास्त्रारम्भ में तीन प्रकार की स्तुति हो सकती है—प्रथम समुचित देवता की स्तुति, दूसरे इष्ट देवता की स्तुति और तीसरे नम्बर पर समुचितेष्ट देवता की स्तुति। समुचित देवता वह है जो ग्रन्थ के प्रतिपाद्य विपय का भी देवता हो, जैसे शब्दशास्त्रके प्रारम्भ में शारदा की स्तुति या शृंगार रस के प्रारम्भ में कामदेव की स्तुति। किन्तु प्रतिपाद्य विपय के देवता के अतिरिक्त लेखक का अभीष्ट देवता विष्णु, शिव, जिन या अवलोकितेश्वर भी हो सकते हैं। ऐसी दशा में ग्रन्थकर्त्ता को अधिकार है कि वह समुचित देवता की स्तुति न लिखकर इष्ट देवता की स्तुति लिखे। परन्तु प्रायः परिपाटी यह है कि समुचित देवता की स्तुति ही लिखी जाती है। इष्ट देवता की स्तुति लिखना निपिद्ध नहीं किन्तु परिपाटी में नहीं आता। तो भी लेखक को अधिकार है वह चाहे जो लिखे। जैसे मीमांसाशास्त्र-सम्बन्धी 'अर्थसंग्रह' ग्रन्थ के प्रारम्भ में गोपवधूटी-दुकूल चुराने वाले श्यामसुन्दर की स्तुति लिखी गई। तीसरा क्रम समुचितेष्ट देवता की स्तुति का है। इसके अनुसार ऐसे देवता की स्तुति लिखी जाती है जो समुचित भी हो और इष्ट भी। वाग्भटालंकार के व्याख्याकार ने उपक्रमोपसंहार आदि तात्पर्य-निर्णायिक प्रमाणों के आधार पर यही निर्णय किया कि वाग्भटालंकार के लेखक वाग्भट ने अभीष्ट देवता की स्तुति ही लिखी है, अन्यथा जिनेन्द्र जैसे विरक्त को शृंगार और अलंकार से क्या काम ? अतएव जिसके अभीष्ट देवता जिन भगवान् हों, उसका जैन होना स्वयंसिद्ध है।

स्तुति-सम्बन्धी श्लोक के अतिरिक्त शेप सारे ग्रन्थ में भी प्रतिपाद्य विपय के साथ-साथ लेखक ने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि वे जैनमत के दृढ़ विश्वासी थे। ग्रन्थ के अन्तर्गत गुण, दोप, रीति तथा अलंकार आदि प्रकरणों में भी जैनधर्म के ही ऐतिहासिक संस्मरण लेखक ने श्रद्धापूर्वक संकलित किये हैं।[1] हम समझते हैं, 'वाग्भटालंकार'-लेखक वाग्भट का धार्मिक विश्वास की दृष्टि से यह परिचय पर्याप्त है। इस प्रकार यह

1. (अ) औदार्य गुण—

गन्धेन विभ्राजितधाम लक्ष्मीं
लीलाम्बुजच्छत्रमपास्य राज्यम्।
क्रीडागिरौ रैवतके तपांसि
श्रीनेमिनाथोऽत्र चिरं चकार॥

भेद स्पष्ट करता है कि 'वाग्भटालंकार' के लेखक जैन थे, जबकि 'अष्टाङ्गसंग्रह' और 'अष्टाङ्गहृदय' के लेखक वाग्भट वैदिक धर्मानुयायी। प्रकृति और पुरुष को स्वभाव से सत् और कूटस्थ एवं-नित्य मानने वाले व्यक्ति का अनेकान्तवादी 'स्याद्वाद' के साथ एकीकरण किस प्रकार हो सकता है ?

'वाग्भटालंकार' में एक प्राकृत गाथा लिखी है—

बम्भण्ड सुत्ति संपुड मुक्ति मणिणो पहा समूहव्व।
सिरि बाहऽत्ति तणओ आसि बुहो तस्य सोनस्य ॥[1]

इस गाथा के अनुसार इन वाग्भट के पिता का नाम सोम या सोमदेव था। प्राकृत भाषा में कवि का तत्कालीन नाम 'बाहड़' प्रचलित था। जिनवर्धन सूरि, सिंहदेव गणि, क्षेमहंस गणि आदि 'वाग्भटालंकार' के अनेक टीकाकारों का भी यही मत है। परन्तु 'अष्टाङ्गसंग्रह' और 'अष्टाङ्गहृदय' के लेखक वाग्भट ने अपने पिता का नाम 'सिंहगुप्त' और पितामह का नाम 'वाग्भट' लिखा है।

अनेक व्याख्याकारों के विचार से यह गाथा 'वाग्भटालंकार' के लेखक वाग्भट की ही स्वयं लिखी हुई है। किन्तु हमें यह विचार युक्तियुक्त नहीं प्रतीत होता। गाथा की 'आसीत्' क्रिया भूतकाल प्रथमपुरुष की है, जिससे यह प्रतीत होता है कि गाथा ग्रन्थ-लेखक वाग्भट के बाद की लिखी हुई है, स्वयं कविवर वाग्भट की नहीं। यदि गाथा स्वयं 'वाग्भटालंकार' के लेखक की रचित होती तो 'आसीत्' की क्या आवश्यकता थी ? 'अस्ति' होना चाहिए।

'वाग्भटालंकार' पर प्रायः पांच टीकाएं उपलब्ध होती हैं। लेखकों के नाम यों हैं—

(1) जिनवर्धन सूरि, (2) सिंहदेव गणि, (3) क्षेमहंस गणि, (4) अनन्तभट्ट के पुत्र गणेश और (५) राजहंसोपाध्याय। सिंहदेव गणि को छोड़कर अन्य किसी टीकाकार ने गाथा की इस भूतकालीन क्रिया पर ध्यान नहीं दिया। सिंहदेव गणि ने उस पर ध्यान देते हुए गाथा की अवतरणिका इस प्रकार लिखी—

"इदानीं ग्रन्थकार इदमलङ्कार-कर्तृत्व-ख्यापनाय वाग्भटाभिधस्य महाकवेर्महामात्यस्य तन्नाम गाथयैकया निर्दिशति"।

"अब ग्रन्थकार (गाथा-लेखक या व्याख्याता) महाकवि एवं महामात्य वाग्भट

(ब) अभिधीयमान सादृश्य—

गत्या विभ्रममन्दया प्रतिपदं या राजहंसायते।
यस्या पूर्णमृगाङ्कमण्डलमिव श्रीमत्सदैवाननम्।
यस्याञ्चानुकरोति नेत्रयुगलं नीलोत्पलानि श्रिया
तां कुन्दाहंदतीं त्यजज्जिनपती राजीमती पातु वः॥

(स) विभावना—

अनध्ययन विद्वान्सो निर्द्रव्यपरमेश्वराः।
अनलङ्कारसुभगाः पान्तु युष्माज्जिनेश्वराः॥

1. ब्रह्माण्ड शुक्ति सम्पुट मौक्तिकमणेः प्रभासमूह इव।
श्रीवाग्भट इति तनय आसीद्बुधस्तस्य सोमस्य॥ 4/148

के अलंकार-कर्तृत्व को प्रकट करने के लिए एक गाथा द्वारा उनका नाम निर्देश करता है।"

इसको देखने से निम्न बातें स्पष्ट होती हैं—

1. गाथा स्वयं महाकवि वाग्भट की रचित नहीं है।
2. गाथा तथा तदतिरिक्त ग्रन्थ के लेखक भिन्न-भिन्न हैं।
3. गाथा-लेखक तथा ग्रन्थ-लेखक का समय एक नहीं है।
4. गाथा लिखे जाने से पूर्व कविवर वाग्भट अपनी जीवन-लीला समाप्त कर चुके थे।
5. 'वाग्भटालंकार' में ग्रन्थ-लेखक के अतिरिक्त अन्य लेखकों द्वारा मिलाया प्रक्षिप्त अंश भी है।
6. 'वाग्भटालंकार' के लेखक वाग्भट अपने युग के महाकवि तथा किसी राजा के महामंत्री थे।

टीकाकार सिंहदेव गणि का दृष्टिकोण अधिक उपादेय है। गाथा स्वयं वाग्भट-लिखित नहीं है। हां, वह वाग्भट के बारे में थोड़ा-सा किन्तु महत्त्वपूर्ण परिचय अवश्य देती है, इसमें सन्देह नहीं।

एक बात और—शायद पहले गाथा का पाठ वर्तमान पाठ से कुछ भिन्न था। सिंहदेव गणि-लिखित व्याख्या से यह स्पष्ट होता है। वे लिखते हैं—

"तस्याप्यत्र गाथायामनिर्दिष्टस्य श्रीवाग्भटः श्रीवाहड इति तनय आसीत्। कीदृशः ? शूरोऽपि बुधः। विरोधालङ्कारोऽत्र समवगन्तव्यः।"[1]

सिंहदेव गणि की इस टिप्पणी के अनुसार गाथा का पाठ यों होना चाहिए—

सिरि वाहऽत्ति तणओ आसि बुहो तस्स सूरोऽपि।

इसी पाठ के आधार पर टीकाकार ने 'शूरोपि बुधः' में विरोधालंकार लिखा है। यदि पूर्वोक्त पाठ को ही गाथा का शुद्ध रूप मान लें तो सिंहदेव गणि के 'शूरोऽपिबुधः' शब्द गाथा के किस अंश की व्याख्या हैं ? इस प्रकार वाग्भटालंकार के रचयिता का परिचय देने में गाथा का स्वरूप नितान्त अक्षुण्ण नहीं है, तो भी उनके परिचायक उपकरणों में गाथा को रखना चाहिए।

'वाग्भटालंकार' के वाग्भट का समय—

महाकवि वाग्भट का आविर्भाव किस काल में हुआ, यह विवादास्पद ही है। क्योंकि उन्होंने अपने काल के बारे में स्पष्ट कुछ नहीं लिखा और न किसी टीकाकार ने इस प्रकार प्रकाश डाला। हां, एक बात है जो इस काल-निर्णय में सहयोग देती है—कविवर वाग्भट ने अनेक स्थलों पर उदाहरण के रूप में जो श्लोक दिये है, उनमें अनेक में महाराज जयसिंह का वर्णन है। फलतः यह स्वीकार करना चाहिए कि वाग्भट जयसिंह

1. जिनका नाम इस गाथा में नहीं लिखा गया, उन महानुभाव के श्रीवाग्भट (वाहड) पुत्र थे, जो शूरवीर होकर भी विद्वान् थे। यहां विरोधालंकार है।

के समकालीन हैं, और संभवतः वे इन्हीं सम्राट् के महामात्य (प्रधान मंत्री) थे। वाग्भट का लिखा 'जयसिंह-वर्णन' महाराज जयसिंह के साथ उनके घनिष्ठ सम्पर्क का परिचय देता है। इसके लिए 'वाग्भटालंकार' के कुछ श्लोक (4/76-81-85-132) देखने योग्य हैं।[1] 132वां श्लोक देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि महाकवि वाग्भट तथा श्रीकर्णदेवसिंह के पुत्र महाराज जयसिंह समकालीन थे। श्लोक देखिये—

अणहिल्ल पाटक पुरमवनिपतिः कर्णदेवनृपसूनुः।
श्रीकलशनामधेयः करी च रत्नानि जगती ह॥ 4/132

श्लोक की लेखन-शैली सहज ही वर्तमानकालीन क्रिया 'सन्ति' का अध्याहार चाहती है। *निस्सन्देह, श्लोक अपनी वर्णित तीन वस्तुओं का समकालीन वाग्भट को सिद्ध करता* है—"बस, तीन ही वस्तुएं संसार के बहुमूल्य रत्न हैं—अनहिल पट्टनपुर राजधानी, सम्राट् जयसिंह और उनका हाथी 'श्रीकलश'।" यह स्पष्ट है कि महाराज जयसिंह देव की राजधानी गुजरात का प्रसिद्ध नगर अनहिलपाटन थी। कविवर वाग्भट इन्हीं सम्राट् जयसिंह के प्रधान मंत्री थे।

इसके अतिरिक्त श्री प्रभाचन्द्र मुनीन्द्र-रचित 'प्रभाविक-चरित्र' में भी कविवर वाग्भट का जो वर्णन मिलता है, उससे भी महाराज जयसिंह से उनकी समकालीनता स्पष्ट है। इसी प्रकरण में प्रसंगवश महाकवि वाग्भट का समय भी 1213 विक्रम या 1154 ई० वर्णन किया गया है। जुलियस एजिलिंग (Julieus Eggeling) ने स्व-लिखित 'भारतीय पुस्तकालय में संस्कृत पाण्डुलिपियों की तालिका' (Catalogue of Sanskrit Manuscripts in the Indian Office) नामक निवन्ध में महाकवि वाग्भट का वर्णन करते हुए महाराज जयसिंह का समय 1093 ई० से लेकर 1154 ई० तक लिखा है। हेमाचार्य-प्रणीत 'द्व्याश्रय-काव्य' की चतुर्थ पुस्तक के अनुवाद में, जो 'Indian Antiquary' (भारतीय पुरातत्त्व) नाम से प्रकाशित हुई है, यह समय 1093 ई० से लेकर 1143 ई० तक ही लिखा है। परन्तु अधिक प्रामाणिक होने से ऊपर का समय 1093 ई० से 1154 ई० ही उपादेय है।[2]

---

1. ग्रस्त्वस्तु पौरुषगुणाज्जयसिंहदेव
   पृथ्वीपते मृगपतेश्च समानभावः।
   किन्त्वेकतः प्रतिभटाः समरं विहाय
   सद्यो विशन्ति वनमन्यमशङ्कमानाः॥ 4/85
   इन्द्रेण किं स यदि कर्णनरेन्द्रसूनुः
   ऐरावणेन किमहो यदि तद्द्विपेन्द्रः।
   आः स्यन्दनध्वजधृतोद्धुरताम्रचूडः
   ………श्रीकर्णदेवनृपसूनुरयं रणाग्रे॥ 4/76-81

2. अथास्ति वाहडो नाम धनवान्धार्मिकाग्रणीः।
   गुरुपादान् प्रणम्याथ चक्रे विज्ञापनामसौ॥
   आदिश्यतामतिश्लाघ्यं कृत्यं यत्र धनव्ययः।
   प्रभुराहालये जैने द्रव्यस्य सफलो व्ययः॥ (शेष पेज 770 पर)

वर्णनों से पता चलता है कि 1154 ई० में महाराज जयसिंह देव ने महाकवि वाग्भट द्वारा बनवाये गये तथा कुछ जीर्णोद्धार किये गये जिनालयों का ध्वजारोहण एवं उद्घाटन-समारोह करके महानिर्वाण पद प्राप्त किया। किन्तु महाकवि वाग्भट उनके उपरान्त भी कुछ काल और जीवित रहे। यह भी सिद्ध है कि कविवर वाग्भट अपने जीवन में राजनैतिक क्षेत्र में महामात्य और धार्मिक क्षेत्र में 'धर्माचार्य' पद पर प्रतिष्ठित हुए।

लगभग उपर्युक्त काल में ही एक महाराज जयसिंह काश्मीर में हुए थे। 'राजतरंगिणी' में उनका वर्णन मिलता है।[1] कुछ लोग गुजरात के सम्राट् जयसिंह को नाम-साम्य से काश्मीर के जयसिंह से अभिन्न मानते हैं। यह ठीक नहीं। दोनों राजा भिन्न थे। 'राजतरङ्गिणी' के जयसिंह काश्मीर के सम्राट् थे, उनकी राजधानी श्रीनगर थी। उनके पिता का नाम, कुल और गोत्र गुजरात के राजा जयसिंह से भिन्न था। अतएव नाम-मात्र की एकता के आधार पर सुलझे हुए विषय को उलझाना ठीक नहीं।

'वाग्भटालंकार' की प्राकृत गाथा (श्रीवाहड़ इति तनय आसीद् बुधस्तस्य सोमस्य) में कविवर वाग्भट के पिता का नाम सोमदेव लिखा गया है। 'रसरत्न-समुच्चय' में भी स्थान-स्थान पर 'सोमदेवेन भूभुजा', 'सोम सेनानी' आदि विशेषणों-सहित एक तांत्रिक या रसायनाचार्य का उल्लेख है। यह भी लिखा है कि रसवन्ध की प्रक्रिया नन्दी, नागार्जुन, ब्रह्मज्योति और मुनीश्वर के बाद इस पृथ्वी पर यदि कोई जान सका तो वे सोमदेव ही थे। यह सोमदेव और कविवर वाग्भट के पिता सोमदेव का भेद अथवा अभेद क्या स्वीकार किया जाय—यह अभी प्रश्न ही है।

ईसा की छठी शताब्दी से बारहवीं शताब्दी तक काव्यशास्त्र के दो सम्प्रदाय चले आते थे—पहला काश्मीरी सम्प्रदाय और दूसरा वैदर्भ सम्प्रदाय। उद्भट, रत्नाकर, क्षेमेन्द्र, मम्मट और आनन्दवर्धन जैसे चोटी के काव्य-मर्मज्ञ एक ओर काश्मीर ने उत्पन्न किये तो दूसरी ओर दण्डी, वामन, भोजराज, हेमचन्द्र, भवभूति और माघ-जैसे धुरन्धर काव्यकला-कुशल भी विदर्भ ने दिये हैं। किन्तु विदर्भ सम्प्रदाय की सूची तब

आदेशानन्तरं तेनाकार्यत श्रीजिनालयः।
अणहिल्लपुरं प्राप क्ष्मापः प्राप्तजनोदयः॥
महोत्सवप्रवेशस्य गजारूढ सुरेन्द्रवत्।
वाग्भटस्य विहारं स ददृशे दृग्रसायनम्॥
अनेद्युर्वाग्भटामात्यं धर्मात्यन्तिकवासिनः।
अपृच्छदर्हतारोपदेष्टारं च गुरुं नृपः॥
श्रीमद्वाग्भटदेवोऽपि जीर्णोद्धारमकारयत्।
शिखीन्दुरविवर्षे (1213) च ध्वजारोपमकारयत्॥

विद्वानों के विचार से यह विक्रमीय संवत्सर का उल्लेख है, जो सन् 1154 ई० कहा जाना चाहिए। —प्रभाविकचरित्र (प्रभाचन्द्र मुनीन्द्र-कृत)

1. सुतः सुस्सलभूभर्तुः सम्प्रत्यप्रतिक्षमः।
नन्दयन्मेदिनीमास्ते जयसिंहो महीपतिः॥ —राजतरंगिणी 8/43

तक अधूरी है जब तक उसमें अन्तिम नाम महाकवि वाग्भट का न लिखा जाय। सौराष्ट्र में बैठकर भी वैदर्भी रीति का शृंगार करने वाले महाकवियों में वाग्भट का नाम अमर है। प्रथम श्रेणी के आलंकारिकों में उनका नाम आदर से लिया जाता है।

'काव्यानुशासन' एवं उसकी 'अलंकार-तिलक वृत्ति'

'काव्यानुशासन' तथा उसकी 'अलंकार-तिलक' नामक वृत्ति (व्याख्या) भी वाग्भट के नाम से ही लिखी हुई मिलती है। परन्तु 'काव्यानुशासन' तथा वृत्ति के लेखक वाग्भट उपर्युक्त 'वाग्भटालंकार' के लेखक वाग्भट से भिन्न हैं। 'काव्यानुशासन' एवं उसकी 'अलंकार-तिलक वृत्ति' के पढ़ने से ज्ञात होता है कि इन वाग्भट के पिता का नाम नेमिकुमार एवं माता का नाम महादेवी था। अनेक विद्वानों का विचार यह भी है कि इनकी माता का नाम वसुन्धरा था। स्वयं ग्रन्थ-लेखक के अनुसार इनकी जन्म-भूमि राहड़पुर (Rahad Pura) थी, जो किसी देवी के नाम की पवित्र स्मृति मानी जाती थी।[1] इन्होंने 'वाग्भटालंकार' के लेखक वाग्भट को अपने से भिन्न स्पष्ट रूप से लिखा है, क्योंकि अलंकार-लेखक वाग्भट को प्रमाण-रूप से इन्होंने अपने ग्रन्थ में उद्धृत किया है—

"इति दण्डिवामनवाग्भटादिप्रणीताः दशगुणाः। वयन्तु माधुर्यौजःप्रसादलक्षणां स्त्रीनेव गुणान्मन्यामहे।"

इस प्रकार वाग्भटालंकार के वाग्भट से भिन्न होने के साथ-साथ 'काव्यानुशासन' के लेखक वाग्भट उनसे बहुत पीछे के हैं। जूलियस एर्जिलिंग महोदय ने वाग्भटालंकार तथा 'काव्यानुशासन' को एक ही लेखक की कृति लिखकर बड़ी भूल की है।

'ऋषभदेव-चरित' महाकाव्य तथा 'छन्दोनुशासन' नामक दो ग्रंथ काव्यानुशासन-प्रणेता इन्हीं वाग्भट के लिखे और हैं जिनका उल्लेख स्वयं लेखक ने ही 'काव्यानुशासन' में किया है। परन्तु इनके बारे में अधिक और कुछ ज्ञात नहीं है। श्री पीटर्सन (Peterson) के अनुसार इन वाग्भट के पिता नेमिकुमार संवत् 1295 विक्रम (1238 ई०) में हुए थे। अतएव 'काव्यानुशासन' के प्रणेता वाग्भट ईस्वी सन् की तेरहवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में हुए होंगे। पिता का नाम नेमिकुमार तथा 'ऋषभदेव-चरित' का प्रणयन यह प्रकट करता है कि 'काव्यानुशासन' के रचयिता वाग्भट भी जैन थे।

'नेमिनिर्वाण'

'नेमिनिर्वाण' नामक ग्रन्थ भी वाग्भट नाम के ही किन्हीं विद्वान् का लिखा हुआ है। अनेक लोगों का मत है कि 'नेमिनिर्वाण' के लेखक वाग्भट उपयुक्त 'वाग्भटालंकार' तथा 'काव्यानुशासन' के रचयिता दोनों वाग्भटों से भिन्न हैं। उनका समय उक्त दोनों वाग्भटों से पूर्व का है; क्योंकि 'वाग्भटालंकार' तथा 'काव्यानुशासन' में 'नेमिनिर्वाण' के उद्धरण पाये जाते हैं। 'काव्यानुशासन' के लेखक ने निर्विवाद रूप से अपने ग्रन्थ में 'नेमि-

---

1. वृत्ति देखिये, पृ० 1

निर्वाण' के उद्धरण दिये हैं। परन्तु जैकोबी (Jacobi) ने सिद्ध करने का उद्योग किया है कि 'वाग्भटालंकार' में भी 'नेमिनिर्वाण' के उद्धरण विद्यमान हैं। इसके विरुद्ध अन्य लोगों का कहना है कि 'नेमिनिर्वाण' तथा 'वाग्भटालंकार' के लेखक दो नहीं, वरन् एक ही वाग्भट हैं।

हमें 'नेमिनिर्वाण' काव्य की एक हस्तलिखित प्राचीन प्रति मिली है। यह प्रति भाद्रपद शुक्ल-पूर्णिमा, संवत् 1831 विक्रम (1774 ई०) की लिखी हुई है। इस प्रति के अन्त में काव्य को समाप्त करते हुए ग्रन्थ-लेखक ने स्वयं अपना परिचय लिखा है :

अहिच्छत्रपुरोत्पन्नप्राग्वाटकुलशालिनः ।
छाहड़स्य सुतश्चक्रे प्रबन्धं वाग्भटः कविः ॥

"अहिच्छत्रपुर (जिला बरेली, उत्तरप्रदेश) में प्राग्वाट-कुलोत्पन्न छाहड़ के पुत्र वाग्भट कवि ने यह ग्रन्थ-रचना की है।"

अहिच्छत्र या अहिक्षेत्र आजकल जिला बरेली में अहिच्छत्रा नामक स्थान है। जैन लोग इसे अपना तीर्थस्थान मानते हैं। यह स्थान चँदौसी-बरेली रेलवे-लाइन पर विद्यमान है। यह अत्यन्त महत्त्व का ऐतिहासिक स्थान है। सन् 1940 ई० से लेकर सन् 1944 ई० तक स्वर्गीय रायबहादुर श्री के० एन० दीक्षित के तत्त्वावधान में इस स्थान पर भूगर्भ की खुदाई की गई थी। इस खुदाई में जो संस्मरण मिले हैं वे 300 ई० पूर्व से लेकर 1100 ई० बाद तक के इतिहास पर प्रकाश डालते हैं। यह प्रदेश अधिकांश मृण्मय-मूर्तियों (Terrecotta) का प्रदेश है, जिनमें विष्णु, सूर्य, अग्नि, नृसिंह, कुबेर, नाग, गणेश, शिव-गौरी तथा स्कन्द आदि वैदिक देव-मूर्तियों के अतिरिक्त बौद्ध तथा जैन भिक्षुओं की नग्न मूर्तियां भी उपलब्ध हुई हैं।[1]

महाभारत में उल्लेख है कि अहिच्छत्रा उत्तर पांचाल की राजधानी थी, जहां द्रुपद के महल थे। कौरवों के सहयोग से द्रुपद को हराकर अहिच्छत्रा पर द्रोणाचार्य ने अधिकार कर लिया था। किन्तु महाभारत में कौरवों के हार जाने पर उत्तर पांचाल फिर द्रुपद के अधिकार में आ गया। दक्षिण पांचाल गंगा के दक्षिण में चम्बल तक था। इसकी राजधानी काम्पिल्य (कम्पिलल) तथा उत्तर पांचाल गंगा से उत्तर नैनीताल तक था। इसकी राजधानी अहिच्छत्रा रही थी। अहिच्छत्रा ने वैदिक, बौद्ध और जैन सब धर्मों के चढ़ाव और उतार देखे हैं, जिनकी साक्षी भूगर्भ से प्राप्त संस्मरणों में विद्यमान है।

प्राग्वाट कुल वर्त्तमान जैनों में 'पोरवाड़' नाम से प्रसिद्ध है। यह पोरवाड़ वंशज गुजरात के मूल निवासी थे। पोरवाड़ का अन्य अपभ्रंश 'पोरवाल' भी है। वैश्य वर्ण में पोरवाड़ या पोरवाल बहुत हैं, जैन भी और अजैन भी।

उक्त परिचय में लेखक ने अपने पिता का नाम छाहड़ लिखा है, जबकि 'वाग्भटा-

---

1. Terracotta figures of Ahichchhatra, Dist Bareilly. U. P.
—by V. S. Agrawala
Bulletin of the Archeological Survey of India, No. 4, July 1947-48

लंकार' के लेखक वाग्भट के पिता का नाम सोमदेव था। वे गुजरात के महामात्य भी थे किन्तु 'नेमिनिर्वाण' के लेखक ने अपने को महामात्य नहीं लिखा। वे गुजरात के थे, ये अहिच्छत्रा (पंचाल) के। इतना स्पष्ट अन्तर देखकर भी दोनों को अभिन्न कैसे कहा जाय ? अतः यह मानना ही उचित है कि 'वाग्भटालंकार' तथा 'नेमिनिर्वाण' के लेखक वाग्भट भिन्न-भिन्न थे। उनका आविर्भाव भी भिन्न-भिन्न देशों और कालों में हुआ था। कौन पहले हुआ, कौन पीछे, यह निर्णय इसी आधार पर करना उचित होगा कि 'वाग्भटालंकार' में 'नेमिनिर्वाण' के उद्धरण होने की दिशा में 'नेमिनिर्वाण' के लेखक वाग्भट ही प्राचीन हैं। संभव है कि इनका आविर्भाव ईसा की दशम शताब्दी के उत्तरार्ध या ग्यारहवीं शती के पूर्वार्ध में हुआ होगा।

800 ई० से लेकर 1100 ई० तक के जो संस्मरण अहिच्छत्रा की खुदाई में प्राप्त हुए हैं, उनमें जैन प्रतिमाएं ही विशेष हैं। प्रतीत होता है इस काल में वहां जैन विचारों का प्रभुत्व रहा होगा।[1]

इस प्रकार संस्कृत-साहित्य में वाग्भट नाम के छः विद्वान् भिन्न-भिन्न देश और काल में आविर्भूत हुए हैं। संक्षेप में देखिये।

1. **प्रथम वाग्भट (वृद्ध वाग्भट)**
   ईसा की चौथी शताब्दी में सिन्ध में हुए तथा 'वाग्भटसंहिता' लिखी।
2. **द्वितीय वाग्भट (लघु वाग्भट)**
   ईसा की पंचम शताब्दी (420 ई०) में सिन्ध में जन्मे, काश्मीर में रहे तथा 'अष्टांगसंग्रह' और 'अष्टाङ्गहृदय' लिखे।
3. **तृतीय वाग्भट**
   ईसा की ग्यारहवीं शताब्दी में हुए। अहिच्छत्रा के निवासी। 'नेमिनिर्वाण' काव्य लिखा।
4. **चतुर्थ वाग्भट**
   1154 ई० में हुए। 'वाग्भटालंकार' लिखा। अनहिल पाटन (गुजरात) में जयसिंह देव सम्राट् के महामात्य।
5. **पांचवें वाग्भट**
   ईसा की बारहवीं शताब्दी के अन्तिम चरण तथा तेरहवीं शती के प्रथम चरण में हुए। 'रसरत्नसमुच्चय' ग्रन्थ लिखा। हो सकता है, यही 'वाग्भटालंकार' के लेखक रहे हों। क्योंकि 'वाग्भटालंकार' की गाथा में सोमदेव नाम उन्होंने अपने पिता का लिखा है। 'रसरत्नसमुच्चय' में भी सोमदेव रसायनाचार्य का संस्मरण है।

---

1. The general style resembles that of Tirthankar images of the late medieval period. In speciman No. 320 an important point to note is the characteristic eye projecting beyond the head, as found in the Jain manuscript painting.
—Ancient India No. 4, V. S. Agrawala, July 1947-48

6. **छठे वाग्भट**

1238 ई० में हुए। राहड़पुर के निवासी थे। 'काव्यानुशासन' तथा 'अलंकार-तिलक' वृत्ति के लेखक थे।

इन छहों व्यक्तियों में सबसे प्राचीन होने की दृष्टि से 'अष्टाङ्गसंग्रह' तथा 'अष्टाङ्गहृदय' के लेखक वाग्भट के पितामह वाग्भट को व्याख्या-लेखकों ने 'वृद्ध वाग्भट' तथा संग्रह और हृदय-लेखक वाग्भट को 'लघु वाग्भट' लिखकर संबोधित किया है। स्वाभाविक है कि पितामह वृद्ध और पौत्र लघु होता है।

'सुश्रुतसंहिता' में डल्हण ने वृद्ध वाग्भट तथा लघु वाग्भट नाम से अनेक उद्धरण दिये हैं। उन्होंने एक ही विषय पर दोनों के विचार उद्धृत किये हैं।[1] वृद्ध वाग्भट की 'वाग्भट-संहिता' अब नहीं मिलती। लघु वाग्भट के समय 'पाराशर-संहिता' विद्यमान थी; वाग्भट ने उसका खण्डन और चरक का समर्थन किया है।[2] 'पाराशर-संहिता' के कुछेक उद्धरण भी दिये हैं।[3] आज 'पाराशर-संहिता' भी नहीं है। किन्तु वृद्ध वाग्भट ने जो विरासत अपने पौत्र को सौंपी, वह आज तक अमर है। यह उसकी लोकप्रियता का ही प्रमाण है। मानव-मात्र के कल्याण के लिए उन्होंने हमें उद्बोधन दिया—

आयुः कामयमानेन धर्मार्थ-सुख-साधनम्।
आयुर्वेदोपदेशेषु विधेयः परमादरः॥[4]

---

1. "यथाह वृद्धवाग्भटः—मूर्धाभिघातं परिहरेत् । लघुवाग्भटोपि—पर्वारायनङ्गदिवसं शिरोहृदयताडनम् इति।" सुश्रुत व्याख्या, चि० 24/110-129
2. अष्टांगसंग्रह, सूत्र० 21, पृ० 158-159।
3. अष्टांगसंग्रह, सू० अ० 17, पृ० 127
4. अष्टांगहृदय, सूत्र० 1/2

परिशिष्ट–1

विवेचन

किसी वस्तु का परिचय नाम और रूप द्वारा होता है। रूप अल्पकालीन होता है। एक जीवन में ही वस्तु के अनेक रूप बदल जाते हैं, तब उसका पहचानना कठिन होता है। उस दशा में नाम ही उसका परिचायक रहता है, क्योंकि नाम चिरस्थायी है। परन्तु कितना चिरस्थायी, यह भी विचारणीय है। एक आक्रान्ता अपने जीते हुए प्रदेश में सैकड़ों स्मारकों, नगरों और नदियों के नाम बदल देता है ताकि आगे आनेवाली सन्तानें अपने प्राचीन संस्मरण भूल जायं और उन्हें अपने राष्ट्र का परिचय न हो सके। किन्तु अनेक नाम रहते भी उस एक को न भूले, वही राष्ट्र है।

सदैव से यही होता आया है। इसीलिए इतिहास के साथ भूगोल का समन्वय कठिन हो जाता है। कभी-कभी वह संभव ही नहीं रहता। भूगोल और इतिहास का अध्ययन इसीलिए आवश्यक है, ताकि हमारी सन्तान अपने राष्ट्रीय गौरव को भूल न जाये। इतिहास में नाम है, भूगोल में रूप—दोनों का समन्वय ही राष्ट्रीयता है। एक ही प्रदेश था, जो कभी हरिवर्ष था, फिर उत्तरकुरु कहलाया और आज सिम्-कियांग है। एक ही वस्तु के नाम-परिवर्तन से उसके रूप में क्या परिवर्तन आया, और उससे हमारे राष्ट्रीय जीवन पर क्या प्रभाव पड़ा, यह जानकारी ही इतिहास है। वह राष्ट्र अँधेरे में है, जो इसे नहीं जान सका।

प्रयाग इलाहाबाद कैसे बना ? और पुरुषपुर या पौरुषपुर का नाम पेशावर क्यों हो गया ? तक्षशिला आज तक तक्षशिला ही है, किन्तु पुष्कलावती का नाम चारसद्दा क्यों हुआ ? यदि हमारी सन्तान यह न जान सकी तो हम अपने ही घर में परदेशी बन कर रह रहे हैं और जीवित राष्ट्र नहीं हैं। जीवित राष्ट्र को अपने इतिहास-भूगोल से परिचित होना चाहिए।

अनेक वस्तुओं के साथ जन-प्रवाद जुड़े हैं। क्या आप उन्हें निराधार समझते हैं ? यदि ऐसा है तो यह भूल है। जन-प्रवाद को मौलिक रूप से समझने का प्रयत्न होना चाहिए। जब आप उस प्रवाद (गाथा और नाराशंसी) को समझ लेंगे तो पता चलेगा वह कितना मूल्यवान् है। गंगा स्वर्ग-सोपान क्यों है ? काशी शंकर के त्रिशूल पर क्यों सधी ? बद्रीनाथ और गंगोत्तरी की यात्रा में पुण्य क्यों होता है ? गोवर्धन पहाड़ श्री-कृष्ण की अंगुली पर कैसे उठ गया ? अगस्त्य के दक्षिणापथ से लौटने तक विन्ध्याचल नतमस्तक क्यों पड़ा है ? विदेशी आक्रान्ताओं से आप पूछते रहे, उन्होंने कहा कि ये गप्पें

हैं। किन्तु अब अपने ही पुरातत्त्वों से पूछिये, तब आप अभिमान से कहेंगे---यह हमारा इतिहास है---यह हमारा गौरव है ! फिर आप अपनी सन्तान को अपने इतिहास की गौरव-गाथाएं सुनाते रहिये। राष्ट्र को जीवित रखने का यही मंत्र है।

आक्रान्ताओं की यह दुरभिसन्धि हमारे मन में बहुत हद तक बैठ गई कि हमारे तीर्थ, हमारे जन-प्रवाद, हमारे पर्व सब अन्धविश्वास हैं। अब शिक्षित और प्रगतिशील वह है जो अपने तीर्थों, जन-प्रवादों और परम्पराओं की अवहेलना करे। इसका अर्थ यह है कि हम ऊपर से भले ही कुछ काल के लिए स्वतन्त्र हो गये हैं, मन और बुद्धि से गुलामी नहीं गई। तीर्थयात्रा इसलिए स्थापित हुई कि हम अपने राष्ट्र को प्रेम की श्रृंखला से बांधें रहें, और उसकी सीमाओं की सुरक्षा के लिए तत्पर रहें। जन-प्रवाद कहते हैं कि अपने पूर्वजों के गौरवपूर्ण कार्यों को जानो। पर्वों की परम्परा राष्ट्रीय संस्कृति को अमर बनाने का एकमात्र साधन है। हम अपने रामायण और महाभारत के स्थान पर मिल्टन का 'पैराडाइज लॉस्ट' पढ़ा करें; शिव और इन्द्र का विश्वास न करें, किन्तु 'जुहोवा' और 'जुपिटर' के नाम पर अंगूठी में जवाहिरात पहिना करें; होली और दीवाली रूढ़िवाद लगें और ईस्टर तथा क्रिसमस में श्रद्धा हो, तो हम अभी स्वतन्त्र नहीं हुए। हम प्रगति कर रहे हैं, परन्तु कहां जा रहे हैं, यह पता नहीं। उसे जानिये और सही उद्देश्य की ओर प्रगति कीजिये। केवल चलना प्रगति नहीं है। ठीक उद्देश्य की दिशा में चलना ही प्रगति है।

शालातुर को जाने बिना शालातुरीय को आप क्या जान सकेंगे ? शालातुर को जानिये और गोनर्द को भी। तक्षशिला को जानिये और काशी को भी, तब समझ में आयेगा कि हमारा राष्ट्र-जीवन कितना महान् था। निषध और विदर्भ को जाने बिना नैषध और वैदर्भी के इतिहास का रहस्य नहीं समझा जा सकता। उसे बिना समझे नल और दमयन्ती की प्रणय-कथा आपके लिए क्या सन्देश दे सकेगी ?

ग्रन्थ का परिशिष्ट इन्हीं भूली-बिसरी चीजों का परिचय देने के लिए लिखा गया है। आदिकालीन अनेक संस्मरण यदि पूर्वजों ने स्मरण न रखे होते तो हम स्वर्ग का भूगोल कैसे ढूंढ़ पाते ? त्रिविष्टप, नन्दनवन, अलकापुरी, कैलास, सुमेरु, मानसरोवर, हरद्वार, गंगा, सिन्धु, यमुना, सरस्वती, सरयू, लोकालोक, गन्धार आदि नाम ही इतिहास की सत्यता प्रमाणित करते हैं और इतिहास की सत्यता को भौगोलिक सत्यता निर्विवाद बनाती है। दोनों का समन्वित रूप में अध्ययन किये बिना राष्ट्र-चिंतन नहीं होता। यद्यपि भाषा-विज्ञान भी उनमें एक है, किन्तु वह इस ग्रन्थ का मुख्य प्रतिपाद्य नहीं है।

यारकन्द, चीनी तुर्किस्तान और सिम्कियांग में इतने भारतीय संस्मरण भूगर्भ से मिले हैं कि हम ईसा से तीन-चार सौ वर्ष प्राचीन भारतीय इतिहास तक पहुंच जाते हैं। बैबीलोनिया, मैसोपोटामिया और एशिया माइनर के प्राचीन 'किश' नामक नगर की खुदाइयों में जो संस्मरण मिले हैं, उनसे हम स्पष्ट जान सकते हैं कि सिन्धुघाटी की सभ्यता का विस्तार वहां तक था।[1] हड़प्पा और मोहन्जोदड़ों की खुदाइयों में प्राप्त

---

1. भारतीय मूर्तिकला : राय कृष्णदास, पृ० 8

संस्मरण हमें ईसा से चार-पांच हजार वर्ष पुरानी भारतीय सभ्यता का परिचय देते हैं। मध्यप्रदेश में नर्मदा के तट पर माहिष्मती नगरी (कार्तवीर्य की राजधानी) के संस्मरण जो भूगर्भ से मिले हैं, ईसा से प्रायः दस सहस्र वर्ष पूर्व तक हमारे राष्ट्र-जीवन का परिचय देते हैं। इस प्रकार हम महाभारत ही नहीं, रामायण-काल से भी पूर्व पहुंच जाते हैं। किन्तु 'चरकसंहिता' हमें स्वर्ग के उस इतिहास का परिचय देती है जिसके अवशेष नरक के भूगर्भ में नहीं हैं। उन्हें हिमालय की अधित्यकाओं में खोजिये। तव आप अनुभव करेंगे कि स्वर्ग के वारे में जो कुछ मैं लिख रहा हूं, सर्वथा सत्य और ऐतिहासिक है। मानसरोवर, त्रिविष्टप, सतोपन्थ, त्रिकूट, कुवेर नगरी, अलकापुरी, अलकनन्दा, वैरीनाग, गौरीताल, हरिवर्ष, नागपर्वत, गंगोत्तरी, सुमेरु जैसे स्थानों को खोजिये। वे वतायेंगे कि स्वर्ग कहां था। हम धौलागिरि और कैलास के शिखरों पर व्यर्थ चढ़ रहे हैं, यदि यह खोज नहीं करते।[1]

भूगोल के अनेक पारिभाषिक शब्द हैं, जिनके पारिभाषिक अर्थ हम भूल गये हैं। परिशिष्ट में उनका परिचय आवश्यक है। उदाहरण के लिए देखिये—

1. आनूप = तराई
2. जाङ्गल = मैदानी प्रदेश,
3. उद्‌गम = नदी का निकास
4. संगम = नदी का मुहाना
5. नदी = पूर्व की ओर वहनेवाली धारा
6. नद = पश्चिम की ओर वहनेवाली धारा
7. क्षीर सागर = मीठे पानी का समुद्र या झील
8. क्षार सागर = खारे पानी का समुद्र या झील
9. उपत्यका = पहाड़ की तराई
10. अधित्यका = पहाड़ के ऊपर की घाटियां
11. कुल्या = नहर
12. ह्रद = झील
13. कासार = छोटा जलाशय
14. शाद्वल = घास के मैदान
15. मरु देश = रेगिस्तान
16. कान्तार या अरण्य = जंगल जिसमें आवादी न हो
17. वन या उपवन = वगीचा, पार्क
18. उर्वरा = उपजाऊ भूमि
19. ऊपरा = ऊसर भूमि
20. ग्राम = सैकड़ों की आवादी

---

1. अन्वगादिव हि स्वर्गो गां गतं पुरुषोत्तमम्।
"मानो भगवान् राम के साथ मैदान में उतर आया हो।" —रघुवंश, 10/72

21. नगर=हजारों की आवादी
22. निगम=लाखों की आवादी
23. जनपद=करोड़ों की आवादी

प्रत्येक शब्द अपनी जगह क्या अर्थ दे रहा है, यह समझे विना हम न तो भारत के प्राचीन भूगोल को समझ सकेंगे और न ही इतिहास को। वस्तुतः भारत का भूगोल उसके पारिभाषिक शब्दों में लिखे जाने की आवश्यकता है। हम यहां ग्रंथ में प्रयुक्त कुछ शब्दों का ही परिचय दे सके हैं। भूगोल एक स्वतंत्र विपय है, उसे जव स्वतंत्र रूप से ही लिखा जायगा, तभी भारत के प्राचीन साहित्य के तात्त्विक अर्थ जाने जा सकेंगे। यदि भूगोल को हम न जान पाये तो इतिहास अधूरा है।

स्वर्ग की ही भांति नरक के भूगोल का भी उल्लेख करना होगा। नरक, निरय, दुर्गति, न्यरक आदि शब्दों के धात्वर्थ देखने से स्पष्ट होगा कि वह हिमालय के नीचे (दक्षिण में) था। फिर ऐतिहासिक घटनाओं का उन शब्दों से समन्वय कीजिये तो स्पष्ट हो जायेगा कि नरक कहां था। गंगा का इतिहास उसका स्पष्टीकरण देता है। हरद्वार से पूछिये, वह किसका द्वार था ?

स्वर्ग का शासन देवों के प्रभाव से निकलकर नागों के हाथ में आया। अनेक नये नाम और नये काम हुए। पूर्व में प्रशांत महासागर से लेकर पश्चिम में भूमध्य सागर तक एक नये राष्ट्र का 'आर्यावर्त' नाम से उदय हुआ। उत्तर-दक्षिण में उसकी सीमाएं हिमालय और विन्ध्याचल वने। उसके उपरान्त दक्षिणापथ भी इसी राष्ट्र में समाविष्ट हुआ। गंगा स्वर्ग से निकली थी, कान्यकुब्ज के सम्राट जह्नु ने उसे जाह्नवी और कुरु सम्राट भगीरथ ने उसे 'भागीरथी' वनाया। भौगोलिक ज्ञान का काम इतना है कि हम यह स्मरण रखें कि गंगा नदी ही जाह्नवी है और वही भागीरथी। गंगा जाह्नवी और भागीरथी क्यों वनी, यह इतिहास से पूछिये।

इसी प्रकार मद्र, केकय, शिवि, वाह्लीक, निपध, उशीनर, त्रिगर्त, गन्धार, सिन्ध, कुन्त, कश्मीर आदि नाम उसी प्रदेश के राज्य थे जो पीछे फरगना, ईरान, गन्धार और पंजाव के नाम से परिचित हुए। ये नाम भी वदले गये। तव कुछ नये नाम उभरे। पारस्य ही ईरान हो गया। ईरान ही टूटकर ईराक पैदा हुआ। ईराक से ही मैसोपोटामिया और वैवीलोनिया वन गये। कौन कव वन गये, क्यों वन गये, किसने वनाये—यह परिज्ञान भी वहुत मनोरंजक और राष्ट्रीय प्रेरणा देने वाला है। इतिहास से पूछिये तव आप जानेंगे कि इस पृथ्वी पर मानव के उत्थान और पतन के कितने संघर्प हुए हैं। हरेक परिवर्तन एक संघर्प का प्रतीक है।

परिशिष्ट में उन नामों का समन्वय करने का प्रयास है जिनका इतिहास अथवा भूगोल हम भूल गये हैं। तीर्थयात्रा की वदौलत मानसरोवर तथा गंगोत्तरी का भूगोल हमें ज्ञात है, इतिहास भूल गये। किन्तु हरिवर्प, निपध, केकय और अमरावती का इतिहास हमें ज्ञात है, उनका भूगोल भूल गये। दोनों का समन्वय न हो तो हम राष्ट्र-धर्म से हीन हैं। यहां जिन नामों का विचार किया गया है उनमें छः प्रकार के समन्वय चाहिए। उनका वर्गीकरण यों किया जा सकता है—

1. अपरिचित भाषाओं में अनूदित नाम। जैसे थियान्शान् अथवा ल्हासा। थियान् चीनी भाषा का शब्द है जिसका अर्थ देवता होता है। और शान् का अर्थ पहाड़ है। ल्हासा भोट भाषा का नाम है। ल्हा का अर्थ देवता, 'सा' माने निवास। वह अमरावती ही हुई।

2. परिवर्तित नाम या नामान्तर। जैसे पुष्कलावती का नाम चारसद्दा रख दिया गया। वंक्षु नदी का नाम ओक्सस और सीता नदी का नाम थामू हो गया। प्रयाग भी इलाहाबाद बन गया है।

3. भाषा की विकृति से परिवर्तित नाम। जैसे––लाहुल का विकृत रूप लाहौल। त्रिपुर का विकृत ट्रिपोली। और काश्यपीय सर का 'कास्पियन सी' हो गया।

4. प्राकृतिक परिवर्तन से नामान्तर। जैसे––सरस्वती नदी का अभिषिंचित प्रदेश 'विनशन' हो गया। मृगदाव वन ही 'ऋषिपत्तन' और अब 'सारनाथ' बन गया। नरक का प्रदेश ही आर्यावर्त्त का केन्द्र बन गया और स्वर्ग की प्रतिष्ठा पा गया।

5. अपरिवर्तित नाम। सांस्कृतिक और राष्ट्रीय गरिमा के कारण कुछ नाम बदले नहीं जा सके। जैसे––मानसरोवर, गंगा, प्रयाग, काशी, वृन्दावन, अयोध्या, अलकापुरी।

6. एक वस्तु के अनेक नाम। जैसे––काशी और वाराणसी। गंगा, जाह्नवी और भागीरथी। अयोध्या और साकेत। अवन्ती और उज्जयिनी। स्वर्ग, त्रिदिव, देवलोक और त्रिविष्टप। वाह्लीक, बलख और बैक्ट्रिया। मद्र और मीडिया।

परिशिष्ट का प्रयास यह है कि प्रत्येक उस नाम वाली वस्तु को आधुनिक नामों से समन्वित किया जाय, ताकि हम उसके अतीत इतिहास को भौगोलिक उपयोगिता की दृष्टि से देख सकें। स्वर्ग के नामों का अनुकरण नरक में भी हुआ। काशी, प्रयाग, इन्द्रप्रस्थ, अमरावती आदि नाम स्वर्ग में ही थे। अपने मौलिक निवास के प्रेम के कारण वे ही नाम नये आबाद किये गये उन नगरों को भी दिये गये जो नरक में बसाये गये थे और उनमें लाक्षणिक समानता स्थापित करने का प्रयास भी हुआ। किन्तु स्वर्ग की अविकल नकल तो सम्भव नहीं थी। फिर नरक में भी अनेक मौलिक विशेषताएं पैदा हो गई, जिनके आधार पर नये नाम यहां बने।

स्वर्ग की एक वस्तु अभी स्पष्ट रूप से ज्ञात नहीं हुई है––वह है क्षीर सागर। क्षीर सागर यद्यपि मीठे पानी के समुद्र को कहते थे। वह स्वर्ग के शासन में कहां है? मानसरोवर को सागर शब्द से प्राचीन संस्कृत-साहित्य में स्मरण नहीं किया गया। वह सरोवर ही है और तब भी था। क्योंकि स्वर्ग के देवों ने उसका प्रयासपूर्वक निर्माण किया था। छिन्न-भिन्न बहती हुई जल-धाराओं को बांधकर सम्पूर्ण घाटी को सरोवर का रूप दिया गया था। इसलिए क्षीरसागर कोई और होना चाहिए। 'सुश्रुतसंहिता' में दिये गये उल्लेख से ज्ञात होता है कि कश्मीर की झील उस युग में 'क्षुद्र मानस' कही जाती थी, क्षुद्र सागर नहीं। इसलिए क्षीर सागर कोई और है, जो मानसरोवर से बड़ा होगा।

कुछ वर्णनों का इंगित ऐसा जान पड़ता है कि क्षीरसागर 'हरिवर्ष' (सिंमूक्यिांग) की ओर था। तब बाल्काश झील, अरल सागर अथवा काश्यपीय सर (कास्पियन सागर)

में से कोई रहा होगा। अब कास्पियन सागर का जल खारी है, कभी मीठा रहा होगा। प्रकृति के उग्र परिवर्तनों ने उसे खारी कर दिया। प्रश्न यह है कि क्षीरसागर स्वर्ग की सीमा में कहां था? अभी निश्चित प्रमाण खोजने का प्रयास होना अभीष्ट है। विष्णु क्षीरसागर में शयन करते थे, जैसे काश्मीर की झील में सैकड़ों परिवार आज तक कर रहे हैं। वे नौकाओं पर बने घरों में पीढ़ियों से रहते हैं। तब विष्णु के लिए वह कौन-सा कठिन काम था? काश्यपीय सागर आर्यावर्त की सीमा में था ही।

विष्णुपुराण के वर्णन से अनुमान किया जा सकता है कि संभवतः बालकश झील या अरल सागर का नाम क्षीर सागर रहा हो। क्योंकि वहां की भौगोलिक स्थिति लिखते हुए यह कहा गया है कि वह प्रदेश लोकालोक पर्वत (अल्ताई पहाड़) से सुशोभित है और वहां विष्णु भगवान् का आवास है। यह क्षीर सागर शाकद्वीप और पुष्करद्वीप दोनों से घिरा है तथा गन्धर्वों का निवास है। सम्भवतः सागवान (Teak) के जंगलों को शाक-वन कहते हैं। 'शक' जाति के लिए भी वही भाव लेकर यह नाम प्रचलित हुआ होगा। भगवान् गौतम बुद्ध को भी 'शाक्य मुनि' इसी भाव से कहते हैं। कपिलवस्तु भी वनों से घिरी थी (विष्णुपुराण, अंश 2/4)।

सुश्रुत का उल्लेख यह अवश्य प्रमाणित करता है कि अमरावती, उत्तरकुरु और क्षीरसागर जलवायु की दृष्टि से ऐसे स्थान थे जहां कमजोर व्यक्ति नहीं रह सकते थे।[1] नरक के निवासियों को वहां के जलवायु में रहने के लिए सोम से निर्मित औषधि सेवन करनी पड़ती थी। इसका अर्थ यह भी है कि सोम-रसायन की आवश्यकता उस समय पड़ी जब नरक के जलवायु में रहने वाले लोग स्वर्ग जाने और आने लगे। सोम से जो औषध बनी वह 'अमृत' नाम से कही जाती थी।[2] सोम जहां-जहां प्राप्त होता है, उन स्थानों के नाम भी सुश्रुत ने लिखे हैं। अनेक स्थानों के वर्तमान भौगोलिक नाम और स्थिति का परिज्ञान करना शेष है। 'अर्बुदगिरि' पर सारे सोम मिलते हैं। उसके शिखरों पर देवता रहते हैं। उसे बादल घेरे रहते हैं तो भी वह उनसे ऊंचा है। सुन्दर-सुन्दर विख्यात जलाशय हैं, जहां सिद्ध, ऋषि और देवता आनन्द से रहते हैं।[3] वह विख्यात जलाशयों वाला अर्बुदगिरि आज विस्मृति की चादर ओढ़े हुए है।

नरक में जो लोग सोम का प्रयोग करते थे, वे लोग बादलों के ऊपर चलने में समर्थ थे। पक्षी जिस ऊंचाई पर आकाश में उड़ते हैं, वे उस ऊंचाई पर चलते थे।[4] इसका

---

1. क्षीरोदं शक्रसदनमुत्तरांश्च कुरूनपि।
   यत्रेच्छति स गन्तुं वा तत्राप्रतिहता गतिः।—सुश्रुत०, चि० 29/17
2. ब्रह्मादयोऽसृजन्पूर्वममृतं सोमसंज्ञितम्।—सुश्रुत०, चि० 29/3
3. सर्वाविचेयास्त्वोषध्यः सोमाश्चाप्यर्बुदे गिरौ।
   सश्रृङ्गैर्देवचरितैरम्बुदानीकभेदिभिः॥
   व्याप्तस्तीर्थैश्च विख्यातैः सिद्धर्षिसुरसेवितैः॥—सुश्रुत, चि० 30/38
4. चरत्यमोघसङ्कल्पो नभस्यम्बुददुर्गमे।
   व्रजन्ति पक्षिणो येन जलदाश्च तोयदाः।
   गतिः सोऽपत्रसिद्धस्य सोमसिद्धिगतिः परा॥—सुश्रुत० चि० 30/7-8

अर्थ यही है कि सोम या अमृत के प्रयोग से ठंडे वातावरण का विषम प्रभाव सहन करने की शक्ति मनुष्य में आ जाती है और अर्बुदगिरि जो बादलों से ऊंचा है वहां पहुंचकर मनुष्य बादलों और पक्षियों से ऊंचा अवश्य पहुंच जायेगा। इसलिए क्षीरसागर, अमरावती, उत्तरकुरु स्वर्ग में ही थे और इतने शीतल प्रदेश थे कि नरक से वहां जाने वालों को 'अमृत' का प्रयोग आवश्यक हो गया था। अमृत-जैसा ही प्रयोग 'सुधा' भी था, जिसके आविष्कारक नागवंशी वैज्ञानिक थे। अमृत सोम से बनता था, सुधा के प्रमुख उपादान क्या थे, अभी तक निश्चय नहीं हो सका। सोम के बाद अठारह अन्य औषधियों की खोज भी हुई, जिन्हें तत्कालीन वैज्ञानिकों ने सोम के समान ही गुणकारी स्वीकार किया था। श्वेत कापोती, कृष्ण कापोती, गोनसी, अजगरी आदि अठारह नाम 'सुश्रुत-संहिता' में गिनाये गये हैं, संभव है ये औषधियां ही सुधा की मुख्य उपादान रही हों। आज तो वे अठारह औषधियां और सोम तथा उनका प्राप्ति-स्थान अर्बुदगिरि, सभी पुरातत्त्व एवं अनुसन्धान के विषय बने हुए हैं।

उस युग में गगनगामी विमान भी चलते थे, संभव है उनमें जाने-आने वालों के लिए भी अमृत और सुधा हितकारी प्रयोग रहे हों। विमानगामी व्यक्ति भी बादलों और पक्षियों की उड़ान के ऊपर आकाश में चलता है, इसमें सन्देह नहीं होगा। सुश्रुत ने उक्त अठारह औषधियों का विवरण देते हुए लिखा है कि जिस प्रकार सोम से बने अमृत का पान करके स्वर्ग में देवता स्वस्थ और सुखी रहते हैं, उसी प्रकार पृथ्वी पर इन औषधियों का प्रयोग करने वाले सुखी और प्रसन्न रहते हैं :

यथा निवृत्तसन्तापा मोदन्ते दिवि देवताः।
तथौषधीरिमाः प्राप्य मोदन्ते भुवि मानवाः॥

—सुश्रुत०, चि०, 30/3

यह दिवि और 'भुवि' का प्रयोग स्वर्ग और नरक का ही भेद बताता है। डल्हण ने 'दिवि' का अर्थ 'स्वर्ग' लिखा ही है। नरक के गरम प्रदेश के निवासियों को स्वर्ग के ऊंचे गिरि-शिखरों पर रहने के लिए अमृत की ही भांति सुधा अथवा अठारह औषधियों का सेवन करना आवश्यक है। सोम तथा ये अठारह औषधियां देवसुन्द झील, सिन्धु के उद्गम, काश्मीर तथा काश्मीर के छोटे मानसरोवर आदि स्थानों में पैदा होती हैं। अर्बुद गिरि उनका ख़ास स्थान है। यह गिरि देवताओं, सिद्धों, ऋषियों से सेवित, झरनों से सुशोभित है।[1] यह भौगोलिक वर्णन स्वर्ग और नरक की स्थिति एवं उनके निवासियों के जीवन पर बहुत प्रकाश डालता है। सरदी का प्रतिकार करने वाला अमृत और सुधा नरक तथा आर्यावर्त को इसीलिए भूल गये क्योंकि यहां उनकी उपयोगिता जाती रही।

तन्त्रशास्त्र, जिसे प्राचीन विद्वान् आगम कहते हैं, मनोवैज्ञानिक चिकित्सा-पद्धति पर स्थिर है। वह इतिहास नहीं है। जिस प्रकार 'निगम' अथवा वेद सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की शक्तियों का विवेचन करता है, उस प्रकार आगम नहीं करता। वह केवल अनुकूल एवं प्रतिकूल मानसिक शक्तियों पर विचार करता है। वहां उनके अधिष्ठाता अनेक देवता

---

1. सुश्रुत०, चि० 31/38

निर्धारित किये गये हैं। जो अनुकूल हैं वे शुभ और जो प्रतिकूल हैं वे अशुभ देवता बताये जाते हैं। शुभ में ब्रह्मा, विष्णु, महेश, सरस्वती, लक्ष्मी तथा भद्रा या गौरी आदि कल्पित हैं। और अशुभ देवता पूतना, अन्धपूतना, शीतपूतना, रेवती, मुखमण्डतिका आदि स्त्री-लिङ्ग तथा स्कन्द या नैगमेष पुल्लिङ्ग हैं। नैगमेष और स्कन्द पर्याय हैं। इनके अनुचर और मित्र भी कहीं-कहीं लिखे गये हैं। इन सबको 'ग्रह' कहते हैं।

प्रश्न यह है कि 'ग्रह' क्या है? सुश्रुत ने लिखा है कि निदान अथवा चिकित्सा में अनेक ऐसे प्रसंग हैं जिन्हें मनुष्य विज्ञान की सहायता से समझ नहीं सका, और फिर भी वे घटनाएं प्रत्यक्ष होती हैं, वे 'ग्रह' कहे जाते हैं। व्यवहार के लिए उनके नाम देवताओं के प्रसिद्ध नामों से बोधित करते हैं। वस्तुत: वे न ज्योतिष के नवग्रह हैं और न ही इतिहास के देवता।[1] तन्त्रशास्त्र द्वारा उनका मनोवैज्ञानिक समाधान निकाल लिया गया है। आजकल भी विज्ञान की दुहाई देने वाले चिकित्सक जिसे एलर्जी (Allergy) कहते हैं वह उन लक्षणों का नाम है जिनको मनुष्य वैज्ञानिक नियमों से नहीं जान सका। इसी अमानुष निदान और चिकित्सा को आयुर्वेदशास्त्र में अमानुषोपसर्ग कहा गया है। उसी का दूसरा नाम 'भूत-विद्या' है। अष्टाङ्ग आयुर्वेद का वह भी एक अंग है, परन्तु स्वर्ग और नरक के इतिहास में उसे समाविष्ट नहीं किया जा सकता। वह परिशिष्ट में ही कही जायेगी।

अथर्ववेद के रचनाकाल तक आर्यों में भूत-विद्या अथवा तन्त्रशास्त्र के विचार पल्लवित हो चुके थे। आथर्वण मन्त्रों में अनेक स्थानों पर उसका समावेश है। उन तांत्रिक उपायों को वहां चिकित्सा में प्रयुक्त भी किया गया है।[2] तन्त्रशास्त्र में रोगों की मनोवैज्ञानिक चिकित्सा का बहुत विस्तार है। चूंकि अनेक रोगों के निदान का भौतिक विज्ञान पता नहीं दे सका, इसलिए उन्हें भूतविद्या में समाविष्ट तो कर लिया गया, किन्तु उनकी मनोवैज्ञानिक चिकित्सा ढूंढ़ने में प्राणाचार्य प्रयत्नशील रहे हैं। जो चिकित्सा उन्होंने ढूंढ़ी उसे अदृष्ट दिव्य शक्तियों का फल कहकर तन्त्रशास्त्र अथवा भूतविद्या में समाविष्ट कर दिया। आयुर्वेद का यह सिद्धांत है कि अयोग, अतियोग और मिथ्यायोग या प्रज्ञापराध ही रोगों के हेतु हैं। उन्हें समता में लाना ही चिकित्सा है। इसके लिए तन्त्रशास्त्र में मनोवैज्ञानिक आधार पर वे उपाय ही लिखे गये जो 'अमानुष' हैं। मन्त्र, बलि, होम, प्रायश्चित्त अथवा उपवास की रोग-निवारण में वैज्ञानिक प्रक्रिया क्या है, यह कोई नहीं जानता। वह मनुष्य की पहुंच से परे है इसलिए अमानुष तो हो ही गई। जो अमानुष हो, उसे दैवी शक्तियों का वरदान ही कहा जा सकता है। तांत्रिकों ने उन दैवी शक्तियों के अधिष्ठातृ देवता उन्हीं देवताओं के नाम से निर्धारित किये जो स्वर्ग में विख्यात थे।

---

1. गुह्यानागतविज्ञानमनवस्थाऽसहिष्णुता।
क्रिया वाऽमानुषी यस्मिन् स ग्रहः परिकीर्तितः॥ —सुश्रुत, उत्तर०,60/4
2. तत्र भिषजा पृष्टेनैवं चतुर्णामृक्सामयजुरथर्ववेदानामात्मनोऽथर्ववेदे भक्तिरादेश्या। वेदो ह्याथर्वणः स्वस्त्ययनबलिमंगलहोमनियमप्रायश्चित्तोपवासमन्त्रादिपरिग्रहाच्चिकित्सां प्राह।
—चरक०, सूत्र० 30/20

ज्योतिष के भी सैकड़ों नाम ऐसे ही हैं। किन्तु दोनों इतिहास से भिन्न हैं। उन्हें अपनी-अपनी परिधि में समझना आवश्यक है।

चरक ने इस गूढ़ता को स्पष्ट करने के लिए ही निदानस्थान में लिखा है कि "स्वर्ग अथवा असुरलोक के कोई देव, गन्धर्व, पिशाच अथवा राक्षस मनुष्य को रोगी नहीं करते, वह स्वयं अपने बुद्धि-दोष से रोगी होता है।" इसलिए नाममात्र की समानता देखकर तंत्रशास्त्र को इतिहास से जोड़कर विक्षोभ पैदा न करें।[1] यह सम्पूर्ण उल्लेख यह स्पष्ट करने के लिए पर्याप्त है कि स्वर्ग में आयुर्वेद-विकास के बहुत बाद तंत्रशास्त्र या भूतविद्या का तब प्रादुर्भाव हुआ था जब नरक अथवा आर्यावर्त के लोग स्वर्ग के देवों की प्रसन्नता को सुख और दुःख का साधन मानने लगे थे; अन्यथा सुश्रुत और चरक को यह स्पष्टीकरण देने की आवश्यकता न होती।

परन्तु यह स्मरण रखने की बात है कि केवल देवता का नाम जानकर ही उसके बारे में पूरी जानकारी नहीं होती। यह भी जानिये कि वह नाम किस शास्त्र में आया है। उदाहरण के लिए 'रेवती' एक नाम है। ज्योतिषशास्त्र में वह एक नक्षत्र है। तंत्र-चिकित्सा या भूतविद्या शास्त्र में वह एक बीमारी है। और इतिहास में वह चन्द्रदेव (अत्रि के पुत्र) की पत्नी थी। इसी प्रकार अगस्त्य नाम का ज्योतिष में एक नक्षत्र है जो आकाश में उदय होता है। इतिहास में एक ऋषि है, जो दक्षिण भारत में आर्य-संस्कृति के प्रमुख संस्थापक थे और आयुर्वेदशास्त्र के आचार्य। ज्योतिष में नवग्रह रवि, सोम, मंगल, बुध, बृहस्पति, शुक्र, शनि, राहु, केतु आदि नौ हैं। किन्तु भूतविद्या में शिशुओं को कष्ट देने वाले नवग्रह स्कन्द, शकुनि, रेवती आदि भिन्न हैं। बच्चों के ग्रह नौ तथा वयस्कों के आठ होते हैं। वयस्कों में देवता, राक्षस, गन्धर्व, यक्ष, पिशाच, पितर, भुजंग तथा इन सबके शत्रुगण, यह आठ प्रकार के निदान होते हैं।[2] भूतविद्या में ये सब रोग हैं, और इतिहास में विभिन्न जातियों के व्यक्ति।

सुश्रुत ने इसीलिए कहा है कि एक शास्त्र पढ़ लेने से प्रत्येक शास्त्र नहीं समझा जा सकता। व्यक्ति को बहुज्ञ होना चाहिए।[3] वेद में विश्वा का अर्थ 'सम्पूर्णता'-बोधक है। लोक में विश्वा का अर्थ संसार होता है, किन्तु आयुर्वेद में विश्वा का अर्थ सोंठ होता है। साहित्य में घन का अर्थ 'ठोस' होता है और बादल भी, किन्तु आयुर्वेद में घन का अर्थ नागरमोथा होता है। परिशिष्ट में इन्हीं बातों का ध्यान रखकर कुछ शब्दार्थों का बोधन कराया है, ताकि पाठकों को प्रतिपाद्य विषय समझने में उलझन न हो।

---

1. नैवं देवा न गन्धर्वा न पिशाचा न राक्षसाः।
   न चान्ये स्वयमक्लिष्टमुपक्लिश्यन्ति मानवम्॥
   प्रज्ञापराधात्सम्प्राप्ते व्याधौ कर्मज आत्मनः।
   नाभिशंसेद्बुधो देवान्न पितॄन्नापि राक्षसान्।
   आत्मानमेव मन्येत कर्तारं सुखदुःखयोः॥—चरक०, निदान० 7/20-23
2. सुश्रुत०, उत्तर०, अध्याय 27 तथा 60।
3. एकं शास्त्रमधीयानो न विद्याच्छास्त्रनिश्चयम्।
   तस्माद्बहुश्रुतः शास्त्रं विजानीयाच्चिकित्सकः॥—सुश्रुत०, सूत्र० 4/7

सुश्रुत में शरीर के अवयवों की एक तान्त्रिक व्याख्या सूत्रस्थान के पांचवें अध्याय में दी है। भूतविद्या को समझने के लिए उसे समझना आवश्यक है। संक्षेप में शरीर में देवताओं का अधिष्ठान निम्न प्रकार देखिये–

अवयव—		देवता—
1. जिह्वा	—	अग्नि।
2. प्राण	—	वायु।
3. व्यान	—	सोम।
4. अपान	—	मेघ।
5. उदान	—	विद्युत।
6. समान	—	गरजते मेघ।
7. शरीर बल	—	इन्द्र।
8. बुद्धि तथा मन्या (ग्रीवा)	—	प्रजापति।
9. काम	—	गन्धर्व
10. साहस	—	इन्द्र
11. ज्ञान	—	वरुण
12. नाभि तथा उससे सम्बन्धित अवयव	—	समुद्र
13. नेत्र	—	सूर्य
14. कान	—	दिक्
15. मन	—	चन्द्रमा
16. रूप	—	नक्षत्र
17. आभा	—	रात्रि
18. वीर्य	—	जल
19. रोम	—	ओषधि
20. इन्द्रियां	—	आकाश
21. शरीर का स्थूल भाग	–	पृथ्वी
22. शिर	—	प्रज्वलित अग्नि
23. पराक्रम	—	विष्णु
24. शिश्न	—	नारायण
25. आत्मा	—	ब्रह्म
26. भौंहें	—	ध्रुव
27. आयु	—	ब्रह्मा

भारत के प्राणाचार्यों की यह कल्पना निराधार नहीं है। प्रत्येक देवता एक वैज्ञानिक तत्त्व है, और उसी के समन्वयन से यह शरीर काम कर रहा है। भूतविद्या तथा कौमारभृत्य शास्त्रों के अध्ययन के लिए इन तांत्रिक परिभाषाओं को जानना आवश्यक है। पंचभूतों से बने इस संसार का समन्वय तत्कालीन वैज्ञानिकों तथा प्राणाचार्यों ने जिस शैली से किया, वही उक्त तालिका में दिया गया है। पंचभूतों का शरीर में किस प्रकार समन्वय हुआ है, इसको समझाने वाला शास्त्र ही भूतविद्या है। एक-एक भूत अनेक भावों में विभाजित होकर इस रहस्यपूर्ण शरीर की सृष्टि करता है। उसे उनके खोजे हुए वैज्ञानिक आधार पर बिना जाने हम उनके तत्त्व को नहीं समझ पायेंगे।

भारतीय साहित्य में 'देवता' शब्द बहुत गम्भीर है। उसे समझना बहुत आवश्यक है। दिव् धातु का धात्वर्थ बहुत व्यापक है, परन्तु उसका व्यवहार ऐसे ढंग से हुआ है कि उसे समझने की स्थिति तक बहुत कम लोग पहुंच पाते हैं। विज्ञान में देवता किसी वस्तु की समष्टि में काम करने वाली शक्ति को कहते हैं। अंग्रेज़ी में जिसे हम 'फार्मूला' कहते हैं, किसी संघटनात्मक वस्तु (Combination) का, वही देवता है। एक वृक्ष को लीजिये। उसके अनेक अवयव हैं। उसकी शाखाओं को वृक्ष नहीं कह सकते। पत्तों को वृक्ष नहीं कह सकते। जड़ को वृक्ष नहीं कह सकते। फलों और फूलों को भी नहीं कह सकते। सम्पूर्ण अवयवों के समन्वय (Combination) की वृक्ष-रूप में जो एक अनुभूति है, वही देवता

है। इसलिए देवता शब्द विज्ञान में भावात्मक संज्ञा (Abstract noun) है, किन्तु इतिहास में जातिवाची (Common noun) और ज्योतिष में समुदायवाची (Collective noun) तथा आयुर्वेद में जीवन की चेतना के भिन्न-भिन्न पहलुओं को बोधित करने वाला तत्त्व (Phenomine noun) देवता होता है। उन्हीं भिन्न-भिन्न पहलुओं के अग्नि, वायु, वरुण, सूर्य और समुद्र आदि नाम रख दिये गये हैं। अन्यथा उन्हें कैसे बताया जायेगा? प्राचीन प्राणाचार्यों के पारिभाषिक शब्दों का कोष लिखा जाना चाहिए।

सम्पूर्ण विश्व का देवता एक है[1], किन्तु उसके आधीन काम करनेवाले अनन्त देवता भी हैं, जो एक-एक वस्तु की सत्ता के प्रत्यायक हैं।[2] एक ही शक्ति कारण-कार्य-भेद से अनेक रूपों में बंट गई है। अनेक रूपों में बंटी हुई वह शक्ति ही अनेक रचनाओं का देवता है। इसलिए देवता जड़ (matter) नहीं है, वह चेतन है। पहाड़ और समुद्र ही नहीं, सूर्य, चन्द्रमा और नक्षत्रों में भी जो अभिव्यक्ति हम देखते हैं वह देवता का ही प्रत्यक्षीकरण (Manifestation) है। कारणों से कार्य का जन्म होने से पूर्व भी देवता अन्तर्हित (Unmanifested) रहता है। उसका अभाव नहीं है। इसलिए जड़ कहे जाने वाले प्रत्येक पदार्थ में भी देवता की चेतना सक्रिय रहती है। 'सर्वभूतेषु गूढः' का यही भाव है। अतएव किसी वस्तु के मौलिक तत्त्व (Phenomenon) और समन्वय (Formula) की खोज, चिन्तन अथवा साधना का नाम ही देव-पूजा है। उसका परिज्ञान ही देवता का प्रसाद है और उससे प्राप्त होने वाला सुख ही देवता का वरदान कहा जाता है।

देवता में स्त्री और पुल्लिङ्ग का भेद नहीं होता।[3] लिङ्ग ही क्या, वचन और कारक-भेद भी देवता में नहीं होते। यह प्रकृति (Matter) के भेद हैं; और प्रकृति के भूतों का समन्वय जिस लिङ्ग, वचन और कारक में होता है, देवता की प्रतीति उसी रूप में होती है।[4] इस प्रकार भूतविद्या में जिस देवता की उपासना और प्रसन्नता पाने का प्रयास है, वह हमारे भौतिक शरीर का वह समन्वय है जिसकी समता ही स्वास्थ्य है।[5] तब स्वास्थ्य ही देवता है।

कुछ दैव-विश्वासी (Phenomenist) ऐसे भी हैं जो देवता को ही रोग और आरोग्य का उत्तरदायी कहते हैं। भारत के प्राणाचार्यों ने उसे मिथ्याविश्वास कहा है। कर्म करने का स्वभाव प्रकृति का है। पंचभूत ही शरीर के रूप में सब कारकों की भूमिका अदा करते हैं। कर्त्ता, कर्म, करण—सब शरीर ही है। देवता केवल एक शक्ति (Energy) है; उसे मन और इन्द्रियाँ जैसे चाहें प्रयोग करते हैं। उसी प्रकार स्वास्थ्य और रोग शरीर और मन में उत्पन्न होते हैं। वात, पित्त, कफ आदि शारीरिक एवं सत्-रज-तम आदि मानसिक दोषों की भी भोग-भूमि शरीर है। देवता केवल उसे प्रकाशित करता है।

---

1. एको देवः सर्वभूतेषु गूढः।—ऋग्वेद
2. रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।—उपनिषद्
3. त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी।—श्वेताश्वतर उपनिषद्
4. प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
   अहंकारविमूढात्मा कर्त्ताहमिति मन्यते॥—सांख्यकारिका
5. विकारो धातुवैषम्यं साम्यं प्रकृतिरुच्यते।—चरक०, सू० 9/4

जब तक पांचभौतिक समन्वय में कहीं भी जीवन को स्थान है, देवता की शक्ति आत्मा का साथ नहीं छोड़ती। शरीर का भंग होने पर देवता आत्मा में विलीन हो जाते हैं और शरीर पंचभूत में।

स्वर्ग के जातिवाची देवता शब्द से इस आध्यात्मिक देवता को भिन्न समझ लेना आवश्यक है। भले ही तंत्रशास्त्र में वे ही नाम व्यवहार में आएं जो स्वर्ग में आये थे, किंतु शब्दार्थ उसी शास्त्र की मर्यादा में होना चाहिए जिसे आप मनन कर रहे हों। वह जब नहीं होता, तब इतिहास, विज्ञान, चिकित्साशास्त्र और अध्यात्म का विषय स्पष्ट रूप से नहीं समझा जा सकता।

प्रकृति रूपहीन होती है। सत्त्व, रजस् और तमस् को व्यवस्था, रूप और सौन्दर्य देने वाला कोई दूसरा कलाकार है, जिसमें भावना और अभिरुचि निवास करती हैं। विश्व का प्रत्येक पदार्थ मनुष्य की भावना और अभिरुचि से निर्मित हुआ है। कोई दार्शनिक उसे धर्माधर्म कहता है और कोई अदृष्ट, किन्तु प्रकृति के सफेद परदे पर चित्र बनाने वाला कोई अवश्य है। सुन्दर-सुन्दर झरनों, नदियों, लताओं, फूलों और पत्तियों का निर्माण बिना किसी चेतनापूर्ण भावना के नहीं होता। फूल क्यों मुस्कराता है, हँसता है, नाचता है, उदास होता है और बिखर जाता है? चिड़ियों में संगीत की प्रेरणा कौन दे रहा है? आकाश में अगणित ग्रह-उपग्रह किसके अनुशासन से चल रहे हैं? यही वे प्रश्न हैं जिनके उत्तर किसी अदृश्य कलाकार के अस्तित्व का परिचय देते हैं। वह कलाकार ही विश्व का देवता है।[1]

पत्थर की दो फुट चौड़ी और पांच फुट लम्बी दो शिलाएं एक मेरे मित्र ने मंगाकर एक संगतराश को दे दीं—"इनसे मन्दिर के लिए भगवान् की मूर्ति बना दो।" एक वर्ष बाद संगतराश आकर बोला, "आपकी चीज बन गई है, ले लीजिये।" मैंने भी जाकर देखा, एक चबूतरे पर सीता और राम दिखाई दिये। मैंने पूछा—"चट्टानें कहां गई?" उत्तर मिला, "वे ही सीता और राम बन गई।" आश्चर्य हुआ। पत्थर सीता और राम कैसे बन गये? पत्थरों में अब शिला की प्रतीति नहीं रही, सीता और राम प्रतीत होने लगे। क्यों? इसलिए कि वह कलाकार छैनी और हथौड़े के माध्यम से चट्टान में घुसा और उसके दिल में बैठे हुए सीता और राम पत्थर में दिखाई देने लगे। शिलाएं अन्तर्धान हो गई—अब शिलाओं के देवता सीता और राम थे, पत्थर नहीं। यदि वे मूर्तियां फूट जायें तो पत्थर मिट्टी में मिल जायेगा और देवता कलाकार में ही फिर विलीन होगा। क्योंकि कलाकार के हृदय का भाव अमर है। कलाकार भी मर जायेगा, उसका शरीर मिट्टी में मिल जायेगा, किन्तु भावना अमर है। दूसरे कलाकार सीता और राम को फिर आविर्भूत करेंगे। हम देखते हैं कि सम्पूर्ण जगत् के निर्माण में भी एक देवता है, उसे जानने का प्रयास कीजिये। जानने के बाद मन को बल मिलेगा और हमारे दुःख हटेंगे। क्योंकि रजस् और तमस् के अतिरेक से दुर्बल मन ही दुःखों को जन्म देता है। मानसिक

---

1. तमेव भान्तमनुभाति सर्वम्। तस्य भासा सर्वमिदं विभाति।—मुण्डक उप० 2/10

विषमता ही दुःख है। देवताओं की पूजा उसे ही हटाने का साधन है। क्योंकि उससे मन को समता प्राप्त होती है।[1]

वेद की संहिताओं में लाखों मंत्र हैं। प्रत्येक मंत्र का एक देवता है। यह देवता मंत्र का प्रतिपाद्य तत्व (Theme) ही होता है। हाथ, पैर और सिर का देवता मनुष्य हैं। शाखा, टहनी और पत्तों का देवता वृक्ष है। भिन्न-भिन्न प्रान्तों का देवता राष्ट्र है और सम्पूर्ण विश्व का देवता परमात्मा। अवयव नष्ट होते हैं, देवता नष्ट नहीं होता। इस देवत्व को ही भारतीय दर्शन में 'भूमा' कहा जाता है। मनोविज्ञान का यह नियम है कि जब मन भूमा पर पहुंच जाता है, अवयवों का दुःख समाप्त हो जाता है। भूमा की साधना ही मंत्र-चिकित्सा है। इस प्रकार मनुष्य मिथ्या (नश्वर) है, मनुष्यत्व अमर। अवयव मिथ्या हैं और देवता ही सत्य है।[2]

सौन्दर्य कला का अन्तिम ध्येय है। कलाकार सौन्दर्य के जितने निकट है, उतना ही महान् है। वह सौन्दर्य ही भूमा है। अवयव सुन्दर नहीं होते, भूमा ही सुन्दर है। सारे अवयवों में सौन्दर्य उभरता है, एक में नहीं।[3] इसीलिए सबसे महान् कलाकार वह है जो सत्य और शिव होने के बाद सुन्दर भी है। सत्य और शिव का यह मूल्यांकन भी सौन्दर्य पर निर्भर है। वह सत्य और शिव, जो सुन्दर नहीं है, व्यर्थ है। यदि ऐसा न होता तो 'सत्यं ब्रूयात्' के आगे 'प्रियं ब्रूयात्' कहने की आवश्यकता न होती। इसलिए देवता वही है जो सुन्दर है, या वस्तु का सौन्दर्य ही देवता है। किन्तु उसे सत्य और शिव होना चाहिए। विश्व का जीवन भी एक कला है। उसमें सौन्दर्य को ढूंढ़ना ही सत्य और शिव की साधना है।

इस प्रकार उक्त वैज्ञानिक एवं मनोवैज्ञानिक विवेचन द्वारा हम उस तत्त्व को समझ सकते हैं जो भारतीय दर्शन में 'देवता' का परिचायक है। आयुर्वेद में ऐतिहासिक, वैज्ञानिक, मनोवैज्ञानिक तथा आध्यात्मिक दृष्टि से भिन्न-भिन्न प्रसंगों में देवता शब्द का प्रयोग हुआ है। उसके समझने में विप्रतिपत्ति न हो, इसलिए देवता का यह परिचय परिशिष्ट में देना आवश्यक था। प्रसंग के अनुसार देवता को बिना समझे भारतीय साहित्य को नहीं समझा जा सकता।

आयुर्वेद में चिकित्सा और निदान लिखते हुए प्राणाचार्यों ने आचार तथा अध्यात्म विषय पर भी बहुत लिखा है। बहुत से लोगों को इस पर आपत्ति है। वह आयुर्वेद के बाहर की बातें कहकर उस लेख को विषयान्तर कहते हैं। किन्तु वह भ्रम है। शरीर में ज्वर है, हम पंचतिक्त कषाय अथवा कुनीन देकर उसे दूर करते हैं; किन्तु रोग मन में पहुंच जाए तो कषाय और कुनीन से कोई लाभ नहीं। सद्वृत्त ही आवश्यक

1. यजुर्वेद अध्याय 12/75-101 तक चिकित्सा का उल्लेख है। वहां चिकित्सा का देवता 'वैद्य' ही लिखा है।
2. सत्यं वै देवाः अनृतं मनुष्याः। —निरुक्त
   यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति सा भूमा। —छान्दोग्य उप० 7/24
3. प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।
   यत्तत्प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु॥ —ध्वन्यालोक, 1/4

है। चरक ने सूत्रस्थान के आठवें अध्याय में इसका सुन्दर विवेचन किया है। तंत्रशास्त्र भी सद्‌वृत्त का ही एक अंग है। शक्ति की साधना ही इस तंत्रशास्त्र का ध्येय है।[1] इसके अतिरिक्त उसमें जो कुछ समाविष्ट किया गया है, वह आयुर्वेद को स्वीकार्य नहीं है।

'ग्रह' और 'भूत' दोनों शब्द पर्यायवाची हैं।[2] सुश्रुत ने इस बारे में एक ऐतिहासिक स्पष्टीकरण दिया है—यह कि देवता मनुष्यों में कभी आविष्ट नहीं होते। जो देवताओं के आवेश का मूर्खतापूर्ण समर्थन करे, उसे भूतविद्या के पंडितों में से निकाल देना चाहिए। फिर कौन आविष्ट होते हैं? उन देवताओं के सेवक या गुलाम लोग आविष्ट होते हैं जो देवता की धौंस में अपने लिए भोग-सामग्री चाहते हैं? चूंकि गुलाम लाखों हैं और नीच स्वभाव के होते हैं, इसलिए उनकी रुचि के अनुसार विवश होकर भेंट-बलि आदि देनी पड़ती है। जो नहीं देता, वें उसे इतना दु:खी करते हैं कि उसकी हत्या भी कर दें तो थोड़ा।

इस ऐतिहासिक परिकल्पना से निम्न अर्थ निकलेंगे—

1. स्वर्ग में देवता सार्वजनीन हितों से उदासीन होकर ऐश-आराम में दिन काटने लगे थे।

2. देवताओं के शत्रु जातीय लोग असुर, राक्षस, पिशाच आदि उनके गुलाम बनकर उनके पारिवारिक जीवन से सम्बद्ध हो गये थे।

3. देवताओं के ये गुलाम सामान्य जनता को देवताओं की धौंस देकर उचित-अनुचित तरीके से शोषण करते और उसकी हत्या तक करते थे।

4. जनता असहाय होकर उनके उचित-अनुचित स्वार्थों को पूरा करती थी। जो नहीं कर पाते, उनकी हत्या तक की जाती थी।

5. इन नीच प्रकृति के गुलामों को खुश करने के लिए मद्य, मांस ही नहीं, पशु, स्त्री, बच्चे तक अर्पित किये जाते रहे। तो भी देवताओं ने कभी इनका विरोध नहीं किया।

6. इन्हीं नीच गुलामों ने देवताओं की दुर्बल स्थिति का अपने दलों को परिचय दिया, जिन्होंने स्वर्ग पर आक्रमण करके स्वर्ग की प्रभुता नष्ट कर दी। भयभीत जनता समय पर देवताओं के काम न आयी। देवताओं के पराभव की छाया इस ऐतिहासिक उद्धरण में मिलती है।

रोग अपनी जगह थे—मानसिक या शारीरिक—उनकी चिकित्सा तो लिखनी ही पड़ी।[3] यह ग्रहावेश देवताओं के उस पतन का परिचय देता है, जो उनके विलासी और

---

1. ब्रह्माविष्णुमहेशाश्च यया शक्त्या समन्विता:।
   तां च शक्तिमहं वन्दे स्मरणादघनाशिनीम्॥ —सिद्धान्तशेखर, उपसंहार
2. ग्रहसंज्ञानि भूतानि यस्माद्वेत्त्यनया भिषक्।
   विद्याया भूतविद्यात्वमत एव निरुच्यते॥ —सुश्रुत०, उत्तर० 60/26/23
3. तेषां शान्त्यर्थमन्विच्छन् वैद्यस्तु सुसमाहितः।
   जपैः सनियमैर्होमैरारभेत चिकित्सितुम्॥ —सुश्रुत०, उत्तर०, 60/28-29

अकर्मण्य हो जाने के कारण हुआ, अन्यथा इन्द्र का वह तिरस्कार न होता जो हम पीछे के इतिहास में देखते हैं। वह 'पुरन्दर' नहीं रहा, 'विडौजा' हो गया।

चरक का निर्भीक सत्य ही स्वीकरणीय है कि "देवता, नाग और गन्धर्व आदि किसी को रोगी नहीं करते। व्यक्ति के दूषित कर्म ही उसके रोगों के हेतु हैं, इसलिए अपने चरित्र की ओर ध्यान दो। अन्यथा सुख-समृद्धि की आशा नहीं।" चरक ने इस उपदेश को अपनी संहिता में भी स्पष्ट लिखा, और उन्होंने मनुष्यों के निमित्त नहीं, स्वयं देवताओं के लिए ही रसायन-प्रयोग लिखे।[1] चरक ने वाजीकरण पीछे लिखे, रसायन-प्रयोग ही पहले। और वह भी मन्दचेष्टाओं के उस इतिहास के साथ, जो यह व्यक्त करता है कि केवल वाजीकरण ही मत खाते रहो, रसायन-प्रयोग ही पहले खाओ, ताकि समय पड़ने पर शत्रुओं से टक्कर लेने की सामर्थ्य तुम्हारे अन्दर बनी रहे। उन्होंने च्यवनप्राश लिखा और साथ में च्यवन का लज्जास्पद इतिहास भी, ताकि हम विषयासक्ति से बचें और पराक्रम के पथ पर अग्रसर हों।

स्वर्ग के दो प्रतिष्ठा-केन्द्र थे––अमरावती (त्रिविष्टप) और सुमेरु (हरिवर्ष)।[2] त्रिविष्टप पूर्व में और सुमेरु पश्चिम में। पिशाच, दस्यु, असुर, निशाचर, नैर्ऋत्य आदि पश्चिम की नीच जातियां ही देवताओं की गुलामी कर रही थीं, इसलिए उनके गिरोहों ने सबसे प्रथम हरिवर्ष तथा उत्तर-गन्धार को बर्बाद किया। स्वर्ग के इन दो प्रान्तों में आये-दिन विप्लव और विद्रोह हुए। गृह-कलह के फलस्वरूप कुन्त, मद्र, वाह्लीक और उत्तरकुरु नामों से वह प्रदेश टूटा। परिस्थिति यहां तक बिगड़ी कि कुन्त में भी विप्लव होकर सिथिया, पर्थिया और मीडिया बने। वाह्लीक और उत्तरकुरु भंग होकर बैक्ट्रिया, तुरुष्क और सिम्कियांग बन गये। अन्त को गन्धार भी विद्रोह के साथ था। राजनैतिक दूरियां बढ़ती गई। हम एक थे, अनेक हो गये। फिर पूर्व में त्रिविष्टप भी छिन्न-भिन्न हो गया। अमरावती में मृत्यु ने भीषण ताण्डव किये। किन्तु शंकर के त्रिशूल ने दक्षिणापथ और गन्धार को ही नहीं, सारे स्वर्ग को शत्रुओं से खाली कर दिया। देवताओं की बेटी होकर भी शंकर की भवानी खांडा और त्रिशूल लेकर रणक्षेत्र में चमक उठी। कार्त्तिकेय सेनापति थे और गणेश गृहमंत्री। असुरों, पिशाचों और दस्युओं के दिल कांप गये। अब स्वर्ग का सम्मान त्रिविष्टप में नहीं, कैलास में निवास कर रहा था। विश्व में नागवंशियों की धाक बैठ गई। पुरातत्त्व की खुदाइयों में नागमुद्रावाली मूर्तियां प्राप्त होती हैं जिन्होंने रणक्षेत्र में वैरियों के छक्के छुड़ा दिये। स्वर्ग फिर संगठित हो गया।

कश्यप द्वारा दिति के गर्भ से हिरण्यकशिपु और हिरण्याक्ष दो पुत्र और सिंहिका नाम की कन्या हुई। बलि, नमुचि और शम्बर भी उसी वंश-परम्परा में थे, जो देवताओं की राजनैतिक परम्परा के विरुद्ध सौ यज्ञ बिना किये ही इन्द्रासन पाने का प्रयास कर रहे थे। मार-काट में आस्था रखने वाले को 'असुर' कहते हैं। ये सभी असुर थे। असुरलोक

---

1. ऋषयः खलु कदाचित् शालीना यायावराश्च ग्राम्यौषध्याहाराः सन्तः साम्पन्निका मन्दचेष्टाश्च नातिकल्याः प्रायेण बभूवुः। ते सर्वासामिति कर्तव्यतानामसमर्थाः। —चरक०, चि०, 1/4/3
2. विष्णुपुराण, द्वितीय अंश, अ० 2/12-13

(असीरिया) से वे स्वर्ग के विरुद्ध अभियान करते ही रहे। देवों को परास्त कर हिरण्य इन्द्रासन पर जा बैठा।[1] देवता उसे शस्त्र से नहीं, वुद्धि से ही परास्त कर पाये। लाखों देवता स्वर्ग छोड़कर नरक में शरण ले रहे थे।[2] अव स्वर्ग नागों के भरोसे ही टिका था। इधर नरक की शक्तियां 'आर्यावर्त' के नाम से काशी में संगठित हो रही थीं। देव, नाग और गन्धर्वों के गृहकलह ने स्वर्ग समाप्त कर दिया। पुराने शत्रु असुरों को प्रह्लाद ने वहुत-कुछ मित्र वना दिया, परन्तु जो मित्र थे वे शत्रु हो गये। मेरठ डिवीजन का पुराना नाम मयराष्ट्र है। मय असुर था।[3] महाभारत-काल में पाण्डवों का आश्चर्यजनक सभा-भवन निर्माण करने वाले असुर ही थे और गगनगामी पुष्पक विमान वनाने वाला विश्व-कर्मा भी असुर था। किन्तु इधर हम यह भी पढ़ते हैं कि जन्मेजय ने नागयज्ञ किया था, जिसमें नागों की सार्वजनिक हत्या हुई थी। और वृन्दावन में स्थापित काली-नाग की रियासत का काली का वध करके, श्रीकृष्ण ने ही अन्त कर दिया।

स्वर्ग में नमक का अभाव था। इसका अर्थ यह है कि सुलेमान पहाड़, जहां नमक के भण्डार मिले, तव तक नहीं खोजा गया था। अन्य सारे जलाशय जो स्वर्ग में थे, मीठे पानी के थे, जिनसे नमक प्राप्त होना संभव न था। आज के (1) सिम्कियांग, (2) किर्गीजिया, (3) कजाकिस्तान, (4) उजवेकिस्तान, (5) तुर्कमान, (6) अफगानि-स्तान, (7) पंजाव-सिन्ध, (8) गन्धार, (9) कश्मीर, (10) तिव्वत, (11) त्रिकूट, (12) हिमाचल प्रदेश, (13) गढ़वाल, कुमाऊं, (14) नैपाल, (15) भूटान, (16) और असम का सम्पूर्ण प्रदेश एकत्र कर लिया जाय तो स्वर्ग का साम्राज्य वन जायेगा। प्रतीत होता है प्रारम्भ में सिन्ध और विलोचिस्तान (कुलूत) पर राक्षसों और असुरों का शासन रहा। मोहंजोदड़ो, पुष्कलावती में नमक के लिए होनेवाले देवासुर-संग्राम की विजय के उपरान्त सिन्ध, विलोचिस्तान (कुलूत) और पारस्य सभी देवताओं को मिल गये थे। असीरिया, तुर्किस्तान और इसराइल के प्रदेश ही असुरों के प्रदेश में रह गये। वैवीलोनिया और मैसोपोटामिया के आदि-निवासी सुमेरियनों को लूटकर असुरों ने ये स्वाधीन राष्ट्र पीछे से हथिया लिये।

सिन्धु, गन्धार और पारस्य में आर्य भाषाओं का अधिकार रहते हुए भी कुलूत (विलोचिस्तान) में अस्वाभाविक रूप से द्रविड़भाषा का एक उपनिवेश अभी तक अपने संस्मरण वनाये हुए है। यह भाषा 'ब्राहुई' (Brahuis) कही जाती है जो दक्षिण भारत की द्राविड़ भाषाओं (तमिल, तेलगु, कन्नड़) से मिलती है। यह ऐतिहासिक लेखों से स्पष्ट है कि रावण ने लंका में उत्तराखंड के आर्यों के विरुद्ध जो शक्तियां संगठित कीं, असुर शक्तियां ही उनमें प्रधान थीं। रावण की माता कैकसी सुमाली नामक असुर की वेटी

1. अभूदभूमिः प्रतिपक्षजन्मनां भियां तनूजस्तपनद्युतिर्दितेः।
यमिन्द्रशब्दार्थनिषूदनं हरेर्हिरण्यपूर्वं कशिपुं प्रचक्षते॥ —माघ, 1/42
2. देवाः स्वर्गं परित्यज्य तत्त्रासान्मुनिसत्तम।
विचेरुरवनौ सर्वे विभ्राणा मानुषीं तनुम्॥ —विष्णुपुराण 1/17/5
3. भागवत पु०, 10/75/34

थी और विश्वश्रवा पिता। ईरान की खाड़ी पर विलोचिस्तान की ओर रावण अपनी द्राविड़ सेना जमाये रहा था और पश्चिम की ओर अरब के हैसा और ओमान तटों पर असुर शक्तियां अपना कब्जा जमाये हुए थीं ताकि स्वर्ग में नमक न जा सके। ऐसी दशा में पश्चिम की ओर से दजला और फरात के मुहाने से वाह्लीक (ईराक) और पूर्व तथा उत्तर की ओर से स्वर्ग और आर्यावर्त की शक्तियां मिलकर इन आसुरी शक्तियों से लड़ीं। पुष्कलावती और मोहन्जोदड़ों की खुदाइयों में भूमि के निम्नतर स्तर पर जो अस्थियों के पर्त विछे हुए निकले हैं, वे उन्हीं शत्रुओं के होने चाहिए, जिनको इन्द्र के सेनापतित्व में आर्यों ने सदैव के लिए भूमिसात् कर दिया। पारस्य (ईरान) सदैव स्वर्ग और आर्यावर्त का अभिन्न अंग था[1] और नमक का संकट वैसे ही झेल रहा था जैसे स्वर्ग के देवता। धन्वन्तरि का समुद्र-मन्थन यही था।

कुलूत के दक्षिण भाग में पीले और उत्तर भाग में काश्यपीय सर तक लाल रंग के नक्काशीदार वर्तन भूगर्भ में मिले हैं। स्टुअर्ट पिगौट (Stuart Piggott) का यह विचार ठीक है कि लाल वर्तन भारतीय सभ्यता के और पीले आसुरी सभ्यता के परिचायक होने चाहिए। यह न होता तो देवासुर-संग्राम की नौवत न आती। वाह्लीक में सुमेरियन शक्ति भारतीयों के साथ थी, इसीलिए असीरिया के सेमेटिकों ने उन्हें तवाह कर दिया। वगदाद वाह्लीक (ईराक) का प्रतिष्ठित केन्द्र है। वगदाद में आयुर्वेद चिकित्सा-विज्ञान ही प्रचलित था। काङ्कायन जैसे प्राणाचार्यों ने मध्य एशिया में भी आयुर्वेद की धाक वैठा दी। इसी कारण वगदाद के हकीम आज तक याद किये जाते हैं।

इन परिवर्तनों में कितने ही नाम वदल गये। एक ही स्थान चार नामों में परिवर्तित हुआ : पारस्य, ईरान, पर्शिया, फारस। प्रदेश एक ही है, नाम चार क्यों ? प्रत्येक नाम इतिहास का एक अध्याय है। परिशिष्ट में इस अभिन्नता का परिचय देना मात्र ही उद्देश्य है। इस प्रकार इतिहास का भूगोल के साथ समन्वय हो जायेगा। स्वर्ग, आर्यावर्त, भारतवर्ष, हिन्दुस्तान और इंडिया को समझने के लिए लाखों वर्ष का इतिहास और भूगोल समझना पड़ेगा।

आर्यों के आदि निवास के वारे में ऐतिहासिकों में मतभेद रहता आया है। यूरोप के अधिकांश विद्वान् कहते हैं कि आर्य लोग मध्य एशिया (एशिया माइनर, जिसमें तुर्की

---

1. I. Here is a golden opportunity for co-operation between Iran and India to their mutual profit. Ancestral Iran and Ancestral India share the same problem. 'E. M. Wheeler, Archaeological Survey of India', No. 4, Page 88.

   II. *We can, I think, best visualize the relationship of* the Indus-civilization with its contemporaries and forebearers of Iran and Masopotamia along those lines. It is the agelong story of the encompassing personality of India, with its unpredictable capacity for combined assimilation and invention.

   Ibid, Page 92

ईराक, असीरिया और ईरान आते हैं) के मूल निवासी थे और वहां से भारतवर्ष में आये, क्योंकि वहां भूगर्भ से वैदिक देवताओं के संस्मरण मिले। लोकमान्य तिलक का कहना है कि वे उत्तरी ध्रुव प्रदेश के मूल निवासी थे; क्योंकि ज्योतिष के आधार पर यह सिद्ध होता है कि ऋग्वेद में पृथ्वी के जिन अक्षांशों एवं देशान्तरों का उल्लेख है वे उस काल में उत्तरी ध्रुवप्रदेश में होने चाहिए। डॉ॰ अविनाशचन्द्र कहते हैं कि वे सप्तसिन्धु (पंजाव से ईरान तक) प्रदेश के मूलनिवासी थे। ऋषि दयानन्द सरस्वती का विचार था कि वे तिव्वत से आये। और एच॰ जी॰ वेल्स ने आग्रह किया कि उन्हें वाह्लीक और दर्दिस्तान (Babylonia) का माना जाय, क्योंकि वहां की सभ्यता और परम्पराएं आर्यों के अनुरूप हैं तथा भूगर्भ से नृसिंह, इन्द्र, अश्वि और विष्णु आदि देवताओं के संस्मरण वहां प्राप्त हुए।[1]

ऊपर की मान्यताओं में कोई झूठ नहीं है। वे अलग-अलग सत्य हैं; मिलकर एक सत्य यह है कि आर्य उन सम्पूर्ण प्रदेशों में निवास करते रहे हैं। स्वर्ग और आर्यावर्त की सीमाओं में ये सारे प्रदेश समाविष्ट हो जायेंगे। स्वर्ग और आर्यावर्त के वाद भारतवर्ष की स्थापना हुई। प्रत्येक सत्य अपने युग की अनिवार्य आवश्यकता थी। वह इसी कारण एक राष्ट्र वन गया। किन्तु सभ्यता और संस्कृति के परिवर्तनों ने एक ही वस्तु के अनेक नाम वदल दिये। नामों की अनेकता के पीछे उन्हीं परिवर्तनों का इतिहास झलकता है। प्रकृति का यह नियम है—समानधर्मा तत्त्व परस्पर संगठित हो जाते हैं। यही सजातीयता है, और यह सजातीयता ही राष्ट्र की जननी है। स्वर्ग पर जिन वर्वर लोगों के आक्रमण हुए, उन्होंने स्वर्ग को उजाड़ दिया। स्वर्ग देवताओं के साथ चला गया। वर्वादियां आक्रान्ताओं के साथ रह गईं। आर्यों ने राज्य नहीं वनाये, वे राष्ट्र को प्यार करते थे। शस्त्र-विजय राज्य वनाती है; धर्म-विजय राष्ट्र की जननी है। आर्यावर्त जितना राष्ट्र वन सका, आर्यों के साथ रह गया। जो राष्ट्र नहीं वना, चला गया। भारतीय दर्शन में राष्ट्र भी एक देवता है। चरक में जनपदों के नाश करने वाले रोगों के वारे में अग्निवेश को उत्तर देते हुए आत्रेय पुनर्वसु ने कहा था—"जहां के लोग पाप का व्यवहार सामाजिक स्तर पर करते हैं, उस राष्ट्र को देवता छोड़ जाते हैं। रोग उस राष्ट्र का नाश कर देते हैं।"[2]

हमारे पास प्राचीन सम्वन्धों की स्मृतियां अभी तक विद्यमान हैं, हमें परिशिष्ट में यह देखने को मिलेगा। चन्द्रगुप्त मौर्य के महामात्य कौटिल्य के समय विलोचिस्तान

---

1. Of a move direct sort seems to have been the relations between India and Babylon, and the former may owe to the later her later astronomy, but no definite proof exists (or even any great historical probability) that Babylon gave India even legendry additions to her native wealth of myths.

—The Religions of India
By E. W. Hopkins, p. 543.

2. चरक॰, विमान॰ 3/21

की सत्ता नहीं थी। वह भारत के अधीन मात्र एक मांडलिक शासन था। तब हम उसे 'कुलूत' कहते थे।[1] चित्रवर्मा वहां का शासक था। वह कुलूत ही आज 'कलात' बन गया है। चिकित्सोपयोगी द्रव्यों में 'हिंगुल' का वहीं से आयात होता था। हिंगुलाज तीर्थ की यात्रा वहीं होती थी। बैबीलोनिया और मैसोपोटामिया से दूसरी प्रकार का वही पदार्थ हमारी आयुर्वेदिक प्रयोगशाला में प्रयोग होता रहा है। यह 'दरद' कहा जाता था। एच० जी० वेल्स ने कहा था कि भारत में आर्य दर्दिस्तान से ही आये थे। तब हम 'दरद' अपने साथ लाये और युगों तक लाते रहे। आज तक हमारे प्राणाचार्य उस स्मृति का प्रत्यभिज्ञान मानकर रस-चिकित्सा में 'हिंगुल' और 'दरद' शब्दों को बोलते और लिखते चले आ रहे हैं। किन्तु उनके पीछे एक इतिहास है जो उन प्राणाचार्यों के विशाल राजनैतिक और वैज्ञानिक शासन का परिचय देता है।

आर्यों के स्वर्ग-शासन के युग में विमान वैसे ही चलते थे, जैसे आजकल रिक्शा और तांगे चल रहे हैं। अन्यथा उन पहाड़ी प्रदेशों में इतना सुगम और सुखद यातायात संभव नहीं था। प्राचीन ग्रन्थों में स्वर्ग के विमान पदे-पदे लिखे गये हैं। ये विमान पारद से ही चलते थे।[2] असुरों के विमान भी प्रसिद्ध थे।[3] 'दरद' और 'हिंगुल' दोनों पारद के ही खनिज हैं। उन पर स्वत्व पाने के लिए भी देवासुर-संग्राम का होना स्वाभाविक था, क्योंकि विमान युद्ध में भी प्रयुक्त होते थे।

हम पहले कह चुके हैं कि सुर और असुर दोनों एक ही अभिजन के थे। आध्यात्मिक और राजनैतिक प्रतिद्वन्द्विताओं ने दोनों को शत्रु बना दिया। तो भी उनका पारिवारिक जीवन ताने-बाने की भांति ओत-प्रोत था। अनेक देवताओं के देवकन्याएं भी पत्नियां बनीं और असुर-कन्याएं भी। दोनों पत्नियों की सन्तानें हुईं। सन्तानों पर माता का अधिकार था। त्वष्टा देवता था। उसके दो पत्नियां ही थीं—एक अश्विनी जो दक्ष प्रजापति की बेटी थी और दूसरी का नाम रचना था, जो असुर-कन्या थी और दिति की बेटी थी। अश्विनी ने अश्विनीकुमारों को जन्म दिया और रचना ने विश्वरूप तथा वृत्र (असुर) को।

अश्विनीकुमारों की भांति विश्वरूप भी बड़ा विद्वान् एवं प्रतिष्ठित व्यक्ति था, किन्तु वृत्र इन्द्र-पद पाने के लिए सदैव देवताओं से लड़ता ही रहा, और इन्द्र के हाथों मारा भी गया। विश्वरूप कुछ समय तक देवताओं का पुरोहित भी रहा। उस दशा में मातृपक्ष के प्रेम के कारण वह देवताओं का यज्ञभाग असुरों को भी दे देता। पितृपक्ष को यह अनैतिक व्यवहार बुरा लगा। चोरी से प्राप्त इस सहयोग से दैत्य समृद्ध होने लगे। इसलिए इन्द्र ने विश्वरूप की हत्या कर दी। वस्तुतः अपने भाई का बदला लेने के लिए भी वृत्र इन्द्र का शत्रु हो गया।[4]

---

1. कौलूतश्चित्रवर्मा मलयनरपतिः सिंहनादो नृसिंहः। —मुद्राराक्षस नाटक
2. बद्धः खेचरतां धत्ते कोऽन्यः सूतात्कृपाकरः। —रसरत्नसमुच्चय
3. भागवत, 10/76/7-24 सौभविमान की कथा देखिये। मय दानव ही उसका निर्माता था।
4. भागवत, स्कंध 6/6-10 अध्याय

यह सब होने पर सन्तानें अपने मातृपक्ष और पितृपक्ष को अनुराग करती रहीं। दिति और दनु पत्नियों से कश्यप की जो सन्तानें हुईं, वे दैत्य और दानव नाम से कही जाती हैं, किन्तु अदिति की सन्तानें आदित्य। दैत्य और दानव असुर-पक्ष में रहे तथा आदित्य देव-पक्ष में रहे। देवताओं और असुरों के राजनैतिक विरोध रहते भी पितृपक्ष और मातृपक्ष के लिए श्रद्धा की अंजलि अर्पित करने की ममत्व-वोधक प्रक्रिया आज तक चली आती है। प्रत्येक युवा एक माता और एक पिता को यदि श्रद्धा से भोजन करा दे तो सम्पूर्ण राष्ट्र में कोई भी वयोवृद्ध माता-पिता भूखे नहीं मर सकते। हम यह करते रहे हैं और पितृतर्पण के नाम से आज तक कर रहे हैं। यही वास्तविक समाजवाद था। यही वह परम्परा है, जिससे राज्य नहीं, राष्ट्र वनाये जाते हैं। हम अपनी इन सामाजिक परम्पराओं से जितने ही विमुख होते जाते हैं उतना ही राष्ट्रीयता से भी विमुख हो रहे हैं। परम्पराओं की सार्थकता समझने के लिए इतिहास समझना चाहिए।

भारत के प्राचीन इतिहास में दक्ष प्रजापति से ही वंश-परम्परा का परिचय प्रारम्भ होता है। पुराण, मनुस्मृति, रामायण, महाभारत आदि प्राचीन ग्रन्थ उससे पूर्व की किसी वंश-परम्परा का उल्लेख नहीं देते। दक्ष की पत्नी असिक्नी के पुत्र भी हुए, पुत्रियां भी। पुत्रों को नारद ने ऐसा उपदेश दिया कि वे विरक्त हो गए और गृहस्थ न हो सके, फलतः कन्याओं का वंश ही वढ़ा और स्वर्ग तथा असुर दोनों लोकों में उन्हीं की सन्तान फैल गई।[1] स्वर्ग में अनेक अभिजनों का उल्लेख 'चरकसंहिता' में किया गया है। वैखानस, वालखिल्य, साध्य, सिद्ध, ऋषि और मुनि आदि उन्हीं कन्याओं का वंश-भेद है। स्वर्ग का पंचजन उन्हींकी सन्तानों का विस्तार है। असुर लोक का विस्तार भी उन्हींकी सन्तानों से प्रचलित हुआ। सन्तानें वढ़ती गईं। गुण और कर्म के आधार पर अनेक वंश-परम्पराएं प्रचलित हो गईं। स्वर्ग में अभिजन का भेद ही समाज-व्यवस्था में चलता रहा। आर्यावर्त वन जाने पर मनु ने वर्ण-व्यवस्था और आश्रम-व्यवस्था कायम कर दी।

वड़े-वड़े दार्शनिक, वैज्ञानिक, प्राणाचार्य और शिल्पकार स्वर्ग में हो चुके थे। इसका अर्थ यही है कि स्वर्ग का शासन भी शताब्दियों नहीं, सहस्राब्दियों तक चलता रहा था। युद्ध एवं सेना की शिक्षा, विज्ञान एवं शिल्प की प्रयोगशालाएं, आयुर्वेद एवं स्वस्थवृत्त के विशाल विद्यालय, ललित कलाओं का प्रशिक्षण आदि सभी कुछ स्वर्ग में विकसित था। उनकी आर्थिक संस्थाएं भी आदर्श वनी हुई थीं। धर्म-संस्था के न्यायालय और सुरक्षा की व्यवस्था पर ही यह स्वर्ग फला-फूला।

संगीत, धनुर्विद्या, युद्ध-कौशल, ब्रह्मज्ञान, अर्थशास्त्र, कामशास्त्र और आयुर्वेद के उच्चकोटि के विद्या-केन्द्र स्थान-स्थान पर स्वर्ग में सक्रिय थे, यह ऐतिहासिक सत्यता भारतीय साहित्य के प्रत्येक विद्वान् को विदित है। पीछे आप पढ़ आये हैं, चैत्ररथ की वैज्ञानिक सभाएं, पंचगंग प्रदेश में निदान और सम्प्राप्ति (Pathology) के प्रवचन

---

1. छान्दोग्य उपनिषद, 2/1
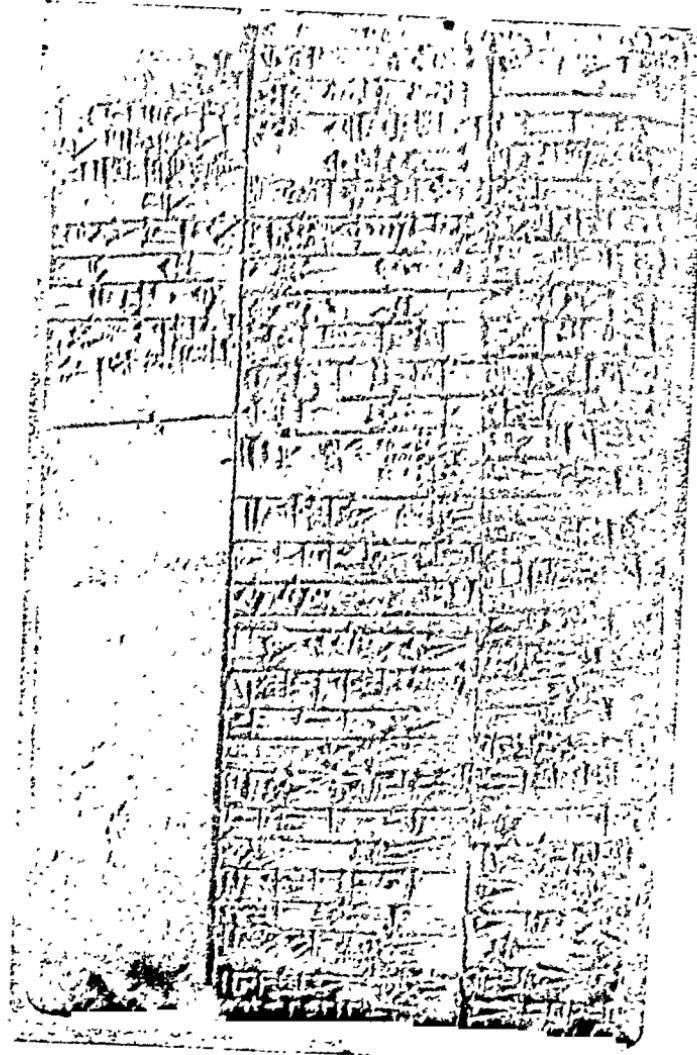
वाल्हीक (वैवलोनिया) के भूगर्भ से प्राप्त शिलालेख जिसमें चरक और सुश्रुत के ओषधि योग सार्वजनिक स्वास्थ्य के लिए उद्‌ंकित हैं।

कश्मीर में ज्वर के अनुसन्धान[1] तथा अमरावती में इन्द्र का आयुर्वेद-प्रतिष्ठान स्वर्ग के उच्च विकास का परिचय देते हैं। भृगु, अङ्गिरा, अत्रि, वसिष्ठ, कश्यप, अगस्त्य आदि इन्द्र के विश्वविद्यालय में गये, वह उनकी विदेश-यात्रा नहीं थी, चरक ने यही ऐतिहासिक रहस्य प्रकट करने के लिए लिखा—'पूर्व निवासम्', उनकी और उनके पूर्वजों की निवास-भूमि वही थी। वे जहां प्रवास कर रहे थे वह नरक था। उस समय नरक में जो गांव आवाद हुए थे उनकी सामाजिक दशा का दिग्दर्शन 'असुखम्' (कष्टपूर्ण), 'असुखानुवन्धम्' (रोग परम्परा-सहित), 'मूलमशस्तानाम्'[2] (बुराइयों की जड़) जैसे विशेषणों से स्पष्ट होता है। उन ऋषियों ने राष्ट्र की जो सेवा की है, उसे इन परिस्थितियों को ध्यान में रखकर देखिये, वह कितनी महान् थी।

नरक निवास-योग्य न था। किन्तु नागवंशियों के सहयोग से जह्नु और भगीरथ ने जब नरक में गंगा का निर्माण कर दिया, यहां भी कृषि की सुविधाएं उत्पन्न हो गईं। असुरों और दस्युओं के आक्रमण स्वर्ग को वेचैन कर रहे थे। इसीलिए स्वर्ग धीरे-धीरे गंगा के सहारे नरक में उतर आया। अनेक नगरों के वे ही नाम यहां भी रखे गये जो स्वर्ग में थे। जल-प्लावन के उपरान्त यहां का सव-कुछ समुद्र में विलीन हो चुका था। धीरे-धीरे जल घटता गया। वे ऋषि ही थे जिन्होंने इसे फिर आवाद कर दिया। भीषण संकट आये, किन्तु वे असुरों से भी लड़ते रहे और दैवी संकटों से भी।

आर्यावर्त में वाह्लीक और वाहीक का ध्यान रखना आवश्यक है। वाह्लीक वावुल या वैवीलोनिया था, और वाहीक उजवेकिस्तान, ताजिकिस्तान और तुर्कमेनिया से लेकर गन्धार तक का प्रदेश कहा जाता था। यही सप्तसिन्धु प्रदेश है। सिन्ध के पूर्व से पांच तथा पश्चिम से सात नदियां उसमें मिलती हैं। इस प्रदेश की असभ्य जातियों के कारण ही 'गौर्वाहीकः'[3]—यह कहावत संस्कृत-साहित्य में प्रसिद्ध हो गई। इसके प्रतिकूल वाह्लीक सभ्यता और विद्या में ऊंचा था। काङ्कायन नामक प्राणाचार्य वहीं के थे। उनका उल्लेख पीछे हो चुका है।

सुमेरिया (वैवीलोनिया) में सेमेटिक लोगों से वर्वाद किये गये सुमेरियन यहां से भाग गये। कुछ तो ईरान की खाड़ी होकर अथवा भूमि के मार्ग से मद्र (मीडिया) और गन्धार को लौट आये और कुछ पैदल के मार्ग से मिश्र होकर यूरोप पहुंच गये। केश्नि (शुमेर) और उरि (अक्काद) नगरों की वर्वादी के वाद जो आसुरी सभ्यता वहां फैली वही वैवीलोनियन सभ्यता के नाम से कही जाती है। सुमेरियन अध्यात्मवाद की जगह भौतिकवाद का वोलवाला हो गया। महात्मा मूसा और ईसा ने सुमेरों की देव-गाथाएं संकलित करके फिर से अध्यात्म-भावों से परिपूर्ण प्रभु के राज्य की नींव रखी।[4]

---

1. चरक०, चिकित्सा०, 3/329-39 —चक्रपाणि-व्याख्या
2. चरक सं०, चिकित्सा०, 1/4
3. बैल और वाहीक एक-से होते हैं।
   पञ्चानां सप्तसिन्धूनामन्तरं ये समाश्रिताः।
   वाहीका नाम ते देशा न तत्र दिवसं वसेत्॥
4. Bible, John, ch. 1/1-10

अभी तक सुमेरियनों की जाति के बारे में ऐतिहासिकों में मतभेद है। सुमेरियनों को द्रविड़ कहने वाले लोग यह तो देख सकते हैं कि द्रविड़ कुरूप, काले और ठिगने थे, जब कि सुमेरियन सुन्दर, गोरे और लम्बे। संस्कृत-साहित्य में द्रविड़ों के लिए 'राक्षस'[1] और सेमेटिकों के लिए 'असुर' या 'दानव' शब्द का व्यवहार है। राक्षसों की अपेक्षा असुर और दानव सुन्दर थे। पश्चिम एशिया की ओर राक्षसों का नाम नहीं है। वहां असुर या दानव ही मिलते हैं। हां, एक नाम और मिलता है, वह है 'पिशाच'। यह मरुदेश 'अरब' के निवासी थे जो सभ्यता में राक्षसों से भी अधिक गिरे हुए तथा गन्दे थे। आर्यों ने इनसे सम्पर्क नहीं रखा।[2]

विलोचिस्तान में द्रविड़ भापा के समान भाषा का अर्थ यही है कि वहां किसी समय रावण की द्रविड़ सेना का शिविर था जो ईरान की खाड़ी पर शासन कर रहा था। रामायण में आप देखेंगे कि राज्याभिषेक के बाद भरत के सेनापतित्व में राम ने उस पर आक्रमण करके अधिकार किया था। तक्ष को तक्षशिला में और पुष्कल को पुष्कलावती में शासनाधिकार देकर भरत अयोध्या लौट गये थे।[3]

महाभारत से हमारा मध्यकाल प्रारम्भ होता है। आदिकालीन ऐतिहासिक सामग्री की अपेक्षा मध्यकालीन सामग्री अधिक धूमिल है। महाभारत, पुराण तथा उपनिषदों के अतिरिक्त भूगर्भ से भी कुछ सामग्री मिली है। बौद्ध और जैन साहित्य में भी मध्यकालीन इतिहास के अवशेष विद्यमान हैं। किन्तु बौद्ध साहित्य भिक्षु-धर्म से सीमित है और जैन लोग अधिकांश अपना साहित्य जैनेतर व्यक्ति को दिखाते नहीं। धीरे-धीरे उनकी यह संकीर्ण मनोवृत्ति हट रही है। हट जायेगी तो स्वाध्याय का क्षेत्र बढ़ेगा।

महात्मा बुद्ध के आविर्भाव (557 ई० पूर्व) से उत्तरकाल प्रारंभ होता है। इधर ऐतिहासिक सामग्री का इतना अभाव नहीं है। परिशिष्ट में देने के लिए ऐसे नाम भी कम ही हैं जो विस्मृति से धूमिल हो गये हों। कुछेक ऐसे लगे, उन्हें मैंने परिशिष्ट-सूची में दे दिया है।

काशी सबसे अधिक ऐतिहासिक और सांस्कृतिक महत्त्व का स्थान है। वहां के सम्राटों ने आर्यावर्त की प्रतिष्ठा बढ़ाई और भारतवर्ष में विद्या एवं ज्ञान का प्रकाश फैलाया। हरिश्चन्द्र, धन्वन्तरि, दिवोदास, वायोविद, प्रतर्दन और ब्रह्मदत्त जैसे काशी के महाराजाओं में पराक्रम, विज्ञान और अध्यात्मज्ञान की गरिमा ने आर्य जाति का सम्मान विश्व के इतिहास में बहुत ऊंचा उठा दिया। सम्पूर्ण राष्ट्र काशी का ऋणी है। काशी के राजवंश की परम्परा अभी तक चलती आयी है। सन् 1931-32 में, जब मैं काशी में विद्याध्ययन कर रहा था, कई बार काशी-नरेश के राजमहल (गंगापार रामनगर) में गया। संभव है कुछ प्राचीन संस्मरण सुरक्षित हों, किन्तु वहां के कार्यकर्त्ता महत्त्वपूर्ण कुछ नहीं दिखा सके। उसके कई वर्ष बाद मैंने काशिराज ट्रस्ट को लिखा भी। उत्तर आया कि ऐतिहासिक महत्त्व का कोई लेखा-जोखा महाराज के यहां नहीं है। वहां न हो

1. "समौलरक्षो हरिभिः ससैन्यः" —कालिदास, रघुवंश० 14/10
2. मनुस्मृति 7-2 तथा 1/37—कुल्लूकभट्ट की व्याख्या भी देखिये।
3. रघुवंश, 15/87-89

किन्तु उन महनीय-कीर्ति राजर्षियों के संस्मरण राष्ट्र को रखने चाहिए। मुझे जो संस्मरण प्राचीन साहित्य में मिले, उन्हें मैंने यथास्थान लिखा है। काशी आज भी वन्दनीय है।

अष्टाध्यायी में आचार्य पाणिनि ने व्याकरण में काशी की साख स्वीकार की और अपने सिद्धान्त लिखने के बाद काशी के विद्वानों का अभिमत 'प्राचाम्' कहकर उद्धृत किया। पंचाल में काम्पिल्य (फर्रुखाबाद) भी प्रतिष्ठित था, किन्तु उसका राजवंश अतीत में विलीन हो गया। और वही स्थिति अब पाटलिपुत्र की हो गई। पाणिनि के युग में तो पाटलिपुत्र जनता में प्रतिष्ठित था[1], और काम्पिल्य ऐतिहासिक परिवेश में ही। आज दोनों कथा-शेष हैं, केवल काशी ही प्रकाशित है। उसकी सेवाएं गुरुतर रही हैं। आर्यावर्त में तक्षशिला छै बार बनी और बिगड़ी। आखिर शत्रुओं ने उसे फलने-फूलने न दिया।[2]

असुर राज्य अनेक राज्यों का संगठित क्षेत्र था। इनमें फोनीशिया, साइप्रस, सीरिया, असीरिया, जोर्डन, इसराइल, अदन और ओमान सब शामिल थे। रोमन और ग्रीक लोग इन पड़ौसी राज्यों को अत्याचारी और क्रूर कहते थे।[3] वे इनके लिए 'Barbarian' शब्द प्रयोग किया करते थे। इन बारबेरियन लोगों ने पहले स्वर्ग और आर्यावर्त को लूटा और बर्बाद किया, उसके बाद मिश्र (Egypt) तथा रोमन साम्राज्य की ओर इनकी लूटमार होने लगी। क्योंकि देवासुर-संग्राम में स्वर्ग के शासक इन्द्र ने इनका भीषण विध्वंस किया। मोहंजोदड़ों तथा पुष्कलावती के भूगर्भ से उनके संस्मरण उपलब्ध हुए हैं।

इधर से परास्त होकर मिश्र और रोमनों की ओर इनके जत्थे फैले। मिल्टन ने लिखा है कि वे पानी की बाढ़ की तरह बढ़े—"Like a deluge on the South."[4] उस समय लाल सागर और भूमध्य सागर (मुर्दा सागर) के बीच भूखण्ड जुड़ा हुआ था। मिश्र ने इन आततायियों को खदेड़कर इसराइल तक अधिकार कर लिया। वे लम्बे समय तक मिश्र की दासता में रहे। मूसा (Moses) भेड़ें चराने वाला एक बुद्धिमान् व्यक्ति था, उसने धार्मिक (दैविक) आधार पर इन दासों की भावनाओं को स्वाधीनता के लिए उकसाया। इधर मिश्र की दैनिक दुर्घटनाओं ने वहां के शासन को दुर्बल किया, फलतः इसराइल स्वतन्त्र हो गया।

किन्तु मिश्र की जनता इन आततायियों से इतनी परेशान थी कि इन्हें देश से निकालने के लिए उन्होंने धन और आभूषण तक दिये, ताकि वे जल्दी निकल जायें, क्योंकि पिछले चार सौ वर्ष की गुलामी में यद्यपि वे भेड़ें चराने का पेशा करते थे किन्तु तो भी चरित्र और व्यवहार में मिश्र की जनता के लिए मुसीबत थे।[5]

1. काव्यमीमांसा, राजशेखर।
2. Archeological Survey of India, No. 4, 1947-48
3. मिल्टन, Paradise Lost, Part I, line 353, see with ntes of Heanry Martin M A (Qxon).
4. Paradise Lost, Part I, line 354
5. Paradise Lost, see note Part I, line 309 and 483

इसराइल के निवासी यहूदी (Jews) कहे जाते रहे हैं। हिब्रू उनकी भाषा थी। सीरिया की सरहद के किनारे 'गोशन' प्रदेश में मिश्र के बादशाह रामसस द्वितीय (Ramses II) तथा उसके पुत्र मीनेप्थ (Menepth of the 19th dynasty) ने इन्हें नजरबन्द कर दिया था। वे चार सौ वर्ष मिश्र की दासता में रहे। उस समय मिश्र की राजधानी मेम्फिस (Memphis) थी।

मूसा ने उन्हें बताया कि भगवान् ने मुझसे कहा है कि अब इसराइलियों को मूर्तिपूजा का दण्ड मिल चुका। उन्हें मैं स्वतन्त्र करता हूं। यही बात उसने मिश्र के सम्राट् फराहो (Pharaoh) से भी कही। सम्राट् ने पहले तो उन्हें स्वाधीनता दे दी। मूसा के साथ वे इसराइल को लौटते हुए लालसागर तक पहुंच गये। वे जब सिनाई पर्वत, जहां अब स्वेज नहर है, पहुंचे, तो फराहो को प्रतीत हुआ कि इन गुलामों को मुक्ति देकर मैंने अपनी कमजोरी प्रकट कर दी। और उन्हें फिर पकड़ने के लिए उसने अपनी सेना भेज दी। सेना ने लालसागर के किनारे जाकर उन्हें घेर लिया।

बाइबिल (Old Testament) में लिखा है कि मूसा ने अपना डण्डा समुद्र पर फेर दिया। समुद्र का जल घट गया, इसराइली पार हो गये। सेना ने पीछा किया, समुद्र फिर उबल पड़ा, सारी मिश्री सेना पानी में डूब मरी। रथ, हाथी, घोड़े और सेना के सिपाहियों की लाशें समुद्र में उतराती हुई दिखाई देने लगीं।[1] मूसा ने इसराइलियों से कहा, "खुदा ने फरात तक का इलाका तुम्हें रहने के लिए दे दिया है।" इस प्रकार बड़ी बुद्धिमानी से बैबीलोनिया के विरुद्ध युद्ध करने के लिए इसराइल को तैयार कर दिया।[2]

मूसा से पहले तक इसराइली लोग भिन्न-भिन्न देवताओं की मूर्तियां पूजते थे। वे उन्हें ही अपना सेनापति बनाकर युद्ध करते थे। हारे तो देवता हारे, जीते तो देवता जीते। जनता देवताओं में ही खो गई। वे खुदा की दी हुई भूमि पाने के लिए फरात की ओर बढ़े। फिलिस्तीन (जोर्डन, अमान), मोआब (मुर्दा सागर के पूर्व देश) तथा सीरिया और उसके आसपास के लोगों से उन्हें युद्ध करना पड़ा। इस व्यापक युद्ध में बैबीलोनिया जीता। इसराइलियों को बैबीलोन ने सत्तर वर्ष तक फिर दास बनाये रखा।

इसराइल के राजा डेविड का पुत्र सोलोमन था—बड़ा कामी और स्त्रैण। उसके सात सौ पत्नियां और तीन सौ रखैलें थीं। ईसा से 1016 से 975 वर्ष पूर्व वह राज्य करता था। उसने बड़े जालिम देवताओं की स्थापना की, जिनके लिए जीवित मनुष्य और बच्चों की बलि दी जाती थी। कहते हैं, तो भी, सोलोमन औरों से अच्छा था।

मिश्र में पुरानी कथा है कि एक बार असुरों ने देवताओं पर आक्रमण किया तो देवता मैदान छोड़कर भाग खड़े हुए। वे पहले से युद्ध के लिए तैयार न थे। असुरों ने

---

1. Bible, Exodus, chapter-XIV.
2. Israelites were shepherds. Every shepherd was an abomination unto the Egyptians. Their permanent home, which they were to find in Cannan, was the promised Land. Line 309.
—Paradise Lost, Part 1. by Henry Martin M.A.

पीछा किया। देवता मिश्र के राज्य में घुस गये। असुर वहां तक पीछा कर रहे थे। आखिर देवता हाथी, घोड़ा, बैल-बछड़ा, भेड़,-बकरी तथा अन्य पशु-पक्षियों में छिपकर बैठ गये। असुर पता न पाकर लौट गये। तब से मिश्र के लोग पशु-पक्षियों की ही पूजा करते हैं, क्योंकि उनमें देवता निहित हैं।

चार सौ वर्ष मिश्र की दासता में रहकर इसराइली लोग भी पशुओं, पक्षियों, और जलचरों तक की प्रतिमाएं बनाकर पूजते थे। एक बड़ा वर्ग ऐसा भी था जो स्वर्ग के देवताओं का पुजारी था। जिसकी पूजा वे करते थे, वह इन्द्र था, क्योंकि उस युग में इन्द्र की सेना से ही असुरों को भय था। असुरों में इन्द्र की मूर्ति 'जिहोवा' कहकर तथा मिश्र में 'जुपिटर' कहकर पूजी जाती थी। किन्तु असुर शासकों ने इन्द्र (जिहोवा) के भक्तों की हत्याएं कर दीं और स्वयं अपनी प्रतिमाएं मन्दिरों में स्थापित कराके उन्हें पूजने की परम्परा चलाई। वे राजा और उनके अनुयायी 'हीयन' (Heathens) कहे जाते थे। इसराइल में भी यह संकट था। सोलोमन भी इन्द्र का वैरी था। उसने अनेक हीथन राजाओं की मूर्तियों वाले मन्दिर बनवाये।

अब इसराइली मिश्र से जो सोना चलते समय लाये थे उससे वृषभ, बकरा और भेड़ की मूर्तियां बनवा कर पूजने लगे थे। इब्राहीम और मूसा ने इसका खण्डन किया, परन्तु उनके अनुशासन बहरे कानों सुने गये।[1]

जूड़ा के लोग अब्राहम और मूसा के आन्दोलन से नाराज थे। सोलोमन के मरते ही उन्होंने इसराइल में विद्रोह खड़ा कर दिया। इसराइल दो भागों में बंट गया। उत्तरी भाग इसराइल था जिसकी राजधानी समारिया हुई, और दक्षिणी भाग जूड़ा (जूडिया) बन गया जिसकी राजधानी जेरुसलेम बन गई।

ईसा से 1016 वर्ष पूर्व डेविड का पुत्र सोलोमन संयुक्त इसराइल पर राज्य करता था। उसकी मृत्यु के बाद उसके पुत्र रिहोबोम (Rehobom) ने अपने भाई जेरोबोम (Jeroboam) के विरुद्ध विद्रोह करके दक्षिण का भाग उसके लिए छोड़ दिया और उत्तर के क्षेत्र जूड़िया को राज्य बनाकर स्वयं शासक हो गया। सोलोमन भले ही योग्य शासक था किन्तु उसने बुढ़ापे तक सात सौ बीवियां और तीन सौ रखैलों में ही अपना सर्वस्व खो दिया। उन्हीं के कहने से उसने भिन्न-भिन्न मन्दिर बनवाये।

अब जूड़िया में ओलिव (Olives) पहाड़ है। बाइबिल में इसे 'दुराचार का पर्वत' (Mount of Corruption) या 'अपराधों का शिखर' (Mount of Offence) कहा गया है; क्योंकि यहां हीथन लोगों (नास्तिकों) के देवताओं के बहुत-से मन्दिर थे। मिल्टन ने इसे 'बदमाशियों का पहाड़' (Hill of Scandal) या 'अपराध-शिखर'

---

1. Jehova is constantly called the living God by the prophets in the Bible, to emphasise the unreality of the imaginary gods of the heathen, which were simply dead idols...Idols in the form of beasts.

—Henry Martin, M. A. (Oxon)
Paradise Lost, Part I, lines 433–35.

(Offensive Mountain) कहकर सम्बोधित किया है। तब यह इसराइल का ही गिरि-शिखर था। सोलोमन ने इसे महत्त्वपूर्ण तीर्थस्थान बनाया था।[1]

मौलोक कभी इसी देश का सम्राट् था। सोलोमन ने उसका मन्दिर ओलिव पहाड़ के दक्षिणी भाग में बनवाया था। पैलेस्टाइन के पूर्व एमोनाइट और केनानाइट जातियां रहती थीं। वे सब मौलोक की पूजा का ही आग्रह करती थीं। ये सब यहूदी ही थे। मौलोक के नाम के साथ 'भयानक' विशेषण (Horried Moloch) बोलने की प्रथा उस देश में है। बाइबिल में भी इसका उल्लेख है, कारण कि मौलोक की पूजा में जीवित मनुष्य की बलि चढ़ाई जाती थी—विशेषकर बच्चों की।

मौलोक की मूर्ति धातु-निर्मित होती थी। उसके हाथ आगे को उचके होते थे। हाथों के नीचे भूमि पर गहरा अग्निकुण्ड धधकता रहता था। पूजा के समय एक बच्चा उन हाथों पर रख दिया जाता। पुजारी पीछे से उसे धकेल देते। वह अग्निकुण्ड में गिरता। जलते समय जब वह बिलख-बिलखकर चिल्लाता, पुजारी ढोल बजाते ताकि वह करुण रुदन सुना न जा सके।

ओलिव पहाड़ के ठीक सामने मोरिया पर्वत पर यह मन्दिर बना था। यह मौलोक या मिल्कम का मन्दिर कहा जाता था। बाइबिल (Old Testament) में लिखा है—"ये उस युग के 'तीर्थस्थान' (High Place) थे जिनसे जाइडोनिया, मोआब, अमान तथा अन्य लोग व्यथित हो रहे थे।"[2]

मोरिया की यह घाटी हिन्नोम की सन्तानों की घाटी कही जाती थी। हिन्नोम प्रतीत होता है हिरण्य-हिन्ना, (कश्यप) का हिब्रू-उच्चारण है। मौलोक उसका वंशज रहा होगा। एक दुर्दान्त, अत्याचारी, नास्तिक (Heathen) सम्राट् मनास्से (Manasseh) ने अपने देश के न जाने कितने बच्चे मौलोक की पूजा में उस अग्निकुण्ड में भस्म कर डाले। बाइबिल में लिखा है—"Pass through the fire" पुराने धर्मग्रन्थों में इस पहाड़ की घाटी को 'हिन्नोम की घाटी' (The valley of Hinnom) कहा गया है। यह जेरुसलेम के दक्षिण में है। जिस घाटी पर जेरुसलेम नगर आबाद है यह उसे उस घाटी से अलग करती है जिसे 'पापियों का पहाड़' कहा जाता है—'The Hill of evil Councel'। इसी के एक भाग को 'तोफेथ' (Topheth) कहा जाता था, जिसका अर्थ ढोल का पहाड़ है; क्योंकि मौलोक के लिए बलि चढ़ाये गये बच्चों के चीत्कार को तिरस्कृत करने के लिए यहां ढोल बजाये जाते थे।

इसी बीच जूड़ा का सम्राट जोशिया (gosia) जिहोवा का भक्त हुआ। जिहोवा इन्द्र की प्रतिमा थी। मौलोक और उसके समीप किमोश (कामदेव) का

1. See the notes of Henry Martin M. A. on Paradise Lost, Part 1, lines 400–405.
2. And the high places that were before Jerusalem, which were on the right hand of the mount of curruption, which Solomon the king of Israel had builde for Ashtoreth...(cuf. 1 king's XI. 7.) Old Testament. (Milton, Paradise Lost, Book 1, line 403,)

मन्दिर मानव-जाति के कलंक थे। मौलोक में मनुष्यों का वध होता था और किमोश के कुंज में पराई स्त्रियों और किशोर वालकों के साथ वलात्कार।[1] जोशिया ने इन मंदिरों और कुन्जों को वरवाद करने के लिए तथा इस विचार से कि कोई व्यक्ति अपने वच्चों को यहां वलि देने न आये, अपने अफसरों को हुक्म दिया कि वे शहर का सारा कूड़ा, मल-मूत्र वहीं लाकर डालें। गन्दगी पड़ने लगी। कूड़ा वहीं फूंका जाने लगा। तव वदवू और गन्दे धुएं के कारण यहूदी वहां जाने से घृणा करने लगे। निरन्तर जलते हुए कूड़े की आग, धुआं, गन्दगी और दुर्गन्ध के कारण तथा मौलोक की मूर्ति पर होने वाली शिशुओं की हत्याओं तथा वलात्कार से व्याकुल चीख-पुकार करती स्त्रियों की वेदनाओं से हिन्नोम की घाटी में नरक का दृश्य उपस्थित हो गया था।

ग्रीक भाषा में घाटी के लिए 'ge' उपसर्ग लगाते हैं। हिब्रू भापा में पदान्त में 'om' लगाया जाता है। इसलिए ग्रीक इस घाटी को जी-हन्ना (Gehenna) कहते थे और यहूदी लोग हिब्रू में 'जी-हन्नुम' (Gehinnom) और उर्दू भापा में वही शब्द 'जहन्नुम' वन गया है। वाइविल के 'न्यू टैस्टामेंट' में जहां नरक कहना होता है, वहां 'जिहन्ना' लिखा जाता है।[2] तोफैथ (Topheth) भी नरक का ही पर्याय है।

हजरत मूसा खुदा का सन्देश सिनाई या होरेव (Horab) पर्वत पर अपने श्वसुर जेथरो (Zethro) की भेड़ें चराने के समय लाये। वे सिनाई में ईश्वर का संदेश लेने के लिए चालीस दिन एकान्त में रहे, फिर जेरुसलेम आए। उन्हें भगवान् का धर्म सुनाया और धर्म का सन्देश देने के लिए ही पैलस्टाइन के दक्षिण केनान गये। जव वे जोर्डन की घाटी में शिटिम (Shittim) नगर में पहुंचे, इसराइली धर्म-कर्म सव भूल गये। शिटिम की (मोआव की) युवतियों से वलात्कार के सिवा उन्हें कुछ याद न रहा।[3] वाइविल में लिखा है कि यह कुकर्म देखकर जिहोवा को वड़ा क्रोध आया। उसने इसराइलियों पर एक वीमारी डाल दी जिससे 2400 लोग मर गये। वीमारी से वचाव के लिए शेष दम्भी पुजारियों को मूसा ने मार डाला।

ईसा से प्रायः डेढ़ हजार वर्ष पूर्व इसराइल में राजतन्त्र नहीं था। यहूदी पंचों (Jeueish Judges) का शासन था। फिलिस्तीनियों ने इसराइल पर आक्रमण कर दिया। इसराइल हार गया। फिलिस्तीनी डेगन (Dagon) देवता के पुजारी थे। उस युग में देवता ही जीतते-हारते थे। डेगन अव इसराइल का देवता और पूजनीय हो गया। इसराइल में पहले लोग जिहोवा को पूजते थे। फिलिस्तीन की सेना जिहोवा की मूर्तियां और मन्दिर इसराइल से उठा लायी और डेगन के मन्दिरों में उन्हें गुलामों की

---

1. Moloch, the man slayer, because of his delight in human sacrifices. Shrine of Chemosh, who stands for lust, close by Shrine of Moloch.--Henry Martin, M. A., Paradise. lost, part I, line 417
2. Greek New Testament, "How can you escape the dmnation of Hell (Gehanna)–Mathew–XXXIII–33.
3. And Israel abode Shittem, and the people began to commit whoredome with daughters of Moab–Bible, Numbers 25/1

जगह स्थापित कर दिया। डेगन कृषि और अन्न का देवता था। इसराइलियों का कहना है कि दूसरे दिन प्रभात में लोगों ने देखा कि डेगन मन्दिर की देहरी पर कटा पड़ा था। जिहोवा ने स्वयं अपमान का बदला ले लिया।

जो भी हो, सोलोमन अपनी रानियों और रखैलों का दास था। इन्द्र (जिहोवा) के प्रति श्रद्धावान् न था। उसने उन्हींके कहने पर मूर्तियां और मन्दिर बनवाये। किंतु जहां-जहां बनवाये, जनता के लिए दुःख और संकट के केन्द्र सिद्ध हुए। उसने इश्तार (Eshtar) देवी की नकल में, जो फोनीशिया में पूजी जाती थी, एस्तोरथ (Ashtoreth) की स्थापना मन्दिरों में की। दोनों लिङ्ग और योनि के सुख की देवता थीं।[1] वे उन्हें स्वर्ग की रानी कहते थे, क्योंकि उनका विचार था कि स्वर्ग में यही होगा।

उसने दुराचार के पर्वत (The mount of Curroption) पर मिल्कम का मन्दिर बनवाया किन्तु वह इसराइल का कलंक था। उसने एस्तोरथ की स्थापना की जो 'जाइडोनिया' में व्यभिचार का अड्डा था।[2] मिल्कम का मन्दिर अमान में कुकर्मों और हत्याओं का केन्द्र था और उसीने मौलोक का मन्दिर बनवाया जिसमें अमान के लाखों पुरुष और बच्चे जलाये गये। और उसने ही किमोश की मूर्ति बनवाई जो मोआव, केनान, अमान तथा सोडोम में पूजी जाती थी। क्योंकि इन मन्दिरों की शरण में न केवल स्त्रियों के साथ, वरन् किशोर बालकों के साथ भी व्यभिचार होता था।

सोडोम मृत-सागर (Dead sea) के उत्तर में एक नगर था। ऐसे ही पांच नगर और भी थे, किन्तु अपने कुकर्मों में सोडोम ने जो प्रसिद्धि पायी, वह दूसरों से बढ़-कर थी। और यह अप्राकृतिक व्यभिचार था।[3]

थाम्मुज (Thammuz) सीरियन और फोनीशियन लोगों का देवता है। यह सुन्दर युवक होता है। वैसा ही देवता ग्रीक लोगों का एडोनिस (Adonis) होता है। किन्तु सीरिया और फोनीशिया में वह कामुकता की उपासना का आधार मात्र था।[4]

हम अभी शिटिम की चर्चा कर आये हैं। यह जोर्डन की घाटी का ही एक प्रदेश है। मार्टिन ने लिखा है कि यहां से धर्म के नाम पर नशा, विषय-वासना और व्यभिचार का ही प्रचार हुआ।

"From the vale of Shittim licentious rites accompanied by drunkenness and debauchery extended.

(P. L. lost, line 415, H. Martin)

---

1. Her worship was very licentions.—Henry Martin, Paradise. lost, I part, line 438.
2. Abomination of the Zidonians.
3. Sodom was one of the 'five cities of the plain', which for their wickedness were destroyed by God with fire and brimstone. It is supposed to have been stood at the north of the dead-sea. Sodom has given its name to that unnatural-vice 'Sodomy'.
—Henry Martin, M. A., P. last, Ist part, line 503
4. The worship of Thammuz was of a licentious nature.
—Henry Martin, M. A., Paradise. lost, Ist part, line 449

आइये, बाइबिल में सोडोम की सभ्यता का एक परिचय और देखें—

भगवान ने इब्राहीम से कहा—'सोडोम के पाप सीमा से बाहर हैं, इसका सर्वनाश मुझे करना है।'

'क्या भले और बुरे सबका आप नाश करेंगे ?'

'नहीं, इस बड़े नगर में पचास भी भले आदमी होंगे तो उनकी रक्षा की जायेगी।'

'आखिर मैं मनुष्य हूं, पचास की जगह पैंतालीस भी हो सकते हैं। क्या उन पांच के कारण सब को नाश कर देंगे ?'

'नहीं, पैंतासीस की रक्षा की जायेगी। शहर बचेगा।'

'और यदि चालीस ही अच्छे हुए तो ?'

'तो चालीस को शरण मिलेगी, शहर बच जायेगा।'

'और यदि तीस ही भले हों ?'

'तो तीस बचाये जायेंगे। शहर बच जायेगा।'

'कौन जाने, बीस ही भले हों ?'

'तो भी उनके लिए शहर का नाश न होगा।'

'और हे प्रभु ! यदि दस ही भले निकले तो ?'

'इब्राहीम ! मैं दस के लिए भी शहर की रक्षा करूंगा।'

भगवान यह कहकर चले गये। दूसरे दिन दो महापुरुष सोडोम आये। सोडोम के नगर-द्वार पर लॉट बैठा देख रहा था। उन्हें देखते ही वह दौड़कर उन महापुरुषों के चरणों में झुका। उनका स्वागत किया। भोजन कराया।

किन्तु जब तक वे आराम करते, सोडोम के नागरिकों ने लॉट का घर घेर लिया। चारों ओर से लोग दौड़ पड़े।

उन्होंने चिल्लाकर लॉट से कहा, 'रात जो दो आदमी आये, उन्हें हमारे सामने पेश करो।'

लॉट ने उस भीड़ से विनय की, 'भाइयो ! क्षमा करो। अत्याचार ठीक नहीं है।

'मेरी दो बेटियां हैं, जिनका किसी पुरुष से सम्बन्ध नहीं हुआ। मैं उन्हें तुम्हारे सामने पेश कर देता हूं, चाहो सो करो। किन्तु आने वाले दोनों महापुरुषों को छोड़ दो, क्योंकि वे मेरे घर के अतिथि हैं।'

लोगों ने कहा, 'प्रतीत होता है, यह बाहर आने वाला आदमी ही हमारी शिकायत करेगा, इसलिए अब इसकी ही मरम्मत करेंगे। उन्हें पीछे देखेंगे।' यह कहते हुए वे उस पर टूट पड़े और दरवाजा तोड़ने का प्रयास करने लगे।

किन्तु आगन्तुकों ने बीच-बचाव किया, और लॉट को अन्दर खींचकर दरवाजा बन्द करने लगे।

इतना देखते ही भीड़ ने उन दोनों को मारना शुरू किया जबकि वे दरवाजे पर

थे। छोटे-बड़े, सबने बेहद पिटाई की। यहां तक कि वे दरवाजे तक पहुंचने लायक ही न रहे।

तब दोनों देवदूतों ने लॉट से कहा, 'नगर में इधर-उधर तुम्हारे दामाद, बेटे, बेटी जो कोई भी हों उन्हें नगर से बाहर ले आओ। हम नगर का विध्वंस करेंगे। इनके हुल्लड़ ने भगवान को भी परेशान किया है, भगवान ने हमें इनका विध्वंस करने के लिए ही भेजा है।'

लॉट ने अपने दामादों से कहा, 'भगवान् इस नगर का विध्वंस करेंगे। यहां से बाहर चलो।' किन्तु उसने देखा कि एक दामाद उसका व्यंग्य बना रहा था।

सवेरा हुआ। देवदूतों ने लॉट से जल्दी बाहर जाने को कहा। वह, उसकी पत्नी और दोनों पुत्रियां नगर के बाहर जा रहे थे। देवदूतों ने उन पर हाथ रखकर कहा, 'भगवान् तुम पर दयालु हैं।' वे उन्हें ले आये और नगर के बाहर कर दिया।

चलते समय देवदूत बोले, 'दूर जाकर छिप जाओ, पीछे लौटकर न देखना, पहाड़ में छिप जाना, नहीं तो तुम भी भस्म हो जाओगे। हम उन्हें भी बचा देंगे, जिनकी सिफारिश तुमने की थी।

'हम तब तक कुछ नहीं करेंगे जब तक तुम लोग वहां सुरक्षित नहीं हो जाते। उस जगह का नाम जोआर (Zoar) होगा।'

सूर्योदय हुआ। लॉट जोआर पहुंच गया।

भगवान् ने दहकते हुए अंगारे सोडोम और गोमोरा (Gomorrah) पर बरसा दिये। आकाश से अग्नि की धधकती ज्वालाएं बरस पड़ीं।

पापियों के दोनों नगर विध्वस्त हो गये। चारों ओर के मैदान, वहां के निवासी और भूमि पर जो कुछ उगा था, जलकर भस्म हो गया।

लॉट की पत्नी ने पीछे घूमकर यह दृश्य देखा। वह नमक की चट्टान हो गई।

इब्राहीम प्रातः उठकर उस स्थान पर गये जहां भगवान् से मिले थे। देखा, दोनों नगर भस्म हो गये। भट्ठी की तरह धुआं ऊपर उठ रहा था।

अब लॉट जोआर से भी बाहर चलकर अपनी दोनों बेटियों के साथ पहाड़ की एक गुफा में रहने लगा।

अब बड़ी बेटी ने छोटी बहिन से कहा, 'हमारे पिता की आयु भी ढल गई है। इस भूमि पर हमारा गर्भाधान करने वाला कोई नहीं दीखता। आओ, हम अपने पिता को शराब पिलाएं और उसके साथ सो जाएं। इस प्रकार हमारे पिता का वंश चल सकता है।'

रात को दोनों ने पिता को शराब पिलाई। बड़ी लड़की गई और पिता के साथ लेट गई। पिता नशे में नहीं जान पाया कि वह कब लेटी और कब उठ गई।

दूसरे दिन बड़ी ने छोटी से कहा, "देख, कल रात मैं पिता के साथ लेटी थी, आज हम उन्हें शराब फिर पिलाएं, तू अन्दर जाकर उनके साथ लेट जाना, ताकि हम दोनों पिता की वंशधर हो जाएं।"

रात दोनों ने अपने पिता को फिर शराब पिलाई। आज छोटी जाकर उसके

साथ लेट गई। नशे में पिता ने नहीं जाना कि वह कब लेटी और कब उठ गई।

किन्तु समय पर लॉट की दोनों बेटियों के लड़के पैदा हुए, जो उनके पिता की ही सन्तान थे।

पहली लड़की ने अपने बेटे का नाम 'मोआव' (Moab) रखा। मोआवाइटों का वही पूर्वज था। छोटी के भी बेटा ही हुआ। उसने उसका नाम रखा—बेनाम्मी (Benammi), जो अभी तक अमान का पूर्वज कहा जाता है।[1]

ग्रीक लोग इन असुर देशवासियों को बारबेरियन (Barbarians) कहा करते थे। और रोम के लोग भी वही कहते थे। भारतीय लोग उन्हें 'दस्यु' कहते थे। अफ़्रीका में इन्हें वेण्डल (Vandals) कहते थे। इन शब्दों के अर्थ पर ध्यान दीजिए, आप असुरों की सभ्यता का अनुमान कर सकते हैं।

वस्तुतः इसराइल से लेकर फोनीशिया तक असुर लोक ही था। ओमान, यमन, और अदन आदि अरब का पूरा क्षेत्र इन्हीं लोगों का था। असुर लोग अन्य जातियों को जेण्टाइल (Gentiles) कहते थे। अंग्रेजी शब्द-कोष में (Non-jewish) जातियों को जेण्टाइल कहा जाता है। एशिया में स्वर्ग, आर्यावर्त, वाह्लीक और मिश्र के साथ असुरों की पुरानी शत्रुता है। इसी कारण ये तीनों या चारों राष्ट्र मित्र राष्ट्र रहे हैं।

मिश्र ने इनको चार सौ वर्ष से अधिक गुलाम बनाये रखा, और सत्तर वर्ष तक बैबीलोनिया (वाह्लीक) ने भी। इसीलिए उन देशों में इन्हें दास राष्ट्र (Natian of-slaves) कहते हैं। और भारत में 'दस्यु' भी इन्हीं का पर्याय है। इन दासों के संगठित श्रम से मिश्र और वाह्लीक देशों ने बड़े-बड़े श्रमसाध्य काम किये। मिश्र के विशाल पिरामिड और वाह्लीक के भव्य भवन, जो अब भूगर्भ से उत्खनित हुए, इन्हीं दासों के श्रम से बने थे। बड़े-बड़े श्रम-साध्य कार्य, जो दूसरी जाति के लोग वर्षों में करते, ये दिनों में कर डालते। मिल्टन ने यह इतिहास 'पैराडाइज लास्ट' में स्पष्ट किया है।[2] भवन-निर्माण के महत्त्वपूर्ण कार्य भारत में भी इन असुरों (Devils) ने ही किये थे। पाण्डवों का सभाभवन तथा वरनावा का लाक्षागृह मय और विरोचन के ही निर्माण थे, और दोनों ही असुर थे। बालि, हिरण्य, अघासुर, वृत्र, प्रलम्ब, शाल्व आदि आक्रान्ता असुरों का इतिहास असुर-इतिहास और परम्पराओं में हमने अभी तक अध्ययन ही नहीं किया। बेबल (वाह्लीक की राजधानी) और मेम्फिया (मिश्र की राजधानी) में उनके संस्मरण

---

1. Bible, Genesis—19. (Old Testament)
2. Paradise Lost, part I, lines 609-700. इस पर हेनरी मार्टिन का नोट देखिये—
"The buildings of the Babylonian and Egyptian kings were erected by the forced labour of multitudes of slaves. The reason why Phraoh was so reluctant to let the Israelities go was because they were a nation of slaves working in his brick-fields making bricks for his pyramids and temples and palaces. It is said that one of the pyramids took twenty years to built, and the labour of 3,60,000 men...Far superior work of devils is done easily in an hour, while man's work takes ages and much toil to finish.

देखने हम अभी तक नहीं गये, इतिहास को हमारे विरुद्ध यह बड़ी शिकायत है। टायर और साइडन (फोनीशियन महानगरों) से कभी आपने उनका लेखा नहीं मांगा, और न ही डेमास्कस (सीरिया की राजधानी दमिश्क) से उनकी मिसिल तलब की, फिर इतिहास के प्रति हमारी तत्परता कितनी है ?

उन देशों में हमारी भाषा का व्यवहार, नामों में समानता, देवताओं की उपासना, चिकित्सा की एकता, निदान और चिकित्सा का साम्य आदि अध्ययन किये बिना हम नहीं जान सकते कि हमने उन्हें क्या दिया और उन्होंने हमें क्या। हम मनु की सन्तान होने का दावा करते हैं, और असुर देश भी। पुरानी बाइबिल में लिखा है कि नोथ या नोह (Noath-noha) के तीन पुत्र ही मनुष्य जाति के पूर्वज हैं। क्योंकि महान् जल-प्रलय के उपरान्त नोह ही बच रहा था। (1) शेम (2) हेम (3) और जापेथ (Shem, hem, japeth) ही वे तीन पुत्र हैं। शेम के सेमेटिक (Syrians Asyisams Israelites) हुए। हेम के अफ़्रीकन जातियां हुई। और जापेथ की योरोपीय जातियां उत्तराधिकारी हैं। क्या हमने कभी उनसे पूछा कि आदिकाल से आसुरी शक्तियों से टक्कर लेने वाले हम किसकी सन्तान हैं ? यदि वे नहीं बता सकते तो हमें ही उस प्रजापति का परिचय देना है जिसकी हम सन्तान हैं। उस जुपिटर (Jupiter) की याद उन्हें फिर दिलाने की जरूरत है, जिसने विश्व का इतिहास बदल दिया और जिसकी हम सन्तान हैं।

जिस स्वर्ग को जीतने के लिए शैतानों ने सदियां लगा दीं, क्या वह स्वर्ग असुर देश में था ? असुरों का स्वर्ग ओलिव पहाड़ के नीचे, सोडोम और गोमोरा में था, जहां के कुकर्मों के कारण वे आग में भस्म कर दिये गये। किन्तु देवताओं का स्वर्ग हिमालय के शिखरों पर। असुरों का नरक (जहन्नुम) ओलिव पहाड़ के ऊपर था, जिसके शिखरों के नाम Mount of curreption, Mount of offence, hill of scandal बाइबिल और मिल्टन ने लिखे हैं। किन्तु देवताओं का नरक पहाड़ के नीचे गंगा की घाटियों में था जिसमें हरद्वार, काम्पिलल्य, ब्रह्मावर्त, प्रयाग और कुसुमपुर जैसे तीर्थ विकसित हुए।

स्वर्ग के लिए इसराइल से फोनीशिया तक की सेनाएं संगठित हुई। ग्रीस के जवान (यवन) भी अवसरवाद से लाभ उठाते रहे। वह स्वर्ग मध्य एशिया में नहीं था, और न मैदानों में। तभी तो उसका नाम हैवेन (Heaven) है। हैवेन क्यों है ? क्योंकि वह बहुत ऊंचाई पर था।[1] हम भी तो यही कहते हैं कि स्वर्ग हिमालय पर था।

असुरों के देश में जहन्नुम तो था, किन्तु स्वर्ग न था। इसलिए वे स्वर्ग के लिए लड़ते रहे। उन्होंने सृष्टि का यह नियम समझने का प्रयास नहीं किया कि असुर जहन्नुम बना सकते हैं, और देवता स्वर्ग।

मिल्टन के वर्णन से यह स्पष्ट होता है कि शैतान ने जब स्वर्ग पर आक्रमण किया

---

1. Heaven is the heaved up or lofty place.—Henry Martin, M.A.
The old idea being that Hell was somewhere below, therefore it is called, 'Infernal' or the 'Nether empire'
—Milton, Paradiselost p. 1, line 295

तो उसके मार्ग में बैबीलोनिया, मैसोपोटामिया, ईरान, लालसागर तथा ईरान की खाड़ी आते थे। उसके बाद ही उसका युद्ध-क्षेत्र था। वहीं स्वर्ग की सीमा भी।

मन्त्र-चिकित्सा

आइये, इस प्रसंग में मन्त्र-चिकित्सा पर कुछ विचार और कर लें। यद्यपि प्रसंग आने पर हमने पीछे भी इस विषय पर संक्षेप में कुछ कहा है, किन्तु वह बहुत अपर्याप्त है। भारत के प्राणाचार्यों ने इस दिशा में जो प्राप्तियां कीं वे भी बहुत उत्कृष्ट और वैज्ञानिक हैं। हम पिछले संदर्भों में रोगों के निदान और चिकित्सा के बारे में विस्तार से पढ़ते आये हैं। वे रोग दो प्रकार के हैं—पहले शरीर के, दूसरे मन के। दोनों का अन्तर ध्यान देने योग्य है।

शरीर के रोग तीन दोषों से उत्पन्न होते हैं—वात, पित्त और कफ। जब इनमें विषमता होती है, कोई न कोई रोग होता है। जिस क्षेत्र में रोग होता है, उसे दूष्य कहते हैं। दूष्य शरीर के सात धातु हैं—1. रस, 2. रक्त, 3. मांस, 4. मेद, 5. अस्थि, 6. मज्जा 7. शुक्र। इन धातुओं में दोष तीन प्रकार से विषम क्रिया करते हैं—

1. स्थानिगत।	अपने कोष्ठ में रहकर।	सुगम चिकित्सा।
2. स्थानगत।	दूसरे कोष्ठ में जाकर।	दुर्गम चिकित्सा।
3. तिर्यक् गत।	अनेक अवयवों में जाकर।	अतिदुर्गम चिकित्सा।

इस सभी रोगों की चिकित्सा के चार प्रकार हैं—

1. दोष-विपरीत चिकित्सा।
2. व्याधि-विपरीत चिकित्सा।
3. दोष-व्याधि (उभय) विपरीत चिकित्सा।
4. विपरीतार्थकारी चिकित्सा।

हमने इस विवरण में शरीर के निदान और चिकित्सा का विषय देख लिया। अब मन के निदान और चिकित्सा देखिये।

मन के तीन दोष होते हैं—सत्त्व, रजस् और तमस्। शरीर की ही भांति मन के दूष्य भी होते हैं, वे चार हैं—1. मन, 2. वुद्धि, 3. चित्त, 4. अहंकार। मन की वृत्ति में मनन होता है—यह करूं या वह? वुद्धि में निश्चय होता है—यही श्रेय है, यही करना है। चित्त में सुख-दुःख, श्वास-प्रश्वास, आलस्य-तत्परता आदि प्रतीत होते हैं। अहंकार में स्व और पर का व्यवहार रहता है।

यदि हम मन का दार्शनिक आधार पर विवेचन करें तो उसमें पांच प्रकार की शक्तियाँ होती हैं—

1. प्रमाण—निश्चयात्मक ज्ञान।
2. विपर्यय—मिथ्या ज्ञान।
3. विकल्प—वस्तुशून्य काल्पनिक ज्ञान।
4. निद्रा—व्यावहारिक वृत्तियों की अभावात्मक स्थिति।

5. स्मृति—अनुभूत विषय का वृत्तिगत ज्ञान।

इन्हें इस प्रकार अन्तर्भाव भी कर सकते हैं—

1. वुद्धि—प्रमाण
2. मन—विपर्यय तथा विकल्प
3. चित्त—निद्रा
4. अहंकार—स्मृति

सम्पूर्ण मानस-चतुष्टय को भी मन ही कहते हैं। क्योंकि वुद्धि, चित्त या अहंकार की वृत्तियां भी मन के द्वारा ही होती हैं। वृत्तियों के स्वरूप में अन्तर है इसलिए मन को चार प्रकारों में वांट दिया गया। चारों प्रकारों में सत्त्व, रजस् और तमस् का अनुगमन रहता है। कोई भी गुण अधिक या हीन हुआ तो रोग की स्थिति वनेगी। वह मन का रोग है। उसका निदान-विस्तार वही है जो शरीर के रोगों का ऊपर लिखा है।

वात, पित्त और कफ के लक्षण जिस प्रकार शरीर में प्रकट होते हैं, उसी प्रकार सत्त्व, रजस् और तमस् के लक्षण मन में प्रकट होते हैं। देखिये—

1. सत्त्व—लघुता देने वाला और ज्ञान का प्रकाशक सत्त्व गुण है।
2. रजस्—मेलजोल और प्रगति रजोगुण है।
3. तमस्—गुरुत्व, आवरण एवं जड़ता तामस गुण है।

वात, पित्त और कफ गुणों में परस्पर-विरोधी हैं, तो भी समयोग द्वारा शरीर को धारण किये रहते हैं। उसी प्रकार सत्त्व-रजस्-तमस् भी समयोग द्वारा जीवन को संचालित करते हैं, विपमता आने पर रोग उत्पन्न करते हैं। सत्त्व से सुख, रजस् से दुःख और तमस् से मोह का जन्म होता है।[1] इनके विकृत होने पर सुख दुःख से मिल जाता है। सुख मोह और दुःख से मिलकर एक भिन्न परिस्थिति उत्पन्न करता है। कहीं सुख, कहीं दुःख और कहीं मोह का न्यूनाधिक्य इसी विषमता का परिणाम है। सुख के प्रति मोह रहता है, इसीलिए दुःख का भय वना रहता है।

शारीरिक दोषों में वात ही वढ़ जाय तो दुःख होता है। उसी प्रकार मन में केवल सत्त्व ही वढ़ जाय तो जीवन सुखी नहीं होता। सत्त्व लघुता प्रकट करता है। इसलिए परिजन, व्यापार और सम्पत्ति में लघुता की ओर ध्यान जाता है और इससे व्यवहार में सुविधा नहीं रहती। रजस् में विस्तार होता है। तमस् में स्वार्थ और मन्दता आती है। जीवन का सन्तुलन भंग हो जाता है। उसका समीकरण चाहिए, ताकि सुख हो। चरक ने लिखा है कि समता ही सुख का कारण है।[2]

इसलिए शरीर की चिकित्सा की भांति मन के रोगों की चिकित्सा भी ढूंढ़नी आवश्यक हो गई। शरीर के रोगों पर प्रयोग किये जाने वाले औषध-योग मन पर काम नहीं करते। वात के विकार से ज्वर आया, वैद्य दशमूल का क्वाथ या अरिष्ट देकर उसे शमन करता है। उसी प्रकार पित्त और कफ के शामक प्रयोग भी प्राणाचार्यों ने ढूंढ़

1. सांख्यतत्त्वकौमुदी, कारिका 13
2. सुखानां कारणं समः।—चरक

निकाले, और उनसे रोगियों का कष्ट निवृत्त होने लगा; किन्तु तो भी रोग की ऐसी स्थितियां समक्ष आई जिन पर शारीरिक दोषों पर देने योग्य प्रयोग विजय नहीं पा सके।

आइये, हम आपको एक ऐसा ही रोगी दिखायें, जिसकी चिकित्सा में कोई चूर्ण, गुटिका, क्वाथ, आसव या रसायन ढूंढ़ने की चिन्ता में प्राणाचार्य की सारी जड़ी-बूटियां बेकार हो गईं। उसके लिए आप कौन-सा नुस्खा लिखेंगे ?

भगवान् श्रीकृष्ण के भेजे उद्धव वृन्दावन गये। गोपियों से मिले, उनकी सौगात और उलहने लेकर लौट आये। श्रीकृष्ण ने पूछा, उद्धव, गोपियों से क्या वार्त्ता लाये हो, सुनाओ तो सही। उद्धव सिटपिटाकर बोले—

आंसुनि की धार औ उभार कौं उसासनि के
तार हिचकीन के तनक टरि लेन देहु।
कहै 'रतनाकर' फुरन देहु बात रंच,
भावनि के विषम प्रपंच सरि लेन देहु॥
आतुर ह्वै और हू न कातर बनावो नाथ !
नैकुस निवारि पीर धीर धरि लेन देहु।
कहत अबै हैं कहि आवत जहां लौं सबै,
नैकु थिर कढ़त करेजौ करि लेन देहु॥"[1]

यह अपस्मार नहीं है और उन्माद भी नहीं। सन्निपात का प्रलाप भी हम इसे नहीं कह सकते। वात, पित्त और कफ की परिधि इसे नहीं घेर सकेगी। फिर इस तन और मन दोनों को विकल करने वाली व्यथा को किस सम्प्राप्ति में रक्खा जायगा ?—नैकुस निवारि पीर धीर धरि लेन देहु" के साथ यह आंसू और हिचकियों वाला कौन-सा उपद्रव है जिसके कारण 'नैकु थिर कढ़त करेजौ करि लेन देहु" की वेदना व्याकुल करने लगी ? ब्राह्मी रसायन, अर्जुनारिष्ट, वृहद्वातचिन्तामणि अथवा हृदयार्णव रस यहां लाभ क्यों नहीं करते ?

आज का डाक्टर इस व्याधि का निदान नहीं जानता, वह चिकित्सा भी नहीं कर सकता। परन्तु भारत के प्राणाचार्य को इसके निदान और चिकित्सा का पूरा ज्ञान था। उसने इसकी सम्प्राप्ति और चिकित्सा की खोज आदि-काल में ही कर ली थी। वही मन्त्र-चिकित्सा है। मन्त्र शब्द का अर्थ है, वह योजना जो मन को नियन्त्रित कर सके। आयुर्वेद में मन के उद्रिक्त दोषों से जो लक्षण प्रकट होते हैं, उन्हें 'ग्रह' कहते हैं। हम पीछे सुश्रुतसंहिता का वह लक्षण लिख आये हैं। अतिमानुप विज्ञान, शरीर-विज्ञान से विलक्षण कार्य, अलौकिक क्रियाएँ जिन रोगियों में देखी जायें, वे 'ग्रहरोग' हैं। इनमें मन को व्यवस्थित करने वाले उपाय करने चाहिए। मन्त्र-चिकित्सा या भूत-विद्या में वे उपाय ही संग्रह किये गये हैं। यह कढ़ता हुआ 'कलेजा उन्हीं से स्थिर होता है।

वेदों में मन्त्रों के बाद मनोवैज्ञानिक आधार पर जो अनेक अनुसन्धान मुनियों ने

1. उद्धवशतक, 129

किये वे 'तन्त्रशास्त्र' में 'संकलित किये गये हैं। यह दूसरी बात है कि तान्त्रिक उपाय कितने सफल या असफल हुए। क्योंकि लोकोत्तर विज्ञान की जो साधनाएं आवश्यक हैं उन्हें प्राप्त करने वाले विरले होते हैं, किन्तु उनका ढोंग बनाकर जनता को ठगने की प्रवृत्ति धूर्त लोगों में सदा से चली आई है। इस कारण सत्य भी असत्य से ऐसा मिल जाता है कि उसमें विवेक करना संभव नहीं रहता। तान्त्रिकों की स्थिति भी ऐसी ही हो गई है। तत्त्वज्ञानियों के बीच पाखण्डी भी घुस गये। किन्तु इस कारण तत्त्व-ज्ञान को अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

मनुष्य स्वयं में एक महान् शक्तिपुंज है। अपनी इस महानता को वह स्वयं नहीं जानता, क्योंकि उसे ज्ञान के जो साधन इन्द्रियों के रूप में प्रकृति ने दिये, वे पराञ्चि (Convex) हैं। उन्हें अवाञ्चि (Concave) किया जाय तब आत्म-चिन्तन हो। इस अवाञ्चीकरण का नाम ही योग है—और उसकी प्रथम सिद्धि का नाम ही भूत-विद्या। मनुष्य जो कुछ दिखाई देता है वह केवल शरीर है। परन्तु वह शरीर के अन्दर बहुत-कुछ और भी है, जो इन पराञ्चि आंखों से दिखाई नहीं देता।

भारतीय प्राणाचार्यों ने उस तत्त्व की जानकारी प्राप्त की, जो इस शरीर के अन्दर और है। शरीर का नाम उन्होंने अन्नमय कोष रक्खा। चिकित्साशास्त्र में जड़ी-बूटियों के अथवा रसादि प्रयोग जो उन्होंने लिखे, वे इसी अन्नमय कोष के लिए लिखे। वह कायचिकित्सा कही जाती है। अष्टाङ्ग आयुर्वेद में इसी कारण 'भूत-विद्या' एक भिन्न विभाग बनाया गया क्योंकि वह 'काय' या अन्नमय कोष से भिन्न और सूक्ष्म है।

अन्नमय कोष के अतिरिक्त इस शरीर में तीन कोष और हैं, और एक से दूसरा बहुत बड़ा शक्ति-पुंज है। क्रम देखिये—1. अन्नमय कोष, 2. मनोमय कोष, 3. प्राणमय कोष, 4. आनन्दमय कोष।

अन्नमय कोष की शक्तियां सीमित हैं क्योंकि वे रस, रक्त, मांस, मेद आदि सात धातुओं से सीमित हैं। मन इन सीमाओं में बंधा हुआ नहीं है। शरीर सीमा (space) और समय (time) से आबद्ध है, मन उनसे मुक्त। इसलिए शरीर से मन की गति बहुत महान् है। शरीर के अधिकांश रोग मन ही उत्पन्न करता है। राग, द्वेष और मोह मन में ही आते हैं। उनसे प्रेरित शरीर कुपथ्य करता और बीमार होता है। अयोग, अतियोग और मिथ्या योग शरीर तभी करता है जब मन शरीर को वैसा करने के लिए विवश करता है। राग अतियोग है, द्वेष अयोग है और मोह मिथ्यायोग। मानसिक दोषों की समता भंग होने पर सतोगुण का अतिरेक द्वेष उत्पन्न करता है।[1] वह अयोग है। रजोगुण का अतिरेक राग पैदा करता है, वह अतियोग है। और तमोगुण की वृद्धि से मोह होता है, वह मिथ्या योग है।

जिस प्रकार शरीर के रोगी होने पर चिकित्सा में विधि (Positive) और निषेध (Negative) कर्म को चिकित्सा कहते हैं, उसी प्रकार मन को भी विधि और निषेधपूर्ण चिकित्सा की आवश्यकता होती है। पित्त-ज्वर शरीर में हो गया। वैद्य कहता है—

1. नाधीरो नात्युच्छ्रितसत्त्वः स्यात्।—चरक, सू० 8/26

पित्तपापड़ा, लाल चन्दन, सुगन्धवाला और सोंठ का क्वाथ पियो तथा गरम मसाले, तेल, खटाई और गुड़ न खाओ। पियो विधि है, न खाओ निषेध। दोनों मिलकर चिकित्सा होती है। मन के लिए भी वैसे ही प्रयोग ढूंढ़े गये। इसी को भूत-विद्या, तन्त्रशास्त्र या मंत्र-विद्या कहते हैं।

विधि में प्रवृत्ति है––यह खाओ, वह पियो, यह चाटो, वह मलो। किन्तु निषेध में निवृत्ति है––यह न खाओ, यह न पियो। आइये, मन के लिए आविष्कृत ऐसे प्रयोगों पर विचार करें।

मन के लिए विधि और निषेध के प्रयोग महर्षि पतञ्जलि ने योगशास्त्र में लिखे। मन को विचलित करने वाले निदान-व्याधि अकर्मण्यता, संशय, प्रमाद, आलस्य, भोग की लिप्सा, भ्रान्ति, अस्थिरता, असन्तोष[1] आदि गिनाये गये हैं। चिकित्सा का प्रथम चरण प्राणाचार्यों ने बताया है, निदान का त्याग करो।[2] अतएव मन को नीरोग रखने के लिए उपर्युक्त नौ निदानों का परित्याग करना होगा। यह निषेधात्मक चिकित्सा हुई।

विध्यात्मक चिकित्सा के लिए सुख, दुःख, पुण्य और पाप के प्रति क्रमशः मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा की भावना रक्खो। इतना ही पर्याप्त नहीं है। बाह्य विषय न हों तो इन्द्रियों में ही मन लिप्त होता है। रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द का विषयानन्द लेने में भी मन की आसक्ति होती है। उसके लिए श्वास-प्रश्वास का नियन्त्रण करो। और जब तक इस प्राणायाम से मन की स्थिरता नहीं होती तब तक किसी इन्द्रिय के एक विषय से उसे बांधकर रक्खो। गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द में से किसी वृत्ति के साथ उसका विवाह कर दो। और यह भी न हो सके तो तुम्हें जो प्रिय हो, उसी के साथ मन का निबन्धन होना चाहिए।

मीरा, तुलसी और सूर ने मन के वशीकार का यही मार्ग अपनाया था। जिस आदर्श से तुम्हें प्रेम है, उसके साथ जीवन का प्रत्येक रिश्ता बनाओ। तुम्हें माता से प्रेम है तो अपने प्रिय की माता का चिन्तन कीजिए। सूर ने इसीलिए लिखा––

"मैया, मैं नहिं माखन खायो।"

तुम्हें अपनी पत्नी से प्यार है तो कहो––

"पूछत स्याम, कौन तू गोरी?"

तुम्हें प्रियतम की ही आसक्ति है तो गाओ––

"मेरे गिरिधर गुपाल, दूसरो न कोई।"

और ससुराल मीठी लगे तो गाइये––

"मैं तो गिरिधर के सँग जाऊँ।"

बच्चे को खिलाये बिना मन नहीं मानता तो चिन्तन कीजिये––

"किलकत हरि जसुमति की कनिया।"

परन्तु प्रियतम का नाम रटने में मन रमता है तो रटिये––

"मेरो मन राम हि राम रटै रे।"

---

1. योगदर्शन, समाधि०, 30
2. संक्षेपतः क्रियायोगो निदानपरिवर्जनम्।––चरक

यह सब न रीति है और न भक्ति। मन की बीमारी का विध्यात्मक (Positive) इलाज है।[1]

मैं यहां साहित्य और अलङ्कारों की चर्चा नहीं कर रहा हूं। यह आयुर्वेद है--यह तन्त्रशास्त्र का वह अंग है जिसमें भूत-विद्या के रहस्य निहित हैं।

मैंने पीछे कहा है, मनुष्य चार परिवेशों से वेष्टित है—शरीर, मन, प्राण और आनन्द या चैतन्य। प्रत्येक परिवेश उत्तरोत्तर महान् होता जाता है--प्रत्येक परिवेश में हमारी शक्तियां काम करती हैं।

प्रत्येक परिवेश के द्वारा चेतन आत्म-तत्त्व की शक्ति विकीर्ण होती है। शरीर, मन और प्राण से जो शक्ति अभिव्यक्त होती है, उसका केन्द्र चेतना है, वही आनन्दमय कोष है। उससे विकीर्ण होने वाली शक्ति को हम विद्युत् शक्ति से सन्तुलित कर सकते हैं। जिस प्रकार विद्युत् का अदृश्य प्रवाह और प्रभाव वातावरण में रहता है, उसी प्रकार पुरुष का भी। किसी में वह शक्ति कम है, किसी में अधिक। किन्तु कम शक्ति अधिक बढ़ाई जा सकती है और अधिक शक्ति अधिकतम की जा सकती है। कुछ-एक में जन्मान्तर के संस्कारों के प्रभाव से जन्म से ही शक्ति सिद्ध होती है, कुछ में औषधियों द्वारा। कुछ में (मन्त्र) वैज्ञानिक उपायों से, कुछ में तप से, और कुछ में समाधि से शक्ति का विकास होता है।[2]

हम यहां केवल शारीरिक और मानसिक परिवेश पर ही विचार करेंगे, क्योंकि शारीरिक और मानसिक परिवेश के उपरान्त लोक-व्यवहार की सीमा समाप्त हो जाती है। वहां रोग नहीं पहुंचते, इसलिए चिकित्सा का प्रश्न ही नहीं उठता। मन का विकल्प ही व्यवहार को प्रेरणा देता है। सभी व्यवहार मन की पांच वृत्तियों द्वारा ही होते हैं।[3] प्राणमय परिवेश में पांचों वृत्तियां समाप्त होकर ऋतम्भरा का उदय होता है, फिर रोग और आरोग्य का प्रश्न ही नहीं रहता। केवल आरोग्य ही रह जाता है। अतएव चिकित्सा को वहां स्थान नहीं है। अयोग, अतियोग तथा मिथ्यायोग का आधार काल, बुद्धि और इन्द्रियार्थसंयोग वहां समाप्त हो जाता है। चरक ने यही लिखा है--

"दैहिक रोग दैविक पूजा एवं युक्ति द्वारा आयोजित औषधियों से हटते हैं, तथा मानसिक रोग ज्ञान, विज्ञान, धैर्य, स्मृति और समाधि से निवृत्त होते हैं।"[4]

उपर्युक्त विवरण से हमने देखा कि रोग शरीर और मन में ही होते हैं। मानसिक और शारीरिक दोनों रोगों की मूल प्रस्तावना मन से ही होती है। प्रज्ञापराध और क्या है? असात्म्येन्द्रियार्थ संयोग प्रज्ञापराध से ही होता है। काल का समुचित समन्वय न होना भी उसी कारण। इसलिए मन के और तन के रोगों की चिन्ता ही प्राणाचार्यों को हुई। योगशास्त्र में मन का निरोध ही योग है। मन की वृत्तियां जब तक काम करती हैं, रोग

1. यथाभिमतध्यानाद्वा।—योगदर्शन, समाधि० 39
2. योगदर्शन, कैवल्य० 1
3. प्रमाण-विपर्यय-विकल्पनिद्रास्मृतयः।—योग०, समाधि० 6
4. प्रशाम्यत्यौषधैः पूर्वो दैवयुक्तिव्यपाश्रयैः।
मानसो ज्ञानविज्ञानधैर्यस्मृतिसमाधिभिः॥—चरक, सू० 1/57

अवश्य आते हैं।[1] प्राणायाम की सिद्धि के उपरान्त मन की यह वृत्तिगत चंचलता शान्त होने पर मन इन्द्रियों के पीछे नहीं, इन्द्रियां मन के पीछे चलने लगती हैं। ऐसी स्थिति आने पर कुपथ्य और रोग का प्रश्न ही नहीं रहता, अतएव चिकित्सा का प्रश्न भी समाप्त हो जाता है।

इस प्रकार हम यह समझ गये कि प्राणाचार्यों ने शरीर और मन की ही चिकित्सा क्यों लिखी। इन्द्रियां इतनी वलवती हैं कि वे मन और प्राण को अपनी वासना के अनुकूल घसीटती हैं। इसीका नाम प्रज्ञापराध अथवा असात्म्येन्द्रियार्थ संयोग है। चिकित्सा इस घसीटने की विरोधी प्रक्रिया का नाम है।[2] चाहे वे शरीरगत रोग हों या मनोगत, निदान का विरोध ही चिकित्सा है। शीतजन्य रोग का निवारण करने के लिए उष्णता चाहिए; उष्णजन्य के लिए शीतलता। अधिक भोजन से उत्पन्न रोग को उपवास और उपवास-जनित रोग को आहार की योजना करना ही चिकित्सक की योग्यता है। रोगी को भी नीरोग होने के लिए कुपथ्य त्यागने की भावना से इन्द्रियों के विरुद्ध मन को सवल वनाना पड़ता है, तभी स्वास्थ्य प्राप्त होता है।

शास्त्रों में शरीर की एक रथ से उपमा दी गई है। आत्मा रथ में वैठा यात्री है। वुद्धि सारथी, मन लगाम और इन्द्रियां घोड़े। आत्मा को जिस मंजिल पर पहुंचना है, घोड़ों को उसी ओर चलाने के लिए सारथी को लगाम खींचनी चाहिए। घोड़ों की मर्जी पर यात्रा करने वाला यात्री मंजिल तक नहीं पहुंच सकता। मन, वुद्धि और आत्मा में वहुत शक्ति है, उसे काम में लाना चाहिए। यही इस उपमा का भाव है। वुद्धि और मन एक ही तत्त्व के दो रूप हैं। इसलिए आत्मा और मन, इन्हीं दो की शक्तियों का सदुपयोग स्वास्थ्य है।

आइये, चिकित्सा की दृष्टि से इनकी शक्तियों पर विचार करें। आत्मा स्वामी है, मन सेवक। मन को मिली हुई शक्तियां आत्मा से आती हैं। आत्मा केवल एक शक्ति (force) है, मन उसका व्यावहारिक (applied) साधन। शक्ति की अभिव्यक्ति प्राण, मन और शरीर द्वारा होती है। शरीर सवसे दुर्वल शक्ति-केन्द्र है, मन उससे वलवान्। प्राण मन से भी वलवान् और आत्मा स्वयं शक्तिपुंज है। इन्द्रियां भोग से रोग लाती हैं, इसका विरुद्ध उपचार ही चिकित्सा है। इसलिए मन भोग की वासना से जितना निवृत्त है, उतना ही स्वस्थ और वलवान् होगा।

मन जव तक चञ्चल इन्द्रियों का अनुगामी है, वह इन्द्रियों की दुर्वलता से आक्रान्त रहता है। अन्यथा स्वयं वहुत वलवान् है। इसलिए रोगों से वचने का उपाय यह है कि इन्द्रियों को मन का अनुगामी वनाया जाय। मन वलवान् है, किन्तु चञ्चल भी। इन्द्रियां निर्वल और चञ्चल। वलवान् होकर भी मन चञ्चलता के कारण इन्द्रियों का

---

1. योगदर्शन, समाधि। 30/31
2. विपरीतगुणास्तेषां स्वस्थवृत्तेर्विधिर्हितः।—चरक, सूत्र० 7/41
   देशानामामयानाञ्च विपरीतगुणं गुणैः।
   सात्म्यमिच्छन्ति···। —चरक 6/49

दास रहे तो रोग से कभी छुटकारा नहीं होगा। इसलिए चञ्चलता दोनों की हटनी चाहिए। इसके निरोध के लिए प्राणायाम (श्वास का नियन्त्रण) सर्वश्रेष्ठ उपाय खोजा गया है। चञ्चलता हटने के वाद इन्द्रियां स्वयं मन की अनुगामिनी हो जाती हैं। इस स्थिति को 'प्रत्याहार' कहते हैं।[1]

प्रत्याहार की स्थिति प्राप्त होने पर मिथ्या आहार-विहारजन्य शारीरिक रोग नहीं होते। दूसरे प्राणशक्ति का विकास होने से मनुष्य में उत्कृष्टता, सहिष्णुता वढ़ जाती है। इससे अनेक विभूतियां सिद्ध होती हैं। अतीत या अनागत का ज्ञान, सम्पूर्ण प्राणियों की वोली समझने की योग्यता, पूर्वजन्म का स्मरण, दूसरे के मन की वात जान लेना आदि और भी कितनी ही विभूतियां प्राप्त होती हैं। हमें उनके वारे में यहां कुछ नहीं कहना। मैं पीछे कह चुका हूं। वह लोक-व्यवहार से वाहर की स्थिति होगी। हमें निदान और चिकित्सा के क्षेत्र में ही वातचीत करनी है।

प्राणायाम द्वारा प्राण और मन की शक्तियां विकसित होने पर तथा शरीर में मन के क्रिया-स्रोतों पर अधिकार प्राप्त होने पर मन इतना सवल हो जाता है कि दूसरे व्यक्ति के अन्दर प्रवेश कर सके। इस प्रवेश द्वारा साधक अपने मन के भावों से दूसरे को प्रभावित कर सकता है और उसके मन के विचारों का परिज्ञान भी प्राप्त कर लेता है।[2] परन्तु ऐसा करते समय साधक में राग और द्वेष नहीं होना चाहिए। क्योंकि राग-द्वेष मन को दुर्वल करने वाली वासनाएं हैं। उनसे आक्रान्त मन में ये सिद्धियां नहीं रहतीं।

इसी प्रकार प्राणशक्ति भी जागृत होकर अनेक रूपों में विकसित होती है। प्राणशक्ति के शरीर में पांच भेद हैं—

(1) प्राण, (2) अपान, (3) व्यान, (4) उदान, (5) समान।

योगशास्त्र ने लिखा है, उदान-सिद्धि से जल, कीचड़, कांटे आदि उस व्यक्ति के मार्ग में रुकावट नहीं डाल सकते। और समान-सिद्धि से साधक जिस वस्तु में चाहे, आग प्रज्वलित कर सकता है। प्राण-सिद्धि से इच्छा-मरण तथा प्राणि-मात्र को वश में करने की शक्ति प्राप्त होती है।[3]

किन्तु जिस शरीर में इतना वलवान् प्राण और मन निवास करता है, वह शरीर भी शक्ति-विकिरण का केन्द्र वन जाता है। प्रतिक्षण वह शक्ति उस महापुरुष के शरीर के वाहर चारों ओर फैलती रहती है। वह चाहे या न चाहे, दूसरों पर उसका प्रभाव होता ही रहता है। और जव इच्छापूर्वक उस शक्ति का प्रयोग किया जाता है तो दूसरा व्यक्ति उसीके अनुसार काम करने को विवश हो जाता है। वह किसी अन्य शक्ति से प्रेरित हो रहा है, यह ज्ञान भी उसे नहीं होता, और 'स्व' को भूलकर वही कहता और करता है जो महापुरुष चाहता है।

इस प्रकार शक्ति का प्रभाव दो प्रकार से होता है—(1) विना इच्छा के

1. योगदर्शन, साधन० 53-54-55
2. योगदर्शन, विभूति० 38
3. योगदर्शन, विभूति० 39, वाचस्पति-भाष्य।

(2) इच्छापूर्वक। अंग्रेजी में हम इसे (1) Unconscious magnetism तथा (2) Conscious magnetism कह सकते हैं। प्राचीन मनोवैज्ञानिकों ने इसी शक्ति-विकिरण को अनेक शारीरिक क्रियाओं के आधार पर विश्लेपित किया है—

(1) बिना इच्छा के महापुरुष की शारीरिक आकृति द्वारा शक्ति का विकिरण होता है।

(2) इच्छापूर्वक—इंगित, गति, चेष्टा, भाषण, नेत्र और मुख की भाव-भंगिमा द्वारा मानसिक शक्ति का विकिरण होता है।[1]

बिना इच्छा के जो शक्ति-विकिरण होता है, उसको दैहिक या 'शारीरिक प्रभाव' कहते हैं तथा मन से होने वाले प्रभाव को 'मानसिक प्रभाव' कहना होगा। दोनों अनिच्छा और इच्छापूर्वक हो सकते हैं। प्रभाव के दो रूप होते हैं—

(1) विधि-रूप, (2) निषेध-रूप।

निषेध से विधि बलवान् होती है। इसीलिए महापुरुष प्रायः विधि-वाक्य ही बोलते हैं।

अर्वाचीन मनोवैज्ञानिकों की खोज के अनुसार प्रत्येक पुरुष के शरीर के चारों ओर तीन से चार फुट तक शारीरिक शक्ति का एक परिवेश (वृत्त) होता है जो उसके आन्तरिक भले या बुरे विचारों को विकीर्ण किया करता है। परन्तु यह परिवेश-गत प्रभाव सबका एक-सा बलवान् नहीं होता। दुर्बल परिवेश के प्रभाव को सबलप्रभाव परास्त कर देता है। आप किसी पुरुप के विरुद्ध कितना ही बुरा भाव लेकर जायें, यदि वह सबल प्रभाव का व्यक्ति होगा तो आपके बुरे भाव को नष्ट कर देगा और आप उसके आगे पहुंचकर उसके ही अनुसार विचारने, कहने और करने को बाध्य होंगे।

शक्ति के इस शारीरिक विकिरण के फलस्वरूप हम देखते हैं कि यदि हम किसी महापुरुष के साथ कुछ समय रहें तो चाहे महापुरुप हमें कोई उपदेश न भी दे, तो भी हमारे अन्दर एक सबल परिवर्तन होने लगता है। हम धीरे-धीरे उसी महापुरुप के अनुगामी बन जाते हैं। ऐसा क्यों? क्योंकि शरीर के परिवेश से महापुरुष अपने चारों ओर के वातावरण को अपने (मन और प्राणशक्ति के) अन्तःप्रभाव से इतना भर देता है कि उस वातावरण में रहने वाला दूसरा व्यक्ति भी उससे प्रभावित हुए बिना नहीं रहता। इसका प्रभाव मनुष्यों पर ही नहीं, पशु-पक्षी आदि सम्पूर्ण प्राणियों पर होता है। योग-शास्त्र में लिखा है कि जिस महापुरुष के मन की वृत्तियां अहिंसा से ओतप्रोत हैं, उसके समक्ष आते ही सिंह, सांप, भेड़िया, हाथी जैसे भयानक प्राणी भी मित्र-भाव से प्रेम करते हैं।[2] फिर मनुष्य की क्या कथा?

इतिहास में आपने पढ़ा है कि अंगुलिमाल डाकू तथा नाल हाथी भगवान् बुद्ध पर आक्रमण करने के भाव से आये, किन्तु उनके समक्ष आते ही अपनी हिंसावृत्ति छोड़-

---

1. आकारैरिङ्गितैर्गत्या चेष्टया भाषणेन च।
नेत्रवक्त्रविकारैश्च लक्ष्यतेऽन्तर्गतं मनः॥—पञ्चतन्त्र

2. अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्संन्निधौ वैरत्यागः।—योग-दर्शन

कर उनसे प्रेम करने लगे। ऋषि दयानन्द के पास एक वेश्या उन्हें लुभाने के लिए आई, किन्तु उनके समक्ष आते ही उनके चरणों में झुककर अपने बुरे भाव के लिए क्षमा मांगने लगी। कर्णवास के राजा उनकी हत्या करने आये, किन्तु उनके दर्शन करते ही उनके शिष्य हो गये। सत्याग्रह-आन्दोलन में भारत के अंग्रेज शासक लार्ड विलिंग्डन ने महात्मा गांधी से बातचीत करके समझौता करना इसलिए स्वीकार नहीं किया था क्योंकि महात्मा गांधी के समक्ष बैठकर उनके विरुद्ध भावनाएँ नष्ट हो जाती हैं।

इन महापुरुषों में ही नहीं, प्रत्येक पुरुष और स्त्री के शरीर का यह परिवेश होता है। कोई बलवान्, कोई दुर्बल। बलवान् दुर्बल को जीत लेता है। बुरे भाव के मनुष्य के शारीरिक परिवेश में बुराई रहती है। उसके सम्पर्क में आने वाले व्यक्ति में उन बुराइयों का संक्रमण होता है। यदि वह दुर्बल है तो उन बुराइयों में फंस जायगा, सबल है तो बच जायगा और यदि अधिक बलवान् है तो बुरे को भला बना देगा। यह काम वैसे ही होता है जैसे एक विद्युत्-चुम्बक के परिवेश में रक्खे हुए अन्य धातु में भी विद्युत् का चुम्बकत्व संक्रमित (induction) हो जाता है। यद्यपि उनमें कोई तार जोड़कर सम्बन्ध नहीं होता, फिर भी वातावरण के द्वारा यह प्रभाव रोका नहीं जा सकता। मनुष्य भी एक ऐसा ही चुम्बक है। जब बिना सम्बन्ध (connection) के यह प्रभाव होता है तो सम्बन्ध जुड़ने पर कितना उग्र प्रभाव होगा, यह स्वयं ही अनुमान किया जा सकता है। कहते हैं, नरेन्द्र-कुमार एक उद्दण्ड और नास्तिक विद्यार्थी था, कलकत्ते में रामकृष्ण परमहंस के प्रवचन में उनका उपहास करने के लिए वह आया। परमहंस ने उसके सिर पर हाथ रख दिया; नरेन्द्रकुमार स्वामी विवेकानन्द हो गया।

महान् व्यक्ति के चारों ओर बना हुआ यह परिवेश रहस्यवादी (occultists) लोगों की भाषा में 'औरा' (Aura) कहा जाता है। यह 'औरा' और हिन्दी का 'ओप' पर्यायवाची हो सकते हैं। यह ओप एक जीवन की कमाई नहीं होती, अनेक जीवनों का अभ्यास उसके पीछे निहित होता है। कई बार अधिक तेजस्वी महापुरुषों के इस ओप के भीतर छोटे-छोटे चमकते हुए परमाणु प्रकाशित होते देखे गये हैं जो तेजस्वी व्यक्ति से विकीर्ण होकर दूसरे मनुष्यों को बल प्रदान करते हैं। किन्तु रोगी मनुष्य का ओप भी रोगाक्रान्त होने से क्षीण हो जाता है।

शारीरिक प्रभाव की यह पहली सीढ़ी है। शारीरिक प्रभाव (magnetism) को तेजस्वी बनाये रहने के लिए रोगी होना बुरा है। रोगी व्यक्ति का सामाजिक सम्मान नष्ट हो जाता है। चरक ने प्रारंभ में ही लिखा है कि धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—सभी का मूल आधार आरोग्य है। स्वस्थ शरीर ही ओप-युक्त होता है। वही दूसरे प्राणियों को प्रभावित कर सकता है जो स्वस्थ है। याद रखिये, शारीरिक प्रभाव हमारी इच्छा पर निर्भर नहीं है। हम न चाहें तो भी स्वस्थ शरीर से प्रभाव का विकिरण होता ही है और दूसरे उससे प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकते—

"अंखियां हरि दरसन की प्यासीं।"
"मधुकर स्याम हमारे चोर।"
"ऊधौ ! नैना बहुत बुरे।"

कवि की इन रचनाओं में शृंङ्गार या आसक्ति कुछ नहीं है. प्रियतम के शारीरिक प्रभाव (Personal magnetism) का उल्लेख ही तो है। महान् पुरुष इसे छिपा नहीं सकता, और कमजोर व्यक्ति उसके प्रभाव से बच नहीं सकते। यह प्यास, चोरी और नैनों का विश्वासघात अन्य कुछ नहीं है, शारीरिक प्रभाव की एक अनिवार्य प्रतिक्रिया है।

अभी हम शारीरिक प्रभाव (Physical magnetism) की चर्चा कर रहे थे। वह अनिच्छापूर्वक होता है। किन्तु दूसरी शक्ति जो इच्छापूर्वक होती है, 'मनोमयपरिवेश' का शक्ति-विकिरण है। और इसी की पृष्ठभूमि में स्थित 'प्राणमय परिवेश' की शक्तियों का प्रवाह भी, इस मनोमय शक्ति-पुंज को ही उत्कृष्ट प्रभावशाली बनाता है। आज के रहस्यवादी प्राणमय और मनोमय परिवेशों को एक ही परिवेश समझते हैं। किन्तु भारतीय योगशास्त्र में मनोमय से प्राणमय एक सीढ़ी ऊंचा है। मनोमय परिवेश में जो शक्तियां प्राप्त होती हैं, प्राणमय परिवेश में उससे अधिक सूक्ष्म और महान् शक्तियां उपलब्ध होती हैं। किन्तु दोनों के विकिरण का मार्ग मन के द्वारा ही है।

इस प्रकार शारीरिक प्रभाव से मन का प्रभाव बहुत सबल है। फिर इच्छाशक्ति के साथ जो प्रभाव प्रस्तुत किया जाता है, वह अधिक प्रबल होता है। हम दोनों प्रभावों को चिकित्सा के लिए प्रयोग करें तो रोगी व्यक्ति को स्वास्थ्य प्रदान कर सकते हैं।[1] हम कह आये हैं कि विध्यात्मक प्रभाव निषेधात्मक प्रभाव से बहुत बलवान् होता है। उदाहरण के लिए देखिये—

विध्यात्मक (सबल)	निषेधात्मक (निर्बल)
1. विवेक	1. अविवेक
2. जय	2. पराजय
3. स्वास्थ्य	3. रोग
4. सुख	4. दुःख
5. तत्परता	5. आलस्य
6. प्रगति	6. स्थिरता
7. करुणा	7. क्रूरता
8. अहिंसा	8. हिंसा
9. सत्य	9. मिथ्या
10. प्रेम	10. द्वेष

विध्यात्मक और निषेधात्मक प्रेरणाओं में विध्यात्मक ही विजय पाती है और निषेधात्मक विचारों को नष्ट कर देती हैं। अर्वाचीन और प्राचीन मनोवैज्ञानिकों का विचार है कि परमाणुओं के माध्यम से इन शक्तियों का प्रभाव दूसरों पर होता है। किन्तु योगशास्त्रियों का आग्रह है कि यह शक्ति प्राप्त कर लेने के बाद महापुरुष सारे विश्व पर शासन करता है। देश और काल का बन्धन उसके लिए निरर्थक हो जाता

1. Bible में St. John के 4थे और 5वें अध्याय देखिए, जिनमें गेलिली और जेरुसलेम के रोगियों के स्वास्थ्य के लिए म० ईसा ने अपना मनोबल प्रयोग किया।

है।[1] उसके अन्दर से ऐसा प्रकाश प्रकट होता है जिसके आलोक में सम्पूर्ण विश्व की सूक्ष्म, छिपी हुई और कितनी भी दूरी पर रक्खी वस्तु साक्षात् होती है।[2]

पैरिस (फ़्रांस) में 'वैयक्तिक प्रभाव की कला और विज्ञान' के प्रोफेसर श्री थेरन क्यू डयूमोण्ट ने अगस्त सन् १९१३ ई० में एक पुस्तक 'The Art & Science of Personal Magnetism' नाम से लिखी थी। उन्होंने इस विषय में वहुत ज्ञानवर्धक वातों पर प्रकाश डाला। यद्यपि वे शारीरिक और मानसिक परिवेश से आगे कुछ नहीं कह सके, तो भी उनके अनुसंधान आदरणीय अवश्य हैं, क्योंकि वे क्रियात्मक पृष्ठभूमि पर लिखे गये हैं।

"सारे नये और पुराने रहस्यवादी प्रकृति में एक अत्यन्त प्रभावशाली और सबल शक्ति की सत्ता स्वीकार करते हैं। जो प्रकृति की 'उत्कृष्ट शक्ति' है, वह प्रभाव और कार्यक्षमता में अद्वितीय है। सारी शक्तियां उससे पराजित हो जाती हैं, किन्तु उसका विवेचन करना और लक्षण लिखना अशक्य है। आधुनिक विज्ञान स्नायुशक्ति का विश्लेपण करने में असमर्थ है। मैं जिस शक्ति की चर्चा कर रहा हूं, विज्ञान उसे स्नायु-मंडल से समुद्भूत शक्ति सिद्ध करने का प्रयास करता है। किन्तु यह मूर्खता है, ठीक उसी प्रकार की जैसे कि प्रकृति-चिन्तक दार्शनिक मननशक्ति को मस्तिष्क का सार सिद्ध करने का प्रयास करते हैं। जैसे पित्त यकृत् का और पाचन-रस क्लोम का सार माना जाता है। इस प्रकार की परिभाषाएँ प्रस्तुत करने का प्रयास देखकर विद्वान् व्यक्ति को हँसी आयेगी।

अध्यात्मवादी लोग, इसके प्रतिकूल स्नायुशक्ति की कोई परिभाषा नहीं करते। वे केवल उसके विकास का स्रोत बताते हुए उसे एक स्वतन्त्र और मौलिक शक्ति स्वीकार करते हैं। और उसके प्रयोग की मूल्यवान् सूचनाएँ देते हैं। उन्होंने इस शक्ति की परिभाषा देने के वजाय उसके अनेक नाम प्रस्तुत किये हैं; उदाहरणार्थ—'जीवनशक्ति', 'जीवनीय ऊर्जा', 'जीवन-रस' और प्राणशक्ति'। पौरस्त्य तत्त्ववेत्ता इसे 'प्राण' अथवा 'आकाशिक शक्ति' कहते हैं। किन्तु अध्यात्म-चिन्तक इसे एक ही नाम देते हैं—'Nerve Force'

इस नाम से आप यह न समझ लें कि यह शक्ति स्नायु-मण्डल से उत्पन्न होती है, यह नामकरण केवल इस कारण कर दिया कि यह शक्ति स्नायु-मण्डल के द्वारा अभिव्यक्त होती है। परन्तु उसका उद्भव-केन्द्र वहुत महान् और सर्वथा मौलिक है। विद्युत् की भांति विश्वव्यापी परमाणु ही उसका उद्भव केन्द्र है।

मानसिक और शारीरिक शक्तियों के सम्मिलित विकिरण से ही व्यक्ति के आध्यात्मिक प्रभाव की पूर्ण अभिव्यक्ति होती है। यह निश्चय जानिये कि शारीरिक प्रभाव के विना मानसिक प्रभाव वैसा ही है जैसे निस्तेज और सारहीन देह में मस्तिष्क।

'शारीरिक प्रभाव' विद्युत्-केन्द्र की भांति दूसरे पर प्रभावशाली ही नहीं होता,

---

1. भुवनज्ञानं सूर्ये संयमात्। योगदर्शन, विभूति० 26।
2. योग०, विभूति० 25।

वरन् वह मनुष्यों की रोग-निवारक शक्ति भी है। यह किसी भी अनुभवी व्यक्ति से ज्ञात किया जा सकता है।

प्राचीन अध्यात्म-चिन्तकों का यह आदेश है कि अपनी इच्छा-शक्ति के प्रयोग द्वारा हम दूसरों को अपने विचार ही नहीं, शारीरिक और मानसिक शक्ति भी दे सकते हैं। इस विषय के उच्चकोटि के अनेक साधक, हमारे ही युग में, पुराने अध्यात्म-चिन्तकों की शिक्षाओं को अनुभव में सत्य पाते हैं। सत्य को स्वीकार करने में नये और पुराने का भेद नहीं होता।

आप अपने मनोबल को प्रयोग कीजिये; आप देखेंगे दुर्बल सबल हो गये और रोगियों को आरोग्य प्राप्त हो गया। थोड़ा-सा प्रयत्न करके देखिये, कुछ ही प्रयास के बाद अपनी इच्छानुसार आप 'मन्त्र-चिकित्सक' बन सकते हैं। इच्छा ही शब्द की प्रेरक है।

अध्यात्मवादी यह कहते हैं कि जब शारीरिक और मानसिक दोनों शक्ति-तत्त्व सम्मिलित कार्य करते हैं, तब मानसिक शक्ति इतनी सबल होती है कि वह दूसरों को अपने ही गहरे रंग से अनुरंजित कर दे। उसका प्रभाव गम्भीर और स्थायी होता है। उस दशा में शारीरिक प्रभाव दूना सक्रिय होता है। उसमें से इतनी अधिक शक्ति प्रस्फुटित होती है कि उस शरीर से बहुधा प्रज्वलित चिनगारियां निकलने लगती हैं, और उसके चारों ओर चमकदार परमाणु पुन्ज वातावरण में नाचते हुए प्रत्यक्ष देखे जाते हैं।

किन्तु यह अच्छी प्रकार जान लीजिये कि कोई भी व्यक्ति आध्यात्मिक शक्तियां नहीं पा सकता, और न दूसरों को प्रभावित कर सकता है, जो स्वयं नियम और संयम से नहीं रहता।[1]

---

1. All occultists, ancient and modern, have recognised the existance of a mighty subtle force of nature ere of nature's 'fair forces' which is most potent in its effects and activities, but which, nevertheless, defiet all lower of analysis or definition. Science never been able to classify nerveforce. Science in some cases has endevoured to treat it as a secretion of the nervous matter, but it is a folly akin to that of the materiolistic philosopher who tried to define mind as secretion of the brain, just as the bile is the secration of the liver, the gall a secration of the gall bladder etc. Such attempts at definition arise only a smile on the face of the wise.

The occultists, on the contrary, while not attempting to define nerve-force(recognizing it to be in a class of its own) nevertheless have discovered the source of its origin and have given us valuable information as to its use. They have given it many names, as for instance 'Vital force', 'Vital energy' 'Life force' 'Vital fluid', 'Vital magnetism', and in the case of orientals the terms 'Prana' or 'Akashic energy' have been applied to it. But under all of these different names. The occultists have always meant the one and same thing. i.e. Nerve-force.

ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट है कि मानसिक स्तर पर भी मनुष्य-जीवन में बहुत बड़ा आदान-प्रदान चलता है। शक्तियां हमारे अन्दर दो प्रकार से काम करती हैं। एक केन्द्र के उन्मुख है (Centripetal), दूसरी केन्द्र से विमुख (Centrifugal)। दोनों शक्तियों पर अधिकार प्राप्त करने की साधना को ही 'योग-साधना' नाम दिया है। दुर्बल व्यक्तियों में दूसरी ही प्रबल रहती है, पहली दुर्बल। किन्तु दोनों पर हमारा

The nerve I use in describing 'Nerve-force' is employed simply because it is found specialized in he nervous system, and not because of any idea that it originates there, indeed as you shall see in a moment, it has for higher and more elementary source of origin.

The two source of nerve-force is the same as source of electricity, namely the universal ether which fills space.

Combination of mental magnetism and physical magnatism is needed to produce the full phenominon of personal magnetism, remember. But I do insist that mental magnetism without its physical counterpart, is like a mind with a body—it lacks substance and effectiveness.

Not only is the phenominon of personal magnetism a proof of this transmission of nerve-force, but ihe phinomina of human magnatism (as it has been called) in the direction of human-healing another proof, a proof, moreover, that may obtained by any individual in his own experience.

There is one of the teachings of the old occultists thatby use of his will man is able not only to project thought waves from his mentelity, but that he is also able to consciously projeRt his physical magnetism, or vital energy in the same way. The discoveries of the most advanced students of the subject, in our times, verify the old teachings of the occultists in this respect—Truth knows no special age or time—it is the property of the ages.

Your magnetism will flow freely out of your hands, and will invigourate weak persons tend to remove painful conditions, etc. An experience will make you a "Magnetic healer" if you should so desire.

The occultists also inform us that when the combination of the two elements of magnetism combine, the mental magnetism takes on deeper in more pronounced colour and hue, and appears also to solidify and become denser, and that a physical magnetism seems to be rendered doubly active, its increased energy beingevidenced by tinysparksand dancing glittering atoms.

...It is a well known law, that no one will gain the power to control others until he is to control himself.

—The Art And Science of Personal Magnetism.
—by Theron Q. Dumount, Professor of Art and Science of Personal Magnetism. Paris (France) Augnst 26,. 1913

समान अधिकार हो जाये तो दूसरों को हम जो देना चाहें दे सकते हैं, जो लेना चाहें ले सकते हैं। मन्त्र-चिकित्सा द्वारा देने का काम होता है और वशीकरण द्वारा लेने का। क्या दिया जाय और क्या लिया जाय, यह हमें अपने विवेक से निश्चय करना होगा। जिनमें स्वार्थ, दम्भ, और छल है, ऐसे अविवेकी व्यक्ति का मानसिक बल स्वयं नष्ट हो जाता है। हमारे मानसिक परिवेश में जो सत्य है वह रह जायगा; और जो असत्य है, उसे हमारे मन कीही वे वृत्तियां जो सत्य हैं, नष्ट कर देंगी। क्योंकि सत्य (Positive) रह जाता है, और असत्य (Negative) नष्ट हो जाता है। प्रकृति का यह नियम हम पीछे लिख चुके हैं।

शक्ति एक स्थान से दूसरे स्थान तक जाने के लिए कोई माध्यम चाहती है। यह काम स्थूल और सूक्ष्म रूप से प्रकृति में होता ही रहता है। विद्युत्-प्रवाह अभीष्ट दिशा में ले जाने के लिए तार (Wires) कसे जाते हैं। तार टूट जाय, तो भी सबल विद्युत् प्रवाह एक तार से दूसरे तार में जाने के लिए शक्ति-स्फुरण (Sparking) करने लगता है। एक चुम्वक के क्षेत्र में रखे हुए अन्य पदार्थ भी चुम्वकीयशक्ति (inductoin) से भर जाते हैं। ठीक यही स्थिति मनुष्य की भी है। यह शक्ति-विकिरण परमाणुओं (either) द्वारा होता है, यह विज्ञान की खोज है। मनुष्य ने जब शारीरिक शक्ति से आगे मनोमय और प्राणमय परिवेश की शक्तियों का विकास किया तो उसे शब्द ऐसा माध्यम प्राप्त हुआ जो शक्ति का संवाहक है। जैसे विद्युत्-प्रवाह को एक सिरे से दूसरे सिरे तक ले जाने के लिए तार (wire) माध्यम होता है, वैसे ही आध्यात्मिक परिवेश में भावनाओं और मानसिक शक्ति को एक से दूसरे तक ले जाने का माध्यम शब्द है।

शब्द-शक्ति पर भारतीय वैज्ञानिकों की उपलब्धियां आश्चर्यजनक हैं। विश्व के किसी देश में इस तत्त्व पर आज तक इतना गहन अनुसन्धान नहीं हुआ, जितना भारत में। आधुनिक वैज्ञानिकों ने गैस, विद्युत्, एटम आदि न जाने कितने प्रकार की शक्तियां खोजीं परन्तु शब्द उन सबसे महान् वह शक्ति है जो भौतिक और अभौतिक दोनों है। विज्ञान में भौतिक तत्त्व काल, संख्या और मात्रा से सीमित हैं, इसलिए वे सीमित कार्य ही करते हैं। किन्तु शब्द इन सीमाओं से परे भी सक्रिय रहता है। वह पांचभौतिक तत्त्वों से विलक्षण एक ऐसा तत्त्व है, जो भौतिक विज्ञान की परिधि में नहीं बँध सका। मैं इसी कारण उसे आध्यात्मिक भी मानता हूं।

रूप, रस, गन्ध, स्पर्श क्रमशः तेज, जल, पृथ्वी और वायु के गुण हैं। कोई गुण ऐसा नहीं है, जो भावनाओं का संवाहक हो और प्रकाश-स्वरूप भी। शब्द में ये गुण विद्यमान हैं; वह आकाश का गुण है, इसलिए आकाश की ही भांति व्यापक भी। जहां आकाश है, वहां शब्द भी। सारे प्राणी एक ही शब्द बोलते हैं। शब्दोच्चारण में आठ स्थान व्यापार करते हैं।[1] कोई प्राणी एक-से, कोई दो से, कोई चार स्थानों से शब्द का उच्चा-करते हैं, मनुष्य प्रायः आठों का उपयोग करता है, इसीलिए उसने वैज्ञानिक आधार पर

1. अष्टौ स्थानानि वर्णानामुरः कण्ठशिरस्तथा।
जिह्वामूलं च दन्ताश्च नासिकोष्ठौ च तालु च ॥—पाणिनीय शिक्षा 13

भापा का निर्माण कर लिया और वाच्य-वाचक नियम भी बनाये।[1] योगशास्त्र का कहना है कि यदि शब्द, अर्थ और ज्ञान की भेद-वृत्ति समाप्त कर दी जाये तो विश्व के सम्पूर्ण प्राणियों की भापा वोली और समझी जा सकती है।[2] 'सवितर्का समाधि' में साधक को यह शक्ति प्राप्त हो जाती है।[2] इस प्रकार आध्यात्मिक चेतना में शब्द का बहुत बड़ा कार्य है। रूप, रस, गन्ध, स्पर्श सभी छूट जाते हैं। तो भी शब्द का सहयोग चेतना के साथ रहता है।

आज के विज्ञान में शब्दशक्ति पर जो खोज हुई, उसमें सबसे पहला आविष्कार 'ग्रामोफोन' है। जब ग्रामोफोन पर लोगों ने दूसरों के संगीत और भाषण सुने तो आश्चर्य हुआ। लोहे की मशीन दूसरों के गीत और भापण उनके जीवन के वाद भी सुनाती है, तो शब्द निश्चय ही अपर तत्त्व होना चाहिए। वैज्ञानिकों ने ध्वनियों के प्रतिनिधि चिन्ह रिकार्डों पर उट्टंकित किये और उनके आघात से शब्दों की अभिव्यक्ति होने लगी। न केवल शब्दों की, स्वरों की, मात्राओं की, भावों की ही, वरन् अभिधा, लक्षणा और व्यजनाओं की अभिव्यक्ति भी हुई। शब्द के साथ प्रेम, द्वेष, क्रोध और वात्सल्य का ही ज्ञान नहीं, वरन् शब्द यह भी वताने लगा कि जिसका गीत गाया जा रहा है वह स्त्री थी या पुरुष, वालक था या वृद्ध ?

प्रेम के गीत सुनकर श्रोता के हृदय में प्रेम उमड़ा। हास्य के वाक्य सुनकर श्रोता हँसा। शब्द के साथ यह प्रेम और हास्य कैसे आया ? प्रत्येक वस्तु का ज्ञान प्रकाश में होता है, किन्तु शब्द से होने वाला ज्ञान अँधेरे में भी हुआ। तब यह मानने के लिए विवश होना पड़ा कि शब्द स्वयं प्रकाश है।[3] और मानव के भाव शब्द में घुल जाते हैं। वह अविनाशी है।

जगत् पन्चभूतात्मक है। जब शब्द उन पांचों भूतों–पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश–से विलक्षण है, तब क्या इसे एक नवीन और छठवां भौतिक तत्त्व माना जाय ? दार्शनिक भी इस प्रश्न पर शताब्दियों तक उलझे रहे हैं। किसी ने कहा, शब्द द्रव्य है, किसी ने कहा गुण। परन्तु यदि शब्द को द्रव्य कहें तो उसका पन्चीकरण कैसे सिद्ध किया जाय ? यदि उसे पार्थिव कहें तो शब्द में गन्ध नहीं है, फिर पार्थिव कैसे ? यदि जलीय कहा जाय तो शब्द रसनेन्द्रिय-ग्राह्य नहीं है, यद्यपि सरस है। जल से षड् रस आविर्भूत होते हैं, शब्द में नवरस कैसे ? आग्नेय कहें तो स्वयं प्रकाश होकर भी अरूप क्यों ? शब्द वायवीय भी न वन सका, क्योंकि वह स्पर्श-रहित है। इस लिए नैयायिकों ने कहा कि वह आकाश का गुण है। किन्तु आकाश क्या है? वह भावात्मक है या अभावात्मक ? यदि भावात्मक है तो गुण और क्रिया उसमें होने चाहिए। आकाश व्यापक है इसलिए क्रियाहीन है। और गुण का प्रश्न तो विवादास्पद है ही। अभावात्मक ही मान लें तो गुण का भाव कहां टिकेगा ? जब भावात्मक आकाश स्वयं प्रकाश नहीं है तब

1. योगदर्शन, विभूतिपाद, 17
2. योगदर्शन समाधिवाद 42
3. अन्नमयं हि सोम्य मनः, आपोमयः प्राणः, तेजोमयीवाक्।—छान्दोग्यं उप०-6/6/5

स्वयं प्रकाश शब्द उसका गुण कैसे हो सकेगा ?

इसलिए दूसरे दार्शनिकों का आग्रह यह है कि शब्द स्वयं प्रकाशित होने वाला एक भिन्न तत्त्व है जो जड़ नहीं, किन्तु चेतन है। यही उसकी स्वयं-प्रकाशवत्ता है। द्रव्य नौ हैं। तब क्या शब्द को दसवां द्रव्य माना जाय ? वेदान्त और मीमांसा के विचारकों ने कहा कि शब्द स्वयं आत्म-तत्त्व है, दसवां द्रव्य नहीं। शब्द जो बोध देता है, वह व्यक्ति की आत्म-चेतना का बोध है। शब्द भाव लाता है, हम आत्म-चेतना के प्रकाश में उसे जान लेते हैं, क्योंकि शब्द आत्म-तत्त्व का ही एक गुण है।

मैं यहां दर्शनशास्त्र की गहराई में नहीं जाना चाहता। प्रतिपाद्य विषय से बिछुड़ जाने से लेख का सौष्ठव चला जायगा। मन्त्र-चिकित्सा की ओर ही चलना है। परन्तु मन्त्र भी शब्द से ही बनता है। शब्द का विश्लेषण न हो तो मन्त्र का कैसे होगा ? इसलिए शब्द पर विचार करना आवश्यक हो गया।

तो हां, शब्द किसे कहते हैं, यह भी समझ लें। महर्षि पतञ्जलि ने लिखा है, "पदार्थ-बोधक ध्वनि को व्यवहार में शब्द कहते हैं।"[1] कालिदास ने स्तुति करते हुए रघुवंश में लिखा था—

वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये।
जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ॥

ब्रह्म और माया कहिये या शिव और पार्वती, तात्पर्य एक ही है। निरुपाधिक रूप में वे जगत् की दो शक्तियां हैं—प्राण और रयि; पुरुष और स्त्री। तन्त्रशास्त्र में इन्हें ही पार्वती और परमेश्वर कहा गया है। भागवत-दर्शन में वे ही राधा और कृष्ण अथवा सीता और राम भी बन गये हैं। व्यक्तिवाची नाम को पारिभाषिक रूप दे दिया गया। एक शक्ति है, दूसरा शक्तिमान्। ये दोनों जिस प्रकार नित्य-सम्बद्ध हैं, उसी प्रकार शब्द और अर्थ भी समवाय-सम्बन्ध से रहते हैं। मीमांसादर्शन में लिखा है—"नित्यः शब्दार्थसम्बन्धः"—अर्थात् "शब्द के साथ अर्थ की प्रतीति अवश्य है और अर्थ के साथ शब्द की प्रतीति भी अनिवार्य।" नित्य का भाव यही है कि वे दोनों अविनाशी हैं और समवेत भी।

आज का वैज्ञानिक समझता था कि शब्द को हम पैदा करते हैं। परन्तु रेडियो और वायरलैस के आविष्कार ने यह सिद्ध कर दिया कि शब्द ब्रह्माण्ड में व्यापक तत्त्व है। विद्युत् उसका आविर्भाव और तिरोभाव करती है। वायु के माध्यम से शब्द चलता है, यह भ्रम जाता रहा। वायु भी शब्द की मन्द गति का माध्यम हो सकता है, किन्तु विद्युत् उससे कई लाख गुना तीव्र गति वाला माध्यम है। उसे आप अणु-शक्ति में परिवर्त्तित कर लें तो वायरलैस-जैसी आश्चर्यजनक प्रक्रिया का विकास होता है। परन्तु इस माध्यम से दौड़ने वाला शब्द मानवीय भावनाएँ भी अपने साथ ले जाता है। पृथ्वी से चन्द्रलोक तक हम अपनी भावनाएँ शब्द के द्वारा विद्युत् और परमाणु-माध्यम से ही भेज रहे हैं। इस प्रत्यक्ष में अब भ्रम नहीं है। यह आज व्यवहार-सिद्ध सत्य है।

4. प्रतीतपदार्थको ध्वनिर्लोके शब्द इत्युच्यते।—महाभाष्य

वस्तुत: व्यापक होने से शब्द प्रत्येक अर्थ को वेष्टित किये रहता है। शब्द का आविर्भाव होते ही 'अर्थ' और अर्थ का ज्ञान होते ही 'शब्द' प्रकाशित होता है। चेतन आत्मा उसका नियामक (Controller)है। जिस अर्थ को हम चाहते हैं शब्द उसे ही प्रकाशित करता है। मीमांसादर्शन का सिद्धान्त ही यह है कि विश्व का कोई पदार्थ और उसका ज्ञान, ऐसा नहीं है जिसके साथ शब्द का अनुगम न हो।[1] जब और जहां चाहें, शब्द से अर्थ को प्रकाशित कर लीजिये।

मैं एक बार अपने एक मित्र के आग्रह पर उनके साथ सिनेमा देखने गया। एक दृश्य आया जिसमें एक लड़की का विवाह होने तक एक नवयुवक उसे बहुत प्रेम करता था। लड़की के पिता के पास सन्देश पहुंचा तो उन्होंने उस युवक के साथ अपनी बेटी व्याह दी। परन्तु इस तरह के मनचले प्रेमी व्यक्ति के लिए प्रेम नहीं करते। वासना के नशे में पीछे पड़ जाते हैं। विवाह होने के बाद बन्धन पड़ जायेगा, भरण-पोषण का बोझ भी उठाना पड़ेगा, यह विवेक उन्हें नहीं होता।

विवाह हो गया। एक बच्चा भी। अब दूसरी सुन्दरी दीख गई। विवाहिता के लिए भोजन, वस्त्र, दवा-दारू सब की चिन्ता बढ़ी तो उसे छोड़कर भाग गये। मनचले पति के नई सुन्दरी के साथ भाग जाने के बाद, मेरे मित्र की बेटी दाने-दाने को मुहताज हो गई। बच्चे की कुशलता के लिए भयानक संकट आये, भोजन-वस्त्रों के लिए भटकती फिरी, परन्तु उसने पिता को सूचना न दी--पति की बदनामी न हो जाय। एक बार किसी स्कूल में नौकरी करते अपनी गरीब बेटी पिता ने देखी तो रो पड़े।

अब सिनेमा में मेरे मित्र ने वही दृश्य देखा। मैंने देखा, मेरे मित्र सिसक-सिसक कर रो रहे थे। मैंने कारण पूछा तो बोले--मेरी बेटी को भी ऐसा ही अभागा पति मिला। एक दिन इसी दशा में मैंने अपनी बेटी को देखा था।

वह तो सिनेमा था--न बेटी, न दामाद। परन्तु बेटी ने जिस समय चित्रपट पर सजल नेत्रों से अपनी करुण कहानी कही, हर पिता की आंखों में गंगा और यमुना छलक उठीं। क्योंकि शब्द में भाव घुलते हैं। शब्द घोलक है, भाव उसमें घुलनशील। किन्तु ये शब्द, जो सिनेमा में बोले जा रहे थे, एक यन्त्र में आबद्ध थे। बेटी के मुख से नहीं कहे गये थे, तो भी उन शब्दों ने हृदय द्रवित कर दिये।

शब्द की परिभाषा में पतञ्जलि ने लिखा है--प्रतीतपदार्थको ध्वनिः शब्दः (पदार्थबोधक ध्वनि शब्द है।) यह साहित्यिक परिभाषा है। घट-पट आदि अर्थबोधक ध्वनियां हैं, इसलिए वे शब्द हैं। किन्तु शब्द का मूल उपादान ध्वनि या नाद है। मूल ध्वनि में व्यक्तिगत भाव का घोल नहीं है; वह एक समुद्र है, जिसमें तरङ्गों की भांति शब्द बनते और विलीन होते हैं। जिस भाव को प्रस्तुत करना है, वक्ता उसी प्रकार के शब्द ध्वनि से निर्माण कर लेता है। राग, विराग, द्वेष--सभी प्रकार के भाव दूसरों तक पहुंचाने के लिए शब्द का सहारा लेते हैं। प्रकृति में भावों को वहन करने का माध्यम

---

1. न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते।
अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वंशब्देन भासते ॥--वाक्यपदीयम्

वही है। महर्षि पतञ्जलि ने ठीक ही लिखा है––"प्रतीतपदार्थको ध्वनिः शब्दः।"

भारतीय वैज्ञानिकों ने शब्द की इस विलक्षण शक्ति का सदुपयोग चिकित्सा में किया। मन की वृत्तियां ही मनुष्य में सुख और दुःख को जन्म देती हैं। अनुकूल वृत्तियां सुख और प्रतिकूल वृत्तियां दुःख उत्पन्न करती हैं। दुःख दूर करने का अर्थ यही है कि प्रतिकूल वृत्तियों को हटाकर अनुकूल वृत्तियां उत्पन्न की जायें। शब्द को उन्होंने इसी आधार पर चिकित्सा के लिए प्रयोग किया। उन्होंने यह ज्ञात कर ही लिया था कि ध्वनि में पुरुष अथवा पशुओं के गुण-दोष ही नहीं, औषधि के गुण-दोष भी घोले जा सकते हैं। कितना और कहां उनका उपयोग किया जाय, यह व्यवस्था (Control) चिकित्सक को करनी चाहिए। बौद्ध विद्वानों ने इस शक्ति का एक देवता ही अलग से स्वीकार कर लिया था, जिसका नाम ही उन्होंने 'भैषज्य-गुरु' या अवलोकितेश्वर रखा। सुश्रुत में विष-चिकित्सा-प्रसंग में एक 'दुन्दुभि-स्वनीय' प्रयोग लिखा है। विषैला दर्वीकर (फनवाला सांप) यदि काट खाये, उसका विष शरीर में फैलने लगे, तो अनेक (लिखी हुई) औषधियों का लेप एक नगाड़े पर करे। उस नगाड़े को उस व्यक्ति के सामने बजाया जाय, जिसे सांप ने काटा है। विष दूर हो जायेगा।

जब प्रेम की भाषा बोलने से दूसरे के हृदय में प्रेम भरता है, क्रोध की भाषा से दूसरे में क्रोध भरता है, तो औषधि से लिप्त नगाड़े की ध्वनि भी उन औषधियों के गुण रोगी की देह में भरेगी। उन्हें इस प्रयोग में वैज्ञानिक सफलता मिली और अनेक दुन्दुभि-स्वनीय प्रयोग लिखे गये।[1]

किन्तु वह दुन्दुभिस्वनीय चिकित्सा मन्त्र-चिकित्सा नहीं हुई, हां, मन्त्र-चिकित्सा के निकट तक इस प्रयोग ने चिकित्सकों को पहुंचा दिया। कालिदास ने लिखा है–– "भोगीव मन्त्रौषधिरुद्धवीर्यः।" मन्त्र और औषधि दोनों ही समान रूप से प्रभावशाली हुए, कालिदास की इस उक्ति का यही तात्पर्य है। औषधि तो स्वयं रासायनिक तत्त्व है, वह विष दूर करने में समर्थ है, यह ठीक है। किन्तु शब्द और मन्त्र की रासायनिक प्रक्रिया क्या है?

आयुर्वेद का एक वैज्ञानिक सिद्धान्त रसाहार-विनिश्चय में चरक ने लिखा है कि प्रत्येक खायी हुई चीज शरीर में चार प्रकार से काम करती है:––

1. रस — रसना-ग्राह्य।
2. विपाक — आमाशय में विकसित रस।
3. वीर्य — रस की शरीर पर प्रतिक्रिया।
4. प्रभाव — खाये हुए पदार्थ की वह क्रिया जिसे विज्ञान नहीं पकड़ सका।

प्रभाव का विश्लेषण विज्ञान की पहुंच के बाहर है। मैनफल वमन ही क्यों लाता है? जमालगोटा (दन्तीबीज) विरेचन ही क्यों करता है? भांग मस्तिष्क पर ही उत्तेजना क्यों लाती है? संखिया रेचन क्यों है? इन प्रश्नों का उत्तर विज्ञान के पास नहीं है। केवल यही कहा जाता है कि प्रकृति की रचना का यह एक रहस्य है। इसी रहस्यपूर्ण

---

1. सुश्रुत, कल्पस्थान, अ० 6/4

प्रक्रिया को प्रभाव कहते हैं। किन्तु मन्त्र के अन्दर कोई रासायनिक तत्त्व नहीं है जिसे आयुर्वेद में 'ओष' कहते हैं। तो भी मन्त्र जो काम करता है वह केवल 'प्रभाव' है। विज्ञान की प्रयोगशाला में मन्त्र की रासायनिक (Chemical) जांच नहीं हो सकती।

सुख और दुःख किसी वस्तु में नहीं हैं। जिस भोजन से हम जीवित हैं, वही बीमारी भी लाता है। प्यास के समय जिस पानी में सुख है, नदी में डूबने लगें तो वही पानी दुःख हो जाता है। जो पिता और पुत्र सुख देते हैं, विछोह के समय वही दुःख देते हैं। प्रत्येक पदार्थ प्रकृति के नियम के आधीन काम कर रहा है, उसमें अनुकूलता ढूंढ़नी चाहिए; क्योंकि अनुकूलता ही सुख है और प्रतिकूलता ही दुःख। चिकित्सा का आधार कोई रासायनिक योजना नहीं है, प्रतिकूल परिस्थितियां हटाकर अनुकूल परिस्थितियां लाना ही चिकित्सा है। धन्वन्तरि, आत्रेय, सुश्रुत और वाग्भट सभी ने यही प्रयोग लिखे हैं।[1] शरीर का रोग हो या मन का, सभी में एक हेतु होता है, वह है बुद्धि का विक्षेप। इस दृष्टि से शरीर और मन दोनों की चिकित्सा के लिए बुद्धि का समीकरण होना ही आवश्यक है। अच्छे-से-अच्छे वैद्य की चिकित्सा रहते भी यदि रोगी पथ्य पर न चले तो आरोग्य सम्भव नहीं। अच्छे-से-अच्छे प्रयोग और साधन रहते भी यदि वस्तु के उपयोग की युक्ति ठीक न हो तो सब कुछ व्यर्थ हैं। इसलिए औषधि के रहते भी तीन बातें होनी चाहिए--१. श्रद्धा, २. विश्वास और ३. युक्ति। श्रद्धा नहीं, तो वैद्य को बुलाना व्यर्थ है। विश्वास नहीं, तो औषधि सेवन ही नहीं की जायगी। और युक्ति नहीं तो मालिश की दवा पी ली, और पीने की दवा से मालिश कर ली। फिर आरोग्य कहां से आयेगा ?

इसलिए शरीर का हो या मन का, प्रत्येक नुस्खा एक मन्त्र है। पुनर्नवा, नीम, और पटोलपत्र स्थूल मन्त्र है। शरीर पर काम करता है। मन पर काम करने वाला मंत्र सूक्ष्म चाहिए जो मनोवैज्ञानिक आधार पर काम करे। मन का स्वभाव है, जितना विकेन्द्रित होगा, दुःख होगा और जितना केन्द्रित होगा दुःख घटेगा। पूर्ण केन्द्रित हो जाये तो दुःख नष्ट हो जाये। इस प्रकार सुख कोई तात्त्विक वस्तु नहीं है, दुःख का अभाव ही सुख है। इसलिए मन की मिथ्या कल्पनाएँ समाप्त कर देना ही मन्त्र-चिकित्सा का उद्देश्य है। इस प्रयास में मन्त्र-चिकित्सक को अपनी शारीरिक और मानसिक शक्ति लगानी होगी, तभी उसका मन्त्र कार्यकारी हो सकता है। ड्यूमोण्ट ने आधुनिक परीक्षणों के आधार पर लिखा है कि जब हम कोई काम करने का निश्चय करते हैं तब मन्त्र-चिकित्सक को तीन प्रयत्न करने पड़ते हैं--

(1) प्रबल इच्छा।
(2) कार्य की मानसिक योजना।
(3) उद्देश्य के अनुकूल इच्छाशक्ति की प्रेरणा।

---

1. याभिः क्रियाभिर्जायन्ते शरीरे धातवः समाः।
सा चिकित्सा विकाराणां कर्म तद्भिषजां स्मृतम् ॥—चरक, सू० 17/34
कालबुद्धीन्द्रियार्थानां योगो मिथ्या न चाति च।
द्वयाश्रयाणां व्याधीनां त्रिविधो हेतुसंग्रहः ॥—चरक, सू० 1/53

(1) मन की शक्ति शारीरिक शक्ति को एक कार्य की रूपरेखा प्रदान करती है।

(2) और शारीरिक शक्ति मन को कार्य करने की स्फूर्ति और प्रगति प्रदान करती है।

यह कहना चाहिए कि मन्त्र में शारीरिक शक्ति कार्य का स्वरूप और प्रेरणा देती है, तथा मानसिक शक्ति उसे चेतना प्रदान करती है।

दोनों शक्तियों का सम्मिलित प्रयोग करने का अभ्यास आपको हो जाये तो दूसरे व्यक्ति जो आपके सम्पर्क में आयेंगे, आपसे प्रभावित होंगे। आप देखेंगे कि वे आपके मनोभावों के अनुसार ही परिवर्तित हो जायेंगे।[1]

महर्षि पतंजलि ने योगशास्त्र में पांच प्रकार की सिद्धियां लिखी हैं, जैसा हम पहले कह चुके हैं––

(1) पूर्व जीवन के संस्कारों से प्रभावित जन्म से।
(2) दोष-दूष्य में सामंजस्य लाने वाली औषधि से।
(3) मानसिक और शारीरिक परिवेश द्वारा सबल मन्त्र-प्रयोग से।
(4) तप अर्थात् सुख-दुःख के समभाव से।
(5) समाधि से।[2]

इनमें प्रथम चार साधनों से प्राप्त सिद्धियां यद्यपि चिरस्थायी नहीं होतीं, तो भी वे सिद्धियां प्रदान करने के कारण उपयोगी तो हैं ही। दवाओं के नुस्खे भी चिरस्थायी स्वास्थ्य नहीं देते, फिर भी उनकी उपयोगिता जीवन में रहती ही है। क्लेशपूर्ण जीवन में कुछ काल के लिए मिलने वाली सिद्धि भी सुख ही देती है। जिसे परम सिद्धि प्राप्त नहीं है, वह आवस्थिक सिद्धि ही ढ़ूढ़ता है। मन्त्र-चिकित्सा भी ऐसी ही प्रक्रिया है।

---

1. There are Three operations when we consciously want to do a work--(1) desire (2) mental picture of work (3) The direct command of the will.

(1) The mental magnetism gives colour and charhcter is the mental magnetism and (2) The physical magnetism gives vitality and acting force to the mental magnetism.

It may be said, almost, That physical magnetism gives the body and moving fors to the Combination, while the mental magnetism gives the soul.

When you learn to produce this combination effectivly you will almost unconsciously affect and influence ather peasons with whom you come in contact—you will notice that they will fall 'in tune' with your mental vibratlous generally,–Personal magnetsm Page 115,

2. योग० कैवल्य० 1।

इस प्रकार रस, विपाक, और वीर्य की रासायनिक पहुंच से मन्त्रचिकित्सा आगे है। वह केवल प्रभाव से काम करती है। जिसकी परीक्षा किसी रासायनिक प्रयोगशाला (Chemical laboratory) में होना संभव नहीं। हां, इस प्रभाव को बलवान् बनाने की प्रक्रिया पर प्राचीन काल में बहुत अनुसन्धान हुए हैं। यदि इस प्रक्रिया में प्रत्यक्ष फल न हुआ होता तो मनुष्य इस ओर प्रवृत्त न होता। वशीकरण, संमोहन, मैग्नेटिज्म, हिप्नोटिज्म और जादू मनुष्य की बुद्धि और मन पर प्रभावकारी हुए इसीलिए वह इनका अनुगामी बना है। परन्तु शरीर के औषधि-प्रयोग जिस स्थूल स्तर पर विचारे जाते हैं, मन के प्रयोग उसी पर नहीं विचारे जा सकते, उन्हें मनोवैज्ञानिक स्तर पर ही विचारना पड़ेगा। तन्त्र-आगम में यही विचार विस्तृत रूप से मिलते हैं।

आगम और तन्त्र

वेद को महत्त्व देने के लिए उसे निगम कहते हैं। प्राचीन आयुर्वेद-संहिताकारों ने आयुर्वेद को अथर्ववेद का उपांग कहा है---किसी-किसी ने ऋग्वेद का भी। क्योंकि निदान और चिकित्सा-सम्बन्धी अनेक सूक्त ऋग्वेद में भी मिलते हैं। जो अंग है वह 'निगम' नहीं हो सकता। निगम का अर्थ है सम्पूर्ण ज्ञान---'निश्शेषं गमयति'। इसलिए निगम के ही किसी अंग को लेकर जो विवेचन किया गया, वह 'आगम' हो गया। आगम का अर्थ है 'तात्पर्य'; जो निगम से आया हुआ सार है वह आगम। अर्थात् उस विषय का सार-तत्त्व। इस सार तत्त्व को आगम मानकर भिन्न-भिन्न विषयों पर अनेक आगम लिखे गये आयुर्वेद, अथर्ववेद, धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र, संगीतशास्त्र आदि सब आगम हैं।

मन्त्र-चिकित्सा प्रत्येक आगम में नहीं है, वह आयुर्वेद का ही अङ्ग है। इसलिए मन्त्र के साथ चिकित्सा शब्द का प्रयोग होता है। और चिकित्सा किसी रोग की होती है, तब उस रोग का निदान भी चाहिए। संस्कृत में किसी अनुशासन-संस्थान को 'तन्त्र' कहते हैं। इसी आधार पर संस्कृत में शरीर का पर्यायवाची 'तन्त्र' शब्द प्रयोग होता है। परतन्त्र, स्वतन्त्र, राजतन्त्र, प्रजातन्त्र आदि शब्दों में तन्त्र किसी उस योजना को कहते हैं जिसमें अनेक पुर्जे किसी एक उद्देश्य की पूर्ति में संलग्न हों। इसी भाव से मनुष्य का शरीर भी एक तन्त्र है। इसमें अनेक पुर्जे मिलकर जीवन का अनुशासन चला रहे हैं। तन्त्र आगम का ही विकास है।

वेद या निगम सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का विवेचन करता है, किन्तु आगम उसके किसी एक अङ्ग का, विशेषतः तन्त्र-सम्बन्धी प्रक्रियाओं का, विवरण देता है। निगम से तन्त्र को जोड़े रखने का एक ही फार्मूला प्राचीन विद्वानों ने बताया था, "यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे।" ब्रह्माण्ड में चलने वाली भौतिक और अभौतिक प्रक्रिया तथा शरीर में चलने वाली भौतिक और अभौतिक प्रक्रिया, दो नहीं हैं, एक ही सिद्धान्त पर दोनों चल रही हैं। ऐसी दशा में सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का अध्ययन करने से बेहतर यह है कि अपना ही अध्ययन किया जाय। जो देवता भौतिक सृष्टि में काम कर रहे हैं, वे ही देवता (Elements) हमारे शरीर में भी।

इस प्रकार तन्त्र-आगम देवोपासना, देवप्रतिपादन और देव-प्रसादन की प्रक्रिया का विवेचन करता है। हम पीछे कह आये है, संस्कृत 'देवता' शब्द का भ्रान्त अर्थों में लोग प्रयोग करने लगे हैं। देवता शब्द का अर्थ (Phenomina Element या main thing) के भाव में होना चाहिए। वस्तु को पाने के लिए जो प्रयास किया जाय वह उपासना है। तन्त्रशास्त्र में शरीर के देवताओं की ही उपासना है। तान्त्रिक अनेक देवताओं की उपासना ही करते हैं, क्योंकि वे शरीर का संचालन कर रहे हैं।

प्रत्येक वस्तु का अभौतिक और प्रकाशक तत्त्व उसका अधिष्ठातृ देवता होता है। माता, पत्नी और वेटी के शारीरिक रूप में कोई अन्तर नहीं है : दो आंख, दो कान, दो हाथ, दो पैर—सभी समान। फिर एक माता, दूसरी पत्नी और तीसरी वेटी क्यों है? इस लिए कि माता में उसके शरीर से भिन्न मातृत्व एक दिव्य तत्त्व है, जो पत्नी और वेटी से महान् है। वही माता का देवता है। उसे गौरी कहिये या राधा, सीता कहिये या सरस्वती। वही एक तत्त्व है जो माता का देवता है। इस प्रकार 'मातृत्व' शरीर से भिन्न एक देवता है जो पत्नी और वेटी से महान् है। इसी प्रकार पत्नी और पुत्री का देवत्व भी एक अलग तत्त्व है; उसे जाने विना माता, पत्नी और पुत्री नहीं जाने जाते।

सारे ब्रह्माण्ड को समझने के लिए भी इसी प्रकार देव-तत्त्व को समझना आवश्यक है। निगम या वेद ने सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड और उसके देवताओं का एक परब्रह्म में समन्वय कर दिया।[1] और सृष्टि की रचना को एक शरीर के रूप में ही लिखकर पिण्ड के साथ ब्रह्माण्ड की अभिन्नता प्रतिपादित की। वेद के पुरुष-सूक्त में उसी एकता का उल्लेख है। परन्तु तान्त्रिक वहां तक नहीं जाता। वह शरीर की परिधि के भीतर अपनी योजना वनाता है और उन्हीं देवताओं की उपासना करता है जिनका शरीर से सीधा सम्वन्ध है।

भारत में इस प्रकार शोध करने वाले पांच सम्प्रदाय तन्त्रशास्त्र के हुए हैं—

(1) शैव तन्त्र, (2) वैष्णव तन्त्र, (3) सौर तन्त्र, (4) शाक्त तन्त्र, (5) गाणपत्य तन्त्र।

कुछ लोग चार[2] सम्प्रदायों का आग्रह करते हैं—

(1) शैव, (2) पाञ्चरात्र, (3) वौद्ध, (4) आर्हत।

तंत्रागम के इन सम्प्रदायों में वहुत सामंजस्य है। देवताओं के नामों का ही थोड़ा-वहुत अन्तर है, तत्त्व में नहीं। आयुर्वेद के प्राचीन प्राणाचार्यो ने ऐसा कोई साम्प्रदायिक अन्तर नहीं किया था। पीछे से उत्तरकाल में यह साम्प्रदायिक अन्तर वढ़ा और भिन्न-

---

1. एको देव: सर्वभूतेषु गूढ़ :।—ऋग्वेद:
   त्वं स्त्री त्वं पुमावसि त्वं कुमार उतवा कुमारी।—श्वेताश्वतर उपनिषद्

2. शैवञ्च पाञ्चरात्रं च वौद्धमार्हतकं तथा।
   चतुर्धा समयाभिन्नस्तेषु शैवं प्रधानकम्॥—सिद्धान्तसंग्रह।

भिन्न देवताओं की कल्पना होती गई। मूल में थोड़े-से मन्त्र बने थे, तब तक यह अनुशासन चलता रहा कि जिस रोग या औषधि का कोई नियत मन्त्र नहीं है, वहां गायत्री मन्त्र ही प्रयोग करना चाहिए।

सामान्य रूप से तन्त्र-आगम के देवता शिव और गौरी हैं। तान्त्रिकों ने इस शरीर का गम्भीर अध्ययन किया। योगदर्शन के राजयोग के समकक्ष हठयोग की एक नयी प्रक्रिया का आविष्कार इन्हीं लोगों ने किया। योग की चार शैलियां आविष्कृत हुईं—

(1) मन्त्रयोग, (2) लययोग, (3) राजयोग, (4) हठयोग। आसन, प्राणायाम, ध्यान और समाधि सब में समान हैं।[2] शेष चार अंगों के बारे में मतभेद है। यम, नियम, प्रत्याहार और धारणा इन चार अंगों को अन्य समुदाय सर्वांश में स्वीकार नहीं करते। कोई चार, कोई छः अंग स्वीकार करते हैं।[1] स्वर्ग में ब्रह्मा, विष्णु, शिव आदि मन्त्रयोग के साधक थे, कृष्ण द्वैपायन आदि लययोग के। दत्तात्रेय (आत्रेय पुनर्वसु) आदि महापुरुषों ने राजयोग की साधना की तथा गोरक्ष, मृकण्ड आदि सिद्धों ने हठयोग का साधन किया। हठयोगी योग के छः अङ्ग ही मानते हैं।

मन्त्र-चिकित्सा में यम, नियम, आसन और प्राणायाम इन चार अङ्गों की सिद्धि ही पर्याप्त होती है। प्रत्याहार की स्थिति आते ही अष्ट सिद्धियां प्राप्त होती हैं; दूसरे का वशीकार इन्हीं आठ में से एक है।[2] मन्त्र-चिकित्सा का उपयोग इन्हीं चार अङ्गों द्वारा सिद्ध होता है इसलिए मन्त्र-शास्त्र आगे के अङ्गों में नहीं जाता। शरीर का आध्यात्मिक मनन करने पर मन्त्रशास्त्रियों को जो सबसे महत्त्वपूर्ण तत्त्व मिला, वह ध्वनि है।

ध्वनि पर वैदिक युग के अनुसन्धान ऋग्वेद में मौजूद थे। ध्वनि का देवता शब्द है। ऋग्वेद में उसे 'वाक्' शब्द से बोधित किया है और उसकी आकृति की कल्पना ऋषभ के रूप में की गयी है। उसके चार सींग हैं: नाम, आख्यात, उपसर्ग, ओर निपात। तीन पैर हैं–भूत, भविष्य, वर्तमान। दो शिर हैं–प्रकृति और प्रत्यय। सात हाथ हैं वे सात विभक्तियां। तीन खूंटियों से बंधा है: उरस् कण्ठ और शिर में। यह वृषभ इस मानव-शरीर में निहित है। यह शून्य आकाश में ध्वनि करता है इसीलिए वृषभ है और संपूर्ण रूप, रस, गन्ध, स्पर्श आदि इन्द्रियों के विषयों से महान् है, इसलिए–महादेव।[3] मन्त्र-

---

1 मन्त्रयोगो लयश्चैव राजयोगो हठस्तथा।
योगश्चतुर्विधः प्रोक्तो योगिभिस्तत्व दर्शिभिः॥—I शारङ्गधर पद्धति श्लो० 4347

2. अष्टष्टावानियोगस्य यमो नियम आसनम्।
प्राणायामः प्रत्याहारो धारणाध्यानतन्मयः॥—शा०प० 4425
अणिमा लघिमा चैव महिमा प्राप्तिरेव च।
प्राकाम्यं च तथेशित्वं वशित्वं च तथा परम्॥
यत्व कामानसायित्वं गुणानेतर स्वयेतरन्।
अपनोत्यष्ठ खनायात्पर निर्वाण सूचकम्॥—शा० प० 4542-43

3. चत्वारिश्रृंङ्गाः त्रयोऽस्य पादा द्वैशीर्षे सप्त हस्तासो अस्य।
त्रिधाबद्धो वृषभो रोरवीति महोदेवो मर्त्यां आविवेश॥—ऋग्वेद,

शास्त्रियों ने शायद इसीलिए अपना प्रमुख देवता महादेव या शिव को स्थिर किया।

तान्त्रिकों ने शरीर में होनी वाली क्रियाओं की अनेक जानकारियां प्राप्त कीं। शब्द-आगम पर वे इतना विचार न करते यदि इस वेदमन्त्र में 'त्रिधा बद्धः' न होता। शरीर के तन्त्र में हृदय, कण्ठ और शिर में शब्द के व्यापार का विवेचन करने की प्रेरणा यह मन्त्र ही देता है। यह विवेचन ही मन्त्र-चिकित्सा का प्रेरक बना। हृदय, कण्ठ और शिर यही तीन चेतना के केन्द्र हैं। शब्द इन्हीं से अभिव्यक्त होता है। इसीलिए शब्द-चैतन्य पर उन लोगों का ध्यान जाना स्वाभाविक था। तान्त्रिकों ने लिखा कि शब्द-रूप चित्-ब्रह्म के दो रूप हैं[1]—(1) शब्द-ब्रह्म, (2) पर-ब्रह्म। जो शब्द-ब्रह्म को पहचान गया, वह परब्रह्म को तुरन्त पहचान लेगा।[2] इस प्रकार शब्द-ब्रह्म का वशीकार ही चेतना का वशीकरण है। बड़ी-से-बड़ी चेतना का वशीकार करने के लिए शाब्दी चेतना का वशीकार करने की दिशा में तान्त्रिकों ने लाखों प्रयोग खोज निकाले, किन्तु इसके लिए संगीत-शास्त्र की भांति उन्हें अनेक पारिभाषिक संज्ञाएँ बनानी पड़ीं। इन्हीं प्रतीकों ने चिकित्सा-मंत्रों को जन्म दिया और अनेक चमत्कारों को भी।

शब्द की चार अवस्थाएँ हैं—(1) परा, (2) पश्यन्ती, (3) मध्यमा, (4) वैखरी। पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी के क्रमशः प्रतीक होते हैं अ-उ–म्। परा का प्रतीक नहीं होता। हृदय में पश्यन्ती, शिर में मध्यमा और कण्ठ में वैखरी होती है। एक से दूसरी उत्तरोत्तर अधिक बलवती होती हैं। वैखरी श्रवण के क्षेत्र का वशीकरण है। संगीत उसी में आता है। मध्यमा मन का वशीकरण है, पश्यन्ती ध्यान के क्षेत्र का वशीकरण एवं परा सारे ब्रह्माण्ड का वशीकरण है।[2]

ध्वनि की शक्ति से पशु-पक्षी वश में किये जाते हैं। सांप-जैसा भयानक विषधर ध्वनि की राग-रागिनियों से इतना बंध जाता है कि अपना उग्रस्वभाव छोड़कर आक्रमण करना और काटना भूल जाता है। हिरण, शेर, चीता और भालू आदि प्राणियों की भी यही दशा है। कहते हैं सन्त हरिदास के शिष्य बैजू बावरा के संगीत में यह बल प्रत्यक्ष था कि जब वह गाता, सैकड़ों पशु-पक्षी उसके चारों ओर इकट्ठे हो जाते। हम प्रेम की भाषा बोलते हैं, तो दूसरों में प्रेम भर जाता है, और द्वेष की भाषा से द्वेष। शास्त्रकारों ने लिखा है दीपक राग गाते-गाते गायक के चारों ओर के वातावरण में आग की लपटें प्रदीप्त हो उठती हैं। जैजैवन्ती का राग जब वातावरण में घुल जाता है, वियोग और विप्रलम्भ के भाव सारे श्रोताओं में हठात् भर जाते हैं। यदि भावनाओं का अभियान शब्द द्वारा नहीं है, तो यह सब कैसे होता ?

शब्द की शक्तियां और कुछ नहीं हैं, वे वक्ता के भावों की प्रेरणा ही तो हैं। किन्तु उन प्रेरणाओं का माध्यम केवल शब्द है। स्थूल शब्द (वैखरी वाणी) जितना प्रभाव करता है, सूक्ष्म शब्द (मध्यमा और पश्यन्ती वाणी) उससे कहीं अधिक

1. द्वैवाव ब्रह्मणो रूपे शब्दब्रह्म परं च यत्।
   शब्दे ब्रह्मणि निष्णातो परं ब्रह्माधि गच्छति ॥
2. योग दर्शनसमाधिपाद 42-43

प्रभावशाली हैं। यदि मन्त्र-वैद्य में मनोबल हो तो वह दूसरों को विवश कर सकता है कि वे लोग वही कहें, जो वह चाहता है, वही करें जो वह करवाना चाहता है। बड़े-बड़े महापुरुषों को देखिये, उनके भाषण जनता पर शासन करते हैं। इसीलिए कि उनकी साधनाओं के कारण उनका मनोबल ऊंचा है। एक वे भी महापुरुष होते हैं जो बोलते नहीं, फिर भी शासन करते हैं। उनके मनोमय और प्राणमय परिवेश दोनों सबल हैं। वहां भी सूक्ष्म शब्द ही काम करता है।

शब्द का केन्द्र चेतन आत्मा ही है। आत्मा की प्रेरणा से मन सक्रिय होता है। वही शरीरगत अग्नि और वायु को सक्रिय करके शब्द का उच्चारण प्रस्तुत करता है।[1] शब्द वाच्यार्थ प्रस्तुत करता है, उसके अनन्तर लक्षणा, व्यञ्जना और ध्वनि द्वारा प्रतीत होने वाले अर्थ आत्मा की इच्छा से ही प्रकट होते हैं। वे अर्थ भी दूसरों को वक्ता की शक्ति के अनुसार ही प्रभावित करते हैं। रंगमंच पर दमयन्ती के वियोग में नल और सीता के वियोग में राम की भूमिका अदा करने वाला व्यक्ति जिस बल से वियोग प्रस्तुत करता है, श्रोता उसी के अनुसार वियोग का अनुभव करते हैं—यहां तक कि रोने लगते हैं। पराक्रम की भाषा दूसरों में पराक्रम के भाव भर देती है। मन्त्र की शक्ति भी ऐसी ही है। शक्ति को जाग्रत् करने की आवश्यकता है।[2] तन्त्रशास्त्र में अनेक सिद्धों ने इन शक्तियों को जाग्रत् करने की युक्तियां प्रतिपादित की हैं।

नाग शक्ति के उदय के साथ इस दिशा में बहुत अनुसन्धान हुए। पाणिनि ने महान् व्याकरण लिखा और उनके मूल प्रत्याहारों को 'माहेश्वराणि सूत्राणि' कहकर प्रस्तुत किया। उन्होंने ध्वनि और उससे बनने वाले अक्षरों का शरीर में स्थान-निर्देश किया। ध्वनि को अक्षरों में विकसित करने वाले आठ अवयव हैं—(1) छाती, (2) कण्ठ, (3) शिर, (4) जिह्वामूल, (5) दाँत, (6) नाक, (7) ओष्ठ, (8) तालु। आठों स्थान अक्षर-निर्माण में क्या-क्या योग देते हैं, उनसे अभीष्ट भाव को प्रभावित रखने के लिए कितना सावधान होना चाहिए, यह सब आचार्य पाणिनि ने लिखकर कहा कि यदि शब्द का उच्चारण ठीक-ठीक हो, तो शक्ति का बहुत बड़ा अनुशासन प्राप्त होता है[3]—और उसके दुरुपयोग से पतन भी। आठों अवयवों को शरीर में रखने का उत्तरदायित्व भी मन्त्र-चिकित्सा पर ही होता है। उसके लिए अनेक साधन मन्त्र-शास्त्रियों ने तन्त्रग्रन्थों में कहे हैं।

---

1. आत्मा बुद्ध्या समेत्यर्थान् मनोयुङ्क्ते विवक्षया।
   मनःकायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम्॥
   मारुतस्तूरसि चरन्मन्द्रं जनयति स्वरम्॥ —पाणिनीय शिक्षा, 6—7
2. नरत्वं दुर्लभं लोके विद्या तत्र सुदुर्लभा।
   कवित्वं दुर्लभं तत्र शक्तिस्तत्र सुदुर्लभा॥—अग्निपुराण
3. एवं वर्णा प्रयोक्तव्या नाव्यक्ता न च पीडिताः।
   सम्यग्वर्णप्रयोगेण ब्रह्मलोके महीयते॥—पाणिनि० 31
   कुतीर्थादागतं दग्धमपवर्णं च भक्षितम्।
   न तस्य पाठे मोक्षोऽस्ति पापाहेरिव किल्विषात्॥—पा० शि०, 50

वस्तुतः मन और शरीर एक-दूसरे से इतने संलग्न हैं कि एक-दूसरे के पूरक बन जाते हैं। मन की भावना को मन तो अदृष्ट रूप से प्रस्तुत करता है, किन्तु उसे आंखें दृष्टिगम्य बना देती हैं। महाकवि देव ने इसी स्थिति को सुन्दरता से प्रस्तुत किया है :

साँवरो सुन्दर रूप विसाल,
अनूप रसाल बड़े-बड़े नैन री।
या बन आवति गैयनि लै नित,
'देव' दिखैयन के चित चैन री।
मैं हू सुनी सु कहा कहौं लाज की,
बात सखी कहूं तू कहिये न री।
वा जग-वंचक देखे विना
दुखिया अँखियाँ नहिं रंचक चैन री॥

कविता कुछ और नहीं है, मानसिक शक्ति के व्यापार का चित्रण ही तो है। जो कविता जितनी ही प्रभावोत्पादक है, वह उतने ही उन्नत मनोबल को प्रस्तुत करती है, जिसमें श्रोता न केवल संसार को, प्रत्युत स्वयं को भी भूल जाता है। यही रस है, यही समाधि है और यही ब्रह्मानन्द ! मन्त्र इसी स्थिति का प्रयोजक है।

उरस् (हृदय), कण्ठ (स्वर) तथा शिर (बुद्धि) को ही हम भाव, स्वर और विवेक कह सकते हैं। हमारे अन्दर से आनेवाली ध्वनि इन तीनों तत्त्वों को लेकर बाहर आती है। इसलिए जो भाव, स्वर और विवेक हमारे अन्दर हैं वही दूसरों में भरने लगता है। यदि हम दूसरों से अधिक बलवान् भाव, स्वर और विवेक अभिव्यक्त करें तो निश्चय ही हम उन्हें जीत लेंगे। मन्त्र-वैद्य को वह बल प्राप्त होना चाहिए, अन्यथा वह दूसरों को प्रभावित नहीं कर सकेगा। हम पीछे लिख आये हैं कि प्रत्येक अक्षर का एक स्थान और प्रयत्न शरीर के एक नियत अङ्ग से होता है। उस अङ्ग की स्वस्थता ही मन्त्र के स्वस्थ उच्चारण का आधार है। पाणिनि ने कहा है कि अशुद्ध उच्चारण 'वाग्वज्र'—'वाणी से बना हुआ हथियार' है जो बोलने वाले की ही हत्या कर सकता है।[1] इसलिए मंत्र जितना शुद्ध होता है, उतना ही प्रभावशाली। शास्त्रकारों ने कहा है—"प्रत्येक अक्षर मन्त्र ही है।"[2] वह जादू का प्रभाव कर सकता है—तुम बोलना सीखो।

आपके मन में रोगी से धन खींचने की भावना है और मन्त्र विष-निवारण के लिए प्रयोग किया करें, तो विष निवृत्त नहीं होगा। इसलिए मन्त्र-वैद्य को निष्ठावान् होना चाहिए। विश्वासघाती, दम्भी, लोलुप और मूर्ख वैद्यमानी का मन्त्र निरर्थक है। ऋग्वेद में मन्त्रशक्ति और मनोभावों के प्रभाव पर गम्भीर विचार हैं—

"एक-सी आंखें, नाक और कान रहते भी लोगों का प्रभाव भिन्न है, क्यों ?

1. स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति।—पा०शि० 52
2. "नामन्त्रमक्षरं किञ्चित् प्रयोक्ता एव दुर्लभः।"

क्योंकि उनका मनोबल भिन्न-भिन्न है।"[1]

"चितवन वह औरै कछू, जेहि बस होत सुजान।"

इसलिए मन्त्र-बल बढ़ाने के लिए न केवल स्वस्थ शरीर ही चाहिए, वरन् स्वस्थ मन की भी आवश्यकता है—और स्वस्थ प्राणशक्ति की भी। फिर आपका मन्त्र कभी निरर्थक नहीं जायगा। यही पुराने मनीषियों ने कहा था :

"ऋषीणां पुनराद्यानां वाचमर्थोऽनुधावति।"

यदि तत्त्व-दृष्टि या मनोबल तुम्हें प्राप्त हो जांय तो तुम जो कहोगे वही हो जायगा। 'महात्मा' और 'दुरात्मा' की परिभाषा का आधार ही यह है—जिनके मन, वाणी और कर्म में एकता है वे महात्मा; और जिनके मन, वाणी और कर्म में भेद है वे दुरात्मा।[2] अतएव महात्मा का मन्त्र ही कार्यकारी होता है, दुरात्मा का नहीं। वह चितवन पराभूत होगी, जिसके पीछे वासना है।

प्राणि-विज्ञान की खोज है कि प्रत्येक प्राणी के चारों ओर ३-४ फीट तक का वातावरण उसके शरीर का परिवेश होता है और ६-१० फीट तक मनोमय। इस परिवेश का प्रभाव दूसरे प्राणी पर होता है। कितने ही अन्धे व्यक्ति ऐसे देखे जाते हैं जो 3-4 फीट दूरी पर बैठे हुए व्यक्ति के वातावरण का अनुभव कर लेते हैं, और बता देते हैं कि स्त्री बैठी है या पुरुष। "वे ही सज्जन आज फिर आये जो कल आये थे।" और उनमें अपना भाव जाग्रत् कर देते हैं। यह प्रारम्भिक सिद्धि है। उच्च कोटि पर पहुंचे साधक के सामने पशु, पक्षी, सर्प आदि भी प्रभावित होते देखे जाते हैं। इसलिए मन्त्र न केवल मनुष्यों पर ही, प्रत्युत सारे प्राणियों पर वशीकार करता है। जिसका शारीरिक और मानसिक बल ऊंचा है, उसके निवास-स्थान का वातावरण तक उसके बल से प्रभावित रहता है। यदि उस महापुरुष की अनुपस्थिति में भी आप उसके निवास-स्थान पर जायें, तो आपके मन पर उसका वशीकरण होगा। मन्दिर में जाइये, भक्ति उमड़ती है। कसाईखाने में भय होता है, और अदालतों में धूर्तता। क्योंकि वैसे ही भाव वाले व्यक्तियों का मनोभाव उस वातावरण को प्रभावित किये रहता है।

अब रेडियो और वायरलैस द्वारा हम नित्य देखते हैं कि सुदूर देश-स्थित एक व्यक्ति जिन भावों को वातावरण में विखेरता है, सम्पूर्ण विश्व उससे प्रभावित होता है। क्योंकि परमाणु-शक्ति द्वारा वे भाव प्रतिक्षण वातावरण में विखेरे जा रहे हैं और टेलीविजन कहता है कि हमारे भावों के साथ हमारी आकृति भी वातारण को व्याप्त किये रहती है। साधना की गहराई में मन्त्रशास्त्री को इन सभी वास्तविकताओं का ज्ञान होता है। मंत्र-चिकित्सकों ने यह विज्ञान वैदिक काल में खोज लिया था, और उसका विकास ही पीछे से आयुर्वेदशास्त्र में प्राणाचार्यों ने किया।

---

1. अक्षरावन्तः कर्णवन्तः सखायो मनोजवेष्वसमा बभूवुः॥—ऋग्वेद
2. मनस्यन्यद् वचस्यन्यत् कर्मण्यन्यद्दुरात्मनाम्।
   मनस्येकं वचस्येकं कर्मण्येकं महात्मनाम्॥

ऊपर मंत्र के प्रभाव की वात कही गई है। हम यह भी देख चुके है कि भाव शब्द में घुल जाते हैं, और शब्द के माध्यम से वे विश्व में व्याप्त होते हैं। शब्द एक समुद्र की भांति ध्वनि-रूप से आकाश में भरा है। प्रत्येक गति ध्वनि में कम्पन उत्पन्न करती है। प्रत्येक कम्पन से जो तरंग उठती है वही वर्णमाला है—और वे वर्ण ही मिलकर शब्द। फिर ये शब्द भापा का निर्माण करते हैं। अक्षरों का विधान मनुष्य ही नहीं, सारे प्राणी अपनी वुद्धि से करते हैं। अक्षरों से शब्द और शब्द से वाक्य भी मनुष्य की रचना है। उनका वाच्य-वाचक भाव भी मनुष्य-समाज का एक व्यावहारिक समझौता है। विद्यालयों में समझौते की यही शर्तें हम वच्चों को पढ़ाते हैं। इसी का नाम शिक्षा, तालीम या एजुकेशन है।

प्रत्येक भापा का समझौता अलग-अलग होता है, परन्तु उससे जो प्रतीति होती है वह अपरिवर्तित सत्य है, जिसे 'ऋत' कहते हैं। पुस्तक, किताव और वुक अलग-अलग अक्षरों से भिन्न-भिन्न शब्दों की रचना करते हैं। किन्तु उनसे प्रतीत होने वाला पदार्थ एक ही है। शब्दों के वदलने से वह नहीं वदलता। इसलिए शब्द किसी अर्थ को वताने के लिए व्यावहारिक संकेत-मात्र हैं। पतंजलि ने इसीलिए कहा था—"पदार्थ की वोधक ध्वनि ही शब्द है।" अर्थ का ज्ञान कराने के उपरान्त शब्द नष्ट नहीं होता। वह पानी की तरंगों की भांति सारे ब्रह्माण्ड में फैल जाता है, और धीरे-धीरे फिर ध्वनि का मूल रूप पा जाता है।

इस प्रकार वाच्य-वाचक सम्वन्ध मनुष्य की इच्छा पर निर्भर है। वह समाज का समझौता है। आज से पचास वर्प पहिले 'हरिजन' शब्द का अर्थ केवल 'भक्त' माना जाता था, किन्तु गांधीजी ने उसका अर्थ 'भंगी' कर दिया। जनता ने स्वीकार कर लिया। अव 'हरिजन' कहने से भंगी का ज्ञान होने लगा। इसी प्रकार मंत्रों की स्थिति भी है।

किसी वड़े अर्थ को छोटे से वाक्य में कहने का नाम मंत्र है। मनन का सार मंत्र है। वैदिक युग की वह साहित्यिक कला थी। किन्तु मंत्र में कही गई वात भी लोगों को वड़ी लगने लगी। लोगों का ज्ञान इतना विकसित हो गया कि उन्हें मन्त्र के लिए संजोये गये वाक्य भी अधिक वड़े लगे। उन्होंने सूत्र वनाये, और सूत्रों का भी संक्षेप करके 'कूट-मंत्र' वना लिये, ताकि वड़े अर्थ को एक दो अक्षरों में ही व्यक्त किया जाय।

देखिये, जगत् की उत्पत्ति और प्रलय के वारे में सैकड़ों मन्त्र वेदों में लिखे गये। किन्तु उन्हें कहने-सुनने के लिए सैकड़ों मिनट तो चाहिए। इसलिए उन भावों को व्यक्त करने के लिए अत्यन्त संक्षेप में कहनेवाले कूट-मन्त्र वनाये गये। उत्पत्ति के लिए 'अ', स्थिति के लिए 'उ' और प्रलय के लिए 'म्'। इस प्रकार यह 'ओम्' एक कूट-मन्त्र वन गया। किसी भी भावात्मक प्रकृति से वनी वस्तु के छ: विकार या परिवर्तन होते हैं—(1) जन्म, (2) स्थिति, (3) परिवर्तन, (4) संवर्धन, (5) क्षीणता और (6) विनाश।[1] इन छहों के दो-दो भेदों को क्रमश: 'अ-उ-म्' में अन्तर्भाव कर लें तो सृष्टि

---

1. निरुक्त, नैघण्टुक०।

का सारा इतिहास आ जायगा। चारों वेदों के मंत्र इस कूट-मन्त्र में अन्तर्भूत हो गये। यह विज्ञान भी है, किन्तु यह विवेचन विषयान्तर हो जायगा। परा पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी भी अ-उ-म् में ही समाविष्ट हैं। अ वैखरी है, उ मध्यमा, और म् पश्यन्ती तथा परा भी।

वस्तुत: सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का विश्लेषण अ-उ-म् में समाविष्ट है। पीछे कहा गया ब्रह्माण्ड और पिण्ड (शरीर) का वैज्ञानिक निर्माण एक सा-ही है। इसलिए 'अ' का अर्थ जन्म, 'उ' का जीवन, और 'म्' का मृत्यु भी होता है। इन्हें आदि, मध्य और अवसान भी कह सकते हैं। म् हलन्त है, क्योंकि उसके आगे प्रवाह (Current) नहीं रहता। इसी प्रकार शरीर के वैज्ञानिक विश्लेषण के सैकड़ों मन्त्र वेदों में मिलते हैं। उनका भी कूट-मन्त्र बनाया गया—भू:, भुव:, स्व:। भू: माने प्राण, भुव: माने अपान, और स्व: माने व्यान। प्राण, अपान और व्यान द्वारा ही शरीर, मन और प्राण का संचालन होता है। हृदय को प्राण चलाता है। आंतों को अपान और शरीर की अन्य क्रियायें व्यान से होती हैं। इसलिए 'भू:, भुव: और स्व:', इस काया के कूट-मंत्र हैं। यह निगम-काल तक परिपाटी रही थी।

आगमों का विकास होने पर मंत्र की इस प्रक्रिया में तेजी से विकास हुआ। हम पीछे तन्त्रशास्त्र के पांच सम्प्रदायों का उल्लेख कर आये हैं। सभी का विकास हुआ अवश्य किन्तु शैवागम का विकास सबसे अधिक हुआ। इसलिए तन्त्र-शास्त्र के देवता ही शिव और गौरी बन गये। शिव और गौरी एक ही तत्त्व के दो रूप हैं। इसी कारण दोनों का समन्वित रूप 'श्री' बना। श्री भी एक कूटमंत्र है। शिव+गौरी (शि+री) की समष्टि ही श्री है। इन तांत्रिकों ने शरीर का गहरा विवेचन किया। एक-एक अवयव के देवता कल्पित किये।[1] प्रत्येक सम्प्रदाय ने अपने-अपने देवताओं के अलग-अलग नाम रक्खे और भिन्न-भिन्न कूटमंत्र बनाये, किन्तु सबका भाव एक था—'शक्तिमान् का परिज्ञान'।

इस परिज्ञान के लिए तान्त्रिकों ने नई परिभाषाएँ नये देवता, नये यम और नियम बना डाले। उनके सन्ध्या-वन्दन भी नये। और मन्त्र भी नये। वैदिक परम्परा तो कहने-मात्र को रह गई, अब स्वयं में एक नये परम्परा की स्थापना हुई। उन्होंने भोजन-शयन, आचार-विचार सभी में ऐसी परिपाटी बना दी जो उनकी कल्पनाएं थीं। वैदिकों के साथ रिश्तेदारी बनी रहे इसलिए अपने-आपको वैदिक कहते तो अवश्य थे किन्तु वैदिकों को नीचकोटि का और अपने सम्प्रदायों को उच्च कोटि का कहने लगे।[2]

---

1. शिर:फालगलांसेषु हृदिनाभौ च पृष्ठयो:,
   ब्रह्मा सरस्वती लक्ष्मीरुमेशौ सवितानल: ॥
   शशीत्युदितमष्टाङ्गं षोडशाङ्गमथोच्यते ।—सिद्धान्तशेखर, नित्यकाण्ड 90-91

2. तत्तत्तन्त्रोक्तपूजा तु तन्त्रनिष्ठस्य केवलम् ।
   तन्त्रेषु दीक्षितो मर्त्यो वैदिकं न स्पृशेत्सदा ॥
   वैदिकश्चापि तन्त्रेषुदीक्षितं न स्पृशेत्सदा ।
   …वैदिकी तान्त्रिकी चैव द्विविधा श्रुति कीर्त्तिता ।
   वैदिका: पशव: प्रोक्ता जीवन्मुक्तास्तु तान्त्रिका: ॥
   तान्त्रिकं कर्म कर्त्तव्यं वैदिकं न कदाचन ॥—सिद्धान्त शेखर, प्रस्तावना XI-XII.

ईसा की पांचवीं शताब्दी के बाद इन्हीं तांत्रिक सिद्धों का साम्राज्य समाज पर हो गया। इनमें वैदिक, बौद्ध, जैन, वैष्णव, शैव और अनेक विदेशी शक, हूण तथा यूनानी भी शामिल थे। सिद्ध सम्प्रदाय के प्रारंभिक विकास के बाद उनके पतन की कहानी हम कह चुके हैं।

तन्त्रशास्त्र में मंत्रों के अनेक कूट-मंत्र हैं। 'वौपट्, भक्ति परक है। 'हुंफट्' रोग को पछाड़ने के लिए। इसी प्रकार ह्रीं, क्ली, आदि कूट भिन्न-अर्थों के बोधक हैं। तान्त्रिक इन कूटमंत्रों की शिक्षा और दीक्षा सबको नहीं देते थे। जो उनका शिष्य बनकर उनकी सेवा सुश्रूषा करे उसे ही उनका मन्त्र प्रकट किया जाता रहा। जो भी हो, ईसा की 5वीं शताब्दी से लेकर 12वीं शती तक भारत में सिद्ध सम्प्रदाय का शासन चलता ही रहा। श्रीहर्ष की रत्नावली भवभूति के उत्तररामचरित, बाण की कादम्बरी में हम सिद्धादेश और सिद्धाश्रमों का बोलबाला देखते हैं। इन आश्रमों में भले और बुरे सभी काम हुए। रस-चिकित्सा और मन्त्र-चिकित्सा उन कामों में हैं जिन्हें हम भला काम ही कहेंगे।

सिद्ध लोग शिष्य को कुछ आचार-व्रत-पालन का आदेश देते थे——शिवलिङ्ग में आस्था, गो-सेवा[1], गुरुभक्ति और मन्त्र-गोपन ये उनके प्रमुख निर्देश थे। वे शक्ति और शिव को अभिन्न तत्त्व मानते थे और शिष्य को मन्त्र-सिद्धि के लिए उन्हीं की उपासना करने का आदेश देते थे। अज्ञानी पुरुष-पशु, अज्ञान-पाश और ज्ञानी को पशुपति कहते जिस प्रकार मणि, मन्त्र और औषधियों के प्रतिरोध निवारण से अग्नि में उष्णता और प्रकाश धधक उठते हैं, जिस प्रकार पारद से अनुविद्ध होकर तांबा सोना हो जाता है, उसी प्रकार गुरु-दीक्षा पाकर शिष्य में छिपी हुई शक्ति का आविर्भाव होता है।[2] इन सिद्धों के सहस्रों क्या, लाखों सम्प्रदाय देश भर में फैले हुए थे और उनके करोड़ों तन्त्र शास्त्र-प्रचलित हो गये थे। अहिच्छत्रा, गोविन्दाण और मामर्दक——ये इनके प्राचीन केन्द्र थे। उनका विचार है कि ये क्रमशः कौशिक, दधीचि और दुर्वासा ने स्थापित किये थे। स्थान और भी थे, किन्तु प्रमुख यही थे। अहिच्छत्रा जिला बरेली में है। शेष दो का ज्ञान अभी धूमिल है।

दूसरे दार्शनिकों का ब्रह्म तान्त्रिकों का शिव है और माया तान्त्रिकों की शक्ति। शक्ति का प्रवाह अध्वा कहा जाता है। वे छः हैं——वर्णाध्वा, पदाध्वा, मन्त्राध्वा, भुवनाध्वा, तत्त्वाध्वा और कलाध्वा। इनमें प्रथम तीन शब्दात्मक हैं, शेष तीन अर्थात्मक। वर्णों से पद व्याप्त हैं——पदों से मन्त्र, मन्त्रों से भुवन, भुवनों से तत्त्व और तत्त्व से कला व्याप्त है। कला शिव से व्याप्त है। शिव स्वयं सर्वव्यापक है, वह किसी से आवृत नहीं

---

1. गावो मामग्रतः सन्तु गावो मे सन्तु पृष्ठतः।
गावो मे हृदये सन्तु गवां मध्ये वसाम्यहम्॥—सिद्धान्तसंग्रह, नित्य० 102-103
गो-सेवा का यही मंत्र है।

2. विद्यागुरुशिवानां च यस्तु भेदं प्रपश्यति।
स नरः सुचिरं घोरे नरके पच्यते ध्रुवम्॥—सिद्धान्तशेखर, नैमित्तिक 74-75

होता। मन्त्रों द्वारा शिव की शक्ति का उद्बोधन किया जाता है। शक्ति से रोग, शोक, भय आदि निवृत्त होते हैं। सामान्य मन्त्र 'ॐ नमः शिवाय' पांच अक्षरों का है।

(1) नमः, (2) स्वाहा, (3) वषट्, (4) वौषट्, (5) हुंफट्—ये पांच मन्त्रों की जातियां हैं। इनमें 'हुंफट्' क्रूर जाति है, शेष चार शान्त जातियां हैं। प्रत्येक मन्त्र के अन्त में 'नमः' पद का प्रयोग होना चाहिए। देव-तर्पण, नैवेद्य और पूजा आदि में 'स्वाहा'। शान्ति-होम, भूत, राक्षस, नाग आदि के तर्पण में 'वषट्'। विद्याधर, यक्ष, अप्सरा, मनुष्यों के तर्पण में 'वौषट्'। तथा विघ्न निवारण, शोधन, मारण आदि में 'हुं-फट्' का प्रयोग किया जाता है—कहीं-कहीं अकेले हुं का भी। इसे अस्त्र-मन्त्र कहते हैं। गुरुद्वारा शिष्य को दीक्षा देने का नाम गर्भाधान था।[1]

मन्त्रों में अक्षरों का विज्ञान बहुत है। सम्पूर्ण अक्षरों का विवेचन यहां संभव भी नहीं। किन्तु मंत्र-चिकित्सा में एक शैली का विकास वैदिक काल के अन्त तक हो चुका था। पीछे का विकास तो साम्प्रदायिक विकासों का इतिहास मात्र है। वैज्ञानिक तत्त्व केवल यह है कि इन्द्रियों की वृत्ति को मन के वशीकरण से एकाग्र करने के बाद शरीर की सुधि नहीं रहती।[2] मंत्र के प्रयोग से रोगी के मन को एकाग्र करके हम उसके कष्ट को निवारण कर सकते हैं। किन्तु इसके लिए मंत्रवैद्य में साधना होनी आवश्यक है।

बहुधा यह होता है कि मंत्रवैद्य के प्रभाव से रोगी तब तक कष्ट भूला रहता है जब तक वह सामने है; उसके हटते ही रोगी की मनोवृत्तियां फिर कष्ट की ओर लौट आती हैं। यह कमजोर मंत्रवैद्य के कारण होता है। उस दशा में मंत्र का तन्त्र बनाकर रोगी के शरीर में बांध दिया जाता है। उच्च मनोबल हीन मनोबल को भी उच्चता प्रदान करता है। इसके लिए कूटमंत्रों से तन्त्र लिखने की परिपाटी प्रचलित हुई। बड़े-बड़े मन्दिरों और चैत्यों में अनेक मांगलिक यन्त्र पत्थरों पर उत्कीर्ण किये हुए आज तक प्राप्त होते हैं। देखिये—
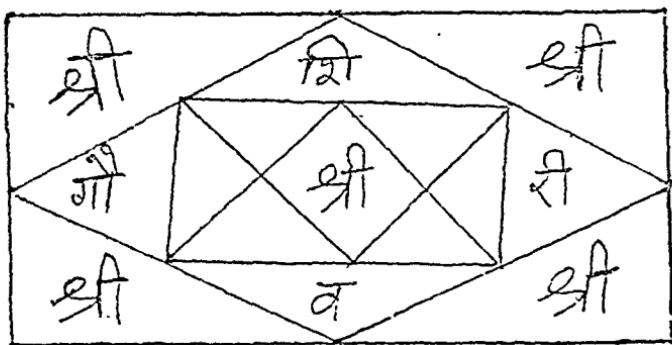
यह श्री-यन्त्र हो गया। फिर इसे मनोबल से प्रभावशाली बनाइये, ताकि यह काम करे। श्री-यन्त्र आरोग्य और सुख-सम्पत्ति का साधक होना चाहिए। यदि मंत्रवैद्य

1. सिद्धान्तशेखर, नैमित्तिक काण्ड में अध्वोत्पत्ति एवं दीक्षा-विधि देखिये।
2. प्रत्ययैकतानता ध्यानम्।—योग०

में मनोवल है तो वह साधक अवश्य होगा। जिसे आप यह मंत्र वांध देंगे, उस पर आपका मनोवल काम करेगा। यन्त्र तो केवल उस व्यक्ति को मानसिक प्रेरणा देगा। यह प्रक्रिया वहुत पुरानी चली आ रही थी, आगमाचार्यों ने उसमें विकास किया है। उपाकर्म (श्रावणी) का 'रक्षा-सूत्र' ऐसा ही यन्त्र था जिसे गुरु शिष्य के हाथ में वांध देता था।

आचार्य पाणिनि ने लिखा था कि मंत्र में स्वर और वर्ण का भी महत्त्व है। जिस मन्त्र के उच्चारण और लेखन में स्वर और वर्ण अनुचित प्रयोग किये जायं, वह वज्र की भांति उल्टी चोट कर सकता। रोगी पर प्रभाव न करे और मंत्र वैद्य को ही मार दे।[1] पाणिनि ने इसे शांकरी-विद्या लिखा है। वाग्भट के युग तक यह विज्ञान भारत में जीवित था। वाग्भट ने लिखा है कि शरीर के रोगों के लिए औषधि-विधान करते हुए वैद्य के व्यक्तित्व की चिन्ता नहीं। वात,-पित्त कफ को तैल, घी और मधु शान्त करते ही हैं, चाहे देवता विधान करे या असुर। किन्तु मंत्र के प्रयोग में मंत्र का ही प्रभाव कार्य नहीं करता, मंत्र-वैद्य के व्यक्तित्व का प्रभाव भी कार्य करता है।[2]

चरक, सुश्रुत और कश्यप ने भी कहीं-कहीं मंत्र लिखे हैं, किन्तु वे प्रतीकात्मक नहीं हैं। वे प्रचलित भाषा में मनोकामनाएँ हैं। औषधि निर्माण करके रोगी को देते समय का मंत्र देखिये :—

रसायनमिवर्षीणां देवानाममृतं यथा।
सुधेवोत्तम नागानां भैषज्यमिदमस्तु ते॥ (चरक)

परन्तु सिद्धों ने भावनाओं के प्रतीक निश्चित किये। यद्यपि साम-गायनों में वैसे प्रतीक पुराने चले आ रहे थे किन्तु मंत्रों के प्रतीक इन लोगों ने जैसे स्थिर किये, वैसे प्राचीन नहीं थे। शार्ङ्गधर-पद्धति में अनेक मंत्र विष-निवारण तथा वाल-ग्रहशान्ति के लिए दिये हैं, जिनका साहित्यिक अर्थ कुछ नहीं है। वे वैज्ञानिक गुरु-मंत्र (Formulas) हैं। यही नहीं, उन्होंने अन्य नाम भी ऐसे रहस्यपूर्ण रखे जिन्हें सामान्य व्यक्ति (Lay man) नहीं समझ सकता। गुरुद्वारा शिष्य की दीक्षाको 'गर्भाधान' शिक्षा को 'मैथुन'। दीक्षान्त को 'प्रसव', इडा पिंगला और सुषुम्ना के वीच कुण्डलिनी को 'वाल-विधवा। कुण्डलिनी के वशीकार को वलत्कार।[3] और ध्यानयोग को सुरत। इस प्रकार हठयोग में हेय को उपादेय परिभाषायें वनाई गई। और धीरे-धीरे 'मन्त्रयान' नाम से एक स्वतन्त्र सम्प्रदाय ही वन गया। उनकी परिभाषाओं को समझने के लिए उनकी शरण जाना आवश्यक हो गया। किन्तु इन्हीं परिभाषाओं ने उन्हें पथभ्रष्ट भी किया, क्योंकि अल्प शिक्षित लोग उनकी गम्भीरता को नहीं समझे।

---

1. मन्त्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह।
   स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतो ऽपराधात्॥—पा० शि० 52।
2. वाते पित्ते श्लेष्मशान्तौ च पथ्यं तैलं सर्पिर्माक्षिकं च क्रमेण।
   एतद् ब्रह्मा भाषते ब्रह्मजो वा निर्मन्त्रे वक्तृ भेदोक्ति शक्तिः॥—अ० हृ०, उत्त र०
3. गङ्गा यमुनयोर्मध्ये बाल-रण्डां तपस्विनीम्।
   बलात्कारेण गृह्णीयात्तद्धि परमं तपः॥—बोधसार।

तो भी मंत्र विज्ञान अपनी जगह कायम रहा। वह जिन मनोवैज्ञानिक तथ्यों पर विकसित हुआ वे शाश्वत हैं। सत्त्व,-रजस-तमस् के समीकरण के राजयोग, और मंत्र-योग पद्धतियों में भी प्रचुर विकास हुआ। यह सभी साधनाओं की स्वीकृति है कि प्रत्याहार की सिद्धि होने पर मंत्र-वैद्य दूसरों को प्रभावित करने में समर्थ हो जाता है।[1] हम पीछे योग दर्शन का सिद्धान्त लिख चुके हैं। और सुश्रुत का विचार भी, जिसमें कहा गया है कि जप, नियम, होम द्वारा मन और प्राण की एकाग्रता मन्त्र वैद्य के लिये अनिवार्य हैं। Personal magnetism में प्रोफेसर डूमोण्ड के परीक्षण भी इसी मार्ग का समर्थन करते हैं।

वैदिक मंत्रों में ऋषि, छन्द, देवता और विनियोग ये चार बातें प्रत्येक मंत्र के साथ जुड़ी हुई थीं। इसलिए उससे एक व्यवस्था चलती रही। संहिता-युग में रोगी के लिये भी उन्हीं वेदों के मंत्र चुन लिये गये जो यज्ञानुष्ठान में काम आते थे। जहां कहीं नियत मंत्र न हो वहां त्रिपदा-गायत्री मंत्र का प्रयोग विहित था। परन्तु इन तान्त्रिक मंत्रों में ऐसा कोई नियम या व्यवस्था नहीं दिखाई देती। प्रत्येक मंत्र का देवता शिव और शक्ति है। ऋषि, छन्द और विनियोग की व्यवस्था का कोई नियम नहीं मिलता। जो गुरु कहे वही नियम है।

योगशास्त्र में शरीर के भीतर नौ चक्र कहे गये हैं। उनके नाम देखिये--चक्रों का क्रम अपान की ओर से चलता है।

1. ब्रह्मचक्र 2. स्वाधिष्ठान चक्र 3. नाभिचक्र 4. हृदयचक्र 5. कण्ठचक्र 6. तालु चक्र 7. भ्रू चक्र 8. ब्रह्मरन्ध्र और 9. ब्रह्मचक्र

गुदा के प्रथम चक्र में प्राणशक्ति केन्द्रित करने से प्रकाश आता है। द्वितीय स्वाधिष्ठान चक्र है जो अपान मार्ग (गुदा) से कुछ ऊपर होता है। इसे ही उड्डीयान कहते हैं। इस केन्द्र पर प्राण-शक्ति केन्द्रित करने से प्राणियों का आकर्षण तुम्हारी ओर होगा तीसरा नाभिचक्र है। इसमें केन्द्रित होने पर विद्युत जैसा प्रकाश ही दीखता है तथा आठ सिद्धियां प्राप्त होती हैं। और चौथा हृदय चक्र है, इसमें प्राण केन्द्रित करने वाले साधक के वंश में संसार के सारे प्राणी हो ही जाते हैं।[2] मंत्र सिद्ध की यही स्थिति है।

किन्तु शब्द-साधन भी निम्नकोटि के मंत्र वैद्य अपनाते हैं। हृदयचक्र तक सिद्धि प्राप्त मंत्र वैद्य को मंत्र की आवश्यकता ही नहीं है। उसकी दृष्टि और स्पर्श मात्र से अभीष्ट प्रभाव दूसरों पर अवश्य होगा। मन्त्र कुछ स्थूल उपाय है, उच्च साधना के

---

1. रजसा तमसो वृत्तिं सत्वेन रजसस्तथा।
संछाद्य निर्मले सत्वे स्थितो युञ्जीत योगवित्।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यः प्राणदीन्मत एवच।
निगृह्यं समवायेन प्रत्याहारमुपक्रमेत्॥ —शार्ङ्गधर प० 4463/64

2 चतुर्थं हृदयेचक्रं विज्ञेय तदधोमुखम।
ज्योति रूपं च तन्मध्ये हंसंध्याये त्प्रयन्नतः॥
तं ध्यायतो जगत्सर्वं वश्यं स्यान्नात्र सशय.॥ —शार्ङ्गधर पद्धति, लययोग 4335

बाद उसकी आवश्यकता नहीं रहती ।[1]

शरीर में वात-पित्त-कफ की भांति मन के सत्त्व, रजस् और तमस् दोष हैं । तंत्र शास्त्र में मंत्र के अक्षरों का इस दृष्टि से भी विश्लेषण है ।[2] हम पीछे कह आये हैं अ, उ, म् सत्त्व, रजस् और तमस् के प्रतीक हैं, और ज्ञान स्वयं अग्नि है । जो प्रकट में अग्नि के गुण हैं वही अन्तरंग में ज्ञान के गुण । शरीर में पांच ज्ञानेन्द्रियां और पांच कर्मेन्द्रियां होती हैं । ज्ञानेन्द्रियां उच्च और कर्मेन्द्रियां निम्न स्तर पर काम करती हैं । कर्मेन्द्रियां ज्ञान का वितरण ज्ञानेन्द्रियों द्वारा ही करती हैं । वर्णमाला के सम्पूर्ण अक्षर इनके सूक्ष्म मार्ग हैं । जिन्हें तन्त्रशास्त्र में 'अध्वा' (The line of current) कहा जाता है ।

त कार से न कार तक पांच अक्षरों तथा इनके साथ स्वर-संयोग से जो रूप बनते हैं वे अस्सी हैं । क्योंकि 16 स्वर × 5 वर्ग के अक्षर, इस प्रकार 80 भेद होंगे । ये सब ज्ञानेन्द्रियों के अध्वा हैं और ट से लेकर ण तक कर्मेन्द्रियों के अध्वा । वे भी अस्सी हैं। ज्ञानेन्द्रियां सत्त्व-गुण-प्रधान और कर्मेन्द्रियां रजोगुणप्रधान । एक दो या तीन तन्मात्राओं वाले जीव तम:प्रधान हैं । स्थूल सृष्टि से अधिक संलग्न यह रजस् तमस् युक्त इन्द्रियों के अध्वा च कार से ञ कार पर्यन्त होते हैं ।[2] जो भी हो, शब्द गुणों का वहन करते हैं । यह बात तान्त्रिकों ने विस्तार से लिखी है । यह अध्वा भावना या अनुभूति की धारा को ले जाने वाला माध्यम ही तो है । मंत्रों में तदनुरूप अक्षर चुनकर प्रयुक्त करना ही मंत्र वैद्य का काम है । यदि तदनुरूप अक्षर नहीं हैं तो मंत्र बेकार है । जो अनेक मंत्र हमें इधर-उधर मिलते हैं, और उनका असर कुछ नहीं होता, वे वैज्ञानिक दृष्टि से गलत हैं । क्योंकि वर्णमाला के प्रत्येक अक्षर का अध्व-कार्य नियत है । शरीर में कौन अक्षर कितने अङ्ग को प्रभावित करता है, इसका निर्णय भी तन्त्रशास्त्र में है ।

न केवल तन्त्रशास्त्र में, आचार्य पाणिनि ने शिक्षाशास्त्र में उसका गंभीर विवेचन किया है और यह कहा है कि विस्वर अथवा अवक्षर शब्द बोलने वालों के जीवन पर उसका प्रतिकूल प्रभाव होता है । अवक्षर बोलने वालों की आयु घटती है और विस्वर बोलने से बीमारियां आती हैं ।[3] पिङ्गलशास्त्र में गणों के विवेचन में कहा गया है कि 'मगण' का प्रयोग लक्ष्मी देता है । यगण से वृद्धि होती है । रगण के प्रयोग से मृत्यु । सगण से परदेश यात्रा और तगण से शून्यता । जगण से रोग, भगण से यश, एवं नगण से असीम सुख होता है । यह विवेचन भी शब्द विज्ञान के आधार पर ही स्थिर किये गये हैं ।

शब्द का अनुचित प्रयोग मन की अस्थिरता का ही परिणाम है । मन को स्थिर कीजिए । यह स्थिरता प्राणायाम से आती है । प्राणायाम की कला भी किसी अनुभवी

---

1. योग० समाधि०—43
2. सिद्धान्त शेखर, नैमित्तिक काण्ड, अक्षरोत्पत्ति । एवं छान्दोग्य उपनिषद् अ०2 में हिंकार, प्रस्ताव, उद्गीथ, प्रतीहार और निधन साम के प्रसङ्ग में स्वर, ऊष्माण, और स्पर्श का विवेचन देखिये ।
3. अवक्षरमनायुष्यं विस्वरं व्याधिपीडितम् ।
अक्षता शस्त्र रूपेण वज्रं पतति मस्तके ॥ —पा० शि० 53 ।

गुरु से सीखनी चाहिए। मन जहां लगता है वहीं लगा दीजिये। भागा न फिरे, यह साधना का प्रारंभ है।[1] पांच ज्ञानेन्द्रियों में जिसके साथ मन लगे बस उसीमें लगाइये, आप मंत्र-वैद्य बनने की ओर अग्रसर होंगे। रूप, रस, गन्ध, स्पर्श के विषय सीमित हैं। पांचवां शब्द ही ऐसा विषय है जो चारों से सूक्ष्म और असीम है। इसलिए उसीमें एकाग्र होना मंत्र-चिकित्सा का प्रारंभ है। अनेक विषयों में मन का भटकना ज्ञान नहीं है। वही एकाग्रता के लिए बड़ा विघ्न है। इस प्रवृत्ति को रोककर मन को एकाग्र करिये।[2] सत्, रजस् और तमस् पर मंत्र-वैद्य को विजय पाने का ध्यान होना चाहिए। रोगी तमोगुण से दुःखी है, मंत्र-वैद्य स्वयं तमोगुणी है तो आरोग्य की आशा ही कहां ?

मंत्र-निर्माण शब्द-विज्ञान के आधार पर होता है। वह उतना कठिन नहीं है, जितना मंत्र सिद्ध करना। इसे ही तन्त्रशास्त्र में मंत्र को 'जागृत करना' कहते हैं। साधक की मन्त्रनिष्ठ एकाग्रता ही मंत्र की जागृति है। जिस प्रकार संगीत में 'स-रे-ग-म-प-ध-नी-स' जान लेना उतना कठिन नहीं, जितना उनको जागृत करना। षडज, ऋषभ और गन्धार गले से न निकलें, तो उन्हें जान लेने मात्र से संगीत नहीं आता। राग और रागिनियों पर अधिकार पाना है तो स्वरों की सिद्धि चाहिए। ठीक उसी प्रकार मंत्र की सिद्धि चाहिए तो अक्षर-विज्ञान, शब्द-विज्ञान और ध्वनि-विज्ञान की साधना चाहिए। यदि आप यह सिद्धि पा जाएं तो मंत्र बेकार नहीं हो सकता। शब्द हमारी मनोविद्युत् का 'वायर' (Wire) है; यह वायर तभी काम करेगा जब हमारे अन्दर शक्ति हो। मंत्र-वैद्य इसी शक्ति की उपासना किया करता है।

तन्त्रशास्त्रों में अनेक नामों से इसी शक्ति की उपासना कही गई है। किसी ने उसे गायत्री कहा, किसी ने गौरी, किसी ने तारा कहा, किसीने राधा। और जब मनुष्य शरीर के अन्दर ही उस तत्त्व को ढूंढ़ना पड़ा तो लिङ्ग और योनि ही उसके प्रतीक बन सके। एक शक्तिमान् है, दूसरी शक्ति। शक्ति श्रद्धा है और शक्तिमान विश्वास। मंत्र श्रद्धा और विश्वास का समुच्चय ही तो है!

हम मानसिक आस्थाओं को शारीरिक आस्थाओं के साथ नहीं मिला सकते। शरीर वाच्यार्थ से अधिक शब्द को नहीं पहचानता, किन्तु मन लक्षणा, व्यञ्जना और ध्वनि तक दौड़ता है, और शब्द में से घुले हुए भाव को निकाल लेता है। इसी कारण शब्द के प्रतीक बनाये गये। स्वयं वर्णमाला का प्रत्येक अक्षर शब्द का प्रतीक (Symbol) है। शब्द मूल में अरूप है, अक्षर उसके प्रतीक। किन्तु जब एक अक्षर का प्रतीक एक वर्ण हो सकता है तो पद, वाक्य और महावाक्यों के प्रतीक भी बन सकते हैं। वे बनाये भी गये।

---

1. यदान्यत्र मनो याति ध्यायतो योगिनस्तदा।
तत्रैव हि लयं कुर्यात् शिवः सर्वगतो यतः ॥—शा० प० 4497

2. इदं ज्ञेयमिदं ज्ञेयमिति यस्तृषितश्चरेत्।
अपि कल्पसहस्रेषु न स ज्ञेयमवाप्नुयात् ॥—शा० प० 45-62
रजसा तमसोवृत्तिं सत्त्वेन रजस्तया।
संछाद्य निर्मले सत्त्वे स्थितो युञ्जीत योगवित् ॥—शा० प० 4463

और उनसे बड़े-बड़े अर्थ और उनसे होने वाले प्रभाव फलीभूत होते दिखाई दिये।

वर्ष में बारह महीने होते हैं। क्रान्तिवृत्त पर घूमती हुई पृथ्वी और केन्द्र पर घूमते सूर्य के सम्पात से बनने वाले समय को ज्योतिष के विद्वानों ने बारह प्रतीकों में विभाजित किया :

1. मेष	7. तुला
2. वृष	8. वृश्चिक
3. मिथुन	9. धनु
4. कर्क	10. मकर
5. सिंह	11. कुम्भ
6. कन्या	12. मीन

नामकरण का आधार तो ज्योतिष का विद्वान् बतायेगा, किन्तु मेष और वृष कहते ही गरमी की फसल का चित्र सामने आता है। धनु और मकर कहते ही हेमन्त और शिशिरके कम्बल और रजाइयां मन मे घूमने लगते हैं। क्यों? क्योंकि मानसिक स्तर पर हम प्रतीक के पूरे अर्थ को समझते हैं। इसी प्रकार तन्त्रशास्त्र ने शब्द को वाक्य और महावाक्य तक प्रतीकों में बांध दिया, क्योंकि अदृश्य को प्रतीक की दृश्यमान विशेषतायें ही स्पष्ट करती हैं। दार्शनिकों ने काल को चक्र से निरूपित करके यह बताया कि गाड़ी के पहिये की भांति समय भी अस्थिर है : 'नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण।' आज का नीचे कल ऊपर होगा। और कल का ऊपर किसी दिन नीचे।

परन्तु तान्त्रिकों ने काल को सर्प से निरूपित किया। इस निरूपण से कालचिन्तन में भय का समावेश हो गया। यदि अनुचित व्यवहार करोगे तो काल नाग की तरह डस कर तुम्हारे इस जीवन का अन्त कर सकता है। इसीलिए प्राचीन मन्दिरों और स्मारकों में पत्थरों पर नाग का मरोड़दार उत्किरण होता है। इसे 'नाग-पेंचा' कहते हैं। दिन और रात को काले और सफेद हाथियों द्वारा चित्रित किया गया, शक्ति और शक्तिमान को योनि और लिङ्ग द्वारा।

विश्व की प्रजनन-शक्ति का प्रतीक ही लिङ्ग और योनि है। युज् धातु से 'योनि' बना है। इसी का नाम मिथुन है। विज्ञान का सिद्धान्त है कि एकत्व से कोई रचना नहीं होती, रचना के लिये मिथुन आवश्यक है। काशी, वृन्दावन, खजुराहो, भुवनेश्वर और बूंदी के प्राचीन मन्दिरों में हमें प्रतीकात्मक मन्त्र मिलेंगे। वहां वेद का मन्त्र नहीं लिखा, उसका प्रतीक चित्रित है। वही यन्त्र-शैली है। योनि का त्रिकोण सत्, रजस् और तमस् का प्रतीक ही है। किन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि कोई यन्त्र जब तक मन्त्र से अभिमन्त्रित नहीं किया गया, वह कोई काम नहीं करता। यन्त्रशास्त्रियों की मान्यता यह है कि मन्त्र में जो शक्ति है, यन्त्र को अभिमन्त्रित करने के उपरान्त वह शक्ति यन्त्र में आ जाती है। वह यन्त्र रोगी के शरीर में जब तक बंधा रहेगा, मन्त्र का ही काम करता रहेगा।

अभिमन्त्रण केवल मन्त्र का नहीं, पुरुष और स्त्री का भी हो सकता है। उपनयन

के समय गुरु शिष्य के और विवाह के समय वर वधू के वक्ष पर हाथ रखकर इस प्रकार अभिमन्त्रण करता था—

"मम हृदयं ते हृदयं दधामि, मम चित्तमनुचित्तं तेऽस्तु ।
मम वाचमेकमना जुषस्व, प्रजापतिष्ट्वा नियुनक्तु मह्यम् ।।"

(पारस्कर 2/2)

"तेरा हृदय मेरे हृदय में केन्द्रित हो, तेरा चित्त मेरे चित्त में केन्द्रित हो, मेरी वाणी में तेरा मन तल्लीन हो, भगवान् तुम्हें प्रेरणा दें कि मेरे प्रति तेरी प्रेरणा हो ।"

इस भावनात्मक केन्द्रीकरण में इच्छाशक्ति विद्युत की करेण्ट का काम करती है। अनेक भावनाएँ इसीलिये पूर्ण नहीं होतीं क्योंकि उनके पीछे हमारी दृढ़ इच्छा शक्ति का करेण्ट नहीं होता। प्रोफेसर ड्यूमोण्ट ने पेरिस की एक घटना लिखी है :

"एक बार एक सुन्दरी युवती उनके पास आयी। उदास आकृति से आकर बैठ गई। मैंने पूछा, आप क्यों आयी हैं ?

"युवती ने उत्तर दिया—मैं एक कम्पनी में काम करती हूं और उच्च शिक्षा प्राप्त करने के बाद संगीत, कविता और अपने विभागीय कामों में निपुण हूं। चित्रकला और फोटोग्राफी में भी कुशल हूं। इतना सब होने पर भी मैं जिस समाज में रहती हूं, वहां के लोग मुझे प्रेम नहीं करते, प्रायः उपेक्षा-भाव से देखते हैं। इस कारण मुझे स्वयं निराशा और असहायपन ही नहीं घेरे रहता, मेरा स्वास्थ्य भी दिन-दिन गिरता जाता है। मैं स्वयं को बीमार अनुभव करती हूं। दुर्बलता इतनी बढ़ गई है कि दैनिक काम में भी असमर्थता अनुभव होने लगी है। कृपया इससे छुटकारा पाने का उपाय बताइये।"

अपने आपको दूसरों से हीन समझने की भावना ही इस रोग का कारण थी। इस आत्मग्लानि ने उसे अपनी ही दृष्टि में हीन बना रक्खा था। फलतः हीनता का वातावरण उसके शरीर के चारों ओर व्याप्त रहता था। यही कारण था कि दूसरे लोग भी उसे हीन समझकर उपेक्षा करते थे। हीन व्यक्ति का प्रेम पाने की अभिलाषा किसी को नहीं होती। जो व्यक्ति स्वयं में आस्थावान् नहीं, उसके प्रति दूसरे आस्था कैसे रख सकते हैं ?

प्रोफेसर महोदय ने उसे चिकित्सा बतायी कि अपने कमरे में एक आदम-कद दर्पण लगाओ। दर्पण के सामने खड़े होकर अपने प्रतिबिम्ब को प्यार करो। मधुर भाषा में आलाप करो, और उसके गुणों की प्रशंसा में जो कह सको, कहो। अपने प्रिय से जो बातें तुम कहना चाहती हो, उसी प्रतिबिम्ब से कह दो। किन्तु ध्यान रहे कि जो कुछ कहो, पूरी दृढ़ता और इच्छा के साथ कहो।

बात कहने में एकाग्रता, दृढ़ता और प्रबल इच्छाशक्ति का बल होना चाहिये। लड़की ने यह अभ्यास किया। कुछ ही महीने के अभ्यास से उसे एकाग्रता और दृढ़ता मिली।

उसने प्रोफेसर महोदय से फिर आकर पूछा। अब क्या किया जाय ताकि साथियों में उसका प्रभाव बढ़े। उन्होंने कहा उसी दृढ़ता और इच्छा का प्रयोग व्यक्तियों पर करो

किसी व्यक्ति के वक्षस्थल पर एकटक देखो। मौन भाषा में कहो—'तुम मुझसे शाम को चार बजे मिलना'। वह अनायास शाम को 4 बजे तुम्हारे पास आ जायेगा।

लड़की ने कहा मुझे पेरिस की सड़कों पर गुण्डे युवक छेड़ते हैं। प्रोफेसर ने कहा मूक भाषा में उन्हें कहो "दूर रहो"। वे दूर रहेंगे। लड़की ने वही किया। थोड़े ही समय में वह अपने समाज में सम्मान और आकर्षण की वस्तु बन गई। उसका स्वास्थ्य अच्छा रहने लगा।

अपना सम्मान स्वयं करो। अपनी शक्तियों का परिचय करो और दृढ़ता एवं इच्छा-शक्ति के साथ उनका प्रयोग करो। योगशास्त्र में भी इसी को 'धारणा' शब्द से व्यक्त किया गया है।[1] यम, नियम, आसन, प्राणायाम, और प्रत्याहार के बाद यह स्थिति आती है। पहले पांच साधन बहिरङ्ग है। उनमें बाह्य विषयों का कुछ सहारा रहता है। किन्तु धारणा स्वान्त में ही एकाग्रता का नाम है। नाभिचक्र, हृयद, सिर, नासिकाग्र, जिह्वाग्र इन्हीं केन्द्रों पर या जो प्रिय हो उस बाह्य केन्द्र पर चित्त एकाग्र करो। बाह्य केन्द्र माने कोई सामने रखा पदार्थ ही नहीं, अपितु कोई अनुपस्थित वह वस्तु जो तुम्हारी श्रद्धा का विषय हो। भले ही स्मृति में हो। आपके स्वर्गीय माता, पिता, गुरु या श्रद्धेय ऐतिहासिक व्यक्ति भी हो सकते हैं। मन्त्रशास्त्री इसी को 'इष्ट' कहते हैं। इस एकाग्रता से जो शक्ति हमारे अन्दर संचित होती है, उसमें उग्र प्रकाश होता है। साधक उसे अनुभव करता है। वह चौबीस घंटे प्रतिक्षण जगमग होते हुए एक प्रकाश में रहता है। इस शक्ति को दूसरे में संक्रमण कर दिया जाय तो रोग हट जाते हैं। किन्तु उसको संक्रामित करने का माध्यम शब्द हैं। ध्वनि में घुले हुये भाव अणु शक्ति द्वारा भी दूसरे तक भेजे जाते हैं, शब्द के रूप में मंत्र रोगी को प्रभावित करने मात्र के लिए ही होते हैं। साहित्य के लिए नहीं। यह शक्ति न्यूनाधिक प्राणिमात्र में व्याप्त है। वैदिक भाषा में इसे 'इन्द्र शक्ति' कहते हैं।[2] अधिक विकसित शक्तिवाला मन्त्र वैद्य हीन शक्ति रोगी को अपनी शक्ति से शक्तिमान बनाकर ही स्वास्थ्य प्रदान करता है।

इस प्रकार मानसिक रोगों पर काम करने वाली तीन विधियां हुई—

1. स्पर्श या दृष्टि द्वारा चिकित्सा।
2. मन्त्र द्वारा चिकित्सा।
3. यन्त्र द्वारा चिकित्सा।

विधियां तीन हैं, प्रत्येक में 'न्यून या अधिक' शक्ति एक ही है। और वह विश्व के कण-कण में व्यापक है। इसलिये तान्त्रिकों ने विश्व की संचालक शक्ति की ही उपासना को महत्त्व दिया।[3] चूंकि शक्ति स्त्रीलिङ्ग शब्द है इसलिए उन्होंने शक्तिका प्रतीक (Symbol) स्त्री को ही बना दिया।[2] शक्ति को व्यक्त करने के लिए सम्पूर्ण शब्दकोष ही स्त्रीलिङ्ग

---

1. देशबन्धश्चित्तस्यधारणा।—योग०, विभूति० !
2. इन्द्रो विश्वस्य राजति। शन्नो अस्तु द्विपदे शं चतुष्पदे॥ —ऋग्वेद।
3. *या देवी सर्वभूतेषु शक्ति रूपेण संस्थिता।*
   नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः॥—देवी भागवत पुराण।

शब्दों से परिपूर्ण है। विद्या, शक्ति, सुन्दरता, मधुरता, भावना, दया, प्रीति, महिमा, माता, पत्नी, पुत्री सभी शक्ति के नाम हैं। जिस प्रकार कोई विद्वान् विद्या के विना नहीं हो सकता, कोई पति पत्नी के बिना नहीं हो सकता, उसी प्रकार कोई भगवान् भगवती के बिना संभव नहीं है। गौरीशंकर और लक्ष्मीनारायण भी मिथुन के प्रतीक ही हैं। यह विचार इसलिए करना पड़ा कि मन स्वयं एक शक्ति है। शक्ति का ह्रास रोग है, और शक्ति का प्रकोप भी रोग, उसे सन्तुलित रखने के लिए शक्ति का समीकरण चाहिए।

एक विद्यार्थी कक्षा में फेल हो जाता है। उसकी भूख मन्द हो जाती है। बोलने की शक्ति दुर्बल, और शरीर दुर्बल। डाक्टर इन्जैक्शन लगाते हैं, किन्तु वह कहता है लाभ नहीं। दुर्बलता दिन-दिन बढ़ती ही रहती है। काय-चिकित्सा के प्रयोग उसके लिए बेकार हैं। मनोबल बढ़ना चाहिए, ताकि वह परीक्षा में उत्तीर्ण हो जाय। फिर कोई दवा नहीं चाहिये। मनोबल बढ़ाने के लिए मन्त्र चाहिए, काढ़ा नहीं। वैद्य को इस निदान के लिए बहुत सावधान होना चाहिए, कि शरीर में प्रकट होने वाले लक्षण मानसिक रोग के हैं या दैहिक रोग के।

अनेक रोगों का निदान बहुत गम्भीर है। किसी भी मानसिक व्याधि में पाचन-संस्थान अवश्य विकृत होता है। अग्निमान्द्य, अजीर्ण, अतीसार, अम्लपित्त, उदावर्त्त, आनाह, गुल्म आदि रोगों में यह विवेक होना आवश्यक है कि वह मानसिक है या कायिक। वैज्ञानिक विचार यह है कि मन की स्थिति भोजन से बनती है। छान्दोग्य उपनिषद् में कहा है कि जो अन्न हम खाते हैं शरीर में उसका तीन रूप में विश्लेपण होता है—उसका स्थूल भाग पाखाना बनकर निकल जाता है। मध्यम भाग मांस बनता है, और सूक्ष्मभाग मन का निर्माण करता है।[1] इसलिए मन का सम्पर्क हमारे आहार के साथ रहता ही है। फिर शरीर में 'मनोवह स्रोत' होते हैं, जिनके सहारे मन शरीर में क्रिया करता है।[2] दूषित भोजन से मनोवह स्रोत दूपित होते हैं और मानसिक विकार उत्पन्न करते हैं—यहां तक कि मृत्यु भी।[2] इसलिए आहार-शुद्धि मन की शुद्धि के लिए अनिवार्य है।

किन्तु मन इतने में ही सीमित नहीं है। शरीर के रोग विना कुपथ्य के नहीं होते।[3] और अन्न द्वारा दूपित मनोवह स्रोत शरीर के संसर्ग से ही मानसिक विकार उत्पन्न करते हैं। कुछ ऐसे भी रोग हैं जो पूर्वजन्म के संस्कारों से दूपित मन द्वारा उत्पन्न होते हैं, जिन्हें आयुर्वेदशास्त्र में कर्मज रोग कहा गया है। वाग्भट ने

---

1. "अन्नमशितंत्रेधा विधीयते तस्य यः स्थविष्ठोधातुस्तत्पुरीपं भवति।
   मध्यमस्तन्मांसं, योऽणिष्ठस्तन्मनः।"—छान्दोग्य, अ० 6/5
2. मनोवहानां पूर्णत्वात्स्रोतसां प्रवलैर्मलैः।
   दृश्यन्ते दारुणाः स्वप्नारोगी यैर्याति पंचताम्॥—अष्टांग-हृदय, शारीर० 6/59
3. ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
   आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेपु रमते वुधः॥—गीता

लिखा है कि व्याधियां तीन प्रकार की हैं—1. कुपथ्यजन्य, 2. कर्मजन्य, 3. उभयजन्य।[1] परन्तु ऐसी व्याधियों की चिकित्सा और निदान कायचिकित्सा में ही प्राणाचार्यों ने लिखे हैं। कुष्ठ, उन्माद, अपस्मार और भूतावेश ऐसे ही रोग हैं जिनका सम्पर्क 'शारीरिक निदान' से है। किन्तु मैंने एक रोगी देखा जो उन्माद से व्याकुल था, उसने सिनेमा में एक नायिका का अभिनय देखा और पागल हो गया। दूसरा रोगी देखा, उसका पुत्र मर गया और वह पागल हो गया। यह तो मस्तिष्क पर विकृति के रोग हुए। एक रोगी ऐसा था कि उसे मदाग्नि और अतीसार का कष्ट रहता था। घर पर दवा करता तो कुछ लाभ नहीं होता। दूसरे शहर चला जाता तो विना दवा के ही ठीक रहता। जव दवा होते-होते थक गया तो मेरे पास आया। रोग के निदान और पूर्वरूप की खोज करते-करते ज्ञात हुआ कि उसकी पत्नी वहुत झगड़ालू और उग्रस्वभाव की थी। घर में आते ही वह कुछ न कुछ समस्या लेकर झगड़ा खड़ा कर देती। इसलिए पति महोदय जव तक घर में रहते, दस्त फिरते-फिरते परेशान रहते। कर्पूर रस, ग्रहणीकपाट, स्वर्णपर्पटी, मुस्तकारिष्ट, अग्निकुमार रस, सारे वेकार हो गए। दस्त वन्द न हुए। आखिर पति महोदय के लिए परामर्श देना पड़ा कि आप किसी दूसरे शहर में नौकरी कर लें। उन्होंने वैसा ही किया, दस्त वन्द हो गये।

वाग्भट ने लिखा है, मानसिक रोगों के अथवा कर्मजन्य रोगों के सारे निदान और चिकित्सा लिखना संभव नहीं है। उसके लिए अभ्यास और सूझ-वूझ चिकित्सक में ही चाहिये। जिस प्रकार हीरे-जवाहिरात के घटियापन जानने के लिए एक निगाह आवश्यक है, वैसे ही रोगों के लिए भी। शास्त्र उसे नहीं कह सकता।[2]

सुश्रुत नें कहा, 'दुःख के अनुभव का नाम रोग है।' वह चार प्रकार का है—

(1) आगन्तुक—लाठी, डण्डे से चोट लगे या रेल-मोटर से गिर जाने पर जो दुःख हो, वह आगन्तुक है।

(2) शारीरिक—कुपथ्य आहार, विहार से जो दुःख हो, वह शारीरिक है।

(3) मानसिक—क्रोध, शोक, भय, लोभ, काम से जो दुःख हो वह मानसिक है।

(4) स्वाभाविक—भूख-प्यास एवं वुढ़ापा-मृत्यु आदि से जो दुःख हो, वह स्वाभाविक है।[3]

हम मनोगत रोगों का शास्त्र नहीं लिख रहे हैं, इस भाव को स्पष्ट करने के लिये सुश्रुत ने कहा—यह पंचमहाभूत के समन्वय से वना हुआ जो पुरुष है, वही हमारे चिकित्सा शास्त्र का विषय हैं।[4] वात, पित्त, कफ उसके प्रधान दोष हैं। किन्तु मन भी

---

1. अष्टांगहृदय, सूत्र० 12/56-57
2. अभ्यासात्प्राप्यते दृष्टिः कर्मसिद्धिप्रकाशिनी।
   रत्नादि सदसज्ज्ञानं न शास्त्रादेव जायते॥ —अष्टां० हृदय; सू० 12/55-56
3, सुश्रुत० सू० 1।23 से 25।
4. पञ्चमहाभूतशरीरिसमवायः पुरुष इति, स एव कर्मपुरुषश्चिकित्साधिकृतः—
   —सुश्रुत सं० शारीर० 1/16

तो प्रकृतिजन्य ही है। इसलिए उसका सामञ्जस्य आप यों समझ लीजिये—सत्त्व-प्रधान आकाश, रजोबहुल वायु। सत्व-रजोबहुल अग्नि। सत्त्वतमो-बहुल जल और तमो-बहुल पृथ्वी।[1] किन्तु मन में सत्त्व, रज और तम तीनों गुण एकत्र विद्यमान हैं। इसलिये पञ्च भूतात्मक इन्द्रियों में उसे आकर्षण होना स्वाभाविक है। मन में जो गुण प्रबल होगा, उसी इन्द्रिय में लिप्त होने का प्रयास करेगा। शेष को दुःख होगा ही, क्योंकि वे मन की सपत्नियां ही तो हैं।

चरक ने कुछ और दार्शनिक गहराई तक इस विषय का विवेचन किया। उन्होंने मानसिक रोगों से छुटकारा पाने के लिए सारी आचार-संहिता लिख दी[2]। कोई इन्द्रिय बिना मन के सुख या दुःख उत्पन्न नहीं करती। यदि मन एक ही इन्द्रिय पर आसक्त हो तो इस शरीर-रूपी परिवार में सपत्नियां चीत्कार मचा देंगी। उस क्लेश की कल्पना ही बड़ा दुःख है।

पांच ज्ञानेन्द्रियां और पांच कर्मेन्द्रियां मन के मैथुन से ज्ञान अथवा सुख या दुःख का प्रसव करती हैं। और उसके विराग से इन्द्रियां मानो विधवा हो जाती हैं। कोई इन्द्रिय इस वैधव्य को स्वीकार नहीं करती। मन के छल या प्रज्ञापराध से ही इन्द्रियां अस्वस्थ होती हैं। उन्हीं की चिकित्सा काय-चिकित्सा है। किन्तु यदि मन ही बीमार हो जाय तो शरीर की दसों इन्द्रियां विकल होती हैं। यही मानसिक रोग है, जिसके लिए मन्त्र-चिकित्सा का आविष्कार हुआ। परन्तु मन भी अणु और एक है।[3] अनेकों को खुश रखना दक्षिण नायक की भांति बहुत कठिन है। सूरदास ने लिखा था—

"ऊधौ, मन न भये दस-बीस !
एक हुतौ सो गयो स्याम सँग, को आराधै ईस ?"

दार्शनिकों ने कहा, इसलिए मन और इन्द्रियों की आसक्ति समाप्त होनी चाहिए। गीता में यही तो कहा है—अर्जुन ! इन्द्रियां बहुत बलात्कार करती हैं, इनका नियन्त्रण करके मेरे साथ प्रेम जोड़ो, दुःखों से छूटने का यही रास्ता है।[4]

यह दार्शनिक उपाय है। आयुर्वेद इस दुनिया को उजाड़ना नहीं चाहता। वह चाहता है कि मन को इतना सबल और स्वस्थ बना दिया जाय कि वह दसों इन्द्रियों के प्यार का पात्र बना रहे। इसलिए आयुर्वेद वैराग्य का मार्ग नहीं, चिकित्सा का मार्ग बताता है।

किन्तु इन्द्रिय और मन के रोगों का भेद बड़ा सूक्ष्म है। कोई प्राणाचार्य उनके भिन्न-भिन्न निदान और चिकित्सा नहीं लिख सका। फिर कैसे यह जाना जाय कि यह शारीरिक रोग है और यह मानसिक ? सुंदर युवती को देखकर पागल होनेवाले का इलाज औषधियां नहीं हैं। परीक्षा में फेल होने पर एक विद्यार्थी को ज्वर चढ़ आया।

1. सुश्रुत सं० शरीर० 1/20
2. चरक सं०, सू० अ० 8
3. अणुत्वमथ चैकत्वं द्वौ गुणौ मनसः स्मृतौ। —चरक सं० शारीर 1/17
4. यततोह्यपि कौन्तेय ! पुरुषस्यविपश्चितः।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः ॥—गीता 2/60

किसी औषधि का गुण नहीं है कि उसे उतार दे।

मुझे एक रोगी की सत्य घटना याद है। उसे कफ और खांसी थी। एक डाक्टर को दिखाने आया। डाक्टर ने देखकर कहा, 'देखो, इलाज में पैसा बरबाद न करो। फेफड़ा गल गया है। इतनी देर तक घर क्यों पड़े रहे ?'

मरीज कहता था कि 4 दिन पहले ही उसे जुकाम और खांसी हुई है, पहले ठीक था। परन्तु डाक्टर अपनी बात ही कहे गया। मरीज की हालत बिगड़ी। घर से खुशी-खुशी आया था, किन्तु लौटा न गया। रिक्शा से घर गया। दूसरे दिन मर गया। यह मन का रोग था। इसलिए मन्त्र में ओजस्वी ध्वनियां जोड़कर उसके मनोबल को बढ़ाना ही चिकित्सक का कर्तव्य है, निराशा पैदा करना नहीं।

किन्तु शरीर और मन के रोग का अन्तर कैसे जाना जाय ? मानसिक रोगों में अनेक चिकित्सक कैपसूल, इन्जेक्शन और रस-भस्में देते रहते हैं, किंतु रोग अच्छा नहीं होता। तब देखिये, वह मन की ही व्याधि तो नहीं है ? चरक ने बहुत विवेचन के बाद एक ही लक्षण बताया है कि शारीरिक रोग पहले शरीर में उत्पन्न होगा, और मानसिक रोग पहले मन में। इसी आधार पर चिकित्सा का मार्ग वैद्य को चुनना चाहिए। अब लक्षण देखिये—

पहले मन उचाट, प्रेम की कमी, उदासीनता और घृणायुक्त हो, तो मन में रोग है। और पहले शरीर के अवयव गलत और अस्वस्थ काम करने लगें, तो शारीरिक रोग है।[1]

वस्तुत: गीता मानसिक रोगों के निदान और चिकित्सा का ही ग्रन्थ है। जिसे हम आचारशास्त्र कहते हैं, वह जीवन में मानसिक स्वास्थ्य का ही विवेचन करते हैं। गीता का एक प्रसंग देखिये जिसमें मानसिक रोगों का निदान, रूप एवं उपद्रवों का उल्लेख है।

1. "मनुष्य जब किसी विषय का अनुचित ध्यान करता रहता है तो वह मानसिक अस्वस्थता का निदान या कुपथ्य है।
2. अनुचित ध्यान से उस विषय के लिए आसक्ति उत्पन्न होती है। यह पूर्व-रूप है।
3. आसक्ति से उस विषय की कामना उत्पन्न हो जाती है। यह रूप है।
4. कामना बढ़कर क्रोध उत्पन्न करती है। यह उपद्रव है। इतना ही नहीं, एक रोग दूसरे रोगों का जनक भी हो जाता है। क्रोध से मूढ़ता आती है। मूढ़ता से भ्रंश। और स्मृति भ्रंश से बुद्धि का नाश होता है, तथा बुद्धि के विनाश

---

1. शारीरो जायते पूर्वं देहे, मनसि मानसः।
वैचित्यमरतिग्ला निर्मनसस्तापलक्षणम् ॥
इन्द्रियाणाञ्च वैकृत्यं ज्ञेयं सन्तापलक्षणम् ॥ —चरक सं० चिकित्सा० 3/35-36

से मृत्यु या सर्वनाश होता है।[1]

वस्तुत: रोग कामना है। कामना को रजोगुण की विषमता कहना होगा। और क्रोध को तमोगुण की विषमता। फिर सम्मोह, स्मृति-विभ्रम, और बुद्धिनाश सन्निपात की वह दशा है जिसमें रोगी असाध्य हो जाता है।

गीता में भी इसका इलाज यही बताया गया है कि राग द्वेष का त्याग और मन का आत्मरूप में वशीकार किया जाय तो फिर सुख ही सुख आ जायगा। परन्तु वशीकार या केन्द्रीकरण कैसे किया जाय वह यही प्रश्न है जो मंत्र चिकित्सा द्वारा हल किया जाता है। गीता ने केवल मार्ग ही बता दिया है, उस पर चला कैसे जाय, यह मंत्र-चिकित्सा बताती है। गीता के निर्देश के साथ भी अनेक विकल्प आते हैं, जो इन्द्रियों के केन्द्रीकरण के बाद भी मानसिक वेदना ला सकते हैं। मन इन्द्रियों द्वारा ही सारे ज्ञान नहीं लेता, बिना इन्द्रियों के भी लेता है। सोते हुए मनुष्य की इन्द्रियां थक कर शान्त होती हैं, मन उस समय भी स्वप्नों की सृष्टि बनाकर सुख और दुख का संसार निर्माण करता रहता है।[2] स्वप्न में मनुष्य हँसता है, रोता है और राग-द्वेष अनुभव करता है। वहां शारीरिक व्यापार नहीं होता तो भी सूक्ष्म शरीर को मन चैन से नहीं बैठने देता।

इसके लिए मन की वृत्तियों का परिवर्तन ही एक उपाय है। मंत्र-चिकित्सा उसी उपाय का प्रयोगात्मक रूप है। उसके लिए जो प्रयोग मन्त्र के रूप में लिखे गये, कोई काम करता है, कोई नहीं करता या कम करता है। यह मंत्र-वैद्य की योग्यता पर निर्भर करता है। शरीर की चिकित्सा के लिए चिकित्सक जो प्रयोग लिखते हैं, सारे लाभकारी ही नहीं होते। किसी का नुस्खा बहुत लाभ करता है, किसी का कम, और किसी का बिलकुल नहीं। मंत्रों में भी यही बात है।

शब्दों को छोड़कर कोई तत्त्व मन तक नहीं पहुंचता। क्योंकि प्रत्येक इन्द्रिय के विषय सीमित भाव ही प्रस्तुत करते हैं। शब्द असीम भावों का वाहक है—और मन की ही भांति अमूर्त भी। शब्द एक वातावरण का निर्माण करता है। मंत्र-वैद्य के व्यक्तित्व और मन का प्रभाव उसे वैद्युत-बल देता है। इच्छाशक्ति उसे कार्य करने की प्रेरणा देती है। इस प्रकार मन की दु:खदायी वृत्तियां हटकर सुखदायी वृत्तियां बन जाती हैं। सितार पर संगीत का गुणी जब 'नि स ध नी रे' की अक्षर-माला प्रस्तुत करता है, तो जय-जयवन्ती के स्वर हरेक श्रोता की मनोवृत्ति को उसी रूप में ढलने को विवश कर देते हैं। वियोग और विप्रलम्भ का संसार आबाद हो जाता है। मंत्र की शक्तियां इससे भी कुछ अधिक सूक्ष्म हैं। वे बहुत बार प्रकट ध्वनि के बिना ही रोगी के मानसिक पटल पर

---

1. ध्यायतो विषयान्पुस: सङ्गस्तेषूपजायते।
सङ्गात्सञ्जायते काम: कामात्क्रोधोभिजायते॥
क्रोधाद्भवति संमोह: संमोहात्स्मृति विभ्रम:।
स्मृति भ्रंशाद बुद्धि नाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति॥—गीता 2/62-63

2. यज्जाग्रतो दूरमुदेति दैवं तदुसुप्तस्य तथैवैति। दूरङ्गमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं।
तन्मेमन: शिव संकल्पमस्तु॥—ऋग्वेद

स्वास्थ्य के चित्र बना देती हैं।

चरक ने मानसिक रोगों की चिकित्सा पर बहुत गम्भीर विचार किया जो इष्ट और अनिष्ट के सम्पर्क से होते हैं। उनके लिए धर्म, अर्थ और काम के चयन में हित और अहित का विवेक रखकर स्वीकार या अस्वीकार करना ही एक उपाय है। सत्सङ्ग[1] धर्म, अर्थ और काम क्या हैं? उन्हें कैसे स्वीकार करें 'कैसे अस्वीकार? हित क्या है? अहित क्या है? इसी विवेचन में आचारसंहिता का निर्माण होता है। रामायण, महाभारत, मनु, याज्ञवल्क्य यही निर्णय करने के लिए बड़े-बड़े ग्रंथ रचे गये; उससे जनता थोड़ा ही लाभ उठा पाती है।

चरक, सुश्रुत और वाग्भट की विशाल रचनाओं के रहते भी लोग बीमार होते हैं। वैद्य बुलाये जाते हैं। चिकित्सा चलती है। जैसे यह शरीर के लिए चल रहा है, वैसे ही मन के लिए भी मन्त्र वैद्य की आवश्यकता रहेगी। वेदों में सारी ज्ञान-विज्ञान की बातें लिखी गई, तोभी शान्ति-प्रकरण और स्वस्तिवाचन क्यों लिखे गये? इसीलिए कि सब कुछ जानने के बाद भी मनुष्य की पहुंच के बाहर बहुत कुछ रह जाता है। तभी वह किसी अदृष्ट शक्ति का मनन करने लगता है। यह मनन ही तो मंत्र है। "इन्द्र मेरा कल्याण करे, पूषा मेरा कल्याण करे, अश्वि मेरा कल्याण करे, और बृहस्पति मेरा कल्याण करें।"[2] "यह इन्द्र, पूषा, अश्वि, और बृहस्पति कौन हैं? इसी का उत्तर तो वेद भी नहीं दे पाया। 'को अद्धावेद, कइह प्रवोचत् ?—उसे कोई नहीं जानता, कोई नहीं कह सकता।

किन्तु मंत्रचिकित्सा कहती है कि आत्मबल संचय करो आत्म-विश्वास से आगे बढ़ो, यही जीवन है, यही स्वास्थ्य।[3] मेरे एक मित्र का एक मुकदमा कई लाख की सम्पत्ति का चला। नीचे की अदालत से हार गये। जिस दिन फैसला सुना बेहोश हो गये। पंडित बुलाया गया। उसने जन्म-पत्र देखकर कहा—तुम्हारे ग्रह तो बहुत उच्च हैं, अन्त में तुम्हारी ही विजय होगी। अपील करो। अपील कर दी। कई वर्ष में सुनवाई का नम्बर आया। इन वर्षों में वे बिस्तर से लग गये। सहसा इलाहाबाद से वकील का तार आया "Appeal admitted, Congratulations" मेरे मित्र तार पढ़ते-पढ़ते अच्छे हो गये बिस्तर से उठ खड़े हुए, पत्नी से बोले "कल कथा और दावत का बुलावा मित्रों को भेज दो।" यह तार मंत्र ही था। मंत्र वैद्य मनोवैज्ञानिक स्तर पर इसी प्रकार के तार दिया करता है।

ध्वनि, अक्षर, मात्रा, विराम, स्वर, व्यञ्जन, अनुस्वार, विसर्ग, उदात्त, अनुदात्त स्वरित, ह्रस्व, दीर्घ, लुप्त, और हलन्त्य, सभी मन पर भिन्न-भिन्न रूप से प्रभाव करते हैं।

---

1. मानसं प्रति भैषज्यं त्रिवर्गस्यान्व वेक्षणम्।
   तद्विद्य सेवाविज्ञानमात्मादीनांच सर्वश : ॥ च ० सू० 11/47
2. स्वस्ति न इन्द्रोवृद्धश्रवाः स्वस्ति न पूषा विश्ववेदाः —ऋग्वेद।
3. आत्मैव आत्मनोबन्धुः आत्मैव आत्मनो रिपुः।
   उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मान मवसादयेत् ॥ गीता०

वह एक विस्तृत-विज्ञान है। मन्त्र विद्या में उन सब का महत्व है।

प्रेम, द्वेष, भक्ति, चिन्ता, स्मरण, ममता आदि क्रियाएं न ज्ञानेन्द्रियों के विषय हैं, न कर्मेन्द्रियों के। वह केवल मन के ही विषय हैं। इसलिए नहीं कह सकते कि तन की चिकित्सा से मन की चिकित्सा संभव है। मानसिक परिवेश तक किसी भावना को भेजना हो तो शब्द ही एक ऐसा वाहन है जो वहां तक पहुंचता है। ध्वनि के उपर्युक्त भेदों में किस भेद के माध्यम से कौन-सा भाव संवहन किया जायगा, यह तत्व भी मंत्र चिकित्सा-विज्ञान के अन्तर्गत ही आता है।

मंत्र-चिकित्सा स्वयं एक विज्ञान है। भारतीय शब्द-शास्त्रियों ने उस पर बहुत अनुसन्धान किये। यूनान, मिश्र, और रोम में भी इस विषय पर खोज करने वाले अनेक व्यक्ति हुए। वहां इस विज्ञान को (Accultism) (अकल्टिज्म) कहते हैं। किन्तु भारतीय विद्वान् इसे आध्यात्मिक साधना का एक अङ्ग मानकर व्यवहार में लाते रहे हैं। विज्ञान चेतना की बहिर्मुखी (Centrifugal) प्रवृत्ति है। और ज्ञान अन्तर्मुखी (Centripetal) प्रवृत्ति का नाम है। हम देखते हैं कि मंत्र-वैद्य ऐसे भी होते हैं जो उच्च स्तर पर पहुंच कर शब्द का सहारा भी छोड़ देते हैं, केवल स्पर्श, दृष्टि, या इच्छा शक्ति मात्र से दूसरों को प्रभावित करते हैं, तब वह अध्यात्म-प्रभाव ही है। इस प्रकार अन्तर्मुखी (परा) और बहिर्मुखी (अपरा) दोनों ज्ञान-शक्तियों से सम्बन्धित होने के कारण विद्वानों ने इसे परावरी-विद्या नाम दिया।[1]

मन्त्र-विद्या सर्वसाधारण की विद्या क्यों नहीं बन सकी, इसका भी एक महत्त्वपूर्ण कारण है। यह विद्या साधनागम्य है। स्वरों के नाम, थाटों के आरोह-अवरोह जान लेने से जैसे कोई संगीतज्ञ नहीं हो सकता, इसी प्रकार कोई मंत्र याद करके मंत्र-वैद्य नहीं हो सकता। इसके लिए निरन्तर अभ्यास चाहिए। छान्दोग्य में प्राण, अपान व्यान, उदान और समान प्राण शक्तियों को मुक्ति का द्वार-पाल कहा है। इनका वशीकार होने पर ही आत्मशक्ति का द्वार खुलता है। तभी उसमें साधक का प्रवेश संभव है।

अपने दोनों कान बन्द कर लीजिये, ताकि बाहरी ध्वनियां उनमें न जा सकें। तब आप को एक बहुत प्रबल ध्वनि सुनाई देगी। यह प्राणों का आन्दोलन है। जीवन के लिए प्रतिक्षण संघर्ष करती हुई प्राण-शक्ति की इस गर्जना से अनुमान कीजिये, हम कितनी शक्ति प्रतिक्षण व्यय कर रहे हैं। सूर्य से ऊष्मा, जल से तरलता, वायु से प्रगति, पृथ्वी से स्थिरता और गन्ध एवं आकाश से शब्द। जिसे इस प्राणशक्ति का बल प्राप्त होता जाये, वही अपने बल से दूसरों के रोग या कष्ट पर विजय पा सकता है। अपनी शक्ति दूसरे के हित में व्यय करके ही मंत्र सफल होता है। यह शक्ति व्यर्थ खर्च करना कितना हानिकारक हो सकता है, यह विचार कर विद्वानों ने मन्त्र गुप्त रखने का विधान किया। नितान्त आवश्यक हो तभी अपनी प्राणशक्ति दूसरे के लिए खर्च करो। अन्यथा शक्ति क्षय होकर मंत्र वैद्य स्वयं ही निस्तेज होकर मृत्यु की ओर चलेगा। क्योंकि प्राण शक्ति का काम शरीर में शिथिल हो जायगा। आप कान बन्द करके सुनें तो स्वयं अनु-

---

1. प्राणेषु पञ्चविधं परोवरीयः सामोपासीत।—परोवरीयो ह अस्य भवति"—छान्दोग्य० 2/6

भव करेंगे कि वह सामर्थ्य गिर रही है। बुरे कामों के लिए मंत्रशक्ति का प्रयोग इसी लिए वर्जित है।[1]

हृदय में पांच प्रकार की प्रगतियां प्राणशक्ति से संचालित हो रही हैं। 'देवसुषिर' नाम से कार्य करने वाले इन स्रोतों में से–

1. एक प्राची दिशा में है जो सूर्य से ऊष्मा लेती है। इसी से नेत्रों को दृष्टि प्राप्त होती है। इसका नाम 'प्राण' है।
2. दूसरी दक्षिण दिशा में, चन्द्रमा से मानसिक स्थिरता और विचार की शक्ति प्राप्त करती है। श्रोत्र इसी से सक्रिय होते हैं। यह 'व्यान' है।
3. तीसरी पश्चिम दिशा में है। यह अग्नि से परिचालित होती है। वाणी इसी से प्रस्फुटित होती है। इसका नाम 'अपान' है।
4. चौथा स्रोत उत्तर में है, यह जल या मेघ से प्रगतिशील होता है। मन इसी से सक्रिय होता है। इसे 'समान' कहते हैं।
5. पांचवां स्रोत ऊर्ध्व या ऊपर की ओर है। यह आकाश और वायु से प्रगति पाता है। इससे ओज और तेज प्रकट होते हैं। इसे 'उदान' कहते हैं।

मन्त्रविद् जब तक इन जीवन स्रोतों पर अधिकार बनाये रहता है, तब तक उसका मंत्र-बल सक्रिय रहता है। वह जो कहता है, सोचता है, और चाहता है, वही होता है।[2] शाण्डिल्य नामक एक तत्वद्रष्टाने इस रहस्य की खोज की थी।

हम मंत्रयोग, राजयोग, लययोग और हठयोग—इन चार योग-शैलियों का उल्लेख कर आये हैं। प्राणायाम द्वारा इन्द्रिय-संयम होते ही मन्द्र, मध्यम और तीव्र शब्द या ध्वनि का प्रकाश होता है, यह विश्वव्यापी शक्ति ही मंत्र है, अ-उ-म् उसके प्रतीक हैं। अध्यात्म का चिन्तन करने वाले महापुरुषों को इसका ज्ञान बहुत प्राचीन युग से था। शरीर में क्रिया-संचालन उसी शक्ति से हो रहा है। स्थूल रूप में वह शब्द है, सूक्ष्म रूप में मन्त्र और तत्व रूप में शब्द-ब्रह्म कहा जाता है। न केवल आयुर्वेद शास्त्र में ही किन्तु योग और विज्ञान में भी उसका परिज्ञान महापुरुषों को प्राप्त था। वेद में उसे महादेव कहा है।[3] बाइबिल में उसे भगवान् (God) लिखा गया है।[4] मंत्र-विद्या इस शक्ति का पारमार्थिक प्रयोग है।

मंत्रयोग स्वयं एक शैली है। तीन योग-शैलियां और भी हैं। सबका ध्येय चाहे एक है, किन्तु ध्येय तक पहुंचने के लिए शैली भिन्न-भिन्न है। मंत्र-योग ही केवल मंत्र-चिकित्सा का आधार है। मंत्रयोगी इस चिकित्सा में तीन शक्तियां प्रयोग करता है—

---

1. छान्दोग्य, 3/13
2. मनोमयः प्राणशरीरो,भारूपः सत्यसंकल्प आकाशात्मा सर्वकर्मा सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः सर्व-मिदमभ्यात्तोऽवाक्यदाररः।
3. महोदेवो मर्त्यां आविवे ॥—ऋग्वेद,छान्दोग्य० 3/14
4. In the begining was the word and the word was with God, and the word was God. 1st John Ch. 1.1. (Bible)

साधना, संकल्प और शब्द, इन तीनों का समुच्चय ही मंत्र है। शरीर में (1) मूलाधार, (2) स्वाधिष्ठान, (3) मणिपूर, (4) अनाहत, (5) विशुद्धि, (6) आज्ञा, (7) सहस्रार और ब्रह्मरन्ध्र ये क्रमशः गुदा, शिश्न, नाभि, हृदय, कण्ठ, भृकुटि, मस्तक और शिखर प्रदेशों में हैं। सातवें और आठवें को छोड़कर, शेष छः चक्रों में शब्द प्रगति करता है। प्रत्येक चक्र में एक कमल के फूल की कल्पना की हुई है। उन फूलों के दलों के रूप में वर्णमाला का प्रत्येक अक्षर नियत है। जिस केन्द्र को प्रेरित करना हो, उसी केन्द्र के अक्षरों का समुच्चय एक मंत्र है। ध्वनि की प्रथम प्रेरणा ओ३म् या ह्लीम् है। मंत्र वहीं से प्रारंभ होता है। स्वर अक्षरों का आत्मा है, व्यञ्जन शरीर। स्वर और व्यञ्जन का समुच्चय ही मंत्र बनता है। आत्मा और शरीर का समन्वय ही तो जीवन कहा जाता है। दोनों का समन्वयन प्राण होता है। प्राणशक्ति को बल देना ही मंत्र-चिकित्सा का उद्देश्य है।

हृदय 'प्राण' का केन्द्र है, वही अनाहत चक्र है। गुदा में 'अपान' का केन्द्र है, वह मूलाधार चक्र है। नाभि 'समान' का केन्द्र है, यह मणिपूर चक्र है। कण्ठ में 'उदान' का केन्द्र है, यह विशुद्धि चक्र है। 'व्यान' सर्वशरीरगत है, वह आज्ञाचक्र या भृकुटि, प्रदेश से परिचालित होता है। इन केन्द्रों को सशक्त बनाये रखना ही मंत्र चिकित्सा का उद्देश्य है। मन आज्ञाचक्र से परिचालित होता है। इसलिए ध्यान रखिये, गलत या अस्वस्थ आज्ञाएँ परिचालित न हो जायें। इसका नियन्त्रण बुद्धि के प्रकाश में सहस्रार चक्र द्वारा होना चाहिए। हमारे अन्दर प्रकाश ही प्रकाश है, ऐसा प्रकाश जो सूर्य के प्रकाश से कम नहीं है। देखना यह है कि रजस् और तमस् इसमें अन्धकार न फैलायें। मन्त्र-चिकित्सा कहती है; दूसरे की ज्योति यदि बुझ रही है तो अपनी सबल ज्योति से उसे प्रकाशित करो।

मूलाधार चक्र से संलग्न कुण्डलिनी ही वह प्रकाशक तेज है जो साधक को ही नहीं, दूसरों को भी प्रकाश और प्रगति देता है। कुण्डलिनी से प्रकट होने वाला प्रकाश शरीर के छहों चक्रों[1] को प्रकाशित कर देता है। मनुष्य के अन्दर छिपा हुआ अलौकिक बल प्रकट हो जाता है। मन्त्र-चिकित्सक को यह बल प्राप्त होना काहिए। चूरन-चटनी बना लेने से कोई वैद्य नहीं होता। उसी प्रकार मन्त्र पढ़ देने से कोई मंत्र-वैद्य नहीं कहा जा सकेगा। मंत्र-वैद्य में साधना और परमार्थ-सेवा—दोनों आवश्यक हैं।

'भैषज्यरत्नावली' में स्मरोन्माद, गदोद्वेग जैसी बीमारियां भी लिखी हैं, उनकी चिकित्सा में भी यही मुख्य बात है कि निराशा हटा कर रोगी में आशा का संचार करो।[2] किन्तु मानसिक अभिचार से जो क्षति शरीर की हुई है, उसका निवारण करने के लिए ओषधि भी प्रयोग कीजिये। मानसिक रोगों में शरीर पर होने वाली प्रतिकूल प्रतिक्रिया

---

1. मूलाधारं स्वाधिष्ठानं मणिपूरमनाहतम्।
   विशुद्धञ्च तथाज्ञाञ्च षट्चक्राणि विभावयेत्॥
   "Light travels at the rate of 185000 miles a sceond kundalini at 345000 miles a Second. —मैडम ब्लैवत्स्की
2. प्रिय मेलनमेवैकं स्मरोन्मादस्य भेषजम्।—स्मरोन्मादाधिकार

उपद्रव कहे जायेंगे। इसलिए मानसिक स्तर पर दोप-प्रत्यनीक, व्याधि-प्रत्यनीक अथवा उभय प्रत्यनीक चिकित्सा ढूंढ़नी चाहिए। शारीरिक उपद्रव तो व्याधि निवृत्त होने पर स्वयं निवृत्त होते हैं। हां, शरीर को सवल बनाये रहिये।

आयुर्वेदशास्त्र में चिकित्सा के दो प्रकार लिखे गए हैं––(1) दैव व्यपाश्रय, (2) युक्तिव्यपाश्रय। दैवव्यपाश्रय चिकित्सा में––मन्त्र, ओपधि, मणि, मङ्गलाचार, बलि, उपहार, होम, नियम, प्रायश्चित्त, उपवास, स्वस्तिवाचन, नमस्कार तथा तीर्थ-यात्रा––इन तेरह प्रकार के साधनों का उल्लेख चरक-संहिता में किया गया है।[1] आयुर्वेदशास्त्र में चिकित्सा अथवा ओषधि का अर्थ कोई चूर्ण चटनी, या गुटिका-मात्र ही नहीं है; जो उपाय आरोग्य सम्पादन करे वही ओषधि है। और जो उस उपाय का समय पर प्रयोग करा सके वही वैद्य है।[2] रोगी को स्वास्थ्य प्राप्त हो, उद्देश्य यही है।

ईस्वी 450 से 650 तक अहिच्छत्रा (बरेली), मथुरा तथा राजघाट (काशी) में तान्त्रिक केन्द्र वन गए थे। वहां मन्त्र, तन्त्र, यन्त्र का प्रयोगात्मक प्रस्तुतीकरण हुआ। मन्त्र से किसी तन्त्र (समुच्चय) को अभिमन्त्रित करके यन्त्र बना दिया जाता है। वह यन्त्र व्यक्तिगत रूप से किसी कागज, पत्ता या वस्त्रखण्ड पर बना कर रोगी के शरीर में बांधा जाता है। किन्तु सार्वजनिक रूप में किसी कल्पित प्रतिमा के रूप में अभिमंत्रित करके सार्वजनिक मन्दिर में स्थापित किया जाता था। इस प्रकार के विश्वासों के आधार पर ही उन दिनों वैदिक, जैन और बौद्ध सभी एक सम्प्रदाय में सङ्गठित हो गए थे। यही सिद्ध सम्प्रदाय था। सिद्धाश्रमों का उल्लेख भवभूति, वाण और हर्प के लेखों में हमें बहुत मिलता है। उन मन्दिरों में उन कल्पित और अभिमन्त्रित प्रतिमाओं के दर्शन, पूजन से मानसिक रोगों का निराकरण होता था।

नैगमेष, नैगमेय, स्कन्द अथवा षष्ठी की ऐसी मूर्त्तियां अहिच्छत्रा, मथुरा और राजघाट की खुदाइयों में भूगर्भ से प्रचुर मात्रा में प्राप्त हुई हैं, जिनकी मुखाकृति बकरे जैसी तथा शरीर मनुष्य-जैसा बना हुआ होता है।[1] यह उत्तरप्रदेश के अतिरिक्त अन्य पटना आदि में भी उपलब्ध हुई।[2] इन मन्दिरों में वैदिक जैन और बौद्ध समान आस्था रखते थे। मन्त्र का कवच बनाने की भी एक शैली है। वह यह है कि मन्त्र के आमूर्त रूप को मूर्त्त रूप दिया जाय। मूर्ति ही मंत्र का कवच है। वह दर्शन से ही एक नये मानसिक परिवर्त्तन को प्रेरणा देती है। इस प्रेरणा में प्रज्ञापराध से निवृत्त होने की प्रेरणा है और रोग से अभय की भावना भी। परन्तु उसके लिए श्रद्धा और विश्वास चाहिए। धूर्त और गुण्डे उनकी आड़ में जनता को ठगने लगे, अतःश्रद्धा और विश्वास चला गया।

---

1. चरक सं०, विमान० 8/14
2. तदेवयुक्तं भैपज्यं यदारोग्याय कल्पते।
   स चैव भिषजां श्रेष्ठो रोगेभ्यो यः प्रमोचयेत्॥—चरक सं०, सूत्र० 1/132
2. Archiological Survcy of india, No 4 .
   by V .S, Agrawal.
1. नगेभवो नैगः, नैगोमेपः नैगमेपः—पहाड़ी भेड़।

मंत्र-विद्या लुप्त हो गई। परन्तु वह विज्ञान आज भी उतना ही नया है जितना कभी रहा होगा।

कहते हैं, सन्त तुलसीदास एक बार वृन्दावन गये थे। किसी मन्दिर में भक्त लोग उन्हें लिवा गये। वैष्णव परिपाटी के अनुसार भक्तों ने भगवान की साष्टांग वन्दना की, परन्तु भक्त तुलसीदास न झुके। भक्तों ने इसका कारण पूछा। तुलसी बोले–प्रभु को मैंने राम के रूप में धनुषबाण लिये हुए ही सदैव ध्यान किया है। मुकुट और काछनी के साथ कभी नहीं। वही मुद्रा हो, मेरा मस्तक तभी झुकना चाहता है––

मोर मुकुट कटि काछनी भले बने हो नाथ।
तुलसी मस्तक तब नवै धनुसबान लेउ हाथ॥

तुलसी ने सामने देखा तो श्यामसुन्दर धनुषबाण लिये राम के रूप में आविर्भूत हो गये। तुलसी साष्टांग झुक गये। कहते हैं परमहंस रामकृष्ण को भी दुर्गा का ऐसा ही साक्षात्कार हुआ था। प्रत्याहार की यह स्थिति ही मन्त्र-विद्या की पराकाष्ठा है। जिन्हें यह साधना प्राप्त है वे ही मंत्रयोगी हैं, वे ही सिद्ध। वे ही भैषज्य गुरु हैं और वे ही अवलोकितेश्वर। सर्वसाधारण हजारों देवताओं के लिए हजारों मन्त्र स्मरण नहीं रख सकते। और न वैसे योग्य मंत्र-शास्त्री ही उपलब्ध होते हैं। ऐसी दशा में सुश्रुत ने कहा कि सारे मंत्रों का सार-मंत्र गायत्री मंत्र है। उसे ही याद रखो और समय पर काम लाओ, ताकि प्रज्ञापराध न हो।[1]

---

1. भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं। भर्गो देवस्य धीमहि।
धियो योनः प्रचोदयात्॥— ऋग्वेद। मं 3
—यत्र नोदीरितो मन्त्रो योग्व्वेतेषु साधने।
शान्दिता तत्र सर्वत्र गायत्री त्रिपदाभवेत्॥ —सुश्रुत, चिकि॰ 28/25

परिशिष्ट 2

पारिभाषिक शब्द परिचय

अ

1. अष्टांग	Eight parts of Ayurveda—
(1) शल्य	Surgery,
(2) शालाक्य	Treatment of the diseases of Eye, Ear, Nose and Throat.
(3) कायचिकित्सा	The Art of Healing.
(4) भूतविद्या	Treatment of disease of Super-natural origin, with the use of medicine and natural powers. (Demonology)
(5) कौमारभृत्य	Midwifery and cure of children.
(6) रसायन तन्त्र	Promotion of health and longe-vity. (Touology).
(7) वाजीकरण तन्त्र	The science of developing sexual power and fecundity.
(8) अगद तन्त्र	Toxicology.
2. अपरा विद्या	The knowledge of science and ethics.
3. अवतारवाद	The theory of divine incarnation.
4. असुर	A section of Aryans hostile to Swarga.
5. असुरदेश	Assyria (Israel, Jordan, Arab, Amman, Cyprus and Nortoen Rhodenesia)
6. अभिजन	Affinitively related persons.

7. अभिसार या दार्वाभिसार	The territory between the Jhelam, and the Chenab rivers, 'Darva' is the land between the Chenab and Ravi rivers. Both are unitedly taken since long. The timbers from Himalayan peaks were flown down through these rivers.
8. आर्यावर्त	A kingdom of Aryans from the Pacific ocean in the east to the Mediterranean Sea in the west, and the Himalaya in the north while the Vindhyachal in the south.
9. आगम	The literature elucidating the different subjects of Vedas. Consideration of material powers. Tantra Shastra.
10. आवेफजा	The main current of the Amu river.
11. औषधि	A drug which removes a disease without impelling the other.
12. औषधि संरक्षिकायें	Female supervisors of a dispensary.
13. औपनिषदिकवर्ग	Teachers of religious and spiritual success.
14. आचार्य	A preceptor, a master, or a learner, with practical knowledge.
15. आस्तिक	A believer or a theist, antonym of non-beliver or athiest.
16. आयुर्वेद	Science of life with all its aspects.

इ

17. इहलोक	'Aryavarta' was said to be 'इहलोक' while the state of 'Swarga' was 'परलोक' उत्तरे हिमवत्पार्श्वे पुण्ये सर्वगुणान्विते । पुण्यः क्षेम्यश्चकाम्यश्चसपरोलोक उच्यते ॥ महाभारत, शान्ति पर्व, अ० 8 C. V. Vaidya.

उ

18: उपशय — Salubrious measures.

19. उत्तरकुरु — Sintsiang हरिवर्ष became उतरकुरु when Arjun the Pandava recovered it from rebels and now it is 'Sintsiang' when possessed by China.

20. उग्द्गीथ — The highest song, अ+उ+म् which deals with the cosmic theory.

21. उपरस — Metals and minerals when used for medical purpose.

23. उदिभिद — Vegetable Kingdom.

24. उत्तराखण्ड — Swarga and Narak combind which is contrary to 'दक्षिणापथ' below the mountains of Vindhyachal. This difference abolished when the whole became Bharatvarsha, under one culture.

ऋ

25. ऋपि — Seers, who achieved the stage of Dharna (धारणा) in Yoga, they were given the ruling powers in Narak.

26. ऋत — A scientific truth.

27. ऋक् — The name of the first veda, out of four vedas यजु, साम and अथर्व ।

28. ऋण — Duties of individual for mother, father and teacher.

क

29. कर्मभोगवाद — The karma theory, according to which one cannot escape the consequences of his deeds done in the present and past lives.

30. काश्यपीय सर — The Caspean Sea, when under the possession of Aryavarta was said the 'काश्यपीय सर'. in reopect of kasyap.

31. कुभा — The Kabul river now in the kingdom of Afghanistan.

32. कला — An element of beauty or the science of beauty.

ग

33. गन्धार — The biggest province of Swarga, situated to the west of Punjab or Kekaya Desh or that of the Sindhu river. Gandharvas stood first to rebel against the republic of Swarga. Afterwards Gandhar was rendered to be a province of Aryavarta. Gandharvas developed highly in arts.

घ

34. घुलनशील — Soluble.

35. घंटापथ — The main road.

च

36. चैत्यपूजा — The worship of monuments.

37. चिकित्सा — A process to achieve the health.

38. चय — The accumulation of Doshas according to seasons, there are three stages of it.
1. चय 2. प्रकोप 3. प्रशम.

39. चिकित्सक — *One who cures a disease.*

40. चतुर्वर्ग — Four aims of life, as
1. धर्म 2. अर्थ 3. काम 4. मोक्ष

छ

41. छाया — The glare of the face.
"छाया दूरात्प्रकाशते"—चरक

ज

42. जनपदोध्वंसी रोग	Epidemics.
43. जंगम	Animal kingdom.

त

44. तन्त्र	Divination of actions.
45. तथता	Realization of truth.
46. तीर्थंकर	A divine stage of man (according to Jainism.)
47. तुरुष्क	Turks and Huns.

थ

48. थियान् शान्	The mountain of Devas. In Indian history it is called Sumeru.

द

49. देहसिद्धि	Corporal divination.
50. दस्यु	People hostile to Aryans.
51. दृषद्वती	Ghaghar river (घघ्घर)
52. देवनदी	They are four— 1. Saraswati, 2. Drishadwati, 3. Ganga. 4. Yamuna. Between these rivers Devas made a colony named 'Brahmavarta'. Manu mentiones it 'देव निर्मितं देशम् ब्रह्मावर्त्तम्' Atri was living there.

ध

53. धात्री वर्ग	Wet nurses
54. धातुशास्त्र	A description of metals to aid the medical science.
55. ध्वनि चिकित्सा	Treatment by sound.
56. धर्म	Duty, Rightousness or natural properties of a thing.
57. धन्व	A Desert. During the time of Aryavarta, it denoted the famous desert of Assyria.

न

58. नास्तिक	Atheist, Blasphemer.
56. नाड़ी विज्ञान	The science of pulse.
60. निरिन्द्रिय	Inorganic substance.
61. नरक	Lands between Himalaya and the Vindhyachala along with the coast of the Ganga and the Jamuna. From Haridwar to the Ganga Sagar.
62. निदान	Etiology.
63. निगम	Vedas or thorough knowledge.

प

64. पञ्चजन	Five sections of Aryans in Swarga: (1) Devas. (2) Nagas. (3) Yakshas. (4) Gandharvas. (5) Kinnaras
65. पार्थिव	A King of Narak or in Aryavarta. The things made of soil.
66. पार्थिव द्रव्य	Minerals.
67. परिचारिकायें	Midwives and Nurses.
68. पार्शव	A Persian.
69. परिनिर्वाण	Redemption for ever.
70. प्रलय	Dissolution of the Creation.
71. पशुचिकित्सा	Veterinary Science.
72. पञ्च कोरा	The Gauri River.
73. पराविद्या	Spritual Knowledge.
74. प्रतिसंस्कार	Renovation, Redoction.
75. पुरातत्व	Antiquity.
76. पिशाच	Maneating tribes. Carnicorous found in Egypt, Arab and Caucasia.
77. पुद्गल	Corporal existence of matter.
78. पूज़ावेतन	Scholarship for education in the Taxila University.
79. पूर्वरूप	Prodromal symptoms.

80. परलोक

The states of Swarga flourishing on the Himalayas. It was strictly. restricted for un-permitted persons, who lived in Narak.

"उतरे हिमवत्पार्श्वे पुण्ये सर्वगुणान्विते ।
पुण्यः क्षेम्यश्चकाम्यश्च स परोलोक उच्यते ।।
इहस्थास्तत्र जायन्ते ये वैं पुण्य कृतोजनाः ।
—महाभा०, शान्ति०, अ० 8,514,518.

Opposed to इहलोक 'नरक'।

C. V. Vaidya

फ

81. फलाशा

A temptation for the achievements.

ब

82. वहु विवाह

Polygamy.

83. वलख

Balakh is confused with Balhik for long. But Balakh is identified as Vahika and was counted the uncivilized country of Aryavarta. गौर्वाहीकः is an old proverb, which means that vahikas were rude like an animal. This is the west part of the Sindhu river, which is said to be 'Yagistan' meaning an 'unruly country'.

It is said in Mahabharat:

पंचानांपष्ठ सिन्धूनामन्तरंये समाश्रिताः ।
वाहीका नाम ते देशा—:···।
—(म० भा० कर्ण पर्व, 44)

but this may be said for the west-coast of the Sindhu where Swat, Panjkora, and Kabul rivers are making this portion fertile.

This territory was the north-west of Gandhar. They never yielded

to the law of Manu concerning marriage. Ultimately Manu legalized the tradition of Gandharvas for sexual relation under the marriage act of Manusmriti.

Pushkalavati (now Charsaddh) was the ruling capital of this country.

84. वाल्हीक

Balhik is identified with Babylonia which also was a sister country of Aryavarta and fully civilized. Kankayan was the famous pranacharya of Balhik and an associate of Atreya and Kashyap. His discourses are respectfully quoted in Charka and Kashyap Samhitas.

As such Vahik and Valhik are different to each other. Valhikas fought against Asuras, in favour of Devas of Swarg and in revenge of which Asuras annihilated their country for ever.

Balhik is now remembered in the name of Babylonia. A huge number of articles have been found in antiquity of Babylonia reminding of these relations. The place is now in Iraq.

85. वज्रयान

A fraction of Buddhists which afterwards became a sect of Siddhas, they started a school of Hathyoga which was adverse to senses. For over a period of fivehundred years (i.e. 7th to 11th A.D.) they had a hold over the Hindu society.

86. बौद्धसंघ

The Buddhist association.

87. बोधिसत्व	The stage of enlightenment below that of Buddha, but above that of all others.
88. ब्राह्मण	A Persons broad in knowledge.
89. व्रात्य	A person ethically degraded.

भ

90. भारत के प्राणाचार्य	The Indian masters of the science of life.
91. भेषज्य	Medicine. भेष means disease and 'जय' means winning i.e. that which wins a disease, meaning 'औषधि'। ओष means osmose; अधि means preservation of curative values i.e. such an osmose which preserves the curative properties.
92. भौतिकवाद	Materialism.
93. भारत	The state of Aryans established by the king Bharat after Aryavarta. Now the difference of उत्तराखंड and दक्षिणापथ was abolished and the glories of Swarga were banished. Internal frictions bifurcated the Panchjan. The Ayurvedic terms of Babylonia, Greece, Armenia and Persia are very much resembling to those of the words which are used in Bharat.

म

94. मन्त्र	Incantation. A formula, a gist of a matter.
95. महायान	A Buddhistic School of nihilism.
96. मुनि	A thinker on higher level.
97. महास्थविर	The chief priest of Buddhists.

98. मैसोपोटामिया — The northern territory between the Tigris and the Euphrates rivers. The southern part is Babylonia. Both the parts were called Sumeria. Sumerians were the sincere friends of Swarga and Aryavarta. They were the most civilized as a nation in central Asia. Asuras destroyed this nation. Numerous articles proving integrity of them with India are excavated.

99. मिस्र — Egypt. A fairly enlightened country of Africa, having the nearest relations with India.

य

100. यवन — Greeks, who produced great scholars in Europe, had invaded India in 330 B.C. and continued their attacks till Alexander the Great in 326 B.C. Mostly they conquered up to Punjab. Satvahan Kings of South India drove them away from every part of India.

King Chandra Gupta Maurya wedded Helena, the Princess of Greece.

101. यज्ञ-याग — Dedications for social and spiritual benefits.

102. यन्त्र — Black-art. A symbol to remove a trouble and this was taken as deified by a Siddha. A device for preparing metallic composition of medicines.

103. यूनानी — Yavanas were titled as 'Yunani' by

Persians, while Europeans said them Greecians. Greece remained a seat of scholars till centuries. It may not be much far off the truth that Greecians had a competitive spirit in developing knowledge with that of India.

Minender, another chieftain of Greeks, again invaded India in 150 B. C. and captured up to Shokal (Sialkot). But afterwards he was converted to Buddhism and merged with the Indian interests. Bhikshu Nagsen converted him to Buddhism.

Greeks developed in all the sides of knowledge—Science, Philosophy, Art, Religion, Mathematics, Astrology, and so on. Idolatry is the main conception of Greeks. Sumerians were beforeh and advanced than the Greeks.

र

104. रस — Rasa is used for pure mercury in Ayurveda, which obtained dominance after Nagarjun. Six Rasas were chemically dominant in Ayurvedic science since the time of Indra in Swarga.

1. मधुर, 2. अम्ल, 3. लवण 4. कटु 5. तिक्त 6. कषाय ।

Whole Pharmacopia of Ayurvedic science depends upon these six rasas.

105. रसायनी विद्या — The Science of Rejuvenation, or

Geriatrics.

The mercurial discoveries are also said to be 'Rasayani Vidya.'

Siddhas took dominant part in developing this science in India. Greeks also took it from them and they titled it 'Alchemy'.

Siddhas made this science a philosophy and wrote much for its supernatural achievements. Whatsoever, their discoveries proved to be a great support for the Ayurvedic System. Their attempt to convert mercury into gold could not become practicable.

106. राष्ट्र — A nation, having cultural, historical and geographical unity. Aryans always established a 'राष्ट्र', but never a 'राज्य' because a Rajya is established through arms.

107. रूप — Appearance of a disease or symptom complex. This is a part of Nidan out of five parts of it.

1. निदान 2. पूर्वरूप 3. रूप 4. उपशय 5. सम्प्राप्ति which are called निदान पंचक ।

A patient cannot be treated unless these five points are well known.

108. रोग — Irregular action of Tridosh. They are.

1. वात 2. पित 3. कफ

The irregular action of these four is a disease and when they work in a regular way, health improves,

ल

109. लिंगयान — A sect of Siddhas, who were adverse

to the customary actions. They were worshippers of sexual organs, Indians, Greeks, Persians, Sakas' and Huns, all were associates of this school. There was no etiquette between man and woman.

Their dieties were mostly nude whom they worshipped. They twisted the whole ethical order of Aryan culture, and spread throughout India between 6th to 11th centuries A. D.

110. लोहसिद्धि — Alchemy--A school to achieve metallic compositions to obtain a stout body for enjoyments. They say
"तस्माज्जीवनमुक्ति समीहमानेनयोगिना प्रथमम् ।
दिव्या तुर्नविधेयाहर गौरी सृष्टिसंयोगात् ॥"

व

111. वाल्हीक — It is also pronounced 'वाल्हीक'. Balhik is now Iraq much curtailed of its original shape. Before Iraq, it was Babylonia and Mesopotamia, and further before it was called Sumeria, but originally this country was named Balhik.

There was an Indian king of Kuru named Pratipa, He had three princes Devapi, Shantanu, and Balhika. The queen of Pratipa was a princess of Shivi Desh (present Sibistan, between the rivers of Helmand and Amu). After Pratipa, Devapi left the kingdom and became a saint. Shantanu became the king of Kuru and Balhika was ruling over Sumeria. (Mahabharat, Adi Parva, Chap. 8, C. V. Vaidya) and the country became a historical figure

after the name of King Balhika.

Kankayan, a prominent physician and an associate of Atreya Punarvasu was a resident of Balhika.

112. वार्ता — The trade and industrial exchange of money.

113. विचार समिति — A cabinet to consider over some serious matters.

114. विज्ञान — The centrifugal thoughts; while the centripetal thoughts are said to be 'ज्ञान'.

115. वेद — The Universal knowledge.

116. वैश्य — Persons commanding national finance.

117. विश् — The social asset of a nation.

118. विद्या — The knowledge which redeems from calamities.
'सा विद्या या विमुक्तये'.

श

119. शून्यवाद — Nihilism—mainly Buddhists. The sect of madhyamikas was the main founder of 'शून्यवाद'.

120. शकदेश — Sythia. It was under the state of Swarga and was called 'सुग्ध' Greecians called it Sogdian. During the time of Vagbhat it was called 'Sakdesh', as Vagbhat has mentioned it. Chitral and Kafiristan are parts of it. Tashkand and Sumerkand, the famous cities of this country, are enclosed with Hindukush mountain.

Sakas originally lived in Armenia, west to the Caspean Sea. Nearabout 800 B.C. Sakas migrated from Armenia to this country and it became Sakasthan afterwards.

Mostly Sakas were tribals of Assyria. They proceeded to this side after plundering Sumeria and settled in Srugdha. Sakas named this country as Sakadesh and Moghals called it Fargana.

Sakas continued to plunder India. They ruined Uttar Kuru (Tsimkiyang) and destroyed Taxila and Pushklavati. Turks also followed them, who afterwards were called Huns. For the first time under the disguise of servants these entered into Swarga and gradually began to plunder it. Western Turkistan was a part of Persia, while the eastern was the part of India. But these wanderers made their camps from Caucasia to Uttar Kuru or Tsimkiyang. They made a link from Caucasia to India inhabitating their groups to the south of the present Russia. Every prosperous country like Sumeria, Persia and India was devastated by them. Sistan (शकस्थान), Khiva and Khurasan were the centres of these bandits. Perthians (खुरासानी) called these tribals 'Daha', which means 'दास' or 'दस्यु'।

These Dasyus had no civilization. Gradually the whole from Tsinkiyng to Caspean Sea (काश्यपीयसर) became a stronghold of these tribals, Kazakistan, Turkmenia, Uzbekistan, Tadzikistan and Kaferistan are still to mention the history of those tramplers of Asiatic civilization.

Recently a fort has been excavated from the valley of the Kafar river

containing Buddhistic or Hindu deities in its temples.

121. शिल्प — Technology.

122. श्रद्धा — Homage, true faith or tribute.

123. श्री — A monogram of Shiva and Gauri, denoting bliss and glory for him before it is used. (शिव+गौरी=शि+री=श्री)

124. शूद्र — One who could not be able to get education, and therefore, is bound to serve others. Still had a right to develop himself and get a better place in the society.

ष

125. षड्सवाद — The theory of six Rasa—viz.
मधुर, अम्ल, लवण, कटु, तिक्त, कषाय।

126. षडंग — The six attributes of the Vedas—
1. Shiksha, 2. Kalpa, 3. Vyakaran, 4. Nirukta, 5. Chhanda, 6. Jyotish.

स

127. श्रुग्ध — Turkistan. The country where Tashkeant, Sumerkant, and Bokhara are situated. Alexander the Great conquered it in 330 B.C. from India. Taxila and Sindha betrayed and surrendered before enemy. There after Alexander descended in Punjab.

128. सिन्धु घाटी सभ्यता — Memories of 5000 B. C. old civilization of India, which contains a number of articles excavated from antiquary, Harappa and Mohanjodaro are the main cities where the land was excavated. The articles obtained here are very much co-related with those which are obtained in antiquary of Babylonia.

129. सर्ग — Creation of the world.

130. स्वर्ग — The Union of Aryans or Devas on Himalaya containing five states. 1. देव लोक 2. नाग लोक 3. यक्ष लोक 4. गन्धर्व लोक 5. किन्नर लोक। This is mentioned in this book with detail.

131. संप्राप्ति — Pathology of a disease.

132. सिद्धान्त — Principle or a final decision.

133. सिद्ध तापस वर्ग — A class of Siddhas who practised Hathayoga. They knew much of personal magnetism.

134. सेन्द्रिय — Organic Element. The things which contain carbon, hydrogen and oxygen mainly.

135. समुद्र मन्थन — A political settlement of the oceanic problems of Aryavarta, decided at Sumeru, which was a centre of foreign policies of Aryavarta and those of Swarga. The then Aryavarta was under the kingdom of Dhanvantari.

136. सुमेरिया — At present this country may be located by Mesopotamia and Babylonia, covering the land of the Tigris and the Euphrates rivers. Both the rivers conflux into the Persian Gulf.

Sumerians inhabitated this land. They had an affinity with the Panchjan of Swarga and Aryavarta. Formerly this country was called Valhika. History counts them highly civilized. During war between Devas and Asuras, Sumerians supported the cause of Devas. Asuras plundered the whole Sumeria in vengeance for the stand of Sumerians in favour of Devas.

command of Shiva destroyed Assyria and burnt Tripoli the capital place of Asurloka or Assyria. At that time Tripoli was called Tripur. In Indian History Shiva is well famous under the title of Tripurari, even to this day, as well as Indra is well known as Purandar.

Sumerians left their bright foot-prints on the course of history.

137. सप्तसिन्धु

The western plateau of the Indus river containing main supplementary seven rivers :

1. Swat. (सुवास्तु)
2. Kabul. (कुभा)
3. Kurram.
4. Gomel.
5. Zhob.
6. Nine.
7. Mari.

This country was named Gandhar with its capital named Pushkalavati. At present this place is traced by the name of Charsadda in Afghanistan.

From Hindukush to the Kabul river the land was called 'कपिशदेश' which now is called Kafiristan. Kapish was famous for producing the best wines. Gandhar Art is famous in Indian history. Gandharvas were the masters of music. Kapish was a part of Gandhar.

After his accession Rama divided the kingdom amongst the princes of his family. He gave Taxila to the first son of Bharat named Taksha and Pushkalavati to the second son of Bharat named Pushkal. Taxila was the capital

city of Kekaya-desh and Pushkalavati was that of Gandhar. Saptasindhu was a beautiful plateau of Gandhar.

ह

138. हीनयान — A School of conservative Buddhists.

139. हवन — The exchange of benefits for the society, The dedication is the main theme of this exchange.

140. हिप्पोक्रिट्स — A prominent physician of Greece who lived in Cos. Hippocrates is called the 'father of medicine' because he first cultivated the subject as science in Europe.

141. हिन्दू — In Persian dialect 'सिन्धु' is called 'हिन्दू'. There was no Hindu before the Persian invasions against India when the western coast of Sindhu was on revolt, the eastern land was called a country of Sindhu or Hindu. Thus, according to them, there are all Hindus towards the east of Sindhu.

क्ष

142. क्षत्रिय — Persons working in defence of a nation. Gradually it became a caste in India. There was no caste system in Swarga.

त्र

143. त्रिदोष — The biophysical organic phenomena complex in Ayurveda. Tridosh are as below :—

(1) वात — Actomorphic biophysical phenomena complex.
(2) पित्त — Mexomorphic biophysical phenomena complex
(3) कफ — Endomorphic biophysical phenomena complex.

ज्ञ

4. ज्ञान	A knowledge through the centripetal forces of the brain.
5. ज्ञाता	The subjective of a knowledge.
6. ज्ञेय	The object of a knowledge.

परिशिष्ट—3

भौगोलिक विवरण तथा आचार्यों के नाम

भौगोलिक परिचय

अ

अश्मक—प्रतिष्ठान (पैंठन) (पा० का० भा०) गोदावरी के दक्षिण

अहिच्छत्रा—प्रत्यग्रथ राज की राजधानी (प्रत्यग्रथ—प्राचीन पांचाल) गंगा के उत्तर (पा० का० भा०)

आजाद—इटावा, उत्तरप्रदेश का जिला (पारपट्टी की बकरियाँ प्रसिद्ध हैं) (पा० का० भा०)

अवन्ती—उज्जैन नगरी

अपरांत—बम्बई

अपराजिता दिशा—ईशान दिशा, पूर्वोत्तर कोण (मनु० 6/31)

आभीर देश—गुजरात (काश्यपसं०, उपो० 30-53)

आष्टक धन्व—अटक के समीपवर्ती मरुस्थल

ओषधिप्रस्थ—दक्ष का नगर (उमा का पीहर) तिब्बत में

अजन्ता—दक्षिण भारत (हैदराबाद) में गुप्त-कला का केन्द्र

आनर्त—द्वारका पुरी का प्रदेश

आर्यावर्त्त—पूर्वान्त (टोंकिंग की खाड़ी) से अपरांत (भूमध्यसागर) पर्यन्त। हिमालय और विन्ध्याचल के बीच का देश

"आसमुद्रात्तु वै पूर्वादासमुद्रात्तु पश्चिमाम्।
तयोरेवान्तरंगिर्योरार्यावर्तं विदुर्बुधाः।। मनु० 2/22)

आग्नेय दिशा—दक्षिण—पूर्व दिशाओं के मध्य का कोण
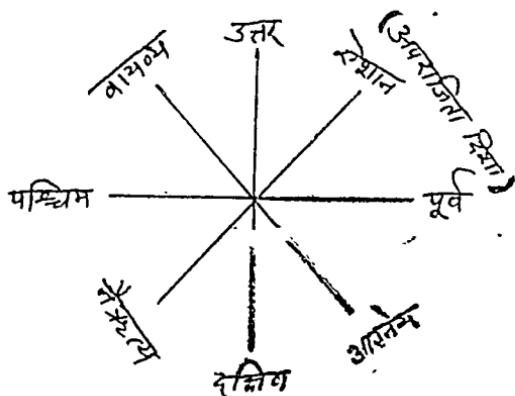
आर्कोशिया—गोमल नदी का दक्षिण व सिन्ध का पश्चिम प्रदेश (H. K.)

इ

इक्षुमती—काली नदी (पा० का० भा०)

इरावदी—रावी नदी (लाहौर)। अन्य नाम—परुष्णी

ईराक—कैल्डिया प्रदेश

ईरान—पारस्य देश

उ

उत्तरापथ—पुष्कलावती से चलकर पूर्वोत्तर की ओर तक्षशिला, सिंधु, शुतुद्री, यमुना पार कर हस्तिनापुर, कान्यकुब्ज, प्रयाग, पाटलिपुत्र होकर ताम्रलिप्ति (कलिंग) तक।

उर—बेबीलोनिया का एक नगर (3000ईसा-पूर्व) सुश्रुत का सहपाठी 'औरभ्र' यहीं का था।

उत्सव संकेत—हिमालय पर राज्य करने वाले सात विद्रोही गणराज्य, जिन्हें रघु ने परास्त किया था। (रघुवंश 4/78)

उत्तर कुरु—सुमेरु (थियान शान) के पूर्व सिम्कियांग का पश्चिमी प्रदेश (सुमेरु—स्वर्णगिरि—ब्रह्मलोक)

उद्भांडपुर—ओहिंद

उशीनर—मद्र के उत्तर की घाटी

उरश—सिन्ध और झेलम का मध्यवर्ती प्रदेश। पश्चिमी गन्धार तथा अभिसार (पूंछ-राजौरी के बीच)

उदयगिरि—(खंडगिरि) उड़ीसा के पहाड़।

ऋ

ऋषभद्वीप—पूर्वीय द्वीपसमूह
ऋक्षवान् पर्वत—रतलाम-भुसावल की ओर विन्ध्याचल का भाग। (महा० वन० 14)

ए-ऐ

एपिरस—यूनान का उपनिवेश
ऐरावत धन्व—गोबी का मरुस्थल (पा० का० भा०)
ऐरावत वर्ष—मध्यऐशिया के रेगिस्तानी प्रदेश

ओ-औ

ओदन्त पुरी—बौद्धकालीन पुस्तकालय एवं शिक्षा का प्रसिद्ध केन्द्र

क

कोसम—कौशाम्बी (प्रयाग) (भा० इ० की रूपरेखा०, पृ० 207)
केकय—चिनाव नदी से लेकर गुजरात, झेलम तथा शाहपुर जिलों को मिलाकर केकय देश वना था।
कारूप—वघेलखण्ड
कुरुदेश—करनाल, पानीपत, गुडगांव, मेरठ, दिल्ली, विजनौर, मुजफ्फरनगर का प्रदेश।
कोरिन्थ—यूनान का उपनिवेश
कुरुक्षेत्र—दिल्ली के चौगिर्द 100 योजन प्रदेश (काश्यप सं०)
कुमारवर्त्तनी—रीवां के समीपवर्ती प्रदेश का नाम
कटीवर्ष—वंगाल में वर्धमान जिले का कटवा प्रदेश
कर्वट—पूर्वी वंगाल का प्रदेश।
कौशल्य—वर्त्तमान कोसल (अयोध्या—फैजावाद) का प्रदेश
कलिंग—उड़ीसा (गया—जगन्नाथपुरी)
कांची—भारत के दक्षिण कांजीवरम्। चोल राजधानी।
कावीर—कावेरी नदी के चौगिर्द प्रदेश।
करघाट—कण्ड (सह्याद्रि—वम्वई) पश्चिमी घाट का प्रदेश।
कान्तार—औरंगावाद, दक्षिण कोकण
कौवेरी दिक्—उत्तर दिशा।
कम्वोज—कावुल (अफगानिस्तान) अप+गान+स्थान (गंधार के भद्दे गायकों का प्रदेश) अप+गाण=आर्यगण तक के विद्रोही
कामरूप—ब्रह्मप्रदेश, वर्मा
क्रथ कैशिक—विदर्भ, वरार (रघुवंश 5/61-62)

क्रुमु नदी—कुरूम नदी। पश्चिम में सिन्ध की सहायक नदी।
कुरु जांगल—कुरुक्षेत्र का ही नाम (महाभारत, आदिपर्व 95)
कामरूप—पूर्वी आसाम (मणिपुर)
कृष्णगंगा—झेलम नदी।
कान्तिपुरी—कन्तित गांव (मिर्जापुर), कभी बड़ा नगर था।
कुभा नदी—काबुल नदी (सिन्ध नदी की पश्चिम ओर से मिलनेवाली सहायक नदी)
क्रुमु नदी—सिन्ध की सहायक नदी, पश्चिम ओर से मिलनेवाली (आर्यों का आदि देश)
कार्तिकेय नगर—गोमती नदी की घाटी के उत्तर में आधुनिक नाम कार्तिकेयपुर है। जिला अल्मोड़ा में स्थित है। (गु० सा० ई०, पृ० 82)
कान्यकुब्ज—कन्नौज का साम्राज्य।
कौशिकी नदी—वर्तमान कोसी नदी। रामगंगा की सहायक नदी।
कुबेर शैल—कैलास (रघुवंश) धवलागिरि।
कैलास—शंकर का तपोगिरि, स्वर्ग का प्रदेश। आत्रेय पुनर्वसु का शिक्षा-आश्रम
काम्पिल्य—पांचाल देश की राजधानी। गंगा के तट पर था। आजकल ज़िला फर्रुखाबाद का कम्पिल ग्राम। आत्रेय पुनर्वसु का आयुर्वेद विद्यालय यहीं था।

ख

खण्डगिरि—उड़ीसा के पहाड़

ग

ग्रीस—यूनान
गान्धार—सिन्धु नदी के दोनों ओर का पार्श्ववर्त्त प्रदेर्शा (अत्रिख्याति, पृष्ठ 71)
गुह्यकदेश—लद्दाख (अत्रिख्याति, पृ० 71)
गौरी गुरु शैल—हिमालय
गोमती—सिन्धु नदी की पश्चिम से आने वाली सहायक नदी। (आर्यों का आदि देश) गोमल नदी। (H. K.)
गोश्रृंग—कोहमारी पहाड़ (खोतान)
ग्या—चीन देश
गोमल नदी—प्राचीन आर्यों की गोमती नदी। (H. K.) पश्चिम से आकर सिन्धु में मिलती है।
कन्दहार नदी—प्राचीन आर्यों की गान्धारी नदी (H. K.) सिन्धु के पश्चिम।

च

चेदि—चम्बल (चर्मण्वती नदी) तथा केन नदियों के बीच यमुना का दक्षिणी भाग।
चीन—चीन देश, तिब्बत के उत्तर-पूर्व। (चरक)

चिरिपाली—त्रिचनापल्ली। रावण के सेनापति त्रिशिरा का शिविर-प्रदेश। उरगपुर तथा त्रिचिलपुरी इसी के नामान्तर है।

चीर राज्य—केरल (मैसूर)।

चोर—चोल द्रविड़ देश। आज कारोमण्डल के अन्तर्गत।

चैत्ररथ—यक्षराज कुबेर की राजधानी का प्रदेश। अलकापुरी यहीं पर है। अलकनंदा नदी के तट पर हिमालय प्रदेश।

चन्द्रभागा—चिनाव नदी, अन्य नाम असिक्नी (पंजाव)

चमसोद्भेद—सौराष्ट्र (गुजरात) का एक प्रदेश।

ज

जम्बूद्वीप—भारतवर्ष, वौद्धकाल में यह नाम प्रसिद्ध हुआ। उनकी कल्पना थी कि यह जामुन के आकार का है। वृन्त लंका की ओर है।

झ

झारखण्ड—वरार

ट

टाइग्रिस—दजला नदी, जो वसरा के पास फरात नदी से मिलकर ईरान की खाड़ी में गिरती है।

त

तिरहुत—उत्तरी विहार

त्रिगर्त्त—आधुनिक काँगड़ा। सतलज, व्यास, रावी नदियों के बीच की घाटी से लगता हुआ प्रदेश। चम्वा से कांगड़ा तक (पाणिनिकालीन भारतवर्ष)

ताम्रलिप्ति—वंगाल का मेदिनीपुर प्रदेश

त्रिविष्टप—स्वर्ग का देवलोक। इन्द्र का प्रदेश (रघुवंश 6/78)

तक्षशिला—पूर्वी गन्धार की राजधानी (पेशावर जिला) इसके छः खंडहर (भूगर्भ से निकले) अभी विद्यमान हैं।

तक्षु नदी—आक्सस

तुरुष्क—तुर्की (हूण देश)

तृष्टमा नदी—पश्चिम से आनेवाली सिन्धु की सहायक नदी।

द

दशार्ण—वेतवा नदी, वुन्देलखण्ड और केन नदी का प्रदेश।

द्रविड़ देश—मद्रास से कन्याकुमारी तक

दरद—उत्तर-पश्चिमी काश्मीर का गिलगित हुंजा प्रदेश

दस्युदेश—अनार्य देश, जो आर्यावर्त के शत्रु थे। अनार्य भाषाएँ बोलने वाले। (मनु०)
दृषद्वती नदी—ब्रह्मपुत्र नदी (स्वामी दयानन्द)। घग्घर नदी (अन्य इतिहासकार)

ध

धन्व—मरुस्थल (प्राचीन ग्रंथों में असीरिया का मरुस्थल)। सरस्वती लोप होने के उपरांत कहीं-कहीं राजस्थान का मरुस्थल भी अभिप्रेत था।
धसान—दशार्ण, जि० झांसी

न

नागोद राज्य—इलाहाबाद जबलपुर का प्रदेश
निषध—हिन्दूकुश, पामीर और खैबर घाटी के प्रदेश
नरक—उत्तरप्रदेश, बिहार, उड़ीसा, बंगाल। हरद्वार से गंगासागर तक का प्रदेश।

प

पक्थ—वर्त्तमान पश्तून भाषा-भाषी प्रदेश
पुष्कलावती—चारसद्दा (वर्त्तमान अफगानिस्तान में)
पारसीक—ईरान (पारस्य)—(रघुवंश 4)
पौंराड्रवर्धन—गंगा के दक्षिण सन्थाल परगना तथा वीरभूमि प्रदेश
पौण्ड्राड्रवर्धन—गंगा के उत्तर में उत्तरप्रदेश तथा बिहार से नैपाल तक का प्रदेश।
पुलिन्द—नर्मदा नदी के इर्द-गिर्द।
प्राग्ज्योतिष—आसाम—मणिपुर।
पाण्ड्य—मद्रास—केरल—कावेरी नदी का दक्षिण वर्ती प्रदेश (रघु० 5/60)
पृथु जनपद—रावलपिण्डी जिला (पा० का० भारतवर्ष)
प्रत्यग्रथ—गंगा और रामगंगा के बीच का प्रदेश (उत्तर पांचाल)
पुराड्र—उत्तरी बंगाल—भूटान। (पा० का० भा०)
पयोष्णी—नदी बरार में बहती है। (महाभारत वनपर्व 17)
पारियात्र—बलोचिस्तान से ईरान की खाड़ी तक के समुद्र-तटवर्ती पहाड़। (वाल्मीकि-रामा०)
पंचाल—नैनीताल, बरेली, पीलीभीत, अमरोहा, शाहजहांपुर, फर्रूखाबाद, एटा, मैनपुरी, इटावा का चम्बल नदी-पर्यन्त सम्पूर्ण प्रदेश।

ब

बाल्हीक—बलख (धन्वन्तरि के शिष्य कांकायन का देश), ईशक।
बनवासी—उत्तरी कनारा।
बृजि—गंगा के उत्तर में बिहार प्रान्त।
बर्बर— सिन्ध-सागर-संगम के इर्द-गिर्द।

बज्र—बसरा के पास नीले-काले पत्थर के पहाड़, 100 योजन (वाल्मीकिरामायण)
बैबीलोनिया—दजला और फरात नदियों का परिवेश।

भ

भारतवर्ष—वह देश, जिसके उदीच्य और प्राच्य भागों की मध्य-रेखा शरावती नदी (घग्घर) थी। (पा० का० भारत)
भरत जनपद—कुरुक्षेत्र।
भरत—(प्राच्य)—थानेश्वर, कैथल, करनाल, पानीपत तथा पूर्व पंजाब का प्रदेश।
भरत (उदीच्य)—शरावती के पश्चिमोत्तर का जालंधर, होशियारपुर, अमृतसर से गंधार तक के प्रदेश।

लोकोऽयं भारतं वर्ष शरावत्यास्तुयोऽवधेः।
देशः प्राग्दक्षिणः प्राच्य उदीच्यः पश्चिमोत्तरः ॥

अमरकोश (पा० का० भा०).

म

मद्र—तक्षशिला के दक्षिण-पूर्व मद्र जनपद था। इसकी राजधानी शाकल (स्यालकोट) थी। मद्र के उत्तर में उशीनर तथा शिवि जनपद थे।
उत्तर-मद्र सिम् कियांग (उत्तर कुरु) के उत्तर-पश्चिम थियानशान का प्रदेश। इस प्रकार मद्र दो भागों में विभक्त था।
मेवात—अलवर का प्रदेश (यह मत्स्य देश भी कहा जाता था)
मगध—बिहार प्रांत का दक्षिणी भाग, जिसकी राजधानी राजगृह थी।
मृत्तिका वर्धमान—बङ्गाल का वर्धमान प्रदेश।
महिष-मण्डल—मैसूर (बृहत्तर भारत : चंद्रगुप्त वेदालंकार)
मशकावती—मस्सक गंधार। मशकावती, पुष्कलावती और वरणावती तीनों पश्चिमी गंधार के बड़े-बड़े नगर थे जो राजधानी रहे थे।
मध्यदेश—कोसल और काशी।
महेन्द्र पर्वत—उड़ीसा के पहाड़ (रघु०, मल्लिनाथ)। पूर्वी घाट।
म्लेच्छप्रदेश—अनार्य भाषा-भाषी देश जो आर्यावर्त्त से बाहर थे। (मनु०)
मेहत्नु—पश्चिम से आने वाली सिंध की सहायक नदी।
मैसोपोटामिया—बैबीलोनिया का एक प्रदेश।

य

योन—यूनानी राज्य
यूफ्रेटीस—फरात नदी। मैसोपोटामियां (ईराक) में बहती हुई दजला नदी के साथ मिलकर बसरा के पास ईरान की खाड़ी में गिरती है। सुमेरिया प्रदेश यहीं था।

र

रसा—पश्चिम से आनेवाली सिंध की सहायक नदी
रक्त पर्वत—तिब्बत का पोतला पहाड़ (आर्यों का आदि देश)
रथस्था—रामगंगा नदी

ल

लंका—सीलोन, भारत का दक्षिणी द्वीप

व

विदर्भ—वर्त्तमान वरार, नागपुर
वराह—वर्तमान वरार
वनायु—पारस्य देश, पर्शिया, ईरान ('पारसीकः वनायुजाः' इति हलायुधः ।) रघुवंश, 6/73
वेस नगर—भेलसा, विदिशा (ग्वालियर)
वाहीक—वलख। क्षुद्रक और मालव वाहीक के दो भाग थे। मद्र, (तरजिकिस्तान) उशीनर और त्रिगर्त सम्मिलित।
वंक्षु (चक्षु)—आमू नदी, सिन्ध की पश्चिमी सहायक नदी।
वरा—वरा नदी, जिसके तट पर पेशावर वसा है।
वैडूर्य पर्वत—नर्मदा का निकास
विपाशा—व्यास नदी
वितस्ता—झेलम नदी
वाल्हीक—वेवीलोनियो, या ईराक।
विदिशा—भेलसा (म० प्र०)
वैशाली—लिच्छिवियों का गणतंत्र, उत्तर विहार, जि० मुजफ्फरपुर। चंद्रगुप्त प्रथम (5वीं ई० शती) ने इस पर आक्रमण करके लिच्छिवियों को परास्त कर दिया। यह शासन मगध में विलीन हो गया।
वर्णु—वन्नू, कोहाट

श

शिवि—सिन्ध के उत्तर-पश्चिम वर्त्तमान सिविस्तान। शेरकोट जहां अव पठान रहते हैं।
शूरसेन—मधुवन, यमुना के पश्चिम में व्रजभूमि। यह शत्रुघ्न ने वसाई थी। शूरसेन और सुवाहु, शत्रुघ्न के दो पुत्र थे। शूरसेन के नाम से यह देश है। जिला मथुरा और आस-पास के जिले।
शालातुर—कावुल तथा सिन्ध नदियों के संधिकोण में एक नगर जहां पाणिनि का जन्म हुआ था।

शकस्थान—ताजिकिस्तान, ताशकंद, समरकंद तक।

शरावती नदी—घग्घर नदी (जिला अम्बाला)

श्रावस्ती—कोसल की राजधानी। सम्राट् प्रसेनजित के निमंत्रण पर भगवान् बुद्ध यहां रहा करते थे।

श्वेती—पश्चिम से आनेवाली सिंध की सहायक नदी।

शुतुद्री—सतलज नदी।

स

सौवीर—सिंध का दक्षिणी दो-तिहाई भाग। रोरुक नगरी (रोरीशहर) उसकी राजधानी थी। (पा० का० भारत, पृ० 56).

साल्व जनपद—अलवर से बीकानेर तक।

सीरिया—असुर लोक। यह देश पीछे यूनान का उपनिवेश हो गया। सम्राट् अशोक के समय अन्तियोक का देश।

सुमेरिया—दजला-फरात नदियों का दोआवा। यहां सुमेरियन जाति के लोग रहते थे। ईरान भी इनके आधीन रहा।

सिन्धुतरि—काश्मीर घाटी (रघुवंश 4/67)

सह्याद्रि—पश्चिमी घाट, बम्बई प्रदेश का समुद्र तट। गोदावरी के दक्षिण।

साल्व—राजस्थान के उत्तरी भाग से लेकर कांगड़ा, पठानकोट तक बिखरी हुई एक जाति, जो लगातार बसी हुई थी। (पा० का० भा०, पृ० 442)

सुषोमा—सिन्ध नदी।

सुसर्त्तु—पश्चिम से आनेवाली सिन्ध की सहायक नदी।

सुवर्ण भूमि (सुवन्न भूमि)—पेगू, मालमीन।

सीता नदी—यारकन्द नदी, सिन्ध के पश्चिम।

सूरसम—आसाम प्रदेश

सांकाश्य—संकिसा, जि० फर्रुखाबाद, (उ० प्र०)। बौद्धों का विश्वास है कि भगवान बुद्ध स्वर्ग में अपनी माता को अभिधर्म का उपदेश देकर तीन मास बाद यहां हीं उतरे। भक्तों ने दर्शन किये। अशोक ने यहां विहार और एक स्तूप बनवा दिया था।

सौराष्ट्र—गुजरात (पा० का० भा०)

सिन्धुनद—सिन्धु नदी। भारतीय भूगोल में पूर्व की ओर बहनेवाली जल धाराएँ 'नदी' कही जाती हैं और पश्चिम की ओर बहने वाली 'नद'।

"पूर्वोदधिगाः नद्यः पश्चिमोदधिगाः नदाः।"

सदानीरा—सतलज नदी। शुतुद्री (अमरकोश)

सरस्वती नदी—इस नाम की दो नदियां थीं। जो सिन्ध में मिलती थी, वह सिंधु सरस्वती। दूसरी जो दृषद्वती (घग्घर) से मिलकर कच्छ की खाड़ी में गिरती थी, वह प्राची सरस्वती कही जाती थी (अग्निख्याति, पृ० 77)

सप्त सिन्धु—वस्वोकसारा नलिनी पावनी च सरस्वती।
जम्बू नदी च सीता च गंगा सिंधुश्च सप्तमी ॥
एता दिव्या सप्त गंगास्त्रिषु लोकेषु विश्रुता: ॥
(महाभारत भीष्म पर्व, अ० 6)

सोमगिरि—सिंधु के मुहाने के पास सौ शिखरों वाला पहाड़।

सैन्धव—सिन्धु देश। (वाल्मीकि रामायण, किष्किन्धा०)

स्वर्ग—हिमालय-वर्ती देव, नाग, यक्ष, गन्धर्व और किन्नरों का प्रदेश जो हिमालय पर था।

सुवास्तु—स्वात नदी (H. kins)

सप्तसिन्धु प्रदेश—1. शुतुद्री (सतलज), 2. परुष्णी (रावी), 3. विपाशा (व्यास), 4. असिक्ती (चिनाव), 5. वितस्ता (झेलम), 6. सिन्धु (सिन्ध), 7. कुभा (काबुल)—इन सात नदियों द्वारा अभिषिंचित प्रदेश। पश्चिम की ओर गंधार में भी सात ही नदियां सिंधु में मिलती हैं—1. सुवास्तु। 2. कुभा। 3. क्रुमु। 4. गोमती 5-6. दो आर्कोशियन नदियां तथा 7. सिंधु। कुछ लोगों का विचार है कि पूर्व की सरस्वती (घग्घर) नदी सातवीं थी जो सिन्ध में सतलज के नीचे मिलती थी। नदी समाप्त होने पर वह 'विनशन' कहलाता है।

ह

हाटक देश—उत्तरकुरु, सिम् कियांग।

हिमवन्त—हिमालय पहाड़।

हूण जनपद—काश्मीर के पश्चिमोत्तर तुर्किस्तान।

हरिवर्ष—सिम् कियांग।

हरद्वार—नरक से स्वर्ग का प्रवेश-द्वार।

हिरात (नदी) या हरिरूद—यह आर्यों की प्राचीन सरयू नदी है। (Hopkins in Religions of India)

हेलमन्द—काबुल नदी (H. K.)

हरहवती—प्राचीन आर्यों की सरस्वती नदी। काबुल नदी
(अरवी और पर्शियन में 'स' को 'ह' वोलते हैं)

प्राणाचार्यों की सूची

प्राणाचार्यों के अधिक से अधिक नाम संग्रह करने का प्रयास किया गया है, तो भी यह सूची अपूर्ण है। सन्दर्भ के लिये ग्रन्थ नाम दे दिया है—

अ

अत्रि—चरक
आत्रेय पुनर्वसु—(चरक, काश्यपसंहिता, सिद्धि०, 1/13)
अग्निवेश—चरक, (सू० 1)
अश्विनीकुमार—सुश्रुत (सूत्र 1/17)
अगस्त्य—चरक (सूत्र 1/61 टी०)
आलम्बायन—(सु० कल्प० 7/7, टीका)
अरुणदत्त—वाग्भट-व्याख्याकार
आपाढ़—माधव-टी० पृ० 22
आढ़ मल्ल—मानसिंह का पुत्र (शाङ्र्ग० टी०, पृ० 121)
अनायास यक्ष—(काश्यप सं० संहित-कल्प)
अंगिरा—च० सू० 1/8
असित—च० सू० 1/8
आश्वलायन—च० सू० 1/9
अभिजित्—च० सू० 1/10
आदिम—रसरत्नसमुच्चय०

इ

इन्द्र—च० सू० 1
ईशान देव—माधव नि०, ज्वर 34-35 टी०
ईश्वरसेन—माध० नि०, पंच० श्लो० 7 व्याख्या
इन्द्रदत्त—र० र० स०, 1/3

उ

उद्भट—वाग्भट प्र० हृ० अ० 3/23-25 व्याख्या अरुणदत्त
उशना—सु० कल्प० 1/75-7-8
उमाशंकर द्विवेदी—(वृंदावन वासी आचार्य)

ऋ

ऋचीक—काश्यप कल्प, संहिता कल्प। वृद्ध जीवक के पिता।

औ

औपधेनव—सु० सू० 1/3
औरभ्र—सु० सू० 1/3

क

कश्यप—काश्यपसंहिताकार
करवीर्य—मा० नि० पृष्ठ 66 (वम्बई नि० सा० प्रेस) सुश्रुत सूत्र 1/3
कार्तिक कुण्ड—मा० नि०, पृ० 58
करवाल भैरव—रसरत्नसमुच्चय श्लो० 158, पृ० 94
काश्यप—सुश्रुत
कमल शील—चरक
कृष्णात्रिः—आत्रेय पुनर्वसु के पिता
कुशः सांकृत्यायन—च० सू० 12/4
कुमारशिरा भारद्वाज—च० सू० 12/5; शार्ङ्ग 6/21
कांकायन वाल्हीक—च० सू० 12/6, शार्ङ्ग 6/21
काप्य—चरक सूत्र 12/12
करवीर्य—सु० सू० 1/3
कौशिक—च ० सू० 25/16
कापिलवल—च० सू० 7/46-50
कराल—अष्टांगसंग्रह, सू० 1, पृ० 21; सू० वि० 1/4-7
कौत्स—काश्यपसंहिता, सिद्धि० 3
क्षारपाणि—च० सू० 1; सु० चि० 37/100-101
कात्यायन—च० सू० 1/11
कैकशेय—च० सू० 1/112
कपिंजल—च० सू० 1/9
कौंडिन्य—च० सू० 1/10

ज

जेज्जट—मा० नि० पृ० 5; सुश्रुत कल्प० 8/5-7 व्याख्या-चरक व सुश्रुत के व्याख्या-लेखक

जतूकर्ण—च० टी० पृ० 768 (136 श्लो०)

जनक वैदेह—च० शारीर, 6/21 चक्षुर्वेद-लेखक

जनक—शालाक्यतंत्र-लेखक

जीवक—सुश्रुत, उत्तर०, 1/4-7

जमदग्नि—च० सू० 1/8

ड

डल्हण—सुश्रुत व्याख्याकार

डो० गोपालाचार्लु

त

तीसटाचार्य—मा० नि०, पृ० 7। (वाग्भट के पुत्र और चंद्रट के पिता)

द

दृढ़वल—मा० नि० पृ० 37, च० सू० 7/46-50

दक्ष—सु० सू० 1/20 टीका (प्रजापत्य परनाम)

दारुवाहो राजर्षिः—काश्यप सं० सू० 27/3

ध

धौम्य—च० सू० 1/12

धन्वन्तरि—च० शारी० 6/21

दिवोदास—सु० सू० 1/3। सुश्रुत के गुरु

देवल—च० सू० 1/10

द्वारकानाथ सेन कविराज

न

नाग भर्तृ—मा० नि०, टी० पृ० 44

नागार्जुन—सु० कल्प० 7/11-12; शार्ङ्ग 4/80

नित्यनाथ—र० र० स० 8/86 टीका

निमिः—सु० चि० 4/4; च० सू० 26/5; काश्यपसं० सूत्र 27/3

नन्दी—र० र० स० 16/117; सु० वि० 13/3

नग्नजित्—भेडसं० पृ० 30; अष्टांगसं० उत्तर स्थान, विषयोगे

नारद—च० सू० 1/8
नरवाहन—र० र० स० 1/3
नागार्जुन (द्वितीय)— र० र० स० 1/4
नागवोधि— „ „ 1/4
नरेन्द्र— " „ 1/7
निश्चल (दास)—चक्रदत्त, पाण्डु व्याख्या श्लोक 15

प

पराशर—च० सू० 1
पौष्कलावत—सु० सू० 1/3
पारीक्षि मौद्गल्य—च० सू० 25/8
पाराशर्य—काश्यप सं०, सिद्धि० 1/12
प्रमतिः भार्गव—काश्यपसं०, सू० 27/3
पार्वतक—सुश्रुत उत्त० 1/4-7 व्याख्या
पुलस्त्य—चरकसं० सू० 1/8
परीक्षित—चरकसं० सू०, 1/9 (परीक्षिः)
पैंगि—चरकसं०, सू० 1/12
पूर्णाक्ष मौद्गल्य—चरकसं सू० 26/3

ब

बांडिश धामार्गव—चरकसं०, सू० 12/7 तथा शारी० 6/21
ब्रह्मदेव—सुश्रुतसं०, सू० 18/42-45। जेज्जट के अनुवर्त्ती
बोपदेव—शार्ङ्गधर टी० पृ० 185, शतश्लोकी लेखक
वंगसेन— „ „
बालादित्य—अ० हृ०. सू० 2/15-16 टी०
वैजवापि—चरकसं० सू० 1/11
बादरायण—" "
वन्धक—सुश्रुत उत्त० 1/4-7
ब्रह्मा— च० सू० 1 (आदि गुरु)
वकुलकर—माधव नि० टी० 158 पृ०
ब्रह्मा (द्वितीय)—र० र० स० 1/4

भ

भट्टारक हरिश्चन्द्र—मा० नि० पृ० 5; चरक सं० सू० व्याख्या 7/46-50। वाग्भट से पूर्ववर्ती विद्वान्, चरक व्याख्यालेखक। अरुणदत्त ने अ० हृ० टीका में लिखा कि भट्टारक और हरिश्चन्द्र दो व्यक्ति थे—

मतिवैभवाद्भट्टारकहरिश्चन्द्रौ व्याख्याविशेषमवोचताम् ।"
(अष्टा० हृ० पृ० 2/2य कालम)

भोज—सुश्रुतसं० पृ० 46। मा० नि० पृ० 5 (सुश्रुत-व्याख्या लेखक)
भद्रशौनक—सु० सं० पृ० ५० टी०; चरक सं०, शारी० 6/21
भालुकिः—सु० सू० 13/8 टी०
भेड (भेल)—काश्यपसं०, सिद्धि० अ० 3
भद्रकाक—च० सं० सू० 25/18
भरद्वाज—च० सं०, सू० 25/27
भिक्षुरात्रेय—च० सं०, सू 25/24
भरत—सु० सं० नि० 16 उपसंहारे (डल्हण के पिता)
भद्रकाप्य—च० सं०, शा० 6/21
भट्टारक—आ० सं० सू० 9 अ० पृ० 78 (भट्टारक और हरिश्चंद)
भृगुः—च० सं० सू० 1/8
भार्गव च्यवन—च० सं० सू० 1/10
भास्कर—र० र० स० 1/2
भैरव— ,, ,, 1/5
भावमिश्र—भावप्रकाश के लेखक

म

माधवकरः—माधवनिदान के लेखक
मारीचि कश्यप—च० सं० सू० 1/9-11
मुनिः—सु० सं० चि० 37/54-57 टी०
मृगचारी—र० र० स० 8/78
माण्डव्य—अष्टा० सं० 1। पृ० 2
माठरः—काश्यप० सं०, सिद्धि० 1/12
मार्कण्डेय—च० सं०, सू० 1/9
मारीचि—च० सं०, सू० 1/12। मारीचि और मारीचि काश्यप दो व्यक्ति
मैत्रेय—च० सं०, सू० 1/13
मैमतायनि—च० सू० 1/13
मतंग—काश्यपसं०, रेवतीकल्प
मत्त—र० र० समु० 1/2
माण्डव्य—,, 1/2
मन्थानभैरव—,, ,, 1/5; सिद्धभे० म० मा०, 2/1 टीका
मर्दल—" ,, ,, 1/7
महादेव—,, 1/7

य

यशोधन—र० र० स० 1/4
योगी— ,, 1/7
योगेन्द्रनाथ सेन—कविराज
यादवजी विक्रमजी (बम्बई)

र

रावण—'नाड़ीपरीक्षा' लेखक
रत्नकोश—र० र० स० 1/3
रसाकुंश—,, ,, 1/5
रत्नाकर—,, ,, 1/7

ल

लक्ष्मण—सु० सू० 16/3 टी० सुश्रुत पर टिप्पणी लेखक
लोलुम्बराज—वैद्यजीवन ग्रंथ के लेखक
लम्बायन—अष्टा० सं० इन्दु टीका अ० 1
लोकाक्ष—च० सं०, सू० 1/12
लघुवाग्भट—अष्टा० हृदय, अ० सं० के लेखक
लंकेश—र० र० स० 2/3
लम्पक— ,, 1/4
लक्ष्मीराम—(जयपुरीय) 'सिद्धभेषजमणिमाला के लेखक

व

विश्वामित्र—सु० सं०, 46 पृ० टी०; चरकसं० सू० 1/1
वाग्भट—अष्टांगसंग्रह व अष्टांगहृदय के लेखक
वाप्यचन्द्र—मा० नि०, पृ० 4
वररुचि— ,, पृ० 5
विजयरक्षित—माधवनिदान के टीकाकर
वाचस्पतिः—माधवनि० पर आतंकदर्पण टीका लेखक
वार्योविद राजर्षि—च० सं०, सू० 12/8 काश्यपसं० सिद्धि० 3
वैतरण—सु० सं०, सू० 1/3
वामक काशिपतिः—च० सं०, सू 25/5
वृन्द—चक्र० पृ० 9, श्लो० 36 टीका
विदेह—सु० सं० चि० 40/4 टी०
वैदेह (निमिः)—सु० सं०, चि० 38/11-13
वैतरण— ,, 8/30-36

विरोह—सु० सं०, नि० 13/3 कल्प 8/5-7
व्यास भट्टारक—सु० सं०, सू० 34/6
वात्स्य—काश्यपसं०, सिद्धि० 3
वृद्ध सुश्रुत—सु० सं०, चि० 31/8 (शालिहोत्र का शिष्य)
वृद्ध वाग्भट—वाग्भट के पितामह, सु० सं०, चि० 2/56-65। टी०
वृद्ध जीवक—कश्यप का शिष्य
वैजवापि—च० सं, सू० 1/11
वसिष्ठ—च० सं०, सू० 1/8
वामदेव—च० सं०, सू० 1/9
वार्क्षि—च० सं०, सू० 1/10
वाग्भट—रसरत्नसमुच्चय के लेखक तथा एक वैयाकरण वाग्भट का उल्लेख विद्वान् भर्तृहरि ने किया है, उनका परिचय भी कीजिये—

हन्तेःकर्मण्युपष्टम्भात् प्राप्तुमर्थे तु सप्तमी।
चतुर्थीवाधिकामाहुश्चूर्णि भागुरिवाग्भटाः॥

इतिभर्तृहरिस्मरणात्।—शब्दशक्तिप्रकाशिका, कारक, 94 कारिका।

विन्दुसार—चक्र० टी० पृ० 43
विशारद—र० र० स० 1/2
व्याडि— „ „ „ 1/3
वासुदेव— „ „ „ 1/6
वोपदेव—

श

श्री कण्ठ—मा० नि० के व्याख्याकार चक्र० टी०, पृ० 839
शान्त रक्षित—च० सं०, टी० पृ० 132
शरलोमा—च० सं, सू० 25/10
शिवदास—सु० सं०, सू० 14/10 टी०
शौनक—अष्टाङ्ग हृ० कल्प 6/15; च० सं०, सू० 1/13
शार्ङ्गधर—शार्ङ्गधरसंहिता के लेखक। र० र० स०, पृ० 210
शाकुन्तेय—च० सं, सू० 26/3
शाण्डिल्य—च० सं०, सू० 1/10
शर्कराक्ष—च० सं०, सू० 1/12
शाकुनेय—च० सं, सू० 1/13
सूरसेन—र० र० स० 1/2
शम्भु— „ 1/3
शृंग ऋषि— „ 1/6
शालिग्राम वैश्य—हिन्दी व्याख्या लेखक

स

ह